1.3

हिन्दी साहित्य का इतिहास

सम्पादक
डॉ० नगेन्द्र

सह-सम्पादक
डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
२३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२

शाखाएं :
चौड़ा रास्ता, जयपुर
३४, नेताजी सुभाष मार्ग, इलाहाबाद-३

मूल्य : ३८.००

नेशनल पब्लिशिंग हाउस, २३, दरियागंज, नयी दिल्ली-११०००२ द्वारा प्रकाशित/संस्करण: १९८८/सर्वाधिकार: प्रकाशकाधीन/सरस्वती प्रिंटिंग प्रेस, ए-९५, सेक्टर-५, नोएडा-२०१३०१ में मुद्रित। [84.11-22-188/N]

Hindi Sahitya Ka Itihas edited by Dr. Nagendra
Associate Editor: Dr. Suresh Chandra Gupta
Price: 38.00

दूसरे संस्करण का आमुख

दो वर्ष में ही दूसरे संस्करण का प्रकाशन इस बात का प्रमाण है कि, कतिपय अनिवार्य सीमाओं के रहते हुए भी, यह इतिहास अपने क्षेत्र में प्रबुद्ध पाठकों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सफल रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में, पहले संस्करण की रिक्तियों और त्रुटियों का परिमार्जन करने के अतिरिक्त, हिन्दी-साहित्य के विविध रूपों की विकास-रेखाओं को अद्यतन बनाने का यथासंभव प्रयत्न किया गया है।

इस सहयोग के लिए एक बार फिर मैं अपने लेखक-बन्धुओं के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

दीपावली, १९७६

—नगेन्द्र

निवेदन

प्रस्तुत इतिहास एक सम्पादित ग्रन्थ है, जिसका संकलन अनेक लेखकों के सहयोग से हुआ है—और ये लेखक भी समान साहित्य-दृष्टि से अनुप्रेरित किसी एक संघ के सदस्य न होकर अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ, स्वतन्त्र समीक्षक हैं। आज के जीवन में लेखकों का समुदाय ही बन सकता है, संघ नहीं। ऐसी स्थिति में सम्पादक का दायित्व अत्यन्त कठिन हो जाता है। सभी लेखक अपने विषय के अधिकारी विद्वान् हैं। उन्होंने नवीन शोध-परिणामों का विवेकपूर्ण उपयोग करते हुए विभिन्न कालखण्डों, प्रवृत्तियों एवं विधाओं का ऐतिहासिक विवेचन किया है। इस अनेकता में एकता स्थापित करने का प्रयत्न एक सीमा तक ही सफल हो सकता है—और सहयोगी लेखकों के उदार सहयोग से यह प्रयास हमने यथासम्भव किया है : विभिन्न लेखकों की सामग्री में स्वभावतः विद्यमान मतभेदों और तज्जन्य अन्तर्विरोधों का निराकरण तथा अपनी रूपरेखा के अनुसार यथास्थान परिवर्तन-संशोधन किया है, नामपरिगणन को विशेष महत्व न देते हुए भी यह ध्यान रखा है कि महत्वपूर्ण नाम छूट न जायें और वर्तनी में भी एकरूपता बनी रहे। इससे आगे जाना न सम्पादक के लिए सम्भव था और न उचित ही।

गुण और परिमाण में समृद्ध, निरन्तर विकासशील हिन्दी-साहित्य का परिपूर्ण इतिहास तो कोई एक कृती लेखक ही लिख सकता है; परन्तु उसके अभाव में यह संकलन-ग्रन्थ भी शायद, कुछ सीमा तक, रिक्तिपूर्ति कर सके, ऐसी आशा करना बहुत अनुचित न होगा।

—नगेन्द्र

लेखक-मण्डल

डॉ० नगेन्द्र

भूमिका : १ हिन्दी साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ —१७, काल-विभाजन और नामकरण—५४-६१, रीतिकाल की उपलब्धियाँ—४२७-४३४, उपसंहार—७३४-७३६

डॉ० भोलानाथ तिवारी

भूमिका : २ हिन्दी भाषा : उद्‌भव, विकास और स्वरूप—२२

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त

पूर्वपीठिका—३७-६१, प्रेमाख्यान-काव्य —१६०-१८८

डॉ० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'

आदिकाल—६२-९९

आचार्य परशुराम चतुर्वेदी

भक्तिकाल : पूर्वपीठिका—१०३-१३०

डॉ० तारकनाथ बाली

निर्गुण भक्ति काव्य—१३१-१३८ छायावाद-युग : ५३६-५७२

डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित

सन्त-काव्य—१३८-१६०

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक

सगुण भक्तिकाव्य—१८९-२५४, भक्तिकाल की उपलब्धियाँ—२८३-२८८

डॉ० मनमोहन गौतम

भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ—२५५-२६३

डॉ० महेन्द्रकुमार

भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ : रीतिकाव्य—२६३-२७२
उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल—२९१-३८१

डॉ० प्रेमप्रकाश गौतम

भक्तिकाल का गद्य-साहित्य—२७३-२८२, रीतिकाल का गद्य-साहित्य—४१२-४२६

डॉ० भगीरथ मिश्र

रीतिबद्ध काव्य—३५९-३६९

डॉ० मनोहरलाल गौड़

रीतिमुक्त काव्य—३७०-३८१

डॉ० अम्बाप्रसाद 'सुमन'

रीतिकाल की अन्य काव्य प्रवृत्तियाँ—३८२-४११

डॉ० बच्चनसिंह

आधुनिक काल : पूर्वपीठिका—४३७-४५६, छायावादोत्तर काल : गद्य-साहित्य— ६६६-७१०, ७३१-७३३.

डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त

भारतेन्दु-युग : काव्य-धारा—४६०-४७७

डॉ० रामचन्द्र तिवारी

भारतेन्दु-युग : गद्य-साहित्य—४८६-४९२; द्विवेदी-युग : गद्य-साहित्य—५१६-५२८, ५३०-५३४

डॉ० ओमप्रकाश सिंहल

भारतेन्दु-युग : गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ—४८५-४८६,
द्विवेदी-युग : गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ—५२७-५३१,
छायावाद युग : गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ—६०३-६०८,
छायावादोत्तर काल : गद्य साहित्य की अन्य विधाएँ—
७०८-७२७

डॉ० उमाकान्त

द्विवेदी-युग : काव्यधारा—४९७-५१५

डॉ० गोपाल राय

छायावाद-युग : गद्य-साहित्य—५७२-६०२, ६०९-६१७

डॉ० रामदरश मिश्र

छायावादोत्तर काल : काव्यधारा—६१६-६६०, ६३२-६६५

डॉ० बाबूलाल गोस्वामी

छायावादोत्तर काल : ब्रजभाषा काव्य—६६०-६६२

महेन्द्र चतुर्वेदी

छायावादोत्तर काल : ज्ञान का साहित्य तथा पत्र-पत्रिकाएँ
७२२-७३१

विषयानुक्रम

भूमिका

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएं १७
२. हिन्दी भाषा : उद्‌भव, विकास और स्वरूप २२

प्रथम खण्ड : पूर्वपीठिका आदिकाल

अध्याय १ : पूर्वपीठिका (३७-६१)

१. इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप ३७
२. इतिहास-दर्शन की रूपरेखा ३८
  इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण ३८, इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण ३९
३. साहित्य का इतिहास-दर्शन ४१
४. साहित्येतिहास और साहित्यालोचन ४३
५. हिन्दी-साहित्येतिहास की परम्परा ४४
६. हिन्दी-साहित्येतिहास के आधार ५३
७. काल-विभाजन और नामकरण ५४
८. नामकरण की समस्याएँ ५९

अध्याय २ : आदिकाल (६२-९९)

१. हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ६२
  प्रथम कवि ६४, प्रथम रचना ६६
२. सीमांकन ६६
३. नामकरण की समस्या ६७
४. परिवेश ७०
  राजनीतिक स्थिति ७०, धार्मिक स्थिति ७१, सामाजिक स्थिति ७२, सांस्कृतिक परिस्थिति ७३, साहित्यिक वातावरण ७४
५. अपभ्रंश-साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रभाव ७५
६. आदिकाल की उपलब्ध सामग्री ७७
  प्रामाणिकता ७७, ग्रहण और त्याग का प्रश्न ७८

७. वर्गीकरण ७८

सिद्ध-साहित्य : सरहपा ७९, शबरपा ७९, लुइपा ७९, डोम्भिपा ८०, कण्हपा ८०, कुक्कुरिपा ८०

जैन-साहित्य : श्रावकाचार ८१, भरतेश्वर-बाहुबली रास ८१, चन्दनबालारास ८२, स्थूलिभद्ररास ८२, रेवंतगिरिरास ८२, नेमिनाथरास ८२

नाथ-साहित्य : गोरखनाथ ८३, अन्य कवि ८४

रासो-साहित्य : खुमाण रासो ८५, बीसलदेव रासो ८६, हम्मीर रासो ८७, परमाल रासो ८७

८. पृथ्वीराज रासो ८८

पृथ्वीराज रासो के संस्करण ८८, प्रामाणिकता ८९, अप्रामाणिकता के लिए तर्क ८९, काव्योत्कर्ष ९१

लौकिक साहित्य : ढोला-मारू रा दूहा ९२, जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका ९३, वसन्त-विलास ९३, खुसरो की पहेलियाँ ९४

गद्य-साहित्य : राउलवेल ९४, उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण ९५, वर्ण-रत्नाकर ९५

९. आदिकाल की उपलब्धियाँ ९५

भाषा-रूप और सम्प्रेषण-क्षमता ९६, कथ्य और शिल्प ९७

द्वितीय खण्ड : पूर्व-मध्यकाल अथवा भक्तिकाल

अध्याय ३ : भक्तिकाल : पूर्वपीठिका (१०३-१३०)

१. सीमांकन १०५

२. परिवेश १०५

राजनीतिक स्थिति १०५, सामाजिक स्थिति १११, सांस्कृतिक स्थिति ११३

३. भक्ति-आन्दोलन ११७

४. ललित कलाएँ ११९

वास्तु कला ११९, मूर्ति कला १२०, चित्र कला १२०, संगीत कला १२१

५. साहित्य और असाहित्य का प्रश्न १२२

६. उपलब्ध सामग्री १२४

७. वर्गीकरण १२५

८. भक्तिकाव्य तथा लौकिक काव्य १२६

९. भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ १२७

प्रवृत्तिगत पृष्ठभूमि १२७, प्रवृत्तिगत विशेषताएँ १२८

अध्याय ४ : निर्गुण भक्तिकाव्य (१३१-१८८)

१. निर्गुण भक्ति का स्वरूप १३१

२. सन्त-काव्य १३८

उपलब्ध सामग्री : साहित्य-असाहित्य का निर्णय १४०, वर्गीकरण एवं प्रवृत्ति-विश्लेषण १४१
३. निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि १४२
रामानन्द १४२, कबीरदास १४३, रैदास १४६, नानकदेव १४७, जम्भनाथ १४८, हरिदास निरंजनी १४८, सींगा १४९, लालदास १५०, दादूदयाल १५१, मलूकदास १५२, बाबा लाल १५३, सुन्दरदास १५४, अन्य संत कवि १५४
४. सन्त-काव्य : सामान्य प्रवृत्तियाँ १५७
रस १५८, भाषा १५८, अलंकार १५८, छन्द १५९, युगबोध १५९
५. प्रेमाख्यान-काव्य १६०
उद्गम-स्रोत तथा पूर्व-परम्परा १६१
६. हिन्दी-प्रेमाख्यान-काव्य : प्रवृत्ति-विश्लेषण १६६
काव्य-प्रेरणा एवं प्रयोजन १६७, कथावस्तु १६७, चरित्र-चित्रण १६९, वस्तु-वर्णन १७०, भाव एवं रस-व्यंजना १७०, विचार एवं सिद्धान्त १७२, काव्य-रूप १७५, शैली १७७
७. प्रेमाख्यान-परम्परा का हिन्दी में प्रवर्तन व विकास १७९
हंसावली १७९, चान्दायन १८०, लखमसेन पदमावती कथा १८१, सत्यवती कथा १८१, मृगावती १८१, माधवानल कामकन्दला (गणपति) १८२, पदमावत १८२, मधुमालती १८४, ढोला मारू रा दूहा १८५, माधवानल कामकन्दला चौपई १८५, रूपमंजरी १८५, प्रेमविलास प्रेमलता की कथा १८६, छिताई वार्ता १८६, माधवानल कामकन्दला (आलम) १८६, चित्रावली १८६, रसरतन १८७, ज्ञानद्वीप १८७, जान कवि के प्रेमाख्यान-काव्य १८७, नल-दमयन्ती-सम्बन्धी प्रेमाख्यान काव्य १८७
८. मूल्यांकन १८८

अध्याय ५ : सगुण भक्तिकाव्य (१८९-२५४)
१. वैष्णव भक्ति का उदय १८९
२. वैष्णव धर्म के विविध रूप और वैष्णव भक्ति १९१
३. वैष्णव भक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य १९३
श्री रामानुजाचार्य १९३, श्री मध्वाचार्य १९३, श्री विष्णुस्वामी १९४, श्री निम्बार्काचार्य १९४, श्री वल्लभाचार्य १९४
४. वैष्णव भक्ति का वैशिष्ट्य १९५
५. रामभक्ति-काव्य १९६
बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में रामकथा १९७, दक्षिण के आलवारों में रामभक्ति १९८, संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में रामकथा १९९, आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकाव्य २००
६. हिन्दी-रामकाव्य २०१
स्वामी रामानन्द २०२, अग्रदास २०३, ईश्वरदास २०३, गोस्वामी तुलसीदास २०४, नाभादास २०६, केशवदास २०६, सेनापति २०६,

अन्य रामभक्त कवि २०७, कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य २०८

७. **कृष्णभक्ति-काव्य** २०९

वैदिक ऋषि कृष्ण २०९, महाभारत, गीता और पुराणों में कृष्ण २१०, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-काव्य में कृष्ण २१२, विद्यापति का कृष्ण-काव्य २१३, मध्ययुगीन भक्ति-सम्प्रदायों में कृष्ण २१४

८. **कृष्णभक्त कवि** २१६

वल्लभ सम्प्रदाय : सूरदास २१७, कुम्भनदास २२१, परमानन्ददास २२२, कृष्णदास २२३, नन्ददास २२४, गोविन्दस्वामी २२६, छीतस्वामी २२६, चतुर्भुजदास २२७

निम्बार्क-सम्प्रदाय : श्रीभट्ट २२९, हरिव्यासदेव २३०, परशुराम देव २३१,

राधावल्लभ-सम्प्रदाय : हितहरिवंश २३२, दामोदरदास (सेवकजी) २३४, हरिराम व्यास २३४, चतुर्भुजदास २३६, ध्रुवदास २३६, नेही नागरीदास २३८

हरिदासी सम्प्रदाय (सखी-सम्प्रदाय) : स्वामी हरिदास २३९, जगन्नाथ-गोस्वामी २४२, वीठल विपुल २४२, बिहारिनदास २४२, अन्य भक्ति-कवि २४३

चैतन्य (गौड़ीय)-सम्प्रदाय : रामराय २४४, सूरदास मदनमोहन २४५, गदाधर भट्ट २४६, चन्द्रगोपाल २४७, भगवानदास २४८, माधवदास 'माधुरी' २४९, भगवतमुदित २४९

सम्प्रदाय-निरपेक्ष कृष्ण-काव्य : मीराँबाई २५०, रसखान २५२

अध्याय ६ : भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ (२५५-२७२)

१. **वीरकाव्य** २५५
२. **प्रबन्धात्मक चरित-काव्य** २५६
३. **नीतिकाव्य** २५८
४. **अकबरी दरबार का काव्य** २६०
५. **रीतिकाव्य** २६३

कृपाराम २६४, सूरदास २६५, नन्ददास २६६, केशवदास २६६, रहीम २६९, सुन्दर कविराय २७०, न्यामत खाँ जान २७०, अन्य रीतिकार २७१

अध्याय ७ : भक्तिकाल का गद्य-साहित्य (२७३-२८२)

ब्रजभाषा-गद्य २७४, खड़ीबोली-गद्य २७७, दक्खिनी-गद्य २७८, राजस्थानी गद्य २८०

अध्याय ८ : भक्तिकाल की उपलब्धियाँ (२८३-२८८)

निर्गुण सन्तकाव्य २८३, प्रेमाख्यान काव्य २८५, सगुण भक्तिकाव्य २८६

तृतीय खण्ड : उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल

अध्याय ९ : उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल (२९१-३८१)

१. नामकरण २९१

२. सीमांकन २९४

३. परिस्थितियाँ २९५

राजनीतिक अवस्था २९५, सामाजिक अवस्था २९७, सांस्कृतिक अवस्था २९८, साहित्य एवं कलाओं की स्थिति २९८

४. उपलब्ध सामग्री ३०१

मूल स्रोत ३०१, वर्गीकरण ३०२

५. प्रवृत्ति-विश्लेषण ३०६

६. रीतिकाव्य ३०८

'रीत' शब्द की व्याख्या और रीतिकाव्य का लक्षण ३०८, शास्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार ३०९, रीतकाव्य की मूल प्रवृत्तियाँ ३१७

७. रीतिकवियों के वर्ग ३२२

सर्वांग-निरूपक कवि : चिन्तामणि ३२३, कुलपति मिश्र ३२४, कुमारमणि ३२५, देव ३२६, सोमनाथ ३२७, भिखारीदास ३२९, रसिकगोविन्द ३३०, प्रतापसाहि ३३२, अमीरदास ३३३, ग्वाल ३३५

सर्वरस-निरूपक कवि : तोष ३३८, रसलीन ३३९, पद्माकर ३४०, बेनी 'प्रवीन' ३४२, अन्य रीतकवि ३४२, उजियारे ३४३

श्रृंगाररस-निरूपक रीतिकवि : मतिराम ३४५, कृष्णभट्टदेव ऋषि ३४६ नायक नायिकाभेद-निरूपक रीतिकवि ३४७

अलंकार-निरूपक रीतिकवि : जसवन्तसिंह ३४८, मतिराम ३४९, भूषण ३५०, पद्माकर ३५१, अलंकार-विवेचक अन्य रीतिकवि ३५२

छन्दोनिरूपक रीतिकवि : मुरलीधर 'भूषण' ३५५, सुखदेव मिश्र ३५६ मतिराम ३५६, रामसहाय ३५७, अन्य छन्दोनिरूपक कवि ३५८

८. रीतिबद्ध काव्य ३५९

सेनापति ३५९, विहारी ३६१, रसनिधि ३६३, वृन्द ३६४, नृप शम्भु, ३६५, नेवाज ३६६, कृष्ण कवि ३६६, हठी जी ३६७, विक्रमादित्य ३६७, रामसहाय ३६८, पजनेस ३६८, वेनी वाजपेयी ३६९

९. रीतिमुक्त-काव्य ३७०

प्रवृत्ति का नाम ३७०, परिभाषा और परिधि ३७०, घनानन्द ३७२, आलम ३७४, ठाकुर ३७६, वोधा ३७६, द्विजदेव ३ ७, रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताएँ ३७७

अध्याय १० : रीतिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ (३८२-४०३)

१. भक्तिकाव्य ३८२

सन्त-काव्य : यारी साहव ३८३, दरिया साहब ३८३, जगजीवनदास ३८४, पलटू साहब ३८४, चरनदास ३८४, शिवनारायण ३८५, तुलसी

साहब ३८५, अन्य सन्तकवि ३८६

सूफ़ी काव्य अथवा प्रेमाख्यान-काव्य : कासिमशाह ३८८, नूर मुहम्मद ३८९, शेख निसार ३८९, सूरदास ३९०, दुखहरनदास ३९०

राम-काव्य : गुरु गोविन्दसिंह ३९३, जानकीरसिकशरण ३९३, भगवन्तराय खीची ३९४, जनकराज किशोरीशरण ३९४, नवलसिंह ३९५, विश्वनाथ सिंह ३९५, अन्य रामभक्त कवि ३९५

कृष्ण-काव्य : प्रबन्धात्मक कृष्ण काव्य ३९८, मुक्तक शैली में रचित कृष्ण-काव्य ३९९, रूपरसिकदेव ४००, नागरादास ४००, अलबेलि अलि ४००, चाचा हितवृन्दावनदास ४०१, भगवतरसिक ४०१, अन्य कवि ४०२

२. नीतिकाव्य ४०५

३. वीरकाव्य ४०६

प्रबन्धात्मक वीरकाव्यों के कवि : लाल कवि ४०७, पद्माकर भट्ट ४०६, सूदन ४०७, खुमान ४०८, जोधराज ४०८

मुक्तक-वीरकाव्यों के कवि : भूषण ४०८, बाँकीदास ४०९

४. स्फुट काव्य-प्रवृत्तियाँ ४१०

सबलसिंह चौहान ४१०, व्रजनिधि ४१०, बेनी कवि ४१०, रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का मूल्यांकन ४११

अध्याय ११ : रीतिकाल का गद्य-साहित्य (४१२-४२६)

व्रजभाषा-गद्य ४१३, सत्रहवीं शताब्दी ४१४, अठारहवीं शताब्दी ४१४, उन्नीसवीं शताब्दी ४१५

खड़ीबोली-गद्य ४१६, दक्खिनी-गद्य ४२३, राजस्थानी-गद्य ४२४, भोजपुरी और अवधी की गद्य-रचनाएँ ४२५

अध्याय १२ : रीतिकाल की उपलब्धियाँ (४२७-४३४)

काव्यशास्त्र ४२७, रीतिकाव्य ४३०, रीतिमुक्तकाव्य ४३३, अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ ४३३

चतुर्थ खण्ड : आधुनिक-काल

अध्याय १३ : आधुनिक काल : पूर्वपीठिका (४३७-४५६)

१. नामकरण ४३८

२. उपविभाग ४३८

३. परिस्थितियाँ ४३९

राजनीतिक स्थिति ४३९, नया आर्थिक ढाँचा : नये सम्वन्ध ४४०, शिक्षा का पश्चिमीकरण ४४२, यातायात के साधन ४४६, प्रेस और जनमत ४४६, भारतीय जागरण (रेनेसाँ) : पश्चिम की चुनौती ४४८, मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर ४५२, संगीत, चित्र और साहित्य की नयी स्थिति ४५४

४. आधुनिकता ४५५

अध्याय १४ : भारतेन्दु-युग (पुनर्जागरण-काल) (४५७-४९५)

१. भारतेन्दु-पूर्व काव्यधारा ४५८
२. भारतेन्दु-युग का नवीन परिवेश ४५९
३. काव्यधारा ४६०
    राष्ट्रीयता ४६०, सामाजिक चेतना ४६१, भक्ति-भावना ४६२, श्रृंगारिकता ४६४, प्रकृति-चित्रण ४६५, हास्य-व्यंग्य ४६६, रीति-निरूपण ४६६, समस्यापूर्ति ४६७, काव्यानुवाद ४६८, कलापक्ष ४६९, काव्य-रूप ४६९
४. प्रमुख कवि ४७२
    भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ४७२, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ४७३, प्रतापनारायण मिश्र ४७३, जगन्मोहनसिंह ४७४, अम्बिकादत्त व्यास ४७४, राधाकृष्णदास ४७५, अन्य कवि ४७५
५. मूल्यांकन ४७६
६. गद्य-साहित्य ४७७
    नाटक ४७८, उपन्यास ८८२, कहानी ४८४, निबन्ध ४८५, आलोचना ४८६, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ : जीवनी-साहित्य ४८८, यात्रावृत्त ४८९, ज्ञान का साहित्य ४८९, पत्र-पत्रिकाएँ ४९१, गद्य-शैली का विकास ४९२, मूल्यांकन ४९५

अध्याय १५ : द्विवेदी-युग (जागरण-सुधार-काल) (४९६-५३५)

१. काव्यधारा ४९७
    द्विवेदी कालीन कविता की कुछ मुख्य प्रवृत्तियाँ : राष्ट्रीयता ४९८, सामान्य मानवता ४९९, नीति और आदर्श ५००, वर्ण्य विषय का क्षेत्र-विस्तार ५०१, हास्य-व्यंग्य-काव्य ५०१, सभी काव्य-रूपों का प्रयोग ५०२, भाषा-परिवर्तन ५०३, छन्द-वैविध्य ५०३
२. प्रमुख कवि ५०४
    नाथूराम शर्मा शंकर ५०४, श्रीधर पाठक ५०४, महावीरप्रसाद द्विवेदी ५०५, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ५०६, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ५०७, रामचरित उपाध्याय ५०८ गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ५०८, मैथिलीशरण गुप्त ५०८, रामनरेश त्रिपाठी ५०९, अन्य कवि ५१०
३. ब्रजभाषा-काव्य ५१२
४. गद्य-साहित्य ५१६
    नाट्य साहित्य ५१७, उपन्यास ५१९, कहानी ५२२, निबन्ध ५२४, आलोचना ५२६, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ : जीवनी-साहित्य ५२८, यात्रावृत्त ५३०, संस्मरण ५३१, पत्र-साहित्य ५३१; ज्ञान का साहित्य ५३१, पत्र-पत्रिकाएँ ५३३, मूल्यांकन ५३४

अध्याय १६ : छायावाद-युग (५३६-६१५)

१. सीमांकन, नामकरण तथा परिवेश ५३६

२. काव्यधारा ५४१

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता : ५४१, प्रमुख कवि : माखनलाल चतुर्वेदी ५४५, सियारामशरण गुप्त ५४६, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ५४६, सुभद्राकुमारी चौहान ५४७, अन्य कवि ५४८

छायावाद : सामान्य विशेषताएँ ५४८, छायावादी कवि : जयशंकर प्रसाद ५५३, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ५५५, सुमित्रानन्दन पन्त ५५८, महादेवी वर्मा ५६१, छायावाद के अन्य कवि ५६३

प्रेम और मस्ती का काव्य ५६४

हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य ५६८

ब्रजभाषा-काव्य ५६९

३. गद्य-साहित्य ५७२

नाटक ५७३, एकांकी नाटक ५८०, उपन्यास ५८२, कहानी ५८९, निबन्ध ५९४, समालोचना ५९७, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ : जीवनी-साहित्य ६०३, आत्मकथा ६०३, यात्रावृत्त ६०४, संस्मरण तथा रेखा-चित्र ६०५, गद्यकाव्य ६०६, पत्र-साहित्य ६०८, अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ ६०८; ज्ञान का साहित्य ६०८, पत्र-पत्रिकाएँ ६१२, मूल्यांकन ६१५

अध्याय १७ : छायावादोत्तर काल (६१६-७३१)

१. काव्यधारा ६१६

उत्तर-छायावाद ६१९, व्यक्तिवादी गीतिकविता ६२२, राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता ६२६, प्रगतिवाद ६३०, प्रयोगवाद ६३५, नयी कविता ६३७, कुछ विशिष्ट प्रबन्धकाव्य ६४६, कुछ विशिष्ट युद्ध-प्रबन्ध ६५२, नये गीत ६५३, आज की कविता ६५५, हास्य-व्यंग्यात्मक कविता ६५७, ब्रजभाषा-काव्य ६५९, मूल्यांकन ६६१

२. गद्य-साहित्य ६६४

नाटक ६६५, एकांकी नाटक ६७२, उपन्यास ६७५, कहानी ६८८, निबन्ध ६९५, समालोचना ७००, गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ जीवनी-साहित्य ७०८, आत्मकथा ७११, यात्रावृत्त ७१२, संस्मरण तथा रेखा-चित्र ७१४, गद्य-काव्य ७१६, रिपोर्ताज ७१७, इंटरव्यू-साहित्य ७१९, पत्र-साहित्य ७२०, अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ ७२१; ज्ञान का साहित्य ७२२, पत्र-पत्रिकाएँ ७२७, मूल्यांकन ७२९

उपसंहार (पृष्ठ ७३२-७३६)

परिशिष्ट

लेखकानुक्रमणिका—ग्रन्थानुक्रमणिका ७३७

भूमिका : १

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : पुनर्लेखन की समस्याएँ

आवश्यकता : हिन्दी-साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता है—इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके दो स्पष्ट कारण हैं : साहित्य-चेतना का विकास और नवीन शोध-परिणाम। प्रत्येक युग में साहित्य-चेतना में निरन्तर परिवर्तन या विकास होता रहा है। वर्तमान युग का साहित्य-चिन्तन वैसा नहीं है जैसा आचार्य शुक्ल के समय में आज से चालीस वर्ष पूर्व था। यद्यपि साहित्य के मौलिक प्रतिमान अधिक नहीं बदलते, फिर भी बदलते हुए युग-बोध के कारण परिप्रेक्ष्य, प्रविधि-प्रक्रिया आदि में परिवर्तन निश्चय ही होता है। दूसरा प्रमुख कारण यह है कि पिछले दशकों में निरन्तर अनुसन्धान के फलस्वरूप प्रचुर नवीन सामग्री प्रकाश में आयी है और अनेक स्वीकृत तथ्यों का संशोधन हुआ है जिनसे पूर्ववर्ती निर्णय और निष्कर्ष अनिवार्यतः बदल गये हैं। इनके अतिरिक्त एक सूक्ष्मतर कारण और भी है। जैसा कि इलियट ने कहा है, केवल अतीत ही वर्तमान को प्रभावित नहीं करता—वर्तमान भी अतीत को प्रभावित करता है। इस तर्क से प्रत्येक युग में साहित्य के नये विकास-रूप उसके पूर्वरूपों के मूल्यांकन को प्रभावित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए, मिश्रबन्धुओं के समय श्रेष्ठ कवियों की जो परम्परा थी उसमें मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, पन्त आदि के आविर्भाव के बाद निश्चय ही परिवर्तन हो गया है। हिन्दी महाकाव्य-परम्परा में 'रामचरितमानस' और 'रामचन्द्रिका' आदि का स्थान-निर्धारण करने के लिए 'प्रियप्रवास', 'साकेत' और 'कामायनी' की रचना के बाद आज फिर से विचार करना पड़ेगा। किसी शृंखला में जब नयी कड़ियाँ जुड़ती हैं तो स्वभावतः पुरानी कड़ियों की स्थिति पूर्ववत् नहीं रह जाती। अतः नवीन शोध-परिणामों के आधार पर, विकासशील साहित्य-चेतना के आलोक में, सम्पूर्ण परिदृश्य का पुनरावलोकन सर्वथा आवश्यक है।

दो मौलिक प्रश्न : हिन्दी-साहित्य के इतिहास के सन्दर्भ में दो मौलिक प्रश्नों का समाधान कर लेना आवश्यक है : १. हिन्दी का स्वरूप-विस्तार कहाँ तक है ? २. साहित्य की सीमा क्या है ? हिन्दी के स्वरूप-विस्तार का प्रश्न कुछ राजनीतिक कारणों से उलझ गया है। हिन्दी के विद्वान् और अन्य भाषाविद् आरम्भ से ही यह स्वीकार करते आये हैं

कि भारतवर्ष के जितने भूभाग में वर्तमान हिन्दी या खड़ी बोली हिन्दी सामाजिक व्यवहार अर्थात् पत्राचार, शिक्षा-दीक्षा, सार्वजनिक आयोजन, विचार-विनिमय तथा साहित्यिक अभिव्यक्ति आदि की माध्यम भाषा है, वह सब-का-सब हिन्दी-प्रंदेश है और उसके अन्तर्गत बोली जानेवाली सभी भाषाएँ हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। इस दृष्टि से वर्तमान बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश व दिल्ली का इलाक़ा हिन्दी-क्षेत्र में आते हैं और मैथिली, मगही, भोजपुरी, पूर्वी अवधी, पश्चिमी अवधी, बघेलखण्डी, ब्रज, कन्नौजी, बुन्देलखण्डी, राजस्थानी के विभिन्न रूप, कुमाऊँनी आदि पहाड़ी बोलियाँ हिन्दी की शाखा-प्रशाखाएँ हैं। यह परिभाषा नयी नहीं है, इसका स्वरूप उस समय निर्धारित हो गया था जब भाषायी राज्यों और उनके प्रलोभनों की कल्पना भी किसी को नहीं थी। हिन्दी का यह 'बृहत्तर' या 'विशाल'—यानी राजनीतिक उद्देश्यों से विस्तारित रूप नहीं है, स्वाभाविक तर्कसम्मत रूप है, जिसके विषय में अभी कुछ समय पूर्व तक कोई विवाद नहीं था। लेकिन अब लगभग पाँच-छह वर्षों से यह विवाद ज़ोर पकड़ रहा है। एक मत यह है कि हिन्दी का अर्थ वर्तमान हिन्दी या खड़ी बोली हिन्दी ही है। मैथिली और राजस्थानी तो स्वतन्त्र भाषाएँ हैं ही—भाषाविज्ञान के आधार पर उनकी प्रकृति और प्रवृत्ति हिन्दी से अत्यन्त भिन्न है; अवधी और ब्रज का भी अपना पृथक् अस्तित्व है—ये दोनों एक-दूसरे से भी भिन्न हैं और वर्तमान हिन्दी से भी। यह नारा हिन्दी-विरोधी शिविर से उठाया गया है और हिन्दी के भी कुछ-एक अधिक प्रगतिशील लेखक इसमें शामिल हो गये हैं। मैथिली को तो साहित्य अकादेमी-जैसी संस्था ने मान्यता दे ही दी है और उसके साहित्य के स्वतन्त्र प्रकाशन तथा अध्ययन-अध्यापन का क्रम चलने लगा है। उधर राजस्थानी का आन्दोलन भी जारी है और उसके लिए भी इस प्रकार के प्रयास आरम्भ हो गये हैं। ब्रज तथा अवधी, जिनका साहित्य कहीं अधिक समृद्ध है, और भी औचित्यपूर्वक यह दावा कर सकती हैं। दूसरा मत विस्तारवादी है जिसके अनुसार उर्दू भी हिन्दी की ही उपभाषा है और ब्रजभाषा आदि की तरह उर्दू का साहित्य भी हिन्दी-साहित्य का ही अंग है। नागरीप्रचारिणी सभा तथा भारतीय हिन्दी-परिषद् के इतिहासों में उर्दू-साहित्य के विकास का भी निरूपण किया गया है।

इस विषय में हमें सन्तुलित दृष्टि से विचार करना चाहिए। एक बात तो यह साफ़ है कि उर्दू का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अन्तर्भाव करना उचित नहीं है—प्रसाद और इक़बाल को एक ही भाषा के कवि मानना संगत नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि दोनों में कुछ तत्त्व समान हैं, परन्तु असमान तत्त्व कहीं अधिक हैं। अतः हिन्दी-साहित्य के इतिहास में उर्दू के समावेश का बरबस प्रयास करना व्यर्थ है, मैथिली और राजस्थानी साहित्य का इतिहास आदिकाल से ही हिन्दी-साहित्य के साथ सम्बद्ध रहा है और विद्यापति, चन्द, नरपति नाल्ह, पृथ्वीराज आदि कवियों को हिन्दी-साहित्य के इतिहास में निरन्तर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता रहा है। परन्तु भाषा की कठिनाई के कारण, साथ ही पर्याप्त शोध-सामग्री का प्रकाशन न होने से, इन भाषाओं के कवि-लेखकों तथा उनकी कृतियों के साथ उचित न्याय नहीं हुआ। परवर्ती शोध के परिणामस्वरूप इन दोनों भाषाओं का समृद्ध साहित्य प्रकाश में आया है। राजस्थानी में रासो, मुक्तक वीरकाव्य तथा नीतिकाव्य की समृद्ध परम्परा तथा गद्य के विविध रूपों के पुष्ट उदाहरण मिलते हैं और उधर मैथिली के गीतिकाव्य का माधुर्य भी अपूर्व है। इसी प्रकार गुरुमुखी में लिपिबद्ध हिन्दी गद्य-पद्य का प्रचुर साहित्य आज उपलब्ध है जिससे हिन्दी-साहित्य का इतिहासकार या तो अनभिज्ञ रहा है या पंजाबी की रचनाएँ

मझकर उनकी उपेक्षा करता रहा है। इस सम्पूर्ण वाङ्मय का हिन्दी-साहित्य के इतिहास विवेकपूर्वक उपयोग करना चाहिए क्योंकि हिन्दी की सही परिभाषा के अनुसार यह सब हन्दी-साहित्य का ही अंग है।

कुछ ऐसी ही शंका आदिकाल की हिन्दी के विषय में भी उठती है। उस समय की हन्दी का स्वरूप अपभ्रंश, डिंगल-पिंगल और सीमान्तवर्ती क्षेत्रों में गुजराती, पंजाबी आदि ाषाओं के साथ इस प्रकार उलझा हुआ है कि इतिहासकार भ्रम में पड़ जाता है। वह स्तुतः भारतीय भाषाओं का उद्भव-काल है, जिसमें प्रायः सभी के स्वरूप अनिश्चित और स्थिर हैं। इसीलिए हिन्दी में भी कुछेक पूर्ववर्ती और निकटवर्ती भाषा-रूपों का अन्तर्भाव ो जाना स्वाभाविक है। अतः इस विषय में अधिक शुद्धतावादी दृष्टिकोण अपनाना ठीक हीं होगा। व्यावहारिक दृष्टिकोण यही है कि ऐसी सभी रचनाओं को, जिनके अधिकांश ाषिक रूप हिन्दी की उपभाषाओं के भाषिक रूपों से अभिन्न हैं, हिन्दी के अन्तर्गत मान ना चाहिए।

दूसरा प्रश्न यह है कि इतिहास के सन्दर्भ में साहित्य की सीमा कहाँ तक मानी ाय। सत्य तो यह है कि इस विषय में भी हमारा दृष्टिकोण व्यापक ही होना चाहिए ौर रस के साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान के साहित्य का भी अन्तर्भाव करना चाहिए। यह ोक है कि साहित्य का अर्थ मूलतः यहाँ भी सर्जनात्मक साहित्य ही है और एक सीमा से ागे सम्पूर्ण वाङ्मय को उसके साथ समेटना सम्भव नहीं है। मध्ययुग में आयुर्वेद, ज्योतिष ादि शास्त्र तथा साम्प्रदायिक साहित्य आदि सभी कुछ पद्य में ही लिखित हैं और गद्य में ी अनेक कच्ची-पक्की टीकाएँ, वचनिकाएँ, वार्त्ताएँ, ख्यातें और बातें मिलती हैं। इधर ाधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान के असंख्य ग्रन्थों की रचना निरन्तर हो रही है। यह सब ाहित्य के अन्तर्गत तो नहीं आ सकता, लेकिन इस प्रकार के समस्त वाङ्मय का नियमतः ाग करना भी उचित नहीं है। उदाहरण के लिए, आदिकाल में रचित गोरखनाथ आदि ी बानी या परवर्ती युग का वार्त्ता-साहित्य शुद्ध साहित्य की परिधि में नहीं आता; किन्तु ा इतिहासकार उनकी उपेक्षा कर सकता है? उनके अभाव में विकास-परम्परा की कुछ ावश्यक कड़ियाँ लुप्त हो जाएँगी। आधुनिक काल के आरम्भ में रचित स्वामी दयानन्द ा 'सत्यार्थप्रकाश' निश्चय ही ललित साहित्य का अंग नहीं है, परन्तु क्या आलोचना की ाषा के विकास का अध्ययन उसके बिना सम्भव है? इसी प्रकार वर्तमान युग में भी ान के साहित्य के ऐसे अनेक गौरव-ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख इतिहास में करना अनिवार्य । एक ओर भाषाविज्ञान, पाठविज्ञान, कोशविज्ञान, पत्रकारिता आदि और दूसरी ओर र्शन, इतिहास, भूगोल, राजनीतिशास्त्र आदि के क्षेत्रों की उपलब्धियाँ कथ्य की दृष्टि से ाहित्य के अन्तर्गत भले ही नहीं आतीं, किन्तु वे प्रकारान्तर से गद्य-शैली के विकास में ागदान करती हैं; इसका निषेध नहीं किया जा सकता। अतः इतिहासकार को यहाँ भी वेकपूर्वक, प्रमुख और गौण का भेद करते हुए, वाङ्मय के दोनों रूपों को स्वीकार करके लना चाहिए अर्थात् रस के साहित्य को प्रधान विषय बनाकर उसके पोषक रूप में ज्ञान साहित्य का आकलन करना चाहिए।

आधार-स्रोत : पिछले चार दशकों में निरन्तर अनुसन्धान के फलस्वरूप अनेक नवीन ाधार-स्रोतों का उद्घाटन हुआ है और प्रचुर सामग्री प्रकाश में आयी है। वर्तमान शती के थम चरण तक इस प्रकार के साधन अत्यन्त सीमित थे और इतिहासकार को प्रायः सभा ी खोज-रिपोर्टों या विद्वानों के व्यक्तिगत प्रयासों पर ही निर्भर करना पड़ता था। परन्तु

आज सभी क्षेत्रों में अनेक संस्थाएँ व्यवस्थित रूप से कार्य कर रही हैं और नित्य सामग्री का प्रकाशन हो रहा है। स्वभावतः इन शोध-परिणामों का उपयोग करना इति कार के लिए आवश्यक हो गया है। परन्तु इस विषय में काफ़ी सावधान होकर करना चाहिए। इतिहास में ऐसी सामग्री का ही उपयोग करना चाहिए जिसकी प्रामा असन्दिग्ध है। सन्दिग्ध सामग्री का भी, यदि वह साहित्य के विकास की दृष्टि से मह है, उल्लेख करना आवश्यक हो सकता है; परन्तु उस पर प्रश्नवाचक चिह्न अवश्य चाहिए। हमारे साहित्य की काफ़ी महत्त्वपूर्ण सामग्री ऐसी है जिसकी अप्रामाणिकता हो चुकी है—उसके प्रति मोह अनुचित है और इतिहासकार के सामने वस्तुस्थिति को कार करने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है। किन्तु प्रामाणिकता के प्रश्न प अत्यन्त सतर्कता की आवश्यकता है। प्रत्येक नवीन शोध-परिणाम प्रामाणिक नहीं प्रमाण-सिद्ध स्थापनाओं को भी समय-सिद्ध होने में देर लगती है; अतः नवीनतम के आग्रह भी इतिहास का गुण नहीं है। जिस प्रकार अप्रामाणिक मान्यताओं से चिपके ग़लत है, उसी प्रकार हर नयी कच्ची-पक्की स्थापना के आधार पर समय-सिद्ध धार को नकारना भी ख़तरनाक है।

मौलिकता का प्रश्न : इतिहास के क्षेत्र में मौलिकता का केन्द्रबिन्दु है—परिक अर्थात् विकास-परम्परा का परिदर्शन। वास्तव में इतिहास-लेखन ऐतिहासिक अनुस का पर्याय नहीं है। ऐतिहासिक अनुसन्धाता जहाँ नवीन तथ्यों के अन्वेषण और तथ्यों के नवीन आख्यान पर बल देता है, वहाँ इतिहास-लेखक इन दोनों दिशाओं सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए नवीन की अपेक्षा प्रामाणिक और समय का अधिक महत्त्व है। नये तथ्यों और नये शोध-निष्कर्षों का वह आदर करता है, उसके लिए वे तब तक ग्राह्य नहीं होते जब तक कि समय का प्रमाण-पत्र उन्हे प्राप्त जाय। इसी प्रकार कृतियों तथा कृतिकारों की समीक्षा एवं मूल्यांकन में उसका मौलिक दृष्टिकोण हो सकता है, जो आलोचना के क्षेत्र में निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, इतिहास में एक सीमा से आगे उसका आग्रह करने से सन्तुलन भंग हो सकता है। इति में तो समन्वयात्मक दृष्टिकोण और सन्तुलित विवेचन ही अधिक काम्य है।

उपर्युक्त विवेचन के निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. नवीन शोध-परिणामों और विकसित साहित्य-चेतना को ध्यान में रख हिन्दी-साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन आवश्यक है।

२. ऐतिहासिक दृष्टि और आलोचना-शक्ति से युक्त एक लेखक यदि कार्य कर सके तो उत्तम होगा। किन्तु, यदि यह सम्भव न हो तो निश्चित परियोजना के निर्देशक सिद्धान्तों का निर्धारण कर कुछ लेखकों का समुदाय, घनिष्ठ सम्पर्क-सह आधार पर, यह अनुष्ठान पूरा कर सकता है। शैली-भेद होने पर भी ऐतिहासिक की एकता इस प्रकार के समवेत प्रयास में एकान्विति स्थापित कर सकती है।

३. युग-चेतना और साहित्य-चेतना के समन्वय पर आधृत साहित्य के इति संश्लिष्ट स्वरूप को ही हमें स्वीकार करना चाहिए—और इसी के आधार पर एक रूपरेखा का निर्माण करना चाहिए। अर्थात् हिन्दी-भाषी भूभाग के सांस्कृतिक इति परिवेश में (जिसके अन्तर्गत राजनीतिक-सामाजिक तत्त्व भी स्वतः अन्तर्मुक्त रहते हैं) प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव में विकसित और हिन्दी के विविध रूपों के माध्यम से अभि साहित्य-चेतना के विकास-क्रम का, साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर, आकलन ही

हित्य के नये इतिहास का लक्ष्य होना चाहिए।

४. नवीन शोध-सामग्री का उपयोग आवश्यक है, किन्तु इस विषय में सतर्कता भी तनी ही आवश्यक है। प्रत्येक नवीन स्थापना यथावत् ग्राह्य एवं मान्य नहीं हो सकती, त: प्रामाणिक लेखकों के मतों का संक्षेप में उल्लेख करते हुए बहुमान्य और समय-सिद्ध ष्कर्षों को ही इतिहास में ग्रहण करना अधिक विवेकसम्मत है।

५. विषय-प्रतिपादन में समन्वयात्मक पद्धति का अवलम्बन करना ही उचित है। न तो साहित्य-परम्परा अर्थात् साहित्यिक कृतियों के परस्पर सम्बन्ध के निरूपण पर ही ना चाहिए, किन्तु प्रकृति-विश्लेषण तथा प्रमुख कवि-लेखकों और कृतियों के योगदान एवं ान-निर्धारण का भी साहित्य के इतिहास में उतना ही महत्त्व है।

६. जीवन-वृत्त तथा ग्रन्थ-विवरण साहित्यिक विवेचन से पूर्व देना ही अधिक संगत । कुछ इतिहास-ग्रन्थों में (जैसे लिगुइ और कैज़ामियाँ के अँगरेज़ी-साहित्य के इतिहास में) प्रकार का विवरण पाद-टिप्पणी के रूप में देने की व्यवस्था है, जो विवेचन की स्वच्छता दृष्टि से ग्राह्य हो सकती है।

७. समानुपात की रक्षा और उचित मूल्यांकन के लिए इतिहास के समग्र रूप की ल्पना और उसके अनुसार पूर्व-योजना तथा रूपरेखा की रचना अनिवार्य है। विषय-वेचन का कलेवर विषय के महत्त्व के अनुरूप ही होना चाहिए अन्यथा सन्तुलन और रिदर्शन में व्याघात उत्पन्न हो सकता है।

८. विक्रम-संवत् अथवा अन्य सन्-संवत् से आज के पाठक का जीवन्त सम्पर्क न ोने के कारण ईस्वी-सन् का ही प्रयोग करना उचित है।

साहित्य के इतिहास-लेखन की दिशा में हिन्दी में अभी उचित प्रगति नहीं हुई। न्य भाषाओं में स्थिति और भी खराब है। इसका कारण यह है कि इतिहास-विधा की मारे देश में विकसित परम्परा नहीं रही और आज भी हम इस दिशा में विशेष उन्नति हीं कर पाये हैं। परिणाम यह है कि सौ से ऊपर इतिहास-ग्रन्थों के प्रकाशन के बाद भी न्दी में सर्वाधिक प्रामाणिक इतिहास आचार्य शुक्ल का ही है जिसकी रचना सन् १९२९ हुई थी। यह स्थिति हिन्दी के गौरव के अनुकूल नहीं है—विशेषतः जबकि हिन्दी का ालोचना-साहित्य इतना समृद्ध हो चुका है। नागरीप्रचारिणी सभा ने बृहत् इतिहास की ोजना द्वारा एक महान् अनुष्ठान का उपक्रम किया है। इस प्रकार के सार्वजनिक कार्य ी अपनी सीमाएँ होती हैं, फिर भी इस महत्प्रयास के फलस्वरूप साहित्य-सामग्री की एक शाल राशि भावी इतिहासकार के लिए एकत्र हो गयी है और हमारा विश्वास है कि ीघ्र ही साहित्य के कुछ प्रामाणिक इतिहास हमें हिन्दी में उपलब्ध हो सकेंगे।

भूमिका :

हिन्दी भाषा : उद्भव, विकास और स्वरू

'हिन्दी' जिस भाषा-धारा के विशिष्ट दैशिक और कालिक रूप का नाम है, भारत में उ
प्राचीनतम रूप संस्कृत है। संस्कृत का काल मोटे रूप से १५०० ई० पू० से ५०० ई०
तक माना जाता है। इस काल में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। उस वोलचाल की
का ही शिष्ट और मानक रूप संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत भाषा के भी दो
मिलते हैं। एक भाषा वैदिक संस्कृत है जिससें वैदिक वाङ्मयं की रचना हुई है, और
लौकिक या क्लासिकल संस्कृत है जिसमें वाल्मीकि, व्यास, भास, अश्वघोष, कालिदास,
आदि की रचनाएँ हैं। इस संस्कृत काल के अन्त तक मानक या परिनिष्ठित भाषा तो
थी, किन्तु क्षेत्रीय तीन बोलियाँ विकसित हो चली थीं, जिन्हें पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी
पूर्वी नाम से अभिहित किया जा सकता है।

संस्कृतकालीन बोलचाल की भाषा विकसित होते-होते ५०० ई० पू० के वाद प्रवृत्ति
काफ़ी बदल गयी, जिसे 'पालि' की संज्ञा दी गयी है। इसका काल ५०० ई० पू०
पहली ईसवी तक है। बौद्ध ग्रन्थों में पालि का जो रूप मिलता है वह इस बोलचाल
भाषा का ही शिष्ट और मानक रूप था। इस काल में क्षेत्रीय वोलियों की संख्या चार
गयी थी : पश्चिमोत्तरी, मध्यदेशी, पूर्वी और दक्षिणी।

पहली ईसवी तक आते-आते यह बोलचाल की भाषा और परिवर्तित हुई तथा प
ई० से ५०० ई० तक का इसका रूप 'प्राकृत' नाम से अभिहित किया गया। इस काल
क्षेत्रीय वोलियाँ कई थीं, जिनमें मुख्य शौरसेनी, पैशाची, ब्राचड़, महाराष्ट्री, मागधी
अर्धमागधी थीं।

प्राकृतों से ही विभिन्न क्षेत्रीय अपभ्रंशों का विकास हुआ। अपभ्रंश भाषा का
मोटे रूप से ५०० ई० से १००० ई० तक है। आज के प्राप्त अपभ्रंश-साहित्य में मु
पश्चिमी और पूर्वी दो ही भाषा-रूप मिलते हैं, किन्तु प्राकृत के मुख्यत: पाँच क्षेत्रीय
तथा आज की दस (लहँदा, पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, गुजराती, हिन्दी, उड़ि
बांग्ला, असमिया) आर्यभाषाओं के बीच की अपभ्रंश-रूप में प्राप्त कड़ी के क्षेत्रीय रूपों
संख्या छह और दस के बीच में ही होगी; इससे कम नहीं हो सकती। इससे यह अनु
सहज ही लगाया जा सकता है कि अपभ्रंश के सभी क्षेत्रीय रूपों का अपभ्रंश-साहि
प्रयोग नहीं हुआ। यदि विभिन्न प्राकृतों से विकसित अपभ्रंशों को किसी अन्य नाम के

में प्राकृत नामों से ही अभिहित करें तो आधुनिक आर्यभाषाओं का जन्म अपभ्रंश के विभिन्न क्षेत्रीय रूपों से इस प्रकार माना जा सकता है :

अपभ्रंश	आधुनिक भाषाएँ तथा उपभाषाएँ
शौरसेनी	पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, पहाड़ी, गुजराती ।
पैशाची	लहँदा, पंजाबी ।
व्राचड़	सिन्धी ।
महाराष्ट्री	मराठी ।
मागधी	बिहारी, बांग्ला, उड़िया, असमिया ।
अर्धमागधी	पूर्वी हिन्दी ।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा का उद्भव अपभ्रंश के शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी रूपों से हुआ है ।

हिन्दी-प्रदेश, उपभाषाएँ तथा बोलियाँ

हिन्दी भाषा का क्षेत्र हिमाचल प्रदेश, पंजाब का कुछ भाग, हरियाणा, राजस्थान, दिल्ली, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश तथा बिहार हैं, जिसे हिन्दी (भाषी) प्रदेश कहते हैं । इस पूरे क्षत्र में हिन्दी की पाँच उपभाषाएँ हैं, जिनके अन्तर्गत मुख्यत: १० बोलियाँ हैं :

भाषा	उपभाषाएँ	बोलियाँ
हिन्दी	१. पश्चिमी हिन्दी	१. खड़ीबोली या कौरवी, २. ब्रजभाषा ३. हरियाणी, ४. बुन्देली, ५. कन्नौजी ।
	२. पूर्वी हिन्दी	१. अवधी, २. बघेली, ३. छत्तीसगढ़ी ।
	३. राजस्थानी	१. पश्चिमी राजस्थानी (मारवाड़ी), २. पूर्वी राजस्थानी (जयपुरी), ३. उत्तरी राजस्थानी (मेवाती), ४. दक्षिणी राजस्थानी (मालवी) ।
	४. पहाड़ी	१. पश्चिमी पहाड़ी, २. मध्यवर्ती पहाड़ी (कुमायूँनी-गढ़वाली) ।
	५. बिहारी	१. भोजपुरी, २. मगही, ३. मैथिली ।

खड़ीबोली : 'खड़ीबोली' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है : एक तो साहित्यिक हिन्दी खड़ीबोली के अर्थ में और दूसरे दिल्ली-मेरठ के आस-पास की लोक-बोली के अर्थ में । यहाँ दूसरे अर्थ में ही इस शब्द का प्रयोग किया जा रहा है । इसी अर्थ में 'कौरवी' का भी प्रयोग कुछ लोग करते हैं । 'खड़ीबोली' में 'खड़ी' शब्द का अर्थ विवादास्पद है । कुछ लोगों ने 'खड़ी' का अर्थ 'खरी' (pure) अर्थात् शुद्ध माना है, तो दूसरों ने 'खड़ी' (standing) । कुछ अन्य लोगों ने इसका सम्बन्ध खड़ीबोली में अधिकता से प्रयुक्त खड़ी पायी 'ा' (गया, बड़ा, का) तथा उसके ध्वन्यात्मक प्रभाव कर्कशता से जोड़ा है । यों अभी तक यह प्रश्न अनिश्चित है । खड़ीबोली या कौरवी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश के उत्तरी रूप से हुआ है तथा इसका क्षेत्र देहरादून का मैदानी भाग, सहारनपुर, मुज़फ़्फ़रनगर, मेरठ, दिल्ली का कुछ भाग, बिजनौर, रामपुर तथा मुरादाबाद है । लोक-साहित्य की दृष्टि से खड़ीबोली बहुत सम्पन्न है और इसमें पवाड़ा, नाटक, लोककथा, लोकगीत आदि पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं । इनका काफ़ी अंश प्रकाशित भी हो चुका है । हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी तथा

दक्खिनी एक सीमा तक खड़ीबोली पर आधारित हैं।

ब्रजभाषा : ब्रज का पुराना अर्थ 'पशुओं या गौओं का समूह' या 'चरागाह' आदि है। पशुपालन के प्राधान्य के कारण यह क्षेत्र ब्रज कहलाया, और इसी आधार पर इसकी बोली ब्रजभाषा कहलायी। इसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से हुआ है। ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, अलीगढ़, धौलपुर, मैनपुरी, एटा, बदायूँ, बरेली तथा आसपास के क्षेत्रों में बोली जाती है। साहित्य और लोक-साहित्य दोनों ही दृष्टियों से ब्रजभाषा बहुत सम्पन्न है। हिन्दी प्रदेश के बाहर भी भारत के अनेक क्षेत्रों में ब्रजभाषा में साहित्य-रचना होती रही है। सूरदास, तुलसीदास, नन्ददास, रहीम, रसखान, बिहारी, देव, रत्नाकर आदि इसके प्रमुख कवि हैं।

हरियाणी : 'हरियाना' शब्द की व्युत्पत्ति विवादास्पद है। हरि+यान (कृष्ण का यान इधर से ही द्वारका गया था), हरि+अरण्य (हराबन) तथा अहीर+आना (राजपूताना, तिलंगाना की तरह) आदि कई मत दिये गये हैं, किन्तु कोई भी सर्वमान्य नहीं है। हरियाणी का विकास उत्तरी शौरसेनी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से हुआ है। खड़ीबोली, अहीरवाटी, मारवाड़ी, पंजाबी से घिरी इस बोली को कुछ लोग खड़ीबोली का पंजाबी से प्रभावित रूप मानते हैं। इसका क्षेत्र मोटे रूप से हरियाणा तथा दिल्ली का देहाती भाग है। हरियाणी में केवल लोक-साहित्य है, जिसका कुछ अंश मुद्रित भी है।

बुन्देली : बुन्देले राजपूतों के कारण मध्यप्रदेश तथा उत्तरप्रदेश की सीमारेखा के झाँसी, छतरपुर, सागर आदि तथा आसपास के भाग को बुन्देलखण्ड कहते हैं। वहीं की बोली बुन्देली या बुन्देलखण्डी है। इसका क्षेत्र झाँसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर ओरछा, सागर, नृसिंहपुर, सिवनी, होशंगाबाद तथा आसपास का क्षेत्र है। बुन्देली का विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है। बुन्देली में लोक-साहित्य काफ़ी है, जिसमें ईसुरी के फाग बड़े प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि हिन्दी प्रदेश की प्रसिद्ध लोकगाथा 'आल्हा', जिसे हिन्दी-साहित्य में भी स्थान मिला है, मूलतः बुन्देली की एक उपबोली बनाफरी में लिखा गया था।

कनौजी : कनौज (संस्कृत कान्यकुब्ज) इस बोली का केन्द्र है, अतः इसका नाम कनौजी पड़ा है। यह इटावा, फ़र्रुखाबाद, शाहजहाँपुर, कानपुर, हरदोई, पीलीभीत आदि में बोली जाती है। कनौजी भी शौरसेनी अपभ्रंश से ही निकली है। यह ब्रजभाषा से इतनी अधिक समान है कि कुछ लोग इसे ब्रजभाषा की ही एक उपबोली मानते हैं। कनौजी में केवल लोक-साहित्य मिलता है जिसमें से कुछ अंश प्रकाशित भी हो चुका है।

अवधी : इस बोली का केन्द्र अयोध्या है। 'अयोध्या' का ही विकसित रूप 'अवध' है, जिससे 'अवधी' शब्द बना है। इसके उद्भव के सम्बन्ध में विवाद है। अधिकांश विद्वान इसका सम्बन्ध अर्धमागधी अपभ्रंश से मानते हैं, किन्तु कुछ लोग इससे पालि की समानता के आधार पर इस मत को नहीं मानते। अवधी का क्षेत्र लखनऊ, इलाहाबाद, फ़तेहपुर, मिर्ज़ापुर (अंशतः), उन्नाव, रायबरेली, सीतापुर, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, बस्ती, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी आदि है। अवधी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। इसके प्रसिद्ध कवि मुल्ला दाऊद, कुतुबन, जायसी, तुलसीदास, उसमान, सबलसिंह आदि हैं।

बघेली : बघेले राजपूतों के आधार पर रीवाँ तथा आसपास का इलाका बघेलखण्ड कहलाता है और वहाँ की बोली को बघेलखण्डी या बघेली कहते हैं। बघेली का उद्भव अर्धमागधी अपभ्रंश के ही एक क्षेत्रीय रूप से हुआ है। यद्यपि जनमत इसे अलग बोली

मानता है, किन्तु भाषावैज्ञानिक स्तर पर यह अवधी की ही एक उपबोली ज्ञात होती है और इसे दक्षिणी अवधी कह सकते हैं। इसका क्षेत्र रीवाँ, नागौद, शहडोल, सतना, मैहर, तथा आसपास का क्षेत्र है। कुछ अपवादों को छोड़कर बघेली में केवल लोक-साहित्य है।

छत्तीसगढ़ी : मुख्य क्षेत्र छत्तीसगढ़ होने के कारण इसका नाम छत्तीसगढ़ी पड़ा है। अर्धमागधी अपभ्रंश के दक्षिणी रूप से इसका विकास हुआ है। इसका क्षेत्र सरगुजा, कौरिया, बिलासपुर, रायगढ़, खैरागढ़, रायपुर, दुर्ग, नन्दगाँव, काकेर आदि हैं। छत्तीसगढ़ी में भी लोक-साहित्य है।

पश्चिमी राजस्थानी : राजस्थानी का यह रूप पश्चिमी राजस्थान अर्थात् जोधपुर, अजमेर, किशनगढ़, मेवाड़, सिरोही, जैसलमेर, बीकानेर आदि में बोला जाता है। इसे मारवाड़ी भी कहते हैं। शौरसेनी अपभ्रंश से इसका विकास हुआ है। मारवाड़ी में साहित्य तथा लोक-साहित्य दोनों ही पर्याप्त मात्रा में हैं। मीरां के पद इसी में हैं।

उत्तरी राजस्थानी : उत्तरी राजस्थान में इसका क्षेत्र अलवर, गुड़गाँव, भरतपुर तथा आसपास है। मेओ जाति के इलाके मेवात के नाम पर इसे 'मेवाती' भी कहते हैं। इसकी एक मिश्रित बोली अहीरवाटी है जो गुड़गाँव, दिल्ली तथा करनाल के पश्चिमी क्षेत्रों में बोली जाती है। इस पर हरियाणी का बहुत प्रभाव है। मेवाती में केवल लोक-साहित्य है। उत्तरी राजस्थानी का उद्भव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है।

पूर्वी राजस्थानी : राजस्थान के पूर्वी भाग में जयपुर, अजमेर, किशनगढ़ आदि में यह बोली जाती है। इसकी प्रतिनिधि बोली जयपुरी है, जिसका केन्द्र जयपुर है। जयपुरी को ढूँढाणी भी कहते हैं, क्योंकि इस क्षेत्र का नाम ढूँढाण है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

दक्षिणी राजस्थानी : इन्दौर, उज्जैन, देवास, रतलाम, भोपाल, होशंगाबाद तथा इनके आसपास इसका क्षेत्र है। इसकी प्रतिनिधि बोली मालवी है, जिसका मुख्य क्षेत्र मालवा है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में कुछ साहित्य तथा पर्याप्त लोक-साहित्य है।

पश्चिमी पहाड़ी : जौनसार, सिरमौर, शिमला, मण्डी, चम्बा तथा आसपास इसका क्षेत्र है। शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली में केवल लोक-साहित्य है।

मध्यवर्ती पहाड़ी : शौरसेनी अपभ्रंश से विकसित इस बोली का क्षेत्र गढ़वाल, कुमायूँ तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। वस्तुतः यह गढ़वाली और कुमायूँनी इन दो बोलियों का ही सामूहिक नाम है। इन बोलियों में लोक-साहित्य तो पर्याप्त मात्रा में है, साथ ही कुछ साहित्य भी है।

भोजपुरी : बिहार के शाहाबाद ज़िले के भोजपुर गाँव के नाम के आधार पर इस बोली का नाम 'भोजपुरी' पड़ा है। मागधी अपभ्रंश के पश्चिमी रूप से विकसित इस बोली का क्षेत्र बनारस, जौनपुर, मिर्ज़ापुर, ग़ाज़ीपुर, बलिया, गोरखपुर, देवरिया, आजमगढ़, बस्ती, शाहाबाद, चम्पारन, सारन तथा आसपास का कुछ क्षेत्र है। हिन्दी-प्रदेश की बोलियों में भोजपुरी के बोलनेवाले सबसे अधिक हैं। भोजपुरी में मुख्यतः लोक-साहित्य ही मिलता है, शिष्ट साहित्य बहुत कम है। भारतेन्दु, प्रेमचन्द, प्रसाद आदि इसी क्षेत्र के रहे हैं किन्तु साहित्य में इन्होंने इसका प्रयोग नहीं किया।

मगही : संस्कृत 'मगध' से विकसित शब्द 'मगह' पर इसका नाम आधारित है। मागधी अपभ्रंश से विकसित यह बोली पटना, गया, पलामू, हज़ारीबाग़, मुंगेर, भागलपुर

तथा इनके आसपास बोली जाती है। इसमें लोक-साहित्य काफ़ी है। कुछ ललित साहित्य भी है।

मैथिली : मागधी अपभ्रंश के मध्यवर्ती रूप से विकसित यह बोली हिन्दी और बांग्ला क्षेत्र की सन्धि पर मिथिला में बोली जाती है। दरभंगा, मुज़फ़्फ़रपुर, पूर्णिया तथा मुंगेर आदि में इसका क्षेत्र है। लोक-साहित्य की दृष्टि से मैथिली बहुत सम्पन्न है, साथ ही इसमें साहित्य-रचना अत्यन्त प्राचीन काल से होती चली आयी है। हिन्दी-साहित्य को विद्यापति-जैसे रससिद्ध कवि देने का श्रेय मैथिली को ही है। इनके अतिरिक्त गोविन्ददास, रणजीतलाल, हरिमोहन झा आदि भी इनके अच्छे साहित्यकार हैं।

हिन्दी, हिन्दुई, हिन्दुस्तानी, उर्दू

पीछे यह संकेत किया गया है कि 'खड़ीबोली' नाम का एक प्रयोग साहित्यिक हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी आदि की आधार-भाषा या आज की साहित्यिक हिन्दी के लिए भी होता है। वस्तुतः आज हिन्दी, उर्दू, हिन्दुस्तानी नामों का प्रयोग जिन भाषा-रूपों के लिए होता है, व्याकरणिक स्तर पर वे प्रायः एक ही हैं और उनकी आधार-भाषा वह मिश्रित बोली है जो मूलतः कौरवी, पंजाबी, ब्रज आदि के योग से बनी होगी। आज इस खड़ीबोली में जब बोलचाल के शब्दों (आधारभूत शब्दावली, बहुप्रचलित तद्भव शब्द, सरल बहुप्रचलित संस्कृत शब्द तथा सरल बहुप्रचलित अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्द) का ही प्रयोग होता है तो उसे बोलचाल की हिन्दी या हिन्दुस्तानी कहते हैं; उन शब्दों के साथ ही जब संस्कृत के अल्प प्रचलित अतः कठिन तत्सम शब्दों का भी काफ़ी प्रयोग होता है तो उसे हिन्दी या साहित्यिक हिन्दी कहते हैं, और जब उन शब्दों के साथ अरबी, फ़ारसी, तुर्की के अल्प-प्रचलित अतः कठिन शब्दों का बहुत प्रयोग होने लगता है तो उसे उर्दू कहते हैं। इस तरह खड़ीबोली की या सामान्य हिन्दी की ये तीन शैलियाँ हैं।

'हिन्दुई' शब्द 'हिन्दु+ई' से बना है। हिन्दवी, हिन्दुई या हिन्दवी का प्रयोग प्राचीन हिन्दी के लिए काफ़ी पहले से मिलता है। तेरहवीं सदी में औफ़ी और अमीर ख़ुसरो ने इसका प्रयोग किया है। 'ख़ालिक बारी' में 'हिन्दी' और 'हिन्दवी' दोनों का प्रयोग एक ही भाषा के लिए हुआ है किन्तु हिन्दी का प्रयोग केवल पाँच बार है, जबकि हिन्दवी का तीस बार। इसका अर्थ यह हुआ कि पहले 'हिन्दी' की तुलना में 'हिन्दवी' नाम ज़्यादा प्रचलित था, धीरे-धीरे 'हिन्दवी' नाम उस भाषा के लिए सीमित हो गया जिसमें संस्कृत के शब्द अपेक्षाकृत अधिक थे; और 'हिन्दुस्तानी' उस भाषा को कहने लगे जिसमें अरबी-फ़ारसी के शब्द ज़्यादा थे। 'गार्सां द तासी' के इतिहास में 'हिन्दुई' तथा 'हिन्दुस्तानी' नाम ठीक इसी अर्थ में आये हैं। अब प्रायः लोग केवल 'दक्खिनी' या दक्खिनी तथा उसके पहले के उत्तर भारत के मसऊद, ख़ुसरो तथा शकरगंजी आदि के साहित्य की भाषा के लिए ही हिन्दुई या हिन्दवी नाम का प्रयोग करते हैं।

'हिन्दुस्तानी' शब्द 'हिन्दुस्तान+ई' से बना है। ग्रियर्सन, धीरेन्द्र वर्मा आदि कई लोगों का मत यह है कि यह नाम अँगरेज़ों का दिया हुआ है, किन्तु वास्तविकता यह है कि 'तुजके बाबरी' में भाषा के अर्थ में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में यह शब्द 'हिन्दी' या 'हिन्दवी' का समानार्थी था किन्तु आगे चलकर इसका वह अर्थ हो गया जो आज उर्दू का है, अर्थात् हिन्दी का वह रूप जिसमें अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्दों का प्रयोग अधिक होता है। जैसा कि ऊपर संकेत है, तासी के प्रसिद्ध इतिहास 'इस्तवार दल लित्रेत्यूर

ऐंदुई ए ऐंदुस्तानी' में ऐंदुस्तानी (हिन्दुस्तानी) का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। और आगे चलकर जब हिन्दी और उर्दू नामों का प्रयोग एक ही भाषा की ऐसी शैलियों के लिए होने लगा जिनमें क्रमशः संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों का बाहुल्य था तो 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी-उर्दू के बीच की उस भाषा को कहने लगे जिसमें न तो संस्कृत के कठिन शब्द होते हैं और न अरबी-फ़ारसी के। इसमें तद्भव तथा बहुप्रचलित संस्कृत तत्सम और अरबी-फ़ारसी के वे शब्द होते हैं, जो बोलचाल में भी प्रयुक्त होते हैं। गांधी जी ने 'हिन्दुस्तानी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है।

'उर्दू' शब्द मूलतः तुर्की भाषा का है तथा इसका अर्थ है 'शाही शिविर' या 'खेमा'। तुर्कों के साथ ही यह शब्द भारत में आया और इसका यहाँ प्रारम्भिक अर्थ 'खेमा' या 'फ़ौजी पड़ाव' था। इस अर्थ में उत्तरी भारत के अनेक नगरों में 'उर्दू बाज़ार' (फ़ौजी पड़ाव का बाज़ार) नाम आज भी मिलता है। मुग़ल बादशाह के इन फ़ौजी पड़ावों में धीरे-धीरे पूर्वी पंजाबी-हरियाणी-कौरवी-ब्रज मिश्रित एक बोली विकसित हुई जिसमें अरबी-फ़ारसी-तुर्की के शब्द काफ़ी थे। बोलियों का मिश्रण स्थानीय प्रभाव तथा इन खेमों के सिपाहियों के कारण था, तो तुर्की शब्द मुग़लों की अपनी भाषा तुर्की और उनकी दरबारी भाषा फ़ारसी के कारण थे। शाहजहाँ ने दिल्ली में लालकिला बनवाया। यह भी एक प्रकार से 'उर्दू' (शाही और फ़ौजी पड़ाव) था, किन्तु बहुत बड़ा था। अतः इसे उर्दू न कहकर 'उर्दू-ए-मुअल्ला' कहा गया तथा यहाँ बोली जानेवाली भाषा 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' (श्रेष्ठ शाही पड़ाव की भाषा) कहलायी। भाषा-विशेष के अर्थ में 'उर्दू' शब्द इस 'ज़बान-ए-उर्दू-ए-मुअल्ला' का संक्षेप है। भाषा के अर्थ में 'उर्दू' शब्द का प्रयोग सबसे पहले कब हुआ यह कहना कठिन है, किन्तु मोटे रूप में अठारहवीं सदी के मध्य में यह चल पड़ा था; यद्यपि इसे ज़्यादातर 'हिन्दी' या 'रेख़्ता' (मिश्रित भाषा) कहते थे। इसके साथ ही इसे 'हिन्दुस्तानी' नाम से भी अभिहित किया गया है। १८५० ई० तक आते-आते इस भाषा के लिए अन्य नामों का प्रचलन बन्द हो गया और केवल 'उर्दू' नाम चलने लगा।

हिन्दवी के मुख्यतः दो रूप प्राचीन काल से आ रहे थे। एक तो बोली-रूप जो ब्रज, अवधी आदि का था और दूसरा उसका एक प्रकार से मिश्रित रूप था जो किसी क्षेत्र से सम्बद्ध न होकर पूरे हिन्दी-प्रदेश में उभर रहा था। गोरखनाथ, खुसरो, कबीर आदि में इसके प्रारम्भिक रूप मिलते हैं। लगभग ऐसी ही मिश्रित भाषा (अरबी-फ़ारसी-तुर्की शब्दों से युक्त) उर्दू भी थी। आगे चलकर दोनों के मूलाधार एक हो गये तथा फ़ारसी-अरबी-तुर्की शब्दों से युक्त भाषा उर्दू कहलायी, तो संस्कृत सें युक्त हिन्दी।

'हिन्दी' नाम और उसके विभिन्न रूप

'हिन्दी' शब्द का सम्बन्ध संस्कृत शब्द 'सिन्धु' से माना जाता है। 'सिन्धु' सिन्ध नदी को कहते थे और उसी आधार पर उसके आसपास की भूमि को 'सिन्धु' कहने लगे। यह 'सिन्धु' शब्द ईरानी में जाकर 'हिन्दू' और फिर 'हिन्द' हो गया और इसका अर्थ हुआ 'सिन्ध प्रदेश'। बाद में ईरानी धीरे-धीरे भारत के अधिक भागों से परिचित होते गये और इस शब्द के अर्थ में विस्तार होता गया तथा 'हिन्द' शब्द धीरे-धीरे पूरे भारत का वाचक हो गया। इसी में ईरानी का 'ईक' प्रत्यय लगने से 'हिन्दीक' बना, जिसका अर्थ है 'हिन्द का'। यूनानी शब्द 'इन्दिका' या अँगरेज़ी शब्द 'इण्डिया' आदि इस 'हिन्दीक' के ही विकसित रूप हैं। 'हिन्दी' भी 'हिन्दीक' का ही परिवर्तित रूप है और इसका मूल अर्थ है 'हिन्द का'।

इस प्रकार यह विशेषण है, किन्तु भाषा के अर्थ में संज्ञा हो गया है। हिन्दी भाषा के लिए इस शब्द का प्राचीनतम प्रयोग शरफ़ुद्दीन यज़्दी के 'ज़फ़रनामा' (१४२४) में मिलता है।

वस्तुतः शब्दों में अरबी-फ़ारसी तथा संस्कृत के आधिक्य की बात छोड़ दें तो हिन्दी-उर्दू में कोई ख़ास अन्तर नहीं है। दोनों ही एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं। इसलिए प्रारम्भ में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए होता था। 'तज़किरा मख़ज़न-उल-ग़रायब' में आता है : 'दर ज़बाने हिन्दी कि मुराद उर्दू अस्त'। यहाँ 'हिन्दी' शब्द उर्दू का समानार्थी है; तो दूसरी तरफ हिन्दी के सूफ़ी कवि नूर मुहम्मद ने कहा है : "हिन्दू मग पर पाँव न राख्यौ, का बहुतै जो हिन्दी भाख्यौ।" यहाँ इस शब्द का प्रयोग हिन्दी के लिए है। मुल्ला वजही, सौदा, मीर आदि ने अपने शेरों को हिन्दी शेर कहा है। ग़ालिब ने भी अपने पत्रों में कई स्थानों पर हिन्दी-उर्दू को समानार्थी रूप में प्रयुक्त किया है। अनुमान है कि उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में अँगरेज़ों की विशेष भाषा-नीति के क़ारण ही इन दोनों को अलग-अलग भाषाएँ माना जाने लगा। उर्दू को मुसलमानों से जोड़ दिया गया, तो हिन्दी को हिन्दुओं से। यदि अँगरेज़ बीच में न पड़े होते तो आज ये दोनों भाषाएँ एक होतीं।

'हिन्दी' शब्द का प्रयोग आज मुख्य रूप से तीन अर्थों में हो रहा है :

(क) 'हिन्दी' शब्द अपने विस्तृततम अर्थ में हिन्दी-प्रदेश में बोली जानेवाली सत्रह बोलियों का द्योतक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में होता है, इसीलिए उसके अन्तर्गत ब्रज, अवधी, डिंगल, मैथिली, खड़ीबोली आदि प्रायः सभी में लिखित साहित्य का विवेचन किया जाता है।

(ख) भाषाविज्ञान में प्रायः 'पश्चिमी हिन्दी' और 'पूर्वी हिन्दी' को ही हिन्दी मानते रहे हैं। ग्रियर्सन ने इसी आधार पर हिन्दी-प्रदेश की अन्य उपभाषाओं को राजस्थानी, पहाड़ी, विहारी कहा था जिनमें 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग नहीं है, किन्तु अन्य दो को हिन्दी मानने के कारण 'पश्चिमी हिन्दी' तथा 'पूर्वी हिंन्दी' नाम दिया था। इस प्रकार इस अर्थ में 'हिन्दी' आठ बोलियों (ब्रज, खड़ीबोली, बुन्देली, हरियाणी, कनौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) का सामूहिक नाम है।

(ग) 'हिन्दी' शब्द का संकुचिततम अर्थ है—खड़ीबोली साहित्यिक हिन्दी, जो आज हिन्दी-प्रदेशों की सरकारी भाषा है, पूरे भारत की राजभाषा है, समाचारपत्रों और फ़िल्मों में जिसका प्रयोग होता है, जो हिन्दी-प्रदेश में शिक्षा का माध्यम है और जिसे 'परिनिष्ठित हिन्दी', 'मानक हिन्दी' आदि नामों से भी अभिहित करते हैं।

हिन्दी का विकास

हम देख चुके हैं कि खड़ीबोली हिन्दी का उदभव शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ है, किन्तु यदि हिन्दी को पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी की आठ बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो उसका उदभव शौरसेनी तथा अर्धमागधी अपभ्रंश से हुआ है। विस्तार में जाकर यदि उसे सत्रह बोलियों का प्रतिनिधि मानें तो हिन्दी का उदभव शौरसेनी, अर्धमागधी तथा मागधी अपभ्रंश से हुआ है।

यों तो हिन्दी भाषा के कुछ व्याकरणिक रूप पालि में ही मिलने लगते हैं, प्राकृत-काल में उनकी संख्या और भी बढ़ गयी है तथा अपभ्रंश-काल में ये रूप प्रायः चालीस प्रतिशत से भी ऊपर हो गये हैं, किन्तु हिन्दी भाषा का वास्तविक आरम्भ १००० ई० से

माना जाता है ।[1] इस तरह हिन्दी के विकास का इतिहास आज तक कुल लगभग पौने दस सौ वर्षों (१०००—१९७५) में फैला है। भाषा के विकास की दृष्टि से इस पूरे समय को तीन कालों में बाँटा जा सकता है : आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल ।

आदिकाल (१०००—१५००) : हिन्दी भाषा अपने आदिकाल में सभी बातों में अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट थी, क्योंकि उसी से हिन्दी का उद्‌भव हुआ था। आदिकालीन हिन्दी में मुख्यतः उन्ही ध्वनियों (स्वरों-व्यंजनों) का प्रयोग मिलता है जो अपभ्रंश में प्रयुक्त होती थीं । मुख्य अन्तर ये हैं :

१. अपभ्रंश में केवल आठ स्वर थे—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ। ये आठों ही स्वर मूल स्वर थे । आदिकालीन हिन्दी में दो नये स्वर ऐ, औ विकसित हो गये जो संयुक्त स्वर थे तथा जिनका उच्चारण क्रमशः अएँ, अओँ था ।

२. च, छ, ज, झ संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में स्पर्श व्यंजन थे, किन्तु आदिकालीन हिन्दी में आकर ये स्पर्श-संघर्षी हो गये और तब से अब तक ये स्पर्श-संघर्षी ही हैं ।

३. न, र, ल, स संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश में दन्त्य (ध्वनियाँ) थे । आदिकाल में ये वर्त्स्य हो गये ।

४. अपभ्रंश में ड़, ढ़ व्यंजन नहीं थे । आदिकाल हिन्दी में इनका विकास हुआ ।

५. न्ह, म्ह, ल्ह पहले संयुक्त व्यंजन थे; अब वे क्रमशः न, म, ल के महाप्राण रूप हो गये अर्थात् संयुक्त व्यंजन न रहकर मूल व्यंजन हो गये ।

६. संस्कृत, फ़ारसी आदि से कुछ शब्दों के आ जाने के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन हिन्दी में आ गये जो अपभ्रंश में नहीं थे। कुछ अपभ्रंश-शब्दों के लोप के कारण कुछ ऐसे संयुक्त व्यंजनों, स्वरानुक्रमों तथा व्यंजनानुक्रमों के लोप की भी सम्भावना हो सकती है, जो अपभ्रंश में थे ।

आदिकालीन हिन्दी का व्याकरण १००० या ११०० ई० के आसपास तक अपभ्रंश के बहुत अधिक निकट था। भाषा में काफ़ी रूप ऐसे थे जो अपभ्रंश के थे, किन्तु धीरे-धीरे अपभ्रंश के व्याकरणिक रूप कम होते गये और हिन्दी के अपने रूप विकसित होते गये । धीरे-धीरे १५०० ई० तक आते-आते हिन्दी अपने पैरों पर खड़ी हो गयी और अपभ्रंश के रूप प्रायः प्रयोग से निकल गये । आदिकालीन हिन्दी का व्याकरण समवेततः अपभ्रंश-व्याकरण से इन बातों में भिन्न है :

१. अपभ्रंश काफ़ी हद तक संयोगात्मक भाषा थी । क्रिया तथा कारकीय रूप संयोगात्मक होते थे, किन्तु आदिकालीन हिन्दी में वियोगात्मक रूपों का प्राधान्य हो चला । सहायक क्रियाओं तथा परसर्गों (कारक-चिह्नों) का प्रयोग काफ़ी होने लगा और धीरे-धीरे संयोगात्मक रूप कम होते गये और उनका स्थान वियोगात्मक रूप लेते गये ।

२. नपुंसक लिंग एक सीमा तक अपभ्रंश में था—यद्यपि संस्कृत, पालि, प्राकृत की

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आरम्भ इस इतिहास में तथा कुछ अन्य इतिहासों में भी सातवीं सदी के मध्य से माना गया है । वस्तुतः साहित्य के विद्वान् हिन्दी भाषा का आरम्भ इसी के आसपास मानते हैं, जबकि भाषा के विद्वानों के अनुसार हिन्दी का आभास भले ही इस समय या इससे भी कुछ पूर्व मिलता हो, भाषा के रूप में हिन्दी के वास्तविक अस्तित्व में आने का समय १००० ई० ही माना जाना चाहिए । सातवीं सदी के मध्य से १००० ई० तक की रचनाएँ मुख्यतः अपभ्रंश में विरचित हैं, यदि कहीं हिन्दी के प्रयोग मिलते हैं तो उन्हें हिन्दी भाषा के विकास की पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करना ही उचित होगा ।

तुलना में उसकी स्थिति अस्पष्ट-सी होती जा रही थी। आदिकालीन हिन्दी में नपुंसक लिंग का प्रयोग प्रायः पूर्णतः समाप्त हो गया। गोरखनाथ की रचनाओं में कुछ प्रयोगों को कुछ लोगों ने नपुंसक लिंग का माना है, किन्तु यह मान्यता पूर्णतः असन्दिग्ध नहीं कही जा सकती।

३. हिन्दी-वाक्य-रचना में शब्द-क्रम धीरे-धीरे निश्चित होने लगा था।

आदिकालीन हिन्दी का शब्द-भण्डार अपने प्रारम्भिक चरण में अपभ्रंश का ही था, किन्तु धीरे-धीरे कुछ परिवर्तन आते गये जिनमें उल्लेख्य दो-तीन हैं :

१. भक्ति-आन्दोलन का प्रारम्भ हो गया था, अतः अपभ्रंश की तुलना में तत्सम शब्दावली कुछ बढ़ने लगी थी।

२. मुसलमानों के आगमन से कुछ शब्द पश्तो, फ़ारसी तथा तुर्की भाषाओं से हिन्दी में आये।

३. भक्ति-आन्दोलन तथा मुसलमानी शासन का प्रभाव समाज पर भी पड़ा जिसके परिणामस्वरूप इस बात की भी सम्भावना हो सकती है कि कुछ ऐसे पुराने शब्द, जो अपभ्रंश में प्रचलित थे, इस काल में अनावश्यक या अल्पावश्यक होने के कारण या तो हिन्दी-शब्द-भाण्डार से निकल गये या फिर उनका प्रयोग बहुत कम हो गया।

इस काल के साहित्य में प्रमुखतः डिंगल, मैथिली, दक्खिनी, अवधी, ब्रज तथा मिश्रित रूपों का प्रयोग मिलता है। इस युग के प्रमुख हिन्दी-साहित्यकार गोरखनाथ, विद्यापति, नरपति नाल्ह, चन्दबरदायी, कबीर आदि हैं।

मध्यकाल (१५००—१८००) : इस काल में ध्वनि, व्याकरण तथा शब्द-भाण्डार के क्षेत्र में मुख्यतः आगे दिये गये परिवर्तन हुए। ध्वनि के क्षेत्र में दो-तीन बातें उल्लेख्य हैं :

१. फ़ारसी की शिक्षा की कुछ व्यवस्था तथा दरबार में फ़ारसी का प्रयोग होने से उच्च वर्ग में फ़ारसी का प्रचार हुआ, जिसके कारण उच्च वर्ग के लोगों की हिन्दी में क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ये पाँच नये व्यंजन आ गये।

२. शब्दान्त का 'अ' कम-से-कम मूल व्यंजन के बाद आने पर लुप्त हो गया, अर्थात् 'राम' का उच्चारण 'राम्' होने लगा। किन्तु 'भक्त' जैसे शब्दों में—जहाँ अ के पूर्व संयुक्त व्यंजन था—'अ' बना रहा। कुछ स्थितियों में अक्षरान्त 'अ' का भी लोप होने लगा। उदाहरण के लिए आदिकालीन 'जपता' अब उच्चारण में 'जप्ता' हो गया।

३. ह के पहले का अ कुछ स्थितियों में ए जैसा उच्चरित होने लगा था (अहमद-एहमद)।

व्याकरण के क्षेत्र में भी मुख्यतः तीन ही बातें उल्लेख्य हैं :

१. इस काल में हिन्दी भाषा व्याकरण के क्षेत्र में पूरी तरह अपने पैरों पर खड़ी हो गयी। अपभ्रंश के रूप प्रायः हिन्दी से निकल गये। जो कुछ बचे थे, वे ऐसे थे जिन्हें हिन्दी ने आत्मसात् कर लिया था।

२. भाषा आदिकालीन भाषा की तुलना में और भी वियोगात्मक हो गयी। संयोगात्मक रूप और भी कम हो गये। परसर्गों तथा सहायक क्रियाओं का प्रयोग और भी बढ़ गया।

३. उच्च वर्ग में फ़ारसी का प्रचार होने के कारण हिन्दी-वाक्य-रचना फ़ारसी से प्रभावित होने लगी थी।

शब्द-भाण्डार की दृष्टि से ये बातें मुख्य हैं :

१. इस काल में आते-आते काफ़ी शब्द फ़ारसी (लगभग ३५००), अरबी (लगभग

२५००), पश्तो (लगभग ५०), तथा तुर्की (लगभग १२५) से हिन्दी में आ गये और उन की संख्या लगभग ६०० हो गयी।

२. भक्ति-आन्दोलन के चरम बिन्दु पर पहुँचने के कारण तत्सम शब्दों का अनुपात भाषा में और भी बढ़ गया।

३. यूरोप से सम्पर्क होने के कारण कुछ पुर्तगाली, स्पेनी, फ्रांसीसी तथा अँगरेज़ी शब्द भी हिन्दी में आ गये।

इस काल में धर्म की प्रधानता के कारण राम-स्थान की भाषा अवधी तथा कृष्ण-स्थान की भाषा व्रज में ही विशेष रूप से साहित्य रचा गया। यों दक्खिनी, उर्दू, डिंगल, मैथिली और खड़ीबोली में भी साहित्य-रचना हुई। इस काल के प्रमुख साहित्यकार जायसी, सूर, मीरां, तुलसी, केशव, विहारी, भूषण, देव हैं।

आधुनिक काल (१८०० से अब तक) : आधुनिककालीन हिन्दी में ध्वनि के क्षेत्र में चार-पाँच बातें उल्लेख्य हैं :

१. आधुनिक काल में शिक्षा के व्यवस्थित प्रचार के कारण तथा प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश में अनेक क्षेत्रों में कचहरियों की भाषा उर्दू होने के कारण क़, ख़, ग़, ज़, फ़ जो मध्य-काल में केवल उच्च वर्गों के फ़ारसी पढ़े-लिखे लोगों तक प्रचलित थे, इस काल में प्रायः १९४७ ई० तक सुशिक्षित लोगों में खूब प्रचलित हो गये। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद स्थिति बदली है और अँगरेज़ी में प्रयुक्त होने के कारण ज़, फ़ तो एक सीमा तक अब भी प्रयोग में हैं, किन्तु क़, ख़, ग़ के ठीक प्रयोग में कमी आयी है। नयी पीढ़ी, कुछ अपवादों को छोड़कर, इनके स्थान पर प्रायः क, ख, ग बोलने लगी है।

२. अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार के कारण कुछ बहुशिक्षित लोगों द्वारा ऑ (कॉलेज, डॉक्टर, ऑफ़िस, कॉफ़ी आदि में) ध्वनि भी हिन्दी में प्रयुक्त हो रही है।

३. अँगरेज़ी शब्दों के प्रचार के कारण कुछ नये संयुक्त व्यंजन (जैसे ड्र) हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे हैं।

४. स्वरों में ऐ, औ हिन्दी में आदिकाल में आये थे। इनका उच्चारण अएँ, अओँ था, अर्थात् ये संयुक्त स्वर थे। आधुनिक काल में, मुख्यतः १९४० ई० के बाद ऐ, औ की स्थिति कुछ भिन्न हो गयी है। इस सम्बन्ध में तीन बातें उल्लेख्य हैं : (क) पश्चिमी हिन्दी-क्षेत्र में ये स्वर सामान्यतः मूल स्वर-रूप में उच्चरित होते हैं, (ख) पूर्वी हिन्दी-क्षेत्र में अब भी ये अएँ, अओँ रूप में संयुक्त स्वर के रूप में ही प्रयुक्त हो रहे हैं, (ग) नैया, वैयाकरण, कौआ जैसे शब्दों में, पश्चिमी तथा पूर्वी दोनों ही क्षेत्रों में ऐ, औ का उच्चारण क्रमशः संयुक्त स्वर अइ, अउ रूप में होता है।

५. मध्यकाल में अ का लोप शब्दान्त तथा कुछ स्थितियों में अक्षरान्त में होना आरम्भ हुआ था। आधुनिक काल तक आते-आते यह प्रक्रिया पूरी हो गयी। अब हिन्दी में उच्चारण में कोई भी शब्द अकारान्त नहीं है।

६. व ध्वनि आदिकाल तथा मध्यकाल में कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः द्वयोष्ठ रूप में उच्चरित होती थी, अब वह कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी के काफ़ी शब्दों में कम-से-कम पश्चिमी क्षेत्र में दन्तोष्ठ्य रूप में उच्चरित होती है।

व्याकरण की दृष्टि से अधोलिखित बातें कही जा सकती हैं :

१. आदिकाल में हिन्दी की विभिन्न बोलियों के व्याकरणिक अस्तित्व का प्रारम्भ हो गया था, किन्तु काफ़ी व्याकरणिक रूप ऐसे थे, जो आसपास के क्षेत्रों में समान थे। मध्य-

काल में उनमें इस प्रकार के मिश्रण में काफ़ी कमी हो गयी थी। सूर, विहारी, देव आ
की ब्रजभाषा तथा जायसी, तुलसी आदि की अवधी इस बात का प्रमाण है। आधुनिक का
तक आते-आते ब्रज, अवधी, भोजपुरी, मैथिली आदि कई बोलियों का व्याकरणिक अस्ति
इतना स्वतन्त्र हो गया है कि उन्हें बड़ी सरलता से भाषा की संज्ञा दी जा सकती है।

२. हिन्दी प्रायः पूर्णतः एक वियोगात्मक भाषा हो गयी है।

३. प्रेस, रेडियो, शिक्षा तथा व्याकरणिक विश्लेषण आदि के प्रभाव से हिन्दी-व्याकर
का रूप काफ़ी स्थिर हो गया है। कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी-व्याकरण का मानक
सुनिश्चित हो चुका है। व्याकरण के इस स्थिरीकरण में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी
मुख्य हाथ रहा है।

४. कहा जा चुका है कि मध्यकाल में हिन्दी-वाक्य-रचना एक सीमा तक फ़ारसी
प्रभावित हुई थी। आधुनिक काल में अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार फ़ारसी की तुलना में क
अधिक हुआ है। साथ ही समाचार-पत्रों, रेडियो तथा सरकारी कामों में प्रयोग के कारण
अँगरेज़ी हमारे अधिक निकट आयी है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी भाषा वाक्
रचना, मुहावरों तथा लोकोक्ति आदि के क्षेत्र में अँगरेज़ी से बहुत अधिक प्रभावित हुई है
उदाहरण के लिए 'मैं सोने जा रहा हूँ' 'आई ऐम गोइंग टु स्लीप' का अनुवाद है, तो '
आदमी जो कल बीमार पड़ा था आज मर गया' 'द मैन हू फ़ेल इल येस्टरडे एक्सपायर्ड'
का। इसी तरह 'प्रकाश डालना' मुहावरा 'टु थ्रो लाइट ऑन' का अनुवाद है, तो 'आवश्यक
आविष्कार की जननी है' लोकोक्ति 'नेसेसिटी इज़ द मदर ऑफ़ इन्वेन्शन' का। अँगरेज़ी
विराम-चिह्नों के माध्यम से भी हिन्दी-वाक्य-रचना को प्रभावित किया है।

५. इधर कुछ वर्षों से 'कीजिए' के लिए 'करिए,' 'मुझे' के लिए 'मेरे को', 'मुझ
के लिए 'मेरे से', 'तुझ में' के लिए 'तेरे में', 'नहीं जाता है' के स्थान पर 'नहीं जाता', '
जा रहा है' के स्थान पर 'नहीं जा रहा' जैसे नये रूपों तथा नयी वाक्य-रचना का प्रचार
क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। अर्थात् हिन्दी भाषा की रूप-रचना तथा वाक्य-रचना में परिव
हो रहा है।

शब्द-भाण्डार की दृष्टि से १८०० ई० से अब तक के आधुनिक काल को सामान्
छह-सात उपकालों में विभाजित किया जा सकता है। १८०० से १८५० ई० तक का हि
शब्द-भाण्डार मोटे रूप से वही था जो मध्यकाल के अन्तिम चरण में था। अन्तर केवल
था कि धीरे-धीरे अँगरेज़ी के अधिकाधिक शब्द हिन्दी भाषा में आते जा रहे थे। १८५०
१९०० ई० तक अँगरेज़ी के और शब्दों के आने के अतिरिक्त आर्यसमाज के प्रचार-प्र
के कारण तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ा और कुछ पुराने तद्भव शब्द परिनिष्ठित हिन्दी
निकल गये। १९०० ई० के बाद द्विवेदी-काल तथा छायावाद-काल में अनेक कारणों
तत्सम शब्दों का प्रयोग बढ़ना प्रारम्भ हो गया। प्रसाद, पन्त और महादेवी वर्मा का
साहित्य इस दृष्टि से दर्शनीय है। इसके बाद प्रगतिवादी आन्दोलन के कारण तद्भव
के प्रयोग में पुनः वृद्धि हुई तथा तत्सम शब्दों के प्रयोग में काफ़ी कमी हुई। सन् १९
तक लगभग यही स्थिति रही। इसके बाद के शब्द-भाण्डार में कई बातें उल्लेख्य हैं:

१. अनेक पुराने शब्द नये अर्थों में प्रचलित हो गये हैं। उदाहरण के लिए 'स
राज्यसभा-लोकसभा के लिए (दोनों सदनों में) प्रयुक्त हो रहा है।

२. नयी आवश्यकता की पूर्ति के लिए क्षणिका, फ़िल्माना, घुसपैठिया जैसे ब
नये शब्द हिन्दी में आ गये हैं।

३. साहित्य में नाटक, उपन्यास, कहानी और कविता की भाषा बोलचाल के बहुत निकट है; उसमें अरबी-फ़ारसी तथा अँगरेज़ी के जन-प्रचलित शब्दों का काफ़ी प्रयोग हो रहा है, किन्तु आलोचना की भाषा अब भी एक सीमा तक तत्सम शब्दों से काफ़ी लदी हुई है।

४. इधर हिन्दी को पारिभाषिक शब्दों की बहुत आवश्यकता पड़ी है, क्योंकि वह अब विज्ञान, वाणिज्य विधि आदि की भी भाषा है। इसकी पूर्ति के लिए अनेक शब्द अँगरेज़ी, संस्कृत आदि से लिये गये हैं तथा अनेक नये शब्द बनाये गये हैं। स्वतन्त्रता के पूर्व हिन्दी में मुश्किल से पाँच-छह हज़ार पारिभाषिक शब्द थे, किन्तु अब उनकी संख्या लगभग एक लाख है और दिनों-दिन उसमें वृद्धि होती जा रही है। हिन्दी-शब्द-भाण्डार अनेक प्रभावों को ग्रहण करते हुए तथा नये शब्दों से समृद्ध होते हुए दिनोंदिन अधिक व्यापक होता जा रहा है, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दी अपनी अभिव्यंजना में अधिक सटीक, निश्चित, गहरी तथा समर्थ होती जा रही है।

किसी भाषा के प्रचार-क्षेत्र में जैसे-जैसे विस्तार होता है, उसके एकाधिक रूप विकसित होने लगते हैं। आज इंग्लैंड, अमरीका, ऑस्ट्रेलिया की अँगरेज़ी ध्वनि-व्यवस्था, रूप-रचना, वाक्य-गठन तथा शब्द-भाण्डार किसी भी दृष्टि से पूर्णतः एक नहीं है। हिन्दी के साथ भी वही स्थिति आती जा रही है। संविधान के ३५१ वें अनुच्छेद के अनुसार सम्पर्क भाषा के रूप में जिस हिन्दी का विकास होना है, वह कम-से-कम शब्द-भाण्डार के क्षेत्र में भारत की प्रायः सभी भाषाओं से कुछ-न-कुछ ग्रहण करेगी। इस प्रकार राष्ट्रभाषा के रूप में उसका स्वरूप एक प्रकार से सार्वदेशिक होगा। नागपुर में हुए विश्व-हिन्दी-सम्मेलन (१९७५) में इस दिशा में स्वदेश-विदेश के हिन्दी-विद्वानों ने यथेष्ट विचार-विमर्श के उपरान्त उपर्युक्त निष्कर्ष से ही सहमति प्रकट की और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के साथ ही विश्व की एक प्रमुख भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का संकल्प व्यक्त किया।

प्रथम खण्ड

पूर्वपीठिका
आदिकाल

अध्याय : १

पूर्वपीठिका

इतिहास : अर्थ एवं स्वरूप

शाब्दिक दृष्टि से 'इतिहास' का अर्थ है—'ऐसा ही था' या 'ऐसा ही हुआ'। इससे दो बातें स्पष्ट हैं—एक तो यह कि इतिहास का सम्बन्ध अतीत से है; दूसरे यह कि उसके अन्तर्गत केवल वास्तविक या यथार्थ घटनाओं का समावेश किया जाता है। उसमें उन सभी लिखित या मौखिक वृत्तों को सम्मिलित किया जाता है जिनका सम्बन्ध अतीत की यथाथ परिस्थितियों व घटनाओं से है और साथ ही उसका सम्बन्ध केवल 'प्रसिद्ध घटनाओं' से ही नहीं, अपितु उन घटनाओं से भी है जो प्रसिद्ध न होते हुए भी यथार्थ में घटित हुई हों। वस्तुत: आज 'इतिहास' शब्द को इतने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है कि उसके अन्तर्गत अतीत की प्रत्येक स्थिति, परिस्थिति, घटना, प्रक्रिया एवं प्रवृत्ति की व्याख्या का समावेश हो जाता है। अत: संक्षेप में अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व एवं प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को—जो कि कालविशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया हो—इतिहास कहा जा सकता है। लाक्षणिक अर्थ में 'इतिहास' का प्रयोग अतीत की घटनाओं के विवरण के स्थान पर स्वयं अतीतकालीन घटनाओं और व्यक्तियों के लिए भी होता है, जैसे—'महात्मा गांधी ने भारत के नये इतिहास का निर्माण किया' या 'सम्राट् अशोक भारत के इतिहास-निर्माता थे' आदि वाक्यों में। किन्तु शास्त्रीय या वैज्ञानिक विवेचन में लाक्षणिक प्रयोग अग्राह्य या त्याज्य ही समझे जाते हैं।

प्राचीन काल से ही इतिहास को अध्ययन के एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त है, किन्तु अध्येताओं के दृष्टिकोण एवं पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है; इसलिए कभी उसे कला के क्षेत्र में और कभी विज्ञान के क्षेत्र में स्थान दिया जाता रहा। वस्तुत: इतिहास कला है या विज्ञान, यह प्रश्न आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। इस विवाद के मूल में यह भ्रान्ति विद्यमान है कि कोई भी वस्तु या विषय अपने आप में कला या विज्ञान की कोटि में आ सकता है जबकि वास्तविकता यह है कि कला या विज्ञान का निर्णय विषयवस्तु के आधार पर नहीं, अपितु उसकी अध्ययन-पद्धति या रचना-पद्धति पर निर्भर है। इतिहास हमे अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है, किन्तु यह हम पर निर्भर है कि उस इतिवृत्त का उपयोग किस प्रकार करते हैं। यदि अतीत के इतिवृत्त को हम आत्म-

परक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति एवं ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो वह 'कला' संज्ञा से विभूषित हो सकता है जबकि वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली एवं गवेषणात् पद्धति से प्रस्तुत किया गया अतीत का विवरण 'विज्ञान' की विशेषताओं से युक्त माना सकता है। वस्तुतः इतिहास से कवि, साहित्यकार, उपदेशक, शोधकर्त्ता आदि विभिन्न के लोग प्रेरणा ग्रहण करते रहे हैं तथा उनकी दृष्टि व पद्धति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता रहा है—ऐसी स्थिति में इतिहास के भी विभिन्न रूप उपलब्ध हों तो कोई आश्च नहीं।

फिर भी, आधुनिक युग में इतिहास को कला की अपेक्षा विज्ञान के ही अधि निकट माना जाता है। अतः प्रत्येक इतिहासकार से दृष्टिकोण की तटस्थता या वस्तुपरक तथ्यों की यथार्थता और निष्कर्षों की प्रामाणिकता की अपेक्षा की जाती है; यह दूसरी बा है कि विषयवस्तु की अविद्यमानता व अप्रत्यक्षता के कारण 'भौतिक विज्ञान' की-सी वैज्ञा निकता का आविर्भाव उसमें शायद ही सम्भव हो। वास्तव में विषय-भेद से स्वयं विज्ञान अनेक श्रेणियों एवं कोटियों में विभक्त हो जाता है; उदाहरण के लिए मनोविज्ञान, समा विज्ञान व भाषाविज्ञान को हम विज्ञान की उसी श्रेणी में स्थान नहीं दे सकते जिस श्रेणी भौतिकविज्ञान, रसायनशास्त्र और जीवविज्ञान को देते हैं। अतः इतिहास को भी हम श्रेणी के विज्ञान में स्थान दे सकते हैं, जिस श्रेणी में भाषाविज्ञान व समाजविज्ञान (Soci logy) को देते हैं।

'इतिहास-दर्शन' की रूपरेखा

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है, इतिहास के अध्ययन में विभिन्न वि विभिन्न प्रकार के दृष्टिकोणों का प्रयोग करते रहे हैं तथा ये दृष्टिकोण भी समय-समय बदलते रहे हैं—इसी तथ्य के आधार पर 'इतिहास-दर्शन' विषय की स्थापना हुई है जि इतिहास के सम्बन्ध मे प्रयुक्त व प्रचलित विभिन्न दृष्टिकोणों, धारणाओं व विचारों अध्ययन किया जाता है। अस्तु, इतिहास सम्बन्धी इन्हीं विचारों या धारणाओं को समूह में 'इतिहास-दर्शन' की संज्ञा दी जाती है।

वैसे, पश्चिम के कुछ विद्वानों ने 'इतिहास-दर्शन' (Philosophy of Histor का प्रयोग सकीर्ण व सीमित अर्थ में करते हुए अपने-अपने दृष्टिकोणों को ही उस पर आ पित करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम वोल्तेर ने इस संज्ञा का प्रयोग करते हुए इसके को केवल 'आलोचनात्मक या वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखने का प्रयास किया। ही ने इसका प्रयोग विश्व-इतिहास के अर्थ में तथा परवर्ती युग के कुछ विद्वानों ने केवल परी णात्मक यथार्थवादी दृष्टिकोण के लिए किया। किन्तु, आज 'इतिहास-दर्शन' के नाम से उपल पुस्तकों में पूर्व से पश्चिम तक तथा प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक के उन दृष्टिकोणों व विचारों का प्रतिपादन किया जाता है जो इतिहास के अध्ययन में प्रयुक्त हैं। ऐसी स्थिति में, यदि हम एकांगी और एकपक्षीय धारणाओं से बचते हुए 'इतिहास-द का सर्वांगीण व सर्वपक्षीय बोध प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें उसे उसी व्यापक एवं समा अर्थ में ग्रहण करना होगा जिसके अनुसार 'इतिहास-दर्शन' उन दृष्टिकोणों, विचारों अध्ययन-पद्धतियों के समूह का सूचक है, जिनका प्रयोग इतिहास के अध्ययन में सम्भव है

इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण : इतिहास के प्रति भारतीय दृष्टिकोण प्र आदर्शमूलक एवं अध्यात्मवादी रहा है, इसीलिए उसमें भौतिक जगत् की स्थूल घटनाओं

भी आध्यात्मिक तत्त्वों व प्रवृत्तियों के अनुसन्धान की प्रवृत्ति रही है। भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति में प्राय: सामयिक तत्त्वों की अपेक्षा चिरन्तन मूल्यों को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है, अतः यहाँ के प्राचीन इतिहासकारों ने अतीत की व्याख्या भी इसी दृष्टिकोण से की; अर्थात् वे परिवर्तनशील अतीत में से भी उन प्रवृत्तियों का अनुसन्धान करते रहे जो मनुष्य को स्थायी एवं अमर बनाती हैं। उन्होंने घटनाओं एवं क्रिया-कलापों की व्यवस्था भौतिक उपलब्धियों एवं वैयक्तिक सफलताओं की दृष्टि से कम करके समष्टि-हित की दृष्टि से अधिक की। इसीलिए महाभारतकार[1] ने जहाँ 'इतिहास' को एक ऐसा पूर्ववृत्त माना जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके; तो पौराणिकों[2] ने ऋषियों एवं महापुरुषों के चरित-गान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार करते हुए घटना की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्त्व प्रदान किया।

यद्यपि आगे चलकर बाण, कल्हण आदि इतिहासकारों ने इससे भिन्न दृष्टि को अपनाते हुए आध्यात्मिक, नैतिक एवं चारित्रिक तत्त्वों की अपेक्षा यथार्थपरक वस्तु एवं तथ्यों को अधिक महत्त्व प्रदान किया, किन्तु काव्यात्मकता एवं अलंकृति का मोह वे भी न त्याग सके। इसीलिए जहाँ प्राचीन युग में भारतीय इतिहासकारों की रचनाएँ चारित्रिक मूल्यों, नैतिक उपदेशों व आध्यात्मिक रूपकों से युक्त होकर पौराणिक रूप में परिणत हो गयीं, वहाँ परवर्ती इतिहासकारों की रचनाएँ शुद्ध इतिहास की अपेक्षा 'काव्यात्मक इतिहास' या 'ऐतिहासिक काव्य' के रूप में विकसित हुईं। वस्तुतः भारत का प्राचीन इतिहासकार सत्य-शोधन तक ही सीमित नहीं रहा, वह 'शिवं' और 'सुन्दरम्' के समन्वय के लिए भी बराबर सचेष्ट रहा। इसे व्यावहारिक दृष्टि से जहाँ उसका 'गुण' कहा जा सकता है, वहाँ सैद्धान्तिक दृष्टि से यह उसका सबसे बड़ा 'दोष' भी माना जा सकता है, क्योंकि उसने इतिहास के कलेवर में कला और नीति को स्थान देकर उसे शुद्ध ऐतिहासिकता से वंचित रखा। फिर भी, यदि इतिहास के कलात्मक या काव्यात्मक रूप का किसी भी दृष्टि से कोई महत्त्व है तो उस दृष्टि से भारतीय इतिहासकार को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है। वास्तव में भारतीय इतिहासकार ने अपनी संस्कृति एवं जीवन के आदर्शों के अनुरूप ही इतिहास के क्षेत्र में भी संश्लेषणात्मक व समन्वयात्मक दृष्टिकोण का परिचय देते हुए उसमें सत्यं, शिवं व सुन्दरम् के समन्वय का प्रयास किया, जो उसकी परम्पराओं को देखते हुए उचित व स्वाभाविक कहा जा सकता है।

इतिहास के प्रति पाश्चात्य दृष्टिकोण : जहाँ भारतीय इतिहासकारों के दृष्टिकोण में आदर्शवादिता की प्रमुखता रही, वहाँ पाश्चात्य इतिहासकार प्रायः यथार्थवादी दृष्टिकोण से अनुप्राणित रहे हैं। 'इतिहास' (History) के प्रथम व्याख्याता यूनानी विद्वान् हिरोदोतस (४५६-५४५ ई० पू०) ने इसे 'खोज', 'गवेषणा' या 'अनुसन्धान' के अर्थ में ग्रहण करते हुए इसके चार लक्षण निर्धारित किये थे—एक तो यह कि इतिहास वैज्ञानिक विद्या है, अतः इसकी पद्धति आलोचनात्मक होती है। दूसरे, यह मानव जाति से सम्बन्धित होने के कारण मानवीय विद्या (मानविकी) है। तीसरे, यह तर्कसंगत विद्या है, अतः इसमें तथ्य और

---

[1] धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम् ।
पूर्ववृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते ॥—महाभारत

[2] आर्ष्यादिबहुव्याख्यानैर्देवर्षिचरिताश्रयम् ।
इतिहासमिति प्रोक्तं भविष्याद्भुतधर्मयुक् ॥—विष्णुपुराण

निष्कर्ष प्रमाण पर आधारित होते हैं। चौथे, यह अतीत के आलोक में भविष्य पर प्रक डालता है, अतः यह शिक्षाप्रद विद्या है। इसके अतिरिक्त हिरोदोतस ने यह भी स्पष्ट कि कि इतिहास का लक्ष्य प्राकृतिक या भौतिक परिवर्तन की प्रक्रिया की व्याख्या करना है।

प्राचीन युग में सामान्यतः हिरोदोतस का ही दृष्टिकोण मान्य रहा, किन्तु आधु युग के विभिन्न विद्वानों ने इसके सम्बन्ध में नये दृष्टिकोण से विचार किया। इटैलि विद्वान् विको (१६६८-१७४४) ने इतिहास का सम्बन्ध न केवल अतीत से, अपितु वर्तम से भी स्थापित करते हुए प्रतिपादित किया कि इतिहास का निर्माता स्वयं मनुष्य है औ मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियाँ सदा समान रहती हैं, अतः विभिन्न युगों के इतिहास में समान प्रवृत्तियों का मिलना स्वाभाविक है। इतिहास-लेखन की पद्धति के सम्बन्ध में विको ने अनेक सुझाव देते हुए इतिहासकारों को अतिरंजना व अतिशयोक्ति से बचने औ अतीत को अधिक महत्त्व न देने की बात कही।

जर्मन दार्शनिक कान्त (१७२४-१८०४) ने इतिहास की नयी व्याख्या करते हु प्रतिपादित किया कि सृष्टि का बाह्य विकास प्रकृति की आन्तरिक विकास-प्रक्रिया प्रतिबिम्ब-मात्र है, अतः इतिहास को भी इसी रूप में ग्रहण किया जाना चाहिए, अर्था ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे प्राकृतिक नियमों की प्रवृत्ति को समझने का प्रयास किया जा चाहिए। हीगल (१७७०-१८३१) ने कान्त की विचारधारा को आगे बढ़ाते हुए स्पष्ट कि कि इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण एवं संकलन-मात्र नहीं है, अपितु उसके भी कारण-कार्य की शृंखला विद्यमान है। हीगल के मतानुसार, विश्व-इतिहास की प्रक्रिया मूल लक्ष्य मानव-चेतना का विकास है जो द्वन्द्वात्मक पद्धति पर आधारित है। इस द्वन्द्वात्म पद्धति या प्रक्रिया के अनुसार वाद (thesis) एवं प्रतिवाद (anti-thesis) के द्वन्द्व समवाद (synthesis) का विकास होता है। इतिहास की व्याख्या भी इसी द्वन्द्वात्मक पद्ध के आधार पर होनी चाहिए।

उन्नीसवीं शती में डारविन ने अपने विकासवादी सिद्धान्त की स्थापना के द्वा इतिहास को एक नूतन दृष्टि, शक्ति व गति प्रदान की। डारविन-परवर्ती युग में विभि चिन्तकों ने आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि क्षेत्रों में विभिन्न विकासवाद सिद्धान्तों की स्थापना करते हुए प्रमाणित किया कि सृष्टि का कोई अंग या तत्त्व एकाए घटित या रचित न होकर क्रमशः विकसित है। अतः वैज्ञानिक दृष्टि से 'इतिहास' का अ 'घटना-समूह' का संकलन न होकर 'विकास-क्रम' का विवेचन है। कार्ल मार्क्स, एंजिल मारगन, हक्सले प्रभृति ने विकासवाद के विभिन्न पक्षों की व्याख्या अपनी-अपनी दृष्टि करते हुए उसे विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है। बीसवीं शती के अनेक इतिहासकारों— स्पेंगलर, ट्वायनबी, टर्नर आदि—ने विश्व-संस्कृति और सभ्यता के इतिहास की व्याख विकासवादी नियमों व प्रवृत्तियों के आधार पर करने की चेष्टा की है।

अस्तु, आज पाश्चात्य इतिहास-दर्शन के सर्वप्रमुख एवं सर्वाधिक विकसित दृष्टिको के रूप में विकासवादी दृष्टिकोण को स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु अनेक दृष्टियों यह दृष्टिकोण भी अभी तक पूर्ण विकसित नहीं कहा जा सकता। एक तो अर्थशास्त्र, समा शास्त्र, मनोविज्ञान, संस्कृति आदि विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले विकासवादी चिन्तकों सिद्धान्तों में भी परस्पर अन्विति एवं एकरूपता का अभाव है—जहाँ डारविन का विका वाद प्राणिशास्त्र में लागू होता है, वहाँ मार्क्स का अर्थशास्त्र में, स्पेन्सर का भौतिकविज्ञा में, या बर्गसाँ का मनोविज्ञान में लागू होता है। दूसरे, विकासवादी सिद्धान्तों के विरो

भी प्रतिक्रिया हो रही है; विद्वानों का एक वर्ग इन्हें 'विधेयवादी' कहकर ठुकराने का प्रयास कर रहा है। सार्त्र आदि के वे अनुयायी जो कि नियमवद्धता, पूर्व-निश्चितता एवं पूर्व-निर्धारण के विरोधी हैं, इतिहास को भी किसी नियम से आबद्ध करना कैसे स्वीकार कर सकते हैं ! अस्तित्ववादियों के अनुसार जव प्रकृति एवं मनुष्य ही नियमों से मुक्त हैं तो उनके इतिहास को नियमबद्ध कैसे किया जा सकता है ! किन्तु हमारे विचार में नियम और अनुशासन का यह विरोध अवैज्ञानिकता एवं अराजकता का ही पोषक है। कदाचित् हीगल के शब्दों में यह भी वाद का प्रतिवाद-मात्र है, जो सम्भवतः हमें किसी नये 'समवाद' की ओर अग्रसर करने में सहायक सिद्ध हो सके।

साहित्य का इतिहास-दर्शन

सामान्यतः 'इतिहास' शब्द से राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास का ही बोध होता है, किन्तु वास्तविकता यह है कि सृष्टि की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जिसका इतिहास से सम्बन्ध न हो। अतः साहित्य भी इतिहास से असम्बद्ध नहीं है। साहित्य के इतिहास में हम प्राकृतिक घटनाओं व मानवीय क्रिया-कलापों के स्थान पर साहित्यिक रचनाओं का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से करते हैं। वैसे, देखा जाये तो साहित्यिक रचनाएँ भी मानवीय क्रिया-कलापों से भिन्न नहीं हैं; अपितु वे विशेष वर्ग के मनुष्यों की विशिष्ट क्रियाओं की सूचक हैं। दूसरे शब्दों में, साहित्यिक रचनाएँ साहित्यकारों की सर्जनात्मक क्रियाओं और प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, अतः उनके इतिहास को समझने के लिए उनके रचयिताओं तथा उनसे सम्बन्धित स्थितियों, परिस्थितियों और परम्पराओं को समझना भी आवश्यक है। प्रारम्भ में जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में राजाओं के जीवन-चरित्र एवं राजनीतिक घटनाओं को संकलित कर देना पर्याप्त समझा जाता था, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी रचनाओं व रचयिताओं का स्थूल परिचय ही पर्याप्त होता था, किन्तु ज्यों-ज्यों इतिहास के सामान्य दृष्टिकोण का विकास होता गया, त्यों-त्यों साहित्येतिहास के दृष्टिकोण में भी तदनुसार सूक्ष्मता व गम्भीरता आती गयी। यद्यपि इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में साहित्य का इतिहास-दर्शन एवं उसकी पद्धति अब भी बहुत पिछड़ी हुई है, किन्तु फिर भी समय-समय पर इस प्रकार के अनेक प्रयास हुए हैं जिनका लक्ष्य साहित्येतिहास को भी सामान्य इतिहास के स्तर पर पहुँचाने का रहा है।

यद्यपि अँगरेज़ी-साहित्य के विभिन्न इतिहासकारों द्वारा यह धारणा बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी कि किसी भी जाति के साहित्य का इतिहास उस जाति के सामाजिक एवं राजनीतिक वातावरण को ही प्रतिबिम्बित करता है या साहित्य की प्रवृत्तियाँ सम्बन्धित समाज की प्रवृत्तियों की सूचक होती हैं, फिर भी इस धारणा को एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय फ्रेंच विद्वान् तेन (Taine) को है जिन्होंने अपने अँगरेज़ी-साहित्य के इतिहास में प्रतिपादित किया कि साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों के मूल में मुख्यतः तीन प्रकार के तत्त्व सक्रिय रहते हैं—जाति (race), वातावरण (milieu), क्षण-विशेष (moment)। तेन ने अपनी व्याख्या के द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट किया कि किसी भी साहित्य के इतिहास को समझने के लिए उससे सम्बन्धित जातीय परम्पराओं, राष्ट्रीय और सामाजिक वातावरण एवं सामयिक परिस्थितियों का अध्ययन-विश्लेषण आवश्यक है। तेन के इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए हडसन ने आक्षेप किया कि उन्होंने साहित्य की विकास-प्रक्रिया का सारा महत्त्व उपर्युक्त तीन तत्त्वों को ही दे दिया, जबकि साहित्यकार या

काव्य-रचयिता के व्यक्तित्व एवं उसकी प्रतिभा की सर्वथा उपेक्षा कर दी। निश्चय ही, हडसन का यह आक्षेप तेन के सिद्धान्त की एक महत्त्वपूर्ण न्यूनता या त्रुटि की ओर संकेत करता है, किन्तु फिर भी हम इस तथ्य को अस्वीकार नहीं कर सकते कि पूर्ववर्ती इतिहासकारों की तुलना में तेन ने अपेक्षाकृत अधिक व्यापक, स्पष्ट एवं विकसित सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, जिसके आधार पर साहित्य की विकास-प्रक्रिया को बहुत-कुछ स्पष्ट किया जा सकता है।

साहित्येतिहास की व्यवस्था में जर्मन चिन्तकों का भी कम योगदान नहीं है। वैसे तो उनके द्वारा कई सिद्धान्त स्थापित हुए, किन्तु उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण 'युग-चेतना' (spirit of age) का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार साहित्य के इतिहास की व्याख्या तद्युगीन चेतना के आधार पर की जानी चाहिए। ए० एच० कॉर्फ ने महान् कवि गेटे की साहित्यिक प्रवृत्तियों की व्याख्या युगीन चेतना के आधार पर करके इस सिद्धान्त की महत्ता को प्रमाणित किया है। किन्तु, हमारे विचार में यह सिद्धान्त भी एकांगी ही है क्योंकि साहित्य के विकास में युगीन चेतना का ही नहीं, पूर्ववर्ती परम्पराओं का भी न्यूनाधिक योगदान रहता है; अतः उनकी उपेक्षा करके सारा श्रेय युगीन चेतना को ही दे देना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता।

इधर मार्क्सवाद से प्रभावित आलोचकों ने द्वन्द्वात्मक भौतिक विकासवाद, वर्ग-संघर्ष और आर्थिक परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्य की विकास-प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण के लिए सैक्युलिन ने रूसी साहित्य के इतिहास की व्याख्या करते हुए साहित्य की विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रवृत्तियों का सम्बन्ध आर्थिक परिस्थितियों एवं वर्ग-संघर्ष की प्रतिक्रिया से स्थापित किया है। किन्तु कई बार मार्क्सवादी आलोचक साहित्य की सभी प्रवृत्तियों के मूल में अर्थ को ही स्थापित करके एक ऐसा अनर्थ कर देते हैं जो एकांगिता व अतिवादिता का प्रमाण होता है।

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और अर्थविज्ञान के आधार पर भी साहित्य के विभिन्न पक्षों के—विशेषतः शैलीपक्ष के—विकास की व्याख्या विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों द्वारा हुई है, जिनमें आई० ए० रिचर्ड्स, विलियम एम्पसन, सी० एस० लेविस, डब्लू० पी० कर, एफ़० डब्लू० बैटसन प्रभृति के नाम उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों द्वारा विभिन्न दृष्टियों से शैलीगत प्रवृत्तियों के विश्लेषण एवं उनके आधारभूत कारणों को खोजने का प्रयास हुआ है, जिससे आंशिक रूप में साहित्येतिहास को भी समझने में सहायता मिल सकती है। किन्तु, इनके निष्कर्षों में पारस्परिक सामंजस्य, एकरूपता एवं अन्विति का अभाव होने के कारण वे अध्येता के मार्ग को प्रशस्त कम और कंटकाकीर्ण अधिक करते हैं।

अस्तु, साहित्येतिहास की व्याख्या के लिए विभिन्न दृष्टियों से विभिन्न प्रयास होते रहे हैं जो हमें किसी निश्चित, स्पष्ट एवं समन्वित निष्कर्ष तक नहीं पहुँचाते, किन्तु फिर भी इनसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि आज साहित्य का अध्ययन-विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता; उसकी विषयगत प्रवृत्तियों व शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उससे सम्बन्धित राष्ट्रीय परम्पराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विवेचन-विश्लेषण आवश्यक है। अतः कहा जा सकता है कि पूर्वोक्त सिद्धान्त साहित्य की विकास-प्रक्रिया के विभिन्न अंगों, पक्षों व तत्त्वों के सूचक हैं। यद्यपि इनमें कोई भी सिद्धान्त परिपूर्ण नहीं है, किन्तु आंशिक सत्य से भी ये सर्वथा शून्य नहीं हैं। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी भी साहित्य की विकास-प्रक्रिया के अध्ययन के लिए उससे सम्बन्धित इन पाँच तत्त्वों पर

विचार किया जाना चाहिए—१. सर्जन-शक्ति (साहित्यकार की प्रतिभा और उसका व्यक्तित्व), २. परम्परा (साहित्यिक व सांस्कृतिक परम्पराएँ), ३. वातावरण, ४. द्वन्द्व और ५. सन्तुलन। वस्तुतः यह सिद्धान्त सृष्टि की सामान्य विकास-प्रक्रिया की दृष्टि से प्रतिपादित है जिसे साहित्य पर लागू करते हुए संक्षेप में कहा जा सकता है—साहित्य के क्षेत्र में भी प्राकृतिक सर्जन-शक्ति अर्थात् साहित्यकार की नैसर्गिक प्रतिभा परम्परा (सांस्कृतिक तथा साहित्यिक परम्परा) और वातावरण (युगीन परिस्थितियों, प्रवृत्तियों तथा चेतना) के द्वन्द्व से प्रेरित होकर गतिशील होती है, जिसका चरम लक्ष्य द्वन्द्व के दोनों पक्षों में सन्तुलन-स्थापन होता है। वस्तुतः यह द्वन्द्व ही साहित्यकार की मूल प्रेरणा होता है, किन्तु स्थितिविशेष व व्यक्तिविशेष के अन्तर से द्वन्द्व का क्षेत्र परिवर्तित होता रहता है; अतः कोई साहित्यकार अपने ही आन्तरिक या मानसिक द्वन्द्व से परिचालित होता है, तो कोई पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक या अन्तर्राष्ट्रीय से। एक क्षेत्र का द्वन्द्व सन्तुलित या शान्त हो जाने पर साहित्यकार या साहित्यकारों की सर्जन-शक्ति किसी अन्य क्षेत्र के द्वन्द्व की ओर उन्मुख होती है। वस्तुतः परम्परा और युगीन वातावरण के अन्तर्विरोध से उत्पन्न द्वन्द्व ही साहित्य के विभिन्न आन्दोलनों, उसकी धाराओं और प्रवृत्तियों को गति देता हुआ साहित्य की विकास-प्रक्रिया को संचालित करता है। अतः साहित्येतिहास की विकासवादी व्याख्या के लिए उन सभी तथ्यों पर विचार करना आवश्यक है जो साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं उससे सम्बन्धित पूर्व-परम्परा, युगीन वातावरण, द्वन्द्व के स्रोत, अभीष्ट लक्ष्य आदि पर प्रकाश डालते हैं।

साहित्य-विकास के उपर्युक्त सामान्य सिद्धान्त के अतिरिक्त कुछ ऐसे सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये हैं जिनसे साहित्य के रूपात्मक, प्रवृत्त्यात्मक तथा गुणात्मक विकास के अध्ययन में सहायता मिल सकती है।[1] किन्तु, यहाँ इनका विस्तृत परिचय न देकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि जिस प्रकार सामान्य इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन विकासवाद के आधार पर ही सम्भव है, उसी प्रकार साहित्य के इतिहास की भी वैज्ञानिक व्याख्या के लिए विकासवादी सिद्धान्तों का आधार ग्रहण करना आवश्यक है, यह दूसरी बात है कि जो लोग इतिहास को भी कल्पना-विकास और भाव-सौन्दर्य का क्षेत्र मानते हुए उसे कला की श्रेणी में स्थान देते हैं, वे विकासवादी दृष्टिकोण और वैज्ञानिक पद्धति—दोनों को ही व्यर्थ समझें।

साहित्येतिहास और साहित्यालोचन

सामान्यतः साहित्य के इतिहास में आलोचनात्मक दृष्णिकोण का तथा साहित्यालोचन में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का उपयोग किया जाता है तथा इस दृष्टि से ये दोनों एक-दूसरे के पूरक व सहयोगी सिद्ध होते हैं, किन्तु फिर भी हमें इस भ्रान्ति से बचना चाहिए कि दोनों मूलतः एक ही हैं। इतिहास का लक्ष्य सदा अतीत की व्याख्या करते हुए विवेच्य वस्तु के विकास-क्रम को स्पष्ट करने का होता है जबकि आलोचना का लक्ष्य वस्तु के गुण-दोषों का अन्वेषण करते हुए उसका मूल्य निर्धारित करना होता है। इतिहासकार भी कृति के गुणदोषों पर विचार कर सकता है, किन्तु वहाँ भी उसका लक्ष्य उन्हें युगीन प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में देखने का रहता है; स्वतन्त्र रूप से मूल्यांकन का नहीं। दूसरे, देश (space) और काल (time) के महत्त्वपूर्ण आयामों में से जहाँ आलोचक देश या स्थान को दृष्टिगत रखते हुए उसके स्थिर या शाश्वत तत्त्वों के अनुसन्धान पर बल देता है, वहाँ इतिहासकार काल-क्रम

---

[1] देखिए 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास', डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ४७-६०

और युगीन सन्दर्भ को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए परिवर्तनशील तत्त्वों के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है। तीसरे, आलोचक व्यक्तिविशेष या कृतिविशेष का मूल्यांकन स्वतन्त्र रूप में भी कर सकता है जबकि इतिहासकार व्यक्ति और कृति को सदा पूर्व-परम्परा और युगीन वातावरण के सन्दर्भ में रखकर ही उसके योगदान को स्पष्ट करता है। चौथे, आलोचक के लिए महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों एवं रचनाओं का चयन भी पर्याप्त सिद्ध हो सकता है, किन्तु इतिहासकार के लिए ऐसा सम्भव नहीं। इतिहास की सम्पूर्ण धारा को समझने के लिए सम्राट् अकबर जितना महत्त्वपूर्ण है, हेमू वणिक् भी उससे कम नहीं है; या महाकवि तुलसीदास का सर्वगुण-सम्पन्न महाकाव्य उसके लिए जितना महत्त्वपूर्ण है, अनेक दोषों से ग्रस्त केशव की 'रामचन्द्रिका' भी उसके लिए उतनी ही उपयोगी है—वह इनमें से किसी एक को भी ठुकराकर इतिहास की विकास-प्रक्रिया के विश्लेषण में सफल नहीं हो सकता।

अस्तु, संक्षेप में कहा जा सकता है कि साहित्य का इतिहासकार जहाँ अतीत के सर्जन-कार्य को विभिन्न परम्पराओं और धाराओं के रूप में ग्रहण करते हुए युगविशेष के सन्दर्भ में उनका विश्लेषण करता है, वहाँ आलोचक किन्हीं स्थापित मूल्यों के आधार पर या नये मूल्यों की स्थापना के उद्देश्य से विभिन्न कृतियों के मूल्यपरक तत्त्वों का उद्घाटन करता है। एक के द्वारा जहाँ 'ऐसा क्यों हुआ' का उत्तर दिया जाता है, वहाँ दूसरा 'इसमें क्या विशेषता है' की व्याख्या करता है। फिर भी, अनेक कारणों से आज साहित्येतिहास और साहित्यालोचन की सीमाएँ घुल-मिल-सी गयी हैं जिसके अनेक कारण हैं। एक तो साहित्य-क्षेत्र में—विशेषतः हिन्दी-साहित्य में—इतिहासकार और आलोचक का कार्य कई बार एक ही व्यक्ति द्वारा सम्पन्न होता रहा है; इतना ही नहीं, अनेक बार 'इतिहास'-संज्ञक रचनाओं में ऐतिहासिक विवेचन की अपेक्षा आलोचनात्मक अनुशीलन अधिक रहता है और आलोचनात्मक पुस्तकों में मूल्यांकन की अपेक्षा ऐतिहासिक व्याख्या अधिक उपलब्ध होती है। कदाचित् इसी से इस धारणा का प्रचार हुआ कि अच्छे आलोचक के लिए अच्छा इतिहासकार या इसके विपरीत अच्छे इतिहासकार के लिए अच्छा आलोचक होना आवश्यक है; अवश्य ही आंशिक रूप में यह बात सही है किन्तु अन्ततः दोनों के लिए दो भिन्न प्रकार की प्रतिभाएँ, दृष्टियाँ और पद्धतियाँ अपेक्षित हैं—इसे प्रायः भुला दिया गया है। इसके अतिरिक्त अधुनातन लेखन में कुछ वर्गों द्वारा आलोचना और इतिहास के भी मूल स्वरूप को विकृत करने की चेष्टा की जा रही है—आलोचना में जहाँ मूल्य और मूल्यांकन के स्थान पर आत्मप्रशंसा, वैयक्तिक प्रतिक्रिया, एकपक्षीय विवरण, समाचारपत्रीय परिचय को प्रस्तुत किया जा रहा है; वहाँ इतिहास में परम्पराओं, धाराओं व युगीन प्रवृत्तियों के तटस्थ विश्लेषण के स्थान पर वर्गविशेष, वादविशेष या व्यक्तिविशेष की प्रतिष्ठा का प्रयास हो रहा है। ऐसी स्थिति में, यदि दोनों का पारस्परिक अन्तर अस्पष्ट या लुप्त हो जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।

हिन्दी-साहित्येतिहास की परम्परा

यद्यपि उन्नीसवीं शती से पूर्व विभिन्न कवियों और लेखकों द्वारा अनेक ऐसे ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी जिनमें हिन्दी के विभिन्न कवियों के जीवन-वृत्त एवं कृतित्व का परिचय दिया गया है, जैसे—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'कविमाला', 'कालिदास हजारा' आदि—किन्तु इनमें काल-क्रम, सन्-संवत् आदि का अभाव होने के कारण इन्हें 'इतिहास' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। वस्तुतः अब तक की जानकारी के अनुसार हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन का सबसे पहला प्रयास एक फ्रेंच

विद्वान् गार्सां द तॉसी का ही समझा जाता है जिन्होंने फ्रेंच भाषा में 'इस्त्वार द ला लितरेत्युर ऐन्दुई ऐन्दुस्तानी' ग्रन्थ लिखा, जिसमें हिन्दी और उर्दू के अनेक कवियों का विवरण वर्णक्रमानुसार दिया गया है। इसका प्रथम भाग १८३९ में तथा द्वितीय १८४७ ई० में प्रकाशित हुआ था।[1] १८७१ ई० में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसमें इसे तीन खण्डों में विभक्त करते हुए पर्याप्त संशोधन-परिवर्तन किया गया। इस ग्रन्थ का महत्त्व केवल इसी दृष्टि से है कि इसमें हिन्दी-काव्य का सर्वप्रथम इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है तथा कवियों के रचना-काल का भी निर्देश किया गया है; अन्यथा कवियों को काल-क्रम के स्थान पर अँगरेज़ी-वर्णक्रम से प्रस्तुत करना, काल-विभाजन एवं युगीन प्रवृत्तियों के विवेचन का कोई प्रयास न करना, हिन्दी के कवियों में इतर भाषाओं को घुला-मिला देना आदि ऐसी त्रुटियाँ हैं जिनके कारण इसे 'इतिहास' मानने में संकोच होता है। फिर भी, भारत से दूर बैठकर विदेशी भाषा में सर्वप्रथम इस प्रकार का प्रयास करना भी अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः किसी भी क्षेत्र में किये गये प्रारम्भिक एवं प्राथमिक प्रयास का महत्त्व प्रायः उसकी उपलब्धियों की दृष्टि से नहीं, अपितु नयी दिशा की ओर अग्रसर होने की दृष्टि से ही माना जाता है—यह बात तॉसी के प्रयास पर भी लागू होती है। अस्तु, उनके ग्रन्थ में अनेक त्रुटियों व न्यूनताओं के होते हुए भी हम उन्हें हिन्दी-साहित्येतिहास-लेखन की परम्परा में, उसके प्रवर्त्तक के रूप में, गौरवपूर्ण स्थान देना उचित समझते हैं।

तॉसी की परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय शिवसिंह सेंगर को है, जिन्होंने 'शिवसिंह-सरोज' (१८८३) में लगभग एक सहस्र भाषा-कवियों का जीवन-चरित उनकी कविताओं के उदाहरण-सहित प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। कवियों के जन्म-काल, रचना-काल आदि के संकेत भी दिये गये हैं, यह दूसरी बात है कि वे बहुत विश्वसनीय नहीं हैं। इतिहास के रूप में इस ग्रन्थ का भी महत्त्व अधिक नहीं है, किन्तु फिर भी इसमें उस समय तक उपलब्ध हिन्दी-कविता सम्बन्धी ज्ञान को संकलित कर दिया गया है, जिससे परवर्ती इतिहासकार लाभ उठा सकते हैं—इसी दृष्टि से इसका महत्त्व है।

सन् १८८८ में एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बंगाल की पत्रिका के विशेषांक के रूप में जार्ज ग्रियर्सन द्वारा रचित 'द माडर्न वर्नेक्युलर लिट्रेचर ऑफ़ हिन्दुस्तान' का प्रकाशन हुआ, जो नाम से 'इतिहास' न होते हुए भी सच्चे अर्थ में हिन्दी-साहित्य का पहला इतिहास कहा जा सकता है।[2] इसमें लेखक ने कवियों और लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण करते हुए उनकी प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उनके काल-विभाजन सम्बन्धी प्रयास के गुण-दोषों पर आगे अलग रूप में विचार किया जाएगा, किन्तु यहाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी भाषा और हिन्दी-साहित्य के स्वरूप एवं विकास के सम्बन्ध में जिस दृष्टिकोण का परिचय ग्रियर्सन ने दिया है, वह परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी पंथ-प्रदर्शक सिद्ध हुआ। मुख्य बात यह है कि उन्होंने हिन्दी-साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित करते हुए स्पष्ट किया कि इसमें न तो संस्कृत-प्राकृत को सम्मिलित किया जा सकता है और न ही अरबी-फ़ारसी-मिश्रित उर्दू को। उन्होंने अपनी भाषा-नीति को स्पष्ट करते हुए भूमिका में लिखा है : "···मैं आधुनिक भाषा-साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ।

---

[1] इसके हिन्दी सम्बन्धी अंश का अनुवाद डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा प्रस्तुत हो चुका है।

[2] इस ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद 'हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास' शीर्षक से डॉ० किशोरीलाल गुप्त द्वारा प्रस्तुत हुआ है।

अतः मैं संस्कृत में ग्रन्थ-रचना करनेवाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा हूँ। भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो, पर आधुनिक भाषा के अन्तर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी-फ़ारसी के भारतीय लेखकों का उल्लेख कर रहा हूँ और न ही विदेश से लायी गयी साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही—मैंने इन अन्तिम को, उर्दूवालों को, अपने इस विचार से जानबूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सां द तॉसी नें पूर्ण रूप से विचार कर लिया है।"[1] इस प्रकार हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में जिस स्पष्ट एवं निर्भ्रान्त दृष्टि का परिचय ग्रियर्सन ने दिया, वह निश्चय ही उस युग की भूमिका में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है तथा यह भी कहा जा सकता है कि दृष्टि की इसी स्वच्छता के कारण वे अपने लक्ष्य में सफल हो सके। ग्रियर्सन की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थ के आधार-स्रोत के रूप में तॉसी एवं शिवसिंह सेंगर के ग्रन्थों के अतिरिक्त भक्तमाल, गोसाईं-चरित्र, हज़ारा, काव्य-संग्रह आदि सत्रह रचनाओं का उल्लेख करते हुए स्थान-स्थान पर मूलाधारों के सन्दर्भ-संकेत भी दिये हैं; जिससे उस तटस्थता, प्रामाणिकता और ईमानदारी का बोध होता है जो किसी भी इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यह दुर्भाग्य की बात है कि परवर्ती हिन्दी-साहित्यकारों द्वारा इस परम्परा का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हो सका।

अपनी दृष्टि एवं पद्धति पर प्रकाश डालते हुए ग्रियर्सन ने लिखा है कि उन्होंने सामग्री को यथासम्भव कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ग्रन्थ को कालखण्डों में विभक्त किया गया है तथा प्रत्येक अध्याय कालविशेष का सूचक है। प्रत्येक काल के गौण कवियों का अध्यायविशेष के अन्त में उल्लेख किया गया है। विभिन्न युगों की काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या करते हुए उनसे सम्बन्धित सांस्कृतिक परिस्थितियों और प्रेरणा-स्रोतों के भी उद्घाटन का प्रयास उनके द्वारा हुआ है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के विकास-क्रम का निर्धारण चारण-काव्य, धार्मिक काव्य, प्रेम-काव्य, दरबारी काव्य के रूप में करना तथा सोलहवी-सत्रहवीं शती के युग को (भक्तिकाल को) हिन्दी-काव्य का स्वर्ण-युग मानना ग्रियर्सन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं जिन्हें किंचित् संशोधित एवं नूतन शब्दों में प्रस्तुत करके परवर्ती इतिहासकारों ने भारी श्रेय प्राप्त किया है। वस्तुतः उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में, जबकि हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में आलोचना एवं अनुसंधान की परम्पराओं का श्रीगणेश भी न हुआ था, हिन्दी-भाषा एवं उसके काव्य की ऐसी स्पष्ट, सूक्ष्म एवं प्रामाणिक ऐतिहासिक व्याख्या प्रस्तुत कर देना ग्रियर्सन की अद्भुत प्रतिभा-शक्ति एवं गहन अध्ययनशीलता को प्रमाणित करता है; यह दूसरी बात है कि उनका ग्रन्थ अँगरेज़ी में रचित होने के कारण हिन्दी के अध्येताओं की दृष्टि का केन्द्र नहीं बन सका जिससे परवर्ती युग के अनेक इतिहासकार, जो उनकी धारणाओं और स्थापनाओं को पल्लवित करके हिन्दी-माध्यम से प्रस्तुत कर सके, उस यश के भागी बने जो वस्तुतः ग्रियर्सन का दाय था।

मिश्रबन्धुओं द्वारा रचित 'मिश्रबन्धु-विनोद' चार भागों में विभक्त है, जिसके प्रथम तीन भाग १९१३ ई० में प्रकाशित हुए तथा चतुर्थ भाग १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। मिश्रबन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को 'इतिहास' की संज्ञा न देते हुए भी भरसक इस बात का यत्न किया है कि यह एक आदर्श इतिहास सिद्ध हो। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए उन्होंने एक ओर तो इसमें लगभग पाँच हजार कवियों को स्थान दिया है तथा दूसरी ओर इसे आठ

---

[1] हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास, डॉ० किशोरीलाल गुप्त, पृष्ठ ४१

से भी अधिक काल-खण्डों में विभक्त किया है। इस क्षेत्र में उन्हें पूर्ववर्ती इतिहासकारों से अधिक सफलता मिली है। इतिहास के रूप में इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें कवियों के विवरणों के साथ-साथ साहित्य के विविध अंगों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है तथा अनेक अज्ञात कवियों को प्रकाश में लाते हुए उनके साहित्यिक महत्त्व को स्पष्ट करने का यत्न किया गया है। कवियों का सापेक्षिक महत्त्व निर्धारित करने के लिए उनकी श्रेणियाँ भी बनायी गयी हैं। किन्तु, काव्य-समीक्षा में परम्परागत सिद्धान्तों और पद्धति का ही अनुसरण मिलता है। अतः आधुनिक समीक्षा-दृष्टि से यह ग्रन्थ भले ही बहुत सन्तोषजनक न कहा जा सके, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इतिहास-लेखन की पूर्व-परम्परा को आगे बढ़ाने में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है, जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने स्वयं स्वीकार किया है : "कवियों के परिचयात्मक विवरण मैंने प्रायः 'मिश्रबन्धु-विनोद' से ही लिये हैं।" परवर्ती इतिहासकारों के लिए भी यह आधार-ग्रन्थ रहा है।

हिन्दी-साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** द्वारा रचित 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२९) को प्राप्त है जो मूलतः नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी-शब्द-सागर' की भूमिका के रूप में लिखा गया था तथा जिसे आगे परिवर्द्धित एवं विस्तृत करके स्वतन्त्र पुस्तक का रूप दे दिया गया। इसके आरम्भ में ही आचार्य शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है : "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।" इस उदाहरण से स्पष्ट है कि आचार्य शुक्ल ने साहित्येतिहास के प्रति एक निश्चित व सुस्पष्ट दृष्टिकोण का परिचय देते हुए युगीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में साहित्य के विकास-क्रम की व्याख्या करने का प्रयास किया। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि उन्होंने साहित्येतिहास को साहित्यालोचन से पृथक् रूप में ग्रहण करते हुए विकासवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का परिचय दिया। साथ ही उन्होंने इतिहास के मूल विषय को आरम्भ करने से पूर्व ही 'काल-विभाग' के अन्तर्गत हिन्दी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार सुस्पष्ट काल-खण्डों में विभक्त करके अपनी योजना को एक ऐसे निश्चित रूप में प्रस्तुत कर दिया कि जिसमें पाठक के मन में शंका और सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता—यह दूसरी बात है कि उन्होंने काल-विभाजन का आधार न देकर केवल तत्सम्बन्धी निष्कर्षों की ही सूचना दी है। किन्तु, इससे उस युग के उन पाठकों को अवश्य लाभ हुआ जो काल-विभाजन की सूक्ष्मताओं के पचड़े में पड़े बिना ही सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य को एक दृष्टि से देख लेना चाहते थे। नवोपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के अनुसार अब यह काल-विभाजन त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो गया है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपनी अतिसरलता व स्पष्टता के कारण यह आज भी बहुप्रचलित और बहुमान्य है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक अन्य विशेषता है—पूरे भक्तिकाल को चार भागों या शाखाओं में बाँटकर उसे शुद्ध दार्शनिक एवं धार्मिक आधार पर प्रतिष्ठित कर देना। उन्होंने इस काल के समस्त साहित्य को पहले निर्गुण-धारा और सगुण-धारा में और फिर प्रत्येक को दो-दो शाखाओं—ज्ञानाश्रयी शाखा व प्रेमाश्रयी शाखा तथा रामभक्तिशाखा व

कृष्णभक्तिशाखा—में विभक्त करके न केवल साहित्यिक आलोचकों के लिए, अपितु दार्शनिक तथा धार्मिक दृष्टि से साहित्यानुसन्धान करनेवालों के लिए भी एक अत्यन्त सरल एवं सीधा मार्ग तैयार कर दिया।

इतिहासकार के रूप में आचार्य शुक्ल की सबसे बड़ी विशेषता है—कवियों और साहित्यकारों के जीवनचरित सम्बन्धी इतिवृत्त के स्थान पर उनकी रचनाओं के साहित्यिक मूल्यांकन को प्रमुखता देना। इस क्षेत्र में उन्होंने एक तो चुने हुए कवियों को ही लिया—जहाँ 'मिश्रबन्धु-विनोद' में कवि-संख्या पाँच हज़ार तक पहुँच चुकी थी, वहाँ उन्होंने उनमें से लगभग एक हज़ार को ही अपने इतिहास में स्थान दिया; फिर उनके विवेचन में उनकी साहित्यिक महत्ता व लघुता का ध्यान रखते हुए उन्हें तदनुसार ही स्थान दिया। वस्तुतः इतिहास के इतने संक्षिप्त कलेवर में भी इतने कवियों का जैसा प्रामाणिक, सारगर्भित एवं सोदाहरण विवेचन वे प्रस्तुत कर पाये हैं, उससे इतिहासकार शुक्ल की महानता प्रमाणित होती है। इसी प्रकार विभिन्न काव्यधाराओं और युगों की साहित्यिक प्रवृत्तियों के निर्धारण में भी उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। रीतिग्रन्थकारों के आचार्यत्व एवं कवित्व का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए उनकी उपलब्धियों तथा सीमाओं के सम्बन्ध में जो निर्णय आचार्य शुक्ल ने दिये, वे बहुत-कुछ अंशों में आज भी मान्य हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य-लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनका इतिहास ही कदाचित् अपने विषय का पहला ग्रन्थ है जिसमें अत्यन्त सूक्ष्म एवं व्यापक दृष्टि, विकसित दृष्टिकोण, स्पष्ट विवेचन-विश्लेषण और प्रामाणिक निष्कर्षों का सन्निवेश मिलता है। किन्तु फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि उनके द्वारा इतिहास की रचना उस समय हुई थी जबकि हिन्दी का अधिकांश प्राचीन साहित्य अज्ञात, लुप्त एवं अप्रकाशित अवस्था में पड़ा था तथा उसका प्रामाणिक अध्ययन-विश्लेषण नहीं हो पाया था। वस्तुतः इतिहासकार से यह अपेक्षा नहीं की जा सकती कि वह इतिहास की सहस्राधिक रचनाओं का स्वयं ही अनुसन्धान, अध्ययन, विश्लेषण करके उपलब्ध निष्कर्षों के आधार पर इतिहास की रचना करे, अपितु वह अन्य अनुसन्धानकर्त्ताओं द्वारा उपलब्ध तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में अपना कार्य-सम्पादन करता है; यह दूसरी बात है कि उन तथ्यों और निष्कर्षों की ऐतिहासिक व्याख्या वह अपने ढंग से स्वतन्त्र रूप में करता है। किन्तु आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के समय तो हिन्दी-अनुसन्धान का आरम्भ-मात्र ही हो पाया था—इस तथ्य की पुष्टि इस बात से होती है कि सन् १९२९ तक सारे हिन्दी-जगत् में लिखे गये शोध-प्रबन्धों की संख्या तीन-चार से अधिक नहीं थी। ऐसी स्थिति में इतिहास के जिस पक्ष का सम्बन्ध उनकी स्वतन्त्र चिन्तना एवं विवेचना-शक्ति से था, उसमें तो उन्हें स्थायी सफलता मिली, किन्तु जो पक्ष इतिहास की आधारभूत सामग्री से सम्बद्ध था, उसमें उन्हें अनुमान और कल्पना से काम लेना पड़ा, जिसका परिणाम यह हुआ कि इस पक्ष से सम्बन्धित उनके अनेक निष्कर्ष अब अप्रामाणिश सिद्ध हो गये हैं। इससे उनके इतिहास में अनेक ऐसी त्रुटियों तथा असंगतियों का प्रादुर्भाव हो गया है, जो आज़ की स्थिति में उनके इतिहास के दुर्बल पक्ष को सूचित करती हैं। इसी प्रकार वीरगाथा-काल में उल्लिखित रचनाओं के अस्तित्वहीन, अप्रामाणिक, परवर्ती या अन्य भाषा में रचित सिद्ध हो जाने के कारण भी यह काल आज अत्यन्त विवादग्रस्त हो गया है। भक्तिकाल के नामकरण और वर्गीकरण में एक कठिनाई यह हो सकती है कि धर्म-निरपेक्ष दृष्टि से राजाश्रय एवं लोकाश्रय में काव्य-रचना करनेवाले कवियों के लिए या राम-कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य अवतार या

देवी-देवता की उपासना करनेवाले भक्त कवि के लिए उसमें समुचित स्थान नहीं है। फिर भी, यह नामकरण और वर्गीकरण व्यावहारिक दृष्टि से सरल, सुगम एवं मान्य सिद्ध हुआ।

भक्तिकाल की ही भाँति रीतिकाल में भी नामकरण, सीमा-निर्धारण, परम्पराओं व काव्यधाराओं का वर्गीकरण वर्गविशेष के एकपक्षीय बोध का सूचक है जिससे इस काल के रीतिमुक्त प्रेममार्गी कवियों, वीररसात्मक काव्यों के रचयिताओं तथा राजनीति एवं वैराग्य सम्बन्धी मुक्तकों के रचयिता कवियों के साथ न्याय नहीं हो पाता। केशवदास-जैसे आचार्य कवि को 'अलंकारवादी' तथा परवर्ती रीतिकवियों को 'रसवादी' घोषित करते हुए उन्हें रीति-परम्परा के प्रवर्तक के पद से वंचित करना भी संगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहाँ एक ओर केशव ने 'रसिकप्रिया' में रस-सिद्धान्त का सांगोपांग निरूपण किया है, वहाँ दूसरी ओर रीतिकवियों ने प्रायः अलंकारों पर भी ग्रन्थ लिखे हैं। वास्तविकता यह है कि रीति-प्रतिपादन के क्षेत्र में इस काल के प्रायः सभी रीतिबद्ध कवियों ने न केवल केशवदास द्वारा प्रस्तुत विषयों का, अपितु उनकी प्रतिपादन-शैली का भी पूरी तरह अनुसरण किया है। ऐसी स्थिति में तथाकथित 'रीतिकाल' (या रीति-परम्परा) का प्रवर्तन केशव से ही मानना ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक होगा।

विभिन्न काव्यधाराओं तथा परम्पराओं के मूल उत्सों और स्रोतों के यथार्थ अनुसन्धान में शुक्ल जी का युगवादी दृष्टिकोण भी बाधक सिद्ध हुआ। उन्होंने साहित्यिक परम्पराओं और प्रवृत्तियों को युगविशेष की चित्तवृत्ति के प्रतिबिम्ब के रूप में ही ग्रहण किया, उन तत्त्वों तथा स्रोतों की उपेक्षा की जिनका सम्बन्ध पूर्व-परम्परा से है। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने पूरे मध्यकाल की विभिन्न धाराओं और प्रवृत्तियों को तद्युगीन मुस्लिम प्रभाव की देन के रूप में स्वीकार कर लिया—जैसे, भक्ति-आन्दोलन तद्युगीन निराशा की देन है, सन्त-मत इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव का सूचक है, प्रेमाख्यान-परम्परा सूफ़ी मसनवियों से अनुकृत है, आदि। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सब पर तद्युगीन वातावरण का भी आंशिक प्रभाव है, किन्तु यही सब-कुछ नहीं है; इनके विकास को सम्यक् रूप से स्पष्ट करने के लिए संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश की उन परम्पराओं पर भी विचार करना आवश्यक था जो हिन्दी की विभिन्न मध्यकालीन काव्यधाराओं के मूल में आधारभूत तत्त्व की भाँति विद्यमान हैं। वस्तुतः संस्कृत-साहित्य की पौराणिक परम्पराओं, प्राकृत-अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों व मुक्तकों की धाराओं, सिद्धों व नाथपन्थियों की गुह्य वाणियों की उपेक्षा करके मध्यकालीन हिन्दी-काव्य की विभिन्न काव्यधाराओं के वर्तमान स्वरूप की आलोचना भले ही की जा सके, किन्तु उसके आधार-स्रोतों का अनुसन्धान और उनके विकास-क्रम की ऐतिहासिक व्याख्या सम्भव नहीं है।

आचार्य शुक्ल की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा एवं प्रौढ़ विवेचना-शक्ति के महत्त्व के समक्ष नतमस्तक होते हुए भी हमें यह कटु सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि इतिहासकार शुक्ल की उपलब्धियाँ उसी सीमा तक ग्राह्य हैं जहाँ तक वे उनके आलोचक-रूप से सम्बद्ध हैं; किन्तु जहाँ वे आलोचक से पृथक् होकर शुद्ध इतिहासकार के रूप में अवतरित होते हैं, वहीं उनकी अनेक सीमाएँ स्पष्ट होने लगती हैं। अवश्य ही ये उनकी अपनी सीमाएँ न होकर इतिहास की सीमाएँ हैं, अर्थात् जिस काल-सीमा में उन्होंने कार्य किया था, उसमें कदाचित् यह सम्भव नहीं था कि इतिहास को वह रूप दिया जा सकता जो परवर्ती अनुसन्धान से उपलब्ध नूतन तथ्यों और निष्कर्षों के आलोक में सम्भव है। वस्तुतः उस युग की सीमित ज्ञानराशि को लेकर भी उन्होंने उसे जैसा रूप दिया, वह निश्चय ही उनके-जैसे

व्यक्ति के लिए ही सम्भव था। इतिहास-लेखन की परम्परा में आचार्य शुक्ल का महत्त्व सदा अक्षुण्ण रहेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

आचार्य शुक्ल के इतिहास-लेखन के लगभग एक शताब्दी बाद आचार्य हजारीप्रसा द्विवेदी इस क्षेत्र में अवतरित हुए। उनकी 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' क्रम और पद्धति के दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है, किन्तु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतन्त्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्कर्षों का प्रतिपादन किया गया है जो हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखन के लिए नयी दृष्टि, नयी सामग्री और नयी व्याख्या प्रदान करते हैं। जहाँ आचार्य शुक्ल की ऐतिहासिक दृष्टि 'युग की परिस्थितियों' को प्रमुखता प्रदान करती थी, वहाँ आचार्य द्विवेदी ने परम्परा का महत्त्व प्रतिष्ठित करते हुए उन धारणाओं को खण्डित किया जो युगीन प्रभाव के एकांगी दृष्टिकोण पर आधारित थीं। उन्होंने अत्यन्त सशक्त स्वरों में उद्घोषित किया कि भक्ति-आन्दोलन न तो तद्युगीन पराजित हिन्दू जाति की निराशा से उद्वेलित है और न ही इस्लाम की प्रतिक्रिया है; इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि सातवीं-आठवीं शती में, जबकि भारत की धरती पर इस्लाम की छाया भी नहीं पड़ी थी, दक्षिण के वैष्णव भक्तों में भक्ति अपने पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान थी। इस प्रसंग में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस्लाम के प्रभाव का खण्डन करते हुए लिखा है : "...मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, लेकिन ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आन वैसा ही होता जैसा आज है।"

इसी प्रकार उन्होंने सन्त-काव्य-परम्परा के स्रोतों का अनुसन्धान करते हुए सिद्धों औ नाथपन्थियों की वाणियों, विचार-सरणियों, पद्धतियों व काव्य-शैलियों के तुलनात्मक अध्यय द्वारा यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार कबीर आदि इनसे प्रभावित हैं। वस्तुतः भाव, विचा तर्क-पद्धति, भाषा, शैली आदि के आधार पर उन्होंने सिद्ध किया कि हिन्दी का सन्त-काव् पूर्ववती सिद्धों व नाथपन्थियों के साहित्य का सहज विकसित रूप है, अतः उसे केवल इस्ला पर आधारित मानने की आवश्यकता नहीं। हिन्दी के प्रेमाख्यानों के भी मूल स्रोतों का अनुसन्धान करते हुए उन्होंने प्रतिपादित किया है कि इनकी कथावस्तु, कथानक-रूढ़ियाँ, रचना-शैली, छन्द-योजना आदि संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश की काव्य-परम्पराओं पर आश्रित हैं।

मध्यकालीन हिन्दी-काव्य के विविध स्रोतों के अनुसन्धान के अतिरिक्त आचार्य द्विवेदी ने सन्त-साहित्य और वैष्णव-भक्तिकाव्य के ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए नया दृष्टिकोण भी प्रस्तुत किया। शास्त्रीय परम्परा के संरक्षक महाकवि तुलसीदास के महत्त्व पर बल देते हुए प्रायः अनेक इतिहासकार सन्तों को अशिक्षित, असंस्कृत व अविकसित घोषित करके उनकी अवमानना करने का प्रयास करते हैं, जबकि आचार्य द्विवेदी ने वस्तु-स्थिति की गहराई घोषित करते हुए लिखा है : "कभी-कभी हास्यास्पद भाव से कबीरदास को शास्त्र-ज्ञानहीन, सुनी सुनायी बातों का गढ़नेवाला आदि कह दिया जाता है, मानो उस युग में जुलाहे, मोची, धुनि और अन्यान्य नीची कही जानेवाली जातियों के लिए शास्त्र और वेद का दरवाज़ा खुला था और कबीरदास आदि ने जान-बूझकर उसकी अवहेलना की थी। सच पूछा जाय तो शास्त्र ज्ञान तत्त्व-ज्ञान के मार्ग में सब समय सहायक ही नहीं होता; और कभी-कभी तो युग तथोक्त नीच जातियों में से आये हुए महापुरुषों का शास्त्रीय तर्क-जाल से मुक्त होना श्रेयस्कर जान [illegible] :"

'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' के अनन्तर आचार्य द्विवेदी की इतिहास सम्बन्धी कुछ और रचनाएँ भी प्रकाशित हुई हैं— 'हिन्दी-साहित्य : उद्भव और विकास', 'हिन्दी-साहित्य का

आदिकाल' आदि । इनमें उन्होंने अपने तद्विषयक विचारों को अधिक व्यवस्थित एवं पुष्ट रूप में प्रस्तुत किया है । इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी-साहित्य के इतिहास की—विशेषत: मध्यकालीन काव्य के स्रोतों व पूर्व-परम्पराओं के अनुसन्धान तथा उनकी अधिक सहानुभूति-पूर्ण व यथातथ्य व्याख्या करने की—दृष्टि से आचार्य द्विवेदी का योगदान अप्रतिम है । वस्तुत: वे पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने आचार्य शुक्ल की अनेक धारणाओं और स्थापनाओं को चुनौती देते हुए उन्हें सबल प्रमाणों के आधार पर खण्डित किया । साथ ही उनके युग-रुचि-वादी एकांगी दृष्टिकोण के समानान्तर अपने परम्परापरक दृष्टिकोण को स्थापित करके उन्होंने हिन्दी-साहित्य के अध्येताओं के लिए एक व्यापक एवं सन्तुलित इतिहास-दर्शन की भूमिका तैयार की । वैसे, वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो किसी भी घटना, रचना या धारा की शुद्ध विकासवादी व्याख्या करने के लिए परम्परा और युग-स्थिति—दोनों पक्ष ही विचारणीय हैं । आचार्य द्विवेदी ने जहाँ परम्परा पर बल दिया, वहाँ आचार्य शुक्ल ने युग-स्थिति पर; अत: कहा जा सकता है कि दोनों के मत इस दृष्टि से एक-दूसरे के पूरक हैं ।

जहाँ तक ऐतिहासिक चेतना व पूर्व परम्परा के बोध की बात है, निश्चय ही आचार्य द्विवेदी हिन्दी के सबसे अधिक सशक्त इतिहासकार हैं । पूर्ववर्ती सांस्कृतिक धाराओं, सरणियों और पद्धतियों का जैसा गम्भीर अनुशीलन उन्होंने किया तथा मध्यकालीन जन-मानस की भाव-धाराओं में जैसी गहरी डुबकी उन्होंने लगायी है, वह किसी और के लिए सम्भव नहीं । किन्तु फिर भी, उन्होंने अपना लक्ष्य आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित इतिहास के स्थूल ढाँचे में ही अपनी धारणाओं को समेट देने तक का रखा है जबकि उसे आमूलचूल परिवर्तित कर देने की शक्ति का भी उनमें अभाव नहीं था । शुक्ल जी द्वारा स्थापित प्रथम तीन काल-खण्डों को बाह्य रूप व भीतरी आधारों की दृष्टि से पूर्णत: झकझोर देने के बाद भी उन्होंने उसे उन्मूलित कर देने का कार्य अपने हाथों से सम्पादित नहीं किया । शायद यह उनकी अहिंसक दृष्टि का परिणाम है कि वे पूर्व-व्यवस्था के सारे दोषों व अवगुणों का उद्घाटन करने के बाद भी अपनी ओर से उसमें परिवर्तन का कोई प्रयास नहीं करते । कदाचित् यही कारण है कि उनके इतिहास की रूपरेखा, काल-विभाजन-पद्धति व काव्यधारा की नियोजना बहुत-कुछ आचार्य शुक्ल के इतिहास के अनुरूप हैं ।

आचार्य द्विवेदी के ही साथ-साथ इस क्षेत्र में अवतरित होनेवाले एक अन्य विद्वान् डॉ० **रामकुमार वर्मा** ने 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' (१९३८) में ६९३ ई० से १६९३ ई० तक की कालावधि को ही लिया है । सम्पूर्ण ग्रन्थ को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यत: रामचन्द्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया गया है ।[1] इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किंचित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है, यथा—'निर्गुण ज्ञानाश्रयी शाखा', 'निर्गुण प्रेममार्गी (सूफ़ी) शाखा' जैसे लम्बे-लम्बे नामों के स्थान पर 'सन्तकाव्य', 'प्रेमकाव्य' आदि का प्रयोग किया गया है जो अधिक सुविधा-जनक है । 'वीरगाथा-काल' को 'चारणकाल' की संज्ञा देने के अतिरिक्त उससे पूर्व एक 'सन्धिकाल' और जोड़ दिया गया है । यद्यपि इस समय तक अपभ्रंश और हिन्दी का भेद भली-भाँति स्पष्ट हो चुका था तथा स्वयं डॉ० वर्मा ने भी दोनों को भिन्न-भिन्न माना है, फिर भी अपभ्रंश के सिद्ध, जैन व नाथपन्थी कवियों की वाणी को हिन्दी-साहित्य में स्थान देने का लोभ

---

[1] डॉ० वर्मा ने अपने इतिहास को इन सात प्रकरणों में विभक्त किया है संधिकाल, चारणकाल, भक्ति-काल की अनुक्रमणिका, भक्तिकाल, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य ।

वे भी संवरण नहीं कर पायें। इतना ही नहां, उन्होंने स्वयम्भू को, जो कि अपभ्रंश के सबसे पहले कवि हैं, हिन्दी का पहला कवि मानते हुए हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ६९३ ई० स्वीकार किया है। ऐतिहासिक व्याख्या की दृष्टि से यह इतिहास आचार्य शुक्ल के गुण-दोषो का ही विस्तार है, कवियों के मूल्यांकन में अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता और कलात्मकत का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य-सौन्दर्य का आख्यान करते समय लेखक की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ० वर्मा के कवि-पक्ष का संकेत देती है। शैली की इसी सरसता और प्रवाहपूर्णता के कारण उनका इतिहास पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है तथा पाठकों को इस बात का अभाव प्रायः खलता रहा है कि यह भक्तिकाल तक ही सीमित है, इसका शेष भाग अभी तक अलिखित है।

इधर **नागरीप्रचारिणी सभा** द्वारा भी 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास' प्रकाशित करने की विशाल योजना क्रियान्वित हो रही है, जिसके अन्तर्गत समस्त हिन्दी-साहित्य को सोलह भाषाओं में प्रस्तुत किया जाएगा। यद्यपि इस ग्रन्थ के लेखन के लिए कुछ सामान्य सिद्धान्तों और पद्धतियों का निर्धारण कर लिया गया है, फिर भी प्रत्येक खण्ड अलग-अलग विद्वानों के सम्पादन में तथा विभिन्न लेखकों के सहयोग से निर्मित हो रहा है तथा सम्पू ग्रन्थ के लेखन में शताधिक लेखकों का सहयोग अपेक्षित है; ऐसी स्थिति में इसकी उपलब्धियों और सीमाओं के बारे में सामान्य रूप में कुछ कहना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक खण्ड की सफलता-असफलता बहुत-कुछ उसके सम्पादक व सहयोगी मण्डल पर निर्भर है। इस दृ से अब तक प्रकाशित खण्डों में से कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए हैं, यथा—इसका भाग (रीतिकाल : रीतिबद्ध काव्य) अपने विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना जात है। समग्र रूप में यह योजना हिन्दी-साहित्येतिहास की बिखरी हुई सामग्री को सूत्रबद्ध क सकेगी, इसमें सन्देह नहीं। इतिहास के स्थूल ढाँचे के रूप में इसमें आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इतिहास को ही किंचित् संशोधित करके अपनाया गया है। अतः मूल ढाँचे के गुण-दोष इस भी अधिक व्यापक, विस्तृत एवं सबल रूप में विद्यमान रहेंगे। यदि सभी क्षेत्रों के शताधि लेखकों के स्वतन्त्र सहयोग की अपेक्षा कुछ चुने हुए अधिकारी विद्वानों के सामूहिक योग इसका निर्माण होता तो निस्सन्देह इसमें अपेक्षाकृत अधिक एकरूपता, अन्विति एवं सजीवत आ पाती।

विभिन्न विद्वानों के सामूहिक सहयोग के आधार पर लिखित इतिहास-ग्रन्थों में 'हिन्दी साहित्य' भी उल्लेखनीय है, जिसका सम्पादन **डॉ० धीरेन्द्र वर्मा** ने किया है। इसमें सम्पू हिन्दी-साहित्य को तीन कालों—आदिकाल, मध्यकाल एवं आधुनिक काल—में विभ करते हुए प्रत्येक काल की काव्य-परम्पराओं का विवरण अविच्छिन्न रूप में प्रस्तुत कि गया है। जहाँ नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा नियोजित इतिहास में आचार्य शुक्ल के इतिहा की रूपरेखा को अधिक ध्यान में रखा गया है, वहाँ इसमें यत्र-तत्र अधिक स्वतन्त्रता से का लिया गया है—यही कारण है कि इसमें हम 'रासोकाव्य-परम्परा' जैसी नयी काव्य-परम्परा को भी स्थापित देखते हैं। पर साथ ही इसमें कुछ दोष भी हैं—विभिन्न अध्यायों में विभि लेखकों ने इतिहास-लेखन की विभिन्न दृष्टियों और पद्धतियों का उपयोग किया है जिस इसमें एकरूपता, अन्विति एवं संश्लेषण का अभाव परिलक्षित होता है। फिर भी, हिन्दी साहित्य की इतिहास-लेखन की परम्परा में इसका विशिष्ट स्थान है।

उपर्युक्त इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अनेक शोध-प्रबन्ध और समीक्षात्मक ग्र लिखे गये हैं जो हिन्दी-साहित्य के सम्पूर्ण इतिहास को तो नहीं, किन्तु उसके किसी एक

अग या काल को नूतन ऐतिहासिक दृष्टि और नयी वस्तु प्रदान करते हैं। इन सब का विवेचन तो यहाँ सम्भव नहीं, किन्तु इनका संकेत अवश्य किया जा सकता है, यथा—डॉ० भगीरथ मिश्र का 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास', डॉ० नगेन्द्र की 'रीतिकाव्य की भूमिका', श्री परशुराम चतुर्वेदी का 'उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा', श्री प्रभुदयाल मीतल का 'चैतन्य-सम्प्रदाय और उसका साहित्य', डॉ० विजयेन्द्र स्नातक का 'राधावल्लभ-सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य', श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का 'हिन्दी-साहित्य का अतीत', श्री चन्द्रकान्त बाली का 'पंजाब-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास', डॉ० टीकमसिंह तोमर का 'हिन्दी-वीरकाव्य', डॉ० मोतीलाल मेनारिया-कृत 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' व 'राजस्थानी पिंगल साहित्य'; डॉ० केसरीनारायण शुक्ल, डॉ० श्रीकृष्णलाल और डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय के आधुनिक काल सम्बन्धी विभिन्न शोध-प्रबन्ध, डॉ० नलिनविलोचन शर्मा का 'साहित्य का इतिहास-दर्शन', डॉ० सियाराम तिवारी का 'मध्यकालीन खण्डकाव्य', डॉ० सरला शुक्ल, डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव, डॉ० ओम्प्रकाश शर्मा प्रभृति के प्रेमाख्यानक काव्य सम्बन्धी शोध-प्रबन्ध आदि ऐसे शताधिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जिनके द्वारा हिन्दी-साहित्य के विभिन्न काल-खण्डों, काव्य-रूपों, काव्य-धाराओं, उपभाषाओं के साहित्य आदि पर प्रकाश पड़ता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन शोध-प्रबन्धों में उपलब्ध नूतन निष्कर्षों के आधार पर अद्यतन सामग्री का उपयोग करते हुए नये सिरे से हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखा जाए। ऐसा करने के लिए आचार्य शुक्ल द्वारा स्थापित ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन करना पड़ेगा क्योंकि वह उस सामग्री पर आधारित है जो आज से ४०-४५ वर्ष पूर्व उपलब्ध थी, जबकि इस बीच बहुत-सी नयी सामग्री प्रकाश में आ गयी है। इस लक्ष्य की पूर्ति का एक प्रयास 'हिन्दी-साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में हुआ है, जिसमें साहित्येतिहास के विकासवादी सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा करते हुए उनके आलोक में हिन्दी-साहित्य की नूतन व्याख्या प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

इस प्रकार गार्सा द ताँसी से लेकर अब तक कि परम्परा के संक्षिप्त सर्वेक्षण से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि लगभग एक शताब्दी की ही अवधि में हिन्दी-साहित्य का इतिहास-लेखन अनेक दृष्टियों, रूपों और पद्धतियों का आकलन और समन्वय करता हुआ सन्तोषजनक प्रगति कर गया है। इतना ही नहीं कि हमारे लेखकों ने विश्व-इतिहास-दर्शन के बहुमान्य सिद्धान्तों और प्रयोगों को अंगीकृत किया है, अपितु उन्होंने ऐसे नये सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये हैं जिनका सम्यक् मूल्यांकन होने पर अन्य भाषाओं के इतिहासकार भी उनका अनुसरण कर सकते हैं।

हिन्दी-साहित्येतिहास के आधार

अन्त में प्रस्तुत अध्याय की समाप्ति के पूर्व हमें उन स्रोतों व आधारों पर भी दृष्टिपात कर लेना चाहिए जिनसे हिन्दी-साहित्येतिहास के लेखन में सहायता ली जाती है। इन्हें हम पाँच वर्गों में विभक्त कर सकते हैं—१. साहित्यकारों की प्रकाशित व अप्रकाशित रचनाएँ; २. साहित्यकारों व साहित्यिक रचनाओं का परिचय प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ; ३. साहित्य के विभिन्न अंगों, रूपों, धाराओं व प्रवृत्तियों की व्याख्या से सम्बन्धित आलोचनात्मक व अनुसन्धानपरक ग्रन्थ; ४. प्राचीन साहित्यकारों के काल-निर्धारण व रचना-काल के निर्णय में योग देनेवाली ऐतिहासिक सामग्री, जैसे—शिलालेख, वंशावलियाँ, प्रामाणिक उल्लेख आदि; ५. विभिन्न युगों की आन्तरिक और बाह्य परिस्थितियों व स्थितियों पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री।

उपर्युक्त वर्गों पर यहाँ क्रमशः विचार किया जा सकता है। प्रथम वर्ग के अन्तर्ग आनेवाली प्रकाशित रचनाओं की उपलब्धि तो विशेष कठिन नहीं है, किन्तु अप्रकाशित साम की उपलब्धि अवश्य दुष्कर है। नागरीप्रचारिणी सभा तथा अन्य कई साहित्यिक संस्था इस कार्य में वर्षों से लगी हुई हैं और उनके द्वारा उपलब्ध रचनाओं का विवरण खो रिपोर्टों में प्रकाशित होता है। दुर्भाग्य से इस प्रकार की सहस्राधिक रचनाएँ अभी त अप्रकाशित पड़ी हैं। द्वितीय वर्ग की प्राचीन रचनाओं में 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'भक्तमाल', 'गुरुग्रन्थ साहब', 'भक्त नामावली', 'कविमाला 'कालिदास-हज़ारा', 'सत्कवि गिरा-विलास', 'कवि नामावली', 'रागसागरोद्भव—राग कल्प द्रुम', 'शृंगार-संग्रह' आदि उल्लेखनीय हैं। इनका रचना-काल सत्रहवीं शती से लेक उन्नीसवीं शती के अन्त तक का है तथा इनसे प्राचीन और मध्यकालीन कवियों और काव्यो के सम्बन्ध में विभिन्न तथ्यों का पता चलता है। जहाँ तक आधुनिक काल के साहित्य का परिचय देनेवाले ग्रन्थों की बात है, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, डॉ० प्रेमनारायण टण्डन व अन् कई लेखकों द्वारा समकालीन लेखकों और उनकी रचनाओं के वृत्त-संग्रह निर्देशिकाओं के रूप में प्रकाशित हुए हैं, जो इतिहास-लेखक के लिए उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

काल-विभाजन और नामकरण

काल-विभाजन और नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं इनके आधार सामान्यतः इस प्रकार माने गये हैं :

१. ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रान्ति-काल आधुनिक काल आदि।
२. शासक और उसके शासन-काल के अनुसार : एलिज़ाबेथ-युग, विक्टोरिया-यु मराठा-काल आदि।
३. लोकनायक और उसके प्रभाव-काल के अनुसार : चैतन्य-काल (बांग्ला), गांधी-युग (गुजराती) आदि।
४. साहित्य नेता एवं उसकी प्रभाव-परिधि के आधार पर : रवीन्द्र-युग, भारतेन्दु-युग आदि।
५. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आन्दोलन के आधार पर: भक्तिकाल, पुनर्जागरण काल, सुधार काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम महायुद्ध के बाद का काल-खण्ड), स्वातन्त्र्योत्तर काल आदि।
६. साहित्यिक प्रवृत्ति के नाम पर : रोमानी युग, रीतिकाल, छायावाद-युग आदि।

इस प्रसंग में पहला प्रश्न तो यही है कि इस प्रकार के विभाजन की आवश्यकता क्या है ? इसका उत्तर स्पष्ट है और वह यह कि वस्तु के समग्र रूप का दर्शन करने के लि भी उसके अंगों का ही निरीक्षण करना पड़ता है : हमारी दृष्टि शरीर के विभिन्न अवयवों का अवलोकन करती हुई सम्पूर्ण व्यक्तित्व का दर्शन करती है। अवयवों को पृथक् मानक उनका निरीक्षण करना खण्ड-दर्शन है, किन्तु उनको व्यक्तित्व के अंग मानकर देखना सम दर्शन है। और, यही सहज विधि है क्योंकि निरवयव रूप का दर्शन अपने आप में कठि है। इसके अतिरिक्त जीवन या साहित्य को अखण्ड प्रवाह-रूप मानने पर भी इस बात से तो इन्कार नहीं किया जा सकता कि उसमें समय-समय पर दिशा-परिवर्तन और रूप-परि

वर्तन होता रहता है। दृष्टि की अपनी सीमाएँ होती हैं। वह सभी कुछ एक साथ नहीं देख सकती, इसलिए अंगों पर होती हुई ही अंगी का अवलोकन करती है। अतः यह बात बराबर ध्यान में रखते हुए कि साहित्य की अखण्ड परम्परा का निरूपण ही इतिहास का लक्ष्य है, समय-समय पर उपस्थित दिशा-परिवर्तनों और रूप-परिवर्तनों के अनुसार विकास-क्रम का अध्ययन करना न सिर्फ़ गलत नहीं है, बल्कि ज़रूरी भी है।

यहाँ दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि काल-विभाजन का सही आधार क्या हो सकता है? वर्ग-विभाजन प्रायः समान प्रकृति और प्रवृत्ति के आधार पर किया जाता है। समान प्रकृति के अनेक पदार्थ मिलकर एक वर्ग बनाते हैं और इस प्रकार समप्रकृति के आधार पर अनेक वर्गों में विभक्त होकर अस्तव्यस्त समूह व्यवस्थित रूप धारण कर लेता है। जिस प्रकार प्रवाह के अन्दर अनेक धाराएँ होती हैं, उसी प्रकार साहित्य में भी अनेक प्रवृत्तियाँ होती हैं; और इन प्रवृत्तियों का आदि-अन्त या उतार-चढ़ाव ही इतिहास का काल-विभाजन अर्थात् विभिन्न युगों की सीमाओं का निर्धारण करता है। यह वर्ग-विभाजन परिपूर्ण नहीं हो सकता, इसका रूप प्रायः स्थूल और आनुमानिक होता है, फिर भी समूह का पर्यवेक्षण करने में इससे बड़ी सहायता मिलती है। काल-विभाजन का आधार भी समान प्रकृति और प्रवृत्ति ही होती है। जन-जीवन की प्रवृत्तियों व रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर सामाजिक इतिहास का काल-विभाजन होता है और राजनीतिक परिस्थितियों की समानता राजनीतिक इतिहास के काल-विभाजन का आधार बनती है। इसी प्रकार साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों का साम्य-वैषम्य ही साहित्य के इतिहास के काल-विभाजन का आधार हो सकता है। समान प्रकृति और प्रवृत्तियों की रचनाओं का, कालक्रम से, वर्गीकृत अध्ययन कर साहित्य का इतिहासकार सम्पूर्ण साहित्य-सृष्टि का समवेत अध्ययन करने का प्रयत्न करता है।

इसी प्रकार नामकरण के पीछे भी कुछ-न-कुछ तर्क अवश्य रहता है अथवा रहना चाहिए। नाम की सार्थकता इसमें है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म का मुख्यतया द्योतन कर सके। इस तर्क से किसी कालखण्ड का नाम ऐसा होना चाहिए जो उसकी मूल साहित्य-चेतना को प्रतिबिम्बित कर सके। शासक के नाम पर भी काल-खण्ड का नामकरण तभी मान्य हो सकता है या हुआ है जब उस शासक-विशेष के व्यक्तित्व ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रीति से साहित्य की गतिविधि को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, एलिज़ाबेथ और विक्टोरिया—दोनों के राजनीतिक एवं सामाजिक व्यक्तित्व एवं शासन-तन्त्र ने अपने युग-जीवन को प्रभावित करते हुए साहित्य की गतिविधि पर भी गहरा प्रभाव डाला था। यही तर्क लोकनायक के विषय में है। चैतन्य या गांधी का अपने युग के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन पर गहरा प्रभाव था जो साहित्य में व्यापक रूप से मुखरित होता रहा। उधर साहित्यिक नेता भी युग-विशेष की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधि होने पर ही इस गौरव का अधिकारी होता है। शेक्सपियर, रवीन्द्रनाथ या भारतेन्दु व्यक्ति न होकर संस्था थे—युग-निर्माता थे, जिनके कृतित्व ने अपने-अपने युग की प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्तियों को प्रभावित किया था। राष्ट्रीय महत्त्व की घटना—जैसे महायुद्ध, भारतीय स्वतन्त्रता की घोषणा—अथवा किसी व्यापक आन्दोलन या प्रवृत्ति के अनुसार नाम की सार्थकता और भी अधिक स्पष्ट है: भक्ति, पुनर्जागरण अथवा राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रभाव जितना समाज पर था उतना साहित्य पर भी। और; अन्त में साहित्यिक प्रवृत्ति के विषय में तो कहना ही क्या? उसके अनुसार नामकरण की सार्थकता स्वतःसिद्ध है। कहने का अभिप्राय यह है

कि साहित्य के इतिहास में नामकरण का मूल आधार है—काल-विशेष की साहित्यिक चेत का प्रतिफलन, जिसका माध्यम सामान्यतः उस युग की सर्वप्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति ही सकती है। लेकिन यह अनिवार्य नहीं है और इस प्रसंग में एक सीमा से आगे एकरूपता प्रयत्न करना भी अधिक संगत नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कालखण्ड में को एक प्रवृत्ति समग्र साहित्य-चेतना का प्रतिनिधित्व कर सके। जहाँ ऐसा होता है वहाँ ना करण का प्रश्न आसानी से हल हो जाता है—जैसे रीतिकाल में या रोमानी युग में छायावाद-युग में। लेकिन ऐसा सदा नहीं होता। कभी-कभी कोई राष्ट्रीय सांस्कृतिक प्रवृ इतनी बलवती होती है कि वह समाज और साहित्य को एक-साथ और समान रूप प्रभावित करती है—जैसे भक्ति, पुनर्जागरण या सुधार-आन्दोलन। ऐसी स्थिति में नाम करण का आधार सांस्कृतिक प्रवृत्ति ही होगी, क्योंकि साहित्य चेतना की प्रेरक वही है इसके अतिरिक्त कभी-कभी किसी लोकनायक या साहित्य-नेता का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली होता है कि वह सम्पूर्ण युग की चेतना को व्याप्त कर लेता है: चैतन्य महाप्रभु, गांध और रवीन्द्रनाथ का व्यक्तित्व ऐसा ही था। अतः यहाँ भी साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसा नामकरण उचित नहीं होगा। किसी-किसी युग में ऐसा भी होता है कि किसी एक प्रवृत्ति प्रमुख या प्रतिनिधि प्रवृन्ति मानना सम्भव नहीं होता। वहाँ सायास किसी प्रवृत्ति को आधा मानकर नामकरण अनुचित होता है: 'वीरगाथा-काल' नाम इसका प्रमाण है;—अतः ऐ स्थिति में 'आदिकाल' जैसा निर्विशेष नाम ही अधिक उपयोगी होता है। कहने का अभिप्रा यह है कि काल-विभाजन और नामकरण में एकरूपता अनिवार्य नहीं है। आवश्यकता बात की है कि काल-विभाजन विवेक-सम्मत हो, जो साहित्य की परम्परा को सही रूप समझने में सहायक हो। साथ ही, नाम भी ऐसा होना चाहिए जो युग की साहित्य-चेतना सही ढंग से प्रतिफलन करता हो; यदि साहित्यिक नामकरण से भ्रान्ति उत्पन्न होती हो त अन्य उचित आधार ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए: नाम के लिए रूप बलिदान नहीं करना चाहिए।

रैने वैलक ने अपने निबन्ध में इस मिश्रित पद्धति की आलोचना की है: "फिर भी प्रचलित नामों का यह मिश्रित आधार कुछ-न-कुछ परेशानी अवश्य पैदा करता है। 'सुधार वाद' चर्च के इतिहास से आया है; 'मानववाद' मुख्यतः प्राचीन मानविकी विद्याओं इतिहास से; 'पुनर्जागरण' कला के इतिहास से; 'प्रजाधिपत्य'[१] और 'पुनःस्थापन'[२] का सम्ब विशेष राजनीतिक घटनाओं के साथ है। 'अठारहवीं शती' पुराना संख्यावाचक पद है जिस 'ऑमस्टन', 'नव्यशास्त्रवाद', 'पूर्व-स्वच्छन्दतावाद' आदि साहित्यिक शब्दों का अर्थ-बो होने लगा है। 'पूर्व-स्वच्छन्दतावाद' और 'स्वच्छन्दतावाद' मुख्यतः साहित्यिक शब्द हैं, जब 'विक्टोरिया-युग', 'एडवर्ड-युग' और 'जार्ज-युग' नाम-पद राजाओं के शासन-काल से ग्रह किये गये हैं। इसका अनिवार्य निष्कर्ष यह है कि नामावली राजनीति, साहित्य और क के शब्दों का गोरखधन्धा-मात्र है, जिसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।"[३]—हम विचार में यह मन्तव्य एक सीमा से आगे मान्य नहीं हो सकता। कम-से-कम व्यवहार अभी तक, केवल साहित्य-चेतना के आधार पर, काल-विभाजन तथा नामकरण में आध

---

[१] कामनवैल्थ

[२] रेस्टोरेशन

[३] थिअरी आफ़ लिट्रेचर : पेंगुइन बुक्स, १९६६, पृष्ठ २४३-२४४

की एकरूपता का निर्वाह सम्भव नहीं हुआ और उसको सायास सिद्ध कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो सकती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि अँगरेज़ी-साहित्य के सभी कालखण्डों के नाम ठीक हैं—एडवर्ड, जार्ज आदि राजाओं अथवा प्रजाधिपत्य, पुनःस्थापन आदि राजनीतिक घटनाओं के नाम पर साहित्य के इतिहास का नामकरण तो एकदम असंगत है क्योंकि ये नाम-पद किसी प्रकार की साहित्य-चेतना की व्यंजना नहीं करते। किन्तु, 'विक्टोरियन' शब्द व्यक्तिवाचक न रहकर एक विशेष जीवन-दृष्टि और साहित्य-चेतना का वाचक बन गया है और अब वह इतना अधिक अर्थगर्भित हो गया है कि उसके स्थान पर किसी दूसरे शब्द का प्रयोग करने से अनावश्यक भ्रान्ति ही हो सकती है। इसी प्रकार सांस्कृतिक नाम-पदों की भी अपनी सार्थकता है। वैलक द्वारा साहित्य-चेतना पर बल दिया जाना ठीक ही है। नामकरण के लिए प्रमुख साहित्यिक प्रवृत्ति का आधार ग्रहण करना अधिक संगत है; किन्तु प्रत्येक स्थिति में किसी युग की साहित्य-चेतना का द्योतन केवल साहित्यिक प्रवृत्ति के द्वारा ही सम्भव है—यह मानना कम-से-कम व्यवहार में कठिन हो सकता है, और है। इसलिए आधार को लचीला रखना होगा और यह मानकर चलना होगा कि कोई नाम पदार्थ के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का वाचक नहीं हो सकता। सामान्यतः नाम संकेत-मात्र होता है, विशेष परिस्थिति में प्रतीक हो सकता है, किन्तु पूर्ण बिम्ब तो वह नहीं हो सकता। इतिहास में नाम का प्रयोग प्रतीक के रूप में करना ही अधिक संगत है, और जहाँ यह सम्भावना न हो वहाँ संकेत-मात्र से काम चल सकता है: नाम में अशुद्ध या अस्पष्ट प्रतीकार्थ भरने या उसे बिम्ब का रूप प्रदान करने की चेष्टा व्यर्थ है।

उक्त विवेचन का सारांश यह है:

१. काल-विभाजन साहित्यिक प्रवृत्तियों और रीति-आदर्शों की समानता के आधार पर होना चाहिए।

२. युगों का नामकरण यथासम्भव मूल साहित्य-चेतना को आधार मानकर साहित्यिक प्रवृत्ति के अनुसार करना चाहिए; किन्तु जहाँ ऐसा नहीं हो सकता वहाँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक प्रवृत्ति को आधार बनाया जा सकता है, या फिर कभी-कभी विकल्प न होने पर निर्विशेष कालवाचक नाम को भी स्वीकार किया जा सकता है। नामकरण में एकरूपता काम्य है, किन्तु उसे सायास सिद्ध करने के लिए भ्रान्तिपूर्ण नामकरण उचित नहीं है।

३. युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरम्भ और अवसान के अनुसार होना चाहिए। जहाँ साहित्य के मूल स्वर अथवा उसकी मूल चेतना में परिवर्तन लक्षित हो और नये स्वर एवं चेतना का उदय हो, वहाँ युग की पूर्व-सीमा, और जहाँ वह समाप्त होने लगे, वहाँ उत्तर-सीमा माननी चाहिए।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में काल-विभाजन के लिए प्रायः चार पद्धतियों का अवलम्ब लिया गया है। पहली पद्धति के अनुसार, सम्पूर्ण इतिहास का विभाजन चार युगों अथवा कालखण्डों में किया गया है: १. आदिकाल, २. भक्तिकाल, ३. रीतिकाल, ४. आधुनिक काल। आचार्य शुक्ल द्वारा, और उनके अनुसरण पर नागरीप्रचारिणी सभा के इतिहासों में, इसी को ग्रहण किया गया है। दूसरे क्रम के अनुसार, केवल तीन युगों की कल्पना ही विवेकसम्मत है: १. आदिकाल, २. मध्यकाल और ३. आधुनिक काल। भारतीय हिन्दी-परिषद् के इतिहास में इसे ही स्वीकार किया गया है और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने अपने वैज्ञानिक इतिहास में इसी का अनुमोदन किया है। इसके पीछे तर्क यह है कि मध्यकालीन साहित्य की चेतना प्रायः एक है: उन्नीसवीं सदी के मध्य में या उसके आगे-पीछे उसमें कोई

ऐसा मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ जिसके आधार पर युग-परिवर्तन की मान्यता सिद्ध की सके। सन्तकाव्य, प्रेमाख्यान काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, वीरकाव्य, नीतिकाव्य, रीतिका आदि की धाराएँ पूरे मध्यकाल में पाँच शताब्दियों तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होती रहीं, उनमें उतार-चढ़ाव अवश्य आये, किन्तु मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ। हिन्दी-साहित्य के रस प्रसिद्ध इतिहासकार, डॉ० रामप्रसाद त्रिपाठी का आरम्भ से यही मत रहा है। तीसरी पद्ध साहित्य का विभाजन विधा-क्रम से करती है। इसका आधार यह है कि समस्त साहि राशि का एकत्र अध्ययन करने की अपेक्षा कविता तथा गद्य-साहित्य की विविध विधाओं इतिहास का वर्गीकृत अध्ययन साहित्यशास्त्र के अधिक अनुकूल है। इस प्रकार के अने इतिहास या खण्ड-इतिहास हिन्दी में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक और ऋजु पद्धति है जो शुद्ध कालक्रम के अनुसार वस्तुगत विभाजन को ही अधिक यथार्थ मानती है। इसके प्रवक्ताओं का तर्क है कि किसी विचारधारा अथवा साहित्यिक दृष्टिकोण का आरोपण करने से परिदृश्य विकृत हो जाता है और यथार्थ-दर्शन में बाधा पड़ती है—अतः स्वाभाविक कालक्र के अनुसार ही सामग्री का विभाजन करना समीचीन है। इस पद्धति का अवलम्बन आरम्भ में विदेशी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत कुछ-एक इतिहासों में ही आंशिक रूप से किया गया है।

इन सभी पद्धतियों के अपने गुण-दोष हैं, परन्तु यहाँ भी समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही श्रेयस्कर है। जैसा कि हमने पूर्व-विवेचन में स्पष्ट किया है, साहित्य के इतिहास में युग चेतना और साहित्य-चेतना का अनिवार्य योग रहता है। अतः साहित्य के विभाजन में ऐतिहासिक कालक्रम और साहित्य-विधा दोनों का आधार ग्रहण करना होगा। साहित्य के कथ्य, अर्थात् संवेद्य तत्त्व, के विकास का निरूपण करने के लिए सम्पूर्ण युगों को आधार मान कर चलना होगा और उसके रूप का विकास-क्रम समझने के लिए अलग-अलग विधाओं को इस समन्वित पद्धति को स्वीकार कर लेने पर हिन्दी-साहित्य के काल-विभाजन की समस्या बहुत-कुछ हल हो जाती है। सातवीं शती से ग्यारहवीं शती के बीच रचित ऐसी कृतियाँ मिलती हैं जिनकी भाषा प्रमुख रूप से हिन्दी (अर्थात् हिन्दी की कोई उपभाषा) है, और ग्यारहवीं शती तक हिन्दी अपभ्रंश के प्रभाव से प्रायः मुक्त हो चुकी थी। उस समय से लेकर चौदहवीं शती के मध्य तक हिन्दी-भूभाग के सांस्कृतिक इतिहास का प्रवाह दो परस्पर विरोधी—सामन्तीय और धार्मिक—काव्यधाराओं को लेकर एक नयी भाषा की अनगढ़ भूमि पर बहता रहा। इसके बाद भक्ति का व्यापक आन्दोलन सम्पूर्ण देश में प्रारम्भ हो गया और हिन्दी भाषी प्रदेश में नयी भाषा—हिन्दी—के विविध रूपों के माध्यम से उसकी प्रचुर अभिव्यक्ति होने लगी। यह निश्चय ही एक नये युग का उदय था जिससे सांस्कृतिक चेतना और उसके फलस्वरूप साहित्यिक चेतना में एक नया मोड़ आया। अतः यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि यहाँ से, यानी चौदहवीं शती के मध्य से साहित्य के इतिहास का दूसरा युग आरम्भ होता है। इस युग के विषय में दो मत हैं। एक के अनुसार सम्पू मध्यकाल उन्नीसवीं शती के मध्य तक चलता है और दूसरे के अनुसार इसके दो खण्ड हैं: एक—चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक और दूसरा—सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक। इनमें दूसरा मत ही अधिक मान्य है। यह ठीक है है कि सन्तकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य, नीतिकाव्य तथा वीरकाव्य की धाराएँ पूरे मध्य युग में प्रवाहित रहीं और रीतिकाव्य की रचना पूर्वार्द्ध में भी हो रही थी, परन्तु मुग़ल-वैभव का आरम्भ होते-होते, अर्थात् सत्रहवी शती के मध्य तक आते-आते, मुख्य प्रवृत्ति बदल चुकी थी। भक्ति-भावना का प्राधान्य समाप्त हो चुका था और अलंकर

तथा शृंगार-विलास की प्रवृत्ति प्रमुख बन गयी थी—यहाँ तक कि भक्तिकाव्य में भी भक्ति-भावना के क्षीण पड़ जाने से विलास तथा अलंकार-रीति का समावेश हो गया था; और इससे काव्य की चेतना तथा काव्य के रूप—दोनों में स्पष्ट अन्तर आ गया था। अतः शुक्ल जी अथवा उनके पूर्ववर्ती इतिहासकारों ने मध्य युग को दो कालखण्डों में बाँट दिया है—और यही ठीक है। इसके बाद उन्नीसवीं शती के मध्य में भारत के इतिहास में एक बहुत बड़ी घटना घटी, और वह थी सन् १८५७ की क्रान्ति। राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागरण का यह आन्दोलन वास्तव में मध्य युग की समाप्ति और आधुनिक युग के आरम्भ का पहला उद्घोष था। भारतीय चेतना में व्याप्त मध्ययुगीन संस्कार सहसा विक्षुब्ध हो उठे; भाग्यवाद पर आश्रित अकर्मण्यता की भावना, जो हर प्रकार के परिवर्तन के प्रति सशंक थी, नवीन परिस्थितियों के आघात से आन्दोलित हो उठी और जन-मानस में अपने राजनीतिक-सामाजिक स्वत्व को प्राप्त करने की आकांक्षा उत्पन्न हो गयी। इसके बाद ब्रिटिश राज्य की स्थापना हुई—खण्डों में विभक्त भारत एक संगठित राज्य बनकर विदेशी साम्राज्य का प्रमुख अंग बन गया। पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान तथा सभ्यता-संस्कृति से भारतीय मानस का सम्पर्क और संघर्ष हुआ जिसके फलस्वरूप आधुनिक युग का जन्म हुआ।[1] अतः आधुनिक युग की पूर्व-सीमा सन् १८५७ या उन्नीसवीं शती का मध्य ठीक ही है। यह युग आज एक शताब्दी पार कर चुका है—पूर्ववर्ती युगों की अपेक्षा इसमें परिवर्तन बड़ी तेज़ी से हुए हैं और आधुनिकता का रूप भी बदलता गया है। अतः इसके पूरे कलेवर को एक ही वृत्त में समेट लेना उचित नहीं होगा। आधुनिक युग का आरम्भ होने पर देश के राजनीतिक-सामाजिक जीवन और उसके प्रभाव-स्वरूप साहित्य में पुनर्जागरण की जो चेतना उत्पन्न हुई थी, वह प्रायः शताब्दी के अन्त, यानी १९०० ई०, तक चलती रही। उस समय स्थिति में फिर कुछ परिवर्तन हुआ : राष्ट्रीयता का स्वरूप स्पष्ट हुआ; देश को स्वराज्य ही चाहिए—यह भावना स्थिर हुई; सामाजिक, आर्थिक और नैतिक स्थिति में सुधार की आवश्यकता पर बल दिया गया। यह आत्म-निरीक्षण और आत्म-सुधार का समय था जब देश में 'अपने घर को ठीक करने' की भावना सर्वप्रमुख थी और उसका प्रतिफलन साहित्य में भी हो रहा था। उक्त स्थिति बीसवीं शती के दूसरे दशक के अन्त—सन् १९१८-१९—तक चलती रही, तब राजनीतिक-सामाजिक जीवन में गांधी तथा साहित्य में गांधी व रवीन्द्र दोनों के प्रभाव से एक मोड़ फिर आया और अन्तर्मुख आदर्शवाद की एक नवीन चेतना का उदय हुआ। यह चेतना भी चौथे दशक के अन्त में—१९३८-३९ के आसपास—गांधी के प्रभाव के साथ क्षीण हो गयी और इसके स्थान पर एक अत्यन्त भिन्न यथार्थवादी सामाजिक चेतना का अविर्भाव हुआ, जिसमें देश में बढ़ते हुए समाजवादी प्रभाव का गहरा रंग था। तब से अब तक तीन दशाब्द और बीत चुके हैं : इस अवधि में भी नया लेखक दो-तीन बार—सन् '५३ और '६० में—युग-परिवर्तन की घोषणा कर चुका है, परन्तु अत्यधिक सामीप्य के कारण इस विषय में अभी कुछ निर्णय देना कठिन होगा।

नामकरण की समस्याएँ : इस सन्दर्भ में अन्तिम प्रश्न है युगों के नामकरण का। आचार्य शुक्ल ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर उनका नामकरण क्रमशः इस प्रकार किया है : १. वीरगाथा-काल, २. भक्तिकाल, रीतिकाल और ४. आधुनिक काल। उन्होंने जॉर्ज ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं से कुछ संकेत अवश्य ग्रहण किये हैं,

---

[1] देखिए 'हिन्दी-साहित्य', भाग ३, सम्पादक : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ ६५०

परन्तु काल-विभाजन और नामकरण की अन्तिम तर्कपुष्ट व्याख्या उनकी अपनी है। इ से भक्तिकाल और आधुनिक काल को तो यथावत् स्वीकार कर लिया गया है, परन्तु वी गाथा-काल और रीतिकाल के विषय में विवाद रहा है। 'वीरगाथा-काल' नाम के वि अनेक आपत्तियाँ की गयी हैं जिनमें प्रमुख यह है कि जिन वीरगाथाओं के आधार पर शु जी ने यह नामकरण किया है, उसमें से कुछ अप्राप्य हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएँ है इनके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है, उसमें सामन्तीय और धार्मि तत्त्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विविधता और अव्यवस् है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। ऐ स्थिति में आदिकाल-जैसा निर्विशेष नाम, जो भाषा और साहित्य की आरम्भिक अवस् मात्र का द्योतन करता है, विद्वानों को अधिक मान्य है—और मैं समझता हूँ कि इस कोई विकल्प नहीं है। 'रीतिकाल' के विषय में मतभेद की परिधि सीमित है। वहाँ विवा का विषय इतना ही है कि उस युग के साहित्य में रीति-तत्त्व प्रमुख है या शृंगार-तत्त्व प्राचुर्य दोनों का ही है, पर इन दोनों में भी अधिक महत्त्व किसका है ? हमारा विचार कि जिस युग में रीति-तत्त्व का समावेश केवल शृंगार में ही नहीं, भक्तिकाव्य और वीर काव्य में भी हो गया था—अथवा यह कहें कि जीवन का स्वरूप ही बहुत-कुछ रीतिबद्ध हो गया था—उसका नाम 'रीतिकाल' ही अधिक समीचीन है। इसके विकल्प 'शृंगारका में अतिव्याप्ति है, क्योंकि शृंगार का प्राधान्य तो प्रायः सभी युगों में रहा है : वह काव्य एक प्रकार से सार्वभौम तत्त्व है, अतः उसके आधार पर नामकरण अधिक संगत नहीं होगा इस युग का शृंगार रीतिबद्ध था, अतः रीति ही यहाँ प्रमुख है।

आधुनिक काल को शुक्ल जी ने तीन चरणों में विभक्त किया है और उन्हें प्रथ द्वितीय तथा तृतीय उत्थान कहा है। प्रथम और द्वितीय उत्थान के विषय में उन्होंने संकेत भी कर दिया है कि इन्हें क्रमशः 'भारतेन्दु-काल' और 'द्विवेदी-काल' भी कहा सकता है।[1] तीसरे उत्थान को, कदाचित् उसके प्रवाहमय रूप के कारण, उन्होंने कोई ना नहीं दिया। पहला काल-खण्ड जीवन और साहित्य में पुनर्जागरण का युग था, जब अतीत गौरव-भावना के परिप्रेक्ष्य में नवजागरण की चेतना विकसित हो रही थी; अतः इ 'पुनर्जागरण-काल' नाम दिया जा सकता है और चूँकि भारतेन्दु के व्यक्तित्व और कृतित्व में जिन्होंने अपने जीवन-काल में इस युग का नेतृत्व किया और जिनका प्रभाव मरणोपरान्त भी बना रहा, यह चेतना सम्यक् प्रतिफलित हो रही थी, इसलिए इसका नामकरण उनके नाम प भी करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। प्रायः इसी पद्धति और युक्ति से द्वितीय उत्थान का नामकरण भी किया जा सकता है : उसे हम औचित्यपूर्वक 'जागरण-सुधार-काल' य विकल्पतः 'द्विवेदी-युग' कह सकते हैं। तीसरे चरण की सर्वप्रमुख साहित्य-प्रवृत्ति है—छाया वाद, अतः उसका उचित नाम 'छायावाद-काल' ही हो सकता है। उसका परवर्ती का हमारे अत्यन्त निकट है और उसकी मूल चेतना इतनी जल्दी-जल्दी बदल रही है कि किसी एक स्थिर आधार को लेकर उसका नामकरण नहीं किया जा सकता। आरम्भ में प्रगतिवा का दौर था जो कुछ ही वर्षों में समाप्त हो गया। इसके कुछ बाद प्रयोगवाद का आविर्भा हुआ जो थोड़े समय तक इसके समानान्तर चलकर १९५३ के आसपास नवलेखन में परिण

---

[1] शुक्ल जी का सीमांकन कुछ भिन्न है—उन्होंने पच्चीसी का हिसाब रखा है, पर वह यथार्थ स्थिति अनुकूल नहीं है, उसमें थोड़ा-बहुत संशोधन कर लेना अनुचित न होगा।

हो गया। अत्याधुनिक लेखन का दावा है कि नवलेखन का युग भी सन् १९६० के बाद खत्म हो गया है और इसके बाद की साहित्य-चेतना यथार्थ-बोध की प्रखरता के कारण अपनी पूर्ववर्ती साहित्य-चेतना से भिन्न है। अतः इस अस्थिर, और त्वरित गति से बढ़ते हुए, साहित्य-प्रवाह को किसी एक नाम में बाँधा जाए या नहीं ?—यह प्रश्न है। कुछ आलोचक पूर्वार्द्ध को 'प्रगति-प्रयोग-काल' और उत्तरार्द्ध को 'नवलेखन-काल' कहना चाहते हैं और कुछ इस पूरे काल-खण्ड को 'छायावादोत्तर काल' के नाम से अभिहित करते हैं। इनमें से पहले दोनों नाम कुछ अधिक निश्चित और भावात्मक और तीसरा नाम उतना ही अनिश्चित तथा अभावात्मक लगता है। पहले दोनों नामों में प्रमुख प्रवृत्तियों को रेखांकित किया गया है; जबकि दूसरा छायावाद के अवशिष्ट प्रभाव, विस्तार तथा विरोधी प्रतिक्रिया को अधिक महत्त्व देता है। स्वतंत्रता की प्राप्ति इसी युग की घटना है, पर यह साहित्यिक चेतना को कोई नया मोड़ नहीं दे सकी, इसलिए नामकरण में उसकी कोई विशेष संगति नहीं है। अतः निर्णय उक्त दोनों विकल्पों के बीच ही करना है। सन् १९३८-३९ से आरम्भ होनेवाले वर्तमान युग का उपविभाजन किया जाए या नहीं ? यदि इस तर्क के आधार पर कि इतिहास को बहुत छोटे-छोटे खण्डों में विभक्त करने से समग्र दर्शन में बाधा आती है, अथवा यह मानकर कि समसामयिक साहित्य का स्वरूप स्थिर होने में कुछ देर लगती है, वर्तमान युग को एक नाम ही देना है तो 'छायावादोत्तर काल' नाम अभावात्मक होते हुए भी असंगत नहीं है।

इस लक्ष्य को आधार मानकर हिन्दी-साहित्य का काल-विभाजन तथा नामकरण सामान्यतः इस प्रकार किया जा सकता है :

आदिकाल—सातवीं शती के मध्य से चौदहवीं शती के मध्य तक।
भक्तिकाल—चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक।
रीतिकाल—सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक।
आधुनिक काल—उन्नीसवीं शती के मध्य से अब तक :

(१) पुनर्जागरण-काल (भारतेन्दु-काल)	१८५७–१९०० ई०
(२) जागरण-सुधार-काल (द्विवेदी-काल)	१९००–१९१८ ई०
(३) छायावाद-काल	१९१८–१९३८ ई०
(४) छायावादोत्तर काल	
(क) प्रगति-प्रयोग-काल	१९३८–१९५३ ई०
(ख) नवलेखन-काल	१९५३ ई० से अब तक

अध्याय :

आदिकाल

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ

हिन्दी-साहित्य के आरम्भ का प्रश्न हिन्दी भाषा के आरम्भ से जुड़ा हुआ है। इस भाषा का विकास एक जन-भाषा के रूप में हुआ है। कोई भी जन-भाषा अपने प्रवाह की अक्षुण्णता में सदा एकरूप नहीं रह सकती। स्थान और काल के भेद से उसमें रूप-भेद भी स्वतः उत्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उन रूपों की तात्त्विक समानता सुरक्षित रहती है तब तक वे एक ही भाषा का बोध कराते हैं। हिन्दी भाषा ने भी स्थान और काल के भेद से अपनी दीर्घ यात्रा में अनेक रूप धारण किये हैं। मगही, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, कन्नौजी, बघेलखण्डी, बुन्देलखण्डी, ब्रज, खड़ीबोली, बांगरू, मेवाती, हाड़ौती, मारवाड़ी, मेवाड़ी, ढूंढारी, मालवी, भीली, खानदेशी, पहाड़ी आदि उसके अनेक रूप-भेद पाये जाते हैं; किन्तु इन सब में तात्त्विक समानता विद्यमान है। आजकल इन भाषा-रूपों को स्थान-भेद से स्मरण किया जाता है; किन्तु काल-भेद से भी इन रूपों में अन्तर है। कुछ शताब्दियों पूर्व का ब्रज या मैथिली का रूप आज यथावत् नहीं मिलता; किन्तु तात्त्विक समानता के आधार पर पूर्व-काल के वे रूप भी ब्रज या मैथिली ही माने जाते हैं और उन सब रूपों में रचित साहित्य भी हिन्दी का ही साहित्य कहा जाता है।

अतः भाषा के रूप-भेद को भुलाकर तात्त्विक परिवर्तन के आधार पर ही एक भाषा के अन्त और दूसरी भाषा के आरम्भ का इतिहास स्वीकार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। इसी दृष्टि से अपभ्रंश को एक अलग भाषा मानकर उसके समानान्तर तात्त्विक आधार पर भिन्न रूप में विकसित भाषा को पृथक् नाम देने की आवश्यकता है। यद्यपि अपभ्रंश अपने मूल रूप में पन्द्रहवीं शताब्दी तक साहित्य की भाषा बनी रही, तथापि आठवीं शताब्दी से ही बोलचाल की भाषा पृथक् होकर उसके समानान्तर साहित्य-रचना का माध्यम बन गयी थी। इसी भाषा को कुछ विद्वानों ने 'उत्तर अपभ्रंश' या 'पुरानी हिन्दी' कहा है और कुछ विद्वानों ने 'अवहट्ठ' नाम दिया है। परन्तु वास्तविकता यह है कि वह भाषा 'हिन्दी' है, उसे 'उत्तर अपभ्रंश' या 'अवहट्ठ' नाम देना भ्रम उत्पन्न करना है। जिन विद्वानों ने ये नाम दिये हैं, वे भी अपने मत के अन्तर्गत प्रायः उक्त तथ्य का समर्थन करते रहे हैं। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी पहले विद्वान् हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि 'उत्तर अपभ्रंश' ही

पुरानी हिन्दी है।[1] यहाँ 'उत्तर' शब्द काल का बोधक न होकर साहित्यिक अपभ्रंश से इतर बोलचाल की उस भाषा का बोधक है, जो साहित्यिक अपभ्रंश के एक रूप की स्वीकृति के पश्चात् उसके बाद के रूप में स्थापित होती जा रही थी।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गुलेरी जी के लेख के आधार पर अपने इतिहास में आदिकाल के अन्तर्गत 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को यह मानते हुए भी स्थान दिया कि उनके आधार पर उस काल की कोई विशेष प्रवृत्ति निर्धारित नहीं की जा सकती।[2] राहुल सांकृत्यायन ने भी 'उत्तर अपभ्रंश' की रचनाओं को हिन्दी की रचनाएँ माना है। 'हिन्दी के प्राचीन कवि और उनकी कविताएँ' लेख में उन्होंने हिन्दी-कविता का आदि-रूप नालन्दा और विक्रमशिला के सिद्धों द्वारा बौद्ध धर्म के वज्रयान तत्त्व के प्रचार की भाषा में सिद्ध किया है।[3] इसी प्रकार डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी 'हिंन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में गुलेरी जी और राहुल जी के मतों को स्वीकार करते हुए 'उत्तर अपभ्रंश' के कवियों को स्थान दिया है।

शुक्ल जी के साथ कुछ-कुछ सहमत होते हुए भी डॉ० श्यामसुन्दरदास तथा डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपभ्रंश-काव्य का विवेचन आदिकाल के भीतर करते रहे हैं। द्विवेदी जी ने अपभ्रंश और हिन्दी के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त किया है: "इस प्रकार दसवीं से चौदहवीं शताब्दी का काल, जिसे हिन्दी का आदिकाल कहते हैं, भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का ही बढ़ाव है। इसी अपभ्रंश के बढ़ाव को कुछ लोग उत्तरकालीन अपभ्रंश कहते हैं और कुछ लोग पुरानी हिन्दी।...बारहवीं शताब्दी तक निश्चित रूप से अपभ्रंश भाषा ही पुरानी हिन्दी के रूप में चलती थी, यद्यपि उसमें नये तत्सम शब्दों का आगमन शुरू हो गया था।"[4] इस प्रकार वे अपभ्रंश को हिन्दी से अलग रखना चाहते हैं, फिर भी उन्होंने अपभ्रंश के उत्तरकालीन साहित्य को आदिकाल की सामग्री मानकर उसका विवेचन किया है। उनके वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि 'उत्तर अपभ्रंश' हिन्दी का ही आरम्भिक रूप है। उनके अनुसार अपभ्रंश में शब्दों के तद्भव रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति थी, किन्तु जब उसमें तत्सम रूपों के प्रयोग की प्रवृत्ति विकसित होने लगी तब एक नयी भाषा का रूप उभरा, जिसे हिन्दी कहना चाहिए। वस्तुतः, जनभाषा होते हुए भी, हिन्दी की यही एक ऐसी प्रवृत्ति है जो अपभ्रंश के बाद भी अब तक निरन्तर बढ़ती रही है। अतः जिन विद्वानों ने अपभ्रंश के अतिरिक्त 'अवहट्ठ' का झगड़ा खड़ा किया है, वे हिन्दी के आरम्भिक विकास को उसके आगे की धारा से काट देना चाहते हैं। यह ठीक है कि वे 'उत्तर अपभ्रंश' को शुद्ध अपभ्रंश नहीं मानते, किन्तु उसे आरम्भिक हिन्दी न मानना एक भ्रम है। अधिकांश विद्वान् 'अवहट्ठ' को पृथक् भाषा मानने के पक्ष में नहीं हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने हिन्दी के आरम्भिक रूप को ही 'अवहट्ठ' कहा है[5]; और यही अधिक समीचीन है, क्योंकि जिसे कुछ विद्वान् 'अवहट्ठ' कहना चाहते हैं, वही अपभ्रंश का ऐसा रूप है जिसमें हिन्दी की सभी आरम्भिक प्रवृत्तियाँ एकसाथ मिलती हैं तथा साहित्यिक अपभ्रंश से जिसका गहरा विद्रोह भी झलकता है।

अतः हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की सामग्री में 'उत्तर अपभ्रंश' की सभी रचनाएँ आ जाती हैं। उन्हें हिन्दी-साहित्य से निकालकर अपभ्रंश के साहित्य में स्थान देना चा

---

[1] देखिए 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', नवीन संस्करण, भाग २

[2] देखिए 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', वक्तव्य, पृष्ठ ३

[3] देखिए 'गंगा' पत्रिका, जनवरी १९३३ के अंक में राहुल जी का लेख

[4] हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ २१

[5] देखिए 'हिन्दी-साहित्य का बृहत् इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ ३६५

'अवहट्ठ' का नया इतिहास खड़ा करना उचित नहीं है। इस दृष्टि से सिद्धों की रचनाओं ही हिन्दी-साहित्य का आरम्भ मानना युक्तिसंगत है। उनके साहित्य की भाषा अपभ्रंश 'उत्तरभाषा-रूप' की सूचना देती है तथा साहित्यिक अपभ्रंश से खुलकर विद्रोह कर रहा

साहित्य के आरम्भ का निर्णय भाषा के आधार पर तो किया ही जा सकता है, इ अतिरिक्त एक दूसरा तत्त्व भी है जिसे हम साहित्य की चेतना कह सकते हैं। सिद्धों की रचना में यह तत्त्व नये रूप में विकसित होता हुआ दिखायी देता है तथा अपभ्रंश के साहित्य उनका खुला विद्रोह भी झलकता है। सिद्धों की वस्तु-दृष्टि जिस धार्मिक चेतना पर आधारित उसका सीधा सम्बन्ध 'नाथ-साहित्य' से होता हुआ हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों से जुड़ता है अगर हम 'सिद्ध-नाथ-साहित्य' को हिन्दी-साहित्य से हटाकर अपभ्रंश-साहित्य में रख दें, तो फि हिन्दी का समस्त भक्ति-साहित्य 'जड़' और 'तने' से कटे वृक्ष की तरह निराधार हो जाएगा

अतः भाषा के विकास की आरम्भिक स्थिति तथा उत्तरवर्ती धार्मिक चेतना के रूप को ध्यान में रखकर सिद्ध-साहित्य से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ मानना पूर्णतः युक्तिसं है। साथ ही यह भी आवश्यक है कि उसके समानान्तर लिखे गये साहित्यिक अपभ्रंश के से उसे सावधानीपूर्वक पृथक् रखा जाए, क्योंकि कई विद्वानों ने दोनों को एक मानने की भूल की है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कई सिद्धों ने एकसाथ अपभ्रंश और 'आरम्भि हिन्दी' में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। अतः ऐसे कवियों की रचनाएँ दो वर्गों में विभाजित जाती हैं, और उसी आधार पर उनकी गणना यदि एक ओर अपभ्रंश-साहित्य के इतिहास की गयी है, तो दूसरी ओर 'आरम्भिक हिन्दी' में भी साहित्य लिखने के कारण उनका ना हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आ जाता है। दो या अधिक भाषाओं में रचना करने की प्रवृत्ति बहुत समय तक चलती रही। विद्यापति का साहित्य इसका प्रमाण है। अतः एक कवि को अपभ्रंश का कवि मान लेने के पश्चात् उसकी कुछ रचनाओं में प्रारम्भिक हिन्दी प्रयोग देखकर उसे हिन्दी का आरम्भिक कवि मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता।

प्रथम कवि : अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि हिन्दी का प्रथम कवि किसे मा जाए ? डा० शिवसिंह सेंगर ने सातवीं शताब्दी में उत्पन्न 'पुष्य' या 'पुण्ड' नामक किसी क को हिन्दी का प्रथम कवि माना था। किन्तु इस कवि का उल्लेख-मात्र मिलता है, अभी त उसकी कोई रचना उपलब्ध नहीं हुई। राहुल जी ने सातवीं शताब्दी ईस्वी के सरहपाद हिन्दी का प्रथम कवि माना है। वे ८४ सिद्धों में से एक थे। उनकी कविता में अपभ्रंश साहित्यिक रूप छूट गया है तथा बोलचाल की भाषा, जो आरम्भिक हिन्दी है, प्रयुक्त हुई है वर्ण्य विषय और चेतना की दृष्टि से भी उनका काव्य हिन्दी-साहित्य के भक्तिकाल बीजांकुर है। ८४ सिद्धों की काव्य-चेतना के अनेक तत्त्व नाथ-सम्प्रदाय की काव्य-चेतना विलीन होकर एक नयी प्रेरणा बने और फिर दोनों ने भक्तिकाव्य की आधार-भूमि तैया की। सिद्ध-साहित्य से नाथ-साहित्य का विकास हुआ और नाथ-साहित्य की प्रेरणा से भक्ति कालीन सन्त-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रथम कवि कबीर माने जाते हैं। सरहपाद काव्य-परम्परा में विकसित नाथपन्थ का हठयोग कबीर के काव्य में इतना अधिक पल्लवि हुआ है कि सरहपाद के काव्य की आदि-स्थिति को नकारा नहीं जा सकता। साहित्यि अपभ्रंश में जो साहित्य विकसित हुआ उस पर सरहपाद का उतना प्रभाव नहीं है जित नाथ-साहित्य और सन्त-साहित्य पर है। एक तीसरा आधार और है जिस पर हम सरहपा को प्रथम हिन्दी-कवि के रूप में प्रतिष्ठित कर सकते हैं, वह है शैली की परम्परा का। सरहपा ने दोहा और पदों की शैली अपनी कविता में प्रयुक्त की है। यह शैली उनके बाद के स

हिन्दी-कवियों ने परम्परा के रूप में अपनायी है। हिन्दी-मुक्तक-काव्य में दोहा सबसे अधिक प्रिय छन्द रहा है। अतः सभी दृष्टियों से सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि माना जा सकता है।

जो विद्वान् सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि नहीं मानना चाहते, उनके पास अपने मत के समर्थन के लिए केवल दो तर्क हैं: प्रथम तर्क वे यह प्रस्तुत करते हैं कि सरहपाद की रचनाएँ अपभ्रंश-साहित्य का अंग है और दूसरा तर्क यह कि सरहपाद के समय से ग्यारहवीं शताब्दी तक हिन्दी की रचना-परम्परा नहीं मिलती। ये दोनों तर्क निराधार हैं। सत्य यह है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखनेवाले विद्वानों में कोई भी ऐसा नहीं है जिसने कबीर-दास से हिन्दी-साहित्य का आरम्भ व्यावहारिक रूप में स्वीकार किया हो। यों डॉ० हजारी-प्रसाद द्विवेदी, डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त प्रभृति एक-दो विद्वानों ने अपभ्रंश और हिन्दी के मध्य निर्णायक रेखा खींचना कठिन मानकर यह इच्छा प्रकट की है कि भक्तिकाल से ही हिन्दी-साहित्य का आरम्भ माना जाए, किन्तु वे भी अपनी इस इच्छा का अनौचित्य समझते रहे हैं और इसी कारण उन रचनाओं का आदिकाल के अन्तर्गत विवेचन करने को बाध्य हुए है जिन्हें वे अपभ्रंश की रचनाएँ कहते हैं। डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त ने इस सन्दर्भ में अपने 'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में 'भरतेश्वर-बाहुबलीरास' के रचयिता शालिभद्र सूरि को हिन्दी का प्रथम कवि माना है, जो तर्कसम्मत नहीं है। इस प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है कि सरहपाद की भाषा हिन्दी का प्रारम्भिक रूप है या शालिभद्र सूरि की भाषा? दोनों के उदाहरणों से स्वतः ही इसका उत्तर मिल जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि सरहपाद की भाषा अपेक्षाकृत हिन्दी के अधिक निकट है—

सरहपाद :

(अ) *घोर अँधारे चन्दमणि जिमि उज्जोअ करेइ।*
परम महासुह ऐखु कण, दुरिअ अशेष हरेई॥
(आ) *पण्डिअ सअल सन्त बक्खाणइ, देहहि रुद्ध बसन्त न जाणइ।*
अमणागमण ण तेन विखण्डिअ, तोवि णिलज्ज भणइ हउँ पण्डिअ॥

शालिभद्र सूरि :

(अ) *तं जि पहिय पिक्खेविणु पिअ उवकंसिरिय।*
मन्थर गय सरलाइवि उत्तावलि चलिय।
तुह मणहर चल्लंतिय चंचल रमण भरि।
छुड़वि खिसिय रसणावलि किंकिण रव पसरि॥
(आ) *उपनूँ ए केवल नाण तउ विरहइ रिसहे सिउ ए।*
आविउ ए भरह नरिन्द सिउँ अवधापुरि ए॥

रही परम्परा की बात, तो उसके लिए ग्रन्थों का उतना महत्त्व नहीं; जितना चेतना, भावना और विचारणा का है क्योंकि इन्हीं से साहित्य का अस्तित्व माना जाता है, न कि मात्र ग्रन्थ-संख्या से। इस दृष्टि से सरहपाद की देन अधिक महत्त्वपूर्ण है—उनकी भावधारा सिद्धों और नाथों से होती हुई कबीर तक अपनी परम्परा बनाती है, जबकि शालिभद्र सूरि की देन इस सन्दर्भ में नगण्य है। अतः सरहपाद को ही हिन्दी का प्रथम कवि मानना तर्कसंगत है।

प्रथम रचना : हिन्दी के प्रथम कवि सरहपाद की जो रचनाएँ मिली हैं वे सभी मुक्त हैं; अतः प्रथम रचना के नाम पर किसी एक पुस्तक को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । म पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 'हिन्दी-काव्य-धारा' में सरहपाद की कुछ रचनाओं का सं किया है, उसी के आधार पर उनकी हिन्दी-रचना का एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है :

जह मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह पवेश ।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उवेश ।।
पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ ।।

यद्यपि इस उद्धरण में अपभ्रंश भाषा के व्याकरण की प्रवृत्तियाँ भी मिलती हैं, तथा हिन्दी के रूप की झलक ही अधिक स्पष्ट है, साथ ही डॉ० द्विवेदी ने तत्समता की जिस प्रवृ को हिन्दी भाषा का मूल रहस्य माना है, वह भी 'पवन', 'रवि', 'शशि', 'वट', चित्त' आ शब्दों में स्पष्टतः देखी जा सकती है । अन्य सिद्ध कवियों ने भी सरहपाद की इस भाषा-प्रवृ का अनुकरण किया है । राहुल ने सरहपाद का समय ७६९ ई० माना है तथा डॉ० विनयतो भट्टाचार्य ने ६३३ ई० बताया है । डॉ० रामकुमार वर्मा इसी आधार पर लिखते हैं : "सात शताब्दी से ही हम सिद्धों की रचनाओं को अपनी भाषा के प्रारम्भिक रूप में पाते हैं । रचनाओं के वर्ण्य विषय हठयोग, मन्त्र, मद्य और स्त्री हैं जो वज्रयान के मुख्य रूप हैं । भा अपभ्रंश-मिश्रित है, जिसमें सिद्धान्तों के मिश्रण के कारण काव्योत्कर्ष हो नहीं सकता । वस्तुतः डॉ० वर्मा ने काव्योत्कर्ष का जो अभाव देखा है, वह सिद्धान्तों के मिश्रण के का तो है ही, इन सिद्धान्तों के प्रतिपादनार्थ अपभ्रंश भाषा का मिश्रण भी इसके लिए उत्त दायी रहा है । अतः आरम्भिक रचना की दृष्टि से काव्योत्कर्ष का उतना महत्त्व नहीं जितनी महत्त्वपूर्ण बात है काव्य-भाषा के रूप में किसी रचना में हिन्दी का प्रयोग; और प्रयोग सरहपाद की रचनाओं में ही प्रथम बार मिलता है ।

यदि एक ग्रन्थ के रूप में हिन्दी की प्रथम रचना का निर्धारण करना हो, तो सरहपा आदि सिद्धों की मुक्तक कविताओं के पश्चात् जैन-आचार्य देवसेन-कृत 'श्रावकाचार' ग्रन्थ नाम लिया जा सकता है । इसमें सरहपाद की दोहा-शैली का विकसित रूप मिलता है देवसेन ने इस ग्रन्थ में २५० दोहों में श्रावक धर्म का वर्णन किया है । गृहस्थ-धर्म उस ग्रं का केन्द्र है, अतः इसमें साहित्यिक तत्त्वों का अभाव नहीं है । इस दृष्टि से ग्रन्थ-रूप में हिन्दी की प्रथम साहित्यिक रचना है ।

सीमांकन

सरहपाद को हिन्दी का प्रथम कवि मान लेने से हिन्दी-साहित्य के आरम्भ की सी आठवीं शताब्दी ईस्वी (७६९ ई०) निश्चित हो जाती है । यह सीमा राहुल सांकृत्यायन मत पर आधारित है । ग्रियर्सन, शिवसिंह, मिश्रबन्धु, गुलेरी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी डॉ० रामकुमार वर्मा इससे बहुत दूर तक सहमत हैं । दूसरा पक्ष उन विद्वानों का है हिन्दी-साहित्य का आरम्भ ईसा की दसवीं शताब्दी के अन्तिम सात वर्षों से मानते हैं । विद्वानों का नेतृत्व आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है । उनके मत से मुंज और भोज के

---

१. हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ७८

९९३ ई० से पुरानी हिन्दी का प्रयोग शुद्ध साहित्य में हुआ। किन्तु शुक्ल जी ने पुरानी हिन्दी को ही 'प्राकृताभास हिन्दी' या 'अपभ्रंश' भी कहा है तथा जिन बारह कृतियों के आधार पर वीरगाथा-काल का नामकरण किया है, उनमें भी वे अपभ्रंश की चार कृतियाँ बतलाते हैं एवं आगे चलकर वीरगाथा-काल को अपभ्रंश-काल एवं देशभाषा-काव्य में विभाजित करके सरह-ाद, देवसेन आदि कवियों का परिचय देते हैं। अतः अप्रत्यक्षतः वे स्वयं भी वीरगाथा-काल ें सम्बोधित 'आदिकाल' की सीमा सरहपाद तक पीछे लौटाते हैं।

जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के आदिकाल की आरम्भिक सीमा विवादग्रस्त रही है, ेन्तु इस सत्य से—अप्रत्यक्षतः ही सही—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे विद्वान् भी सहमत हे हैं कि सिद्धों और जैन कवियों की कई रचनाओं को उसके बाहर नहीं रखा जा सकता; ुसी प्रकार उसकी अन्तिम सीमा भी विवादग्रस्त अवश्य है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास का ाल-विभाजन करनेवाले प्रथम इतिहासकार डॉ० ग्रियर्सन हैं। उन्होंने आदिकाल की अन्तिम ीमा १४०० ई० तक मानी है। मिश्रबन्धुओं ने एतदर्थ १३८९ ई० का वर्ष स्वीकार किया । रामचन्द्र शुक्ल आदिकाल की अन्तिम सीमा १३१८ ई० तक मानते हैं। डॉ० रामशंकर ुक्ल 'रसाल' उसे १३४३ ई० तक ले गये हैं, किन्तु डॉ० रामकुमार वर्मा शुक्ल जी से सह-त हैं। अन्य इतिहासकार भी अधिकांशतः शुक्ल जी से ही सहमत हैं। यह ठीक है कि शुक्ल ी ने विद्यापति को आदिकाल के अन्तर्गत रखा है; और विद्यापति का रचना-काल १३७५ ० से १४१८ ई० के मध्य माना जाता है; और इस दृष्टि से आदिकाल की अन्तिम सीमा ४१८ ई० निर्धारित की जा सकती है; किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि भक्तिकाल में जिन वृत्तियों का विकास हुआ, उनकी भूमिका विद्यापति के पूर्व ही पूर्ण हो चुकी थी। अतः ्द्यापति को भक्तिकाल में रखकर चौदहवीं शताब्दी के मध्य को आदिकाल की अन्तिम सीमा ानना ही समीचीन होगा। दूसरे शब्दों में, शुक्ल जी द्वारा निर्धारित १३१८ ई० के बाद ी दो-तीन दशाब्द तक आदिकालीन साहित्य-सामग्री का प्रसार माना जा सकता है।

ामकरण की समस्या

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वीरगाथा-काल का समय ९९३ ई० से १३१८ ई० तक ाना था, क्योंकि वे इस कालावधि में वीरगाथाओं की रचना-प्रवृत्ति को प्रधान मानकर चले । लेकिन हमने जिन आधारों पर चलकर ७६९ ई० से चौदहवीं शताब्दी के मध्य तक ादिकाल माना है, उनसे वीरगाथा-प्रवृत्ति की प्रधानता अस्वीकृत हो जाती है; अतः शुक्ल ी द्वारा दिया गया 'वीरगाथा-काल' नाम भी उचित नहीं रह जाता। अन्य कई विद्वानों ने ले भी इस नाम पर आपत्ति की है। अतः अब प्रश्न यह है कि आदिकाल को किस नाम पुकारा जाए? जहाँ तक अन्य विद्वानों के मतों का प्रश्न है, वे उसे चारण-काल (ग्रियर्सन), रम्भिक काल (मिश्रबन्धु), आदिकाल (डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डॉ० रसाल), सन्धि-ल एवं चारण-काल (डॉ० रामकुमार वर्मा), सिद्ध-सामन्त-काल (राहुल), वीर-काल विश्वनाथप्रसाद मिश्र) आदि कई नामों से पुकारते रहे हैं।

ग्रियर्सन से पूर्व 'भक्तमाल', 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की र्ता' आदि कतिपय कवि-वृत्त-संग्रह लिखे गये थे, जिनमें काल-विभाजन और नामकरण की र कोई दृष्टि नहीं गयी थी। आधुनिक काल में फ्रांस के विद्वान् गार्सां द तासी ने 'इस्त्वार ला लितरेत्युर एन्दुई ऐन्दुस्तानी' लिखा, जिसमें हिन्दी-उर्दू के ७३८ कवियों का वृत्त ृहीत है। इसमें भी काल-विभाजन और नामकरण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया

था। 'तासी' के पश्चात् मौलवी करीमुद्दीन ने 'तज़किरा-ई-शुअराई-हिन्दी' नामक इतिहास लिखा, जिसमें प्रथम बार काल-क्रम का तो ध्यान रखा गया, किन्तु काल-विभा और नामकरण की कोई चेष्टा नहीं की गयी। हिन्दी के सबसे अधिक कवियों परिचय प्रथम बार ठा० शिवसिंह ने अपने 'शिवसिंह-सरोज' ग्रन्थ में प्रस्तुत कि जिसमें अकारादि क्रम अपनाया गया, इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि के अभाव के कारण का विभाजन एवं नामकरण की समस्या उसमें भी नहीं आ सकी। वस्तुतः काल-विभाजन के नामकरण करनेवाले प्रथम इतिहासकार डॉ० ग्रियर्सन ही हैं, किन्तु उनका दिया है 'चारण-काल' नाम नितान्त अनुपयुक्त है। इस काल का समय तो वे ६४३ ई० तक पीछे गये हैं, किन्तु उस समय की किसी चारण-रचना या चारण-प्रवृत्ति की रचना का वे उल्ले नहीं कर सके। वस्तुतः इस प्रकार की रचनाएँ १००० ई० तक मिलती ही नहीं ग्रियर्सन के पश्चात् मिश्रबन्धुओं ने अपने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में ६४३ ई० से १३८७ ई० के आदिकाल को 'प्रारम्भिक काल' नाम दिया, जो एक सामान्य संज्ञा है; उसके पीछे कि प्रवृत्ति आदि का आधार नहीं है। उन्होंने अपने 'विनोद' में प्रारम्भिक काल के पीछे 'हि भाषा' को अवश्य ध्यान में रखा है, इसलिए अध्यायों के अन्तर्गत 'पूर्व प्रारम्भिक हिन्द (६४३ ई०—१२९० ई०), 'चन्द-पूर्व की हिन्दी' (६४३ ई०—११४३ ई०), 'रासो-का (११४३ ई०—१२९० ई०), 'उत्तर आरम्भिक हिन्दी' (१२९१ ई०—१३८७ ई०) आ नाम दिये हैं। किन्तु इन नामों से भी आदिकाल की कोई उपयुक्त संज्ञा नहीं बनती।

मिश्रबन्धुओं के इतिहास के पश्चात् शुक्ल जी का इतिहास आदिकाल के निम्नांकित आधार पर 'वीरगाथा-काल' नाम लेकर उपस्थित हुआ :

> "प्राकृत की अन्तिम अपभ्रंश-अवस्था से ही हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव मा जा सकता है।···अपभ्रंश या प्राकृताभास हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना तान्त्रिक और योगमार्गी बौद्धों की साम्प्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सात शताब्दी के अन्तिम चरण से लगता है। मुंज और भोज के समय (संवत् १०५ लगभग) में तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार शुद्ध साहित्य काव्य-रचनाओं में भी पाया जाता है। अतः हिन्दी-साहित्य का आदिकाल सं १०५० से लेकर १३७५ तक, अर्थात् महाराजा भोज के समय से लेकर हम्मीर के समय के कुछ पीछे तक, माना जा सकता है।···आदिकाल की इस दीर्घ पर के बीच प्रथम डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निरू नहीं होता है—धर्म, नीति, शृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मि हैं। इस अनिर्दिष्ट लोक-प्रवृत्ति के उपरान्त जब से मुसलमानों की चढ़ाइयों आरम्भ होता है तब से हम हिन्दी-साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती पाते हैं। राजाश्रित कवि···अपने आश्रयदाता राजाओं के पराक्रम-पूर्ण चरि गाथाओं का वर्णन करते थे। यही प्रबन्ध-परम्परा रासो के नाम से पायी जा जिसे लक्ष्य करके इस काल को हमने 'वीरगाथा-काल' कहा है।"[1]

निस्सन्देह शुक्ल जी ने जनता की चित्तवृत्तियों के साथ कवि की मनोवृत्तियों के वर्तन को आधार बनाकर वीरगाथा-काल नाम दिया है, जिसको तर्कसंगत कहा जा है; किन्तु उसकी परिधि बहुत संकीर्ण हो जाती है। आठवीं शताब्दी ईस्वी से आरम्भ

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४-५

वाला वह साहित्य उससे छूट जाता है, जिसे भले ही शुक्ल जी ने साम्प्रदायिक काव्य कहकर छोड़ दिया हो, किन्तु जो हिन्दी-साहित्य का अनिवार्य अंग है। साथ ही, खुसरो और विद्यापति तक भी वीरगाथा की प्रवृत्ति का विस्तार नहीं हो पाता। एक दूसरी बात यह भी है कि जिन रासो-काव्यों को वीरगाथा-काव्य माना जाता है, उनका वर्तमान रूप तो अप्रामाणिक है ही, कुछ आलोचक उन्हें सर्वांश में भी परवर्ती काल की रचनाएँ सिद्ध करते हैं। अतः रचनाओं की संख्या गिनाकर 'वीरगाथा-काल' नाम सिद्ध नहीं किया जा सकता। शुक्ल जी ने यह तथ्य स्वयं भी स्वीकार किया है: "इस काल की जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असन्दिग्ध है और कुछ सन्दिग्ध। असन्दिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है, उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृताभास (प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत-कुछ बद्ध) हिन्दी है।"[1] इससे स्पष्ट है कि वे स्वयं भी रासो-ग्रन्थों को सन्दिग्ध सामग्री मानते थे। उसी सन्दिग्ध सामग्री में प्राप्त चित्त-वृत्ति को आधार मानकर उन्होंने वीरगाथा-काल नाम दिया, जिसे तर्क-सम्मत कैसे कहा जा सकता है?

डॉ० श्यामसुन्दरदास ने शुक्ल जी के मत का समर्थन किया है, किन्तु उसके अनुसार उन्होंने ग्रन्थ में विषय का वर्णन नहीं किया, अपितु प्रत्येक प्रवृत्ति का आदिकाल से आधुनिक काल तक का विकास दिखलाया है। फलतः वे आदिकाल के नामकरण की समस्या से बच गये हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी शुक्ल जी द्वारा दिये गये नाम से सहमत नहीं हैं। वे धार्मिक रचनाओं को भी साहित्य का अंग मानने का तर्क देते हैं। अतः जिन रचनाओं को शुक्ल जी ने साम्प्रदायिक रचनाएँ कहकर छोड़ दिया है, उन्हें द्विवेदी जी महत्त्वपूर्ण घोषित करते हैं। वस्तुतः शुक्ल ज़ी का तर्क निराधार है, क्योंकि धार्मिक रचनाओं में यदि साहित्य का तत्त्व नहीं हो सकता, तब तो समस्त भक्तिकालीन साहित्य को धार्मिक काव्य होने के कारण हिन्दी-साहित्य के इतिहास से निकाल देना पड़ेगा। अस्तु, वीरगाथाओं से इतर काव्य भी जनता की चित्तवृत्ति का ही प्रतीक है तथा आदिकाल का नामकरण करते समय उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

डॉ० रामकुमार वर्मा ने आदिकाल को संधिकाल और चारणकाल—इन दो खण्डों में विभाजित कर दिया है। प्रथम काल भाषा की ओर संकेत करता है और द्वितीय नाम एक वर्ग का बोध कराता है। स्पष्ट है कि ये दो नाम मिलकर भी किसी प्रवृत्ति को आधार नहीं बनाते। अतः नामकरण के सम्बन्ध में उनका मत निराधार है। राहुल जी द्वारा दिया गया 'सिद्ध-सामन्त-काल' नाम केवल दो वर्गों की ओर संकेत करता है। सिद्ध स्वयं रचनाकार थे, जबकि सामन्त रचना-प्रेरक थे। यह संयोग भी तर्कसम्मत तो है ही नहीं, साथ ही कई महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों की रचनाओं की भी उपेक्षा करता है। नाथपन्थी और हठयोगी कवियों तथा खुसरो आदि की काव्य-प्रवृत्तियों का इस नाम में समावेश नहीं होता। विश्वनाथप्रसाद मिश्र द्वारा दिया गया 'वीर-काल' नाम केवल शुक्ल जी के नाम का रूपान्तर है, जो नवीनता से चौंकाता तो है, परन्तु कोई तथ्य नहीं प्रस्तुत करता।

वास्तव में 'आदिकाल' ही ऐसा नाम है जिसे किसी-न-किसी रूप में सभी इतिहासकारों ने स्वीकार किया है तथा जिससे हिन्दी-साहित्य के इतिहास की भाषा, भाव, विचारणा, शिल्प-भेद आदि से सम्बद्ध सभी गुत्थियाँ सुलझ जाती हैं। इस नाम से उस व्यापक पृष्ठभूमि का बोध होता है, जिस पर आगे का साहित्य खड़ा है। भाषा की दृष्टि से हम इस

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८

काल के साहित्य में हिन्दी के आदि-रूप का बोध पा सकते हैं, तो भाव की दृष्टि से इ भक्तिकाल से आधुनिक काल तक की सभी प्रमुख प्रवृत्तियों के आदिम बीज खोज सकते। जहाँ तक रचना-शैलियों का प्रश्न है, उनके भी वे सभी रूप, जो परवर्ती काव्य में प्रयुक्त अपने आदि-रूप में मिल जाते हैं। इस काल की आध्यात्मिक, शृंगारिक तथा वीरता प्रवृत्तियों का ही विकसित रूप परवर्ती साहित्य में मिलता है। अतः 'आदिकाल' ही अधिक उपयुक्त एवं व्यापक नाम है।

परिवेश

साहित्य मानव-समाज की भावात्मक स्थिति और गतिशील चेतना की अभिव्य है। अतः उसके प्रेरक तत्त्व के रूप में मनुष्य के परिवेश का बहुत महत्त्व है। किसी भी का के साहित्येतिहास को समझने के लिए उस परिवेश को ठीक प्रकार से समझना अत्य आवश्यक होता है। इसी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य के इतिहास के साथ तत्काल राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों को जानना अपेक्षित है।

राजनीतिक स्थिति : जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिकाल की अवधि ७ ई० से १४१८ ई० तक है। इस काल की राजनीतिक परिस्थिति वर्द्धन-साम्राज्य के प से आरम्भ होती है। अन्तिम वर्द्धन-सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय से ही उत्तरी भारत पर यव आक्रमण आरम्भ हो गये थे। हर्षवर्द्धन ने दृढ़ता से उनका सामना किया, किन्तु आक्रम की उस आँधी को वह रोक न सका। उसकी समस्त शक्ति उस प्रतिरोध में ही समाप्त गयी। उसके साथ ही वर्द्धन-साम्राज्य भी लड़खड़ा उठा। हर्षवर्द्धन की मृत्यु ने भारत संगठित सत्ता के खण्ड-खण्ड हो जाने की सूचना दी तथा वे राजपूत-राज्य सामने आये, निरन्तर युद्धों की आग में जलते-जलते अन्ततः विशाल इस्लाम-साम्राज्य की नींव में समा आठवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक के भारतीय इतिहास की राजनी परिस्थिति हिन्दू-सत्ता के धीरे-धीरे क्षय होने तथा इस्लाम-सत्ता के धीरे-धीरे उदय होने करुण कहानी है। इसी ने उस मनःस्थिति को जन्म दिया था जिसमें कोई भी एक प्रवृ साहित्य में प्रधान न हो सकी।

यवन-शक्तियों के आक्रमण का प्रभाव मुख्यतः पश्चिम एवं मध्यप्रदेश पर ही था। इन्हीं क्षेत्रों की जनता युद्धों तथा अत्याचारों से विशेषतः आक्रान्त हुई थी। यही क्षेत्र था, जहाँ हिन्दी भाषा का विकास हो रहा था। अतः इस काल का समस्त हिन्दी-साहि आक्रमण और युद्ध के प्रभावों की मनःस्थितियों का प्रतिफलन है।

आदिकाल के इस युद्ध-प्रभावित जीवन में कहीं भी सन्तुलन नहीं था। जनता विदेशी आक्रान्ताओं के अत्याचारों के साथ-साथ युद्ध-कामी देशी राजाओं के अत्याचारों क्रम भी बढ़ता चला गया। वे परस्पर लड़ने लगे और प्रजा पीड़ित होने लगी। पृथ्वीरा चौहान, जयचन्द, परमर्दिदेव आदि की पारस्परिक लड़ाइयाँ अन्तहीन कथाएँ बनती गयीं फलतः यदि जनता में एक ऐसे वर्ग का उदय हुआ जो साहस और वीरता के साथ लड़ते जीना चाहता था, तो एक दूसरा ऐसा वर्ग भी पनपा जो विनाश-लीला देख-देखकर संसार बातें सोचने को बाध्य था। अराजकता, गृह-कलह, विद्रोह, आक्रमण और युद्ध के वाताव में यदि एक कवि आध्यात्मिक जीवन की बातें करता था, तो दूसरा मरते-मरते भी जी का रस भोग लेना चाहता था। एक तीसरा ऐसा भी कवि था जो तलवार के गीत गा गौरव के साथ जीना चाहता था। यही इस काल की राजनीतिक परिस्थितियों की एक विशि

देन है, जिसके फलस्वरूप यदि स्त्री-भोग, हठयोग से लेकर आध्यात्मिक पलायन और उपदेशों तक का साहित्य एक ओर लिखा गया, तो दूसरी ओर ईश्वर की लोक-कल्याणकारी सत्ता में विश्वास करने, लड़ते-लड़ते जीने और संसार को सरस बनाने की भावना भी साहित्य-रचना के मूल में सन्निहित हुई।

सम्राट् हर्षवर्द्धन का दरबार संस्कृत के कवियों और पण्डितों से भरा रहता था। अपभ्रंश और जन-भाषा (भाषा) के कवियों को उस समय कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता था। किन्तु, राजपूतों की राजधानियाँ स्थापित हो जाने के पश्चात् लोक-भाषा का आदर बढ़ने लगा। मध्यप्रदेश में फिर भी स्थिति विपरीत ही बनी रही। वहाँ प्रतिहार और गाहड़वार राजा वैदिक भावना के समर्थक बने रहे। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "वे बाहर से बुला-बुलाकर अनेक ब्राह्मण-वंशों को दान देकर काशी में बसा रहे थे। संस्कृत को उन्होंने बहुत प्रोत्साहन दिया।"[1] इस प्रकार उचित प्रोत्साहन के अभाव में लोक-भाषा के कवियों को काव्य-रचना के अनुकूल वातावरण नहीं मिलता था। जो कवि धार्मिक भावना से अनुप्राणित थे, वे ही किसी की परवाह किये बिना काव्य-साधना करते थे; किन्तु जो कवि राजाश्रित हो जाते थे, उन्हें अपने राजा को प्रसन्न करने के लिए काव्य-रचना करनी पड़ती थी। धर्म और राजाश्रय से मुक्त रहकर कविता करनेवाले कवियों की प्रतिभा के विकास के लिए उचित वातावरण नहीं था।

धार्मिक स्थिति : ईसा की छठी शताब्दी तक देश का धार्मिक वातावरण शान्त था। विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों में परस्पर मेल-जोल बढ़ने लगा था। वैदिक यज्ञ, मूर्ति-पूजा तथा जैन एवं बौद्ध उपासना-पद्धतियाँ एकसाथ चल रही थीं। किन्तु सातवीं शताब्दी के साथ देश की धार्मिक परिस्थितियों में परिवर्तन आरम्भ हुआ। इस समय आलम्वार और नायम्बार सन्त दक्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर एक धार्मिक आन्दोलन लाये। ६४२ ई० में जब ह्वेनसाँग ने दक्षिण भारत की यात्रा की तो वहाँ बौद्ध धर्म के पतन की झलक पाकर वह बहुत दुःखी हुआ था। उत्तर भारत में भी इस समय यह प्रभाव आ रहा था। वैष्णव मत इस समय अधिक प्रतिष्ठित नहीं था, अतः जनता में या तो जैन मत सम्मान पा रहा था या शैव मत। फल यह हुआ कि शैव और जैन मत आगे बढ़ने की होड़ में परस्पर टकराने लगे थे। बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव आन्दोलन तीव्र होने लगा था और शैव आन्दोलन ने भी नया रूप ले लिया था। फलतः जैन मत के प्रचारकों की शक्ति घटने लगी थी। राजपूत राजा अहिंसामूलक मतों में विश्वास नहीं करते थे। उन पर शैव मत का प्रभाव अधिक था। मध्यदेश के गाहड़वार राजा स्मार्त थे तथा मालवा के राजा वैदिक धर्म के समर्थक थे। गंगा और नर्मदा के अन्तराल में कलचुरि वंश शैव मत के प्रचार में लगा हुआ था। इसी वंश के प्रतापी राजा कर्ण के प्रभाव से काशी शैव-साधना का केन्द्र बनी हुई थी। धीरे-धीरे स्मार्त मतानुयायी जनता भी शैव होती जा रही थी। वस्तुतः समस्त उत्तर भारत में धीरे-धीरे शैव मत बौद्ध एवं स्मार्त प्रभावों को स्वीकार करता हुआ एक नया रूप लेने लगा था। नाथ मत का उदय इसी रूप से हुआ। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार, "हिमालय के पाद-देश में प्रचलित नाथ-पूजा बौद्ध धर्म को प्रभावित करके वज्रयान शाखा के नाम से प्रसिद्ध हो चुकी थी।"[2]

डॉ० ईश्वरीप्रसाद के विचार से इस समय राजपूत-शौर्य के उदय के कारण ब्राह्मण

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ३७

[2] हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ४०

धर्म की विजय-पताका सर्वत्र फहरा रही थीं[1], किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्ध भी रूप बदल-बदलकर अपनी जड़ें गहरी करने के लिए सर्वत्र प्रयत्नशील था। उसकी यान शाखा के मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने, ध्यान-धारणा आदि के अनेक प्रभाव निम्न स्तर के पर छाये हुए थे। जनता हिन्दू-साधुओं की जितनी प्रतिष्ठा करती थी, उतनी ही बौद्ध संन्यासियों की भी थी। इनके प्रभाव से मनुष्यों में आत्मविश्वास की कमी होती रही थी। शैव साधकों का बढ़ता हुआ प्रभाव इस दिशा में और अधिक सहायक हुआ। जनता को चौरासी लाख योनियों में भटकने का भय दिखाकर निरुत्साहित करने लगे धार्मिक स्थानों की दुर्दशा हो चली थी। व्यभिचार, आडम्बर, अर्थ-लोभ आदि जिन दोषों बौद्ध विहारों में प्राधान्य हो गया था, उन्हीं से हिन्दू-मन्दिर भी ग्रस्त हो चले थे। पुजा एवं महन्त धर्म के सच्चे स्वरूप से अपरिचित होते जा रहे थे तथा अधिकार एवं धन का मन प्रबल हो चला था। सोमनाथ मन्दिर पर किये गये आक्रमण में महमूद की सफलता जहाँ एक ओर शैव एवं जैन संघर्ष की सूचना मिलती है, वहाँ उससे मन्दिरों में बढ़े हुए एवं धन-संग्रह का भी परदा खुलता है।

देश-व्यापी धार्मिक अशान्ति के इस काल में एक बाहरी धर्म इस्लाम का प्रवेश कम महत्त्व नहीं रखता है। अशिक्षित जनता के सामने अनेक धार्मिक राहें बनती जा थीं, किन्तु राह दिखानेवाले लोग ईमानदार नहीं थे। बौद्ध संन्यासी यौगिक चमत्कारों प्रभाव दिखा रहे थे। वैदिक एवं पौराणिक मतों के समर्थक खण्डन-मण्डन की भूल-भुलैयों पड़े थे। उधर जैन धर्म पौराणिक आख्यानों को नये ढंग से गढ़कर जनता की आस्थाओं नया प्रभाव जमा रहा था। वैष्णवों की धार्मिक कथाएँ जैन-कथाएँ बनती जा रही थीं। प्रकार नास्तिकता आस्तिकता का आवरण ओढ़कर जनता में भ्रान्त वातावरण बना रही वैष्णवों के राम और कृष्ण, जिन्होंने पौरुष में विश्वास करके युद्ध को भी धर्म का अंग किया था, जैन धर्म की दीक्षा लेते हुए दिखाये जाने लगे थे। उधर बौद्धों का वामाचार आश्रमों में प्रविष्ट हो चला था। कुल मिलाकर विभिन्न धर्मों के मूल रूप लुप्त हो चले तथा यह कहना कठिन हो गया था कि किसी धर्म की निश्चित साधना-पद्धति का स्वरूप है! हाँ, मति-भ्रम का अन्त करनेवाली एक दार्शनिक लहर दक्षिण भारत से अवश्य आ रही जिसके प्रचारक शंकराचार्य थे। उनके अद्वैतवाद का प्रचार उत्तर भारत को एक नयी प्राण- दे रहा था। यह वायु बढ़ती ही गयी। रामानुज, निम्बार्क आदि आचार्यों ने ज्ञान और प्रधान आध्यात्मिकता का प्रसार किया, किन्तु जन-जीवन पर पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त से उसका प्रभाव अधिक गहरा रंग नहीं ला सका। तात्पर्य यह कि आदिकाल की धार्मिक स्थितियाँ अत्यन्त विषम तथा असन्तुलित थीं। जन-मानस पर गहरा असन्तोष, क्षोभ तथा छाया हुआ था। कवियों ने इसी मानसिक स्थिति के अनुरूप खण्डन-मण्डन, हठयोग, एवं शृंगार का साहित्य लिखा।

सामाजिक स्थिति : पूर्वोक्त राजनीतिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का सामाजिक परिस्थितियों पर भी बहुत गहरा प्रभाव पड़ रहा था। जनता शासन तथा दोनों ओर से निराश्रित होती जा रही थी। युद्धों के समय उसे बुरी तरह पीसा जाता वह ईश्वर की ओर दौड़ती थी, तो सर्वत्र भ्रम और असहायता की स्थिति मिलती जाति-पाँति के बन्धन कड़े होते जा रहे थे। उच्च वर्ण के लोग भोग करने के लिए

---

[1] देखिए 'हिस्ट्री ऑफ़ मेडिवल इंडिया' (१९४५), पृष्ठ ३०

निर्धन वर्ण के लोग मानो श्रम करने के लिए ही पैदा हुए थे। नारी भी भोग्या-मात्र रह गयी थी। वह क्रय-विक्रय एवं अपहरण की वस्तु बनती जा रही थी। सामान्य जन के लिए शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं थी। साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने के कारण साहित्य और शास्त्र का ज्ञान सामान्य जाति की नारियों व पुरुषों के लिए अप्राप्य बना दिया गया था। सती-प्रथा भी इस समय के समाज का एक भयंकर अभिशाप थी। फलतः सामान्य जाति की नारी के लिए पुरुष का जीवन और मृत्यु दोनों ही भयंकर घटना बन जाते थे। अनेक प्रकार के अन्धविश्वास बढ़ते जा रहे थे। साधु-संन्यासियों के शापों और वरदानों की ओर लोगों की दृष्टि रहने लगी थी। योगियों का गृहस्थों पर भयंकर आतंक छाया हुआ था। जीवन-यापन के साधन दुर्लभ होते जा रहे थे तथा निर्धनता सदा घेरे रहती थी। भाँति-भाँति के पूजा-पाठ, तन्त्र-मन्त्र तथा जप-तप करके भी लोग दुर्भिक्ष, युद्ध तथा महामारियों से संकट नहीं टाल पाते थे। सामाजिक परिस्थिति की इस विषमता में जीनेवाली जनता भाव के स्तर पर निरन्तर ऐसे विचारों की प्यासी रहती थी, जो उसे सान्त्वना देकर मानसिक शान्ति की ओर बढ़ा सकें। हिन्दी के कवियों को जनता की इस स्थिति के अनुसार काव्य-रचना की सामग्री जुटानी पड़ी।

सांस्कृतिक परिस्थिति : हिन्दी-साहित्य का आदिकाल उस समय आरम्भ हुआ जब भारतीय संस्कृति उत्कर्ष के चरम शिखर पर आरूढ़ हो चुकी थी; और जब उसने भक्तिकाल को अपना दायित्व सौंपा, उस समय भारत में मुस्लिम संस्कृति के स्वर्ण-शिखर स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार आदिकाल को दो संस्कृतियों के संक्रमण एवं ह्रास-विकास की गाथा कहा जा सकता है।

भारत में मुस्लिम संस्कृति के परिवेश के समय यहाँ की विभिन्न जातियों, मतों, आचारों-विचारों आदि में दीर्घ काल से चली आती हुई समन्वय की एक व्यापक प्रक्रिया पूर्णता को पहुँच रही थी। हर्षवर्द्धन के विशाल साम्राज्य ने हिन्दू धर्म और संस्कृति को राष्ट्रव्यापी एकता का आधार दिया था। इस आधार पर छोटे-मोटे भेद-भाव अस्त हो गये थे तथा स्वाधीनता एवं देशभक्ति के भाव दृढ़ होने लगे थे। संगीत, चित्र, मूर्ति, स्थापत्य आदि कलाओं में जातीय गौरव की भावना अभिव्यक्त हो रही थी। स्थापत्य के क्षेत्र में विशेषतः मन्दिरों का निर्माण धार्मिक सद्भाव का द्योतक था। भुवनेश्वर, खजुराहो, पुरी, सोमनाथपुर, वेलोर, कांची, तंजौर आदि स्थानों पर अनेक भव्य मन्दिर आदिकाल के आरम्भ के समय ही बनाये गये थे। आबू का जैन मन्दिर, जो भारतीय स्थापत्य का बेजोड़ नमूना है, ग्यारहवीं शताब्दी की महत्त्वपूर्ण देन है। इस शताब्दी तक हर हिन्दू के लिए उसका समस्त जीवन धार्मिक कर्त्तव्यों का प्रतिरूप था। उसका समस्त चरित्र धर्म-भावना से प्रेरित रहता था। संगीत, मूर्ति, चित्र आदि कलाओं में भी वह अपनी धार्मिकता की ही अभिव्यंजना करता था। अरब इतिहासकार अलबरूनी भारतीय कलाओं में धार्मिक भावनाओं की ऐसी व्यापक अभिव्यक्ति देखकर चकित रह गया था। उसने लिखा है : "वे (हिन्दू) कला के अत्यन्त उच्च सोपान पर आरोहण कर चुके हैं। हमारे लोग (मुसलमान) जब उन्हें (मन्दिर आदि को) देखते हैं, तो आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वे न तो उनका वर्णन कर सकते हैं, न वैसा निर्माण ही कर सकते हैं।"[1] महमूद गज़नवी भी भारतीय संस्कृति की श्रेष्ठता पर मुग्ध हुआ था। शास्त्रों एवं कलाओं के अनुशीलन में तल्लीन तत्कालीन जन-जीवन उसके लिए ईर्ष्या का विषय बन गया था। किन्तु, देश के भाग्य की विडम्बना यह रही कि शताब्दियों से श्रेष्ठता की साधना

---

[1] हिस्ट्री ऑफ़ मुस्लिम रूल इन इंडिया, डॉ० ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ २२

में तल्लीन वह जीवन-महमूद जैसे आक्रान्ताओं की विजयाकांक्षा का कोप-भाजन बन गया औ शताब्दियों तक उस कोप से मुक्ति न मिली। राजपूत राजाओं ने प्रतिरोध के लिए युद्ध किये, किन्तु अपनी रक्षा का ध्येय बहुत कम समय तक प्रधान रहा; उनके लिए राज्य ए व्यक्तिगत गौरव की रक्षा का नशा अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया।

यद्यपि फ़ारस और अरब में आठवीं-नवीं शताब्दी से ही तसव्वुफ़ का प्रचार हो था, किन्तु आदिकाल के अन्त तक भी भारत में उसका पूर्ण प्रभाव न आ सका। यहाँ आक्रान्ता आये, वे तसव्वुफ़ की उदार भावनाओं के समर्थक नहीं थे। इसलिए इस्लाम का तत्त्व, जो संघर्षरत दो जातियों में उदारता पैदा करता, भारतीय संस्कृति का पोषक तत्त्व बन सका। स्पष्टतः दो संस्कृतियाँ एक-दूसरे के सामने मानसिक तनाव की स्थिति में खड़ी एक-दूसरी को शंका की दृष्टि से देखती रहीं। आदिकाल में भारतीय संस्कृति का जो स्वरू मिलता है, वह परम्परागत गौरव से विच्छिन्न तथा मुस्लिम संस्कृति के गहरे प्रभाव से निर्मि है। तत्कालीन जन-जीवन के हर स्वरूप पर इस संस्कृति की व्यापक छाप मिलती है। उत्सव मेले, परिधान, आहार, विवाह, मनोरंजन आदि सब में मुस्लिम रंग मिल गया है। संगीत, चित्र वास्तु एवं मूर्ति-कलाओं पर एक ऐसा परदा मिलता है जिसके भीतर भारतीय परम्परा धीरे-धीरे क्षय होती गयी है। इस काल में संगीत के क्षेत्र में नये प्रयासों का प्रतीक सन् १२३७ ई में रचित 'संगीतरत्नाकर' नामक ग्रन्थ है। यह अवश्य है कि इस्लामी संगीत के माध्यम से इ काल में कुछ नये वाद्ययन्त्रों से भारतीय संगीत का परिचय हुआ, जिनमें सारंगी, तबला ए अलगोजा मुख्य हैं। गायन, वादन और नृत्य पर ती स्पष्टतः मुस्लिम प्रभाव की गहरी छा मिलती है, किन्तु ये कलाएँ भी युद्धों के कारण विशेष आदर नहीं पा सकीं। इन्हें राजदरबारों में प्रतिष्ठा तब मिली, जब मुस्लिम शासन की नींव सुदृढ़ होने लगी और तभी मुस्लिम बादशाह का अनुकरण करके हिन्दू राजाओं ने भी अपने दरबारों में इन कलाओं को प्रवेश दिया। स्थापत के क्षेत्र में इस काल में ऊँची मीनारें (यथा—कुतुब मीनार). तथा ऊँचे दरवाज़े—जो मस्जिदों में मिलते हैं—बनाये गये, जिन पर स्पष्टतः मुस्लिम कला का गहरा प्रभाव है।

चित्रकला के क्षेत्र में इस काल के अन्त में जो थोड़ा-बहुत कार्य हुआ, उस पर भी मुस्लिम प्रभाव पाया जाता है। हिन्दू कलाकार अजन्ता की शैली को भूलते जा रहे थे। मुस्लिम विचारों और भावनाओं को भारतीय रेखाओं में अटपटे रंगों में भर रहे थे। राजपू राजाओं के दरबार में मुस्लिम प्रभाव से चित्रकला की जो शैली आरम्भ हुई, उसका विका आदिकाल के पश्चात् ही अधिक हो सका।

जहाँ तक मूर्तिकला का प्रश्न है, मुस्लिम शासक मूर्ति-पूजा के विरोधी थे। आदिका के आरम्भ तक निर्मित अधिकांश मूर्तियाँ धर्म से प्रभावित थीं। अतः इस्लामी शासन की स्थापना से मूर्तिकला को दुहरा धक्का लगा। एक तो पुरानी मूर्तियाँ नष्ट-भ्रष्ट की गयीं दूसरे नयी मूर्तियों के निर्माण की सम्भावना कम हुई। राजपूत राजाओं को भी मूर्तिकला विकास के लिए न तो अवसर मिलता था, न उनमें उतनी रुचि ही शेष रह गयी थी।

इस प्रकार आदिकाल की भारतीय संस्कृति उत्कर्ष-प्राप्त निजी परम्परा के ह्रास त इस्लाभ के सम्मिश्रण की एक ऐसी कहानी है, जिसमें कलात्मक चेतना का मुक्त और जीव स्वरूप बहुत कम मिलता है।

साहित्यिक वातावरण : इस काल में साहित्य-रचना की तीन धाराएँ बह रही थीं प्रथम धारा संस्कृत-साहित्य की थी, जो एक परम्परा के साथ विकसित होती जा रही थी दूसरी धारा का साहित्य प्राकृत एवं अपभ्रंश में लिखा जा रहा था। तीसरी धारा हिं

भाषा में लिखे जानेवाले साहित्य की थी। नवीं से ग्यारहवीं शताब्दी तक कन्नौज एवं कश्मीर संस्कृत-साहित्य-रचना के केन्द्र रहे और इस बीच अनेक आचार्य, कवि, नाटककार तथा गद्य-लेखक उत्पन्न हुए। आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, भोजदेव, मम्मट, राजशेखर, विश्वनाथ, भवभूति, श्रीहर्ष तथा जयदेव इसी युग की देन हैं। इसी काल में शंकर, कुमारिलभट्ट, भास्कर, रामानुज आदि आचार्य हुए। संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत एवं अपभ्रंश का श्रेष्ठ साहित्य भी प्रभूत मात्रा में इसी युग में लिखा गया। जैन आचार्यों ने मध्यप्रदेश के पश्चिमी सीमान्त क्षेत्र में रहकर संस्कृत के पुराणों को नये रूपों में प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी रचनाओं के लिए प्राकृत अपभ्रंश के साथ पुरानी हिन्दी को भी माध्यम बनाया। इसी प्रकार पूर्वी सीमान्त पर सिद्धों ने अपभ्रंश के साथ लोक-भाषा हिन्दी को रचनाओं में प्रयुक्त किया। इस काल का साहित्य स्पष्टतः राजा, धर्म और लोक के तीन आश्रयों में विभाजित हो चुका था। इनकी भाषाएँ भी प्रायः निश्चित हो चुकी थीं। संस्कृत प्रधानतः राज-प्रवृत्ति को सूचित करती थी, अपभ्रंश धर्म की भाषा बन गयी थी तथा 'हिन्दी' जनता की मानसिक स्थितियों एवं भावनाओं का प्रतिनिधित्व कर रही थी। संस्कृत के कवियों एवं लेखकों को तत्कालीन परिस्थितियाँ अधिक प्रभावित नहीं करती थीं। वे काव्य और शास्त्र के विनोद में ही अपनी रचनात्मक प्रतिभा का उपयोग कर रहे थे। प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि एवं लेखक धर्म-प्रचार में लगे हुए थे, साहित्य-तत्त्व उनकी रचनाओं का सहायक अंग था। केवल हिन्दी ही इस काल की ऐसी भाषा थी, जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में मुखर हो रही थी।

अपभ्रंश-साहित्य : पृष्ठभूमि और प्रभाव

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, आदिकाल में हिन्दी-साहित्य के समानान्तर संस्कृत और अपभ्रंश-साहित्य की भी रचना हो रही थी। इनमें से संस्कृत-साहित्य का तो सामान्य जनता तथा हिन्दी-कवियों पर उतना प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं पड़ रहा था, किन्तु अपभ्रंश-साहित्य भाषा की निकटता के कारण हिन्दी-साहित्य के लिए निरन्तर साथ चलनेवाली पृष्ठभूमि का काम कर रहा था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'अपभ्रंश-काल' के अन्तर्गत अपभ्रंश और आरम्भिक हिन्दी—दोनों की रचनाएँ सम्मिलित कर ली हैं, किन्तु नवीन खोजों से यह सिद्ध हो चुका है कि उनमें से कुछ रचनाएँ आरम्भिक हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत आती हैं और अन्य को अपभ्रंश-साहित्य में रखा जाना ही उचित है। डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, धाहिल, कनकामर, अब्दुलरहमान, जिनदत्त सूरि, जोइन्दु, रामसिंह, लक्ष्मीचन्द या देवसेन, लुई या सिद्ध कवि भुसुक, किलपाद, दीपंकर, श्रीज्ञान, कृष्णाचार्य, धर्मपाद, टेंटया, महीधर तथा कम्बलांवरपाद को अपभ्रंश के कवि मानते हैं।[1]

कवि स्वयम्भू ७८३ ई० के आसपास विद्यमान थे। उनके जन्म एव मृत्यु-काल, जन्म-स्थान आदि के सम्बन्ध में कुछ भी विदित नहीं हो सका है। डॉ० जैन के मतानुसार वे कर्णाटक प्रदेश के निवासी थे। 'पउमचरिउ', 'रिट्ठणेमि चरिउ' तथा 'स्वयम्भू-छन्द' नामक तीन ग्रन्थ उन्होंने लिखे थे। 'पउमचरिउ' अपूर्ण है, फिर भी इसमें राम का चरित्र विस्तार से वर्णित है। कथा के अन्त के राम निर्वाण प्राप्त करते हैं और मुनीन्द्र उपदेश देते हैं कि राग से दूर रहकर ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। यद्यपि स्वयम्भू ने प्रचलित राम-कथा के सत्यों से

---

[1] देखिए 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य', पृष्ठ ५६-८४

पलायन नहीं किया है, तथापि राग-विराग की दार्शनिक स्थितियाँ सर्वत्र प्रधान रही हैं।

अपभ्रंश के दूसरे कवि **पुष्पदन्त** दसवीं शताब्दी में हुए थे। वे शैव थे, किन्तु बाद अपने आश्रयदाता के अनुरोध से जैन हो गये थे। उनकी भी तीन रचनाएँ मिलती हैं—महा पुराण, णयकुमार-चरिउ तथा जसहर-चरिउ। इनकी रचना धार्मिक उद्देश्य से हुई है, फल स्वरूप साहित्यिक शिल्प तथा तात्त्विक दृष्टि से इन पर 'जिन-भक्ति' का प्रभाव सर्वत्र मिलत है। 'महापुराण' में अनेक घटनाएँ और चरित्र हैं—कवि ने ६३ महापुरुषों की जीवन-घटनाओं को वर्णन का विषय बनाया है। प्रसंगवश इसमें राम-कथा को भी स्थान मिला है। धार्मि ग्रन्थ होने पर भी इसके काव्यत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं है। पुष्पदन्त ने प्राकृति सरस सौन्दर्य का अत्यन्त निकट से साक्षात्कार किया है। इस ग्रन्थ की भाषा में स्पष्टत हिन्दी भाषा के अंकुर दबे हुए दिखाई देते हैं। एक उदाहरण देखिए :

पडु तडि-वडण पडिय बियडायल, रुज्जिय सीह दाउणो।
णच्चिय मत्त मोर-कल-कल-रव, पूरिय सयल काणणो॥ (२/१३)

पुष्पदन्त की साहित्य-रचना शुद्ध धार्मिक भाव से हुई है। महापुराण के प्रथम अध्याय में उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "भैरव राजा की स्तुति में काव्य बनाने से जिस 'मिथ्या' ने जन्म लिया था, उसे दूर करने के लिए ही मैंने महापुराण की रचना की है।" राज-स्तुति से दू रहकर शुद्ध धार्मिक भाव से साहित्य-रचना की यह प्रवृत्ति अपभ्रंश से हिन्दी में भी आयी। फलतः आदिकाल में धार्मिक साहित्य की एक पृथक् धारा बहती रही, जिसका विकास मध्य-काल में भक्तिकाव्य के रूप में हुआ। कवि स्वयम्भू का इस धारा के आविर्भाव में महत्त्वपू योगदान था तथा पुष्पदन्त नें उसको आगे बढ़ाने के लिए अपनी प्रतिभा की शक्ति दी।

अपभ्रंश के तीसरे प्रमुख कवि **धनपाल** ने दसवीं शती में 'भविसयत्तकहा' की रचन की, जो मनुष्य-हृदय की अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्ति है। यद्यपि धर्म-भावना इसकी भी गौ है, तथापि प्रत्यक्षतः लोक-हृदय की विभिन्न स्थितियों से इसका सम्बन्ध है। इसमें एक वणि की कथा को स्वाभाविक घटनाओं के संयोजन द्वारा हृदय के विभिन्न घात-प्रतिघातों क अभिव्यक्ति में पूर्ण सफल बनाया गया है। धनपाल की यह रचना चरित-काव्यों की एक नयी कड़ी है, जिसका प्रभाव आदिकालीन हिन्दी-रचनाओं पर भी पड़ा।

अपभ्रंश-साहित्य के समर्थ कवियों में **अब्दुल रहमान** का नाम आता है. जिसने 'सन्देशरासक' लिखकर हिन्दी-काव्य के लिए एक स्थायी प्रेरणा का काम किया। विद्वानों ने उसका समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शती का आरम्भ माना है। 'सन्देश-रासक' एक खण्डकाव्य है, जिसमें विक्रमपुर की एक वियोगिन के विरह की कथा है। कवि ने उसका नखशिख-वर्णन तथा पति के लिए सन्देश अत्यन्त सहज भाव-भूमि पर चित्रित करके काव्य को मार्मिक बना दिया है। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य में शृंगार रस की एक धार इसी प्रकार की अपभ्रंश-कृतियों के अनुकरण पर बह निकली, जो भक्तिकाल में होती हु रीतिकाल में जाकर प्रधानता प्राप्त कर सकी।

अपभ्रंश में चरित-काव्यों की परम्परा से भिन्न एक रास-काव्य-परम्परा भी आरम्भ हुई थी। बारहवीं शताब्दी के **जिनदत्त सूरि** का 'उपदेशरसायनरास' इस दृष्टि से उल्लेख है। ८० पद्यों का यह नृत्य-गीत-काव्य रासलीला के उस मूल रूप की ओर ले जाता है जिसमें हिन्दी के आदिकालीन रासो-काव्य लिखे गये होंगे और बाद में वे विकसित होक अगेय बन गये। कृष्ण की रास-लीला के नृत्य-गीत-काव्यों की भक्तिकालीन कड़ी अपभ्रंश इसी काव्य-परम्परा से जुड़ती है।

अपभ्रंश में दोहा-काव्य की परम्परा भी चल रही थी। कुछ कवि कोश के रूप में दोहा-काव्य लिखते थे और कुछ फुटकर रूप में। जोइन्दु नामक कवि की छठी शताब्दी की 'परमात्मप्रकाश' तथा 'योगसार' नामक रचनाओं से अपभ्रंश में दोहा-काव्य आरम्भ होता है और उसकी परम्परा पन्द्रहवीं शती तक चलती है। इसी परम्परा में ग्यारहवीं शती में रामसिंह ने 'पाहुड दोहा' नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें इन्द्रिय-सुख और अन्य सांसारिक सुखों की निन्दा की गयी है तथा त्याग, आत्मज्ञान और आत्मानुभूति को महत्त्व दिया गया है। निश्चय ही जोइन्दु से आरम्भ होनेवाली परम्परा में लिखित 'पाहुड दोहा' दार्शनिक काव्य-रचना की एक ऐसी कड़ी है, जो हिन्दी-साहित्य में आदिकाल से रीतिकाल तक निरन्तर जुड़ती चली गयी है। अपभ्रंश के दोहों में ही उपदेशों के साथ-साथ शृंगार और वीर रसों की अभिव्यक्ति करनेवाले दोहे भी मिलने लगे थे, जिनकी परम्परा में हिन्दी-दोहा-काव्य का विकास हुआ।

आदिकाल की उपलब्ध सामग्री

आदिकालीन हिन्दी-साहित्य की उपलब्ध सामग्री के दो रूप हैं—प्रथम वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं, जिनकी भाषा तो हिन्दी है परन्तु वह अपभ्रंश के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं है और द्वितीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं, जिनको अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रचनाएँ कहा जा सकता है।

अपभ्रंश-प्रभावित हिन्दी-रचनाएँ इस प्रकार हैं : १. सिद्ध-साहित्य, २. श्रावकाचार, ३. नाथ-साहित्य, ४. राउलवेल (गद्य-पद्य), ५. उक्तिव्यक्तिप्रकरण (गद्य), ६. भरतेश्वर-बाहुबलीरास, ७. हम्मीर रासो, ८. वर्णरत्नाकर (गद्य)।

निम्नांकित रचनाएँ अपभ्रंश के प्रभाव से मुक्त हिन्दी की रचनाएँ मानी जा सकती हैं :

१. खुमाण रासो, २. ढोला-मारू रा दूहा, ३. बीसलदेव रासो, ४. पृथ्वीराज रासो, ५. परमाल रासो, ६. जयचन्द-प्रकाश, ७. जयमयंक-जसचन्द्रिका, ८. चन्दनबालारास, ९. स्थूलिभद्ररास, १०. रेवन्तगिरिरास, ११. नेमिनाथरास, १२. वसन्त-विलास, १३. खुसरो की पहेलियाँ।

(क) प्रामाणिकता : उपर्युक्त रचनाओं में से निम्नांकित रचनाओं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध रही है : हम्मीर रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो। इनमें से 'हम्मीर रासो' अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है, केवल 'प्राकृत-पैंगलम्' में प्राप्त आठ छन्दों के आधार पर ही उसकी कल्पना चली आ रही है। शेष रासो-ग्रन्थों के आकार में धीरे-धीरे विकास होता रहा है। अतः उनका मूल रूप क्या था, यह कहना कठिन है। 'बीसलदेव रासो' तथा 'परमाल रासो' गेय काव्य रहे हैं, इसलिए उनका आकार ही नहीं, भाषा भी बदलती रही है। 'पृथ्वीराज रासो' के जो संस्करण हस्तलिखित रूप में मिलते रहे हैं, उनके आकार में पर्याप्त असमानता है। अतः इस काव्य के मूल रूप का भी अभी तक ठीक-ठीक पता नहीं चल सका है। 'खुमाण रासो' के आकार में भी समय-समय पर वृद्धि होती रही है तथा क्षेपक जुड़ते चले गये हैं। अतः रासो-ग्रन्थों के वर्तमान रूप पर हम अप्रामाणिकता का आरोप लगा सकते हैं, यह आरोप प्रायः लगाया भी जाता रहा है; किन्तु यह स्वीकार करना भी अनुचित नहीं कि ये सभी रासो-ग्रन्थ सर्वांश में न तो उत्तर-कालीन रचनाएँ हैं और न अप्रामाणिक ही। निश्चय ही इन सब की रचना आदिकाल में हुई थी। धीरे-धीरे इनके आकार एवं रूप में परिवर्तन होता गया। किन्तु, इस परिवर्तन के कारण आदिकाल में इनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

(ख) ग्रहण और त्याग का प्रश्न : हमने आदिकाल की सामग्री के अन्तर्गत जि रचनाओं को सम्मिलित किया है, उनके विषय में हमारी दृष्टि बहुत स्पष्ट है। हम न ह शुद्ध अपभ्रंश की पउमचरिउ, स्वयम्भू-छन्द, महापुराण, जसहरचरिउ, भविसयत्तकहा, सन्दे रासक आदि को हिन्दी की रचनाएँ स्वीकार करना उचित समझते हैं और न हिन्दी के सिद्ध काव्य, नाथ-साहित्य, श्रावकाचार, राउलवेल, भरतेश्वर-बाहुबलीरास आदि उन ग्रन्थों क हिन्दी-साहित्य के बाहर रखना ही न्यायोचित मानते हैं जिनमें अपभ्रंश भाषा मात्र ए प्रभावी तत्त्व है और जो मूलतः हिन्दी भाषा में लिखे गये हैं। इसी प्रकार हमारी दृष्टि पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो आदि वे रासो-ग्रन्थ भी आदिकाल की सीमा से त्याज्य नहीं हैं जो मूलतः आदिकाल में लिखे गये थे और बाद में जिनका आकार बदला। यदि आकार वृद्धि या परिवर्तन को निर्णायक तत्त्व मानने लग जाएँ; तब तो कबीर, सूर, तुलसी, मीरां बिहारी आदि की कृतियों की प्रामाणिकता भी विशुद्ध नहीं रह सकती। एक अन्य तर्क य भी दिया जाता रहा है कि जो रचनाएँ जैन और बौद्ध धर्मों के विषय में लिखी गयी हैं, वे साहित्यिक रचनाएँ नहीं हैं, अतः उनको साहित्य के इतिहास में स्थान नहीं मिलना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इस मत के पोषक हैं, किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस निर्णय से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो मत व्यक्त किया है, वही अधिक तर्कसंगत है। वे लिखते हैं : "कई रचनाएँ, जो मूलतः जैनधर्म-भावना से प्रेरित होकर लिखी गयी हैं निस्सन्देह उत्तम काव्य हैं और…'हम्मीर रासो' की भाँति ही साहित्यिक इतिहास के लि स्वीकार्य हो सकती हैं। यही बात बौद्ध सिद्धों की कुछ रचनाओं के बारे में भी कही जा सकती है।"[1] अतः पूर्वोक्त समस्त सामग्री को आदिकाल के इतिहास की सामग्री मानना ही न्यायसंगत है।

वर्गीकरण

आदिकाल की पूर्वोक्त सामग्री को अध्ययन की सुविधा के लिए निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : १. सिद्ध-साहित्य, २. जैन-साहित्य, ३. नाथ-साहित्य, ४. रासो-साहित्य, ५. लौकिक साहित्य, ६. गद्य-रचनाएँ। सिद्ध-साहित्य के अन्तर्गत चौरासी सिद्धों की वे साहित्यिक रचनाएँ आती हैं जो तत्कालीन लोक-भाषा हिन्दी में लिखी गयी हैं। सरहपा, लुइपा, विरूपा, कण्हपा, कुक्कुरिपा, ताँतिपा आदि सिद्धों की कई रचनाएँ इस कोटि में आती हैं। जैन साहित्य में वे हिन्दी-रचनाएँ सम्मिलित हैं, जिनमें जैन धर्म की कथाओं, दार्शनिक मन्तव्यों या उपदेशों को आधार बनाया गया है। श्रावकाचार, भरतेश्वर-बाहुबलीरास, चन्दनबालारास, स्थूलिभद्ररास, रेवन्तगिरिरास तथा नेमिनाथरास इसी वर्ग की रचनाएँ हैं। नाथ-साहित्य के अन्तर्गत गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्री-पाव आदि हठयोगी कवियों की रचनाएँ सम्मिलित हैं।

रासो और रास नामोंवाली सभी पुस्तकें रासो-साहित्य का अंग नहीं हैं। हमने 'रासो-साहित्य' के अन्तर्गत उन्हीं रचनाओं को लिया है, जिनमें राजाओं की ऐतिहासिक वीरगाथाएँ मिलती हैं। इस वर्ग में हम्मीर रासो, खुमाण रासो, बीसलदेव रासो तथा पृथ्वीराज रासो सम्मिलित हैं। कुछ ऐसी रचनाएँ भी इस काल में लिखी गयी थीं जो उपर्युक्त किसी वर्ग में नहीं आतीं। उन रचनाओं में लौकिक विषयों को मुख्य आधार बनाया गया है। अतः ह

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ११

उन्हें 'लौकिक साहित्य' वर्ग में रख सकते हैं। ढोला-मारू रा दूहा, जयचन्द-प्रकाश, जयमयंक-जसचन्द्रिका, वसन्त-विलास और खुसरो की पहेलियाँ इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

सिद्ध-साहित्य

सिद्धों ने बौद्ध-धर्म के वज्रयान तत्त्व का प्रचार करने के लिए जो साहित्य जन-भाषा में लिखा, वह हिन्दी के सिद्ध-साहित्य की सीमा में आता है। राहुल सांकृत्यायन ने चौरासी सिद्धों के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें सिद्ध सरहपा से यह साहित्य आरम्भ होता है। इन शिद्धों में सरहपा, शबरपा, लुइपा, डोम्भिपा, कण्हपा एवं कुक्कुरिपा हिन्दी के मुख्य सिद्ध कवि हैं। यहाँ संक्षेप में इनके व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचय देकर हम साहित्य के विकास में इनकी भूमिका को स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

सरहपा : ये सरहपाद, सरोजवज्र, राहुलभद्र आदि कई नामों से प्रख्यात हैं। जाति से ये ब्राह्मण थे। इनके रचना-काल के विषय में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। राहुल जी ने इनका समय ७६९ ई० माना है, जिससे अधिकांश विद्वान् सहमत हैं। इनके द्वारा रचित बत्तीस ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें से 'दोहाकोष' हिन्दी की रचनाओं में प्रसिद्ध है। इन्होंने पाखण्ड और आडम्बर का विरोध किया है तथा गुरु-सेवा को महत्त्व दिया है। ये सहज भोग-मार्ग से जीव को महासुख की ओर ले जाते हैं। इनकी भाषा सरल तथा गेय है एवं काव्य में भावों का सहज प्रवाह मिलता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है :

नाद न विन्दु न रवि न शशि मण्डल,
चिअराअ सहावे मूकल।
अजुरे उजु छाड़ि मा लेहु रे बंक,
निअहि बोहिमा जाहु रे लांक।
हाथेरे कांकाण मा लोउ दापण,
अपणे अपा बुझतु निअन्मण।

सरहपा की इस कविता से स्पष्ट है कि उनकी भाषा तो हिन्दी ही है, केवल उस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है। भाव और शिल्प की जो परम्परा सन्त-साहित्य में जाकर नये रूप में उभरी, उसका बीज-रूप सरहपा के काव्य में द्रष्टव्य है।

शबरपा : इनका जन्म क्षत्रिय-कुल में ७८० ई० में हुआ था। सरहपा से इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया था। शबरों का-सा जीवन व्यतीत करने के कारण ये शबरपा कहे जाने लगे। 'चर्यापद' इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है। ये माया-मोह का विरोध करके सहज जीवन पर बल देते हैं और उसी को महासुख की प्राप्ति का मार्ग बतलाते हैं। इनकी कविता की कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

हेरि ये मेरि तइला बाड़ी खसमे समतुला
घुकड़ए सेरे कपासु फुटिला।
तइला वाड़िर पासेर जोहणा वाड़ी ताएला
फिटेलि अंधारि रे आकाश फुलिआ॥

लुइपा : ये राजा धर्मपाल के शासन-काल में कायस्थ-परिवार में उत्पन्न हुए थे। शबरपा ने इन्हें अपना शिष्य बनाया था। इनकी साधना का प्रभाव देखकर उड़ीसा के तत्कालीन राजा तथा मन्त्री इनके शिष्य हो गये थे। चौरासी सिद्धों में इनका सबसे ऊँचा स्थान माना जाता है। इनकी कविता में रहस्य-भावना की प्रधानता है। एक उदाहरण देखिए :

काआ नरुवर पंच विडाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिट करिअ महासुह परिमाण; लुइ भरमइ गुरु पूच्छि अजाण ।।

डोम्भिपा : मगध के क्षत्रिय-वंश में ८४० ई० के लगभग इनका जन्म हुआ थ विरूपा से इन्होंने दीक्षा ली थी। इनके द्वारा रचित इक्कीस ग्रन्थ बताये जाते हैं, जि 'डोम्बि-गीतिका', 'योगचर्या', 'अक्षरद्विकोपदेश' आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। इनकी कविता एक उदाहरण इस प्रकार है :

गंगा जउना माझेरे वहर नाइ।
ताँहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई।
बाहतु डोम्बी वाह लो डोम्बी वाटत भइल उछारा।
सद्‌गुरु पाऊ पए जाइब पुणु जिणउरा ।।

कण्हपा : इनका जन्म कर्नाटक के ब्राह्मण-वंश में ८२० ई० में हुआ था। विहार सोमपुरी स्थान पर ये रहते थे। जालन्धरपा को इन्होंने अपना गुरु बनाया था। कई सिद्धों इनकी शिष्यता स्वीकार की थी। इनके लिखे चौहत्तर ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें अधिक दार्शनिक विषयों पर हैं। रहस्यात्मक भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना करके ये हि के कवियों में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने शास्त्रीय रूढ़ियों का भी खण्डन किया है। इनकी कवि का एक उदाहरण देखिए :

आगम वेअ पुराणे, पंडित मान वहंति।
पक्क सिरिफल अलिअ, जिम वाहेरित भ्रमयंति ।।

कुक्कुरिपा : इनका जन्म कपिलवस्तु के एक ब्राह्मण-वंश में माना जाता है। इ जन्म-काल का पता नहीं चल सका है। चर्पटीया इनके गुरु थे। इनके द्वारा रचित सोलह ग्र माने जाते हैं। ये भी सहज जीवन के समर्थक थे। इनकी कविता का एक उदाहरण प्रकार है :

हाँउ निवासी खमण भतारे, मोहोर विगोआ कहण न जाइ।
फेटलिउ गो माए अन्त उड़ि चाहि, जा एथु बाहाम सो एथु नाहि।

इस प्रमुख सिद्ध कवियों के अतिरिक्त अन्य सिद्ध कवि भी जन-भाषा में अपनी वा का प्रचार पद्य में करते थे; किन्तु उसमें कवित्व का उतना अंश नहीं, जिसके आधार पर साहित्य के विकास में योगदाता माना जा सके। जिन कवियों की पहले चर्चा की गयी है, उन साहित्य ही हिन्दी के सिद्ध-साहित्य के लिए गौरव का विषय है। इन कवियों ने हिन्दी-साहि में कविता की जो प्रवृत्तियाँ आरम्भ कीं, उनका प्रभाव भक्तिकाल तक चलता रहा। रूढ़ि के विरोध का अक्खड़पन, जो कबीर आदि की कविता में मिलता है, इन सिद्ध कवियों की है। योग-साधना के क्षेत्र में भी इनका प्रभाव पहुँचा। सामाजिक जीवन के जो चित्र इन्हें उभारे, वे भक्तिकालीन काव्य के लिए सामाजिक चेतना की पीठिका बन गये। कृष्ण-भ के मूल में जो प्रवृत्ति-मार्ग हैं, उसकी प्रेरणा के सूत्र भी हमें इनके साहित्य में मिलते हैं।

जैन-साहित्य

जिस प्रकार हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में सिद्धों ने बौद्ध धर्म के वज्रयान मत का प्र हिन्दी-कविता के माध्यम से किया, उसी प्रकार पश्चिमी क्षेत्र में जैन साधुओं ने भी अ मत का प्रचार हिन्दी-कविता के माध्यम से किया। इन कवियों की रचनाएँ आचार, र फागु, चरित आदि विभिन्न शैलियों में मिलती हैं। आचार-शैली के जैन-काव्यों में घटना

के स्थान पर उपदेशात्मकता को प्रधानता दी गयी है। फागु और चरित-काव्य शैली की सामान्यता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'रस' शब्द संस्कृत-साहित्य में क्रीड़ा और नृत्य से सम्बन्धित था। भरत मुनि ने इसे 'क्रीडनीयक' कहा है। वात्स्यायन के 'कामसूत्र' के रचना-काल तक 'रास' में गायन का भी समावेश हो गया था। अभिनवगुप्त ने 'रास' को एक प्रकार का रूपक माना है। लोक-जीवन में भी श्रीकृष्ण की लीलाओं के लिए 'रास' शब्द रूढ़ हो गया था और आज भी सामान्य जनता उसी अर्थ में इसका प्रयोग करती है। जैन-साधुओं ने 'रास' को एक प्रभावशाली रचना-शैली का रूप दिया। जैन-तीर्थंकरों के जीवन-चरित तथा वैष्णव-अवतारों की कथाएँ जैन-आदर्शों के आवरण में 'रास' नाम से पद्यबद्ध की गईं। जैन मन्दिरों में श्रावक लोग रात्रि के समय ताल देकर 'रास' का गायन करते थे। चौदहवीं शताब्दी तक इस पद्धति का प्रचार रहा। अतः जैन-साहित्य का सबसे अधिक लोकप्रिय रूप 'रास' ग्रन्थ बन गये। वीरगाथाओं में 'रास' को ही 'रासो' कहा गया है, किन्तु उनकी विषय-भूमि जैन रास-ग्रन्थों से भिन्न हो गई है।

पूर्वोक्त प्रमुख शैलियों में लिखित आदिकालीन हिन्दी-जैन-साहित्य का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

श्रावकाचार : देवसेन नामक प्रसिद्ध जैन आचार्य ने ९३३ ई० में इस काव्य की रचना की थी। ये एक अच्छे कवि तथा उच्च कोटि के चिन्तक थे। इन्होंने अपभ्रंश में भी 'दव्व-सहाव-पयास' नामक काव्य लिखा था। हिन्दी में लिखित इनकी अन्य रचनाएँ 'लघु-नयचक्र' तथा 'दर्शनसार' हैं, जो काव्य की सीमा में नहीं आतीं। 'श्रावकाचार' में २५० दोहों में श्रावक-धर्म का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने गृहस्थ के कर्त्तव्यों पर भी विस्तार से विचार किया है। इसकी रचना दोहा छन्द में हुई है। एक उदाहरण इस प्रकार है :

जो जिण सासण भाषियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जो पालइ सइ भाउ करि, सो सरि पावइ पारु॥

भरतेश्वर-बाहुबली रास : मुनि जिनविजय ने इस ग्रन्थ को जैन-साहित्य की रास-परम्परा का प्रथम ग्रन्थ माना है।[1] इसकी रचना ११८४ ई० में शालिभद्र सूरि ने की थी। ये अपने समय के प्रसिद्ध जैन आचार्य तथा अच्छे कवि थे। इस ग्रन्थ में भरतेश्वर तथा बाहुबली का चरित-वर्णन है। ये दोनों चरित-नायक संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में भी काव्य-रचना का विषय रहे हैं। प्रस्तुत कृति में इनकी जो कथा वर्णित है, उसमें इन्हें अयोध्यावासी ऋषभ जिनेश्वर के यहाँ सुनन्दा और सुमंगला से उत्पन्न बताया गया है। भरत आयु में बड़े थे एवं पराक्रमी भी अधिक थे। वे अयोध्या के राजा बनाये गये और बाहुबली को तक्षशिला का राज्य मिला। कवि ने दोनों राजाओं की वीरता, युद्धों आदि का विस्तार से वर्णन किया है, किन्तु हिंसा और वीरता के पश्चात् विरक्ति और मोक्ष के भाव प्रतिपादित करना कवि का मुख्य लक्ष्य रहा है। अतः वीर और शृंगार रसों का निर्वेद में अन्त हुआ है। २०५ छन्दों में रचित यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है। इसकी भाषा में नाटकीयता, उक्ति-वैचित्र्य तथा रसात्मकता के सर्वत्र दर्शन होते हैं। आगे की 'रास' या 'रासो' रचनाओं को इस ग्रन्थ ने अनेक रूपों में प्रभावित किया है। इसकी कविता का एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है :

बोलह बाहुबली बलवन्त। लोह खण्डि तउ गरवीउ हंत॥
चक्र सरीसउ चूनउ करिउँ। सयलहँ गोत्तह कुल संहरउँ॥

---

[1] देखिए 'भारतीय विद्या', भाग २, अंक १, १९९७ वि०

चन्दनबालारास : यह पैंतीस छन्दों का एक लघु खण्डकाव्य है, जिसकी रचना ई० के लगभग आसगु नामक कवि ने जालौर में की थी। इसकी कथा-नायिका चन्द चम्पा नगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। एक बार कौशाम्बी के राजा शता चम्पा नगरी पर आक्रमण किया, जिसमें उसका सेनापति चन्दनबाला का अपहरण कर और एक सेठ को बेच दिया। सेठ की स्त्री ने उसे अपार कष्ट दिया। चन्दनबाला सतीत्व पर अटल रहकर सब दुःख सहती रही और अन्त में महावीर से दीक्षा लेकर को प्राप्त हुई। इस लघु कथानक पर आधारित यह जैन-रचना करुण रस की गम्भीर करती है। भाव-सौन्दर्य के जितने चित्र इसके रचयिता ने अंकित किये हैं, सभी मे काव्य-निष्ठा व्यंजित है।

स्थूलिभद्ररास : १२०९ ई० में रचित इस काव्य को जिनधर्मसूरि की कृति जाता है। स्थूलिभद्र और कोशा वेश्या के विषय में अन्य रचनाएँ भी मिलती हैं, कि कृति की सभी घटनाओं से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। अवान्तर घटनाओं के से लौहघट के रूप में स्थूलिभद्र का संयम चित्रित करके कवि ने काव्य को विशिष्ट बना है। कोशा वेश्या के पास भोग-लिप्त रहनेवाले स्थूलिभद्र को कवि ने जैन धर्म की दी के बाद मोक्ष का अधिकारी सिद्ध किया है। काव्य की भाषा पर अपभ्रंश का प्रभाव है, फिर भी इसकी भाषा का मूल रूप हिन्दी है। धार्मिक दृष्टि से प्रेरित होने पर भी भाव-भूमि और अभिव्यंजना काव्यानुकूल है।

रेवंतगिरिरास : यह विजयसेन सूरि की काव्य-कृति है। १२३१ ई० के लिखित इस काव्य में तीर्थंकर नेमिनाथ की प्रतिमा तथा रेवंतिगिरि तीर्थ का वर्णन है। तथा मूर्ति-स्थापना की घटनाओं पर आधारित यह 'रास' वास्तुकलात्मक सौन्दर्य का भी प्रस्तुत करता है। प्रकृति के रमणीक चित्र इस काव्य के भाव तथा कलापक्षों का करते हैं। एक उदाहरण देखिए :

> *'कोयल कलयलो मोर केकारओ*
> *सम्मए महुयर महुर गुंजारवो।*
> *जलद जाल बंबाले नीझरणि रमाउलु रेहइ,*
> *उज्जिल सिहरू अलि कज्जल सामलु ॥*

नेमिनाथरास : इस काव्य की रचना सुमति गणि ने १२१३ ई० में की थी। छन्दों की इस रचना में कवि ने नेमिनाथ का चरित्र सरस शैली में प्रस्तुत किया है। के प्रसंग में श्रीकृष्ण का वर्णन इस काव्य का विषय है और इन दोनों के माध्यम से भावों की व्यंजना हुई है। रचना की भाषा अपभ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है।

नाथ-साहित्य

सिद्धों की वाममार्गी भोगप्रधान योग-साधना की प्रतिक्रिया के रूप में आदि नाथपन्थियों की हठयोग-साधना आरम्भ हुई। राहुल जी ने नाथ-पन्थ को सिद्धों की का ही विकसित रूप माना है। इस पन्थ के चलानेवाले मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ गोरखनाथ माने गये हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने नाथ-पन्थ के चरमोत्कर्ष का समय शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक माना है। उनका मत है कि नाथ-पन्थ भक्तिकाल के सन्त-मत का विकास हुआ था, जिसके प्रथम कवि कबीर थे।[१] इस मत

र्शन कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से हो जाता है—नाथपन्थी रचनाओं की अनेक विशेष-एँ सन्त-काव्य में यथावत् विद्यमान हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "नाथ-पन्थ या नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध-मत, द्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत-मत एवं अवधूत-सम्प्रदाय नाम भी प्रसिद्ध हैं।"[1] नके इस कथन का यह अर्थ नहीं कि सिद्ध-मत और नाथ-मत एक ही हैं। उन्होंने तो नाम-याति की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जिसका आशय इतना ही है कि इन दोनों मार्गों ो एक ही नाम से पुकारा जाता था और उसका कारण यह था कि मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दर-थ) तथा गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) सिद्धों में भी गिने जाते थे। यह प्रसिद्ध है कि मत्स्येन्द्र-थ नारी-साहचर्य के आचार में जा फँसे थे; जिससे उनके शिष्य गोरक्षनाथ ने उद्धार किया ा। वस्तुतः इस लोक-चर्चा के मूल में ही सिद्ध-मत एवं नाथ-मत का अन्तर छिपा हुआ है। द्ध-गण नारी-भोग में विश्वास करते थे, किन्तु नाथपन्थी उसके विरोधी थे। सिद्धों की चनाओं पर पीछे विचार किया जा चुका है, यहाँ हम नाथ-साहित्य पर संक्षेप में प्रकाश ालेंगे।

गोरखनाथ : गोरखनाथ नाथ-साहित्य के आरम्भकर्त्ता माने जाते हैं। वे सिद्ध त्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, किन्तु उन्होंने सिद्धों के मार्ग का विरोध किया था। गोरखपन्थी ाहित्य के अनुसार आदिनाथ स्वयं शिव थे। उनके पश्चात् मत्स्येन्द्रनाथ हुए, जिनके आचरण ा विरोध उनके शिष्य गोरखनाथ ने किया। राहुल सांकृत्यायन ने गोरखनाथ का समय ८४५ ई० माना है, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी उन्हें नवीं शती का मानते हैं, आचार्य रामचन्द्र ुक्ल तेरहवीं शती का बतलाते हैं, डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ग्यारहवीं शती का मानते हैं था डॉ० रामकुमार वर्मा शुक्ल जी के मत से सहमत हैं। नवीन खोजों के अनुसार यही ारणा अधिक प्रबल हुई है कि गोरखनाथ ने ईसा की तेरहवीं शती के आरम्भ में अपना ाहित्य लिखा था। उनके ग्रन्थों की संख्या चालीस मानी जाती है, किन्तु डॉ० बड़थ्वाल ने ेवल चौदह रचनाएँ ही उनके द्वारा रचित मानी हैं, जिनके नाम हैं—सबदी, पद, प्राण-ंकली, सिष्यादरसन, नरवै बोध, अभैमात्रा जोग, आतम-बोध, पन्द्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र-ोरखबोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ग्यानचौंतीसा एवं पंचमात्रा। डॉ० बड़थ्वाल ने 'गोरख-ानी' नाम से उनकी रचनाओं का एक संकलन भी सम्पादित किया है, जिसकी कई रचनाएँ ाहित्य की सीमा में आती हैं।

गोरखनाथ से पहले अनेक सम्प्रदाय थे, जिन सबका उनके नाथ-पन्थ में विलय हो ाया था। शैवों एवं शाक्तों के अतिरिक्त बौद्ध, जैन तथा वैष्णव योगमार्गी भी उनके सम्प्रदाय ें आ मिले थे। गोरखनाथ ने अपनी रचनाओं में गुरु-महिमा, इन्द्रिय-निग्रह, प्राण-साधना, ैराग्य, मनःसाधना, कुण्डलिनी-जागरण, शून्य-समाधि आदि का वर्णन किया है। इन विषयों में नीति और साधना की व्यापकता मिलती है। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित नहीं किया था। किन्तु, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस पक्ष में नहीं हैं। पूर्वोक्त विषयों के साथ जीवन की अनुभूतियों का सघन चित्रण होने के कारण इन रचनाओं को साहित्य में सम्मिलित करना ही उचित है। इसी साहित्य का विकास भक्तिकाल में ज्ञानमार्गी सन्त-काव्य के रूप में हुआ। अतः उसकी साहित्यिकता स्वीकार करना ही अधिक न्यायसंगत है।

---

[1] नाथ-सम्प्रदाय, पृष्ठ ६०

गोरखनाथ ने हठयोग का उपदेश दिया था। हठयोगियों के 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद् के अनुसार 'ह' का अर्थ है सूर्य तथा 'ठ' का अर्थ है चन्द्र। इन दोनों के योग को ही कहते हैं।[1] गोरखनाथ ने ही षट्चक्रोंवाला योग-मार्ग हिन्दी-साहित्य में चलाया मार्ग में विश्वास करनेवाला हठयोगी साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध करे समाधि लगाता था और वहीं ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। गोरखनाथ ने लि धीर वह है, जिसका चित्त विकार-साधन होने पर भी विकृत नहीं होता :

> *नौ लख पातरि आगे नाचैं, पीछे सहज अखाड़ा।*
> *ऐसे मन लै जोगी खेलै, तब अंतरि बसै भँडारा।।*[2]

मूर्त जगत् में अमूर्त के स्पर्श को व्यक्त करते हुए वे कहते हैं :

> *अंजन माँहि निरंजन भेट्या, तिल मुख भेट्या तेलं।*
> *मूरति माँहि अमूरति परस्या, भया निरंतरि खेलं।।*[3]

गोरखनाथ की कविताओं से स्पष्ट है कि भक्तिकालीन सन्त-मार्ग के भावप उनका प्रभाव नहीं पड़ा, भाषा और छन्द भी प्रभावित हुए हैं। इस प्रकार उनकी में हमें आदिकाल की वह शक्ति छिपी मिलती है, जिसने भक्तिकाल की कई प्रवृ जन्म दिया।

अन्य कवि : नाथ-साहित्य के विकास में जिन अन्य कवियों ने योग कि चौरंगीनाथ, गोपीचन्द, चुणकरनाथ, भरथरी, जलन्ध्रीपाव आदि प्रसिद्ध हैं। इन क रचनाओं में उपदेशात्मकता तथा खण्डन-मण्डन का प्राधान्य है। तेरहवीं शती में अपनी वाणी का प्रचार किया था। ये सभी हठयोगी प्रायः गोरखनाथ के भावों का करते थे, अतः इनकी रचनाओं में कोई उल्लेखनीय विशेषता नहीं मिलती। गोरखना हठयोग-साधना में ईश्वरवाद व्याप्त था। इन हठयोगियों ने भी उसका प्रचार कि रहस्यवाद के रूप में प्रतिफलित हुआ और जिसका भक्तिकाल में कबीर आदि ने किया।

रासो-साहित्य

जैन-साहित्य के सन्दर्भ में यह संकेत किया जा चुका है कि हिन्दी-साहित्य के में रचित जैन 'रास-काव्य' वीरगाथाओं के रूप में लिखित रासो-काव्यों से भिन्न है की रचना-शैलियों का अलग-अलग भूमियों पर विकास हुआ है। जैन रास-काव्यों में दृष्टि के प्रधान होने से वर्णन की वह पद्धति प्रयुक्त नहीं हुई, जो वीरगाथापरक रा में मिलती है। इन काव्यों की विषयवस्तु का मूल सम्बन्ध राजाओं के चरित तथा है। फलतः इनका आकार रचनाकारों की मृत्यु के पश्चात् भी बढ़ता रहा है। रा को देखने से पता चलता है कि उनके रचयिता जिस राजा के चरित का वर्णन उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने चरित भी करा देते थे। यही कारण है कि इन ग्रन्थों में मध्यकालीन राजाओं का भी वर्णन तथा भाषा में भी उत्तरवर्ती भाषा-रूपों की झलक पायी जाती है। राजस्थान के वृत्त-संग्रहकर्त्ताओं ने अधिकांश रासो-काव्यों को इन्हीं वातों के कारण अप्रामाणि

---

१. देखिए 'नाथ-सम्प्रदाय', डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १३५

२-३. गोरखबानी, पृष्ठ २२७, २१७

है। भाषावैज्ञानिकों से उन्हें समर्थन भी मिल गया है। परन्तु इतिहास के मर्म को झने वाले विद्वान् उन वृत्त-संग्राहकों के कथनों में विश्वास नहीं करते। सत्य यही है कि -काव्यों की रचना आदिकाल में ही हुई थी। उनमें जो अंश उत्तरवर्ती राजाओं से न्धित हैं, वे प्रक्षिप्त हैं। इसी मान्यता के आधार पर हम रासो-ग्रन्थों को आदिकाल का त्व स्वीकार करके यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे।

खुमाण रासो : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसको नवीं शताब्दी की रचना माना है, कि इसमें नवीं शती के चित्तौड़-नरेश खुमाण के युद्धों का चित्रण है। राजस्थान के वृत्त- हकों ने इसको सत्रहवीं शताब्दी की रचना बताया है, क्योंकि इसमें सत्रहवीं शताब्दी के ौड़-नरेश राजसिंह तक के राजाओं का वर्णन मिलता है और इसी आधार पर वे को आदिकाल की रचना नहीं मानना चाहते। वास्तविकता यह है कि इस काव्य का मूल नवीं शताब्दी में ही लिखा गया था। तत्कालीन राजाओं के सजीव वर्णन, उस समय की स्थितियों के यथार्थ ज्ञान तथा भाषा के 'आरम्भिक हिन्दी-रूप' के प्रयोग से इसी तथ्य के ण मिलते हैं।

वृत्त-संग्राहकों के पास इतिहास को समझने की पैनी दृष्टि नहीं थी, इसलिए राजस्थान हते हुए भी वे आदिकाल की सम्पत्ति को भक्तिकाल और रीतिकाल के भण्डार में डालने दुराग्रह करके यश अर्जित करते रहे हैं, जबकि वह सम्पत्ति उन कालों की प्रवृत्तियों से ी भी रूप में मेल नहीं खाती। इन लोगों ने रचनाकारों के नामों के सम्बन्ध में भी भ्रम किया है। अधिकांश विद्वानों ने नवीं शती के खुमाण नरेश के समकालीन दलपत विजय 'खुमाण रासो' का रचयिता माना है, जबकि वृत्त-संग्रहकर्त्ताओं ने यह सिद्ध करने की अस- चेष्टा की है कि उसका रचयिता सत्रहवीं शती ईस्वी का दलपत विजय नाम का कोई साधु था। रचना-शैली तथा विषय-वस्तु से सिद्ध है कि यह काव्य किसी जैन साधु की ना नहीं हो सकता। यदि जैन साधु ने इसे लिखा होता तो निश्चय ही इसमें धर्म-भावना सी-न-किसी रूप में व्याप्त मिलती।

इस ग्रन्थ की प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति पूना के संग्रहालय में सुरक्षित है। यह हज़ार छन्दों का विशाल काव्य-ग्रन्थ है। राजाओं के युद्धों और विवाहों के सरल वर्णनों इस काव्य की भाव-भूमि का विस्तार हुआ है। सन्दर्भानुसार नायिकाभेद, षट्ऋतु आदि चित्रण भी मिलते हैं। राजाओं की प्रशंसा काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य है। वीर रस के थ-साथ श्रृंगार की धारा भी आदि से अन्त तक चली है। वस्तु-वर्णनों में पर्याप्त रमणीयता इसमें दोहा, सवैया, कवित्त आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं तथा इसकी भाषा राजस्थानी हिन्दी राजाओं के वर्णनों पर आधारित होने पर भी इसमें काव्यात्मक सरस वर्णनों का प्राचुर्य एक उदाहरण देखिए :

पिउ चितोड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।
जोवै बाट बिरहिणी खिण-खिण अणवै खीज ॥
संदेसो पिण साहिबा, पाछो फिरिय न देह।
पंछी घाल्या पिंज्जरें, छूटण रो संदेह ॥

प्राचीन काल में मुद्रण के अभाव के कारण लिपिकर्त्ता जैसा लिखते थे, वैसा ही ग्रन्थ भाषा का रूप हो जाता था। धार्मिक साहित्य में धार्मिक भावना के कारण शब्दों के मूल की रक्षा का प्रयत्न किया जाता था, किन्तु रासो-काव्यों के प्रति वैसा कोई आग्रह नहीं ता था। अतः उनकी भाषा पर लिपिकर्त्ताओं की भाषा के रूपों के प्रभाव पड़ते रहते थे।

ग काव्य की भापा के साथ भी यही हुआ है। वस्तुतः इस ग्रन्थ के मूल रूप तक पहुँ
लिए प्रामाणिक पाठ-सम्पादन की आवश्यकता है।

बीसलदेव रासो : इस ग्रन्थ की रचना नरपति नाल्ह कवि ने ११५५ ई० में
जैसा कि निम्नांकित उद्धरण से स्पप्ट है :

बारह सै बहोत्तराहाँ मँझारि। जेठ वदी नवमी बुधिवारि।
नाल्ह रसायण आरम्भई। सारदा तूठी ब्रह्म कुमारि।
कासमीराँ मुख मण्डनी। रास प्रसागों बीसलदेराइ।

प्रथम पंक्ति से संवत् १२७२ वर्ष भी माना गया है, किन्तु अधिकांश विद्वान्
वि० ही स्वीकार करते हैं। कुछ वृत्त-संग्रहकर्त्ताओं ने इस ग्रन्थ को भी आदिकाल की
नहीं माना। यह सम्भव है कि इसमें भी कुछ परिवर्तन होते रहे हों, किन्तु उसकी
प्राचीनता समाप्त नहीं हो जाती। डॉ० मोतीलाल मेनारिया सोलहवीं शताब्दी के
नामक एक गुजराती कवि को इसका रचयिता बतलाते हैं, किन्तु डॉ० माताप्रसाद गुप्त
प्राचीन प्रतियों के आधार पर सिद्ध किया है कि यह कृति चौदहवीं शताब्दी ईस्वी में
गई थी। नवीन खोजों में एक प्राचीन प्रति मिली है, जिससे इस काव्य का रचना-काल
ई० सिद्ध होता है। उसमें यह पंक्ति मिलती है : "संवत् सहस तिहत्तर जानि, नाल्ह
सरसीय वाणि।"

'बीसलदेव रासो' मूलतः गेय काव्य था, अतः इसके रूप में परिवर्तन होता
डॉ० मेनारिया का मत है कि यह काव्य गेय नहीं था। शायद वे गेयता का अर्थ 'लं
की तरह गाया जाना' लगाते हैं और इसी आधार पर यह कहते हैं कि राजस्थान
भी यह गेय नहीं रहा। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने १२८ छन्दों की एक प्रति का सम्पादन
है। यह पाठ 'बीसलदेव रासो' का मूल रूप बताया जाता है। इसकी भापा आ
आरम्भिक हिन्दी का सहज स्वरूप सिद्ध होती है।

'बीसलदेव रासो' हिन्दी के आदिकाल की एक श्रेष्ठ काव्य-कृति है। इसमें भ
मार की पुत्री राजमती और अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव तृतीय के विवाह
एवं पुनर्मिलन की कथा सरस शैली में प्रस्तुत की गई है। राजमती की बातों से रू
स्वाभिमानी राजा उड़ीसा चला जाता है। बारह वर्ष तक राजमती उसके विरह
रहती है। वह राजभवन की दीवारों को कोसती हुई वन में रहने की कामना कर
सामन्ती जीवन के प्रति गहरी अरुचि का सजीव चित्र इस काव्य में मिलता है।
रासक' के समान ही 'बीसलदेव रासो' की भाव-भूमि प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति
है। 'मेघदूत' और 'सन्देशरासक' की सन्देश-परम्परा भी इसमें मिलती है। राज
पण्डित के द्वारा अपने पति के पास सन्देश भेजती है। जब वह लौट आता है तब
शृंगार करके उससे मिलती है। शृंगार के वियोग और संयोग पक्षों के अत्यन्त मार्मि
कवि ने प्रस्तुत किये हैं। राजमती में एक कुलीना गृहिणी का स्वाभिमान है, जो
चित्रों को कान्तिमय बनाता है। संयोग के समय भी यही कान्ति काव्य-सौन्दर्य
करती है। राजमती की वाणी व्यंग्यमयी हो उठती है, जिससे उसके पति का हृ
जाता है। पति के हृदय को बेधनेवाला राजमती का वह कुलीनता-संस्कार ही उसकी
विरह-वेदना का आधार है, वही उसे इस विवशता तक पहुँचाता है :

अस्त्रीय जनम काई दीधउ महेस।
अवर जनम थारई घणा रे नरेस।

राणि न सिरजीय धउलीय गाइ ।
वणषण्ड काली कोइली ।
हउँ बइसती अंबा नइ चंपा की डाल ।
भषती दाष बीजोरड़ी ।
इणि दुप झूरइ अवलाजी बाल ।

इस प्रकार इस काव्य के वर्णनों में एक संस्कार-दृष्टि मिलती है, जो नारी-गरिमा ो स्थापना करती है। कवि ने प्रकृति के रमणीय चित्रों से भी भाव-चित्रण को सौन्दर्य दिया । बारह मासों तथा ऋतुओं के प्राकृतिक चित्र संयोग और वियोग में उद्दीपन का काम रते हैं। विरह की विभिन्न दशाओं के वर्णन में समस्त प्रकृति सहायक हुई है तथा अनुतियों को भी उसने सुकुमारता प्रदान की है ।

'बीसलदेव रासो' की शृंगार-परम्परा का आदिकाल में ही अन्त नहीं हो जाता । द्यापति से होती हुई यही परम्परा भक्तिकाल में प्रेमाख्यानक काव्यों तक पहुँची, कृष्ण-क्तों को भी उसने प्रभावित किया तथा रीतिकाल में जाकर उसका सरस शृंगार-काव्य के प में चरम विकास हुआ ।

हम्मीर रासो : 'प्राकृत-पैंगलम्' में इस काव्य के कुछ छन्द मिले थे और उन्हीं के ाधार पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसके अस्तित्व की कल्पना की थी । उनका अनुमान ा कि इसमें हम्मीर और अलाउद्दीन के युद्धों का वर्णन तथा हम्मीर की प्रशंसा चित्रित होगी । किन्तु, राहुल जी ने उन पद्यों को जज्जल नामक किसी कवि की रचना घोषित किया है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि 'हम्मीर' शब्द अमीर का विकृत रूप है, जो किसी ात्र का नाम न होकर एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता रहा है । अतः शार्ङ्गधर-कृत इस हम्मीर रासो' का अस्तित्व संकट में पड़ा हुआ है । अभी तक इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं हो सकी है ।

परमाल रासो : उत्तरप्रदेश में 'आल्हखण्ड' के नाम से जो काव्य प्रचलित है, वही 'परमाल रासो' के मूल रूप का विकसित रूप माना जाता है। यह रासो लोक-गेय काव्य था, अतः इसके मूल रूप की सुरक्षा नहीं हो सकी। इसमें अनेक अंश बाद में जोड़े गये हैं तथा अनेक अंशों में वर्णन और भाषा सम्बन्धी परिवर्तन किये गये हैं। धीरे-धीरे 'आल्हा' लोकगीत की एक शैली ही बन गया है। अतः आधुनिक विषयों पर भी 'आल्ह' लिखे जाने लगे हैं।

प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों के अभाव में मौखिक रूप में उपलब्ध 'आल्हखण्ड' के आधार पर 'परमाल रासो' के साहित्यिक स्वरूप के विषय में कुछ भी कहना कठिन है। १८६५ ई० में चार्ल्स इलियट ने जिस 'आल्हखण्ड' का प्रकाशन कराया था, वह मौखिक परम्परा पर ही आधारित है। इसी प्रति के आधार पर डॉ० श्यामसुन्दरदास ने 'परमाल रासो' का पाठ-निर्धारण किया और उसे नागरीप्रचारिणी सभा से प्रकाशित कराया। इस नये रूप में उपलब्ध 'परमाल रासो' यद्यपि सर्वथा प्रामाणिक कृति तो नहीं है, तथापि आदिकाल में रचित मूल 'परमाल रासो' के ऐतिहासिक अस्तित्व को समझने में सहायक अवश्य है।

'परमाल रासो' का रचयिता जगनिक नामक कवि माना जाता है, जो महोबा के राजा परमर्दिदेव का आश्रित था। उसने इस काव्य में आल्हा और ऊदल नामक दो वीर सरदारों की वीरतापूर्ण लड़ाइयों का वर्णन किया है। इसी आधार पर इसका रचना-काल तेरहवीं शती का आरम्भ माना जाता है। इसमें वीर-भावना का जितना प्रौढ़ रूप मिलता है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। आज भी जब इसे गायक संगीत के साथ गाते हैं, तब दुर्बलों में भी तलवार

चलाने की स्फूर्ति आ जाती है। विवाह और शत्रु-प्रतिशोध वीरता के प्रदर्शन का आधार हैं। युद्धों के अत्यन्त प्रभावशाली वर्णनों की इस काव्य में भरमार है। भावों के अनुसार भाषा भी चली है और उसमें एक विशेष शब्द-ध्वनि सर्वत्र व्याप्त हो गई है। गेयता का गुण काव्य को विकसनशील लोकगाथा-काव्य की श्रेणी में ले जाता है, किन्तु इसकी रचना गाथा के रूप में न होकर शुद्ध काव्य के रूप में ही हुई है।

भाषा की दृष्टि से इस काव्य का मूल्यांकन कर पाना संभव नहीं, क्योंकि मूल कोई भी अंश अब शुद्ध रूप में सुरक्षित नहीं है। उसमें अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं। छन्द-विधान की दृष्टि से इस काव्य की एक विशेष शैली है, जिसे आल्ह-शैली ही उचित है। इसकी वर्णन-शक्ति और प्रभावोत्पादकता को समझाने में निम्नांकित पं कुछ सहायक हो सकती हैं :

बारह बरस लौं कूकर जीवै, अरु तेरह लौं जियै सयार।
बरस अठारह क्षत्रिय जीवै, आगें जीवन कौं धिक्कार॥

पृथ्वीराज रासो

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "(चन्द) हिन्दी के प्रथम महाकवि माने हैं और इनका 'पृथ्वीराज रासो' हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है।"[1] उन्होंने चन्दबरदायी दिल्ली-नरेश पृथ्वीराज चौहान का सामन्त और राजकवि माना है। महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के अनुसार चन्दबरदायी का जन्म लाहौर में हुआ था। इनके जन्म-काल सम्बन्ध में कई धारणाएँ हैं। शुक्ल जी ने इनका जन्म-वर्ष ११६८ ई० माना है तथा लि कि "रासो के अनुसार ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की पंजाब थी, जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।"[2] शुक्ल हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चन्द का एक वंश-वृक्ष भी प्रस्तुत किया है। वह वंश-वृक्ष जी को नानूराम भाट से प्राप्त हुआ था, जो स्वयं को चन्द का वंशज मानता था। कथनानुसार चन्द के चार पुत्र थे, जिनमें से चतुर्थ पुत्र जल्ल था। जिस समय पृथ्वीराज मुहम्मद ग़ोरी बन्दी बनाकर अपने देश ले जा रहा था, उस समय चन्द भी महाराज के गया था तथा अपने पुत्र जल्ल को 'पृथ्वीराज रासो' सौंप गया था। इस सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है : "पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।" कहा जाता है कि जल्ल ने के अधूरे महाकाव्य को पूर्ण किया था :

रघुनाथ चरित हनुमन्त कृत, भूप भोज उद्धरिय जिमि।
प्रथिराज सुजस कवि चन्द कृत, चन्द नन्द उद्धरिय तिमि॥

यह प्रसिद्ध है कि चन्द ने स्वामी के हितार्थ अपना बलिदान किया था। वह प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, वीर तथा स्वामिभक्त कवि था। पृथ्वीराज उसे सदा अपने सखा समान साथ रखते थे एवं उसकी हर बात मानते थे।

पृथ्वीराज रासो के संस्करण : 'पृथ्वीराज रासो' के चार संस्करण प्रसिद्ध हैं। बड़ा संस्करण वह है, जिसका प्रकाशन नागरीप्रचारिणी सभा काशी से हुआ है तथा हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर के संग्रहालय में सुरक्षित हैं। सभा ने १५८५ ई० में

[1] [2] १-२. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३७

तिं के आधार पर 'रासो' का सम्पादन कराया था। इस संस्करण में ६९ समय (खण्ड) तथा १६३०६ छन्द हैं। द्वितीय रूप में उपलब्ध 'पृथ्वीराज रासो' ७००० छन्दों का काव्य माना जाता है। इसका प्रकाशन नहीं हुआ, किन्तु अबोहर एवं बीकानेर में इसकी प्रतियाँ सुरक्षित हैं, जो सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी में लिखी गई हैं। तीसरा लघु संस्करण ३५०० छन्दों का है, जिसमें केवल १९ समय हैं। इस संस्करण की हस्तलिखित प्रतियाँ भी बीकानेर में सुरक्षित हैं। चौथा संस्करण सबसे छोटा है, जिसमें केवल १३०० छन्द हैं। इसी को डॉ० दशरथ शर्मा आदि कुछ विद्वान् मूल रासो मानते हैं।

प्रामाणिकता : इन चारों संस्करणों को देखकर यह प्रश्न सहज रूप में उत्पन्न होता है कि इनमें से प्रामाणिक संस्करण कौन-सा है ? और इसी से लगा हुआ वह विवाद भी बढ़ जाता है, जिसके अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' को एक जाली ग्रन्थ माना गया है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास में यह ग्रन्थ इस दृष्टि से सर्वाधिक विवादास्पद रहा है। विद्वानों में कई वर्ग बन गए हैं। डॉ० श्यामसुन्दरदास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, मिश्रबन्धु, कर्नल टॉड आदि विद्वानों ने यह माना है कि 'पृथ्वीराज रासो' का जो संस्करण सभा से प्रकाशित हुआ है, वही प्रामाणिक है। दूसरा वर्ग रामचन्द्र शुक्ल, कविराजा श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, डॉ० बूलर, मुंशी देवीप्रसाद आदि विद्वानों का है, जो 'रासो' को सर्वथा अप्रामाणिक ग्रन्थ घोषित करते हैं। आश्चर्य है कि शुक्ल जी अप्रामाणिक मानते हुए भी उसे अपने इतिहास में आदिकाल के अन्तर्गत स्थान देते हैं। तृतीय वर्ग के विद्वान्—मुनि जिनविजय, डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि—यह मानते हैं कि पृथ्वीराज चौहान के दरबारी कवि चन्दवरदायी ने ही 'पृथ्वीराज रासो' लिखा था, किन्तु उसका मूल रूप आजकल उपलब्ध नहीं है। चौथा मत नरोत्तमदास स्वामी का है। उन्होंने सबसे अलग यह बात कही है कि चन्द ने पृथ्वीराज के दरबार में रहकर मुक्तक रूप में 'रासो' की रचना की थी। उनके इस मत से कि 'रासो' मूलतः प्रबन्धकाव्य नहीं था—अन्य कोई विद्वान् सहमत नहीं है।

वस्तुतः आरम्भ में यह ग्रन्थ विवादास्पद नहीं था। कर्नल टॉड ने इसकी वर्णन-शैली तथा काव्य-सौन्दर्य पर रीझकर इसके लगभग ३० हज़ार छन्दों का अँगरेज़ी में अनुवाद भी किया था। तासी भी इसकी प्रामाणिकता में सन्देह नहीं करते थे। बंगाल की रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ने इस ग्रन्थ का मुद्रण भी आरम्भ कराया था। सन् १८७५ ई० में डॉ० बूलर ने 'पृथ्वीराज विजय' ग्रन्थ के आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना घोषित किया। फलतः राजस्थान के कुछ इतिवृत्त-खोजियों—कविराजा मुरारिदान, श्यामलदान, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा आदि ने इस काव्य को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिए सायास तर्क जुटाये। इन विद्वानों के तर्कों को निराधार सिद्ध करने का प्रयत्न किया डॉ० दशरथ शर्मा ने किया। वस्तुतः यह विवाद इतना उलझ गया है कि अब तक कुछ विद्वान् इसे अप्रामाणिक कृति सिद्ध करने में जुटे हुए हैं। वे एतदर्थ नये-नये तर्क खोजते रहते हैं। कुछ ऐसे विद्वान् भी हैं, जो उनके द्वारा खोजे गए तर्कों को निराधार सिद्ध करने के लिए सामग्री जुटाते रहते हैं।

अप्रामाणिकता के लिए तर्क : जो लोग 'रासो' को अप्रामाणिक रचना मानते हैं, उनके तर्क निम्नलिखित हैं :

१. 'रासो' में उल्लिखित घटनाएँ और नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इसमें परमार, चालुक्य और चौहान क्षत्रियों को अग्निवंशी माना गया है, जबकि वे सूर्यवंशी प्रमाणित हुए हैं।

२. पृथ्वीराज का दिल्ली गोद जाना, संयोगिता-स्वयंवर आदि घटनाएँ इतिहास से

मेल नहीं खातीं।

३. अनंगपाल, पृथ्वीराज तथा बीसलदेव के राज्यों के सन्दर्भ भी अशुद्ध हैं।

४. पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूरी था, जो 'रासो' में कमला बताया गया है।

५. पृथ्वीराज की बहिन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह के साथ बता गया है, जो अशुद्ध है।

६. पृथ्वीराज द्वारा गुजरात के राजा भीमसिंह का वध भी इतिहास-सम्मत नहीं

७. 'रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का वर्णन है, जो इतिहास से मेल खाता।

८. पृथ्वीराज के हाथों ग़ोरी की मृत्यु की सूचना भी इतिहास-सम्मत नहीं है।

९. पृथ्वीराज द्वारा सोमेश्वर का वध भी इतिहास-सम्मत नहीं है।

१०. 'रासो' में दी गईं तिथियाँ अशुद्ध हैं। सभी तिथियों में इतिहास की तिथियों प्रायः ९०-१०० वर्षों का अन्तर है।

यदि उपर्युक्त तथ्यों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाए, तब तो 'पृथ्वीराज रा को अप्रामाणिक रचना कहा ही जा सकता है। किन्तु, दूसरे पक्ष के तर्क भी इस सम्बन्ध विचारणीय हैं :

१. डॉ० दशरथ शर्मा का मत है कि इसका मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। इस जो लघुतम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें इतिहास सम्बन्धी अशुद्धियाँ नहीं हैं।

२. घटनाओं में ९०-१०० वर्षों का जो अन्तर है, वह संवत् की भिन्नता के का है। मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने 'अनन्द संवत्' की कल्पना की है और उसके अनु तिथियाँ भी शुद्ध सिद्ध होती हैं।

३. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का मत है कि 'पृथ्वीराज रासो' में बारहवीं शता की भाषा की संयुक्ताक्षरमयी अनुस्वारान्त प्रवृत्ति मिलती है, जिससे यह बारहवीं शताब्दी ग्रन्थ सिद्ध होता है।

४. 'रासो' इतिहास-ग्रन्थ न होकर काव्य-रचना है, अतः उसमें इतिहास का खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।

५. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का यह मत भी है कि 'पृथ्वीराज रासो' की र शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती, उन्हें प्रक्षि मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाए, तो वे ही अंश प्रायः प्रक्षिप्त सिद्ध होते जिनमें इतिहास-विरुद्ध तथ्य हैं।

६. जिन लोगों ने 'रासो' में अरवी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग देखकर उसे जा ग्रन्थ माना है, उनके विरुद्ध यह तर्क दिया जाता है कि चन्द लाहौर का निवासी था। वहाँ समय मुसलमानों का प्रभाव आ चुका था, अतः उसकी भाषा में अरबी-फ़ारसी के शब्दों मिश्रण होना सहज है।

वस्तुतः विद्वानों ने बाल की खाल खींचने की चेष्टा में अनेक ऐसे तर्क प्रस्तुत किये जो इस काव्य की प्रामाणिकता के लिए उचित कसौटी नहीं बन सकते। 'पृथ्वीराज रासो' नहीं, 'रामचरितमानस', 'सूरसागर', 'बीजक' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी यदि प्रकार के तर्क दिये जाएँ तो उनकी अप्रामाणिकता भी किसी-न-किसी सीमा तक सन्देह विषय बन सकती है। 'रामचरितमानस' में तो प्रक्षिप्त अंश स्वीकार किये भी जाते हैं। ऐसे पद भी मिलते हैं, जो सूर और मीरां दोनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। अतः प्रक्षिप्तांशों

इतिहास-विरोधी कथनों के आधार पर 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। चन्द ने पृथ्वीराज के जीवन की घटनाओं का जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे देखकर यही कहा जा सकता है कि वह पृथ्वीराज का समकालीन कवि था। अतः 'रासो' को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है। यदि इस विवाद में कोई सत्यांश झलकता भी है, तो वह इतना ही कि 'पृथ्वीराज रासो' में पर्याप्त प्रक्षिप्त अंशों का भी समावेश हुआ है।

काव्योत्कर्ष : चन्दबरदायी ने इस ग्रन्थ में अनेक घटनाओं का समावेश किया है तथा कुछ घटनाएँ बाद में भी चारणों ने जोड़ी हैं, जिससे ऐसा लगता है कि यह काव्य एक घटना-कोश है; परन्तु समस्त घटना-चक्र के भीतर कवि ने अपनी रस-दृष्टि का नियोजित रूप में विस्तार किया है। अतः इसे 'महाभारत' की तरह एक विशाल महाकाव्य मान सकते हैं। इस काव्य में दो रस प्रमुख हैं—शृंगार और वीर। ये दोनों रस पृथ्वीराज चौहान के चरित्र के दो पार्श्व उन्मुक्त करते हैं। वह जितना वीर है, उतना ही शृंगार-प्रेमी भी है। कवि ने एक ओर तो युद्धों के वर्णन में वीरता और पराक्रम की अद्भुत सृष्टि की है, दूसरी ओर रूप-सौन्दर्य और प्रेम के भी सरस चित्र उतारे हैं। नारी दोनों रसों के केन्द्र में है। उसे पाने के लिए युद्ध होते हैं और पा लेने पर जीवन का विलास-पक्ष अपनी पूरी रमणीयता के साथ उभरता है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रेम और शौर्य के सभी चित्रों में कवि ने कुछ नैतिक मर्यादाओं का निर्वाह किया है, जिनके कारण रस की सात्त्विकता सुरक्षित रही है।

"पृथ्वीराज रासो' में वस्तु-वर्णन का भी आधिक्य है। कवि ने बड़ी तन्मयता के साथ नगरों, वनों, सरोवरों, किलों आदि का वर्णन किया है। युद्ध-क्षेत्र के दृश्य तो अद्भुत प्रतिभा का परिचय देते ही हैं, कवि ने समय और क्रिया को एक साथ विम्वों में बाँधकर रंग और ध्वनियों को भी रूपायित कर दिया है। भाव, वस्तु और ध्वनि की सम्मिलित प्रभावान्विति के उदाहरण 'पृथ्वीराज रासो' में भरे पड़े हैं। एक उदाहरण देखिए :

वज्जिय घोर निसांन रान चौहान चहूँ दिसि।
सकल सूर सामन्त समर बल जंत्र मत्र तिसि।
उट्ठि राज प्रथिराज बाग लग्ग मनहु वीर नट।
कढ़त तेग मन वेग लगत मनहु वीजु झट्ट घट्ट॥

नारी-सौन्दर्य का भी एक चित्र देखिए :

मनहुँ कला ससिभान कला सोलह सो बन्निय।
बाल बैस ससि ता समीप अमृत रस पिन्निय।
बिगसि कमल स्रिग भ्रमर नैनु खंजन म्रिग लुट्टिय।
हीर कीर अरु विम्व मोती नख सिख अहिघुट्टिय।
छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय।
पद्मिनी रूप पद्मावतिय, मनहुँ काम कामिनि रचिय॥

वीर और शृंगार रसों के पोषण के लिये आवश्यकतानुसार अन्य रसों की भी योजना की गई है और उनके वर्णन में भी कवि ने उतनी ही तन्मयता दिखलायी है।

'पृथ्वीराज रासो' की भाषा के सम्बन्ध में भी विवाद रहा है। वस्तुतः यह काव्य पिंगल शैली में लिखा गया है जो ब्रजभाषा का वह रूप है जिसमें राजस्थानी बोलियों का मिश्रण है। कवि ने तत्कालीन सभी प्रचलित शब्दों का स्वतन्त्रता से प्रयोग किया है। शब्द-चयन रसानुकूल है, अतः वीर रस के चित्रणों में प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं। जहाँ तक भाषा की शक्ति का प्रश्न है, कवि ने अभिधेय भाषा को भी पर्याप्त

प्रभावशाली रूप दिया है। लाक्षणिक तथा ध्वन्यात्मक शब्दावली ने भी प्रायः भाषा-सौन्दर्य की वृद्धि की है। अलंकारों का चन्द ने सहज प्रयोग किया है। शायद ही कोई अलंकार ऐसा हो जिसे उन्होंने छोड़ा हो। लगभग अड़सठ प्रकार के छन्दों में लिखा गया यह महाकाव्य सभी दृष्टियों से आदिकाल की एक श्रेष्ठ कृति सिद्ध होता है।

लौकिक साहित्य

आदिकाल में पूर्वोक्त प्रमुख प्रवृतियों के अतिरिक्त स्वच्छन्द रूप में लौकिक विषयों पर ग्रन्थ लिखने की प्रवृत्ति भी मिलती है। यहाँ हम आदिकाल में उपलब्ध सभी लौकिक काव्यों का परिचय देकर इस स्वच्छन्द धारा की प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

ढोला-मारू रा दूहा : ग्यारहवीं शताब्दी में रचित यह एक लोकभाषा-काव्य है। 'दूहा घणाँ पुराणां अछइ' पंक्ति इसकी प्राचीनता की ओर ही संकेत करती है। पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश (राजस्थान) में यह काव्य अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। इस सम्बन्ध में एक कथन प्रसिद्ध है:

सोरठियो दूहो भलो, भलि मरवण री बात।
जोबन छाई धण भली, ताराँ छाई रात॥

मूलतः दोहों में रचित इस लोक-काव्य को सत्रहवीं शताब्दी में कुशलराय वाचक ने कुछ चौपाइयाँ जोड़कर विस्तार दिया। इसमें ढोला नामक राजकुमार और मारवणी नामक राजकुमारी की प्रेम-कथा का वर्णन है। कछवाहा वंश के राजा नल का पुत्र ढोला जिस समय तीन वर्ष का था तथा पूगल के राजा पिंगल की कन्या मारवणी केवल डेढ़ वर्ष की थी, तभी दोनों का विवाह कर दिया गया था। कहा जाता है कि पूगल में अकाल पड़ने पर राजा पिंगल विवश होकर नल के राज्य में चले गये थे। तभी पिंगल की रानी ढोला पर रीझ गयी थी और उसने मारवणी से उसका विवाह कर दिया था। जब ढोला बड़ा हुआ, तब उसका दूसरा विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से हो गया। इस पर मारवणी दुःखी रहने लगी। उसने ढाढ़ियों के माध्यम से ढोला के पास अपना विरह-सन्देश भेजा। मालवणी के प्रयत्न से बहुत समय तक ढोला को वह सन्देश न मिल सका। किन्तु, अन्त में मारवणी अपने उद्देश्य में सफल हुई और दोनों के पुनर्मिलन का समय आया।

यह लोक-प्रसिद्ध प्रेमगाथा आदिकालीन शृंगार-काव्य-परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। 'राउलवेल' के कवि रोडा ने प्रेम-वर्णन की जो परम्परा हिन्दी में आरम्भ की थी, उसको 'ढोला-मारू रा दूहा' की रचना से विकास की एक नयी दिशा प्राप्त हुई। वीर रस की कृतियों में भी शृंगार एक प्रभावी तत्त्व बनकर समा गया। इस काव्य में नारी-हृदय की अत्यन्त मार्मिक व्यंजना मिलती है। प्रेम का सात्त्विक, किन्तु सरस, पक्ष इसमें विस्तार से प्रस्तुत हुआ है। कवि ने मारवणी के भावों की व्यंजना में संस्कृत के प्रेम-काव्यों की परम्परा का प्रभाव भी ग्रहण किया है। ऋतुओं की सरसता के सन्दर्भ में मालवणी और मारवणी के विरह-वर्णन हृदय पर स्थायी प्रभाव डालते हैं।

'ढोला-मारू रा दूहा' का मूल रूप दोहों में मिलता है। ये दोहे शृंगार रस की जो परम्परा आरम्भ करते हैं, वह आगे जाकर बिहारी के काव्य में प्रतिफलित हुई। मारवणी के वियोग और संयोग के चित्र इन दोहों में अधिक भावपूर्ण बन पड़े हैं, जबकि बिहारी के दोहों की नायिका के संयोग एवं वियोग-चित्रों में कला-पक्ष की प्रधानता है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, नरोत्तमदास स्वामी, विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि विद्वानों ने इस काव्य के भाव-गाम्भीर्य को परिष्कृत लोक-रुचि का प्रतीक माना है।

जयचन्द-प्रकाश और जयमयंक-जसचन्द्रिका : इन कृतियों का 'राठौड़ाँ री ख्यात' में उल्लेख मिलता है, किन्तु अभी तक ये उपलब्ध नहीं हुई हैं। कहा जाता है कि प्रथम कृति की रचना भट्ट केदार नामक कवि ने की थी। रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यह एक महाकाव्य था "जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का वर्णन था।"[1] इसी प्रकार की दूसरी कृति 'जयमयंक-जसचन्द्रिका' की रचना मधुकर कवि ने ११८६ ई० में की थी। ये दोनों ही ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। किन्तु 'राठौड़ाँ री ख्यात' में यह उल्लेख मिलता है कि दयालदास ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर कन्नौज तक का वृत्तान्त लिखा था। अतः इन कृतियों की रचना तो अवश्य हुई होगी; किन्तु ये सुरक्षित नहीं रह सकीं।

वसन्त-विलास : डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में, "यह एक अत्यधिक सरस साहित्यिक कृति है और आधुनिक भारतीय आर्य-भाषा-साहित्य के आदिकाल के इतिहास में बेजोड़ है।"[2] सर्वप्रथम यह रचना 'हाजी मुहम्मद स्मारक ग्रन्थ' में सन् १६५२ ई० में प्रकाशित हुई थी। श्री केशवलाल हर्षादराय ध्रुव इसके प्रथम सम्पादक थे। उन्होंने १४५१ ई० की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर इसका सम्पादन किया था। इससे इस कृति की रचना का काल १४५१ ई० से पूर्व होना चाहिए। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने विभिन्न प्रमाण देकर यह मत निर्धारित किया है कि "यह रचना अधिक-से-अधिक विक्रमीय चौदहवीं शती के मध्य—ईस्वी तेरहवीं शती—की होनी चाहिए।"[3]

इस कृति के रचयिता का पता नहीं चल सका है। इसमें चौरासी दोहों में वसन्त, और स्त्रियों पर उसके विलासपूर्ण प्रभाव, का मनोहारी चित्रण किया गया है। इस काव्य में प्रकृति और नारी दोनों का मदोन्मत्त स्वरूप शृंगार रस की तीव्र धारा प्रवाहित करता है। आदिकाल को विद्वानों ने अब तक वीरगाथाओं और धार्मिक उपदेशों का ही युग माना था, 'वसन्त-विलास' ने 'राउलवेल' की शृंगार-भावना को चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। इस काव्य के सरस वर्णनों को पढ़कर सूर की शृंगार-भावना या उसके पश्चात् रीतिकालीन कवियों की शृंगारिकता साहित्य में अचानक आ जानेवाली प्रवृत्ति नहीं रह जाती और न उसके लिए संस्कृत-साहित्य में परम्परा की खोज करना ही आवश्यक प्रतीत होता है। इस कृति में आदिकाल के जन-जीवन का वह सरस पक्ष उभरता है, जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल शायद तलवारों की झनझनाहट के आधिक्य के कारण नहीं सुन पाये थे। स्त्री-पुरुष-प्रकृति—तीनों में अजस्र बहती मदोन्मत्तता का इस काव्य में जैसा चित्रण मिलता है, वैसा रीतिकालीन हिन्दी-कवि भी नहीं कर सके। एक ओर कोकिल-कूजन, दूसरी ओर पति-युक्ता युवतियों का विलास; जिसे देखकर विधुर जन तथा वियोगिनी नारियाँ किशोर मदन का मदिर कूजन मन में अनुभव करती हुई काँपने लगती हैं! कवि लिखता है :

इणि परि कोइलि कूजइ, पूजइँ युवति मणोर।
विधुर वियोगिनि धूजइँ, कूजइ मयण किसोर॥

इस काव्य की भाषा से ही पिंगल सरस ब्रजभाषा का रूप लेती प्रतीत होती है। उस पर उस आलंकारिकता की गहरी छाया भी यहीं से मिलने लगती है, जिसका रीतिकाल तक पूर्ण विकास हुआ।

खुसरो की पहेलियाँ : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार खुसरो (१२५५-१३२४)

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०

[2-3] वसन्त-विलास और उसकी भाषा, भूमिका, पृष्ठ १, ५

ने १२८३ ई० के लगभग रचना आरम्भ की थी। उनका जन्म एटा के पटियाली गाँव हुआ था। कहा जाता है कि वे बड़े विनोदी और सहृदय व्यक्ति थे। जन-जीवन के घुल-मिलकर काव्य-रचना करनेवाले कवियों में खुसरो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने जन के मनोरंजन के लिए पहेलियाँ और मुकरियाँ लिखी थीं। आदिकाल में खड़ीबोली को का की भाषा बनानेवाले वे पहले कवि हैं। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या सौ बतायी जा है, जिनमें अब बीस-इक्कीस ही उपलब्ध हैं। 'खालिकबारी', 'पहेलियाँ', मुकरियाँ', सुखनें', 'ग़ज़ल' आदि उनमें अधिक प्रसिद्ध हैं। कुछ लोग कहते हैं कि अमीर खुसरो नाम कई व्यक्ति हुए हैं, अतः इन सब रचनाओं को पहेलीकार अमीर खुसरो की रचनाएँ मान एक भ्रम है। कुछ भी हो, आदिकाल में जो अमीर खुसरो हुए थे, उनकी पहेलियाँ औ मुकरियाँ ही प्रसिद्ध हैं जिनमें मनोरंजन और जीवन पर गहरे व्यंग्य एक-साथ मिलते हैं अमीर खुसरो को भाव की गहराई की दृष्टि से भले ही महत्त्व न दिया जाए, किन्तु भा की दृष्टि से उनकी पहेलियाँ साहित्य के इतिहास का सदा एक महत्त्वपूर्ण अंग रहेंगी वस्तुतः उनके काव्य में खड़ीबोली काव्य-भाषा बनने का सफल प्रयास कर रही थी। उन भाषा के ऐतिहासिक महत्त्व को समझने के लिए एक पहेली यहाँ प्रस्तुत है :

तरवर से इक तिरिया उतरी, उनने बहुत रिझाया।
बाप का उसने नाम जो पूछा, आधा नाम बताया॥
आधा नाम पिता पर प्यारा, बूझ पहेली गोरी।
अमीर खुसरो यों कहे, अपने नाम न बोली—'निबोरी'॥

पहेली-रचना की इस शैली का हिन्दी-काव्य में आगे विस्तार नहीं हुआ, कि रहस्य-प्रवृत्ति के विकास पर उसका प्रभाव अवश्य पड़ा। चमत्कार और कुतूहल की प्रवृत्ति भी खुसरो की प्रेरणा से हिन्दी-काव्य में विशेष स्थान पाने लगीं। फलतः रीतिकाल में कुतूह काव्यों की एक लम्बी परम्परा चली, जिसका अभी तक किसी ने अध्ययन नहीं किया है।

गद्य-साहित्य

आदिकाल में काव्य-रचना के साथ-साथ गद्य-रचना की दिशा में भी कुछ स प्रयास लक्षित होते हैं। 'राउलवेल' (चम्पू), 'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' और 'वर्णरत्नाकर' सन्दर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

राउलवेल : यह एक शिलांकित कृति है, जिसका पाठ बम्बई के प्रिंस ऑफ़ वे संग्रहालय से उपलब्ध कर प्रकाशित कराया गया है। विद्वानों ने इसका रचना-काल द शताब्दी माना है। यह गद्य-पद्य-मिश्रित चम्पू-काव्य की प्राचीनतम हिन्दी-कृति है। इ रचना 'राउल' नायिका के नखशिख-वर्णन के प्रसंग में हुई है। आरम्भ में कवि ने राउल सौन्दर्य का वर्णन पद्य में किया है और फिर गद्य का प्रयोग किया गया है। इस कृति रचयिता रोडा नामक कवि माना जाता है। 'राउलवेल' से हिन्दी में नखशिख-वर्णन शृंगार-परम्परा आरम्भ होती है। इसकी भाषा में हिन्दी की सात बोलियों के शब्द मि है, जिनमें राजस्थानी प्रधान है। कवि ने विषय-वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है। ना राउल का शृंगार आकर्षण से भरा हुआ है। वह सहज रूप में जितनी सुन्दर है, उतनी सहज-सुन्दर उसकी सज्जा भी है। इस सौन्दर्य के अनुकूल ही उसकी भाव-दशा भी रोडा ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग करके रूप-वर्णन को प्रभावशाली दिया है। कवि ने गद्य में भी आलंकारिक भाषा का कितनी सफलता से प्रयोग किया

इसका एक उदाहरण देखिए :

> *"एहु गौड़ तुहुँ एकु को पनु अउर वर···को···तइँ सहुँ या वालइ। जणुणु मालवीउ देसुहि आवंतु आम्वदेउ जाउँ (जानूँ) आपणा हथिआरहु भूलइ। इहाँ अम्हारइ दुभगी खौंप वरिउ भइ।"*

उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण : महाराज गोविन्दचन्द्र के सभा-पण्डित दामोदर शर्मा ने बारहवीं शताब्दी में इस पुस्तक की रचना की थी। गोविन्दचन्द्र का शासन-काल ११५४ ई० माना गया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "'उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व्याकरण-ग्रन्थ है। इससे बनारस और आसपास के प्रदेशों की संस्कृति और भाषा आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और उस युग के काव्य-रूपों के सम्बन्ध में भी थोड़ी-बहुत जानकारी प्राप्त होती है।"[1] डॉ० मोतीचन्द भी डॉ० द्विवेदी के मत का समर्थन करते हैं। इस ग्रन्थ की भाषा का एक उदाहरण इस प्रकार है : "वेद पढ़ब, स्मृति अभ्यासिब, पुराण देखब, धर्म करब।" इससे गद्य और पद्य दोनों शैलियों की हिन्दी भाषा में तत्सम शब्दावली के प्रयोग की बढ़ती हुई प्रवृत्ति का पता चलता है। हिन्दी-व्याकरण की ओर उस समय ध्यान दिया जाने लगा था, यह भी इस पुस्तक से सिद्ध होता है।

वर्णरत्नाकर : मैथिली हिन्दी में रचित गद्य की यह पुस्तक डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी और पंडित बबुआ मिश्र के सम्पादन में बंगाल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित हो चुकी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी में हुई होगी। इसका लेखक ज्योतिरीश्वर ठाकुर नामक मैथिल कवि था। इसकी भाषा में कवित्व, आलंकारिकता तथा शब्दों की तत्समता की प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। गद्य में नायिका का वर्णन करते हुए ज्योतिरीश्वर लिखते हैं :

> *"उज्वल कोमल लोहित सम सुंतल सालंकार पंचगुण संपूर्ण चरण अकठिन सुकुमार गज हस्त प्राय जानु युगल पीन मांसल कूर्म्म पृष्ठाकार श्रोणी गंभीर दक्षिणावर्त मण्डलाकृति नाभि क्षीण सुकुमार वलित तिनि गुणे समन्वित पुष्टि-ग्राह वेकण्य स्याम सदृश सुकुमार सुक्ष्म सुवेष दीर्घ छह गुणे सम्पूर्ण कोमलता।*
>
> *पुनु कयिसनि नायिका। कामदेवक नगर अइसन शरीर। निष्कलंक चाँद अइसन मुह। कंदल खंजीरीर अइसन लोचन। यमुना क तरंग अइसन भुजइ।"*

इन पंक्तियों से 'वर्णरत्नाकर' एक शब्दकोश-सा प्रतीत होता है, किन्तु सौन्दर्य-ग्राहिणी प्रतिभा भी साथ-ही-साथ स्पष्ट प्रभाव दिखा रही है। हिन्दी-गद्य के विकास में 'राउलवेल' के पश्चात् 'वर्णरत्नाकर' का योगदान भी कम नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही इन कृतियों के बीच के समय में भी गद्य-रचनाएँ लिखी गई होंगी, परन्तु विभिन्न कारणों से अब वे उपलब्ध नहीं हैं। फिर भी, ये कृतियाँ गद्य-धारा के प्रवाह की अखण्डता तो सिद्ध करती ही हैं।

आदिकाल की उपलब्धियाँ

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का यह काल, जिसका हमने 'आदिकाल' के नाम से विवेचन किया है, भाषा और साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न है। उसकी समस्त देन का अभी तक सम्यक् मूल्यांकन नहीं हो पाया है, क्योंकि विद्वान् प्रामाणिकता एवं भाषा के विवादों

---

[1] हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ८

में उलझे रहे हैं। कई ऐसी उपलब्धियाँ सामने आती हैं, जिनका परवर्ती साहित्य पर ऋण है। यहाँ हम उन पर भाषा तथा साहित्य की दृष्टि से अलग-अलग विचार करेंगे।

भाषा-रूप और सम्प्रेषण-क्षमता : जैसा कि हम आरम्भ में संकेत कर चुके हैं, काल में हिन्दी भाषा साहित्यिक अपभ्रंश के साथ-साथ चलती हुई क्रमशः जनभाषा के में साहित्य-रचना का माध्यम बन रही थी। समस्त आदिकाल में दो भाषाओं की यह नान्तर रचना-प्रक्रिया चलती रहने से अधिकांश विद्वान् गम्भीरतापूर्वक विचार करके भाषाओं के साहित्यों को अलग-अलग करने का अवसर नहीं पा सके। फल यह हुआ कभी अपभ्रंश के नाम पर हिन्दी का आरम्भिक साहित्य छोड़ दिया गया है और कभी हिन्दी के नाम पर अपभ्रंश का परवर्ती साहित्य भी हिन्दी-साहित्य में सम्मिलित कर गया है। जब भाषा का रूप और साहित्य ही अपनी सीमाएँ नहीं बना सका था, तब सम्प्रेषण-क्षमता की जाँच कैसे होती? किन्तु नयी खोजों से अब यह धारणा स्पष्ट हो है कि जनभाषा के रूप में हिन्दी आठवीं शताब्दी में ही साहित्य का माध्यम बन चुकी तथा वह अपभ्रंश भाषा के साथ अपनी भूमि पर आगे भी बढ़ने लगी थी। फलतः अप में साहित्य लिखनेवाले कवि अवसर पाकर हिन्दी में भी कविता किया करते थे। दोनों भा में यह स्पर्धा भक्तिकाल के आरम्भ तक चलती रही और अन्त में एक दिन ऐसा भी जब अपभ्रंश का खेमा छोड़कर सभी कवि हिन्दी के मार्ग पर अग्रसर हो गये। आदिका साहित्य में प्रयुक्त हिन्दी की यह बहुत बड़ी शक्ति है, जो उसकी सम्प्रेषण-क्षमता की देती है। एक विशाल क्षेत्र की अनेक बोलियों से उसका एक सामान्य रूप विकसित हो था। वह मिथिला से मेवाड़ तक की व्यापक जनभाषा बनकर जन-मानस को प्रभावित रही थी। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के शब्द भी यदि अपनी सीमा छोड़कर हिन्दी दामन पकड़ना चाहते थे, तो कविगण बड़े प्रेम से उनके सामने अपना हृदय खोल देते जन-भाषा के प्रयोग की यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे जन-जीवन के सभी रूपों को प्रस्तुत क समर्थ होती जा रही थी। आदिकालीन साहित्य की भाषा कठिनता से सरलता की जाती हुई भी एक व्यापक रूप ग्रहण करने की ओर बढ़ रही थी। दूर-दूर रहते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में रमते हुए भी सभी हिन्दी-कवियों की प्रतिभा एकत्व का आभा रही थी। अनजाने ही उन सबका एक ऐसा प्रयास चल रहा था, जिसके फलस्वरूप हिन्दी-क्षेत्र की बोलियाँ अपनी सांस्कृतिक एकता की स्थापना कर सकें। सम्भवतः इसी की पूर्ति के लिए कविगण संस्कृत से तत्सम शब्द लेकर अपनी भाषा में प्रयुक्त करने ल यद्यपि आदिकाल में भाषा की यह प्रवृत्ति पूर्णतः स्पष्ट नहीं हो पायी थी, किन्तु प्रया सघनता अपना चमत्कार दिखाने लगी थी। इसी चमत्कार के फलस्वरूप पन्द्रहवीं शताब् अन्त होते-होते हिन्दी का वह रूप उभरा जो समस्त देश की प्रमुख सांस्कृतिक भाषा बन

आदिकालीन हिन्दी का संस्कृत और संस्कृति की ओर जानेवाला व्यापक जनभा स्वरूप अभिधेय रूप में भी पर्याप्त सम्प्रेषणीय था। कवियों ने उन शब्दों को छोड़ दि जो घिसे-पिटे धार्मिक अर्थों को ढोते थे। तत्कालीन जीवन की भाव-भूमि का साथ दे शब्दावली सरल रूप में भी सशक्त होती जा रही थी। उसमें नये पुरुषार्थों तथा नये को व्यंजित करने की शक्ति बड़ी स्फूर्ति के साथ जन्म ले रही थी। सिद्धों की जीव तथा स्पष्टवादिता; नाथपन्थियों का हठयोग, जैनों की अहिंसा, चारणों-भाटों की प्रश खुसरो की लोकानुरंजनता—सबको एक साथ अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य जुटाने में हिन्दी भाषा न अलंकार की परवाह करती थी, न लक्षणा-व्यंजना आदि की। ये सब

हज ही उसके अनुवर्ती होते जा रहे थे। यही कारण है कि आदिकालीन साहित्य की भाषा क ओर तो रूप-भेद होने पर भी अभेद है, और दूसरी ओर सम्प्रेषण-क्षमता में भी वह जोड़ है। कोई भी अलंकार ऐसा नहीं, जो उसमें न फबता हो; कोई भी छन्द ऐसा नहीं, ो उसका साथ न देता हो। उसमें कवियों ने जीवन के जिस किसी भी पार्श्व को चित्रित या है, वही सजीव हो उठा है। आदिकालीन कवियों का हिन्दी भाषा की रूपात्मक एकता ा प्रयास, जो पन्द्रहवीं शताब्दी तक पहुँचते-पहुँचते पूर्ण सफल हो चुका था, इतिहास से टाया नहीं जा सकता।

कथ्य और शिल्प : आदिकालीन साहित्य जन-जीवन की जिन अनुभूतियों से प्रकट आ था, उनमें पर्याप्त विविधता थी। अतः वह एक भीड़ का सायास लिखित साहित्य नहीं अपितु एक सचेतन समाज की सहज स्थितियों से उत्पन्न साहित्य है। यही कारण है कि समें जीवन की विभिन्न दशाओं और स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के विविध चित्र मिलते हैं। कथ्य ी दृष्टि से आदिकालीन साहित्य में एक साथ कई परम्पराओं का उदय दिखायी देता है। पभ्रंश और संस्कृत की रचनाओं में इनमें से कुछ परम्पराओं के स्रोत अवश्य हैं, किन्तु नकी शक्ति और गम्भीरता हिन्दी की अपनी देन है। समाज की विभिन्न स्थितियों पर ष्टिपात करके सहज जीवन का मार्ग सुझाने से लेकर हठयोग की साधना तक आदिकाल में क्तक काव्य-रूप का जो विस्तार हुआ, निश्चय ही उसका पर्याप्त ऐतिहासिक महत्त्व है। ार आदिकालीन सिद्धों और नाथपन्थियों के काव्य-रूपों को हिन्दी-क्षेत्र से निकाल दिया ाए, तो फिर भक्तिकालीन निर्गुणपन्थियों की काव्य-गंगा का उद्गम बताना कठिन हो एगा। और, जो लोग मैदान से ही गंगा को गंगा मानते हैं, जिस पर्वत से वह निकली है, से ऊबड़-खाबड़ भूमि समझकर छोड़ देना चाहते हैं, वे यह भूल जाते हैं कि तब उनकी गंगा जीवन कौन देगा ?

हमें तो स्पष्टतः आदिकालीन हिन्दी-साहित्य में धार्मिक कथाओं और ऐतिहासिक रितों की उन प्रवृत्तियों का विकास होता दिखायी देता है, जो भक्तिकाल में 'रामचरितमानस' 'पद्मावत' जैसे महाकाव्यों में नये रूपों में समृद्ध हुईं। आदिकालीन जैन-साहित्य, रासो-हित्य तथा लोक-काव्यों की वे प्रवृत्तियाँ ही, जो नारी और युद्ध पर आधारित थीं, भक्ति आवरण ओढ़कर आगे बढ़ीं और अब तक उनका विकास नहीं रुका है। प्राकृत और अप-ंश से 'राउलवेल' तक शृंगार की जो परम्परा आयी थी, वह भक्तिकाल को प्रभावित रती हुई रीतिकाल तक चली गयी। नारी के सहज शृंगार से लेकर उसके मानसिक सौन्दर्य पहुँचने की प्रवृत्ति भी आदिकाल में पूर्ण वेग से उभरी। नखशिख-वर्णन, विरह के विभिन्न , विरहिणी नायिका द्वारा प्रियतम के पास सन्देश-प्रेषण, स्वकीया और परकीया के प्रेम सीमाएँ—ये सब आदिकालीन साहित्य के कथ्य में अन्तर्निहित हैं तथा इनके कारण अनेक व्य-रूपों एवं आलंकारिक वर्णनों की परम्पराओं का विकास हुआ है। यही वह युग है जब थों का दुरूह हठयोग-काव्य यदि रचा और सुना जा सकता था, तो खुसरो की मनोरंजक लियों एवं जगनिक की वीररसपूर्ण कविता में भी लोग बड़ी रुचि से रम सकते थे। योगिनी के सुखद पर्यंक से लेकर क्षत्राणी के वीर पति की बलि तक कवियों की प्रतिभा का स्तार था। प्रकृति के अनेकविध रूपों के साथ मनुष्य-जीवन के विभिन्न स्वरूपों को चित्रित रने में भी इस युग के कवि पूर्ण सक्षम थे। उनके पास प्रकृति के सौन्दर्य को ग्रहण करने ही नहीं, उससे अपनी अभिव्यंजना को समर्थ बनाने की भी प्रतिभा थी। तात्पर्य यह कि युग में एक साथ धार्मिक मनोवृत्तियों का सात्त्विक चित्रण मिलता है, शृंगार की सहज

सरसता दिखायी देती है, वीर रस के भुजाएँ फड़कानेवाले दृश्य मिलते हैं तथा ऐसे सामने आते हैं, जिनसे एक स्वतन्त्र जाति के अहंकार का पूरा बिम्ब उसकी समस्त दू साथ उभरता है।

आदिकालीन साहित्य में कथ्य की विविधता के साथ छन्द-प्रयोग की विविधत रही है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने छन्द की दृष्टि से कुछ सीमाएँ बनायी हैं। श्लोक को लौकिक संस्कृत का, गाथा को प्राकृत का तथा दोहे को अपभ्रंश का मुख्य स्वीकार किया है। वस्तुतः दोहा छन्द अपभ्रंश में जनभाषा से ही गया था, इसलिए छन्द को हिन्दी का मुख्य छन्द मानना चाहिए। 'विक्रमोर्वशीय' के चतुर्थ अंक से डॉ० ने अपभ्रंश के नाम पर यह दोहा उद्धृत किया है :

मइँ जाणिअँ मिअलोअणी णिसअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णवतलिसामल धाराहरु वरिसेइ॥

आरम्भिक हिन्दी और अपभ्रंश को एक भाषा माननेवाले विद्वान् ही इस दोहे अपभ्रंश का उदाहरण मान सकते हैं, अन्यथा इसमें आरम्भिक हिन्दी की प्रवृत्तियाँ ही प्र हैं। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य में दोहा छन्द इस प्रकार की हिन्दी भाषा का सबसे प्र माध्यम रहा है। स्वच्छन्द अनुभूतियों के चित्रण के लिए अधिकांश हिन्दी-कवियों ने छन्द को चुना है। इस छन्द की परम्परा भक्तिकाल और रीतिकाल से होती हुई आधु काल तक चली आयी है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के मतानुसार संस्कृत और प्राकृत में मिलाने की प्रथा नहीं थी, दोहा छन्द से ही तुक की प्रवृत्ति आरम्भ हुई। वे इसे अपभ्रं की प्रवृत्ति बताते हैं। वस्तुतः यह जनभाषा की प्रवृत्ति थी, जो उसके साहित्यिक भाषा पर रचना का मुख्य अंग बन गयी। अपभ्रंश ने भी जन-कण्ठ से ही इस प्रवृत्ति को किया था। अतः अपभ्रंश और हिन्दी दोनों में दोहा-शैली का प्रयोग एक ही स्रोत से आ हुआ। यह कथन सत्य प्रतीत नहीं होता कि अपभ्रंश ने हिन्दी को दोहा-शैली दी थी। भ्रंश के बहुप्रचलित छन्द तो पज्झटिका, अरिल्ल और उनसे बने कडवक आदि थे; हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में दोहे के समान लोकप्रिय नहीं हुए। अरिल्ल के स्थान हिन्दी में चौपाई का प्रयोग बढ़ा। कथा-काव्यों में इसकी प्रतिष्ठा देखी जा सकती है। लोकप्रियता को देखकर ही भक्तिकाल में जायसी और महाकवि तुलसी ने आदिकाल का स्वीकार किया है। चौपाई के साथ दोहा रखकर कडवक बनाने की जो प्रथा सिद्धों ने हिन्दी-रचनाओं में आरम्भ की, उसी को आगे चलकर उक्त दोनों महाकवियों ने अपने का की मुख्य शैली बना लिया।

आदिकालीन रासो-काव्यों में वीर रस की व्यंजना के लिए छप्पय, तोटक, पद्धरि और नाराच का प्रयोग अधिक किया गया। इनमें से कुछ छन्द अपभ्रंश में भी प्र हो रहे थे। अतः कुछ विद्वान् शैली की समानता के कारण रासो-काव्यों को भी अपभ्रंश काव्य समझ बैठे हैं। आल्ह या वीर छन्द आदिकाल में दोहा के समान ही लोकप्रिय होगा। जगनिक ने उसी लोकप्रियता को देखकर 'परमाल रासो' में उसे काव्य की एक शैली बनाकर प्रयुक्त किया है।

छन्द के अतिरिक्त कथा कहने के ढंग की भी कुछ शिल्प-पद्धतियाँ इस काल में लित रहीं। इनमें कथानक-रूढ़ियों का महत्त्व है। रासो-ग्रन्थों में इस प्रकार की रूढ़ियों विशेष प्रयोग मिलता है। शुक, दूती, दैवी शक्तियाँ आदि इन रूढ़ियों के साधन रहे हैं रूढ़ियाँ अपभ्रंश-साहित्य में भी मिलती हैं। संस्कृत-साहित्य भी इनसे अछूता नहीं

अतः हिन्दी के आदिकालीन साहित्य में इनका प्रयोग काव्य-रचना की एक संस्कृति का द्योतक है, जिसका आगे भी विकास होता रहा। इन्हीं रूढ़ियों में से एक महत्त्वपूर्ण रूढ़ि थी—संवाद-शैली, जिसे आगे चलकर तुलसी-जैसे महाकवि ने भी अपनाया था।

काव्य-रचना की दो अन्य महत्त्वपूर्ण शैलियों का भी आदिकाल में विकास हुआ था, जिन्हें कुछ विद्वानों ने भाषा के नाम से ही अभिहित कर एक भ्रम पैदा कर दिया है। ये शैलियाँ हैं—डिंगल तथा पिंगल। आदिकालीन हिन्दी-साहित्य में वीर रस की रचनाओं में डिंगल शैली का प्रयोग होता था तथा कोमल भावों की अभिव्यंजना पिंगल शैली में की जाती थी। जब कवि पिंगल शैली का प्रयोग करता था, तो वह हिन्दी-बोलियों के कर्कश शब्दों को अपनाता था। किन्तु, पिंगल शैली के प्रयोग में धीरे-धीरे कोमल शब्दावली का विकास हो रहा था। डिंगल की कर्कश शब्दावली सीमित थी, अतः इस शैली के साहित्य का अधिक विस्तार न हो सका। पिंगल शैली लोकप्रिय होती चली गयी और उसका ब्रजभाषा में विगलन हो गया। जो लोग 'डिंगल' को राजस्थानी भाषा का पर्याय मानते हैं, वे भूल करते हैं। वस्तुतः राजस्थान के आदिकालीन साहित्य की भाषा 'हिन्दी' की ये दोनों ही शैलियाँ चारणों-भाटों द्वारा प्रयुक्त होती थीं तथा भक्तिकाल और रीतिकाल में भी उनके प्रयोग की वह क्षीण परम्परा चलती रही। आज भी राजस्थान की काव्य-रचनाओं में इन दोनों शैलियों की इस परम्परा के अवशेष मिल जाते हैं।

सारांश यह है कि आदिकालीन हिन्दी-साहित्य अपभ्रंश-साहित्य के समानान्तर विकसित हुआ है। इस युग में हिन्दी भाषा जन-जीवन से रस लेकर आगे बढ़ी है। उसने अपनी अनेक बोलियों को एकरूपता की ओर बढ़ाकर एक सूत्र में बाँधा है। जीवन के विविध पक्षों का उसके साहित्य में चित्रण हुआ है। परवर्ती कालों के लिए उसने अनेक परम्पराएँ डाली हैं। अनेक काव्य-रूप तथा शैली-शिल्प आदिकालीन साहित्य में प्रकट और पुष्ट हुए हैं। अतः आदिकाल को हिन्दी-साहित्य का एक समृद्ध युग माना जा सकता है।

द्वितीय खण्ड

पूर्व-मध्यकाल
अथवा
भक्तिकाल

अध्याय : ३

भक्तिकाल : पूर्वपीठिका

हिन्दी-साहित्य के सन्दर्भ में भक्तिकाल से तात्पर्य उस काल से है जिसमें मुख्यतः भागवत धर्म के प्रचार तथा प्रसार के परिणामस्वरूप भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ था और उसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण धीरे-धीरे लोक-प्रचलित भाषाएँ भक्ति-भावना की अभिव्यक्ति का माध्यम बनती गयीं और कालान्तर में भक्तिविषयक विपुल साहित्य की बाढ़-सी आ गयीं। परन्तु यह भावना वैष्णव धर्म तक ही सीमित न थी—शैव, शाक्त आदि धर्मों के अतिरिक्त बौद्ध और जैन सम्प्रदाय तक इस प्रवाह से प्रभावित हुए बिना न रह सके। भक्तिकाल का विवेचन करने के पूर्व भक्ति-भावना की परम्परा और परिवेश का संक्षिप्त परिचय पा लेना विषय को बोधगम्य बनाने में सहायक होगा।

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में भक्ति-मार्ग का विशिष्ट स्थान है, यद्यपि संहिता भाग के रचना-काल तक उसके अस्तित्व का कोई परिचय नहीं मिलता। वैदिक युग में यज्ञ अथवा कर्मकाण्ड के माध्यम से धर्मानुष्ठान हुआ करते थे। आगे लोग प्रायः प्राकृतिक वस्तुओं अथवा घटनाओं के मूल में किसी देवता की कल्पना कर लेते थे और उसे प्रसन्न रखने के लिए यज्ञादि का आयोजन करते थे। विनय अथवा प्रार्थना भी उनके दैनिक जीवन की उल्लासमयी अभिव्यक्ति थी। उनका ध्यान मुख्यतः ऐहिक सुखों की प्राप्ति पर केन्द्रित था और वे अन्तःकरण की साधना की अपेक्षा बाह्य विधानों का अनुसरण करने की ओर अधिक प्रवृत्त रहते थे। फिर भी, शुभाशुभ परिणामों में उनका विश्वास था, जिस कारण उनके यज्ञादि कर्मकाण्ड श्रद्धा से अनुप्राणित रहते थे। श्रद्धाविहीन यज्ञ का कोई अर्थ न था। इसी से श्रद्धा-मूलक भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ और आगे चलकर बहुदेववाद भी एकदेववाद में परिणत हो चला। भक्त के लिए यह स्वाभाविक हो गया कि वह बिखरी हुई शक्तियों में सामंजस्य लाकर अपनी दृष्टि किसी एक में निविष्ट करे। फलस्वरूप बहुदेवों की कल्पना सिमटकर धीरे-धीरे एक में ही समाहित होने लगी और कहा जाने लगा कि विद्वान् लोग उसी (सत्) को इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं।[1] इस प्रकार सार्वभौम मौलिक एकता के प्रतिपादन द्वारा परमात्म-तत्त्व की प्रतिष्ठा हो गयी। प्राकृतिक शक्तियों के दैवीकरण के बाद देवताओं का मानवीकरण होने लगा, जिसकी परिणति अवतारवाद में हुई। हिंस्र तथा कठोर

---

[1] देखिए 'ऋग्वेद', १।१६४।४३; ५।३।१-२

वृत्तियों का स्थान क्रमशः कोमल वृत्तियाँ लेने लगीं, जिसका प्रभाव भक्ति-साधना की वि पर पड़ना स्वाभाविक था। श्रमण-संस्कृति द्वारा इस प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय तथा प्रोत्स मिला।

आर्यों की अनेक सभाएँ तथा परिषदें हुआ करती थीं जिनमें उपस्थित किये गये वितर्क एवं दार्शनिक विवेचन के परिणामस्वरूप 'ब्राह्मण', 'आरण्यक' तथा 'उपनिष भागों की रचना हुई। जीवात्मा तथा अव्यक्त प्रकृति की भावना का उदय सम्भवतः अवधि में हुआ। कर्मफल तथा जन्मान्तरवाद की कल्पना के आधार पर कर्म-बन्ध जीवात्मा को उन्मुक्त करने के उपाय सोचे जाने लगे। कर्म-जाल से पृथक् रहकर परम चिन्तन में तल्लीन रहने के लिए तपादि की व्याख्या की गयी। वैदिकोपासना ध्यान-यो रूप में परिणत हो चली, जिससे श्रद्धा-भक्ति का द्वार उन्मुक्त हो गया। मोनियर विलि के अनुसार 'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' से की जा सकती है। इसके आधार पर यह जा सकता है कि भक्ति-भावना आर्यों के दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों के फलस्व क्रमशः श्रद्धा-उपासना से विकसित होकर उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य में भाग लेना (भज्: भाग लेना) जैसे व्यापक भाव में परिणत हुई। वैसे, 'भक्ति' का सर्वप्रथम उल्लेख 'श्वेताश्व उपनिषद्' (६।३३) में मिलता है। यह भी उल्लेखनीय है कि आर्यों के भारत आने पर यहाँ की यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, असुर, व्रात्य, विद्याधर आदि जातियों की नागर संस्कृति परिचय मिला था। आर्य लोग मुख्यतः सैनिक जीवन के अभ्यासी थे और उनका जा जीवन ग्रामीण संस्कृति पर आधारित था। इन दोनों के मिलन और पारस्परिक आदा प्रदान से भारतीय संस्कृति का विकास हुआ, जिसकी छत्रच्छाया में भक्ति-परम्परा का विकसित हुआ।

वैदिक भक्ति-परम्परा के समानान्तर दक्षिण भारत में द्रविड़-संस्कृतिगर्भित पृ भक्ति-परम्परा का सूत्रपात हो चुका था। यह परम्परा ईसा-पूर्व कई शताब्दियों से चली रही थी, जिसमें शरणागति और समर्पण की भावना प्रबल रूप में पायी जाती थी और कालान्तर में दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा उत्तर भारत में भी लोकप्रिय बनी। वास्तव में ई सन् के प्रारम्भिक काल में ही उत्तर और दक्षिण की दोनों परम्पराओं का मिलन हो थां, जिसका निदर्शन आडयारों तथा अडियारों के भक्ति-साहित्य में सुलभ है। इसके अन्त 'पूजा' को भक्ति का मुख्य साधन माना गया है, जिसे 'शिव' की भाँति तमिल भाषा का ठहराया गया है। 'मायोन' तथा 'तिरुमाल' को भी विष्णु का पर्याय बतलाया जाता है स्वयं 'भागवत' को भी कन्नड़ प्रदेश में रचित कहा गया है। यह ग्रन्थ मध्यकालीन भक्ति परम्परा का मुख्य प्रेरणा-स्रोत बना।

भक्ति-भावना के सन्दर्भ में पांचरात्र भी कम उल्लेखनीय नहीं हैं। इनका मुख उद्देश्य भक्ति-मार्ग के साधन का निरूपण करना रहा है। संहिताओं ने देवालयों के निर्मा उनमें आराध्य देव की प्रतिष्ठा और विधिवत् पूजन-अर्चन की व्यवस्था दी थी। इससे अवता वाद को प्रचुर प्रश्रय मिला। ईसाई मत और इस्लाम धर्म की देन के रूप में भक्ति की स्थाप बहुत पहले ही अप्रमाणित हो चुकी है। इधर श्रमण-संस्कृति और साहित्य के आधुनि विद्वानों ने भी परम्परा से अपना प्राचीन सम्बन्ध-सूत्र दिखलाने के यत्न किये हैं, जिन्हें कि एक ही उत्स के भिन्न-भिन्न स्रोत समझा जा सकता है। फिर भी, इनमें रागात्मक शरणागति और समर्पण के वैसे विविधतापूर्ण भाव विकसित नहीं हो पाये जिनके दर्शन एत विषयक साहित्य में अन्यत्र सुलभ हैं।

सीमांकन

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने समय तक के साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर भक्तिकाल का निर्धारण १३१८ से १६४३ ई० तक किया है। न तो आदिकाल में परिगणित सिद्ध, नाथ और जैन-साहित्य में विद्यमान भक्ति-तत्त्व के आधार पर इस अवधि का विस्तार उचित है और न रीतिकाल में स्फुट रूप में रचित भक्तिपरक छन्दों के आधार पर काल-विस्तार तर्कसंगत। शुक्ल जी की स्थापना में हेर-फेर की अधिक गुंजाइश तब तक नहीं दिखायी देती, जब तक वैसी सामग्री क्रमबद्ध रूप में न्यूनाधिक मात्रा में उपलब्ध न हो जाए। फिर भी, भक्ति-साहित्य में उन वैष्णवेतर रचनाओं को सम्मिलित करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए जो विषयवस्तु की दृष्टि से भी उक्त सीमा के अनुकूल पड़ती हैं। भक्तिकाव्य की परम्परा परवर्ती काल तक प्रवाहित रही है, किन्तु उसमें जितनी मात्रा अनुकरण की रहती आयी है, उतनी भावना के नवोन्मेष की नहीं। इसलिए जब तक ऐसी सामग्री उपलब्ध न हो कि पुनर्विचार की आवश्यकता पड़े, तब तक सामान्यतः शुक्ल जी की स्थापना को चलते रहने देना चाहिए। फिर भी, अध्ययन की सुविधा के लिए भक्तिकाल को चौदहवीं शती के मध्य से सत्रहवीं शती के मध्य तक मानना उचित होगा, क्योंकि आदिकाल की रचना-प्रवृत्तियाँ चौदहवीं शती के मध्य तक पर्याप्त बलवती रही थीं।

परिवेश

राजनीतिक स्थिति : पूर्व-मध्यकाल का आरम्भ दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक (१३२५-१३५१) के राज्यकाल में हुआ। उत्तर से दक्षिण तक के अपने राज्य-विस्तार को ध्यान में रखकर उसने दिल्ली की अपेक्षा देवगिरि को अपनी राजधानी बनाने का यत्न किया और उसका नाम दौलताबाद रखना चाहा। इस प्रयास में दिल्ली-प्रदेश एकदम उजाड़ हो गया। उसने एक बार ताँबे के सिक्के चलाये और कई बार सुदूर चीन पर आक्रमण की योजना बनायी। मिस्र के ख़लीफ़ा से उसने अपनी राज्यसत्ता के लिए धार्मिक स्वीकृति भी प्राप्त की। इन-जैसी बातों के अतिरिक्त उसके अपने विशिष्ट गुण भी थे; जिनके कारण वह कवि, विद्याव्यसनी तथा पक्षपात-रहित सुल्तान बन सका। उसके यहाँ विद्वानों को संरक्षण भी मिलता रहता था। हिन्दू प्रजा के प्रति वह उदारमना था, किन्तु उसके उत्तराधिकारी फ़ीरोज़ तुग़लक में धार्मिक सहिष्णुता का अभाव था, इसलिए वह हिन्दुओं के प्रति पक्षपात-रहित नहीं रह सका। उसमें वैसी योग्यता भी न थी। फलस्वरूप अवसर पाकर कई सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया और दिल्ली-सल्तनत में बिखराव उत्पन्न हो गया। उसका उत्तराधिकारी 'जौनासाहि' (जूनाशाह) था, जिसका उल्लेख मुल्ला दाऊद ने 'चन्दायन' में किया है। परवर्ती सुल्तानों में से कोई बिगड़ती हुई स्थिति को सँभाल न सका और सुल्तान महमूद शाह की मृत्यु के उपरान्त १४१२ ई० में तुग़लक-वंश का आधिपत्य समाप्त हो गया। इसके बाद ख़िज्र ख़ाँ ने दिल्ली पर अधिकार कर सैयद-वंश का शासन स्थापित किया जो १४५१ ई० तक चलता रहा। इस वंश के चार सुल्तानों में से किसी का भी नाम उल्लेखनीय नहीं है। इनसे अधिक योग्य लोदी-वंश के सुल्तान सिद्ध हुए, जिनमें से कई ने भीषण युद्धों में भाग लिया। अन्तिम सुल्तान इब्राहिम लोदी (१४८७-१५२६) को शक्तिशाली मुग़लों का सामना करना पड़ा और लोदी वंश की सल्तनत जाती रही। लोदी वंश के शासन-काल में ही केन्द्रीय शासन शिथिल पड़ चुका था और मालवा आदि स्वतन्त्र सूबे बनने लगे थे।

मालवा : मालवा विक्रम की दसवीं शताब्दी के लगभग प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका जबकि यह परमार राजपूतों के अधीन आया था। राजा भोज के समय इसकी ख्याति औ अधिक बढ़ गयी। सुल्तान इल्तुतमिश द्वारा १२३५ ई० में आक्रमण किये जाने पर महाका के मन्दिर के ध्वस्त हो जाने के बाद यह श्रीहत हो चला। सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी १३१० ई० में इसे अपने शासन में ले लिया। १४०१ ई० में मुहम्मद ग़ोरी के वंशज दिला खाँ ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर धार नगरी को अपनी राजधानी बना लिया, प उसके उत्तराधिकारी पुत्र अलप खाँ (हुशंगशाह) ने अपनी राजधानी मांडू में स्थापित की उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका वज़ीर महमूद खिलजी यहाँ का स्वामी बना। अपनी योग्य से उसने अपने कई पड़ोसी राज्यों को पराजित कर दिया, परन्तु उसके उत्तराधिकारी अप दुर्बलता के कारण मालवा की रक्षा करने में असमर्थ रहे। अन्ततोगत्वा गुजरात के बहादु शाह ने मालवा को अपने अधीन कर लिया। बाद में मालवा दिल्ली केन्द्र के अधीन च गया और शेरशाह ने शुजात खाँ को यहाँ का शासक नियुक्त कर दिया। इसी का पुत्र मलि बायाज़ीद 'बाज़ बहादुर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसकी प्रेमिका रूपमती बतलायी जा है। १५६२ ई० में सम्राट् अकबर ने इसे अपने राज्य में मिला लिया।

गुजरात : अपनी समृद्धि और सोमनाथ मन्दिर के लिए गुजरात सुप्रसिद्ध रहता आ है। महमूद ग़ज़नवी ने सम्भवतः इसी से आकृष्ट होकर १०२५ ई० में अफ़ग़ानिस्तान से आ यहाँ लूटपाट मचा दी थी। परन्तु बहुत समय तक इस पर किसी का स्थायी आधिपत्य न रह सका। १२९७ ई० में अलाउद्दीन खिलजी द्वारा इसे अपने शासनान्तर्गत लिये जाने यहाँ दिल्ली द्वारा नियुक्त शासकों का शासन चलने लगा था। १४०१ ई० में सूबेदार ज़ खाँ ने तैमूरलंग द्वारा आक्रमण किये जाने पर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। प यहाँ का वास्तविक शासक पहले-पहल अहमदशाह बना, जिसने अहमदाबाद नगर की स्थाप की। वह कट्टर धर्मान्ध था, उसने हिन्दुओं का धर्म-परिवर्तन तक कराया। फिर भी, उस प्रसिद्धि न्यायप्रिय शासक के रूप में रही है। उसके उत्तराधिकारियों में उसका पोता अहम शाह (महमूद बघर्रा) बड़ा प्रसिद्ध हुआ। कहा जाता है कि वह बड़ा पेटू था। जलपान नाम पर वह एक प्याला शहद, एक प्याला घी और सौ-डेढ़ सौ केले ले लिया करता था उसने १५०७ ई० में तुर्कों की सहायता से पुर्तगालियों के विरुद्ध एक सेना समुद्र के पश्चि तट पर भेजी थी। गुजरात के शासकों में बहादुरशाह (१५२६-१५३७) भी प्रसिद्ध जिसने कई युद्धों में वीरता प्रदर्शित की। कालान्तर में आपसी वैमनस्य बहुत बढ़ गया औ अन्ततोगत्वा अकबर ने गुजरात को अपने साम्राज्य में मिला लिया।

जौनपुर : जौनपुर को फ़ीरोज़शाह तुग़लक ने अपने चचेरे भाई जूनाशाह के स्मा स्वरूप गोमती नदी के किनारे बसाया था। फ़ीरोज़शाह की मृत्यु होने पर ख्वाज़ाजहाँ का शासक नियुक्त हुआ। महमूद तुग़लक ने उसे 'मलिकुश्शर्क' की पदवी प्रदान की। इ प्रोत्साहन पाकर उसने कई प्रमुख केन्द्रों पर आक्रमण कर दिया। अन्त में उसने विद्रोह में अपने को 'अलावक़-ए-आज़म' कहना आरम्भ कर दिया। शम्सुद्दीन इब्राहीम शाह उससे भी अधिक सफल शासक सिद्ध हुआ। महमूद तुग़लक तक ने उससे सहायता की या की थी। वह कला और साहित्य का बड़ा अनुरागी था। हुसेन शाह शर्की भी यहाँ का शासक हुआ, जिसने दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध परास्त होकर बिहार में आश्रय ग्रहण किया फिर बंगाल जाकर सुल्तान हुसेन शाह की शरण ली। 'मृगावती' के सूफ़ी कवि कुतुबन का आश्रयदाता भी रहा। इसके बाद जौनपुर के कई सूफ़ी आश्रयविहीन होकर मालवा से

तक फैल गये । विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में जौनपुर का रोचक वर्णन किया है ।

बंगाल : दिल्ली से दूर होने के कारण कई बार आक्रमण करके भी मुस्लिम आक्रमणकारी बंगाल में टिक न सके थे । समय-समय पर केन्द्र के प्रति यहाँ विद्रोहाग्नि भड़कती रहती थी । शासकों द्वारा अपने को स्वतन्त्र घोषित किये जाने की दशा मे उनका प्रजा से मिलकर रहना आवश्यक हो जाता है; फलस्वरूप इस प्रदेश में हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य फैलने के अवसर कम ही आ पाते थे । सुल्तान मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल में कभी-कभी भेंट भेज दिये जाने पर भी ये अपने यहाँ स्वतन्त्र सुल्तान-जैसा व्यवहार करते थे । अलाउद्दीन हुसेन शाह (१४९३-१५१९) अपने शासन-काल में इतना लोकप्रिय हुआ कि भावी आधिपत्य जमाने में उसके वंशजों को कोई कठिनाई नहीं हुई । संगठनकर्त्ता के रूप में वह बहुत सफल रहा, जनता के लिए उसने कई संस्थाएँ स्थापित कीं तथा विद्वानों और धार्मिक पुरुषों को सहायता देनी आरम्भ की । 'सत्य पीर' सम्प्रदाय चलाने का भी श्रेय उसे प्राप्त हुआ जिसका प्रधान उद्देश्य हिन्दू-मुस्लिम-एकता स्थापित करना था । उसका पुत्र नसरत शाह भी सफल शासक रहा, किन्तु हुसेनशाही शासकों के बाद बंगाल में कोई टिक न सका । मुग़लों पर विजय प्राप्त करने के बाद शेरशाह ने इस प्रदेश पर भी अपना प्रभुत्व जमा लिया ।

बहमनी राज्य : मुहम्मद बिन तुग़लक के शासन-काल में भड़की दक्षिण की विद्रोहाग्नि का एक परिणाम इस्माइल मख के सुल्तान बनने में लक्षित हुआ । शान्त प्रकृति का होने के कारण उसने हसन गंगू के पक्ष में पद-त्याग कर दिया । हसन गंगू ने 'ज़फ़र ख़ाँ' की पदवी ग्रहण कर राज्य की गद्दी सँभाली और अब्दुल मुज़फ़्फ़र अलाउद्दीन बहमनशाह कहलाकर दौलताबाद का सुल्तान बन बैठा । उसने अपनी राजधानी दौलताबाद से हटाकर गुलबर्गा में स्थापित की । उसके उत्तराधिकारियों में फ़ीरोज़शाह सबसे योग्य प्रमाणित हुआ । उसने साहित्य और विद्वानों को संरक्षण देकर कीर्ति-लाभ किया । उसके बाद उसके भाई अहमदशाह ने बीदर नगर की नींव डालकर 'वली' की उपाधि ग्रहण की और तदनन्तर अपने पुत्र ज़ाफ़र ख़ाँ को राज्य का दायित्व सौंप दिया, जो अलाउद्दीन अहमदशाह के नाम से प्रसिद्ध हुआ । इसके बाद हुमायूँ और निज़ामशाह गद्दीनशीन हुए । 'कदम राव व पदम' प्रेमगाथा के अनुसार अहमदशाह वहाँ 'बहमन वली' हो गये हैं । निज़ामशाह की अवस्था राज्यारोहण के अवसर पर केवल आठ वर्ष की थी । उसके अभिभावकों में महमूद गावाँ का नाम भी लिया जाता है । उसकी मृत्यु के बाद उसका भाई मुहम्मदशाह शासक बना और उसने शत्रुओं का दमन कर राज्य को समृद्ध बनाने में योग दिया । कालान्तर में उसे षड्यन्त्र द्वारा मार डाला गया ' १५१८ ई० में यह राज्य बिखरकर नष्ट हो गया और पाँच स्वतन्त्र मुस्लिम राज्यों की स्थापना हुई—बरार का इमादशाही, बीजापुर का आदिलशाही, अहमदनगर का निज़ामशाही, गोलकुण्डा का कुतुबशाही और बीदर का बरीदशाही । अन्त में ये सभी मुग़ल-साम्राज्य में अन्तर्मुक्त हो गये । आदिलशाही और कुतुबशाही सुल्तान साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यों में रुचि लेकर यश के भागी बने ।

सूर-वंश : शेरशाह द्वारा स्थापित सूर-वंश का अपना पृथक् महत्त्व है । बचपन में शेरशाह का नाम फ़रीद था । उसके पिता सासाराम (बिहार) के जागीरदार थे, किन्तु उसकी शिक्षा-दीक्षा जौनपुर में हुई । उसे एक बार शेर मारने के कारण 'शेर ख़ाँ' की पदवी मिल गयी । फिर बाबर के सम्पर्क में आकर उसने बंगाल जीतने में उसे बड़ी सहायता पहुँचायी । बाबर की मृत्यु के बाद उसने गौड़ देश को अपने अधीन कर लिया, पठानों की सहायता से चौसा के पास हुमायूँ को हराया और 'शेरशाह' की उपाधि ग्रहण कर ली । बाद में कन्नौज

के युद्ध में उसने हुमायूँ को फिर से हरा दिया, जिससे हुमायूँ को अनेक वर्ष तक फ़ार पनाह लेनी पड़ी। शेरशाह ने शासन-सुधार की व्यवस्था इस रीति से की कि उसने स अकबर तक का पथ-प्रदर्शन किया। शेरशाह की मृत्यु १५४५ ई० में हुई। उसके वाद उ पुत्र जलाल खाँ (सलीमशाह) उसका उत्तराधिकारी बना। उसे कई बिद्रोहों का सामना क पड़ा और १५५४ ई० में उसका देहावसान हो गया। हुमायूँ ने बिगड़ती हुई दशा का उठाकर उसी वर्ष भारत पर आक्रमण कर लाहौर को हस्तगत कर लिया। सूर-वंश के अं सुल्तान सिकन्दरशाह के सरहिन्द में हार जाने पर हुमायूँ बादशाह बन बैठा।

मुग़ल-वंश : तैमूर लंग की पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न ज़हीरुद्दीन मुहम्मद बाबर वा में तुर्क-वंशी था, मुग़ल नहीं। मातृकुल के नाते वह चंगेज़ खाँ का सगा सम्बन्धी हो स था, परन्तु मुग़लों के प्रति उसमें सद्भाव का अभाव-सा था। संयोगवश वह उन सम्राटों पूर्व-पुरुष बन गया जिन्हें 'मुग़ल' कहकर स्मरण किया जाता है। उसके पिता फ़रग़ाना (तुर्किस्तान) के एक छोटे-से राज्य के अधिपति थे। उनकी मृत्यु के समय बाबर बारह वर्ष बालक था। इसी अवस्था में वह उत्तराधिकारी बना। अपने शत्रुओं का वह दृढ़तापूर्वक सा करता रहा और इसी बीच उसने समरकन्द को जीतकर अपने राज्य में मिला लिया। उस अमीरों द्वारा अपदस्थ किये जाने पर वह भारत की ओर उन्मुख हुआ और कावुल को जी कर समरकन्द को भी फिर अधिकृत करने की कोशिश की, किन्तु असफलता ही उसके ह लगी। छोटे-मोटे आक्रमणों द्वारा वह भारत की स्थिति का अध्ययन करता रहा। दिला खाँ का आमन्त्रण पाकर उसने १५२६ ई० में पानीपत-युद्ध में विजय प्राप्त कर ली। प्रसि है कि सैयदपुरवाली लड़ाई के अवसर पर गुरु नानक देव पकड़े जाकर उसके सम्मुख उपस्थि किये गये थे। दूसरे ही वर्ष राणा साँगा को पराजित कर उसने अपनी स्थिति सुदृढ़ बना और चन्देरी दुर्ग पर कब्ज़ा कर लिया। इसके बाद घाघरावाली लड़ाई में पठानों को परा कर उसने अपनी विजय-पताका फहरायी। उसने राज्य-व्यवस्था को सुधारने की योजना बनानी चाही, किन्तु शाहज़ादे हुमायूँ की रुग्णता के कारण उसकी मनोकामना अधूरी रह ग कहते हैं कि वह रोग-शय्या की तीन बार परिक्रमा कर स्वयं रोगी बन गया और शाहज़ा तीन दिनों के भीतर ही नीरोग होने लगा। फिर बाबर उठ न सका। उसकी मृत्यु के ती दिन हुमायूँ १५३० ई० में वादशाह बन गया। बाबर ने 'बाबरनामा' लिखकर अपनी कु लेखनी का अच्छा परिचय दिया है। यह मात्र आत्मचरित नहीं, तत्कालीन परिस्थिति वातावरण का परिचायक ग्रन्थ भी है। बावर द्वारा लिखित एक दीवान का भी पता च है जिसमें उसकी काव्य प्रतिभा की चमक है।

कहते हैं कि बाबर ने हुमायूँ से वचन ले लिया था कि वह अपने परिवार के सद्भावनापूर्ण निष्ठा रखेगा, जिसका पालन वह आजीवन करता रहा। परन्तु इसका अनु परिणाम नहीं हुआ। सेना के सिपाहियों में भी कलह रहने लगी। इस स्थिति का बाहरी शत्रुओं ने उठाया। गुजरात के सुल्तान बहादुरशाह ने उसे युद्ध में घसीट लिया बाद में शेरशाह द्वारा कन्नौज की लड़ाई में पराजित होकर वह फ़ारस भाग गया। शेर की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने राज्य को पुनः अधिकार में ले लिया। १५६६ ई० में पुस्तका की सीढ़ियों से उतरते समय अचानक उसके कानों में अजान की आवाज़ पड़ी। झुकते ही उ पाँव फिसल गये और वह नीचे गिर पड़ा। यह आघात प्राणान्तक सिद्ध हुआ। हुमायूँ मृत्यु के सत्रहवें दिन उसके पुत्र जलालुद्दीन के नाम 'खुतबा' पढ़ दिया गया। हुमायूँ न के साहित्यकारों का सम्मान करता था, अपितु स्वयं भी काव्य-रचना करता था। फिर भी,

उतना व्यवहारकुशल न था।

राज्य-भार ग्रहण करते समय अकबर तेरह वर्ष का बालक था। उसका बचपन बैरम खाँ के संरक्षण में व्यतीत हुआ, जिसके समक्ष जौनपुर ही नहीं, विद्रोही पठानों तक को झुकना पड़ा। कुछ ही दिनों में अकबर ने बैरम खाँ को दायित्व-मुक्त कर दिया और शासन की बागडोर स्वयं सँभाल ली। बंगाल, बिहार और गुजरात के विद्रोह को दबाकर उसने कश्मीर पर भी अपना झण्डा फहरा दिया। साथ ही चित्तौड़, कालिंजर और गोंडवाना को सफल नहीं होने दिया। फ़तेहपुर सीकरी के क़िले का निर्माण भी इसी काल में हुआ। राज्य-विस्तार और आन्तरिक शान्ति और सुव्यवस्था के लिए वह सदा सचेष्ट रहा। देश को समृद्ध बनाने के साथ ही वह सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भी यत्नशील रहा। उसके प्रमुख दरबारी 'नवरत्न' के रूप में प्रसिद्ध थे जिनमें फ़ैज़ी, अबुलफ़ज़ल, बीरबल, बदायूँनी, तानसेन, रहीम आदि के नाम लिये जाते हैं। इनके सहयोग से उसके राज्य की ख्याति दूर-दूर तक फैली। वह शिक्षित न होकर भी उदार, सहृदय और व्यवहार-कुशल था। उसने कला, संगीत, साहित्य और संस्कृति को यथेष्ट प्रश्रय तथा संरक्षण दिया। उसका राज्य-काल १६०५ ई० तक रहा।

अकबर का उत्तराधिकारी जहाँगीर बना, जिसका बचपन का नाम सलीम था। उसने युवराज-काल में पिता के विरुद्ध विद्रोह करना चाहा था, किन्तु सफल न हो सका। वह न्यायप्रिय था और प्रजा के दुःख-सुख में उसकी रुचि थी। आगरा के क़िले की शाह बुर्ज और यमुना-तट पर स्थित किसी प्रस्तर-स्तम्भ के बीच उसने 'इन्साफ़ की जंजीर' बँधवा दी थी, जिसे बजाकर प्रजा बादशाह का ध्यान आकर्षित कर फ़रियाद कर सकती थी। जहाँगीर ने शेर अफ़ग़ान की हत्या कराके उसकी पत्नी मेहरुन्निसा को अपने हरम में रख लिया, जो आगे चलकर नूरजहाँ के नाम से विख्यात हुई। वह शासन-व्यवस्था में भी भाग लेती थी। जहाँगीर को बंगाल, मेवाड़ और दक्षिण की ओर युद्ध का अभियान करना पड़ा तथा काँगड़ा पर विजय प्राप्त करने में उसे सफलता मिली। १६२७ ई० में उसकी मृत्यु हो गयी। नूरजहाँ अपने जामाता शहरयार को राज्य का उत्तराधिकारी बनाना चाहती थी, किन्तु बादशाह के मरने का समाचार पाकर शाहजहाँ दक्षिण से राजधानी की ओर चल पड़ा और अपने सभी शत्रुओं को परास्त कर १६२८ ई० में गद्दीनशीन हो गया।

शासन-सूत्र सँभालने के बाद शाहजहाँ को बुन्देलों का सामना करना पड़ा और खाँजहाँ लोधी को राज-मार्ग से हटाना पड़ा। उसने दक्षिण की कई सल्तनतों को जीतकर अपने अधीन किया, जिसमें उसे औरंगज़ेब से भरपूर सहायता मिली। परन्तु कन्धार पर आधिपत्य स्थापित करने में उसे सफलता न मिल सकी और दारा शिकोह तथा उसकी सेना अपने अभियान में विफल रही। दक्षिण में सफलता-प्राप्ति से उत्साहित होकर औरंगज़ेब दारा शिकोह के प्रति द्वेष-भाव रखने लगा था। दारा का हिन्दुओं के प्रति सद्भाव भी उसे पसन्द न था। अपने मार्ग की बाधा समझकर महत्त्वाकांक्षी औरंगज़ेब ने क्रमशः अपने सभी भाइयों का अन्त कर डाला और १६५८ ई० में शाहजहाँ को बन्दी बना लिया। अपनी प्यारी बेगम मुमताज महल की मृत्यु के बाद शाहजहाँ ने यमुना के किनारे 'ताजमहल' का निर्माण करवाया था। दारा की मृत्यु के उपरान्त वह खिन्न रहने लगा था और पुत्री जहाँनारा ही उसके स्नेहाकर्षण का केन्द्र रह गयी थी। उसका कला और साहित्य-प्रेम प्रसिद्ध है, साथ ही वह शूरवीर और कार्यकुशल भी कम न था।

निष्कर्ष : इस प्रकार भारत के राजनीतिक क्षेत्र में सन् १३४३ से १६४३ तक की

अवधि में दो प्रमुख मुस्लिम वंशों—पठान-वंश और मुग़ल-वंश—का आधिपत्य बना र इनमें लोदी, सैयद और तुग़लक वंशों के सुल्तान विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस काल में वंशों के व्यक्ति भी समय-समय पर होते आये, जिन्हें किसी-न-किसी विद्रोह के फलस्व अधिकार प्राप्त करने के न्यूनाधिक अवसर प्राप्त होते रहे। मुहम्मद बिन तुग़लक को रा विस्तार के कारण अपनी राजधानी उत्तर से दक्षिण की ओर ले जाने की आवश्यकता भव हुई और योग्य कर्मचारियों के अभाव में उसे यदा-कदा विदेशियों तक से सहयोग सहायता लेनी पड़ी। फिर भी, वह अपने उद्देश्य में अधिक सफल नहीं हो पाया। फ़ीरो शाह ने सुव्यवस्था को ध्यान में रखकर जागीर-प्रथा को पुनः प्रचलित किया। अपने साम्रा का क्षेत्रीय विभाजन कर उसने प्रत्येक क्षेत्र में कई ज़िले स्थापित किये और उन्हें राज्य-क चारियों को सौंप दिया। परन्तु न्याय-व्यवस्था 'क़ुरान' और 'हदीस' पर ही अवलम्बित र इन दोनों सुल्तानों ने सैन्य शक्ति की वृद्धि पर ध्यान रखते हुए उसका संचालन-सूत्र अ हाथ में रखा।

मुग़ल बादशाहों ने पूर्ववर्ती सुल्तानों की शासकीय कमियों से सजग होकर अ अपना बचाव किया और शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ बनाया। बाबर की योग्यता और सजग ने सफल बनने में उसे पर्याप्त सहायता पहुँचायी। वैसे मुग़लों में अकबर का राज्य-काल स दृष्टियों से सर्वोपरि रहा और उसे अभीष्ट को पाने में बहुत-कुछ सफलता भी मिली। उ भरसक पक्षपात-रहित बने रहने का यत्न किया। उसके शासन-काल में नागरिकों को के की मनसबदारी पाने तक की छूट सुलभ थी। फ़ौजदारी मुक़दमों का फ़ैसला काज़ी क किया करते थे, किन्तु न्याय का सर्वोच्च अधिकार स्वयं उसकी सत्ता में निहित था। उस सेना तत्कालीन सभी उपकरणों से युक्त थी। सम्राट् अपने अधिकार का दुरुपयोग कभी न करता था। उसने शेरशाह की योजनाओं से भी लाभ उठाया था। जहाँगीर और शाहज ने भी बहुत-कुछ अकबर का अनुसरण किया। अलाउद्दीन ख़िलजी द्वारा प्रस्तुत की ग और शेरशाह द्वारा पुष्ट की गयी सैन्य योजना तथा यातायात की सुव्यवस्था को अकबर भी किसी-न-किसी रूप में अपना लिया।

मुहम्मद बिन तुग़लक ने अपने राज्य-काल में दोआबा-क्षेत्र में कर-वृद्धि लागू कर जनता पर अतिरिक्त भार लाद दिया था। नये सिक्के चलाकर उसने जनता के प्रति उदा भाव का प्रदर्शन करना चाहा, किन्तु राज-कोष पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ा और अ फलता ही हाथ लगी। फ़ीरोज़शाह ने कर-नीति में कुछ संशोधन अवश्य किया, किन्तु उस धार्मिक कट्टरता ने उसे अधिक सफल नहीं होने दिया। शेरशाह द्वारा खेतों को नापक युक्तिसंगत नियमों द्वारा मालगुज़ारी का निर्धारण किया जाना, कर लगाते समय सावधा बरतना और पक्षपात-रहित होकर कर की वसूली करना उसकी सफलता में सहायक बने अकबर ने टोडरमल की सहायता से भू-व्यवस्था में आवश्यक संशोधन किये और ऐसी व्यवस् ला दी कि वह नयी लगने के साथ ही लोकप्रिय भी बन गयी। राज्य-कर के रूप में पूरी उ का तृतीयांश लिया जाने लगा और दसवर्षीय योजना के अनुसार लगान की सालाना वसूल की जाने लगी। जज़िया और तीर्थ-कर उठा दिये गये, जिसका अमुस्लिम जनता पर अच्छ प्रभाव पड़ा। अकबर के शासन-काल में ताँबे, चाँदी और सोने के सिक्कों का प्रचलन हुआ चाँदीवाला सिक्का शेरशाह के समय से ही 'रुपया' कहा जाने लगा था। टकसालों का सुधा अकबर के शासन-काल में ही सम्भव हुआ और नामादि का अंकन सुरुचिपूर्ण कलात्मक ढं से किया जाने लगा। कहा जाता है कि १६३० ई० में अकाल पड़ने पर शाहजहाँ ने अहमदा

बाद और बुरहानपुर-जैसे कई नगरों में लंगर की व्यवस्था कर दी थी और प्रत्येक सोमवार को वह दीन-दुखियों में पाँच हज़ार रुपये का वितरण किया करता था। बिना समझे-बूझे लगान की रकम बढ़ा देने के कारण उसने दीवान सादुल्ला खाँ को बुरी तरह फटकारा था और कर वसूल करनेवाले फ़ौजदार को पदच्युत कर दिया था।

सामाजिक स्थिति : भारतीय समाज जिन तत्त्वों के ताने-बानें से निर्मित हुआ है, उनमें वर्णों और जातियों का विशिष्ट स्थान है। समय-समय पर कितनी ही मानव-मण्डलियाँ इस देश में आती रहीं जिनमें अपने-अपने धर्म-विश्वासों, रीति-रस्मों और आचार-विचार-पद्धतियों के संस्कार तथा अभ्यास थे। फलस्वरूप विजित और विजेता में किसी-न-किसी कारण संघर्ष विद्यमान रहता था। परन्तु कालान्तर में उनमें सामंजस्य की भावना और समन्वय की चेतना लक्षित होने लगी। इतिहास के लिए यह कोई नयी बात नहीं है। प्राचीन काल में व्रात्य, आर्य, नाग, यक्ष, देव, दैत्य, असुर, किन्नर, गन्धर्व, विद्याधर आदि मानव-मण्डलियाँ समय पाकर देव-योनि तक में समाहित कर ली गयीं। परवर्ती काल में यही प्रक्रिया शक, हूण, यवन, कम्बोज, तुर्क, पारसी, पठान, मंगोल आदि जातियों के साथ घटित हुई। परन्तु पैग़म्बरी धर्म के अनुयायियों में आस्था-विश्वास, आचार-विचार और जीवन-प्रणाली की कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं जिनसे आपसी मेल-मिलाप में वह गति और तीव्रता न आ सकी, जो अन्यत्र लक्षित हुई थी। विजातीय तत्त्वों को पचा लेना सरल न था, फलस्वरूप दोनों पक्षों के बीच परस्पर सन्देह, जुगुप्सा और पवित्रता-अपवित्रता-जनित भेद-भाव बलवान् हो उठा। इतिहास साक्षी है कि ऐसी विषम परिस्थितियों में भारतीय मनीषा द्वारा संघर्ष का अन्त करने के लिए समय-समय पर ऐसे समाधान ढूँढ़ने के यत्न होते आये हैं जिनका प्रभाव दीर्घकाल तक रहता आया है। इन मौलिक सिद्धान्तों के मूल में सार्वभौम सत्य की प्रेरणा प्रबल रही है। ऋग्वेद-काल से ही ऐसे विचारों के बीज मिल जाते हैं, जिनका विकास उपनिषद्-काल में पाया जाता है। इस समुचित विचारधारा को अद्वैत-सिद्धान्त द्वारा अभिहित किया गया है। परवर्ती मनीषा को भी यह रिक्थ-रूप में मिला।

मुसलमानों ने व्यावहारिक सम्बन्धों के भेद को प्रकट करने के लिए यहाँ के निवासियों को 'हिन्दू' कहा। इस शब्द का प्रथम उल्लेख विजयनगर के राजाओं के पन्द्रहवीं शताब्दी वाले शिलालेख में उपलब्ध है। इसके पूर्व कदाचित् इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, ईरान के आकेमिनियन बादशाहों के अभिलेखों में 'इन्द' शब्द का प्रयोग अवश्य मिलता है, जो 'हिन्दु' (सिन्धु) का ईरानी रूप जान पड़ता है। इस्लाम भ्रातृभाव का सन्देश लेकर चला था, उसका द्वार कुछ शर्तों पर सबके लिए खुला था। परन्तु हिन्दुओं के यहाँ धर्म-परिवर्तन की शास्त्रीय व्यवस्था न थी, इसलिए उनके संस्कार इसके विपरीत पड़ते थे। इस बीच धर्म-परिवर्तन के जो उदाहरण मिलते हैं, वे धर्म-प्रेरित न होकर स्वार्थ या बलात्कार के परिणाम थे। यद्यपि इसके पूर्व श्रमण-संस्कृति के प्रचार-प्रसार-काल में भी ऐसे प्रश्न उपस्थित हुए थे, किन्तु उसके उन्नायकों का विरोध कर्मकाण्डादि व्यावहारिक बातों से अधिक था, सैद्धान्तिक प्रश्नों पर कम-से-कम वे विजातीय नहीं लगते थे। कर्मवाद और जन्मान्तरवाद में उनकी भी आस्था लगभग वैसी ही थी। अपनी कुलीनता की रक्षा की चिन्ता तत्कालीन हिन्दुओं को अधिक सताने लगी थी और उसकी रक्षा के निमित्त वे स्मृतियों और टीकाओं का सहारा लेने लगे थे। कभी-कभी विधर्मी तथा विजातीय शासकों द्वारा हिन्दू प्रजा के प्रति क्रूर दुर्व्यवहार तक हो जाया करते थे जिससे आतंकित होकर उन्हें अपने को मुस्लिम प्रजा से भिन्न मानने को बाध्य होना पड़ता था। फलस्वरूप इस्लाम का भ्रातृभाव-सन्देश यहाँ उतना प्रभावकारी सिद्ध न हो सका।

हिन्दू समाज में भी वर्णाश्रम धर्म का उचित पालन नहीं हो पातां था, फलस्व जातियों-उपजातियों की संख्या-वृद्धि हो गयी थी और उनके पारस्परिक व्यवहार में आत्मी नहीं रह गयी थी। वर्ण-व्यवस्था में आस्था न रखनेवालों में भी किसी-न-किसी प्रकार आपसी भेद-भाव बना हुआ था। इब्नबतूता के अनुसार इन दिनों दास-प्रथा भी प्रचलित हिन्दू कन्याओं को सम्पन्न मुसलमान अधिकाधिक संख्या में क्रय करके अपने घरों में रख करते थे। कुलीन नारियों का अपहरण कराके अमीर लोग अपना मनोरंजन किया करते मुहम्मद बिन तुग़लक ने चीन-सम्राट् के पास भारतीय काफ़िरों में से एक-एक सौ स्त्री-पु को सौग़ात के रूप में भेजा था। इसके साथ ही ऐसे हिन्दू राजाओं का भी अभाव न था मुस्लिम महिलाओं, विशेषतः सैयद स्त्रियों को दासी-रूप में अपने यहाँ लाकर नृत्य-गीत शिक्षा दिलवाया करते थे। तत्कालीन स्मृतियों के अनुसार दासों की चार कोटियाँ थीं जन्मजात, क्रीत, अपहृत या कहीं से प्राप्त, अपने यहाँ उत्पन्न। समाज में बहुविवाह या विवाह की प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। विदेशी पर्यटकों नें तत्कालीन सती-प्रथा का भी विव दिया है। ओडरिक (१३२१-१३२२) नामक पादरी ने दक्षिण भारत में प्रचलित सती-प्र का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार पुत्रवती विधवा को 'सती' बनने का अधिकार नहीं इब्नबतूता ने लिखा है कि सती होने के लिए सुल्तान की पूर्व-स्वीकृति अनिवार्य थी। स्त्रि को पुरुषों-जैसा स्तर तथा सम्मान प्राप्त न था। परदा-प्रथा उन दिनों की आवश्यकता गयी थी। फिर भी, स्त्री-शिक्षा की व्यवस्था थी और कला-साहित्य के निर्माण में स्त्रियों योगदान रहा करता था। हिन्दुओं में संयुक्त परिवार पाये जाते थे, जो सामाजिक जीवन मूलाधार थे। छुआछूत के नियम इतने कठोर थे कि शूद्रादि जातियों तक में परस्पर भेद- बरता जाने लगा था।

भारतीय मुस्लिम समाज की अवस्था हिन्दुओं से अधिक भिन्न न थी। धर्मान्त मुसलमानों के हिन्दू-संस्कार धर्म-परिवर्तन के साथ ही धुल नहीं गये थे, विशेषतः जब बलात् अथवा स्वार्थवश धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य हुए थे। आक्रमणकारी मुसलमानों वंशजों में भी कालान्तर में सद्भाव और सहिष्णुता के भाव उदित होने लगे। इस प्रवृत्ति सूफ़ी साधकों का प्रश्रय प्राप्त था। उन दिनों इस्लाम-प्रचार की यह विशेषता बन गयी कि तलवार द्वारा आतंक उत्पन्न करने के बाद प्रेम की पट्टी बाँध दी जाए। उस समय सुल् का पद सर्वोपरि था और उलेमा तथा उमरा का स्थान बाद में आता था। इनमें से द्वि वर्ग के अन्तर्गत ईरान, तुर्किस्तान, अफ़ग़ानिस्तान तथा अरब के मूल निवासियों के नाम लि जा सकते हैं जिन्हें क्रमशः शेख, मुग़ल, पठान और सैयद की संज्ञा दी जाने लगी थी। इ अपने से बाहरवालों से सम्बन्ध स्थापित करना स्वीकार न था। शेख़ अपने पाण्डित्य सुसंस्कृति के लिए प्रसिद्ध थे और अधिकतर शिया-सम्प्रदाय की ओर उन्मुख थे। प तुर्किस्तानवाले मुग़ल सुन्नी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। इनमें से ही कुछ सुल्तान के पद पर प्र ष्ठित होते रहते थे। अफ़ग़ानी पठान अपने शौर्य, साहस, स्वाभिमान और सीधेपन के लि प्रसिद्ध थे। फिर भी, कभी-कभी इनमें दिल्ली-शासन के प्रति विद्रोह की भावना जाग्रत जाया करती थी क्योंकि ये अपने को सर्वप्रथम मुस्लिम विजेता मानते थे। सैयद अल्पसं होने के साथ ही उतने वीर और साहसी न थे। दिल्ली पर अधिकार करके भी अधिक समय तक टिक न सके। शेख़ों और सैयदों में से ही उलेमा हुआ करते थे। खेति मज़दूर, व्यापारी और नौकरीपेशा मुसलमानों में भी परस्पर भेद-भाव की कमी न थी मुस्लिम महिलाओं की स्थिति हिन्दू स्त्रियों से अधिक भिन्न न थीं। बहुविवाह-प्रथा के का

मों में इनकी दुर्गति हुआ करती थी। मुस्लिम समाज अपने मूल रूप में न रह गया था
र उसका एक प्रकार से भारतीयकरण हो गया था। परन्तु इस काल तक भारत में उप-
त ईसाइयों का समाज पर कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ सका और पारसी तथा यहूदी
नी-अपनी सीमाओं में ही सीमित रहे।

दैनिक जीवन, रीति-रस्म, रहन-सहन, पर्व-त्यौहार आदि की दृष्टि से तत्कालीन भार-
समाज सुविधा-सम्पन्न और असुविधा-ग्रस्त इन दो वर्गों में विभक्त था। प्रथम वर्ग में
ा-महाराजा, सुल्तान, अमीर, सामन्त और सेठ-साहूकार आते थे जिनमें मनमाने ढंग से
व-प्रदर्शन की उल्लासपूर्ण प्रवृत्ति पायी जाती थी। द्वितीय वर्ग में किसान, मजदूर, सैनिक,
य-कर्मचारी और घरेलू उद्योग-धन्धों में लगी सामान्य जनता थी जो प्रथा-परम्परा का
न कर सन्तोष की साँस ले लिया करती थी। अमीर और सामन्त सूती, रेशमी अथवा
मक (कढ़े हुए) वस्त्र पहनते थे एवं बहुमूल्य नगीनों से जड़ी सुनहली अँगूठियाँ धारण
ते थे। उनकी पत्नियाँ रत्नजटित सुनहले कंगन तथा मूँगाजटित केयूर धारण करती थीं।
ाज में सुव्यवस्था लाने के यत्न होते रहते थे। रूसी व्यापारी अफ़नेसियन निकितिन
४७० ई०) के अनुसार बहमनी राज्य के सुयोग्य वज़ीर महमूद गावाँ (१४०५-१४८१)
समय शासकीय व्यवस्था प्रशंसनीय थी। भूमि की पैदावार प्रचुर थी, सड़कें लुटेरों के
ंक से रहित थीं तथा राजधानी भव्य नगर के रूप में खुशहाल दिखायी देती थी। पुर्त-
ी वारवांसा (१५००-१५१६) के अनुसार जहाँ उमरा और बादशाह महलों में निवास
ते थे, वहाँ कुछ लोग गलियों में निर्मित मकानों में रहते थे; जिनके सामने थोड़ी खुली
ह भी रहती थी। शेष जनता के भाग्य में झोंपड़ियों में रहना बदा था। मुग़लों के शासन-
न के विषय में पेलसपार्ट नामक लेखक ने लिखा है कि उस समय समाज के भीतर तीन
वर्ग—श्रमिक, नौकर और दूकानदार—थे जिन्हें न तो कोई स्वेच्छापूर्वक कार्य करने का
काश था, न यथेष्ट पारिश्रमिक ही मिला करता था। दूकानदारों को अपनी चीज़ें छिपा-
रखनी पड़ती थीं कि कहीं क्रूर कर्मचारियों की दृष्टि न पड़ जाए। तत्कालीन साधु-समाज
भी पाखण्ड की काली छाया मँडराने लगी थी। गोस्वामी तुलसीदास-कृत 'कवितावली'
निम्नलिखित पंक्तियों से तत्कालीन स्थिति का स्पष्ट परिचय मिलता है :

खेती न किसान को, भिखारी को न भीख भली,
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सो कहाँ जाई, का करी॥

सांस्कृतिक स्थिति—सांस्कृतिक चेतना की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वभौम सत्य के
ार पर प्रतिष्ठित धार्मिक भावना और दार्शनिक चिन्ताधारा के माध्यम से हुई है। कला,
प, साहित्य और संगीत इन्हीं की आनुषंगिक उपलब्धियाँ हैं। इन सबका क्षेत्र विशाल
व-समाज है जिसकी प्रेरणा और प्रसाद से मनुष्य जीवन-यापन करता है। भारतीय
न में समय-समय पर विदेशी और विजातीय तत्त्वों के आते रहने के कारण परस्पर
त होते रहे हैं। परन्तु इन्हीं से होकर ऐसी जीवनी-शक्ति का संचार भी होता रहा है कि
डूबते-डूबते भी उबरते चले आये हैं, निष्प्रभ या निस्तेज न होकर नव-जीवन की अरु-
ा से महिमा-मण्डित होते रहे हैं। इन सबके मूल में हमारी समन्वय-साधना की प्रवृत्ति
गर रही है, जो ब्राह्मण-युग (ई० पू० ८०० से ई० पू० ६०० तक) से ही उत्तर भारत

में व्यक्त हो चुकी थी। दक्षिण भारत में यह प्रवृत्ति बाद में उभरी। वैदिक देवी-दे
बाह्य विधानों से विदककर श्रमण-संस्कृति के उन्नायकों ने जीवन का नया पथ खो
लने का यत्न आरम्भ किया, परन्तु गुप्त साम्राज्य की स्थापना के अनन्तर दोनों ही
हो गये। मौर्य-साम्राज्य के बिखराव के पश्चात् ब्राह्मणवाद का नये ओज और तेज
अभ्युत्थान हुआ। पुष्यमित्र के शासन-काल में समाज को सुव्यवस्थित करने के लि
स्मृतियों की व्याख्या तथा रचना होने लगी और गौ-ब्राह्मणों की सुरक्षा की व्यवस्था की

परवर्ती गुप्त काल में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ और देवी-देवता
देवालयों की स्थापना द्वारा लुप्तप्राय धर्म-व्यवस्था को पुनर्जीवित किया गया। उ
वैष्णव धर्म को विशेष प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला और स्मृति-ग्रन्थों में लोक-
विश्वासों तथा मान्यताओं को भी स्थान दिया गया। ब्राह्मणेतर श्रमणादि तत्त्वों से
ब्राह्मणवाद को विद्वानों ने नवब्राह्मणवाद कहा; जिसका स्वरूप वैदिक परम्परा से
न होकर भी भिन्न अवश्य था। सत्य तो यह है कि ब्राह्मणवाद का भी अमिश्रित
पुनरुत्थान नहीं हुआ था। दूसरों के अनेक मत-विश्वास उसमें समाहित थे। इसी प्रका
ब्राह्मणवाद में भी ब्राह्मणवाद के अतिरिक्त श्रमण, द्रविड़ तथा अन्य आदिवासियों
और मान्याताएँ परस्पर एकीभूत हो गयी थीं। इसकी कुछ सामान्य विशेषताएँ इ
थीं—१. धर्मविशेष का लौकिकीकरण, २. अवतारवाद की स्वीकृति, ३. देवालयों
प्रतीकों की पूजा, ४. तीर्थादि की स्थापना, ५. धर्म के भारतीय स्वरूप का संरक्षण।
कांश पुराणों की रचना का भी यही काल है। मध्यकालीन हिन्दू जीवन-प्रणाली पर
गहरा प्रभाव पड़ा। पुराणकारों ने समन्वय-साधना की प्रवृत्ति को पुनर्जाग्रत किया। प
दृष्टि-भेद, रुचि-वैविध्य, देश-काल तथा तत्कालीन समाज से प्रेरणा ग्रहण कर उन्होंने
रूप पूजा-उपासना तथा कर्मकाण्डीय पद्धतियों को अपनाकर उनमें दार्शनिकता का
दिया। मूर्ति-पूजा, तीर्थाटन, अवतारवाद, गौ-ब्राह्मण-रक्षा, धर्मशास्त्रों का सम्मान औ
फल में विश्वास पौराणिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ थीं, जिनमें लोक-विश्वास
योगदान रहा। साधु-संन्यासियों का सम्मान और स्वर्ग-नरक, श्राद्ध-पिण्डदान आदि
की अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं जिनकी धुरी पर हिन्दू जीवन-चक्र चलता ह
इस्लाम के भारत-प्रवेश के पूर्व तक अविकृत रूप में प्रचलित रहा।

मध्यकालीन हिन्दू-समाज के दो पक्ष हमारे सामने आते हैं—एक वह जो
का समर्थक है और दूसरा वह जो परम्परागत विश्वासों तथा मान्यताओं अथवा स्व
का पक्षधर है। यह दूसरा पक्ष ही पौराणिक पक्ष है। परन्तु हम बहुधा यह पाते
दोनों पक्षों में परस्पर अन्तरावलम्बन है। कभी जन-घोषित विश्वास शास्त्र-सम्मत ब
हैं, तो कभी शास्त्रविहित मान्यताएँ जनता द्वारा अस्वीकृत हो जाती हैं। शास्त्र की
देने की अपेक्षा स्वानुभूति पर निर्भर करना अधिक श्रेयस्कर है। इसी आस्था के
विपक्षी अथवा विरोधी के प्रति सहिष्णुता-भाव का प्रादुर्भाव होता है और न्यायोचित
व्यवहार का शुभारम्भ होता है। हमारे यहाँ आध्यात्मिक उपलब्धि को जीवन का प
माना गया है, जिसके कारण धर्मानुभूति और दार्शनिक चिन्तन का अन्योन्याश्रय सम्ब
गया है। उपनिषद् भारतीय दर्शन के उपजीव्य हैं और इसी आधार पर वेदान्त भी वि
हुआ है। औपनिषदिक विचारों में भी सर्वत्र मतैक्य नहीं है। इनमें समन्वय की
के लिए बादरायण (३०० ई०) ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की, जिस पर शंकराचार्य (ई०
८२० ई०) ने 'शारीरक भाष्य' लिखा। इस भाष्य में निरूपित व्याख्या का इतना मह

ा कि सर्वसाधारण में वेदान्त का अर्थ केवल शांकर-वेदान्त समझा जाने लगा। इसमें
द-प्रमाण को मुख्य मानकर उसे तर्क द्वारा पुष्ट करने का यत्न किया गया है। शंकरा-
र्य की ही भाँति कुमारिल भट्ट ने भी हमारी चिन्ताधारा को दूर तक प्रभावित किया है।
वर्ती आचार्यों ने इन्हीं मतों की व्याख्या-प्रतिव्याख्या के रूप में विशिष्टाद्वैत, केवलाद्वैत,
ाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि मतों की स्थापना की। इन सभी में ईश्वर को निरपेक्ष मानकर
की भक्ति का प्रतिपादन किया गया है, परन्तु आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, पुनर्जन्म आदि के
द्धान्त प्रायः ज्यों-के-त्यों रह गये हैं।

ईश्वर और मनुष्य के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एक माध्यम धर्म है। जाति,
ा, देश-काल और परिस्थितियों से निरपेक्ष होकर नैतिक दायित्व का निर्वाह करना 'धर्म' है।
र्माचार अथवा नैतिकता समाजपरक है और धर्म-साधना व्यक्तिनिष्ठ। साध्य और साधक
एकीकरण साधना के माध्यम से होता है। साधना का विकास रुचि, शिक्षा और संस्कार
अनुसार कई रूपों में होता है। स्थूल रूप में साधना के तीन अंग हैं—देवाराधन, संस्कार-
त्मक क्रिया और नित्य-नैमित्तिक कर्म। देवाराधन के भी दो रूप हैं—आत्मविश्वासमूलक
ग और आराध्यानुग्रहमूलक भक्ति। आत्म-रक्षा की वृत्ति ने मनुष्य को देवाराधन की ओर
त्त किया, फलस्वरूप कल्याणकारी शक्तियों को व्यक्तित्व प्रदान करके उन्हें मानवीय
च्छाओं, उद्देश्यों, विचारों तथा संवेदनाओं से सम्पन्न तथा भावापन्न मान लिया गया।
वान् के सगुण और साकार रूप का इसी प्रकार विकास हुआ।

शक्ति-सम्पन्न समर्थ व्यक्तियों की मरणोत्तरकालीन आत्माओं को अलौकिकता प्रदान
उन्हें कल्याणप्रद शक्तियों से सम्बद्ध कर देने की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। कुल-देवता
र ग्राम-देवता इन्हीं की उपज हैं, जिनके प्रतीक पिण्ड तथा पदार्थ बने। इसी प्रकार
वत तथा सहायक पशु-पक्षियों की आत्माओं से टोटेमवाद और फ़िटिशवाद का प्रादुर्भाव
ा, जिन्हें भौतिक आपदाओं का कारण मान लिया गया और उनकी तुष्टि के लिए यातु-
द्या तथा जटिल साधना-विधान का विस्तार हुआ।[१] संस्कारग्रस्त जनता में आज भी भूत-
ा, पिशाच-चुड़ैल, डाकिनी-शाकिनी तथा उनसे त्राण दिलानेवाले ओझा आदि के झाड़-फूँक,
डा-तावीज़ और मन्त्र-तन्त्र की मान्यता पायी जाती है। साध्य की अपेक्षा साधना पर
धिक बल दिया जाने लगा है, जो कभी-कभी जड़ता को जन्म दे देती है। इसीलिए साधना
विकृत और विस्तृत रूप (कर्म-काण्डादि) की आलोचना उपनिषद्-काल से लेकर श्रमण-युग
होती रही, जिसे हम सन्तवाणियों में मुखर पाते हैं।

मध्यकाल में हिन्दू-समाज की बृहत्तर इकाई गाँव था और लघुतर इकाई परिवार,
जीविका के सम्मिलित साधनों से युक्त था। अयोग्य पति की पत्नी होकर भी नारी
बन्ध-निर्वाह करने को बाध्य थी। सतीत्व के यथार्थ गौरव से अनभिज्ञ नारी और उसकी
तान से बना हिन्दू-समाज मध्यकाल की विडम्बना बना रहा।

उपर्युक्त विकास-क्रम को ध्यान में रखे बिना मध्यकालीन संस्कृति की प्रवृत्ति और
रवेश को ठीक-ठीक समझ पाना प्रायः असम्भव है। इस काल में धर्म-साधनों की बाढ़-
आ गयी और गुह्य साधनाओं के अन्तर्गत कृच्छ्र साधनाएँ भी प्रवेश पा गयीं। धर्माचार के
म पर अनाचार, मिथ्याचार और व्यभिचार तक पलने लग गया। फलस्वरूप ज्ञान-चर्चा
आड़ में पाखण्ड को प्रश्रय मिलने लगा और समाज में एक प्रकार की अराजकता फैल

---

[१] देखिए 'कम्पेरेटिव रिलिजन', कार्पेण्टर, पृष्ठ १३४

गयी। बाह्याडम्बर तथा कर्मकाण्डादि बाह्य विधान के प्रति व्यंग्य किये जाने लगे। परिस्थिति में गुरु गोरखनाथ ने बाह्य साधनों को गौण ठहराकर मन की शुद्धता और की पवित्रता पर अधिक बल देना उचित समझा : "अवधू मन चंगा तो कठौती गंगा, मेल्हा तो जगत्र चेला।" कबीरादि सन्तों की चेतना भी प्रकारान्तर से मन की मह स्वीकार करती जान पड़ती है :

कहे कबीर कृपा भई, गुरु ज्ञान कहा समझाई।
हृदय श्री हरि भेटिये, जो मन अनतै नहि जाई॥

मध्यकालीन धर्म-साधना में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख धर्म-साधनाएँ किसी-न- रूप में पायी जाती हैं—अपने मूल रूप में अथवा किंचित् परिवर्तन के साथ। बृहदार पनिषद् (२।४।११) के वेदमार्गी 'एकायन' धर्म तथा लोकधर्मी 'लोकायन' धर्म जैसे अन्य धर्म-साधनाएँ भी अवश्य रही होंगी, जिनके नाम लोग भूलने लगे होंगे। फिर शैव शाक्त, भागवत (वैष्णव), सौर, गाणपत्य-जैसे प्रमुख धर्मों के न्यूनाधिक अनुयायी पाये थे जिनमें ज्ञान, योग-तन्त्र अथवा भक्ति की प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं। ज्ञान में तप और मनन की प्रधानता थी और योग-तन्त्र में क्रियात्मक विशेषताएँ पायी जाती थीं। शिव योगी माने जाते थे और पूर्व-मध्यकाल में शैव धर्म भारतव्यापी बन गया था जिसे रा के अतिरिक्त लोकाश्रय भी प्राप्त था। इसके प्रमाण शिलालेखों द्वारा भी सुलभ हैं। योग किसी समय इतना प्रबल प्रभाव था कि ज्ञान और भक्ति के साथ 'योग' शब्द का जोड़ा आवश्यक समझा जाने लगा था। भक्ति और ज्ञान-साधना में योग का कोई-न कोई ढूँढ़ निकालना कठिन नहीं है। यहाँ तक कि बौद्ध-जैन तक इससे अप्रभावित न रह सके भक्ति मुख्यतः भावनामूलक थी। अन्य धर्मों में भी इसका एक-न-एक रूप पाया जा था। परन्तु इसका जितना बहुविध विकसित रूप वैष्णव धर्म—विशेषतः भागवत सम्प्रदा में लक्षित हुआ उतना कदाचित् अन्यत्र सम्भव न हुआ। विभिन्न धर्मों अथवा सम्प्रदा बीच भी अनेक धर्मों या उप-सम्प्रदायों का बनना मध्यकालीन विशेषता बन गयी थी।

मध्यकाल में अरुचि और संस्कार का प्राधान्य था। इस कारण बहुधा सा बिगड़ जाता था और सन्तुलन बनाये रखने के लिए बार-बार समन्वय की ओर उन्मुख पड़ता था। समन्वय हमारे संस्कार में था, इसलिए उसे लाने में विघ्न-बाधाओं के र दुर्लंघ्य कठिनाई नहीं होती थी। वैदिक वाङ्मय में इसके बीज मिलते हैं। 'तन्त्रालोक' इसका उल्लेख है : "एष रामो व्यापकोऽत्र शिवः परम कारणम्।" (८८।१) 'शक्ति-तन्त्र' का यह उद्धरण भी ध्यातव्य है :

कदाचिद्द्वात्मं ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा।
लोक सम्मोहनार्थाय स्वरूपं विभ्रती परा॥

'दुर्गासप्तशती' (११।५) में भी भगवती दुर्गा और वैष्णवी को अभिन्न ठहरा है। 'अध्यात्म रामायण' में राम तथा शिव के बीच परस्पर भक्ति प्रदर्शित की गई है भावना 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' में शिव और श्रीकृष्ण के मध्य व्यक्त हुई है। परवर्ती रचना ऐसे कई उदाहरण उपलब्ध हैं। 'साधनमाला' में वर्णित बौद्ध देवता पद्मनृत्तेश्वर भी रूपान्तर ही जान पड़ता है। इसी प्रकार उड़ीसा के पंचसखाओं का 'शून्य पुरुष' श्रमण-संस्कृतियों के मिलन की ओर संकेत करता है। मध्यदेश के नाग राजाओं

लोकितेश्वर की पूजा शिव-पूजन की भाँति हुआ करती थी। एलोरा के समीपस्थ वेरूल के ास-मन्दिर में शिव की मूर्ति के शीर्ष-स्थान पर बोधिवृक्ष स्थित है। चम्बा-नरेश अजयपाल राज्य-काल में उत्कीर्ण ब्रह्म, वरुण और शिव के साथ बुद्ध भी हैं। खजुराहो से उपलब्ध क्कल के वैद्यनाथ मन्दिरवाले शिलालेख में ब्रह्म, जिन, बुद्ध तथा वामन को शिव का स्वरूप हा गया है। इसी प्रकार हरिहर-पूजन में भी शैव-वैष्णव-धारा का संगम लक्षित होता है। ेप में, ऐसे अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनसे समन्वयात्मक प्रवृत्ति का परिचय लता है।। भक्ति-आन्दोलन का विकास इसी पृष्ठभूमि में हुआ था।

क्ति-आन्दोलन

मध्यकालीन धर्मों में हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, यहूदी, ईसाई प्रमुख थे जिनका सम्पर्क- र उन्मुक्त था।' लोक-विश्वासों पर आधारित लोक-धर्म की निष्ठा किसी धर्मविशेष के ति न थी। उसका धर्माचार परम्परागत और चमत्कार-प्रभावित था। आदिवासियों का र्म अधिकतर उन्हीं तक सीमित था, परन्तु सम्पर्क द्वारा वे परस्पर न्यूनाधिक रूप में ुप्राणित होते रहते थे और जाने-अनजाने एक-दूसरे का अनुकरण करने में भी हिचकते न । फिर भी, उन दिनों हिन्दू-इस्लाम दो ही प्रधान धर्म थे। सिक्खों के देवी-देवता प्रायः न्दुओं के ही थे, पर उनकी आचार-पद्धति पर आगे चलकर सैनिक वृत्ति की छाप पड़ी। धर्म का प्रचार जहाँ पश्चिम-दक्षिण के क्षेत्रों में अधिक था, वहाँ बौद्ध धर्म पूर्वी प्रान्तों में सिमटकर रह गया था। पारसी मत ७२१ ई० में भारत में अपना पहला क़दम रख चुका । लगभग इसी समय इस्लाम धर्म व्यापारियों के माध्यम से मालाबार पहुँचा था। यहूदी ाइयों से पहले ही आ गये थे और ईसाई धर्म फ़ादर टॉमस द्वारा दक्षिण में प्रवेश पा चुका ा, जिसका प्रचार-कार्य परवर्ती काल में प्रारम्भ हुआ। हिन्दू धर्म इस्लाम के सम्पर्क से त्र व्यक्तिगत साधना का केन्द्र न रहकर सामूहिक साधना का रूप धारण करने लगा था र उसमें आन्दोलनकारी प्रवृत्तियाँ उभरने लगी थीं। फलस्वरूप प्रायः सभी धर्मों में युगा- ूप परिस्थिति के अनुसार पन्थों, सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों तक की सृष्टि होने लगी, नका मुख्य उद्देश्य आत्म-निरीक्षण और परिस्थिति-परीक्षण द्वारा आवश्यक सुधार करके म्परागत आचार-विचारों को किसी-न-किसी रूप में प्रश्रय देकर उन्हें जीवित रखना था। प्रयास में वैष्णव धर्म ने भागवत-सम्प्रदाय के रूप में नेतृत्व किया और व्यापक प्रभाव ला जिसके माध्यम से भक्ति-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। उसके अनुकरण में अन्य धर्मों ने अपनी-अपनी सीमाओं में आवश्यक संशोधन-परिवर्द्धन किये। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शैव, क्त, सौर, स्मार्त और गाणपत्य की गणना की जाती थी। पंचदेवोपासना के परिणामस्वरूप में से सौर और गाणपत्य वैष्णव धर्म में अन्तर्लीन हो चले। शेष तीनों में से शैव और क्त धर्म कदाचित् वैष्णव धर्म से अधिक प्राचीन थे।

शैव धर्म के अन्तर्गत मध्यकाल में पाशुपत, वीरशैव, लिंगायत और कश्मीरी शैव प्रदाय विख्यात थे और इनके उप-सम्प्रदायों तक का गठन होने लगा था। शिव योग- धना के प्रवर्त्तक तथा आदिगुरु माने जाते हैं। ऐसे ही उप-सम्प्रदायों में 'नाथ-योगी-सम्प्रदाय' गणना भी की जाती है। इसके उन्नायकों ने अपने प्रचार का माध्यम देशी भाषाओं को या और यह इन्हीं की एकान्त विशेषता न थी। वैष्णव-धर्मानुयायी स्वामी रामानन्द और के अनुयायियों ने भी लोकप्रचलित भाषाओं का आश्रय लेकर उन्हें प्रश्रय दिया। इसी ार अन्य सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने मतों के प्रचार के लिए क्षेत्रीय भाषाओं को ही

अपनाया। परन्तु इस प्रवृत्ति के मूल में एक ओर जहाँ श्रमण-संस्कृति की प्रेरणा दूसरी ओर यह जन-सम्पर्क का परिणाम भी था।

वैष्णव धर्म मूलतः भक्तिप्रधान है, जो योग-साधना का परवर्ती होने के कार यत्किंचित् प्रभावित भी कहला सकता है। पांचरात्र के माध्यम से तन्त्र-साधना के किसी-न-किसी रूप में इसमें समाविष्ट हैं। पांचरात्र-मत पर ही मूर्ति-विधान और निर्माण की व्यवस्था मुख्यतः आधारित थी। वैष्णव धर्म-सम्प्रदायों और उप-सम्प्र सृष्टि प्रधानतः इनके आचार्यों अथवा प्रवर्तकों द्वारा दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या कारण हुई थी। द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, भेदाभेद, शुद्धाद्वैत आदि इन्हीं के परि इनके द्वारा अपनायी गई भक्ति किसी-न-किसी दर्शन पर आधारित थी, फलतः ये एक-दूसरे से पृथक् मानने लगे थे। परन्तु दूसरी ओर ऐसे वैष्णव-मतावलम्बी उप-सम्प्र भी अस्तित्व था जो किसी दार्शनिक सिद्धान्त पर उतना बल देना अनिवार्य नहीं सम रामावत, सहजिया, वारकरी, महानुभाव, पंचसखा आदि ऐसे ही उप-सम्प्रदाय थे।

शाक्त धर्म में भी दक्षिणमार्गी और वाममार्गी नामक दो श्रेणियाँ बन गयीं। वाममार्गी शाक्तों के प्रति विरति और अनास्था प्रकट की है, जो बहुधा अनाचार लिप्त हो जाया करते थे। हिन्दू धर्म को सुव्यवस्थित करने के लिए शंकराचार्य सम्प्रदाय की स्थापना की जिसमें पंचदेवोपासना की व्यवस्था की गयी। आगे चलक अन्धविश्वास ने स्थान पा लिया, जिससे भक्ति का मूल रूप धूमिल पड़ गया। पारलौ की आशा में लौकिक मर्यादाओं के बन्धन कसते गये। तीर्थ और मन्दिर व्यापार लगने लगे और पण्डों-पुरोहितों के आचार-व्यवहार मर्यादा का उल्लंघन कर उच्छृं कोटि तक पहुँच गये।

श्रमण-धर्म के अन्तर्गत बौद्ध और जैन मतों की गणना की जाती है, जिनका होने के कारण निर्गुण भक्ति पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ा। जैनियों की तपोनिष्ठ नैतिक पद्धति और बौद्धों के निर्वाण, शून्य-तत्त्व, मध्यम मार्ग आदि का प्रभाव उन पर पड़े रह सका। मध्यकाल में उक्त दोनों धर्मों में पुराणपन्थी परम्पराओं के प्रति असन्तो लगा। फलस्वरूप ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों की बाढ़ को रोकने के लिए सुधारवादी आन् का ताँता-सा लग गया। उदाहरणार्थ बौद्ध धर्म की महायान-शाखा में विभिन्न यानों होती गयी। मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान-जैसे उप-सम्प्रदाय इसी णाम हैं। सन्तों ने कदाचित् इसी कारण सभी को फटकारा है कि इन्होंने मूल प्रश्न को कर बाह्य विधानों का वितण्डा खड़ा कर दिया है। मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन ऐसी के विरोध में ज़ोर पकड़ता जा रहा था, जिसमें सूफ़ी साधकों ने भी महत्त्वपूर्ण योग दि

इस्लाम धर्म में शरा और बेशरा दो प्रकार की कोटियाँ हैं। इनमें से शरा हैं और बेशरा मस्तमौला फ़कीर, जो कभी-कभी पीर-पैग़म्बर के चमत्कारपूर्ण कार आश्रय लिया करते हैं। ये अपने क्रिया-कलापों में इस्लाम के मूल सिद्धान्तों की उपे कर दिया करते हैं। इनका एक समुदाय 'मजज़ूब' नाम से प्रसिद्ध है जिसके अनुयायी रोज़ा-नमाज़ मानते हैं न पैग़म्बर के प्रति आस्थावान् हैं। बेशरा-साधक 'मलामती' हैं, जो खुदा के कृपापात्र समझे जाते हैं। बेशरा-सम्प्रदाय के अन्तर्गत मदारी, मलंग, रसूलशाही, लाल शाहबाजिया, मूसा सुहागिया आदि कई उप-सम्प्रदाय हैं। इनकी अपनी विशेषताएँ हैं।

भारतीय सूफ़ी मुख्यतः बेशरा-सम्प्रदाय के हैं जो इस्लाम के अनुयायी होकर भी

ो मुसलमानों से सब समय सर्वत्र मेल नहीं खाते । ऐसे सम्प्रदायों में पाँच मुख्य हैं : चिश्ती, देरी, सुहरवर्दी, नक़्शबन्दी और शत्तारी । चिश्ती सम्प्रदाय के दो उप-सम्प्रदाय हैं—साविरी र निज़ामी । फिर निज़ामी की दो शाखाएँ हैं—हिशामी और हाजशाही । इसी प्रकार क़ादिरी प्रदाय की दो शाखाएँ हैं—वहाबिया और रज़ाकिया । इनकी भी प्रशाखाएँ हैं—मुक़ीम-ही और नौशाही । नौशाही के प्रवर्तक हाजी मुहम्मद बतलाये जाते हैं । इनके चार शिष्यों से दो के नाम पर शाखाएँ 'पाक रहमानी' और 'सचयारी' के रूप में प्रसिद्ध हुईं । इसी ार केसरशाही और बेनवा-जैसे दो अन्य सम्प्रदाय भी हैं । पंजाब के ऐसे ही सम्प्रदायों में नशाही और मियाँखेल सम्प्रदायों के नाम लिये जाते हैं । सुहरवर्दी सम्प्रदाय के अन्तर्गत ाली, मखदूमी, मीरनशाही, दौलाशाही, इस्माइलशाही आदि कई शाखाएँ हैं । नक़्शबन्दी फ़ियों को सनातनी मुसलमानों में बहुत सम्मान प्राप्त है । औरंगज़ेब इन्हीं का मुरीद था । संगीत-नृत्य के अतिरिक्त पीर-पूजा, समाधि-पूजा और दीपदान-जैसी पद्धति स्वीकार्य नहीं । शत्तारी सम्प्रदाय वाले क़ादिरी सम्प्रदाय वालों की तरह वस्त्र धारण करते हैं । इनमें ऐसे भी हैं जो बाल नहीं रखते और धार्मिक पाबन्दियों के प्रति उदासीन रहते हैं । जो सूफ़ी-सम्प्रदाय भी भक्ति-आन्दोलन के प्रभाव से अछूता न रह सका और उसकी भक्ति ा-भक्ति के साँचे में ढलने लगी थी ।

केरल का शास्तापूजक सम्प्रदाय बंगाल के धर्म-ठाकुर, सहजिया, बाउल, सत्यपीर, भाजा आदि सम्प्रदाय; उड़ीसा का पंचसखा सम्प्रदाय; महाराष्ट्र के वारकरी और ानुभाव-सम्प्रदाय भक्ति-आन्दोलन की ही उपज हैं, जिनके अनुयायियों द्वारा भक्ति-काव्य रचना हुई और इस प्रकार भक्ति-साहित्य का विपुल भण्डार समृद्ध हुआ ।

लित कलाएँ

भक्ति-आन्दोलन की लोकप्रियता इतनी अधिक बढ़ी कि कला-क्षेत्र में भी उसकी ष्ट छाप लक्षित होने लगी । मोटे तौर पर काव्येतर कला-क्षेत्र चार वर्गों में विभक्त है : स्तु कला, मूर्ति कला, चित्र कला और संगीत कला । कला-सर्जन के मूल में वाह्य वातावरण र परिस्थितियों के बीच उद्भूत मनुष्य की सूक्ष्म तथा कोमल अन्तर्वृत्तियों की चेष्टाओं का दर्शन मिलता है; और कला धार्मिक भावना की अभिव्यक्ति तक का माध्यम बन जाती । कला का स्तर तब और भी अधिक उजागर हो जाता है जब वह चमत्कारिक बोध से पर उठकर मिथ और इतिहास का भी आश्रय ग्रहण कर लेती है ।

वास्तु कला : मध्यकालीन वास्तु कला में हिन्दू-मुस्लिम-सम्पर्क का एक परिणाम उसके ये मोड़ों में लक्षित हुआ । इस्लाम ने अपने अभियान में जिन देशों को अधिकृत किया उनसे क्ष्यगत भेद के कारण भारत की स्थिति कदाचित् अधिक भिन्न थी । आदर्शवादी और थार्थवादी मतों का द्वन्द्व था । एक यदि अधिक कल्पनाशील था, तो दूसरा भौतिकतापरायण; र दोनों परस्पर-विरोधी लगते थे । इसका प्रभाव इनकी कलाओं पर भी पड़ना स्वाभाविक ा, जिसका प्रमाण इनके देवालयों तथा मस्जिदों में लक्षित होता है । मस्जिदों का खुलापन वालयों के घिरेपन से सर्वथा भिन्न है । देवालयों की भाँति मस्जिदों में विग्रह-स्थान नियत हीं रहता, अपितु मक्का की ओर उन्मुख होना ही पर्याप्त समझा जाता है । वास्तु कला की ष्टि से देवालय की अपेक्षा मस्जिद का स्वरूप सरल एवं बोधगम्य है । देवालय की दीवारों र दैवी लीलाओं तथा साज-सज्जा का अंकन-टंकण हो सकता है, किन्तु मस्जिदों में इसके लए अवकाश नहीं है । फिर भी, रंगबिरंगे पत्थरों के प्रयोग द्वारा मस्जिदों को भी अलंकृत

करने का प्रयास पाया जाता है। इस प्रकार इस क्षेत्र में दोनों के सामंजस्य में पर्याप्त का सामना करना पड़ा। हिन्दुओं की लयात्मक प्रवृत्ति से भिन्न मुसलमानों की औपचा थी। फिर भी, कालान्तर में सहवास के कारण दोनों में परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान हुआ, मतभेदों पर मानवीय भावनाओं की विजय हुई और वास्तु कला भी इससे प्रभावि बिना न रह सकी।

भारतीय राजगीर शताब्दियों से पत्थर के विशाल देवालय तैयार करने के थे, किन्तु मध्यकाल में इसके आगे वे विकास न कर सके। वे भवन-निर्माण में काम लेते थे जबकि मुस्लिम राजगीर इसके विपरीत मिहराबों की सहायता लेते थे। राजगीरों ने भी मुस्लिम प्रभाव ग्रहण कर मिहराब बनाना आरम्भ किया। शिखर मीनारों से पृथक् बना रहा। मुस्लिम आदेशों पर भारतीय राजगीरों द्वारा निर्मित भारतीयता की छाप स्पष्ट है। मुस्लिम वास्तु कला कई रूपों में विकसित हुई, भारतीय वास्तु कला अधिकतर देवालयों और हिन्दू महलों तक ही सीमित रही। इस उन दिनों की वास्तु कला दो रूपों में विभक्त थी—धार्मिक और धर्म-निरपेक्ष। वास्त के तत्कालीन उदाहरणों में हम दिल्ली की 'कुतुब मीनार' और अजमेर के 'अढ़ाई दि झोंपड़ा' का नाम ले सकते हैं, जिनमें किसी एक परम्परा का अनुकरण नहीं पाया मक़बरों का निर्माण उस युग की अपनी विशेषता है। मुस्लिम वास्तु कला का विकास-क्र रूपों में पाया जाता है—१. दिल्ली-सल्तनतकालीन, २. सूबेदारी अथवा प्रान्तीय शास स्थाकालीन, ३. मुग़लकालीन। तैमूर लंग के आक्रमण से दिल्ली-सल्तनत को आघात और वास्तु कला को भी एक झटका लगा। परन्तु मुग़ल-काल इस कला के लिए स सिद्ध हुआ। ताजमहल का निर्माण इस युग की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि है।

मूर्त कला : मध्यकालीन देव-मूर्तियाँ प्रायः परम्परागत हुआ करती थीं, किन्तु आन्दोलन के प्रभाव से इनमें वैविध्य आया और क्रमशः करुण, कोमल तथा सरस अभि को विस्तार मिलता गया। लोकोन्मुखी भावनाओं तथा अनुभूतियों को भी उनमें स्थान लगा। मूर्ति कला का क्षेत्र अधिकतर हिन्दुओं तक ही सीमित रहा। बौद्ध और कला के विकास में प्रचलित रूढ़ियों के कारण अधिक विकास की गुंजाइश न थी। तत राजनीतिक परिस्थितियाँ भी मूर्ति कला के विकास में अधिक सहायक नहीं हो सकीं इसके विपरीत वे कहीं-कहीं बाधक ही बनीं। इस्लाम में मूर्ति-पूजा का कोई स्थान एवं न था। पारसी और यहूदी धर्मों में लीला-तत्त्व का स्थान न होने के कारण मूर्ति विकास की सम्भावनाएँ अधिक न थीं और ईसाई धर्म कदाचित् भारतीय मूर्ति कला तक कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं बना सका था। फिर भी हिन्दू जनता में मूर्तियों का विघ्न-बाधाओं के बीच भी बढ़ता ही गया और भगवान् के लीला-विस्तार के साथ-साथ की परिकल्पनाएँ तथा भंगिमाएँ भी रूपायित होती गयीं।

चित्र कला : चित्र के प्रारम्भिक नमूने गुफाओं में मिलते हैं, जिनसे पुरा भारतीय चित्रकारों की निरीक्षण-प्रतिभा और कला-कौशल का आभास मिलता है। चित्र कला में दर्शन और अनुभूति दोनों का स्थान एवं महत्त्व है। चित्र कला के तीन चित्र, अर्द्धचित्र और चित्राभास। इस कला में षडंग की महत्ता है : रूप-विधान, प्रमाण, भाव-योजना, सादृश्य और वर्णिकाभंग। इस विषय का प्राचीन ग्रन्थ 'विष्णु है। 'विद्धशालभंजिका' नाटक में भी पूरे मानवीय चित्र का उल्लेख मिलता है, जहां सम चित्र का उदाहरण उपलब्ध है। प्राकृतिक चित्रों के अतिरिक्त मानवीय चित्रों के

भी उपलब्ध हैं, जो दो प्रकार के हैं : विद्ध और अविद्ध। ऐसे चित्रों में 'बुद्ध का परिनिर्वाण' प्रमुख है। मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में भी भित्ति-चित्र की चर्चा है।

परवर्ती, विशेषतः मध्यकालीन, चित्रों में विभिन्न रसों को अभिव्यक्ति मिली है—न केवल मानवीय चित्रों में, अपितु प्राकृतिक चित्रों में भी। प्राकृतिक चित्रों की एक अन्य विशेषता बारहमासा, रागमाला आदि के लेखांकन में पायी जाती है। मानवीय चेष्टाओं द्वारा भी इस उद्देश्य की पूर्ति की गयी है। नायक-नायिकाओं का चित्रांकन मध्यकालीन चित्रों की एक प्रमुख विशेषता है। राजस्थानी शैली मध्यकाल में लोकप्रिय रही, जिसका ईरानी चित्र कला के मेलजोल से मुग़ल-शैली में विकास हुआ। यह शैली बहुत सफल तथा लोकप्रिय सिद्ध हुई। हुमायूँ के साथ ईरान के दो चित्रकार मीर सैयद अली और अब्दुस्समद ईरान से भारत आये थे। जंगली जन्तुओं के शिकार, युद्ध-क्षेत्र की वीरता, दरबारी जीवन के दृश्य, जल-विहार, वाटिका-मनोरंजन और धार्मिक जीवन के विविध प्रसंग मध्यकालीन चित्रों की मुख्य विशेषताएँ हैं। इनमें रंग, रूप और रेखाओं के सुन्दर विन्यास मिलते हैं। इसके साथ ही ग्रन्थों के अलंकरण और सजावट की वह परम्परा भी प्रचलित रही, जो अपभ्रंश-काल से ही चल पड़ी थी। इनमें सन्दर्भगत विवरणों के चित्र भी पाये जाते हैं। परन्तु मध्यकालीन चित्र कला जितनी राजघरानों और अमीरों की रुचि का विषय रही है, उतनी ज़न-सामान्य की नहीं। अधिकतर राजाश्रित पेशेवर कलाकार ही इसके संवर्द्धक रहे। केन्द्रीय राज-सत्ता के बिखराव के बाद देश छोटे-मोटे राज्यों में विभक्त हो चुका था, जिसका प्रभाव कला के क्षेत्र पर भी पड़ा और राजाश्रित चित्रकारों द्वारा चित्र-शैली की पृथक्-पृथक् 'क़लमें' चल पड़ीं। इनके बीच लोक-कला भी पलती रही, जो व्रतोत्सवों अथवा मांगलिक कार्यों के अवसरों पर अभिव्यक्ति पाती रही है।

संगीत कला : मध्यकालीन भारतीय संगीत का इतिहास अधिकतर संगीत-घरानों का इतिहास है। इस काल में भारतीय संगीत और ईरानी संगीत के मेलजोल से एक नया मोड़ आया। देवालयीय संगीत की एक धारा दरबारों में पलकर शास्त्रीयता का रूप ले रही थी और इसकी एक अन्य धारा बढ़ते हुए लोक-प्रभाव के कारण लोक-संगीत से कन्धा मिला रही थी। ईरानी प्रभाव से ध्रुपद के मुक़ाबले में ख़याल-पद्धति का प्रचलन हुआ और विविध राग-रागिनियों के जोड़-तोड़ से नयी-नयी राग-रागिनियों का विस्तार हुआ। इस काल में नये-नये वाद्यों के भी आविष्कार हुए। राजाश्रय पाकर पृथक्-पृथक् राज्यों में नये-नये उस्तादों के घराने चल पड़े। उत्तर और दक्षिण भारत के संगीत का भेद जितना घरानों और पद्धतियों का भेद है, उतना भारतीय संगीत का नहीं। भारतीय संगीत की मूल प्रेरणा योगधर्मी स्वर-साधना की है, परन्तु इस्लाम में इसे रागात्मक वृत्तियों से गर्भित माना जाता है जिस कारण खुदा के 'ज़िक्र' और उसकी 'इबादत' में बाधा उपस्थित होने की आशंका बनी रहती है। फिर भी, सूफ़ियों के यहाँ संगीत प्रायः वर्जित नहीं रहा और इसके द्वारा सूफ़ी मत के प्रचार-प्रसार में भी सहायता मिली। सूफ़ियों की कव्वालियाँ प्रसिद्ध हैं।

गायन-पद्धति की भाँति नृत्य-पद्धति भी विस्तार पाती रही और देवालयीय पद्धति क्षीण होकर दरबारी पद्धतियों का सहारा लेने लगी। देवालयीय पद्धति के संगीतज्ञों में स्वामी हरिदास अग्रगण्य थे और दरबारी संगीत का प्रमुख उन्नायक उनका शिष्य तानसेन बना। ध्रुपद शैली को ग्वालियर के राजा मानसिंह द्वारा दरबारी संरक्षण, प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इस संदर्भ में बैजू बावरा और गोपाल नायक को भी भुलाया नहीं जा सकता—वे इस युग के मूर्द्धन्य संगीतज्ञों में थे।

अन्यान्य क्षेत्रों की भाँति मध्यकालीन कला-क्षेत्र में भी समन्वय की प्रवृत्ति जा अनजाने काम कर रही थी और इस प्रकार भारतीय कला में एक नया मोड़ आ गया, जिस पर अग्रसर होकर वह अधिक समृद्ध तथा सम्पन्न होती गयी। संगीत के प्रभाव काव्य-रचनाएँ भी राग-रागिनियों के भेदों का अनुसरण करने लगीं। 'आदि ग्रन्थ' जैसे धा ग्रन्थ भी प्रचलित राग-रागिनियों के शीर्षकों से युक्त हो गये। इस कोटि का कदाचित् पहला ग्रन्थ है, जिसमें संकलित पद विभिन्न राग-रागिनियों में बाँटे गये हैं।

साहित्य और असाहित्य का प्रश्न

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य प्रायः पद्यमय है और वहाँ साहित्य 'काव्य' का पर्याय है इसलिए काव्य-रसिकों अथवा साहित्य-पारखियों का ध्यान यथावसर उन मानदण्डों की ओ आकर्षित हो जाता है, जिन्हें उत्कृष्ट काव्य की कसौटी मान लिया गया है और जो कि न-किसी काव्यशास्त्रीय परम्परा का अनुसरण करते हैं। जहाँ तक विदित है, काव्यशास्त्री परम्परा का सूत्रपात ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी में भरत के 'नाट्यशास्त्र' से हुआ था, जहाँ विभिन्न अभिनयों के सन्दर्भ में शृंगारादि रसों को महत्त्व प्रदान किया जाने लगा था। आ चलकर क्रमशः भामह के अलंकारवाद, वामन के रीतिवाद, आनन्दवर्द्धन के ध्वनिवाद, कुन्त के वक्रोक्तिवाद और क्षेमेन्द्र के औचित्यवाद का प्रचार-प्रसार हुआ तथा काव्य-परीक्षा का समय इनके द्वारा निर्धारित नियमों की अनुरूपता को मानदण्ड स्वीकार कर लिया गया परन्तु 'काव्य' शब्द का अभिप्राय वहीं तक सीमित न रह सका और उसके मूल अर्थ की ओ ध्यान जाने लगा, जिसका प्रयोग कभी पहले किया जाता रहा था। 'कवि' के आधार प निर्मित 'काव्य' शब्द का अर्थ प्रायः 'कवि-कर्म' किया जाता है और इसके अन्तर्गत 'कवि शब्द के मूल अर्थ का समावेश स्वभावतः हो जाता है। 'कवि' शब्द कुङ्', ''कवृ' द्वारा निर्मि है जिसका तात्पर्य 'जाननेवाला' अथवा 'वर्णन करने वाला' है। 'अथर्ववेद' (काण्ड सूत्र ५३, मण्डल १) में इसका प्रयोग क्रान्तदर्शी अथवा प्रज्ञावान् के अर्थ में किया गया है 'ऋग्वेद' (९।७२।६) में भी 'मनीषिणः कवयः' का प्रयोग पाया जाता है। 'यजुर्वे (४०।८) में तो 'कवि' शब्द का प्रयोग मनीषी और स्वयंभू तक के लिए हुआ है 'श्रीमद्भगवद्गीता' (४।१६) के अन्तर्गत कर्त्तव्याकर्त्तव्य के निर्णय के प्रसंग में कवियों त में भ्रम उत्पन्न होने का उल्लेख है। 'प्रश्नोपनिषद्' में ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आधार पर लोक-विशेष की प्राप्ति की जानकारी कवियों द्वारा सुलभ बतलायी गयी है फिर भी, ऐसे कवियों की कृतियों को कहीं 'काव्य' की संज्ञा नहीं दी गयी। केवल 'कवि' पर्याय परमात्मा की सृष्टि को 'श्रुति' में 'देवस्य काव्यम्' कहा गया है, जिससे 'कवित के अर्थ का बोध नहीं होता। इस अर्थ में वेद-रचयिता ब्रह्मा को 'श्रीमद्भागव में 'आदिकवि' अवश्य कहा गया है : "तेने ब्रह्महृदाय आदिकवये।" परन्तु जो ध्व वाल्मीकि को 'आदिकवि' कहने में व्यंजित होती है, वह इसमें नहीं है। इस आधार प काव्य के दो प्रमुख लक्षण प्रकट होते हैं—पहला, काव्य में स्वतःस्फूर्त अथवा अल्पायास-ज अभिव्यक्ति का होना और दूसरा, मार्मिक अनुभूति के भाव-संचार द्वारा श्रोता पाठक के मानस में उसे ठीक उसी प्रकार आन्दोलित करने में समर्थ होना जिस प्रक कवि को उससे प्रेरित होकर अपने मनोरम भावों को अभिव्यक्ति देनी पड़ी थी। यदि ऐ कवि अपनी क्रान्तदर्शिता के कारण परोक्ष ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कर दिखाने में सक्षम औ समर्थ हो, तो उसका काव्य आदर्श काव्य तक कहला सकता है। यही कारण है कि

'श्रीमद्भगवद्गीता' और 'श्रीमद्भागवत' दोनों ने अपने-अपने ढंग से भक्ति-साहित्य के संवर्द्धन में महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय योग दिया है।

इस प्रकार उत्कृष्ट काव्य-रचना के लिए जहाँ भाव या वर्ण्य विषय का यथेष्ट मनोरम रहना अनिवार्य है, वहाँ उसकी व्यंजना-शैली का सशक्त एवं प्रभावशाली होना भी आवश्यक है। परन्तु सब समय सर्वत्र यह सम्भव नहीं हो पाता कि भव्य भाव सशक्त भाषा तथा सुन्दर रचना-शैली से समन्वित हो। फलस्वरूप कोई कृति भावप्रधान बन जाती है, तो दूसरी शैलीप्रधान। भावप्रधान रचना में जहाँ वर्ण्य विषय पर ध्यान केन्द्रित रहता है तथा रचना-प्रक्रिया गौण तक बन जाती है, वहाँ शैलीप्रधान रचना में शब्द-सौन्दर्य अथवा चमत्कार-सृष्टि द्वारा रचना-कौशल प्रदर्शित करने की धुन सवार हो जाती है। इसका एक परिणाम यह होता है कि जहाँ प्रथम कोटि के कवियों में काव्यशास्त्रीय परम्परा की उपेक्षा तक पायी जाती है वहाँ दूसरे वर्ग के कवियों में यशोलिप्सा अथवा धन-प्राप्ति-जैसी प्रवृत्ति अनेक रूपों में मिलती है, जिसे मानवीय मूल्यों की दृष्टि से हम स्पृहणीय आदर्श नहीं ठहरा सकते। उन्हें अधिक-से-अधिक युगानुरूप लोकप्रियता उगाहनेवाला कह सकते हैं। पहली कोटिवाले कवि ब्रह्मानुभूति (विश्वव्यापी अनुभूति) द्वारा आनन्दोपलब्धि किया करते हैं, जिसे 'एकनाथी भागवत' में सन्त एकनाथ ने 'ब्रह्मरस' की संज्ञा प्रदान की है। उसे प्राप्त करने के साथ-साथ जहाँ वे 'जनहिताय' उपदेश-दान करते हैं, वहाँ दूसरे वर्ग के कवि अधिकतर राजाश्रय में अभीष्ट की सिद्धि में संलग्न पाये जाते हैं।

प्रथम कोटि के 'काव्य' और कवियों की स्थिति प्राचीन काल की एकान्त विशेषता नहीं है, अपितु मध्यकाल में भी ऐसे बहुसंख्यक कवियों का पता चलता है जिनकी काव्य-विषयक मान्यता उन्हें काव्यशास्त्रीय परम्परा से पृथक् कर देती है। तथाकथित कवियों को लक्ष्य कर कबीर ने कहा है कि "जिनको हम (साधारणत:) 'कवि' कह दिया करते हैं, वे भी उसी प्रकार मर जाया करते हैं जिस प्रकार कोई कापड़ी साधु व्यर्थ की केदार-यात्रा करके मर जाया करता है अथवा व्रती कहलानेवाले जैन मुनि लुंचन-क्रिया द्वारा अपने बाल नोंच-नोंचकर मर जाया करते हैं। इनमें किसी को भी वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं हो पाता।"[1] सन्त रैदास ने भी प्रकारान्तर से इसी मत की पुष्टि की है।[2] कबीर ने अपनी रचनाओं के बारे में कहा है कि इन्हें मात्र गीत न समझा जाय, इनमें ब्रह्म-विचार है।[3] सिन्ध के सन्त कवि शाह अब्दुल लतीफ़ भी इसी उक्ति को अपने ढंग से दुहराते हैं।[4] मराठी सन्तों में भी यह प्रवृत्ति पायी जाती है। परन्तु केवल इसी आधार पर किसी रचना को उत्कृष्ट-निकृष्ट अथवा साहित्यिक-असाहित्यिक नहीं ठहराया जा सकता। इस प्रकार के प्रश्न बहुधा ऐसे लोगों द्वारा उठाये जाते हैं जिन्होंने परम्पराविशेष को ही 'इति' अथवा शाश्वत स्वीकार कर लिया है। वास्तव में स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति ही वह कसौटी

---

१. "कवि कवीनैं कविता मूए, कापड़ी केदारौ जाइ।
केस लूंचि लूंचि मुए, बरतिया, इनमें किनहू न पाइ॥"
२. "हम बड़ कुलीन हम पण्डित, हम जोगी संन्यासी।
ज्ञानी, गुणी, सूर हम दाता, यहु कहै मति नासी॥"
३. "तुम्ह जिनि जानौ गीत हैं, यहु निज ब्रह्म-विचार।"
४. "जे तूं बैत भाई, से आय तूं आहिनि,
लियो मनु लाईनिपिरियाँ संदे पारडे।"
अर्थात् जिन्हें तुम बैत (गीत) समझते हो, वे क़ुरान की आयतों के समान हैं।

हो सकती है जो किसी रचना को साहित्यिक अथवा असाहित्यिक ठहरा सके। इसके में किसी कोरी काव्यशास्त्रीय परम्परा के अभ्यासगत निर्वाह द्वारा शैलीगत प्रभाव कर वह श्रोता अथवा पाठक को भले ही चमत्कृत कर दे, किन्तु सच्चे अर्थों में उसे की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि किसी आध्यात्मिक स्तर अथवा धरातल पर पहुँ साहित्य-सर्जन करने पर ही 'कवि' कहलाने की योग्यता प्राप्त की जा सकती है, स्वानुभूति की सहज अभिव्यक्ति द्वारा दूसरों को भी इसमें भागीदार बनाया जा सकता और यह तभी सम्भव है जब कवि द्वारा अपनी संवेदनशीलता का आयाम तथा परि विस्तृत एवं परिष्कृत बनाया जा सके। इस प्रकार किसी रचना के साहित्यिक-असाहि होने का प्रश्न जितना स्तर-भेद के कारण है, उतना शैलीगत नहीं। ऐसी दशा में मध्यका भक्ति-साहित्य की साहित्यिकता को परखते समय किसी काव्यशास्त्रीय शैलीगत विशे मात्र को ही कसौटी नहीं मान लेना चाहिए, अपितु उसे सन्दर्भगत विशेषताओं-सहित व्या अर्थों में ग्रहण करना चाहिए। सगुण-भक्त कवियों की रचनाओं में रचना-प्रक्रिया के क्षेत्र काव्यशास्त्रीय परम्परा का जो अनुसरण दिखायी देता है, वह मुख्यतः तत्कालीन राजनी और सामाजिक सम्बन्ध-सूत्रों के प्रभाव का परिणाम है।

उपलब्ध सामग्री

मध्यकालीन भक्ति-साहित्य की उपलब्ध सामग्री कई रूपों, स्तरों और वर्गों में जाती है। अधिकांश पूर्ववर्ती इतिहास-लेखकों की यह सामान्य धारणा रहती आयी है भक्ति-साहित्य मात्र वैष्णव धर्म की उपज है, जिसे उसकी भागवत शाखा से विशेष प्रे प्रश्रय और प्रोत्साहन मिला है। परन्तु यह सर्वांशतः सत्य नहीं है। इसके पूर्ववर्ती पार्श्ववर्ती अन्य अनेक वैष्णवेतर भक्तिमार्गी साधक हैं, जिनकी रचनाएँ न्यूनाधिक मात्रा उपलब्ध हैं। ऐसे भक्त साधकों में शैव, शाक्त और श्रमण-भक्तों की गणना की जा स है। फिर भी, इनमें 'प्रपत्ति' तत्त्व सर्वत्र समान रूप से सुलभ नहीं है; जो भागवत-सम्प्र द्वारा प्रेरित मध्यकालीन भक्ति-मार्ग की एक विशेषता बन गयी थी। उनका यह 'प्रेमोपा कदाचित् उन्हें दक्षिण भारत से मिला था। इसमें न तो वैदिक यज्ञानुष्ठान या वैसे वि विधान का स्थान है, न श्रमण-भक्ति के मात्र गुणानुवाद का महत्त्व। गुण अपने आप प्रकृति-सापेक्ष है, जो मानवीय वृत्तियों को अपने से बाँध लेता है; जिससे मोक्ष की भाव कल्पनामात्र कहला सकती है। इसके विपरीत लीलावतार की सभी क्रियाएँ अधिकतर भा लोक की घटनाओं तक सीमित रहकर लोक-मानस के परिष्कार में सहायता पहुँचाती जिससे मनुष्य विकार-रहित होकर शुद्ध चिदात्मा रह जाए। इसीलिए भक्तों ने शरणाग और समर्पण का पथ ग्रहण किया है; जहाँ मान तो चल सकता है, अभिमान नहीं। की भाँति त्याग का भी अभिमान होता है जिसके रहते समर्पण की प्रक्रिया पूरी नहीं पाती। परन्तु यही बात हम उन भक्तों की भक्ति के विषय में नहीं दुहरा सकते अनुभवाश्रित सत्य के प्रति निष्ठावान् हैं। जो शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हैं, उनकी भक्ति स अपने आप के प्रति होती है। ऐसी भक्ति आत्मपरक होकर भी व्यक्तिनिष्ठ नहीं होती। प्रकार शिशु अपने आप को आरसी में नाना रूपों में देखकर पुलकित एवं आनन्दित हो करता है, उसी प्रकार ऐसा भक्त भी माया-जगत् में अपने भक्ति-परायण कृत्यों द्वारा हो लेता है। इन कृत्यों के विविध रूप और प्रकार हो सकते हैं, पर भक्ति वास्तव में

वृत्ति और संस्कार पर निर्भर है : पूजन-पद्धति अथवा उपासना के भेद तो हो सकते हैं, किन्तु भक्ति अपने आप में अविभाज्य है ।

र्गीकरण

भक्ति-साहित्य किसी क्षणिक भावावेग अथवा इन्द्रियजन्य भावोन्माद की अभिव्यक्ति-मात्र नहीं है, अपितु यह ठोस तथा उर्वर धरातल की उपज है । इसके साधन लौकिक अवश्य हैं, किन्तु इसका साध्य एक ऐसी लोकोत्तर अनुभूति है जिससे भक्त के चित्त को अनुपम शान्ति और आनन्द की उपलब्धि होती है । विद्वानों ने भक्ति-साहित्य को प्रवृत्त्यनुसार दो वर्गों में विभक्त किया है—ज्ञानमार्गी और प्रेममार्गी । परन्तु ज्ञान अपने आप में एक उपलब्धि है, क्रिया नहीं, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य मुक्ति-लाभ कर सके । फिर, ज्ञान द्वारा सत्य के स्वरूप का साक्षात्कार होने की सम्भावना में अज्ञानवादी वर्ग के लोग सन्देह प्रकट करने लगे । ऐसा भक्त, वास्तव में, ज्ञानमार्गी न होकर अनुभवाश्रयी होता है; और अनुभव क्रिया की आनुषंगिक प्रक्रिया है । फिर भी अधिकतर लीला-लोभी प्रेम-परायण भक्तों को प्रेम-मार्गी कहते समय हमें किसी वैसी आपत्ति का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि प्रेम-भावना के न्तर्गत वे सभी रागात्मक विशेषताएँ समाहित हो जाती हैं जो ऐसी भक्ति के लिए आवश्यक तथा अनिवार्य समझी जा सकती हैं ।

इसी प्रकार उपासना-भेद का आश्रय लेकर प्रायः भक्तिविषयक सगुण और निर्गुण जैसे दो वर्गों की कल्पना कर ली जाती है । सगुण भक्ति में जहाँ लीलावतार को आराध्य वीकार किया गया है, वहाँ निर्गुण भक्ति में ब्रह्मानुभूति को स्थान दिया गया है । सगुण क्ति में जहाँ भगवदनुग्रह का भरोसा होता है, वहाँ निर्गुण भक्ति में आत्मविश्वास का बल हता है । सगुण भक्ति जहाँ वाह्य लालित्य की महिमा से मण्डित है, वहाँ निर्गुण भक्ति न्तःसौन्दर्य की गरिमा से दीप्त । सगुण भक्ति जहाँ साकार तथा सविशेष के प्रति होती है, हाँ निर्गुण भक्ति निराकार और निर्विशेष के प्रति । सगुण भक्ति में जहाँ स्वकीया तथा रकीया दोनों भावों का समावेश है, वहाँ निर्गुण भक्ति में शक्ति-रूपा नारी के प्रति निष्ठा-न् रहते हुए भी उसके रमणी-रूप अथवा परकीया-भाव के प्रति आकर्षण का अभाव है गुण भक्ति में जहाँ किसी देव-लोक की कल्पना की गयी है, वहाँ निर्गुण भक्ति में विश्वात्म मु के विश्वव्यापी अस्तित्व में आस्था प्रकट की गयी है । सगुण भक्त के लिए जहाँ गवान् का उपयुक्त धाम भक्त का हृदय है, वहाँ निर्गुण भक्त के लिए अभेदमूलक दृष्टि रा आत्म-साक्षात्कार का महत्त्व है । निर्गुण भक्त सत्य के शोधक हैं, भक्ति अथवा ऐश्वर्य आराधक नहीं । मोक्षकामी निर्गुण भक्त संसार को ही सत्कर्मों द्वारा स्वर्ग बनाना चाहते वे किसी काल्पनिक 'परलोक' के अभिलाषी नहीं । सगुण और निर्गुण भक्त दोनों ही उपा-ना-भेद से वैष्णव हैं । निर्गुण-भक्त जहाँ नारायण की उपासना करता है, वहाँ सगुण-भक्त ष्णु के लीलावतारों की भक्ति । सगुण भक्ति में लीला का माहात्म्य है और निर्गुण भक्ति लय का महत्त्व । सगुण-भक्त जहाँ वर्ण-व्यवस्था के आलोचक नहीं, वहाँ निर्गुण-भक्त उसके व्र विरोधी तक जान पड़ते हैं । परन्तु प्रेमा भक्ति दोनों को स्वीकार्य है । सगुण भक्ति-रम्परा का मूल कदाचित् दक्षिण में है और निर्गुण भक्ति का आदि स्रोत 'श्वेताश्वेतर' ३।११) जैसे उपनिषद् हैं । स्वयं 'श्रीमद्भागवत'-माहात्म्य का प्रथम श्लोक[1] निर्गुण भक्ति

"ओ३म् नमो भगवते वासुदेवाय । सच्चिदानन्दरूपाय विश्वोत्पात्यादिहेतवे"……आदि ॥१।१॥

का समर्थक प्रतीत होता है, जिसके विशेषणों द्वारा वासुदेव कृष्ण के वपुधारी कृत्यों का प नहीं मिलता। प्रस्तुत सन्दर्भ में इसी प्रकार गजेन्द्र-स्तुति भी उल्लेखनीय है, जहाँ भ को 'निर्विशेष' सूचित किया गया है। 'श्रीमदभागवत' सगुण भक्ति का आकर-ग्रन्थ जाता है, जिस कारण उपर्युक्त संकेत विशिष्ट महत्त्व के बन गये हैं। वास्तव में सगुण-नि का भेद जितना स्तरजन्य है, उतना वर्गगत नहीं।

कुछ लोगों ने निर्गुण भक्तों को, कदाचित् भ्रान्तिवश, वैरागी बतलाकर उन्हें कारी जीवन से विरत रहनेवाला कहा है, जबकि उन भक्तों ने आजीवन श्रम-साधना में रहकर सच्चे भक्त का जीवन व्यतीत किया है। इसलिए उन्हें हम रूढ़ अर्थ में वैरागी ठहरा सकते। उनका वैराग्य, वास्तव में, विषयासक्ति से विरत चित्तवृत्ति का है, क निवृत्ति का नहीं। इस आधार पर उन्हें हम प्रवृत्तिमार्गी तक ठहरा सकते हैं।

भक्ति-साहित्य के वर्गीकरण का एक अन्य आधार साम्प्रदायिक भेद को भी लिया जाता है, किन्तु कभी-कभी सम्प्रदायविशेष के अन्तर्गत भी सभी भक्त साधकों को उ रचनाओं में हम ठीक एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति करते नहीं पाते, जिससे सबको कि एक वर्ग में बिठलाने में कठिनाई उपस्थित होती है। फिर मीरां और रसखान-जैसे भक्तों भी अभाव नहीं जिन्हें सम्प्रदाय-निरपेक्ष तक ठहराया जा सकता है। इसलिए सम्प्रदाय के आधार पर भक्ति-साहित्य का वर्गीकरण समीचीन नहीं जान पड़ता। भक्ति-साहित्य वैज्ञानिक वर्गीकरण का एक आधार जैविक, दैहिक और मानसिक भक्ति भी हो सकती जिसकी परिणति भक्त के आध्यात्मिक अभ्युदय में सम्भव है।

भक्तिकाव्य तथा लौकिक काव्य

भक्तिकाव्य की रचना किसी परमतत्त्व, देवी-देवता अथवा दैवीगुण-सम्पन्न महा को लक्ष्य कर आरम्भ हुई थी। इस प्रकार का विपुल साहित्य प्रायः सभी जीवन्त भाष में उपलब्ध है। इसे लेकर कदाचित् कभी भी शास्त्रीयता का प्रश्न नहीं उठाया गया, प इधर कुछ शास्त्रानुरागी समीक्षक पूर्व-मध्यकालीन भक्तिकाव्य में शास्त्रीयता की छ देखकर उसे भक्तिकाव्य से भिन्न लौकिक काव्य की कोटि में रखकर उसे शुद्ध साहित्य 'गौरव' से वंचित रखना चाहते हैं। परन्तु वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि शास्त्री का भी मूलाधार लोक ही है। फिर, भक्ति अथवा साहित्य का लक्ष्य शास्त्रविशेष अनुकरण अथवा अनुसरण-मात्र नहीं है। इसके विपरीत भक्ति-भावना और साहित्य-र के आधार पर ही तदविषयक शास्त्रों का सर्जन हुआ है, जिनका उद्देश्य नियमन अ नियन्त्रण द्वारा परम्पराविशेष को सुरक्षित रखना है; स्थिरीकरण द्वारा उनके विकास- को अवरुद्ध करना नहीं। यदि ऐसा होता तो नये-नये शास्त्रों का निर्माण कदापि सम्भ होता।

लौकिक काव्य की अपनी विशेषताएँ हैं, जिनके फलस्वरूप इसकी अपनी भिन्न है। लौकिक काव्य में प्रायः क्षणिक उमंग, उल्लास और विषाद की सरल अभिव्यक्ति है। इसमें किसी वैचारिक वैशिष्ट्य अथवा शास्त्रीय नियमों के अनुसरण की प्रतिबद्ध स्थान पर अधिकतर परम्परा-निर्वाह की प्रवृत्ति पायी जाती है—यद्यपि देश-काल के अ नये-नये सम्पर्कों तथा सन्दर्भों द्वारा नयी-नयी परम्पराएँ भी उद्भूत होती रहती हैं। विपरीत भक्ति-काव्य में किसी-न-किसी वैचारिक वैशिष्ट्य तथा तारतम्य का स्पष्ट लक्षित होता है और इसकी व्यंजना-शैली में किसी शास्त्रीय अथवा 'लौकिक परम्परावा

के पालन का वैसा आग्रह नहीं पाया जाता, जैसा कि इसके प्रति अन्यत्र अतिरिक्त उत्साह देखा जाता है। इसमें पाये जानेवाले प्रभाव आनुषंगिक हैं, आयोजित नहीं। इसलिए पूर्व-मध्यकालीन भक्तिकाव्य को लौकिक काव्य की कोटि में रखे जाने का कोई न्यायसंगत कारण अथवा औचित्य नहीं है। इसकी शैलीगत अभिव्यक्तियों के लोकपरक होने का कारण रचयिताओं का अपना जीवन-परिवेश है, जिससे उन्होंने वैसा संस्कार ग्रहण किया है। ये विशेषताएँ उतनी आयासजन्य नहीं हैं, जितनी अनायास ही उन्हें सुलभ हो गयी हैं।

भक्तिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

प्रवृत्तिगत पृष्ठभूमि : पूर्व-मध्यकालीन भक्तिकाव्य का आरम्भ होने के पहले से ही प्रान्तीय भाषाएँ अपने-अपने अपभ्रंशों का अनुसरण करते हुए हिन्दी के समानान्तर साहित्य-रचना में प्रवृत्त थीं। इनमें वर्ण्य विषयों, काव्य-रूपों तथा रचना-शैलियों की विविध परम्पराएँ प्रचलित थीं जो अनगढ़, अटपटी और ऊटपटाँग लगती थीं। इनमें नवीन संस्कार और निखार का आना समय-सापेक्ष था। इनमें वर्ण्य विषय या तो प्रचलित धर्मों से सम्बद्ध थे या लोकोन्मुखी साहित्य-सर्जन की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत अधिक मुखर थी। परन्तु भक्तिकाव्य की रचना होते-होते इनमें नवीन प्रवृत्तियाँ प्रवेश पाने लगीं और सुधार के साथ-साथ परिष्कार के भी लक्षण प्रकट होने लगे। तदनुसार सिद्धों, मुनियों, नाथों तथा सूफ़ियों की प्रचलित परम्पराओं का विकास होने लगा और साहित्य-निर्माण की नवीन पद्धतियों तथा प्रवृत्तियों के रूप उभरने लगे। इस प्रकार की प्रवृत्तियों को अग्रसर करने में, मध्यदेशीय भाषा होने के कारण, हिन्दी स्वभावतः आगे रही। प्रस्तुत सन्दर्भ में हिन्दी-पूर्व परम्पराओं का भी सामान्य परिचय पा लेना तत्कालीन प्रवृत्तियों को समझने में सहायक हो सकता है।

पालि, प्राकृत और अपभ्रंश की रचनाएँ जहाँ क्षीणतर पड़ती गयीं, वहाँ संस्कृत का प्रयोग वेद-विरोधी वर्गों द्वारा भी मान्य समझा जाने लगा; और उसका न्यूनाधिक प्रयोग प्रायः सभी शिक्षित वर्गों द्वारा अनिवार्य-सा हो गया। तदनुसार संस्कृत भाषा के प्रयोग-प्रचार के साथ-साथ उसकी प्रचलित विधाओं का भी उपयोग होने लगा। बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ-साथ जैसे पालि प्रवासित हुई, वैसे ही प्राकृत भाषा भी ऐतिहासिक अवान्तर भेदों के कारण अपने मूल रूप की रक्षा न कर सकी और अपभ्रंश भाषाओं के सम्पर्क तथा सान्निध्य में प्रान्तीय भाषाओं का रूप ग्रहण करने लगी।

प्राकृत-साहित्य की रचना अपेक्षाकृत लोकोन्मुखी वातावरण में हुई। प्राकृत जहाँ बोलचाल की भाषा थी, वहाँ जैन मतावलम्बियों के धार्मिक प्रचार-प्रसार का साधन भी बन चुकी थी। जैनधर्मियों ने प्राकृत को अपने मत-प्रचार का साधन बनाया और शृंगारपरक आख्यानों तथा काम-कथाओं का उपयोग शील-वैराग्य-भावना के प्रचार में किया जाने लगा। यह परम्परा बहुत-कुछ सूफ़ियों-जैसी थी। परन्तु शास्त्रीय साहित्य तथा चरितकाव्यों में अधिकतर संस्कृत की प्रचलित परम्पराओं का ही प्रभाव ग्रहण किया गया। प्राकृत-साहित्य में प्रचलित सूक्तियों के ही अनुकरण में कदाचित् 'दूहा' छन्द का प्रचलन हुआ, जिसे बाद में 'साखियों' के लिए अपना लिया गया।

अपभ्रंश-साहित्य में पूर्ववर्ती परम्पराओं के विकास के साथ-साथ लोक-प्रचलित अन्यान्य परम्पराओं का भी प्रवेश हुआ। जैन कवियों द्वारा रचित प्रबन्धकाव्यों के अन्तर्गत 'कहा', 'चरिउ', 'पुराण' आदि मिलते हैं और बौद्ध कवियों की रचनाओं में दोहे और 'चर्यापद' प्रसिद्ध हैं। मुक्तक काव्यों के अनेक उदाहरण हमें जैन-साहित्य में भी प्राप्त होते हैं,

जिनमें 'चूनड़ी' उल्लेखनीय है। बौद्ध सिद्धों द्वारा अपनायी गयी शैली पर कदाचित् कवियों की मंगोलियन शैली का भी यत्किंचित् प्रभाव है। यह शैली अनुभवाश्रयी कवियों तक में लोकप्रिय हुई—मुख्यतः गुरु-शिष्य-संवाद-शैली उनकी अपनी विशेषता आयी है। जिस प्रकार दोहों ने साखियों का रूप ग्रहण कर लिया, उसी प्रकार चर्या बानियों तथा सबदों का बाना धारण कर लिया। लोक-प्रचलित गीतों की परम्परा तत्कालीन फाग, चर्चरी, बारहमासा आदि के रूप में साहित्य-रचना में पायी जाती है। प्रयोग 'सन्देशरासक' जैसी रचनाओं के अतिरिक्त सन्त-काव्य में भी हुआ है।

अपभ्रंश-साहित्य की रचना सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक होती रही और कई विशेषताएँ राजस्थानी तथा गुजराती-साहित्य को विरासत में मिल गयीं। पुरानी की रचनाएँ भी उससे प्रभावित रहीं। इसी काल के आसपास गुरु गोरखनाथ ने भी प्रस्तुत कीं, जिनका स्पष्ट प्रभाव परवर्ती सन्त-साहित्य पर लक्षित हुआ। नाथ-साहि जहाँ योग-साधना को विशेष महत्त्व मिला और निवृत्ति मार्ग का पक्ष प्रबल पड़ता दि दिया, वहाँ सन्त-साहित्य में भक्ति-भावना का स्वर मुखर हुआ और आत्मनिर्भरता के नि प्रवृत्ति-पथ को भी प्रश्रय तथा प्रोत्साहन मिला। इन कवियों ने अपने मत-प्रचार में कवियों की भाँति पौराणिक आख्यानों का उपयोग नहीं किया, पर सूफ़ी कवियों ने लो आख्यानों का भी आश्रय लेकर लाभ उठाया और अपने मत के प्रचार में उनका प्रेमाख् के रूप में यथेष्ट प्रयोग किया। सन्तों ने बौद्ध सिद्धों और नाथ योगियों द्वारा स्वीकृत शै को अपनाया। पद-रचना का प्रयोग तमिल 'पदम्' के अनुकरण में हुआ। अन्य कई दाक्षि काव्य-शैलियाँ भक्तिकाव्य के माध्यम से हिन्दी-भक्तिकाव्य का अंग बन गयीं। सूफ़ी क द्वारा गृहीत अरबी-फ़ारसी-शैलियों का प्रभाव भी हिन्दी-रचनाओं पर पड़ा। अरबी-सा के अनुकरण से इस्लाम की अनेक बातें हिन्दी में आने लगीं और उनका यत्किंचित् प्रभा हिन्दी-साहित्य में लक्षित हुआ।

फ़ारसी-साहित्य पर जहाँ इस्लाम की छाप पड़ी, वहाँ अपनी विशेषताओं को भी सु रखने का सजग प्रयास पाया गया। ईरानी संस्कृति में शिया-सम्प्रदाय का विशेष योगदान है, जिसके फलस्वरूप उनकी अपनी विशेषताओं का प्रभाव फ़ारसी-साहित्य पर पड़ना स्वा विक था। सूफ़ी मत के आदर्शों के अनुकूल विषयों और रचना-शैलियों को प्रश्रय तथा प्रोत्सा मिलने लगा। इस प्रकार एक नयी साहित्यिक परम्परा का सूत्रपात हुआ, जिसे मुस्लिम सुल और शासकों द्वारा भी पर्याप्त संरक्षण मिला। फ़ारसी-साहित्य की लोकप्रियता भारत में इ बढ़ी कि यहाँ के निवासियों ने भी उसकी अभिवृद्धि में रुचि लेना आरम्भ कर दिया भारतीय ग्रन्थों तक के अनुवाद फ़ारसी में होने लगे। फ़ारसी-साहित्य में भारतीय विषयों समावेश करनेवालों में अमीर खुसरो और फ़ैज़ी विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका अनु कई परवर्ती कवियों ने किया। अब्दुल कुद्दूस गंगोही (मृत्यु १५३७ ई०) ने तो कतिपय हि मुक्तकों की शैली तक को अपनाया। फ़ारसी-साहित्य के अनुकरण में मसनवी शैली भी हि में लोकप्रिय हुई। अपनी प्रवृत्तियों और परम्पराओं के कारण फ़ारसी-साहित्य भारतीयों अरबी-साहित्य से अधिक अनुकूल लगा और तदनुसार उसका प्रभाव भी पड़ा।

प्रवृत्तिगत विशेषताएँ : उपर्युक्त बहुरंगी साहित्यिक प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में मध्यकाल में भक्तिकाव्य की रचना आरम्भ हुई और इसे लोक-जागृति का योगदान रहा। अनुभवाश्रयी निर्गुण-साहित्य की मूल प्रेरणा प्राचीन काल से ही विद्यमान र जिसे श्रमण-संस्कृति की ओर से बल और बढ़ावा मिला। उसका मूल उद्देश्य व्यक्ति

कर्ष के निमित्त आध्यात्मिक दृष्टि का सहारा लेना था, पर कालान्तर में महायानियों द्वारा से 'बहुजनहिताय' का नया मोड़ दे दिया गया जिसमें वैदिक आदर्श 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' ध्वनि प्रतिध्वनित थी। इसकी सफलता के लिए सदाचार तथा नैतिक भावना पर यथेष्ट दिया जाने लगा और आगे चलकर यह भक्तिकाव्य की एक प्रमुख विशेषता बन गयी। देशी तथा विजातीय मुस्लिम आक्रमणकारियों के फलस्वरूप प्रबुद्ध लोगों का ध्यान आत्म-रीक्षण और परिस्थिति-परीक्षण की ओर भी आकृष्ट हुआ और तदनुसार आत्म-रक्षार्थ पाय करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। हिन्दू जनता मुस्लिम आक्रमणों से भयभीत होने अपेक्षा अधिक सजग और सचेत हो गयी। फलस्वरूप काशी और मथुरा-जैसे धार्मिक ानों में बड़े-बड़े मन्दिरों के ध्वस्त किये जाने पर छोटे-छोटे मन्दिरों की बाढ़-सी आ गयी था घर-घर में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हो गयीं। यह अपने ढंग की सामूहिक गृति थी, जिससे व्यक्तिगत साधना की अपेक्षा सामूहिक पूजन-अर्चन और भजन-कीर्तन प्रवृत्ति ज़ोर पकड़ने लगी। यह प्रवृत्ति सगुण भक्ति के अनुकूल पड़ी। इस प्रकार सामू-क चिन्तन और व्यवहार का एक सुयोग मिला। आपसी भेद-भाव को कम करने के लिए गम मार्ग ढूँढ़े जाने लगे और परस्पर टकराव के प्रति सावधानी बरती जाने लगी। समन्वय भावना से इस दिशा में बड़ा बल और प्रोत्साहन मिला।

लोक-चेतना का एक परिणाम लोकभाषाओं के बढ़ते महत्त्व में लक्षित हुआ और वे नोभावों तथा हृदयोद्गारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनने लगीं। मौखिक परम्परा की रीय रचनाओं को भी लिपिबद्ध कर उन्हें सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। वर्ण्य षयों के लोकप्रिय होने के कारण उनकी भाषा और शैली की सादगी तथा अनगढ़पन से ई उल्लेखनीय बाधा नहीं पहुँची। फिर भी, शास्त्रीय परम्परा के समर्थकों द्वारा उनमें म्य दोष' ढूँढ़ा जाने लगा; पर बढ़ती हुई लोक-चेतना के कारण इसका कोई प्रतिकूल भाव नहीं पड़ सका। एक ओर जहाँ महाकाव्यों के माध्यम से शास्त्रीय शैली में राजपुरुषों था दिव्य नायकों को महत्त्व दिया जा रहा था, वहाँ दूसरी ओर जन-जीवन की उपेक्षित नुभूतियों को भी अभिव्यक्ति मिलने लगी थी जिससे लौकिक वर्ण्य विषयों का स्वर मुखर ने लगा था। इस काल में लोकगीतों और लोक-कथाओं को यथेष्ट सम्मान मिलने लगा र लोक-प्रचलित एवं परिचित दृष्टान्तों, रूपकों, प्रतीकों तथा लोकोक्तियों को भी यथा-ग्य स्थान दिया जाने लगा। ऐसी रचनाएँ लोक-रुचि के अनुकूल पड़ने लगीं और उनकी कप्रियता बढ़ने लगी। अपनी-अपनी अनुभूतियों को लोक-प्रचलित भाषा-शैली में जन-धारण तक पहुँचाना उनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा करता था।

इन बातों से जनता में आत्म-विश्वास बढ़ने लगा और पारस्परिक सहयोग के लिए मन्वयात्मक दृष्टि से काम लिया जाने लगा। सन्तों की समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सूफ़ी मत भी प्रश्रय मिला। फिर भी, भारतीय परम्परा में इष्टदेव को जहाँ प्रियतम के रूप में स्वी-र किया गया है; वहाँ सूफ़ी परम्परा में उसे प्रियतम ठहराया गया है। उपास्य के निर्गुण ने के कारण ऐसा करने में कोई बाधा न थी। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए कटु और मधुर नियों' तक का उपयोग किया गया। उनकी कड़वाहट चित्त-विकार की उपज न थी, अपितु तावरण तथा परिस्थिति की असंगतियों की देन थी; जिनके कारण उन्हें मर्मान्तक पीड़ा ती थी और आन्तरिक क्षोभ के कारण कटूक्तियाँ तक कहनी पड़ जाती थीं। इसमें उनकी शयता की तीव्रता का ही बलावेग था।

फलस्वरूप इस क्रम में जो रचनाएँ प्रस्तुत की गयीं उनमें धार्मिक साम्प्रदायिकता का

स्वर क्षीणप्राय हो गया। ऐसी रचनाओं में बहुधा उनके रचयिताओं के नामोल्लेख का जाना भी एक अन्य विशेषता है, जिसका मूल बौद्ध-सिद्धों की रचनाओं में पाया जा है। सम्भव है यह मंगोलियन प्रभाव के कारण हो अथवा प्रभावशाली केन्द्र के अभा व्यक्तिगत मतों का महत्त्व बढ़ गया हो। इस प्रकार पूर्व-मध्यकालीन भक्तिकाव्य पर गत लोकोन्मुखी प्रवृत्तियों का आश्रय ग्रहण कर अपने निर्भ्रान्त लक्ष्य की ओर अग्रसर गया और परवर्ती काव्य के लिए उपयुक्त भूमिका तैयार हो गयी।

अध्याय : ४

निर्गुण भक्तिकाव्य

निर्गुण भक्ति का स्वरूप

ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग साधना के दो रूप हैं जो विरोधी न होकर परस्पर सम्बद्ध हैं। ज्ञान की अनुभूति ही भक्ति है। ज्ञान-मार्ग पर चलनेवाले आचार्यों ने भी ज्ञान के अनुभूति-पक्ष पर वल दिया है। बिना अनुभूति का ज्ञान मात्र वाक्य-ज्ञान है जिससे कुछ भी सिद्ध नहीं होता। भक्ति को विद्या-माया माननेवाले तथा ज्ञान-मार्ग को ही एकमात्र सच्ची साधना के रूप में स्वीकार करनेवाले आचार्य शंकर ने भी ज्ञान के अनुभूति-पक्ष पर वल दिया है। 'अहम् ब्रह्मास्मि' का ज्ञानमात्र तो निष्फल ही रहता है; सिद्धि तो तब होती है जब यह ज्ञान अनुभव में पर्यवसित हो जाता है : 'अनुभवावसानत्वात् ब्रह्मज्ञानस्य'। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट मत है कि जब तक ज्ञान का अनुभव में अवसान नहीं होता, तब तक वह निस्सार है। ज्ञान-मार्ग में अनुभूति की इस स्वीकृति के आलोक में निर्गुण भक्ति के स्वरूप पर विचार किया जाए तो उसका सन्तुलित विवेचन और मूल्यांकन आसानी से किया जा सकता है।

अवतारवाद को स्वीकार कर लेने के फलस्वरूप सगुण भक्ति को एक साकार आलम्बन मिल जाता है, जिसके कारण उसे सामान्य अशिक्षित व्यक्ति भी सहज ही स्वीकार कर सकता है। निर्गुण भक्ति का आलम्बन निराकार है, फलस्वरूप वह जनसाधारण के लिए ग्राह्य नहीं हो सकती। सामाजिक उपयोगिता की दृष्टि से सगुण भक्ति निर्गुण भक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है, किन्तु इसी आधार पर निर्गुण भक्ति की सत्ता या महत्त्व के विषय में सन्देह नहीं किया जाना चाहिए। यह सत्य है कि सगुण भक्ति पर आस्था रखनेवाले साधकों ने निर्गुण भक्ति को लेकर तरह-तरह की शंकाएँ उठायी हैं। उनका मूल तर्क यह है कि निर्गुण ब्रह्मज्ञान का विषय तो हो सकता है, किन्तु भक्ति का नहीं; क्योंकि भक्ति तो किसी साकार, मूर्त और विशिष्ट के प्रति ही उन्मुख हो सकती है। सामान्य जनता का विश्वास और आचरण भी इसी तर्क की पुष्टि करता दिखायी देता है। इस समस्या पर विचार करते हुए पहले यह स्पष्ट कर लेना चाहिए कि भक्ति का तात्त्विक स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में यह माना जाता है कि 'स्नेहपूर्वक ध्यान ही भक्ति है'। प्रश्न यह है कि यदि स्नेहपूर्वक ध्यान ही भक्ति है, तो फिर निर्गुण की भक्ति या स्नेहपूर्वक ध्यान क्यों नहीं किया जा सकता? सामान्य रूप से यह माना जाता है कि निर्गुण ब्रह्म का सम्बन्ध ज्ञान-मार्ग के साथ है और सगण ब्रह्म का भक्ति के साथ। इसलिए जब कभी कोई निर्गुण ब्रह्म की बात

करता है तो श्रोता का ध्यान नैसर्गिक रूप से ज्ञान-मार्ग की ओर ही जाता है, भक्ति-मार्ग की ओर नहीं। और इसी प्रकार सगुण ब्रह्म का उल्लेख करते ही भक्ति-मार्ग अपनी समग्र पूजा-विधि के साथ उपस्थित हो जाता है। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि भक्ति और पूजा या अर्चना में अभेद माना जाने लगा। मन्दिरों में जाना, भगवान् पर दीप, अर्घ्य आदि चढ़ाना, मूर्ति की सेवा करना और उसकी आरती आदि उतारना भक्ति के अभिन्न अंग माने जाने लगे। परन्तु क्रमशः कबीर और तुलसी (विनयपत्रिका) के निम्नलिखित उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों की दृष्टि में सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति में कितनी समानता है :

(अ) *ऐसी आरती त्रिभुवन तारै, तेज पुंज तहाँ प्रान उतारै।*
पाती पंच पुहुप करि पूजा, देव निरंजन और न दूजा।
तनमन सीस समरपन कीन्हाँ, प्रकट ज्योति तहाँ आतम लीनाँ।
दीपक ग्यांन सबद धुनि घंटा, परम पुरिख तहाँ देव अनंता।
परम परकास सकल उजियारा, कहै कबीर मैं दास तुम्हारा॥

(आ) *ऐसी आरती राम रघुबीर की करहि मन।*
हरन दुख द्वन्द्व गोविन्द आनन्द घन॥
अचरचर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत, इति वासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत कोह-मद-मोह-तम प्रौढ़ अभिमान चित्तवृत्ति छीजै॥
भाव अतिसय बिसद प्रवर-नैवेद्य सुभ श्री रमन परम-संतोषकारी।
प्रेम तांबूल, गतसूल संसय सकल, विपुल-भव-बासना-बीज-हारी॥
असुभ-सुभ कर्म घृत-पूर्ण दस वर्तिका, त्याग-पावक सतोगुण प्रकासं।
भगति-बैराग्य-बिज्ञान-दीपावली अर्पि नीराजनं जगनिवासं॥
विमल-हृदि-भवन कृत संगति-पर्यंक सुभ सयन बिस्राम श्रीराम रामा।
छमा करुना प्रमुख तज परिचारिका, यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥
यहै आरती निरत सनकादि स्रुति सेष सिव देवरिषि तत्वदरसी।
करै सोह तरै, परिहरै कामादि मल बदति इति अमलमति दास तुलसी॥

ऊपर के दोनों उदाहरणों में भक्ति के अनुभूति-पक्ष को ही प्रधान रूप से चित्रित किया गया है। सच्ची भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है, बाहरी पूजा-विधान से नहीं। यह बात पाण्डित्य और शास्त्राभ्यास से रहित कबीरदास के लिए भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, जितनी कि विद्वान् और शास्त्रों के ज्ञाता भक्त तुलसीदास के लिए। दोनों ने ही आराध्य देव के उन गुणों का—'तेज पुंज', 'निरंजन', 'परम पुरिख', 'अंचरचर रूप', 'सर्वगत', 'सर्वदा बसत' आदि का—उल्लेख किया है जो निर्गुण की व्याख्या में दिये जाते हैं। कबीरदास ने 'दीपक ज्ञान' का उल्लेख किया है, तो तुलसीदास ने 'भगति-बैराग्य-विज्ञान-दीपावली' का उल्लेख किया है। उक्त उदाहरणों में 'निर्गुन राम जपहु रे भाई' कहनेवाले कबीरदास में और दशरथ-नन्दन भगवान् रामचन्द्र के उपासक तुलसीदास में अद्भुत समानता पायी जाती है। चाहे 'दशरथ-सुत' आराध्य हो और चाहे 'राम-नाम का मरम हो आना', दोनों ही स्थितियों में भक्ति की अनुभूति में बुनियादी समानता पायी जाती है। यदि ब्रह्म के साकार और निराकार रूपों में गुणों की समानता है और भक्ति-पद्धति में इन समान गुणों की स्वीकृति भी हो जाती है, तो निर्गुण की भक्ति को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती।

सगुणोपासक तुलसीदास के लिए भी निर्गुण की सत्ता अमान्य नहीं है। इतना

ही नहीं, वे तो भक्ति के लिए दोनों रूपों के ध्यान को अनिवार्य मानते हैं . आराध्य देव के निर्गुण रूप को समझे बिना सगुण भक्ति भी संम्भव नहीं है :

हिय निर्गुन, नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहुँ परट-संपुट लसत, तुलसी ललित ललाम।। (दोहावली)

इसका कारण स्पष्ट है; यहाँ आराध्य गोचर राम ही नहीं हैं। भक्त के लिए आवश्यक है कि वह अवतार-रूप राम के उन गुणों का भी ध्यान करे जो उनके सहज और नैसर्गिक गुण हैं। इसलिए तुलसीदास ने 'विनयपत्रिका' में राम के उन गुणों का उल्लेख किया है जो वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म के गुण हैं :

(अ) *ब्रह्म व्यापक अकल सकल पर परमहित, ग्यान-गोतीत गुन-वृत्ति-हर्त्ता।*
सिंधु-सुत-गर्व-गिरि-वज्र, गौरीस, भव दच्छ-मख-अखिल विध्वंस-कर्त्ता।।
(आ) *दुष्ट-बिबुधारि-संघात-अपहरन महि-भार, अवतार कारन अनूपं।*
अमल अनवद्य अद्वैत निर्गुन सगुन ब्रह्म सुमिरनि नरभूप-रूपं।।

'व्यापक', 'अकल', 'सकल', 'ग्यान-गोतीत', 'अद्वैत', 'निर्गुन' आदि विशेषणों के प्रयोग से तुलसीदास ब्रह्म के—दशरथ-पुत्र राम के—उन गुणों का उल्लेख कर रहे हैं जिनको हृदय में स्थान दिये विना, जिनका ध्यान किए विना, भक्ति सम्भव ही नहीं है।

जिस प्रकार सगुण भक्ति के लिए निर्गुण की स्वीकृति आवश्यक है, उसी प्रकार निर्गुण भक्ति के लिए भी सगुण की आंशिक स्वीकृति अनिवार्य है। कबीर के राम 'दशरथ-सुत' नहीं हैं, पर वे अपने निर्गुण आराध्य की भक्ति के पदों में उसके सगुण या मूर्त पक्ष की ओर भी इंगित करते हैं—उन प्रसंगों का, सम्बन्धों का उल्लेख करते हैं जिनका वर्णन सगुण भक्तों ने भी किया है :

निरगुन राम निरगुन राम जपहु रे भाई, अविगत की गति लखी न जाई।
चारि बेद जाकै सुमृत पुरांनां, नौ व्याकरनां मरम न जानां।
सेस नाग जाकै गरड़ समांनां, चरन कँवल कँवला नहीं जांनां।
कहै कबीर जाकै भेदै नांहीं, निज जन बैठे हरि की छाँहीं।।

यहाँ 'शेषनाग', 'गरुड़', 'कमला' आदि के उल्लेख में कबीरदास सगुण रूप के प्रसंगों की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। सगुण भक्ति में निर्गुण ब्रह्म के विशेषणों—'अद्वैत', 'अकल', 'ग्यान-गोतीत' आदि—का उल्लेख और निर्गुण भक्ति में 'शेषनाग', 'गरुड़', 'कमला' प्रभृति सगुण के प्रसंगों का उल्लेख आकस्मिक नहीं है वरन् इससे निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति की तथा ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग के बीच की मूलभूत समानता प्रकाशित होती है। जिस प्रकार भक्ति या राग के मार्ग पर चलनेवाले के लिए सत्य-ज्ञान का महत्त्व है, उसी प्रकार ज्ञान के मार्ग पर चलनेवाले को 'राग' या आराध्य से तादात्म्य की अनुभूति महत्त्वपूर्ण है। दोनों मार्ग परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज के शब्दों में—"राग-मार्ग में वैराग्य, ज्ञान प्रभृति सम्पदाएँ भगवद्विषयक राग से सदैव यथासमय उत्पन्न होती रहती हैं। इस अंश में भक्ति के राग तथा वैराग्य-मार्ग में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है। वैष्णवों के भीतर सब भक्त रसिक या रागमार्गी नहीं हैं। शैव भक्तों में भी इस प्रकार का भेद लक्षित होता है। शैव साधना में ज्ञान का प्राधान्य रहने पर भी भक्ति को ऊँचा स्थान दिया गया है।"[1]

---

[1] भारतीय संस्कृति और साधना, द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ८०-८१

निर्गुण भक्ति की मान्यता के बारे में जो सन्देह व्यक्त किया जाता है, उसका प्रधा कारण है—मध्यकालीन साधना का एकांगी या एकपक्षीय विवेचन। प्रायः साधना के विवि मार्गों या रूपों—निवृत्तिमार्ग और प्रवृत्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग, निर्गुण भक्ति औ सगुण भक्ति, भक्ति और रहस्यवाद, आदि—का विवेचन करते हुए यह सहज ही स्वीका कर लिया जाता है कि ये मार्ग या रूप परस्पर भिन्न और विरोधी हैं। इस तरह की मान्य के ऐतिहासिक कारण हैं। शंकराचार्य ने ज्ञान और भक्ति तथा निर्गुण और सगुण के विरो की स्थापना करते हुए निर्गुण से ज्ञान को सम्बद्ध किया है और निर्गुण ब्रह्म और ज्ञान-साध को ही परम सत्य के रूप में स्वीकार किया है। उनके मतानुसार सगुण अर्थात् ईश्वर औ भक्ति दोनों ही माया के अन्तर्गत आते हैं। उन्होंने भक्ति को विद्या-माया मानकर उस आंशिक महत्त्व को तो स्वीकार किया है, किन्तु सगुण भक्ति की यह स्वीकृति परम सत्य नहीं है और स्पष्ट ही जो साधक परम सत्य—निर्गुण अद्वैत ब्रह्म—की अनुभूति करना चाहता उसे भक्ति को अस्वीकार करना होगा। शंकराचार्य के विरोध में आचार्य रामानुज, आचा वल्लभ आदि ने प्रस्थानत्रयी की गम्भीर व्याख्याएँ करते हुए भक्ति को ही परम सत्य के में प्रतिष्ठित किया है। इन वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को प्रतिष्ठित करने के लिए सगुण की—राम, कृष्ण आदि की—भी प्रतिष्ठा की। शंकराचार्य और इन वैष्णव आचार्यों की परस्पर-विरोधी दृष्टि और सत्य-सम्बन्धी मान्यता का प्रभाव यह हुआ कि ब्रह्म के निर्गुण और सगुण रूप में विरोध माना जाने लगा, जो न केवल ज्ञान (वैराग्य, निवृत्ति) और भक्ति (राग, प्रवृत्ति) के विरोध के रूप में समझा जाने लगा, अपितु निर्गुण भक्ति और सगु भक्ति के विरोध के रूप में भी माना गया।

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ज्ञानमार्ग को तो आचार्य शंकर-जैसे मेधा आचार्यों ने प्रतिष्ठित किया था और इसका आरम्भिक रूप उपनिषदों में भी मिल जाता इसलिए ज्ञानमार्ग की सत्ता के बारे में किसी को सन्देह नहीं हुआ; किन्तु निर्गुण भक्ति स्थापना में किसी ऐसे मेधावी आचार्य का योगदान नहीं रहा और निर्गुण को ज्ञान-मार्ग सम्बद्ध रूप में समझने के कारण निर्गुण भक्ति की सत्ता को ही सन्देह की दृष्टि से दे जाने लगा। सामान्यतः यह समझा जाता था कि भक्ति का सम्बन्ध तो ब्रह्म के सगुण रूप साथ है और निर्गुण मात्र ज्ञान का विषय है, इसीलिए निर्गुण भक्ति को स्वीकार करने में कठिनाई हुई। सगुण भक्ति की धारा इतनी शक्ति और व्यापकता के साथ उमड़ी कि तथ्य विस्मृत-सा ही हो गया कि भक्ति के विविध सम्प्रदायों के मूल में गूढ़ दार्शनिक सिद्धा हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामानुज ने प्रस्थानत्रयी की विशद व्याख्याओं में चिदचि विशिष्ट ब्रह्म की स्थापना की, जिसके अनुसार आत्मा और पदार्थ ब्रह्म से उस प्रकार संयु हैं जैसे विशेषण विशेष्य के साथ होते हैं। रामभक्ति के आकर्षण ने जनता को सहज़ ही अप में अनुरक्त कर लिया और इस प्रक्रिया में रामभक्ति का दार्शनिक आधार पिछड़ गया। ऐ ही दशा वल्लभ, निम्बार्क आदि आचार्यों के सम्प्रदायों की भी हुई। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि शास्त्रज्ञ भक्तों एवं दार्शनिकों की रचनाओं में ज्ञान एवं भक्ति त निर्गुण एवं सगुण भक्ति की समानता के संकेत भी मिलते हैं। इसका कारण यह है कि सभी साधना-पद्धतियों का स्रोत तो प्रस्थानत्रयी ही है। उदाहरण के लिए उपनिषदों में ज ध्यान एवं उपासना के महत्त्व का वर्णन है, जहाँ निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को 'नेति-नेति' प्रक्रिया से स्पष्ट करने का प्रयास है, वहाँ साथ ही निर्गुण ब्रह्म की भक्तवत्सलता का संके भी 'मुण्डकोपनिषद्' के इस प्रसिद्ध श्लोक में मिलता है :

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंस्वाम् ॥

अर्थात् "यह आत्मा न तो प्रवचन से प्राप्त हो सकता है, न शुद्ध बुद्धि से और न विशेष श्रवण से। जिसको यह वरण करता है, उसी को यह प्राप्त हो सकता है और उसी के प्रति यह अपने आपको व्यक्त करता है।" वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्गीय सगुण भक्ति का बीज भी निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करनेवाला यह श्लोक ही है।

निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति के आलम्बन के स्वरूप में स्थूल अन्तर तो यह है कि निर्गुण भक्ति का आलम्बन निराकार और अगोचर है तथा सगुण भक्ति का आलम्बन साकार एवं गोचर है। किन्तु, यह साकार एवं गोचर आलम्बन अपने आकार के अतिरिक्त अन्य गुणों में निराकार से समानता रखता है। कबीर एवं तुलसी से उदाहरण देकर पहले यह बात स्पष्ट की जा चुकी है। भक्ति की इन दोनों पद्धतियों में और भी कई समान गुण दिखायी देते हैं। निर्गुण भक्ति में गुरु को वही महत्त्व प्राप्त है जो साधना के अन्य रूपों—ज्ञानमार्ग, सगुण भक्ति या रहस्यवाद—में प्राप्त है। सद्‌गुरु की कृपा के बिना साधक एक पग भी नहीं चल सकता। निर्गुण भक्ति में नाम-स्मरण को भी विशेष महत्त्व दिया गया है। सगुण भक्त तुलसीदास नाम की महिमा का वर्णन करते हुए उसे राम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं और कबीर की दृष्टि में भी पण्डित वही है जिसने प्रेम के 'ढाई अक्षर' पढ़ लिये हैं। निर्गुण भक्ति में तो जप की अवस्था से ऊपर 'अजपा जाप' की अवस्था स्वीकार की गयी है, जिसमें सिद्ध पुरुष 'अनहत' शब्द के समान बिना किसी प्रयास के निरन्तर नाम-स्मरण करते रहते हैं। निर्गुण भक्ति में दैन्य की भावना को भी वही महत्त्व प्राप्त है, जो सगुण भक्ति में दिखायी देता है। कबीर और तुलसी (विनयपत्रिका) के दो पदों का अनुशीलन इस दृष्टि से पर्याप्त होगा :

(अ) *माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति होत नहीं साधी ॥*
कारनि कवन आइ जग जनम्यां, जनमि कवन सचु पाया।
भौजल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ी न लाया ॥
पर निंद्या, पर धन, पर दारा, पर अपवादैं सूरा।
ताथैं आवागमन होइ फुनि फुनि, ता पर संग न चूरा ॥
काम क्रोध माया मद मंछर, ए सन्तति हम मांहीं।
दया धरम ग्यांन गुर सेवा, ए प्रभु सुपिनैं नांहीं ॥
तुम कृपाल दयाल दमोदर, भगत-बछल भौ-हारी।
कहै कबीर धीर मति राखहु, सासति करौ हमारी ॥

(आ) लाभ कहा मानुष-तनु पाए।
काम बचन मन सपनेहुँ कबहुँक घटत न काज पराए ॥
जो सुख सुरपुर-नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाए।
तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन, समुझत नहिं समुझाए ॥
पर दारा, पर द्रोह मोहबस किए मूढ़ मन भाए।
गरभवास दुखरासि जातना तीव्र बिपति बिसराए ॥
भय निद्रा मैथुन अहार सबके समान जग जाए।
सुर दुरलभ तनु धरि न भजे हरि, मद अभिमान गँवाए ॥

तटस्थ भाव से इन दोनों पदों का अनुशीलन करने पर दोनों की अनुभूति में मू समानता दिखायी देती है। इन दोनों पदों में भक्तों ने उस मायात्मक संसार में उलझे अपने मन की दशा का करुण चित्र व्यंजित किया है। यदि यह ज्ञात न हो कि पहला कबीर का है और दूसरा तुलसी का, तो यह कह पाना असम्भव है कि एक में निर्गुण है और दूसरे में सगुण भक्ति। यहाँ इस समानता का कारण कवियों का दैन्य है। दोनों में कवि कहते हैं कि इन्द्रियाँ, मन और विषय-वासनाएँ मनुष्य को भक्ति की ओर नहीं देतीं; उसके पाँवों में एक ऐसी जंजीर डाल देती हैं कि वह उसे तोड़कर मुक्त नहीं हो पा जब भक्त मन में उठे वासनाओं के बवण्डर में अपने आपको असमर्थ पाता है तब वह वि होकर भगवान् की कृपा के लिए पुकार उठता है। चाहे निर्गुण भक्त हो या सगुण भक्त, को ही अपने मन से युद्ध करना पड़ता है और यह युद्ध दीर्घ काल तक चलता रहता वासना द्वारा पराजित भक्त की पुकार ही दीनता के पदों में प्रकट होती है। अत: दैन्य भावना निर्गुण भक्ति की भी अनिवार्य विशेषता है।

कबीरदास के पद में निर्गुण ब्रह्म के लिए 'कृपालु', 'भक्त-वछल', 'भौ-हारी' आ पदों का प्रयोग हुआ है। इसका कारण यह है कि कबीर का निर्गुण शंकराचार्य का वि चैतन्य नहीं है। भक्ति का आलम्बन बनाने के लिए निर्गुण में भी कृपालु आदि गुणों स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। भक्ति चाहे निर्गुण की हो चाहे सगुण की, आराध्य की भक्तवत्सलता का गुण तो मानना ही पड़ेगा। पीछे 'मुण्डकोपनिषद्' के श्लोक भी ब्रह्म द्वारा आराधक के वरण की बात कही गयी है। जिस प्रकार सगुण भक्ति में इष्ट के में निर्गुण ब्रह्म के गुणों का आरोप स्वाभाविक और आवश्यक है उसी प्रकार निर्गुण भ में आराध्य में सगुण ब्रह्म के गुणों का आरोप भी स्वाभाविक ही है।

भक्तिकाल में निर्गुण को आराध्य मानकर चलनेवाली एक और साधना-पद्धति दिखायी देती है—यह है सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति। इसकी अपनी एक विशिष्ट परम्परा रही और इसीलिए इसे स्वीकार करने में कोई दुविधा नहीं रही। इस बात को लेकर तो अ विवाद है कि रहस्यवाद भारतीय मत है या भारत में उसका प्रादुर्भाव जायसी-जैसे मुसल रहस्यवादी कवियों की रचनाओं से हुआ, किन्तु उसके स्वरूप आदि के विषय में कोई वि विवाद दिखायी नहीं देता।

रहस्यवाद भी निर्गुण ब्रह्म पर ही आश्रित है। निर्गुण भक्ति के आलोक में रहस्य वाद का अध्ययन करने पर उसका स्वरूप सहज ही स्पष्ट हो जाता है। यह कहा जा सक है कि जब निर्गुण भक्ति में माधुर्य भाव का समावेश होता है तब रहस्यवाद का उदय हो है। रहस्यवाद माधुर्य भाव की निर्गुण भक्ति ही है। लेकिन रहस्यवाद का निर्गुण ब्रह्म निर्गु भक्ति के निर्गुण ब्रह्म की अपेक्षा कम सूक्ष्म है। काव्य के धरातल पर माधुर्य भाव की अभि व्यक्ति करने के लिए नायक और नायिका के रूप में साधक और साध्य की परिकल्पना अनि वार्य हो जाती है। यहाँ महत्त्व इस बात का नहीं है कि ब्रह्म नायक है या नायिका! मू बात तो यह है कि रहस्यवाद में ब्रह्म और आत्मा के सम्बन्ध को प्रतीकों के माध्यम से व्य किया जाता है। ये प्रतीक इसी लोक के नर और नारी के रूपों में होते हैं। रहस्यवाद औ सगुण भक्ति में मूलभूत अन्तर यह है कि सगुण भक्ति का आलम्बन राम या कृष्ण आदि रूप में एक अक्षर एवं निर्दिष्ट आलम्बन है जिसकी आराधना के लिए उसकी प्रतिमा आदि का निर्माण किया जा सकता है, किन्तु रहस्यवाद में प्रयुक्त प्रतीक—नर और नारी—का ह सर्वत्र और सर्वदा एक ही नहीं रहता। रहस्यवाद में ब्रह्म और आत्मा की भावना किसी

र और नारी के रूप में की जा सकती है। कबीर ने रहस्यानुभूति को एक सामान्य 'दुलहिन' के माध्यम से व्यक्त किया है—'दुलहिन गावहु मंगलचार'; और जायसी आदि रहस्यवादी कवियों ने विशिष्ट नायक-नायिका के प्रतीकों के माध्यम से अपनी प्रेम-पद्धति का प्रकाशन किया है। निर्गुण भक्ति में निर्गुण ही भक्ति का प्रत्यक्ष आलम्बन बनकर आता है, मगर रहस्यवाद में निर्गुण ब्रह्म को प्रिया या प्रिय के रूप में व्यक्त किया जाता है। लेकिन यहाँ मूल उद्देश्य होता है—उन गोचर और स्थूल प्रतीकों के माध्यम से ही उनसे ऊपर उठकर निर्गुण ब्रह्म से मिलन के आनन्द का भोग।

सूफ़ी साधना-पद्धति में भी गुरु का वही महत्त्व है जो साधना की अन्य पद्धतियों में है। साधना का मूल रूप भी वैसा ही है—सांसारिक प्रपंच से ऊपर उठकर अलौकिक सत्ता की प्राप्ति के लिए साधना करना। इस साधना के विघ्न भी सन्तों एवं भक्तों के चिरपरिचित शत्रु काम, क्रोध आदि हैं जिन पर विजय पाये बिना साधक सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। 'पद्मावत' में जायसी ने हीरामन तोते के रूप में गुरु का संकेत किया है; रत्नसेन द्वारा राज्य, पत्नी आदि का त्याग संसार से विरक्ति का सूचक है और पद्मावती के रूप-वर्णन में व्यापक और विराट् परम शक्ति का संकेत मिलता है। जिस प्रकार निर्गुण भक्ति में भगवान् की भक्तवत्सलता की स्वीकृति है, उसी प्रकार रहस्यवाद में साध्य भी साधक की साधना से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। जब रत्नसेन पद्मावती से मिलने के लिए सिंहलद्वीप जाता है तब जायसी ने पद्मावती की विचित्र मनोदशा का जो चित्रण किया है, वह साधक की साधना के प्रभाव का ही सूचक है।

हिन्दी में तसव्वुफ़ से प्रभावित प्रेमाख्यानों की परम्परा दिखायी देती है, किन्तु परवर्ती उर्दू-शायरी में जहाँ रहस्यवाद—इश्के-हक़ीक़ी—को ग़ज़ल में पेश किया गया है, वहाँ आराध्य का संकेत किसी विशिष्ट व्यक्तित्व से सम्पन्न नायिका के रूप में नहीं मिलता। इन ग़ज़लों में शायर प्रत्यक्ष रूप से अपने माशूक़ के प्रति प्रेम की पीड़ा को व्यक्त करता है। यह पद्धति कबीर की रहस्यवादी रचनाओं के अनुकूल पड़ती है। आधुनिक युग में महादेवी का रहस्यवाद भी एक अनाम-अरूप प्रिय को ही आलम्बन बनाकर चलता है। परन्तु यह स्पष्ट है कि इश्क का आलम्बन चाहे विशिष्ट नायिका हो चाहे एक सामान्य अनाम प्रिया, आराध्य निर्गुण ही रहता है।

ज्ञानमार्गी निर्गुण भक्ति की अपेक्षा रहस्यवाद की अभिव्यक्ति अधिक स्थूल है क्योंकि वह स्थूल-गोचर विशिष्ट प्रतीकों के माध्यम से हुई है। इस दृष्टि से तसव्वुफ़ की स्थिति निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति की मध्यवर्ती है। किन्तु भारतीय परम्परा में पले व्यक्ति के लिए रहस्यवादी पद्धति के प्रेम—इश्के-हक़ीक़ी—की अपेक्षा निर्गुण भक्ति अधिक ग्राह्य है। इसका कारण स्पष्ट है—निर्गुण भक्ति श्रुतिकालीन साधना की परम्परा से जुड़ी हुई है और उपासना एवं ध्यान की परम्परा में देखी जा सकती है। इसके विपरीत तसव्वुफ़ को व्यक्त करनेवाली प्रेमकथाओं के काव्य अपने विशिष्ट गोचर पात्रों के प्रेम-चित्रण के कारण सामान्य सहृदय की दृष्टि में प्रधान रूप से प्रेमकाव्य ही बने रहते हैं। उनके लोकोत्तर संकेतों को वह मुख्य रूप से ज्ञान के धरातल पर ही ग्रहण कर पाता है। एक प्रकार से इन काव्यों की अनुभूति के आस्वाद की समस्या माधुर्य भाव के पदों की अनुभूति के आस्वाद की समस्या से समानता रखती है।

कबीर आदि सन्त कवियों और जायसी आदि सूफ़ी कवियों को निर्गुण भक्तिधारा में स्वीकार करने के दो कारण माने जाते हैं। पहला कारण है—इष्टदेव की अगोचर, अक्षर

और सर्वशक्तिमान सत्ता के रूप में स्वीकृति; और दूसरा—इष्टदेव के किसी गोचर और अक्षर रूप की स्वीकृति का अभाव।

निर्गुण भक्ति और रहस्यवादी प्रेम-पद्धति की सीमा भी वही है जो ज्ञान- है। निर्गुण को ही आराध्य के रूप में स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि सा इन दोनों पद्धतियों की स्वीकृति सीमित क्षेत्र के भीतर ही रही। जब सगुण भक्ति को आलम्बन के रूप में ग्रहण किया जा सकता है तो फिर निर्गुण की ओर आकर्षित सम्भावना अत्यन्त सीमित हो जाती है। जिस प्रकार अधिकांश व्यक्ति ज्ञान-मार्ग चल सकते, उसी प्रकार वे निर्गुण भक्ति और रहस्यवादी प्रेम-साधना को भी स्वीका कर सकते। लेकिन यह निर्विवाद है कि जिस प्रकार ज्ञान-मार्ग साधना का एक विशि है उसी प्रकार निर्गुण भक्ति और रहस्यवादी प्रेम-पद्धति भी साधना के विशिष्ट रूप है

सन्त-काव्य

सन्त-काव्यधारा के दार्शनिक-सांस्कृतिक आधार अनेक हैं, जिनमें से प्रमु उल्लेखनीय हैं—उपनिषद्, शंकराचार्य का अद्वैत-दर्शन, नाथ-पन्थ, इस्लाम धर्म तथा दर्शन। सन्तों के चिन्तन, जीवन-दर्शन और काव्यधारा पर उपनिषदों का व्यापक प्रभा उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म, जीव, जगत् और माया सम्बन्धी विचारधारा के साथ के स्वरूप-वर्णन से सम्बद्ध उपमानों और अप्रस्तुत योजनाओं को सन्त कवियों द्वारा उसी रूप में ग्रहण कर लिया गया है। उपनिषदों के अनन्तर सन्त-काव्यधारा औ दर्शन का मुख्य आधार है—शंकर का अद्वैत-दर्शन। सन्तों की विवर्त-भावना, प्रति भावना, प्रणव-भावना, साधना-पक्ष और भक्ति-पद्धति पर आचार्य शंकर की विचारध व्यापक प्रभाव है। आचार्य शंकर और निर्गुण सन्त कवि, दोनों इस विषय में एकमत जीव विशुद्ध ब्रह्मतत्त्व है और जो भिन्नता की उपलब्धि होती है, वह माया अथवा जनित उपाधि है। सन्तों ने आत्मा की सर्वरूपता, सर्वात्म-भावना एवं सर्वशक्तिमत्ता प्रति की है। ये भावनाएँ भी शांकर सिद्धान्त के अनुकूल हैं। सन्त-परम्परा में आत्मा की अद्व एकरसता, अद्वैतरूपता एवं अकथनीयता का प्रतिपादन भी शंकर-सिद्धान्त के अनुरूप है। काव्य और सन्त-दर्शन पर नाथ-पन्थ का भी प्रचुर प्रभाव है। नाथपन्थी कवियों एवं वि के शून्यवाद, उनके द्वारा गुरु की प्रतिष्ठा और सृष्टि-क्रम; आत्मा, जीव आदि के वि उनकी मान्यताओं से सन्त कवि अनेकशः प्रभावित रहे हैं। सन्त-साधना में योग-प्रक्रिया जो प्रधानता है, उसका मूल स्रोत नाथ-पन्थी साधना-पद्धति ही है। तन्त्र-साधना का भी मत पर प्रभाव रहा है। यद्यपि कबीरदास ने स्पष्टतया कहा है—"तन्त्र न जानूं, मन्त्र न जानूं सुन्दर काया", तथापि कबीर के अनन्तर उनकी परम्परा में अवतरित और सहज सम्प्रदायों में तन्त्र-साधना का स्वरूप प्रमुख रहा। मलूक-पन्थ और निरंजनी सम्प्रदाय प्रभाव को सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

इस्लाम के सम्पर्क और प्रभाव के कारण सन्तों की विचारधारा एकेश्वरवाद से प्र हुई। इस्लाम की देन निषेधात्मक अधिक रही, विधेयात्मक कम। मूर्तिपूजा तथा अव के बहिष्कार का मूलाधार इस्लाम धर्म में ही है। इस्लाम ने सामाजिक असमानता करने की भी चेष्टा की। सत्य यह है कि एकेश्वरवाद उस समय की सबसे बड़ी आव थी। अतः कबीर प्रभृति सन्त कवियों ने हिन्दू-मुसलमान दोनों को एकेश्वरवाद का सुनाया, जिसके परिणामस्वरूप जनता को बहुदेवोपासना के अभिशाप से छुटकारा मिला

र्भ में दार्शनिक-सांस्कृतिक धरातल पर सूफ़ी मत से प्राप्त प्रेरणा भी उल्लेखनीय है। -काव्य में दाम्पत्य प्रतीकों की उपलब्धि सूफ़ी-दर्शन के प्रभाव का ही परिणाम है। सूफ़ी ने सन्तों की विचारधारा को ही नहीं, अभिव्यंजना-शैली को भी प्रभावित किया। इस दाय के साधनात्मक एवं भावनात्मक आदर्श सन्त कवियों को निरन्तर प्रभावित करते रहे। मत ने देशव्यापी धार्मिक कटुता को समाप्त करके प्रेम, सहिष्णुता, औदार्य एवं मधुरता भावना का प्रसार किया। यह कार्य ज्ञानमार्गी सन्तों के साहचर्य-सहयोग से ही सम्भव । उस युग में ज्ञानमार्गी सन्त कवियों ने धार्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र की रूढ़ियों की उपेक्षा एवं लोचना की है। उन्होंने निगम, आगम, पुराण आदि को महत्त्वहीन प्रमाणित किया। किन्तु द्धों का दुःखवाद एवं शून्यवाद, वज्रयानियों की तान्त्रिक साधना, सिद्धों की गूढ़ोक्तियों के में उलटवाँसियाँ, नाथ-सम्प्रदाय की योग-साधना तथा काव्य-साधना किसी-न-किसी रूप में त-काव्य में समाहित हुईं। सन्त कवियों ने वैदिक साहित्य, वैदिक परम्पराओं एवं बाह्याचारों जो आलोचना आद्योपान्त की है, वह सब बौद्ध धर्म का ही प्रभाव है। यह भी उल्लेखनीय कि मध्ययुग में निर्गुण भक्ति के मुख्य संस्थापक स्वामी रामानन्द ने साधना एवं भक्ति के र शूद्रों तथा निम्न वर्गों के लिए भी खोल दिये। भक्ति में प्रेमतत्त्व का समावेश कर उन्होंने े और भी सुसाध्य एवं स्पृहणीय स्वरूप प्रदान किया।

निर्गुण भक्ति का मूल तत्त्व है—निर्गुण-सगुण से पूरे अनादि, अनन्त, अनाम, अजात ह्म का नाम-जप। सन्तों ने नाम-जप को साधना का आधार माना है। 'नाम' समस्त यों और बन्धनों को विच्छिन्न कर देता है। 'नाम' ही भक्ति और मुक्ति का दाता है। र्गुण भक्ति का द्वितीय मूल तत्त्व है—मानसिक भक्ति। सन्त-मत के अनुसार भक्ति डम्बरविहीन होती है; इसीलिए सन्त-काव्य में वैष्णवों की नवधा भक्ति (पादसेवन, र्चन, वन्दना आदि) का कर्मकाण्ड-सम्मत तथा परम्परा-समर्थित रूप नहीं मिलता। साधना-र्ग को व्यावहारिक एवं सरल स्वरूप प्रदान करने में ही सन्त-मत की सार्थकता है। इस क्ति-पद्धति का तृतीय मूल तत्त्व है—प्रेम के माध्यम से कर्मकाण्ड की अनपेक्षित दुरूहताओं दूर करना। प्रेममयी भक्ति का अनुभव व्यक्त करते हुए कबीर ने लिखा है :

हरि रस पीया जानिए, जे कबहूं न जाय खुमार।
मैमंता घूमत फिरै, नाहीं तन की सार॥

निर्गुण भक्ति का चतुर्थ एवं सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—मानव को एक ऐसे विश्व-व्यापी धर्म के सूत्रों में निबद्ध करना जहाँ जाति, वर्ग और वर्ण सम्बन्धी भेद न हों। साधना यह द्वार सबके लिए उन्मुक्त था। इस क्षेत्र में हिन्दू-मुसलमान का भेद भी विलुप्त हो या और भक्ति के क्षेत्र में सब समान प्रमाणित हुए। निर्गुण भक्ति का पंचम तत्त्व है—हज साधना। सन्तों की भक्ति-प्रणाली आनन्द और शान्ति से संयुक्त शुद्ध अन्तःकरण की ह स्वाभाविक शक्ति है जहाँ कृत्रिमता स्वतः विलीन हो जाती है। सहज साधना का यह र्ग सर्वथा अभिनव और क्रान्तिकारी था—इसने धार्मिक जीवन की दुरूहताओं को सदैव लिए हटा दिया।

सन्त-सम्प्रदाय विश्व-सम्प्रदाय है और उसका धर्म विश्वधर्म है। इस विश्वधर्म का लाधार है—हृदय की पवित्रता। पवित्रता-सम्मत स्वाभाविक और सात्त्विक आचरण ने ही हाँ धर्म का बृहत् रूप ग्रहण किया। समस्त वासनाओं, इच्छाओं एवं द्वेषों से रहित हृदय ी निःसीम सीमाओं में विशाल धर्म का प्रवेश और समावेश सम्भव है। यह सब सद्गुरु की पा से ही सम्भव है। वह भक्ति और मुक्ति का दाता तथा ज्ञानचक्षुओं का उद्घाटक है।

सन्त-सम्प्रदाय में गुरु को ब्रह्म से भी महान् माना गया है। स्वयं कबीर ने कहा है :

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागूं पायं।
बलिहारी गुरु आपने जिन गोविन्द दियो बताय ॥

उपलब्ध सामग्री : साहित्य-असाहित्य का निर्णय

सन्त-साहित्य भावात्मक एवं अनुभूतिप्रवण है, उसमें किसी शास्त्र अथवा प्रति आग्रह व्यक्त नहीं हुआ हैं। यह बात साधना-क्षेत्र और साहित्य-जगत् दोनों ही रूप से लक्षित होती है। निर्गुण-काव्यधारा के सन्त कवि सामान्यतया समाज के नि आविर्भूत हुए थे। समाज ने उन्हें सम्मान्य नहीं समझा—वे साधनविहीन वातावरण हुए तथा साहित्य, भाषा, व्याकरण आदि के अनुशीलन से वंचित रहे। इसीलि काव्य-भाषा में परिष्कार, परिमार्जन, परिनिष्ठता और साहित्यिकता नहीं है। भाषादर्श सहजता और सरलता की ओर उन्मुख है। सत्य का निरूपण, सत्य एवं सत्य का प्रचार-प्रसार उनकी कविता का मूल लक्ष्य था। उनका ध्यान न का की ओर था न भाषा के परिमार्जन की ओर, यहाँ तक कि कवि और कवि-कर्म स्वतः आलोचना की है। सन्त-काव्य में साधारणीकरण भी है और वस्तुस्थिति बोध भी; परन्तु इसकी रचना भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की दृ निष्पत्ति के निमित्त नहीं की गयी। वस्तुतः इस ओर इन कवियों की प्रवृत्ति भी न भक्ति रस का पान करके ये ऐसी आत्मविस्मृत अवस्था में पहुँच गये थे कि का लौकिक रसों का इन्हें ध्यान भी नहीं रहा था।

सन्त कवियों का लक्ष्य काव्य-रचना नहीं था, उनकी रचनाओं में जन- और उनके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्हों उपमाओं, रूपकों की योजना अवश्य की है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि काव्योत् काव्य-सौष्ठव उनका साध्य नहां था। उनकी भाषा का रूप भी स्थिर नहीं है—शब्द की दृष्टि से उसमें उस कोटि की साहित्यिकता नहीं मिलती जैसी राम-काव्य, कृ और किसी सीमा तक प्रेमाख्यान काव्य में सुलभ है। इन काव्यधाराओं के प्रमुख क भाषा में प्रायः जो परिमार्जन, प्रवाह, परिनिष्ठता और सौष्ठव विद्यमान है, वह निर्गु धारा में दुर्लभ है। फिर भी, सन्त-काव्य की यह विशेषता है कि उसमें भाषा का सह एवं कृत्रिमताविहीन रूप उपलब्ध होता है। सन्त कवि पर्यटनशील थे, अतः उनकी विभिन्न प्रदेशों की शब्दावली का सम्मिश्रण है। किन्तु, जहाँ यह भाषा जनसाधारण को पहुँचाने में विशेष सहायक हुई, वहाँ विविध भाषाओं और बोलियों के शब्दों के के कारण इसमें साहित्यिकता का समावेश नहीं हो पाया।

सन्तों की उस परम्परा में जिसका प्रवर्तन कबीर ने किया था, शतशः कवि हुए। परन्तु न वे सब सच्चे अर्थों में कवि कहे जा सकते हैं, न उन सबका काव्य क्षेत्र में उल्लेखनीय है। निर्गुण-काव्यधारा में विशेषतः कबीर, दादू, सुन्दरदास और निरंजनी की साखियों एवं पदों में सशक्त अभिव्यंजना, गम्भीर रहस्यात्मक उक्तियाँ शाली प्रतीक और भाषा का स्वाभाविक प्रवाह विद्यमान है। इनके काव्य में गम्भीर की कलात्मक व्यंजना दुर्लभ नहीं है। वैसे, सन्तकाव्य जन-साहित्य है जिसमें जन- को जाग्रत करने के लिए अथक परिश्रम किया गया है। इस प्रयास में सन्त कवियों को तीत सफलता मिली। उनके अनुयायियों ने पंथों एवं सम्प्रदायों का गठन भी किया

यतः जनता का निम्न वर्ग ही सम्मिलित हुआ। इस पृष्ठभूमि में यह कहना उचित कि सन्त-काव्यधारा का जो महत्त्व सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक से है, वह साहित्यिक दृष्टि से नहीं है। साहित्य की जो लौकिक सीमाएँ तथा काव्य-य एवं भाषावैज्ञानिक स्वीकृतियाँ हैं, उनमें इस काव्यधारा को नहीं बाँधा जा सकता, पारमार्थिक, अलौकिक एवं दार्शनिक जगत् की झाँकियों को प्रस्तुत करने वाले सन्त-य का अपना महत्त्व है।

करण एवं प्रवृत्ति-विश्लेषण

सन्त-काव्य का वर्गीकरण दो दृष्टियों से सम्भावित है—एक तो शुद्ध दार्शनिक दृष्टि र दूसरे, सन्त कवियों द्वारा गृहीत साधना-प्रणाली की दृष्टि से। दार्शनिक विचारधाराओं ष्ठभूमि में निर्गुण-काव्य को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—कबीर, दादू, दास आदि पूर्णतया अद्वैतवादी हैं, जबकि नानक भेदाभेदवादी हैं। कबीर तथा उनकी ारा में उल्लिखित अद्वैतवादियों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा पूर्णरूपेण एक हैं। विपरीत नानक तथा उनके अनुयायियों का अभिमत है कि परमात्मा और आत्मा में और छोटे का अन्तर है। इस प्रकार इन सन्तों की विचारधारा औपनिषदिक सिद्धान्तों ाम्य रखती है। सन्त कवियों के वर्गीकरण का द्वितीय आधार है—उनकी साधना-ली। सन्त साधकों में एक वर्ग ऐसा है जो योग-साधना से पूर्णतया प्रभावित है। सोऽहं, इंगला, पिंगला, सुषुम्णा, सुरति, निरति आदि का उल्लेख तो सभी ने किया है, परन्तु गी साधना की सूक्ष्मताओं का ज्ञान और अनुभव कबीरदास, सुन्दरदास तथा हरिदास नी को विशेष रूप से था। इन्होंने सामान्य जनता के लिए सहज साधना का विधान है तथा विशिष्ट साधकों को कुण्डलिनी की साधना के मार्ग पर अग्रसर होने का उपदेश है। इनके काव्य में वर्णित योग-प्रक्रिया अनुभव-समर्थित है। वैसे, हठयोग, ध्यानयोग, ोग आदि योग-विधियों का जितना पुस्तकीय एवं अनुभूतिमूलक ज्ञान सुन्दरदास को था, अन्य किसी सन्त कवि को नहीं। दादू, नानक, रैदास, जम्भनाथ, सींगा, भीषण, रज्जब, ी साहब, मलूकदास, वावा लाल आदि की साधना-पद्धति में योगतत्त्व की प्रधानता नहीं इन्होंने कहीं-कहीं सुरत-योग, शब्द-योग आदि का उल्लेख तो किया है, परन्तु उतनी रंगता और आग्रह के साथ नहीं।

सभी सन्त मूर्तिपूजा एवं अवतारवाद क विरोधी थे, परन्तु जाने-अनजाने रूप से इनमें छ की रचनाओं में सगुण तत्त्वों का समावेश हो गया है। कबीर-जैसे अद्वैतवादी और ण-दर्शन के सबल प्रतिपादक कवि के काव्य में भी कहीं-कहीं सगुण-तत्त्व के दर्शन होते रैदास, मलूकदास आदि की रचनाओं में भी यह तत्त्व बहुलता से पाया जाता है। सगुण ओर उनकी यत्किंचित् प्रवृत्ति अन्य प्रकार से भी प्रमाणित होती है। उदाहरणार्थ प्रत्येक दाय में सद्गुरु को अवतार माना गया; इस सन्दर्भ में सद्गुरु के चित्र की उपासना में -तत्त्व का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इसी प्रकार माला, तिलक, छाप आदि जिन रणों की आरम्भ में निर्गुणियों ने बड़ी निन्दा की, वही कालान्तर में उनकी साधना के वन गये। सम्प्रदायों के केन्द्र-स्थानों में सद्गुरु तथा उनकी परम्परा में अवतरित अन्य की आरती भी होने लगी। तात्पर्य यह है कि निर्गुण सन्त-मत के अनुयायी कालान्तर किसी सीमा तक सगुण-तत्त्व की ओर भी उन्मुख हो गये।

निर्गुण भक्तिधारा के प्रमुख कवि

निर्गुण सन्तों की विचारधारा के बीज सिद्ध-नाथ कवियों की रचनाओं में ही हैं, आदिकाल में नामदेव ने भी इस दिशा में योग दिया था। भक्तिकालीन नि कवियों म कबीर, दादू, नानक, रैदास, सुन्दरदास, मलूकदास प्रभृति सन्तों ने भक्ति के प्रसार और भक्ति-काव्य की रचना में न केवल स्वयं उल्लेखनीय योग दिया, अपि शिष्य-परम्परा में बाद में भी निर्गुण भक्तिकाव्य की रचना होती रही। यहाँ प्र कवियों और उनके अनुयायियों का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन होगा।

रामानन्द : रामानन्द अपने युग के सर्वाधिक यशस्वी साधक एवं प्रगतिशील थे। सन्त-मत के प्रचार एवं प्रसार का श्रेय इन्हीं को है। नाभादास ने 'भक्तमाल' में है कि इनके अनेक शिष्य-प्रशिष्य थे, जिनमें अनन्तदास, कबीर, पीपा, धन्ना आदि रूपेण उल्लेखनीय हैं। रामानन्द को दीर्घ, पवित्र एवं साधनात्मक जीवन प्राप्त हु किन्तु इनके आविर्भाव-काल, निधन-काल तथा जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में कोई प्रा सामग्री उपलब्ध नहीं होती। 'भक्तमाल' के अनुसार ये रामानुजाचार्य की शिष्य-पर चतुर्थ शिष्य थे। इनका आविर्भाव-काल चौदहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण माना जा है, क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि ये कबीर और पीपा के गुरु थे और इन दोनों का आ काल क्रमशः १३९९ ई० तथा १४२५ ई० स्वीकार किया जाता है। रामानन्द के नि के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं—कुछ विद्वानों का मत है कि इनकी मृत्यु १४६ हुई थी, और कुछ का मत है कि इन्होंने १४४८ ई० में शरीर का विसर्जन किया। तथ्यों एवं उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित किया जा सकता है कि इनका आविर्भा लगभग १३६८ ई० तथा निधन-काल लगभग १४६८ ई० था। 'श्रीभक्तमाल स अनुसार इनका जन्म प्रयाग में कान्यकुब्ज ब्राह्मण-कुल में हुआ था। इनकी शिक्षा-दीक्षा में हुई और स्वामी रामानन्द इनके दीक्षा-गुरु थे।

रामानन्द द्वारा संस्कृत में विरचित ग्रन्थों की प्रामाणिकता निश्चित नहीं है। गुरु राघवानन्द की 'सिद्धान्तपंचमात्रा' के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रा की साधना-पद्धति में नाम-स्मरण का बहुत अधिक महत्त्व है। नाभादास के मत से रा दशधा भक्ति के आगार थे। दशधा भक्ति के प्रचार के साथ-ही-साथ उन्होंने ज्ञान-वृत्ति को ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। रामानन्द से ही प्रेरणा ग्रहण कर कबीर ने साधना एवं को सभी वर्णों तथा सभी वर्गों के लिए सुलभ कर दिया था। रामानन्द बड़े उदारचेता थे। उन्होंने सामाजिक हीनता और असमर्थता की भावना को समूल नष्ट कर सा ऐसा भव्य एवं विशाल मन्दिर निर्मित किया, जिसके द्वार सबके लिए उन्मुक्त थे। रा की हिन्दी-रचनाओं में उनका प्रगतिशील, आध्यात्मिक एवं साधनात्मक दृष्टिकोण होता है। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा, वेदादि धर्मग्रन्थों एवं उपासना के बाह्य साधनों की आ करते हुए उन्होंने अन्तस्साधना का मार्ग प्रदर्शित किया है। उनकी रचनाओं में ब्रह्म भक्ति का उपदेश है तथा उनकी काव्य-भाषा पर्याप्त स्वच्छ है। अपने गुरु राघवा प्राप्त भक्ति और ज्ञान की पृष्ठभूमि में उन्होंने 'रामावत-सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। बाद सोलहवीं शताब्दी में इस सम्प्रदाय का सम्पर्क 'श्री-सम्प्रदाय' के साथ इतना कि दोनों में जो भेद था, वह भावुक जनता के समक्ष अदृष्ट हो गया। परन्तु वस्तुत में भेद विद्यमान था। श्री-सम्प्रदाय के आराध्य नारायण हैं और रामावत-सम्प्रदाय के

ावत-सम्प्रदाय में साधनात्मक प्रक्रियाओं के साथ ही व्यावहारिक जीवन की उदारता, दयता तथा सहिष्णुता की भावनाएँ प्रचुर थीं। इस सम्प्रदाय का मूल मन्त्र 'राम' या ीताराम' है और आराध्य देव श्रीराम हैं। वे निर्गुण, निराकार, अगम, अगोचर होते हुए सन्तों, भक्तों और आर्त जनों के परित्राणार्थ अवतार धारण कर लेते हैं।

कबीरदास : भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में कबीरदास ऐसे महान् विचारक एवं तिभाशाली महाकवि हैं, जिन्होंने शताब्दियों की सीमा का उल्लंघन कर दीर्घ काल तक रतीय जनता का पथ आलोकित किया और सच्चे अर्थों में जन-जीवन का नायकत्व किया। के आविर्भाव-काल का निर्णय करने के लिए उपलब्ध सामग्री को तीन वर्गों में विभाजित या जा सकता है—अन्तस्साक्ष्य, साम्प्रदायिक सामग्री, प्राचीन ग्रन्थों एवं विद्वानों के अभिमत्। तस्साक्ष्य की दृष्टि से उन्होंने केवल दो प्रसंगों—क़ाज़ी द्वारा हाथी चलवाने तथा लोहे ज़ंजीरों से बँधवाकर गंगा में डुबोने के प्रयत्न का वर्णन किया है। सिकन्दर लोदी १४८८-१५१७) द्वारा किये गये अत्याचारों का जो वर्णन अनन्तदास-कृत 'कबीर-परिचई' है, उससे इन उल्लेखों का पूर्ण साम्य है। तात्पर्य यह कि कबीर सिकन्दर लोदी के सम-ालीन थे। कबीर का दूसरा अन्तस्साक्ष्य है—उनके द्वारा जयदेव और नामदेव की महत्ता वर्णन। यथा : "गुर प्रसादी जैंदेव नामां, भगति के प्रेमी इनही है जाना।" कबीर द्वारा रहवीं-तेरहवीं शताब्दी के इन दोनों सन्तों का उल्लेख इस बात का द्योतक है कि उनका विर्भाव तेरहवीं शताब्दी के अन्त अथवा चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था।

कबीर की जीवनी से सम्बन्धित मुख्य साम्प्रदायिक सामग्री निम्नलिखित है—श्री पा की वाणी, भवतारण (धर्मदास), कबीर गोरष-गुष्ट, कबीर-चरित्रबोध, भक्तमाल, बीर-परिचई। पीपा ने कबीर की आध्यात्मिक उपलब्धियों की सराहना की है तथा 'भव-ारण' में उनके द्वारा विभिन्न युगों में अवतरित होने का श्रद्धापूर्ण वर्णन है। 'कबीर गोरष-ष्ट' में गोरखनाथ और कबीरदास के मध्य तत्त्व-सिद्धान्त पर विवेचना को वाणी दी गयी। 'कबीर-चरित्रबोध' प्रथम साम्प्रदायिक ग्रन्थ है, जिसमें कबीर के आविर्भाव-काल (१४५५ ०) का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख है। नाभादास-विरचित 'भक्तमाल' (१५८५) में कबीर सम्बन्ध में यह उल्लेख मिलता है :

भक्ति विमुख जो धरम ताहि अधरम करि गायो।
जोग जग्य व्रत दान भजन विनु तुच्छ दिखायो।
हिन्दू तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी।
पच्छपात नहिं बचन सबहि के हित की भाखी।
आरूढ़ दसा है जगत पर मुख देखी नाहिन भनी।
कबीर कानि राखी नहीं, वर्णाश्रम षट् दरसनी॥

'कबीर-परिचई' में अनन्तदास ने कबीरदास के व्यक्तित्व और जीवनी से सम्बन्धित ुछ तथ्यों का उल्लेख स्पष्ट शब्दों में किया है। उनके अनुसार वे जन्म से जुलाहे थे, उनका िवास-स्थान काशी था, उनके गुरु रामानन्द थे, सिकन्दर लोदी ने उन्हें अनेक प्रकार से ातना दी थी तथा उन्होंने १२० वर्ष का पवित्र जीवन पाया।

उपर्युक्त सामग्री के साथ ही वर्तमान लेखकों के अभिमतों का उल्लेख भी आवश्यक । बील के मतानुसार कबीर का समय १४९० ई०, फर्कुहर के अनुसार १४००-१५१८ ०, हंटर की दृष्टि में १३००-१४२० ई०, मेकालिफ़ के अनुसार १३९८-१५१८ ई० और

वेसकट, स्मिथ तथा भण्डारकर के मत से १४४०-१५१८ ई० हैं। अन्तस्साक्ष्य और चरित्रबोध' के प्रमाण से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि कबीर का आविर्भाव १३९८ हुआ था। आविर्भाव-काल के समान ही उनका अवसान-काल भी अनिश्चित और बना हुआ है। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास के अनुसार उनका देहावसान १४९२ ई० में हुआ। इस सम्बन्ध में एक जनश्रुति भी प्रचलित है :

> संवत पंद्रह सै पछत्तरा किया मगहर को गौन।
> माघ सुदी एकादशी, रलो पौन में पौन॥

तात्पर्य यह कि कबीर का निधन १५१८ ई० (१५७५ वि०) में हुआ। इस का समर्थन 'कबीर-परिचई' के इस उल्लेख से भी हो जाता है कि कबीर को १२० पवित्र जीवन प्राप्त हुआ था, अर्थात् वे १३९८-१५१८ ई० तक विद्यमान थे।

प्रसिद्ध है कि कबीर स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। 'भक्तमाल' में रामानन्द के शिष्यों का उल्लेख करते हुए कबीर को विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। (१६७०) के लेखक मोहसिन फ़ानी और पैशाची भाषा की कृति 'प्रसंग-पारिजात' के लेखक चेतनदास के अनुसार भी कबीर के गुरु रामानन्द थे। यहाँ उनके जीवन कुछ अन्य पक्षों का उल्लेख भी अपेक्षित है। 'जाति जुलाहा नाम कबीरा' जैसे स्पष्ट है कि जाति-पांति के कटु आलोचक कबीर ने अपने को जुलाहा जाति का होना किया है। यह अन्तस्साक्ष्य सर्वथा विश्वसनीय और प्रामाणिक है। किन्तु, कबीरदास के माता-पिता के विषय में किसी प्रकार का मत उपलब्ध नहीं होता। है कि कबीर-पन्थियों की दृष्टि में कबीरदास महापुरुष हैं। किंवदन्ती है कि नीरू और उसकी पत्नी नीमा ने बालक के रूप में विद्यमान सत्पुरुष को अपने घर लाकर पोषण किया। इस प्रकार जुलाहा-परिवार में परिपालित सत्पुरुष ने युग के शोषण बन्धनों को शिथिल करके सामाजिक जीवन का एक नया परिच्छेद उद्घाटित किया। श्रुतियों में प्रसिद्ध है कि कबीर की पत्नी का नाम लोई था। उनकी सन्तान के रूप में कमाल और पुत्री कमाली का उल्लेख मिलता है।

अक्षर-ब्रह्म के परम साधक कबीरदास सामान्य अक्षर-ज्ञान से रहित थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है : "मसि कागद छूयौ नहीं, कलम गह्यौ नहिं हाथ।" अतः यह निर्विवाद है कि उन्होंने स्वतः किसी ग्रन्थ को लिपिबद्ध नहीं किया। उनकी रचनाओं अध्ययन करने के पूर्व यह भी जान लेना आवश्यक है कि उनकी एक-एक रचना की कई प्रतियाँ समुपलब्ध हैं और इन सभी में भाषा तथा शब्द-चयन के रूप-स्वरूप में बड़ा है। खोज-रिपोर्टों, सन्दर्भ-ग्रन्थों, पुस्तकालयों के विवरणों आदि में उनके द्वारा तिरेसठ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है। ये हैं—अगाध मंगल, अनुरागसागर, अमरमूल, खण्ड की रमैनी, अक्षर भेद की रमैनी, उग्रगीता, कबीर की बानी, कबीर गोरख की कबीर की साखी, बीजक, ब्रह्मनिरूपण, मुहम्मदबोध, रेख़ता, विचारमाला, शब्दावली, हंसमुक्तावली, ज्ञानसागर आदि। ये कृतियाँ कबीर की प्रतिभा की परन्तु इनमें से कुछ की प्रामाणिकता इनके शीर्षक स्वतः सन्दिग्ध कर देते हैं। 'मुहम्मदबोध' और 'कबीर गोरख की गोष्ठी' को ले सकते हैं। कबीरदास न तो के समकालीन थे, न मुहम्मद साहब के। फिर ये ग्रन्थ कहाँ से साकार हो उठे?

सन्त-मत के समस्त कवियों में कवि कबीर सबसे अधिक प्रतिभाशाली एवं थे। उन्होंने कविता लिखने की प्रतिज्ञा करके कहीं पर कुछ नहीं लिखा है, न उन्हें

र अलंकारों का ज्ञान था, तथापि उनमें काव्यानुभूति इतनी प्रबल एवं उत्कृष्ट थी कि वे रलता के साथ महाकवि कहलाने के अधिकारी हैं। सत्य यह है कि उनकी कविता में छन्द, लंकार, शब्द-शक्ति आदि गौण हैं और सन्देश देने की प्रवृत्ति प्रधान है। इन सन्देशों में नेवाली पीढ़ियों के लिए प्रेरणा, पथ-प्रदर्शन तथा संवेदना की भावना सन्निहित है। अलंकारों सुसज्जित न होते हुए भी उनके सन्देश काव्यमय हैं। कबीर भावना की अनुभूति से युक्त, त्कृष्ट रहस्यवादी, जीवन का संवेदनशील संस्पर्श करनेवाले और मर्यादा के रक्षक कवि थे। न्होंने स्वतः कहा है : "तुम जिन जानो गीत है, यह निज ब्रह्म विचार।" पथभ्रष्ट समाज को उचित मार्ग पर लाना ही उनका प्रधान लक्ष्य है।

कवि के रूप में कबीर जीवन के अत्यन्त निकट हैं। सहजता उनकी रचनाओं की सबसे ड़ी शोभा और कला की सबसे बड़ी विशेषता है। उनके काव्य का आधार स्वानुभूति या थार्थ है। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है : "मैं कहता हूँ आँखिन देखी, तू कहता कागद की खी।" वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज-सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म-सुधारक, गतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे। उनके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब नके साहित्य में विद्यमान है। कबीर का प्रतिपाद्य स्थूल रूप से दो भागों में विभाजनीय —इनमें से प्रथम रचनात्मक है तथा द्वितीय आलोचनात्मक। रचनात्मक विषयों के अन्तर्गत तगुरु, नाम, विश्वास, धैर्य, दया, विचार, औदार्य, क्षमा, सन्तोष आदि विषयों पर व्याव-रिक शैली में भाव व्यक्त किये गये हैं। यहाँ उनकी आलोचनात्मक प्रतिभा के दर्शन नहीं ते, अर्थात् यहाँ मानव की हीनताओं का दिग्दर्शन नहीं कराया गया। प्रतिपाद्य के दूसरे म में कबीर की आलोचनात्मक प्रतिभा प्रकट हुई है। यहाँ वे आलोचक, सुधारक, पथ-दर्शक और समन्वयकर्त्ता के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस पक्ष में उल्लेखनीय विषय हैं—तावनी, भेष, कुसंग, माया, मन, कपट, कनक, कामिनी आदि।

कबीर की अभिव्यंजना-शैली बड़ी शक्तिशाली है। प्रतिपाद्य के एक-एक अंग को कर इस निरक्षर कवि ने सैकड़ों साखियों की रचना की है; और प्रत्येक साखी में अभिनवता। उन्होंने ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग, हठयोग आदि विषयों को बड़े सुबोध रूप में व्यक्त र दिया है। उनकी अभिव्यंजना-शक्ति उनके व्यक्तित्व के अनुरूप है। जिस प्रकार उनकी ष्टि में तीक्ष्णता तथा तीव्रता थी, उसी प्रकार उनकी अभिव्यंजक प्रतिभा भी प्रखर थी। नके काव्य में बुद्धि-तत्त्व की प्रधानता है, किन्तु वह शुष्क या नीरस नहीं है। आत्मा, पर-त्मा, जीव, जगत् आदि का विवेचन नीरस विषय है, परन्तु कबीर ने इनके समाधान के ए सरल भाषा, भावमयी अनुभूतियों, कल्पना आदि का सहारा लिया है। कबीर के काव्य भावना-तत्त्व की भी प्रचुरता है। यदि वे कोरे बुद्धिवादी होते तो उनकी रचनाओं में वना-पक्ष का अभाव होता, किन्तु सत्य यह है कि भावात्मक स्थलों पर उनके काव्य में सात्मकता भी है। एक ओर रहस्यवाद के भावात्मक पक्ष को उद्घाटित करनेवाले पदों में ृंगार रस की निर्मल धारा है, तो दूसरी ओर सत्य की अनुभूति और ज्ञान की गम्भीरता ी है। 'दुलहिन गावहु मंगलचार' इसी कोटि का पद है। सबकी आलोचना करनेवाला बीर इतना रससिक्त होगा, यह आश्चर्य की बात प्रतीत होती है। उनकी कविता में कल्पना । कवित्व या प्रतिभा के दर्शन सर्वत्र होते हैं, किन्तु व्यर्थ की कल्पनाओं के पीछे भटकना नका लक्ष्य नहीं था। उनकी कल्पना-शक्ति में व्यावहारिकता तथा कलात्मकता का सुन्दर मन्वय है। उन्होंने भावों की अभिव्यक्ति के लिए जिन उपकरणों को स्वीकार किया है, वे ब अत्यन्त स्वाभाविक एवं सहज हैं। 'सतगुर को अंग', 'माया को अंग', 'चेतावनी को अंग'

आदि प्रसंगों में कवि की कल्पना-शक्ति का वैभव दर्शनीय है। कल्पना के चुनाव में औचित्य पर भी ध्यान दिया है, जो उनकी मनोवैज्ञानिकता का परिचायक है।

कबीर के काव्य में दाम्पत्य एवं वात्सल्य के द्योतक प्रतीकों का सुन्दर प्रयो है। उनकी रचनाओं में सांकेतिक प्रतीक, पारिभाषिक प्रतीक, संख्यामूलक प्रतीक, रू प्रतीक तथा प्रतीकात्मक उलटबाँसियों के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। कबीर-साहित्य योजना से भरा पड़ा है। रहस्यवाद से सम्बद्ध पदों में अकथनीय अनुभव को व्यक्त क लिए उन्होंने पग-पग पर प्रतीकों का आश्रय लिया है। प्रभाव-साम्य के कारण उनके से तादृशी भावना जाग्रत होती है। इसमें सन्देह नहीं कि कबीर की दूरदर्शिता, सहृदयता तथा संवेदनशीलता ने उनके काव्य में विभाव-पक्ष को सुन्दर और प्रभावशाली दिया है। फिर भी, उनमें वह सतर्कता एवं सावधानी नहीं मिलती जो लिखित साहि लिए अपेक्षित है। काव्य-सौन्दर्य की अभिवृद्धि के साधनों—छन्द, अलंकार आदि— उनके मन में कोई पूर्व-निष्ठा नहीं है। उनके रूपक तथा उपमाएँ दैनिक जीवन से हैं। सत्य तो यह है कि काव्य-रचना उनका साध्य या लक्ष्य नहीं था, फिर भी अपने सन्देशों की अभिव्यक्ति के लिए उन्हें काव्य को माध्यम बनाना पड़ा। इस प्रकार रहस् सन्त और धर्मगुरु होने के साथ-साथ वे भावप्रवण कवि भी थे।

रैदास : मध्ययुगीन साधकों में रैदास अथवा रविदास का विशिष्ट स्थान है। वर्ग में समुत्पन्न होकर भी उत्तम जीवन-शैली, उत्कृष्ट साधना-पद्धति तथा उल्लेखनीय रण के कारण वे आज भी भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में सादर स्मरण किये जा रैदास का जन्म काशी में हुआ था—काशी को ही उनका निवास-स्थान माना गया है। की भाँति उनके जीवन-काल के विषय में भी बड़ा मतभेद है। 'रैदास की परिचई' में काल का उल्लेख नहीं है। 'भक्तमाल' और डॉ० भण्डारकर के अनुसार उनका जन्म ई० में हुआ था। डॉ० भगवतव्रत मिश्र ने यह निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि कवि का काल १३९८ ई० तथा मृत्यु-काल १४४८ ई० के मध्य होना चाहिए।[1] यह भी प्रसिद्ध वे मीरांबाई (१४९८-१५४६) के गुरु थे; इस स्थिति में १५३० ई० के पूर्व उनका वसान नहीं माना जा सकता। अस्तु, इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं सकता। रैदास चमार दम्पती से उत्पन्न हुए थे। इस विषय में अनेक अन्तस्साक्ष्य हैं। यथा : 'ऐसी मेरी जाति विख्यात चमार', 'चरन सरन रैदास चमइया' आदि। अन द्वारा लिखित 'परिचई' और प्रियादास के 'सटीक भक्तमाल' के अनुसार रैदास को रामानन्द ने दीक्षा दी थी, किन्तु रैदास की रचनाओं में कहीं भी रामानन्द का उल्ले होने से इस विषय में शंका होती है। रैदास विवाहित थे, उनकी पत्नी का नाम लोना अपनी सन्त-प्रवृत्ति के अनुरूप उन्होंने प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन, भरतपुर, जयपुर, चित्तौड़ आदि स्थानों का भ्रमण किया था। प्रसिद्ध है कि सिकन्दर लोदी के निमन्त्र वे दिल्ली भी गये थे। उनका मोक्ष-स्थान काशी का गंगा-घाट था।

रैदास मूलतः सन्त थे, फलस्वरूप कबीर की भाँति उनका बल भी कला अपेक्षा प्रतिपाद्य पर अधिक रहा है। अन्य ब्रह्ममार्गी कवियों की भाँति उनके निर्गुण ब्रह्म अनुभूति और जिज्ञासा का विषय है। कभी वे उसकी सत्ता और स्व अभिव्यक्ति में अपनी असमर्थता स्वीकार करते हैं, तो अन्यत्र उसे एक सुनिश्चित रूप

---

[1] देखिए 'सन्त रैदास और उनका पन्थ' (अप्रकाशित), पृष्ठ ११६

लिए उन्होंने ईश्वर के समस्त रूपों में ऐक्य और अभिन्नता के दर्शन भी किये हैं। मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा आदि बाह्य विधानों का विरोध कर उन्होंने आभ्यन्तरिक साधना पर बल दिया है। अपने भावों और विचारों की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने सरल व्यावहारिक ब्रजभाषा को अपनाया है जिसमें अवधी, राजस्थानी, खड़ीबोली और उर्दू-फ़ारसी के शब्दों का भी मिश्रण है। उपमा तथा रूपक अलंकार कवि को विशेष प्रिय रहे हैं। उनकी काव्य-शैली के परिचयार्थ निम्नलिखित उद्धरण द्रष्टव्य है :

अब कैसे छूटै राम, नाम रट लागी।
प्रभु जी तुम चन्दन हम पानी, जाकी अंग अंग बास समानी।
प्रभु जी तुम घन बन हम मोरा, जैसे चितवत चन्द-चकोरा।
प्रभु जी तुम दीपक हम बाती, जाकी जोति बरै दिन राती।
प्रभु जी तुम मोती हम धांगा, जैसे सोने मिलत सुहागा।
प्रभु जी तुम स्वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करै रैदासा॥

नानकदेव : नानक-पन्थ के प्रवर्तक गुरु नानकदेव (१४६९-१५३८) इतिहास-प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। उनके द्वारा संस्थापित सम्प्रदाय ने उन्हीं के जीवन-काल में एक व्यापक संगठन का रूप धारण कर लिया था। राजनीतिक परिस्थितियों के कारण उनका सम्प्रदाय और भी व्यापक, सुदृढ़ और सुव्यवस्थित होता गया। नानक-पन्थ की स्थापना राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई, किन्तु उसका स्वरूप धार्मिक तत्त्वों के रंग से अनुरंजित है। नानकदेव समन्वयशील और उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उनमें अद्भुत संगठन-शक्ति, क्षमाशीलता और दूरदर्शिता विद्यमान थी। उनका आविर्भाव लाहौर के निकटस्थ राइभाई की तलवण्डी ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम कालूचन्द एवं माता का नाम तृप्ता था। उनका जन्म-स्थान अब ननकाना साहब नाम से प्रख्यात है। बाल्यावस्था में उन्हें संस्कृत, फ़ारसी, पंजाबी एवं हिन्दी की शिक्षा प्राप्त हुई। वे आरम्भ से ही आत्मचिन्तन, ईश्वर-भक्ति और सन्त-सेवा की ओर उन्मुख रहे। कुछ समय तक उन्होंने गृहस्थी भी चलायी। उनके दो पुत्र हुए, जिनके नाम थे—श्रीचन्द और लक्ष्मीचन्द। पिता की भाँति श्रीचन्द भी विख्यात साधु हुए और उन्होंने 'उदासी सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। गुरु नानक भ्रमणशील साधु थे। उन्होंने सभी दिशाओं में यात्राएँ की थीं। इस सन्दर्भ में सभी धर्मों और मतों के अनुयायी सन्तों से उनकी भेंट होती रहती थी। फलस्वरूप समाज और धर्म के सम्बन्ध में उनकी विचारधारा अनुभूति तथा समन्वय पर आधारित है। धार्मिक रूढ़िवाद, जाति के संकीर्ण बन्धनों तथा अनाचारों के प्रति उन्होंने सदैव विरोध का स्वर उठाया। उनके काव्य में निर्गुण ब्रह्म के अति उच्च कोटि की भक्ति-भावना विद्यमान है, किन्तु इसके साथ ही अन्य धार्मिक विचार-धाराओं के लिए भी उनके मन में श्रद्धा थी। सत्य के प्रति आस्था के फलस्वरूप उनकी वाणी में स्पष्टता और उदबोधन की प्रखरता मिलती है। कबीर की भाँति उनके काव्य में भी शान्त रस की निर्बाध धारा प्रवाहित हुई है, यद्यपि कहीं-कहीं करुण, अद्भुत आदि कुछ अन्य रसों के अनुकूल सामग्री भी प्राप्त होती है। नानक के अनुसार ईश्वर-कृपा से तत्त्व-दर्शन तो हो जाता है, किन्तु उस अनुभव की अभिव्यक्ति सदैव नहीं हो पाती। यथा :

आपे जाणै आपे देई, आखहि सि भि केई केइ।
जिसनौ बखसे सिफति सालाह, नानक पातिसाही पातिसाहु॥

नानक ने अनेक पदों की रचना की जो 'ग्रन्थ साहिब' में संकलित हैं। 'जपुजी' नानक-दर्शन का सारतत्त्व है। 'असा दी वार', 'रहिरास' तथा 'सोहिला' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं।

नानकदेव की काव्य-भाषा के तीन रूप हैं—हिन्दी, फारसीबहुल पंजावी और पंजावी। नां नामा' की भाषा में खड़ीबोली का रूप व्यक्त है। नानक का अधिकांश साहित्य पंजा है, किन्तु उन्होंने व्रजभाषा-शब्दावली का भी प्रयोग किया है। उनकी भाषा में प्रवाह सहजता है। नानक-वाणी में अलंकारों का सहज प्रयोग हुआ हैं। उपमा, रूपक, प्रतीप अनुप्रास कवि के प्रिय अलंकार हैं। छन्दों का प्रयोग उन्होंने नहीं किया, उनके पद रागिनियों में रचित हैं। शान्त रस की निर्बाध धारा उनके काव्य में प्रवाहित हुई ऐतिहासिक वर्णनों में करुण रस एवं शृंगार के पद भी विरचित हैं।

जम्भनाथ : सन्त जम्भनाथ का जन्म १४५१ ई० में जोधपुर राज्य के नागौर के पीपासर (अथवा पयासर) ग्राम में राजपूत-परिवार में हुआ। जनश्रुति है कि चौं वर्ष की अवस्था तक इन्होंने एक भी शब्द उच्चरित नहीं किया और चमत्कारिक कृत्यों प्रदर्शन के कारण जनता ने इन्हें जम्भ जी कहना प्रारम्भ किया। सिद्धि प्राप्त हो जाने अनन्तर ये मुनीन्द्र जम्भ ऋषि के नाम से विख्यात हुए। इनकी शिक्षा-दीक्षा, विवाह, परि आजीविका आदि के विषय में कोई विशेष विवरण नहीं मिलता। किंवदन्ती है कि ये आजं ब्रह्मचारी रहे। यह भी प्रसिद्ध है कि किन्हीं बाबा गोरखनाथ ने इन्हें दीक्षा प्रदान की। स्वभाव से ये बड़ विनयशील एवं विनम्र थे। काव्य-रचना में इनकी अच्छी गति थी, प दुर्भाग्य से अभी तक इनकी कोई कृति नहीं मिली है। कतिपय संग्रहों में इनकी स्फुट रच संकलित हैं। अभिव्यंजना-शैली के परिचयार्थ इनके दो दोहे द्रष्टव्य हैं :

गगन हमारा बाजा बाजे, मतर फल हाथी।
संसै का बल गुरुमुख तोड़ा, पाँच पुरुष मेरे साथी॥
जुगति हमारी छत्र सिंघासन, महासक्ति में बांसे।
जंभनाथ वह पुरुष विलच्छन, जिन मंदिर रचा अकासे॥

जम्भनाथ ने अपने आदर्शों या मत के प्रचारार्थ 'विश्नुई सम्प्रदाय' की स्थापना अपने जीवन में इन्होंने चार प्रमुख शिष्यों को मान्यता प्रदान की, जिनके नाम हैं—हा पावजी, लोहा पागल, दत्तनाथ तथा मालदेव। नाम से ये शिष्य नाथपन्थी प्रतीत होते सम्भव है, विश्नुई सम्प्रदाय किसी अंश तक नाथ-पन्थ के आदर्शों से प्रभावित रहा जम्भनाथ की उपलब्ध रचनाओं में भी अधिकतर देहभेद और योगाभ्यास-जैसे विषय मिलते हैं, जिससे यह कहा जा सकता है कि ये नाथ-पन्थ से विशेष प्रभावित थे। इन रचनाओं में ओंकार-जप, निरंजन की उपासना, अजपा जप, गगनमण्डल, पंचपुरुष, सत महिमा, सोऽहं-जप, जरा-मरण से मुक्ति, अनन्य भक्ति आदि का बारम्बार उल्लेख हुआ अजपा जप और निरंजन की उपासना का इन्होंने विशेष रूप से उपदेश दिया है। प्र है कि जम्भनाथ ने १५२३ ई० के लगभग तालबा (बीकानेर) में समाधि लेकर अ जीवनलीला समाप्त की, किन्तु इनके अनुयायी इस घटना को १५३६ ई० में तालासर गाँव निकट होना बतलाते हैं। इनका समाधि-स्थल सम्भराथल नाम से विख्यात है।

हरिदास निरंजनी : सन्त हरिदास निरंजनी-सम्प्रदाय के कवि थे, जिसका मूल नाथ-पन्थ है। साधना-क्षेत्र में इस सम्प्रदाय को नाथ-पन्थ एवं सन्त मत की मध्यवर्ती कहा जा सकता है। यह एक प्राचीन धर्म-सम्प्रदाय है, जिसका प्रभाव उड़ीसा प्रान्त में कि न-किसी रूप में आज तक विद्यमान है। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने अपने ग्रन्थ 'मेडिव मिस्टिसिज़्म' में यह प्रतिपादित किया है कि सर्वप्रथम इस मत का प्रचार उड़ीसा से ही प्रा

हुआ था, तदनन्तर यह सम्प्रदाय अपने जनप्रिय और सच्चे आदर्शों के कारण पूर्व की ओर भी प्रसारित हुआ। इस सम्प्रदाय का इतिहास पूर्णरूपेण ज्ञात नहीं है। प्रचलित है कि इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी निरंजन थे, जो ब्रह्म के निर्गुण रूप के उपासक थे। स्वामी निरंजन की जीवनी और सिद्धान्तों की स्पष्ट रूपरेखा प्राप्त नहीं है। निरंजनी-सम्प्रदाय के संस्थापक और संस्थापन के इतिहास का उल्लेख करते हुए दादूपन्थी राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में लिखा है कि इसके प्रवर्तक जगन थे। यह मत भी प्रचलित है कि इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन हरिदास निरंजनी ने किया था। राघोदास के अनुसार हरिदास डीडवाणा-निवासी थे। पुरोहित हरिनारायण शर्मा ने 'सुन्दर-ग्रन्थावली' की भूमिका में हरिदास के सम्बन्ध में यह लिखा है कि पहले वे प्रागदास के शिष्य हुए, फिर दादू के, फिर कबीर-पन्थ और गोरख-पन्थ में दीक्षित हुए और अन्ततः उन्होंने अपना निराला पन्थ चलाया। परशुराम चतुर्वेदी का भी अनुमान है कि हरिदास जी ने १५६९ ई० में दादूपन्थी प्रागदास से दीक्षा ली थी। परन्तु इधर कुछ नवीन सामग्रियों के क्रमशः प्रकाश में आते जाने के कारण सन्त हरिदास के आविर्भाव-काल का कुछ पहले निश्चित होना भी अनुमानित है। कुछ लेखक अब इस बात को असम्भव नहीं समझते कि इनका जन्म १४५५ ई० में और मृत्यु १५४३ ई० में हुई। अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में विद्यमान हरिराम जी की 'हरिदास जी की परिचई' में भी इसी मन्तव्य का प्रतिपादन हुआ है। उनके अनुसार १४९९ ई० की वसन्त-पंचमी के दिन स्वयं हरि ने गुरु गोरखनाथ का रूप धारण करके इन्हें ब्रह्मज्ञान की दीक्षा दी थी। हरिदास निरंजनी कदाचित् सोलहवीं शती के मध्य तक विद्यमान थे। कुछ लोग इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार करना चाहते हैं कि एक की जगह दो हरिदास मान लिये जाएँ, किन्तु प्रमाण के अभाव में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

'श्री हरिपुरुष की वाणी' में उल्लेख है कि ४५ वर्ष की अवस्था तक हरिदास जी ने गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया था। परिचई-लेखक का ध्यान सम्भवतः इधर नहीं गया। हरिदासजी भ्रमणशील व्यक्ति थे। वे झंगूर, डीडपुर, नागपुर, अजमेर, नाथवाडा, नैंडे, तोडा, आम्बेर, जयपुर, सिवौरा आदि स्थानों का भ्रमण कर आये थे। 'श्री हरिपुरुष की वाणी' में उनके शिष्या का भी उल्लेख मिलता है। उनके शिष्य-प्रशिष्यों में नारायणदास, हरीराम, रूपदास, सीतलदास, लक्ष्मणदास, गंगादास आदि का उल्लेख किया जाता है। मारवाड़ में हरिदास के नाम पर कई मठें और गद्दियाँ हैं। इस सम्प्रदाय का प्रमुख मठ डीडवाणा में है। हरिदास-कृत 'अष्टपदी जोग ग्रन्थ', 'ब्रह्मस्तुति', 'हंसप्रबोध ग्रन्थ', 'निरपखमूल ग्रन्थ', 'पूजा-जोग ग्रन्थ', 'समाधिजोग ग्रन्थ', 'संग्रामजोग ग्रन्थ' आदि में निर्गुण ब्रह्म के अलौकिकत्व पर विशेष बल दिया गया है। उनके अनुसार ब्रह्म-कृपा से ही साधक को आनन्द-प्राप्ति होती है। माया और लौकिक बन्धनों के प्रति उन्हें अरुचि है तथा मोक्ष-लाभ ही उनका अभीष्ट है : "गुणग्राही गोविन्द गुण गावा, भजि भजि राम परमपद पावा।" ब्रह्म विषयक अतीन्द्रिय अनुभूति में रसमग्न होकर उन्हें अन्य विषय निस्सार प्रतीत होते हैं। सन्तों को वे ईश्वर के समान पूज्य मानते हैं। हरिदास की भाषा सरल ब्रजभाषा है, अन्य सन्तों की भाँति कलापक्ष के अलंकरण का आग्रह उनमें भी नहीं मिलता।

सींगा : सन्त सींगा (१५१९-१६५९) का जन्म मध्यभारत की रियासत बडवानी के खजूर गाँव में एक ग्वाल-परिवार में हुआ था। बाल्यावस्था से ही वे संसार से विरक्त रहा करते थे। एक बार वे हरसूद से भामगढ़-मार्ग पर जा रहे थे, मार्ग में महाराज ब्रह्मगीर के शिष्य मनरंगीर यह भजन गा रहे थे :

समुझि ले औरे मना भाई, अंत न होय कोई अपणां ।
यही माया के फंदे में, तर आन भुलाणा ॥

—इन पंक्तियों ने संसार की नि:सारता को उनके हृदय में प्रत्यक्ष रूप से अंकि दिया और उन्होंने मनरंगीर को अपना आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक स्वीकार कर लिया । फि के जंगलों में उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की साधना की और अनहद-नाद सम्बन्धी भजन लिखे उच्च कोटि के विचारक थे । उनके अनुसार परम तत्त्व की खोज में मन्दिर, मस्जिद तीर्थों में जाने की आवश्यकता नहीं है; उसके दर्शन गंगा, यमुना आदि में स्नान करने नहीं होते; वरन् वह तो हृदय में ही विद्यमान है । यथा :

जल विच कमल, कमल विच कलियाँ, जहँ वासुदेवअ विनाशी ।
घर में गंगा, घर में जमुना, नहीं द्वारिका कासी ॥
घर बस्तु बाहर क्यों ढूंढ़े, बन बन फिरा उदासी ।
कहैं जन सिंगा, सुनो भाई साधो, अमरपुर के वासी ॥

सींगा की निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी धारणा सन्त कबीर की ब्रह्म विषयक कल्पना से कुछ साम्य रखती है । उनकी उक्तियों में अप्रस्तुत-योजना बड़ी यथार्थ और स्वाभाविक उनके द्वारा विरचित पदों की संख्या ८०० बतायी जाती है, किन्तु वे सभी अभी उपलब्ध नहीं हो सके हैं । उनकी काव्य-भाषा निमाड़ी है । कहा जाता है कि उन्होंने रचनाओं का निर्माण किया था, जिनके नाम क्रमश: ये हैं—'सिंगा जी का दृढ़ उपदेश', जी का आत्मध्यान', सिंगा जी का दोष-बोध', 'सिंगा जी का नरद', 'सिंगा जी का सिंगा जी की वाणी', 'सिंगा जी की वाणावली', 'सिंगा जी का सातवार', 'सिंगा जी की तिथि', 'सिंगा जी की बारहमासी' तथा 'सिंगा जी के भजन' । इनमें से अन्तिम के अ उनके समाधि-भजन एवं निर्गुण-मार्ग के भजन आते हैं, जिन्हें आज भी गाया जाता सम्प्रति उनके काव्य का एक छोटा-सा संग्रह 'सन्त सिंगा जी' शीर्षक से उपलब्ध है ।

लालदास : लाल-पन्थ के प्रवर्तक सन्त लालदास (१५४०-१६४८) का आवि अलवर राज्य के ग्राम धौलीधूप में एक ऐसे मुसलमान-परिवार में हुआ था जहाँ भरण-पोषण तथा जीविका के साधनों के लिए इतना संघर्ष करना पड़ता था कि बालकों की शिक्षा-दी का कोई प्रबन्ध न हो पाता था । भगवद्भक्ति का अंकुर लालदास के हृदय में बाल्याव में ही अंकुरित हो गया था । वे साधुओं का सत्संग करते रहते और नाम-जप में संलग्न थे । वय एवं समय के साथ उनकी ख्याति दूर-दूर तक फैलने लगी । कुछ समय बाद वे स्थान को त्यागकर रामगढ़ परगने में स्थित बादोनी में निवास करने लगे और जनता सेवा में अनुरक्त हो गये । उत्तरोत्तर उनके शिष्यों की संख्या में वृद्धि होती गयी । प्रचलित कि अयोग्य शिष्यों के कारण उन्हें अनेक वार कष्ट भी झेलने पड़े । दुष्टों द्वारा अत्यन्त पी किये जाने पर उन्होंने बादोनी का परित्याग कर दिया और नारोली ग्राम में निवास लगे । बाद में उन्होंने रसगाँव को अपना निवास-स्थान बनाया । लालदास ने गृहस्थाश्रम रहकर साधना की । उनकी समाधि नगला (भरतपुर राज्य) में आज भी विद्यमान है ।

सन्त लालदास सिद्ध महापुरुष थे । उनकी विचारधारा कबीर-मत से प्रभावित है । अच्छे कवि तथा उपदेशक थे । उनकी रचनाएँ 'लालदास की चेतावणी'[1] में संकलित हैं, जि उनकी सुष्ठु अभिव्यंजना-शक्ति और गम्भीर रहस्यानुभूति का ज्ञान होता है । सत्यानु

---

[1] यह ग्रन्थ पुरोहित हरिनारायण शर्मा के संग्रहालय में विद्यमान है ।

न्तःकरण की शुद्धता और समदृष्टि पर उन्होंने बारम्बार बल दिया है। इस प्रकार उनकी चनाओं में नीतिपरक दृष्टिकोण की प्रधानता है। यथा :

लालजी भगत भीख न माँगिये, माँगत आये शरम।
घर घर टांडत दुःख है, क्या बादशाह, क्या हरम॥
लालजी साधु ऐसा चाहिए, धन कमाकर खाय।
हिरदे हर की चाकरी, पर घर कभूं न जाय॥

लालदास जन्म से मेव थे, परन्तु उनकी जीवन-शैली और रहन-सहन हिन्दुओं-जैसा ा। वे निरामिषभोजी थे। उनके पन्थ में 'राम' ही सर्वश्रेष्ठ शक्ति है, वही आराध्य है, वही ह्म है। लाल-पन्थ की आचार-संहिता बड़ी आकर्षक है। इस पन्थ में विनम्रता समस्त साधना ा मूल है। लालदास के पन्थ का प्रचार और प्रसार बहुत सीमित रहा। अलवर की सीमाओं ं ही इस पन्थ का विकास हो पाया। इस पन्थ के अनुयायी हिन्दू-मुसलमान दोनों ही हैं, परन्तु नमें मेवों की संख्या अधिक है।

दादूदयाल : दादू-पन्थ के प्रवर्तक सन्त दादूदयाल धर्म-सुधारक, समाज-सुधारक और हस्यवादी कवि थे। मध्यकालीन साधकों में उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली है। उनका जन्म हमदाबाद में हुआ था, किन्तु उनके आविर्भाव-काल के सम्बन्ध में मतभेद है। डॉ० बड़थ्वाल, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और परशुराम चतुर्वेदी के अनुसार उनका जन्म १५४४ ई० में हुआ था, जबकि डॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार वे १६०१ ई० में आविर्भूत हुए थे। दादू की जाति के सम्बन्ध में भी मतभेद है। सुधाकर द्विवेदी के मत से वे धुनिया थे। क्षितिमोहन सेन ने अपने ग्रन्थ 'दादू' में उल्लेख किया है कि वे एक ब्राह्मण के पालित पुत्र थे, डॉ० बड़थ्वाल ने भी उन्हें गुजराती ब्राह्मण कहा है। इन सब मतों के अनन्तर दादू के शिष्य रज्जब का यह मत भी विचारणीय है : "धुनि ग्रभे उत्पन्नो, दादू योगेन्द्रा महामुनि।" स्पष्ट है कि दादू धुनिया-रिवार में समुत्पन्न हुए थे और जाति के मुसलमान थे। दादू के गुरु वृद्ध भगवान् थे, जनगोपाल ने 'जनमलीलापरची' में इस मत का समर्थन किया है। दादू-पन्थ में प्रचलित है कि वे विवाहित थे और गरीबदास तथा मिस्कीनदास नामक उनके दो पुत्र थे। परची के अनुसार दादू का महाप्रस्थान १६०३ ई० में हुआ।

देश-भ्रमण के बाद दादू सन् १५७३ ई० से साँभर में निवास करने लगे। इसी समय उन्होंने पन्थ की स्थापना के सम्बन्ध में विचार प्रकट किया। फलतः नियमित रूप से श्रद्धालु, आस्थावान् नर-नारियों तथा अनुयायियों का सत्संग होने लगा। सत्संग का स्थल 'अलख रीबा' नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्रमशः 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' रूपरेखा ग्रहण करने लगा, भविष्य में यही 'परब्रह्म-सम्प्रदाय' के रूप में प्रख्यात हुआ और कालान्तर में इसी को 'दादू-पन्थ' संज्ञा प्राप्त हुई। दादू के जीवन-काल में यह पन्थ बहुत लोकप्रिय हुआ और इसके अन्तर्गत रज्जब, सुन्दरदास, प्रागदास, जनगोपाल, जगजीवन प्रभृति प्रसिद्ध साधकों का आविर्भाव हुआ। राघोदास ने अपने 'भक्तमाल' में दादू के प्रमुख बावन शिष्यों का उल्लेख किया है, जिनमें रज्जब और सुन्दरदास सर्वप्रमुख थे। दादू के महाप्रयाण के अनन्तर क्रमशः उनके ज्येष्ठ पुत्र गरीबदास और कनिष्ठ पुत्र मिसकीनदास उत्तराधिकारी हुए। प्रायः सौ वर्ष तक सम्प्रदाय सुचारु रूप से चलता रहा, किन्तु दादू-पन्थ के लिए स्तम्भ-स्वरूप रज्जब, सुन्दरदास, प्रागदास आदि प्रधान अनुयायियों का निधन होने पर धीरे-धीरे क्षेत्रीय गद्दियों पर अपरिपक्व साधकों का अधिकार हो गया जिन्होंने दादू के उच्च आदर्शों को भुला दिया, फलस्वरूप दादू-न्थ का स्थान उप-सम्प्रदायों ने ले लिया।

दादू प्रतिभाशाली कवि थे। प्रसिद्ध है कि उन्होंने बीस सहस्र पदों और सा रचना की थी, किन्तु अब इनमें से बहुत कम उपलब्ध हैं। उनके शिष्यों सन्तदास एवं दास ने 'हरडे वाणी' शीर्षक से उनकी रचनाओं का संग्रह प्रस्तुत किया था। 'अंग उनका प्रसिद्ध काव्य-संग्रह है। वैसे, उनकी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन परशुराम द्वारा सम्पादित 'दादूदयाल' में सुलभ है। सन्त दादू की विचारधारा कबीर से प्रभा निर्गुण भक्त कवि होने पर भी उन्होंने ईश्वर के सगुण स्वरूप को मान्यता दी है। इसी भक्ति को उन्होंने सहज भाव से अंगीकार किया है; किसी मतवाद की उलझन में वे हैं। उनकी काव्य-भाषा ब्रजभाषा है, जिसमें राजस्थानी और खड़ीबोली के शब्दों का भी मिलता है। उनकी भाषा कबीर की अपेक्षा सरल और बोधगम्य है। उनकी ओज तथा गाम्भीर्य दोनों के दर्शन हो जाते हैं। कुछ साखियाँ द्रष्टव्य हैं :

दादू पद जोड़े क्या पाईये, साषी कहें का होइ।
सति सिरोमनि साईयां, तत न चीन्हां सोर॥
पोथी अपणा प्यंड करि, हरि जस मांहै षेष।
पंडित अपणां प्रांण करि, दादू कथौ अलेष॥
असत मिलइ अंतर पडइ, भाव भगति रस जाइ।
साध मिलइ सुख ऊपजई, आनंद अंग नवाइ॥

मलूकदास : मलूकदास (१५७४-१६८२) का आविर्भाव उस समय हुआ जब वर्ष में अकबर के साम्राज्य का दीपक हिन्दुओं के स्निग्ध स्नेह से जगमगा रहा था। महाप्रस्थान औरंगज़ेब के राज्य-काल में हुआ। उनके पिता का नाम सुन्दरदास खत्री संसार से विरक्ति का जो बीज मलूकदास के हृदय में आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित उसका बीजारोपण उनकी बाल्यावस्था में ही हो चुका था। उनके दीक्षा-गुरु के सम्ब हिन्दी के इतिहासकारों में बड़ा मतभेद है; कुछ उन्हें कील का शिष्य मानते हैं और द्राविड़ विट्ठल को उनका गुरु बताते हैं। किन्तु मलूकदास ने 'सुखसागर' में गुरु देवना पुत्र पुरुषोत्तम का गुरु-रूप में स्मरण किया है। मलूकदास के विवाह, पत्नी और एक का भी उल्लेख 'परिचई' में हुआ है। वे जीवन-पर्यन्त अपने पैतृक व्यवसाय द्वारा गृहस्थ परिपालन करते रहे।

मलूकदास के प्रामाणिक ग्रन्थ ये हैं—ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, विवेक, ज्ञानपरोछि, बारहखड़ी, रामअवतारलीला, ब्रजलीला, ध्रुवचरित, विभवविभूति, सागर, शब्द तथा स्फुट पद। इन ग्रन्थों का विषयानुसार विभाजन चार प्रकार से हो है। 'ज्ञानबोध', 'ज्ञानपरोछि', 'विभवविभूति' तथा 'रतनखान' में कवि ने योग, ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि गहन विषयों पर प्रकाश डाला है। द्वितीय वर्ग की रचनाएँ वे हैं कवि ने कथानकों के आधार पर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति की है। 'भक्तिवि और 'सुखसागर' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। तृतीय वर्ग की रचनाओं में अवतारों और का वर्णन है—'रामअवतारलीला', 'ब्रजलीला', तथा 'ध्रुवचरित' ऐसी ही कृतियाँ हैं। श्रेणी में 'भक्तवच्छावली', 'बारहखड़ी', 'स्फुट पद' एवं 'सबद' शीर्षक स्फुट रचनाएँ आ जिनमें कवि की उपदेशात्मक प्रवृत्ति झलकती है। मलूकदास की रचनाओं में 'ज्ञान सबसे महत्त्वपूर्ण है। इसमें निर्गुण ब्रह्म की अन्तस्साधना, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, निवृत्ति, आदि का पांच खण्डों में वर्णन है। 'रतनखान' के दस परिच्छेदों में वैराग्य, नश्वरता, चिंतन, मनन, मुक्ति आदि का स्वरूप वर्णित है। 'भक्तिविवेक' में काशी-नृप की कथा,

था नागकन्या की कथा, नृप तथा वढ़ई की कथा, सिंह तथा शृगाल की कथा आदि के माध्यम ब्रह्मोपासना, माया के त्याग, इन्द्रियों के शमन तथा मन के दमन में ही जीवन की सार्थकता मानी गई है। 'रामअवतारलीला', 'व्रजलीला' और 'ध्रुवलीला' की रचना उस समय हुई जब मलूकदास सगुण ब्रह्म की आराधना में तत्पर थे। वैसे, उनका ब्रह्म निर्गुण और गुणातीत है। वह समस्त सृष्टि का पालक और संहारक है, भेदभाव आदि भावनाओं से परे और ऊपर है तथा संसार के अणु-अणु में रमा हुआ है।

मलूकदास ने अवधी और ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है। 'ज्ञानवोध', 'रतनखान', 'ज्ञानपरोछि' आदि की रचना अवधी भाषा में हुई है तथा कृष्णचरित्र से सम्बद्ध ग्रन्थों की भाषा ब्रजभाषा है। कवि ने संस्कृत, फ़ारसी तथा अन्य बोलियों के शब्दों का भी प्रयोग किया है। उनकी विचारधारा और शैली के परिचय के लिए निम्नलिखित उद्धरण देखिए :

कहत मलूक जो बिन सिर खेवै, सो यह रूप बखानै।
या नैया के अजब कथा, कोइ बिरला केवट जानै॥
कहत मलूका निरगुन के गुन, कोइ बड़भागी गावै।
क्या गिरही औ क्या बैरागी, जेहि हरि देयं सो पावै॥

बाबा लाल : बाबा लाल नामक चार साधकों का आविर्भाव पंजाब प्रान्त में हुआ। इनमें से एक पिंड दादान खाँ के निवासी थे, दूसरे पश्चिमी प्रान्त के गेरा या थेरा नगर में रहते थे, तीसरे सन्त बाबा लाल का मठ गुरुदासपुर में स्थित है और चौथे सन्त कवि बाबा लाल शाहज़ादा दारा शिकोह के सम्पर्क में आये थे और उन दोनों में धार्मिक संलाप हुआ था। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार इन बाबा लाल का आविर्भाव १५९० ई० में मालवा प्रदेश के एक खत्री-परिवार में हुआ था। किन्तु, बाबालाली सम्प्रदाय के आस्थावान् भक्तों के अनुसार उनका जन्म १३५५ ई० में और देहावसान १६५५ ई० में हुआ। सम्प्रदाय के अनुयायियों के अनुसार उनका जन्म-स्थान पंजाब प्रान्त का कुसूर या कुशपुर नामक गाँव था। उनके पिता का नाम भोलानाथ और माता का नाम कृष्णादेवी था। प्रसिद्ध है कि आठ वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने प्रमुख धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया था। दस वर्ष की अवस्था में उनके हृदय में वैराग्य उत्पन्न हो गया, फलतः वे सत्य और सद्गुरु की खोज में निकल पड़े। चेतन बाबा या चैतन्य स्वामी से भेंट होने पर उन्होंने उनसे दीक्षा ले ली। कालान्तर में चेतन स्वामी की आज्ञा पाकर वे अपने बाईस प्रमुख शिष्यों को लेकर पंजाब, काबुल, पेशावर, ग़ज़नी, कन्धार, दिल्ली, सूरत आदि स्थानों में भ्रमण करते हुए सत्य और धर्म के उच्चादर्शों का प्रचार करते रहे। आज भी उनके अनुयायी बड़ौदा, गुरुदासपुर आदि स्थानों में पाये जाते हैं। बड़ौदा में उनका एक मठ है जिसे 'बाबा लाल का शैल' कहते हैं। वैसे, इस सम्प्रदाय का प्रधान स्थान गुरुदासपुर का श्रीध्यानपुर गाँव है।

बाबा लाल तथा दारा का वार्त्तालाप 'असरारे-मार्फ़त' में संगृहीत है। 'नादिरुन्निकात' नामक ग्रन्थ में भी उनके विचारों का संग्रह हुआ है। उनके कुछ दोहे और पद भी प्रकाशित हुए हैं, किन्तु उनकी रचनाओं का कोई प्रामाणिक संग्रह अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। उनकी विचारधारा पर वेदान्त और सूफ़ी मत का प्रभाव है। वे विशुद्ध एकेश्वरवादी थे। उनके मत से ब्रह्म एक अपूर्व आनन्द-सागर है, जिसका प्रत्येक जीव एक बिन्दु के समान है। अहं-भावना जीव और ब्रह्म के भेद अथवा वियोग का कारण है, यह 'अहं' माया का पर्याय है। सन्त बाबा लाल की साधना बड़ी प्रभावशाली और मर्मस्पर्शी है। निम्नलिखित पंक्तियों में उनकी साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है :

आशा विषय विकार की, वध्या जा संसार ।
लख चौरासी फेर में, भरमत वारंवार ॥
जिह की आशा कछु नहीं, आतम राखे शून्य ।
तिहं को नहि कछु भर्मणा, लागे पाप न पून्य ॥
देहा भीतर श्वास है, श्वासे भीतर जीव ।
जीवे भीतर वासना, किस विधि पाइये पीव ॥

बाबा लाल की कविता उनके व्यक्तित्व के अनुरूप ही सरल और प्रभावशा गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण तथ्यों की अभिव्यंजना भी उन्होंने बड़े सरल शब्दों में की है।

सुन्दरदास : सन्त दादूदयाल के शिष्य सुन्दरदास (१५९६-१६८९) बड़े ही प्र सम्पन्न कवि और साधक थे। जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी धौंसा के परमानन्द ख वाल के यहाँ उनका जन्म हुआ था। छह वर्ष की अल्पायु में वे सन्त दादू के शिष्य हुए ग्यारह वर्ष की अवस्था में सन्त जगजीवन तथा सन्त रज्जब के साथ काशी की यात्रा वहाँ उन्होंने दीर्घकाल तक निवास किया और संस्कृत-व्याकरण, साहित्य तथा दर्शन का ग अध्ययन कर, समस्त विद्याओं में पारंगत होकर, १६२५ ई० में शेखावटी लौट आये। त फ़तहपुर में किसी गुफा में निवास कर बारह वर्ष तक उन्होंने योग-साधना की। देशाटन बहुत प्रिय था। भ्रमण करते हुए वे दादू के सिद्धान्तों का प्रचार करते थे और साथ-ही काव्य-रचना भी करते थे। रज्जब से उनका विशेष स्नेह था।

सुन्दरदास ने बयालीस ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'ज्ञानसमुद्र' और 'सुन्दरवि अधिक प्रसिद्ध हैं। पुरोहित हरिनारायण शर्मा द्वारा सम्पादित 'सुन्दर-ग्रन्थावली' (दो उनकी सभी रचनाओं का प्रामाणिक संकलन है। उनकी रचनाओं में भक्ति, योग-सा और नीति को प्रधान स्थान प्राप्त हुआ है। शृंगार रस की रचनाओं के वे कट्टर वि थे। केशव की 'रसिकप्रिया', नन्ददास की 'रसमंजरी' और सुन्दर कविराय-कृत 'सुन्दर शृं की निन्दा में उनका यह छन्द देखिए :

रसिक प्रिया रसमंजरी और सिंगारहिं जानि ।
चतुराई करि बहुत विधि बिषै बनाई आंनि ॥
बिषै बनाई आंनि लागत बिषयिन कौं प्यारी ।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहैं नख शिख नारी ॥
ज्यौं रोगी मिष्ठान पाइ रोगहि बिस्तारै ।
सुन्दर यह गति होइ जुतो रसिकप्रिया धारै ॥

इसके विपरीत भक्तिजनित आनन्द अतुलनीय हैं, जिसे उन्होंने निम्नलिखित शब्दों भावपूर्ण अभिव्यक्ति दी हैं :

है यह अति गम्भीर, उठति लहरि आनन्द की ।
मिष्ट सु याको नीर, सकल पदारथ मध्य हैं ॥

सन्त सुन्दरदास ने परिष्कृत ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। अलंकारों का सुनियो और छन्दों का शुद्ध तथा विविधतापूर्ण प्रयोग उनकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं, जो उन्हें सन्त कवियों से पृथक् एवं विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं।

अन्य सन्त कवि : भक्तिकाल में सन्त-काव्यधारा के विकास में शताधिक कवियों योगदान रहा, जिनमें उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त कुछ अन्य को भी पर्याप्त लोकप्रि प्राप्त हुई। इनमें धर्मदास, रज्जब, बावरी साहिबा, सदना, बेनी पीपा, सेन, धन्ना,

भृति सिक्ख गुरु, शेख फ़रीद, भीषन, वीरभान और निपट निरंजन स्वामी उल्लेखनीय हैं । न्त धर्मदास कबीर के प्रमुख शिष्य थे । कबीर-वाणी को 'बीजक' में संकलित करने का श्रेय न्हीं को प्राप्त है । कबीर की मृत्यु के अनन्तर उनकी गद्दी का उत्तराधिकार भी इन्हीं को मला था । इनकी भक्ति-भावना और विचारधारा कबीर से भिन्न नहीं है, किन्तु खण्डन-ण्डन की कटुता इनके यहाँ नहीं मिलती । लौकिक प्रपंच और माया के प्रभाव को नष्ट करने ये ब्रह्म की साधना को अनिवार्य मानते थे । यथा : "बरनौं मैं साहेब तुम्हरे चरना, संतन ख लायक दायक प्रभु दुख हरना ।" कबीर की तुलना में इनकी प्रतिपादन-शैली भी सरल ौर सुस्पष्ट है । इनकी रचनाएँ 'धनी धरमदास की बानी' में संकलित हैं । सन्त रज्जब १५६७-१६८९) की गणना दादूदयाल के प्रमुख शिष्यों में की जाती है । इनका पूरा नाम ज्जब अली खाँ था । गुरु के प्रति इनकी अनन्य श्रद्धा थी—दादूदयाल की समग्र रचनाओं ो 'अंगवधू' शीर्षक कृति में इन्होंने ही संकलित किया था । एक अन्य रचना 'सब्बंगी' में न्होंने अपनी रचनाओं के साथ अन्य प्रसिद्ध निर्गुण सन्त कवियों की वाणी का भी संकलन कया है । वैसे, इनकी रचनाएँ 'रज्जब-बानी' में संगृहीत हैं । साधना-पद्धति और विचार-निरूपण में इन पर दादूदयाल का व्यापक प्रभाव है । अपने मन्तव्यों को स्पष्ट करने के लिए न्होंने दृष्टान्त शैली का प्रचुर प्रयोग किया है । भाषा की व्यावहारिकता और छन्द सम्बन्धी विविधता इनकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं । इनकी विचारधारा का अनुमान निम्न-लिखित साखियों से सहज ही हो जाता है :

बारी बुद्धि माहै उदै, सफरी सबद समान ।
इह प्रकार बाणी विविध, समुझै साधु सुजान ॥
निर्मल पीवै प्रेम रस, पल पल पोसै पोषै प्राण ।
जन रज्जब छाक्या रहै, साधू सन्त सुजान ॥

सन्त-सम्प्रदायों में बावरी-पन्थ का विशेष महत्त्व है । बावरी साहिबा इसी पन्थ की मुख सन्त थीं । किंवदन्ती है कि ये उच्च कुल की महिला थीं । सत्यानुभूति और ब्रह्म की ाधना में इन्हें यत्र-तत्र बहुत भटकना पड़ा । बावरी साहिबा सम्राट् अकबर की समसामयिक ीं । इनका समय १५४२-१६०५ ई० के लगभग माना जाना चाहिए । इनकी साधना-पद्धति, यक्तिगत जीवनी और काव्य के विषय में कोई विशेष सूचना प्राप्त नहीं होती । तथापि इनके ाव्य के जो दो-एक उदाहरण उपलब्ध हैं उनसे इनकी भावुकता और कवित्व-प्रतिभा में न्देह नहीं रह जाता । एक सवैया देखिए :

बावरी रावरी का कहिये, मन ह्वै के पतंग भरै नित भांवरी ।
भांवरी जानहि संत सुजान, जिन्हें हरिरूप हिये दरसावरी ॥
सांवरी सूरत मोहनी मूरत, दै करि ज्ञान अनंत लखावरी ।
खांवरी सोह तेहारी प्रभु, गति रावरी देखि भई मति बावरी ॥

सन्त सदना निष्ठावान् भक्त और साधक थे तथा चौदहवीं शताब्दी के मध्य में विद्य-ान थे । इनकी पदावली काल-प्रवाह में लुप्त हो चुकी है । 'आदिग्रन्थ' में संकलित इनके एक द के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि साध्य के प्रति इनके मन में अनन्य समर्पण-भावना थी । सदना की भाँति सन्त बेनी का जीवन-विवरण भी अप्राप्य है । अनुमान कि ये पन्द्रहवीं शताब्दी में विद्यमान रहे होंगे । 'आदिग्रन्थ' में इनके तीन पद संकलित हैं जिनसे स्पष्ट है कि ये साधना-मार्ग की दुरूहता, अध्यात्म की सूक्ष्मता और हठयोग की प्रक्रियाओं से भलीभाँति परिचित थे । मूर्तिपूजा, बाह्याचार और आडम्बरों की इन्होंने कटु

आलोचना की है। **सन्त पीपा** का जन्म-मृत्यु-काल भी अनिर्णीत है। तथापि यह निश्चि ये पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में विद्यमान थे। ये खीची-वंश के राजपूत गृहस्थ थे और स्वामी रामानन्द से दीक्षा ली थी। सदना और बेनी की भाँति इनकी रचनाएँ अनुपलब्ध हैं। **सन्त सेन** जाति के नाई थे। प्रो० रानाडे ने उनका समय १४५० ई० के निर्धारित किया है। ये स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। नाभादास ने 'भक्तमाल' निष्ठा और साधना की प्रशंसा की है, किन्तु अधिकांश सन्तों की भाँति इनकी रच सुलभ नहीं हैं—'आदिग्रन्थ' में इनका केवल एक पद संकलित है। **सन्त धन्ना** का आवि काल १४१५ ई० निर्धारित किया गया है। 'भक्तमाल' में इनका उल्लेख उच्च साधक के रूप में हुआ है। ये जाति के जाट थे और बाल्यावस्था से ही भगवान् में थे। इन्होंने भी स्वामी आत्मानन्द से दीक्षा ली थी। 'आदिग्रन्थ' में इनके चार पद हैं जिनमें निर्गुण-साधना पर बल देते हुए बाह्याचारों की निन्दा की गई है।

गुरु नानक की भाँति पंजाब के कुछ अन्य सिक्ख गुरुओं ने भी सन्त-काव्य की की है। ये हैं—अंगद, अमरदास, रामदास और अर्जुनदेव। **गुरु अंगद** (१५०४-१५ मध्यकालीन पंजाबी भाषा में काव्य-रचना की है, किन्तु उनकी भाषा ब्रजभाषा के है। उनकी विचारधारा और रचना-शैली गुरु नानक से प्रभावित है। वैसे भी, उन्हें देव की रचनाओं को एकत्र करने का श्रेय प्राप्त है। अंगद ने सरल, सरस और परि भाषा में गेय पदों की रचना की है और यथास्थान अलंकारों का सहज सन्निवेश किया है **अमरदास** (१४७९-१५७४) की रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिव' में संगृहीत हैं। वे भ्रमणशील थे और उन्होंने भक्ति-भाव और जन-कल्याण की प्रेरणा से पद-रचना की थी। मार्मिक योजना, शैलीगत मधुरता, भाषा की सरलता और आलंकारिकता उनकी मुख्य रचना- हैं। **गुरु रामदास** की रचनाएँ 'ग्रन्थ साहिब' में संकलित हैं। उनके पदों में सरसता, त्मकता और कान्ता-भाव की भक्ति का अच्छा निदर्शन मिलता है। उनके पद सरल और पंजाबी में रचित हैं तथा रूपक, विरोधाभास और उपमेयोपमा अलंकारों के प्र उनकी अधिक प्रवृत्ति रही है। **गुरु अर्जुनदेव** (१५६३-१६०६) निष्ठावान् साधक और धर्म-प्रचारक होने के साथ ही अच्छे कवि भी थे। उनकी रचनाओं में 'सुखमनी', 'बावन और 'बारहमासा' विशेष प्रसिद्ध हैं। 'ग्रन्थ साहिव' में उनके ६००० पद संकलित हैं, रचना विभिन्न राग-रागिनियों में हुई है। उनकी रचनाओं में शान्त रस की प्रधानता है उन्होंने ब्रजभाषा में अपने भावों को कुशलतापूर्वक आलंकारिक अभिव्यक्ति प्रदान की है

पंजाब के सन्त कवियों में **शेख फ़रीद** का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका काल अनुमानतः १४७२-१५५२ ई० निर्धारित किया गया है। ये गुरु नानक के सम थे और इनके जीवन-दर्शन, साधनात्मक आदर्शों तथा साधना-पद्धति का प्रभाव सम्पूर्ण पर पड़ा। अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को इन्होंने पंजाबी, हिन्दी तथा फ़ारसी भा में व्यक्त किया। 'आदिग्रन्थ' में इनके चार पद संकलित हैं। **सन्त भीखन** के आविर्भाव शिक्षा-दीक्षा आदि के विषय में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। 'आदिग्रन्थ' में दो पद संगृहीत हैं, जिससे उनका सोलहवीं शताब्दी में विद्यमान होना सिद्ध होता है। पदों में कवि के दैन्य, आत्मसमर्पण और भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ लिखित काव्यांश देखिए :

हरि का नामु अमृत जलु निरमल इहु अउखध जगि सारा।
गुरु परसादि कहै जनु भीखनु पावउ मोख दुवारा॥

सन्त वीरभान की जीवनी के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। ुमानतः ये १५३०-१५६० के मध्य अवश्य विद्यमान थे। ये उदयदास के शिष्य थे और साध-म्प्रदाय में दीक्षित थे। इनकी उपदेशात्मक रचनाएँ 'बानी' शीर्षक ग्रन्थ में समुपलब्ध हैं। ध-सम्प्रदाय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'निर्वान ग्यान' में सम्प्रदाय के अन्य सन्तों के साथ वीरभान की चनाएँ भी संगृहीत हैं। इसी प्रकार प्रिथीलाल साध के संग्रह-ग्रन्थ 'साध-पन्थ' में भी इनकी चनाओं को स्थान दिया गया है। वीरभान की साधना-पद्धति कबीर-दर्शन से वहुत अंशों में भावित है। इन्होंने नाम-जप पर बल दिया है, इन्द्रिय-संयम को साधना का अंग माना है र मूर्तिपूजा आदि वाह्याचारों का निषेध किया है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त निपट निरंजन स्वामी का उल्लेख भी पेक्षित है। शिवसिंह सेंगर के मत से निपट निरंजन स्वामी गोस्वामी तुलसीदास के सम-ालीन थे और इन्होंने 'शान्त सरसी' तथा 'निरंजन-संग्रह' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। ॉ० रामकुमार वर्मा के अनुसार इनका जन्म १५३९ ई० में हुआ था। कहा जाता है कि ये ड़ ब्राह्मण थे और दौलतावाद के निवासी थे। ये अधिकतर काशी में रहते थे और निर्भीक था स्पष्टवादी व्यक्ति थे। निपट निरंजन न केवल उच्च कोटि के विचारक थे, वरन् अच्छे वि भी थे। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। इनकी काव्याभिव्यक्ति का रूप इनके यक्तित्व के अनुकूल ही वड़ा सरल और सुन्दर है।

सन्त-काव्य : सामान्य प्रवृत्तियाँ

सन्त-काव्य देश की राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों के फलस्वरूप वरचित भावनात्मक एवं अनुभूतिप्रवण जन-काव्य है। इसका प्रेरणा-स्रोत था—सामान्य ानव का हित-साधन। फलस्वरूप समाज में लिप्त न होकर भी सन्त कवियों ने समाज-ल्याण का मार्ग अपनाया और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शोषित और प्रताड़ित मानव की मस्त प्रवृत्तियों, परिस्थितियों तथा भावनाओं का गम्भीर विचारयुक्त यथातथ्य चित्रण िया। इस प्रकार सन्त-साहित्य आध्यात्मिक अनुभूतियों का लेखा-जोखा-मात्र नहीं है, उसमें त्कालीन जन-जीवन का प्रतिविम्ब भी विद्यमान है। धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक-ांस्कृतिक परम्पराओं का अन्धानुसरण न कर इन्होंने वर्णाश्रम-व्यवस्था के विरोध, क्रोध-ोभ-मोह-हिंसा आदि की निन्दा, सदाचारादि गुणों की प्रतिष्ठा, शास्त्रीय ज्ञान की अनिवार्यता निषेध, आत्मानुभूति की प्रामाणिकता आदि पर बल दिया। इस प्रकार सन्त-काव्य साधना तत्पर एवं सर्वजन की मंगलकामना करनेवाले भक्तों के सरल हृदयों की सहज अनुभूति ा चित्रण-मात्र है। यह वह प्रकाश-स्तम्भ है जो निराशा, वासना, प्रतिशोध और प्रति-िंसा के अन्धकार में भटकते हुए मानव-समाज को शताब्दियों से प्रकाश दे रहा है और विष्य में भी मार्ग प्रदर्शित करता रहेगा। यह साहित्य अपनी सरलता, जीवन-दर्शन की म्भीरता और तत्त्ववोध के कारण अत्यन्त प्रभावशाली है। इसकी रचना समाज के निम्न थवा सामान्य वर्ग के कवियों ने की है, जो साहित्य के अध्ययन के स्थान पर आत्मानुभव ो प्रधानता देते थे। सन्त-काव्य का लक्ष्य था—सामान्य अशिक्षित जनता में सत्य का िरूपण करना, करनी-कथनी में तारतम्य पर बल देना तथा 'नाम' के माधुर्य को जनता क पहुँचाना। सन्त कवि दरिया साहब के कथन—'सकल कवित का अर्थ है सकल बात ी वात, दरिया सुमिरन राम का कर लीजे दिन रात', तथा कबीर के अभिमत—'पण्डित ौर मसालची दोनों सूझै नाहिं, औरन को करै चाँदना आप अँधेरे माँहि' पर गम्भीरता-

पूर्वक विचार कर लेने के अनन्तर इस काव्य के सम्बन्ध में कहने के लिए कुछ भी शे रह जाता । उदात्त अनुभूति की सरल एवं हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति इस काव्य की विशेषता है । कबीरदास से लेकर सन्त-काव्यधारा के अन्तिम कवि तक की काव्य समाज-दृष्टि और चिन्तन-दृष्टि में अद्भुत साम्य है ।

रस : निर्गुणोपासक सन्त कवियों ने काव्य और उसके अवयवों को काव्य दृष्टि से नहीं देखा; और यदि इस सम्बन्ध में उनके यहाँ कुछ विचार-संकेत मिलते तो भी काव्य की आत्मा, साधारणीकरण, रस-निष्पत्ति आदि की न तो उन्होंने चिन्ता और न ही स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावों की समन्वित अनुभूति वे सचेत रहे हैं । किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके काव्य का रस की अनुशीलन ही नहीं किया जा सकता । वस्तुतः काव्य के माध्यम से उन्होंने अपनी को जनता तक पहुँचाने का प्रयास किया है, फलस्वरूप रस की सबसे महत्त्वपूर्ण 'साधारणीकरण' सन्त-काव्य में विद्यमान है । सन्तों ने अधिकतर साखियों, सवैयों पदों की रचना की है । इस कोटि के मुक्तकों में जिस सीमा तक रस-सृष्टि सम्भव हो है, वह निर्गुण काव्यधारा में विद्यमान है । कबीरदास, दादूदयाल और सुन्दरदास की रचनाओं में रस की सम्यक् सृष्टि हुई है । दाम्पत्य प्रतीकों के माध्यम से अ भावनाओं में संयोग एवं वियोग शृंगार के सुन्दर उदाहरण मिलते हैं । इसी प्रकार रस का परिपाक 'चेतावनी' एवं 'उपदेश-प्रकरण' में उपलब्ध होता है । ब्रह्म की कल्पना के वर्णन में अद्भुत रस का अच्छा परिपाक हुआ है । वीर रस का वर्णन कौ अंग' में हुआ है । व्यंग्य एवं हास्य रस के सुन्दर उदाहरण कर्मकाण्ड और परम की आलोचना में सुलभ हैं । प्रेतादि के वर्णन तथा शरीर की क्षणभंगुरता के निरू बीभत्स रस के अच्छे उदाहरण उपलब्ध होते हैं । उपर्युक्त समस्त प्रसंगों में सन्त तीव्रानुभूति दर्शनीय है । समन्वित रूप में यह कहा जा सकता है कि सन्त-काव्य में रूप से तो शान्त रस की अबाध धारा प्रवाहित है और उसके अनन्तर शृंगार रस स्थिति उल्लेखनीय है ।

भाषा : सन्त-काव्य की भाषा जनसामान्य की भाषा है । वस्तुतः तत्कालीन प के अनुरूप सन्त-वाणी की रचना मुख्यतः जनता के अशिक्षित, उपेक्षित और पिछड़े हुए के लिए हुई थी । अतः सन्तों की भाषा आवश्यकतानुसार सरल, कृत्रिमताविहीन और है । सन्त जन भ्रमणशील प्राणी थे, अतः उनकी रचनाओं में उन विभिन्न प्रदेशों की बो के शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं, जहाँ उन्होंने भ्रमण किया था । सामान्यतया सन्त-मत का वि उत्तरप्रदेश, पंजाब तथा राजस्थान में हुआ, फलतः सन्त-काव्य में ब्रजभाषा, अवधी, पुरी, पंजाबी तथा राजस्थानी का अधिक प्रयोग मिलता है ।

अलंकार : सन्तों ने अपनी वाणी को काव्यांगों के प्रति सचेत होकर व्यक्त नहीं फलस्वरूप उनकी रचनाओं में अलंकारों का सप्रयोजन प्रयोग लक्षित नहीं होता । फिर आत्माभिव्यक्ति तथा विचार-निरूपण के सन्दर्भ में उनकी कविता में निम्नलिखित अलं का प्रयोग हुआ है : रूपक, उपमा, दृष्टान्त, तद्गुण, अतद्गुण, स्वभावोक्ति, सहो अत्युक्ति, विशेषोक्ति, समासोक्ति, भेदकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, विनोक्ति, वक्रोक्ति, लोको उल्लास, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, तुल्ययोगिता, अनन्वय, उदात्त, विरोधाभास, उदा

---

१. देखिए 'भक्तिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धान्त', डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, पृष्ठ ३२-९०

विभावना, असंगति, अवज्ञा, पर्याय, सम, विषम, विचित्र, काव्यलिंग, एकावली, सार, श्लेष, यमक, अनुप्रास, वीप्सा, आद्याक्षरी, मध्याक्षरी, अन्तर्लापिका, बहिर्लापिका आदि। इन अलंकारों का प्रयोग सन्त-काव्यधारा में बारम्बार हुआ है, परन्तु सन्तों की चित्तवृत्ति रूपक, उपमा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक और अनुप्रास में अधिक रमी है। सन्तों के रूपक जीवन की सामान्य प्रवृत्तियों एवं घटनाओं पर आधारित हैं। इन रूपकों की रचना का उद्देश्य है—आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में विशिष्ट परिस्थितियों की गूढ़ व्यंजना। सन्तों के रूपक बड़े यथार्थ और प्रभावशाली हैं। उनकी प्रतीक-योजना भी परम्परागत प्रतीकों से पृथक् है। ये प्रतीक जनसामान्य में प्रचलित और परिचित हैं तथा ये दो प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे प्रतीक आते हैं जो विशिष्ट शब्दों की विशिष्ट व्यंजना के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—इस वर्ग के अर्थ-रूपक बड़े ही तत्त्वपूर्ण हैं। दूसरे प्रकार के प्रतीक हैं—उलटवाँसियाँ अथवा अर्थ-विपर्यय रूपक। सन्त कवियों ने उलटवाँसियों की रचना अनेक दृष्टिकोणों से प्रेरित होकर की है। इनके माध्यम से उनका प्रमुख लक्ष्य था—अपनी आध्यात्मिक मान्यताओं की प्रस्थापना करना। इसके अतिरिक्त विशिष्ट चिन्तन के आधार पर प्राप्त तत्त्व-ज्ञान को विशिष्ट अधिकारी व्यक्तियों तक पहुँचाने के लिए भी सन्तों ने अर्थ-विपर्यय रूपकों का प्रयोग किया। जनसामान्य के कौतूहल और जिज्ञासा को जाग्रत करने के लिए भी उलटवाँसियों की रचना सन्त-काव्य में हुई है।

छन्द : सन्तों में सुन्दरदास के अतिरिक्त प्रायः सभी कवि छन्दों के स्वरूप और महत्त्व से सर्वथा अपरिचित थे। इन कवियों में जन्मजात अथवा प्रकृति-प्रदत्त काव्य-प्रतिभा थी। अपनी अनुभूति, ज्ञान तथा परम्परा से प्राप्त तत्त्व को चिरस्मरणीय तथा प्रेषणीय बनाने के लिए ही इन्होंने अपनी भवनाओं को छन्दोवद्ध किया। इस प्रकार छन्द इनके लिए साधन है, साध्य नहीं। अपने विचारों की अभिव्यक्ति इन्होंने मुख्यतः साखी और 'सबद' के माध्यम से की है—साखियों की रचना दोहा छन्द में हुई है और 'सवद' से तात्पर्य गेय पदों से है। सुन्दरदास सवैया की रचना करने में सिद्धहस्त थे। चौपाई, कवित्त, हंसपद आदि छन्दों का भी सन्त-काव्य में प्रयोग हुआ है। वैसे, सन्त कवियों का ध्यान छन्दों की ओर कम गया है; इसीलिए छन्दों की शुद्धता कहीं-कहीं पर सन्दिग्ध है। परन्तु सन्त सुन्दरदास इस निष्कर्ष के अपवाद हैं।

युगवोध : सन्तों का व्यक्तित्व सच्चे अर्थों में संवेदनशील था। उनका मानस स्वच्छ और उदार था। इसलिए उनका साहित्य जन-भावनाओं की सहज प्रवृत्तियों, परिस्थितियों, विकृतियों और विडम्बनाओं का विशाल शब्दचित्र है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने तत्कालीन समाज का यथार्थ चित्र अंकित किया है। सन्त-काव्य आत्मविश्वास, आशावाद और आस्था की भावना संस्थापित करने में सहायक साहित्य है। यह जीवन-शक्ति का अजस्र स्रोत है। इस काव्य का प्रमुख प्रयोजन है—त्रस्त, सन्तप्त, उपेक्षित, उत्पीड़ित मानव को परिज्ञान प्रदान करना। इसमें जीवन का स्वरूप-विश्लेषण और व्याख्या उपलब्ध होती है। संक्षेप में, निर्गुण-काव्य आचरण की पवित्रता का सन्देश लेकर जनता के समक्ष आया। उसमें युगबोध एवं युग-चेतना का व्यापक स्वरूप प्रतिफलित है। मध्य युग की सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं का सन्त-काव्य में स्वाभाविक चित्रण हुआ है। वस्तुतः सन्तों ने अपने समय के मानव-समाज को दोष-मुक्त कर परिष्कृत बनाने की चेष्टा की है। उनकी रचनाओं में मानव की क्षुद्रता, सीमाओं, स्वार्थपरता, असत्यप्रियता, संकीर्णता, अर्थ-लोलुपता, कामुकता आदि का चित्रण, विवेचन और विश्लेषण हुआ है। इसी प्रकार सामाजिक

असंगतियों, धार्मिक विडम्बनाओं, बहुदेवोपासना, मूर्तिभंजन आदि समस्याओं की अभि और उनका निदान भी सन्त-काव्य में मिलता है। इसमें सन्देह नहीं है कि सन्त कवि समय के समाज के सच्चे प्रहरी थे। नानक की रचनाओं में तो बाबर के आक्रमण-का भारत की राजनीतिक अस्थिरता का वर्णन भी मिलता है। सन्त कवियों ने जीवनदा शक्तियों की ओर जनसामान्य का ध्यान आकर्षित किया और समाज को सशक्त, नि एवं कल्याणकारी मार्ग पर अग्रसर करने की चेष्टा की।

जनमानस के सन्ताप को दूर करनेवाली सन्तों की पीयूषवर्षी वाणी का कालीन समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इतिहास में ऐसे उदाहरण विद्यमान हैं जबकि विशेष के कृतित्व, व्यक्तित्व और उपदेशों से प्रभावित होकर शासक-वर्ग स्वयं उनके उपस्थित हुआ अथवा उन्हें ससम्मान आमन्त्रित किया गया। कबीरदास और नानक प्रमुख सन्तों ने ही नहीं, उनके अनुयायियों ने भी अपने-अपने समय की जनता को प्र किया। सन्तों के व्यक्तित्व का प्रभाव हिन्दुओं तथा मुसलमानों पर समान रूप से और उन्होंने अपनी 'बानियों' से आनेवाली पीढ़ियों को अजस्र प्रेरणा प्रदान की। यहाँ कि अनास्था से पीड़ित इस बीसवीं शताब्दी के सबसे महान् नेता युगपुरुष महात्मा गांधी कबीरदास के जीवन-सिद्धान्तों और आध्यात्मिक मान्यताओं से प्रभावित हैं। सन्तों व्यक्तित्व, कृतित्व और साधना के प्रभाव का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होगा!

प्रेमाख्यान-काव्य

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल के आरम्भ से पूर्व ही एक ऐसी काव्य-परम्परा का प्रवर्तन हो था, जिसे विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है, यथा—'प्रेममार्गी (सूफ़ी) शा 'प्रेम-काव्य', 'प्रेमकथानक-काव्य', 'प्रेमाख्यान-काव्य', 'सूफ़ी-काव्य' आदि। वस्तुतः ये नाम तथ्य के द्योतक हैं कि इस परम्परा के काव्य-ग्रंथों में प्रेम-तत्त्व की प्रमुखता है, किन्तु इ 'प्रेम-तत्त्व' परम्परागत भारतीय शृंगार-भावना से थोड़ा भिन्न है। जहाँ सामान्यतः शृं रसात्मक काव्यों में विवाह, दाम्पत्य एवं सामाजिक जीवन की मर्यादाओं को स्वीकार क चलने वाले गार्हस्थिक प्रेम का निरूपण होता रहा है, वहाँ इनमें शुद्ध स्वच्छन्दतापूर्ण दृष्टि सौन्दर्य-भावना, साहसपूर्ण क्रिया-कलाप एवं समाज-विमुख प्रणय-भावना का चित्रण हुआ इसीलिए इस विशिष्टता को प्रारम्भ में फ़ारसी-प्रभाव या सूफ़ी-प्रभाव की देन के रू स्वीकार करते हुए इनकी प्रेम-पद्धति को अभारतीय घोषित कर दिया गया। किन्तु अब ज्यों हिन्दी में शोध-कार्य की प्रगति होती जा रही है त्यों-त्यों यह स्पष्ट होता जा रहा है स्वच्छन्दता, सौन्दर्य, साहस, कल्पना आदि से मिश्रित प्रणय-भावना किसी भाषा-विशेष, विशेष या सम्प्रदाय-विशेष की विशेषता न होकर एक ऐसी सार्वजनीन प्रवृत्ति है जो भाषा और हर देश के साहित्य में समय-समय पर परिस्थितियों के प्रभाव से उन्मीलित है रही है। इस प्रवृत्ति को विश्व-साहित्य के सन्दर्भ में 'रोमान्स' अर्थात् स्वच्छन्द प्रेम गया है। जब कोई भी समाज परम्पराओं, रूढ़ियों व मर्यादाओं से अत्यधिक जकड़ जाता तो उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप स्वच्छन्दता व उच्छृंखलता का उन्मीलित होना स्वाभाविक इसी के प्रतिबिम्ब-स्वरूप विभिन्न भाषाओं के साहित्य में समय-समय पर स्वच्छन्द प्रेम प्रवृत्तियों का चित्रण होता रहा है, यह दूसरी बात है कि देश-काल की परिस्थितियों के से इसकी विषय-वस्तु एवं शैली में थोड़ा-बहुत अन्तर यत्र-तत्र दृष्टिगोचर हो। हिन्दी

कालीन प्रेमाख्यानों को भी विश्व के इसी रोमान्स-साहित्य की एक भाग या शाखा के में ग्रहण करना चाहिए।

प्रेमाख्यान-काव्य : उद्गम-स्रोत तथा पूर्व-परम्परा

हिन्दी-साहित्य के प्रारम्भिक इतिहासकारों व आलोचकों ने प्रेमाख्यानों के प्रेम-तत्त्व वं काव्य-रूप को भारतीय महाकाव्यों में चित्रित गार्हस्थिक प्रेम की कसौटी पर कसते हुए न्हें विदेशी परम्पराओं पर आधारित घोषित किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार रतीय प्रेम-पद्धति का आदर्श राम-सीता के विवाहोत्तर प्रेम में ही मिलता है; जबकि माख्यानों में विवाह-पूर्व समाज-निरपेक्ष स्वच्छन्द प्रेम का निरूपण हुआ है: अतः इसे रतीय प्रेम-पद्धति के अनुकूल स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम 'रामायण' में त्रित दाम्पत्य भावना के अतिरिक्त अन्य भारतीय काव्यों में वर्णित प्रेम के स्वरूप पर चार करें तो अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे जिनमें स्वच्छन्द प्रेम या रोमान्स का चित्रण ष्ट रूप में हुआ है, यथा—'ऋग्वेद' के उर्वशी-पुरुरवा प्रेमाख्यान में, 'महाभारत' के नल-मयन्ती, तप्ता-संवरण प्रकरणों में तथा पौराणिक साहित्य के उषा-अनिरुद्ध, प्रभावती-द्युम्न, कृष्ण-राधा आदि आख्यानों में ऐसे ही प्रेम का निरूपण हुआ है जो विवाह की र्यादाओं की अपेक्षा चित्र-दर्शन या स्वप्न-दर्शन-जन्य सौन्दर्यानुभूति से अधिक प्रेरित है था जिसमें नायिका की प्राप्ति के लिए नायक को भारी संघर्ष या युद्ध करना पड़ता है। स्तुतः स्वच्छन्द प्रेम की यही परम्परा संस्कृत के गद्यात्मक रोमान्स-काव्य (वासवदत्ता, दम्बरी, दशकुमारचरित आदि) तथा प्राकृत-अपभ्रंश के कथा-काव्य में विकसित होती हुई धुनिक भारतीय भाषाओं तक पहुँची है। नवीं शती में रुद्रट ने तो 'कथा-काव्य' का लक्षण यह निर्धारित कर दिया है कि उसमें नायिका की प्राप्ति के लिए संघर्ष एवं प्रेम का ही त्रण मुख्यतः होता है तथा वह पद्य एवं गद्य में से किसी में भी लिखा जा सकता है। अस्तु, समें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय संस्कृति एवं साहित्य में जहाँ सीता-राम के गार्हस्थिक म्पत्य भाव की परम्परा मिलती है, वहाँ उसके साथ-साथ स्वच्छन्द व साहसिक प्रेम (रोमान्स) भी एक अन्य परम्परा 'ऋग्वेद' से लेकर मध्ययुगीन साहित्य तक बराबर मिलती है—म यदि भारतीय आदर्शवाद की चरम सीमा के प्रतिनिधि हैं, तो कृष्ण उस स्वच्छन्दतावाद प्रवर्तक हैं जो परम्परा और रूढ़ि की अपेक्षा भावना को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। सी स्थिति में हमें दोनों ही परम्पराओं को भारतीय संस्कृति की दो भिन्न स्थितियों व वस्थाओं की द्योतक मानना होगा जबकि आचार्य शुक्ल के अनुसार भारतीयता का प्रति-निधित्व एकमात्र राम की ही परम्परा करती है। अपने इसी दृष्टिकोण के कारण वे न वल प्रेमाख्यान-परम्परा को विदेशी घोषित कर देते हैं, अपितु कृष्ण-चरित से लेकर नल-मयन्ती तक के प्रेम-निरूपण को भी अभारतीय सिद्ध कर देते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने जो र्क दिया है वह भी विचित्र है। उन्होंने लिखा है: "राम के समुद्र में पुल बाँधने और रावण-से प्रचण्ड शत्रु को मार गिराने को हम केवल एक प्रेमी के प्रयत्न के रूप में नहीं देखते, रधर्मानुसार पृथ्वी का भार उतारने के प्रयत्न के रूप में देखते हैं। पीछे कृष्ण-चरित, दम्बरी, नैषध चरित, माधवानल कामकन्दला आदि ऐकान्तिक प्रेम-कहानियों का भी रतीय साहित्य में प्रचुर प्रचार हुआ है। ये कहानियाँ अरब-फ़ारस की प्रेम-पद्धति के अधिक ल में थीं। नल-दमयन्ती की प्रेम-कहानी का अनुवाद बहुत पहले फ़ारसी क्या, अरबी तक

में हुआ ।[1] वस्तुतः नल-दमयन्ती उपाख्यान का फ़ारसी में अनुवाद फ़ारसी-साहित्य पर दमयन्ती का प्रभाव सूचित करता है, न कि भारतीय साहित्य पर फ़ारसी का ।

हिन्दी की प्रेमाख्यान-परम्परा को फ़ारसी-मसनवियों से प्रेरित एवं उन्हीं के से अनुप्राणित सिद्ध करने के लिए उपर्युक्त तर्क के अतिरिक्त और भी कई युक्तियाँ शुक्ल के द्वारा प्रस्तुत की गयी हैं, जो संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(क) फ़ारसी-मसनवियों की भाँति हिन्दी-प्रेमाख्यानों में भी प्रेम का चित्रण ऐका लोक-बाह्य और आदर्शात्मक है तथा नायिका की अपेक्षा नायक के विरह को अधिक दिया गया है ।

(ख) मसनवियों में कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्त नहीं होती, सारा काव्य ही छन्द में होता है । कथा का आरम्भ ईश्वर-स्तुति, पैग़म्बर की वन्दना और उस स राजा की प्रशंसा के साथ होता है ।

(ग) ये प्रेम-कहानियाँ (प्रेमाख्यान) मुसलमानों के द्वारा ही लिखी गयी हैं।

उपर्युक्त युक्तियों पर क्रमशः विचार करते हुए कहा जा सकता है कि ऐका लोक-बाह्य आदर्श प्रेम के निरूपण की एक सशक्त परम्परा भारतीय साहित्य में भी प्रा काल से मिलती है । जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, 'ऋग्वेद' के उर्वशी-पुरुरवा आ से लेकर अपभ्रंश के चरित काव्यों तक स्वच्छन्द प्रेम-निरूपण की एक विच्छिन्न धारा मिलती है । प्राकृत की 'बृहत्कथा' से उद्धृत प्रेम-कहानियों तथा क्षेमेन्द्र के 'कथा-सरि की शताधिक प्रेम-कथाओं में सर्वत्र उसी ऐकान्तिक व लोक-बाह्य प्रेम का चित्रण होता है जो कि प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानों में उपलब्ध है । उनमें प्राय की उत्पत्ति सौन्दर्य-प्रेरणा से होती है तथा वह वर्ण, जाति, कुल और समाज की मर्यादा उल्लंघन करते हुए एवं नायिका के पिता, भाई या संरक्षक के विरोध का सामना हुए दाम्पत्य में परिणत होता है । रही बात भारतीय नायकों में नायिका से अधिक व्याप्त न होने की—सो यह भ्रान्ति कदाचित् रीतिकालीन काव्य के अध्ययन से ही हुई होगी, अन्यथा भारतीय प्रेम-काव्यों की परम्परा में सदा से ही नायक नायिका से भावुक रहा है । 'ऋग्वेद' का पुरुरवा उर्वशी के विरह में पागलों की भाँति प्रलाप कर उससे प्रेम-याचना करता है जबकि उर्वशी निष्ठुरतापूर्वक उसे ठुकराकर चली जाती है, दास का विरही यक्ष आषाढ़ की प्रथम बौछार में ही उन्मत्त होकर प्रकृत-अप्रकृत का भूल जाता है, 'कादम्बरी' का नायक विरह की प्रथम आँच में ही पिघलकर अपने प्राण देता है जबकि उसकी नायिका उसके तीन जन्मों तक जीवित रहती है; तथा यही बात कुमारचरित', 'कथा-सरित्सागर' एवं प्राकृत-अपभ्रंश के कथा-काव्यों के शताधिक नायक लागू होती है; वे निश्चय ही नायिका से अधिक विरह-कातर हैं । अस्तु, लगता है शुक्ल जी ने भारतीय नायक-नायिका की कसौटी के रूप में एकमात्र मर्यादा पुरुषोत्तम रा ही ग्रहण किया है, किन्तु यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो 'रामायण' में भी की अपेक्षा राम का ही विरह अधिक व्यापक दृष्टिगोचर होगा । ऐसी स्थिति में भा नायकों को विरह-प्रूफ़ घोषित करना कहाँ तक उचित है !

यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो स्पष्ट होगा कि हिन्दी के प्रेमाख्यानों की प्रेम स प्रवृत्तियों में फ़ारसी-मसनवियों में चित्रित प्रेम के स्वरूप से गहरा अन्तर है । फ़ारसी के

---

[1] जायसी-ग्रन्थावली, भूमिका, पृष्ठ २९-३०

ख्यानों में नायक-नायिका बचपन से ही एक-दूसरे से परिचित होते हैं, उनमें प्रेम का उद्भव प्रथम दर्शन से नहीं, और न ही स्वप्न-दर्शन और चित्र-दर्शन से होता है; अपितु बाल्यकाल के साहचर्य के कारण क्रमशः होता है। यथा—लैला मजनूं की सहपाठिनी थी तथा शीरीं भी फ़रहाद को अपने पिता के शिल्पी के रूप में बाल्यकाल से जानती थी। दूसरे, फ़ारसी की मसनवियों में नायक-नायिका के प्रणय के मध्य प्रतिनायक बाधा बनता है जबकि भारतीय प्रेमाख्यानों में नायिका का पिता, भाई या संरक्षक बाधा डालता है। तीसरे, फ़ारसी-मसनवियों में नायिका का विवाह प्रतिनायक से हो जाता है और नायक आत्महत्या कर लेता है, जबकि भारतीय प्रेमाख्यानों में किसी दैवी शक्ति की सहायता से नायक नायिका की प्राप्ति में सफल हो जाता है। संस्कृत, प्राकृत व अपभ्रंश के प्रेमाख्यानों की और भी कई प्रवृत्तियाँ हिन्दी के प्रेमाख्यानों में ज्यों-की-त्यों मिलती हैं, जैसे नायक-नायिका के बीच शुक, हंस आदि के द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान; नायिका का अनार्य, राक्षस, असुर, नाग आदि हीन वंश से सम्बन्धित होना; नायिका की प्राप्ति के लिए नायिका के पिता से नायक का संघर्ष; शिव-पार्वती की या अन्य किसी प्रकार की दैवी सहायता से नायक को सफलता प्राप्त होना। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हिन्दी के प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेम का स्वरूप, पद्धति एवं उसकी प्रवृत्तियाँ फ़ारसी-मसनवियों के प्रतिकूल तथा पूर्व-रचित भारतीय प्रेमाख्यानों के अनुकूल हैं।

जहाँ तक शैलीगत प्रवृत्तियों की बात है—कथा का सर्गों या अध्यायों में विभक्त न होना, कथा के आरम्भ में ईश्वर-स्तुति एवं गुरु वंदना, कवि द्वारा आत्म-परिचय देना आदि प्रवृत्तियों का उल्लेख भामह एवं रुद्रट द्वारा 'कथा-काव्य' के लक्षणों के रूप में उस समय हो चुका था जबकि फ़ारसी में अभी तक पहली मसनवी की भी रचना नहीं हुई थी। इन लक्षणों का पालन कौतूहल कवि के 'लीलावती' प्रेमाख्यान में तथा अपभ्रंश के आख्यानों में पूरी तरह हुआ है। अपभ्रंश के 'सुदर्शन-चरित' तथा अन्य आख्यानों में कवि ने समकालीन राजा की भी प्रशंसा की है। जहाँ तक छन्द-योजना की बात है, हिन्दी के प्रेमाख्यानों में मसनवियों की भाँति सर्वत्र एक ही छन्द का प्रयोग नहीं मिलता, अपितु कम-से-कम दो छन्दों—दोहा और चौपाई—का प्रयोग मिलता है। वस्तुतः चौपाइयों के बीच-बीच में दोहा-जैसे दो पंक्तियों के छन्द का घत्ता देकर प्रबन्ध लिखने की परम्परा का सूत्रपात अपभ्रंश के प्रथम प्रबन्धकार स्वयम्भू द्वारा हुआ था, जिसका निर्वाह आगे चलकर पुष्पदन्त, धनपाल, नयनन्दी, कनकामर आदि आख्यान-रचयिताओं द्वारा हुआ है; अतः दोहा-चौपाई-शैली को एक ही छन्द में रचित मसनवियों की देन बताना सर्वथा असंगत है। कदाचित् इस असंगति का बोध स्वयं आचार्य शुक्ल को भी बाद में हो गया था, जिससे वे अपने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' के नये संस्करण में अपभ्रंश के जैन-चरित-काव्यों के प्रसंग में लिखते हैं :···"चौपाई-दोहे की यह परम्परा हम आगे चलकर सूफ़ियों की प्रेम-कहानियों में, तुलसी के रामचरितमानस में तथा छत्रप्रकाश, ब्रजविलास, सबलसिंह चौहान के महाभारत इत्यादि अनेक आख्यान-काव्यों में पाते हैं।" ईश्वरदास की 'सत्यवती क़था' के प्रसंग में भी वे इसी मत की पुनः पुष्टि करते हुए लिखते हैं : "यही अवधी भाषा, चौपाई-दोहे का क्रम और कहानी का रूप-रंग सूफ़ी कवियों ने ग्रहण किया।" अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी-प्रेमाख्यानों की शैली को फ़ारसी-मसनवियों से अनुकृत बताना उतना ही असंगत है, जितना कि उनकी प्रेम-पद्धति और विषयगत प्रवृत्तियों को अभारतीय बताना!

आचार्य शुक्ल के युग तक इस परम्परा के आठ आख्यान ही उपलब्ध हुए थे जिनमें से छह के रचयिता मुस्लिम थे, जबकि अब इस परम्परा से सम्बन्धित तिरेपन कवियों के प्रेमाख्यान

उपलब्ध हो चुके हैं जिनमें से छत्तीस हिन्दू हैं तथा आरम्भिक ग्यारह कवियों गें से भी आ हिन्दू हैं—अतः साम्प्रदायिक आधार पर भी इन्हें फ़ारसी-मसनवियों की देन बताना निरर्थ है। इसके अतिरिक्त अन्तःसाक्ष्य से भी हिन्दी के प्रेमाख्यान पूर्ववर्ती संस्कृत, प्राकृत अपभ्रंश कथा-काव्य से प्रेरित सिद्ध होते हैं—एक तो दामोदर, जायसी, मंझन, उसमा आलम प्रभृति कवियों ने अपने काव्य को 'कथा' विश्लेषण से भूषित किया है[1], दूसरे उन्हों अपनी कथा के आधार-स्रोतों का संकेत देते हुए संस्कृत-प्राकृत के काव्यों का ही निर्देश कि है। इसके अतिरिक्त अठारहवीं शती के पूर्व रचित प्रेमाख्यानों में आदर्श प्रेमियों के रूप नल-दमयन्ती, उदयन-वासवदत्ता, शकुन्तला-दुष्यन्त, भर्तृहरि-पिंगला, विक्रम-सपनावती आदि भारतीय युगलों का ही निर्देश मिलता है; उनमें कहीं उपमान-रूप में भी फ़ारसी-काव्य नायक-नायिकाओं का नामोल्लेख नहीं है। अतः प्रत्येक दृष्टि से यह परम्परा पूर्ववर्ती भारती प्रेमाख्यान-परम्परा की ही एक अटूट कड़ी के रूप में दिखायी पड़ती है।

वैसे तो भारतीय साहित्य में 'ऋग्वेद' से ही अनेक सुन्दर प्रेमाख्यान उपलब्ध हो लगते हैं, किन्तु इनकी अखण्ड परम्परा का सूत्रपात 'महाभारत' से होता है। इसका मू कारण कदाचित् यह है कि महाभारत-काल से पूर्व जहाँ भारतीय समाज में अति मर्याद वादी दृष्टिकोण की प्रमुखता दिखायी पड़ती है, वहाँ महाभारतीय समाज में हम स्वच्छ प्रणय-भावना का उन्मीलन व विकास देखते हैं। 'महाभारत' में वर्णित विभिन्न प्रसंगों स्पष्ट है कि उस युग में प्रणय के क्षेत्र में जाति, कुल, वर्ण और लोक-मर्यादा का विचार बहु कुछ शिथिल हो गया था तथा सौन्दर्य की प्रेरणा से ही प्रेम और विवाह-सम्बन्ध स्थापित हो लगे थे। प्रेम और विवाह के क्षेत्र में आर्य-अनार्य का भेद भी लुंप्त हो गया था। इसील भीम असुर-कन्या हिडिम्बा से, अर्जुन नाग-कन्या चित्रांगदा से, कृष्ण ऋक्ष-कन्या जाम्बवती विवाह कर लेते हैं। प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए सामाजिक मर्यादाओं का उल्लंघन, नायि का बलात् अपहरण व नायिका के संरक्षकों से युद्ध भी अनुचित नहीं माना जाता था—कृ के द्वारा रुक्मिणी का तथा अर्जुन द्वारा सुभद्रा का अपहरण तथा भीम-हिडिम्बा, प्रद्युम्न प्रभावती, अनिरुद्ध-उषा प्रसंगों में नायिका के संरक्षकों से युद्ध इसी तथ्य को प्रमाणित करत है। ऐसी स्थिति में यदि 'महाभारत' से ही स्वच्छन्द प्रेमाख्यानों या रोमान्स-साहित्य प्रवर्तन माना जाए, तो अनुचित न होगा। 'महाभारत' के प्रासंगिक उपाख्यानों में सर्वाधि महत्त्वपूर्ण 'नल-दमयन्ती' (वन-पर्व, अध्याय ५३-७९) उपाख्यान है, जिसमें प्रेम की वे सब प्रमुख प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जो परवर्ती भारतीय प्रेमाख्यानों में भी बरावर प्रचलित रही यथा—नायक-नायिका के अप्रत्यक्ष परिचय से ही प्रेम की उत्पत्ति, हंस के द्वारा सन्देशों आदान-प्रदान, नायक-नायिका के मिलन में अनेक बाधाओं की उपस्थिति, परिस्थितिव नायक-नायिका का विच्छेद एवं पुनर्मिलन। इसमें सौन्दर्य, प्रेम और विरह का चित्रण सर्व रोमानी शैली में हुआ है, कदाचित् इसीलिए संस्कृत और हिन्दी के अनेक परवती कवियों इसमें प्रेरणा ग्रहण करके विभिन्न प्रेमाख्यानों की रचना की है। अस्तु, हमारे विचार 'महाभारत' यदि भारतीय प्रेमाख्यानों की आधार-भूमि है, तो 'नल-दमयन्ती' उपाख्या उसका सर्वाधिक आकर्षक केन्द्रविन्दु है।

'महाभारत' के अनन्तर 'हरिवंश पुराण' में अनेक ऐसे प्रेमाख्यान उपलब्ध होते हैं,

---

[1] "कथा संस्कृत सुनि कछु थोरी, भापा बाँधि चौपई जोरी।"

—आलम (माधवानल कामकन्दला)

पूर्ववर्ती परम्परा को आगे वढ़ाने में योग देते हैं। इनमें कृष्ण-रुक्मिणी (अध्याय ५६-६०), प्रद्युम्न-प्रभावती (अध्याय १६३-१६७) और उषा-अनिरुद्ध (अध्याय २६५-२७७) के आख्यान विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें अनेक ऐसी नूतन प्रवृत्तियों का उन्मीलन हुआ है, जिन्हें परवर्ती प्रेमाख्यान-रचयिताओं ने कथानक-रूढ़ि के रूप में ग्रहण किया है; जैसे— देव-मन्दिर में पूजा के निमित्त आयी हुई नायिका से नायक की गुप्त भेंट, स्वप्न और चित्र के माध्यम से दर्शन, नायक को सोते हुए महल से उठा ले जाना, नायक का वेश वदलकर नायिका के पिता के दरवार में उपस्थित होना, नायक का वन्दी हो जाना तथा अप्रत्याशित सहायता से उसे अपने लक्ष्य में सफलता मिलना आदि। 'हरिवंश पुराण' के इन्हीं आख्यानों की पुनरावृत्ति 'विष्णु पुराण', 'भागवत पुराण' और 'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण' में भी न्यूनाधिक परिवर्तन-सहित हुई है।

बौद्ध युग में जवकि भारत का व्यापारिक-सम्वन्ध दूर-दूर के देशों से स्थापित हो गया था तथा भारतीय व्यापारी एवं धर्म-प्रचारक विभिन्न द्वीपों और महाद्वीपों की यात्रा करने लगे थे, तो इससे भारतीय प्रेमाख्यान-रचयिताओं की कल्पना को नूतन प्रेरणा एवं नया क्षेत्र प्राप्त हुआ। अव तक मुख्यतः महाभारतीय या पौराणिक पात्रों के ही स्वच्छन्द प्रेम का चित्रण किया जाता था जो भारतीय भूमि एवं स्वदेशीय परिवेश तक सीमित रहता था, जबकि उन राजकुमारों, सेठ-पुत्रों व पर्यटकों से जो यव, मलय, स्वर्ण आदि द्वीपों की यात्रा से लौटते समय अपने साथ नये वृत्तान्त, नूतन अनुभव एवं नवल सुन्दरियाँ लेकर आते थे— हमारे कवियों की कल्पना-शक्ति को एक अत्यन्त उर्वर एवं नूतन क्षेत्र प्राप्त हुआ, जिसका परिणाम 'बृहत्कथा' की शताधिक मौलिक एवं नूतन प्रेम-कथाओं के रूप में देखा जा सकता है। दुर्भाग्य से प्राकृत में रचित यह मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु का आंशिक ज्ञान इसी के आधार पर रचित 'वृहत्कथामंजरी' और 'कथासरित्सागर' से प्राप्त किया जा सकता है। इनसे ज्ञात होता है कि 'वृहत्कथा' का नायक उदयन-पुत्र नरवाहनदत्त था जिसके साहस, प्रेम एवं शौर्य की ही अनेक कहानियाँ इसमें गुम्फित थीं, किन्तु प्रासंगिक कहानियों में मृगांकवती, अलंकारवती, शशांकवती, पद्मावती, लावण्यवती, रत्नवती, धनवती, हिरण्यवती, मन्दारवती, मदिरावती, मलयवती आदि सुन्दरियों एवं उनके प्रेमियों के रोमान्स का भी चित्रण अत्यन्त स्वच्छन्द एवं कल्पनापूर्ण रूप में किया गया था। वस्तुतः इन कथाओं ने भारतीय प्रमाख्यान-परम्परा को अनेक ऐसे नूतन कथा-सूत्र प्रदान किये जिनका उपयोग परवर्ती युग में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी के प्रेमाख्यानों में कथानक-रूढ़ि के रूप में बारम्बार किया गया है। यहाँ इस प्रकार के कथा-सूत्रों का संकेत-मात्र दिया जाता है—

(क) नायिका का नाम 'वती' प्रत्ययवाला होना, जैसे— मृगांकवती, पद्मावती।

(ख) नायक या नायिका का जन्म दैवी अनुष्ठान से होना।

(ग) नायिका का किसी-न-किसी द्वीप की वासिनी होना, जैसे—मलय द्वीप, सिंहल द्वीप, रत्न द्वीप, स्वर्ण द्वीप, यव द्वीप आदि।

(घ) स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन आदि के माध्यम से नायक-नायिका की प्रेमोत्पत्ति।

(ङ) नायक का पण्डित, ब्राह्मण, भिक्षु, तपस्वी, आदि के वेश में नायिका की खोज में निकलना।

(च) मन्दिर या फुलवारी में नायक-नायिका की प्रथम भेंट।

(छ) नायिका के संरक्षक से नायक का द्वन्द्व।

(ज) नायक का एक से अधिक सुन्दरियों से प्रेम व विवाह।

(ख) नायक को किसी मित्र, सिद्ध, योगी, बैताल या देवता की सहायता से सफलता मिलना।

उपर्युक्त कथाओं में घटनाओं की ही बहुलता है, भाव-व्यंजना की ओर इनके रचयिताओं का ध्यान कम गया है। परवर्ती युग में संस्कृत के गद्यकाव्य-रचयिताओं ने अपने आख्यानों में इस अभाव की पूर्ति करने की चेष्टा की है। सुबन्धु की 'वासवदत्ता', बाण की 'कादम्बरी' एवं दण्डी के 'दशकुमारचरित' में उपर्युक्त सभी प्रवृत्तियों को सुरक्षित रखते हुए भी दो नये तत्त्वों का सम्मिश्रण किया गया है—एक है, भाव-व्यंजना की प्रमुखता और दूसरा है, अत्यधिक अलंकृत शैली।

इन प्रेमाख्यानों की लोकप्रियता से प्रभावित होकर प्राकृत एवं अपभ्रंश के जैन कवियों ने भी अनेक प्रेमकथाओं की रचना की, जिनमें 'समरादित्य-कथा', 'सुर-सुन्दरी-चरित', 'भुवन-सुन्दरी', 'मलय-सुन्दरी', 'लीलावती', 'नागकुमार-चरित', 'भविष्यदत्त-कथा', 'यशोधर-चरित' आदि उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः जैन कवियों द्वारा यह परम्परा आठवीं शती से लेकर चौंदहवीं शती तक अखण्डित रूप में प्रचलित रही। इन कवियों ने पूर्ववर्ती प्रेमाख्यान-परम्परा के प्रमुख तत्त्वों को सुरक्षित रखते हुए उनमें कई नूतन प्रवृत्तियों का भी विकास किया—एक तो उन्होंने गद्य के स्थान पर दोहा-चौपाई से मिलती-जुलती पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया; दूसरे, नायक की सफलता किसी जैन तीर्थंकर, जैन मुनि या जैन धर्म के व्रत-उपवास के प्रभाव से दिखाकर अप्रत्यक्ष रूप में स्वधर्म के महत्त्व को स्थापित करने का प्रयास किया; और तीसरे, कथा की परिणति शान्त रस में करने के लिए नायक-नायिका को अन्त में जैन धर्म में दीक्षित करते हुए उन्हें संन्यास की ओर अग्रसर कर दिया। इस प्रकार इस परम्परा को उन्होंने अपने साम्प्रदायिक उद्देश्य की पूर्ति का साधन बनाने का प्रयत्न किया, किन्तु फिर भी सौन्दर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना में उन्होंने पूर्णतः धर्म-निरपेक्ष दृष्टि का परिचय दिया है।

अस्तु, यह परम्परा 'महाभारत' के प्रेमाख्यानों से लेकर अपभ्रंश के कवियों तक अनेक रूपों, तत्त्वों और प्रवृत्तियों को ग्रहण करती हुई तथा गुजरात, राजस्थान एवं अवध-प्रदेश में होती हुई आधुनिक भाषाओं में पहुँची। ध्यान रहे, अवधी से पूर्व गुजराती व राजस्थानी में इस परम्परा का प्रचलन हो गया था तथा अवधी के अनन्तर बंगला भाषा में भी इसका प्रसार हुआ। यहाँ स्थानाभाव से इन सबका विवरण देना सम्भव नहीं, किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह भारतीय साहित्य की एक सर्वाधिक सशक्त, दीर्घ एवं व्यापक परम्परा है जिसका प्रसार उत्तर भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में हुआ है। इतना ही नहीं, बेनफ़ी (Benfy), कीलर (Keller) और हर्टेल (Hertell) प्रभृति यूरोपीय विद्वानों ने तो अपने अनुसंधान से यह भी प्रमाणित किया है कि भारतीय प्रेमाख्यानों की ही एक शाखा सिकन्दर के साथ यूनान में पहुँची थी जो क्रमशः रोम, इटली, जर्मनी, स्पेन एवं इंग्लैंड की विभिन्न भाषाओं में विकसित होती हुई समस्त यूरोप में फैल गयी—इसी शाखा या परम्परा को विश्व-साहित्य में 'रोमान्स-काव्य की धारा' (cycle of romances) कहा जाता है। अतः भले ही कुछ विद्वान् भ्रान्तिवश इस परम्परा को विदेशी घोषित करें, किन्तु हमारे विचार से यह शुद्ध भारतीय परम्परा है जिसमें भारतीय संस्कृति के विकास-क्रम की रूपरेखा यथार्थ रूप में निहित है।

हिन्दी-प्रेमाख्यान-काव्य : प्रवृत्ति-विश्लेषण

भक्तिकाल की प्रेमाख्यान-परम्परा के विभिन्न काव्य-ग्रंथों—मृगावती, पदमावत,

धुमालती, चित्रावली, रसरतन आदि—का पृथक्-पृथक् परिचय देने से पहले इस परम्परा ही प्रमुख प्रवृत्तियों का कतिपय शीर्षकों के अन्तर्गत विश्लेषण करना उचित होगा।

काव्य-प्रेरणा एवं प्रयोजन

इन काव्यों की मूल चेतना को समझने के लिए सर्वप्रथम इनके प्रेरणा-स्रोत एवं प्रयोजन पर विचार किया जाना चाहिए। जैसा कि अन्यत्र संकेत किया जा चुका है, इस काव्य-परम्परा के सम्वन्ध में यह भ्रान्ति प्रचलित है कि इससे सम्वन्धित कवि सूफ़ी मतानुयायी थे तथा उनका लक्ष्य सूफ़ी मत का प्रतिपादन या प्रचार करना था। यह वात प्रारम्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उस समय कही थी जबकि इस परम्परा के छह-सात काव्य ही उपलब्ध थे तथा उनमें से अधिकांश मुस्लिम कवियों द्वारा रचित थे, किन्तु अब स्थिति वह नहीं रही। अब इस परम्परा में पचास से अधिक कवियों के अस्तित्व का पता चला है, जिनमें से बहुसंख्यक हिन्दू थे। इन हिन्दू कवियों ने काव्यारम्भ में गणेश, सरस्वती, कृष्ण, ब्रह्म आदि हिन्दू देवी-देवताओं की स्तुति करते हुए अपने धर्म पर पूर्ण आस्था व्यक्त की है। इतना ही नहीं इस वात के भी अकाट्य प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि इनमें से अनेक कवि निर्गुण सन्त-मत तथा सगुण कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित थे। इन कवियों को तो सूफ़ी मत में दीक्षित या उसके प्रतिपादक मानने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता, सभी मुस्लिम कवियों को भी केवल मुस्लिम होने के कारण सूफ़ी मान लेना उचित प्रतीत नहीं होता। अवश्य ही मुस्लिम कवियों में कुछ कवि सूफ़ी मतानुयायी रहे होंगे, किन्तु इसी से उनके काव्य का प्रयोजन सूफ़ी मत का प्रचार मान लेना वैसा ही होगा जैसा कि 'विहारी सतसई' को राधावल्लभ-सम्प्रदाय का प्रचार करनेवाली रचना मान लेना, क्योंकि विहारी को राधावल्लभ-सम्प्रदाय का अनुयायी सिद्ध किया जा सकता है। वस्तुतः अनेक मुस्लिम कवियों ने अपने प्रेरणा-स्रोत एवं काव्य-प्रयोजन का निर्देश स्पष्ट रूप में किया है, जिससे उपर्युक्त भ्रान्ति का निराकरण होता है। देखिए :

औ मन जानि कवित अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥

—जायसी (पदमावत)

प्रीतिवन्त ह्वै सुनै सो कोई। वाढ़ै प्रीति हिएँ सुख होई॥
कामी पुरिष रसिक जे सुनहीं। ते या कथा रैनि दिन गुनहीं॥

आलम— (माधवानल कामकन्दला)

विभिन्न कवियों के अन्तःसाक्ष्य से यह प्रमाणित होता है कि इनका प्रयोजन यश-प्राप्ति, अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन, युवकों का मनोरंजन या जीवन की दुःखपूर्ण घटना को भुलाना ही था। ऐसी स्थिति में इन्हें सम्प्रदायविशेष से प्रेरित या उसके प्रचारक मानना उचित नहीं कहा जा सकता।

कथावस्तु

इस परम्परा के काव्य प्रवन्धात्मक शैली में रचित हैं, अतः उनमें कथात्मक तत्त्वों की प्रमुखता का होना स्वाभाविक है। वस्तुतः इस परम्परा का सूत्रपात ही उपाख्यानों एवं कथाओं के रूप में हुआ था—'बृहत्कथा', 'कथासरित्सागर' आदि में घटनाप्रधान कथानकों की ही प्रमुखता थी। किन्तु, अपभ्रंश एवं हिन्दी के प्रेमाख्यानों में कथावस्तु के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों का भी सन्निवेश सम्यक् रूप में हुआ है। जहाँ तक इनकी कथावस्तु के स्रोतों की

बात है, वे मुख्यतः चार हैं—१. 'महाभारत', 'हरिवंश पुराण', 'विष्णु पुराण' आदि पा ग्रन्थ, २. प्राकृत-संस्कृत की परम्परागत कथानक-रूढ़ियाँ, ३. उदयन, विक्रम, रत्नसे ऐतिहासिक व अर्द्ध-ऐतिहासिक पात्रों की गाथाएँ, ४. विभिन्न प्रेमी-प्रेमिकाओं की प्रचलित प्रेम-कथाएँ। हिन्दी के प्रेमाख्यानों में इन चारों ही स्रोतों से प्राप्त साम उपादान मिश्रित रूप में हुआ है, किन्तु साथ ही रचयिताओं की कल्पना-शक्ति का भी [illegible] रूप में रहा है—इसीलिए किसी भी प्रेमाख्यान को शुद्ध पौराणिक या शुद्ध ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। परम्परागत पौराणिक कथानकों में सर्वाधिक प्रिय नल-द आख्यान रहा है, जिस पर विभिन्न हिन्दू एवं मुस्लिम कवियों द्वारा रचित छन्द [illegible] उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त उषा-अनिरुद्ध, कृष्ण-रुक्मिणी आदि के प्रेमाख्यानों की आवृत्ति बार-बार हुई है। यह सौभाग्य की बात है कि इन कवियों ने पौराणिक आख्या रोमांटिक तत्त्वों को विस्तार देते हुए भी उनकी आधारभूत भावना एवं धार्मिक मर्या सुरक्षित रखा है। किन्तु, पौराणिक कथानकों से भी अधिक उपयोग प्राकृत, संस्कृ अपभ्रंश के कथा-साहित्य से प्राप्त कथानक-रूढ़ियों का हुआ है। जैसे—नायक या ना का जन्म माता-पिता के विशेष प्रयत्न से किसी देवी-देवता की आराधना के फलस्वरूप नायक-नायिका का पारस्परिक परिचय स्वप्न-दर्शन, चित्र-दर्शन या तोते द्वारा गुण-क प्रत्यक्ष रूप में होना; शिव-मन्दिर या फुलवारी में नायक-नायिका की गुप्त भेंट; या किसी अन्य सुन्दरी को राक्षस से बचाकर विवाह कर लेना आदि। वस्तुतः इन कथा रूढ़ियों का मूल स्रोत पूर्ववर्ती भारतीय साहित्य ही है—'महाभारत' के नल-दमयन्ती आ तथा 'हरिवंश पुराण' के उषा-अनिरुद्ध व कृष्ण-रुक्मिणी के प्रणय-प्रसंगों में अनेक क रूढ़ियाँ मूल रूप में उपलब्ध होती हैं, जिनका विकास एवं विस्तार क्रमशः प्राकृत-संस्कृ कथाओं तथा अपभ्रंश के चरित-काव्यों में हुआ है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ये कथा रूढ़ियाँ फ़ारसी-प्रेमाख्यानों में उपलब्ध नहीं होतीं, अतः इनका आधार भारतीय साहि ही मानना चाहिए।

हिन्दी के जिन कवियों ने अर्द्ध-ऐतिहासिक या मौलिक कथानकों को आधार ब है, उन्होंने भी उपर्युक्त रूढ़ियों का प्रयोग प्रायः किया है। अतः कहना चाहिए कि अधि हिन्दी-प्रेमाख्यानों का कथा-तत्त्व पूर्ववर्ती भारतीय कथानक-रूढ़ियों का ही विभिन्न रू संयोजित रूप है। दूसरे शब्दों में, उनकी मौलिकता परम्परागत कथानक-रूढ़ियों को नये रूपों में संयोजित व संगठित कर देने में है, नयी कथानक-रूढ़ियों (घटनाओं) के आवि में नहीं! ऐतिहासिक या अर्द्ध-ऐतिहासिक कथानकों में ऐतिहासिकता को सुरक्षित रखने भावना का भी अभाव है, अपितु उनमें कथानक-रूढ़ियों का सम्मिश्रण खुलकर किया ग जिनसे उनकी ऐतिहासिकता धूमिल हो गई है।

काव्यत्व की दृष्टि से इनकी कथावस्तु में स्वाभाविकता की अपेक्षा वैचित्र्य की प्रमुखता है। कथावस्तु अपने लक्ष्य की ओर द्रुत गति से अग्रसर होने के स्थान पर क काटती हुई तथा पाठकों के औत्सुक्य एवं कौतूहल को अधिकाधिक गम्भीर बनाती हुई धीरे आगे बढ़ती है, जो कदाचित् मध्यकालीन रुचि के अनुकूल था। वस्तुतः जो कार्य के सामान्य पाठक के लिए रोमानी व जासूसी उपन्यास करते हैं, वही कार्य मध्ययुगीन पा के लिए ये आख्यान करते थे—अतः इनकी कथावस्तु में असाधारण, विचित्र एवं रोमां घटनाओं की अधिकता का होना स्वाभाविक ही है।

चरित्र-चित्रण

हिन्दी-प्रेमाख्यानों में विचित्र पात्र मुख्यत: दो श्रेणियों के हैं—१. मानवीय श्रेणी के, २. मानवेतर श्रेणी के। प्रथम श्रेणी में प्रायः राजकुमार (नायक), राजकुमारी (नायिका) एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न व्यक्ति आते हैं। राजकुमार को प्रायः सहृदय, परदु:खकातर, साहसी, प्रेमी एवं त्यागी दिखाया गया है; जबकि राजकुमारी या नायिका अत्यन्त सुन्दरी, रूपगर्विता, किन्तु नायक की प्राप्ति के लिए अपेक्षित बुद्धि-बल से युक्त दिखायी गयी है। कई बार नायिकाएँ राक्षस-कन्या, अप्सरा, नर्तकी या वेश्या-पुत्री भी होती हैं किन्तु इससे उनके व्यक्तित्व में विशेष अन्तर नहीं पड़ता। प्रेम के क्षेत्र में वे नायक की अपेक्षा अधिक धैर्यशाली दिखायी गयी हैं। नायक की अपेक्षा उनकी स्थिति भी प्राय: उच्च है, क्योंकि उन्हीं की प्राप्ति के लिए वह अपना सर्वस्व अर्पित कर देता है।

प्रेमाख्यान-रचयिताओं ने, चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, भारतीय वातावरण एवं हिन्दू-समाज की मर्यादाओं के अनुरूप ही नायक-नायिका का चित्रण किया है। भारतीय समाज में पुरुष के लिए बहु-विवाह की अनुमति थी, अत: इनके नायक भी प्राय: एक से अधिक विवाह करते हैं; जबकि नायिकाएँ, भारतीय परम्परा के अनुसार पातिव्रत्य का पालन करती हुई अन्त में सती हो जाती हैं। नायिकाओं के लिए सबसे बड़ा आदर्श उनका सतीत्व ही है, यह दूसरी बात है कि नायक को आकर्षित करने में उनके रूप-सौन्दर्य का ही योग अधिक रहता है। कुछ नायिकाएँ अपनी नृत्य-कला या संगीत-कला के बल पर भी नायक के हृदय पर अधिकार प्राप्त करती हैं। फ़ारसी-प्रेमाख्यानों में उपर्युक्त परम्पराओं के स्थान पर प्राय: नायक एकपत्नीव्रतधारी तथा नायिका प्रेमी के अनन्तर पति को स्वीकार करनेवाली दिखायी जाती है। हिन्दी-प्रेमाख्यानों में नायक के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में प्रतिनायक का अस्तित्व प्राय: नहीं है—नायक का विरोध प्राय: नायिका के पिता या संरक्षक के द्वारा ही होता है, अत: फ़ारसी-मसनवियों की भाँति इनमें प्रेम का त्रिकोण उपस्थित नहीं होता। वस्तुत: भारतीय प्रेमाख्यानों में पात्रों का चरित्र-चित्रण भारतीय परम्पराओं और सामाजिक मर्यादाओं के अनुरूप होना कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है, ऐसा होना स्वाभाविक ही था; किन्तु जो विद्वान् यह मानते हैं कि ये कवि फ़ारसी-मसनवियों से प्रेरित थे तथा इन्होंने चेष्टा-पूर्वक अपने आख्यानों को भारतीय रूप दिया है, उनके लिए अवश्य ही यह महत्त्व की बात है।

पात्रों की दूसरी श्रेणी में मानवेतर प्राणी आते हैं, जैसे नायिका के संरक्षक के रूप में असुर या राक्षस; नायक के सहयोगी के रूप में कोई बैताल, हंस, तोता आदि या नायक को सोते हुए उठा ले जानेवाली अप्सराएँ, परियाँ आदि। वस्तुत: ये पात्र स्थिति-विशेष में कथानक को आगे बढ़ाने में योग देते हैं तथा उसी के अनुरूप इनमें प्रवृत्ति-विशेष का विकास दिखाया गया है, किन्तु इनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निरूपण प्राय: नहीं हुआ है। यथा—असुर या राक्षस को अत्यधिक क्रूर, तोते या हंस को अधिक विद्वान् और अप्सरा या परी को अत्यन्त सहृदय दिखाया गया है; जो कथानक की मूल आवश्यकता के अनुरूप है। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि सभी आख्यानों में पात्रों का चरित्र-चित्रण रूढ़िबद्ध एवं स्थिर है, उनमें स्वतन्त्र या मौलिक व्यक्तित्व का निरूपण प्राय: न के बराबर है। वस्तुत: इन कवियों का ध्यान चरित्र-चित्रण की अपेक्षा कथा-वैचित्र्य एवं वर्णन-विस्तार की ओर ही अधिक रहा है।

वस्तु-वर्णन

भारतीय साहित्य में चौथी-पाँचवीं शताब्दी से ही एक नूतन प्रवृत्ति का उदय दृष्टिगोचर होता है—यह प्रवृत्ति है, स्वभावोक्ति की अपेक्षा अतिशयोक्ति को प्रमुखता की। इसी की प्रमुखता के कारण एक ओर भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति-जैसे सिद्धान्तों की स्थापना हुई; तो दूसरी ओर बाणभट्ट, दण्डी, श्रीहर्ष प्रभृति गद्य और पद्य में ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें वर्णन-विस्तार एवं चमत्कार को ही काव्य का आधार मान लिया गया। बाण और दण्डी के प्रेमाख्यानों में नायिका के अंग-प्रत्यंग वर्णन शत-शत उपमानों के साथ अत्यन्त विस्तार से हुआ है, यहाँ तक कि उसके एक ति वर्णन में भी कई पृष्ठ रंग दिये गये हैं। आगे चलकर न केवल नायक-नायिका के सौ निरूपण को अपितु प्रत्येक वस्तु, घटना, दृश्य, कार्य, पर्व, उत्सव आदि को भी अत्य विस्तार से वर्णित किया गया है। प्रकृति के विभिन्न दृश्यों—वन, वाटिका, समुद्र, प सरिता आदि—तथा विभिन्न ऋतुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि पाठक विवरण में उलझकर मूल कथानक को भूल जाता है। दुर्भाग्य से परवर्ती प्रेमाख्यानों में प्रवृत्ति का विकास और भी अधिक सबल रूप में हुआ। अपभ्रंश के चरित-काव्यों हिन्दी के प्रेमाख्यानों में यह प्रवृत्ति समान रूप में मिलती है। इसी के कारण कविगण मूल लक्ष्य को भूलकर मार्ग में पड़नेवाली प्रत्येक वस्तु, दृश्य एवं घटना का विवरण शयोक्तिपूर्ण शैली में प्रस्तुत करने लगते हैं। ऐसा करते समय वे स्वाभाविकता, रोचकता भावात्मकता से बहुत दूर चले जाते हैं। हिन्दी-कवियों ने परम्परागत विषयों के अति पनघट, सरोवर, वाटिका, बारहमासा, बरात, युद्ध, ज्योनार आदि का वर्णन विशेष किया है। इन कवियों के वस्तु-वर्णन की समीक्षा करते हुए डॉ० सरला शुक्ल ने ठीक लिखा है: "इन वस्तु-वर्णनों में कवि को अवसर प्राप्त होता है कि वह अपनी नवीन क और परिस्थिति से लाभ उठाकर सजीव वर्णन करे, किन्तु अधिकांश कवियों ने इस विशेष ध्यान नहीं दिया है। कहीं-कहीं वर्णन इतना विस्तृत है कि उससे कवियों के ज्ञान (के प्रदर्शन) के अतिरिक्त कौतूहल, आकर्षण या प्रभावशीलता में किंचित् भी नहीं हो पाती।"[1] वस्तुतः इन कवियों का वस्तु-वर्णन काव्य की मौलिक आवश्यकता में पूर्ति के निमित्त कम है, अपने ज्ञान-प्रदर्शन की भावना से अधिक प्रेरित है, अतः वह काव्य के दुर्बल पक्ष का ही सूचक कहा जा सकता है।

भाव एवं रस-व्यंजना

प्रेमाख्यान काव्यों की मूल भावना प्रणय या रति है, अतः शास्त्रीय दृष्टि से शृंगाररसप्रधान कहा जा सकता है; किन्तु यहाँ इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चा कि इनका शृंगार-निरूपण मूल चेतना एवं पद्धति की दृष्टि से संस्कृत-महाकाव्यों में नि गार्हस्थ्य शृंगार से भिन्न कोटि का है। इनकी प्रणय-भावना साहस एवं संघर्ष की भाव अनुप्राणित है, जो सामाजिक मर्यादाओं और परम्पराओं को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दे रसशास्त्रीय दृष्टि से इनका मूल प्रेरक तो 'रति-भाव' या प्रणय को ही माना जाएगा, उसके सहचारी या संचारी के रूप में उत्साह, क्रोध, विस्मय आदि को स्वीकार किया

---

[1] जायसी के परवर्ती हिन्दी सूफ़ी कवि और काव्य, पृष्ठ २८३

है। सामान्यतः संचारी भाव को क्षणजीवी ही माना जाता है, किन्तु व्यक्ति-विशेष या थति-विशेष में वे दीर्घकालीन होकर स्थायी भाव के अंग भी बन जाते हैं। अतः इनके में शृंगार रस को अंगी तथा वीर, रौद्र, अद्भुत आदि को अंग-रूप में स्वीकार किया जा है। वैसे, प्रसंगानुसार करुण-वात्सल्यादि का भी निरूपण मिलता है, किन्तु उन्हें गौण नना चाहिए।

प्रणय-भावना या शृंगार-रस-निरूपण की दृष्टि से इनके पक्ष में सबसे अधिक महत्त्व- ात यह है कि इन्होंने प्रेम को जीवन का सर्वोपरि तत्त्व मानते हुए उसके प्रति अत्यन्त एवं उदात्त दृष्टि का परिचय दिया है जिससे इनका प्रणय सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, ात्मिक आदि सभी बाधाओं, सीमाओं व कुण्ठाओं से मुक्त होकर अपने सहज-स्वाभाविक पूर्ण विकसित रूप में प्रस्फुटित होता है। प्रणय का आरम्भ प्रायः इन्होंने सौन्दर्यजन्य र्ण की सहज प्रेरणा से दिखाया है तथा उसमें परिस्थितियों की स्वाभाविक प्रतिक्रिया रोत्तर गम्भीरता का संचार किया है। सौन्दर्य-निरूपण में इन्होंने नायिका के नख- रूप-रंग, हाव-भाव आदि के अतिरिक्त उसके सूक्ष्म गुणों—कला-विशारदता, विदग्धता —का भी समावेश किया है। जैसा कि इनके वस्तु-वर्णन पर विचार करते समय स्पष्ट जा चुका है, वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति के कारण इनका सौन्दर्य-निरूपण भी कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण हो जाता है कि वह स्वाभाविकता व लौकिकता से परे चला जाता है, कई बार आध्यात्मिकता का भी भ्रम उत्पन्न हो जाता है। वर्णन-विस्तार की प्रवृत्ति रण वे कई बार यह भी नहीं देखते कि जिस सुन्दरी के सौन्दर्य का निरूपण वे कर रहे ह सम्पूर्ण काव्य में क्या स्थान रखती है? यहाँ तक कि जायसी-जैसे महान् कवि भी वृत्ति से मुक्त दिखायी नहीं पड़ते—वे जिस गम्भीरता से पद्मावती के सौन्दर्य का ण करते हैं, उसी गम्भीरता से सिंहल की वेश्याओं का, बादल की नववधू का या युद्ध- की मदमाती नारी-रूपी तोपों के सौन्दर्य का आख्यान करते हैं। पदमावती के सौन्दर्य लौकिकता को तो ईश्वरीय सौन्दर्य की व्यंजना कहकर दोषमुक्त कर दिया गया, किन्तु सहल की वेश्याओं के लिए क्या कहा जाएगा जिनके दर्शनमात्र से द्रष्टा बेसुध होकर गिर है। बादल की नववधू का तो तिलक ही अनेक युवकों का प्राणान्त कर देने की क्षमता है। अस्तु, सौन्दर्य का यह अस्वाभाविक एवं अत्युक्तिपूर्ण वर्णन आज के पाठक की रसानु- में बाधा उपस्थित करता है; किन्तु जहाँ वह कल्पना-शक्ति की सबलता और अनुभूति की ता से अनुप्राणित है, वहाँ अवश्य ही प्रभावोत्पादक एवं आह्लादकारी सिद्ध होता है।

प्रेमाख्यानों के नायक अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए प्रायः अनेक बाधाओं, तयों एवं संकटों का सामना करते हुए आगे बढ़ते हैं, जिससे उनके प्रणय में अधिकाधिक र्य, औदार्य एवं औदात्त्य का संचार होता जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह है कि काम-प्रवृत्ति बाधाओं एवं संघर्षों के योग से भावना के रूप में विकसित होती है— प्रणय के मार्ग में कोई अवरोध उपस्थित नहीं होता, वहाँ वह शारीरिकता के स्तर पर र शुद्ध भोग-विलास या कामुकता का रूप धारण कर लेता है। अतः यह निस्संकोच जा सकता है कि इन आख्यानों के नायकों की प्रणय-भावना साहस, संघर्ष, शौर्य, आत्म- आदि से युक्त होकर एक ऐसा रूप प्राप्त कर लेती है जिसमें वासना, स्वार्थ एवं अहंकार ोप हो जाता है। भावना के ऐसे ही सूक्ष्म, गम्भीर एवं पवित्र रूप को भारतीय शब्दा- में 'उज्ज्वल रस' एवं पाश्चात्य शब्दावली में 'औदात्त्य का चरमोत्कर्ष' कहा जा सकता वैसे, मध्यकालीन आचार्यों ने 'उज्ज्वल रस' का क्षेत्र केवल राधा-कृष्ण की शृंगारी

क्रीड़ाओं तक ही सीमित कर दिया है, जो साम्प्रदायिक या धार्मिक दृष्टि से ही मा सकता है, अन्यथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से तो रत्नसेन-पदमावती के आत्म-त्यागपूर्ण प्रे कृष्ण के सम्भोग-व्यापार की अपेक्षा अधिक स्वच्छता, सूक्ष्मता, पवित्रता एवं उज्ज्व गोचर होती है। अस्तु, हमारे विचार में इनके काव्य में सामान्यतः प्रेम का अत्यन्त उदात्त स्वरूप उपलब्ध होता है, जिसे रसराज शृंगार का सर्वोत्कृष्ट रूप भी कहा जा

उपर्युक्त निष्कर्ष के विपरीत कुछ ऐसे अपवाद भी उपलब्ध होते हैं, जिनमें काम को एक ही मान लिया गया है। प्रायः उन सभी आख्यानों में—जिनमें कवि सतीत्व की व्यंजना करना नहीं है—नायक की अपेक्षा नायिका में वासना का आ दिखाया गया है। उदाहरणार्थ जायसी का रत्नसेन जहाँ आरम्भ से ही शुद्ध प्र अनुप्राणित दिखायी पड़ता है, वहाँ नायिका पदमावती प्रारम्भ में यौन-ज्वार और की बाढ़ में बहती हुई दृष्टिगोचर होती है; इसीलिए वह अपने अन्तरंग मित्र तो उपयुक्त वर खोज देने की याचना करती है :

सुनु हीरामनि कहौं बुझाई। दिन दिन मदन सतावै आई।
जोबन मोर भयउ जस गंगा। देह-देह हम्ह लाग अनंगा।
कँवल भँवर ओही बन पावै। को मिलाइ तन तपनि बुझावै।

यहाँ 'तन तपनि', यौवन-भार एवं कामोन्माद का जैसा निरूपण किया ग प्रणय-भावना की अपेक्षा काम-वासना का ही अधिक परिचायक है; यह दूसरी ब आगे चलकर परिस्थिति-विशेष के प्रभाव से यह वासना निखरकर भावना में प जाती है। जायसी के अतिरिक्त अन्य कवियों में भी प्रसंगानुसार वासना के आवेग लालसा, कोकशास्त्र के अनुसार रति-क्रीड़ा, विपरीत रति आदि का चित्रण अत्यन्त नग्न रूप में उपलब्ध होता है। अनेक कवियों ने तो अपने नायक को कामदेव का नायिका को रति का अवतार घोषित किया है, तो कुछ ने स्पष्ट रूप में अपने काव्य ही काम-कला की शिक्षा देना स्वीकार किया है। इस दृष्टि से 'माधवानल का 'मधुमालती', 'रसरतन', 'चित्रावली' आदि उल्लेखनीय हैं। फिर भी, समग्र रूप में इ तत्त्व की अपेक्षा प्रणय-भावना की ही प्रमुखता है। वस्तुतः इनके काव्य की मार्मि सर्वोत्तम उदाहरण इनकी विरह-व्यंजना में उपलब्ध होता है। विरह के क्षेत्र में इन् आलंकारिकता और चमत्कार के स्थान पर भावात्मकता एवं अनुभूति का सहारा जिससे उसमें पर्याप्त गम्भीरता तथा मार्मिकता का संचार हो गया है। यों इनके वि में कहीं-कहीं अत्युक्ति के कारण बीभत्स दृश्यों का भी आयोजन हो गया है, जैसे आँसुओं का गिरना, मांस का गल-गलकर गिरना या प्राणान्त हो जाना। वैसे, कि प्रेमाख्यानों में भी विरह की अतिशयता के कारण नायक-नायिका के व्याधिग्रस्त हो त्याग देने के अनेक उदाहरण मिलते हैं तथा आचार्यों ने विरह की दस दशाओं में व्याधि, जड़ता, मरण आदि को भी स्वीकार किया है; किन्तु इनके निरूपण में बी का आयोजन आवश्यक नहीं है। आचार्य शुक्ल ने इसे फ़ारसी-काव्य का प्रभाव माना कुछ मुस्लिम कवियों के प्रसंग में ठीक कहा जा सकता है; किन्तु इसी आधार प विस्तार की प्रवृत्ति को ही अभारतीय मान लेना अनुचित होगा।

विचार एवं सिद्धान्त

इस परम्परा के कवियों ने अपनी रचनाओं में प्रणय के गम्भीर रूप का वि

थ-साथ उनमें परम्परागत ज्ञान-विज्ञान को भी प्रस्तुत करने का प्रयास किया जिसके उनमें प्रसंगानुसार भारतीय दर्शन, पुराण, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, कामशास्त्र, वैद्यक, शास्त्र, युद्ध-कला, पाकशास्त्र, रीतिशास्त्र आदि के विभिन्न तत्त्वों का विवरण विस्तार पलब्ध होता है। कई बार तो इन्होंने विभिन्न प्रकार के पकवानों, पुष्पों, घोड़ों, शस्त्रास्त्रों म्बी सूचियाँ इस प्रकार प्रस्तुत की हैं कि उनसे सामान्य पाठक ऊबने लगता है, फिर ध्यकालीन परिस्थितियों को ध्यान में रखकर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट होगा स युग में जबकि ज्ञान-विज्ञान की मुद्रित पुस्तकें उपलब्ध नहीं थीं तथा परम्परागत ज्ञान त की हस्तलिखित पुस्तकों तक ही सीमित रह गया था, इनका भारी उपयोग था। वे जो इन काव्य-रचनाओं से मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञान-वृद्धि भी करना चाहते थे, इस र की तालिकाओं से अवश्य लाभान्वित होते थे। इसीलिए अनेक कवियों ने स्वयं भी यह किया है कि उनकी रचनाओं को यदि बालक, युवक एवं वृद्ध पढ़ेंगे तो उनका ज्ञान ा। ऐसी स्थिति में इन शास्त्रीय तत्त्वों को शुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से गौण मानते हुए चयिताओं के ज्ञान-प्रदर्शन की वृत्ति एवं पाठकों की ज्ञान-पिपासा की तुष्टि की दृष्टि से हत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। किन्तु, दुर्भाग्य से हमारे आलोचकों एवं शोधकर्त्ताओं ने समग्र में इस स्थिति का अवलोकन न करके केवल उनके दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों पर पात करते हुए उन्हें धर्म-साधक एवं सूफ़ी प्रचारक घोषित कर दिया, जबकि वस्तुस्थिति है कि इस परम्परा के कवियों में जायसी को छोड़कर शेष के धर्म-साधक या मत-प्रचारक का कोई प्रमाण नहीं मिलता। वस्तुतः आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने युग में उपलब्ध प्रेमाख्यानों के प्रतिनिधि के रूप में जायसी के 'पदमावत' का अध्ययन किया और इस यन से उपलब्ध निष्कर्षों को ही समूची परम्परा पर आरोपित कर दिया। परवर्ती शोध-ओं ने भी शुक्ल जी के आप्त वाक्य को प्रमाण मानकर इस परम्परा के सभी प्रेमाख्यानों बलात् 'सूफ़ी' विशेषण से विभूषित कर दिया; फिर भी जो लोग तटस्थ रूप में पूर्वोक्त णा (या भ्रान्ति) पर पुनर्विचार करने के लिए प्रस्तुत हैं, उनके लिए हम यहाँ कुछ ण अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं।

स्वयं आचार्य शुक्ल ने 'पदमावत' की प्रेम-पद्धति को अभारतीय मान लेने के कारण सेन-पदमावती के प्रेम को आत्मा-परमात्मा का प्रेम बताते हुए उसे सूफ़ी रहस्यवाद से ाणित सिद्ध करने की चेष्टा की। यद्यपि इससे वे 'पदमावत' के रूपक-तत्त्व की व्याख्या में असफल रहे, क्योंकि स्वयं कवि के अनुसार पदमावती परमात्मा की प्रतीक न होकर त्वक बुद्धि व ज्ञान की प्रतीक है—फिर भी उन्होंने अपनी पूर्व-धारणा का परित्याग नहीं ा। किन्तु आगे चलकर जब उन्होंने जायसी के दार्शनिक विचारों का अध्ययन किया तो समक्ष स्पष्ट हो गया था कि उनके काव्य में भारतीय अद्वैत दर्शन, वेदान्त एवं ोग के ही तत्त्व अधिक हैं, सूफ़ी-तत्त्व कम[1]; यहाँ तक कि अन्त में उन्होंने यह भी स्वीकार लिया था कि जायसी सूफ़ी मत से आगे बढ़कर भारतीय वेदान्त की ओर झुक गये थे: यसी सूफ़ियों के अद्वैतवाद तक ही नहीं रहे हैं, वेदान्त के अद्वैतवाद तक भी पहुँचे हैं। तीय मत-मतान्तरों की उनमें अधिक झलक है।"

अस्तु, न तो सभी प्रेमाख्यानक हिन्दी-कवियों के सिद्धान्त ही सूफ़ी मत के आधारभूत ान्तों से मेल खाते हैं और न उनके नायकों के कार्य-व्यापार, साधना-पद्धति एवं सिद्धि

देखिए 'जायसी-ग्रन्थावली', भूमिका, पृष्ठ १५१-१५५

से ही सूफ़ी मत का कोई सम्बन्ध स्थापित होता है, जबकि भारतीय अद्वैत-मत एवं से उनका गहरा सम्बन्ध है—ऐसी स्थिति में उन सबको बलात् सूफ़ी घोषित औचित्य दिखायी नहीं पड़ता ।

इस परम्परा के बहुसंख्यक कवि हिन्दू हैं, जिन्होंने अपने धर्म के प्रति व्यक्त की है, किन्तु उन्हें भी सूफ़ी मत-प्रचारक सिद्ध करने का प्रयास किया गया हरणस्वरूप डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव ने अपने शोध-प्रबन्ध में शुद्ध सनातनधर्मी सिंह के 'नल चरित्र' (१६४१) में भी सूफ़ी मत की खोज करते हुए प्रमाणस्वरूप पंक्तियों को उद्धृत किया है :

तकिए भूप-भ्रमर सुखदाए । काम बान सम सोभा पाए ।
बानउ के रव होत अपारा । तिहि विध जानहु भ्रमर गुंजारा ।
हुऊँ के हहै शिलीमुख नामा । विरही तन कह दोउ दुःखधामा ।

यहाँ कवि ने स्पष्ट ही विरही-हृदय पर वसन्त ऋतु के उद्दीपक प्रभाव करते हुए 'काम-बाण' के आघात से उत्पन्न पीड़ा का प्रतिपादन किया है, जिसमें सू कोई बात नहीं है, पर डॉ० हरिकान्त श्रीवास्तव इसमें सूफ़ी मत की अवस्थाओं का करवाते हुए लिखते हैं : "नल दमयन्ती के रूप का बखान सुन करके 'तरीकत' में पहुँच जाते हैं। '...तकिए...दुःखधामा'—यह शरीअत की अवस्था नल के बनी रहती है । दमयन्ती के मन्दिर में नाना स्त्रियों के कामोद्दीपक प्रभाव से बचने नल मवारिफ़ अवस्था में पहुँचते हैं ।" यद्यपि कवि ने सारे काव्य में कहीं भी सू कोई संकेत नहीं दिया है, किन्तु शोधकर्त्ता महोदय की कृपा से नल की विरह-द मत की चारों अवस्थाएँ इस तरह मिल जाती हैं मानो राजा नल ने सूफ़ी मत की दी ही दमयन्ती से प्रेम करना आरम्भ किया हो !

इस प्रसंग को और विस्तार न देकर हम इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि प्रकार सूफ़ी मत का आरोपण करना हो, तो 'ऋग्वेद' के पुरुरवा-उर्वशी से लेकर धर्मवी की 'कनुप्रिया' तक सभी भारतीय एवं अभारतीय प्रेमाख्यानों में सूफ़ी मत सिद्ध किया है, क्योंकि हर प्रेम-कहानी में नायक, नायिका, सौन्दर्य, प्रेम, विरह और मिलन जिन्हें क्रमशः आत्मा, परमात्मा, शरीअत, तरीकत, मवारिफ़ आदि का प्रतीक बता साधना के विभिन्न अंगों की स्थापना की जा सकती है। अन्यथा, यदि हम स्वकल्पित एवं रूढ़ भ्रान्तियों के प्रभाव से मुक्त होकर इन आख्यानों में उपलब्ध सामग्री एवं के आधार पर तटस्थ दृष्टि से विचार करें तो यह भली भाँति स्पष्ट होगा कि जिस कवियों ने भारतीय नायक-नायिकाओं की प्रणय-गाथाओं की रचना विशुद्ध भारतीय आधार पर की है, उसी प्रकार इन्होंने दर्शन, धर्म, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, कामशास् शास्त्र आदि के भारतीय तत्त्वों का उपयोग सम्प्रदायमुक्त दृष्टि से किया है। नाथ हठयोग का भी अत्यधिक उल्लेख किसी साम्प्रदायिक दृष्टि का सूचक न होकर तद्युगी वरण एवं पूर्व-परम्परा का व्यंजक है, क्योंकि उस युग में हठयोगियों के चमत्कार अत्यधिक व्याप्त था तथा पूर्ववर्ती आख्यानों में भी नायक का योगी या संन्यासी के से निकलना दिखाया जाता था। वस्तुतः हमारे विचार में अधिकांश कवि निजी धर्म-साधक या मत-प्रचारक न होकर सद्गृहस्थ थे जिन्होंने उन सभी धार्मिक, नै शास्त्रीय तत्त्वों को अपने काव्य-ग्रन्थों में गुम्फित कर दिया जो उस युग में लोक लोकरंजन के अनुकूल थे। जायसी इसके अपवाद थे—वे व्यक्तिगत जीवन में भी सा

काव्य-रूप

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने इस परम्परा के सभी काव्यों को फ़ारसी-मसनवियों से अनुकृत मानते हुए इन्हें 'मसनवी' सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। आचार्य शुक्ल के मतानुसार इन काव्यों के आरम्भ में ईश्वर-स्तुति, तत्कालीन शासक का उल्लेख, कथा का सर्गों में विभक्त न होना, पूरे काव्य में एक ही छन्द का प्रयोग होना आदि बातें इन्हें मसनवी सिद्ध करती हैं। किन्तु, सत्य यह है कि कुछ रचनाओं के स्तुति-खण्ड में ही इस प्रभाव को स्वीकार किया जा सकता है, अन्यथा मसनवी-काव्य के अनेक लक्षण—जैसे, पूरे काव्य का एक ही छन्द में लिखा जाना, कथा का सर्गों या खण्डों में विभक्त न होना आदि—इन प्रेमाख्यानों में नहीं मिलते; अतः इन्हें काव्य-रूप की दृष्टि से 'मसनवी' कहना कठिन है। दूसरी ओर संस्कृत-आचार्यों द्वारा निरूपित कथा-काव्य के लक्षण इनमें पूरी तरह मिलते हैं तथा स्वयं कवियों ने भी अपनी-अपनी रचना को 'कथा' के रूप में उल्लिखित किया है, अतः इन पर कथा-काव्य की दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिए।

आचार्य भामह ने 'कथा' के लक्षणों का निरूपण करते हुए लिखा है—"वह कवि के साभिप्राय कथनों से युक्त होती है। उसका विषय कन्या-हरण (कन्या या प्रेयसी की प्राप्ति), युद्ध, वियोग होता है।" यहाँ 'कन्या-हरण' का तात्पर्य यह है कि इसमें कन्या या प्रेयसी की प्राप्ति सहज ही नहीं हो जाती, अपितु उसके लिए संघर्ष तथा युद्ध करना पड़ता है। वैसे देखा जाए तो भामह के द्वारा निरूपित लक्षण में पाश्चात्य रोमान्स-काव्य के तीन तत्त्वों—प्रेम, साहस एवं युद्ध—का समाहार हो जाता है। दण्डी ने इन लक्षणों के अतिरिक्त उसका सर्गबद्ध होना भी आवश्यक माना है, जबकि आचार्य रुद्रट ने अपने युग (नवीं शती) तक विकसित प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए कथा-काव्य के अनेक नूतन लक्षणों का निर्देश किया है। उनके मतानुसार 'कथा' के प्रमुख लक्षण ये हैं—१. कथा के आरम्भ में देवता या गुरु की वन्दना होनी चाहिए और फिर ग्रन्थकार को अपना और अपने कुल का परिचय देना चाहिए, २. तदुपरान्त कथा लिखने का उद्देश्य बताना चाहिए, ३. आरम्भ में कथान्तर होना चाहिए जो प्रधान कहानी का प्रस्ताव कर सके, ४. इसका प्रतिपाद्य सफल प्रेम से युक्त कन्या (प्रेयसी)-प्राप्ति होना चाहिए, ५. यह संस्कृत में गद्य में तथा अन्य भाषाओं में पद्य में लिखी जाती है।[१] आगे चलकर अग्निपुराणकार व साहित्यदर्पणकार ने भी इन लक्षणों की पुनरावृत्ति की है। वस्तुतः ज्यों-ज्यों संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में कथा-काव्य का विकास होता गया त्यों-त्यों उसके लक्षणों में भी संशोधन एवं परिवर्द्धन होता गया। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी में कथा-काव्य की परम्परा के प्रवर्तन से पूर्व अपभ्रंश तक इसमें जिन-जिन लक्षणों का विकास हो गया था, वे सब हिन्दी के सभी आख्यानों में मिलते हैं। उदाहरणार्थ समकालीन शासक का उल्लेख करना, बीच-बीच में धार्मिक एवं नैतिक तत्त्वों को समन्वित करना, कथा का अन्त शान्त रस में करना, चौपाइयों के बीच-बीच में दोहों का प्रयोग करना, कथा को खण्डों में विभक्त करना आदि प्रवृत्तियाँ अपभ्रंश के कथा-काव्यों से हिन्दी में आयी हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं कवियों ने भी अपनी रचना को 'कथा' संज्ञा से विभूषित किया है, जिसके कतिपय उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं——

---

१. देखिए 'काव्यालंकार', रुद्रट, १६/२०-२३

(क) रचना के नामकरण में 'कथा' शब्द का प्रयोग—

लखनसेन पदमावती कथा (दामोदर); सत्यवती कथा(ईश्वरदास); कथा रत कथा कामलता, कथा कनकावती (जान कवि); नल-दमयन्ती कथा (व्यास)।

(ख) कुछ कवियों ने शीर्षक में 'कथा' शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु क अन्तर्गत ऐसा किया है—

जायसी—*प्रेम कथा एहि भाँति बिचारहु।*
मंझन—*कथा जगत जेती कबि आंई।*
उसमान—*जाकी बुद्धि होई अधिकाई। आन कथा एक कहै बनाई॥*
आलम—*कहौं बात सुनो सब लोग। कथा कथ़ा सिंगार वियोग॥*

वैसे, यह कहा जा सकता है कि इन्होंने 'कथा' शब्द का प्रयोग सामान्य रूप किया होगा, किसी विशेष अभिप्राय से नहीं; किन्तु उस स्थिति में वे 'कथा' के अन्य प वाची शब्दों—कहानी, वार्त्ता, आख्यान आदि—का भी प्रयोग कर सकते थे, केवल शब्द पर ही बल नहीं देते।

अस्तु, काव्य-रूप की दृष्टि से इन्हें परम्परागत कथा-काव्य के अन्तर्गत ही लिया उचित होगा। कुछ विद्वानों ने कथा-काव्य एवं महाकाव्य का अन्तर न समझते हुए इन्हें काव्य की कसौटी पर भी कसने का असफल प्रयास किया है। कथा-काव्य एवं महाक दोनों ही प्रबन्धात्मक होते हैं तथा उनके अनेक बाह्य लक्षणों में समानता भी सम्भव है, दोनों की आधारभूत चेतना, उनके लक्ष्य व प्रयोजन में इतना गहरा अन्तर है कि ए दूसरे की कसौटी पर परखना अनुचित होगा। महाकाव्य के मूल में आदर्शवादी या ब परक (मर्यादावादी) चेतना होती है, जो किसी महत् पात्र या महान् पुरुष के चरि अवतरण करती हुई उदात्त सन्देश की व्यंजना करती है; जबकि कथा-काव्य की मूल स्वच्छन्दतापरक (रोमांटिक) होती है, उसमें आदर्श की स्थापना की अपेक्षा सौन्दर्य-प्रे अभिव्यंजना का तथा लोक-मंगल की अपेक्षा लोक-रंजन का लक्ष्य अधिक रहता है। काव्य में परम्पराओं एवं मर्यादाओं की रक्षा के लिए प्रणय-स्वप्नों की बलि दी जा सक जबकि कथा-काव्य में प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए परम्पराओं व मर्यादाओं का अति सहज ही सम्भव है। महाकाव्य के लिए यह आवश्यक नहीं कि वह शृंगार-रस-प्रधान वीर, करुण, भयानक, रौद्र की भी प्रमुखता उसमें सम्भव है, किन्तु कथा के लिए प्रण रोमानी प्रेम—की प्रधानता अनिवार्य है। इस विषयगत भेद के कारण दोनों की शैली में अन्तर आ जाता है। महाकाव्यकार घटनाओं की अपेक्षा पात्रों को और चमत्कार की सरसता को अधिक महत्त्व प्रदान करता है, जबकि कथा-काव्य में स्थिति इसके विपरीत है। अस्तु, कथा-काव्य या प्रेमाख्यान अपने आन्तरिक या बाह्य गुणों के कारण 'महान् तो बन सकता है, किन्तु शिल्पशास्त्रीय दृष्टि से उसे महाकाव्य मानना या उसमें महाका लक्षणों और गुणों का अनुसन्धान करना वैसा ही होगा जैसा कि आम्रफल में द्राक्षा विशेषताएँ खोजना। किन्तु, फिर भी यह विचित्र स्थिति है कि इस परम्परा से सम्ब सभी हिन्दी-शोध-प्रबन्धों में इन्हें मसनवी और महाकाव्य—दोनों के लक्षणों व गुणों से स सिद्ध करने की चेष्टा पूरी शक्ति से की गयी है। और, कदाचित् इसी स्थिति का परिणा कि आचार्य शुक्ल-जैसे विद्वान् ने भी 'पदमावत' में पदमावती के सती होने के अतिरिक्त और 'महत्कार्य' का प्रयोजन न होने के कारण बड़ी निराशा व्यक्त की है। वस्तुतः परम्परा की मूल चेतना का उद्घाटन एवं उसका सम्यक् मूल्यांकन तब तक सम्भव नहीं

कि इन्हें मसनवी एवं महाकाव्य—दोनों से भिन्न स्वतन्त्र कथा-काव्य या रोमांटिक ख्यान के रूप में स्वीकार नहीं कर लेते । किसी भी काव्य का बाह्य रूप अन्ततः उसकी तरिक चेतना का व्यक्त रूप होता है, अतः उसके बाह्य रूप का अध्ययन-विश्लेषण उसकी धारभूत चेतना के आधार पर ही सम्भव है—इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही हिन्दी-ख्यान-परम्परा के साथ न्याय किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

ली

हिन्दी-प्रेमाख्यानों की शैली के सम्बन्ध में कोई सामान्य निर्णय देना कठिन है, क्योंकि भिन्न कवियों की शैली में स्तर की दृष्टि से परस्पर गहरा अन्तर है। एक ओर जायसी-कवि हैं जिनकी शैली में सर्वत्र गम्भीरता एवं प्रौढ़ता विद्यमान है, तो दूसरी ओर ऐसे वि भी हैं जिनमें शैली की अपरिपक्वता एवं अशक्तता दृष्टिगोचर होती है। फिर भी, एक त सामान्य रूप में कही जा सकती है कि इनकी रचनाओं में कथा-तत्त्व की प्रधानता होने कारण इन्होंने प्रायः इतिवृत्तात्मक शैली का प्रयोग किया है, जिसमें लक्षणा एवं व्यंजना अपेक्षा अभिधा शक्ति की ही प्रमुखता है। किन्तु समर्थ कवियों ने अन्योक्ति, समासोक्ति, पक, प्रतीक आदि के आयोजन द्वारा अपनी शैली में व्यंजना का वैभव भी सहज-स्वाभाविक रूप में संचरित कर दिया है। 'पदमावत' से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं :

ए रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।
जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौं खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब कालि। कित हम कित एह सरवर पाली।

यहाँ कवि ने अन्योक्ति के माध्यम से प्रस्तुत के साथ अप्रस्तुत अर्थ की भी व्यंजना भावोत्पादक रूप में कर दी है, जिससे उसमें ध्वनि का सौन्दर्य स्फुटित हो गया है।

अन्योक्ति व समासोक्ति के अतिरिक्त प्रतीक-योजना के कारण भी इनके काव्य की ंजना-शक्ति के वैभव में अभिवृद्धि हुई है। 'पदमावत', 'चित्रावली', 'ज्ञानदीप' आदि काव्यों तो प्रमुख पात्र ही विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों के प्रतीक हैं जिससे सम्पूर्ण काव्य में ध्वनि व्यंजना) का सौन्दर्य संचरित हो गया है। ध्यान रहे; अन्योक्ति, समासोक्ति, प्रतीक—इन नों में ही अभिधात्मक अर्थ के साथ-साथ व्यंग्यार्थ की सत्ता रहती है, जिसके कारण उक्ति सौन्दर्य का संचार होता है, अतः हम इन्हें ध्वनि-काव्य के क्षेत्र में स्थान देना अधिक उचित मझते हैं। इन काव्यों की प्रतीक-योजना पर प्रायः यह आक्षेप लगाया जाता है कि इनमें तीकों का निर्वाह सम्यक् रूप में नहीं हुआ। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि इनके तीक भारतीय दर्शन एवं धर्म-साधना से सम्बन्धित हैं, जबकि अध्येताओं ने उन्हें सूफ़ी मत सम्बन्धित सिद्ध करने का प्रयास किया है; इसी से उनमें संगति नहीं दिखायी पड़ती। न्यथा 'पदमावत' में प्रयुक्त तन, मन, सांसारिक आकर्षण, सात्त्विक बुद्धि, गुरु, मोक्ष-प्राप्ति दि के सूचक प्रतीकों को यथार्थ रूप में ग्रहण किया जाए तो वे संगत सिद्ध होते हैं। इसी कार 'चित्रावली' में शिव का अवतार सुजान, विद्या और अविद्या की प्रतीक क्रमशः चित्रावली एवं कँवलावती आदि पात्र भारतीय साधना-पद्धति के ही सूचक हैं; अतः यदि हम इसी ष्टि से उन पर विचार करें तो वे प्रतीकार्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ, संगत एवं उपयुक्त सिद्ध होते हैं। साथ ही प्रतीक-योजना से इनकी काव्य-शैली में गम्भीरता के साथ कहीं-कहीं मत्कार-प्रवृत्ति भी आ गयी है।

शैली की दृष्टि से इनकी दूसरी विशेषता अतिशयोक्ति है, जिस पर प्राय: अधिक बल रहा है। अतिशयोक्ति को हम यहाँ अत्यन्त स्थूल एवं व्यापक रूप में भी कर सकते हैं। इन कवियों का कदाचित् यह विश्वास था कि एक बात को जितना कहा जाए, उतना ही उसका अधिक प्रभाव उत्पन्न होगा। सम्भवत: इसीलिए इन्होंने स्थलों पर एक ही तथ्य की पुनरावृत्ति की है अथवा उससे सम्बन्धित विभिन्न पक्षों, और उपमानों की आवृत्ति विस्तार से की है। इसी कारण इनका इतिवृत्त-कथन, विस्तार और एक ही तथ्य की आवृत्तियाँ इस सीमा तक पहुँच जाती हैं कि वे पाठ अरुचिकर प्रतीत होने लगती हैं। वैसे, इनकी अतिशयोक्तियों में भी प्रस्तुत एवं अप्रस्तु एक पक्ष का सम्बन्ध वास्तविकता से होने के कारण उनमें वैसी कष्ट-कल्पना और ऊहा नहीं मिलती जैसी कि बिहारी-जैसे कवियों में मिलती है; और जिसके कारण अलंकार शून्य चमत्कार में परिणत हो जाता है।

यों तो प्रेमाख्यानों में सभी अलंकारों के उदाहरण उपलब्ध हो जाते हैं, फि उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और अतिशयोक्ति के विभिन्न भेदोपभेदों की ही इनके का प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है। इन कवियों के हृदय में भावना एवं अनुभूति का स्रोत था, इनकी अलंकार-योजना में भावप्रवणता अधिक है, चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति कम। कारण है कि शब्दालंकारों का भी प्रयोग इनके द्वारा स्थिति-विशेष या अनुभूति-विशे प्रेरणा से ही हुआ है, उनके पीछे विशेष चेष्टा या यत्न परिलक्षित नहीं होता।

शैली के आधुनिक मानदण्डों में बिम्ब-योजना का विशेष स्थान है, अत: इस से भी इन काव्यों पर विचार किया जा सकता है, किन्तु इससे पूर्व बिम्ब-योजना का स्पष्ट कर लेना उचित होगा। अपने मूल अर्थ में बिम्ब-योजना से अभिप्राय इस प्र चित्रण से है जिसमें वक्तव्य, वस्तु या प्रस्तुत को यथार्थ रूप-रंग में प्रस्तुत किया जात अलंकार और बिम्ब-योजना की विभाजक रेखा यह है कि जहाँ अलंकार में उपमे विशेषताओं को बोधगम्य रूप देने के लिए उपमान का माध्यम ग्रहण किया जाता है बिम्ब-योजना में स्वयं उपमेय के ही रूप को इन्द्रिय-ग्राह्य रूप में प्रस्तुत किया जात किन्तु बिम्बवादियों ने इस विभाजक रेखा को भुलाकर बिम्ब-योजना को एक ऐसा रूप दे दिया है जिसमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अन्योक्ति आदि सभी का समावेश हो है। हमारे विचार में यह व्यापक रूप बिम्ब-योजना के मूल स्वरूप को तिरोहित कर दे जो हमें अग्राह्य है। यदि यथार्थ रूप में बिम्ब-योजना को ग्रहण करते हुए विचार किया तो यह स्पष्ट होगा कि प्रेमाख्यानक कवियों का अतिशयोक्ति व अलंकरण के प्रति अत मोह होने के कारण वे प्रतिपाद्य वस्तु के सहज सौन्दर्य को बिम्ब-रूप में बहुत कम कर पाते हैं; उनकी उक्तियाँ बिम्ब-योजना से आरम्भ होती हैं किन्तु वे तुरन्त ही या उत्प्रेक्षा में परिणत हो जाती हैं।

छन्द-योजना की दृष्टि से सामान्यत: इन्होंने चौपाइयों या अर्द्धालियों के बीच में दोहा देने की पद्धति अपनायी है, किन्तु इसके अपवाद भी हैं। अनेक कवियों ने दो अतिरिक्त सोरठा, बरवै, कवित्त, सवैया, कुण्डलिया, झूलना आदि का भी प्रयोग किया गणपति ने 'माधवानल-कामकन्दला' में केवल दोहे का प्रयोग किया है, किन्तु इस प्रका अपवाद प्रस्तुत करनेवाले आख्यानों की कुल संख्या आठ-दस से अधिक नहीं है।

भक्तिकालीन प्रेमाख्यान-काव्यों की भाषा के सम्बन्ध में पहले यह समझा गया कि सभी प्रेमाख्यान अवधी भाषा में रचित हैं, किन्तु अब यह स्पष्ट हो गया है कि अव

अतिरिक्त राजस्थानी एवं ब्रजभाषा में भी कई आख्यान लिखे गये थे। वस्तुतः यह परम्परा गुजरात एवं राजस्थानी से होती हुई अवध प्रदेश में पहुँची है, अतः प्रारम्भिक आख्यानों में से अनेक में राजस्थानी—जो कहीं-कहीं गुजरात से भी यथेष्ट प्रभावित है—का ही प्रयोग मिलता है, जैसे कि 'हंसावली' (असाइत), 'लखनसेन पदमावती कथा' (दामोदर), 'माधवानल-कामकन्दला' (गणपति), 'ढोला मारू रा दूहा', 'माधवानल-कामकन्दला' (कुशललाभ), 'प्रेमविलास प्रेमलता की कथा' (जटमल) आदि की भाषा राजस्थानी है। ब्रजभाषा में रचित प्रेमाख्यानों में नन्ददास-रचित 'रूपमंजरी' तथा जान कवि के प्रेमाख्यान उल्लेखनीय हैं। वैसे, प्रायः सभी प्रेमाख्यानकारों ने लोकप्रचलित शब्दों, मुहावरों तथा लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। हिन्दू एवं मुस्लिम सभी कवियों ने अरबी-फ़ारसी के तत्सम शब्दों की अपेक्षा संस्कृत क तत्सम शब्दों एवं उनके तद्भव रूपों को अधिक महत्त्व दिया है, कहीं-कहीं मुस्लिम कवियों के काव्य में भी संस्कृत के तत्सम शब्दों की प्रचुरता देखकर आश्चर्य होता है। वस्तुतः प्रेमाख्यान-रचयिता कवियों ने अवधी, राजस्थानी एवं ब्रज-जैसी लोक-भाषाओं के साहित्यिक रूप के विकास में भी पर्याप्त योग दिया है—इसमें कोई सन्देह नहीं।

प्रेमाख्यान-परम्परा का हिन्दी में प्रवर्तन व विकास

हिन्दी में इस परम्परा का प्रवर्तन किस कवि द्वारा हुआ, इस प्रश्न का असन्दिग्ध उत्तर उपलब्ध नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'मृगावती' (१५०१) के रचयिता कुतुवन को इस परम्परा का प्रथम कवि माना है, जबकि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ईश्वरदास की 'सत्यवती कथा' (१५००) को इस परम्परा की प्रथम कृति के रूप में उल्लिखित किया है। डॉ० रामकुमार वर्मा ने मुल्ला दाऊद के 'चन्दायन' (१३७९) से इस परम्परा का प्रवर्तन माना है, किन्तु इन सभी विद्वानों का ध्यान इन सबसे प्राचीन प्रेमाख्यान 'हंसावली' की ओर नहीं गया जिसकी रचना असाइत द्वारा १३७० ई० में हुई थी। इससे पूर्व का कोई अन्य प्रेमाख्यान-काव्य हिन्दी में उपलब्ध नहीं है, अतः हमारे विचार से जब तक कोई अन्य प्राचीन हिन्दी-प्रेमाख्यान उपलब्ध नहीं हो जाता तब तक इसी को इस परम्परा के प्रवर्तक काव्य के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए।

हंसावली[1] : इस प्रेमाख्यान में राजस्थानी भाषा के प्राचीन रूप का प्रयोग हुआ—उस समय तक गुजराती भाषा राजस्थानी से पृथक् नहीं हो पायी थी, अतः गुजराती के विद्वान् इसे पुरानी गुजराती का ग्रन्थ भी मानते हैं। किन्तु, जैसा कि डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' में स्पष्ट किया है, भाषा की दृष्टि से इसे निस्संकोच राजस्थानी (हिन्दी) में स्थान दिया जा सकता है। कवि असाइत ने इस कृति का रचना-स्रोत विक्रम एवं वैताल की कथा को माना है: "बावन वीर कथा रस लीउ, ऐह पवाड़ु असाइत कहिउ।" प्रेमाख्यानों में चित्रित प्रेम साहस और शौर्य से मिश्रित है, अतः हिन्दी के आरम्भिक प्रेमाख्यानकारों ने अपने काव्य का उल्लेख 'वीर-कथा' एवं 'प्रेम-कथा' दोनों रूपों में किया है—यह बात असाइत पर भी लागू होती है।

'हंसावली' में अनेक कथाएँ गुम्फित हैं, जिनमें से प्रमुख कथा का सम्बन्ध पाटण की राजकुमारी हंसावली से है। राजकुमारी अद्वितीय सुन्दरी थी, किन्तु पूर्व-जन्म के किसी संस्कारवश उसने पखवाड़े में पाँच पुरुषों की हत्या का भी नियम ले रखा था। इसका नायक

---

[1] गुजराती के प्रसिद्ध विद्वान श्री केशवराम काशीराम शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा प्रकाशित।

राजकुमार स्वप्न में राजकुमारी के दर्शन करके मुग्ध हो जाता है, उसके प्रेम में होकर योगी-वेश में अपने मन्त्री के साथ उसकी खोज में निकल पड़ता है तथा भारी का सामना करते हुए अन्त में न केवल राजकुमारी को प्राप्त कर लेता है, अपितु उस हृदया को प्रत्येक पखवाड़े में पाँच पुरुषों की हत्या के नियम से विरक्त करने में भी स जाता है। वस्तुतः इस नियम के पीछे पूर्व-जन्म की एक घटना थी—उस जन्म में रा पक्षिणी थी; जब उसने अण्डे दे रखे थे तब एकाएक जंगल में आग लग जाने पर उसे तथा उसके अण्डों को बचाने का कोई प्रयास करने के स्थान पर उसे जलती हुई भाग गया था। इसी घटना के संस्कार के कारण वह अगले जन्म में पुरुष-द्रोहिणी थी। जब इस घटना को चित्रित करके उसे दिखाया गया तो उसे पूर्व-जन्म की घटनाएँ स्मरण हो आयीं, फलस्वरूप वह ग्रन्थि से मुक्त होकर स्वस्थ आचरण करने ग्रन्थि (complex)-मोक्ष की यह सारी घटना आधुनिक मनोविश्लेषण की दृष्टि स्वाभाविक कही जा सकती है।

विषय-वस्तु एवं शैली की दृष्टि से इसमें वे सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हैं जो प्रेमाख्यानों की विशेषता के रूप में ग्रहण की जाती हैं, यथा—स्वप्न-दर्शन द्वारा प्रेम योगी-वेश में नायक का घर से निकलना, साहसपूर्ण यात्रा, पूर्व-जन्म की स्मृति, द्वारा नायक के मार्ग में अवरोध, दैवी शक्ति की सहायता से नायक-नायिका का आदि। इन विषयगत प्रवृत्तियों के अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी यह काव्य प्रेमाख्यान-परम्परा का प्रथम प्रतिनिधि काव्य कहा जा सकता है। कवि ने आरम्भ में शम्भु और सरस्वती की वन्दना करते हुए आत्म-परिचय दिया है तथा अपनी रचना के का निर्देश किया है। छन्द-योजना में चौपाइयों के बीच-बीच में दोहों का प्रयोग कि है। भाव-सौन्दर्य एवं काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से यह रचना साधारण कोटि की है। शैली का एक नमूना द्रष्टव्य है :

देवि वज्रधारू मुझ बिनती। पेलि भवि हूं पंखिणी हुती।
इड़ा मेहला सेवन कीउ। दव बलतउ तेणि वनि आविउ।
मुझ भरतार साहस नवि कीउ। अपति मेहलीनि उड़ि गयु।
इस्यं करम ते निष्ठुर तणां। मूकी ग्यु बालक आपणां।

वस्तुतः इस परम्परा की आदि-रचना होने के कारण शैली की परिष्कृति, तथा भाषा-सौष्ठव की इससे अधिक आशा भी नहीं की जा सकती।

चान्दायन : यह प्रेमाख्यान-परम्परा का दूसरा काव्य है, जिसकी रचना मुल्ला द्वारा १३७९ ई० में हुई थी। इसके विभिन्न पाठ उपलब्ध हुए हैं—डॉ० माताप्रसाद इस ग्रन्थ का मूल नाम 'लोर कहा' या 'लोर कथा' माना है, किन्तु वे इसकी प्रसिद्धि के रूप में भी स्वीकार करते हैं। डॉ० परमेश्वरीलाल गुप्त ने इसका एक पाठ 'चन्दाय से प्रस्तुत किया है। अतः अब 'चन्दायन' या 'चान्दायन' नाम ही मान्य है। डॉ० गुप्त ने विभिन्न दृष्टियों से सूक्ष्मतापूर्वक विचार करते हुए इसे भारतीय परम्परा का सिद्ध किया है : "यदि दाऊद की रचना को देखा जाए तो उसका प्रारम्भिक परम्पराओं में खप सकता है...किन्तु जहाँ तक प्रयुक्त छन्द-विधान तथा प्रबन्ध-व्यव बात है, वह पूर्ण रूप से भारतीय है—उसमें न तो फारसी-मसनवियों के छन्द प्रयुक्त और न उसमें उनकी छन्द-विषयक एकरूपता है। उसकी रचना प्राकृत-अपभ्रंश साहि परम्परा में कडवकों में की गयी है और प्रत्येक कडवक चौपाई की पाँच अर्द्धालियों

है या मिलते-जुलते छन्द का है। फलतः मेरा मत है कि यह भारतीय परम्परा का कथा-काव्य है।"[1] विषय-वस्तु की दृष्टि से भी इसमें भारतीय प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों की व्यंजना सफलतापूर्वक हुई है, जैसे—नायक लोर(लोरिक) एवं नायिका चन्दा का उन्मुक्त प्रणय, प्रथम दर्शन में ही प्रेमोत्पत्ति, विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उनके प्रेम में वाधा, नायक का योगी होकर घर से निकलना, नाग द्वारा नायिका को डसा जाना, गारुड़ी द्वारा उसका ठीक हो जाना आदि। इसकी भाषा अवधी है तथा शैली भावानुकूल और सरस है।

लखमसेन पदमावती कथा : इसकी रचना दामो या दामोदर कवि ने १४५९ ई० में की थी। स्वयं कवि ने इसे 'वीर-कथा' कहा है, किन्तु वास्तव में इसमें राजा लक्ष्मणसेन एवं राजकुमारी पदमावती के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का चित्रण रोमानी शैली में किया गया है। कथा के आरम्भ में मंगलाचरण, गणेश-स्तुति, आत्मपरिचय, रचना-काल एवं रचना के उद्देश्य का निर्देश किया गया है। नायक द्वारा योगी-वेश में घर से निकलने और नायिका के पिता से संघर्ष करके उसे प्राप्त करने की कथा-प्रवृत्तियों का निरूपण पूर्व-परम्परा के अनुसार ही हुआ है। छन्द-योजना में चौपाई के अतिरिक्त दोहा, सोरठा आदि का भी प्रयोग किया गया है। इसकी भाषा राजस्थानी है तथा शैली में इतिवृत्तात्मकता अधिक एवं भावात्मकता कम है, अतः इस रचना का महत्त्व परम्परा को आगे बढ़ाने की दृष्टि से ही अधिक है। दामो कवि सुपठित थे—इसका प्रमाण यह है कि एक तो उन्होंने बीच-बीच में संस्कृत की उक्तियाँ भी प्रस्तुत की हैं और दूसरे, कामशास्त्र एवं नायिका-भेद के शास्त्रीय तत्त्वों का भी समन्वय यत्र-तत्र किया है। काव्य में उनका दृष्टिकोण 'सरस विलास कामरस भाव' से प्रेरित था—साम्प्रदायिकता, धार्मिकता या आध्यात्मिकता का आरोप उन पर सम्भव नहीं।

सत्यवती कथा : 'सत्यवती कथा' (१५०१) के रचयिता ईश्वरदास सगुणोपासक भक्त थे, जिन पर सूफ़ी मत का आरोपण सम्भव नहीं हुआ, कदाचित् इसी कारण आचार्य शुक्ल ने इन्हें भक्तिकाल की किसी भी धारा में स्थान देना उचित नहीं समझा; जबकि सौन्दर्य, प्रेम और विरह के निरूपण एवं अवधी भाषा, दोहा-चौपाई-शैली आदि की दृष्टि से ये हिन्दी-प्रेमाख्यान-परम्परा के उच्च कोटि के कवियों में से एक माने जा सकते हैं। कवि ने आत्म-परिचय देने एवं कथा के रचना-काल का निर्देश करने के साथ-साथ तत्कालीन वादशाह का भी उल्लेख किया है। कथानक का सम्बन्ध राजकुमारी सत्यवती एवं राजकुमार ऋतुपर्ण के प्रथम-दृष्टिजन्य प्रेम-प्रसंग से है; प्रारम्भ में राजकुमार को नायिका के शाप से कोढ़ी होना पड़ता है, पर अन्त में उसका नायिका से विवाह एवं शाप से मुक्ति हो जाती है। पौराणिक भावना से प्रभावित होने के कारण इसमें सतीत्व के महत्त्व को दिग्दर्शित कराने की चेष्टा की गयी है। किन्तु, इसी से इसे प्रेमाख्यान की श्रेणी से वंचित करना अनुचित होगा।

मृगावती : कुतुबन-कृत 'मृगावती' (१५०३) में नायक राजकुमार तथा नायिका मृगावती के प्रथम दर्शनजन्य प्रेम का निरूपण अत्यन्त भावात्मक शैली में हुआ है। परम्परागत प्रेमाख्यानों की विभिन्न प्रवृत्तियों का भी समन्वय इसमें कुशलतापूर्वक हुआ है। मृगावती की प्राप्ति के लिए नायक योगी-वेश में घर से निकल जाता है तथा मार्ग में एक अन्य सुन्दरी को किसी राक्षस के चंगुल से निकालकर उससे विवाह करता हुआ अन्त में मृगावती को पाने में सफल हो जाता है। कथा की परिणति अपभ्रंश के जैन-काव्यों की परम्परा के अनुसार शान्त रस में होती है, क्योंकि नायक की मृत्यु के अनन्तर नायिकाओं का सती होना दिखाया गया

---

[1] वात्स्यायन, भूमिका, पृष्ठ १६

है। इसकी भाषा अवधी है तथा दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है। शैली में सरलता, प्रवाह एवं सरसता मिलती है।

माधवानल कामकन्दला : 'माधवानल कामकन्दला' (१५२७) के रचयिता ग ने नायक माधव एवं नृत्य-विशारदा कामकन्दला के प्रेम का निरूपण अत्यन्त रोमांचक में किया है। नायक कामकन्दला की नृत्य-कला पर मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लग तथा अनेक कठिनाइयों का सामना करने के अनन्तर उसे प्राप्त कर पाता है। इसकी राजस्थानी है। काव्य के आरम्भ में कवि ने अपना परिचय देने से पूर्व कामदेव की स्तुति है। भारतीय कथा-काव्यों की प्रायः सभी प्रवृत्तियों का समन्वय इसमें हुआ है—छन्द-यो की दृष्टि से इसकी विशिष्टता यह है कि इसमें केवल दोहे का प्रयोग किया गया है। सौ प्रेम और शौर्य के अतिरिक्त इसमें धार्मिक तत्त्वों और नैतिक उपदेशों के भी समन्वय प्रयास किया गया है। कवित्व की दृष्टि से भी रचना उच्च स्तर की है।

पदमावत : मलिक मुहम्मद जायसी-कृत 'पदमावत' (१५४०) को इस परम्परा प्रौढ़तम काव्य माना जाता है। इसमें चित्तौड़ के राजा रत्नसेन एवं सिंहल की राजकु पदमावती के प्रेम, विवाह एवं विवाहोत्तर जीवन का चित्रण मार्मिक रूप में हुआ है। इ कथावस्तु को आलोचकों नें दो खण्डों में—रत्नसेन-पदमावती के विवाह तक पूर्वार्द्ध भाग शेष उत्तरार्द्ध भाग—विभाजित करते हुए पूर्वार्द्ध को कल्पना-प्रसूत एवं उत्तरार्द्ध को हासिक माना है, किन्तु अब ये दोनों ही निष्कर्ष विवादास्पद हो गये हैं। जहाँ तक पूर्वार्द्ध बात है, यह जायसी से पूर्व भी विभिन्न रूपों में मिलता है; अतः इसे स्वयं उनकी क कल्पना पर आधारित नहीं माना जा सकता। उत्तरार्द्ध के पूर्णतः ऐतिहासिक होने के विष भी अनेक अकाट्य प्रमाण श्री इन्द्रचन्द्र नारंग और डॉ० शिवसहाय पाठक द्वारा प्रस्तुत जा चुके हैं। स्वयं कवि का कथन है : "आदि अन्त जसि कथ्था अहै, लिखि भाषा चौ कहै।" इससे भी यही प्रमाणित होता है कि आदि से लेकर अन्त तक जैसी गाथा थी, कवि ने हिन्दी चौपाइयों में लिख दिया। सम्भवतः जायसी को यह कहानी किसी हिन्दी भाषा में उपलब्ध हुई थी। डॉ० हरदेव बाहरी ने 'प्राकृत-साहित्य का इतिहास' में जायसी बहुत पूर्व प्राकृत में रचित 'रत्नशेखर कथा' का परिचय दिया है, जिसकी कथावस्तु 'पदमा की कथा से गहरा साम्य रखती है। ऐसी स्थिति में यह भी कहा जा सकता है कि 'रत्नशे कथा' या इससे मिलती-जुलती कोई अन्य कथा पदमावतकार के समक्ष रही थी, जिसे उन् पल्लवित करके हिन्दी-रूप दे दिया। किन्तु, इसका यह तात्पर्य नहीं है कि 'पदमावत' के क सौन्दर्य की अभिवृद्धि में इसके रचयिता का कोई योगदान नहीं है—वस्तुतः परम्परागत क ढाँचे को सुविकसित करके उसे जैसा सुरम्य रूप दिया गया है, वह निश्चय ही कवि की अ प्रतिभा व कल्पना-शक्ति की सबलता को प्रमाणित करता है।

'पदमावत' मूलतः रोमांचक शैली का कथा-काव्य है, किन्तु आलोचकों ने इसे आद परक महाकाव्यों की कसौटी पर कसने का प्रयास किया; फलस्वरूप उन्हें निराशा का साम करना पड़ा। कुछ विद्वानों ने कथा-काव्य और महाकाव्य की मूल चेतना एवं पद्धति के मू अन्तर को समझे बिना ही बलात् इसे महाकाव्य सिद्ध करने का प्रयास भी किया है। इ अतिरिक्त उन विद्वानों ने, जिनके लिए भारतीयता का आदर्श एकमात्र राम का एकपत्नी एवं सीता का पातिव्रत्य है, इसकी प्रेम-पद्धति को सर्वथा विदेशी एवं इसके प्रतिपाद्य को मत घोषित कर दिया। यह आश्चर्य की बात है कि जिस काव्य का नायक हिन्दू है, जो क पन्थी वेश में घर से निकलता है तथा जो शिव-पार्वती की सहायता से अपने लक्ष्य में स

होता है, वह सूफ़ी मत का सन्देश किस प्रकार विज्ञापित कर पाता है ! यदि पदमावतकार के दृष्टिकोण में कहीं भी साम्प्रदायिकता या मत-प्रचार की भावना होती तो वह अपने ही धर्म-भ्राता अलाउद्दीन को शैतान का प्रतिनिधि नहीं बनाता। वस्तुतः कवि ने अपना प्रयोजन स्पष्ट शब्दों में व्यक्त करते हुए लिखा है : "औ मन जानि कबित अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा।" अर्थात् जगत् में अपना चिह्न छोड़ जाने के लिए यह काव्य लिखा गया है—किन्तु फिर भी यह भ्रान्त धारणा प्रचलित है कि इसकी रचना सूफ़ी मत के प्रचार के उद्देश्य से हुई थी।

'पदमावत' के विभिन्न पात्र विभिन्न दार्शनिक तत्त्वों के भी प्रतीक हैं—इस दृष्टि से इसे रूपक-काव्य (allegory) भी कहा जा सकता है। प्रतीकार्थों का संकेत कवि ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में अपने काव्य के अन्त में इस प्रकार दे दिया है :

मैं ऐहि अरथ पंडितन्ह बूझा। कहा कि हम्ह किछू और न सूझा।

× × ×

तन चितउर मन राजा कीन्हा। हिय सिंघल, बुद्धि पदमिनी चीन्हा।
गुरु सुवा जेहि पन्थ देखावा। बिन गुरु जगत को निरगुण पावा।
नागमती यह दुनिया धंधा। बाँचा सोइ न एहि चित बंधा।

उपर्युक्त रूपक स्पष्टतः भारतीय निर्गुण-साधना का द्योतक है, जिसमें साधक का मन (रत्नसेन) शरीर-सुख (चित्तौड़) का त्याग करके गुरु के निर्देश से उपलब्ध सात्त्विक ज्ञान (पदमावती) की सहायता से अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। किन्तु, आचार्य शुक्ल ने जायसी के प्रतीकार्थों को तोड़-मरोड़कर उन्हें ऐसा रूप देने की चेष्टा की, जिससे कि इस रूपक से भारतीय निर्गुण-साधना के स्थान पर सूफ़ी-साधना की व्यंजना हो सके। जायसी ने रत्नसेन को मन का प्रतीक माना था, शुक्ल जी ने उसे आत्मा का प्रतीक बना दिया; कवि के अनुसार पदमावती केवल सात्त्विक बुद्धि (श्रद्धायुक्त ज्ञान) की प्रतीक थी, जबकि शुक्ल जी ने उसे 'बुद्धि अर्थात् परमात्मा' की प्रतीक बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि रत्नसेन-पदमावती अर्थात् आत्मा-परमात्मा के मिलन के बाद रूपक आगे नहीं बढ़ पाता। इसका समाधान यह खोजा गया कि रूपक 'पदमावत' के पूर्वार्द्ध पर ही लागू होता है, उत्तरार्द्ध पर नहीं। किन्तु, जायसी ने तो राघव चेतन और अलाउद्दीन को भी क्रमशः शैतान और माया का प्रतीक मानकर उत्तरार्द्ध को भी रूपक से सम्बन्धित माना है, क्योंकि ये पात्र काव्य के उत्तरार्द्ध में ही आते हैं। इस तरह जब आलोचक-प्रवर को पूरे काव्य पर सूफ़ी मत आरोपित करने में सफलता न मिली, तो उन्होंने रूपक को ही असंगत घोषित कर दिया। परवर्ती सम्पादकों ने इस असंगत रूपक को ही प्रक्षिप्त घोषित करके शोधकर्त्ताओं को इसका वास्तविक अर्थ खोजने के कष्ट से सदा के लिए मुक्त कर दिया। फिर भी, शुक्ल जी का यह कथन कि रत्नसेन-पदमावती आत्मा-परमात्मा के प्रतीक हैं—आज भी हमारे लिए 'वेद-वाक्य' है। जायसी पर अनेक विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से शोध-कार्य किया है, किन्तु 'पदमावत' की रूपक सम्बन्धी उपर्युक्त लक्ष्मण-रेखा के उल्लंघन का साहस उनमें से कोई भी नहीं कर पाया, जबकि कवि की पंक्तियाँ आज भी चुनौती दे रही हैं :

प्रेम कथा एहि भाँति विचारहु।
बुझि लेउ, जौ बुझै पारहु॥

अस्तु यदि जायसी के संकेतों को यथार्थ रूप में ग्रहण करते हुए उनका अनुगमन किया जाए तो 'पदमावत' का समस्त रूपकत्व सर्वथा संगत एवं निर्दोष सिद्ध होता है, किन्तु उस

स्थिति में वह सूफी साधना का प्रतिपादक न होकर भारतीय मोक्ष-साधना का ही होता है। 'पदमावत' के रूपक-तत्त्व का भारतीय साधना-पद्धति से कितना गहरा यह देखने के लिए 'कामायनी' के रूपक से भी इसकी तुलना की जा सकती है। पात्रों के प्रतीकार्थों में गहरा साम्य है :

पदमावत	कामायनी	प्रतीकार्थ
१. रत्नसेन	मनु	मन
२. पदमावती	श्रद्धा	'हृदयनिवासिनी बुद्धि' या
३. नागमती	इड़ा	'दुनिया धंधा' या 'सांसारि ओर ले जानेवाली बुद्धि'
४. राघव-चेतन और अलाउद्दीन	किलात-आकुलि	आसुरी शक्तियाँ

'पदमावत' और 'कामायनी' दोनों में ही साधक सात्त्विक बुद्धि या श्रद्धा की से बन्धनों से मोक्ष या अलौकिक आनन्द प्राप्त करते हैं—अतः 'पदमावत' के रूपक सम्बन्ध सूफ़ी मत से न होकर भारतीय साधना-पद्धति से ही सिद्ध होता है—इस सन्देह नहीं।

कवित्व एवं भाव-व्यंजना की दृष्टि से 'पदमावत' अत्यन्त उच्च कोटि का का पदमावती के सौन्दर्य, नागमती के विरह, रत्नसेन के साहस, त्याग एवं शौर्य की इसमें अत्यन्त प्रभावोत्पादक शैली में हुई है। भारतीय कथा-काव्य की प्रायः सभी रू प्रवृत्तियों का नियोजन इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। काव्य की शैली में सर्वत्र प्रौ गम्भीरता परिलक्षित होती है। प्रतीकात्मक या रूपक-तत्त्व के कारण इसमें व्यंग्य-प्रधा का प्रादुर्भाव सहज ही हो गया है। इसकी भाषा अवधी है तथा छन्द-योजना में निर्वा में चौपाई व दोहे का प्रयोग हुआ है। मध्यकालीन आख्यानों में विभिन्न शास्त्रों के गुम्फित करने की भी प्रवृत्ति रही है—'पदमावत' में यह अपने चरमोत्कर्ष रूप में दृष्टि होती है। भारतीय दर्शन, ज्योतिष, कामशास्त्र, पाकशास्त्र, बाग़बानी, शस्त्र-विद्या परम्परागत ज्ञान का गुम्फन इसमें चेष्टापूर्वक किया गया है जिससे कहीं-कहीं अना विस्तार एवं अरुचिकर इतिवृत्तात्मकता का दोष भी इसमें आ गया है। फिर भी, सम में यह अत्यन्त उच्च कोटि का प्रबन्धकाव्य है, जिसकी तुलना में 'रामचरितमानस' और यनी' जैसे कुछ काव्य ही रखे जा सकते हैं।

'पदमावत' के अतिरिक्त जायसी द्वारा रचित और भी अनेक काव्य उपलब्ध जिनमें 'अखरावट', 'आखिरी कलाम', 'चित्ररेखा', 'कहरानामा', 'मसलानामा' आदि नीय हैं। इनमें 'चित्ररेखा' एवं लघु प्रेमाख्यान है, जबकि शेष अत्यन्त छोटी-छोटी हैं, जो कवि की विचारधारा के विभिन्न पक्षों तथा नये-नये प्रयोगों के अध्ययन की महत्त्वपूर्ण हैं।

मधुमालती : मंझन-कृत 'मधुमालती' (१५४५) में नायक-नायिका के प्रथम जन्य प्रेम के साथ-साथ पूर्व-जन्म के प्रणय-संस्कारों को भी महत्ता दिखायी गयी है। के प्रेम की गम्भीरता एवं एकोन्मुखता का परिचय इस बात से मिलता है कि वह एक तो मधुमालती की प्राप्ति के लिए भाँति-भाँति के कष्टों को सहन कर लेता है तथा दूसरी महासुन्दरी प्रेमा के प्रणय-प्रस्ताव को ठुकरा देता है। सामान्यतः हिन्दी-प्रेमाख्यानों में

को बहुपत्नीवादी दिखाया गया है, किन्तु यह प्रेमाख्यान इसका अपवाद है। प्रेमाख्यानों की परम्परागत रूढ़ियों में से नायक के योगी होकर घर से निकलने, किसी अन्य राजकुमारी को राक्षस से बचाने, माँ के शाप के कारण नायिका के पक्षी हो जाने आदि का निर्वाह इसमें मिलता है। कवि का लक्ष्य प्राय: प्रेम के उच्च एवं उदात्त स्वरूप की व्यंजना करना रहा है, जिसमें वह सफल हुआ है। इसमें अवधी भाषा एवं दोहा-चौपाई का प्रयोग हुआ है तथा इसकी शैली में सरलता व सरसता दृष्टिगोचर होती है।

ढोला मारू रा दूहा : कल्लोल कवि द्वारा रचित 'ढोला मारू रा दूहा' राजस्थानी प्रेमाख्यान है, जिसका रचना-काल श्री नरोत्तमदास स्वामी ने १३९३ ई० के पूर्व माना है, जबकि डॉ० मोतीलाल मेनारिया ने अन्त:साक्ष्य के आधार पर इसे १४७३ ई० में रचित सिद्ध किया है। इस काव्य में नरवर देश के राजकुमार ढोला (दूल्हा) और पूंगल देश की राजकुमारी मारवणी के विवाहोत्तर प्रेम और विरह का निरूपण अत्यन्त मार्मिक रूप में किया गया है, किन्तु फिर भी यह शुद्ध प्रेमाख्यान या रोमान्स-काव्य की श्रेणी में नहीं आता, क्योंकि रोमान्स में विवाह-पूर्व प्रेम एवं नायिका की प्राप्ति के लिए किये गये शौर्य की व्यंजना आवश्यक होती है; जबकि इसमें इनका अभाव है। कदाचित् गार्हस्थिक-दाम्पत्य भाव एवं शुद्ध रोमान्स के अन्तर को न समझ पाने के कारण ही इसे प्रेमाख्यानों में स्थान देने की परम्परा चल पड़ी है। फिर भी, प्रेम और विरह की मार्मिकता की दृष्टि से यह अत्यन्त उच्च कोटि का काव्य है। मारवणी के सन्देश में प्रणय-भाव की गम्भीरता दिखायी पड़ती है :

कागल नहीं क मसि नहिं, क लिखताँ आलस थाई।
कई उण देस संदेसड़ा, मोलई बडई बिकाई॥

× × ×

तू ही सज्जण मित्त तूं प्रीतम तूं परिवांण।
हियड़ई -भीतर तूं बसई, भावई जांण न जाण॥

काव्य-शैली की दृष्टि से भी यह परम्परागत प्रेमाख्यानों से भिन्न है—इसमें केवल दोहों का प्रयोग है, भाषा पुरानी राजस्थानी है। अत: विषय-प्रतिपादन एवं शैली दोनों ही दृष्टियों से इसे रोमानी आख्यान के स्थान पर विशेष प्रकार का शृंगार-काव्य मानना उचित होगा।

माधवानल कामकन्दला चौपई : यह इसी नाम के पूर्व-रचित प्रेमाख्यान पर आधारित काव्य है, जिसकी रचना १५५६ ई० में कुशललाभ द्वारा हुई। इसमें नायक-नायिका के अनेक जन्मों की कथा का प्रतिपादन अत्यन्त विस्तार से किया गया है। इसमें चौपाइयों के बीच-बीच में दोहा, सोरठा, गाथा आदि का प्रयोग हुआ है तथा इसकी भाषा राजस्थानी है।

रूपमंजरी : अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि नन्ददास द्वारा रचित 'रूपमंजरी' (१५६८) में प्रेमाख्यान-परम्परा की विभिन्न प्रवृत्तियों का समन्वय करते हुए रूपमंजरी और कृष्ण के प्रेम का चित्रण अत्यन्त स्वच्छन्द रूप में किया गया है। रूपमंजरी विवाहिता है, किन्तु वह स्वप्न में कृष्ण को देखकर उनसे प्रेम करने लगती है। अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए वह दाम्पत्य, परिवार एवं समाज की मर्यादाओं के अतिक्रमण में भी कोई संकोच नहीं करती। वस्तुत: कवि का लक्ष्य भी वैवाहिक बन्धनों का विरोध करते हुए परकीया-भाव या उपपत्ति रस की स्थापना करना है, जिसका समर्थन उन्होंने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में किया है। नायिका के रूप-सौन्दर्य, प्रणय-वेदना, विरह आदि के निरूपण में भी कवि ने अतिशयोक्तिपूर्ण शैली का प्रयोग किया है। कदाचित् कवि के उन्मुक्त प्रेम-निरूपण का भक्त-मण्डली द्वारा विरोध

हो सकता है—इस सम्भावना का निराकरण करने के लिए कवि ने आरम्भ
व्यक्तियों को 'नीरस' घोषित करके उनका मुँह बन्द कर दिया है :

पुनि कवि अपने मन मैं गुनै । मो कबित कोउ निरस न सुनै ॥
× × ×
बाला-स्मित कटाच्छ अरु लाजा । अँधेरे बालम कै किहि काजा ॥

काव्य के आरम्भ में कवि ने ईश-स्तुति, रचना के उद्देश्य, आत्म-परिचय
निरूपण प्रेमाख्यानों की परम्परा के अनुसार ही किया है तथा इसमें दोहा-चौपाई
भी प्रयोग हुआ है, किन्तु इसकी भाषा ब्रजभाषा है। काव्यत्व की दृष्टि से भी
अत्यन्त प्रौढ़ एवं मार्मिक है।

प्रेमविलास प्रेमलता की कथा : इसकी रचना जैन श्रावक जटमल ने १५५
'लाहौर में की थी। कवि ने इसका आरम्भ 'जैनाय नमः' से करते हुए अपना-परि
तत्कालीन शासक का नाम भी दिया है। इसकी कथावस्तु मौलिक है, जिसमें लोको
नाओं की प्रधानता है। नायक-नायिका का प्रेम प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा उत्पन्न होता है
गुप्त विवाह करके घर से भाग जाते हैं। कथा की परिणति शान्त रस में की गयी है
दोहा-चौपाई छन्दों का प्रयोग हुआ है, शैली में परिपक्वता का अभाव है।

छिताई वार्ता : 'छिताई वार्ता' (१५९०) के रचयिता नारायणदास थे,
इतिहास और कल्पना के बल पर अपनी कथा का निर्माण किया। इसकी नायिका
देवगिरि के राजा रामदेव यादव की कन्या थी, जो ढोल समुदगढ़ के राजकुमार से प्रे
थी। नायक-नायिका के विवाह के अनन्तर अलाउद्दीन खिलजी द्वारा उनके प्रणय में
उपस्थित किया जाता है, किन्तु अन्त में उनका पुनर्मिलन हो जाता है। 'पदमावत'
चेतन इस काव्य में भी दौत्य-कर्म का पालन करता है। अनेक अन्य दृष्टियों से
कथानक 'पदमावत' से प्रभावित सिद्ध होता है। इसकी भाषा राजस्थानी-मिश्रित
है तथा इसमें दोहा-चौपाई-शैली का प्रयोग किया गया है। कवि ने बीच-बीच में
सम्बन्धी तत्त्वों का भी निर्देश किया है। काव्यत्व की दृष्टि से रचना साधारण है।

माधवानल-कामकन्दला : इस प्रेम-कथा को लेकर अनेक आख्यान इससे पूर्व
जा चुके थे, किन्तु आलम कवि ने प्रस्तुत 'माधवानल-कामकन्दला' (१५८४) को
मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया है। पूर्ववर्ती कवियों ने नायक-नायिका के अनेक जन्मों
नाओं का वर्णन किया है, जबकि आलम ने एक ही जन्म की घटनाओं का निरूपण
रूप में किया है। इसकी भाषा अवधी है और चौपाइयों की पाँच-पाँच अर्द्धालियों
दोहे या सोरठे का प्रयोग किया गया है। काव्यात्मकता की दृष्टि से यह रचना
एवं मार्मिक है।

चित्रावली : 'चित्रावली' (१६१३) के रचयिता उसमान गाजीपुर के
अपनी रचना का उद्देश्य उन्होंने अमर होने की इच्छा की पूर्ति करना बताया है।
उन्होंने अन्य कवियों को 'चित्रावली' से बढ़कर प्रेमकथा लिखने की चुनौती भी दी है
बुद्धि होइ अधिकाई, आन कथा एक कहै बनाई।" इसमें कथा-काव्य की प्रायः सभी
—ईश्वर-स्तुति, आत्मपरिचय, समकालीन शासक का उल्लेख आदि—का निर्वाह
सुजान और चित्रावली के चित्र-दर्शनजन्य प्रेम का निरूपण किया गया है। शिव के
से नायक की उत्पत्ति, देव द्वारा सोते हुए नायक को नायिका के रंगमहल में
शिव-मन्दिर में नायक-नायिका का प्रथम साक्षात्कार, नायक द्वारा नायिका के

सुन्दरी का उद्धार और उससे विवाह, नायिका के पिता द्वारा नायक का विरोध, समुद्री न आदि परम्परागत कथानक-रूढ़ियों का सन्निवेश इसमें सफलतापूर्वक हुआ है। सौन्दर्य, और विरह की व्यंजना में कवि ने सहृदयता एवं भावप्रवणता का परिचय दिया है। में चौपाई की सात-सात अर्द्धालियों के पश्चात् एक-एक दोहे का प्रयोग किया गया है। काव्य की भाषा सरल और प्रवाहपूर्ण अवधी है।

रसरतन : इसके रचयिता पुहकर अकबर के दरबारी दुर्गादास के प्रपौत्र थे। पुहकर क्षित एवं सुपठित थे, जिसकी झलक उनके काव्य में भी मिलती है। 'रसरतन' (१६१८) राजकुमारी रम्भा और सोम के प्रेम का निरूपण किया गया है। रम्भा का जन्म चण्डी उपासना से होना, नायक-नायिका के प्रेम का उद्भव स्वप्न-दर्शन द्वारा होना, अप्सराओं सोते हुए राजकुमार को उठा ले जाना, नायक का योगी के वेश में घर से निकलना, व-मन्दिर में नायक-नायिका की भेंट, तोते के द्वारा सन्देशों का आदान-प्रदान आदि कथा-ढ़ियों का प्रयोग परम्परा के अनुसार ही किया गया है। नारी-सौन्दर्य, नायिका की सम्भोग-लीन चेष्टाओं, विरह-वेदना आदि के निरूपण में कवि ने विशेष रुचि प्रदर्शित की है। रह-दशाओं के निरूपण में रीति-तत्त्वों का भी उपयोग किया गया है। इसकी भाषा अवधी तथा छन्द-योजना में दोहा-चौपाई प्रयुक्त हैं।

ज्ञानदीप : 'ज्ञानदीप' (१६१९) की रचना शेख नबी द्वारा हुई थी। उन्होंने अपने पाद्य विषयों में वीर, शृंगार, विरह और योग का उल्लेख करते हुए परम्परागत कथाओं भी सहायता लेने की बात स्वीकार की है। कुछ कथानक-रूढ़ियों में मौलिकता लाने का प्रयास किया गया है, जैसे कि इसमें नायक के स्थान पर नायिका की सखी योगी का वेश ण करती है। 'नलोपाख्यान' की भाँति इसमें भी नायक की खोज के लिए स्वयंवर का योजन होता है। इसकी भाषा अवधी है तथा इसमें दोहा-चौपाई शैली का प्रयोग किया है। कवि ने ज्ञान-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के कारण संगीत की राग-रागिनियों, वैवाहिक कारों, शकुनों आदि का विवरण प्रस्तुत किया है जिससे भाव-व्यंजना शिथिल एवं प्रभाव- हो गयी है। शेख़ नबी ने मुसलमान होते हुए भी वेद-मार्ग की प्रशंसा जी खोलकर की काव्यत्व की दृष्टि से रचना साधारण है।

जान कवि के प्रेमाख्यान-काव्य : सत्रहवीं शती के मध्य संख्या की दृष्टि से सर्वाधिक ख्यानों की रचना करने का श्रेय जान कवि को हैं, जिनका रचना-काल १६१२-१६६४ माना जाता है। उन्होंने ७८ काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें २९ प्रेमाख्यान हैं। से प्रमुख ये हैं—कथा रतनावती, कथा कनकावती, कथा कँवलावती, कथा मोहिनी, नल-दमयन्ती, कथा कलावन्ती, कथा रूपमंजरी, कथा षिजरषां साहिजादै वा देवलदे, कलन्दर आदि। इनमें प्रायः कथा-काव्य के लक्षणों का निर्वाह किया गया है। इनमें में प्रेम और विरह की प्रमुखता है। संख्या-विस्तार की प्रवृत्ति के कारण ही जान कवि अनेक प्राचीन व समसामयिक भारतीय प्रेम-कथाओं का पुनलखन करने के साथ-साथ रसी-प्रेमाख्यानों की ओर भी ध्यान दिया है। कदाचित् वे पहले हिन्दी-कवि हैं जिन्होंने रसी के लैला-मजनू आख्यान को लेकर 'ग्रन्थ लै लै मजनूं' काव्य की रचना की है। त्व की दृष्टि से उनकी रचनाएँ साधारण कोटि की हैं तथा उनकी भाषा राजस्थानी-वित ब्रजभाषा है। छन्द-योजना में दोहा-चौपाई के अतिरिक्त कवित्त, सवैया आदि का प्रयोग किया गया है।

नल-दमयन्ती सम्बन्धी प्रेमाख्यान-काव्य : इस प्रसिद्ध आख्यान को लेकर अनेक हिन्दी-

कवियों ने प्रेमकथाओं की रचना का है, जिनमें नरपति व्यास और मुकुन्दसिंह उल्लेखनी इनकी रचनाओं के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—'नल-दमयन्ती' (१६२५), 'नल (१६४१)। ये दोहा-चौपाई-शैली में रचित हैं और काव्यत्व की दृष्टि से इनका रचन साधारण है।

मूल्यांकन

अन्त में हम इस युग की अन्य काव्यधाराओं के परिप्रेक्ष्य में प्रेमाख्यान-काव्य के पर विचार करते हुए कह सकते हैं कि हिन्दी की यही एक ऐसी काव्य-परम्परा है जि प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश की कथा-काव्य-परम्परा से सीधा सम्बन्ध स्थापित होता है जिसमें भारतीय साहित्य-परम्परा की विभिन्न कथानक-रूढ़ियों व काव्य-प्रवृत्तियों का निधित्व विद्यमान है। साथ ही यह मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य की भी सबसे दी व्यापक परम्परा कही जा सकती है। धर्माश्रय एवं राजाश्रय से दूर लोकाश्रय में मुक्त में पोषित होनेवाली यही एक परम्परा है जिसने मध्ययुगीन जनता की काव्य-रुचि एवं रंजन की अभिलाषा को रोमांचक आख्यानों द्वारा तुष्ट किया। जैसा कि सोलहवीं कवि बनारसीदास ने अपनी आत्मकथा 'अर्द्धकथानक' में बताया है, उस युग के युव आख्यानों को पढ़ने के लिए सदा लालायित रहते थे, जिससे इनकी लोकप्रियता का मिलता है।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा जन-साधारण के ज्ञान-कोश में भी अभिवृद्धि हुई, अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं में विभिन्न शास्त्रीय तत्त्वों—दार्शनिक, धार्मिक, कामशास्त्रीय, ज्योतिष, वैद्यक सम्बन्धी आदि—का भी समन्वय किया है। मध्य संस्कृति एवं लोक-जीवन के नाना पक्षों का भी चित्रण इनमें सहज-स्वाभाविक रूप है। अतः पूर्व-परम्परा के निर्वाह एवं युगीन वातावरण के चित्रण की दृष्टि से तो महत्त्व निर्विवाद रूप में है, साथ ही शुद्ध काव्यत्व की दृष्टि से भी यह परम्परा कम पूर्ण नहीं है। रसराज श्रृंगार के तीन प्रमुख पक्षों—सौन्दर्य, प्रणय एवं विरह—का इनमें अतिशय रोमांचक रूप में हुआ है। यद्यपि भक्तिकाल और रीतिकाल की अन्य धाराओं में भी प्रेम और श्रृंगार के विभिन्न रूप उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनकी प्रणय की विशेषता यह है कि वह न तो अपना औचित्य सिद्ध करने के लिए किसी पौराणि तार का आश्रय ग्रहण करती है और न ही दूत-दूतिकाओं के माध्यम से आयोजित हो सम्भोग-क्रीड़ा तक सीमित रह जाती है; अपितु वह साहस, त्याग एवं आत्मबलिदा भावना से पुष्ट होकर शुद्ध, परिष्कृत एवं उदात्त रूप में परिणत होती है। इन आख्या नायक अपने प्रणय-स्वप्नों की पूर्ति के लिए प्रायः अपने प्राणों को भी समर्पित करने प्रस्तुत रहते हैं, अतः निश्चय ही उनकी गाथा पाठक को कामोद्रेक एवं भोग-लालसा उठाकर सौन्दर्य, शौर्य एवं औदात्त्य की उच्च भूमि की ओर अग्रसर करती है। यह बात सभी प्रेमाख्यानों पर लागू नहीं होती, किन्तु फिर भी समग्र रूप में इन आ को स्वच्छन्द प्रेम की स्वच्छ, गम्भीर, भव्य एवं उदात्त व्यंजना के रूप में ग्रहण मध्यकालीन हिन्दी-काव्य में इन्हें अत्यन्त उच्च स्थान प्रदान किया जा सकता है।

सगुण भक्तिकाव्य

वैष्णव भक्ति का उदय

भक्ति के उद्‌भव और विकास के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करनेवाले आर्यों में भक्ति के मूल बीज विद्यमान थे और भक्ति के विविध प्रकारों को उन्होंने वैदिक काल में ही किसी-न-किसी रूप में ग्रहण कर लिया था। मध्ययुगीन सगुण भक्ति में उपलब्ध अनुरागसूचक भक्ति की अभिव्यक्तियों को पाश्चात्य विद्वान् अभारतीय मानकर विदेशी प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न करते रहे हैं। वेबर, कीथ, ग्रियर्सन, विल्सन आदि पाश्चात्य विद्वानों ने कृष्ण को क्राइस्ट और कृष्णभक्ति को ईसामसीह् की प्रेमोपासना का रूप सिद्ध करने का प्रयास किया है। वेबर महोदय ने तो कृष्ण-जन्माष्टमी पर्व और 'महाभारत' में वर्णित श्वेत द्वीप को भी ईसाई धर्म की देन बताया है। किन्तु, जिन कल्पित तथ्यों के आधार पर सगुण भक्ति को अभारतीय सिद्ध करने का प्रयास किया गया, उन सभी तथ्यों को अनुसन्धान द्वारा अनेक विद्वानों ने निर्मूल एवं भ्रामक ठहरा दिया है। सगुण भक्ति के रागतत्त्व की प्रधानता देखकर जिन पाश्चात्य विद्वानों को इसके उद्‌भव के सम्बन्ध में भ्रम हुआ, निश्चय ही उन्होंने न तो वैदिक वाङ्मय का अध्ययन किया था और न उन्होंने भारतीय उपासना-मार्ग की परम्परा को समझा था। भारतीय भक्ति-साधना का जितना व्यापक विस्तार वैदिक काल से मध्य युग तक हुआ, यदि उसका शतांश भी इन विद्वानों को विदित होता तो भक्ति को अभारतीय या विदेशी तत्त्व कहने की भूल ये न करते।

वस्तुतः वैष्णव भक्ति के क्रमिक विकास का यदि अनुसन्धान किया जाए तो उसका बीज वैदिक धर्म में लक्षित होगा। वैदिक विष्णु देवता को यदि सगुण भक्ति का अवतारी देवता माना जाए, तब तो इसका क्रमिक विकास सहज ही स्थिर हो जाता है; किन्तु वैदिक विष्णु और भागवत धर्म के स्वीकृत विष्णु देवता में भेद माना जाता है। भागवत धर्म का उदय ईसा से चार-पाँच शती पूर्व हो गया था, अतः मध्ययुगीन भक्ति के मूलाधार विष्णु (राम और कृष्ण) देवता न तो पाश्चात्य प्रभाव की उपज हैं और न रागानुगा प्रेमाभक्ति किसी अभारतीय तत्त्व से प्रभावित है। भागवत, पांचरात्र और सात्वत मतों का उल्लेख 'महाभारत' में बड़े विस्तार से उपलब्ध है और इन्हीं मतों का विकास मध्ययुग में हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों को विदित

होना चाहिए कि वैदिक विष्णु देवता को यदि वे मध्ययुगीन विष्णु का रूप नहीं मानते भागवत धर्म में स्वीकृत विष्णु तो ईसामसीह से पाँच हज़ार वर्ष प्राचीन हैं। भागवत पुनर्गठन ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी में हुआ था, जिसके फलस्वरूप यूनान देश के निवासी डोरस ने अपने को 'भागवत' कहने में गौरव का अनुभव किया और अपने गरुड़ वासुदेव के रूप में विष्णु का उल्लेख किया। गुप्त सम्राट् भी अपने को 'परम कहने में गौरव मानते थे। गुप्त-काल में विष्णु के अवतारों की केवल चर्चा ही नहीं अर्चना भी होती थी। इसी समय के अभिलेखों में विष्णु के वासुदेव, नारायण आदि का उल्लेख इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी उपासना-पूजा के लिए अनेक नाम हो चुके थे। इन प्रमाणों की ओर पाश्चात्य विद्वानों ने ध्यान न देकर सगुण भ अभारतीय सिद्ध करने का मिथ्या प्रयास किया है।

सगुण भक्ति-साहित्य में अनुरागपरक—माधुर्यभाव-मण्डित—अभिव्यक्तियों के कर एक दूसरे प्रकार का भ्रम भी फैला है। प्रेम, राग और शृंगार के साथ दैन्य एवं की उक्तियाँ यह भ्रम उत्पन्न करने में सहायक हुई हैं कि निर्गुण-निराकार ब्रह्मोपासना हटकर सगुणोपासक भक्त कवि तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों से खिन्न और होकर भगवान् की शरण में जाने को लालायित हुए थे। राजनीतिक दासता अर्थात् शासकों की साम्राज्य-स्थापना के बाद हिन्दू-जनता एक प्रकार की लाचारी, परवश निराशा में लीन होकर ईश्वर की शरण में जाने के सिवा त्राण का कोई उपाय ढूँढ़ नहीं थी। फलतः राम और कृष्ण की सगुण भक्ति द्वारा वह ऐसे अवतारी भगवान् को अ रखना चाहती थी जो निस्सम्वल, त्रस्त, पीड़ित और विषण्ण हिन्दू जनता की रक्षा कर इन सगुणोपासक भक्त कवियों ने नाथ-पन्थ या अन्य निर्गुणपन्थी कवियों का अनु करते हुए अवतारी विष्णु भगवान् को अपना आराध्य बनाया और उसके रूप, शील सौन्दर्य आदि के मनोहारी चित्र अपनी कविता में अंकित किये। इस प्रकार के व परोक्ष रूप से उनकी यह धारणा रही कि राजनीतिक दासत्व से पीड़ित होने पर भी शान्त और आत्मनिर्भर होने का मार्ग सगुण भक्ति के माध्यम से सुलभ हो सकता है। साहित्य का इतिहास लिखनेवाले विद्वानों ने इन भक्त कवियों की भक्ति-भावना राजनीतिक परिस्थिति का प्रच्छन्न प्रभाव स्वीकार किया है। किन्तु, सगुण भक्ति की का अनुशीलन करने से यह विदित होता है कि हिन्दी के भक्त कवियों की सगुण भक्ति- समग्रतः या अंशतः राजनीतिक परिस्थिति या परिवेश का परिणाम न होकर वैदिक प्रवहमान भक्ति का ही एक रूप था। अवतारवाद की कल्पना के साथ ही इस देश में भक्ति के इस व्यापक भक्ति-भाव को स्थान मिल गया था और इसके विभिन्न रूप और भी विकसित होने लगे थे। यदि राजनीतिक दासत्व का दुःखद प्रसंग न भी आता सगुण भक्ति अपने स्वाभाविक रूप में विकसित होती।

सगुण भक्ति के प्रबल प्रवाह का एक अन्य कारण और भी निर्दिष्ट किया जाता कुछ विद्वानों का मत है कि बौद्ध और जैन धर्मों को नास्तिक ठहरा देने के बाद अद्वैतवा प्रचार हुआ और शंकराचार्य इस सिद्धान्त के प्रबल पोषक बने। 'अहं ब्रह्मास्मि' और खल्विदं ब्रह्म' के आधार पर संसार को मिथ्या और क्षणभंगुर माननेवाले ब्रह्मज्ञानी के साथ कुछ अज्ञानी और निरक्षर ब्रह्मवादी भी पैदा हो गये। निर्गुण ब्रह्म की बात कर ये तथाकथित अज्ञानी साधु-संन्यासी न तो ब्रह्म-विद्या से परिचित थे और न किसी तत्त्वज्ञान का ही इन्हें बोध था। वैराग्य और मायावाद का ढोंग करनेवाले इन साधु

माज में एक ऐसी लहर अवश्य व्याप्त कर दी थी जो संसार को क्षणभंगुर बताकर विरक्त नने का प्रोत्साहन देनेवाली थी । ऐसे निरगुनिये दम्भी साधकों से बचने और संसार को रयुक्त मानकर भगवद्भक्ति के पथ पर जनमानस को लाने के लिए सगुण-साकार अवतारी ष्णु की भक्ति का रामानुज, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि दाक्षिणात्य आचार्यों द्वारा नः प्रवर्तन किया गया । इन आचार्यों ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध करते हुए भक्ति-र्गीय उपासना को प्रश्रय दिया और अपनी साम्प्रदायिक दृष्टि के साथ नवीन अद्वैत-दर्शन थापित किया । तुलसी, सूर आदि कवियों ने इन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित सगण भक्ति-र्ग को प्रशस्त करने में योग दिया ।

ष्णव धर्म के विविध रूप और वैष्णव भक्ति

वैष्णव धर्म का व्यवस्थित रूप हमें विष्णु-पूजा के रूप में भागवत धर्म के प्रतिपादक चरात्र, सात्वत एवं नारायणी धर्म की शाखाओं में दृष्टिगत होता है। इन सम्प्रदायों में क्ति-मार्ग का स्पष्ट उल्लेख होने से वैष्णव भक्ति का इन्हीं से प्रवर्तन मानना चाहिए । ल-निर्धारण के लिए हम प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० बूलर का अभिमत स्वीकार कर सकते जिसमें उन्होंने भागवत, सात्वत और पांचरात्र सम्प्रदायों को नारायण-उपासना या देवकी-कृष्ण की उपासना के सम्प्रदाय कहा है और जिनका समय जैन धर्म के प्रादुर्भाव से बहुत हले ईसा-पूर्व आठवीं शताब्दी ठहराया है ।[1] पालि-साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् सेनार्ट ने भी ह मत प्रकट किया है कि विष्णु-भक्ति के तत्त्वों तथा कथानकों को बौद्ध साहित्य में ग्रहण या गया है । भागवत धर्म की स्थापना बुद्ध-जन्म के बहुत पूर्व हो चुकी थी ।[2] विष्णु-पूजा सम्बन्ध में अँगरेज़-विद्वान् बार्थ का भी मत है कि यह बहुत प्राचीन है ।[3] वृक्ष, सर्प आदि पूजा से पहले विष्णु-भक्ति प्रचारित हो चुकी थी, इसलिए विष्णु-पूजा का कोई विदेशी सीथियन मूल उद्भव स्वीकार करना सर्वथा भ्रममूलक है ।

विष्णु और वासुदेव की एकता स्थापित करनेवाले भक्ति-सम्प्रदायों में भागवत-म्प्रदाय के वाद सात्वत धर्म माना जाता है । वासुदेव को ही इसका प्रवर्तक भी स्वीकार या जाता है । 'वासुदेव' और 'सात्वत' शब्द पर्याय के रूप में भी उपलब्ध हैं । सात्वत धर्म वाद पांचरात्र धर्म का स्थान आता है, जो अपेक्षाकृत अधिक व्यापक शास्त्रीय आधार लेकर ला है । विभिन्न संहिताओं और तन्त्रों के आधार पर इसकी स्थापना की गई है । कुछ द्वानों का अनुमान है कि 'पांचरात्र' शब्द से जो पांचरात्र धर्म परवर्ती काल में प्रसारित आ वह बौद्ध और जैन नास्तिक धर्मों के खण्डन के लिए था । किन्तु, मूल पांचरात्र तो चीन काल से ही चला आ रहा था । 'पांचरात्र' में 'रात्र' शब्द का अर्थ ज्ञान है । पंचविध न-वचन को 'पांचरात्र' माना जाता है । परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय संसार) —इन पाँच विषयों के समवेत ग्रहण को 'पांचरात्र धर्म' कहते हैं । शंकराचार्य आदि द्वानों ने भी पांचरात्र धर्म की प्रतिष्ठा की है और उसके सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त ये हैं ।

इन साम्प्रदायिक मतों के साथ वैष्णव भक्ति-मार्ग का वर्णन हमें महाभारत, गीता र पुराणग्रन्थों में मिलता है । 'महाभारत' के अनेक प्रकरण वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति

देखिए 'Indian Antiquary', Vol. XXIII, 1894, page 248

देखिए 'The Indian Interpreter', Oct. 1909—Jan. 1910, pages 117-178

देखिए 'The Religions of India', A. Barth, page 290

का स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। गीता 'महाभारत' का एक अंश ही है, किन्तु भक्ति उसका स्वतन्त्र स्थान बन गया है। साम्प्रदायिक भक्ति-मार्गों के प्रवर्तन से पूर्व गीता, पुराण-साहित्य को ही कृष्णभक्ति का आधार समझा जाता था। गीता में भक्ति का प्रत्यक्ष रूप से हुआ है। ऐकान्तिक कृष्णभक्ति का जैसा स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। डॉ० बरुआ ने गीता को 'विश्वास-तत्त्व' की प्रमुखता की भक्ति-ग्रन्थ स्वीकार किया है।[1] गीता को कर्मयोग नाम देनेवाले बालगंगाधर तिलक भक्ति-तत्त्व से परिपूर्ण मानते हैं। 'गीता-रहस्य' में उन्होंने स्पष्ट लिखा है, "यह नहीं चाहिए कि 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' इत्यादि नवधा भक्ति गीता को मान्य नहीं।"

वैष्णव भक्ति के स्वरूप को स्पष्ट और स्वच्छ रूप से उद्घाटित करने में शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्ति-सूत्रों का प्रमुख स्थान है। भक्ति-क्षेत्र में शाण्डि जब भक्ति-सूत्रों का निर्माण किया तब भक्ति का व्याख्यात्मक स्तर पर प्रतिपादन चुका था। महाभारत, गीता, पुराण आदि इसके प्रमाण हैं। इन ग्रन्थों के सारतत्त्व को में समाविष्ट करने के निमित्त यह सूत्र-पद्धति स्वीकार की गयी। किन्तु, सूत्रों की रते समय कुछ नवीन विचार भी सामने आये। शाण्डिल्य ने सबसे मौलिक बात यह भक्ति-पथ सभी भक्तों के लिए समान रूप से उन्मुक्त है। द्विजेतर भक्त भी भक्ति अनुसरण कर भगवान् की भक्ति कर सकता है। उन्होंने दूसरी बात यह कही कि ज भक्ति का उदय नहीं होता, आत्मा जन्म-मरण के चक्र में बनी रहती है। भक्ति-भाव पर ही भव-चक्र का बन्धन कटता है। शाण्डिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका वृ 'परा' और 'अपरा' नाम से भक्ति के दो भेद भी शाण्डिल्य-सूत्रों में मिलते हैं।

नारद ने अपने भक्ति-सूत्रों में भक्ति की उत्कृष्टता बड़े आग्रह के साथ स्थापि है। हार्दिक पक्ष की प्रधानता और प्रेम पर आश्रित होने से इस भक्ति को प्रेमाभक्ति की दी जाती है। दक्षिण भारत के आलवार भक्तों की भक्ति-पद्धति से नारद की भक्ति में कुछ साम्य लक्षित होता है। सम्भवतः इसी कारण कुछ विद्वानों ने रागानुगा भक्ति का दक्षिण में स्वीकार किया है। नारद ईश्वरीय प्रेम को ही भक्ति की संज्ञा देते हैं— को प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता किसी वस्तु में आसक्त होता है और न विषयभोगादि में उत्साही होता है। इस प्रेमरूपा को पाकर भक्त सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है। संक्षेप में, सूत्रों ने वैष्णवी भक्ति-भावना को एक ऐसा धरातल दिया जिसे शास्त्रीय भी कहा जा है और व्यावहारिक साधना के लिए सुगम मार्ग भी !

वैष्णव भक्ति के लिए उपर्युक्त ग्रन्थों का आधार मिल जाने पर यदि उसे लोक ने बड़े आह्लाद के साथ ग्रहण किया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। तदनन्तर पु ने वैष्णव भक्ति के लिए अवतारी राम और कृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं का विस्तार कर एक नये आयाम के लिए अवसर प्रदान किया। राम का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप तो विस्तार से पुराणों में स्थान न पा सका, किन्तु कृष्ण की अपार लीलाओं से पुराणों का भरा पड़ा है। कृष्ण के ऐश्वर्यपरक कृत्यों में असुरों के विनाश और धर्म-संस्थापन के ही माधुर्यलीलापरक वर्णनों से भी पुराण-साहित्य आपूर्ण है। यह कहना असंगत न हो वैष्णव धर्म का वर्तमान रूप पुराणों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित होकर ही सार्व

---

[1] देखिए 'The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra', B.M. Barua, page 437

है। पुराणों में भी 'भागवत पुराण' ने कृष्णावतार को जिस विशद विस्तार के साथ ग्रहण वह मध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों के लिए उपजीव्य बन गया और भागवत के आधार ष्णभक्ति को कवियों ने ब्रजभाषा में उपन्यस्त किया। पुराणों के व्यापक प्रभाव का म यह हुआ कि प्रस्थानत्रयी के बाद प्रस्थानचतुष्टयी की कल्पना की गयी और 'भागवत को उसमें समाविष्ट किया गया। वैष्णव धर्म के प्रवर्तक श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि यों के अनुयायी आचार्यों ने 'भागवत पुराण' पर टीका, भाष्य, टिप्पणी, वृत्ति आदि र अपनी पुराण-निष्ठा का परिचय दिया।

व भक्ति के प्रतिष्ठापक आचार्य

वैष्णव भक्ति को विविध रूपों में स्थापित करनेवाले आचार्यों का युग ग्यारहवीं दी से सोलहवीं शताब्दी तक स्वीकार किया जाता है। श्री रामानुजाचार्य (१०१७-७) से यदि आचार्य-युग का प्रारम्भ माना जाए तो इसमें निम्बार्काचार्य, विष्णुस्वामी, चार्य और वल्लभाचार्य तक का काल आता है। इन आचार्यों के अतिरिक्त विष्णु (राम कृष्ण) के उपासक अन्य आचार्य एवं महात्मा भी इसमें समाविष्ट हो जाते हैं; जिनमें चैतन्य, गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास तथा अष्टछाप के कवि, गोस्वामी हितहरिवंश उनके सम्प्रदाय के कवि, स्वामी हरिदास और उनके सम्प्रदाय के कवि आते हैं। वैष्णव-तत्त्व को समझने के लिए हम यहाँ प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तों की संक्षेप में चर्चा आवश्यक समझते हैं।

उपर्युक्त वैष्णवाचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना संस्कृत भाषा के माध्यम से की। इनके अपने मौलिक ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं, किन्तु उनसे भी अधिक महत्त्व इनके , टीकाओं और वृत्तियों का है। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र) पर भाष्य र अपनी दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना प्रायः सभी आचार्यों ने की है। यदि पूरा या टीका नहीं लिखी है, तो भी आंशिक रूप से इस दिशा में सभी आचार्य प्रयत्नशील । वस्तुतः इन भाष्यों या टीकाओं द्वारा आज उनके मन्तव्यों का बोध होता है। चार्य ने भी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर अपने अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया था। परवर्ती वैष्णवाचार्यों को भी इस मार्ग का अनुसरण करना आवश्यक प्रतीत हुआ।

श्री रामानुजाचार्य : आचार्य रामानुज ने अवतारी राम को अपनी विष्णु-भक्ति का य देव स्वीकार कर विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त की स्थापना की। उनके मत में पुरुषोत्तम गुण और सविशेष हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए वे पाँच रूप धारण करते हैं। में अर्चावतार राम की गणना होती है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। 'तत्त्वमसि' अर्थ भी उन्होंने सगुणोपासना के दास्य भाव के आधार पर 'तत् = उनका, त्वं = तू, सेवक है' ऐसा किया है। उन्होंने जीव और ब्रह्म का शेषशेषी अवसम्बन्ध स्थापित है—जीव शेष (दास) और ब्रह्म शेषी (स्वामी) है। भगवान् की शरण में कैंकर्य-भाव त होकर ही जीवात्मा अपना कल्याण कर सकती है। दार्शनिक स्तर पर यह सिद्धान्त ष्टाद्वैत' कहलाता है और इस सम्प्रदाय को 'श्री-सम्प्रदाय' कहते हैं। इस सम्प्रदाय का भाव रामानन्द स्वामी पर देखा जा सकता है। हिन्दी के वैष्णव कवियों में गोस्वामी दास भी इससे अत्यधिक प्रभावित हैं।

श्री मध्वाचार्य : आचार्य मध्व (११९९) का जन्म दक्षिण भारत के वेलिग्राम स्थान में हुआ था। वेदान्त में पारंगत होने पर संन्यास लेने पर इनका नाम आनन्द-

तीर्थ रखा गया। उत्तर भारत की यात्रा पर आने पर ये बदरिकाश्रम गये और वहाँ से शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ प्राप्त कीं। यहीं अपने शिष्यों की सुविधा के लिए इ मन्दिरों का निर्माण किया और वैष्णव भक्ति के प्रचार में योग दिया। मध्वाचार्य ने का घोर विरोध किया। इनका दार्शनिक मत द्वैतवाद है। इनके मत में भगवान् गुणों से उपेत और सर्वोच्च तत्त्व हैं। जगत् सत्य है; ईश्वर और जीव का भेद, जीव से भेद, जड़ का जीव से भेद वास्तविक है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं स्वभावत: अल्पशक्ति और अल्पज्ञान-सम्पन्न हैं। अल्पज्ञ जीव सर्वज्ञ विष्णु के अधी ही कार्य करता है। जीवों में तारतम्य रहता है—संसार-दशा में ही नहीं, मोक्ष- यह तारतम्य विद्यमान रहता है। अपने वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। सर्वश्रेष्ठ साधन अमला भक्ति है। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है। मध्व सम्प्रदाय ब्रह्म-सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है।

श्री विष्णुस्वामी : विष्णुस्वामी के नाम से तीन आचार्यों का इतिहास-ग्रन्थों मिलता है। रुद्र-सम्प्रदाय के अन्तर्गत किसको आचार्य का स्थान दिया जाए, यह अनिर्णीत है। 'सर्वज्ञसूक्त' नामक ग्रन्थ के रचयिता को प्राय: विद्वान् लोग रुद्र-स आचार्य विष्णुस्वामी मानते हैं, अत: काल-निर्णय कठिन है। डॉ॰ भण्डारकर के इनका उदय तेरहवीं शताब्दी में हुआ था। विष्णुस्वामी (१३००) के मत में ईश्वर नन्द-स्वरूप हैं तथा वे अपनी ह्लादिनी संवित् के द्वारा आश्लिष्ट हैं। माया उन्हीं रहती है। इनक मत में ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिंह है। कुछ विद्वान् नृसिंह दोनों का इन्हें उपासक मानते हैं। इस सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त ग्रन्थ-रूप नहीं हैं। इनकी शिष्य-परम्परा में वल्लभाचार्य का स्थान है और उन्हीं के वि विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय में स्थान दिया जाता है; अत: वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों में ही इस विषय पर विस्तार से विचार किया जाएगा।

श्री निम्बार्काचार्य : श्री निम्बार्काचार्य का समय अद्यावधि अनिर्णीत है। सम्प्रदाय में इनको सृष्टि के आदि में उत्पन्न माना जाता है, किन्तु डॉ॰ भण्डारकर समय ११६२ ई॰ के आसपास स्थिर किया है। कुछ विद्वान् इस सम्प्रदाय को वैष्ण का प्राचीनतम सम्प्रदाय मानते हैं। श्री निम्बार्क का सम्प्रदाय सनकादि सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धान्त 'भेदाभेदवाद' या 'द्वैताद्वैतवाद' है। जीव भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी है। जीव ब्रह्म का अंश है, है। जीव अणु, अल्पज्ञ है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। विष्णु के अवतार-रूप उपास्य हैं। राधा-कृष्ण की युगलोपासना का विधान इस सम्प्रदाय में है। ब्रजमण्डल प्रचार है और इसके अन्तर्गत श्रीकृष्ण की अनेक लीलाओं के द्वारा भक्ति-भाव की की जाती है। निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनेक कवियों ने ब्रजभाषा में सुन्दर पद-रचना स्वामी हरिदास का सखी-सम्प्रदाय इसी की शाखा है।

श्री वल्लभाचार्य : श्री वल्लभाचार्य (१४७९) का जन्म रायपुर ज़िले के नामक स्थान में हुआ। इनके माता-पिता तैलंग ब्राह्मण थे। किन्तु, वल्लभाचार्य का जीवन उत्तर भारत (काशी, प्रयाग और ब्रजमण्डल) में व्यतीत हुआ। ये अपने तेजस्वी, प्रतिभा-सम्पन्न महात्मा थे। सम्राट् अकबर भी इनकी विद्वत्ता से प्रभावि वल्लभाचार्य का सम्प्रदाय आज स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में विख्यात है, किन्तु मूलत सम्बन्ध विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय से ही स्थिर किया जाता है। दार्शनिक दृष्टि से इस

द्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। ब्रह्म माया से सर्वथा अलिप्त अर्थात् शुद्ध है—जिस स्वर्ण अनेक रूपों में परिवर्तित होने पर भी शुद्ध स्वर्ण रहता है, इसी प्रकार ब्रह्म शुद्ध ब्रह्म अपनी सन्धिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवित् शक्ति द्वारा चित् का और ह्लादिनी द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। जीव सत्य और नित्य है। उसकी उत्पत्ति नहीं जीव अणु है। वह तीन प्रकार का है—शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। गत् न तो उत्पन्न होता है और न नष्ट; वरन् इसका आविर्भाव और तिरोभाव-मात्र है। भगवत्-प्राप्ति का साधन भक्ति है। भगवान् के पोषण (अनुग्रह) को ही भक्ति वल मानना चाहिए, इसीलिए इनके मत को 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। भक्ति का करते हुए वल्लभाचार्य ने मर्यादा-भक्ति और पुष्टि-भक्ति का विधान किया। साधन-भक्ति को मर्यादा-भक्ति के अन्तर्गत रखते हुए निम्न स्थान दिया गया और भगवान् ग्रह-मात्र पर निर्भर भक्ति को साधन-निरपेक्ष पुष्टि-भक्ति कहकर श्रेष्ठ समझा गया। ष्टि-भक्ति को माननेवाले भक्त 'पुष्टिमार्गी' कहलाते हैं।

शुद्धाद्वैत-दर्शन के अनुसार भगवान् को जब रमण करने की इच्छा होती है तब वह आनन्द आदि गुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीव-रूप ग्रहण करता है। इस र में केवल भगवान् की इच्छा ही कारण है, माया का इससे किसी प्रकार का सम्बन्ध । आविर्भूत जीव नित्य होता है। सच्चिदानन्द भगवान् के अविकृत सत् अंश से जड़ र्गमन होता है तथा अविकृत चित् अंश से जीव का आविर्भाव! अविकृत परिणाम-ो मानने के कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगत् रूप में परिणत हो है। वल्लभाचार्य ने जगत् और संसार में भी भेद-निरूपण किया है। अपने सिद्धान्तों पादन के लिए आचार्य ने 'अणुभाष्य', 'सुबोधिनी टीका', 'तत्त्वदीपनिबन्ध', 'शृंगाररस-, 'विद्वन्मण्डन' प्रभृति अमर ग्रन्थों का प्रणयन किया।

वल्लभ-सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार में वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ का न उल्लेखनीय है। वे अपने पिता के समान तेजस्वी और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। प्रभाव तत्कालीन मुग़ल शासकों पर भी था। ब्रजमण्डल में वैष्णव धर्म की रक्षा के न्होंने अनेक सराहनीय कार्य किये थे। वल्लभ-सम्प्रदाय को सुव्यवस्थित रूप से उत्तर से दूर गुजरात, राजस्थान आदि में प्रचारित करने का श्रेय भी उन्हीं को है। इस य की सेवा-पद्धति इतनी व्यवस्थित है कि उसका अनुसरण समकालीन अन्य सम्प्रदायों हुआ। गो० विट्ठलनाथ जी ने अपने सातों पुत्रों को सात नगरों में सेवा-पूजा का अधिकार पुष्टिमार्गीय भक्ति-पद्धति को देशव्यापी बनाया। हिन्दी के वल्लभ-सम्प्रदायी कवियों को देकर उन्होंने अष्टछाप की स्थापना की। 'अष्टछाप' के आठ कवियों में चार गो० चार्य के शिष्य थे और चार गो० विट्ठलनाथ के। इस सम्प्रदाय में और भी अनेक ए जिन्होंने हिन्दी-साहित्य को पर्याप्त समृद्ध किया।

आचार्यों की इस परम्परा द्वारा वैष्णव भक्ति का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों यन हुआ और वैष्णव भक्ति के माध्यम से राम और कृष्ण की उपासना का सर्वत्र प्रचार ा। सगुण भक्ति के उत्कर्ष का यह युग हिन्दी-साहित्य में भी स्वर्ण-युग कहा जाता है।

भक्ति का वैशिष्ट्य

वैष्णव भक्ति का वैशिष्ट्य अनेक रूपों में समाज में प्रतिविम्बित हुआ। प्राणिमात्र के म और उदार दृष्टि इस भक्ति का आधार है। भक्ति का सम्बन्ध हृदय से है और

समस्त मानव-जाति के हृदय में भक्ति-भाव जाग्रत करना इसका लक्ष्य रहा है। स्थापना करनेवाले ग्रीक शासक का दूत हेलियोडोरस इसी उदार दृष्टि से वैष्णव था। बेसनगर के शिलालेख द्वारा यह तथ्य पुष्ट होता है। अहिंसा वैष्णव धर्म हैं। अहिंसा को जीव-दया के रूप में बौद्ध और जैनाचार्यों ने वैष्णवों से ही ग्र वैष्णव धर्म कला और संस्कृति का उन्नायक रहा है। देव-विग्रह को सुन्दर रूप द्वारा जनमानस को कला-प्रेम से पूर्ण करने का दायित्व वैष्णव भक्ति ने निभाया की मूर्तिकला आज भारत-भर में प्रसिद्ध है। चित्रकला पर भी वैष्णव धर्म का लक्षित होता है।

वैष्णव धर्म के आचार्यों तथा रसिक कवियों ने 'भक्ति रस' की स्थापना योग दिया है। यदि वैष्णव भक्ति का उदय न हुआ होता, तो भक्ति को रस के कृति मिलना असम्भव था। वैष्णव भक्त कवियों द्वारा भक्ति, श्रृंगार, वीर, क के श्रेष्ठ साहित्य की रचना हुई। यदि वैष्णव भक्ति का प्रचार न हुआ हो विपुल और श्रेष्ठ साहित्य अस्तित्व में न आता। राम और कृष्ण के रूप, गुण, साहित्यिक वर्णन वैष्णव भक्त कवियों द्वारा हुआ; वैसा न तो पहले हुआ था में हो सका। भारतीय साहित्य में सौन्दर्य और माधुर्य का मणिकांचन-संयोग भक्ति-साहित्य में दृष्टिगोचर होता है : फलतः इस साहित्य को हम भारतीय वाङ् श्रेष्ठ निधि के रूप में गौरवास्पद धरोहर समझते हैं।

रामभक्ति-काव्य

प्रागैतिहासिक युग से आधुनिक युग तक मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र के शील, शक्ति से मण्डित अलौकिक व्यक्तित्व के विविध रूपों ने जन-मानस को आकृष्ट किया काव्य-परम्परा के उद्भव और विकास का अनुशीलन करनेवाले विद्वानो के मत उत्तर-वैदिक काल के दिव्य महापुरुष हैं; वेदों में कुछ स्थलों पर 'राम' शब्द अवश्य हुआ है, किन्तु उसका अर्थ दशरथ-पुत्र राम नहीं, अपितु अन्यान्य व्यक्ति उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर 'वाल्मीकि रामायण' को आदिकाव्य मानकर राम स्रोत स्वीकार किया जाता है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसका रचना-काल ग्यारहवीं पूर्व से लेकर तीसरी शती ई० पूर्व के मध्य स्वीकार किया है। जर्मन विद्वान् रचना-काल ई० पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी, डॉ० माकोबी छठी और आठवीं शताब्दी बीच, डॉ० कीथ चौथी शताब्दी ईसा-पूर्व तथा डॉ० विंटरग्रिन तीसरी शताब्दी स्वीकार करते हैं। इसके रचना-काल के बारे में मत-वैभिन्न्य होते हुए भी अधिकांश के अनुसार इसकी रचना महात्मा बुद्ध के अवतार से पूर्व हो चुकी थी, क्योंकि बुद्ध के अवतार का उल्लेख नहीं है। 'वाल्मीकि रामायण' के दाक्षिणात्य, गौड़ीय और त्तरीय—ये तीन पाठ उपलब्ध होते हैं और इनमें देशकाल के व्यवधान के का विभिन्नता है। इस आदिकाव्य में राम का चित्रण उदात्त और असाधारण गुणों दिव्य महापुरुष के रूप में हुआ है।

'वाल्मीकि रामायण' की कथा 'महाभारत' में भी अनेक स्थलों पर विवि

---

१. देखिए 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास' डॉ० कामिल बुल्के, पृ० ४-५

क', 'द्रोण' एवं 'शान्तिपर्व' में वर्णित है। युधिष्ठिर के शोकाकुल होने पर ऋषि य द्वारा उन्हें सुनाया गया रामोपाख्यान अन्य पर्वों में उपलब्ध रामकथा की अपेक्षा क विस्तृत है। सीता की अग्नि-परीक्षा आदि कुछ प्रसंग इसमें भी नहीं हैं। कतिपय के न होने अथवा किंचित् परिवर्तित रूप में होने के कारण ही यह माना जाता है कि ारत' में उपलब्ध रामकथा 'वाल्मीकि रामायण' से प्रभावित होने के साथ-साथ राम-लोक-प्रचलित मौखिक रूपों पर भी आधृत है। 'वाल्मीकि रामायण' में राम अलौ-हापुरुष हैं, किन्तु 'महाभारत' में उनका स्वरूप अवतारी स्वरूप है।

रामकथा का अनुरागमयी भक्ति-भावना की दृष्टि से आख्यान अगस्त्य संहिता, राघ-ंहिता, रामपूर्व तापनीय उपनिषद्, रामोत्तर तापनीय उपनिषद, रामरहस्योपनिषद् धार्मिक ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अध्यात्म रामायण, आनन्द रामायण, अद्भुत रामा-ुशुण्डि रामायण, हनुमत् संहिता, राघवोल्लास आदि ग्रन्थों में भी रामकथा की धार्मिक र्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण और कूर्म में रामकथा सर्वाधिक वैविध्य-सम्पन्न है। वाराह, अग्नि, लिंग, वामन, ब्रह्म, गरुड़, पद्म, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में भी रामकथा के अनेक प्रसंग दृष्टिगत होते हैं। इनमें स्वरूप में राम की प्रतिष्ठा हुई है।

एवं जैन-ग्रन्थों में रामकथा

संस्कृत-ग्रन्थों के साथ-साथ रामकथा बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों में भी मिलती है, किन्तु रामकथा के अनेक घटना-प्रसंगों को पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर विकृत एवं परिवर्तित रूप तुत किया गया है। बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों का उद्देश्य मर्यादा पुरुषोत्तम राम के औदात्त्य को यक्त करने की अपेक्षा अपने-अपने धर्मों की सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुकूल रामकथा यी भाव-भूमि प्रदान करना रहा है। बौद्ध जातक-कथाओं में रामकथा 'दशरथ जातक', र्क जातक' तथा चीनी 'त्रिपिटिक' के अन्तर्गत दशरथ-कथानक में उपलब्ध होती है।

बौद्ध ग्रन्थों की अपेक्षा जैन-ग्रन्थों में रामकथा का वर्णन अपेक्षाकृत विस्तारपूर्वक हुआ विमलसूरि-रचित 'पउमचरियम्' भाव एवं शैली दोनों दृष्टियों से अत्यन्त परिष्कृत रचना रामकथा के उद्भव और विकास के सन्दर्भ में ही नहीं, समसामयिक सामाजिक एवं तिक वातावरण के अध्ययन एवं भाषाशास्त्रीय अनुशीलन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व ुणाढ्य की 'वृहत्कथा' के अनुकरण पर संघदास गणिवाचय एवं धर्मसेन गणिमहत्तर द्वारा 'वसुदेव हिण्डी' में कृष्ण-कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है और इसी ग्रन्थ के प्रारम्भिक में रामकथा का संक्षेपण भी प्रस्तुत किया गया है। जैन-ग्रन्थों की इस परम्परा में भुवन-ूरि-प्रणीत 'सियाचरियम्' तथा 'रामचरियम्', रविषेण-कृत 'पद्मचरित' तथा गुणभद्र 'उत्तर पुराण' भी उल्लेख्य हैं। हरिषेण के 'कथाकोष' (दसवीं शती) में भी 'रामायण कम्' तथा 'सीता कथानकम्' प्राप्त होते हैं। आचार्य हेमचन्द्र-रचित 'त्रिषष्टिशलाका-रितम्' तथा 'योगशास्त्र' की टीका में भी रामकथा के अनेक प्रसंग हैं।

उपर्युक्त सभी ग्रन्थों की रचना जैन धर्म की दार्शनिक एवं धार्मिक मान्यताओं की ूमि में हुई है, इसलिए इनमें राम को सर्वत्र परब्रह्म के रूप में ग्रहण न कर उनका चित्रण ारण शक्तियों से सम्पन्न महापुरुष के रूप में ही हुआ है। पुराण-ग्रन्थों में उपलब्ध रवाद की भावना भी इन ग्रन्थों में नहीं है। रामकथा के अनेक प्रसंग भी इन ग्रन्थों में धर्म की परिपुष्टि के लिए परिवर्तित रूप में प्रस्तुत किये गये हैं; जैसे कि इन ग्रन्थों में

राम के वन-गमन के उपरान्त पुत्र-वियोग से राजा दशरथ की मृत्यु का वर्णन नहीं उनके द्वारा जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण कर संन्यास ग्रहण कर लेने का वर्णन इनमें राम द्वारा भी समय-समय पर जैन मुनियों से सहायता प्राप्त करने का वर्णन हुआ है। आठवीं-नवीं शताब्दी के मध्य स्वयम्भू-प्रणीत 'पउमचरिउ' तथा दसवीं लगभग पुष्पदन्त-रचित 'महापुराण' में भी तुलनात्मक दृष्टि से रामकथा के परस्पर भिन्न हैं। स्वयम्भू के अनुसार राम की माता का नाम 'अपराजिता' और अनुसार 'सुबला' था। स्वयम्भू ने राम के एक ही विवाह का वर्णन किया है और के अनुसार राम के आठ विवाह हुए थे। पुष्पदन्त आदि जैन कवियों ने राम-वन-की अग्नि-परीक्षा सदृश मार्मिक प्रसंगों का भी वर्णन नहीं किया है।

बौद्ध एवं जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध रामकथा के सन्दर्भ में भारतीय अव वैष्णव भक्ति-भावना के उद्भव और विकास के क्रमबद्ध विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की परब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठा होने से पूर्व रूप में उनकी उपासना बहुत पहले जन-साधारण में प्रचलित हो चुकी थी। वैदि लेकर पौराणिक युग तक जैसे-जैसे ज्ञान एवं कर्म की अपेक्षा भक्ति का विकास वैसे-वैसे विष्णु के अवतार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा दृढ़ होती चली गयी। वैष्ण उद्भव और विकास की इस परम्परा में रामानुज, रामानन्द आदि आचार्यों ने दर्शन एवं भक्ति की सहजग्राह्य मनोवैज्ञानिक भाव-भूमि प्रदान की।

दक्षिण के आलवारों में रामभक्ति

वैष्णव भक्ति के इस विकास-क्रम में रामभक्ति सर्वप्रथम दक्षिण के आलवा वाणी के माध्यम से प्रस्फुटित हुई और तदुपरान्त उत्तरी भारत में उसका विका आलवार संख्या में बारह थे। इनमें से काठकोप अथवा नक्मालवार राम की पादु तार माने जाते हैं। सर्वप्रथम इनकी रचना 'तिरुवायमोलि' में अनन्य रामभक्ति मिलता है। इनकी अन्य तीन प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'तिरुविरुतम', 'तिरुवर्श 'पेरिय तिरुवन्दादि'। सातवें आलवार केरल के चेरवंशी राजा कुलशेखर भी अनन्य थे। एक बार रामकथा के अन्तर्गत सीताहरण का प्रसंग सुनते ही भावावेश में इ लंका पर चढ़ाई करने की आज्ञा दे दी थी। 'प्रेरु माल तिरुभोवि' में इनके रामभ सरस गीत संकलित हैं। शठकोप एवं कुलशेखर के अतिरिक्त अन्य आलवार सन्तं में भी ऊँच-नीच के भावों से विनिर्मुक्त रामभक्ति के विविध रूपों का प्रतिपाद सैद्धान्तिक दृष्टि से श्री, मनक, ब्रह्म और रुद्र—इन चार वैष्णव-सम्प्रदायों में ब्रह्म-सम्प्रदाय के आचार्यों ने रामभक्ति को विशेष परिपुष्टि प्रदान की। श्री- प्रथम आचार्य श्री रंगनाथ मुनि (८२४-९२४) ने आलवार सन्तों के लोक-प्रचलि 'प्रबन्धम्' शीर्षक से चार भागों में संकलित किया। नाथ मुनि के परवर्ती श्री- पुण्डरीकाक्ष, राम मिश्र, यामुनाचार्य आदि आचार्यों ने भी अपनी वाणी के द्वारा को अधिकाधिक पल्लवित किया। आचार्य रामानुज का स्थान इस आचार्य-परम्प तिग है। ये शेष अथवा लक्ष्मण के अवतार माने जाते हैं। ब्रह्म-सम्प्रदाय की भक्ति में मध्वाचार्य का स्थान महत्त्वपूर्ण है। उत्तरी भारत में राम-भक्ति का प्रवर्तन आ नुज की परम्परा में राघवानन्द द्वारा प्रारम्भ हुआ और उनके शिष्य रामानन्द ने नुकूल भाव-भूमि प्रदान की। आचार्य रामानन्द ने ही सर्वप्रथम संकुचित रूढ़ियों

बाह्य आक्रमणों से सन्त्रस्त, समसामयिक हिन्दू समाज को रामभक्ति का अभेद्य कवच न किया। धनुषबाणधारी राम के लोकरक्षक रूप की उपासना प्रारम्भ कर उन्होंने एक हिन्दू समाज की पराजित मनोवृत्ति को उद्बुद्ध किया और दूसरी ओर बलपूर्वक मुसल- बनाये गये हिन्दुओं को रामतारक-मन्त्र देकर पुनः हिन्दू-धर्म में दीक्षित करने की नयी स्था भी स्थापित की।[1] भक्ति-भावना को ऊँच-नीच एवं बाह्य आडम्बरों से मुक्त करने श्रेय भी आचार्य रामानन्द को ही प्राप्त है। इनकी शिष्य-परम्परा में निर्गुणोपासक एवं णोपासक दोनों ही थे। हिन्दी का भक्तिकालीन रामकाव्य मुख्यतः इन्हीं के सिद्धान्तों से प्रेरित है।

कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश-साहित्य में रामकथा

संस्कृत, पालि, प्राकृत एवं अपभ्रंश में रामकाव्य की सुदीर्घ परम्परा वैविध्य-सम्पन्न धकाव्यों, उद्देश्यप्रधान नाटकों एवं भाव-संवलित गीतिकाव्यों के रूप में अभिलक्षित होती रामकथा के मार्मिक प्रसंगों पर आधृत संस्कृत-नाटकों में कालक्रमानुसार सर्वप्रथम स्थान -रचित 'प्रतिमा' एवं 'अभिषेक' नाटकों का है। 'प्रतिमा' नाटक की रचना सात अंकों में है, जिनमें राम के वन-गमन से लेकर रावण-वध तक की कथा सुविन्यस्त है। 'अभिषेक' ालि-वध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक के घटना-प्रसंग वर्णित हैं। इन दोनों ही कों में अवतारवाद की भावना सहज दृष्टिगत होती है। 'प्रतिमा' नाटक में सीता को मी का अवतार माना गया है और 'अभिषेक' में राम में विष्णुत्व की सांकेतिक अभिव्यक्ति है। कालिदास-प्रणीत 'रघुवंश' में दसवें से पन्द्रहवें सर्ग तक रामकथा वर्णित है। कवि-गुरु कालिदास की उपमाओं का सौन्दर्य इन सर्गों में लक्षित किया जा सकता है।

छठी शताब्दी के लगभग रचित प्रवरसेन का 'रावण-वध' महाकाव्य राम-रावण-युद्ध प्रमुख प्रसंग पर आधृत है। 'वाल्मीकि रामायण' से प्रभावित प्राकृत भाषा के इस महा- व्य में पन्द्रह सर्ग हैं। संस्कृत-रामकाव्य की परम्परा में छठी-सातवीं शताब्दी के लगभग हिकाव्य' अथवा 'रावण-वध' शीर्षक से एक ऐसी रचना भी उपलब्ध होती है, जिसमें कवि रामकथा के माध्यम से व्याकरण के जटिल तथा क्लिष्ट नियमों को अभिव्यक्त करने का ास किया है। इसके बाईस सर्गों में 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाण्ड के अतिरिक्त अन्य ण्डों की कथा वर्णित है। शैव मत से प्रभावित होते हुए भी कवि ने राम के परब्रह्म स्वरूप किसी प्रकार से परिवर्तन का प्रयास नहीं किया है।

आठवीं शताब्दी में भवभूति-प्रणीत 'महावीरचरित' और 'उत्तररामचरित' नाटकों में 'महावीरचरित' में विवाह से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की कथा सात अंकों में ाजित है। 'उत्तररामचरित' की रचना सीता-वनवास के मार्मिक घटना-प्रसंग पर आधृत इस प्रकार कथानक की दृष्टि से ये दोनों नाटक एक-दूसरे के सम्पूरक हैं। नाटकीय दृष्टि 'उत्तररामचरित' की यह विशेषता है कि वह करुण रस से आप्लावित होते हुए भी दुःखान्त ीं है। अनंग हर्ष मातृराज द्वारा रचित 'उदात्तराघव' नाटक (आठवीं शती) के छह अंकों वनवास से लेकर अयोध्या वापस आने तक की रामकथा का नाटकीय विस्तार दृष्टिगत ता है। राक्षस-राक्षसियों की मायावी शक्तियों का चित्रण इसमें नाटकीय औत्सुक्य एवं त्कार की सृष्टि करता है।

देखिए 'भविष्यपुराण' ३।४।२१

कुमारदास-प्रणीत 'जानकीहरण' रामायण के प्रथम छह काण्डों पर आ सर्गों का महाकाव्य है। भक्ति-भावना की अपेक्षा इसमें शृंगारिकता की प्रवृत्ति क्षेमेन्द्र ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ५३८६ श्लोकों में 'वाल्मीकि का संक्षेपण 'रामायणमंजरी' के नाम से प्रस्तुत किया और 'दशावतारचरितम्' स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी रचना की, जिसमें स्थान-स्थान पर रामकथा के चिराचरि उन्होंने नूतनता के संचार का सहज प्रयास किया।

ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व दिङ्नाग-रचित 'कुन्दमाला' नाटक भवभूति- रामचरित' से प्रभावित है। इस नाटक में सीता-वनवास से लेकर राम-सीता-पुन की कथा को ग्रहण किया गया है। अनेक दृश्य इसमें नूतन और चमत्कारपूर्ण हैं। उनकी सेना के वाल्मीकि-आश्रम पहुँचने पर आश्रम-वासियों के अदृश्य हो जाने त सीता की छाया देखकर राम के मूर्च्छित हो जाने का दृश्य नूतन एवं आकर्षक है।

उपर्युक्त प्रमुख रामकाव्यों के अतिरिक्त साकल्यमल-रचित 'उदार रा भट्टणवाण (अभिनव बाणभट्ट)-रचित 'रघुनाथचरित', चक्र कवि-कृत 'जानकी प अद्वैत कवि द्वारा रचित 'राघवोल्लास' प्रमुख महाकाव्य हैं। इसी प्रकार मुरारि- राघव', राजशेखर-रचित 'बालरामायण' और शक्तिप्रद-रचित 'आश्चर्यचूडाम शताब्दी के प्रसिद्ध नाटक हैं। बारहवीं-तेरहवीं शती में जयदेव-रचित 'प्रसन्नरा सोमेश्वर-कृत 'उल्लासराघव' नाटकों की कथा भी सीता-राम के परिणय-प्रसंग पर

संस्कृत में चामत्कारिक आह्लाद की सृष्टि के लिए ऐसे द्वयर्थक (चित्र) भी रचना हुई है जिनमें रामकथा के साथ-साथ अन्य पौराणिक कथाओं को भी यमक के प्रयोग द्वारा एक साथ अभिव्यक्त किया गया है। धनंजय-रचित 'राघव कविराज माधव भट्ट-रचित 'राघव पाण्डवीय', हरिदत्त सूरि-प्रणीत 'राघव नैषधीय' रचित 'राघव-पाण्डव यादवीय' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामकाव्य

हिन्दी के साथ-साथ अन्य सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी मर्यादा- राम के जीवन-प्रसंगों को लेकर विविध काव्यों की पुष्कल रचना हुई है। बंगला कृत्तिवासी-कृत 'रामायण', तमिल के महाकवि कम्ब की 'कम्ब रामायण' तथा तेलुगु रामायण' एवं 'भास्कर रामायण' ने प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पर्याप्त सीमा त रामकाव्य-परम्परा को भी प्रभावित किया है। कृत्तिवासी-रामायण वाल्मीकि-रा गौड़ीय पाठ से तथा 'कम्त्र रामायण', 'रंग रामायण' एवं 'भास्कर रामायण दाक्षिणात्य पाठ से उपकृत हैं। कृत्तिवासी-रामायण पर समसामयिक शैव एवं शा दायों का प्रभाव भी लक्षित किया जा सकता है। मराठी के सुप्रसिद्ध सन्त एक प्रणीत 'भावार्थ रामायण' ने भी परवर्ती भक्त-कवियों को व्यापक प्रेरणा प्रदान की है रामदास की शिष्या वेणाबाई देशपाण्डे द्वारा रचित 'रामायण' तथा स्वामी रामदास अन्य शिष्य गिरिधर स्वामी की 'अर्द्ध रामायण', 'मंगल रामायण', 'सुन्दर रामाय रामायण' आदि लगभग छह रामायणों से भी मराठी-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। अ राम-काव्य शैली की दृष्टि से पद-रामायण, गीति-रामायण, कथा-रामायण, कीर्तनिया आदि विभिन्न रूपों में उपलब्ध होता है और रामकाव्य के प्रणेताओं में माधव संकरदेव, माधवदेव, अनन्त कन्दली, रघुनाथ महन्त, अनन्त ठाकुर प्रभृति भक्त-कवि

सुप्रसिद्ध हैं। गुजराती में यद्यपि रामकाव्य की अपेक्षा कृष्णकाव्य का प्रणयन अधिक हुआ है, किन्तु रामकाव्य की अविरल धारा इस भाषा में भी विद्यमान है और कवि भालण, विष्णुदास, मधुसूदन, श्रीधर आदि गुजराती रामकाव्य के उल्लेख्य प्रणेता हैं।

हिन्दी-रामकाव्य

हिन्दी-साहित्य का आदिकाल समसामयिक राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण की दृष्टि से रामकाव्य की रचना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त काल था। इस युग में कविगण मर्यादा-पुरुषोत्तम राम की शौर्य-शक्ति से समन्वित लीलाओं का गान करके बाह्य शक्तियों के आक्रमणों के विरुद्ध राष्ट्र की सोयी हुई ऊर्जा को उद्‌बुद्ध कर सकते थे, किन्तु उन्हें अपने आश्रयदाताओं की अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करने से इतना भी अवकाश नहीं था कि वे राम के लोकरक्षक पावन चरित्र की ओर आकर्षित हो पाते। इस युग की कृतियों में मंगलाचरण अथवा स्तुति के रूप में कहीं-कहीं रामकथा के कुछ प्रसंग दृष्टिगत हो जाते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' में दशावतार-वर्णन वस्तुतः मंगलाचरण के रूप में ही है। इस प्रसंग के अन्तर्गत कवि ने मुक्ति प्रदान करनेवाले परब्रह्म के विविध अवतारों का वर्णन किया है। रामावतार से सम्बद्ध अड़तीस छन्दों में परशुराम द्वारा क्षत्रियों के संहार; राजा दशरथ के घर राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के जन्म; राम-वन-गमन; राम-रावण -युद्ध; सीता-उद्धार आदि रामकथा के प्रमुख प्रसंग वर्णित हैं। समसामयिक युग-प्रवृत्ति के अनुकूल इन प्रसंगों के अन्तर्गत हनुमान, मेघनाद और लक्ष्मण की वीरता का वर्णन विस्तृत एवं सजीव है।

रामकथा के ओज एवं माधुर्य को जन-मानस की भाव-भूमि पर अधिष्ठित करने का श्रेय भक्तिकालीन भक्त-कवियों को ही प्राप्त है। रीतिकालीन रामकाव्य के प्रणेताओं की दृष्टि तो अपने समसामयिक कृष्णकाव्य-प्रणेताओं की भाँति राजदरबारों के ऐश्वर्य से इतनी अधिक अभिभूत हो चुकी थी कि उन्हें राम के लोकरक्षक रूप की अपेक्षा उनके रसिक रूप में अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ और अपने पूर्ववर्ती भक्त-कवियों की मर्यादा को वे विस्मृत करते चले गये। भक्तिकाल का राजनीतिक एवं सामाजिक वातावरण भी राम के लोकरक्षक रूप की अभिव्यक्ति के सर्वाधिक अनुकूल था। विदेशी शक्तियों से आक्रान्त, सामाजिक दृष्टि से वैषम्य-पीड़ित, धार्मिक धरातल पर सिद्धों एवं तान्त्रिकों के विविध मत-मतान्तरों से ग्रस्त नैराश्य-मुक्त हिन्दू जनता को राम के असुर-संहारक, शरणागत-प्रतिपालक अलौकिक रूप ने मधुमय सम्बल प्रदान किया। उत्तरी भारत में राम-भक्ति के प्रवर्तन का प्रमुख श्रेय आचार्य रामानन्द को प्राप्त है। रामकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत 'रामरक्षा-स्तोत्र' उनकी प्रसिद्ध रचना है। उनके शिष्यों ने राम के निर्गुण-निराकार और सगुण-साकार रूप की उपासना के आधार पर राम-भक्ति को दो पृथक् भावधाराओं के रूप में पल्लवित किया। निर्गुणमार्गी कबीर ने कहा : "दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना, राम नाम को मरम न आना।" और, राम के सगुण-साकार रूप के उपासक तुलसी ने कहा :

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथ सुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥

तुलसीदास से पूर्व के रामभक्त कवियों में विष्णुदास का नाम उल्लेख्य है। नागरी-प्रचारिणी सभा की विभिन्न खोज-रिपोर्टों में इनके द्वारा रचित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—महाभारत कथा, रुक्मिणी मंगल, स्वर्गारोहण, स्वर्गारोहण-पर्व और स्नेहलीला। सभा के १९४१-४३ ई० के विवरण में 'वाल्मीकि रामायण' के हिन्दी-रूपान्तरकर्त्ता के रूप में भी

उल्लेख मिलता है। ईश्वरदास-प्रणीत 'भरत-मिलाप' तथा 'अंगद-पैज ूर्वं रामकाव्य-परम्परा की प्रमुख रचनाएँ हैं। रामकाव्य-परम्परा में कुछ जैन- ो रचनाएँ भी उल्लेख्य हैं, जिनमें से मुनि लावण्य-प्रणीत 'रावण-मन्दोदरी संवाद', ब्रह्म दास-रचित 'रामचरित या रामरास' और 'हनुमन्तरास' तथा ब्रह्मराममल्ल और सुन्द प्रणीत क्रमशः 'हनुवन्तगामी कथा' तथा 'हनुमान चरित' प्रमुख हैं।

हिन्दी की रामकाव्य-परम्परा का विकास यदि स्वामी रामानन्द से स्वीकार जाए तो कोई अनौचित्य नहीं होगा। वस्तुतः रामावत-सम्प्रदाय में रामभक्ति को जो पूर्ण स्थान प्राप्त है, वह किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं है। रामावत-सम्प्रदाय के प्रवर्तक रामानन्द ने भक्ति के क्षेत्र में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये और राम की मर्यादा- को आदर्श और आचरण की पवित्रता से मण्डित रखते हुए जनसाधारण के लिए बनाया। निर्गुण राम की भक्ति, जिसे किसी रूप में कबीर आदि ने स्वीकार किया रामानन्द की भक्ति-पद्धति में सगुण रूप में परिणत हुई। सगुण और निर्गुण का यह रामावत-सम्प्रदाय की उदार दृष्टि का ही परिणाम है।

स्वामी रामानन्द : स्वामी रामानन्द जी की जन्मतिथि और जन्मस्थान अभी विवादास्पद हैं। अँगरेज़ लेखक फ़र्कुहर ने इनका समय १४०० से १४७० ई० तक किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पन्द्रहवीं शती के द्वितीय (१४५०) से सोलहवीं शती के प्रथम चरण के बीच (१५२५) इनका समय माना है। नन्द का जन्म काशी में हुआ था और श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य राघवानन्द से दीक्षा ग्रहण की थी। वर्णाश्रम धर्म में आस्था रखते हुए भी इन्होंने भक्तिमार्ग का सभी समान भाव से अधिकारी माना और निम्न वग के भक्तों को अपना शिष्यत्व प्रदान कबीर, रैदास, धन्ना, पीपा आदि इनके शिष्य थे।

स्वामी रामानन्द संस्कृत के पण्डित थे। वैष्णव मताब्द भास्कर' और 'श्रीराम पद्धति' इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। रामानन्दी सम्प्रदाय को रामानुज-सम्प्रदाय से पृथक् करने के लिए 'ब्रह्मसूत्र' और 'गीता' पर इनके नाम से भाष्यों का प्रचार किया गया है, उनकी प्रामाणिकता अद्यावधि संदिग्ध बनी हुई है। इन्होंने अपने दार्शनिक सिद्धान्त राम सम्प्रदाय के अनुकूल ही रखे हैं, किन्तु 'रहस्यत्रय' द्वारा अपने मूलमन्त्र, द्वयमन्त्र और मन्त्र को नवीन रूप दिया है। ध्यान के लिए सीता तथा लक्ष्मण-सहित रामचन्द्र जी के का आदेश है। सीता जी प्रकृतिस्थानीय, लक्ष्मण जीवस्थानीय और भगवान् रामचन्द्र तत्त्व के द्योतक हैं। मुक्ति का साधन एक ही परम पदार्थ 'भक्ति' है। भगवान् राम समस्त संशयों के छेदक और परम प्राप्य हैं। रामानन्द जी की भक्ति-पद्धति का प्रभाव भक्ति-परम्परा पर प्रत्यक्ष लक्षित होता है। गोस्वामी तुलसीदास भी इनकी विचारधा परिचित ही नहीं, पूर्णतया प्रभावित थे।

रामानन्दी वैष्णवों की एक शाखा योग-साधना में विश्वास रखने के कारण, वैशिष्ट्य बनाये रखने के लिए, सगुणोपासना से कुछ हटकर 'तपसी शाखा' के नाम से परक सिद्धियों का प्रचार करती है। कील्हदास आदि इसी शाखा के साधक हैं।

रामानन्द के हिन्दी में रचित कुछ पद सुप्रसिद्ध हैं। इन पदों के विषय में प्रामा रूप से कुछ कहना कठिन है, केवल परम्परागत प्रसिद्धि के कारण ही इन्हें उनके द्वारा मानना उचित है। हनुमान की स्तुति का पद इस प्रकार है :

आरति कीजै हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कला की ।
जाके बल भरते महि काँपै रोग सोग जाकी सिया न ज्यांपै ।
अंजनिसुत महाबलदायक साधु संत पर सदा सहायक ।
गाढ़ परै कवि समिरौं तोहीं होउ दयाल देहु जस मोंही ।।

इनके द्वारा रचित 'रामरक्षास्तोत्र' की सूचना काशी नागरीप्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में दी गयी है; उसके प्रकाशित होने पर इनका हिन्दी-काव्य सामने आ सकता है ।

अग्रदास : स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा में ही रामभक्त कवि अग्रदास हुए । इन्होंने कृष्णदास पयहारी से दीक्षा लेकर शिष्यत्व स्वीकार किया था । कृष्णदास पयहारी ने जयपुर के समीप गलता नामक स्थान में अपनी गद्दी स्थापित की थी । गलता की गद्दी पर परवर्ती काल में जो शिष्य बैठे, उन्होंने भी भक्ति-साहित्य की विपुल मात्रा में रचना की । अग्रदास १५५६ ई० के लगभग विद्यमान थे । इनके अनेक ग्रन्थों की चर्चा गलता की गद्दी-परम्परा में आज भी होती है । मुख्य ग्रन्थों में 'ध्यानमंजरी', 'अष्टयाम', 'रामभजनमंजरी', 'उपासना-बावनी' और 'पदावली' हैं । 'हितोपदेश भाषा' भी इनके द्वारा प्रणीत है । इनकी भाषा ब्रजभाषा है और उसमें प्रवाह के साथ परिष्कार भी है । सुन्दर पद-रचना और अलंकारों के यथास्थान प्रयोग से यह प्रमाणित है कि इनको शास्त्रीय साहित्य-ज्ञान था । एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाये,
मुख पंकज के निकट मनौ अलि छौन छाये ।।

'अग्रअली' नाम से अग्रदास स्वयं को जानकी जी की सखी मानकर काव्य-रचना किया करते थे । रामभक्ति-परम्परा में रसिक-भावना के समावेश का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है । गोस्वामी तुलसीदास के समय तक तो रसिकता की यह भावना प्रच्छन्न रही, किन्तु उनके बाद अग्रदास जी की रचनाओं से प्रेरणा प्राप्त करके यह तीव्र गति के साथ पल्लवित हुई, जिसका चरमोत्कर्ष रीतिकालीन रामकाव्य में सहज अभिलक्षित किया जा सकता है । 'अष्टयाम' अथवा 'रामाष्टयाम' इनकी सर्वप्रमुख रचना है—इसमें सीतावल्लभ राम की दैनिक लीलाओं का चित्रण है । राम के ऐश्वर्य-रूप की झाँकी इन लीलाओं में स्पष्ट दिखायी देती है । नाभादास-प्रणीत 'अष्टयाम' भी अग्रअली जी की इस रचना से प्रभावित है ।

ईश्वरदास : ईश्वरदास की जन्मतिथि उनकी सुप्रसिद्ध कृति 'सत्यवती कथा' के रचना-काल (१५०१) के आधार पर अनुमित की जाती है । 'सत्यवती कथा' की रचना यदि कवि ईश्वरदास ने युवावस्था में की होगी, तो उनका जन्म १४८० ई० के आसपास माना जा सकता है । ईश्वरदास की रामकथा से सम्बद्ध रचना 'भरत मिलाप' है, जिसका उल्लेख काशी नागरी-प्रचारिणी सभा के खोज-विवरण में हुआ है । राम-वनवास के समय भरत अयोध्या में नहीं थे । अपनी ननिहाल से आने पर राम के वनगमन के समाचार से खिन्न होकर वे विलाप करने लगे और सारी प्रजा उनके साथ दुःखकातर हो उठी । राम से मिलने के लिए व्याकुल होकर भरत उनके पास गये—इसी करुण-कोमल प्रसंग को इस काव्य-कृति में पद्यबद्ध किया गया है । ईश्वरदास की एक अन्य रचना 'अंगदपैज' भी मिलती है, जिसमें रावण की सभा में अंगद के पैर जमाकर डट जाने का वीररसपूर्ण वर्णन मिलता है । इन रचनाओं के आधार पर ही ईश्वरदास को रामभक्ति-परम्परा में स्थान दिया जाता है ।

गोस्वामी तुलसीदास : गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त के बारे में अन्तःसाक्ष वहिःसाक्ष्य के आधार पर विद्वानों ने विविध मत प्रस्तुत किये हैं। बेनीमाधवदास-प्रणीत गोसाईं चरित' तथा महात्मा रघुबरदास-रचित 'तुलसी चरित' में गोस्वामी जी का जन्म-सं १५५४ दिया हुआ है। बेनीमाधवदास जी की रचना में गोस्वामी जी की जन्मतिथि श्रा शुक्ला सप्तमी का भी उल्लेख है। इस संवत् के अनुसार इनकी आयु १२६-१२७ वर्ष ठहरती है। 'शिवसिंह सरोज' में इनका जन्म-संवत् १५८३ स्वीकार किया गया है। मिर पुर के प्रसिद्ध रामभक्त पं० रामगुलाम द्विवेदी ने जनश्रुति के आधार पर इनका जन्म-सं १५८९ स्वीकार किया है। सर जॉर्ज ग्रियर्सन ने भी इसी जन्म-संवत् को मान्यता दी है अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी इनकी जन्मतिथि सं० १५८९ (सन् १५३२) अधिक यु संगत प्रतीत होती है। इसी प्रकार इनके जन्मस्थान के बारे में भी विद्वानों में भारी म है। 'मूल गोसाईं चरित' और 'तुलसी चरित' में इनका जन्मस्थान राजापुर बताया गया है शिवसिंह सेंगर और रामगुलाम द्विवेदी भी राजापुर को गोस्वामी जी का जन्मस्थान मानते लाला सीताराम, गौरीशंकर द्विवेदी, रामनरेश त्रिपाठी तथा डॉ० रामदत्त भारद्वाज सों को तुलसीदास जी का जन्मस्थान मानते हैं। "मैं पुनि निज गुरु सन सुनि, कथा सो सू खेत"—गोस्वामी जी की इस उक्ति को ये विद्वान् प्रामाणिक मानते हुए सूकर खेत अभिप्राय 'सोंरों' मानते हैं। आचार्य शुक्ल का अभिमत है कि 'सूकर खेत' को भ्रम से सो समझ लिया गया। 'सूकर छेत्र' गोंडा ज़िले में सरयू के किनारे एक पवित्र तीर्थ है, ज आसपास के कई ज़िलों के लोग स्नान करने जाते हैं और मेला लगता है।[1] आचार्य हजा प्रसाद द्विवेदी ने 'सोरों' के पक्ष में दिये जानेवाले प्रमाणों को, बहुत महत्त्वपूर्ण न होते भी, काफ़ी वज़नदार माना है; वे इन प्रमाणों को यों ही टाल देने के पक्ष में नहीं हैं।[2]

जनश्रुति के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता नाम हुलसी था और वे पत्यौजा के दूबे थे : "तुलसी परासर गोत, दूबे पति औजा के मिश्रबन्धुओं ने इन्हें कान्यकुब्ज माना है। 'मूल गोसाईं चरित' और 'तुलसी चरित' के आ पर आचार्य शुक्ल आदि ने इन्हें सरयूपारीण ब्राह्मण माना है। "मातु पिता जग जाइ त जनमि, करम बिनु विधिहु सृज्यो अवडेरे" (विनयपत्रिका) आदि अन्तःसाक्ष्यों के आधार प यह प्रमाणित होता है कि गोस्वामी जी का बाल्यकाल अत्यन्त विषम परिस्थितियों में व्य हुआ था। माता-पिता के द्वारा छोड़ दिये जाने पर बाबा नरहरिदास ने इनका पालन-पो किया और ज्ञान-भक्ति की शिक्षा-दीक्षा भी दी। गोस्वामी जी का विवाह दीनबन्धु पाठक कन्या रत्नावली से हुआ था। अत्यधिक आसक्ति के कारण जब एक बार इन्हें अपनी प से मधुर भर्त्सना "लाज न आई आपको दौरे आएहु साथ" मिली तब इनकी भावधारा सह लौकिक विषयों से विमुख होकर प्रभु-प्रेम की ओर उन्मुख हो गयी।

इनके द्वारा विरचित अनेक ग्रन्थ विविध सूत्रों से उपलब्ध हुए हैं। आचार्य शुक्ल अपने इतिहास में इनके छोटे-बड़े बारह ग्रन्थों का उल्लेख किया। दोहावली, कवि रामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञा प्रश्नावली और विनयपत्रिका बड़े ग्रन् तथा रामललानहछू, पार्वतीमंगल, जानकीमंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी और कृ गीतावली छोटे ग्रन्थ हैं। 'शिवसिंह सरोज' में दस और ग्रन्थों के नाम भी गिनाये गये हैं

---

[1] देखिए 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ १२९

[2] देखिए 'हिन्दी-साहित्य', पृष्ठ २३८

राम सतसई, संकटमोचन, हनुमद् बाहुक, रामशलाका, छन्दावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोला रामायण, झूलना रामायण और कुण्डलिया रामायण।

इन सभी रचनाओं में भाव-वैविध्य गोस्वामी जी की सबसे बड़ी विशेषता है। एक ओर तो उन्होंने नाथपन्थियों के प्रभाव से नष्ट होती हुई जन-मानस की विश्वासमयी रागात्मिका वृत्तियों को राम-भक्ति के माध्यम से पुन: पल्लवित किया और दूसरी ओर रामकथा के विविध प्रसंगों के माध्यम से राजनीतिक, सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन के आदर्शों को जनता के सामने प्रस्तुत कर विशृंखलित हिन्दू समाज को केन्द्रित किया। उनकी भक्ति-भावना कबीर आदि निर्गुण भक्तों की ज्ञानयोगमयी भावना की भाँति रहस्यमयी नहीं है। वह सीधी, सरल एवं सहजसाध्य है। उनके राम सृष्टि के कण-कण में व्याप्त हैं, वे सभी के लिए उसी प्रकार सुलभ हैं, जिस प्रकार अन्न और जल :

निगम अगम, साहब सुगम राम साँचिली चाह।
अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबहि जग माँह॥

गोस्वामी जी की यह भक्ति-भावना मूलतः लोकसंग्रह की भावना से अभिप्रेरित है। जिस समय समसामयिक निर्गुण भक्त संसार की असारता का आख्यान कर रहे थे और कृष्णभक्त कवि अपने आराध्य के मधुर रूप का आलम्बन ग्रहण कर जीवन और जगत् में व्याप्त नैराश्य को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, उस समय गोस्वामी जी ने मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के शील, शक्ति और सौन्दर्य से संवलित अद्भुत रूप का गुणगान करते हुए लोकमंगल की साधनावस्था के पथ को प्रशस्त किया। तुलसी का समन्वयवाद उनकी भक्ति-भावना में भी दिखायी देता है। 'रामचरितमानस' में उन्होंने राम और शिव दोनों को एक-दूसरे का भक्त अंकित करके वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों को एक ही सामान्य भावभूमि प्रदान की है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, "भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। भारतीय जनता में नाना प्रकार की परस्पर विरोधिनी संस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ, आचार, विचार और पद्धतियाँ प्रचलित हैं। तुलसीदास स्वयं नाना प्रकार के सामाजिक स्तरों में रह चुके थे।···उनका सारा काव्य समन्वय की विराट् चेष्टा है। उसमें केवल लोक और शास्त्र का ही समन्वय नहीं है—गार्हस्थ्य और वैराग्य का, भक्ति और ज्ञान का, भाषा और संस्कृति का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, भावावेग और अनासक्त चिन्तन का समन्वय 'रामचरितमानस' के आदि से अन्त तक दो छोरों पर जानेवाली परा-कोटियों को मिलाने का प्रयत्न है।"[1]

भाव-वैविध्य के अनुरूप शैली-वैविध्य भी गोस्वामी जी की विशेषता है। अपने समय में प्रचलित वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति, विद्यापति और सूरदास की गीति-पद्धति, गंग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, नीतिकाव्यों की सूक्ति-पद्धति, प्रेमाख्यानों की दोहा-चौपाई की प्रवन्ध-पद्धति आदि सभी काव्य-शैलियों का सफल प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में किया है। प्रवन्ध-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण, प्रकृति-वर्णन, अलंकार-विधान, भाषा और छन्द-प्रयोग की दृष्टि से भी वे अद्वितीय कलाकार हैं। उक्ति-वैचित्र्य उनकी प्रमुख विशेषता है। वनगमन के समय राम विविध युक्तियों के द्वारा सीता को साथ न चलने के लिए समझाते हैं, किन्तु सीता अपनी एक उक्ति के द्वारा ही राम को निरुत्तर कर देती हैं : "मैं सुकुमारि

---

[1] हिन्दी-साहित्य, पृष्ठ २३३, २३५

नाथ वन जोगू, तुमहि उचित तप मो कहँ भोगू।" अवधी और ब्रज दोनों ही भाषाओं का प्रयोग गोस्वामी जी ने अपनी रचनाओं में किया है, किन्तु अधिकांश रचनाओं की भा अवधी ही है जिसमें प्रसंगानुकूल संस्कृत के तत्सम शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है।

नाभादास : गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन रामभक्त कवियों में नाभादास का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने हिन्दी में भक्तमाल-परम्परा का सूत्रपात ही न किया, वरन् अद्यावधि उपलब्ध भक्तमालों में सर्वश्रेष्ठ भक्तमाल हिन्दी को दिया। उन्हों 'भक्तमाल' का रचना-काल १५९६ ई० स्थिर किया जाता है। इसके आधार पर उनका जन्म-काल १५७० ई० के आसपास ठहरता है। नाभादास के 'भक्तमाल' के अनुशीलन से य स्पष्ट विदित होता है कि उनको संस्कृत-काव्यशास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने भक्तों के परिचय में जिस समास-शैली का परिचय दिया है, वह उनके गम्भी चिन्तन-मनन का परिणाम है—जिन भक्तों का परिचय उन्होंने लिखा, उनकी रचना-शैली काव्य-कला, उपासना-पद्धति, विशिष्टता आदि को एक ही छप्पय में कूट-कूटकर समाविष्ट कर दिया है। नाभादास जी अग्रदास जी के शिष्य थे। उनकी रचनाओं में 'अष्टयाम' तथ रामभक्ति विषयक पद उपलब्ध होते हैं, जिनके आधार पर उन्हें रामभक्त स्वीकार किय जाता है। 'अष्टयाम' की रचना शृंगार-भक्ति अथवा रसिक-भावना को लेकर की गयी है इसमें कवि की शैली परिमार्जित, प्रांजल और भावपूर्ण है।

केशवदास : केशवदास का जन्म १५५५ ई० में और मृत्यु १६१७ ई० के आसपास हुई थी। ओरछा-नरेश महाराज रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह की सभा में इनका अपने पाण्डित्य के कारण अत्यधिक सम्मान था। इनके द्वारा लिखे गये सात ग्रन्थ मिलते हैं—कविप्रिया, रसिकप्रिया, रामचन्द्रिका, वीरसिंहचरित, विज्ञानगीता, रतनबावनी और जहाँगीरजसचन्द्रिका। इनमें से 'रामचन्द्रिका' (१६०१) हिन्दी-रामकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत एक विशिष्ट कृति है। यह प्रबन्धकाव्य ३९ प्रकाशों में विभाजित है। अनेक प्रसंग स्पष्टतः 'प्रसन्नराघव', 'हनुमन्नाटक', 'अनर्घराघव', 'कादम्बरी' और 'नैषध' से प्रभावित प्रतीत होते हैं। प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से इसमें अनेक कथा-प्रसंग विशृंखलित हैं, उनमें परस्पर क्रमबद्धता भी नहीं है। प्रबन्ध-कौशल के लिए आवश्यक मार्मिक प्रसंगों की पहचान का भी केशव में अभाव है। वन जाते समय राम का माता कौशल्या को पतिव्रत-धर्म का उपदेश आदि स्थल तो सर्वथा अप्रासंगिक हैं। केशव की अलंकारप्रियता एवं शब्द-चमत्कार की प्रवृत्ति इस कृति में भी स्पष्ट दिखायी देती है। वाग्वैदग्ध्य के कारण कहीं-कहीं तो संवाद अत्यन्त प्रवाहपूर्ण, तीव्र एवं नाटकीय बन पड़े हैं। रावण-अंगद-संवाद का यह अंश द्रष्टव्य है।

> *राम को काम कहा ? रिपु जीतहिं, कौन कबै रिपु जीत्यौ कहाँ।*
> *बालि बली, छल सों, भृगुनन्दन गर्व हर्यौ, द्विज दीन महा।*
> *दीन सु क्यों छिति-छत्र हत्यो, बिन प्राणन हैहयराज कियो।*
> *हैहय कौन ? वहै बिसर्यो ? जिन खेलत ही तोहि बाँध लियो॥*

सेनापति : इनका जन्म-काल १५८९ ई० के लगभग माना जाता है। ये गंगाधर के पुत्र, परशुराम के पौत्र और हीरामणि दीक्षित के शिष्य थे। 'कवित्त-रत्नाकर' इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसकी रचना इन्होंने संवत् १७०६ में की थी :

> *संवत् सत्रह सै छ में सेइ सियापति पाय।*
> *सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय॥*

इस ग्रन्थ की चौथी और पाँचवीं तरंगों में रामायण के विविध मधुर प्रसंगों का वर्णन सुसंस्कृत अर्थगर्भित भाषा में किया गया है। अनुप्रास और यमक अलंकारों का सेनापति की भाषा में अत्यधिक प्राचुर्य है। हिन्दी में भावानुकूल ऋतु-वर्णन के लिए भी ये प्रसिद्ध हैं।

अन्य रामभक्त कवि

भक्तिकाल के रामभक्त कवियों में प्राणचन्द चौहान, माधवदास, हृदयराम, नरहरि बारहट, लालदास और कपूरचन्द त्रिखा का उल्लेख भी अभीष्ट है। **प्राणचन्द चौहान** ने १६१० ई० में 'रामायण महानाटक' की रचना की थी, जो शैली की दृष्टि से नाटक न होकर वस्तुतः संवादात्मक प्रबंधकाव्य है। दोहा-चौपाई की शैली का इसमें प्राधान्य है और वर्णनात्मकता का प्राचुर्य है। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का प्रभाव इस रचना पर अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखायी देता है। **माधवदास चारण** की दो रचनाएँ--रामरासो और अध्यात्म रामायण—प्रसिद्ध हैं। 'रामरासो' (१६१८) की विशेषता है—रामकथा के सम्पूर्ण विस्तार में न जाकर कवि द्वारा मुख्य घटनाओं, जीवन-प्रसंगों और चारित्रिक विशेषताओं का संक्षेप में कथन। 'अध्यात्म रामायण' (१६२४) पर संस्कृत की 'अध्यात्म रामायण' का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। **हृदयराम** पंजाब के रहनेवाले थे और इनके पिता का नाम कृष्णदास था। हिन्दी-रामकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत 'हनुमन्नाटक' (१६२३) इनकी प्रसिद्ध कृति है। इसके प्रणयन की प्रेरणा इन्हें स्वयं हनुमान जी से प्राप्त हुई थी, इसलिए अपनी इस कृति का नाम इन्होंने 'हनुमन्नाटक' रखा। कहीं-कहीं 'रामगीत' शीर्षक से भी इसका उल्लेख मिलता है। इसमें सीता-स्वयंवर से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा संवाद-शैली में वर्णित है। संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' का इस पर प्रत्यक्ष प्रभाव है, किन्तु मूलतः यह कृति मौलिक है और कवित्त, सवैया आदि अनेक छन्दों का इसमें प्रयोग हुआ है।

नरहरि बारहट-कृत 'पौरुषेय रामायण' राम-काव्य-परम्परा की एक प्रौढ़ कृति है, जिसका रचना-काल 'रामचरितमानस' के कुछ ही बाद का है। यह एक वृहदाकार ग्रन्थ है। कवि ने इसे 'पौरुषेय' रामायण इसलिए कहा है, क्योंकि 'वाल्मीकि रामायण' आर्ष ग्रन्थ है; जबकि यह ग्रन्थ एक सामान्य पुरुष की कृति है। 'पौरुषेय रामायण' वस्तुतः नरहरि-कृत 'चतुर्विंशति अवतार-चरित्र' नामक विशाल ग्रन्थ का एक अंश है, जिसमें इक्कीसवें अवतार के अन्तर्गत रामचरित्र का वर्णन है। कवि ने प्रमुखतः 'वाल्मीकि रामायण' को आधार-रूप में ग्रहण किया है। रचना-शैली कुछ-कुछ रासो-ग्रन्थों जैसी है। प्रमुखतः दोहा-चौपाई-पद्धति का अनुसरण करते हुए भी कवि ने कवित्त, सवैया, छप्पय, पद्धरि, भुजंगप्रयात आदि अनेक छन्द अपनाये हैं। भाषा राजस्थानी और ब्रज-मिश्रित अवधी है। ग्रन्थ का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें युगीन परिवेश की छाप स्पष्ट झलकती है। **लालदास** का 'अवधविलास' (१६४३) भी इस युग का प्रसिद्ध काव्य है। छाप के रूप में 'लाल' का प्रयोग हुआ है। यह ग्रन्थ १८ विश्रामों में विभक्त है—राम-जन्म से लेकर उनके वन-गमन तक की कथा को इसमें ग्रहण किया गया है। प्रसंगानुकूल अनेक स्थलों पर कवि ने भक्ति के विविध रूपों एवं ध्यान-योग की क्रियाओं का भी वर्णन किया है। इसकी रचना अवधी भाषा में हुई है और इसमें दोहा-चौपाई-शैली का प्रयोग है। **कपूरचन्द त्रिखा** द्वारा गुरुमुखी लिपि में लिखित 'रामायण' (१६४६) का उल्लेख भी यहाँ प्रासंगिक होगा। यह १४५ छन्दों की लघु कृति है, जिसमें रामकथा को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। इसकी भाषा सरल-स्वच्छ ब्रजभाषा है।

कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य

मध्यकालीन भक्त आचार्यों ने अपनी-अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं के अनुकूल के किसी अवतार-विशेष के प्रति अनन्य निष्ठा प्रकट करते हुए अन्य अवतारों के प्रति अपेक्षित श्रद्धा अभिव्यक्त की है। मध्वाचार्य कृष्णभक्त होते हुए भी राम तथा उनके हनुमान में अत्यधिक श्रद्धा रखते थे। इसी भाँति कृष्ण-भक्ति के विविध रूपों के वल्लभाचार्य ने अपने शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त में भगवान् राम को भी महत्ता दी है।[1] पुष्टि मंदिरों के वर्षोत्सवों में 'रामनवमी' तथा राम-मंदिरों में आचार्य रामानन्द आदि के निदेशानुसार जन्माष्टमी-उत्सव मनाने की पृष्ठभूमि में वैष्णव भक्ति की यही समन्व उदार दृष्टि विद्यमान रही है। हृदय की इसी अनुरक्त उदार भावना से प्रेरित होकर कृष्णभक्त कवियों ने भी अपने आराध्य की लीलाओं के साथ-साथ मर्यादा-पुरुषोत्तम की मधुमयी लीलाओं का गान किया है। रामकथा विषयक विद्यापति के अभी तक पाँच जितने भी पद उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उन्होंने शिव शक्ति, राधा और कृष्ण के साथ-साथ सीता और राम के प्रति भी भक्ति-भावना से होकर अनेक पदों की रचना की होगी। रामकथा सम्बन्धी इन उपलब्ध पदों में आराध्य शरणागत-प्रतिपालक राम की स्तुति तथा सीता के साथ उनके परिणय-प्र वर्णन है।[2] **मीरांबाई** ने भी अनेक पदों में राम के प्रति अपनी अनुरक्ति प्रकट की है। मीरां के राम तुलसीदास के 'दशरथ-सुत' राम नहीं, कबीर आदि सन्त कवियों के निर्गुण-निराकार राम हैं। अपने अनेक पदों में मीरां ने प्रभु के भक्तजन-रक्षक अभिव्यंजना के लिए अहिल्योद्धार आदि घटनाओं की ओर भी संकेत किया है। मार्ग में दीक्षित अष्टछाप के कवियों ने भी रामकथा के प्रति अपने अनुरागमय आकर्ष विविध पदों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। **सूरसागर** के प्रथम एवं नवम स्कं रामकथा से सम्बन्धित अनेक पद प्राप्त होते हैं। इन पदों में राम के भक्त-जन-प्रतिपालक की वन्दना के साथ-साथ उनकी विविध लीलाओं का भी वर्णन किया गया है। नवम में सम्पूर्ण रामकथा लगभग १५८ पदों में वर्णित है। 'रामचरितमानस' की भाँति ये पद सात काण्डों में संयोजित हैं। राधा-कृष्ण की रासलीलाओं का विस्तृत चित्रण करनेवाले रामकथा के इन सभी पदों में, राम के भक्त-जन-रंजक रूप की अपेक्षा उनके लोकरक्षक के प्रति अधिक आकृष्ट रहे हैं। प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से नवम स्कन्ध के इन सभी पदों के कथासूत्र आद्यन्त विद्यमान है। दशरथ-विलाप, सीता-हनुमान-संवाद आदि प्रसंग अत्य मार्मिक हैं। हनुमान से लक्ष्मण की मूर्च्छा का वृत्तान्त जानकर अयोध्यावासियों की और कौशल्या एवं सुमित्रा की व्याकुलता का वर्णन मार्मिक होने के साथ-साथ मौलिक है। कौशल्या राम के पास सन्देश भेजती है कि वे अपने भाई के बिना अकेले अयोध्या न किन्तु सुमित्रा अपनी ओर से आग्रहपूर्वक सन्देश भेजती है कि वे वनवास की अवधि के होते ही अवश्य लौट आयें, क्योंकि रण में सेवक के वीरगति को प्राप्त हो जाने के बाद स्वामी विजयी होकर अपने घर अवश्य लौटता है।[3]

---

[1] देखिए 'सुबोधिनी', १।५२।२२, २।७।२३

[2] देखिए 'विद्यापति' (वि० बि० मजूमदार), पद-संख्या ८८०-८८३

[3] देखिए 'सूरसागर', ६।१५४

पुष्टिमार्गीय वार्ता-साहित्य में **नन्ददास** का जो जीवन-वृत्त प्राप्त होता है, उसके अनु-र ये भी प्रारम्भ में रामभक्त थे।[1] इसीलिए पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद भी राम र उनके अनन्य सेवक हनुमान के प्रति इनके मन में निष्ठा बनी रही और उसी के स्वरूप इन्होंने कृष्ण-लीलाओं के गान के साथ-साथ रामकथा सम्बन्धी पदों की भी चना की। रामकथा सम्बन्धी इनके अभी तक तीन-चार पद ही उपलब्ध हुए हैं, जिनमें नुष-यज्ञ तथा हनुमान द्वारा समुद्र लाँघकर सीता की खोज का वर्णन है।[2] **परमानन्ददास**, विन्दस्वामी आदि के द्वारा रचित रामकथा सम्बन्धी इस प्रकार के अनेक पद मिलते हैं, नके द्वारा राम की लीलाओं के प्रति कृष्णभक्त कवियों की प्रवृत्ति स्पष्ट व्यंजित होती है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के अन्तर्गत रसिक-शाखा के प्रवर्तक **परशुरामदेव** तो राम के निर्गुण र सगुण, दोनों रूपों के प्रति अनुरक्त रहे हैं। 'रघुनाथ-चरित' तथा 'दशावतार-चरित' में न्होंने राम के सगुण लीला-रूप का विस्तृत वर्णन किया है। 'दशावतार-चरित' में विष्णु के न्य अवतारों का भी वर्णन है। कृष्णभक्त कवियों द्वारा प्रणीत रामकाव्य की इस परम्परा राधावल्लभ-सम्प्रदाय के संस्थापक **हितहरिवंश** के भी कुछ पद मिलते हैं। इसी प्रकार खी-सम्प्रदाय के संस्थापक हरिराम व्यास के पिता **माधवदास जगन्नाथी** द्वारा रचित 'रघुनाथ ीला' शीर्षक रचना भी प्राप्त हुई है।

रामकाव्य की यह परम्परा, जो प्रारम्भ में राम के मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप को लेकर ोकमंगल की भावना से विकसित हुई थी, भक्तिकाल के पर्यवसान तक पहुँचते-पहुँचते सम-ामयिक कृष्णभक्ति के रसिक सम्प्रदायों से प्रभावित होकर राम के लीला-रसिक रूप की ओर उन्मुख हुई जिसका विस्तार रीतिकाल के रसिक प्रवृत्तिवाले अनेक रामभक्त कवियों में लक्षित होता है।

कृष्णभक्ति-काव्य

मध्यकालीन सगुण भक्ति के आराध्य देवताओं में भगवान् श्रीकृष्ण का स्थान सर्वोपरि है। कृष्ण भारतीय पुराण और इतिहास दोनों में सर्वाधिक वर्णित भी हुए हैं। जो विद्वान् महाभारत को इतिहास की घटना मानते हैं, वे भारतीय इतिहास का सर्वाधिक प्रभावशाली व्यक्ति कृष्ण को ही ठहराते हैं। महाभारत-युद्ध के सूत्रधार के रूप में उनका बुद्धि-कौशल, पराक्रम, पुरुषार्थ और तेजस्वी व्यक्तित्व सर्वत्र व्याप्त है। जो विद्वान् कृष्ण को केवल अध्यात्म-क्षेत्र से सम्बद्ध ब्रह्म, परब्रह्म, नारायण, ईश्वर, विष्णु आदि के रूप में स्वीकार करते हैं, वे श्रीकृष्ण को पूर्णावतार होने के कारण सर्वोच्च देवता मानते हैं। उनके अनुसार कृष्ण वैदिककालीन देवता हैं और महाभारत-काल तक उनका निरन्तर विकास हुआ है।

वैदिक ऋषि कृष्ण

कृष्ण के दैवत रूप का विकास-क्रम खोजते समय वैदिक ऋचाओं में कृष्ण के नाम और अस्तित्व का सन्धान स्वाभाविक है। 'ऋग्वेद' के अष्टम तथा दशम मंडल के कुछ सूक्तों के रचयिता ऋषि कृष्ण हैं। इसी वेद के प्रथम मंडल में भी कृष्ण का उल्लेख है।

---

[1] देखिए 'वार्ता-साहित्य', पृष्ठ २९२

[2] देखिए 'नन्ददास-ग्रन्थावली', पृष्ठ २८४-२८५

इसी प्रकार 'कौशीतकी ब्राह्मण' में आंगिरस ऋषि के शिष्य कृष्ण का वर्णन है : हतदांगिरसौ ब्राह्मणान् छन्दसीयं तृतीयं सवनं ददर्श ।" छान्दोग्योपनिषद् में भी रस के शिष्य कृष्ण का संकेत है, जिसे देवकी का पुत्र कहा गया है। इन समस्त के आधार पर वैदिक वाङ्मय में कृष्ण का अस्तित्व स्वीकार करनेवाले विद्वानों समस्या उत्पन्न कर दी है कि वैदिक कृष्ण और महाभारतकालीन कृष्ण दो व्यक्ति एक ही कृष्ण को उपासना के क्षेत्र में विविध रूपों में स्वीकृति मिलती गयी है। विद्या के विख्यात पण्डित डॉ० भण्डारकर ने यह सिद्ध किया है कि वैदिक ऋषि 'महाभारत' के कृष्ण से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों पृथक् व्यक्तित्व रखनेवाले हैं। कथन है कि 'महाभारत' के कृष्ण को वैदिक ऋचाओं में वर्णित ऋषि कृष्ण के साथ माहात्म्य के कारण जोड़ दिया गया है। लोकमान्य तिलक भी आंगिरस कृष्ण और के उपदेष्टा महाभारतकालीन कृष्ण को पृथक्-पृथक् मानते हैं।

'महाभारत', 'गीता' और पुराणों में कृष्ण

'महाभारत' में वर्णित कृष्ण का प्रारम्भिक रूप सामान्य मानव का रूप है, बाद में यह ग्रन्थ परिवर्तित और परिवर्द्धित होता रहा तथा कृष्ण परब्रह्म, विष्णु, ना आदि के प्रतिरूप परम देव के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। 'महाभारत' में कृष्ण वृष्णि, न यदुवंशीय क्षत्रिय के रूप में अंकित हैं। 'गीता' में वे स्वयं कहते हैं कि मैं वृष्णियों में वा हूँ। सभापर्व में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में भीष्म द्वारा कृष्ण को सर्वश्रेष्ठ और पूज्य उनके गौरव का संकेत देनेवाला है। कृष्ण-चरित्र का केन्द्रबिन्दु उनकी धर्मप्राणता माना है। युधिष्ठिर धर्मवृक्ष हैं और उसका मूल है—श्रीकृष्ण। जो अपने चरित्र की पावन धर्म का मूल है, उसे पाश्चात्य विद्वानों ने पाखण्डी और धूर्त कहकर अपनी अज्ञानता परिचय दिया है। वस्तुतः धर्मस्थापन उनके अवतार का प्रमुख और एकमात्र उद्देश्य यदि 'गीता' के आधार पर कृष्ण-चरित्र का आकलन किया जाए, तो उनके दार्शनिक व्य का पूरी तरह उद्घाटन होता है। वेद-वेदांग-ज्ञाता कृष्ण ने व्यावहारिक स्तर पर दर्श 'गीता' में पहली बार प्रतिष्ठित किया है, जिसके अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है जिस रूप में कृष्ण यहाँ वर्णित हैं वह उनके परम देवत्व का परिचायक रूप है।

'महाभारत' और 'गीता' के बाद पुराणों में कृष्ण का जो रूप विकसित हुआ है, सम्बन्ध में विद्वानों ने प्रमाणों के अभाव में अटकलों से काम लिया है। ये सारी कल्प किसी तर्क-प्रमाण पर प्रतिष्ठित न होने के कारण मान्य नहीं हो सकतीं। गोपाल कृ सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के अनुकरण पर भारतीय विद्वानों ने भी यह लिखा है 'वासुदेव धर्म' ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही दक्षिण तक पहुँच गया था, वहाँ सम्मिश्रण आभीरों की प्रेममयी बालगोपाल-उपासना से हुआ। फलतः 'गीता' के वा तथा आभीरों के बालगोपाल की अभिन्नता स्थापित हुई; और यहीं से पुराणों में गो कृष्ण की कथाओं के प्रवेश का सूत्रपात होता है। इस प्रकार की कल्पनाओं का न तो पुष्ट आधार है और न ही कोई ऐतिहासिक प्रमाण! गोपाल कृष्ण की कल्पना के सम् में पाश्चात्य विद्वानों का ध्यान गया है और ग्रियर्सन, केनेडी, वेबर आदि विद्वानों ने की बाल-लीलाओं को क्राइस्ट के बालचरित का अनुकरण कहा है। कृष्ण-लीलाओं में भक् लिए प्रसाद की प्राप्ति परम ध्येय है। उसे पाश्चात्य विद्वान् 'लवफ़ीस्ट' कहते हैं। ये सब दूरारूढ़ कल्पनाएँ गोपाल कृष्ण के स्वरूप-सन्धान में सहायक सिद्ध नहीं हो सकी हैं।

का ऐसा विचार है कि सम्भवतः गोपाल कृष्ण मूलतः शूरसेन प्रदेश के सात्वत वृष्णि- पालक क्षत्रियों के कुलदेव थे। उनके क्रीड़ा-कौतुक की मनोहारी कथाएँ उस प्रदेश त थीं। इन मौखिक कथाओं को कालान्तर में शिलालेखों और प्रस्तरों में चित्रों में उत्कीर्ण करा दिया गया। इसके प्रमाण पुरातत्त्व संग्रहालयों में सुरक्षित मूर्तियों लालेखों में प्राप्त होते हैं। मथुरा के संग्रहालय में कालियदमन के दृश्य से अंकित लेख है, जो इस तथ्य का पोषक है। राजस्थान में कई स्थानों पर कृष्ण-लीला शिलालेख, द्वारपट्ट आदि मिले हैं। बंगाल-प्रदेश में कुछ मिट्टी की मूर्तियाँ मिली धेनुकासुर-वध, यमलार्जुन-उद्धार, मुष्टिक-चाणूर से मल्ल-युद्ध आदि दिखाये गये ब प्रमाण इसको पुष्ट करते हैं कि गोपाल कृष्ण की लीलाओं का क्राइस्ट के बाल- किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, इतना अवश्य मानना होगा कि कृष्ण तथा व्रजनन्दन कृष्ण की लीलाओं का प्रारम्भ पुराणों से हुआ और पुराण-साहित्य त श्रीकृष्ण सम्बन्धी किसी प्रचलित परम्परा ने इसे प्रभावित किया होगा।

पुराण-ग्रन्थों में श्रीकृष्ण का आध्यात्मिक रूप भी पूर्णरूपेण व्यंजित हुआ है। अन्य को अंशावतार तथा श्रीकृष्ण को पूर्णावतार पहली बार पुराणों में ही कहा गया है। पुराण' में कृष्ण की महिमा का गान करते हुए कहा गया है कि समस्त वेद भगवान् की आराधना करते हैं, योग-साधना से श्रीकृष्ण की प्राप्ति होती है, समस्त तपस्याओं व्य फल कृष्ण है और सम्पूर्ण गतियों के लक्ष्य भी वे ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं। में ही श्रीकृष्ण को योगेश्वर, सच्चिदानन्द, अच्युत, अविनाशी, स्वजातीय-विजातीय- भेद-शून्य आदि कहा गया है। भागवत पुराण, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, पद्म पुराण ब्रह्मवैवर्त पुराण में श्रीकृष्ण की महिमा का गान बड़े विस्तार से हुआ है। देवाधिदेव कृष्ण राणों में प्रतिष्ठित हुए हैं, भक्तों के आराध्य होने के साथ वे भक्तवत्सल भी हैं, लोक- ने के साथ लोकरंजक भी हैं।

पुराणों में नरावतार भगवान् कृष्ण के दो रूप माने गये हैं—ऐश्वर्यमय कृष्ण और माधुर्य- । ऐश्वर्य-रूप के अन्तर्गत उनकी लोकरक्षण सम्बन्धी लीलाएँ आती हैं, जिनके द्वारा ों और दानवों का संहार करते हैं। लोकरंजक रूप उनकी माधुर्य-भावना का द्योतक के अन्तर्गत वे अपने भक्तों के अनुरंजन के लिए नाना प्रकार की लीलाएँ करते हैं। य रूप षाड्गुण्य-युक्त है अर्थात् ज्ञान, शक्ति, वल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज—ये छह सम्पूर्णतः विद्यमान हों, वह भगवान् है। कृष्ण में नरत्व का पूर्ण समावेश उनकी लोक- लीलाओं द्वारा हो जाता है। बाल-लीलाओं से किशोरावस्था तक की लीलाएँ इसी को उद्घाटित करती हैं। इन लीलाओं का अपना विशिष्ट स्वरूप है और वल्लभाचार्य द्वानों ने इनमें आध्यात्मिक दृष्टि का सन्धान किया है। ऐसा आध्यात्मिक स्वरूप रत' में उपलब्ध नहीं होता। वस्तुतः माधुर्यपरक लीलाएँ पुराणों से प्रारम्भ होती हैं। 'महाभारत' में कृष्ण के पारिवारिक परिवेश और परिवार-कृत्यों का वर्णन नहीं । पुराणकारों ने इस अभाव की पूर्ति अपने कल्पना-माध्यम से की है। कृष्ण का शैशव ध्ययन, विवाह, सन्तति आदि सभी प्रसंगों को पुराणकारों ने प्रस्तुत किया है। यदि के आधार पर कृष्ण के जीवन पर दृष्टिपात किया जाए, तो हम देखते हैं कि एक कृष्ण ी कृष्ण हैं और दूसरे द्वारकाधीश हैं। इन दोनों रूपों के मध्य 'महाभारत' के कृष्ण णों ने न तो महाभारतीय कृष्ण को प्रमुख स्थान दिया और न द्वारकाधीश कृष्ण का तार से वर्णन किया। उनके वर्ण्य विषय तो व्रजवासी लीलापरायण कृष्ण ही रहे हैं।

पुराणों द्वारा वर्णित कृष्ण के स्वरूप का अनुशीलन करते समय एक बात का ध्या से रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण की रुक्मिणी, सत्यभामा आदि पटरानियों के साथ रानियों का वर्णन तथा हरिवंश, ब्रह्मवैवर्त आदि पुराणों में राधा का वर्णन भी होता है। यह आश्चर्य का विषय है कि राधा को जो महत्त्व मध्ययुग में प्रा श्रीकृष्ण विषयक प्रमुख पुराण 'भागवत' में नहीं है। अन्य पुराणों में राधा का और सम्भवतः इसी का परिणाम है कि राधा नायिका का स्थान ग्रहण कर सकी ध्यायी' में गोपियों के साथ कृष्ण की रासलीला का मोहक वर्णन होने पर नामोल्लेखपूर्वक कहीं कोई संकेत नहीं है। फिर भी, राधा का नाम शनैः-शनैः मध्य की आह्लादिनी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित होता गया और 'राधाकृष्ण' शब्द पर का द्योतक बन गया।

संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश-काव्य में कृष्ण

कृष्ण-लीलाओं का संस्कृत-काव्यों में सबसे पहले उल्लेख अश्वघोष के काव्य में मिलता है। इस उल्लेख को प्रासंगिक मानकर विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं किन्तु इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि श्रीकृष्ण को 'महाभारत' के बाद ए में अंकित किया जाने लगा था। इसके बाद हाल-रचित 'गाहा सतसई' (गाथा कृष्ण, राधा, गोपी, यशोदा आदि का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन है। इन लीलाओं को का लगभग वैसा ही चित्र उभरता है जैसा मध्ययुगीन हिन्दी-काव्य के नटखट है। यह ग्रन्थ शृंगार-भावना से ओतप्रोत है। अतः भक्ति-भावना की आशा न की जा सकती, किन्तु प्रणय-केलि-लीलाओं के साथ कृष्ण को इसमें देखा जा सक के केलि-कुपित होकर रासलीला से विमुख होने पर श्रीकृष्ण के अनुनय-मनुहार नारायण ने अपने 'वेणीसंहार' नामक नाटक में अंकित किया है। यह इस तथ्य कि आठवीं शताब्दी में रासलीला-प्रसंग में राधा-कृष्ण का वर्णन प्रारम्भ हो गया काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में उद्धृत एक श्लोक में भी कृष्ण हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में दो पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें कृष्ण का वर्णन काव्य' में तो सीधे गोप-गीत का उल्लेख मिलता है। इसके बाद नाट्यदर्पण, अलं कन्दर्प मंजरी, कृष्णकर्णामृत, श्रीकृष्णलीलामृत आदि संस्कृत-ग्रन्थ कृष्ण के वि भरे हुए हैं। जयदेव-रचित 'गीतगोविन्द' कृष्ण की सरस केलि-क्रीड़ाओं का वर्ण उत्कृष्ट और प्रख्यात गीतिकाव्य है।

कृष्णविषयक काव्य का प्राचुर्य हमें बारहवीं शताब्दी के बाद देखने को बोपदेव की 'हरिलीला' और वेदान्तदेशिक की 'यादवाभ्युदय' कृष्णविषयक प्रसिद्ध हरिचरित काव्य, गोपलाला, कंसनिधन महाकाव्य, ब्रजबिहारी, गोपालचरित, नाटक और हरिविलास काव्य तेरहवीं से पन्द्रहवीं शती के मध्य की प्रख्यात सोलहवीं शताब्दी में कृष्ण चैतन्य के विद्वान् शिष्य रूपगोस्वामी, सनातन गोस्वामी गोस्वामी ने कृष्णभक्ति को शास्त्रीय आधार प्रदान करने का स्तुत्य प्रयत्न कि गोस्वामी-कृत 'उज्ज्वलनीलमणि' और 'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' तथा सनातन 'षट्सन्दर्भ' कृष्णभक्ति को साहित्यशास्त्र की रस-परिपाटी पर स्थापित करने में ध्ययुगीन कृष्णभक्त कवियों ने इन ग्रन्थों से कृष्णभक्ति की सामग्री संकलित की क्त के इस प्रबल आन्दोलन में संस्कृत के इन शास्त्रीय एवं साहित्यिक ग्रन्थों ने

या, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में कृष्ण-काव्य का प्रारम्भ मैथिल-कोकिल विद्यापति से
र किया जाता है । राधा-कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का वर्णन करने के लिए विद्यापति ने
ली' की रचना की । इस पदावली का स्थान कृष्ण-भक्ति-शृंगार में अप्रतिम है । महा-
के वारकरी, महानुभाव अथवा जयकृष्णी सम्प्रदायों में भी कृष्णभक्ति-साहित्य की रचना
इनमें कुछ कवियों ने अपभ्रंश-मिश्रित हिन्दी के पद लिखे हैं । इनमें निर्गुण और सगुण
का मिश्रण है । नामदेव के कुछ पदों में कृष्ण का सगुणभक्तिपरक रूप उपलब्ध होता
गाल के वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में भी राधा-कृष्ण-भक्ति का वर्णन मिलता है । रस
रति नाम से कृष्ण और राधा का उल्लेख इस सम्प्रदाय की विशेषता है । इसी सम्प्रदाय
कीया भाव से राधा की आराधना का सविस्तर उल्लेख पाया जाता है ।

पति का कृष्ण-काव्य

विद्यापति मिथिला-निवासी थे—जयदेव (उड़ीसा) और चण्डीदास (बंगाल) की
रा में उन्होंने चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी में राधा-कृष्ण-प्रेम की जैसी सरस-कोमल अव-
की, उसी का परिणाम है कि मूलतः शैव होने पर भी उन्हें कृष्ण-भक्तों की पंक्ति में
दिया जाता है । उनके द्वारा रचित 'पदावली' की सरसता को लक्षित कर लोक-हृदय
पण्डित-समाज ने उन्हें अभिनव जयदेव, मैथिल-कोकिल, नवकविशेखर आदि उपाधियों से
षित किया । विद्यापति को बिहार और बंगाल में ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी-क्षेत्र में असा-
लोकप्रियता प्राप्त हुई, किन्तु दुर्भाग्यवश उनके जीवन-मरण-काल के सम्बन्ध में
जन एकमत नहीं हैं । डॉ० जयकान्त मिश्र ने उनका जन्म १३५० ई० में, डॉ० सुभद्र झा
३५२ ई० में, पं० हरप्रसाद शास्त्री ने १३५७ ई० में, श्री नागेन्द्रनाथ गुप्त ने १३५८ ई०
ॉ० बाबूराम सक्सेना ने अनुमानतः १३६० ई० में, डॉ० उमेश मिश्र ने १३६८ ई० में
डॉ० विमानबिहारी मजूमदार ने १३८० ई० में माना है । डॉ० सुभद्र झा ने उनका
-काल १४४८ ई०, डॉ० जयकान्त मिश्र मे १४५० ई०, डॉ० विमानबिहारी मजूमदार ने
० ई० के लगभग और डॉ० उमेश मिश्र ने १४७५ ई० माना है । अतः यह कहा जा
ा है कि विद्यापति १३५० ई० से १४६० ई० के मध्य विद्यमान थे ।

विद्यापति का जन्म ज़िला दरभंगा (बिहार) के विसपी ग्राम में एक विद्यानुरागी
ण-परिवार में हुआ था । उनके पिता गणपति ठाकुर संस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान्
राजाश्रित कवि थे । फलस्वरूप विद्याध्ययन और लेखन के संस्कार उन्हें कुल-परम्परा से
हुए । पिता की भाँति विद्यापति ने भी राजाश्रय में काव्य-रचना की—तिरहुत के राज-
र में उन्हें अपार सम्मान प्राप्त हुआ । उनके द्वारा रचित कृतियों को भाषा के आधार
तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—उन्होंने एक ओर 'शैवसर्वस्वसार', 'गंगा
ावली', 'भूपरिक्रमा', 'पुरुषपरीक्षा' आदि संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की; दूसरी ओर अव-
में रचित 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' में क्रमशः राजा कीर्तिसिंह और राजा शिवसिंह
ीरता, उनके द्वारा किये गये युद्धों और उदारता का वर्णन किया और तीसरी ओर देश-
मैथिली में 'पदावली' का गान किया । विद्यापति के पद लोककण्ठ में सुरक्षित रहे,
रूप इनके भाषा-रूप में गायक की सुविधानुसार यत्किंचित् परिवर्तन होते रहे । यही
ा है कि मैथिली हिन्दी में रचित होने पर भी 'पदावली' में बँगला-प्रभाव विद्यमान है
बँगला-साहित्य में भी उसे उतना ही सत्कार प्राप्त है ।

विद्यापति की पदावली में यों तो राजस्तुतिपरक पद भी मिलते हैं, कि रूप से भक्ति और श्रृंगार का समन्वय मिलता है। यद्यपि शिव, दुर्गा औ अनन्य आस्था से प्रेरित होकर उन्होंने जिन पदों की रचना की उनकी संख्या तथापि जिन पदों में राधा-कृष्ण को नायक-नायिका के रूप में ग्रहण कर श्रृं गया है उनमें भी भावुक जन भक्ति की अन्तःसलिला का प्रवाह पाते हैं। जनश्रु प्रभु चैतन्यदेव इन पदों को गाते-गाते भावविभोर होकर मूर्च्छित हो जाया आधार पर बाबू ब्रजनन्दन सहाय और डॉ० श्यामसुन्दरदास ने विद्यापति को स्वीकार किया है। एक अन्य परम्परा उन विद्वानों की भी है, जो 'पदावली' व्याप्ति मानते हैं—इनमें डॉ० ग्रियर्सन, नागेन्द्रनाथ गुप्त और जनार्दन मिश्र सकते हैं। किन्तु, सत्य यह है कि इन पदों में रूप, अभिसार और मिलन का है। कवि ने राधा-कृष्ण का नाम्ना उल्लेख अवश्य किया है, किन्तु उनकी ऐन्द्रिय आसक्ति से युक्त हैं। कवि ने न केवल उनके मांसल सौन्दर्य की अपितु उन्हें एक-दूसरे के प्रति वासना-निमग्न भी दिखाया है। इसी आधार शास्त्री, रामचन्द्र शुक्ल, सुभद्र झा, रामकुमार वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी प्रभृति पति को शुद्ध श्रृंगारी कवि माना है। नखशिख-सौन्दर्य, मिलन की आकांक्षा, पूर्वघटित प्रेम-लीलाओं की वियोग-काल में स्मृति 'पदावली' के मुख्य वर्ण्य विद्यापति को वैष्णव भक्त कवि मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

'पदावली' में भाव-वर्णन अत्यधिक मार्मिक, प्रौढ़ तथा सशक्त है। मादक चित्र हों, चाहे वियोग-व्यथा का मार्मिक वर्णन—हृदय की तरलता सम्मिश्रण दोनों अवस्थाओं में समान रूप से विद्यमान है। वस्तुतः विद्यापति न तो मनोवैज्ञानिकता का अभाव है और न ही उसे सामाजिक अस्वस्थता का सकता है। सौन्दर्य के प्रति आसक्ति और प्रेमानुभूति मानव-मन की ऐसी सहज जिन्हें झुठलाया नहीं जा सकता। नायिका के नखशिख-सौन्दर्य को विद्यापति ने अंकित किया है, वह अपूर्व है। एक चित्र देखिए :

खने खने नयन कोन अनुसरई। खने खने वसन धूलि तनु भरई।
खने खने दसन छटा छुट हास। खने खने अधर आगे करु वास।
चउकि चलए खने खने चलु मंद। मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।
हिरदय मुकुल हेरि हेरि थोर। खने आँचर दए खने होय भोर।
बाला सैसव तारुन भेट। लखए न पारिअ जेठ कनेठ।
विद्यापति कह सुन वर कान। तरुनिम सैसव चिन्हइ न जान।

विद्यापति की पदावली में विरह-दशाओं का चित्रण भी अत्यन्त मार्मिक इसी भाँति कवि का अभिव्यंजना-पक्ष भी पर्याप्त समृद्ध है। भाषा-लालित्य तो की अप्रतिम विशेषता है ही, आलंकारिक वर्णन में भी वे दक्ष हैं। इसमें सन्देह पद-शैली ने न केवल सामान्य जनमानस को मुग्ध किया, अपितु राधा-कृष्ण की का गान करनेवाले परवर्ती कवि भी उनसे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

मध्ययुगीन भक्ति-सम्प्रदायों में कृष्ण

मध्ययुग में कृष्णभक्ति का प्रचार ब्रजमण्डल में बड़े उत्साह और हुआ। इस सन्दर्भ में वल्लभ, निम्बार्क, राधावल्लभ, हरिदासी और चैतन्य (गौड़ी

शेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन सम्प्रदायों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण का क्या स्वरूप और स्थान यह जानना आवश्यक है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार श्रीकृष्ण ही पूर्णानन्द-स्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम परब्रह्म हैं। वे , चित् और आनन्दस्वरूप हैं। वे व्यापक, नाशरहित, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ, जातीय-विजातीय-भेद-रहित हैं और उनके अनन्त रूप हैं। इस जगत् के वही निमित्त कारण और वे सम्पूर्ण विरुद्ध धर्मों के आश्रय हैं। वे श्रीकृष्ण अपनी आनन्द-प्रदायिनी शक्तियों को पने में प्रसारित करके अनेक अप्राकृतिक लीलाएँ किया करते हैं, उन्हीं के समान उनकी लाएँ भी नित्य हैं। उनकी लीलाओं का कोई प्रयोजन नहीं है—स्वयं लीला ही उनका योजन है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में कृष्ण के वामांग में सुशोभित राधा के साथ कृष्ण की उपासना विधान है। समस्त वस्तुओं के मूल स्रोत कृष्ण-ब्रह्म ही हैं। भक्तों पर अनुग्रह करने के ए कृष्ण अवतार धारण करते हैं। ब्रह्म और शिव भी कृष्ण की वन्दना करते हैं। उनके रणारविन्द को छोड़कर जीवों के लिए अन्य गति नहीं है। दैन्य भाव से उनकी कृपा प्राप्त ती है और फिर प्रेममूला भक्ति द्वारा जीव का कल्याण होता है।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का प्रमुख स्थान नहीं है, राधा ही प्रमुख हैं। कृष्ण आनुवंशिक रूप से वर्णित हैं, किन्तु इस वर्णन में कृष्ण के भीतर सभी शक्तियों का माहार अवश्य लक्षित होता है। वृन्दावनविहारी कृष्ण ही रसिककिशोर-रूप में एकमात्र त्यविहारी पुरुष हैं। उनकी पराप्रकृति श्रीराधा हैं, जो चित्-अचित् विशिष्ट आह्लादिनी जशक्ति-रूपा हैं। सारा चराचर जगत् इन्हीं रसिक युगलकिशोर का प्रतिबिम्ब है। भगवान् ष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम परात्पर ब्रह्म के भी आदि-कारण और ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। श्रीकृष्ण वृन्दावनविहारी, मथुरावासी और द्वारकावासी के रूप में वर्णन मिलता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, क्ति और पराक्रम को अन्तर्लीन कर—प्रेम और माधुर्य की साक्षात् मूर्ति वन—वे गोप-पियों के साथ लीलारत रहते हैं। वे राधापति होकर रसराज शृंगार के सौन्दर्यमण्डित रूप विस्तार करनेवाले हैं। इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण का उपास्य नाम 'राधावल्लभ' है।

हरिदासी सम्प्रदाय (सखी-सम्प्रदाय) में भी श्रीकृष्ण का स्वरूप लगभग इसी प्रकार र्णित है। स्वामी हरिदास ने नित्यविहारी कृष्ण की निकुंज-लीलाओं का गान किया है। स सम्प्रदाय में निकुंजविहारी कृष्ण सर्वोपरि हैं। ये कृष्ण न तो सृष्टि-रचना-प्रक्रिया में ड़ते हैं, न प्रभुता धारण कर संसार के क्रियाकलाप के प्रति दायित्व रखते हैं। अन्य अवतारों ी भाँति दुष्ट-दलन, राक्षस-विध्वंस आदि कार्य वे नहीं करते। सृष्टि-रचना, लय, स्थिति ादि के समस्त कर्म उन्होंने ईश्वर पर छोड़े हैं, जो कृष्ण से लघु माने गये हैं। ठकुराई से र रहकर निकुंज-लीला में रत रहना ही कृष्ण का स्वभाव है। सहज शृंगार रस में लीन ोकर निकुंज-लीला-परायण कृष्ण की उपासना और नित्यविहार-दर्शन ही सहचरी या सखी ा काम्य है।

गौड़ीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु ने श्रीकृष्ण को ब्रजेन्द्रकुमार कहा है और ह माना है कि वे ब्रज में गोलोक की लीलाओं-सहित विहार करते हैं। वे परम तत्त्व, पूर्ण-ान तथा पूर्ण आनन्द-रूप हैं। श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें एक आह्लादिनी शक्ति । राधा इसी शक्ति का रूप हैं। 'चैतन्यचरितामृत' में राधा और कृष्ण के स्वरूप तथा क्तियों का बड़े विस्तार के साथ वर्णन मिलता है, जो गौड़ीय सम्प्रदाय को स्पष्ट करने में मर्थ है। इसमें ब्रजेन्द्रकुमार कृष्ण और गोलोकवासी कृष्ण में अभिन्नता स्वीकार की गयी

है और कृष्ण की किशोरावस्था का ही वर्णन है, अतः लीलाओं का आधार कान्त
माधुर्य-भाव है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त कवि

श्री वल्लभाचार्य ने ब्रजमण्डल में जिस कृष्णभक्ति को प्रतिष्ठित किया, उस
निक आधार शुद्धाद्वैत-दर्शन है। साधना और व्यवहार-क्षेत्र में शुद्धाद्वैत-दर्शन के
भक्ति को स्थान दिया गया, उसका आधार उन्होंने 'पुष्टिमार्ग' को बनाया। 'पुष्टिमा
भक्ति में सर्वथा नवीन प्रयोग न होने पर भी शब्द और व्यवहार के क्षेत्र में नया
जाएगा। भगवद् अनुग्रह या कृपा को 'पुष्टि' कहा जाता है : "पुष्टि किं मे ?
पोषणं किम्। तद् अनुग्रहः। भगवत्कृपा।" पुष्टि किसे कहते हैं ? भगवान् के
कृपा का नाम ही पोषण है, यही पुष्टि है; और इसी पुष्टि पर पुष्टिमार्ग की भ
अवलम्बित है। रामानुजाचार्य ने भी ईश्वर-कृपा को भक्ति का मेरुदण्ड स्थिर किया
मर्कट-शावक तथा मार्जार-शावक के उदाहरणों द्वारा यह सिद्ध किया है कि जि
बन्दर का बच्चा अथवा बिल्ली का बच्चा स्वयं को अपनी माँ के ऊपर छोड़ देता
प्रकार जो भक्त अपने को भगवान् के आश्रय में सर्वथा छोड़ दे, वह सच्चा भक्त है
मार्ग का ऐसा ही संकेत 'गीता' में है। स्वयं भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है :
परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" श्री वल्लभाचार्य ने भक्ति-विवेचन करते हुए यद्यपि
—मर्यादामार्ग, प्रवाहमार्ग और पुष्टिमार्ग—का उल्लेख किया है, किन्तु उनका बल
पर ही है। आगम-निगम द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्य-कर्म का विधिपूर्वक अनुसरण 'म
है। इस मार्ग के पथिक लोकसंग्रह और लोकरक्षण की भावना को अवश्य साथ
इस मार्ग के द्वारा जीवन-यापन करनेवालों को बार-बार भव-बन्धन सहना पड़ता है।
जन इसी मार्ग में भटककर जीवन-यापन करते रहते हैं। 'पुष्टिमार्ग' भगवान् के अ
मार्ग है, इस मार्ग के पथिक किसी लौकिक या बाह्य साधन का आश्रय नहीं लेते। व
के अनुसार यही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-मार्ग है। भगवान् के अनुग्रह पर निर्भर होकर भी जो
नुसार कर्म करते हैं, वे 'मर्यादापुष्ट' भक्त कहाते हैं और जो केवल अनुग्रह (
अवलम्बन लेते हैं, वे 'शुद्ध पुष्ट' भक्त हैं। वल्लभाचार्य ने भक्तों के चार भेद कि
प्रवाही पुष्ट भक्त, मर्यादा-पुष्ट भक्त, पुष्टि-पुष्ट भक्त, शुद्ध पुष्ट भक्त। पुष्टिमार्ग
पर ही निर्भर करता है : "पुष्टिमार्गोऽनुग्रहैक साध्यः; कृष्णानुग्रह रूपा हि पुष्टिः;
पुष्टिमार्गो नियामक इति स्थितिः।"

पुष्टिमार्गीय भक्ति रागानुगा भक्ति है। इस भक्ति में किसी प्रकार के
कर्मकाण्ड की अपेक्षा नहीं होती। पुष्टिमार्गीय भक्त के प्रारब्ध और संचित कर्मों
ईश्वर-कृपा से स्वयं हो जाता है : पुष्टिभक्ति का लाभ यह है कि इसके द्वारा
प्राप्त होती है। पुष्टिमार्गीय भक्ति के तीन फल हैं—रसरूप पुरुषोत्तम के स्वरूप
शक्ति प्राप्त कर उसकी लीला में प्रविष्ट होना; दूसरा, पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअंग
आभूषणादि का अंग बनना और तीसरा, प्राकृत देहेन्द्रियादि से मुक्त होकर अप्राकृ
से भगवान् के बैकुण्ठ आदि लोकों में आनन्द-भोग की स्थिति प्राप्त करना।
मोक्ष की दृष्टि से भी पुष्टिमार्ग को अधिक सुकर बताया गया है। पुष्टिमार्गीय
हिन्दी-कवियों ने इसी आधार को ग्रहण कर कृष्ण के रूप-सौन्दर्य को शृंगारमण्डित
उस भगवान् के अनुग्रह की प्राप्ति के लिए काव्य-रचना की। कृष्ण की विविध ली

वर्णन भी इसी पुष्टिभक्ति को ध्यान में रखकर किया गया है।

श्री वल्लभाचार्य ने जिस पुष्टिमार्गीय भक्ति-सम्प्रदाय की स्थापना की थी, उसका जिन हिन्दी-भक्त-कवियों द्वारा पल्लवन किया गया, उन्हें अष्टछाप के कवि कहा जाता है। यों तो पुष्टिमार्ग को स्वीकार करनेवाले अनेक भक्त उस समय विद्यमान थे, किन्तु जिन आठ भक्त कवियों पर गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने आशीर्वाद की छाप लगायी थी वे 'अष्टसखा' या 'अष्टछाप' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन आठ भक्त कवियों में चार श्री वल्लभाचार्य के शिष्य थे—कुम्भनदास, सूरदास, परमानन्ददास और कृष्णदास। अन्य चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे—गोविन्दस्वामी, नन्ददास, छीतस्वामी और चतुर्भुजदास। ये आठों भक्त श्रीनाथ जी की नित्य-लीला में अन्तरंग सखाओं के रूप में सदैव उनके साथ रहते थे, इसी मान्यता के आधार पर इन्हें 'अष्टसखा' कहते हैं। गोवर्धन में श्रीनाथ जी की प्रतिष्ठा के बाद ये आठों सखा वहाँ सेवा के लिए प्रस्तुत हो गये। अष्टछाप के ये आठों भक्त कवि पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि में भी पूर्ण सहयोग देते थे। वल्लभ-सम्प्रदाय में सेवाविधि का बहुत ही सांगोपांग वर्णन है और अष्टयाम की सेवा—मंगालाचरण, श्रृंगार, ग्वाल, राजयोग, उत्थापन, भोग, सन्ध्या-आरती और शयन—को इस सम्प्रदाय में बड़े समारोह से स्वीकार किया गया है। अष्टछाप की स्थापना १५६५ ई० में हुई थी। 'अष्टसखान की वार्ता' पर श्री हरिराय की 'भावप्रकाश' नामक टिप्पणी में आठों सखाओं के लीलात्मक स्वरूप, लीला-सक्ति और अविकृत स्वभाव का पूर्ण विस्तार से उल्लेख है। साम्प्रदायिक दृष्टि से अष्टछाप के ये आठ भक्त सामान्य मानव से उच्च स्थान रखते हैं और इनका लीला की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है।

सूरदास : हिन्दी-साहित्य में कृष्णभक्ति की अजस्र धारा को प्रवाहित करनेवाले भक्त कवियों में सूरदास का स्थान मूर्द्धन्य है। उनका जीवन-वृत्त उनकी अपनी कृतियों से आंशिक रूप में और बाह्य साक्ष्य के आधार पर अधिक उपलब्ध होता है। इसके लिए 'भक्तमाल' (नाभादास), 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' (गोकुलनाथ), 'वल्लभदिग्विजय' (यदुनाथ) तथा 'निजवार्ता' का आधार लिया जाता है। श्री हरिराय-कृत भावप्रकाश-वाली 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' में लिखा है कि सूरदास का जन्म दिल्ली के निकट ब्रज की ओर स्थित 'सीही' नामक गाँव में सारस्वत ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इसके अतिरिक्त सूर के जन्म-स्थान के विषय में और कोई संकेत नहीं मिलता। इस वार्ता में सूर का चरित गऊघाट से आरम्भ होता है, जहाँ वे वैराग्य लेने के बाद निवास करते थे। यहीं श्री वल्लभाचार्य से उनका साक्षात्कार हुआ था। अधिकांश विद्वानों ने सीही गाँव को ही सूरदास का जन्म-स्थान माना है।

सूरदास का जन्म-काल १४७८ ई० स्थिर किया जाता है। उनके जन्मान्ध होने या बाद में अन्धत्व प्राप्त करने के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ एवं प्रवाद फैले हुए हैं। वार्ता-ग्रन्थों के अनुसार १५०९-१० ई० के आसपास उनकी भेंट महाप्रभु वल्लभाचार्य से हुई और तभी उन्होंने शिष्यत्व ग्रहण किया। अकबर से भी उनकी भेंट का उल्लेख मिलता है। वल्लभाचार्य के शिष्य बनने के बाद वे चन्द्रसरोवर के समीप पारसोली गाँव में रहने लगे थे; वहीं १५८३ ई० में उनका देहावसान हुआ। उनकी मृत्यु पर गो० विट्ठलनाथ ने शोकार्त्त होकर कहा था : "पुष्टिमारग को जहाज जात है सो जाको कछु लेना होय सो लेउ।"

सूरदास की शिक्षा आदि के विषय में किसी ग्रन्थ में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता; केवल इतना ही हरिराय जी ने लिखा है कि वे गाँव से चार कोस दूर रहकर पद-रचना में

लीन रहते थे और गान-विद्या में प्रवीण थे। भक्त-मण्डली उनके पद सुनने एकत्र हो थी। उनके पद विनय और दैन्य भाव के होते थे, किन्तु श्री वल्लभाचार्य के सम्पर्क पर उन्हीं की प्रेरणा से सूरदास ने दास्य भाव और विनय के पद लिखना बन्द क तथा सख्य, वात्सल्य और माधुर्य-भाव की पद-रचना करने लगे। डॉ० दीनदयालु गुप्त ने द्वारा रचित पच्चीस पुस्तकों की सूचना दी है जिनमें सूरसागर, सूरसारावली, साहित्य सूरपचीसी, सूररामायण, सूरसाठी और राधारसकेलि प्रकाशित हो चुकी हैं। वस्तुतः 'सूर और 'साहित्यलहरी' ही उनकी श्रेष्ठ कृतियाँ हैं। 'सूरसारावली' को अनेक विद्वान् अप्रा मानते हैं, किन्तु ऐसे विद्वान् भी हैं जो इसे 'सूरसागर' का सार अथवा उसकी विष मानकर इसकी प्रामाणिकता के पक्ष में हैं। 'सूरसागर' की रचना 'भागवत' की पद्ध द्वादश स्कन्धों में हुई है। 'साहित्यलहरी' सूरदास के सुप्रसिद्ध दृष्टकूट-पदों का संग्र इसमें अर्थगोपन-शैली में राधा-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है, साथ ही अलंकार-निरू दृष्टि से भी इस ग्रंथ का महत्त्व है।

सूर-काव्य का मुख्य विषय कृष्णभक्ति है। 'भागवत' पुराण को उपजीव्य मा उन्होंने राधा-कृष्ण की अनेक लीलाओं का वर्णन 'सूरसागर' में किया है। 'भागवत' के स्कन्धों से अनुरूपता के कारण कुछ विद्वान् इसे 'भागवत' का अनुवाद समझने की भू बैठते हैं, किन्तु वस्तुतः सूर के पदों का क्रम स्वतन्त्र है। वैसे, उनके मन में 'भागवत' की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उन्होंने कृष्ण-चरित्र के उन भावात्मक स्थलों को चुना है जिनमें अन्तरात्मा की गहरी अनुभूति पैठ सकी है। उन्होंने श्रीकृष्ण के शैशव और कैशोर की विविध लीलाओं का चयन किया है; सम्भवतः यह साम्प्रदायिक दृष्टि से किया गया सूर की दृष्टि कृष्ण के लोकरंजक रूप पर ही अधिक रही है, उनके द्वारा दुष्ट-दलन का वर्णन सामान्य रूप से ही किया गया है। लीला-वर्णन में कवि का ध्यान मुख्यतः चित्रण पर रहा है। विनय और दैन्य-प्रदर्शन के प्रसंग में जो पद सूर ने लिखे हैं, उनमें उच्च कोटि के भावों का समावेश है।

सूर के भाव-चित्रण में वात्सल्य-भाव को श्रेष्ठतम कहा जाता है। बाल-भाव वात्सल्य से सने मातृहृदय के प्रेम-भावों के चित्रण में सूर अपना सानी नहीं रखते। ब की विविध चेष्टाओं और विनोदों के क्रीड़ास्थल मातृहृदय की अभिलाषाओं, उत्कण्ठाओं भावनाओं के वर्णन में सूरदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि ठहरते हैं। वात्सल्य-भाव के की विशेषता यह है कि उनको पढ़कर पाठक जीवन की नीरस और जटिल समस्याओं भूलकर उनमें मग्न हो जाता है। दूसरी ओर भक्ति के साथ शृंगार को जोड़कर संयोग एवं वियोग पक्षों का जैसा मार्मिक वर्णन सूर ने किया है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ प्रवास-जनित वियोग के सन्दर्भ में भ्रमरगीत-प्रसंग तो सूर की काव्य-कला का उत्कृष्ट नि है। इस अन्योक्ति एवं उपालम्भ-काव्य में गोपी-उद्धव-संवाद को पढ़कर सूर की प्रतिभा मेधा का परिचय प्राप्त होता है। सूरदास के भ्रमरगीत में केवल दार्शनिकता और आ त्मिक मार्ग का ही उल्लेख नहीं है, वरन् उसमें काव्य के सभी श्रेष्ठ उपकरण उपलब्ध होते सगुण भक्ति का ऐसा सबल प्रतिपादन अन्यत्र देखने में नहीं आता। इस प्रकार सूर-काव्य प्रकृति-सौन्दर्य, जीवन के विविध पक्षों, बालचरित्र के विविध प्रसंगों, क्रीड़ाओं, गोचारण, आदि का वर्णन प्रचुर मात्रा में मिलता है। रूप-चित्रण के लिए नखशिख-वर्णन को सूर अनेक बार स्वीकार किया है। व्रज के पर्वों, त्योहारों, वर्षोत्सवों आदि का भी वर्णन उन रचनाओं में है।

सूर की समस्त रचना को पद-रचना कहना ही समीचीन है। ब्रजभाषा के अग्रदूत सूरदास ने इस भाषा को जो गौरव-गरिमा प्रदान की, उसके परिणामस्वरूप ब्रजभाषा अपने युग में काव्य-भाषा के राजसिंहासन पर आसीन हो सकी। सूर की ब्रजभाषा में चित्रात्मकता, आलंकारिकता, भावात्मकता, सजीवता, प्रतीकात्मकता तथा बिम्बात्मकता पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। ब्रजभाषा को ग्रामीण जनपद से हटाकर उन्होंने नगर और ग्राम के सन्धिस्थल पर ला बिठाया था। संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रचुर प्रयोग करने पर भी उनकी मूल प्रवृत्ति ब्रजभाषा को सुन्दर और सुगम बनाये रखने की ओर ही थी। ब्रजभाषा की ठेठ माधुरी यदि संस्कृत और अरबी-फ़ारसी के शब्दों के साथ सजीव शैली में जीवित रही है, तो वह सूर की भाषा में ही है। अवधी और पूरबी हिन्दी के भी शब्द उनकी भाषा में हैं। कतिपय विदेशी शब्द भी यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाते हैं। भाषा की सजीवता के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का पुट उनकी भाषा का सौन्दर्य है। भ्रमरगीत के पदों में तो अनेक लोकोक्तियाँ मणिकांचन-संयोग की तरह अनुस्यूत हैं। भाषा में प्रवाह बनाये रखने के लिए लय और संगीत पर कवि का सतत ध्यान रहा है। राग-रागिनियों के स्वर-ताल में बँधी हुई शब्दावली जैसी सरस भाव-व्यंजना करती है, वैसी सामान्य पदावली नहीं कर सकती। वर्ण-मैत्री और संगीतात्मकता सूर की ब्रजभाषा के अलंकरण हैं।

सूर की **भक्ति-पद्धति** का मेरुदण्ड पुष्टिमार्गीय भक्ति है। भगवान् की भक्त पर कृपा का नाम ही पोषण है : 'पोषणं तदनुग्रहः'। पोषण के भाव को स्पष्ट करने के लिए भक्ति के दो रूप बताये गये हैं—साधन-रूप और साध्य-रूप। साधन-भक्ति, में भक्त को प्रयत्न करना होता है, किन्तु साध्य-रूप में भक्त सब-कुछ विसर्जित करके भगवान् की शरण में अपने को छोड़ देता है। पुष्टिमार्गीय भक्ति को अपनाने के बाद प्रभु स्वयं अपने भक्त का ध्यान रखते हैं, भक्त तो अनुग्रह पर भरोसा करके शान्त बैठ जाता है। इस मार्ग में भगवान् के अनुग्रह पर ही सर्वाधिक बल दिया जाता है। भगवान् का अनुग्रह ही भक्त का कल्याण करके उसे इस लोक से मुक्त करने में सफल होता है :

> *जा पर दीनानाथ ढरै।*
> *सोइ कुलीन बड़ौ सुन्दर सोइ जा पर कृपा करै।*
> *सूर पतित तरि जाय तनक में जो प्रभु नेक ढरै॥*

भगवत्कृपा की प्राप्ति के लिए सूर की भक्ति-पद्धति में अनुग्रह का ही प्राधान्य है—ज्ञान, योग, कर्म; यहाँ तक कि उपासना भी निरर्थक समझी जाती है। उन्होंने भगवदासक्ति के एकादश रूपों का वर्णन किया है। 'नारदभक्तिसूत्र' के अनुसार आसक्ति के एकादश रूप इस प्रकार हैं—गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयासक्ति और परम विरहासक्ति। यद्यपि सूर ने इन सभी का वर्णन किया है, किन्तु उनका मन सख्य, वात्सल्य, रूप, कान्त और तन्मयासक्ति में अधिक रमा है। तन्मयासक्ति का उदाहरण देखिए :

> *उर में माखन चोर गड़े।*
> *अब कैसेहूं निकसत नहिं ऊधौ, तिरछे ह्वै जु अड़े॥*

परम विरहासक्ति भ्रमरगीत के पदों में बड़ी समीचीन शैली में व्यक्त हुई है। अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्ददास तथा कुम्भनदास ने भी इस विषय पर पद लिखे हैं। प्रेमासक्ति में विरह की स्वीकृति इस सम्प्रदाय में प्रारम्भ से मिलती है।

भक्ति के दार्शनिक स्वरूप की ओर भी सूर का ध्यान बराबर बना रहा। सिद्धान्त-

पक्ष की स्थापना में उन्होंने वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत का ध्यान रखा और ब्रह्म, जीव का वर्णन करते समय सूक्ष्म बातों का भी यथास्थान उल्लेख किया। इतना ही नहीं; माया, जीव, काल और सृष्टि-रचना का विशद वर्णन करके उन्होंने अपने भक्ति-सिद्धान्तों इतना पुष्ट और परिपूर्ण बना दिया कि उसमें एक ओर जहाँ गहन दार्शनिकता आ गयी, वहाँ दूसरी ओर जीवन की कोमल भावनाओं के कारण सुकुमारता, भावुकता और तल्लीन की भी कमी नहीं है। उनके भक्तिकाव्य के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात करके निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि उनकी भक्ति-पद्धति का प्रमुख आधार पुष्टिमा सिद्धान्त 'भगवदनुग्रह' ही था और इसी को केन्द्रबिन्दु मानकर वे वात्सल्य-प्रेम आदि व्यंजना करने में लीन रहे। भक्ति में कृपा की प्राप्ति का साधन उन्होंने प्रेम को माना बाद में प्रेमाभक्ति को अपनाकर उन्होंने भगवत्प्रेम को ही भक्ति का मेरुदण्ड मान लिया प्रेम की परिपूर्णता के लिए विरह को आवश्यक मानकर विरह के महत्त्व को इन शब्दों प्रकट किया :

ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यों बिनु पुट पर गहत न रंग को रंग न रसै परै।
ज्यों घर दहै बीज अंकुर गिरि तो सत फरनि फरै॥

सूरदास ने प्रेम और विरह के द्वारा सगुण मार्ग से कृष्ण को साध्य माना है। कृष्ण सखा-रूप में भी सर्वशक्तिमान परमेश्वर हैं। विष्णु, हरि, राम आदि सब कृष्ण ही के हैं। निर्गुण ब्रह्म के ये सगुण नाम हैं और इनमें भेद-बुद्धि सूरदास को 'अभीष्ट नहीं। जहाँ रामकथा का उल्लेख किया है, वहाँ यही आशय है कि दोनों ही कृष्ण के रूप हैं; इनमें भेदभाव नहीं है। राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना गया है, अतः कवि ने उन्हें महेश, शम्भु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है। निर्गुण-सिन्धु में अवगाहन को साधारण के लिए कठिन मानकर सूरदास ने सगुण कृष्ण-भक्ति का पथ प्रशस्त किया : "कौन काज निर्गुण सो चिरजीवहु कान्ह हमारे।" पुष्टि-मार्ग में स्वीकृत रागानुगा भक्ति ही उन्हें रही है और उसके दोनों भेदों—कामरूपा और सम्बन्धरूपा—का उन्होंने वर्णन किया है।

सख्य भक्ति का 'सूरसागर' में दो रूपों में प्रस्फुटन हुआ है। पहले रूप के अन्त गोप-ग्वालों के साथ कृष्ण का सखा-रूप में विचरण करना और कृष्ण के अतिरिक्त और में ध्यान न रखना वर्णित है। गोप-ग्वालों का कृष्ण के साथ ऐसा अटूट प्रेम-सम्बन्ध है जिसमें न तो ऊँच-नीच का भेद-भाव है और न किसी प्रकार का दुराव-छिपाव! दूसरा है—गोपियों का श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम-भाव! उसमें विरहजन्य वेदना के कारण सूरदास तल्लीनता की मात्रा अधिक व्यक्त की है। विरह में विभोर गोपियों की व्यथा का वर्णन भ्रमरगीत सम्बन्धी पदों में देखने को मिलता है। भ्रमरगीत के पदों में गोपियों मार्मिक विरह-भावना, सगुण-निर्गुण-विवेचन, ज्ञान और भक्ति के तारतम्य तथा भक्ति सीमाओं का जैसा सुन्दर चित्रण हुआ है, वह सूरदास की भक्ति-पद्धति के दार्शनिक एवं भावु दोनों रूप सामने लाने में समर्थ है।

सख्य भक्ति के साथ सूरदास ने भक्ति को सुगम और सर्वजन-सुलभ बनाने के लि वात्सल्य-भाव द्वारा भी भगवान् की आराधना-उपासना की है। सख्य भाव की अपे वात्सल्य-भाव में भक्त को इष्टदेव का सामीप्य अधिक प्राप्त होता है। बाललीला की मग्नता इतनी अधिक होती है कि कृष्ण का वैभव और उनकी असीम शक्ति का ज्ञान समय के लिए तिरोहित-सा हो जाता है और भक्त भगवान् के निकट उसी रूप में पहुँच जा

है जैसे बालक के पास उसके माता-पिता, बन्धु, सखा आदि । यशोदा और नन्द के द्वारा जिस वात्सल्य-भाव का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें श्रीकृष्ण के अतिमानवीय कृत्यों के प्रति अधिक आतंकपूर्ण प्रभाव तथा अति महत्त्व न होने से भक्त को भगवान् के समीप जाने का पूरा-पूरा अवसर मिलता है ।

वैष्णव-सम्प्रदायों में माधुर्य-भाव की भक्ति को अन्य प्रकार की भक्ति-पद्धतियों की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ है । कारण यह है कि व्यक्तिगत सम्बन्ध की निकटता और अनन्यता की दृष्टि से माधुर्य-भाव में जो उत्कर्ष है, वह अन्य प्रकार की भक्ति में परिलक्षित नहीं होता । विभिन्न लीलाओं के प्रसंग माधुर्य-भाव को स्पष्ट करनेवाले मनोरम प्रसंग हैं, जिनमें भगवान् की असीम शक्ति को पति-रूप में वरण करके गोपियाँ सुखी होती हैं । दानलीला आदि में असन्दिग्ध शब्दों में सूर ने गोपियों के द्वारा माधुर्य के अवलम्बन के अतिरिक्त कृष्ण के अन्य सभी रूपों की अवहेलना करके यह प्रदर्शित किया है कि अनन्य-भाव की चरम परिणति गोपियों के माधुर्य-भाव में ही हो सकती है। गोपियों के द्वारा कृष्ण की प्राकृत और अतिप्राकृत दोनों प्रकार की गौरव-गरिमा का उपहास कराके यह दिखाया गया है कि उनका प्रेम उनकी इन्द्रियों और मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर निर्भर है, जिसका आधार कृष्ण का मनोहर रूप तथा उनकी प्रेम-प्रवण लीलाएँ हैं । माधुर्य-भाव की भक्ति के सम्बन्ध में अतिश्रृंगारिक और वासनाप्रधान होने का जो भ्रम फैला हुआ है, उसका निवारण भी सूर की माधुर्य-भक्तिवाले पदों से हो जाता है । यह स्मरण रखना चाहिए कि सूर की भक्ति-पद्धति में जिस माधुर्य-भाव को स्थान मिला है, वह मुख्य रूप से लीलाओं पर आधारित है । किन्तु, इसी कारण उसे केवल ऐन्द्रिय नहीं कहा जा सकता—भ्रमरगीत में गोपियों की उक्तियाँ केवल ऐन्द्रिक सुख को व्यक्त नहीं करतीं, वरन् वे उनके हृदय की पवित्रता, निश्छलता, अनन्यता और उदारता का परिचय देती हैं । ज्ञानमार्ग के पथिक उद्धव द्वारा सगुण प्रेम की भक्ति को स्वीकार करना इस बात का प्रमाण है कि यह भक्ति-पद्धति वासना या श्रृंगार की अश्लीलता से सर्वथा रहित थी और इसमें माधुर्य-भाव की प्रधानता होने पर भी तन्मयता की चरम उपलब्धि भक्तों को हुई थी ।

कुम्भनदास : कुम्भनदास (१४६८-१५८३) का चरित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार संकलित किया जाता है, क्योंकि उन्होंने अपने सम्बन्ध में कहीं कुछ नहीं लिखा । 'भक्तमाल' की टीकाओं में भी उनका चरित्र पल्लवित नहीं किया गया । हरिराय-कृत 'भाव-प्रकाश' में केवल इतना ही संकेत है कि कुम्भनदास ब्रज में गोवर्धन पर्वत से कुछ दूर 'जमुनावतौ' नामक गाँव में रहा करते थे । उनके घर में खेती-बाड़ी होती थी । अपने गाँव से वे पारसोली चन्द्रसरोवर होकर श्रीनाथ जी के मन्दिर में कीर्तन करने जाते थे । उनका जन्म गौरवा क्षत्रिय कुल में हुआ था । कुम्भनदास जी विवाहित थे और उनका विशाल परिवार था । सात पुत्र थे, जिनमें सबसे छोटे चतुर्भुजदास को छोड़कर अन्य सभी कृषि-धर्म में लगे रहते थे । गृहस्थ होते हुए भी वे अनासक्त थे और कृष्ण-भजन में लीन रहनेवाले साधु-वृत्ति के पुरुष थे । उन्होंने १४९२ ई० में महाप्रभु वल्लभाचार्य से दीक्षा ग्रहण की थी । उनके कण्ठ-स्वर से प्रसन्न होकर उन्हें कीर्तन-गान का दायित्व सौंपा गया था । किंवदन्ती है कि किसी गायक ने एक बार उनका कोई सुन्दर पद बादशाह अकबर को सुनाया, जिसे सुनकर वे इतने मुग्ध हुए कि उन्होंने इस पद के रचयिता से ही पद सुनना चाहा और कुम्भनदास जी को सीकरी आने का निमन्त्रण दिया । कुम्भनदास विरक्त भाव से सीकरी चले तो गये, लेकिन उन्होंने सम्राट् के समक्ष जो पद गाकर सुनाया, वह उनके अनासक्त-भाव का सूचक है :

भक्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पन्हैया टूटी बिसरि गयो हरिनाम ॥
जाको देखे दुख लागै ताकौ करन परी परनाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिन यह सब झूठो धाम ॥

अकबर उनकी भगवद्‌भक्ति से प्रसन्न हुआ और उनसे अनुरोध किया कि वे कुछ माँग लें। उन्होंने सबसे पहले यही इच्छा प्रकट की कि भविष्य में मुझे सीकरी मत बुलाना। श्रीनाथ जी के अनन्य भक्त होने के कारण उन्हें ब्रज से बाहर रहने पर अपार कष्ट की अनुभूति होती थी। एक बार गोस्वामी विट्‌ठलनाथ जी उन्हें अपने साथ ब्रज से बाहर यात्रा पर ले गये थे। वहाँ भी उन्हें श्रीनाथ जी के दर्शन के अभाव में मार्मिक पीड़ा का अनुभव हुआ और वे बीच ही में यात्रा से वापस लौट आये।

कुम्भनदास जी की शिक्षा के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। उनकी रचनाओं में भी पाण्डित्य की झलक नहीं है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का बोध उन्होंने वल्लभाचार्य की संगति में रहकर प्राप्त कर लिया था, क्योंकि वे वल्लभाचार्य के अष्टछापी शिष्यों में प्रथम शिष्य थे और सिद्धान्तों के ज्ञान के बिना पद-रचना कठिन थी। उनके द्वारा रचित किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता—कुछ पद 'रागकल्पद्रुम', 'रागरत्नाकर', 'वर्षोत्सव कीर्तन', 'वसन्त धमार कीर्तन' आदि में संकलित हैं। काँकरोली विद्या-विभाग से प्रकाशित पद-संग्रह में उनके १८६ पद हैं, जबकि एक दूसरा संकलन नाथद्वारा के पुस्तकालय में बताया जाता है जिसमें ३६७ पद हैं। कुम्भनदास की पद-रचना में साहित्यिक सौष्ठव उतना नहीं है, जितना संगीत और लय का सौन्दर्य है। उनके पदों में श्रीनाथ जी की साम्प्रदायिक भक्ति की छाप स्पष्ट लक्षित होती है। कुम्भनदास की काव्य-भाषा साधारण ब्रजभाषा है, जो उस समय गोवर्धन के समीप बोलचाल की भाषा रही होगी। संस्कृत अथवा अन्य भाषाओं का प्रभाव भी न्यून मात्रा में है।

परमानन्ददास : परमानन्ददास अष्टछाप के कवियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। इनका जन्म कन्नौज (उत्तरप्रदेश) में एक निर्धन कान्यकुब्ज ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। इन्होंने भी अपनी रचनाओं में अपने विषय में कुछ नहीं लिखा है। साम्प्रदायिक अनुश्रुतियों के आधार पर इन्हें वल्लभाचार्य से पन्द्रह वर्ष छोटा कहा जाता है, अतः इनका जन्म-काल १४९३ ई० स्थिर होता है। काव्य-रचना में इनकी शैशव से ही प्रवृत्ति थी और संगीत का भी इन्हें ज्ञान था। अतः भक्तिविषयक पद-रचना की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक था। इन्होंने गृहस्थाश्रम में प्रवेश नहीं किया और न धनार्जन के लिए कोई व्यवसाय ही किया। वल्लभाचार्य से इन्होंने अरैल (प्रयाग) में दीक्षा ग्रहण की और तभी से बाललीला सम्बन्धी पद-रचना आरम्भ की।

परमानन्द की रचनाओं का प्रकाशन 'परमानन्दसागर', 'परमानन्द के पद' और 'वल्लभसम्प्रदायी कीर्तन-पद-संग्रह' के नाम से हुआ है। इनके अतिरिक्त 'दानलीला' और 'ध्रुवचरित' भी इनके द्वारा लिखे बताये जाते हैं, किन्तु इस विषय में कोई प्रामाणिक जानकारी अद्यावधि प्राप्त नहीं हो सकी है। इनके पदों में 'सूरसागर' की भाँति 'भागवत' की कथा का वर्णन नहीं है, अपितु इन्होंने कृष्ण के मथुरा-गमन से भँवरगीत तक के प्रसंग का ही मुख्यतः वर्णन किया है। कुछ पद अक्षयतृतीया; दीपमालिका, रामजन्म, नृसिंह, वामन आदि अवतारों मे भी सम्बद्ध हैं। परमानन्ददास जी के सर्वाधिक पद बाललीलाविषयक हैं। लीला-वर्णन में रसवती भावात्मक लीलाओं पर इनका ध्यान अधिक रहा है। इनके पदों

न्धात्मकता नहीं है, शुद्ध मुक्तक की भाँति उनका रसास्वादन किया ज़ा सकता है। कृष्ण ईश्वरीय पक्ष का वर्णन न करके इन्होंने केवल माधुर्य-पक्ष की लीलाओं का गान किया गया । इनकी प्रेमानुभूति लौकिक न होकर कृष्णविषयक है। वाल-मनोविज्ञान के सुन्दर चित्र के काव्य में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। पूर्वराग-अवस्था की वियोग-वेदना और मिलन की कट कामना की व्यंजना भी इनके पदों में अत्यन्त प्रभावपूर्ण है। प्रेम-पीर से व्यथित एक पी की उक्ति द्रष्टव्य है :

जब ते प्रीति श्याम ते कीनी।
ता दिन ते मेरे इन नैननि नेंकहु नींद न लीनी ॥
सदा रहत चितचाक चख्यो सो और कछू न सुहाय।
मन में रहे उपाय मिलन को इहै विचारत जाय ॥
परमानन्द पीर प्रेम की काहू सों न कहिए।
जैसे विथा मूक बालक की अपने तन-मन सहिए ॥

वियोग-शृंगार के वर्णन में परमानन्ददास ने अद्भुत सफलता प्राप्त की है। मान की वस्थाओं का वर्णन भी गोपियों के माध्यम से सफलतापूर्वक किया गया है। राधा-कृष्ण के शिख-वर्णन में भी इन्होंने रुचि ली है। भाषा की दृष्टि से व्रजभाषा का माधुर्य, दीप्ति, न्ति और छटा इनके पदों में सर्वत्र व्याप्त है। चित्रात्मकता, आलंकारिकता और प्रांजलता की भाषा के विशेष गुण हैं। गेय पदों में रचना करने के साथ-साथ दोहा-चौपाई-शैली का यत्र-तत्र प्रयोग लक्षित होता है। अष्टछाप के कवियों में काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से दास और नन्ददास के बाद इन्हीं का स्थान है।

कृष्णदास : कृष्णदास अधिकारी के नाम से विख्यात अष्टछापी भक्त कवि के सम्बन्ध अभी तक प्रामाणिक जानकारी प्राप्त नहीं हुई है। डॉ॰ दीनदयालु गुप्त ने 'अष्टछाप और लभ-सम्प्रदाय' ग्रन्थ में इनका परिचय लिखते हुए 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो बावन वैष्णवन की वार्ता' को ही प्रमाण माना है। उनके लेखानुसार कृष्णदास 'कुनबी' ति के थे, जो शूद्र जातियों में परिगणित की जाती है। इनका जन्म गुजरात में राजनगर ज्य (अहमदाबाद) के चिलोतरा गाँव में १४९६ ई॰ में हुआ था। इनके पिता गाँव के खिया थे। कृष्णदास बाल्यावस्था में घर छोड़कर व्रज में आ गये थे। अपनी बुद्धि और क्त के कारण ये श्रीनाथ जी के मन्दिर में 'अधिकारी' पद पर आसीन हुए। इनके गुजराती ने का एक प्रमाण यह है कि इनका लेखन-व्यापार गुजराती भाषा में ही होता था। धीरे-रे व्रजभाषा का इन्होंने अभ्यास किया और उसमें काव्य-रचना भी करने लगे। गोस्वामी ट्ठलनाथ जी इनकी कुशाग्र बुद्धि और प्रतिभा के बड़े प्रशंसक थे। इनकी प्रबन्धपटुता के रण इन्हें मन्दिर के प्रबन्ध का दायित्व ही सौंपा गया था, सेवा और कीर्तन से इनका रम्भ में कोई सम्बन्ध नहीं था।

'वल्लभदिग्विजय' के वर्णन से यह प्रमाणित होता है कि वल्लभाचार्य जी ने मथुरा विश्राम घाट पर निवास करते हुए कृष्णदास को १५१० ई॰ में अपनी शरण में लिया र दीक्षा देकर पुष्टिमार्गीय भक्तों तथा अष्टसखाओं में शामिल किया। मन्दिर की प्रबन्ध-वस्था को दृढ़ता से चलाने के कारण इनके विपक्षी या निन्दक भी पैदा हो गये थे। लभाचार्य जी की मृत्यु के बाद गद्दी के प्रश्न को लेकर परिवार में जो विवाद चला, उसमें णदास ने गोपीनाथ जी के ज्येष्ठ पुत्र पुरुषोत्तम को गद्दी पर बिठाने में उनकी विधवा का थ दिया; जिसके कारण गो॰ विट्ठलनाथ जी से इनका मनमुटाव भी हो गया था।

कृष्णदास के देहावसान-काल के विषय में भी किंवदन्तियाँ हैं। कहते हैं, ये एक कुआं रहे थे। उसी में गिरकर १५७८ ई० के आसपास इनकी मृत्यु हुई।

कृष्णदास काव्य और संगीत के मर्मज्ञ होने के साथ सुकवि और गायक थे इन्होंने बाललीला, राधाकृष्ण-प्रेम-प्रसंग, रूप-सौन्दर्य आदि का बड़ा ही मनोहारी वर्ण है। इनका कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, शताधिक फुटकर पद ही उपलब्ध हैं। कृष्णदास पद एक जनश्रुति के साथ सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है। कहते हैं कि एक सुन्दर वेश्या वो कण्ठ से गान करती थी। कृष्णदास उसे आगरा से गोवर्धन ले आये और श्रीनाथ चरणों में समर्पित कर दिया। वह वेश्या एक दिन भावविभोर होकर कृष्णदास-रचि पद का गायन कर रही थी। पद-गायन समाप्त होते ही उसने प्राण विसर्जित कर दि इस प्रकार है :

मो मन गिरधर छवि पर अटक्यौ।
ललित त्रिभंगी अंगन पर चलि, गयो तहांई ठटक्यौ।
सजल स्याम घन चरननील ह्वै, फिर चित अनत न भटक्यौ।
'कृष्णदास' कियो प्रान निछावर, यह तन जग सिर पटक्यौ॥

कृष्णदास के पदों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है। यद्यपि उनकी मातृभाषा गु थी, किन्तु उन्होंने अध्यवसायपूर्वक ब्रजभाषा पर पूर्णाधिकार प्राप्त कर लिया था। श्रृंगारपूर्ण पदों में भाषा की प्रांजलता द्रष्टव्य है। सुन्दर तत्सम ललित पदावली से पदों को पढ़कर कोई यह नहीं कह सकता कि इस भक्त कवि की मातृभाषा ब्रज के अ कोई दूसरी रही होगी।

नन्ददास : अष्टछाप के कवियों में नन्ददास का स्थान काव्य-सौष्ठव और भा प्रांजलता की दृष्टि से सूरदास के बाद समझना चाहिए। नन्ददास बहुमुखी प्रतिभा से कवि थे। इनके जीवनवृत्त के विषय में भी बहुत अधिक मतभेद पाया जाता है। इन परिचय 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'अष्टसखान की वार्ता' में उपलब्ध हो इन वार्त्ताओं के आधार पर यह प्रतीत होता है कि नन्ददास गोस्वामी विट्ठलनाथ के बनने से पूर्व लौकिक वृत्ति के व्यक्ति थे। इनका निवास-स्थान रामपुर लिखा है। वार्त्ताओं में नन्ददास को तुलसीदास का भाई बताया गया है।

नन्ददास का जन्म १५३३ ई० में उत्तरप्रदेश के सूकर क्षेत्र (सोरों) के रामपु में हुआ था। ये सनाढ्य ब्राह्मण थे। सोरों से उपलब्ध सामग्री के अनुसार इनके पि नाम जीवनराम था और चाचा का आत्माराम। इन्हीं आत्माराम के पुत्र तुलसीदा तुलसीदास और नन्ददास ने शैशव में सोरों में रहकर ही नृसिंह पंडित से संस्कृत भा ज्ञान अर्जित किया था। नृसिंह पंडित रामानन्दीय सम्प्रदाय के रामोपासक थे। अतः न ने भी प्रारम्भ में रामभक्ति को ही स्वीकार किया। ऐसी मान्यता है कि सोरों से न भी तुलसीदास जी के साथ काशी चले गये और वहाँ रहकर अनेक शास्त्रों का अध्यय रहे। वहीं रहते हुए उन्होंने एक यात्री-दल के साथ द्वारका की यात्रा के लिए प्रस्था किन्तु मार्ग में भटक गये और स्त्री के प्रति अनुरक्त होकर गोकुल पहुँचे। गोकुल में भेंट गो० विट्ठलनाथ से हुई और वहीं पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की। इसके बाद न की जीवन-दिशा ही बदल गयी। लौकिक रागात्मक सम्बन्धों से दूर हटकर वे सच्चे भ हो गये। गोस्वामी विट्ठलनाथ के साथ कथा-वार्त्ता में उनका समय व्यतीत होने लगा। दिनों वे गोवर्धन में सूरदास के सम्पर्क में आये और सूर की भक्ति-भावना को देखकर

त्र-मोह भंग हुआ । कहते हैं कि सूरदास के आग्रह से ही वे पुनः अपने गाँव रामपुर गये थे र कमला नामक कन्या से विवाह कर सद्गृहस्थ के रूप में जीवन व्यतीत करने लगे थे । ने गाँव में उन्होंने 'श्यामसर' नाम से एक तालाब का निर्माण कराया । जीवन के अन्तिम तों में वे पुनः गोवर्धन आ गये और १५८३ ई० के लगभग मानसी गंगा के तट पर उनका वसान हुआ ।

नन्ददास जी ने विधिवत् शास्त्रानुशीलन किया था । उनकी प्रतिभा बहुमुखी थी । के द्वारा रचित पन्द्रह ग्रन्थों को देखकर उनका रचना-वैविध्य स्पष्ट हो जाता है । इन ग्रन्थों नाम इस प्रकार हैं—अनेकार्थमंजरी, मानमंजरी, रसमंजरी, रूपमंजरी, विरहमंजरी, प्रेम हखड़ी, श्यामसगाई, सुदामाचरित, रुक्मिणीमंगल, भँवरगीत, रासपंचाध्यायी, सिद्धान्त-ध्यायी, दशमस्कन्धभाषा, गोवर्धनलीला, नन्ददास-पदावली । 'अनेकार्थमंजरी' एक प्रकार पर्याय-कोश-ग्रन्थ है । इसके मंगलाचरण में शुद्धाद्वैत सम्वन्धी दार्शनिक विचारों को प्रकट या गया है । 'मानमंजरी' में भी 'अमरकोश' के आधार पर शब्दों के पर्यायवाची ही लिखे हैं । चमत्कार यह है कि छन्द की प्रथम पंक्ति में पर्यायवाची है और दूसरी में कवि ने शब्द का प्रयोग कर दूती द्वारा राधा के शृंगार का वर्णन किया है । यह ग्रन्थ नन्ददास भाषाविषयक प्रौढ़ ज्ञान और पांडित्य का द्योतक है । 'विरहमंजरी' भावात्मक काव्य है । में कृष्ण के वियोग में एक व्रजवासी की विरह-दशा का वर्णन है । किसी कथानक के विना ल काल्पनिक वियोग को ही भावात्मक शैली से वर्णित किया गया है । इसमें वारहमासा-ी भी है । 'रूपमंजरी' नन्ददास का लघु आख्यानकाव्य है । इसमें रूपमंजरी के प्रति कृष्ण- को जार-भाव से निरूपित करते हुए दूती इन्दुमती के साहाय्य का वर्णन किया गया है । विद्वानों का कथन है कि यह रूपमंजरी वही है, जिसके प्रति नन्ददास स्वयं अनुरक्त थे । दामाचरित' की कथा 'श्रीमद्भागवत' से गृहीत है । इस लोकप्रिय कथानक को कवि ने भक्ति के फलक पर अवस्थित कर सख्य भाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है । व्य की दृष्टि से रचना साधारण है ।

'रासपंचाध्यायी' नन्ददास की श्रेष्ठ कृतियों में गिनी जाती है । इसमें लौकिक एवं रलौकिक प्रेम को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है । बाह्य रूप में यह काव्य किक गोपी-प्रेम को ही लेकर चलता है, किन्तु प्रच्छन्न रूप से आध्यात्मिक कृष्ण-प्रेम भी में अनुस्यूत है जिसे भक्तगण सहज ही पा लेते हैं । वियुक्त आत्मा (गोपी) रासलीला के ध्यम से रस-रूप परमात्मा (कृष्ण) से मिलने के लिए प्रयत्नशील हैं । 'रासपंचाध्यायी' षा, विषय-प्रतिपादन-शैली, कवि-कल्पना, काव्य-सौन्दर्य और मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि न्ददास की 'जड़िया' उपाधि को सार्थक बनाती है ।

'भँवरगीत' नन्ददास के परिपक्व दर्शन-ज्ञान, विवेक-बुद्धि, तार्किक शैली और कृष्ण-क्त का परिचायक काव्य है । इसके पूर्वार्द्ध में गोपी-उद्धव-संवाद है और उत्तरार्ध में कृष्ण- में गोपियों की विरह-दशा का वर्णन है । इस रचना का मूल उद्देश्य निर्गुण-निराकार ब्रह्म उपासना का खण्डन करते हुए सगुण साकार कृष्ण की भक्ति की स्थापना करना है । र्द्ध कवि की विचार-वृत्ति का द्योतक है और उत्तरार्द्ध रागात्मिका सरस वृत्ति का परिचय ा है । दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी काव्यात्मक भाषा का प्रयोग किया गया है । गवत पुराण' में वर्णित भाव भी कवि की वाणी से नवीन एवं मोहक रूप धारण करके ही ये हैं । यह रचना नन्ददास के पांडित्य का भी निदर्शन है ।

'सिद्धान्तपंचाध्यायी' कृष्ण की रासलीला से सम्बन्ध रखने वाली रचना है । इसमें

कृष्ण, वृन्दावन, वेणु, गोपी, रास आदि शब्दों की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष के उद्घाटन में इस ग्रन्थ से अच्छा प्रकाश पड़ता है। के लौकिक शृंगार-भाव को कवि ने पारलौकिक ध्येय की ओर उन्मुख रखा है। साम्प्रदायिक महत्त्व है। 'नन्ददास-पदावली' में बारह प्रकरणों के पद संकलित काव्य-सौष्ठव का उत्कर्ष देखा जा सकता है।

नन्ददास के सम्पूर्ण ग्रन्थ परिमार्जित ब्रजभाषा में हैं। मधुर और परिष्कृ चयन कवि की विशेषता है। नन्ददास को 'जड़िया' कहा जाता है, जिसका का सुन्दर एवं उपयुक्त शब्द-चयन ही है। बानक, लुनाई, रावरे, नीकी, आनि आदि प्रयो का सुष्ठु प्रयोग 'जड़िया' नन्ददास में भरा पड़ा है। लोकोक्ति-मुहावरों पर भी कवि धिकार था। संगीत-प्रवीण होने के कारण शब्दों के चयन में लय, स्वर आदि का से उनके काव्य में प्रांजलता और प्रवाह की सृष्टि हुई है। सरस एवं मार्मिक उद्भावना में जैसी ललित एवं मोहक पदावली नन्ददास के काव्य में मिलती है कवियों में सूर के अतिरिक्त कहीं और नहीं मिलती।

गोविन्दस्वामी : गोविन्दस्वामी का जन्म राजस्थान के भरतपुर राज्य आँतरी गाँव में १५०५ ई० में हुआ था। इनके परिवार के विषय में प्रामाणिक उपलब्ध नहीं है, किन्तु इनकी रचनाओं तथा प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि ये गृह इनकी एक पुत्री भी थी। संसार से वैराग्य होने के बाद ये ब्रजमण्डल के मह स्थान में आकर बस गये थे और वहीं रहकर भजन-कीर्तन में लीन रहते थे। वार्ता विदित होता है कि ये शिक्षित थे और संगीतशास्त्र का भी इन्हें ज्ञान था। पद-र ये स्वयं उन्हें गाते थे और अन्य भक्तों को भी पद-गायन सिखाते थे। किसी गा से इनका बनाया पद सुनकर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी बहुत प्रभावित हुए थे। १५ इन्होंने गोस्वामी विट्ठलनाथ से विधिवत् पुष्टिमार्ग की दीक्षा ग्रहण की और सम्मिलित हो गये। पुष्टि-सम्प्रदाय की दीक्षा के उपरान्त ये महावन छोड़कर आये और वहाँ स्थायी रूप से बस गये। जहाँ ये रहते थे, वह स्थान 'गोविदस्वामी खंडी' के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। यह भी किंवदन्ती है कि अकबरी दरबार गायक तानसेन इनके पास आया करता था और इनसे पद-गायन की शिक्षा भी की। गोवर्धन में रहते हुए ही इनका १५८५ ई० में देहावसान हुआ।

गोविन्दस्वामी ने किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया। भजन-कीर्त जो पद समय-समय पर ये लिखते थे, उन्हीं का संकलन 'गोविन्दस्वामी के पद' प्रसिद्ध है। इनके द्वारा रचित ६०० पद बताये जाते हैं, किन्तु २५२ पद पुष्टि अधिक प्रसिद्ध हैं। मुख्यत: इन्होंने राधा-कृष्ण की शृंगार-लीला विषयक पद-र किन्तु कुछ पद बाललीला के भी लिखे हैं। इनके काव्य की भाषा ब्रज है, लालित्य और सौष्ठव वैसा नहीं जैसा सूरदास, नन्ददास आदि की रचनाओं में हाँ, संगीत के लय-स्वर की ओर इनका ध्यान अवश्य रहा है।

छीतस्वामी : छीतस्वामी (१५१५-१५८५) मथुरा के चतुर्वेदी ब्राह्मण जजमानी और पंडागिरी होती थी। प्रसिद्ध है कि ये बीरबल के पुरोहित थे। यौव उद्दंड प्रकृति के कारण ये लड़ाई-झगड़े के लिए बदनाम थे और छीतू चौबे के नाम के उद्दंड लोगों में इनका स्थान अग्रणी था। कहते हैं कि गोस्वामी विट्ठलनाथ को लिए एक दिन ये खोटा रुपया और थोथा नारियल लेकर भेंट करने पहुँचे। गोस्व

दिव्य-शक्ति से खोटे रुपये और थोथे नारियल को शुद्ध तथा परिपूर्ण बनाकर छीतू चौबे मत्कृत कर दिया। फलतः चौबे जी को अपनी शरारत पर आत्मग्लानि का अनुभव और उन्होंने गोस्वामी जी के पैर पकड़कर क्षमा-याचना की तथा तत्काल पुष्टिमार्ग में त हो गये। कालान्तर में इनकी पद-रचना को देखकर इन्हें अष्टछाप मे सम्मिलित कर गया। यौवनावस्था में छीतस्वामी जितने उद्दंड और वाचाल थे, प्रौढ़ावस्था प्राप्त पर उतने ही गम्भीर और विरक्त हो गये। पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने के बाद ये गोवर्धन कट पूंछरी नामक स्थान में एक तमाल वृक्ष की छाया में रहने लगे थे। काव्य और में इनकी विशेष रुचि थी, अतः सारा समय इन्हीं कार्यों में व्यतीत करते थे। छीत- ी का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं मिलता। कीर्तन के लिए इन्होंने जो स्फुट पद-रचना की, पदावली' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें लगभग २०० पद संकलित हैं। इनके पदों और तों में ब्रजभाषा का पर्याप्त लालित्य है। यद्यपि इनकी कविता साधारण कोटि की है, भी भक्ति-भाव से परिपूर्ण है। उदाहरणस्वरूप निम्नलिखित पद में ब्रजधाम के प्रति ा द्रष्टव्य है:

अहो विधना ! तो पै अँचरा पसार माँगौं
जनम-जनम दीजो मोहि याही ब्रज वसिनौ !

चतुर्भुजदास : चतुर्भुजदास नाम से चार भक्त कवियों का उल्लेख हिन्दी-साहित्य के ास-ग्रन्थों में मिलता है। कहीं-कहीं इनके जीवन-चरित और काव्यविषयक विवेचन में -फेर और भ्रम भी उत्पन्न हो गया है, किन्तु अष्टछापी चतुर्भुजदास को अन्य व्यक्तियों क् करने के लिए पुष्कल प्रमाण उपलब्ध हैं। अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि कुम्भनदास के से छोटे पुत्र थे, अतः इनका चरित प्रामाणिक रूप से जाना जा सकता है। इनका १५३० ई० में गोवर्धन के समीप जमुनावतौ गाँव में हुआ था तथा इनका देहावसान ५ ई० में हुआ। वंश-परम्परागत खेती-बाड़ी से विमुख रहकर इनका ध्यान भजन-कीर्तन ोर अधिक रहता था। अतः इनके पिता कुम्भनदास इनसे बहुत प्रसन्न रहते थे। उन्होंने स्वयं गानविद्या की शिक्षा देकर पुष्टिमार्ग की दीक्षा दिलायी थी। शैशव-काल में ही ुजदास काव्य-रचना करने लगे थे। इनका कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, स्फुट पदों ी 'चतुर्भुज-कीर्तन-संग्रह', 'कीर्तनावली' और 'दानलीला' शीर्षकों से प्रकाशित किया गया 'द्वादशयश', 'मधुमालती' और 'भक्तिप्रताप' नाम से इनके जो अन्य ग्रन्थ बताये जाते हैं, के न होकर राधावल्लभीय तथा अन्य चतुर्भुजदास के हैं। अष्टछाप के कवि चतुर्भुज- की रचना में शृंगार की छटा विद्यमान है। कृष्ण-जन्म से लेकर गोपी-विरह तक ीला-गान इन्होंने किया है, किन्तु किसी मौलिक प्रसंग की उद्भावना इनके पदों में नहीं ती। साधारण ब्रजभाषा को ही इन्होंने अपनाया है। श्रीनाथ जी के मन्दिर में जिस र के पद गाये जाते थे, उन्हीं के अनुकरण पर इन्होंने पद लिखे हैं।

निम्बार्क-सम्प्रदाय

निम्बार्क-सम्प्रदाय कृष्णभक्ति से सम्बन्ध रखने वाला ब्रजमण्डल का प्रमुख वैष्णव- दाय है। इस सम्प्रदाय के आदि-उपदेष्टा श्री हंस भगवान् हैं। उनसे सनत्-सनकादि को श मिला। नारद मुनि ने इस उपदेश को ग्रहण कर इसे आचार्य निम्बार्क को दिया। ार्काचार्य के जन्म-स्थान, जन्म-तिथि तथा नाम के सम्बन्ध में विद्वानों में बहुत मतभेद जाता है। साम्प्रदायिक आचार्यों के अनुसार ये भक्ति-सूत्र-प्रणेता नारद मुनि के शिष्य

थे और इनका प्रारम्भ का नाम आरुणि था। ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याता बादरायण
के समकालीन थे, ऐसा भी कहा जाता है। डॉ० भण्डारकर उक्त मत को
करते। उन्होंने निम्बार्क का समय ११६२ ई० के आसपास माना है। वर्तमान
के वेल्लारी ज़िले के निम्बापुर नामक नगर में इनका जन्म हुआ था। इनका
नाम नियमानन्द था। ऐसी दन्तकथा प्रसिद्ध है कि मथुरा के समीप ध्रुवक्षेत्र में
नन्द जी रहते थे तब कोई जैन साधु इनके पास आध्यात्मिक चर्चा करने आये
व्यक्ति शास्त्र-चर्चा में इतने लीन हो गये कि इन्हें सूर्यास्त होने का बोध नहीं
का अन्धकार फैलने लगा और अतिथि जैन साधु के भोजन की वेला नहीं रही।
जी का मन पश्चात्ताप से भरने लगा, उन्हें यह देखकर बड़ी वेदना हुई कि अति
रात-भर निराहार रहना पड़ेगा। इस वेदना में म्लानमन होकर शान्त भाव
नियमानन्द जी क्या देखते हैं कि आश्रम के नीम के वृक्ष के ऊपर सूर्य अपना
प्रकाश फेंक रहे हैं! चमकते हुए सूर्य को देखकर तुरन्त नियमानन्द ने अपने
भोजन कराया। भोजन समाप्त होते ही फिर घनान्धकार सर्वत्र व्याप्त हो गया।
चमत्कार के कारण ही उसी दिन से नियमानन्द जी का नाम निम्बार्क (नीम
दर्शन करानेवाला) हो गया।

निम्बार्काचार्य का जन्म यद्यपि दक्षिण प्रान्त में हुआ था, किन्तु उनकी क
मण्डल ही है। वृन्दावन, गोवर्धन, नीमगाँव आदि स्थानों में घूमकर वे अपने
प्रचार करते रहे। उनके चार प्रधान शिष्य बताये जाते हैं, जिनमें श्रीनिवासाचा
जिनका लिखा 'वेदान्त कौस्तुभ' ग्रन्थ है। श्री औदुम्बराचार्य, श्री गौरमुखाचा
लक्ष्मण भट्ट इनके अन्य शिष्यों में हैं। निम्बार्क को भगवान् कृष्ण के सुदर्शन चक्र
माना जाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि अत्यन्त सुन्दर होने के कारण इन
'सुदर्शन' कहते थे।

निम्बार्काचार्य ने अपने सिद्धान्तों की स्थापना के लिए पाँच ग्रन्थों का प्र
जिनमें 'वेदान्त पारिजात सौरभ' ब्रह्मसूत्र पर स्वल्पकाय वृत्ति है, 'दशश्लोकी'
प्रतिपादक दस श्लोकों की सुप्रसिद्ध रचना है तथा 'श्रीकृष्णस्तवराज', 'मन्त्ररहस्य
'प्रपन्नकल्पवल्ली' इनकी अन्य कृतियाँ हैं। निम्बार्क का दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैता
इस सिद्धान्त को विद्वन्मण्डली में प्राचीनतम माना जाता है, निम्बार्क ने इसे पु
मात्र किया है। प्राचीन भेदाभेदवाद का ही यह नवीन रूप माना जाता है।
निम्बार्क ने ईश्वर, जीव, प्रकृति आदि का सरल भाषा में निरूपण प्रस्तुत किया है
पारिजात-सौरभ' में उनकी द्वैताद्वैतवादी विचारधारा का दार्शनिक धरातल प
उनके अनुसार जीव परब्रह्म का अंश है। जहाँ ईश्वर समग्र का नियन्ता है, वहाँ
का द्रष्टा है—उसकी दृष्टि बद्ध है, सीमित है। भक्ति द्वारा जीव ब्रह्म या ई
करता है। ईश्वर को सगुण अवतारी श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार किया जा
पदारविन्द की सेवा, पूजा, अर्चना करनी चाहिए; उनके बिना अन्य कोई
कृष्ण-भक्ति में राधा-कृष्ण का युगल-भाव स्वीकृत है—वाम भाग में वृषभानुजा
विराजमान श्रीकृष्ण ही उपास्य हैं। कृष्ण लीलावतारी हैं, अतः श्री तथा लक्ष्
में वे कृष्ण के साथ प्रकट होती हैं। निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा का स्वकीया
किया गया है और भक्ति के पाँच रूपों में उज्ज्वल भक्ति या दाम्पत्य भक्ति को
माना गया है। प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति ही साधना-मार्ग में वरेण्य है

निम्बार्क-सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर आज भी उत्तर भारत में विद्यमान हैं। राजस्थान माबाद स्थान में इस सम्प्रदाय की सबसे बड़ी गद्दी है। वृन्दावन में भी 'श्री जी की कुंज' स्थान निम्बार्क-सम्प्रदाय का है। मथुरा, राधाकुण्ड, गोवर्धन तथा नीमगाँव में र्कीय मन्दिर हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख कवियों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

श्रीभट्ट : श्री नारायणदास जी 'नाभा' ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भक्तमाल' में श्रीभट्ट जी ष्ण की ललित लीलाओं का वर्णन करनेवाला सुकवि, हरिभक्ति का प्रचारक और अज्ञान र्ता बताया है जिन्होंने आनन्दकन्द श्रीकृष्ण और श्रीराधा का भजन किया तथा जो रसिकों न को मुदित करनेवाले अघट रस के घन थे :

आनन्दकन्द श्रीनन्द सुवन, श्री वृषभानु-सुता-भजन।
श्रीभट सुघट प्रगटे अघट, रस रसिकन मन-मोद-घन ॥७६॥

हरिव्यास यशामृत' नामक ग्रन्थ के अनुसार श्रीभट्ट जी का जन्म ब्राह्मण-परिवार आ था। सम्प्रदाय की किंवदन्ती के अनुसार इन्हें गौड़ ब्राह्मण माना जाता है। इनके हिसार ज़िले के निवासी थे, जो कालान्तर में मथुरा आ गये थे। मथुरा में ध्रुवटीला ा जन्म-स्थान कहा जाता है, जो निम्बार्क-सम्प्रदाय के भक्तों के लिए अत्यन्त पूज्य है। समय के सम्बन्ध में विवाद है। इस विषय में इनकी रचना 'युगलशतक' या 'जुगलसत' ुष्पिका का संवत्-सूचक निम्नलिखित दोहा द्रष्टव्य है :

नयन बान पुनि राग ससि, गनां अंक गति बाम।
युगल शतक पूरन भयौ, संवत अति अभिराम ॥

उक्त संकेत के अनुसार ग्रन्थ का रचनाकाल सं० १६५२ स्पष्ट रूप से सिद्ध होता परन्तु नागरीप्रचारिणी सभा की एक खोज-रिपोर्ट के लेखक ने दोहे में आये 'राग' शब्द 'राम' पढ़ा। 'राग' का संकेत छह होता है, 'राम' का अर्थ तीन; अतः उनके अनुसार इस की रचना संवत् १३५२ में हुई। यह अशुद्धि शीघ्र ही पकड़ ली गयी, परन्तु कुछ सज्जन श्रीभट्ट जी को सूर-पूर्ववर्ती सिद्ध करना चाहते थे, उन्होंने मतवाद के रूप में सं० १३५२ ही ग्रहण कर लिया। सं० १३५२ को यदि श्रीभट्ट जी का उपस्थिति-काल मान लिया , तो इससे अनेक भ्रान्तियाँ उत्पन्न होती हैं। श्रीभट्ट जी के गुरु केशव काश्मीरी भट्ट जो स्वयं निम्बार्क-मतानुयायियों के अनुसार चैतन्य महाप्रभु के समकालीन थे। चैतन्य प्रभु का समय सं० १५४२-१५९० निश्चित है, अतः श्रीभट्ट जी इससे पूर्व के नहीं हो ते। यदि 'युगलशतक' की रचना-शैली पर दृष्टिपात किया जाय, तब भी यह स्पष्ट हो ा है कि इसकी भाषा चौदहवीं शताब्दी की किसी भी रूप में नहीं हो सकती। आचार्य चन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास-ग्रन्थ में श्रीभट्ट जी का जन्म-संवत् १५९५ अनुमित किया ीर उनका 'कविता-काल' सं० १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना है। रचना-काल सं० १६२५ से बढ़ाकर सं० १६५२ तक किया जा सकता है, इसी को श्रीभट्ट जी का स्थिति-काल मान सकते हैं।

श्रीभट्ट जी का ब्रजभाषा में लिखा एक ही ग्रन्थ है—युगलशतक। इसमें लगभग पद हैं और प्रत्येक पद के पूर्व उसके मूल भाव को व्यक्त करनेवाला एक-एक दोहा है। लशतक' के शुद्ध पाठ की समस्या आरम्भ से ही रही है। शुक्ल जी ने लिखा है कि इनकी और पुस्तक 'आदिबानी' भी है, किन्तु वस्तुतः 'आदिबानी' अलग कृति न होकर 'युगल-' का ही दूसरा नाम है। राधा-कृष्ण की युगल-लीलाओं के अनेक मनोरम चित्र इसमें पड़े हैं। युगल-उपासना में श्रीराधा का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है। कवि ने राधा-

कृष्ण-प्रेम की मधुर अभिव्यंजना की है। राधा और कृष्ण पल-भर को भी विलग
वे एक-दूसरे के इतने निकट हैं, जैसे दर्पण में नेत्र और नेत्रों में दर्पण झलकता है।
भाव और कल्पना दोनों में ही परम उदात्तता यहाँ प्राप्त होती है। इस ग्रन्थ
भाव गोपी-भाव या सखी-भाव है। श्रीभट्ट जी को सम्प्रदाय में 'हितू सखी'
माना जाता है। उन्होंने अनेक पदों में स्वयं सखी-रूप में रहकर दम्पती की
देखने की इच्छा प्रकट की है। यथा :

> रस की रेलि बेलि अति बाढ़ी।
> दम्पत्ति की हित बाबरि बिहरनि, रहो सदा मेरे चित चाढ़ो।
> निरखत रहौं निपट हितकारिनि, पिय प्यारिनि की गुन गति माढ़ो।
> जै 'श्रीभट' उतकट संघट सुख, केलि सहेलि निरन्तर ठाढ़ो॥

'युगलशतक' का कलापक्ष भी उच्च कोटि का है। इस ग्रन्थ की भाषा
भावानुरंजिनी है। भाषा में संस्कृत के सुकोमल तत्सम शब्दों का बाहुल्य है, इसलि
त्मकता श्रीभट्ट जी के काव्य का सहज गुण है। इनके पद कीर्तनों में गाये जाते हैं।

हरिव्यासदेव : हरिव्यासदेव जी निम्बार्क-सम्प्रदाय के उन महात्माओं में हैं
सम्प्रदाय का संगठन नये सिरे से किया और इस सम्प्रदाय की अनेक विच्छिन्न पर
पुनः स्थापित किया। इनके बारह प्रमुख शिष्य माने जाते हैं, जिन्होंने अनेक
स्थापना की और सम्प्रदाय के गौरव को बढ़ाया। नाभादास जी ने 'भक्तमाल' में
जी का शिष्य बताया है और इनके अलौकिक चमत्कारों का परिचय दिया है।
है कि इन्होंने शाक्तों को भी वैष्णव बनाया और उनमें भक्ति का प्रचार किया।
सार हरिव्यासदेव जी को गौड़ ब्राह्मण माना जाता है। इससे अधिक उनके ऐतिह्य
में और कुछ ज्ञात नहीं है।

हरिव्यासदेव जी द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं, जिनमें से
संस्कृत के हैं और अन्तिम व्रजभाषा का है—सिद्धान्तरत्नांजलि, निम्बार्काष्टोत्त
तत्त्वार्थपंचक, पंचसंस्कारनिरूपण, महावाणी। इनमें से 'तत्त्वार्थपंचक' और
निरूपण' तो अप्राप्त हैं, 'सिद्धान्तरत्नांजलि' और 'निम्बार्काष्टोत्तरशतनाम' के सम्ब
इधर विद्वानों ने इनके द्वारा रचित होने में शंका प्रकट की है। 'निम्बार्काष्टोत्त
नामक ग्रन्थ बहुत-कुछ 'सर्वोत्तम स्तोत्र' की छाया पर ही लिखा गया है, जो श्री
के पुत्र विट्ठलनाथ जी की एक प्रामाणिक कृति है। 'महावाणी' निम्बार्क-सम्प्रदाय
परम्परा का आधार-ग्रन्थ है। इधर 'महावाणी' के रचयिता के सम्बन्ध में भी
खड़ा हुआ है। 'किशोरी अलि जी की वाणी' में हरिव्यासदेव जी के शिष्य रूपर
'महावाणी' का कर्त्ता बताया गया है।[1] निम्बार्क-संम्प्रदाय द्वारा प्रकाशित 'हरिव्या
नामक ग्रन्थ में भी रूपरसिकदेव जी का परिचय देते हुए उन्हीं के द्वारा महावाणी
का कथन किया गया है। रतनदास जी ने भी 'महावाणी' का एक दोहा रूपर
नाम से ही अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। यह सम्भव है कि भेंट की परम्परा
यह ग्रन्थ 'हरिप्रिया' जी (श्री हरिव्यासदेव) के नाम से प्रचलित हुआ हो।

---

[1] रूपरसिक-से हम रसिकवर।
दिव्य महावानी रससांनी प्रगट करने, प्रगटे अवनी पर।
अति रहस्य रस की परिपाटी लखिबे इनकी, कोउ न सरबर।
उमड़ि-घुमड़ि हिय भाव घटा सों, बरसत नित प्रति आनन्द को झर।

महावाणी' पाँच सुखों अर्थात् अध्यायों में विभाजित है, जिनके शीर्षक हैं—सेवा सुख, ह सुख सुरत सुख, सहज सुख और सिद्धान्त सुख। 'युगलशतक' के ही अनुकरण पर इस में भी एक दोहा और एक पद की शैली रखी गयी है। कहीं-कहीं यह क्रम टूट भी है। 'महावाणी' में राधा-कृष्ण के दार्शनिक रूप की व्याख्या भी मिलती है—इसमें ष्ण को परब्रह्म और श्रीराधा को उनकी आह्लादिनी शक्ति माना गया है, सखियाँ युगल इच्छारूपा हैं। श्रीकृष्ण के माता-पिता, गाय-ग्वालों और ब्रज-लीलाओं का वर्णन इसमें है। राधा-कृष्ण की रासलीलाओं से ही यह ग्रन्थ ओतप्रोत है। इसमें निकुंजों में विभिन्न वों का आयोजन कवि ने विराट् भव्यता के साथ किया है। श्यामा-श्याम की क्रीड़ाओं विहार-भूमि नित्यधाम वृन्दावन है, जो दिव्य शोभा से सहज मण्डित है। वृन्दावन स्वयं सखी के रूप में मज्जित होकर राधा-कृष्ण की केलि को रसवती वनाने में संलग्न है। -कृष्ण की सरस लीला का एक चित्र नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है :

और कामना मोहिं न कोई।
मनवचक्रम करि रहौं निरन्तर, तुव पदपंकज मधुकर होई।
अरु बलि जाऊँ विहारिनि मेरी जीवन निज जिय जानउ जोई।
श्री हरिप्रिया सहज सब ही के अन्तर गति की समझति सोई॥

'महावाणी' की भाषा व्रजभाषा है। उसमें भी तत्सम शब्दों की वहुलता है। शब्द-यास कोमल और संगीतमय है, जिसमें अनुरणनता अधिक है। इसमें गेय पद ही अधिक अलंकारों का ध्यान भी कवि ने रखा है।

परशुरामदेव : हरिव्यासदेव जी के प्रमुख शिष्य थे—परशुरामदेव। ये ही निम्बार्क-प्रदाय की गद्दी को ब्रज से सलेमाबाद ले गये। राजस्थान में निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्रचार ले का श्रेय इन्हीं को है। इनका जन्म जयपुर राज्यान्तर्गत नारनौल के समीप गौड़ ब्राह्मण रिवार में हुआ। बड़े होने पर इनका भगवद्भक्ति की ओर झुकाव हुआ और ये हरिव्यास-जी के शिष्य हुए। कुछ समय इन्होंने मथुरा में 'नारद टीला' पर रहकर भजन-साधन या। उन दिनों पुष्कर में कुछ मुसलमान सिद्ध अपनी चमत्कारी विद्या से हिन्दू यात्रियों कष्ट दिया करते थे। गुरु की आज्ञा से ये वहाँ गये और अपने योग-बल से उन्हें परास्त या। परशुराम जी के और भी अनेक चमत्कार भक्तमालों में लिखे गये हैं।

परशुराम जी का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'परशुराम सागर' है, जो एक बड़ा संग्रह-ग्रन्थ है। मोतीलाल मेनारिया के अनुसार इनके ग्रन्थों की संख्या इक्कीस है। इनका काव्य-विषय त्यन्त विशद और कदाचित् परस्पर विरोधी भी प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ये निर्गुण भक्ति प्रचार करते प्रतीत होते हैं, पर अधिकांश में इनके ग्रन्थ वैष्णव भक्ति से सम्बन्धित हैं। दि गुरु-परम्परा के साथ इनके ग्रन्थों को मिलाकर देखा जाए, तो निर्गुण भक्ति का काव्य होंने कम ही लिखा है। इनकी भाषा भी कहीं-कहीं राजस्थानी-प्रधान सधुक्कड़ी हो गयी । इनकी रचनाओं (साखियों) के कुछ उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं :

सतगुरु मार्‌यो बान भरि, घर बन कछू न सुहाय।
तन मन विकल सु पीड़ ते, 'परसा' कहिये काय॥
पिय सों प्रीति लगाय कै, सुमरो तजि अभिमान।
क्षन भर पलक न बीसरौ, 'परसा' प्यारौ स्याम॥
लागी प्रीति अपार सों, अब मन अनत न जाय।
'परसा' बोले आन सों, तो फिर स्याम रिसाय॥

राधावल्लभ-सम्प्रदाय

मध्यकालीन वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों में राधावल्लभ-सम्प्रदाय कृष्णभक्ति प्रमुख सम्प्रदाय है । इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन आचार्य हितहरिवंश गोस्वामी ने में वृन्दावन में किया । वैष्णव भक्ति के चतुःसम्प्रदाय को माननेवाले इस सम्प्रदाय सम्प्रदाय अथवा माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत बताते हैं और तदनुसार गुरु-परम्परा करते हैं । किन्तु भक्ति-सिद्धान्त एवं भक्ति-पद्धति के अनुशीलन से यह सर्वथा स्वतन्त्र ही प्रतीत होता है । इसके सिद्धान्त द्वैत या अद्वैतपरक किसी विशिष्ट दर्शन-मार्ग का नहीं करते । इसमें प्रेम को ही भक्ति तथा सम्प्रदाय का मूलाधार माना जाता है सिद्धान्तों में प्रेम; हित, प्रेम-काम, प्रेम-नेम, मान-विरह, मिलन, अर्चा-पूजा आदि किसी शास्त्रीय विधि-निषेध पर आधारित नहीं हैं । अनन्त भावों और अनन्त रूपों क्रीड़ा करनेवाला प्रेम ही परात्पर तत्त्व है । रस-रूप भगवान् कृष्ण और राधा तथा प्रेम-तत्त्व में कोई तात्त्विक भेद नहीं है । इस सम्प्रदाय में न तो मुक्ति की कामना न मुक्ति को कोई स्थान है । साधनापरक कर्मकाण्डमयी भक्ति भी स्वीकृत नहीं है रूप से नित्यविहार-दर्शन ही सहचरी (जीवात्मा) का उपास्य भाव है, जिसकी प्राप्ति प्रेम से होती है । नित्यविहार के विधायक चार तत्त्व हैं—कृष्ण, राधा, सहचरी वृन्दावन । राधा और कृष्ण नित्यविहारी हैं और जीवात्मा सखी-भाव से उनके नि को परम सुख मानता है । प्रेम में नित्यमिलन और विरह दोनों का इस सम्प्रदाय में शैली से समाहार किया गया है । अपने इस विलक्षण प्रेम-तत्त्व को हितहरिवंश जी ने तथा चकवा-चकवी के प्रणय द्वारा स्पष्ट किया है । प्रेम में 'तत्सुखीभाव' को स्थान जैसी सफल चेष्टा इस सम्प्रदाय में लक्षित होती है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं है ।

इस सम्प्रदाय में उपासना का आधार रस माना जाता है, अतः बाह्य विधि-स्थान नहीं दिया जाता । राधा को कृष्ण से भी उच्च स्थान पर रखकर उपास्य माना है । कृष्ण की उपासना आनुषंगिक रूप से होती है । राधा स्वयं आनन्दरूपा नित्य इसीलिए उपासना को 'रसोपासना' कहा जाता है । इस सम्प्रदाय के मन्दिरों में विग्रह कृष्ण के साथ नहीं होता । श्रीकृष्ण के वाम भाग में वस्त्रनिर्मित एक गद्दी जिसके ऊपर स्वर्णपत्र पर 'श्री राधा' शब्द अंकित रहता है । इसे 'गद्दीसेवा' कहते हैं सेवा, समाज, अष्टयाम-सेवा, नैमित्तिक उत्सव आदि सम्प्रदाय में स्वीकृत हैं । इस का तिलक भाल-प्रदेश के नासिका-भाग से ऊर्ध्व भाग तक अर्थात् त्रिकुटी तक रहता है में काली बिन्दी रहती है । तिलक की सीधी रेखाओं को कृष्ण और काली बिन्दी माना जाता है । 'निजमन्त्र' ग्रहण करने पर दो-लड़ी कण्ठी, जिसमें तुलसी के मनके पहनना अनिवार्य है । इस सम्प्रदाय का प्रमुख मन्दिर वृन्दावन में है । गुजरात, रा बुन्देलखण्ड और मध्यप्रदेश में भी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनुयायी हैं ।

हितहरिवंश : उत्तरप्रदेश के सहारनपुर ज़िले के देवबन्द (प्राचीन देववन) कस्बे में यजुर्वेदीय माध्यंदिनी शाखावर्ती कश्यप श्रोत्रिय एक सम्भ्रान्त गौड़ ब्राह्मण चिरकाल से निवास करता था । इस परिवार में श्री व्यास मिश्र नाम के महानुभाव धान्य एवं वैभव-सम्पन्न होने का वर्णन तथा तत्कालीन राजदरबार में सम्मानपूर्ण प्रतिष्ठित होने का उल्लेख परवर्ती साम्प्रदायिक वाणी-ग्रन्थों में प्रचुर परिमाण में होता है; किन्तु कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता जिसे इस परिवार की वंश-

तथा ख्याति का प्रामाणिक आधार माना जाए। किंवदन्ती है कि श्री व्यास मिश्र पत्नी-सहित ब्रजयात्रा के लिए गये हुए थे, वहीं मथुरा से चार मील पर बसे हुए बाद नामक गाँव में १५०२ ई० में हरिवंश जी का जन्म हुआ। इनके जन्म-काल का प्राचीन वाणियों में अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बीच में कुछ विद्वानों ने इनका जन्म १४७३ ई० में ठहराने का प्रयत्न किया जो प्रमाणों से असिद्ध हो चुका है।

सोलह वर्ष की आयु में हरिवंश जी का विवाह रुक्मिनी देवी के साथ सम्पन्न हुआ। गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यों का पालन करते हुए ये सच्चे रूप में भक्त और सन्त बने रहे। माता-पिता के निकुंजगमन के बाद १५३३ ई० में किसी आभ्यन्तर प्रेरणा से इन्होंने ब्रजभूमि आने का निश्चय किया और वहीं वृन्दावन में निवास करने लगे। हरिवंश जी के गुरु-रूप में श्री राधा जी को स्वीकार किया जाता है। श्री नागरीदास, चाचा वृन्दावनदास, सेवक जी, ध्रुवदास तथा व्यास जी ने यही उल्लेख किया है। प्राचीन वाणियों के आधार पर इनके निकुंजगमन की तिथि १५५२ ई० ठहरती है। श्री हरिराम व्यास ने इनकी मृत्यु पर बहुत ही मार्मिक पद लिखा है : "बड़ौ अभाग्य अनन्य सभा को उठि गयौ ठाठ सिंगार।"

गोस्वामी हितहरिवंश के दो हिन्दी-ग्रन्थ (हित चौरासी, स्फुट वाणी), दो संस्कृत-ग्रन्थ (राधासुधानिधि, यमुनाष्टक) तथा विट्ठलदास जी को लिखे गये दो गद्य-पत्र अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं। हितहरिवंश जी के चौरासी पदों के संग्रह का नाम 'हित चौरासी' है। इसी ग्रन्थ के आधार पर परवर्ती भक्त महात्माओं ने राधावल्लभीय तत्त्व को हृदयंगम किया है। इस सम्प्रदाय में इस ग्रन्थ को मूलाधार मानकर सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। इसमें हरिवंश जी ने ब्रजभाषा का समस्त माधुर्य उँड़ेल दिया है। शृंगार रस की पृष्ठभूमि में इसमें उन विषयों को प्रस्तुत किया गया है जो राधावल्लभ-सम्प्रदाय के मेरुदण्ड हैं अर्थात् राधा-कृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्यविहार, रासलीला, भक्ति-भावना, प्रेम में मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्यविहार के चतुर्व्यूहात्मक अवयव आदि इस ग्रन्थ के प्रमुख वर्ण्य हैं। जहाँ 'हित चौरासी' में परोक्ष रूप से यत्र-तत्र सिद्धान्त वर्णित हुए हैं वहाँ 'स्फुट वाणी' में प्रेम, अनन्यता, राधा-भक्ति, जीवानोद्देश्य आदि विषयों का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन हुआ है। हितहरिवंश जी की रचनाओं में 'हित चौरासी' के बाद इसी वाणी का स्थान है। परिष्कृत ब्रजभाषा की रचना होने के कारण इसका प्रचार पर्याप्त हुआ। 'स्फुट वाणी' से हितहरिवंश जी के औदार्य, प्रेम, ममता, सहानुभूति, दृढ़ता और अनन्य निष्ठा के परिचायक कुछ दोहे देखिए :

सबसों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।
राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान, मुख नाम॥
निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर अंस।
राधावल्लभ मुख कमल, निरखि नैन हरिवंश॥
रसना कटौ जु अनरटौं, निरखि अनफुटौ नैन।
श्रवण फुटौ जु अनसुनौ, बिन राधा यस बैन॥

हितहरिवंश जी की वाणी भक्ति रस से आप्लावित है। काव्योत्कर्ष के समस्त अलंकृत उपकरण भी उसमें अनायास आ गये हैं। भक्त कवि की उक्ति का प्रभाव केवल उसके मंगल-विधान के कारण नहीं होता, अपितु उक्ति-सौन्दर्य के कारण भी होता है। हितहरिवंश जी तो माधुर्य भक्ति के उन्नायकों में थे, अतः उनकी वाणी से यदि काव्य-सौन्दर्य की निर्झरिणी प्रवाहित हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है? उनकी वाणी का मूलाधार 'रस' है, जो रसिक

भक्तों को प्रेम-विह्वल करके आनन्द-विभोर बना देता है। वंशी के अवतार हितहरि की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वंशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लि कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदों के माध्यम से गूंजा कि उसमें वर्णित राधा शिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मंजुल मूर्ति बनकर भक्तजन के लिए आराधना का बन गयीं। कविता का आश्रय उन्होंने केवल साधन-रूप में लिया था, साध्य तो राधा- द्वारा आत्म-तृप्ति था। राधा का गुणगान जिन पदों का महत् उद्देश्य हो उनमें दीप्ति, ओज और माधुर्य का अभाव कैसे हो सकता है ?

ब्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्रांजल रूप हितहरिवंश जी की वाणी में प्रस्फुटित है, वैसा किसी अन्य भक्त-कवि की रचना में नहीं हुआ। इस कथन को कदाचित् पक्ष पूर्ण समझा जाए और सूरदास तथा नन्ददास-जैसे सुप्रसिद्ध कवियों की ब्रजभाषा को बढ़कर बताया जाए, किन्तु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा। सूरदा भाषा में ब्रजभाषा का आंचलिक पुट है, लोकभाषा के अधिक समीप होने के कारण और परिष्कृत शब्दों की ओर उनका झुकाव नहीं है। नन्ददास ने अवश्य शब्द-चय परिष्कार पर बल दिया है और शब्द-मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नाद-सौन्दर्य को अपनाकर दास जड़िया' का पद पाया है, किन्तु उनकी भाषा में हितहरिवंश के समान समृद्धता नहीं संस्कृत की तत्सम पदावली को ब्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवंश जी अद्भुत क्षमता प्राप्त है। जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था; ह वंश जी ने जयदेव और विद्यापति दोनों की पदावली से प्रभाव लेकर उसे ब्रजभाष कलेवर में अभिनव रूप दिया। शब्द-मैत्री, समीचीन वर्ण-विन्यास, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्म संगीतात्मकता और प्रांजलता उनकी ब्रजभाषा के उल्लेख्य गुण हैं।

दामोदरदास (सेवक जी) : सेवक जी के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहा प्रमाणों के द्वारा समर्थित विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त-कवियों की वाणियों में उनका स्मरण और नामोल्लेख मिलता है—प्रियादास जी 'सेवक चरित्र' में विस्तारपूर्वक इनका चरित्र लिखा है। इतिवृत्तात्मक जीवन-चरित्र न हो यह भावात्मक शैली में लिखा हुआ साम्प्रदायिक भक्त-चरित्र है, जिसमें जीवन की घट अंकित न होकर केवल उन प्रमुख घटनाओं का वर्णन है जिनका सेवक जी के चरित्र युगान्तरकारी प्रभाव पड़ा और जिनसे प्रभावित होकर सब-कुछ त्यागकर वे श्री हित मह के मन-वचन-कर्म से अनुयायी हो गये। भगवतमुदित के अनुसार इनका जन्म गोंड प्रदेश (वर्तमान जबलपुर) के गढ़ा नामक ग्राम में एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। रा वल्लभ-सम्प्रदाय में सेवक-वाणी का धार्मिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वाणी आज 'हित चौरासी' की पूरक वाणी मानी जाती है और इन दोनों का अभिन्न सम्ब जुड़ गया है : 'चौरासी अरु सेवक वाणी, इक संग लिखत पढ़त सुखदानी।" सेवक-वाणी इस महत्त्व और माहात्म्य के तीन प्रमुख कारण हैं—एक तो यह कि 'हित चौरासी' का मर्म घाटन करनेवाली यह सर्वप्रथम वाणी है, दूसरा यह कि सम्प्रदाय की मूल भावना को करना ही कवि का चरम लक्ष्य रहा है, और तीसरा कारण है—सहज अभिव्यक्ति। इ सीधी-सरल भाषा-शैली में पद-रचना करनेवाले बहुत कम रसिक भक्त दृष्टिगोचर होते हैं।

हरिराम व्यास : ओरछाधीश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम ब्रजमंडल के प्रसिद्ध रसिक भक्तों में हैं। वृन्दावन में हरित्रयी नाम से जो तीन मह विख्यात हैं, उनमें एक व्यास जी भी हैं। इनके जन्म-काल, जन्म-स्थान, दीक्षा-गुरु, सम्प्रदा

कविता-काल आदि के सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही अनेक मतवाद प्रचलित रहे हैं। इन मतवादों के मूल में एक ओर यदि अज्ञान रहा है, तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक दुराग्रह ने भी तथ्यों पर पर्दा डाला है। अज्ञानवश तो हरिव्यास और हरिराम व्यास को एक समझ बैठने की भूल हुई तथा जान-बूझकर हरिराम व्यास के दीक्षा-गुरु, वृन्दावन-आगमन, सम्प्रदाय आदि के विषय में कतिपय मिथ्या प्रवाद प्रचार में आये। व्यास जी का जन्म ओरछा (टीकमगढ़) राज्य में हुआ था, किन्तु उनके जन्म-काल के सम्बन्ध में दो मत हैं। कुछ विद्वान् उनका जन्म १५१० ई० में मानते हैं, किन्तु भगवतमुदित के 'रसिक अनन्यमाल' के साक्ष्य पर उनका आविर्भाव १४९२ ई० में माना जायगा, क्योंकि वे १५३४ ई० में बयालीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आये थें। कविता की ओर उनकी प्रवृत्ति वृन्दावन आने पर ही हुई। अपने परिवार की परम्परा के अनुकूल उन्होंने शैशव में ही संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में उन्हें पुराण और दर्शनशास्त्र के प्रति अनुराग हुआ। यह उल्लेखनीय है कि अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में वे विरक्त साधु न होकर सच्चे आस्तिक भाव के सद्गृहस्थ थे।

व्यास जी के दीक्षा-गुरु कौन थे और वे किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे, यह खींचा-तानी वृन्दावन में सम्प्रदायवाद के दम्भ और मिथ्य मोह के बढ़ने पर प्रारम्भ हुई। व्यास-वंशीय गोस्वामियों ने अपना सम्बन्ध माध्व सम्प्रदाय से स्थापित कर लिया है, अतः वे हरिराम व्यास को भी उसी सम्प्रदाय में दीक्षित सिद्ध करने में सचेष्ट देखे जाते हैं। वैष्णव भक्तों में व्यास जी विशाखा सखी के अवतार माने जाते हैं। विशाखा राधा-माधव-मिलन में सहयोग देकर राधा का अनुगमन करती है। उसका स्वभाव प्रेम, ममता, दया और वात्सल्य से परिपूर्ण है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट उसे छू भी नहीं गये। व्यास जी का जीवन भी इसी प्रकार के उदात्त गुणों की खान है।

व्यास जी की रचनाओं के सम्बन्ध में अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज करने पर व्यास-रचित पद, दोहे, साखी उपलब्ध होते रहते हैं। फिर भी उनके ग्रन्थों को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

१. व्यास-वाणी—७५८ पद और १४८ दोहे।
२. रागमाला (अप्रकाशित)—६०४ दोहे, संगीतशास्त्र।
३. 'नवरत्न' और 'स्वधर्मपद्धति' (संस्कृत, अप्राप्य)।

'व्यास-वाणी' में माधुर्य भक्ति और राधा-कृष्ण की निकुंजलीला का वर्णन है। इस मुख्य विषय की स्थापना के लिए भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधन-अंग, भक्ति-पथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्तों की मनःस्थिति और विविध कोटियों का वर्णन भी किया गया है। माधुर्य भक्ति का सार है—राधा-कृष्ण के नित्यविहार का शृंगारमयी पद्धति से सांगोपांग वर्णन! राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी—इन चारों को प्रेम द्वारा एक ही सूत्र में अनुस्यूत करके निकुंजलीला का वर्णन विधेय माना जाता है। राधावल्लभीय सम्प्रदाय में तो इसी को प्रधान समझा जाता है, यही 'वृन्दावन रस' है। प्रेमलक्षणा भक्ति का चरम लक्ष्य यही है—'व्यास-वाणी' में इसी को प्रमुख रूप से गाया गया है। जैसा कि सर्वविदित है, माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधा-कृष्ण की कुंजलीलाओं को संयोग और वियोग दोनों रूपों में स्वीकृत किया गया है—चैतन्य-सम्प्रदाय की उपासना वियोग-पक्ष को प्रबल मानकर चली है, जबकि निम्बार्क और राधावल्लभ सम्प्रदायों में संयोग-पक्ष ही स्वीकृत है। व्यास जी ने संयोग को कुंजकेलि का प्राण माना है और विरह-पक्ष की भक्ति को सीठी ठहराया है :

कुंजकेलि मीठी है, विरह भक्ति सीठी ज्यों आग।
व्यास विलास रासरस पीवत, मिटैं हृदय के दाग।।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के अनुरूप व्यास जी ने अपने पदों में नित्यवि राधा और नित्यकिशोर कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया है। राधा के रूप-चित्रण में पदावली अत्यधिक अलंकृत हो गयी है। 'व्यास-वाणी' शृंगाररसपूर्ण माधुर्य भक्ति का करनेवाली प्रौढ़ रचना है। शान्त रस का भी अनेक पदों में सुन्दर वर्णन हुआ है। यथार्थ ये दो रस ही उनकी कविता के प्राण हैं—शेष रसों की खोज करना 'व्यास-वाणी' की भा के अधिक अनुकूल प्रतीत नहीं होता।

व्यास जी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भाषा में भावानुकूल पद-यो के साथ मृदुल, कठोर और व्यंग्यपूर्ण होने की शक्ति पायी जाती है। शब्दों के चयन में कि प्रकार के आयास का पता नहीं चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि भावों के उद्बोधन के सा ही-साथ शब्दों का जन्म होता गया है। प्रत्येक भाव के लिए शब्दों की नियोजना अपूर्व शृंगार के पदों में भाषा अत्यन्त वैभवपूर्ण और सुकुमार हो गयी है। माधुर्य-भाव की को व्यक्ति के लिए शब्द भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण हैं।

चतुर्भुजदास : हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में श्री चतुर्भुजदास का जीवन-वृ बड़े भ्रामक रूप में अंकित होता है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ-सम्प्र के चतुर्भुजदास के साथ मिलाकर एक कर दिया गया है। यह भ्रम प्रारम्भ में मिश्रवन्धुओं लेखनी से हुआ। उन्होंने 'मिश्रबन्धु-विनोद' में राधावल्लभीय चतुर्भुजदास की 'भक्ति प्रत 'द्वादश यश' और 'हित जू को मंगल' जैसी विख्यात रचनाओं को अष्टछापी भक्त चतुर्भुज की कृतियाँ बताया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ० रामकुमार वर्मा के इतिहासों भी यह भ्रम विद्यमान है। इसके निराकरण का श्रेय डॉ० दीनदयालु गुप्त को है।[1] चतुर्भु दास का 'द्वादश यश' ग्रन्थ प्रसिद्ध है, जिसमें भक्ति का माहात्म्य बताने के उद्देश्य से बा पृथक्-पृथक् यश गाये गये हैं। इनमें से तृतीय 'भक्ति प्रताप यश' है, जो प्राचीन हस्तलिखि पोथियों में अलग भी लिखा मिलता है। इसी प्रकार 'मंगलसार यश' एकादश यश है, 'हितजू को मंगल' नाम से लिखा मिलता है। हिन्दी-साहित्य के इतिहास-लेखकों ने 'द्वाद यश' के अतिरिक्त उक्त दोनों ग्रंथों को भी पृथक् गिनाया है। यथार्थ में ये 'द्वादश यश' अन्तर्गत ही हैं। चतुर्भुजदास के कुछ फुटकर पद भी मिले हैं। ब्रजभाषा का मधु-माधुर्य इनकी रचना का प्राण है। 'द्वादश यश' की टीका इन्होंने संस्कृत भाषा में लिखी, जो कृति की भाँति सरल और प्रवाहपूर्ण है।

ध्रुवदास : हिन्दी-साहित्य के इतिरास-ग्रन्थों में इनके जन्म-काल के विषय में प्राम णिक रूप से कुछ नहीं लिखा गया। जनश्रुतियों के अतिरिक्त श्री भगवतमुदित, गोस्वा जतनलाल और चाचा वृन्दावनदास द्वारा उल्लिखित सामग्री के आधार पर इनके जीवन-वृ की रूपरेखा तैयार की जा सकती है। इनका जन्म देवबन्द (सहारनपुर) में एक कायस्थ कुल में १५७३ ई० के लगभग हुआ था। इनके वंश में पहले ही से वैष्णव-पद्धति की अन उपासना प्रवर्तित थी, अतः ये शैशव से ही भक्ति-पथ की ओर उन्मुख रहे। जन्म-का की भाँति इनकी निधन-तिथि भी विवादास्पद है। इनकी अन्तिम कृति का रचना-का १६४१ ई० है, अतः इनकी मृत्यु १६४३ ई० के आसपास ही माननी चाहिए।

---

[1] देखिए 'अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय', पृष्ठ २७८-२८०

ध्रुवदास जी का लक्ष्य राधावल्लभ-सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करना है। इस सम्प्रदाय में निकुंजलीला (नित्यविहार)-वर्णन आवश्यक होता है। ध्रुवदास जी ने अपनी मुक्तक रचना में इस बात का निरन्तर ध्यान रखा है कि प्रेमलक्षणा मधुरा भक्ति का जैसा रूप राधावल्लभीय मत में गृहीत हुआ था, उसका ही सांगोपांग विवेचन-विश्लेषण अपनी वाणी द्वारा किया जाए। इसी कारण सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को हृदयंगम करने के लिए इनकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गम्भीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नहीं है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्वबोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस सम्प्रदाय में किसी और ने नहीं किया। जटिल और दुर्बोध तत्त्वों को समझाने के लिए इन्होंने वचनिका (गद्यवार्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नों को उसमें बड़ी सरल और सुबोध शैली से सुलझाया है।

ध्रुवदास जी के ग्रन्थों की संख्या बयालीस है, किन्तु कुछ समय पहले इस सम्बन्ध में थोड़ा-सा विवाद था। वियोगी हरि ने 'ब्रजमाधुरीसार' में इनके चालीस ग्रन्थों की सूची दी है, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में सैंतीस ग्रन्थ गिनाये हैं तथा 'मिश्रबन्धु-विनोद' में बयालीस ग्रन्थों के अतिरिक्त 'बानी' नामक इनके एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का उल्लेख है।[१] इनके सम्पूर्ण ग्रन्थों की तालिका निम्नलिखित है :

१. जीवदशा लीला, २. वैदकज्ञान लीला, ३. मनशिक्षा लीला, ४. वृन्दावनसतलीला, ५. ख्यालहुलास लीला, ६. भक्तनामावली लीला, ७. वृहद्बावनपुराण की भाषालीला, ८. सिद्धान्तविचार लीला (गद्यवार्ता), ९. प्रीतिचौवनी लीला, १०. आनन्दाष्टक लीला, ११. भजनाष्टक लीला, १२. भजन कुण्डलिया लीला, १३. भजनसत लीला, १४. भजन श्रृंगारसत लीला, १५. मनश्रृंगार लीला, १६. हितश्रृंगार लीला, १७. सभामंडल लीला, १८. रसमुक्तावली लीला, १९. रस हीरावली लीला, २०. रसरत्नावली लीला, २१. प्रेमावली लीला, २२. प्रियाजी नामावली लीला, २३. रहस्यमंजरी लीला, २४. सुखमंजरी लीला, २५. रतिमंजरी लीला, २६. नेहमंजरी लीला, २७. वनविहार लीला, २८. रंगविहार लीला, २९. रसविहार लीला, ३०. रंगहुलास लीला, ३१. रंग-विनोद लीला, ३२. आनन्ददशाविनोद लीला, ३३. रहस्यलता लीला, ३४. आनन्दलता लीला, ३५. अनुरागलता लीला, ३६. प्रेमदशा लीला, ३७. रसानन्द लीला, ३८. ब्रजलीला, ३९. जुगलध्यान लीला, ४०. नित्यविलास लीला, ४१. मानलीला, ४२. दानलीला।

ध्रुवदास जी के ग्रन्थों का पर्यालोचन करने के बाद संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इनकी वाणी राधावल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उद्घाटन करनेवाली सबसे समर्थ और व्यापक वाणी है। परवर्ती महानुभावों ने इनकी वाणी के अनुशीलन द्वारा ही सैद्धान्तिक मर्म को हृदयंगम किया। हितहरिवंश के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप में इनका स्थान मूर्धा पर है। नित्यविहार के मर्म को विशद विस्तार के साथ सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रस्फुटित किया। निकुंजलीला का अन्य लीलाओं से भेद करनेवाले भी ये ही हैं। इनकी वाणी में काव्य-सौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कहीं-कहीं रीतिकालीन श्रृंगारी कवियों से साम्य परिलक्षित होता है। 'हितश्रृंगार लीला' आदि ग्रन्थों में जो कवित्त और सवैये लिखे गये हैं, उनका बाह्य अभिधेयार्थ रीतिकाल के कवियों के समकक्ष ही है! शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य-गुण और भाषा का प्रवाह यह बताता है कि इन्होंने साहित्यशास्त्र का विधिवत्

---

२. देखिए 'मिश्रबन्धु-विनोद', द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९९

पारायण किया था। काव्य-रूढ़ियों का भी इनकी वाणी में निर्वाह है। नायिकाभेद, ने ऋतु-वर्णन आदि में भी परम्परा-पालन हुआ है। दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, कुं आदि छन्दों और गेय पद-रचना पर इनका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है। गद्यवार्ता (वचनिका) तो अपूर्व रचना है। इसमें जहाँ एक ओर सैद्धान्तिक गूढ़ तत्त्वों सरल भाषा में प्रकाश डाला गया है, वहाँ दूसरी ओर गद्य-साहित्य का प्राचीन रूप भी में आता है। माधुर्य भक्ति की तल्लीनता और रसव्यंजक पदावली की रोचकता जैसी दास में है, वैसी मध्ययुगीन भक्तों में कम ही देखी जाती है। यदि छन्द, भाषा और वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचना पर विचार किया जाए, तो निस्सन्देह ये रीतिकाल भक्तिकाल के कवियों की शृंखला जोड़नेवाले रससिद्ध कवि माने जाएँगे।

नेही नागरीदास : नागरीदास नाम से हिन्दी-साहित्य में कई भक्त-कवि विख्यात किन्तु राधावल्लभ-सम्प्रदाय के नागरीदास का नाम 'नेही' उपाधि के कारण सबसे हो जाता है। भगवतमुदित-कृत 'अनन्यरसिकमाल' में इनको पँवार-क्षत्रिय-कुलोद्भव बेरछा गाँव (बुन्देलखण्ड) का निवासी बताया गया है। शैशव से ही हरि-भक्ति की इनकी विशेष रुचि थी। भक्तजनों से मिलने पर ये बड़े प्रमुदित होते थे। एक बार सौ से स्वामी चतुर्भुजदास जी के साथ इनका मिलना हुआ। उनकी कथा-वार्त्ता सुनकर प्रभावित हुए और उनकी सत्संगति का लाभ उठाकर उन्हीं के साथ घरबार छोड़ वृन्दा चले आए। वहाँ गोस्वामी वनचन्द्र जी से दीक्षा लेकर इन्होंने रसभक्ति को स्वीकार कि इनके जन्म-काल का निर्णय स्वामी चतुर्भुजदास से इनके मिलने की घटना के आधार किया जा सकता है। चतुर्भुजदास जी १५५८ ई० के आसपास बेरछा पहुँचे थे और ना दास की उस समय पच्चीस वर्ष की आयु की कल्पना की जाए तो उनका जन्म १५३३ के आसपास माना जा सकता है। इतना तो निश्चित ही है कि ईसा की सोलहवीं शता उत्तरार्द्ध तक वे जीवित थे।

नेही नागरीदास जी की 'हितवाणी' और 'नित्यविहार' में अनन्य निष्ठा भागवत-कथा और नवधा भक्ति के मार्मिक प्रसंगों का वर्णन भी उनको 'हितवाणी' के फीका लगता था। उनकी भक्ति-भावना का प्रमाण देने के लिए ये पंक्तियाँ पर्याप्त हैं :

रसिक हरिवंश सरवंश श्री राधिका, सरवंश हरवंश वंशी।
हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रभावली, हरिवंश धन धर्म राधा प्रशंसी॥
राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवंश श्रुतावतंशी।
रसिक जन मननि आभरन हरिवंश, हितहरिवंश आभरन कलहंस हंसी॥

यहाँ राधा और हरिवंश के अतिरिक्त किसी और को कुछ भी स्वीकार नहीं कि गया है। यह 'राधाष्टक' इनकी अनन्य निष्ठा का प्रतीक है और राधावल्लभ-सम्प्रदाय इसका बहुत मान है।

हरिदासी सम्प्रदाय
(सखी-सम्प्रदाय)

स्वामी हरिदास जी द्वारा प्रवर्तित सखी-सम्प्रदाय को बहुत समय तक निम्बा सम्प्रदाय की एक शाखा के रूप में ही स्वीकार किया जाता रहा। कुछ तो सिद्धान्त सम्ब भ्रान्ति के कारण ऐसे उल्लेख होते रहे और कुछ इस सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा पीताम्बरदास, किशोरदास आदि ऐसे महानुभाव हुए, जिन्होंने अपने सम्प्रदाय को निम्बा

सम्प्रदाय के साथ मिलाने का प्रयत्न किया, अतः भ्रम को प्रश्रय भी प्राप्त होता रहा। आज भी वह शाखा अपना सम्बन्ध निम्बार्क-सम्प्रदाय से जोड़ती है। जहाँ तक स्वामी हरिदास जी के सम्प्रदाय का प्रश्न है, उसका अपना स्वरूप इतना स्पष्ट है और उसके सिद्धान्त अन्य सम्प्रदायों से इतने अनमिल रहे हैं कि बिना उसे सम्प्रदाय का रूप दिये उसके रस-साहित्य को भलीभाँति हृदयंगम नहीं किया जा सकता। सखी-सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में बिहारिनदास, नागरीदास, सरसदास आदि ने अपने सम्प्रदाय को किसी अन्य पूर्ववर्ती सम्प्रदाय से न जोड़कर स्वामी हरिदास से ही सम्बन्धित माना है। हरिदासी-सम्प्रदाय के एक श्रेष्ठ वाणीकार एवं सिद्धान्त-व्याख्याता रीतिकालीन कवि भगवतरसिक ने अपने सम्प्रदाय को 'द्वैताद्वैत' (निम्बार्क-सिद्धान्त), 'विशिष्टाद्वैत' आदि से मुक्त बताया है :

नाहीं द्वैताद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत।
बँधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छाद्वैत॥

भगवतरसिक जी ने अपने सम्प्रदाय के स्वतन्त्र रूप का परिचय निम्नलिखित छन्द में बड़ी तेजस्विता से दिया है :

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, युगल मन्त्र को जाप।
युगल मन्त्र को जाप, वेद रसिकनि की बानी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी।
प्रेम देवता मिले बिना, सिद्ध होय न कारज।
भावत सब सुखदानि, प्रगट भये रसिकाचारज॥

सम्प्रदाय के लिये आचार्य, छाप, उपासना, मन्त्र, वेद, धाम, देवता आदि जिन-जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, उन सबका यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

उक्त सम्प्रदाय के नाम के सम्बन्ध में एक भ्रान्ति और साहित्य-क्षेत्र में रही है—इसे टट्टी-सम्प्रदाय' कहने की ! एक बार मिश्रबन्धुओं ने इसका प्रयोग कर दिया, तो साहित्य में चल पड़ा। वस्तुतः स्वामी हरिदास जी से लगभग २०० वर्ष पश्चात् होनेवाले श्री ललितमोहिनी जी ने वृन्दावन में एक स्थान बनाया, जिसके चारों ओर उन्होंने बाँसों की टट्टियाँ लगायीं। इसीलिए यह स्थान टट्टी-स्थान के नाम से प्रसिद्ध हो गया। इस टट्टी-स्थान के नाम से ही न जाने कैसे 'टट्टी-सम्प्रदाय' प्रचलित हो गया और टट्टी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी कहे जाने लगे। यह स्पष्ट होना आवश्यक है कि यह सम्प्रदाय का नाम नहीं है, यह तो स्थानमात्र है—सम्प्रदाय का स्वीकृत नाम तो 'सखी-सम्प्रदाय' या 'हरिदासी सम्प्रदाय' ही है।

स्वामी हरिदास : स्वामी हरिदास जी के जीवन-वृत्त की आधारभूत सामग्री का प्रायः अभाव है। इस सम्प्रदाय के इतिहास का परिचय देनेवाला ग्रन्थ 'निजमत-सिद्धान्त' (किशोरदास) साम्प्रदायिक रंग में रँगा है और विसंगतियों के कारण उसने अनेक स्थानों पर तो आधारभूत विकृतियाँ ही उत्पन्न कर दी हैं। इसके अनुसार स्वामी हरिदास का जन्म वृन्दावन के निकट राजपुर नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता गंगाधर और माता चित्रा बतायी गयी हैं। इनकी जाति सनाढ्य कही गयी है और इनको आसुधीर जी का शिष्य बताया गया है। किन्तु, इसी ग्रन्थ में परपक्ष के रूप में इनका एक और जीवन-वृत्त दिया गया है। उसके अनुसार इनको पंजाब से आनेवाले सारस्वत ब्राह्मण ~~आसुधीर~~ जी का पुत्र और शिष्य, दोनों बताया गया है। वस्तुतः जिस परम्परा का ~~खण्डन~~ 'निजमत-सिद्धान्त'

ने किया है, नाभादास के 'भक्तमाल' के साक्ष्य और अनेक अन्य प्रमाणों के आ वही बहुत-कुछ प्रामाणिक ज्ञात होती है। वस्तुतः आसुधीर जी विरक्त होकर वृन्दा आये थे। अचानक दीपक से जल जाने के कारण पत्नी का देहावसान हो जाने प हरिदास भी विरक्त होकर वृन्दावन चले आये। यहाँ आकर उन्होंने अपने पिता दीक्षा ली और निधिवन में रहकर उपासना करने लगे। उपासना के फलस्वरूप 'श्री बिहारी' जी की मूर्ति का प्राकट्य हुआ, जो आज भी वृन्दावन में विराजमान है।

हरिदास जी अपने समय के महान् संगीतज्ञ थे। अकबरी दरबार के गायक को इन्हीं का शिष्य कहा जाता है। यह भी प्रसिद्ध है कि सम्राट् अकबर स्वामी जी करने वृन्दावन आये थे। हरिदास जी के समय के सम्बन्ध में मतभेद है। 'भक्तसिन्धु' सार इनका जन्म-संवत् १४४१ वि०, 'वृन्दावनधामानुरागावली' के अनुसार १५० वलदेव कवि कें अनुसार १५१५ वि०, सहचरिशरण के अनुसार १५३५ वि०, सिद्धान्त' के अनुसार १५३७ वि० तथा सुदर्शनसिंह 'चक्र' के अनुसार १५६९ वि० है। प्राचीन काग़ज़ के अनुसार १६०५ वि० में स्वामी जी की उपस्थिति का प्रमाण मिल अकबर और स्वामी जी के मिलन की घटना का समय विद्वानों ने १६२७ वि० के आ माना है। यह भी निश्चित है कि वे हरिराम व्यास जी की निकुंज-प्राप्ति (१६५५ वि पूर्व ही अपनी इहलीला समाप्त कर चुके थे। उनकी आयु सभी जगह ९५ वर्ष वता हैं; अतः १४७८ ई० (१५३५ वि०) को उनका जन्म-काल तथा १५७३ या १५ (१६३०-१६३५ वि०) को निकुंजगमन-काल माना जा सकता है।

स्वामी हरिदास ने किसी दार्शनिक मतवाद का प्रतिपादन या समर्थन अपने ग्र नहीं किया है। उनका सम्प्रदाय दर्शन का विचार सिद्धान्ततः नहीं करता, वे तो रस पथिक हैं। भक्ति के साधारण सिद्धान्तों का कथन उन्होंने अपनी कृति 'सिद्धान्त के किया है। इन पदों में हरि को स्वतन्त्र और जीव को भगवदाधीन माना गया है। जी स्वभाव चपल है, अतः संसार-सागर को पार करने के लिए हरि-नाम की नौका ही ए आधार है। सच्चे मीत तो श्री बिहारी ही हैं। उनका स्मरण जीव को इस प्रकार चाहिए, जैसे ग्वालिन सिर पर रखी दूध की दोहिनी का ध्यान रखती है कि वह छ जाए; जीव को प्रेम-समुद्र का घाट खोजना चाहिए। हरिदास जी का प्रेम-सिद्धान्त अ की भक्ति-भावना को एक नया मोड़ देनेवाला है। उस युग में श्रीकृष्ण-चरित्र का मधुर भक्तों का आलम्बन बन गया, सखी-भावोपासना युगधर्म बन गयी। कोई ऐसा वैष्णव स न बचा, जिसने इस विशिष्ट दृष्टि को न अपनाया हो। इस रसोपासना के कारण स्वा की तो छाप ही 'रसिक' हो गयी। सखी-सम्प्रदाय का उपास्य 'प्रेम' नामक तत्त्व है। य नित्य है और अपनी क्रीड़ा के लिए राधा-हरि इन दो रूपों में नित्य प्रकटित है। प्रे तीसरा रूप सखीजन हैं, जो इस प्रेम-लीला की प्रयोजिका और भोक्ता भी हैं। नि वृन्दावन उसी प्रेम का चिद्घन रूप है।

अन्य सम्प्रदायों में वर्णित कृष्ण-लीला और स्वामी हरिदास जी की निकुंजली तारतम्य का भारी भेद है। अन्यत्र अवतार-रूप श्रीकृष्ण की आराधना की जाती है स्वामी हरिदास जी के निकुंजविहारी कृष्ण द्वापर के अवतार-रूप कृष्ण नहीं हैं। स्वा की राधा वृषभानुकुमारी नहीं हैं। उनकी लीला का ब्रज, गाय, ग्वाल, गोपी आदि से सम्बन्ध नहीं है। ब्रज की लीला नैमित्तिकी लीला है, क्योंकि अवतार किसी-न-किसी से ही होता है। अवतार-काल में श्रीकृष्ण के अनेक कर्त्तव्य-कर्म भी रहे हैं। माता यशो

वात्सल्य वे कैसे दूर कर सकते हैं; ग्वालों की मैत्री कैसे छोड़ सकते हैं; और भी उनके अनेक लोक-चरित्र हैं, इसलिए उनके नित्यविहार में बाधा पड़ती है। स्वामी हरिदास के उपास्य तो प्रेम के मूल स्वरूप नित्य-निकुंजविहारी हैं, जिनको सृष्टि-निर्माण आदि से कोई मतलब नहीं है, यह कार्य तो उनकी पदनख-छटा के अंश ज्योति-रूप नारायण आदि करते रहते हैं। वृन्दावन की नित्यलीला सदा एकरस और अखण्ड रहनेवाली है। उस रस-लीला में नारायण का प्रवेश भी नहीं है। देव-पितर की तो कौन कहे, ब्रज के राधा-कृष्ण भी उस रस के लिए ललचाते रहते हैं।

सखी-सम्प्रदाय का 'रूप और प्रेम का सिद्धान्त' प्रेम-दर्शन अथवा सौन्दर्यशास्त्र के अति निकट है। काव्य के लिए यह एक मनचाहा विषय था और भाव को पूर्ण तीव्रता देने की भी पूर्ण शक्ति इसमें विद्यमान थी। विदेशी शासन से त्रस्त जनता को इस सिद्धान्त की रसमयता सहज जान पड़ी और कवि तथा भक्त दोनों इसकी ओर आकर्षित हुए। इस सौन्दर्य-सिद्धान्त ने भक्तों को कवि और कवियों को भक्त बना दिया। इस सिद्धान्त ने तत्कालीन भारतीय जीवन को अपूर्व रूप से दृढ़ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रदान की थी। सखी-भाव की व्यापकता में हमें इन कारणों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

स्वामी हरिदास ने बहुत थोड़ा लिखकर भी अपार यश अर्जित किया है। उनके द्वारा लिखित केवल दो रचनाएँ प्राप्त हैं—'सिद्धान्त के पद' और 'केलिमाल'। सिद्धान्त के पदों का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। 'केलिमाल' स्वामीजी की रसमयी रचना है, जिसमें ११० पदों में श्री श्यामा-कुंजविहारी की लीलाओं के अनेक मृदु चित्र अंकित हैं। ग्रन्थ के नाम 'केलिमाल' से भी स्पष्ट है कि यह परमरसरूप श्यामा-श्याम की 'केलि' की 'माल' है। रस की दृष्टि से स्वामी हरिदास जी की रचनाएँ उज्ज्वल रस (शृंगार रस) के अन्तर्गत आती हैं। उनमें भी केवल संयोग ही यहाँ प्राप्तव्य है। उनके पदों में कहीं राधा का स्वच्छ रूप-वर्णन है, कहीं श्याम की उनके प्रति तन्मयता वर्णित है, कहीं वृन्दावन के सघन रमणीय निकुंज-गृहों में उनके विहार का वर्णन है और कहीं उनके बार-बार मुग्ध होकर, परस्पर रीझकर प्रेमालाप के नवीन-नवीन प्रसंग हैं। राधा-विहारी और सखियों के अतिरिक्त यहाँ और कोई नहीं है और स्वामी जी के सब प्रेम-रूप भावोल्लास में मत्त हैं। वस्तुतः स्वामी हरिदास के पदों में एक प्रत्यक्ष अनुभूति के चित्र हैं, फलस्वरूप उनकी अभिव्यंजना-शैली में प्रत्यक्षता या ऋजुता है। लगता है कि वे अपने सामने एक दृश्य देख रहे हैं, प्रिय-प्रिया का वार्त्तालाप सुन रहे हैं और बीच-बीच में उनसे स्वयं भी कुछ कह रहे हैं। उनके काव्य की यही शैली वार्त्तालाप की शैली है, जिसमें स्वाभाविकता और जीवन की सम्पूर्ण मिठास है। उनके पदों की प्रायः प्रत्येक पंक्ति इसी प्रकार किसी-न-किसी का 'कथन' है। उदाहरणस्वरूप श्रीकृष्ण का यह कथन देखिए, जिसमें कवि के हृदय की तरलता साकार होती दिखायी देती है :

भूले भूले हू मान न करि, री प्यारी !
तेरी भौंहें मैली देखन, प्रान न रहत तन।
ज्यौं न्योछावर करौं प्यारी री तो पर
काहे मैं तूं मूकी, कहत स्यामघन।

हरिदास जी ने अलंकारों का यत्नज प्रयोग कहीं नहीं किया है। उनकी वाणी ऋजु है, पर स्वभावतः अनेक अलंकारों ने उनके कथनों को सजाया है। उनकी कल्पना सहज है, अतः अलंकार भी सहज ही हैं। स्वामी जी की भाषा के सम्बन्ध में भ्रान्ति रही है। उनके पदों को समीक्षकों ने एक ही दृष्टि में ऊबड़-खाबड़ लिख दिया है; किन्तु सत्य यह है कि

उनकी भाषा तद्भवप्रधान है, बोलचाल के अत्यधिक निकट है और 'ध्रुवपद' की अनुरूप उनकी कुछ पंक्तियाँ छोटी और कुछ बड़ी हो गयी हैं। समीक्षकों ने इसे लिया है अन्यथा स्वामी जी की भाषा निश्चित रूप से अत्यन्त अर्थवती है और के प्रकाशन में समर्थ है। लक्षणा-व्यंजना का चमत्कार उनकी भाषा में दर्शनीय है। की भाषा की जिस लाक्षणिकता की सराहना की जाती है, वह स्वामी हरिदास के अपने पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्राप्त है। उनकी भाषा में तत्कालीन अरबी-फ़ारसी शब्दों भी कहीं-कहीं हुआ है। पंजाबी शब्दों का प्रयोग भी है, जिससे उनका पंचनदवासी सिद्ध होता है।

जगन्नाथ गोस्वामी : इनके विषय में प्रसिद्ध है कि ये स्वामी हरिदास के स्वामी जी के वृन्दावन-आगमन के कुछ समय उपरान्त ही वृन्दावन आ गये थे। दास ने श्री बाँकेबिहारी जी की सेवा-पूजा इनको ही सौंपी थी। महात्मा सन्तदास ने रसामृत' नामक ग्रन्थ के मंगलाचरण में आराध्य श्री बिहारी जी और स्वामी पश्चात् जगन्नाथ जी की भी विनती की है। इनके द्वारा रचित 'अनन्य सेवानिधि' ग्रन्थ बताया जाता है। इनके अनेक स्फुट पद भी प्राप्त हैं, जो कीर्तन-संग्रहों में और सम्प्रदाय में भी पाये जाते हैं।

बीठल बिपुल : 'निजमत-सिद्धान्त' के अनुसार श्री बीठल बिपुल स्वामी ममेरे भाई थे और आयु में उनसे पाँच वर्ष बड़े थे। एक अन्य मतानुसार ये स्वामी सबसे कनिष्ठ भ्राता गोविन्द जी के पुत्र थे। 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियादास जी के इनकी गुरुनिष्ठा अपूर्व थी। जब स्वामी हरिदास का निकुंज-गमन हो गया, तो ये उनके में व्याकुल हो उठे और गुरु के दर्शन न होने के कारण इन्होंने अपने नेत्रों पर पट्टी रसिकों ने इन्हें रासलीला देखने के लिए बुलाया। वहाँ जाकर जब इन्होंने अपने नेत्रों खोली तब वहाँ स्वामी जी के दर्शन प्राप्त न हुए। तत्काल इन्होंने अपना शरीर और निकुंजवासी हो गये। इनकी वाणी में केवल ४० पद ही प्राप्त हैं, परन्तु नाभा इन्हें दी गयी 'रससागर' उपाधि को प्रमाणित करने के लिए ये पर्याप्त हैं। इन्होंने वृन्दावन की रसलीला के अनुपम चित्रों को अपने काव्य में सँजोया है। प्रिया के रूप कर प्रिय अपनी सुधबुध खो बैठते हैं। प्रिया जी का सहज सौन्दर्य, ललाट पर एक अलक, फिर कुछ विचित्र प्रकार से उनका देखना; ये सब मोहन की पलक न के लिए पर्याप्त हैं :

रसबस होत लाल, प्यारी, तेरी बदन झलक।
अपने सुभाव की सहज माधुरीं, बनी है लिलाट पर पतरी अलक
कौन हू भाँति चितवनी चितयौ, तब तैं मोहन ज की लागै न पलक
श्री बीठल बिपुल बिहारी सों हिलिमिल, जैसे बाढ़ें छिन-छिन मदन-ललक।

बीठल जी ने भी स्वामी जी की भाँति वार्त्तालाप-शैली को ही अपनाया है। उनकी भाषा अधिक तत्समप्रधान और छन्दोबद्ध है। भाषा में सजीवता है और अलं उद्भूत हैं।

बिहारिनदास : बिहारीदास या बिहारिनदास इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ सिद्धान्त-व्याख्याता हुए हैं। सम्प्रदाय में ये 'गुरुदेव' नाम से प्रसिद्ध हैं और हरिदासी के लिए प्रमाण-कोटि में गृहीत हैं। इनका मूल नाम क्या था, यह ज्ञात नहीं है— दास' नाम स्वामी हरिदास ने दिया था। एक अन्य मत के अनुसार ये जगन्नाथ जी के

र गोपीनाथ जी के पुत्र थे। इनका गृहस्थ-नाम हरिराम था, बाद में इनका नाम बिहारिनदास
ा। इनमें स्वामी हरिदास के समस्त गुण अवतरित हुए थे। ये सर्वदा उपासना के भाव में
रहते थे। पूर्णतया अपरिग्रही रहकर ही इन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया था। मिट्टी के
करुए और एक कमली के अतिरिक्त ये कुछ भी धारण नहीं करते थे। ये संसार से उदास
हते थे और निरन्तर महामाधुरी में छके रहते थे।

बिहारिनदास ज़ी बीठल बिपुल जी के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ 'बिहारिनदास जी
वाणी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनकी वाणी में एक भाग साधारण सिद्धान्त का है, दूसरा
स-सिद्धान्त का। साधारण सिद्धान्त-कथन के अन्तर्गत भक्ति की महत्ता को प्रस्तुत किया गया
और रस-सिद्धान्त में सखी-भाव की उपासना के तत्त्वों का उद्घाटन कर प्रेम रस की परि-
टी पर प्रकाश डाला गया है। अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में भी ये फक्कड़ रहे हैं। जो
त इन्हें ठीक जँची, उसे कहने में ये कभी नहीं चूके। इनका रास्ता इनके अनुभव ने स्वयं
नाया है। इसलिए उस पर इनका अडिग विश्वास है। इन्होंने अपने मत को वैदिक सिद्ध
रते हुए कहा है कि वास्तव में वेदों ने जो कुछ कहा है, वही हमने कियाहै :

वेदन कह्यौ सो हम कियौ, औरन को मत छोरि।
कहत बिहारिनदास यह, अनन्य सभा में डोरि॥

'नित्यविहार' को इन्होंने सर्वोपरि स्थान दिया है और अपने को उसी का उपासक
पित किया है। किन्तु, इनकी अभिव्यंजना-शैली में पूर्ण निबद्धता नहीं है। उसमें वस्तु को
कट करने का आग्रह अधिक है, नियम-पालन का कम। इन्होंने मात्रानुसार छन्दोबद्ध पद भी
खे हैं, परन्तु ध्रुवपद का प्रभाव इन पर अधिक है। इनकी भाषा तत्समप्रधान होते हुए भी
न्यास की दृष्टि से निराली है। कहीं-कहीं उसमें कुछ अक्खड़पन भी आ जाता है, परन्तु
षय भावों के समक्ष सदा ही सिर झुकाये रहती है। भाषा में लक्षणा-व्यंजना शक्तियों का
चुर्य है। भाषा का अलंकरण सहज और स्वाभाविक है, प्रयत्न उसमें कहीं भी दृष्टिगोचर
हीं होता। बिहारिनदास जी रससिद्ध कवि हैं; भाषा आदि के वैचित्र्य के साथ इनकी रस-
द्धता उत्कर्ष को ही अधिक प्राप्त हुई है।

अन्य भक्त-कवि : सखी-सम्प्रदाय के अन्य भक्त-कवियों में नागरीदास और सरसदास
ख्य हैं। नागरीदास नाम के कई महात्मा ब्रजवाणीकार हुए हैं—राधावल्लभीय नागरीदास
भाँति हरिदासी महात्मा नागरीदास भी प्रसिद्ध हैं। ये बिहारिनदास जी के प्रमुख शिष्य
। 'निजमत-सिद्धान्त' के अनुसार ये कामरूप के मन्त्री कमलापति के पुत्र थे; परन्तु यह कथन
विश्वसनीय नहीं है। ध्रुवदास जी ने इनकी प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा लिखा है :

कहा कहौ मृदुल सुभाव अति, सरस नागरीदास।
बिहारी बिहारिन कौ सुयश, गायौ हरषि हुलास॥

नागरीदास जी की २० साखियाँ, ४२ चौबोले, ३९ कवित्त-सवैये तथा ७० पद प्राप्त
। इनकी रचना-शैली पर स्वामी हरिदास के पदों की छाप स्पष्ट है। सरसदास नागरीदास
के छोटे भाई थे। बिहारिनदास जी की गद्दी के अधिकारी ये ही हुए थे। इनकी रचना कुल
छन्दों की है और 'अष्टाचार्यों की वाणी' में सम्मिलित है। एक उद्धरण देखिए :

गोरे तन में प्रतिबिम्बित फूल बीनत लालबिहारी।
जब जब हाथ न परस तब ही हँसि जात प्यारी।
अरबराइ अंकौ भरत करत हैं छिन छिन मनुहारी।
सुरति बिबस बिहरत दोऊ प्रीतम सरस सदा बलिहारी॥

चैतन्य (गौड़ीय)-सम्प्रदाय

गौड़ीय अथवा चैतन्य-मत के प्रवर्तक कृष्ण चैतन्य महाप्रभु (१४८६-१ जन्म बंगाल के नवद्वीप नामक स्थान में हुआ था। इनका बचपन का नाम विश्वम् में निमाई नाम से भी इन्हें पुकारते थे और रूप-सौन्दर्य के अतिशय के कार 'गौरांग' नाम भी प्रचलित हो गये थे। नवद्वीप उन दिनों बंगाल में ही नहीं, स वर्ष में विद्या-केन्द्र के रूप में विख्यात था। विश्वम्भर को नवद्वीप की सुप्रसिद्ध शाला में विद्यार्जन के लिए प्रविष्ट कराया गया जहाँ उन्होंने न्याय, वेदान्त व्या साहित्यशास्त्र का अध्ययन किया। 'चैतन्यचरितामृत' में विश्वम्भर के संन्यास का हुए लिखा गया है कि उनके मन में स्वयं यह भाव जाग्रत हुआ कि जब तक मैं गृ रहकर भक्ति का उपदेश करूँगा तब तक साधारण जन के मन में स्वाभाविक नहीं होगी। अतः भक्ति-प्रचार के उद्देश्य से उन्होंने चौबीस वर्ष की आयु में १ संन्यास की दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा-गुरु केशवभारती ने उनका नाम बदलकर रखा। संन्यासी चैतन्य ने कठोर कष्ट-सहिष्णुता के परम्परा-अनुमोदित मार्ग का अव किया—उनका भक्ति-पथ त्याग और वैराग्य का हठयोगी मार्ग नहीं था, अपितु भावना के आधार-बिन्दु थे—प्रेम, ममता और भावुकता। उन्होंने अपने नाम से पन्थ या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया। यदि उनके जीवन के समस्त कार्यों प किया जाए तो यह स्पष्ट लक्षित होता है कि उनका जीवन-प्रवाह इतना दुर्धर्ष कोई उनके सम्पर्क में आया, उसमें बह गया। फलतः उनके चारों ओर सम्प्रदाय- इकट्ठी होती गयी और अनजाने ही चैतन्य-मत का उदय हो गया।

चैतन्य-मत का दार्शनिक सिद्धान्त 'अचिन्त्य भेदाभेद' कहलाता है। जीव 'भगवत्सन्दर्भ' नामक ग्रन्थ में इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि भगवान् आदि शक्तियों के अभिन्न होने के कारण विचार करना शक्य न होने से भेद (प्र है और भिन्न होने से विचार करना शक्य न होने से अभेद प्रतीत होता है, इ भेदाभेद-स्वीकार है—वे दोनों 'अचिन्त्य हैं, इसलिए इस मत को अचिन्त्य भेदा दिया गया है। अचिन्त्य भेदाभेद को दार्शनिक रूप देते समय रूपगोस्वामी या जीव समक्ष माध्व सम्प्रदाय की कोई दार्शनिक मान्यता नहीं थी। द्वैतवाद को दृष्टि में सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया गया।

इस सिद्धान्त की व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठा बलदेव विद्याभूषण ने गो में की है। उन्होंने ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म—ये पाँच तत्त्व सि ईश्वर को विभुचैतन्य, सर्वज्ञ, स्वतन्त्र, मुक्तिदाता और विज्ञान-रूप कहा है। का निमित्त और उपादान कारण है, जो स्वरूप से अविकृत रहता है। ईश्वर-वि जीव बन्धन में पड़ता है; ईश्वर-कृपा से ही जीव की मुक्ति होती है। मुक्ति में समान आनन्द तो प्राप्त होता है, किन्तु ईश्वर से पृथकत्व बना रहता है। प्रकृति नि ब्रह्म की शक्तिरूपा है। काल परिवर्तनशील जड़ द्रव्य है। प्रलय सृष्टि का निमि कर्म अनादि, नश्वर और जड़ है। वह ईश्वर की शक्ति का रूप है। मुक्ति का हैं—भक्ति, जिसके पाँच भेद हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर।

रामराय : श्री रामराय का उल्लेख 'भक्तमाल' और 'दो सौ बावन वार्ता' में हुआ है। वे सारस्वत ब्राह्मण थे और गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य

दायी कीर्तन-संग्रहों में 'श्री भगवान हित रामराय' की छाप से प्राप्त होनेवाले पदों की र संख्या है; और ये पद इन्हीं रामराय जी के म: [illegible]ने हैं। इधर वृन्दावन के गोस्वामी नावल्लभ जी ने इनकी वंश-परम्परा के सम्बन्ध मे [illegible] विशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन किया उनके अनुसार ये गीतगोविन्दकार जयदेव की पन्द्रहवीं पीढ़ी में विद्यमान थे। इनका म-स्थान लाहौर और पिता का नाम गौर गोपाल बताया गया है। आशुधीर जी के साथ पंजाब से ब्रज चले आये थे। ब्रज में आकर ये चैतन्य मत से प्रभावित हुए, अतः चैतन्यदेव दर्शनों के लिए सीधे जगन्नाथपुरी चले गये। वहीं इन्होंने श्री नित्यानन्द से दीक्षा ग्रहण । बाद में ये वृन्दावन आकर रहने लगे और आजीवन ब्रजभक्ति का प्रचार करते रहे। के द्वारा रचित साहित्य का अवलोकन करने से भी इनके सम्प्रदाय का निर्णय नहीं होता। लभ-सम्प्रदाय के कीर्तन-संग्रहों में सम्मिलित पदों से ये वल्लभमतानुयायी जान पड़ते हैं, अपनी कृति 'आदिवाणी' से विशुद्ध गौड़ीय ज्ञात होते हैं। 'आदिवाणी' तथा 'गीतगोविन्द षा' में इन्होंने अनेक स्थलों पर श्री चैतन्य एवं उनके अन्य अनुयायी महानुभावों की वन्दना -रूप में की है। विभिन्न प्रमाणों एवं रामराय जी के प्राप्त साहित्य से ऐसा प्रतीत होता कि ये दोनों सम्प्रदायों से ही किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित रहे थे। हो सकता है कि जीवन के आरम्भिक भाग में वल्लभसम्प्रदायी रहे हों और अन्त में चैतन्य-मत से प्रभावित कर गौरकिशोर की उपासना में अनुरक्त हुए हों।

रामराय जी संस्कृत एवं ब्रजभाषा दोनों के ही पण्डित थे। संस्कृत में इन्होंने ब्रह्म-ों के कुछ अंश पर 'गौरविनोदिनी' वृत्ति की रचना की तथा गीता पर 'गौर भाष्य', त्वपंचकम्' और 'गोविन्दतत्त्वदीपिका' का प्रणयन किया। ब्रजभाषा में इनकी 'आदिवाणी' ा गीतगोविन्द भाषा'—ये दो रचनाएँ प्राप्त हैं। 'आदिवाणी' में कुल एक सौ पद हैं। नमें राधा-कृष्ण की लीला का सरस गायन हुआ है। सखी-भाव से राधा-कृष्ण की उपासना कवि का प्रतिपाद्य है। प्रिया-प्रिय की केलि-उमंगों को इन्होंने अपने भाव-चित्रों में भली ति उतारा है। हाव-भाव के चित्रण की दृष्टि से भी इनकी रचनाएँ उत्कृष्ट हैं। इनके ों में अभिव्यक्ति की सहजता विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। कोमलकान्त पदावली के चयन में विशेष रूप से सिद्धहस्त हैं। भाव-प्रतिपादन में जहाँ ये स्वामी हरिदास जी के अति निकट वहाँ इनकी भाषा-शैली पर हितहरिवंश जी का प्रभाव स्पष्ट है। 'आदिवाणी' के अनेक ों की रचना उक्त दोनों महानुभावों के पदों की छाया पर हुई है। 'गीतगोविन्द भाषा' गीत-विन्द के श्लोकों का ब्रजभाषा-पदों में किया गया सफल अनुवाद है। 'आदिवाणी' से एक दाहरण प्रस्तुत है :

मुकुट मनि चन्द्रिका, स्याम स्यामा बनी।
पलक अलकन लुकीं, तिलक झलकन झुकीं,
कमल कुंडल रुकीं, ललक भृकुटी तनी।
अधर दर कंद री, सुघर वर सुन्दरी,
जुगल गल चंद री, धवल हीरन खनी॥
चटक पट केसरी, नील नव वेस री,
कनक नक बेसरी, मनिक मुक्ता मनी।
जटित कंकन करन, पगन नूपुर धरन,
मदन मन हर, 'रमराय' कटि करधनी॥

सूरदास मदनमोहन : 'भक्तमाल' में नाभा जी ने सूरदास मदनमोहन की काव्य-

रचना की प्रशंसा की है और उन्हें राधा-कृष्ण-भक्ति का एकान्त अधिकारी बताया है। सनातन गोस्वामी के शिष्य थे। इनका मूल नाम सूरदास था, परन्तु अपने उपास्य मोहन' जी के अंगीकार के कारण इनकी नाम-शृंखला सूरदास मदनमोहन के रूप में से जुड़ गयी। इनका जन्म अनुमानतः १५१३ ई० के लगभग हुआ था। ये अकबर के या दीवान थे और संडीले में नियुक्त थे। प्रसिद्ध है कि एक बार ख़ज़ाने में तेरह आयीं। इन्होंने उस राज्य-द्रव्य को साधुओं की सेवा में लगा दिया और स्वयं चुपचाप चले गये। ख़ज़ाने के विवरण में इन्होंने लिख दिया :

तेरह लाख संडीले उपजे, सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदनमोहन, वृन्दावन कों सटके॥

सम्राट् अकबर को इनकी इस भावना पर प्रसन्नता ही हुई, परन्तु टोडरमल वृन्दावन से पकड़वा मँगाया और कारागार में डाल दिया। पुनः अकबर ने ही कराया।

सूरदास मदनमोहन की रचनाओं का कोई प्रामाणिक प्राचीन संग्रह अभी तक हुआ है। बाबा कृष्णदास ने 'सुहृद् बानी' में इनके १०५ पदों का संग्रह किया था। दयाल मीतल ने भी किसी प्राचीन अशुद्ध और सन्दिग्ध प्रति में से चुनकर इनके पदों का प्रकाशित किया है। उस प्रति के १२६ पदों में से मीतल जी ने केवल ८६ पद ही में लिये हैं, परन्तु ये संकलित पद भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं माने जा सकते। नाभा नागरीदास जी के अनुसार सूरदास मदनमोहन केवल शृंगार रस की पद-रचना करते कि इस संग्रह में अनेक पद वत्सल रस सम्बन्धी भी हैं। इनकी वाणी में अनेक पद सम्प्रदायी सूरदास जी के मिल गये हैं और उसी प्रकार इनके पद 'सूरसागर' में प्राप्त हैं। पदों में अभिसारिका नायिका का विरह, खंडिता, नायक का विरह, मान, मुरली, आदि शीर्षकों के अन्तर्गत राधा-कृष्ण की शृंगार-लीलाओं और कृष्ण-केलि का वर्णन है। इनकी कविता भावपूर्ण है—एक ही लीला को उमंगपूर्वक अनेक बार गाया गया है। उपासना में 'राधा' की प्रधानता है और सखियों का लीलानुगत्य भी सर्वत्र दर्शित है। काव्य का कला-विधान भी उत्कृष्ट कोटि का है। भाषा सरल और श्रुति-सुखद है। सजीवता और कहीं-कहीं संवादों में सहज नाटकीयता भी इनके काव्य-गुण हैं। प्रसाद साथ ही माधुर्य की अभिव्यंजना इनमें श्रेष्ठ है। वास्तव में भाव और अभिव्यक्ति दृष्टियों से इनकी रचनाएँ उत्तम हैं। एक पद प्रस्तुत है :

ब्रज की खोर-साँकरी।
जब-जब भेंट अचानक होवै, हौं सकुचति उर, उल्टयो चाह री।
जित जित ह्वै, मग रोकत-टोकत, डगर तजति पग गड़ति काँकरी।
ज्यौं ज्यौं हौं सब अंग दुरावौं, त्यौं त्यौं चिबुक गहि आवै धांकरी।
'सूरदास मदनमोहन' केतौ करौं बोलिवे को, मैं तबहूँ न 'हाँ' करी॥

गदाधर भट्ट : श्री गदाधर भट्ट ब्रजभाषा के सुप्रसिद्ध कवि थे। उनके विषय में साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में आरम्भ से लिखा जाता रहा है, परन्तु यह भ्रान्ति चली आ रही है कि वे चैतन्य महाप्रभु के शिष्य थे और उनको भागवत सुनाया वास्तव में चैतन्यदेव ने किसी को भी अपना शिष्य नहीं बनाया था। जो सज्जन उन्हें भागवत' की कथा सुनाया करते थे, वे गदाधर पण्डित थे, गदाधर भट्ट नहीं। अतः शुक्ल द्वारा इसी आधार पर गदाधर भट्ट को सूर-पूर्व मान लेना समीचीन नहीं है। यों

ट्ट भी 'भागवत' के श्रेष्ठ प्रवक्ता थे, परन्तु इनके और चैतन्य के मध्य में पर्याप्त अन्तर है। भा जी ने इनको सुहृद्, सुशील, वचन-प्रतिपालक, निर्मत्सर, निष्काम, कलहहीन, अनन्य जनीक, भक्त-सेवी तथा 'भागवत' के अद्वितीय वक्ता के रूप में चित्रित किया है। ध्रुवदास गरीदास, भगवतरसिक आदि भक्तों ने भी इनकी भागवत-कथा की भूरि-भूरि प्रशंसा की । प्रियादास ने 'भक्तमाल' की टीका में इनसे सम्बन्धित कुछ घटनाओं का वर्णन किया है। नके अनुसार एक बार गदाधर भट्ट द्वारा रचित कृष्ण-प्रेम सम्बन्धी एक पद किसी साधु के ख से जीवगोस्वामी ने सुना और वे मुग्ध हो गये। उन्होंने गदाधर भट्ट को वृन्दावन आने ा निमन्त्रण दिया। यहाँ आकर उन्होंने जीवगोस्वामी के दर्शन किये और उनकी प्रेरणा से घुनाथ भट्ट गोस्वामी की शिष्यता ग्रहण की।

शुक्ल जी के अनुसार गदाधर भट्ट दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनके जन्म-काल और रचना-काल के सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है। मिश्रबन्धुओं और आचार्य शुक्ल के मन्तव्यों का मन्वय कर लेने पर इनका जन्म-काल १५१३-१५२३ ई० के मध्य और रचना-काल १५४०-१५६५ ई० मानना ठीक होगा। ये संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे, व्रजभाषा पर भी इनका आरम्भ से ही अधिकार था; परन्तु खेद है कि इनका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ अब तक प्राप्त नहीं हो सका है, मिश्रबन्धुओं ने इनकी एक 'बानी' और 'ध्यानमाला' ग्रन्थ का उल्लेख किया है, किन्तु वियोगी हरि जी ने कुछ फुटकर पदों की ही चर्चा की है। गदाधर भट्ट की वाणी का जो प्रकाशित संस्करण इस समय उपलब्ध है, उसमें केवल ८५ पद हैं जिनका सकलन विशेष रूप से वल्लभसम्प्रदायी कीर्तन-संग्रहों से किया गया है। गदाधर नाम के अनेक कवि होने से इस संग्रह को पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अनेक पदों में शैली-भेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

भट्ट जी ने मूलतः कृष्ण-लीला-वर्णन किया है, किन्तु अनेक पद स्तोत्र-रूप में भी प्राप्त होते हैं। राधा-कृष्ण की छवि, उनकी विविध लीलाएँ, विवाह-त्यौहार आदि इनके पदों में सुन्दर ढंग से वर्णित हैं। चैतन्य-सम्प्रदाय के बंगाली भक्तों में जिस प्रकार राधा को परकीया माना जाता है, वैसी मान्यता इस सम्प्रदाय के व्रजभक्त कवियों की नहीं ज्ञात होती। गदाधर भट्ट जी ने राधा को स्वकीया मानकर ही उनके विवाह का वर्णन किया है। राधा-कृष्ण के लीला-विलासों का सखी-भाव से विस्तृत वर्णन भी इनके अनेक पदों में प्राप्त है। श्री गदाधर भट्ट प्रमुख रूप से राधा-कृष्ण की कैशोर लीलाओं के ही गायक हैं। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ होते हुए भी प्रवाहपूर्ण है। माधुर्य उसका विशेष गुण है। इस प्रकार अनुभूति तथा अभिव्यंजना दोनों ही दृष्टियों से ये हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में उच्च स्थान पाने के अधिकारी हैं। इनका एक पद यहाँ उद्धृत किया जा रहा है:

जयति श्री राधिके, सकल-सुख-साधिके,
तरुन-मनि, नित्य नव तन किसोरी।
कृष्ण-तन-लीन-मन रूप की चातकी,
कृष्ण-मुख-हिम-किरन की चकोरी ॥
कृष्ण-दृग-भृंग विस्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण-दृग-मृगज-बन्धन सुडोरी।
कृष्ण-अनुराग-मकरन्द की मधुकरी,
कृष्ण-गुण-गान रससिन्धु बोरी ॥

चन्द्रगोपाल: ये रामराय जी के अनुज थे और आयु में उनसे बारह वर्ष छोटे थे।

रामराय जी का जन्म १५०३ ई० के लगभग अनुमानित किया गया है, अत: इन १५१५ ई० के आसपास मानना चाहिए। कहा जाता है कि जब रामराय जी स्थायी वृन्दावन में बस गये तब ये भी अपने बड़े भाई के सान्निध्य में आ गये। तदुपरान्त वंश-परम्परा वृन्दावन में ही चली। रामराय जी की कृपा से इन्होंने चैतन्य-मार्ग लम्बन किया और संस्कृत एवं ब्रजभाषा दोनों में ही रचना की। संस्कृत में इनके ग्रन्थ 'श्रीराधामाधव भाष्य', 'गायत्री भाष्य' तथा 'श्रीराधामाधवाष्टक'। ब्रजभाषा-रचना 'चन्द्र चौरासी', 'अष्टयाम सेवासुधा', 'गौरांग अष्टयाम', 'ऋतुविहार' तथा 'राधाविरह' हैं। 'चन्द्र चौरासी' हितहरिवंश जी की 'हित चौरासी' की प्रेरणा से लिखी गयी ज्ञात है। इन्होंने प्रमुख रूप से राधा-कृष्ण की माधुर्य-लीलाओं का ही वर्णन किया है। अष्टयाम' में चैतन्य महाप्रभु की अष्टयाम-सेवा का वर्णन है। इसी कृति से एक पद किया जा रहा है :

करहु हे गौर-चन्द स्नान।
सीतल जल निर्मल सों सुन्दर सबंस कृपानिधान।
अतर गुलाब आब सों सुखकर परम रम्य सुरमान।
श्री नित्यानन्द महाप्रभु संग मिलि, मुदित प्रेम धीमान।
श्री प्रभुचन्द्र गोपाल सची-सुत, निज जन-जीवन-प्रान॥

भगवानदास : 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार भगवानदास जी के सूबेदार के दीवान थे और गौड़ीय सम्प्रदाय के किन्हीं गोविन्ददेव जी के सेवक थे। राय जी उनके पुरोहित थे और उन्होंने ही भगवानदास को गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का कराया था। यमुनावल्लभ जी के अनुसार भगवानदास जी आमेर के राजा थे। इन्होंने में हरिदेव जी के मन्दिर का निर्माण कराया था। आमेर के राजा भगवानदास के जी ऐतिहासिक घटनाक्रम को देखने से ज्ञात होता है कि ये सम्राट् अकबर के प्रमुख सेना में से थे और इनका समस्त जीवन प्रायः युद्धों में ही व्यतीत हुआ। अत: आमेर-नरे भक्त-कवि भगवानदास जी से सर्वथा भिन्न व्यक्ति माना जा सकता है। हो सकता है, साधारण दीवान अथवा 'राजा' उपाधिधारी सामन्त रहे हों जिन्होंने अपने जीवन का उ वृन्दावन में व्यतीत किया।

भगवानदास जी के कुछ पदों का संग्रह रामराय जी के पदों के साथ उन्हीं के कर दिया गया है। वस्तुत: ये सभी रचनाएँ भगवानदास की हैं, परन्तु इनमें उन्होंने पूर्वक अपने गुरु का नाम भी सम्मिलित कर लिया है। उनके पदों में मिलनेवाली 'भग हित रामराय' छाप से इस मन्तव्य की पुष्टि होती है। अभी तक उनके लिखे लगभग सौ पद ही उपलब्ध हैं। इनमें कुछ तो वर्णन की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि के हैं, परन्तु शिथिल भी हैं। एक उदाहरण देखिए :

बन्यो मोर मुकुट, नटवर वपु, स्यामसुन्दर, कमल नयन,
बाँकी भौंहें, ललित भाल, घूँघरि वारी अलकें।
पीत बसन, मुक्तामाल, हियें पदक कंठ लाल,
हँसन, बोलन, गावन, गंडन स्रवन कुंडल झलकें।
कर-पद भूषन अनूप, कोटि मदन मोहन रूप,
अद्भुत बदनचन्द देखि गोपी भूली पलकें।

कहिं भगवान हित रामराय प्रभु ठाड़े रासमंडल में,
राधा सों बाँह जोरि, किये हिये प्रेम-ललकैं ॥

माधवदास 'माधुरी' : माधवदास जी वृन्दावनवासी खत्री थे, सम्भवतः इनके पूर्वज स्वयं पंजाब से आकर यहाँ बस गये होंगे। 'माधुरी' जी ने अपने ग्रन्थों में चैतन्य महा- एवं उनके परिकर की वन्दना की है। रूपगोस्वामी को एक स्थान पर गुरु-रूप में स्मरण के कारण ऐसा भ्रम होता है कि ये उनके साक्षात् शिष्य थे, परन्तु काल-क्रम की दृष्टि ह सम्भव नहीं है। 'माधुरी' जी निश्चय ही उनसे परवर्ती सिद्ध होते हैं। रचनाओं—केलि ुरी (१६३० ई०), वंशीवट माधुरी (१६४२ ई०) तथा वृन्दावन माधुरी (१६४२ ई०) के आधार पर इनका कविता-काल १६१८ से १६५३ ई० तक माना जा सकता है। 'श्री ुरी वाणी' में इन तीन कृतियों के अतिरिक्त उत्कण्ठा माधुरी, दान माधुरी, मान माधुरी, माधुरी तथा प्रिया जी की बधाई भी संकलित हैं। इनके काव्य में विचार-पक्ष की प्रौढ़ता अनुभूति की प्रबलता है। इनकी भाषा लालित्यपूर्ण एवं सहज-सरल है। इनके छन्दों में वैविध्य है। दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया, सोरठा आदि इनके प्रिय छन्द हैं। 'वंशीवट ुरी' से एक उदाहरण देखिए :

कमल से लोइन ललित अति सोभा देत,
कुँवर के संग तौ बिराजें कोटि कामिनी।
अपने-अपने कर जोरि जुरि-जुरि ठाड़ी भईं,
चहुँ ओर मानों घन घेरौ आय दामिनी।
रूप गुन गान रस एक-एक तें सरस,
निरतत सकल नाना भाइन सों भामिनी।
रस सीम रास सीम, परम बिलास सीम,
राजै रासमंडल में 'माधुरी' की स्वामिनी ॥

भगवतमुदित : भगवतमुदित आगरा के सूबेदार शुजा के दीवान थे। ये भक्तवर धवमुदित के पुत्र थे, जिनकी भक्ति-भावना की प्रशंसा प्रियादास जी ने 'भक्तिरसबोधिनी' की है। ध्रुवदास जी के साक्ष्य से उनका कवि होना भी सिद्ध है, परन्तु आजकल उनके वल एक पद के अतिरिक्त अन्य कोई रचना प्राप्त नहीं है और वह भी इन्हीं माधवमुदित है, इसका निश्चय नहीं है। भगवतमुदित जी ने अपने ग्रन्थ 'वृन्दावन शत' (१६५०) में यं को गौड़ीय सम्प्रदाय के हरिदास जी का शिष्य बताया है, किन्तु हिन्दी-साहित्य के कुछ तिहास-ग्रन्थों में इन्हें राधावल्लभीय लिखा गया है। इसका कारण यह है कि इनका संग- थ प्रायः राधावल्लभीय वैष्णवों के साथ रहता था तथा ये उनके साथ अपनत्व भी मानते । इसीलिए अपने ग्रन्थ 'रसिक अनन्यमाल' में इन्होंने राधावल्लभीय भक्तों की कथाएँ लिखी परन्तु कृति के आरम्भ में चैतन्य-वन्दना से स्पष्ट है कि ये गौड़ीय सम्प्रदाय के ही अनुयायी । उक्त दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त भगवतमुदित जी के कुछ स्फुट पद भी प्राप्त हैं। कुछ न्थों में 'हित चरित्र' तथा 'सेवक चरित्र' भी इन्हीं के लिखे बताये गये हैं। वस्तुतः 'हित रित्र' उत्तमद[illegible] की रचना है जिसे 'रसिक अनन्यमाल' के आरम्भ में इसी भावना से ान दे दिया गया है कि राधावल्लभीय भक्तों के पूर्व उनके आचार्य का चरित-वर्णन भी ना चाहिए। 'सेवक चरित्र' तो 'रसिक अनन्यमाल' का ही एक अंश है।

'वृन्दावन शत' श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के 'वृन्दावनमहिमामृत' नामक सरस संस्कृत- के एक शतक का ब्रजभाषा में किया गया अनुवाद है। निःसन्देह भाव, भाषा एवं प्रौढ़ि

की दृष्टि से यह अत्युत्तम रचना है। इस कृति से एक उदाहरण द्रष्टव्य है:

अति स्निग्ध घनस्याम काम, कोटिकन कोटि छवि पानै।
गौर माधुरी निरखि दीठि, उपमा नैंकहु नांहि आवै॥
ए किसोर चित-चोर मत्त जो बन, जोबन रंग भाने।
घूमत झूमत नैन बैन मन, मैनेहु आनन्द दीने॥
श्री भगवत केलि अनुराग में, मत्त मगन दोऊ रहत बन।
नहिं बरनि सकति कोऊ सारदा, आस्वादन करि रहसि मन॥

सम्प्रदाय-निरपेक्ष कृष्ण-काव्य

भक्तिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए, जिन्होंने सम्प्रदायविशेष में न बँधकर की विभिन्न लीलाओं का स्वतन्त्र भाव से वर्णन किया। इनमें मीरांबाई और रसखान

मीरांबाई : मीरांबाई के सम्बन्ध में वाह्य एवं अन्तःसाक्ष्य उतना मौन अथवा नहीं; जितना अन्य मध्ययुगीन महाकवियों के सम्बन्ध में है। उनके स्वरचित उनके जीवन पर पड़नेवाले विभिन्न प्रभावों तथा उनके अन्य परिणामों के प्रत्य हैं। उनके भक्ति-पदों की सर्वजनमनोहारिणी रसवत्ता ने उन्हें अल्पकाल में लोकप्रिय बना दिया कि विभिन्न क्षेत्रों और विभिन्न वर्गों के सन्तों, भक्तों, कवि रचनाकारों ने अपनी कृतियों में उनकी चर्चा कई रूपों में की है। विभिन्न भक्तमा वार्त्ता-ग्रन्थों में भी मीरां सम्बन्धी अनेक साक्ष्य प्राप्त हैं। राजपूताना के कतिपय प्र अभिलेखों, दानपत्रों और कुछ प्राचीन चित्रों में भी उनके जीवन से सम्बन्धित उपलब्ध हैं। उनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, अन्तराल १४०३ ई० से १५१६ ई० तक फैला हुआ है। किन्तु नवीन अनुसन्धा देर से प्राप्त कतिपय अकाट्य प्राचीन प्रमाणों के आधार पर अब यह प्रायः निश्चि उनका जन्म १५०४ ई० में और मृत्यु १५५८ से १५६३ ई० के मध्य हुई। मीरां मूल नाम के सम्बन्ध में भी समालोचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से विचार किया है विद्वान् 'मीरां' का सम्बन्ध फ़ारसी-शब्द 'मीर' से जोड़ते हैं, जिसका अर्थ 'परम पु 'बाई' गुजरात में प्रचलित अर्थानुसार 'पत्नी' के लिए प्रयुक्त होता है। ये विद्वान् का अर्थ 'ईश्वर की पत्नी' करते हैं और इसे परवर्ती सन्त कवियों द्वारा दिया मानते हैं। यह मत संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि यदि 'मीरांबाई' का अर्थ पत्नी' लिया जाए तो मीरां के पदों में सर्वत्र प्रयुक्त 'मीरां के प्रभु गिरधर गोपाल अर्थ 'ईश्वर की पत्नी के ईश्वर···' आदि लेना होगा, जो संगत नहीं। विद्वानों के दूसरे मतानुसार 'मीरां' शब्द संस्कृत के 'मीरः' शब्द का स्त्रीलिंग-रूप है जो पृथ्वी, सरिता आदि अर्थों का बोधक है। 'मीरा' का 'मीरां' रूप में उच्चारण भारतीयों की प्रकृति-अनुसार है। यहाँ आकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का उच्चारण अनु होने का प्रचलन है। 'बाई' शब्द का प्रयोग गुजरात में स्त्रियों के लिए सम्मानार्थ हो अतः 'मीरांबाई' नाम माता-पिता द्वारा ही दिया गया मूल नाम मानने में कोई आपत्ति होनी चाहिए।

मीरां के जन्म-स्थान और वंश के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है। यह सर्वसम्मत है कि उनका जन्म 'मेड़ता' के समीपवर्ती गाँव 'कुड़की' में राठौड़

तिया शाखा में हुआ था। इस शाखा के प्रवर्तक राव दूदा थे। मीरां उन्हीं के पुत्र राव नसिंह के घर पैदा हुईं। कर्नल टॉड ने भ्रमवश मीरां को राव दूदा की पुत्री लिखा है सका अनुकरण अनेक परवर्ती विद्वानों ने भी किया। अब यह भ्रान्ति निर्मूल सिद्ध हो की है। मीरां के पिता रत्नसिंह को कुड़की-समेत बारह गाँवों की जागीर प्राप्त थी। न्तु वे अधिक समय तक कुड़की में न रह पाईं, क्योंकि उनकी दो वर्ष की अवस्था में ही नकी माता का देहान्त हो गया। राव रत्नसिंह सदैव युद्ध-रत रहने के कारण पुत्री के लन-पालन में असमर्थ थे, अतः राव दूदा नन्ही मीरां को अपने पास मेड़ता ले आये। राव दा तलवार के धनी होने के साथ-साथ परम वैष्णव भक्त भी थे। उन्हीं की छत्रछाया में हकर बालिका मीरां के हृदय में गिरधर गोपाल के प्रति अनन्य आस्था उत्पन्न हुई। मीरां चचेरा भाई जयमल भी भक्तप्रकृति का राजकुमार था। निरन्तर युद्ध और मृत्यु से होली लनेवाले राजपूतों के यहाँ उन दिनों शिक्षा-दीक्षा का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं था। अतः रिवारिक वातावरण, समाज में प्रचलित लोकगीत एवं यदा-कदा राजमहलों में आनेवाले द्ध-संन्यासियों या रमते जोगियों के भक्तिमय उपदेश ही मीरां की पाठशाला बने। लोक-गीतों की मधुरता एवं राजसी कलाप्रियता ने उन्हें अनायास संगीत-प्रेमिका बना दिया, तो धु-संगति के प्रभाववश उनका हृदय भक्ति एवं वैराग्य की ओर आकृष्ट हुआ; जिसकी नुगूंज उनकी रचनाओं में सर्वत्र विद्यमान है।

मीरांबाई का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से १५१६ ई० हुआ। दुःसंयोगवश विवाह के सात वर्ष पश्चात् ही भोजराज का स्वर्गवास हो गया, जिससे मीरां के अन्तर्मन में विद्यमान अब तक अप्रकट अन्तःसंघर्ष प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरां तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुईं, क्योंकि वे स्वयं को अजर-अमर स्वामी की चिरसुहागिनी मानती थीं :

जग सुहाग मिथ्या री सजनी हांवा हो मिट जासी।
वरन कर्‌यां हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल न खासी ॥

राजरानी मीरां का यह निश्चय मेवाड़ के राजघराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। परन्तु मीरां अब तथाकथित लौकिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त होकर निश्चिन्त भाव से साधु-संगति एवं भक्ति-पूजा में अपना समय व्यतीत करने लगीं। राणा सांगा की मृत्यु के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी विक्रमसिंह को मीरां का यह आचरण असह्य लगा। उसने मीरां को अनेक यातनाएँ दीं, पर मीरां का प्रभु-प्रेम अचल रहा।

कहते हैं कि कुछ समय पश्चात् जयमल और उसके पिता वीरमदेव ने मीरां को मेड़ता बुला लिया, किन्तु जोधपुर-नरेश मालदेव के आक्रमण के कारण वीरमदेव की स्थिति अस्थिर हो गयी। इस बीच मीरांबाई पुष्कर-यात्रा से लौटती हुई वृन्दावन चली गयीं। वहीं इनकी भक्ति-धारा माधुर्योपासना के रस में समाहित हुई। वहाँ इनकी भेंट प्रसिद्ध कृष्ण-भक्त जीवगोस्वामी से हुई, जो इनकी प्रेम-निष्ठा से बड़े प्रभावित हुए। वृन्दावन में गिरधर गोपाल के गीत गाते-गाते न जाने मीरां को कब और कैसे यह आभास हुआ कि उनके नटवर नागर तो कभी के वृन्दावन छोड़कर द्वारका जा विराजे हैं। यह आभास होते ही मीरां वहाँ से द्वारका चली गयीं। वहीं रणछोड़ जी के मन्दिर में भगवान् की मूर्ति के सम्मुख एकाग्र भाव से भजन-कीर्तन करते हुए मीरां ने शेष जीवन व्यतीत किया।

मीरांबाई द्वारा रचित कही जानेवाली जो पूर्ण या अपूर्ण रचनाएँ प्राप्त हैं अथवा जिनका उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है, उनकी कुल संख्या ग्यारह है—गीतगोविन्द की टीका,

नरसी जी का मायरा (अथवा माहेरो), राग सोरठ का पद, मलार राग, राग सत्यभामानु रूसणं, मीरां की गरबी, रुक्मणीमंगल, नरसी मेहता की हुण्डी, चरीत (स्फुट पद । इनमें से केवल 'स्फुट पद' ही मीरां की प्रामाणिक रचना है, अन्य रच से कुछ तो किसी अन्य कृतिकार द्वारा रचित हैं तथा कुछ लोक-प्रचलित जनश्रुतियों किंवदन्तियों के आधार पर मीरां के नाम से सुम्बद्ध हो गयी हैं। मीरां के स्फुट पद 'मीरांबाई की पदावली' के नाम से प्रकाशित रूप में प्राप्त हैं।

मीरांबाई का काव्य उनके हृदय से निकले सहज प्रेमोच्छ्वास का साकार उनकी वृत्ति एकान्ततः और समग्रतः प्रेम-माधुरी में ही रमी है। अपने आराध्य गोपाल' की विलक्षण रूप-छटा के प्रति उनकी अनन्य आसक्ति अनेकत्र शब्द-धारा फूट पड़ी है। कृष्ण-प्रेम में मतवाली मीरां ने मन-ही-मन उनके मधुर मिलन सँजोकर तज्जन्य आनन्द की अनेकविध व्यंजना की है, किन्तु उनकी कविता का रस विप्रलम्भ शृंगार है। उनकी विरह-भावना का कोई ओर-छोर नहीं। प्रेमो मीरां का एक-एक पद उनके हृदय की इस आकुलता का परिचायक है। यथा :

बिरहनी बावरी सी भई।
ऊँची चढ़ि अपने भवन में टेरत हाय दई।
ले अँचरा मुख अँसुवन पोंछत उघरे गात सही।
मीरां के प्रभु गिरधर नागर बिछुरत कछू न कही॥

वियोग शृंगार के अतिरिक्त मीरां-काव्य में शान्त रस की भी व्यंजना हु सांसारिक धन-वैभव की क्षणभंगुरता का बारम्बार उल्लेख करते हुए उन्होंने निर्वेद-भा अभिव्यक्ति की है। उनकी भक्ति भाव-पद्धति और शास्त्रीय पद्धति दोनों दृष्टियों से युक्त है, किन्तु उसमें शास्त्र-दृष्टि स्पष्टतः सीमित और भाव-पक्ष सबल है। वास्त माधुर्य और दैन्य भाव उनके काव्य में घुलमिलकर एक हो गये हैं।

मीरांबाई के काव्य की भाषा सामान्यतः राजस्थानी-मिश्रित ब्रज है। उनके प गुजराती भाषा का विशेष पुट है। खड़ीबोली और पंजाबी का भी उनकी कविता में प प्रभाव दिखायी देता है। संगीत एवं छन्द-विधान की दृष्टि से मीरां का काव्य उन्न का है। उनके पद विभिन्न राग-रागिनियों में बद्ध हैं। इन पदों में यत्र-तत्र विभिन्न छंद भी उपयुक्त निर्वाह हुआ है। भावनाप्रधान होने के कारण उनके काव्य में अलंकारों सायास योजना कहीं दिखायी नहीं देती। अनुभूति के सहज-मार्मिक प्रवाह में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्वतः उनकी वाणी का अनुसरण करते चले हैं।

रसखान : रसखान के जन्म-समय, शिक्षा-दीक्षा, कार्य-व्यवसाय, निधन-काल के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक साक्ष्य अभी तक उपलब्ध नहीं है। फिर भी, विद्वानों उनकी रचनाओं से कतिपय संकेत-सूत्र ग्रहण कर उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में महत्व निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ रसखान-कृत 'प्रेमवाटिका' की ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

देखि ग़दर हित साहबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा-वंश की, ठसक छोरि रसखान॥
प्रेमनिकेतन श्रीबनहिं, आइ गोबर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहिके, जुगलसरूप ललाम॥

इन पंक्तियों में उल्लिखित 'ग़दर' और 'दिल्ली के श्मशान बन जाने' का विद्वानों ने १५५५ ई० अनुमानित किया है, क्योंकि इसी वर्ष मुग़ल-सम्राट हुमायूँ ने

के सूरवंशीय पठान शासकों से अपना खोया हुआ शासनाधिकार पुनः हस्तगत किया था। इस अवसर पर भयंकर नर-संहार और विध्वंस होना स्वाभाविक था और कवि-प्रकृति के कोमलहृदय रसखान द्वारा उस 'ग़दर' के ताण्डव रूप को देखकर विरक्त हो जाना भी अस्वाभाविक नहीं। कवि ने जिस 'बादशाह-वंश' की 'ठसक' का त्याग किया वह वही पठान (सूर)-वंश प्रतीत होता है जिसके शासन का उदय शेरशाह सूरी के साथ १५२८ ई० में हुआ और अन्त इब्राहीम ख़ाँ तथा अहमद ख़ाँ के पारस्परिक कलह के कारण १५५५ ई० में हुआ। इस 'ग़दर' के समय रसखान की आयु यदि बीस-बाईस वर्ष मान ली जाए, तो उनका जन्म १५३३ ई० के आसपास स्वीकार किया जा सकता है। कुछ समय पहले तक यह माना जाता रहा कि 'रसखान' पिहानी के सैयद इब्राहीम का ही उपनाम था, किन्तु परवर्ती अनुसन्धानों के आधार पर यह धारणा मिथ्या सिद्ध हो चुकी है। 'प्रेमवाटिका' में स्वयं कवि द्वारा दिल्ली छोड़कर गोवर्धन-धाम जाने के उल्लेख से उनका जन्म-स्थान एवं प्रारम्भिक निवास दिल्ली अथवा उसके आसपास ही मानना उपयुक्त है।

प्रसिद्ध है कि रसखान ने गोस्वामी विट्ठलनाथ जी से वल्लभ-सम्प्रदाय के अन्तर्गत दीक्षा ली थी। उनके काव्य में अन्य वल्लभानुयायी कृष्णभक्त कवियों-जैसी प्रेम-माधुरी एवं भक्ति-शैली से इस बात की पुष्टि होती है। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी उन्हें वल्लभसम्प्रदायानुयायी बताया गया है। 'मूल गुसाईं चरित' में गोस्वामी तुलसीदास द्वारा स्वरचित 'रामचरितमानस' की कथा सर्वप्रथम रसखान को सुनाने का उल्लेख है: "जमुना तट पै त्रय वत्सर लौं, रसखानहिं जाई सुनावत भौ।" रसखान-काव्य के प्रायः सभी समीक्षक इस बात पर सहमत हैं कि 'प्रेमवाटिका' (१६१४) उनकी अन्तिम काव्य-कृति है। सम्भवतः इसकी रचना के कुछ ही वर्ष पश्चात् १६१८ ई० के लगभग उनका देहावसान हो गया होगा।

रसखान का सम्पूर्ण कृतित्व अभी तक प्राप्त नहीं है। 'प्रेमवाटिका' और 'दानलीला' नामक विशिष्ट आकारबद्ध कृतियों के अतिरिक्त उनकी सम्पूर्ण वाणी मुक्तक सवैयों में आबद्ध है, जिन्हें विभिन्न संग्रहकर्त्ताओं ने अपनी-अपनी रुचि के अनुसार संकलित किया है। वर्तमान समय में सर्वाधिक प्रचलित संकलन 'सुजान रसखान' है। इधर 'कल्याण' के 'सन्तवाणी अंक' (१९५५) में रसखान की एक अन्य लघु कृति 'अष्टयाम' प्रकाशित हुई है। इस प्रकार रसखान की प्रमुखतः चार रचनाएँ प्रामाणिक मानी जा सकती हैं—सुजान रसखान, प्रेमवाटिका, दानलीला, अष्टयाम। 'सुजान रसखान' स्फुट छन्दों का संग्रह है जिसमें १८१ सवैये, १७ कवित्त, १२ दोहे तथा ४ सोरठे हैं। इन छन्दों का प्रतिपाद्य भक्ति, प्रेम, राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी, वंशी-मोहिनी एवं कृष्ण-लीला सम्बन्धी अन्य सरस प्रसंग हैं। 'प्रेमवाटिका' के अन्तर्गत कवि ने राधा-कृष्ण को प्रेमोद्यान के मालिन-माली मानकर प्रेम के गूढ़ तत्त्व का सूक्ष्म निरूपण किया है। यह ५३ दोहों की लघु कृति है। 'दानलीला' केवल ११ छन्दों का छोटा-सा पद्य-प्रबन्ध है, जिसमें कवि ने प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग को राधा-कृष्ण-संवाद के रूप में चित्रित किया है। 'अष्टयाम' में संकलित कई दोहों के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के प्रातःजागरण से रात्रि-शयन पर्यन्त उनकी दिनचर्या एवं विभिन्न क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रसखान की गणना भक्त कवियों में की जाती है। वस्तुतः वे 'भक्त' और 'कवि' से भी पहले एक सहृदय भावुक व्यक्ति हैं। उनका अन्तर प्रेम-ताप की उष्णता से विगलित होकर मानो विविध भाव-सरणियों के रूप में उमड़ पड़ा है। उनकी इस ऐकान्तिक प्रेममयी उमंग ने उनके काव्य को सचमुच 'रस की खान' बना दिया है। बादशाह-वंश के जन्मजात

मुसलमान रसखान ने स्वयं को राज्यलिप्साजन्य द्वन्द्व से मुक्त कर जिस श्रद्धा, प्रेम और भ रस-सागर में निमज्जित किया, उसी में उनके वास्तविक काव्य-व्यक्तित्व का म ढला। काव्य-रचना उनका साध्य नहीं था और न ही उनकी वाणी का विलास प्राप्ति के निमित्त था। उन्होंने तो अनन्त-अलौकिक रस के आगार श्रीकृष्ण के लीला-रसास्वादन में ही स्वयं को कृतकृत्य समझा : "त्यों रसखानि वही रसखानि जु है रस है रसखानी।" प्रेम-तत्त्व के निरूपण में रसखान को अद्भुत सफलता प्राप्त हुई है। प्रेम-वर्णन बड़ा सूक्ष्म, व्यापक एवं विशद है। उनके काव्य का प्रमुख रस शृंगार है, आलम्बन हैं—श्रीकृष्ण। उनके रूप पर मुग्ध राधा एवं गोपिकाओं की मनःस्थि चित्रण के माध्यम से रसखान ने शृंगार की मधुर अभिव्यंजना की है। शृंगार के रसखान-काव्य में चित्रित दूसरा प्रमुख रस वत्सल है। श्रीकृष्ण के बाल-रूप की माधु वर्णन उन्होंने यद्यपि गिने-चुने छन्दों में ही किया है, पर उनकी काव्यात्मक गरिमा सूर तुलसी के बाल-वर्णन की समता करने में भलीभाँति सक्षम है :

धूरि भरे अति सोभित स्याम जू वैसी बनी सिर सुन्दर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना पग पैंजनि बाजति पीरी कछोटी॥
वा छवि को रसखानि विलोकत वारत काम कलानिधि कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी हरि-हाथ सों लै गयो माखन रोटी॥

रसखान की काव्य-भाषा शुद्ध, परिमार्जित एवं साहित्यिक व्रज है। माधुर्य एवं प्र गुण के सहज समावेश ने उनकी काव्य-भाषा को अत्यन्त सरस और सजीव बना दिया विभिन्न लाक्षणिक प्रयोगों के कारण इसमें जो चुटीलापन आ गया है, उससे इसकी अर्थ और बढ़ गयी है। शब्द-चमत्कार से मुक्त रहकर रसखान ने सिद्ध कर दिया है कि सरल स्वाभाविक भाषा में रचित काव्य सहृदयों के हृदय को अधिक आनन्द प्रदान कर सकता अलंकार-मोह का उनके काव्य में सर्वथा अभाव है। वे प्रेम और शृंगार के कवि हैं, उन्होंने अपने विषय के अनुरूप सवैया, कवित्त एवं दोहा छन्द को काव्य-रचना के माध्य रूप में चुना है। अपने युग में सम्पूर्ण कृष्ण-भक्ति-काव्य के गेय पदों में रचे जाने की पर होते हुए भी रसखान द्वारा कवित्त और सवैया छन्द को अपनाना उनकी स्वच्छन्द वृत्ति सूचक है। वे किसी परम्परा के बन्धन में नहीं बँधे। उनकी भक्ति किसी साम्प्रदायिक सि में आबद्ध नहीं है। उनका प्रेम-निरूपण सूफ़ियों की प्रेम-पद्धति का अनुकरण न होकर स्व है। उनका शृंगार-चित्रण किसी 'रीति' विशेष में सीमित नहीं है। उनकी भक्ति हृद मुक्त साधना है और उनका शृंगार-वर्णन भावुक हृदय की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है। उनके में उनके स्वच्छन्द मन के सहज उद्गार हैं। इसीलिए उन्हें स्वच्छन्द काव्य-धारा का प्र कहा जाता है।

अध्याय : ६

भक्तिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ

भक्तिकाल में निर्गुण-सगुण भक्ति की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त कुछ गौण काव्य-प्रवृत्तियाँ भी लक्षित होती हैं, जिनका उल्लेख साहित्य के इतिहास में आवश्यक है। ये हैं—वीरकाव्य, प्रबन्धात्मक चरितकाव्य, नीतिकाव्य, अकबरी दरबार का काव्य और रीतिकाव्य।

वीरकाव्य

धार्मिक काव्य की प्रमुखता के कारण भक्तिकाल में वीरकाव्य-धारा अपेक्षाकृत कृश हो गयी, फिर भी उसका नैरन्तर्य चलता रहा। वैसे तो 'रामचरितमानस', 'रामचन्द्रिका' प्रभृति रचनाओं में भी वीर रस का प्रसंगवश समावेश हुआ है, किन्तु आदिकाल की भाँति इस युग में वीरकाव्यों की स्वतन्त्र रचना भी हुई—यहाँ उन्हीं का अध्ययन अपेक्षित है। ऐसे काव्य प्रायः राजाश्रय में लिखे गये। इनमें प्रमुखतया आश्रयदाताओं की यशोगाथा, युद्ध-सज्जा, अतिशयोक्तिपूर्ण विरुदावली, दान एवं शौर्य सम्बन्धी स्तुति, शंत्रु के उपहास, युद्धों की भयानकता आदि को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में वीरकाव्य की रचना करनेवाले प्रमुख कवि निम्नलिखित हैं—श्रीधर, नल्हसिंह, राउ जैतसी रासोकार, दुरसा जी आढा, दयाराम (दयाल), कुम्भकर्ण, न्यामत ख़ाँ जान।

कवि श्रीधर ने ईडर के राजा रणमल्ल राठौर के आश्रय में रहकर १४०० ई० के लगभग 'रणमल्ल छन्द' की रचना की थी। सम्प्रति इस काव्य के ७० छन्द उपलब्ध हैं, जो डॉ० दशरथ शर्मा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में संकलित हैं। रणमल्ल ने १३९० ई० में पाटण के सूबेदार ज़फ़र ख़ाँ को युद्ध में पराजित किया था। 'रणमल्ल छन्द' की भाषा-शैली ओजपूर्ण है और इसमें वीर रस का सुन्दर परिपाक मिलता है। नल्हसिंह द्वारा रचित विजयपाल रासो प्रसिद्ध तो है, किन्तु इसका रचना काल संदिग्ध है। मिश्रबन्धुओं के अनुसार इसकी रचना १२९८ ई० में हुई थी, किन्तु परवर्ती विद्वान् इसका रचना-काल १५४३ ई० मानते हैं।[1] इस काव्य के केवल ४२ छन्द ही उपलब्ध हैं। इसमें विजयगढ़ (करौली राज्य) के राजा विजयपाल और पंग राजा के युद्ध का वर्णन है। इसकी भाषा पर

---

[1] देखिए 'हिन्दी-साहित्य', द्वितीय खण्ड, सम्पादक : डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १२८

उत्तरकालीन भाषा-प्रभाव पड़ते रहे हैं, अतः जब तक इसकी पूर्ण और प्रामाणि
मिल जाए तब तक इसके सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रस्तुत सन्दर्भ मे
उल्लेखनीय कृति 'राउ जैतसी रासो' है, जिसके रचयिता और रचना-काल के विषय
सूचना उपलब्ध नहीं है। इसमें बीकानेर-नरेश राव जैतसी तथा सम्राट् हुमायूं के भा
रान के युद्ध का वर्णन है, जिसमें राव जैतसी की विजय हुई थी। यह घटना १५
लगभग की है, अतः इस ग्रन्थ का रचना-काल भी इसी के आसपास माना जाता है।
भाषा में रचित प्रस्तुत कृति में सानुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग हुआ है। इसमें दोहा,
दाम और छप्पय नामक छन्द प्रयुक्त हैं और कुल छन्द-संख्या ९० है। इस धारा
उल्लेखनीय कवि हैं—**दुरसाजी आढा**। इनका जन्म मारवाड़ के धूंदला गाँव में ए
चारण-कुल में १५३५ ई० में हुआ था। ये डिंगल भाषा के बड़े प्रतिभावान् कवि थे।
के अतिरिक्त बीकानेर, जयपुर तथा सिरोही के राजवंशों की ओर से भी इनका सम्म
था। इनकी रचनाओं में 'विरुद छिहत्तरी' सर्वप्रसिद्ध है। इसमें महाराणा प्रताप का
हुआ है। इसकी रचना दोहा छन्द में हुई है और शैलीगत उद्बोधन की दृष्टि से यह
अप्रतिम है।

भक्तिकाल के एक अन्य वीरगाथाकार **दयाराम (अथवा दयाल कवि)** ने सं
ग्रंश के राणा कर्णसिंह के आश्रय में रहकर १६१८ ई० के लगभग 'राणा रासो' नाम
की रचना की थी। इसमें सीसोदिया कुल के प्रमुख राजाओं—कुम्भा, उदयसिंह, प्र
और अमरसिंह के युद्धों और वीरतापूर्ण क्रिया-कलापों का वर्णन है। डिंगल भाषा
इस कृति में ८७५ छन्द हैं और भाषा-प्रवाह के साथ छन्द-वैविध्य की ओर भी कवि
रहा है। **कुम्भकर्ण** कृत 'रतन रासो' में रतलाम के महाराज रतनसिंह का प्रशस्ति-
इसकी रचना अनुमानतः १६१८-१६२४ ई० के मध्य हुई थी। इसकी रचना प्रवाहपू
भाषा में हुई है। इस धारा की अन्तिम उल्लेखनीय कृति 'क़्याम खाँ रासा' (१६
जिसके रचयिता **न्यामत खाँ जान** फतेहपुर (शेखावटी) के शासक अलिफ़ खाँ के पुत्र
ग्रन्थ में क्याम खाँ चौहान तथा उनके वंशजों के युद्धादि का वर्णन है। क्याम खाँ के
अलिफ़ खाँ अधिक प्रसिद्ध हुए थे। इन्हीं का प्रमुख वर्णन इस ग्रन्थ में मिलता है।
के पूर्वजों ने धर्म-परिवर्तन करने पर भी अपनी 'चौहान' पदवी नहीं बदली। इसी प्र
वंश के राजाओं में क्षत्रियों की संस्कृति भी अक्षुण्ण बनी रही। यह ग्रन्थ ऐतिहासि
से महत्त्वपूर्ण है। वर्णन-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ इतिवृत्तात्मक है और ब्रजभाषा
स्वरूप इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषता है।

प्रबन्धात्मक चरितकाव्य

भक्तिकाल में सधारु अग्रवाल, शालिभद्र सूरि, गौतमरासकार, जाखू मणिया
प्रभ और पद्मनाभ ने कुछ ऐसे चरितमूलक प्रबन्धकाव्यों की रचना की थी, जो
आदिकाल के जैन-काव्य की परम्परा में विरचित हैं या पौराणिक सन्दर्भविशेष पर आ
हैं अथवा जैन-काव्य-प्रवृत्तियों एवं रासो-काव्य-शैली की मध्यवर्ती कड़ी के रूप में
आकृष्ट करते हैं। प्रथम वर्ग की रचनाओं में **सधारु अग्रवाल** का 'प्रद्युम्नचरित' (१
ब्रजभाषा के अद्यावधि प्राप्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन माना गया है।[1] इसमें चौबीस ती

---

[1] देखिए 'सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य', डॉ० शिवप्रसाद सिंह. पृष्ठ १४३

वन्दना के पश्चात् प्रद्युम्न की कथा का वर्णन किया गया है। नारद का सत्यभामा पर कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह, प्रद्युम्न का दैत्य द्वारा अपहरण, शिला के नीचे कालसँवर उसकी प्राप्ति, प्रद्युम्न के लिए रुक्मिणी का विलाप, जिनेन्द्र पद्मनाभ के पास नारद गमन, प्रद्युम्न द्वारा कालसँवर के शत्रुओं का विनाश, द्वारका-आगमन, विवाह आदि नाएँ इस काव्य की विषय-वस्तु का निर्माण करती हैं। अन्त में प्रद्युम्न जिनेन्द्र से दीक्षा ता है और कठिन तपस्या करके मोक्ष पाता है। इस प्रकार यह काव्य जैन-कथा-ग्रन्थों की ी में आता है। काव्य-तत्त्व की दृष्टि से इसमें विभिन्न रसों के सरस चित्र मिलते हैं। म्न-वियोग का एक चित्र देखिये :

नित-नित सीजइ विलखी खरी, काहे दुखी विधाता करी।
इकु धाजइ अरु रोवइ वयण, आँसू बहत न थाके नयण।
की मइ पुरिष बिछोही नारि, की दव घाली वणह मझारि।
की मइ लोग तेल घृत हरउँ, पूत सन्ताप कवण गुण परउँ॥

शालिभद्र सूरि कृत 'पंचपाण्डवचरितरास' पाण्डवों की पौराणिक कथा पर आधारित न-काव्य है। इसका प्रणयन ईसा की चौदहवीं शताब्दी के अन्त में किया गया था। पन्द्रह र्गों में विभाजित इस काव्य में पाण्डवों की कथा को अहिंसा पर आधारित रखा गया है। ा और अहिंसा में से अहिंसा का चयन ही कथा का मुख्य लक्ष्य है। इस काव्य की भाषा भ्रंश से प्रभावित राजस्थानी हिन्दी है। चौदहवीं शताब्दी के अन्त में किसी अज्ञात जैन वि ने 'गौतमरास' की रचना की थी। इसके रचयिता का नाम कुछ विद्वानों ने भूल से वन्त या विजयभद्र समझ लिया, किन्तु श्री अगरचन्द नाहटा इस मत से सहमत नहीं हैं। तीर्थंकर महावीर के प्रथम गणधर गौतम इस काव्य के चरितनायक हैं। घटना और भाव समन्वय से युक्त यह एक सरस खण्डकाव्य है, जिसकी भाषा अपभ्रंश-प्रभावित राजस्थानी न्दी है।

जैन-काव्य-परम्परा से भिन्न रचनाओं में जाखू मणियार कृत 'हरिचन्द पुराण' (१३९६) भाषा की महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है। इसमें राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा का चित्रण घटनाओं का नियोजन प्रबन्धकाव्य की शैली में किया गया है तथा समस्त वर्णनों में नों की मार्मिकता मिलती है। इसकी भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव की एक हल्की झलक है। कथ्य, अभिव्यंजना तथा भाव-गाम्भीर्य की दृष्टि से यह काव्य भक्तिकाल में रचित भाषा-काव्य का आरम्भिक निदर्शन कराता है।

चौदहवीं शताब्दी के अन्त में देवप्रभ द्वारा रचित 'कुमारपाल रासो' भिन्न शैली रचना है। यह कृति जैन-रास-काव्यों तथा वीर-प्रशस्तिपरक 'रासो' काव्यों की प्रवृत्तियों समन्वय प्रस्तुत करती है। इसमें राजा कुमारपाल की वीरता, उदारता, अहिंसा-प्रेम नैतिकता-प्रचार का वर्णन है। एक ओर तो यह काव्य जैन धर्म की प्रवृत्तियों का काव्य सरस भाव-भूमि पर अप्रत्यक्ष रूप में प्रसार करता है और दूसरी ओर राजा के क्तित्व तथा लोकमंगलकारी प्रभाव को भी व्यापक बनाता है। समस्त रचना में मिकता कहीं पर भी उभरकर काव्य की सरसता में बाधक नहीं बनी। कुमारपाल के न का तपोवनानुकूल प्रभाव काव्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसकी भाषा सरल राजनी हिन्दी है। इसी प्रकार की एक रचना 'कान्हड़ दे प्रबन्ध' है, जिसे पद्मनाभ ने ईसा की हवीं शताब्दी के आरम्भ में लिखा था। इसकी रचना-पद्धति रासो-काव्यों की शैली से है। इसमें महाराजा कान्हड दे का चरित वर्णित है। कवि ने आलंकारिक शैली में घट-

नाओं का सुनियोजित चित्रण किया है। सभी वर्णनों में काव्य-कला का पूर्ण वि
जाता है। पद्य के साथ इसमें गद्य का प्रयोग भी मिलता है।

नीतिकाव्य

आदिकाल से ही भारतीय चिन्ताधारा ऐहिकता की अपेक्षा पारमार्थिक
महत्त्व देती रही है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, अहंकार आदि से बचने तथा
दान, दया और ईश्वर-चिन्तन की ओर उन्मुख होने की प्रवृत्ति प्राचीनतम ग्रन्थ से
होने लगती है। समस्त वेदों, पुराणों, रामायण, महाभारत आदि में नीति के तथ्य और
प्राप्त होते हैं। संस्कृत-काव्य और नाटकों में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र नीति-पदावली मि
संस्कृत में अनेक नीति-ग्रन्थ भी मिलते हैं, जैसे—चाणक्य-नीति, विदुर-नीति तथा
नीतिशतक। अनेक सुभाषितों के जो संग्रह मिलते हैं, उनमें नीति-वचनावली का
मिलता है। पालि-साहित्य में नीतिकाव्य का बाहुल्य है, क्योंकि उसमें उपदेश
प्राकृत और अपभ्रंश में बौद्ध सिद्धों तथा जैन सन्तों की रचनाओं में परलोक, मोक्ष,
साक्षात्कार आदि पर बल देने के साथ ही त्याग, संयम, दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा,
आदि को विशेष महत्त्व दिया गया है। नाथपन्थियों और वज्रयानी सिद्धों की रचना
उपदेशों की ही प्राथमिकता है। तात्पर्य यह कि नीतिकाव्य की एक पुष्ट परम्परा
विद्यमान थी, अतः भक्तिकाल में इसका विकसित होना स्वाभाविक था।

भक्तिकाल में नीतिकाव्य के तीन रूप प्राप्त होते हैं—(अ) कबीर, नानक,
सन्तों की रचनाओं में नीति सम्बन्धी पद धर्मोपदेशों के अंग-रूप में कहे गये थे, (आ)
चरितमानस', 'पद्मावत' प्रभृति प्रबन्धकाव्यों में यत्र-तत्र नीति सम्बन्धी उपदेश
आनुषंगिक रूप में मिलते हैं, (इ) कुछ कवि ऐसे भी हैं जिन्होंने नीतिकाव्य की
की है। यहाँ इनमें से तृतीय वर्ग के कवियों का विवेचन अभीष्ट है। इस वर्ग के प्रमु
जैन मतावलम्बी हैं; यद्यपि छीहल, रत्नावली, जमाल प्रभृति अनेक अन्य कवियों ने
काव्य की रचना की है। इस धारा की प्रथम उल्लेखनीय रचना जैन कवि पद्मनाभ
बावनी' (१४८६) है, जिसका नामकरण कवि ने अपने आश्रयदाता डूंगर सेठ
पर किया है। इसमें ५३ छप्पय हैं जिनमें दया, दान, कर्म-फल, नम्रता आदि में ही
साफल्य माना गया है तथा सप्त व्यसन (जुआ, मांस-भक्षण, सुरापान, वेश्यागमन,
चोरी, परनारी-रमण) से बचने का परामर्श दिया गया है। जैन कवि ठाकुर सी (
काल=१५२३-१५२६) की रचनाओं—कृपण-चरित्र और पंचेन्द्रीवेलि—की हस्त
प्रतियाँ बम्बई के दिगम्बर मन्दिर और जयपुर के वधीचन्द मन्दिर में सुरक्षित हैं।
चरित्र' में एक कृपण सेठ और उसकी उदार पत्नी की कथा है तथा 'पंचेन्द्रीवेलि' में
न्द्रियग्रह सम्बन्धी छप्पय हैं जिनमें गज, मीन, भ्रमर, पतंग, मृग आदि के माध्यम से स्प
रूप, गन्ध आदि से बचने के सुझाव हैं। कवित्व की दृष्टि से ये दोनों कृतियाँ साधार
की हैं।

अग्रवाल कुल में समुत्पन्न छीहल कवि की 'छीहल बावनी' (१५२७) भक्ति
नीतिकाव्यों में विशेष प्रसिद्ध है। इसमें ५३ छप्पय हैं, जिनमें अनेक व्यावहारिक वि
सुन्दर कथन मिलते हैं। वैसे, इन्होंने 'पंच सहेली की बात', 'पंथी गीत' आदि कुछ अन्य
की भी रचना की है। इनके समकालीनों में गोस्वामी तुलसीदास की पत्नी रत्नावली
उद्बोधनात्मक नीतिकाव्य की रचना की है। इन्हीं के प्रभाव से गोस्वामी तुलसीदास

र चले गये थे । 'रत्नावली-दोहा-संग्रह' में १११ दोहे हैं, जिनमें विविध विषयों का प्रति- न हुआ है । एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

घी को घट है कामिनी, पुरुष तपत अंगार ।
रत्नावलि घी अगिन को, उचित न संग विचार ॥

सोलहवीं शती के मध्य में विद्यमान कवि **देवीदास** कृत 'राजनीति के कवित्त' की लिखित प्रति नागरीप्रचारिणी सभा, काशी में सुरक्षित है । ये शेखावटी के राव लूणकरण मन्त्री थे और जाति के वैश्य थे । इनके कवित्तों की भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है । विषय-प्रति- न की दृष्टि से भी इनके कवित्त सुन्दर बन पड़े हैं—उनमें राजनीति के अतिरिक्त अन्य मान्य विषयों का भी प्रभावशाली निरूपण मिलता है । इनके समकालिक कवि **जमाल** की ना भी राजस्थान के लोकप्रिय नीतिकारों में की जाती है । १५७० ई० के लगभग रचित माल दोहावली' के कुछ दोहे पठनीय हैं :

रंग ज चोल मजीठ का, संत बचन प्रतिपाल ।
पाहण रेख रु करम गत, ए किमि मिटे जमाल ॥
पूनम चांद कुसुंभ रंग, नदी-तीर द्रुम-डाल ।
रेत भीत भुस लीपणो, ए थिर नहीं जमाल ॥

बीकानेर-नरेश महाराज राजसिंह के राजकवि **उदैराज** की 'उदैराज को दूहा' (१६०३) र 'गुणबावनी' शीर्षक रचनाएँ बीकानेर के अभय जैन ग्रन्थालय में सुरक्षित हैं । इनकी भाषा जस्थानी है तथा इन्होंने नीति सम्बन्धी विविध विषयों का अनूठा कथन किया है । इनके समायिक कवि बांन का 'कलिचरित्र' अनूप पुस्तकालय, बीकानेर में हस्तलिखित रूप में उप- ध है । ये मथुरा-निवासी रमई पाठक के पुत्र थे और महाराज महासिंह के यहाँ प्रतिष्ठित । इन्होंने अपने ग्रन्थ में जहाँगीर की प्रशंसा भी की है । 'कलिचरित्र' में ४५ पद्य हैं, जिनमें वाहपूर्ण ब्रजभाषा तथा हास्यरसपूर्ण व्यंग्यात्मक शैली में कलिकाल की विडम्बनाओं का न किया गया है । इस अवधि के अन्य कवियों में दादूदयाल के शिष्य **वाजिद** भी प्रसिद्ध तिकार हुए हैं । एक बार ये शिकार के लिए गये थे । वहीं पर पर हिरणी का शिकार करते ए इनमें विराग-भाव जगा और ये साधु हो गये । इनकी पूरी 'वाणी' प्राप्त नहीं होती, केवल ४ ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है, जिनमें प्रमुख हैं—ग्रन्थ गुण उत्पत्तिनामा, ग्रन्थ प्रेमनामा, थ परजनामा, साखी वाजिद । इन्होंने दोहा, चौपाई और अरिल्ल छन्दों का प्रयोग किया तथा इनकी रचनाओं में दया, दान, साधु-संगति, इन्द्रिह-निग्रह, मनोयोग आदि विषयों की धानता मिलती है ।

भक्तिकालीन नीतिकवियों में जैन कवि **बनारसीदास** का मुख्य स्थान है । इनका जन्म ५८६ ई० में जौनपुर में हुआ था । ये सम्राट् अंकवर के प्रशंसक थे, जहाँगीर के दरबार में गये थे और शाहजहाँ के दरबार में तो इन्हें विशेष मान प्राप्त था । 'नवरस पद्यावलि', मयसार नाटक', 'वनारसीविलास', 'अर्द्ध कथानक', 'भाषा सूक्तिमुक्तावली' आदि इनकी सिद्ध रचनाएँ हैं । इनमें कंचन और कामिनी के त्याग तथा सत्य, क्षमा, शील, अपरिग्रह, श्रता, निर्लोभ, अहिंसा आदि गुणों के निर्वाह पर बल दिया गया है । नीतिकाव्य के साथ ही न्होंने अध्यात्मपरक काव्य की भी रचना की है । ये समस्त प्राणियों में एक ही परमेश्वर का स मानते थे, अतः हिन्दू-मुसलमान, हिन्दू-जैन, ब्राह्मण-शूद्र आदि में भेद इन्हें स्वीकार हीं था । इनकी रचनाओं के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

माया छाया एक है, घटै बढ़ै छिन माँहिं ।
इनकी संगत जे लगें, तिनहिं कहीं सुख नाहिं ।।
एक रूप हिन्दू तुरुक, दूजी दशा न कोय।
मन की द्विविधा मान कर, भए एक सौं दोय ।।

जैन नीतिकारों में राजसमुद्र और कुशलबीर भी उल्लेखनीय हैं । राजसमुद्र १५९० ई० में बीकानेर में हुआ था । इनका बचपन का नाम खेतसी था, १५९९ जिनसिंह सूरि से दीक्षा लेने पर इनका नाम राजसमुद्र हो गया । इनकी रचनाओं विषय नीति है और भाषा राजस्थानी है । 'शालिभद्र चौपाई', 'गजसुकमाल चौपाई', त्तर रत्नमाला', 'कर्मबत्तीसी', 'शीलबत्तीसी' और 'बालावबोध' इनकी प्रमुख रचन कुशलबीर सोजत नगर के निवासी थे । ये कल्याणलाभ के शिष्य थे और इनका रच १६३७ से १६७२ ई० है । इनके नीति-ग्रन्थ हैं—भोज चौपाई, सीलवती रास, कर्म वर्णन संपुट तथा उद्दिम-कर्म-संवाद । इनकी भाषा राजस्थानी है और शैली उपदेशात्

अकबरी दरबार का काव्य

सम्राट् अकबर को हिन्दी भाषा से अनुराग था। राजभाषा यद्यपि फ़ारसी थी, नित्य के व्यवहार में हिन्दी ही प्रयुक्त होती थी । वे न केवल हिन्दी-कवियों का अपने में सम्मान करते थे, वरन् स्वयं भी हिन्दी और फ़ारसी में काव्य-रचना करते थे। दरबार में जिन हिन्दी-कवियों को विशेष सम्मान प्राप्त था, वे हैं—चतुर्भुजदास, आ पृथ्वीराज, मनोहर, टोडरमल, नरहरि, बीरबल 'ब्रह्म', गंग, तानसेन और रहीम । चतुर्भु विद्वान् और विद्यानुरागी थे तथा बीरबल के माध्यम से अकबरी दरबार में सम्मानित बाद में ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और जीवनपर्यन्त वृन्दावन में रहे। यश' (१५०३) इनकी कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी प्रसिद्ध रचना है । राजा आसकरण नरव राजा भीमसिंह के पुत्र थे। 'आईने अकबरी' में इनका उल्लेख हुआ है। कालान्त गुसाईं विट्ठलनाथ जी के सेवक हो गये और सेवा-विधि सीखकर कृष्ण-कीर्त में निरत रहने लगे। 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' और 'कीर्तन-संग्रह' में इन मिलते हैं । कवि पृथ्वीराज बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका जी के वंशज थे। जन्म १५४९ ई० में हुआ था । ये दर्शन, ज्योतिष और संगीत के ज्ञाता तथा अच्छे कवि 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री पृथीराज कथी', 'श्यामलता', 'दशरथ रावउत', 'वसुदेव रावउ 'गंगालहरी' के अतिरिक्त इनके स्फुट गीत भी उपलब्ध हैं । 'वेलि क्रिसन रुक्मिणी री' शृंगार का अनुपम ग्रन्थ है । इसकी भाषा सरस और अलंकृत डिंगल है। कवि पृथ्वीरा वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। इनके हृदय में भगवान् कृष्ण और ब्रजभूमि के प्रति आस्था थी । राजभक्ति, देशभक्ति और ईश्वरभक्ति तीनों इनमें विद्यमान थीं। ये कृष्ण तो थे ही, अकबर के प्रति इनमें राजभक्ति थी और देशभक्ति के कारण ये महाराणा सिंह के प्रति अपार श्रद्धा-भाव रखते थे। अकबर के दरबारी कवि होते हुए भी इन्होंने राणा प्रताप का यशोगान किया है। यथा :

अकबर समद अथाह, सूरापण भरियो सजल ।
मेवाड़ो तिण मांह, पोयण फूल प्रतापसी ।।
बाही राण प्रतापसी, बगतर में बच्छीह ।
जावण भीतर जाल में मुँह काढ्यो मच्छीह ।।

मनोहर कवि फ़ारसी, संस्कृत और हिन्दी में काव्य-रचना करते थे। मिश्रबन्धुओं ने का रचना-काल १५६३ ई० माना है। ये युवावस्था में अकबरी दरबार में थे और वृद्धा- ा में जहाँगीरी दरबार में। अकबर ने इन्हें 'राय' की उपाधि दी थी। इनके द्वारा रचित प्रश्नोत्तरी' ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। इसमें नीति और शृंगार के दोहे थे। इनके काव्य- ों की प्रशंसा शिवसिंह सेंगर, मिश्रबन्धु तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने की है। फ़ारसी के होने के कारण इनकी भाषा और काव्य-कला में फ़ारसी का पुट हुआ करता था। अक- दरबार में भूमिकर-विभाग के मन्त्री **राजा टोडरमल** भी काव्यानुरागी थे। नीति सम्बन्धी देशों के अतिरिक्त इन्होंने कुछ छन्दों में आत्माभिव्यक्ति भी की है। हुंडी, व्यापारी, आढ़- ा, साहूकार, सराफ़ा और बहीखाता-जैसे विषयों पर भी इन्होंने दोहे लिखे थे।

महापात्र **नरहरि** (१५०५-१६०७) अकबर के राजकवि थे। ये संस्कृत, फ़ारसी र हिन्दी के विद्वान् थे। 'मिश्रबन्धु-विनोद' में इनके तीन ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है— मणी मंगल, छप्पय-नीति और कवित्त-संग्रह। वर्ण्य विषय की दृष्टि से इन्होंने भक्ति, नीति र राजप्रशस्तिपरक रचनाएँ लिखी हैं। इन्होंने वैष्णव और शैव सम्प्रदायों के भेद-भाव से त रहकर दोनों के प्रति समान श्रद्धा रखी है। साथ ही इन्होंने कृष्णभक्ति सम्बन्धी पद भी े हैं। नीति सम्बन्धी तथ्यों का प्रतिपादन भी इनकी उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। हुमायूँ, अक- , रीवाँ-नरेश वीरभान, उनके पुत्र रामचन्द्र, शेरशाह और जगन्नाथपुरी के राजा मुकुन्ददेव प्रशस्ति में भी इन्होंने कवित्त-रचना की है। इन कविताओं में ऐतिहासिक तथ्यों का घाटन तो है, किन्तु अन्य गुणों की दृष्टि से ये साधारण हैं।

बीरबल 'ब्रह्म' (१५२८-१५८३) सम्राट् अकबर के दरबार में विनोदी और कवि के में समादृत थे। इनका मूल नाम महेशदास भट्ट था और ये तिकवाँपुर, ज़िला कानपुर में न्न हुए थे। 'राजा बीरबल' उपाधि इन्हें अकबर से प्राप्त हुई थी। अकबरी दरबार में े से पूर्व ये कालपी, कालिंजर और रीवाँ के राजाओं के यहाँ रह चुके थे। अकबर ने ़ों नगरकोट (ज़िला काँगड़ा) की तहसील दी थी और न्यायाधीश भी बनाया था। कवि- ओं से अधिक इनके चुटकुले लोकप्रिय हैं, किन्तु ये इनके द्वारा रचित नहीं हैं। इनके लग- दो सौ स्फुट पद्य प्राप्त होते हैं जिनमें शृंगारप्रधान कृष्ण-लीलाओं, भक्ति और नीति का वेश है। इनकी भाषा सरस और अनुप्रासयुक्त है।

अकबरी दरबार के कवियों में **गंग** (१५३८-१६१७) का विशेष सम्मान था। इनका नाम गंगाप्रसाद था। इनके छन्दों में जिस कोटि का काव्य-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य और षा-सौष्ठव मिलता है, उसके फलस्वरूप इनके विषय में यह कथन प्रसिद्ध है : 'तुलसी गंग ौ भये सुकविन के सरदार।" ये बीरबल के बालसखा थे। आगे चलकर ये मानसिंह, डरमल और अब्दुल रहीम खानखाना के सम्पर्क में आये। अकबर के दरबार में कविगण स्यापूर्ति करते थे। गंग की रचनाएँ विशेष सम्मानित होती थीं। कहा जाता है कि रहीम इनके एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये पारितोषिक में दिये थे। गंग स्वयं भी दानी थे। वस वृद्धावस्था में जहाँगीर के शासन-काल में इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय हो गयी। दिनों शासन नूरजहाँ के हाथ में था। गंग ने शहज़ादा खुर्रम (भावी शाहजहाँ) की ंसा में छन्द लिखा। यह जानकर नूरजहाँ इनकी जानी दुश्मन बन गयी और अवसर पाकर ने इन्हें हाथी से कुचलवा डाला। मरने से पूर्व गंग ने यह दोहा कहा :

कबहुँ न भड़आ रन चढ़े, कबहुँ न बाजी बंब।
सरस सभाहि प्रनाम करि, विदा होत कवि गंग॥

गंग की तीन रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—गंग पदावली, गंग पच्चीसी और गंग ये कृतियाँ सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हैं। अभी तक इनके प्रायः ४०० छन्द उप जो 'गंग-कबित्त' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं। इनमें मुख्य रूप से शृंगार और भक्ति गौण रूप से नीति और राज-प्रशस्ति को स्थान प्राप्त हुआ है।

अकबरी दरबार के कवियों में संगीतज्ञ **तानसेन** (१५३१-१५८३) विशेष हैं। इनका जन्म ग्वालियर-निवासी मकरन्द पाण्डे के यहाँ हुआ था और इनका नाम 'तन्नू' था। पहले ये रीवाँ-नरेश रामचन्द्र के दरबार में थे। मुसलमान होने पर सूफ़ी ग़ौस मुहम्मद के शिष्य हुए। किंवदन्ती के अनुसार इन्होंने किसी शहज़ादी के कारण धर्म-परिवर्तन किया था। मुसलमान होने के उपरान्त भी ये गोसाइं विट्ठलनाथ, हरिदास और गोविन्दस्वामी के प्रभाव में रहकर वैष्णव भक्त बने रहे। 'मिश्रबन्धु- अनुसार इन्होंने 'संगीत सार', 'रागमाला' और 'गणेशस्तोत्र' की रचना की थी। पद भी प्राप्त हैं। आरम्भ में इन्होंने रीवाँ-नरेश रामचन्द्र, अकबर और मानसिंह का किया था, पर इनका परवर्ती काव्य भक्त-हृदय की अनुभूतियों से सम्पन्न है। व्यापकता; अल्लाह और मुहम्मद का गुणगान; सरस्वती, गणेश, महादेव और सूर्य तथा मनःप्रबोध इनके प्रमुख वर्ण्य विषय हैं। वल्लभ-सम्प्रदाय के सम्पर्क में आने कृष्णभक्त हो गये। इन्होंने कृष्ण की बाललीला, मुरलीलीला, राधा के रूप-सौन्द विरह आदि का मार्मिक वर्णन किया है। इनकी ब्रजभाषा में फ़ारसी-शब्द भी भाषा आलंकारिक, सरस और संगीतमयी है। तानसेन ध्रुपद शैली के श्रेष्ठ गायक स्वरूप इनके पदों में काव्य और संगीत की गंगा-यमुना का प्रवाह मिलता है।

अकबरी दरबार के कवियों में **रहीम** (१५५६-१६३८) का मूर्द्धन्य स्था बैरम खाँ खानाखाना के पुत्र थे और इनकी माँ हुमायूँ की पत्नी की छोटी बहन थीं। में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण अकबर ने ही इनका पालन-पोषण और अपनी देखरेख में करवाई थी। बड़े होने पर पहले इन्हें पाटन की जागीर दी गयी अजमेर की सूबेदारी और रणथम्भौर का क़िला दिया गया। अकबर ने इन्हें अपने स्थान दिया था। जहाँगीर के शासन-काल में भी इनका सम्मान बना रहा, किन्तु में शहज़ादा खुर्रम का समर्थन करने के कारण इन्हें नूरजहाँ का कोपभाजन बनना अपने दामाद शहज़ादा शहरयार को भावी शासक बनाने का स्वप्न देख रही थीं। उसने से इन्हें क़ैद कर लिया गया। बाद में जहाँगीर ने इन्हें क्षमा कर दिया। फिर भी, इनके के अन्तिम दिन कुशलता के साथ व्यतीत नहीं हुए।

रहीम अरबी, फ़ारसी और संस्कृत के अच्छे ज्ञाता और हिन्दी के सुकवि थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही काव्य-रचना आरम्भ कर दी थी। इनकी रचनाओं में नगरशोभा, बरवै नायिकाभेद और मदनाष्टक प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने रचना की थी, किन्तु सम्प्रति इनके नीति सम्बन्धी प्रायः तीन सौ दोहे ही मिलते हैं अनुमान के अनुसार कदाचित् इन्होंने शृंगार रस के दोहे भी लिखे होंगे, जिनके योग से बनती। जो भी हो, इनके नीति सम्बन्धी दोहे सर्वप्रसिद्ध हैं और उनमें जीवन की अनुभूतियों का मार्मिक चित्रण हुआ है। यथा :

> *जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।*
> *बारे उजियारे लगे, बढ़े अँधेरो होय॥*

> रहिमन अँसुआ नैन ढरि, जिय दुख प्रगट करेइ।
> जाहि निकारो गेह ते, कस न भेद कहि देइ॥

'नगरशोभा' में जौहरिन, रँगरेज़िन, तुरकिन, कैथिन, गूजरी आदि विविध जातियों की यों का चित्रण मिलता है। अकबरी दरबार की श्रृंगारिक भावनाओं और 'मीना बाज़ार' झलक इस ग्रन्थ में सुलभ है। 'बरवै नायिकाभेद' में काव्यशास्त्र में प्राप्त अनेक प्रकार नायिकाओं का वर्णन हुआ है। इसनें नायिका के लक्षण नहीं दिये गये, किन्तु उदाहरण ने सरस हैं कि पाठक भाव-विभोर हो जाता है। 'मदनाष्टक' में कृष्ण-लीला सम्बन्धी ठ सुन्दर पद हैं, जिनमें गोपियों की प्रेमविह्वलता, मुरली-लीला तथा गोपी-विरह का श्रृंगार-ात्मक वर्णन है। इनका एक ज्योतिष-ग्रन्थ 'खेटकौतुक जातकम्' भी उपलब्ध है। इसकी चना फ़ारसी-मिश्रित संस्कृत भाषा में हुई है और इसमें मनुष्य-जीवन पर ग्रह-नक्षत्रों के भाव का संक्षिप्त चित्रण है।

रीतिकाव्य

भक्तिकाल में, तथा इससे पूर्व भी, यद्यपि हिन्दी-साहित्य गुण और परिमाण की ष्टि से पर्याप्त प्रतिष्ठित हो चुका था तथा इसे विरासत के रूप में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय न्तों की अक्षुण्ण परम्परा भी प्राप्त थी, तथापि इसमें काव्यांग-निरूपण की प्रवृत्ति का आवि-र्भाव जिस कारण से नहीं हो सका वह यही था कि तत्कालीन कवियों को इस दिशा में या सोचने का अवकाश नहीं मिला या फिर उन्होंने प्रयत्न ही नहीं किया। आदिकाल के रण कवियों को यदि युद्धों से अशान्त वातावरण में काव्यशास्त्र के लिए अपेक्षित एकान्त-चिन्तन का अवसर नहीं मिला, तो सन्त और सूफ़ी कवि एतद्विषयक ज्ञान की तुलना में ध्यात्मिक ज्ञान को कहीं अधिक श्रेष्ठ एवं श्रेयस्कर मानकर आत्मचिन्तन में ही जान-बूझ-कर उलझे रहे। इन लोगों के लिए कविता अपनी बात को कहने का साधनमात्र रही—ता की वह सिद्धि नहीं रही, जिसमें अनुभूति के समान अभिव्यक्ति के विभिन्न उपकरणों सौन्दर्य भी महत्त्व रखता है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने पुष्प या पुढ्य कवि द्वारा ७१३ ई० में रचित 'अंलकाररत्नाकर' नामक अलंकार-विवेचन सम्बन्धी जिस हिन्दी-ग्रन्थ का उल्लेख र हिन्दी भाषा के बहुत पहले आविर्भूत होने, आठवीं शताब्दी तक उसके स्वरूप और साहित्य के प्रौढ़ और प्रतिष्ठित हो जाने, उसमें रीति-निरूपण की परम्परा का आरम्भ कई शताब्दी पूर्व होने आदि जिन सम्भावनाओं के लिए स्थान छोड़ा है, उनसे उसके अस्तित्व को अस्वीकार करना अधिक संगत प्रतीत होता है; कारण एक तो वह आज किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं, दूसरे इस समय के पर्याप्त बाद तक हिन्दी इतने प्रौढ़ रूप को प्राप्त नहीं हो सकी थी कि उसमें इस प्रकार का प्रयत्न सम्भव हो पाता।

वस्तुतः हिन्दी-रीति-निरूपण-परम्परा का आरम्भ कृपाराम की 'हिततरंगिनी' से ही माना जाना चाहिए, क्योंकि इसकी रचना के समय तक हिन्दी-भाषा और उसके साहित्य में इस विषय के लिए अपेक्षित प्रौढ़ता ही नहीं आ गयी थी, उसके उपयुक्त वातावरण भी उप-स्थित हो गया था। इस समय तक वैष्णव धर्म के व्यापक प्रभाव और प्रसार के परिणाम-स्वरूप निर्गुणब्रह्मवादियों द्वारा निरूपित जटिल दार्शनिक सिद्धान्तों तथा कठोर साधना की अपेक्षा भक्ति की सरल पद्धति के प्रति लोग अधिक आकृष्ट होने लगे थे और इसे समझने-समझाने का प्रयत्न बराबर हो रहा था। यही कारण है कि वैष्णव भक्त रूपगोस्वामी ने

भक्ति के स्वरूप और माहात्म्य को स्थापित करने के लिए संस्कृत में 'भक्तिरसामृतसि मौलिक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की तथा माधुर्य भक्ति के अंगरूप शृंगार रस और नायक- भेद समेत उसके विभिन्न पक्षों की व्याख्या के निमित्त 'उज्ज्वलनीलमणि' नामक ग्रन्थ की रचना की। बाद में जब लोकभाषा—ब्रजभाषा—के माध्यम से इस समझाये जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी तो कृपाराम, सूर और नन्द भक्तों ने प्रयत्न आरम्भ कर दिया। हमारी धारणा है कि कृपाराम ने 'हिततरंगिनी' की मुख्य रूप से भक्तों द्वारा प्रयुक्त स्वकीया-परकीया-भाव को स्पष्ट करने के उद्देश्य से होगी, यही कारण है कि उन्होंने इसमें सामान्या का वर्णन बहुत ही चलते ढंग से इसके भेदों का यथास्थान वर्णन करते हुए भी मनोयोग प्रदर्शित नहीं किया।

काव्यशास्त्र के साथ इस प्रकार से सम्पर्क होने के परिणामस्वरूप ये लोग इतर काव्यांगों से भी परिचित हुए और अब तक मात्र भक्ति का माध्यम समझी कविता का इन्हें साहित्यिक महत्त्व भी ज्ञात हुआ। फलतः कविता के स्वरूपविधायक पक्षों के प्रति सचेष्ट होकर रचना करने का प्रयत्न ही नहीं हुआ, उनके विषय में होने लगी। गोस्वामी तुलसीदास द्वारा 'मानस' के प्रथम सोपान में विभिन्न विनम्रता-प्रदर्शन के व्याज से यह सहज ही प्रकट कर दिया गया है कि काव्यशास्त्र का केवल ज्ञान ही नहीं था, उसके विभिन्न पक्षों के प्रति उनका निश्चित दृष्टिकोण भी सूरदास द्वारा 'साहित्यलहरी' में शृंगार रस की सामग्री के अतिरिक्त क्रमशः विभिन्न का निर्वाह भी इसी ओर इंगित करता है।

इस काल के अन्तिम चरण में कविता का प्रवेश राजदरबारों में भी दृष्टिगत है, जहाँ इसे साहित्य से ऊपर उठकर कला के रूप में ग्रहण किया गया। अतएव अब का कर्म कविता करने की अपेक्षा आश्रयदाताओं और उनके सामन्तों आदि के लिए व्यक्ति के सौन्दर्य-वर्द्धक उपकरणों का ज्ञान उपलब्ध कराना अधिक आवश्यक हो गया; से कि वे लोग दरबारों में होनेवाली काव्य-गोष्ठियों में पढ़ी जानेवाली कविताओं के दोषों की चर्चा कर अपने काव्यकला-ज्ञान का, अथवा कतिपय छन्दों की रचना कर सहृदयता का, परिचय दे सकें।

इस प्रकार रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति यद्यपि भक्ति के प्रखर प्रवाह की तुलना अत्यन्त क्षीण रही—भक्ति की पूरक होकर ही आविर्भूत हुई और उसके सहारे से ही बढ़ती रही, तथापि शनैः-शनैः राजदरबारों में प्रवेश करते ही यह भक्ति के अवलम्बन को स्वतन्त्र प्रवृत्ति का रूप धारण कर उत्तरोत्तर पुष्ट होती गयी। रीतिकाल में इसी रूप दृष्टिगत होता है। यहाँ हम भक्तिकाल के कतिपय कवियों के रीति-निरूपण- चर्चा करते हैं, जिससे सहज ही इस प्रवृत्ति के विकास का आभास मिल सकेगा।

कृपाराम : हिन्दी-रीति-परम्परा के आदि आचार्यों में कृपाराम का नाम सम्मान साथ लिया जाता है। इनके विषय में, सिवाय इसके कि इन्होंने १५४१ ई० में 'हिततरं नामक ग्रन्थ लिखा था, और कोई भी तथ्य उपलब्ध नहीं है। कतिपय विद्वानों का है कि ये ओड़छा में रहनेवाले पंजाबी वैष्णव ब्राह्मण रहे होंगे, किन्तु इसकी पुष्टि के सबल प्रमाणों की अपेक्षा है। 'हिततरंगिनी' कुल मिलाकर ४०० छन्दों का ग्रन्थ है तथा तरंगों में विभक्त है। प्रथम तरंग में शृंगार के आलम्बन नायिका और नायक के भेदोपभेदों का उल्लेखमात्र है। द्वितीय तरंग में सखी और उसके कर्मों तथा दूती, उत्तमादि भेदों एवं कर्मों के उपरान्त स्वकीया के सामान्य भेदों का लक्षण-उदाहरण

निरूपण है जबकि तृतीय और चतुर्थ तरंगों में क्रमशः परकीया और सामान्या के भेदों का वर्णन किया गया है। अन्तिम तरंग में व्यवहार के आधार पर उत्तमादि का तथा मान और गर्व के आधार पर क्रमशः धीरादि और रूपगर्वितादि भेदों के उपरान्त अवस्थानुसार दश नायिकाओं का वर्णन किया गया है। प्रथम तरंग में पति, उपपति और वैशिक नामक तीनों भेदों का उल्लेख तो हुआ है, किन्तु नायिकाभेद के समान यहाँ एतद्विषयक लक्षण-उदाहरण देने का प्रयत्न नहीं किया गया। इसी प्रकार आरम्भ में ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा शृंगार-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ प्रस्तुत करने की रही है, किन्तु आलम्बन और उद्दीपन के संक्षिप्त विवेचन के अतिरिक्त इस रस के इतर अंगों तथा भेदों की चर्चा तक नहीं की गयी। अतएव कहा जा सकता है कि यह ग्रन्थ मूलतः नायिकाभेद-विवेचन के उद्देश्य से ही लिखा गया है और नायक-भेद, मान, मान-मोचन-उपायों, कामदशाओं तथा सखी और दूती के भेदों एवं उनके कर्मों का उल्लेख अथवा वर्णन इस विषय से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध होने के कारण ही कर दिया गया है। किन्तु, संक्षेप के आग्रह के रहते हुए भी कृपाराम का विवेचन पर्याप्त व्यवस्थित, सुबोध एवं सरस है। विवेचन का आधार, स्थान-स्थान पर दिये गये भरत के साक्ष्यों से, यद्यपि 'नाट्यशास्त्र' प्रतीत होता है; तथापि भानुदत्त की 'रसमंजरी' का प्रभाव भी इस पर कम स्पष्ट नहीं है। विवेचन-व्यवस्था ग्रन्थकार की अपनी है। इतना ही नहीं, मुग्धा के ललिता, वयःसन्धि और उदितयौवना तथा सामान्या के मुग्धा और मध्या नामक नवीन भेदों के अतिरिक्त अवस्थानुसार नायिकाओं में स्वाधीनपतिका की—तथा गर्विता के नवीन भेद सरलोक्तिगर्विता की—उद्भावना सर्वथा मौलिक है। लक्षण और उदाहरण दोहा आदि छोटे छन्दों में होते हुए भी इतने सुगठित हैं कि विषय सहज ही स्पष्ट होता चला जाता है। रीति-निरूपण के समान ही कृपाराम को कविकर्म में भी अत्यन्त सफल कहा जा सकता है। विभिन्न नायिकाओं सम्बन्धी जो छन्द इसमें दिये गये हैं, उनमें अधिकांश इतने कवित्वपूर्ण हैं कि परवर्ती कवि भी उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहे। इनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण देखिए :

अति प्रवीन वह सुन्दरी, मोहन को हित आँकि।
सबकी दीठि बचाइके, गई झरोखनि झाँकि॥

सूरदास : कृपाराम के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण रीतिकवि सूरदास कहे जा सकते हैं। इन्होंने कृपाराम अथवा अपने परवर्तियों के समान लक्षणों की रचना न कर सीधे लक्ष्य-पदों की रचना द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से यह प्रमाणित कर दिया है कि इस युग में भी रीतिकाल के समान रीतिबद्ध काव्य की रचना हुई। इनके 'सूरसागर' के अनेक पद जहाँ नायिकाभेद और शृंगार रस की सामग्री के शास्त्रीय परिवेश में लिखे हुए प्रतीत होते हैं, वहाँ इनकी 'साहित्यलहरी' के पद इन विषयों के अतिरिक्त विविध अलंकारों के उदाहरणों के रूप में प्रत्यक्ष रूप से लिखे हुए कहे जा सकते हैं। रस-सामग्री और अलंकार के साथ-साथ निरूपण की शैली का सर्वप्रथम प्रयोग इसी ग्रन्थ में हुआ है—रीतिकाल में याक़ूब खाँ और राय शिवप्रसाद ने अपने 'रसभूषण' नामक ग्रन्थों की इस प्रकार की संक्षेप शैली के लिए इसी से संकेत ग्रहण किया होगा। अन्तर केवल इतना ही है कि इनमें जहाँ विवेच्य रस-सामग्री और अलंकार के लक्षण भी लक्षणपरक छन्दों में एकसाथ देकर तथा कठिन स्थलों की गद्य में व्याख्या करके विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है, वहाँ इसमें पद के अन्तिम चरण में उनके नाम-निर्देश के द्वारा अपने कर्म की इतिश्री समझ ली गयी है। वैसे, इतना अवश्य है कि लक्षणों के न होते हुए भी निर्दिष्ट रसांग और अलंकारविशेष का इसमें अन्वेषण किया जा सकता है। लक्षणों के न होने के कारण यह पता लगाना कठिन है कि सूर पर किसका

प्रभाव रहा है, पर अलंकारों के विवेचन-क्रम को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अप्पय के 'कुवलयानन्द' में गृहीत एतद्विषयक क्रम को ही इसका आधार बनाया गया है। की दृष्टि से यदि इस ग्रन्थ की परीक्षा की जाए, तो कहना होगा कि दृष्टकूट-शैली का होने के कारण यह चित्रकाव्य की कोटि की रचना है। किन्तु, संस्कृत की तत्सम शब्दाव प्रयोग करते हुए भी कवि ने ब्रजभाषा के सहज माधुर्य तथा शृंगार और भक्ति का सफलता के साथ सहज निर्वाह किया है, वह निश्चय ही इसके रचयिता की प्रतिभा और पर उसके सहज अधिकार का परिचायक है।

नन्ददास : हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत नन्ददास यद्यपि भक्त कवि के रूप में ही हैं, तथापि इस काल में रीति-निरूपण की जो धारा कृपाराम से आरम्भ हुई थी उसको बढ़ानेवालों में इनका महत्त्व भी असन्दिग्ध है। रीति-निरूपण सम्बन्धी इनके एकमात्र 'रसमंजरी' की रचना १५५० ई० के आसपास हुई थी। इसमें दोहा-चौपाई की नायक-नायिकाभेद तथा भाव, हाव, हेला और रतिभाव का परिचय दिया गया है। भा की 'रसमंजरी' के आधार पर इसमें स्वकीया और परकीया के भेदोपभेदों तथा आवश्य नुसार नायिकाओं के नौ भेदों के साथ धृष्ट, शठ, दक्षिण और अनुकूल नामक नायक के भेदों एवं हावादिक के स्वरूप को समझाया गया है—सामान्या का मात्र उल्लेख किया है तथा शेष विषयों को छोड़ दिया गया है; अतएव विवेचन-क्षेत्र और मौलिकता की से इसका कोई महत्त्व नहीं है। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि लक्षण-उदाह का चक्कर छोड़कर विभिन्न नायिकाओं के गुण, स्वभाव, चेष्टा आदि के द्वारा उनके को सहज बोधगम्य बना दिया गया है। ग्रन्थोद्देश्य के रूप में ग्रन्थकार का यह कथन मित्र की जिज्ञासा शान्त करने के लिए मैं नायिकाभेद का वर्णन कर रहा हूँ, इस ओर ही संकेत करता है कि इस काल के अन्तर्गत भक्ति के सिद्धान्तों के निरूपण के प्रसंग में के स्वरूप को स्पष्ट करने के उद्देश्य से नायिकाभेद की जो चर्चा वैष्णव भक्तों के बीच सामान्यतः हुआ करती थी, उसी के परिणामस्वरूप भक्त कवियों का सम्पर्क काव्यशास्त्र साथ बढ़ा और क्रमशः इतर काव्यांगों के विषय में उनका ज्ञानवर्द्धन ही नहीं हुआ, आगे कर कुछ कवियों ने तत्सम्बन्धी ग्रन्थों का सृजन भी किया।

केशवदास : भक्तिकाल के इतर रीति-निरूपकों की तुलना में व्यापक विवेचन को ग्रहण करते हुए प्रखर पाण्डित्य, आचार्यत्व के गाम्भीर्य, स्वतन्त्र चिन्तन एवं असाधा प्रतिभा द्वारा परवर्ती कवियों को प्रभावित करने तथा उनसे उचित सम्मान प्राप्त करने कारण आचार्य केशव 'रीतिकाल का प्रवर्तक' कहलाने के सहज अधिकारी कहे जा सकते इनके विषय में ज्ञातव्य है कि ये राजा प्रतापरुद्र के आश्रित सनाढ्य ब्राह्मण पं० कृष्णदत्त पौत्र और राजा मधुकरशाह से सम्मानित पं० काशीनाथ मिश्र के पुत्र थे तथा ओड़छा-न महाराज इन्द्रजीतसिंह इन्हें अपने गुरु के रूप में सम्मान देते थे—इन्द्रजीतसिंह के बड़े महाराज रामसिंह इन्हें मन्त्री और मित्र के रूप में मानते थे। विद्वानों का अनुमान है इनका जन्म १५६० ई० के आसपास और मृत्यु १६०१ ई० के लगभग हुई थी। इनके द्वा रचित ग्रन्थ हैं—रसिकप्रिया (१५९१), रामचन्द्रिका (१६०१), कविप्रिया (१६०१), र बावनी (१६०७ ई० के लगभग), वीरसिंहदेवचरित (१६०७), विज्ञानगीता (१६१ जहाँगीरजसचन्द्रिका (१६१२), नखशिख और छन्दमाला। इनमें 'रसिकप्रिया', 'कविप्रि और 'छन्दमाला' रीतिग्रन्थ हैं, जिनमें क्रमशः नवरस, अलंकारों और छन्दों का निरूपण कि गया है। 'रामचन्द्रिका' में राम-कथा का प्रबन्धात्मक वर्णन है; 'रतनबावनी', 'वीरसिंह

चरित' और 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' आश्रयदाताओं की प्रशस्तिविषयक हैं; 'विज्ञानगीता' में प्रतीक-शैली में आध्यात्मिक विषय को प्रस्तुत किया गया है तथा 'नखशिख' में परम्परागत उपमानों की सहायता से राधा के विभिन्न अंगों का वर्णन हुआ है।

'रसिकप्रिया' में सोलह प्रकाश हैं जिनमें से प्रथम तेरह में क्रमशः शृंगार रस के भेदों, नायक-नायिका के भेदों, दर्शन के विविध प्रकारों, मिलन-स्थलों, भाव-हावों, अवस्थानुसार अष्ट नायिकाओं, विप्रलम्भ शृंगार के भेदों, कामदशाओं, मान के भेदों, मानमोचन के उपायों, करुण और प्रवास विप्रलम्भ, सखी के भेदों और उसके विविध कर्मों का निरूपण किया गया है—शेष तीन में क्रमशः शृंगारेतर रसों, वृत्तियों तथा पंचविध रसदोषों का विवेचन है। 'रसिकप्रिया' के समान कविप्रिया भी सोलह प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम चार के अन्तर्गत आश्रयदाता-वंश, कवि-वंश, काव्य-दूषण और कवि-भेद का वर्णन है, जबकि पाँचवें से आठवें तक के प्रभावों में विभिन्न उपशीर्षकों से सामान्यालंकारों का तथा शेष में विशेष अलंकारों का विवेचन किया गया है। 'छन्दमाला' दो भागों में विभक्त है—प्रथम भाग में ७७ वर्णवृत्तों तथा द्वितीय में २६ मात्रावृत्तों को लक्षण-उदाहरण-सहित प्रस्तुत किया गया है। अतएव कहा जा सकता है कि इस काल के कवियों द्वारा गृहीत नायक-नायिकाभेद-निरूपण की साधारण परिपाटी से आगे बढ़कर केशव ने रस, अलंकार, दोष और वृत्ति के विवेचन द्वारा रीति-निरूपण-क्षेत्र के फलक को अधिक विस्तार प्रदान किया। दूसरे, इनके पूर्ववर्तियों ने जहाँ केवल भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' का आश्रय लेकर अपनी दृष्टि सीमित रखी, वहाँ इन्होंने 'रसिकप्रिया' में इनके अतिरिक्त रुद्रट के 'शृंगारतिलक', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण', रूप-गोस्वामी-कृत 'उज्ज्वलनीलमणि', वात्स्यायन के 'कामसूत्र' आदि का तथा 'कविप्रिया' में दण्डी के 'काव्यादर्श', केशव मिश्र के 'अलंकारशेखर' आदि का आश्रय लेकर अपने दृष्टिकोण को कहीं अधिक व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। इसके साथ ही इन्होंने स्वतन्त्र चिन्तन भी किया जिसके परिणामस्वरूप शृंगार में इतर रसों का अन्तर्भाव कर उसकी श्रेष्ठता को, तथा काव्य में अलंकारों के महत्त्व को, प्रबल शब्दों में प्रतिपादित करने का इनका प्रयत्न रहा। किन्तु, इतना होते हुए भी ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर सके। स्वतन्त्र चिन्तन और सबल प्रतिपादन के कारण इनकी रचनाओं में जो मौलिक उद्भावनाएँ प्रतीत होती हैं वे या तो अशास्त्रीय रह गयी हैं या फिर किसी-न-किसी रूप में संस्कृत-काव्यशास्त्र में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए 'रसिकप्रिया' में वर्णित अनुकूलादि चार प्रकार के नायकों के प्रकाश और प्रच्छन्न नामक उपभेद तथा मुग्धा नायिका के नवलवधू, नवल अनंगा और लज्जाप्रहाररति नामक भेद भिन्न प्रसंगों में क्रमशः भोज के 'शृंगारप्रकाश' तथा शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' में देखे जा सकते हैं। इसी प्रकार 'कविप्रिया' में निरूपित अन्ध, वधिर और पंगु नामक दोष मम्मट द्वारा निरूपित प्रसिद्धविरुद्ध, असमर्थ और हत्तवृत्तता से पृथक् नहीं कहे जा सकते—अलंकार निरूपण के लिए ये केशव मिश्र और दण्डी के ऋणी हैं। उधर शृंगार के रसराजत्व और उसमें अन्य रसों के अन्तर्भाव का संकेत भोज के 'शृंगारप्रकाश' में मिलने से इनकी इस प्रकार की मान्यताओं में कोई अद्भुत बात है ही नहीं, साथ में इन्होंने उदाहरणों द्वारा उनको अन्तर्भुक्त करने का जो प्रयत्न किया है, वह अशास्त्रीय ही नहीं; अपने आप में हास्यास्पद भी बन गया है। इन सीमाओं के रहते हुए भी इनमें अपनी बात को प्रबल शब्दों में कहने का साहस और उसे प्रमाणित करने का सामर्थ्य, दोनों ही विद्यमान हैं—यह बात दूसरी है कि अतिवाद अथवा मनोवैज्ञानिकता के अभाव में इनकी बात किसी को मान्य न हो अथवा अशास्त्रीय समझी जाए। कदाचित् इसी गुण के कारण रीतिकाल के अनेक कवि इनके सिद्धान्तों का अनुसरण

न करते हुए भी इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखते रहे ।

आचार्यत्व के समान कवित्व की दृष्टि से भी केशव का अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान भक्तिकालीन कवियों में सम्भवत: ये ही पहले कवि हैं जिन्होंने ब्रजभाषा में मुक्तकों के साथ प्रबन्धकाव्य की रचना का सूत्रपात्र किया । विज्ञानगीता, वीरसिंहदेवचरित, जहाँगीर चन्द्रिका, रतनबावनी और रामचन्द्रिका—ये पाँच ग्रन्थ इनकी प्रबन्ध-रचनाएँ कही जा स हैं । इनमें 'रामचन्द्रिका' सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें महाकाव्य की शैली अपनायी गयी है। कि अनेक ऐसे विद्वान् हैं जो इसके महाकाव्यत्व को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं । उनका कहना कि इस ग्रन्थ में न तो वह कथाक्रम है जो महाकाव्य के लिए अपेक्षित है और न समुचि कथाप्रवाह का ही इसमें सम्यक् निर्वाह किया गया है—विभिन्न प्रसंगों को भी इसके रचयि ने अपनी रुचि के अनुसार विस्तार और संकोच प्रदान कर दिया है । दूसरी ओर चरित्र-चि और भाषा-शैली की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपने आप में अव्यवस्थित ही है । किन्तु फिर इसके महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती । स्थान-स्थान पर छन्द-परिवर्तन भले ही इ प्रवाह में व्याघात उत्पन्न कर देता हो, पर शैली की दृष्टि से तो यह नया प्रयोग है इसी प्रकार विषयवस्तु में वर्णन का अनुपात न होना भी इस बात का द्योतक है कि ग्रन्थका जीवन के सरस प्रसंगों को ही मनोयोग के साथ ग्रहण करना उचित समझता रहा है। इ राजकीय वर्णनों और संवादों की दृष्टि रो तो यह काव्य अपने आप में इतना अनूठा है कि सीमा तक हिन्दी-साहित्य का कोई भी कवि नहीं पहुँच पाया । वस्तुत: 'रामचन्द्रिका' केशव असाधारण महाकाव्य है, जिसमें परम्परा-पालन के स्थान पर वैशिष्ट्य-सन्निवेश का ध्या अधिक रखा गया है ।

'रामचन्द्रिका' के अतिरिक्त जहाँ तक शेष चार प्रबन्धकाव्यों का प्रश्न है, उनमें प्र का महत्त्व जहाँ तत्त्व-चिन्तन तक ही सीमित रहा है, वहाँ शेष तीन ऐतिहासिक सामग्री के लि प्रामाणिक स्रोत हो सकते हैं । कवित्व की दृष्टि से इनमें 'रतनबावनी' को थोड़ा आदर दि जा सकता है, जिसमें वीर रस का उत्कृष्ट रूप दृष्टिगोचर हो सकता है—अन्य दो में आत्मश्लाघात्मिकता का अच्छा निर्वाह हुआ है, पर थे कवित्व की दृष्टि से उतने ऊँचे नहीं उठ सके; वीर र के सम्यक् परिपाक के स्थान पर इनमें अधिकांशत: राजविषयक रति का निर्वाह ही रह गया है।

मुक्तक काव्यों में केशव के रसिकप्रिया, कविप्रिया और नखशिख—ये तीन ग्रन्थ ह आते हैं । इनका वर्ण्य विषय मुख्यत: शृंगार ही है, यद्यपि 'रसिकप्रिया' के अन्तर्गत इतर र का संक्षिप्त वर्णन भी हुआ है तथा 'कविप्रिया' में कवि के आश्रयदाता इन्द्रजीतसिंह की प्रशस्ति सम्बन्धी अनेक छन्द समाविष्ट हैं । यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इनका रचयिता रसिक होते हुए भी रस का समुचित परिपाक करने में पूर्ण रीति से समर्थ नहीं हो पाया । इसका मुख्य कारण यही है कि उसने रस-परिपाक को अनुभावों के वर्णन तक ही सीमित समझा है—संचारियों का वर्णन उसकी कविता में खोजने पर ही मिलता है । दूसरी ओर इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया । किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिए कल्पना के उचित प्रयोग द्वारा जिस भव्य चित्र-योजना की अपेक्षा होती है उसको वह प्राय: उपेक्षित ही कर गया है । इसका कारण वस्तुत: यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाटबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यन्त निखरा हुआ प्रतीत होता है । अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल कहा जाएगा। उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का

यथार्थ प्रयोग हुआ है। वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिए जिन उपमानों की अपेक्षा होती हैं उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है। इसके अतिरिक्त छन्दों में भी कहीं-कहीं अनगढ़पन है। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंडापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है—अधिकांश विदग्ध-उक्तियाँ संस्कृत की उक्तियों का व्रजभाषा में रूपान्तरमात्र हैं। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कला-शिल्प की दृष्टि से मूल्यवान् बना सकते, इसमें सन्देह है। इनकी कविता से एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

केशौदास लाख लाख भाँतिन के अभिलाष,
बारि दे री बावरी न बारि हिए होरी सी।
राधा हरि के री प्रीति सबते अधिक जानि,
रति रतिनाह हू में देखो रति थोरी सी॥
तिनहूँ में भेद न भवानि हूँ पै पार्‍यो जाइ,
भारती की भारती है कहिबे को भोरी सी।
एकै गति एकै मति एकै प्राण एकै मन,
देखिबे को देह द्वै हैं नैनन की जोरी सी॥

रहीम : हिन्दी में केशव के बाद रीति-निरूपण-कर्म में रीतिकाल के अनेक कवियों को प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने के कारण अब्दुर्रहीम खानखाना को भक्तिकाल और रीतिकाल जोड़नेवाले कवियों की श्रेणी में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जा सकता है। रीतिकवि के रूप में इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'नायिकाभेद' और 'नगरशोभा'। नायिकाभेद में नायक-नायिकाभेद तथा 'नगरशोभा' में विभिन्न वर्णों के अनुसार विभिन्न नायिकाओं का वर्णन किया गया है। 'नायिकाभेद' की रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी है और इसमें नायक-नायिका के अतिरिक्त सखी और उसके कर्मों तथा चतुर्विध दर्शन का वर्णन बरवै छन्द में किया गया है। इस ग्रन्थ में एक-दो लक्षणपरक छन्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें संकलित जो बरवै छन्द आज मिलते हैं, वे मूल ग्रन्थ के उदाहरणमात्र हैं—लक्षणपरक छन्दों में से अधिकांश लुप्त हो गये हैं। जो हो, इस ग्रन्थ के आधार पर यह सहज ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने अत्यन्त मनोयोग के साथ अपने विषय का विवेचन किया है। मौलिकता की दृष्टि से इसका भले ही महत्त्व न हो, किन्तु स्वच्छ, सुबोध, सरस एवं संक्षिप्त विवेचन की दृष्टि से यह अपने आप में अद्वितीय रचना है। अवधी भाषा में लिखे गये रीति-निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों में सम्भवतः यह प्रथम है। यही बात 'नगरशोभा' के विषय में कही जा सकती है। इसका आधार यद्यपि कोई काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं रहा, तथापि इसमें भी कोई नयी बात नहीं है—वर्णव्यवसाय के आधार पर दस प्रकार की सखियों का वर्णन केशव की 'रसिकप्रिया' में भी हुआ है। हो सकता है कि वहीं से संकेत ग्रहण कर इन्होंने नायिकाभेद का यह आधार बना लिया हो। वैसे भी, शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार की उद्भावना का महत्त्व नहीं; कारण, नायिकाभेद का मूल आधार स्त्री का पुरुष के प्रति अथवा पुरुष का स्त्री के प्रति रतिभाव है, जिसका इन भेदों के मूल में कोई स्थान नहीं। पर चूँकि देव आदि रीतिकाल के कतिपय कवियों ने इस प्रकार का वर्णन किया है, अतएव इस दिशा में ये उनके प्रेरक तो कहे ही जा सकते हैं। जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनकी रचनाएँ सरस है। भक्ति और नीति-जैसे शुष्क विषयों को भी इन्होंने कान्तासम्मत उपदेश का सरस रूप

दे दिया है। ये सीधी-सादी बात को सीधे-सादे शब्दों में कुछ इस प्रकार से व्यक्त कि तद्गत बिम्ब की स्वच्छ रेखाएँ सहृदय के मनःपट पर उभरकर गहरा प्रभाव छोड़ हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि कवि ने अपनी रचनाओं में वैयक्तिक एवं लोक के भवों को ही स्थान दिया है—दूरारूढ़ कल्पना का आश्रय लेकर विचित्र अनुभूतियों का करने का प्रयत्न नहीं किया।

सुन्दर कविराय : लक्षण-उदाहरण की रीति-निरूपण-शैली में शृंगार रस को मानकर उसके आलम्बन नायक-नायिकाभेद का विशेष तथा इतर अंगों का सामान्य कर सुन्दर कविराय ने इस युग के केशव, सेनापति आदि रीतिकारों और रीतिकाल के विषयों के विवेचक कवियों के बीच की कड़ी को जोड़ने का कार्य किया है। ये जाति के और ग्वालियर के रहनेवाले थे तथा इन्हें शाहजहाँ का आश्रय प्राप्त था। 'सुन्दर (१६३१) इनका नायक-नायिकाभेद और शृंगार-रस-निरूपण सम्बन्धी प्रसिद्ध इनके साथ ही इसमें सखी-कर्म और दूती-भेद, नायक-भेद और नर्मसचिव, दर्शन-भेद, शृंगार और हाव-भाव, विप्रलम्भ शृंगार और दश कामदशाओं तथा उद्दीपन विभावों वर्णन किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा छन्दों में। विवेचन का आधार मुख्य रूप से भानुदत्त की 'रसमंजरी' प्रतीत होती है— केवल इतना ही है कि नायिकाभेद में मध्या के अतिविश्रब्ध नवोढ़ा, परकीया के नायक के प्रोषितपति और प्रोषितवैशिक भेदों को जहाँ इन्होंने स्वीकार नहीं किया है, और प्रेम के आधार पर मानी नायक के दो उपभेदों की उद्भावना की है तथा कामशास्त्र आधार पर पद्मिनी आदि चार प्रकार की नायिकाओं का सन्निवेश केशव के समान किया कहने का अभिप्राय यह है कि मौलिकता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व नहीं पर सुबोध लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों ने इसे अत्यन्त उपयोगी बना दिया है। अतिरिक्त भाव, भाषा आदि की दृष्टि से भी यह अपने आप में पर्याप्त कवित्वपूर्ण है स्वच्छ, गम्भीर भावों की प्रसादगुण-सम्पन्न स्वच्छ भाषा में अभिव्यक्ति से इनकी सामान्यतः सरस बन गयी है।[1]

न्यामत खाँ जान : केशव और चिन्तामणि के बीच विविधांग-निरूपण-शृंखला की के रूप में न्यामत खाँ जान का नाम भी लिया जा सकता है।[2] अधिकांशतः प्रेममार्गी की रचना करने के कारण ये यद्यपि मुख्य रूप से प्रेममार्गी कवि के रूप में ही प्रसिद्ध तथापि काव्यांग-निरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना में मनोयोग प्रदर्शित करने के कारण भक्तिकाल के अन्तिम चरण के उन रीतिनिरूपकों की श्रेणी में भी सहज ही परिगणित जा सकता है जिन्होंने रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति के प्रसार के लिए उपयुक्त वातावरण किया। सम्प्रति इनके रीतिनिरूपण सम्बन्धी चार ग्रन्थ—रसकोश (१६१६), (१६४७), सिंगारतिलक (१६५२) तथा रसमंजरी (१६५२) ही उपलब्ध हैं। इनमें कोश' जहाँ नवरस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन सम्बन्धी है, वहाँ 'कविवल्लभ' में गुण, अलंकार और छन्द का विवेचन किया गया है—शेष दो क्रमशः रुद्रभट्ट के 'शृंगार

---

[1] काव्य के विविध अंगों का विवेचन सम्बन्धी इनका 'काव्यकल्पद्रुम' नामक ग्रन्थ कहा जाता है। तक यह उपलब्ध नहीं हो सका।

[2] विशेष अध्ययन के लिए देखिए—'भक्तिकालीन कवियों के काव्य-सिद्धान्त', डॉ० सुरेशचन्द्र ३७८-४१६

और भानुदत्त की 'रसमंजरी' के अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों में इन्होंने यद्यपि अपने विवेचन के आधार को स्पष्ट नहीं किया, तथापि लक्षणों को देखने से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ग्रन्थकार ने भानुदत्त, रुद्रभट्ट और दण्डी के ग्रन्थों का आश्रय ग्रहण किया है—छन्दोविवेचन के लिए 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' जैसे प्रचलित आधार-ग्रन्थों के स्थान पर ब्रजभाषा के किसी छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थ को आधार बनाया गया है। कतिपय लक्षण ऐसे भी हैं जिन पर मम्मट के 'काव्यप्रकाश' का प्रभाव स्पष्ट है। अतएव कह सकते हैं कि लक्षणों की रचना में इन्होंने यथारुचि संस्कृत के अनेक ग्रन्थों को आधार बनाया है, जो इनके दृष्टिकोण की व्यापकता का परिचायक है। मौलिकता की दृष्टि से इनमें कोई नवीन बात देखने को नहीं मिलती—सामान्यतः प्रकारान्तर से वही बातें विवेच्य विषयों सम्बन्धी लक्षणों में कही गयी हैं, जो पूर्ववर्ती संस्कृताचार्यों तथा केशव आदि हिन्दी-रीतिनिरूपकों द्वारा कही गयी हैं। हाँ, भाषा के व्यास और समास नामक परम्परा-प्रचलित दो भेद बताते हुए अपने लक्ष्य ग्रन्थों में इन्होंने काव्य-भाषा के विषय में जो यह कहा है :

अच्छर सरल सरल ही भाव, समझत ही बाढ़ै चित चाव।
अच्छर सरल होइ सुध भाषा, ताकी सब करिहैं अभिलाषा॥
ऊकति विसेष साँचु कैं जानहु, भाषा जो आवै सो जानहु।
ऊकति भलो भाषा मैं आवै, तौ यहु सोना सुगन्ध कहावै॥

उसके आधार पर यह सहज ही स्थापित किया जा सकता है कि इनके समय तक आते-आते कविता को कविजन कला के रूप में ग्रहण करने के अतिरिक्त तद्विषयक नि[illegible] दृष्टिकोण भी रखने लगे थे। जान ने कदाचित् इसीलिए केवल उन्हीं काव्यांगों का विवेचन किया है जिनकी उपस्थिति अथवा बहिष्कार काव्योक्ति को सुन्दर बनाने के लिए अनिवार्य है। विवेच्य काव्यांगों के विषय में इनके ये विचार द्रष्टव्य हैं :

(अ) *भोजन नीरस लागिहै, लौन बिना कहि जांन।*
त्यौं नौ रस बिनु ग्रन्थ है, ताते करौं बखान॥
(आ) *गुननि सहित दूषन रहित, कवित नारि आकार।*
अलंकार बिनु यौं लगत, ज्यौं तिय बिनु श्रृंगार॥

कहना न होगा कि ये विचार मौलिक न होते हुए भी इनके निर्भ्रान्त दृष्टिकोण के परिचायक होने के कारण इनके आत्मविश्वास को भी प्रकट करते हैं। यही कारण है कि इनके लक्षण सामान्यतः स्वच्छ एवं सुबोध बन पड़े हैं—इनके दृष्टिकोण से भले ही कोई सहमत न हो, पर उसमें किसी प्रकार का कलुष नहीं देख सकता। किन्तु, दुर्भाग्य की बात है कि इतने स्पष्ट विचार रखते हुए एवं ७१ ग्रन्थों की रचना करने पर भी इनका कवित्व अत्यन्त साधारण स्तर पर ही रह गया है। वास्तव में इन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रयोग कविता के स्थान पर यदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन में ही किया होता, तो सम्भव है कि ये कुछ अधिक स्थायी योगदान कर गये होते।

अन्य रीतिकार : रीतिनिरूपण में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेनेवाले कवियों के साथ ही भक्तिकाल के अन्त में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने रीति-प्रभावित काव्य की रचना कर रीतिकाल के लिए उस क्षेत्र में भी पृष्ठभूमि का निर्माण किया। इनमें प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं—बलभद्र मिश्र और मुबारक। ओरछा-निवासी कवि बलभद्र (रचना-काल=१५८० ई०) हिन्दी के ख्यातनामा कवि केशवदास के अग्रज थे। इनके द्वारा लिखित पाँच ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—शिखनख, बलभद्री व्याकरण, गोवर्द्धन सतसई टीका, हनुमन्नाटक तथा दूषण विचार।

इस समय इनमें से प्रथम कृति ही उपलब्ध है। इसमें नायिका की अंग-छवि का नख पर्यन्त स्वच्छ आलंकारिक वर्णन मिलता है। रूप-वर्णन में तन्मयता के साथ ही कवि ने पर अपने अधिकार का भी असन्दिग्ध प्रमाण दिया है। इनके परवर्ती कवियों में मोह मिश्र (रचना-काल=१५८९ ई०) के 'शृंगारसागर' का भी उल्लेख किया जाता है, यह कृति सम्प्रति उपलब्ध नहीं है। मुबारक (रचना-काल=१६२३ ई०) की 'तिल और 'अलक शतक' नखशिख-वर्णन सम्बन्धी संक्षिप्त कृतियाँ हैं जिनमें उपमा, रूपक, आदि अलंकारों के माध्यम से सरस कल्पनामूलक रूप-चित्रण मिलता है। भक्तिकालीन काव्य में ये अपने ढंग की एकमात्र कृतियाँ हैं।

अध्याय : ७

भक्तिकाल का गद्य-साहित्य

हिन्दी का प्राचीन गद्य भाषा, शैली, विषय, सांस्कृतिक अध्ययन आदि अनेक दृष्टियों महत्वपूर्ण है। वास्तव में वह आधुनिक गद्य की भूमिका है। आधुनिक गद्य की अनेक भाषा-तियों, विधाओं और शैलियों के पूर्व-रूपों का दर्शन भारतेन्दु-पूर्व गद्य में होता है। आधु-क युग के पूर्व मौलिक ललित गद्य का निर्माण कम हुआ था। विशुद्ध (तुकरहित) ललित गद्य परिमाण तो और भी विरल है। अधिकतर सानुप्रास (तुकमय) गद्य लिखा गया है। स्तुत: रीतिकाल तक शुद्ध साहित्यिक गद्य की प्रवृत्ति बहुत मन्द रही, अललि. (असाहि-क) गद्य अधिक लिखा गया। वह भी स्वतन्त्र (मौलिक) रूप में कम है, टीका-टिप्पणी र अनुवाद के रूप में अधिक है।

हिन्दी-परिवार की भाषाओं में गद्य का उन्मेष कालक्रम से सर्वप्रथम राजस्थानी में प्त होता है। राजस्थानी में गद्य-परम्परा निश्चित रूप से ईसा की तेरहवीं शताब्दी से रम्भ होती है। बनारसी (अवधी) बोली की बारहवीं शती में निर्मित 'उक्ति-व्यक्ति-करण' (दामोदर) कृति उपलब्ध है, जिसमें अपभ्रंश-प्रभावित अवधी बोली के प्रयोगों को ष्ट करने के लिए उनके संस्कृत-रूपान्तर दिये गये हैं। परन्तु इसके पश्चात् बनारसी अथवा वधी में अठारहवीं शती तक गद्य-परम्परा प्राप्त न होने से बनारसी या अवधी को गद्य की ष्टि से अग्रणी नहीं माना जा सकता। ब्रजभाषा और दक्खिनी में गद्य का प्रारम्भ यों तो दहवीं शती के पूर्व माना जाता है, परन्तु प्रामाणिक रूप में इन भाषाओं का गद्य सोलहवीं ताब्दी से उपलब्ध होता है।

भक्तिकाल में अवधी के अतिरिक्त हिन्दी की शेष सभी विभाषाओं में गद्य-निर्माण हुआ। गद्य-रूप भी अनेक (कथा, वात, वर्णन, चरित्र, वचनिका—ये ललित गद्य-रूप और गुर्वा-ली, पट्टावली, वंशावली, प्रश्नोत्तर, वचनामृत, पत्र, गोसट—ये अललित गद्य-रूप) विकसित ए हैं। अमौलिक (व्याख्यात्मक अनूदित) गद्य भी बालावबोध, वृत्ति, अवचूरि, टबा, टिप्पण, का, तर्जुमा, तफ़सीर आदि शीर्षकों से अनेक रूपों में प्राप्त होता है। पद्य-ग्रन्थों में भी त्र-तत्र वचनिका, वात, चर्चा अथवा किसी अन्य शीर्षक से टिप्पणीपरक गद्य लिखा गया। क्तिकाल के गद्य में प्रतिपादित प्रमुख विषय हैं—धर्म, दर्शन, अध्यात्म, चिकित्सा, ज्योतिष, गोल (पौराणिक भूगोल), शकुन-शास्त्र, व्याकरण, गणित। टीका-टिप्पणियों और अनूदित चनाओं की भी संख्या काफ़ी बड़ी है। धार्मिक-दार्शनिक ग्रन्थों, काव्य-ग्रन्थों और व्याकरण,

कोकशास्त्र, ज्योतिष आदि उपयोगी विषयों की टीकाओं और टिप्पणों के अतिरिक्त प्राकृत और फ़ारसी-अरबी के ग्रन्थों के अनुवाद भी राजस्थानी, ब्रजभाषा और दक्खिनी

ब्रजभाषा-गद्य

प्राचीन ब्रजभाषा-गद्य प्राचीन खड़ीबोली-गद्य की अपेक्षा अधिक विकसित और पूर्ण है। धार्मिक और आध्यात्मिक विषयों के साथ वैद्यक, ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, शकुन, सामुद्रिक, गणित, धनुर्वेद आदि विषयों का भी प्रतिपादन ब्रजभाषा-गद्य में हुआ। ब्रजभाषा-गद्य-साहित्य स्थूलतः चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—मौलिक, टीका, अनूदित और पद्यप्रधान रचनाओं में यत्र-तत्र प्रयुक्त टिप्पणीपरक गद्य। मौलिक (स्व गद्य वल्लभ-सम्प्रदाय के वचनामृतों, वार्त्ता-ग्रन्थों, इस सम्प्रदाय के अन्य ग्रन्थों अन्य सम्प्रदायों की सैद्धान्तिक रचनाओं, कथा-पुस्तकों, दर्शनविषयक ग्रन्थों, वैद्यक, ज्योतिष उपयोगी विषयों की रचनाओं और पत्रों, शिलालेखों तथा काग़ज़-पत्रों के रूप में उपलब्ध है। टीका, टिप्पण, तिलक और भावना शीर्षक से व्याख्यात्मक गद्य प्राप्त होता है। इसी अनुवाद अथवा छायानुवाद-रूप में लिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हैं।

पद्य-ग्रन्थों में टिप्पणीपरक गद्य चर्चा, वात्त, वार्ता, तिलक या वचनिका आदि लिखा गया। ब्रजभाषा-गद्य के प्रमुख रूप हैं—कथा, प्रबन्ध (धार्मिक-सैद्धान्तिक नि गोसट (गोष्ठी—धार्मिक-दार्शनिक संवाद), वचनिका, प्रश्नोत्तर, वर्णन, वचनामृत (प्र पत्र, वार्ता, जीवनी। इनमें से प्रथम आठ भक्तिकाल में भी निर्मित हुए हैं। मौलिक, टीका अनूदित, टिप्पणीपरक—चारों प्रकार का गद्य भक्तिकाल में लिखा गया। जहाँ तक विषय प्रश्न है, भक्तिकाल में धर्म, दर्शन और अध्यात्मविषयक ग्रन्थों के अतिरिक्त ज्योतिष चिकित्साविषयक पुस्तकें भी लिखी गयीं।

ब्रजभाषा-गद्य-परम्परा में सर्वप्रथम गोरखपन्थी ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता परन्तु गोरखपन्थ से सम्बद्ध 'गोरखसार', 'शिष्ट पुराण', 'गोरक्षोपनिपद्', 'महादेवगोरख आदि ग्रन्थ जिस रूप में प्राप्त हैं, गोरखनाथ-रचित अथवा तेरहवीं-चौदहवीं शती के काफ़ी परवर्ती हैं। इन गोरखपन्थी रचनाओं की सत्रहवीं शती से पूर्व की प्रतियाँ प्राप्त हैं। प्राप्त प्रतियों की भाषा में प्राचीन शब्द-रूपों के साथ परवर्ती मध्यकालीन भाषा-प्र (अर्वाचीन रूप और प्रयोग) पर्याप्त हैं।[1] अतः इन्हें गोरख-कृत अथवा तेरहवीं-चौदहवीं श का मानना कठिन है। गोरखनाथ के नाम से प्रसिद्ध रचनाओं में कुछ उनके संस्कृत-ग्र अनुवाद और कुछ उनके अनुयायियों द्वारा उनके सिद्धान्तों के अनुसार निर्मित प्रतीत हो

आचार्य वल्लभ और गो॰ विट्ठलनाथ जी के नाम से भी हिन्दी में ऐसी अनेक रचनाएँ प्रसिद्ध हैं, जो या तो उनकी संस्कृत-पुस्तकों के अनुवाद हैं या उनके संस्कृत-ग्र संस्कृत-टीकाओं के हिंदी-रूपान्तर। वल्लभाचार्य के नाम से प्रसिद्ध 'चौरासी अपराध' (सिद्धान्त') उनके किसी अनुयायी की रचना है और विट्ठलनाथ जी के नाम से उ

---

[1] 'गोरखसार' आदि ग्रन्थों में प्रयुक्त 'वह', 'करि चुकौ' 'जा मनुष्य को मन', 'तिनको दंडवत है', आदि रूप और प्रयोग इन रचनाओं को परवर्ती सिद्ध करते हैं।

डॉ॰ बड़थ्वाल द्वारा 'गोरखबानी' के परिशिष्ट में प्रकाशित 'महादेव गोरषगुष्टि' और पुराण' भी भक्तिकाल की रचनाएँ प्रतीत होती हैं। 'महादेव गोरषगुष्टि' में अनेक प्राचीन रूप यथा—उतपतं, कथन्ति, अनुसरै, भोगवै, कथितं, भ्रमते। साथ ही कुछ अर्वाचीन रूप भी हैं, आपकी, ये, दाहिणे, पाँच, से।

रन मंडन' उनकी संस्कृत-पुस्तक का अठारहवीं शती में किया गया ब्रजभाषा-रूपान्तर ट्ठलनाथ जी ने ब्रजभाषा-गद्य में किसी ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया था। 'यमुनाष्टक' नवरत्न सटीक' भी बहुत परवर्ती (अठारहवीं शताब्दी की) रचनाएँ हैं। अष्टछाप के न्ददास के नाम से प्रसिद्ध 'नासिकेतपुराणभाषा' अठारहवीं शताब्दी के स्वामी नन्ददास ना है और चतुर्भुजदास-कृत बतायी जाने वाली 'षटऋतु वार्ता' हरिराय-रचित है। गो० नाथ जी के नाम से प्रसिद्ध 'वनयात्रा' शीर्षक रचना भी उनकी कथित है, लिखित नहीं।'

इस समय की प्रमुख ब्रजभाषा-गद्य-रचनाएँ हैं—ध्रुवदास-कृत 'सिद्धान्तविचार' ५ ई० के आसपास की राधावल्लभ-सम्प्रदाय की सिद्धान्त-प्रतिपादक रचना)[2], नाभा- 'अष्टयाम' (१६०३)[3], बैकुण्ठमणि शुक्ल-कृत 'वैसाख महातम', 'अगहन महातम', ३ ई० के आसपास की धार्मिक कथात्मक रचनाएँ)[4], गों० श्री विट्ठलनाथ और श्री नाथ के उनके शिष्यों द्वारा लिखित 'वचनामृत', किसी अज्ञातनाम रचनाकार की 'सिंगार (पौराणिक कथात्मक रचना), 'शालिहोत्र' (रचनाकार अज्ञात, अश्वचिकित्साविषयक नकुल पाण्डव' के नाम से प्रसिद्ध संस्कृत-ग्रन्थ के आधार पर राजस्थानी-मिश्रित ब्रज- में लिखित)।

ब्रजभाषा-गद्य के पुराने नमूनों में १५१३ ई० का एक शाही इश्तिहार तथा इसी वर्ष सती-समाधि-लेख[5] और बनारसीदास जैन की 'परमार्थवचनिका', 'मिथ्यात्वनिषेधन'

स्नान की वार्ता' शीर्षक रचना की प्रामाणिकता भी अनिश्चित है।

में प्रश्नोत्तर-शैली में प्रेम-नेम के लक्षणों, राधावल्लभीय प्रेम-दर्शन, प्रेम, विरह, काम, मान, रसिक अनन्यता की व्याख्या करते हुए ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य आदि आवरणों से दूर रहने की शिक्षा देते विधि-निषेध के प्रपंचाचार का निर्णय और विवेक-विवेकी की विवेचना की गयी है। भाषा तत्समनिष्ठ भाव हाँ प्रवाहपूर्ण, अकृत्रिम और सरल; यथा—"प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, नता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस, रुचितरंग बढ़त रहैं। सहज, सुछन्द, द, मादकता जाकौ आदि अन्त नाहीं, छिनछिन नूतनता, स्वाद अरु नेम अनेक भाँति है।···जहाँ में देखत-देखत विरह रहे तहाँ या सूक्ष्म विरह की समाई नहीं। सब रस, सब सिंगार, सबके प्रेम, नेम मूरति धरै श्री किशोर-किशोरी जू कौ सदा सेवत रहत हैं।"

ष्टयाम' में राम की दिनचर्या का वर्णन है। इस रचना में 'करत भए', 'वैठते भए' ऐसी पण्डिताऊ एं और 'छुइ' तथा 'करिकै' ऐसे पूर्वकालिक कृदन्त प्रयुक्त हैं। इस रचना की ५६ पृष्ठों की एक छत्रपुर-नरेश के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

खंडवासी श्री वैकुण्ठमणि शुक्ल द्वारा १६२३ ई० के आसपास लिखित 'वैसाख महातम' (वैशाख त्म्य) और 'अगहन महातम' (अगहन माहात्म्य) शीर्षक धार्मिक कथा-पुस्तकों का निर्माण ओड़छा- वसवन्तसिंह की प्रेरणा से रानी चन्द्रावती के 'धरम पढ़िवे के अरथ' किया गया था। भाषा इन में भी पण्डिताऊ 'करत भए' शैली की है। 'पृथ्वी विषै', 'नजीक आए की', 'उताइल कै', 'सभा तैं वाये होइ लये' जैसे पुराने प्रयोग पर्याप्त हैं, जो इन रचनाओं को प्राचीन सिद्ध करते हैं। बुन्देली यां भी हैं। यत्र-तत्र खड़ीबोली के भी रूप हैं—"ब्रह्मा की सभा से उठि कै सुमेर पर्वत को गये।"

हीरालाल द्वारा नागरीप्रचारिणी ·त्रिका, भाग ६, सं० १९८२ में उल्लिखित और प्रकाशित। इनमें इस प्रकार की है:

"···तत्समये दाम विजाई व मण्डवा वा ढाई व ·रजी ऐ रकमौ···जु कोई इस वरिस व इस देश मढ़ लेहि दमड़ा पैका माँगे लेई सु अपण दीण थी वेजाट होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि री सौंहा हिन्दू होइ लेइ तिसहि गाई की सौंहा।"—(शाही इश्तिहार)"···पं० देवहा ाचया जेठी पुत्र परोखी भी ते की महासती। तेको गानो लिख्यते [illegible] मराई ठरंक···।" — (सती लेख)।

तथा उपादान निमित्त की चिट्ठी भी उल्लेखनीय है। इनमें क्रमशः जैन धर्म
आत्मा के स्वरूप का वर्णन, मिथ्यात्व का निषेध और आत्मा तथा 'वाह्य
निरूपण है।[1]

वल्लभ-सम्प्रदाय अपने वार्त्ता-साहित्य के लिए प्रसिद्ध है। वार्त्ता-साहित्य
वैष्णवन की वार्ता' वर्णित घटनाओं और भाषा की दृष्टि से प्राचीनतर (भक्तिका
चरण में लिखित) प्रतीत होती है।[2] 'चौरासी वार्ता' की प्राचीनतम (सन् १६
कांकरोली-विद्या-विभाग में सुरक्षित है; परन्तु इस प्रति की प्रामाणिकता के
कहना कठिन है। पुष्टि-सम्प्रदाय के प्राचीन संग्रहालयों में आचार्य विट्ठलेश्वर
गोकुलनाथ के, उनके अनुयायियों द्वारा लिपिबद्ध, 'वचनामृत' (प्रवचन) सुरक्षित
वचनामृतों में सेवकों की चर्चा के साथ यत्र-तत्र लेखन-काल और स्थान का भी
होता है। इनसे तत्कालीन इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। गो० गोकुलनाथ
से वचनामृतों के साथ लगभग बीस वार्त्ता-ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं।[4] परन्तु ये उनके द्वा
न होकर उनके प्रवचनों के विस्तार हैं, जो उनके शिष्यों द्वारा किये गये हैं। रीति
की गद्य-टीकाएँ हैं—'भुवनदीपिका टीका' (प्रति १६१४ ई०, राजस्थानी-मिश्रि
की ज्योतिष विषयक रचना), चतुरदास-कृत 'भागवत'—एकादशस्कन्ध-टीका।
सम्प्रदाय की भी रीतिकाल से पूर्व की कुछ टीकाएँ प्राप्त हैं। इनमें उल्लेखनीय
चौरासी' पर रसिकलाल की 'हितसंवर्धिनी टीका' (पद्य-गद्य, सत्रहवीं शती उत्तरा
धरदास की टीका और लोकनाथ की गद्य-पद्यमयी टीका।

'पृथ्वीराज रासो' की कुछ प्रतियों में, जो प्रायः सत्रहवीं-अठारहवीं श
वार्ता' या 'वचनिका' नाम से राजस्थानीपरक ब्रजभाषा-गद्य प्राप्त होता है। भाषा
हुए यह गद्य सत्रहवीं शती का प्रतीत होता है। अपभ्रंश-शैली के उद्वृत्त रूप
बोली शब्द-रूप भी इन गद्यांशों में प्रयुक्त हैं। 'रासो' के अतिरिक्त केशव की
और 'कविप्रिया' में भी टिप्पणीपरक गद्यांश प्राप्त होते हैं।

भक्तिकाल के कुछ पत्र भी प्राप्त हैं। इस समय के पत्रों में राधावल्लभ-
संस्थापक श्री हितहरिवंश जी द्वारा जूनागढ़ के दीवान वीठलदास को लिखित दो

---

१. इनकी भाषा के नमूने के रूप में ये अवतरण द्रष्टव्य हैं :
   (अ) "इन बातन को ब्यौरो कहाँ तांई लिखिए कहाँ तांई कहिए। वचनातीत इन्द्रिया
   तातैं यह विचार बहुत कहा लिखहिं जो ज्ञाता होइगो सो थोरी ही लिख्यो बहुत
   जो अज्ञानी होयगो सो यह चिट्ठी सुनैंगो सही परन्तु समुझेगा नाहीं।"—परमा
   (आ) "इहाँ कोऊ उटंकना करतु है कि तुम कह्यो जु ज्ञान को जाणपनौ अरु चरित्र
   दुहुर्यो निर्जरा है सुज्ञान के जाणपनौ सो निर्जरा यह मानी। चरित्र की विशुद्धता
   कैसें।"

—उपादान निमित्त

२. डॉ० हरिहरनाथ टंडन ने इन वार्त्ता-ग्रन्थों के तीन रूपों की चर्चा की है—प्रसंगात्मक वार्ता
वार्त्ताएँ और भावनात्मक वार्त्ताएँ। उनके अनुसार प्रसंगात्मक सबसे पहले की, संख्यात्मक
और भावनात्मक सबसे बाद की हैं।—वार्त्ता-साहित्य, पृष्ठ १२४

३. प्रभुदयाल मीतल—सूरदास की वार्त्ता, परिशिष्ट, पृष्ठ ७४

४. इनके नाम से प्रसिद्ध वार्त्ता-ग्रन्थों में प्रमुख है—'चौरासी वैष्णवन की वार्ता', 'दो सौ बाव
वार्ता', 'षटऋतु वार्ता', 'भावसिन्धु वार्ता', 'नित्यसेवा प्रकार', 'रहस्य भावना', 'उत्स
'श्रीनाथ जी के स्वरूप की भावना'।

में प्रसिद्ध हैं। इन पत्रों में राधा-कृष्ण-भक्ति का सन्देश दिया गया है। प्रथम पत्र तो नमस्कार का ही पत्र है, परन्तु दूसरे में हितहरिवंश जी द्वारा राधा को गुरु-रूप में की भावना व्यक्त है : "श्री राधे तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी को ।" इन पत्रों की भाषा, जैसी कि वह 'हितामृत-सिन्धु' में प्रकाशित है, सोलहवीं शती तीत नहीं होती। इनमें प्रयुक्त आधुनिक शैली के कुछ वाक्य और रूप द्रष्टव्य हैं : सुख स्वरूप है, इतनी शक्ति नहीं, श्री स्वामिनी जी तुम पर बहुत प्रसन्न हैं, हमारी भेंट , आवेंगे, रहे हैं, ले आयें, वीठलदास मेरे प्राण हैं, शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु ऐसे ही सत्य है।[1]

बम्बई के गट्टूलाल जी के मन्दिर में श्री विट्ठलेश्वर से सम्बद्ध वताया जानेवाला १६३ का एक पत्र सुरक्षित है।[2] इसमें ब्रजभाषा की भी चार पंक्तियाँ हैं, जिनमें शब्दों का बाहुल्य है। धौलपुर-नरेश के पुस्तकालय से भी कुछ प्राचीन पत्र प्राप्त हुए त्रों में 'श्री मुख पत्रियाँ' अधिक हैं।[3] १६०५ ई० का एक ताम्रपत्र (काशी के सेठ दास के यहाँ सुरक्षित) भी प्राप्त है जिसका उल्लेख श्री द्वारिकाप्रसाद पारीख ने पादित 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' की भूमिका में किया है। वल्लभ-कुल से सम्बद्ध ० ई० का एक इक़रारनामा भी प्राप्त है।

खड़ीबोली-गद्य

रीतिकाल से पूर्व की खड़ीबोली-गद्य-रचनाओं को (उत्तर की खड़ीबोली की और नी की रचनाओं को) साहित्यिक (ललित) और असाहित्यिक (अललित) के भेद से दो में विभक्त किया जा सकता है। ललित गद्य 'वात' शीर्षक से कथा-कहानी के रूप में अन्योक्ति-कथा के रूप में प्राप्त होता है। अललित गद्य धर्म, दर्शन, पौराणिक भूगोल शकुन—इन विषयों पर उपलब्ध होता है। अमौलिक (व्याख्यात्मक अनूदित) गद्य के है—टीका, टिप्पण, तर्जुमा, तफ़सीर। सानुप्रास और अनुप्रासरहित की दृष्टि से भी न खड़ीबोली-गद्य को वर्गीकृत किया जा सकता है। मध्यकाल में तुकमय गद्य की प्रवृत्ति स्थानी, मैथिली, दक्खिनी, उर्दू, खड़ीबोली आदि प्रायः सभी भाषाओं में रही है। गद्य- के समावेश की दृष्टि से खड़ीबोली और दक्खिनी की प्राचीन गद्य-रचनाएँ स्थूलतः य हैं—पूर्णतः गद्यरचनाएँ, गद्य पद्यमय रचनाएँ, यत्र-तत्र पद्योद्धरण वाली गद्यप्रधान एँ।

उत्तर भारत में खड़ीबोली में निर्मित गद्य-रचनाएँ सत्रहवीं शताब्दी से प्रामाणिक रूप प्त होती हैं। गंग कवि द्वारा रचित बतायी जानेवाली 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' की णिकता सन्दिग्ध है।[4] 'योगाभ्यास मुद्राटिप्पण', जिसे काशी नागरीप्रचारिणी सभा के

खिए 'हितामृतसिन्धु', सम्पादक—श्री हित गोवरधनदास, पृष्ठ १-२

ौरासी वैष्णवन की वार्ता (तीन जन्मवाली), ग्रन्थ-परिचय, पृष्ठ २३

खिए 'हिन्दी अनुशीलन', वर्ष ९, अंक १-४

स रचना के प्रकाशित पाठ में अपभ्रंश की प्रवृत्तियों का सर्वथा अभाव है। दूसरी ओर 'ऊपर विराजमान रहें', 'भरने लगा है', 'करके', 'बैठ जाया करें', 'जिनकी बैठक नहीं', 'पकड़-पकड़ के', 'इतना सुनके', रण को दिया', 'हो गया', 'हुआ' ऐसे अर्वाचीन प्रयोगों और रूपों का समावेश इसे परवर्ती सिद्ध ता है। 'करके', 'सुनके' ऐसे पूर्वकालिक कृदन्त अठारहवीं शती की भी खड़ीबोली-रचनाओं में बहुत प्राप्त होते हैं। श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या द्वारा प्रकाशित इस लेख की प्रति इस समय प्राप्य है।

खोज-विभाग ने सिद्ध कुमरिपा (कुमुटीपा)-कृत प्राचीन खड़ीबोली-रचना
परवर्ती रचना है। मूल संस्कृत-रचना सिद्ध कुमरिपा द्वारा रचित प्राचीन
टिप्पण बहुत परवर्ती है। इस टिप्पण में खड़ीबोली के शब्द न्यून हैं। १६२३
द्वारा रचित 'गोरा-बादल की कथा' को इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम उल्लेख-योग्य
जा सकता है। यह गद्य और पद्य दोनों रूपों में मिलती है। बाबू श्यामसुन्दरदास
हस्तलिखित ग्रन्थों के १९०१ ई० के खोज-विवरण में एशियाटिक सोसायटी,
सुरक्षित गद्य में लिखित प्रति का उल्लेख किया है, किन्तु राजस्थान में इसकी
लिखित प्रतियाँ मिली हैं, वे सभी पद्य में हैं। विद्वानों का अनुमान है कि गद्य-
का रूपान्तर है। मिश्रबन्धुओं ने इसकी गद्य-शैली में खड़ीबोली का प्राधान्य
आचार्य शुक्ल के अनुसार इसकी भाषा 'राजस्थानीपन लिये खड़ीबोली' है।

रीतिकाल से पूर्व की चार अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—'कृतुबशत' (प्रति
'भोगलु पुरान' (प्रति १७०५ ई०), 'गेणेस गोसठ' (प्रति १६५८ ई०),
(१६४० ई० के पूर्व)। प्रथम तीन रचनाएँ जिस रूप में उपलब्ध हैं सत्रहवीं
की प्रतीत होती हैं। परन्तु इनके समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ
सकता। 'नवबोली छन्द', 'नवभाषा', 'सकुनावली', 'महादेव गोरखगुष्टि',
टिप्पण'—इन पाँच रचनाओं में भी (प्रथम दो में अन्य भाषाओं के साथ, शेष में
से प्रभावित) खड़ीबोली का प्रयोग हुआ है। ये रचनाएँ, और पीछे उल्लिखित
तथा 'गेणेस गोसठ' साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। धार्मिक-आध्यात्मिक
भाषा के अध्ययन की दृष्टि से ही इनका कुछ महत्त्व माना जा सकता है। इन
खड़ीबोली का प्रयोग ब्रजभाषा और राजस्थानी अथवा पूर्वी हिन्दी या पंजाबी
साथ हुआ है। इनमें 'नवबोली छन्द', 'नवभाषा', 'सकुनावली'—इन तीन के
निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये रीतिकाल से पूर्व की हैं।

उल्लिखित रचनाओं में 'कुतुबशत' ('कुतुबुद्दीन री वात'—कथात्मक
रचना), 'भोगलु पुरान' (भूगोल पुराण) तथा 'पोथी सचुषंड' (नानक की
व्याख्या) में खड़ीबोली-शैली के शब्द-रूप अपेक्षाकृत अधिक हैं। तत्कालीन जन-
की दृष्टि से 'कुतुबशत' अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रयुक्त खड़ीबोली राजस्थानी
भाषा से प्रभावित है। 'पोथी सचुषंड' की भाषा पर पंजाबी का प्रभाव है।
(गोरख-गणेश-गोष्ठी—पंचतत्त्व आदि पर प्रश्नोत्तर) की भाषा तत्समनिष्ठ है।
'भोगलु पुरान' में अर्वाचीन शब्द-रूपों के साथ प्राचीन शब्द-रूप भी पर्याप्त हैं।[1]

दक्खिनी-गद्य

दक्खिनी की प्राचीनतम प्राप्त रचना गेसूदराज-कृत 'मेराजुल आशिकीन'
यह जिस रूप में प्राप्त है उससे पन्द्रहवीं शती की प्रतीत नहीं होती; उसकी

---

१. कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

(अ) "ऐसा कुतुबदी साहजादा दिल्ली बीच पिरोसाह पातस्याह का साहजादा भया। दांवत
लड़की माहिबा से आसिक रह्या। बहुत दिनां प्रीत लागी। दुउपीड आपदा महुभायी।
का तखत पाया। साहजादा साह कहाया। यह सिफ्त कुतुबुद्दीन साहजादे की पढ़ै।
सुख से वढ़ै। यह बात शाह जुग से रही। ढढणी ने जोड़कर कही।"—कुतुबशत

(शेष

रवर्ती है।[1] 'मेराजुल आशिकीन' के अतिरिक्त गेसूदराज बन्दानवाज़ के नाम से प्रसिद्ध अन्य मुख रचनाएँ हैं—'हिदायतनामा', 'शिकारनामा' और 'तर्जुमावजूदुल आरिफ़ीन'। भक्ति-कालीन दक्खिनी-गद्य की अन्य प्रसिद्ध रचनाएँ हैं—'बुरहानुद्दीन जानम-कृत 'कल्मितुल क़ायक़' (१५८० ई० के लगभग), मौला अब्दुल्ला-कृत 'अहकामुस्सलात' (१६२३), मुल्ला जही का 'सबरस' (१६३६) और अब्दुस्समद-लिखित 'तफ़सीर बहावी' (१६४० ई० के गभग)। इनमें प्रथम रचना प्रश्नोत्तर-शैली में लिखित सूफ़ी-सिद्धान्तविषयक, द्वितीय रचना इस्लामविषयक, तृतीय (सबरस) अन्योक्ति-पद्धति की सूफ़ी प्रेमकथा और चौथी 'क़ुरान' की व्याख्या है।[2] पुराना दक्खिनी-गद्य अधिकतर सूफ़ी और इस्लामी सन्तों द्वारा लिखा गया है और अधिकांश में अललित, धार्मिक तथा उपदेशात्मक है। उल्लिखित रचनाओं में 'सबरस' में ललित गद्य प्रयुक्त है। अनेक स्थलों पर इस ग्रन्थ का गद्य सानुप्रास है।[3]

(पिछले पृष्ठ का शेष)

(आ) "सूरजु उदाचल ऊपरि उदै होता है। अस्ताचल ऊपरि अस्तु होता है। सूरज चलते ही सिख्या दोइ सहस्र जोजन एक निमिष महिं सूरज चलता है। देवते रछिया करते हैं! शब्द सुनते हैं। परु अखों देखते न हैं। अमीजल अँचवते हैं।"—भोगलु पुरान

(इ) "गेणेस बुज गोरष कहै। स्वामी जी तूम काहां त आया। काहा तुमाहारा नाव। अवधू हम निरन्तं आया। जोगी है मारा नाव। स्वामी जी जोगी ते तो कून वोलिवे। स्वामी पृथ्वी का कोंण वरण, आपका कोंण वरण, तेज का कोंण वरण, बाई का कोंण वरण, आकास का कोंण वरण।"—गोरषगणेस गुष्टि

(ई) "तब राजे जनक कहिआ। जि सुनिऐ जी राम जनहु। राज महि जोगु इव होता है। जिव दाई पूत कउ षिलावती है। चुंघावती है। नहवावती है। नाभ चटती है। भाव करती है। षेलावती है। बसत्र पहिरावती है। नीके करि राषती है। माता कउ चिंता उसके राषने षिलावने की काईं नाहीं होती। चिंता वालक की दाई ही कउ होती है। दाई बालक को महा हेत करि करि राषती है पण जी जाणती है जि पूतु मेरा नाहीं। मुझ कउ षिलावणा राषणा मिलिआ है। तिउ साध पुरुष ग्रसत राज महि ऐसे ही रहते हैं।"—मिहरिवानु, पोथी सचुषंड

१. 'मेराजुल आशिकीन' की प्रामाणिकता पर इधर सन्देह किया जाने लगा है। प्राचीन दक्खिनी-गद्य की अनेक रचनाओं की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है। उत्तर भारत के सूफ़ी सन्त जहाँगीर अशरफ़ समनानी की उर्दू-रचना 'अख़लाको तसव्वुफ़' और दर्ा ो के शेख़ ऐनुद्दीन गंजुलइल्म और शाह मीरां जी शम्सुल उश्शाक़ के नाम से प्रसिद्ध दक्खिनी-पुस्तकों की भी प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

२. दक्खिनी की इन रचनाओं की भाषा अनेक दृष्टियों से भिन्न होने पर भी उत्तर भारत की खड़ीबोली के अत्यन्त निकट है :

(अ) "इसका माना तहकीक खुदा मिन्नत किया है मुसलमानां होर मुसलमानां की औरतां कों तुमारे तनां में मुहम्मद का नूर रखिया हूँ सो तुमीं बूझो होर जानो हरेक पराई पछाँत करना वाजिब है, ये बड़ी न्यामत है।"—मेराजुल आशिकीन

(आ) "दुआ माँगने का तरीका यों है के हातां दोनों दराज करे। खांदयां के मुकाबिल होर दोनों हातां के दरमियानी खड्डा अछे होर दुआ माँगे बाद अज मूं पर सूं हातां उतारे यो सब सुन्नत है।"

—अहकामुस्सलात

1. "न आफत देखे न जलजला, अपे भले तो आलम भला, किसी कूं बुरा बोलना यो बिसवास है, भलाई बुराई सब अपने पास है। आपे चल नीं जानते, दुसयाँ पर बुरा मानते, अव्वल अपनी खबर में आपे रहना, पीछे दुसयाँ कूं बुरा कहना, जिनें अपसकूं पछान्या, उने सब जान्या, जिधर ढलना है, उधर अक्ल के उजाले में बसता है।"—सबरस

राजस्थानी-गद्य

राजस्थानी की विभाषाओं में केवल मारवाड़ी में समृद्ध गद्य-परम्परा प्राप्त है जयपुरी (ढूंढाहड़ी) पश्चिमी हिन्दी (ब्रजभाषा-खड़ीबोली) से प्रायः अभिन्न है। परम्परा अठारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। मेवाड़ी और मालवी में गद्य की नगण्य है।[1] मारवाड़ी में गद्य ईसा की तेरहवीं शताब्दी से ही उपलब्ध होता है। (वर्णनात्मक-कथात्मक) और धार्मिक गद्य के साथ राजस्थानी में इतिहासविषयक, (काग़ज़-पत्र आदि) और चिकित्सा, गणित, ज्योतिष, व्याकरण, कामशास्त्र, जन्त्र-तन्त्र आदि विषयों पर लिखित गद्य भी प्राप्त होता है। इस समय के प्रमुख हैं—चरित्र, वर्णन, वचनिका, कथा (मौलिक ललित); गुर्वावली, वंशावली, पत्र (कहीं-कहीं इनमें लालित्य भी है); बालावबोध, टबा, वृत्ति, अवचूरि (अमौलिक)।

राजस्थानी की प्राचीनतम प्राप्त गद्य-रचनाएँ हैं—'आराधना' (१२७३ ई० के दो पृष्ठों में जैन-आराधना-क्रिया का प्रतिपादन)[2], 'बालशिक्षाटीका' (१२७९ ई०, एक व्याकरण की टीका), 'जगत सुन्दरी प्रयोगमाला' (तेरहवीं शती, पद्य-गद्यमय वैद्यक गद्यांश अत्यल्प), 'अतिचार' (१२८३), 'नवकार व्याख्यान टीका' (१३०१), नमस्कार स्तवन' (१३०२), 'अतिचार' (इस शीर्षक की दूसरी रचना, १३१२ ई०)। प्रथम और अन्तिम चार रचनाएँ जैनधर्मविषयक हैं। इन सभी पर अपभ्रंश का प्रभाव है इनमें संस्कृत के तत्सम तथा समस्त शब्द भी प्रयुक्त हैं। ये रचनाएँ आदिकाल की आती हैं।

भक्तिकालीन गद्य-रंचनाओं में उल्लेखनीय हैं—'तत्त्वविचार प्रकरण' (चौदहवीं 'षडावश्यक बालावबोध' (१३५४), 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' (१४२१), 'धनपाल कथा' (शती), 'तपोगच्छ गुर्वावली' (१४२५), 'अचलदास खीची री वचनिका' (१४२८, गद्य- 'अंजनासुन्दरी कथा' (सोलहवीं शताब्दी)। इनमें प्रथम, द्वितीय तथा पंचम जैन-धर्म-सम्ब और शेष चार ललित गद्य की कथात्मक-वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। इन चार रचनाओं में तुकमय, और यत्र-तत्र काव्यात्मक, गद्य व्यवहृत है। 'वचनिका' संज्ञक रचना में, रचयिता शिवदास चारण है, अचलदास खीची की वीरता का वर्णन है। इन चार में निका के अतिरिक्त शेष तीन रचनाएँ जैन-धर्म से किसी-न-किसी रूप में सम्बद्ध हैं। स्थानी-गद्य के निर्माण में जैन लेखकों का विशेष योग रहा है। 'षडावश्यक बालावबोध जो तरुणप्रभ सूरि-कृत अनूदित व्याख्यात्मक ग्रन्थ है, जैन धर्म सम्बन्धी शिक्षात्मक हैं। 'तपोगच्छ गुर्वावली' में तपोगच्छीय जैन आचार्यों की नामावली और उनका वर्णन इसका गद्य यत्र-तत्र अलंकृत और सानुप्रास है।

'षडावश्यक' के अतिरिक्त भक्तिकाल में 'उपदेशमाला', 'शीलोपदेशमाला', शास्त्र', 'षष्टिशतक' आदि और भी बहुत-से ग्रन्थों पर 'बालावबोध' शीर्षक कथात्मक लिखी गयीं। 'टबा'; 'वृत्ति' और 'अवचूरि' नामक टिप्पणियाँ भी लिखी गयीं। टीका प्राप्त हैं। चरित्र-ग्रन्थों और कथा-ग्रन्थों के अतिरिक्त वातों, वार्त्ताओं, दवावैतों, वचनि

---

१. मेवाड़ी का प्रयोग राणा कुंभा के नाटकों में यत्र-तत्र और 'वेलि' की वल्लया-टीका में हुआ है। में भी कुछ पट्टे-परवाने प्राप्त होते हैं।

२. कुछ व्यक्ति 'राउल वेल' या रोड-कृत शिलालेख को राजस्थानी की प्राचीनतम गद्य-रचना मानते परन्तु यह अपभ्रंश की रचना है।

ख्यातों, वंशावलियों, पीढ़ियों, पत्रों, गुर्वावलियों, जैन पट्टावलियों और दफ़्तर-बहियों के रूप में मध्यकाल में राजस्थानी में ललित-अललित दोनों प्रकार का गद्य प्रचुर परिमाण में लिखा गया। वात-साहित्य भक्तिकाल तक प्रायः मौखिक रूप में रहा। 'वार्ता' संज्ञक कथात्मक रचनाएँ, 'दवावैत' संज्ञक रचनाएँ, ख्यात और पीढ़ियाँ भक्तिकाल के बाद की हैं।

उल्लिखित रचनाओं में साहित्यिक दृष्टि से 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। माणिक्यसुन्दर सूरि की इस रचना में राजा पृथ्वीचन्द्र के चरित्र, रत्नमंजरी से उसके प्रेम और द्वीप, नदी, पर्वत, नगर, राजसभा, सेना आदि का वर्णन है। इसमें प्रयुक्त गद्य शुद्ध और तुकमय दोनों प्रकार का है।[1] 'अचलदास खीची री वचनिका' में भी गद्य अधिकांश में तुकमय है।[2]

उल्लिखित रचनाओं के अतिरिक्त भक्तिकाल की अन्य राजस्थानी रचनाएँ हैं—'आदिनाथ चरित्र', 'कालिकाचार्य कथा' (रचनाकार अज्ञात), श्रावकव्रतादि अतिचार'[3] (रचनाकार अज्ञात), 'वस्तुपाल तेजपाल रास' (हीरानन्द सूरि-कृत गद्य-पद्यमय रचना), 'सिद्धान्तसारोद्धार' (कमलमयंक-कृत खण्डन-मण्डनात्मक रचना जिसमें मूर्तिपूजा का समर्थन है), सोमप्रभ सूरि-कृत 'औक्तिक', मेरुसुन्दरोपाध्याय-रचित 'प्रश्नोत्तर ग्रन्थ', किसी अज्ञात-नाम लेखक का 'सम्यक्त्व के दस भेद', 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र' की अवचूरि, 'दशवैकालिक सूत्र' की अवचूरि (ये दोनों व्याख्यात्मक हैं), 'गणितसार' (१३९२ ई०, राजकीर्ति मिश्र की संस्कृत-रचना का श्रीधर-कृत अनुवाद; मापों, बाटों और सिक्कों की चर्चा), 'मुग्धावबोध मौक्तिक टीका' (१३९३ ई०, एक संस्कृत-व्याकरण की टीका), 'कोकशास्त्र बालावबोध' (कोकशास्त्रविषयक रचना की टीका), 'गणितपंचविंशतिका बालावबोध' (शम्भूदास मन्त्री), 'उक्तिसंग्रह भाष्य' (तिलक पण्डित, व्याकरण)।

मारवाड़ी की भक्तिकालीन स्वतन्त्र (मौलिक) गद्यमय और गद्य-पद्यमय रचनाओं में वंशावली, पट्टावली, गुर्वावली और पीढ़ियावली नामक रचनाएँ भी उल्लेखनीय हैं। ये रचनाएँ इतिहास के अनेक सूत्र प्रस्तुत करती हैं। सोलहवीं शती की 'राठोडां री वंशावली' प्रसिद्ध है। जैन गुर्वावलियाँ और जैन पट्टावलियाँ भी प्राप्त हैं। ख्यातों की अपेक्षा वंशावलियाँ, पट्टावलियाँ और पीढ़ियावलियाँ प्राचीनतर हैं। वंशावलियों में राजाओं के राज्य-लाभ और जन्म-मरण के संवतों का निर्देश तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं की चर्चा है।

प्राचीन राजस्थानी के कुछ आज्ञा-पत्र, सनद-पत्र और ताम्रपत्र भी प्राप्त हैं। पण्ड्याजी द्वारा प्रकाशित पृथ्वीराज और राजा समरसी सम्बन्धी पत्रों के अतिरिक्त १२७२ ई० (?) की एक मेवाड़ी सनद, १४७५ तथा १५३२ ई० के दो ताम्रपत्र और १५३६ ई० की एक भित्ति-प्रशस्ति प्राप्त है।

---

[1] उद्धरण—"मधुर ध्वनि मेघ गाजइ। दुर्भिक्ष तणा भय भाजइ। जाणे सुभिक्ष भूपति आवतां जयढक्क वाजइ। चहुं दिशि बीज झल हलइ, पंथी गरभणी पुलइ। विरीत आकाश, सूर्य चन्द्र परिपास राति अंधारी लवइ तिमिरी। उत्तर नउ ऊनयण, छायउ गयण। दिसि घोर नाचइं मोर। सधर बरसइ धराधर। पाणी तणा प्रवाह खलहलइं, वाड़ि ऊपर वेल वलइं।"

[2] उद्धरण—"महाराज़ माँगियों सो पायों। बाचा बँधो सुरताण पातसाह आयों। रावजी खत्री धरम रो कितारथ कीजै। लंका प्रमाण गढ़ि गागुरण लीजै। मीर मुगल साके आण धमधमो उठायो। गढ़ि प्रमाण मोरचो बणायो। धारा पनड़ा बखड़ा उजड़ा पमाय तेल ले ह्ाम पड्या। इग्यारै हज़ार नर खलहाणं, हिन्दू मुसलमांण।"

[3] 'श्रावक बृहदतिचार' शीर्षक एक रचना जयशेखर सूरि के नाम से प्राप्त है।

भक्तिकाल में प्राकृत-संस्कृत के 'षडावश्यककरण', 'उपदेशमाला', 'शीलोप 'गौतम पृच्छा', 'कल्याण मन्दिर स्तोत्र', 'भक्तामरस्तोत्र', 'सूयगडांगसुत्त', 'दशवैका आदि ग्रन्थों की गुजराती-मारवाड़ी व्याख्याएँ बालावबोध, टवा, वृत्ति और अवचू लिखी गयीं। सिद्धान्त-ग्रन्थों और आगमों की भी व्याख्याएँ मिलती हैं। कुछ टीका- प्राप्त हैं। इस समय के प्रमुख बालावबोधकार हैं—तरुणप्रभ सूरि, सोमसुन्दर सूरि, सूरि, मेरुसुन्दर, जयशेखर सूरि, हेमहंसगणि, शिवसुन्दर पर्वतधर्मार्थी। टीकाकारों में कलश टीका' के निर्माता पाण्डे राजमल्ल का नाम उल्लेख-योग्य है। कुशलधीर क्रिसन रुषमणी री टीका' भक्तिकाल के अन्त की टीका है।

संक्षेप में, भक्तिकाल में साहित्यिक (ललित) गद्य बहुत कम परिमाण में रचा इस समय की ललित ग्रन्थ-रचनाओं की संख्या बीस से अधिक नहीं है। भक्तिकाल के गद्य का भी परिमाण विशाल नहीं है। बौद्धिक व्यावहारिक जीवन के अपेक्षाकृत कम होने; तत्कालीन जन-मानस के आज की अपेक्षा अधिक भावुक, काव्यप्रिय और होने; भक्ति-आन्दोलन की तीव्रता; संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश की पद्य-प्रश्रय- प्रेम का अभाव, काग़ज़ की कमी; साहित्य को कण्ठस्थ करने की परम्परा और राज विभाषाओं में व्याख्यानुवाद की प्रवृत्ति प्रबल न होने के कारण गद्य का विकास में न हो सका। साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए पद्य ही इस समय तक प्रमुख और माध्यम था। गद्य का उपयोग अधिकतर सिद्धान्त-निरूपण, धार्मिक-दार्शनिक चर्चा, के स्पष्टीकरण और व्याख्या के लिए होता था। यों विधाओं और विषयों की संख्या नहीं है, परन्तु आधुनिक गद्य के विधा-विषय-वैविध्य की तुलना में वे नगण्य प्रतीत हों

भक्तिकाल का खड़ीबोली-गद्य प्रायः मिश्रित रूप है; वह ब्रजभाषा से और अथवा राजस्थानी से पर्याप्त रूप में प्रभावित है। दक्खिनी-गद्य के अतिरिक्त, फ़ारसी-अरबी का विशेष प्रभाव है, संस्कृत की तत्सम शब्दावली का आग्रह थोड़ा-बहु मिलता है। दक्खिनी की भी अनेक रचनाओं में संस्कृत के तत्सम-अर्धतत्सम शब्द प्रयु अपभ्रंश-शैली के उद्वृत्त शब्द-रूप भी कुछ रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं।

गद्यात्मकता की दृष्टि से भक्तिकाल का गद्य स्थूलतः द्विविध है—तुकमय गद्य और तुकरहित शुद्ध गद्य। तुकमय गद्य की प्रवृत्ति राजस्थानी, दक्खिनी, खड़ीबोली प्रायः सभी विभाषाओं में रही है। गद्य के साथ पद्य और पद्य के बीच गद्य रखने की भी प्रचलित थी। गद्य-पद्य के समावेश की दृष्टि से इस समय की रचनाएँ सामान्य तीन प्रकार की हैं—(अ) पूर्णतः गद्य की रचनाएँ, (आ) गद्यप्रधान रचनाएँ, जिन भी यत्र-तत्र प्रयुक्त है, (इ) पद्यप्रधान रचनाएँ, जिनमें गद्य यत्र-तत्र लिखा गया है। की दृष्टि से देखें तो कुछ रचनाएँ काफ़ी बड़ी हैं, कुछ संक्षिप्त और कुछ बहुत छोटी दो-तीन पृष्ठों की हैं।

अध्याय : ८

भक्तिकाल की उपलब्धियाँ

मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य का पूर्व-मध्ययुग भक्तिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। 'भक्तिकाल' शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करनेवाला है अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी-साहित्य का 'स्वर्ण-युग' कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी-काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुतः निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होनेवाला यह काव्य गुणवत्ता और परिमाण दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य-विधाओं के आधार पर भी इस काल को हम अन्य कालों के काव्य से अधिक समृद्ध पाते हैं। जिस समय इस काल के लिए 'स्वर्ण-युग' शब्द का प्रयोग किया गया था तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्द्धशताव्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तत्कालीन सीमाओं में भक्तिकाल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था।

निर्गुण सन्त-काव्य : भक्तिकाल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त-काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन सन्त कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति का सन्देश दिया। भक्ति के क्षेत्र में ये सन्त कवि भारतीय निर्गुण-भावना के समीप होते हुए अद्वैत-दर्शन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी; दार्शनिक मतवाद या भेदाभद के प्रपंच से उनका साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खण्डन किया। मिथ्या आडम्बरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज-सुधारक कर सका था और न परवर्ती युग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन सन्त कवियों का एक बड़ा भाग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की प्रतिष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण सन्तों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा प्रहार किया। विद्वान् दार्शनिक पण्डितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वर्ग तक था, किन्तु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और समाज के सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए।

सन्त कवियों के पास धर्म, दर्शन, भक्ति और चरित्र-निर्माण के लिए अपना नि सन्देश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत-दृष्टि के एकेश्वरवाद के समर्थक थे; भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकाण्ड-रहित निष्ठा और समर्थन में विश्वास रखते थे और चरित्र-विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन-निर्माण की कसौटी मानते थे।

इसके साथ ही सन्तों में समन्वय-दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास निरंजनी आदि सन्तों ने जिस रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं उनका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति-भावना, सिद्धों-नाथों की सहज-सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजन-सुलभ थी, फलतः सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। सन्तों ने शास्त्र-वचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठोर चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र-मर्यादा भी शिथिल हो गयी। मानव को परम्परागत रू शास्त्र-परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण सन्त कवियों की आत्मानुभवमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुतः ये कवि अपने युग के मिथ्याडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्घाटन का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी मिथ्या या अननुभूत तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।

इस युग के सन्त कवि ईश्वर की सत्ता और सर्वशक्तिमत्ता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि मैं चौराहे पर सिर पर कफ़न बाँधकर खड़ा हूँ, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है; जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो वह मेरे साथ आय। ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का उद्बोध करना उस युग में सम्भव हो सका, यह कम आश्चर्य की बात नहीं है।

यह ठीक है कि इन कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही पहले पढ़ते रहे, किन्तु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा वह काव्यहीन भी नहीं है। जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जन-भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएँ जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गयी हैं। आज भी इन सन्तों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

एक बात और ध्यातव्य है। इन सन्तों ने अपने युग में जिन धारणाओं और मान्यताओं का खण्डन किया, उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पन्थ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीर-पन्थ, नानक-पन्थ, मलूकदासी, शिवनारायणी आदि पन्थों का उदय इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि सन्तों की साधना उनके बाद पुनः पूजा का विषय बन गयी। गुरुपूजा तो इन पन्थों में अनिवार्य ही हो गयी। नानक के नाम से सिख-मत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीर-पन्थ चल पड़ा। वस्तुतः जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है। वीर-पूजा की भावना भी उसे पन्थ बनाने में प्रेरक होती है। इसी मताग्रह के कारण परवर्ती शिष्य-परम्परा मूल उद्देश्य से दूर जा पड़ती है। यदि निर्गुण सन्त-काव्य-परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार किया जाए, तो वह मानव-समाज के साम

हित कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में, उसे धर्म-निरक्षेप सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। सन्तों ने तथाकथित जाति या वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि में मानववाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था सम्भव थी। जिस लक्ष्य को ये सन्त कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्वजनसुलभ ध्येय था। अतः अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, समता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोज़ा, नमाज़, मन्दिर-मस्जिद, तीर्थ-व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया।

प्रेमाख्यानक काव्य : निर्गुण सन्त कवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्य-धारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में 'प्रेमाख्यानक काव्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। इस धारा के कवियों का विस्तारपूर्वक पहले वर्णन किया गया है। भक्तिकाल को 'स्वर्ण-युग' बनाने में इस धारा के कवियों का योगदान भी किसी से कम नहीं है। प्रेमाख्यानक काव्य की दो धाराएँ प्राप्त होती हैं—एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् ईश्वरीय प्रेम का वर्णन करने में अपने कवि-कर्म की सार्थकता समझते हैं, दूसरी धारा के कवि लौकिक प्रेम के आख्यानों को कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिन्दी-साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान प्राप्त नहीं हो सका जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न प्रेमाख्यानकारों में सूफ़ी-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखनेवाले सन्तों का बाहुल्य है। इन सन्तों ने भारतीय हिन्दू जनता में प्रचलित कथाओं के आधार पर प्रबन्धकाव्यों की रचना की और हिन्दू धर्म में स्वीकृत देवी-देवताओं का भी अपने काव्यों में उल्लेख किया। भारतीय जन-मानस में व्याप्त प्रेम-कथाओं को स्वीकार करने का सम्भवतः यही प्रमुख कारण था कि हिन्दू जनता भी सूफ़ी प्रेमाख्यान-काव्यों से कथा के स्तर पर तादात्म्य कर सके। कुछ विद्वानों ने एक अन्य प्रच्छन्न कारण की कल्पना की है। उनके मतानुसार सूफ़ी सन्त कवि इस्लाम धर्म के प्रचार के लिए काव्य-प्रणयन में लीन हुए थे। किन्तु, इन प्रबन्धकाव्यों के अनुशीलन से ऐसा कोई उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। हाँ, एकेश्वरवाद की भूमि पर इस्लाम की भावना की प्रतिष्ठा अवश्य होती है। मुल्ला दाऊद, जायसी, कुतुबन, मंझन, उसमान, शेख नबी आदि सूफ़ी कवियों के काव्य तथा हिन्दू कवियों में नन्द-दास, नारायणदास, पुहकर आदि की रचनाएँ आध्यात्मिक प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा में प्रमुख हैं। दक्खिनी हिन्दी में भी प्रेमाख्यानक परम्परा में लिखे आख्यान-काव्य उपलब्ध होते हैं। निज़ामी, मुल्ला वजही, गवासी, तवई आदि दक्खिनी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं।

सूफ़ी प्रेमाख्यानक परम्परा के कवि निर्गुणोपासक थे, किन्तु ईश्वर विषयक वर्णनों में प्रतीकात्मक शैली को स्वीकार करने के कारण सगुण का आभास भी उनके काव्य में प्राप्त होता है। सूफ़ी-सम्प्रदाय में आत्मा सदैव परमात्मा की प्राप्ति के लिए व्याकुल रहती है। इस व्याकुलता में ईश्वर का प्रेम ही उसका एकमात्र सम्बल है। यह प्रिय-वर्णन काव्य में नायक-नायिका के प्रेम-वर्णन के सदृश ही है।

सूफ़ी कवियों ने अपने काव्य के माध्यम से हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय का प्रयास किया है। यह प्रयास प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में देखा जा सकता है। इतना अवश्य है कि इस्लामी दर्शन और मुस्लिम संस्कृति की श्रेष्ठता पर इन कवियों का ध्यान सतत रहा है। कबीर को यह श्रेय प्रदान किया गया है, किन्तु वास्तविकता यह है कि कबीर ने

हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य का कोई प्रयास नहीं किया था—यदि यह प्रयास कहीं काव्य के माध्यम से लक्षित होता है, तो इन्हीं प्रेमाख्यानों में ही। काव्य के माध्यम से भावात्मक एकता का यह प्रयास हिन्दी-भक्ति-साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूफ़ी कवि जायसी के 'पदमावत' की समीक्षा करते हुए उसके प्रेम और मानवतावादी प्रभाव को इस प्रकार स्पष्ट किया है : "अपनी कहानियों द्वारा इन्होंने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा, जिनका मनुष्यमात्र के हृदय पर एक सामान्य प्रभाव दिखायी पड़ता है। इन्होंने मुसलमान होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखलाया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था, प्रत्यक्ष जीवन की एकता का आभास उन्होंने नहीं दिया। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी रही, वह जायसी द्वारा पूरी हुई।"

संक्षेप में सूफ़ी सन्त-काव्य-परम्परा का समस्त काव्य सांस्कृतिक, सामाजिक एवं साहित्यिक स्तर पर अपने पूर्ववर्ती काव्य से सर्वथा भिन्न, किन्तु जन-मानस के अति निकट है और समाज को आडम्बर से मुक्त करनेवाला है। उसका सन्देश ईश्वर-प्रेम के साथ मानवतावाद से भी परिपूर्ण है। भाव और भाषा के धरातल पर यह काव्य सर्वजनसुलभ और संवेद्य है, इसलिए इस काल को 'स्वर्ण-काल' कहा गया है।

सगुण भक्तिकाव्य : भक्तिकाल का श्रेष्ठतम काव्य सगुण भक्तिकाव्य ही है। सगुण भक्ति का विवेचन करते हुए हमने राम और कृष्ण की भक्ति-परम्परा का विस्तार से वर्णन किया है। उन भक्त कवियों का विवरण भी हमने दिया है, जो किसी सम्प्रदाय-विशेष से सम्बद्ध न होकर स्वतन्त्र रूप से ईश्वर-भक्तिपरक काव्य लिखने में लीन रहे। यह समस्त वर्णन जन-मानस को भक्ति के उस उच्च स्तर पर प्रतिष्ठित करनेवाला है, जहाँ वह भगवान् को अपने अति निकट सगुण रूप में देख सकता है। रूप, गुण, शील और सौन्दर्य की मूर्ति भगवान् को अपने समीप देख पाने की लालसा भक्त की सहज इच्छा है। इस इच्छा की पूर्ति पहली बार इसी काव्य के माध्यम से हुई।

सगुण भक्तिकाव्य ने मध्ययुगीन हिन्दू जनता में जिस रूप में ईश्वर-विश्वास पैदा किया, वह अद्भुत और अभूतपूर्व था। हिन्दू जाति नैराश्यपूर्ण मनोदशा में जीवित थी, उसके लिए काव्य-रूपी संजीवनी का प्रयोग इन भक्त कवियों द्वारा किया गया और वह चमत्कारी सिद्ध हुआ। अवसाद, कुण्ठा, निराशा और दैन्य भावना से मुक्त होकर हिन्दू जाति ईश्वर के सगुण अवतारी रूप में आश्रय पा सकी, यह भक्तिकाव्य की सबसे बड़ी देन कही जाएगी।

इस काल के भक्त कवियों ने लोक-मानस को आश्वस्त करने में माता-पिता, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, पति-पत्नी, भाई-बहिन, राजा-प्रजा आदि पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धों का वर्णन किया और उनको आदर्श की भित्ति पर प्रतिष्ठित करने में सफलता प्राप्त की। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' इस दिशा में सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। लोक-मर्यादा की स्थापना के लिए इससे उत्तम ग्रन्थ न तो हिन्दी में पहले लिखा गया था और न इसके बाद लिखा गया। तुलसी के अन्य ग्रन्थ भी भक्ति, प्रेम और समन्वय की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं। उन्होंने अपने प्रकार के समन्वय पर बल देकर समाज को विशृंखल होने से बचाया था। शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों के आभ्यन्तर वैमनस्य को दूर करने का जैसा स्वस्थ एवं

त प्रयास तुलसी ने काव्य के माध्यम से किया, वैसा हिन्दी-साहित्य के इतिहास में कभी हीं हुआ। काव्य-रूपों की दृष्टि से भी उन्होंने अपनी प्रतिभा और मेधा का परिचय दिया। स समय हिन्दी-कविता में जो काव्य-विधाएँ प्रचलित थीं, प्रायः सभी का तुलसी ने अपनी चनाओं में प्रयोग किया। महाकाव्य, मुक्तक, पद-शैली, दोहा-शैली, कवित्त-सवैया-शैली ादि काव्य-रूपों में जैसी सफलता तुलसी को प्राप्त हुई, वैसी किसी अन्य कवि को प्राप्त हीं हो सकी।

इसी युग में कृष्णभक्त कवियों की विशाल परम्परा हिन्दी-साहित्य में उदित हुई। ष्टछाप के कवियों में सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा ो काव्य-सर्जना की, वह अप्रतिम है। अष्टछाप के कवियों ने मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति ो परिष्कृत करने के लिए जो भाव-सम्पदा अपने काव्य में प्रस्तुत की, वह अनेक दृष्टियों े समृद्ध और सुन्दर है। कुछ आलोचकों ने सूरदास आदि कवियों को सिद्धावस्था का कवि हकर वह स्थान नहीं दिया है, जो प्रयत्न-दशा का वर्णन करनेवाले कवि तुलसी को दिया है। सूरदास की भक्ति का आधार पुष्टि अर्थात् भगवत्कृपा है। इसी कृपा के सहारे मनुष्य पने दुःख-दैन्य से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। अनुग्रह और प्रपत्ति का यह मार्ग मानव का बसे बड़ा सम्बल है। इस सम्बल को खोज निकालने का श्रेय इन्हीं कृष्णभक्त कवियों को है।

वैष्णव कृष्णभक्त कवियों की एक बड़ी देन है—साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्णभक्ति ा विविध रूपों में पल्लवन। इस काल में वल्लभ-सम्प्रदाय, राधावल्लभ-सम्प्रदाय, निम्वार्क-म्प्रदाय, हरिदासी (सखी) सम्प्रदाय, गौड़ीय सम्प्रदाय आदि अनेक सम्प्रदायों का प्रवर्तन ुआ और इन सम्प्रदायों के शताधिक कवियों ने राधा-कृष्ण की विविध लीलाओं का बड़ी नोहारी शैली में वर्णन प्रस्तुत किया। इन वर्णनों में भाषा और भाव का सौन्दर्य अपने रम उत्कर्ष पर पहुँचा और भक्तजन को उसे पढ़कर हार्दिक परितोष हुआ।

काव्य-शिल्प की दृष्टि से भक्तिकाल का काव्य बहुत ही समृद्ध है। यह ठीक है कि क्त होने के कारण इन कवियों की मूल प्रेरणा का स्रोत काव्यशास्त्र न होकर भक्ति-भाव ही था, किन्तु कुछ सन्त कवियों को छोड़कर राम-कृष्ण-परम्परा के सभी कवि उच्च कोटि के कवि थे। काव्यशास्त्र का उन्हें सम्यक् ज्ञान था और उसका प्रयोग भी उनकी रचनाओं में हुआ है। इन कवियों ने छन्द और अलंकार का ध्यान रीतिकवियों के समान नहीं रखा, किन्तु इस काव्य को छन्द-अलंकार-विहीन भी नहीं कहा जा सकता। तुलसी और सूर के काव्य में तो अप्रस्तुत-विधान का सौन्दर्य अपने पूर्ण निखार पर है। शायद ही कोई ऐसा अलंकार हो, जिसका सुष्ठु प्रयोग इन कवियों ने न किया हो। काव्य और संगीत का समन्वित सम्मिश्रण यदि कहीं अपने आकर्षक रूप में हुआ है, तो भक्तिकालीन काव्य में ही। लय, स्वर, ताल, यति, गति आदि की साधना के बाद पद-शैली में जो काव्य इन कवियों ने रचा वह परवर्ती कवियों के लिए अनुकरणीय बन गया। वस्तुतः कृष्णभक्ति-काव्य भगवान् को रिझाने के लिए गेय शैली में ही लिखा गया था। संकीर्तन के लिए इन पदों का प्रतिदिन मन्दिरों में प्रयोग होता था, अतः संगीत का सन्निवेश इस काव्य में स्वाभाविक था।

काव्यशास्त्र की कसौटी पर यदि इस काल के काव्य की समीक्षा की जाए तो हम देखेंगे कि सौन्दर्य-विधायक सभी तत्त्व इस युग के काव्य में भरपूर मात्रा में उपलब्ध हैं। रस, रीति ध्वनि, वक्रोक्ति, अलंकार, गुण, वृत्ति आदि का प्रयोग इन कवियों ने जिस सहजता के साथ किया है, वैसी सहजता के साथ रीतिकालीन कवि भी नहीं कर सके। रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयत्न-सापेक्ष होने से सहज नहीं रह गया है।

भक्ति-भावना को सम्प्रदाय या मत-पन्थों से असम्पृक्त रखते हुए काव्य-रचना
वाले श्रेष्ठ कवि भी इस काल में उत्पन्न हुए। मीरां, रहीम, रसखान, सेनापति आदि
का काव्य साम्प्रदायिक नहीं है; किन्तु भक्ति, ईश्वर-प्रेम और प्रकृति-प्रेम जिस उदात्त
पर इनकी रचनाओं में मिलता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। मीरां का कृष्ण-प्रेम अथवा
भक्ति समर्पित व्यक्तित्व की सुन्दरतम झाँकी है। रसखान का कृष्ण और व्रज के प्रति
हिन्दी-साहित्य में अप्रतिम है। रहीम की नीतिविषयक रचनाएँ व्यवहार के स्तर पर
हैं। सेनापति का प्रकृति-वर्णन शुद्ध आलम्बन का प्रकृति-वर्णन है जिसमें प्राकृतिक
सजीव हो उठे हैं। इस प्रकार के सुन्दर और संश्लिष्ट प्रकृति-वर्णन रीतिकाल में भी
नहीं हैं।

इस प्रकार गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से कथ्य तथा कथन को पूर्ण
प्रदान कर आनन्द और कल्याण—निःश्रेयस् और अभ्युदय—के समन्वय द्वारा इस
कवियों ने जो कीर्तिमान स्थापित किये, वे परवर्ती युगों में प्रायः दुर्लभ ही रहे।

तृतीय खण्ड

उत्तर-मध्यकाल
अथवा
रीतिकाल

अध्याय : ९

उत्तर-मध्यकाल अथवा रीतिकाल

करण

हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्यकाल (लगभग सन् १६४३ ई० से सन् १८४३ ई०), जिसमें सामान्य रूप से शृंगारपरक लक्षण-ग्रन्थों की रचना हुई, नामकरण की दृष्टि से नों में पर्याप्त मतभेद का विषय रहा है। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'अलंकृत काल' कहा है, कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इसे 'रीतिकाल' और पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'शृंगारकाल' देते हैं। इन अभिधानों में से प्रथम दो के लिए जहाँ रचना-पद्धति का आधार ग्रहण गया है, वहाँ अन्तिम उस युग की रचनाओं के आधार पर है। किन्तु, इस युग के लिए कृत' विशेषण अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता। कारण, मिश्र महोदयों ने इसके समर्थन ो यह तर्क दिया है कि इस युग की कविता को अलंकृत करने की परिपाटी अधिक थी, सलिए मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यह कविता केवल अलंकृत ही नहीं है, इतर ांगों को भी इसमें यथोचित स्थान प्राप्त रहा है; कवियों की प्रवृत्ति भी केवल अलंकार- रचनाएँ करने की नहीं थी—उन्होंने इसकी अपेक्षा रस पर अधिक बल दिया है। हाँ, -काव्यशास्त्र में 'अलंकार' शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। अतः इस में यदि 'अलंकार' विशेषण इस युग की काव्यांग-निरूपण-प्रवृत्ति के लिए ग्रहण किया , तो असंगत नहीं। पर चूँकि 'अलंकृत' शब्द (क्त प्रत्यय के कारण) इस युग की कविता ी विशेषण हो सकता है—लक्षण-ग्रन्थों का नहीं, जो प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं; लए इस युग को किसी सीमा तक 'अलंकार काल' कहना भी युक्त नहीं हो सकता है। हिन्दी में 'अलंकार' शब्द काव्यांगविशेष के लिए ही रूढ़ है—काव्यशास्त्र के लिए गृहीत होता; अतः व्यवहार—और इसलिए अव्याप्ति के कारण इसको स्वीकार करना भी प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक शेष दो विशेषणों—'रीति' और 'शृंगार' का प्रश्न है, वे दोनों ही अपने- स्थानों पर महत्त्वपूर्ण हैं। इस युग के लिए 'रीति' विशेषण का प्रयोग करनेवाले आचार्य न्द्र शुक्ल तक ने इसे 'शृंगारकाल' कहे जाने में आपत्ति प्रकट नहीं की। किन्तु, इसका यह कदापि नहीं कि इस युग को 'शृंगारकाल' कहना सर्वथा समीचीन है। इस नाम प में जो यह तर्क दिया जाता है कि इस युग के कवियों की [illegible] प्रवृत्ति शृंगार-

वर्णन की थी, उसके स्वीकार किये जाने में आपत्ति की जा सकती है। इसमें
इस युग में अधिकांश रचनाएँ शृंगारिक ही हैं, तथापि ये आश्रयदाताओं को
लिए ही लिखी गयी हैं—इनका प्रेरक तत्त्व कवियों की काम-वासना नहीं,
विलासी आश्रयदाताओं से इस प्रकार के काव्य की रचना करके ही प्राप्त कि
था। वैसे, इस युग में अनेक ऐसे कवि भी हुए हैं जो इस प्रकार के वर्णन करने
कर्म से असन्तुष्ट रहे हैं। यथा :

नृपति नैन कमलनि वृथा, चितवत वासर जाहि।
हृदय कमल में हेरि लै, कमलमुखी कमलाहि ॥३९४॥ (मतिराम

इसी प्रकार भिखारीदास के इस कथन से कि—

आगे के कवि रीझिहैं, तौ कबिताई, न तौ
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है ॥१/८॥ (भिखारीदास :

स्पष्टतः यह ध्वनि निकलती है कि इस प्रकार के शृंगारिक काव्य को वे 'काव्य'
ही संकोच करते थे। गोप, रसरूप, सेवादास आदि कतिपय कवियों द्वारा अपने
में शृंगार का बहिष्कार भी इसी बात को प्रमाणित करता है कि इन कवियों की
शृंगारिक नहीं थी; शृंगार-वर्णन के स्थान पर वे अपने ग्रन्थों का प्रणयन
काव्यांग-निरूपण के उद्देश्य से ही करते थे। अनेक कवियों ने अपने ग्रन्थों में प्राय
है कि वे इनका निर्माण दूसरों को काव्य-रचना-पद्धति का ज्ञान कराने के लिए
उदाहरण के लिए देखिए—

(क) *भाषाभूषण ग्रन्थ को जो देखै चित लाय।*
विविध अर्थ साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय ॥२१२॥
(जसवन्तसिंह :

(ख) *जान्यौ चहै जु थोरे ही, रसकवित्त को वंस।*
तिन्ह रसिकन के हेतु यह, कीन्हो रससारंस ॥५॥
(भिखारीदास :

(ग) *बाँचि आदि तें अन्त लौं, यह समुझै जो कोइ।*
ताहि और रस ग्रन्थ को, फेरि चाह नहिं होइ ॥ (रसलीन :

वस्तुतः इस युग में कवि काव्यांग-चर्चा में उसी प्रकार गौरव का अनुभ
जिस प्रकार कि ब्रह्मज्ञान विषयक चर्चा भक्तिकाल में जन-सामान्य के लिए गौरव
हुआ करती थी। ये लोग यद्यपि उस अर्थ में आचार्य नहीं थे जिसमें कि संस्कृत के
विवेचक आचार्य आते हैं, पर स्वच्छ और सुबोध निरूपण के कारण 'शिक्षक' के
आचार्य कहे ही जा सकते हैं। इनमें चिन्तामणि, कुलपति, दास, प्रतापसाहि आदि
जिन्होंने इस कर्म को अत्यन्त मनोयोग के साथ ग्रहण किया है। इनकी रचना
शृंगारिक छन्दों का समावेश हुआ है, तो उसका मुख्य कारण इनकी शृंगारिक
स्थान पर विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के अतिरिक्त शास्त्र के इस
सरस बनाकर सुकण्ठ करने का प्रयत्न ही कहा जाना चाहिए। यदि ये शृंगार-
अपना उद्देश्य समझते, तो लक्षणों के बन्धन में डालकर अपनी रचनाओं को कहीं
अथवा कवित्वहीन न कर बैठते—स्वतन्त्र ग्रन्थ भी तो रचे जा सकते थे। बिहारी
ने इस फेर में न पड़कर स्वतन्त्र रूप से शृंगारिक ग्रन्थों की रचना की ही है।
मूल में भी उनकी अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति थी, यह नहीं कहा जा सकता; कारण,

ताओं के लिए ही लिखे गये हैं। वैसे, इन ग्रन्थों की भलीभाँति परीक्षा की जाए तो ही स्पष्ट हो जाएगा कि इनके रचयिताओं पर भी काव्यशास्त्र की गहरी छाप है; लक्षण नहीं लिखे, पर उनके अनुरूप अपनी रचनाएँ अवश्य की हैं। मतिराम भूपति, आदि तो ऐसे हैं जिन्होंने काव्यशास्त्र के किसी अंग पर कुछ-न-कुछ लिखा भी है। यदि यह स्वीकार कर भी लिया जाए कि इस युग के कवियों की व्यापक प्रवृत्ति क ही थी तो भी इसे 'श्रृंगारकाल' कहने में अव्याप्ति दोष होगा क्योंकि इस दशा , भक्ति आदि श्रृंगारेतर रसों में ही रचे गये तथा काव्यांग-विवेचन की दृष्टि से लिखित महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध लक्षण-ग्रन्थ इसकी परिसीमा में न आ सकेंगे। इस सम्बन्ध में यह तर्क दिया जा सकता है कि चूँकि इनके रचयिताओं ने थोड़े-बहुत श्रृंगारिक छन्द हैं, इसलिए ये भी श्रृंगारकाल की परिधि के भीतर आ ही जाते हैं; किन्तु इसे इस-स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि विशिष्ट परिस्थितियों में लिखे गये कतिपय छन्द रचनाएँ न तो उनकी श्रृंगारिक प्रवृत्ति की ही द्योतक हो सकती हैं और न इन की विषय-भिन्नता के तथ्य से दृष्टि ही फेरी जा सकती है। अतः कह सकते हैं कि इस की मूल प्रवृत्ति श्रृंगारिक नहीं; और इसलिए इसे 'श्रृंगारकाल' कहना भी अपने आप ि-युक्त नहीं।

जहाँ तक इस युग को 'रीति' विशेषण-सहित प्रयोग में लाने का प्रश्न है, उसके विषय सहज ही कहा जा सकता है कि 'श्रृंगारकाल' की अपेक्षा यह अधिक वैज्ञानिक और है; कारण, इनमें रीति सम्बन्धी ग्रन्थ ही अधिकांशतः नहीं लिखे गये अपितु इस युग के ों की प्रवृत्ति भी ऐसे ही ग्रन्थ रचने की थी। इन कवियों ने यदि श्रृंगारिक छन्द रचे ो वे सामान्यतः स्वतन्त्र रूप से रचित न होकर श्रृंगार रस की सामग्री के लक्षणों के रूप होने के कारण रीतिबद्ध ही थे। इतना ही नहीं, रीति-निरूपण की यह प्रवृत्ति अपनी ट पृष्ठभूमि और परम्परा के साथ आयी थी। भक्तिकाल में ही काव्यशास्त्र लोगों र्चा का विषय बन चुका था। नन्ददास द्वारा 'रसमंजरी' जैसा नायिकाभेद सम्बन्धी ग्रन्थ ा जाना तथा तुलसी द्वारा 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती, मीन मनोहर ते बहु भाँती' कहा जाना इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ-ही-साथ केशव, रहीम, सुन्दर अनेक कवियों ने कवि-चर्चा के इस विषय को अग्रसर किया जो आगे चलकर साधारण यों तक का वर्ण्य विषय होने के कारण इस युग की प्रवृत्ति का द्योतक हो गया। दूसरे, अभिधान को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसकी परिधि के भीतर वे लक्षण और लक्ष्य ग्रन्थ ही नहीं आ जाते जो श्रृंगारिक रचनाओं से युक्त हैं, अपितु भी इसकी परिसीमा के बाहर नहीं पड़ते जो अन्य रसों में काव्यांग-विवेचन के निमित्त गये।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि 'रीतिकाल' संज्ञा भी अपने आप में व्यापक नहीं; कि घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर, सूदन आदि वे कवि भी तो इसके अन्तर्गत नहीं आ पाते होंने अपने काव्य-ग्रन्थों की रचना न तो काव्यांगों के विवेचन के लिए की और न उन पर शास्त्र का प्रभाव ही रहा; किन्तु इसके उत्तर में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि कवियों में सूदन, जोधराज प्रभृति गिने-चुने वीर-कवि वीरगाथा काल (आदिकाल) की परा में भी रखे जाने चाहिएँ; कारण, इनकी रचना-शैली उस युग के ग्रन्थों की शैली से नहीं है। वर्तमान युग में ब्रजभाषा-काव्य तथा काव्यशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ र अब भी हो रहा है, तो उनके सन्निविष्ट न हो सकने के कारण क्या 'आधुनिक काल'

अथवा 'मध्यकाल' अभिधान को अमान्य ठहराया जा सकता है ? पुरानी परम्परा के प्रत्येक युग में मिल ही जाते हैं। इसी प्रकार इस युग में वृन्द आदि नीति-कवियों को भी भक्तिकाल की मर्यादावादी विचारधारा की परम्परा की द्योतक हैं। उनसे काल' संज्ञा पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़ना चाहिए। ऐसे ही घनानन्द, बोधा आदि उत्कृष्ट कोटि के कवियों के विषय में भी कहा जा सकता है कि इन इने-गिने कवियों प्रवृत्ति को 'रीतिमुक्त' नाम दे देने में कोई हर्ज न होगा। यदि इनके वर्ण्य विषय को कहते हुए इन्हें फुटकल खाते में न डाले जाने की दुहाई देकर इनको उचित स्थान के लिए ही 'श्रृंगारकाल' संज्ञा पर बल दिया जाता है, तो इनके विषय में भी यह देना आवश्यक होगा कि इन कवियों का काव्य संस्कृत-काव्यशास्त्र की दृष्टि से विशुद्ध की कोटि में नहीं रखा जा सकता; कारण, यह फ़ारसी की प्रेमाभिव्यक्ति की पद्धति प्रकार से भारतीय रूप है जिसे पृथक् स्थान ही मिलना चाहिए—न इसे 'श्रृंगारका परिसीमा में लिया जा सकता है और न 'रीतिकाल' की ही में। इनका अपना पृथक् और चूँकि इनकी काव्य-पद्धति का अधिक प्रचलन नहीं हो सका, इसलिए इस काल करण करने के लिए इन्हें फुटकल खाते में डाल देने से कोई हानि न होगी। यदि आग्रह के कारण इन्हें सम्मिलित करने के लिए इस युग को 'श्रृंगारकाल' संज्ञा दे भी भूषण-जैसे राजप्रशस्तियों के रचयिता उत्कृष्ट कवि तथा जसवन्तसिंह-जैसे प्रसि शिक्षक आचार्य फुटकल खाते में डालने पड़ेंगे; और यह उतना ही बड़ा अन्याय होगा, कि घनानन्द आदि को फुटकल खाते में डाले जाने की दुहाई देकर कहा जाता है।

विषय-चयन के आधार पर भी इस काल को 'रीतिकाल' कहने में किसी अव्याप्ति-दोष न होगा, क्योंकि प्रत्येक कवि द्वारा इसमें श्रृंगार को न्यूनाधिक रूप किया जाना भी तो एक विशेष प्रकार की 'रीति' (-पद्धति) ही है। आचार्य रामच ने दबे स्वर में इसको 'श्रृंगारकाल' कहे जाने में जो आपत्ति प्रकट नहीं की, उसका यही हो सकता है कि उनके समय तक सामान्य रूप से इस युग का श्रृंगारपरक अधिक प्रकाश में आया था। इस प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि रीति-आचार्यों ने ऐसे भी ग्रन्थ लिखे हैं, जो रीति-निरूपण सम्बन्धी नहीं हैं। पर क्योंकि निरूपण में उनका मनोयोग परिलक्षित होता है तथा लक्ष्य ग्रन्थों में उनके काव्य संस्कार मुखर होकर आये हैं, इसलिए उनकी सभी विषयों की रचनाएँ इसी कोटि जाएँगी एवं उनको भी 'रीतिकवि' कहना ही अधिक युक्ति-युक्त होगा—भले ही वे एक से अधिक ग्रन्थ ऐसे लिख गये हों, जिन पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः नहीं होती।

सीमांकन

भाषा-साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में कवियों की प्रवृत्ति का विवेचन लिए जिस प्रकार वर्ण्य विषय के अनुसार रचनाओं का वर्ग-विभाजन तथा उस द्योतक प्रत्येक विभाग का नामकरण अनिवार्य होता है उसी प्रकार उस प्रवृत्ति के प्रे का विश्लेषण करने तथा तत्सम्बन्धी रचनाओं के परिमाण को आँकने के निमि प्रसार-काल की सीमाएँ निर्धारित कर लेना भी आवश्यक हुआ करता है। किन्तु, यह निर्धारण ऐतिहासिक घटनाओं के समान निश्चित नहीं हो सकता; न तो किसी प्रवृत्ति के आरम्भ की ही निश्चित तिथि बतायी जा सकती है और न समाप्ति की

प्रस्तावना और अविच्छिन्न विकास-परम्परा के तथा चरमसीमा और उपसंहृति के म-से-कम २५-३० वर्षों का अन्तर तो रहता ही है। ऐसी दशा में संगत यही होना कि प्रवृत्ति-विशेष की अविच्छिन्न विकास-परम्परा के आरम्भ तथा चरम सीमा की सम्बन्धी तिथियों को निर्धारित करते समय उदारता से काम लिया जाए। आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' लिखते समय उसे प्रवृत्तियों के अनुसार चार विभाजित किया है तथा परवर्ती विद्वानों ने उनके इस विभाजन की काल-सीमाओं अविकल रूप में ग्रहण भी कर लिया है, किन्तु उनका सबसे बड़ा दोष यही है कि सम्बन्ध में उदार नहीं हो पाये—निश्चित संवत् से प्रवृत्ति-विशेष का आरम्भ और संवत् पर उसका अन्त निर्धारित कर बैठे हैं। जिस युग में रीति-निरूपण अथवा भावित ग्रन्थों के निर्माण का प्राचुर्य रहा, उसको 'रीतिकाल' संज्ञा देते हुए उसका भी उन्होंने संवत् १७०० (१६४३ ई०) से १९०० वि० (१८४३ ई०) तक निश्चित है। पर इन निश्चित संवतों को स्वीकार करने में सबसे बड़ी आपत्ति यह होती है कि तिकवियों के कतिपय ग्रन्थ इनसे आगे-पीछे रचे जाने के कारण 'रीतिकाल' की परिधि आ पाते, जिन्हें वे स्वयं ही इस युग में परिगणित कर चुके हैं। उदाहरण के लिए मणि-कृत 'रसविलास' तथा मतिराम-कृत 'रसराज' १६४३ ई० से लगभग १० वर्ष पूर्व ग्वाल कवि की 'रसरंग' आदि रचनाएँ १८४३ ई० से लगभग १०-१५ वर्ष बाद ठहरती हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय कवि ऐसे भी हैं, जिनका जन्म भक्तिकाल में और उनकी रचनाएँ 'रीतिकाल' में लिखी गयीं अथवा उनका जन्म 'रीतिकाल' में हुआ रचनाएँ वें इसकी समाप्ति के १०-२० वर्ष बाद तक करते रहे। अतएव 'रीतिकाल' माएं हमें सामान्य रूप से सत्रहवीं शती के मध्य से उन्नीसवीं शती के मध्य तक मान चाहिएं। इस काल के आदि और अन्त के दोनों ओर लगभग २०-२० वर्ष का समय जोड़ा गया है, उसे यदि इसकी प्रस्तावना और उपसंहृति के नामों से अभिहित किया तो भी कोई आपत्ति की बात न होगी; कारण, इससे कालविषयक सीमा-बन्धन के मस्वरूप एक ही परम्परा के कतिपय ग्रन्थों को इस प्रकार की रचनाओं के वर्ग से चित न किया जा सकेगा।

स्थितियाँ

भाषा-साहित्य के निर्माण में युगीन वातावरण का विशेष योग हुआ करता है। कि युगीन वातावरण राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य और कला के मूल्यों द्वारा निर्मित है, अतएव युगविशेष के साहित्य के अध्ययन के लिए तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक अवस्था का ज्ञान होना अपने आप में अनिवार्य हो जाता है। रीतिकालीन के अध्ययन के प्रसंग में यह अनिवार्यता और अधिक बढ़ जाती है; कारण, इस के निर्माण की दो-ढाई सौ वर्ष की दीर्घ अवधि में देश की राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक अवस्था में अनेक उतार-चढ़ाव आये तथा वर्ग-विशेष की अभिरुचि द्वारा मित होने के कारण साहित्य और कला ने विशिष्ट दिशा प्राप्त की।

राजनीतिक अवस्था : राजनीतिक दृष्टि से यह काल मुगलों के शासन के वैभव के त्कर्ष और उसके बाद उत्तरोत्तर ह्रास, पतन तथा विनाश का युग कहा जा सकता है। हाँ के शासन-काल में मुग़ल-वैभव अपनी चरम सीमा पर रहा। जहाँगीर ने अपने न-काल में राज्य का जो विस्तार किया था, शाहजहाँ ने उसकी वृद्धि इतनी की कि

उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा उत्तर-पश्चिम में सिन्ध के लहरी बन्दरग़ाह से लेकर आसाम में सिलहट और के बिस्त के क़िले से लेकर दक्षिण के औसा तक एकच्छत्र साम्राज्य की स्थापना हो राजपूतों ने भी विश्वासपात्र एवं स्वामिभक्त सेवक होकर दिल्ली के शासन की स्वीकार कर ली थी। देश में सामान्य रूप से शान्ति थी। राजकोष भरा-पूरा था। और मयूर सिंहासन का भी निर्माण हो चुका था। किन्तु, इसके पश्चात् शाहजहाँ होने और उसकी मृत्यु की अफ़वाह फैलने के कारण १६५८ ई० में उसके पुत्रों में लिए संघर्ष आरम्भ होते ही यह वैभवशाली साम्राज्य ह्रासोन्मुख हो गया। पुत्र दाराशिकोह अपनी धार्मिक सहिष्णुता और उदारता के लिए जितना लोकप्रिय छोटा औरंगज़ेब अपनी धार्मिक असहिष्णुता एवं अहम्मन्यता के कारण उतना ही दारा की हत्या कर औरंगज़ेब ने ज्यों ही शासन की बागडोर सँभाली त्यों ही राजाओं और हिन्दुओं के धार्मिक उपद्रव आरम्भ हो गये। परिणाम यह हुआ शासन-काल का अधिकांश इन उपद्रवों के दमन में ही व्यतीत हुआ—वह शासन एवं इतने विस्तृत साम्राज्य को सुगठित न कर सका। दूसरे, क्योंकि वह अहंवादी हुक्म का उल्लंघन अपराध होता था। इसलिए उसके पुत्रों में किसी के भीतर व्यक्तित्व का ऐसा विकास न हो सका कि वह पुनः हिन्दुओं में विश्वास उत्पन्न कर को एक सूत्र में बाँधता।

औरंगज़ेब के पश्चात् १७०७ ई० में उसके पुत्रों के बीच भी संघर्ष हुआ और द्वितीय पुत्र गुअज़्ज़म (शाह आलम प्रथम) गद्दी पर बैठा। वह यद्यपि कुछ उदार अधिक समय जीवित न रह सका। उसके बाद १७१२ ई० से इस साम्राज्य आरम्भ होता है। लगभग ५० वर्ष तक शासन एक प्रकार से स्थिर न हो सका। पर अल्प काल के लिए ही लोग आते रहे। जो कुछ अधिक समय के लिए आये, वे में निमग्न रहने के कारण राज्य की देखभाल न कर सके। परिणामतः अव्यवस्था अशान्ति इतनी वढ़ती गयी कि छोटे-छोटे जागीरदार भी अपने-आपको स्वतन्त्र बैठे और धीरे-धीरे केन्द्र की पकड़ इतनी ढीली हो गयी कि साम्राज्य अब दिल्ली और के क्षेत्र तक ही सीमित रह गया। इसी बीच १७३८ ई० में नादिरशाह का आक्रमण उसने इस शासन की नींव प्रायः हिला डाली। 'जो कुछ शेष रह गया था, उसकी अहमदशाह अब्दाली के १७६१ ई० के आक्रमण ने पूरी कर दी। इधर विदेशी विशेषतः अँगरेज़ों ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे भीतर-ही-भीतर का संचय करते हुए इस अवस्था तक पहुँच गये कि १८०३ ई० तक लगभग समस्त भारत पर उनका आधिपत्य हो गया और मुग़ल सम्राट् नाममात्र के लिए शासक वास्तविक सत्ता अँगरेज़ों के हाथ में चली गयी। १८५७ ई० की देशव्यापी एक वार पुनः विलासी मुग़लों को प्रतिष्ठित करना चाहा, किन्तु सब प्रयत्न असफल प्रकार दो-ढाई सौ वर्ष के विलास-वैभवपूर्ण साम्राज्य का कारुणिक अन्त हुआ।

यह वात तो रही केन्द्रीय शासन की। जहाँ तक प्रदेशों का प्रश्न है, रचना के क्षेत्रों---अवध, राजस्थान और वुन्देलखण्ड की कथा भी ऐसी ही है। विलासी शासकों का अन्त भी मुग़ल-साम्राज्य के समान कारुणिक रहा। राजस्थान विलास और बहुपत्नी-प्रथा इतनी बढ़ गयी थी कि औरंगज़ेब के बाद राजपुरुष षड्यन्त्रों और आन्तरिक कलह के शिकार होकर इतने निर्वीर्य होते गये कि

अव्यवस्थित मुग़लों से अपने पुराने गौरव और राज्य को भी प्राप्त न कर सके। हाँ, बुन्देलों ने अवश्य ही मरहठों के साथ लाभ उठाने का प्रयत्न किया; पर राजपूतों के थोथे अहंकार एवं पारस्परिक विद्वेष के कारण पूर्ण सफलता प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार मुग़ल-साम्राज्य के समान ही हिन्दू रजवाड़ों और अवध के नवाबों को अन्तत: अपना कारुणिक अन्त देखना पड़ा।

सामाजिक अवस्था : सामाजिक दृष्टि से भी इस काल को आदि से अन्त तक घोर अध:पतन का युग ही कहा जाना चाहिए। इस काल में सामन्तवाद का बोलबाला था; और सामन्तशाही के जितने भी दोष हुआ करते हैं, उनका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव जन-सामान्य के जीवन पर पड़ रहा था। सामाजिक व्यवस्था का केन्द्रबिन्दु बादशाह था और उसके अधीन थे मनसबदार अथवा अमीर-उमराव। इनके बाद ओहदों के अनुसार दूसरे कर्मचारी आते थे और सबका कर्त्तव्य-कर्म अपने से ऊपरवालों को प्रसन्न करना था—नीचेवालों को ये मात्र सम्पत्ति समझते थे; उनका अस्तित्व केवल अपने लिए मानते थे। ऊपर से नीचे तक यह शासकों का वर्ग था। शासित वर्ग में एक ओर श्रमजीवी और कृषक आते थे और दूसरी ओर सेठ, साहूकार, दुकानदार और व्यापारी। शासक वर्ग की आय दोनों—अर्थात् श्रमजीवी-कृषक तथा सेठ-साहूकारादि से कर के रूप में प्राप्त होती थी और सेठ-साहूकारादि कृषकों और श्रमजीवियों की कमाई को विभिन्न प्रकार से अपनाकर अपनी जीविका कमाते थे। इस प्रकार कृषक-श्रमजीवियों का यह निम्न वर्ग सभी ओर से शोषित था। इस पर सेनाओं के प्रयाणों, युद्धों, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि के कारण इस वर्ग की आय के एकमात्र साधन कृषि की भी हानि होती रहती थी। श्रमजीवी वर्ग को किसी-न-किसी की बेगार करनी पड़ती थी और उसके बदले मिलती थी कोड़ों की मार! कहने का अभिप्राय यह है कि इस युग में ग़रीबों की आर्थिक स्थिति अत्यन्त शोचनीय थी और शासक एवं सम्पन्न वर्ग श्रम किये बिना ही सम्पन्न था!

जनसाधारण की चिकित्सा, शिक्षा, सम्पत्ति-रक्षा आदि का भी इस काल में कोई प्रबन्ध न था। ऐसी शोचनीय अवस्था में यदि लोग भाग्यवादी अथवा नैतिक मूल्यों से रहित थे, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। कार्य-सिद्धि के लिए उत्कोच लेना-देना तो साधारण बात थी ही, विलासिता भी इसी कारण बढ़ गयी थी। नारी को अपनी सम्पत्ति मानकर ही उसका भोग इनके जीवन का मूल मन्त्र हो गया था। विलास के उपकरणों की खोज और उनका संग्रह तथा सुरा-सुन्दरी की आराधना अभिजात वर्ग का शग़ल था और मध्यम और निम्न वर्ग के लोगों में उसका बोलबाला उसके अनुकरण के कारण था। किसी की कन्या का अपहरण अभिजात वर्ग के लोगों के लिए साधारण बात थी। कदाचित् इसीलिए अल्पायु में लड़कियों का विवाह अधिक प्रचलित हो गया था। उधर बेग़मों और रक्षिताओं की अगणित संख्या के होते हुए भी ये लोग वेश्याओं के यहाँ पड़े रहते थे—उनके इशारों पर लोगों के भाग्य का निर्णय तक हो जाया करता था। इस प्रकार से विलास में डूबे हुए ये लोग अपनी सन्तान की देखभाल तक नहीं कर पाते थे और शिक्षक ऐसे घटिया व्यक्ति होते थे कि काम-कला की शिक्षा देकर अपने कर्म की इतिश्री समझते थे। अतएव लड़कियों के साथ छेड़छाड़, तीतर-बटेर पालना और उन्हें लड़ाना शहज़ादों और राजकुमारों की दिनचर्या बन गयी थी। विलासिनी माताओं की देख-रेख के अभाव में राजकुमारियाँ और शहजादियाँ अपने महलों और हरमों में कार्य करनेवाले सामान्य कर्मचारियों अथवा भृत्यों के साथ प्रेम-व्यापार करने लग जाती थीं। अनेक सपत्नियों के कारण पति से पूर्ण प्रेम प्राप्त न कर सकने के कारण

विवाहिताओं में भी अनेक ऐसी थीं, जो ऐसा ही करती थीं।

सांस्कृतिक अवस्था : सामाजिक अवस्था के समान इस युग में देश की सांस्कृतिक अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय थी। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा सन्तों और सूफ़ियों के उपदेशों के परिणामस्वरूप हिन्दू और इस्लाम संस्कृतियों के निकट आने का जो उपक्रम हुआ था, वह औरंगज़ेब की कट्टरता के कारण एक प्रकार से समाप्त हो चला था। किन्तु, विलास-वैभव के खुले प्रदर्शन के कारण अपनी-अपनी धार्मिक आस्थाओं का दृढ़तापूर्वक पालन भी इनके लिए एक प्रकार से कठिन हो गया था। हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में जिन वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था, उनके पीठाधीश लोभवश राजाओं और श्रीमानों को गुरु-दीक्षा देने लगे थे; फलतः उनका सम्बन्ध तत्त्वचिन्तन से छूटकर भौतिकता के साथ हो गया था—मन्दिरों में भी अब ऐश्वर्य और विलास की लीला होने लगी थी। यह स्थिति यहाँ तक पहुँच गयी थी कि हिन्दू अपने आराध्य राम-कृष्ण का अतिशय शृंगार ही नहीं करने लगे थे, उनकी लीलाओं में अपने विलासी जीवन की संगति खोजने लगे थे। अहिन्दी-प्रान्तों में यद्यपि ऐसे सन्तों का प्रभाव था जो इस धारा से अब भी दूर थे, किन्तु इनका प्रभाव हिन्दी-प्रान्तों तक न आ सका। दूसरी ओर, इस्लाम धर्म पर इस विलास-वैभव का सीधा प्रभाव तो नहीं था; पर रूढ़िवादिता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण यह जीवन की वास्तविकता से हट गया था—क़ुरान को हिफ़्ज़ करने अथवा नमाज़-रोज़ा आदि के यथाविध पालन को ही धर्म समझने के कारण वह आध्यात्मिक प्रभाव नहीं पड़ रहा था, जिससे व्यक्ति के, संस्कारों में उदारता आती है। इस प्रकार हिन्दू और मुसलमान, दोनों ही धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों से दूर पड़ गये थे—केवल बाह्याचरण ही धर्मपालन रह गया था। ऐसी दशा में धर्म के साथ नैतिकता का जो सम्बन्ध जुड़ा हुआ है, उससे सम्पन्न वर्ग एकदम दूर हो गया था और विलासिता के लिए खुली छूट मिल गयी थी। इधर विलास के साधनों से हीन वर्ग के बीच स्थिति यह हो चली थी कि कर्म और आचार के स्थान पर अन्धविश्वास ने उसके भीतर इतना घर कर लिया था कि हिन्दू मन्दिरों में तथा मुसलमान पीरों के तकियों पर जाकर मनोरथ सिद्ध करने लगे थे। जनता के इस अन्धविश्वास का अनुचित लाभ पुजारी और मुल्ला उठाते थे और ये धर्म-स्थान भ्रष्टाचार तथा पापाचार के केन्द्र बन गये थे। यह ठीक है कि इस युग में पुरानी परम्परा के सूफ़ी तथा सन्त अब भी विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी-जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जन-जीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्तियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है, वैसा ही इनका पड़ रहा था—कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर रामलीलाओं तथा 'रामचरितमानस' के पाठ का प्रभाव मनोविनोद तक ही सीमिति रह गया था—नैतिक प्रभाव की कल्पना तक असम्भव थी।

साहित्य एवं कलाओं की स्थिति : साहित्य और कला की दृष्टि से यह युग पर्याप्त समृद्ध कहा जा सकता है। इस काल के कवि और कलाकार यद्यपि साधारण वर्ग के व्यक्ति हुआ करते थे, तथापि अपने आश्रयदाता मुग़ल सम्राटों अथवा देशी राजा-नवाबों से उन्हें इतना सम्मान मिलता था कि समाज के प्रतिष्ठित लोगों में उनकी गणना होती थी। क्योंकि उचित सम्मान कवि अथवा क़लाकार के सर्जन-व्यापार को प्रोत्साहित करने में सबसे अधिक सहायक हुआ करता है, अतएव यह स्वाभाविक ही था कि इन लोगों ने अपनी-अपनी कला का गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से अधिकाधिक विकास किया। किन्तु, दुर्भाग्य की बात

यह रही कि इन्हें वह स्वतन्त्रता प्राप्त न हो सकी, जो सर्जन के लिए अनिवार्य है। इन्हें सामान्य रूप से आश्रयदाताओं की अभिरुचि का विशेष ध्यान रखना पड़ता था, जिसका परिणाम यह होता था कि ग़तिभावान् होते हुए भी ये लोग अपने सर्जन का उत्तमोत्तम रूप प्रस्तुत करने में असमर्थ रहते थे। यह सब होते भी इस युग के साहित्य और कला का अपना महत्त्व है और दोनों की ऐसी विशेषताएँ हैं, जो सहज ही दूसरे युगों की तत्सम्बन्धी रचनाओं से पृथक् देखी जा सकती हैं।

फ़ारसी के राजकीय भाषा होने के कारण इसकी अलंकारप्रधान शैली का प्रभाव सामान्यतः इस युग की प्रत्येक भाषा पर पड़ा। ब्रजभाषा जन-जीवन के निकट होते हुए भी इस प्रभाव से न बच सकी। परिणामतः इस युग के अधिकांश राजाश्रित कवि अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ अतिरंजित शैली में लिखते रहे। विलासी आश्रयदाताओं की वासना को गुदगुदाने के लिए लिखी हुई शृंगारिक रचनाओं पर भी इस शैली का ऐसा ही प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। परन्तु संयोग कुछ ऐसा रहा कि ये कवि चमत्कार के उपकरणों के लिए फ़ारसी की ओर उन्मुख न होकर संस्कृत की ओर उन्मुख हुए—सम्भवतः इसलिए कि भारतीय भाषा होने के कारण संस्कृत-काव्यशास्त्र में बताये गये सौन्दर्य के उपकरण इनके अधिक अनुकूल पड़ते थे। इतना ही नहीं, इन लोगों ने इन उपकरणों का निरूपण भी इतने मनोयोगपूर्वक किया कि आज इस पद्धति अथवा रीति के कारण ही इस युग को 'रीतिकाल' संज्ञा दिया जाना अधिक उपयुक्त समझा जाता है। इस प्रकार के ग्रन्थों की रचना के मूल में इन कवियों के सम्भवतः दो उद्देश्य थे—१. अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन, और २. उस युग के काव्य-रसिक समुदाय को इनका अनिवार्यतः ज्ञान कराना, जिससे कि वे काव्य-गोष्ठियों में शास्त्रीय सौन्दर्य के उपकरणों पर दाद दे सकें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस परम्परा के साहित्य की रचना शाहजहाँ के राजत्वकाल से लेकर आगामी दो-ढाई सौ वर्ष तक अविकल रूप से होती रही। औरंगज़ेब के रुक्ष स्वभाव के कारण यद्यपि मुग़ल दरबार से कवियों का सम्बन्ध कट गया था, किन्तु इसका प्रभाव इसलिए विशेष रूप से न पड़ सका क्योंकि राजा और नवाब उन्हें आश्रय देते ही रहे। इधर जन-समुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे, जो स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूँकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त और सर्जन-व्यापार में स्वतन्त्र थे, अतएव उनकी रचनाएँ काव्यशास्त्रीय उपकरणों के इस समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी है। कुल मिलाकर इस युग में राजाश्रित कवियों और जन-कवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इतना विशद है कि हिन्दी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती है।

जहाँ तक ललित कलाओं का सम्बन्ध है, उनमें चित्रकला काव्य के समान ही इस युग में प्रचलित और समृद्ध हुई। जहाँगीर का राजत्वकाल गुण और परिमाण के कारण यद्यपि इस कला का स्वर्णयुग कहा जाता है तथापि उसके बाद भी इसकी समृद्धि में कमी न आयी—यहाँ तक कि औरंगज़ेब-जैसे रुक्ष व्यक्ति ने भी अपने अनेक चित्र अंकित कराये। परन्तु दुर्भाग्य की बात यह रही कि सम्राटों की अभिरुचि का अत्यधिक प्रभाव होने के कारण इसकी स्वाभाविकता और सजीवता में कमी आने से नूतनता की दृष्टि से इसमें एक प्रकार का ह्रास आता चला गया। शाहजहाँ की अलंकारप्रियता का परिणाम यह हुआ कि उसके विभिन्न राजकीय क्रियाकलापों—विशेषतः राजकीय ठाटबाट के चित्रों में चमक-दमक को अधिक स्थान मिलने लगा—रंगों में सुनहरी पानी को इतना महत्त्व दिया जाने लगा कि उनमें

चित्रित व्यक्ति भी मूर्तिवत् जड़ प्रतीत होने लगे; उनमें सजीवता और गति के स्थान पर जड़ता आ गयी। व्यक्ति-चित्रों का भी उत्तरोत्तर अभाव होता चला गया। औरंगज़ेब के बाद भी परवर्ती मुग़ल शासकों के प्रश्रय में आलिखित चित्र इसी शैली का अनुकरण-मात्र रहे। यदि कोई वैशिष्ट्य आया तो यहा कि उनमें विलास और वैभव कुछ अधिक अंकित हुआ। हिन्दू रजवाड़ों—विशेषतः राजस्थान और पर्वतीय क्षेत्रों—में चित्रकला इससे भिन्न रूप से विकसित हुई। यह लोक-जीवन के अधिक निकट थी—आश्रयदाताओं की अभिरुचि से प्रभावित होती हुई भी स्थानीय प्रभावों से असम्पृक्त न थी। इन दोनों क्षेत्रों की चित्र-शैलियाँ क्रमशः राजस्थानी और कांगड़ा-शैलियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजस्थानी शैली के चित्रों का मुख्य विषय रागमाला था। इनमें ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्द को रेखाओं और रंगों में बद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त इस शैली के चित्रों का विषय कृष्ण-लीला, नायिकाभेद और बारहमासा भी रहा है। इस युग के अनेक कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के चित्र व्यंजित हुए हैं। कांगड़ा-शैली के चित्रों का विषय महाभारत, श्रीमद्भागवत, दुर्गासप्तशती, पुराण, इतिहास, लोकगाथाओं आदि के अतिरिक्त दैनिक जीवन से सम्बद्ध बातें रही हैं। इन चित्रों में भावात्मकता अधिक है तथा सामान्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। संक्षेप में, इस युग की चित्रकला राजसी ठाठबाट तथा जन-जीवन—दोनों को सम्यक् रूप से लेकर चली है। इस युग के कवियों द्वारा रचित राजप्रशस्तियाँ तथा शृंगारिक रचनाएँ क्रमशः इन दोनों प्रवृत्तियों के चित्रों के समानान्तर कही जा सकती हैं।

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्य-कला और संगीत-कला का भी अपना विशिष्ट स्थान रहा; पर क्योंकि ये दोनों क्रमशः व्यय और अभ्यास-साध्य थीं, इस कारण जन-जीवन से दूर हट गयीं और केवल राजाश्रयों तक सीमित रहीं। अकबर के राजत्व-काल में इन दोनों कलाओं को लगभग बराबर का स्थान प्राप्त था, किन्तु शाहजहाँ के समय तक संगीत का प्रभाव कुछ कम होता गया। शाहजहाँ को यद्यपि संगीत का अच्छा ज्ञान था, तथापि उसकी रुचि स्थापत्य-कला में अधिक रही। इसलिए यह कला अपने चरम ऐश्वर्य पर पहुंची। शाहजहां ने जितनी इमारतें बनवायीं, उन सबमें सूक्ष्म सौन्दर्य के समावेश की ओर अधिक ध्यान दिया गया और यही कारण है कि इनमें मूर्ति और चित्रकला का सामंजस्य करने का प्रयत्न दृष्टिगत होता है। आगरा का ताज और दिल्ली का दीवाने-ख़ास इसके सबल उदाहरण हैं। शाहजहां के पश्चात् औरंगज़ेब और उसके पर्याप्त बाद तक इन दोनों कलाओं की स्थिति पर्याप्त शोचनीय रही। संगीत से औरंगज़ेब को विशेष अरुचि थी, इसलिए इसका अपकर्ष हुआ और स्थापत्य-कला को इसलिए उससे प्रश्रय न मिल सका क्योंकि उसका ध्यान मन्दिरों को मस्जिदों में परिवर्तित करने में लगा था और साथ ही इमारतों के निर्माण का कार्य व्यय-साध्य भी अधिक था। जिन दो मस्जिदों और एक मक़बरे का निर्माण उसने कराया, वे भी साधारण ही हैं। इनके बाद इन दोनों कलाओं का पुनरुत्थान केवल अठारहवीं शताब्दी में ही हो सका। इस शताब्दी में मुहम्मदशाह ने यदि संगीत-कला को पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया, तो शाह आलम द्वितीय तथा अन्य परवर्ती शासकों ने दिल्ली से हटकर गुजरात और लखनऊ में कुछ इमारतें बनवाकर स्थापत्य-कला में अपनी रुचि का परिचय दिया। परन्तु दोनों ही क्षेत्रों में वैशिष्ट्य और मौलिकता का प्रायः अभाव रहा—संगीत-क्षेत्र में कतिपय मधुर ध्वनियों की सृष्टि होने पर भी यह अलंकरण और विलास के पूर्ववर्ती प्रभाव से बाहर न निकल सका और इमारतें पूर्ववर्ती मुग़ल-शैलियों का मात्र पिष्टपेषण ही रहीं।

मुग़ल दरबार तथा अवध के नवाबों के अतिरिक्त इस काल में हिन्दू राजाओं के

आश्रय में भी इन दोनों कलाओं को प्रश्रय मिला; किन्तु गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से इनकी विशेष उन्नति नहीं हुई। जयपुर में सवाई जयसिंह के राजमहल, दीग में सूरजमल के महल तथा संग्रामसिंह, सूरजमल, छत्रसाल आदि की छतरियों को मुख्य रूप से इस काल के हिन्दू राजाओं का स्थापत्य-कला में योगदान कहा जा सकता है। संगीत के क्षेत्र में राजस्थान और ग्वालियर का योगदान रहा—ग्वालियर में यदि शुद्ध शास्त्रीय संगीत का विकास हुआ, तो राजस्थान ने इसके भीतर स्थानीय प्रभावों में वैशिष्ट्य उत्पन्न कर इस दिशा में अपना योग दिया। किन्तु, कुल मिलाकर इस कला का बहुत अधिक विकास यहाँ भी नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस काल में संगीतशास्त्र पर कतिपय प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण अवश्य हुआ।

इस काल में कवियों और कलाकारों को राजाश्रयों में यथोचित सम्मान प्राप्त होने के कारण साहित्य और कला की स्थिति कुल मिलाकर अच्छी ही रही। परिमाण की दृष्टि से इन दोनों का क्षेत्र सर्वाधिक समृद्ध कहा जा सकता है। किन्तु, अलंकारप्रिय विलासी आश्रयदाताओं की अभिरुचि से अत्यधिक प्रभावित रहने के कारण इनमें से किसी का भी क्षेत्र गुण की दृष्टि से विशद न हो सका। कदाचित् इसीलिए इस काल का स्थापत्य एकरूपता को प्रकट करने के कारण शिल्प-व्यापार-मात्र ही प्रतीत नहीं होता—चित्र, काव्य और संगीत-जैसी सूक्ष्म कलाएँ भी कल्पना-जन्य वैविध्य की न्यूनता के कारण कला की सीमाओं से दूर पड़ जाती हैं। इतना ही नहीं, अलंकरण और विलास की अभिव्यक्ति की ओर अधिक उन्मुख रहने की प्रवृत्ति के कारण ये चारों स्पष्ट रूप से एक-दूसरे के समानान्तर दृष्टिगत होती हैं।

उपलब्ध सामग्री

मूल स्रोत : प्राचीन भारतीय वाङ्मय के समान मध्यकालीन हिन्दी-साहित्य का भी यह दुर्भाग्य रहा है कि प्रकाशन और उचित देख-रेख के अभाव में इसके अनेक ग्रन्थ-रत्न लुप्त हो गये और आज भी, वैज्ञानिक साधनों के उपलब्ध होते हुए भी, यह कोई गारंटी नहीं कि भविष्य में ये इस अभिशाप से बच सकेंगे। रीतिकालीन ग्रन्थ इस प्रकार के ग्रन्थों में यद्यपि अपेक्षाकृत अधिक अर्वाचीन हैं तथापि इनमें से अधिकांश नष्ट हो गये, यह निश्चित है। इस दो-ढाई सौ वर्ष की दीर्घ कालावधि में कितने ग्रन्थ लिखे गये, प्रामाणिक आँकड़ों के अभाव में, यह बताना तो असम्भव है ही, इनमें से आज कितने और कहाँ उपलब्ध हैं, यह कहना भी अपने आप में कठिन है।

रीतिकालीन साहित्य आज जिन स्रोतों से उपलब्ध होता है, उन्हें तीन वर्गों में रखा जा सकता है। इनमें पहला इस देश के विभिन्न पुस्तकालय हैं, जहाँ अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। इन पुस्तकालयों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—काशी की नागरीप्रचारिणी सभा का आर्यभाषा पुस्तकालय, रामनगर (वाराणसी)-स्थित काशी-नरेश का पुस्तकालय, पटियाला-स्थित नेशनल आर्काइव्स का पुस्तकालय, बड़ौदा-स्थित गायकवाड़ ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, सयाजीराव विश्वविद्यालय के हिन्दी-विभाग का पुस्तक-संग्रह एवं राजस्थान में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर के तथा मध्यप्रदेश में दतिया, टीकमगढ़, बिजावर, छतरपुर और रीवाँ के महाराजाओं के व्यक्तिगत पुस्तकालय।[1] दूसरा वर्ग कतिपय उन

---

[1] इनमें आज दतिया और बिजावर के पुस्तकालय नामशेष ही हैं और छतरपुर के पुस्तकालय में प्रकाशित ग्रन्थ ही अधिकांशतः रह गये हैं।

लोगों का है, जिन्होंने अपने पास अनेक हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रन्थ एकत्र कर रखे हैं। इनमें स्व० ठाकुर शिवसिंह सेंगर (काँथा, जि० उन्नाव), श्री गोविन्द चतुर्वेदी (मथु श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी (मथुरा), कैप्टेन शूरवीरसिंह (भू० पू० जिलाधिकारी, अलीग स्व० डॉ० भवानीशंकर याज्ञिक आदि के वैयक्तिक संग्रहों का विशेष उल्लेख किया जा सक है। तीसरा वर्ग पुरानी और नयी प्रकाशन-संस्थाओं का है। प्राचीन प्रकाशन-संस्थाओं में श्री वेंकटेश्वर प्रस, बम्बई; भारत जीवन प्रेस, काशी; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; इंडियन प्रे इलाहाबाद; नागरीप्रचारिणी सभा, काशी तथा गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ का नाम वि रूप से लिया जा सकता है—नागरीप्रचारिणी सभा आज भी इस दिशा में विशेष सक्रिय है। नवीन संस्थाओं में विभिन्न नगरों में अवस्थित व्यावसायिक एवं शोध-संस्थान हैं, जिन्हें कतिपय ग्रन्थावलियाँ एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित कराये हैं अथवा कराने की जिनकी योज है। इस प्रकार प्रथम दो वर्गों के स्रोतों से उपलब्ध साहित्य जहाँ विशिष्ट लोगों की पहुँ तक सीमित है, वहाँ तृतीय वर्ग ने इसे सर्वसाधारण के लिए उपलब्ध कर दिया है।

वर्गीकरण—उपर्युक्त तीनों स्रोतों से उपलब्ध सामग्री को रूप-विधानुसार तीन वर्गों में रखा जा सकता है। इनमें पहले के अन्तर्गत मुक्तक रचनाएँ ली जा सकती हैं। इसके भीतर काव्यांगों के निरूपण के लिए अथवा काव्यशास्त्र के नियमों को दृष्टि में रखकर लि गये ग्रंथों के अतिरिक्त वे ग्रन्थ भी परिगणित होंगे, जिनमें काव्यशास्त्रीय नियमों को दृष्टि न रखकर रचे हुए स्फुट छन्दों का संकलन किया गया है। इस प्रकार के छन्द परिमाण सर्वाधिक हैं। दूसरे वर्ग में प्रबन्धकाव्य आ सकते हैं। इनमें वे सभी रचनाएँ ग्रहण की जाएँ जिनमें किसी प्रसिद्ध अथवा काल्पनिक कथा, घटना, प्रसंग या चरित्र को कथात्मक शैली प्रस्तुत किया गया है। इनकी संख्या अपेक्षाकृत कम है। तीसरा वर्ग नाटकों का है। इन संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों के पद्यबद्ध अनुवाद रखे जा सकते हैं। ये प्रबन्धकाव्यों की तुलना और भी कम हैं। यहाँ सूचनार्थ इन तीनों वर्गों के भीतर आनेवाली कतिपय प्रसिद्ध कवि की रचनाओं का उल्लेख किया जा रहा है—

१. मुक्तक काव्य

१. चिन्तामणि : कविकुलकल्पतरु, रसविलास, काव्यविवेक, शृंगारमंज काव्यप्रकाश, छन्द-विचार।

२. मतिराम : रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपंचाशिका, वृ कौमुदी।

३. भूषण : (i) शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक।
(ii) अलंकारप्रकाश, छन्दोहृदयप्रकाश।

४. बिहारी : सतसई।

५. गोविन्दसिंह : सुनीतिप्रकाश, सर्वलोहप्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर।

६. तोष : सुधानिधि, नखशिख, विनयशतक।

७. रसनिधि : रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीतिसंग्रह, अरिल्ल, हिंडोला, सतसई।

८. जसवन्तसिंह : अपरोक्षसिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्तबोध, सिद्धान्तसार, भाषाभूषण, स्फुट छन्द।

९. कुलपति मिश्र : रसरहस्य, नखशिख, युक्तितरंगिणी, दुर्गाभक्तितरंगिणी (चन्द्रिका)।

१०. मण्डन : रसरत्नावली, रसविलास, नखशिख, काव्यरत्न, नैनपचासा, जनकपचीसी।

११. आलम : आलमकेलि।

१२. वृन्द : सतसई।

१३. पदुमनदास : काव्यमंजरी।

१४. करन कवि : साहित्यरस, रसकल्लोल।

१५. कालिदास त्रिवेदी : कालिदास हजारा, वारवधूविनोद, जंजीरावन्द, राधामाधव-बुधमिलन विनोद।

१६. लाल कवि : विष्णुविलास।

१७. माखन : श्रीनागपिंगल छन्दविलास।

१८. कुमारमणि : रसिकरसाल, रसिकरंजन।

१९. देव : भावविलास, भवानीविलास, कुशलविलास, प्रमचन्द्रिका, जातिविलास, रसविलास, सुजानविनोद, प्रेमतरंग, देवचरित्र, काव्यरसायन, सुखसागरतरंग, देवशतक, प्रमदीपिका, सुमिलविनोद, राधिकाविलास, नीतिशतक।

२०. सूरति मिश्र : अलंकारमाला, रसरत्नमाला, सरसरस, रसग्राहकचन्द्रिका, नखशिख, काव्यसिद्धान्त, रसरत्नाकर, भक्तिविनोद, शृंगारसागर।

२१. जोधराज : हम्मीररासो।

२२. उदयनाथ कवीन्द्र : रसचन्द्रोदय, विनोदचन्द्रिका, जोगलीला।

२३. नृप शम्भू : नायिकाभेद, नखशिख।

२४. कृष्णभट्टदेव ऋषि : शृंगाररसमाधुरी।

२५. जयकृष्ण भुजंग : पिंगलरूपदीपभाषा।

२६. श्रीपति : काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, अनुप्रासविनोद, विक्रमविलास, सरोजकलिका, अलंकारगंगा।

२७. गोप : रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण।

२८. याकूब खाँ : रसभूषण।

२९. घनानन्द : सुजानहितप्रबन्ध, कृपाकन्दनिबन्ध, वियोगवेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक छन्द आदि।

३०. रसलीन : अंगदर्पण, रसप्रबोध, स्फुट छन्द।

३१. सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, प्रेमपचीसी।

३२. दलपतिराय वंशीधर : अलंकाररत्नाकर।

३३. रसिक सुमति : अलंकारचन्द्रोदय।

३४. भिखारीदास : काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, रससारांश, छन्दार्णव पिंगल, छन्दप्रकाश।

३५. कृष्ण कवि : अलंकारकलानिधि, गोविन्दविलास।

३६. भूपति : सतसई, कण्ठाभूषण, रसरत्नाकर।

३७. रघुनाथ : काव्यकलाधर, रसिकमोहन, रसरहस्य, इश्कम
सभासार ।
३८. दूलह : कविकुलकण्ठाभरण, स्फुट छन्द ।
३९. हितवृन्दावनदास : स्फुट पद (अब तक २०,०००·पद उपलब्ध हुए हैं)।
४०. गिरिधर कविराय : अनेक स्फुट छन्द ।
४१. गुमान मिश्र : अलंकारदर्पण ।
४२. चन्दन : शृंगारसागर, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरा
सतसई, पथिकबोध, तत्त्वसंग्रह, नखशिख, प्रान
पत्रिकाबोध ।
४३. व्रजवासीदास : व्रजविलास ।
४४. बैरीसाल : भाषाभरण ।
४५. शिवनाथ : रसवृष्टि ।
४६. उजियारे : जुगलरसप्रकाश, रसचन्द्रिका ।
४७. जनराज : कवितारसविनोद ।
४८. सेवादास : नखशिख, रसदर्पण, गीतामाहात्म्य, अलबेले लाल जू को
शिख, राधासुधाशतक, रघुनाथ अलंकार ।
४९. रामसिंह : अलंकारदर्पण, रसशिरोमणि, रसनिवास, रसविनोद।
५०. रतन कवि : फतेप्रकाश, अलंकारदर्पण ।
५१. हठी जी : श्रीराधासुधाशतक ।
५२. बोधा : विरहवारीश, इश्कनामा ।
५३. रामसहाय : सतसई, वृत्ततरंगिणी, वाणीभूषण ।
५४. नन्दकिशोर : पिंगलप्रकाश ।
५५. दशरथ : वृत्तविचार ।
५६. रसिकगोविन्द : रसिकगोविन्दानन्दघन, पिंगल, रसिकगोविन्द, युगल
माधुरी, समयप्रबन्ध, लछिमनचन्द्रिका, अष्टदेशभाषा।
५७. समनेस : काव्यभूषण, रसिकविलास, पिंगल ।
५८. जसवन्तसिंह द्वितीय : शृंगारशिरोमणि ।
५९. पद्माकर : जगद्विनोद, पद्माभरण, गंगालहरी, प्रबोधपचासा,
पच्चीसी, प्रतापसिंह विरुदावली, स्फुट छन्द ।
६० पजनेस : स्फुट छन्द ।
६१. प्रतापसाहि : व्यंग्यार्थकौमुदी, काव्यविलास, जयसिंहप्रकाश, शृंगारमं
शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिन्तामणि, काव्यविनोद,
नखशिख।
६२. बेनीवंदीजन : टिकैतराय प्रकाश, भड़ौवा संग्रह, रसविलास।
६३. बेनी 'प्रवीन' : नवरसतरंग, शृंगारभूषण, नानारावप्रकाश ।
६४. जगतसिंह : साहित्यसुधानिधि ।
६५. गिरिधरदास : रसरत्नाकर, भारतीभूषण, उत्तरार्धनायिकाभेद ।
६६. दीनदयालगिरि : अन्योक्तिकल्पद्रुम, अनुरागबाग, वैराग्यदिनेश,
तरंगिणी ।

अमीरदास : सभामंडन, वृत्तचन्द्रोदय, ब्रजविलास, सतसई, श्रीकृष्णसाहित्यसिन्धु, शेरसिंहप्रकाश।

ग्वाल : यमुनालहरी, भक्तभावन, रसिकानन्द, रसरंग, कृष्ण जू को नखशिख, दूषणदर्पण, राधामाधवमिलन, राधाष्टक, कविहृदयविनोद, कविदर्पण, नेहनिर्वाह, वंसीवीसा, कुब्जाष्टक, षड्ऋतुवर्णन, अलंकारभ्रमभंजन, रसरूप, दृगशतक।

चन्द्रशेखर वाजपेयी : रसिकविनोद, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, हरिमानसविलास।

नवीन : रंगतरंग, सुधासर।

द्विजदेव : श्रृंगारलतिका, श्रृंगारबत्तीसी, श्रृंगारचालीसी, कविकल्पद्रुम।

२. प्रबन्धकाव्य

चिन्तामणि : रामायण, रामाश्वमेध, कृष्णचरित।

गोविन्दसिंह : चण्डीचरित्र।

मंडन : जानकी जू का ब्याह, पुरन्दरमाया।

कुलपति मिश्र : द्रोणपर्व (संग्रामसार)।

लालकवि : छत्रप्रकाश।

सुरति मिश्र : रामचरित, श्रीकृष्णचरित।

श्रीधर : जंगनामा।

सोमनाथ : पंचाध्यायी, सुजानविलास।

रघुनाथ : जगतमोहन।

गुमान मिश्र : नैषधचरित (काव्यकलानिधि)।

सूदन : सुजानचरित।

रामसिंह : जुगलविलास।

चन्दन : सीतवसन्त, कृष्णकाव्य।

पद्माकर : हिम्मतबहादुर विरुदावली।

रसिकगोविन्द : रामायणसूचनिका।

ग्वाल : हम्मीर हठ, विजयविनोद, गोपीपच्चीसी।

चन्द्रशेखर वाजपेयी : हम्मीर हठ।

३. नाटक

बलवन्तसिंह : प्रबोधचन्द्रोदय नाटक।

राम : हनुमान नाटक।

नेवाज : शकुन्तला नाटक।

सोमनाथ : माधवविनोद नाटक।

देव : देवमायाप्रपंच नाटक।

ब्रजवासीदास : प्रबोधचन्द्रोदय नाटक।

प्रवृत्ति-विश्लेषण

रीतिकाल के अन्तर्गत लिखे गये समस्त उपलब्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने पर हीं स्पष्ट हो जाता है कि इस युग के कवियों में व्यापक प्रवृत्ति रीति-निरूपण की ही क्या राजाश्रित और क्या जनकवि, इनमें से अधिकांश ने एतद्विषयक एकाध ग्रन्थ आत्मप्रदर्शन अवश्य किया। यहाँ यह स्पष्ट कर देना असंगत न होगा कि यह प्रवृत्ति के भीतर तीन रूपों में मुखर होकर आयी है। इनमें पहला रूप तो रीति-कर्म सकता है, जिसके द्वारा कवि अलंकारादि विशिष्ट काव्यांगों पर संक्षिप्त लक्षण- देकर अथवा स्वरचित लक्षण और दूसरे कवियों के उदाहरण देकर विषय को मात्र में अपने कर्म की सफलता समझता है—स्वरचित सरस उदाहरण देने के फेर में पड़ा। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण', रसरूप का 'तुलसी आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं जिनका कवित्त की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं। रीति- की प्रवृत्ति का दूसरा रूप विभिन्न काव्यांगों के लक्षणों और उनके अनुसार सरस की रचना में रहा है। चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरु', 'रसविलास' और 'शृंगार मतिराम के 'रसराज', 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका'; भूषण का 'शिवराज देव के 'भावविलास', 'शब्दरसायन', 'रसविलास' आदि; गोप के 'रामचन्द्रभूषण', 'राम भरण' आदि; दास के 'काव्यनिर्णय', 'रससारांश' और 'शृंगार-निर्णय'; सेवादास का अलंकार'; पदमाकर का 'जगद्विनोद'; ग्वाल के 'रसरंग' और 'रसिकानन्द' आदि ऐसे हैं जिनमें लक्षणों के समान कवित्वपूर्ण उदाहरणों को भी महत्त्व दिया गया है। इस प्र ग्रन्थ संख्या में ही सर्वाधिक नहीं, वर्ण्य विषयों की दृष्टि से पर्याप्त वैविध्यपूर्ण भी हैं— नायिकाभेद-निरूपण, शृंगार रस की सामग्री (विभाव, अनुभाव और संचारी) तथा संयोग-वियोग भेदों और उनके अंगोपांगों के अतिरिक्त इतर काव्यांगों के विवेचन शृंगारिक रचनाएँ अत्यन्त आग्रह के साथ प्रस्तुत की गयी हैं, वहाँ रौद्र और वीर अलंकार सम्बन्धी उदाहरणों में राजप्रशस्तिपरक वीररसात्मक एवं भक्ति और तथा अलंकारादि के विवेचन-प्रसंगों में उद्धृत भक्तिविषयक रचनाएँ भी मनोयोगपूर्वक विष्ट की गयी हैं। इनके अतिरिक्त हास्य, करुण, बीभत्स रसों तथा नीति और प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ भी इन ग्रन्थों में देखने को मिल जाती हैं। तीसरे रूप के अन्तर्गत ग्रन्थ प्रायः प्रथम रूप के सर्वथा विपरीत कहे जा सकते हैं। इनमें काव्य-रचना ही इन यिताओं का मुख्य उद्देश्य रहा है—काव्यशास्त्र का ज्ञान रखते हुए भी ये कवि लक्षणों में नहीं पड़े। इन ग्रन्थों में संगृहीत रचनाओं पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः दे सकती है—कतिपय ने तो दूसरे ग्रन्थों में विभिन्न काव्यांगों के लिए उद्धृत छन्दों इनमें संकलित कर दिया है। बिहारी, मतिराम, चन्दन, भूपति आदि की सतसइयाँ, का 'श्रीराधासुधाशतक', पजनेस के स्फुट छन्द, ग्वाल का 'कविहृदयविनोद' आदि ग्रन् कोटि में आते हैं। इन ग्रन्थों में यद्यपि पूर्वोक्त विषयों की रचनाएँ भी संकलित हैं, इनका मूल विषय शृंगार ही है। इस प्रकार कवित्व की दृष्टि से इन ग्रन्थों में सर्वाधिक व्यापक विषय रहा है। वीर रस और भक्ति परिमाण की दृष्टि से इसके बाद हैं—नीति, प्रकृति आदि से सम्बद्ध रचनाएँ अपने आप में अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। मिलाकर इन ग्रन्थों में संकलित रचनाएँ पर्याप्त सरस एवं वैविध्यपूर्ण होती हुई भी निरूपण के लिए रचित होने के कारण मूलतः रीतिपरक अथवा रीतिबद्ध ही हैं।

जहाँ तक इस काल में लिखे गये इतर ग्रन्थों का प्रश्न है, वे सभी उपर्युक्त

से सर्वथा असम्पृक्त एवं स्वतन्त्र कहे जा सकते हैं। इन ग्रन्थों के काव्य-विषय यद्यपि ग्रन्थों के वर्ण्य विषयों की भाँति मुख्य रूप से शृंगार, वीर रस, भक्ति और नीति वी हैं तथापि इन विषयों के मूल में रीति-ग्रन्थों के कामशास्त्रीय आधार के समान कोई मान्य आधार न होने के कारण किसी ऐसी प्रवृत्ति का निर्देश नहीं किया जा सकता की परिसीमा में इन्हें (ग्रन्थों को) रखा जा सके। यह ठीक है कि काव्यशास्त्र के नियमों त रहने के कारण इनकी एक प्रवृत्ति रीतिमुक्तता की कही जा सकती है; किन्तु यह पण अपने आप में वैज्ञानिक नहीं होगा, क्योंकि काव्यशास्त्र के नियमों से प्रभावित न र काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति की बात तो किसी भी युग के कवियों पर लागू हो है—सामान्यतः कवि काव्यशास्त्र का अध्ययन करके काव्य की रचना नहीं करते; शास्त्रीय नियमों की रचना ही काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् हुआ करती है। दूसरे, इन कवियों द्वारा गृहीत काव्य-विषयों की प्रेरणा के स्रोत भिन्न रहे हैं, इसलिए भी मूल में एक प्रवृत्ति की खोज नहीं की जा सकती—प्रत्येक के अनुरूप भिन्न प्रवृत्ति ही होगी।

अस्तु, इनमें शृंगारिक छन्दों की प्रेरणा का स्रोत वैयक्तिक प्रेमानुभूति होने के कारण मूलाधार प्रेम की पीर है, जिसे भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित शृंगार रस की सामग्री हीं भी स्थान नहीं मिल सकता। इनमें फ़ारसी काव्य के प्राणरूप व्यक्ति-तत्त्व को जिस र से उभारा गया है, भारतीय परम्परा के विषयप्रधान शृंगारी काव्य में वह देखने को मिलता। दूसरे शब्दों में, इन रचनाओं में भारतीय काव्यशास्त्र में बताये गये शृंगार विषयक सिद्धान्तों का नितान्त बहिष्कार हुआ है। इधर इनके रचयिता भी रीतिकवियों शास्त्रीय दृष्टि के विरोधी थे, यह 'लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है' उक्तिवाले र के कवित्त से स्पष्टतः ध्वनित होता है। इस प्रकार व्यवहार और सिद्धान्त—दोनों द्रोह का स्वर रहने के कारण इन रचनाओं के मूल में रीतिमुक्तता की प्रवृत्ति कही जा ती है। इस प्रवृत्ति की परिचायक रचनाओं में घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा आदि कवियों द्वारा रचित शृंगारी मुक्तकों को विशेष रूप से रखा जा सकता है।

इस वर्ग की शृंगारिक रचनाओं के समान वीर रस, भक्ति, नीति आदि की रचनाओं काव्यशास्त्रीयता के प्रति आग्रह का अभाव तो है, पर साथ ही विद्रोह का भाव भी नहीं वीररसात्मक रचनाओं का प्रेरक तत्त्व कवि का अपने आश्रयदाता अथवा किसी ऐति-क चरित्र के महान कर्मों के साथ तादात्म्य एवं श्रद्धा का भाव रहा है—मात्र आलं-क प्रशस्तियाँ करने की इच्छा नहीं। यही कारण है कि ये रचनाएँ वीररसात्मक अधिक रीतिकवियों द्वारा रचित इस प्रकार की रचनाओं के समान राजविषयक रतिपरक नहीं। के 'शिवावावनी' और 'छत्रसालदशक'; लाल कवि के 'छत्रप्रकाश', जोधराज के 'हम्मीर ', थीवर के 'जंगनामा', सूदन के 'सुजानचरित', पद्माकर के 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' 'प्रताप प्रशस्ति'; ग्वाल के 'हम्मीर हठ' और 'विजयविनोद'; चन्द्रशेखर वाजपेयी के र हठ' आदि ग्रन्थों को इसी कोटि में रखा जा सकता है। भक्तिपरक रचनाओं के में वैष्णव सम्प्रदाय की आस्थाओं की प्रधानता तथा इष्ट के प्रति गहरी आस्था रहने के इन्हें भक्तिकालीन परम्परा की रचनाएँ कहा जा सकता है। वृन्दावनदास, नागरी- व्रजवासीदास आदि की रचनाएँ इसी वर्ग में आयेंगी। इधर नीतिकाव्य के मूल में ों के वैयक्तिक अनुभवों की अभिव्यक्ति रहने के कारण ये यद्यपि रहीम आदि के नीति की परम्परा में आती हैं तथापि इनके मूल में भक्ति-भाव अपेक्षाकृत न्यून होने के कारण

इन्हे अपने ही प्रकार की कहा जा सकता है। वृन्द, दीनदयाल गिरि, गिरिधरदास काव्य इसी प्रकार का है। इसी प्रकार उक्त सभी प्रवृत्तियों के आधार पर काव्य के मुख्यतः ये पाँच प्रवृत्तिसूचक वर्ग कहे जा सकते हैं—रीतिकाव्य, रीतिमु भक्तिकाव्य, नीतिकाव्य और वीरकाव्य।

रीतिकाव्य

रीति' शब्द की व्याख्या और रीतिकाव्य का लक्षण

संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तर्गत 'रीति' शब्द उस काव्यांग-विशेष के लिए है जिसे काव्य की आत्मा के रूप में घोषित कर आचार्य वामन ने तत्सम्बन्धी पृथक् प्रवर्तन किया। उनके अनुसार गुण-विशिष्ट रचना—अर्थात् पदसंघटना-पद्धति-विशे 'रीति' है। इधर व्याकरण के आधार पर गत्यर्थक 'रीङ्' धातु से 'क्तिच्' प्रत्यय जो व्युत्पत्ति कही जाती है, उससे यह 'मार्ग' का वाचक ठहरता है। इस प्रकार शास्त्रों में इस अकेले ही शब्द के दो पृथक् प्रयोग कहे जा सकते हैं। किन्तु, वास्त पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न होकर व्यावहारिक विकास का ही परि है। बात यह है कि व्यक्ति अथवा वर्ग-विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति जिस विशि करता है, उसकी विशेषताएँ जब दूसरों के लिए अपने अभिव्यक्ति-व्यापारगत अनु अनुसरण का लक्ष्य हो जाती हैं तो उनकी विधात्री पद्धति-विशेष लोक-व्यवहार में से ही अभिहित होती है। दण्डी का यह कथन कि काव्य-रचना के तो ये दो मार्ग और गौड ही होते हैं, पर कवि में आश्रित होने के कारण इसके अनन्त भेद हो स्पष्टतः प्रदेश (अर्थात् वर्ग-विशेष) तथा व्यक्ति की अभिव्यक्ति-पद्धति की 'मार्ग' स्वीकृति है। वामन ने भी सम्भवतः रचना-पद्धति के लिए 'मार्ग' के इस परम्परा को दृष्टि में रखकर ही उसके पर्याय-रूप में 'रीति' शब्द को ग्रहण किया है; काल ने जिन दो मार्गों और उनके नियामक दश गुणों का उल्लेख किया है, वे वामन ने कर रखे हैं। आगे परवर्ती आचार्यों में भोज ने तो स्पष्ट शब्दों में 'रीति' की व्युत्पत्ति दर्शाते हुए उसे मार्ग का ही पर्याय माना है। ऐसी दशा में यह सहज ही किया जा सकता है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र में 'रीति' शब्द काव्य-रचना के मार्ग पद्धति-विशेष के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। हिन्दी के मध्ययुगीन कवियों में ऐसे हैं, जिन्होंने काव्य-रचना-पद्धति को 'रीति' और उसके पर्याय 'पन्थ' से ही अभि है। यथा—

१. चिन्तामणि—*रीति सुभाषा कवित की बरनत बुध अनुसार।*
(कविकुलकल्पतरु—प्रथम
२. मतिराम—*सो विश्रब्ध नवोढ़ यों बरनत कवि रसरीति।*
३. भूषण—*सुकविन हूँ की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ।* (शिवरा
४. देव—*(क) अपनी अपनी रीति के काव्य और कवि रीति।*
(ख) भाषा प्राकृत संस्कृत देखि महाकवि पंथ।
(शब्दरसायन—एकादश
५. भिखारीदास—*(क) काव्य की रीति सिख्यो सुकवीन्ह सों।*
(काव्यनिर्णय—प्रथम

(ख) जातें कछु हौं हूँ लह्यो कवितार्इ को पंथ।

(शृंगार-निर्णय)

इनके अतिरिक्त हिन्दी के आधुनिक इतिहासकारों तथा आलोचकों ने भी इसी अर्थ रीति' शब्द का प्रयोग किया है। मिश्रबन्धुओं ने 'आचार्य' के कर्त्तव्य-कर्म को दर्शाते हुए शब्द का जो स्पष्टीकरण किया है, वह अपने आप में पर्याप्त है : "आचार्य लोग तो ता करने की रीति सिखलाते हैं, मानो वह संसार से यह कहते हैं कि अमुकामुक विषयों वर्णनों में अमुक प्रकार के कथन उपयोगी हैं और अमुक प्रकार के अनुपयोगी।" (मिश्र-विनोद, भाग २) अतएव व्युत्पत्ति, प्रयोग और परम्परा के आधार पर कहा जा सकता कि 'रीति' शब्द संस्कृत के समान हिन्दी में भी बहुत पहले से काव्य-रचना-पद्धति के लिए है। रीति शब्द को इसी रूढ़ अर्थ में ग्रहण करते हुए कह सकते हैं कि 'रीतिकाव्य' वह व्य है जिसकी रचना विशिष्ट पद्धति अथवा नियमों को दृष्टि में रखकर की गयी हो। दी-भाषा-साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में अनेक कवियों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र के नियमों की ी-बंधायी परिपाटी पर अपने काव्य की रचना की। इसीलिए आज उन्हें रीतिकवि और के काव्य को 'रीतिकाव्य' संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

स्त्रीय और साहित्यिक पृष्ठाधार

कोई भी साहित्यिक प्रवृत्ति अचानक जन्म लेकर पुष्ट नहीं हो जाती—इसके लिए नुकूल परिस्थितियों और पुष्ट परम्परा का होना अनिवार्य है। रीतिकाल में रीतिकाव्य के ए अनुकूल परिस्थितियाँ तो थीं ही—इसके लिए अपेक्षित आधार-रूप परम्पराओं को भी स्कृत के काव्यशास्त्र और साहित्य की दीर्घ सरणि में देखा जा सकता है।

काव्यशास्त्र का आरम्भ कब हुआ, यह बता सकना तो कठिन है; पर इतना निश्चय ाथ कहा जा सकता है कि वैदिक काल से ही इसके विभिन्न अंगों का विकास आरम्भ या था और भरत के समय तक इनका इतना विकास हो चुका था कि सबको एकत्र कर नाट्यशास्त्र' जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना कर सके। इनके पश्चात् भामह तक मेधाविन् दि आचार्यों ने इस दिशा में और योगदान किया। बाद में स्थिति यहाँ तक पहुँची कि व्य के भीतर विशिष्ट काव्यांगों के महत्त्व को लेकर सम्प्रदाय स्थापित होते गये और प्रत्येक विकास साम्प्रदायिक दृष्टि से हुआ। सस्कृत में काव्यशास्त्र के पाँच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं—रस प्रदाय, अलंकार सम्प्रदाय, रीति सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय और वक्रोक्ति सम्प्रदाय। इनमें म्परा से रस सम्प्रदाय सबसे प्राचीन माना जाता है। इसके उन्नायक आचार्यों में भरत और के सिद्धान्त के व्याख्याकार लोल्लट, शंकुक, भट्ट नायक और अभिनवगुप्त तथा भोज, मम्मट, वनाथ आदि परवर्ती आचार्यों का नाम लिया जाता है। इन्होंने रस के स्वरूप, सामग्री भेदादि की व्याख्या और विवेचन के साथ काव्य में उसके महत्त्व-प्रतिपादन द्वारा रस-ान्त की स्थापना की। इनके बाद ऐसे आचार्य भी हुए जिन्होंने इस सिद्धान्त की सूक्ष्मताओं दृष्टि में रखते हुए काव्यांग के रूप में रस के स्वरूप, सामग्री तथा भेदोपभेदों का व्यवस्थित चन कर सामान्य पाठक के लिए सहज-ग्राह्य बना दिया। ऐसे आचार्यों में भानुदत्त मिश्र नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' नामक ग्रन्थों क्रमशः रस के स्वरूप और उसके भेदोपभेदों तथा शृंगार रस—विशेषतः इसके आलम्बन क-नायिकाभेद को जिस व्यवस्थित एवं सुबोध रूप में प्रस्तुत किया, वह पूर्ववर्ती ग्रन्थों में न है। कदाचित् इसीलिए ये दोनों ग्रन्थ मध्यकाल में एक प्रकार से पाठ्यग्रन्थ बन गये।

रस सम्प्रदाय के बाद अलंकार सम्प्रदाय आता है। यह रस सम्प्रदाय का प्रतिद्वन्द्वी रहा। इस सम्प्रदाय के सूत्र यद्यपि भरत द्वारा निरूपित उपमा, रूपक, यमक नामक चार अलंकारों के कारण 'नाट्यशास्त्र' के रचना-काल से ही मिल तथापि यह सिद्धान्त-रूप में एक प्रकार से भामह के समय से ही प्रतिष्ठित हुआ। बाद दण्डी, उद्भट, रुद्रट, जयदेव आदि ने रसवादी अलंकारों की उद्भावना कर आत्मा के रूप में रस का तिरस्कार ही नहीं किया, अलंकार और अलंकार्य का हुए इसे काव्य का आधारभूत तत्त्व भी कहा। इसके साथ ही इन लोगों ने अलंकारों भेदोपभेदों की परिकल्पना करते हुए उनका वर्गीकरण करने तथा मूलाधार बताने भी किया। बाद में मम्मट, विश्वनाथ आदि रसवादी आचार्यों ने यद्यपि इनको शरीर को सुशोभित करनेवाले कटक, कुण्डलादि आभूषणों के समान ठहराकर वार्यता का विरोध किया, तथापि इनके व्याख्यान-विवेचन का लोभ-संवरण वे भी सके। इन्होंने पूर्ववर्तियों द्वारा प्रकल्पित अलंकारों की व्याख्या अत्यन्त व्यवस्थित इसके बाद भानुदत्त मिश्र के समान कतिपय ऐसे आचार्य भी हुए, जिन्होंने इस अत्यन्त सुबोध रूप में प्रस्तुत किया। अप्पय दीक्षित ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने 'कुवलयानन्द' में पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित अलंकारों के भेदोभेदों को अत्यन्त सुबोध एवं संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है। बाद के लोगों में अलंकार के लिए जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ ही अधिक लोकप्रिय भी जयदेव और अप्पय दीक्षित के ग्रन्थ अलंकारों की बड़ी संख्या, संक्षिप्तता एवं के लिए और भी अधिक ग्राह्य हुए।

अलंकार सम्प्रदाय के बाद तीसरा सम्प्रदाय रीति सम्प्रदाय है। इसके प्रवर्तक आचार्य वामन हैं, तथापि इनसे पूर्व ही काव्यांग के रूप में 'रीति' तथा इसके प्राण की चर्चा होती थी। यह भामह द्वारा वैदर्भ और गौड नामक मार्गों के अन्तर के दण्डी द्वारा इन दोनों के निर्देश से स्पष्ट है। गुणों का विवेचन भरत के 'नाट्य मिलता है। दण्डी और वामन का गुण-विवेचन किसी सीमा तक इनसे प्रभावित सकता है—भामह ने भी तीन गुणों का विवेचन किया है। किन्तु, एक बात निश्चित वामन ने शब्द और अर्थ के आधार पर गुणों का विवेचन् कर उनके आधार पर वैदर्भी और पांचाली नामक तीन रीतियों की स्थापना तथा इससे पूर्व रीति के स्वरूप व्याख्या द्वारा अपने सिद्धान्त को जिस प्रकार से प्रतिष्ठित किया, उस प्रकार से वर्ती अथवा परवर्ती आचार्य ने इस दिशा में प्रयत्न नहीं किया। यही कारण है सिद्धान्त आगे चलकर अधिक प्रचलित न हो सका। फिर भी, गुण और रीति को सभी ने माना और अपने-अपने अनुसार इन दोनों की व्याख्या की। रुद्रट ने समास के पर रीति की व्याख्या कर यदि 'लाटी' नामक चौथी रीति की परिकल्पना की, तो इन को मानते हुए राजशेखर और श्रीपाद ने मैथिली अथवा मागधी तथा भोज ने अवन्ती दो रीतियां और जोड़कर इनकी संख्या छह तक पहुँचा दी। इनसे पूर्व आनन्दवर्द्धन को काव्य के बाह्य रूप की शोभा का उपादान और इसलिए महत्त्व की दृष्टि से रस की सहायक मानकर जहाँ वामन द्वारा बताये हुए वही तीन रूप स्वीकार किये, ने काव्य को कवि-प्रतिभा-जन्य तथा रीति को कविप्रस्थान-हेतु मानते हुए स्पष्ट इसके भेदीकरण का विरोध करते हुए कहा कि देश के अनुसार विभाजन करने पर के असंख्य भेद हो जायेंगे। भोज के उपरान्त मम्मट ने वामन की रीतियों में

वृत्तियों का अन्तर्भाव करते हुए उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक वृत्तियों तथा वैदर्भी, गौडी और पांचाली को क्रमशः एक ही मान लिया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इन तीनों रीतियों के अनुसार क्रमशः माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक गुणों को भी स्वीकार किया—दश गुणों की बात उन्हें मान्य नहीं हुई। विश्वनाथ ने रीति और गुणों की संख्या तो मम्मट के अनुसार ही मानी, किन्तु रीति का सम्बन्ध रस और गुणों के साथ व्यवस्थित किया। पण्डितराज जगन्नाथ की भी इस विषय में लगभग यही मान्यताएँ रहीं और इस प्रकार यही तीन रीतियाँ तथा तीन गुण स्वीकार्य हो गये।

रीति सम्प्रदाय के पश्चात् ध्वनि सम्प्रदाय आता है। इसके प्रवर्तक यद्यपि आनन्दवर्द्धन हैं तथापि इनसे पूर्व भी यह सिद्धान्त प्रचलित था, यह स्वयं उन्हीं के कथन से स्पष्ट है: 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नात पूर्वः।' स्वयं वैयाकरणों के स्फोट-विवेचन में इसके संकेत विद्यमान हैं। जो हो, आनन्दवर्द्धन ने एक ओर जहाँ अपने सिद्धान्त का निर्भ्रान्त विवेचन और उसकी स्थापना की वहाँ दूसरी ओर पूर्ववर्ती रस, अलंकार और रीति सिद्धान्तों की सम्यक् परीक्षा कर ध्वनि में रस, अलंकार, गुण, रीति और दोष का स्थान निर्धारित किया। इस सिद्धान्त का विरोध यद्यपि कुन्तक और महिम भट्ट ने प्रबल शब्दों में किया, किन्तु अभिनवगुप्त ने ध्वनिविषयक भ्रान्तियों का निराकरण करते हुए इसमें रस के महत्त्व को स्थापित कर एक प्रकार से इस सिद्धान्त की व्यापकता को सिद्ध कर दिया। इनके उपरान्त मम्मट ने पुनः प्रचलित विचारों का खण्डन-मण्डन करते हुए ध्वनि का विस्तृत विवेचन किया। मम्मट के पश्चात् विश्वनाथ ने ध्वनि की अपेक्षा रस का महत्त्व प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया, कितु पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रबल शब्दों में इसका खण्डन किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने इस दिशा में एक योगदान यह भी किया कि आनन्दवर्द्धन द्वारा निर्दिष्ट काव्य के तीन भेदों—उत्तम, मध्यम और अधम के साथ उत्तमोत्तम नामक चौथे भेद को स्वीकार किया। पण्डितराज का प्रभाव परवर्ती लोगों पर कम पड़ा—सामान्यतः लोग मम्मट के एतद्विषयक विवेचन को ही महत्त्व देते रहे।

ध्वनि सिद्धान्त के उपरान्त वक्रोक्ति सिद्धान्त का आविर्भाव हुआ। यह सिद्धान्त अलंकार और रीति सिद्धान्तों के समान देहवादी था—रस और ध्वनि सिद्धान्तों के समान आत्मवादी नहीं था। इसके प्रवर्तक आचार्य कुन्तक हैं। इन्होंने काव्य का जीवित 'वक्रोक्ति' को मानते हुए प्रतिभा पर आश्रित कविवैदग्ध्यभंगीभणिति (वैचित्र्य) के रूप में इसकी परिभाषा की। वस्तुतः यह सिद्धान्त भामह द्वारा अलंकार के प्राणरूप में स्वीकृत अर्थ और शब्द के वैचित्र्य वाली वक्रोक्ति और भट्ट तौत द्वारा निरूपित नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा पर आधारित है। कुन्तक ने इसे वर्ण-विन्यास से लेकर घटना-विन्यास तक बताकर इसका विस्तार प्रायः काव्य के सभी रूपों में दर्शाया; किन्तु यह सिद्धान्त आगे चलकर लोकप्रिय न हो सका। मम्मट आदि ने वक्रोक्ति को अलंकार-विशेष से अधिक महत्त्व नहीं दिया।

इन पाँच सम्प्रदायों से सम्बद्ध सिद्धान्तों के अतिरिक्त संस्कृत-काव्यशास्त्र में एक छठा सिद्धान्त और आविर्भूत हुआ! यह था औचित्य-सिद्धान्त; और इसके प्रवर्तक थे—आचार्य क्षेमेन्द्र। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत औचित्य को काव्य का आधारभूत तत्त्व मानते हुए पूर्वोक्त सिद्धान्तों में प्रतिपादित रस, अलंकार, गुण, रीति आदि के उचित प्रयोग की बात कहकर प्रकारान्तर से इन सबके रामन्वय का प्रयत्न किया गया। किन्तु यह आगे किसी भी प्रकार से स्वीकार न हो सका। सम्भवतः इसलिए क्योंकि इसमें कोई ऐसी मौलिकता नहीं थी जिसकी ओर परवर्ती आचार्यों का ध्यान आकृष्ट होता; जो बातें इसमें प्रतिपादित की गयी थीं, उनकी

चर्चा आनन्दवर्द्धन और कुन्तक कर ही चुके थे

काव्यशास्त्र के उक्त सिद्धान्तों के साथ ही संस्कृत में छन्दोविवेचन की धारा भी रूप से चल रही थी। इसका सीधा सम्बन्ध यद्यपि काव्य के साथ ही था, तथापि उक्त में से किसी ने भी काव्यांग के रूप में इसका विवेचन करना इसलिए आवश्यक नहीं क्योंकि सामान्य रूप से सभी गद्य और पद्य—दोनों को काव्य मानते थे। अस्तु, यह भी वैदिक काल से चली आ रही थी। इसका आरम्भिक रूप वैदिक छन्दों में सहज ही जा सकता है। इन्हीं छन्दों में आगे चलकर लौकिक संस्कृत के छन्दों का विकास हुआ। वर्णिक छन्दों के साथ लोगों ने मात्रिक छन्दों का भी आविष्कार आरम्भ कर दिया। इस पिंगल के समय तक वैदिक छन्दों के अतिरिक्त वर्णिक और मात्रिक—दो प्रकार के छन्द अस्तित्व में आ गये। आगे प्रस्तार-रीति के द्वारा इनकी संख्या ही निश्चित नहीं की दण्डक—विशेषतः वर्णिक दण्डकों का भी प्रचलन आरम्भ हुआ। पिंगल के परवर्ती शास्त्रकारों ने इनमें से सामान्यतः उन्हीं छन्दों का विवेचन किया, जो साहित्य में प्रचलि गये थे—यद्यपि अपने विवेचन को पूर्ण करने के लिए उन्होंने कतिपय अप्रचलित छन्दों को कर लिया था। कालिदास का 'श्रुतबोध', क्षेमेन्द्र का 'सुवृत्ततिलक', जयकीर्ति और हे के 'छन्दोनुशासन' नामक ग्रन्थ, भट्ट केदार का 'वृत्तरत्नाकर', गंगादास की 'छन्दोमंजरी' इसी प्रकार के ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इनमें अन्तिम दो अपेक्षाकृत अधिक सुबोध एवं व्य हैं। दूसरी ओर प्राकृत भाषाओं की प्रकृति के अनुकूल पड़ने के कारण मात्रिक छन्द लोकप्रिय होते जा रहे थे। परिणामतः अनेक प्रकार के नये मात्रिक छन्दों का आवि हुआ और धीरे-धीरे इन्हें भी शास्त्रीय मान्यता मिलने लगी। इस प्रकार के छन्दों का प्रामाणिक ग्रन्थ 'प्राकृत-पैंगलम्' कहा जा सकता है और यह अपने आप में पूर्ण व्यवस्थित है।

काव्यांगों तथा छन्दों के विवेचन की उक्त दोनों धाराएँ संस्कृत में ही नहीं रहीं, हि में भी इस प्रकार के ग्रन्थ रीतिकाल से पूर्व लिखे गये। कृपाराम की 'हिततरंगिनी', सू की 'साहित्यलहरी', नन्ददास की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया', 'कविप्रिया', 'छन्द और 'रामचन्द्रिका', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा', सेनापति के कल्पद्रुम', सुन्दरदास के 'सुन्दर श्रृंगार' आदि को हिन्दी के रीतिग्रन्थों की परम्परा की कड़ी कहा जा सकता है। इन ग्रन्थों का उद्देश्य किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन न होकर शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए हिन्दी में सरस और सुबोध रूप में विशिष्ट काव्यांगों का वि प्रस्तुत करना मात्र था, इसलिए संस्कृत के उक्त लक्षण-ग्रन्थों के आधार पर विवेचन इनके रचयिताओं ने श्रेयस्कर समझा—मौलिकता प्रदर्शित करने की न उनमें प्रतिभा थी न इसकी अपेक्षा ही थी! यही कारण है कि संस्कृत के परवर्ती आचार्यों के समान इस में इन लोगों का कोई मौलिक योगदान नहीं रहा।

रीतिकालीन कवियों के समक्ष भी हिन्दी के पूर्ववर्ती कवियों के समान काव्यांगों सुबोध ज्ञान प्राप्त करने योग्य ग्रन्थों को उपलब्ध कराने का लक्ष्य था। अतएव उन्होंने रीति-निरूपण के लिए ध्वनि-परवर्ती आचार्यों में उन्हीं को अपना आधार बनाया जिनके सुबोध एवं विवेचन की दृष्टि से व्यवस्थित थे। इन ग्रन्थों में श्रृंगार रस और ना नायिकाभेद के लिए भानुदत्त की 'रसमंजरी' तथा 'रस-सामग्री और रस के भेदोपभेदों के उन्हीं की 'रसतरंगिणी' एवं अलंकारों के लिए जयदेव का 'चन्द्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षि का 'कुवलयानन्द' इस युग के कवियों के बीच सर्वाधिक ग्राह्य रहे। जिन लोगों ने वि

ंगों के स्थान पर काव्य के सभी अंगों का एक-साथ विवेचन करना चाहा, उन्होंने इन ग्रन्थों के स्थान पर मम्मट के ‘काव्यप्रकाश’ अथवा विश्वनाथ के ‘साहित्यदर्पण’ का आश्रय लिया। न्दोविवेचन के लिए प्रायः सभी छन्दोनिरूपक कवि भट्ट केदार के ‘वृत्तरत्नाकर’ अथवा ंगादास की ‘छंदोमंजरी’ तथा ‘प्राकृतपैंगलम्’ के ऋणी रहे। इनसे आगे सम्भवतः किसी ने ाने का प्रयत्न नहीं किया। जिनकी इच्छा हुई भी, उन्होंने अधिक-से-अधिक केशव की विप्रिया’ के आधार पर लक्षणों की रचना कर ली। ऐसे ग्रन्थों के आधार पर यह धारणा ना लेना अपने आप में भ्रामक होगा कि इनके रचयिता ध्वनि-पूर्ववर्ती दण्डी आदि आचार्यों के सीधे रूप में ऋणी रहे हैं।

यह बात तो रही काव्यशास्त्रीय पृष्ठाधार की, इस काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि भी कम पुष्ट नहीं कही जा सकती। ये कवि जिस परम्परा का अनुसरण कर रहे थे, वह थी मुक्तकों की; और मुक्तकों की यह परम्परा हिन्दी के जन्म से पूर्व संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश ाषाओं के भीतर अविकल रूप से चली आ रही थी—प्रायः उन सभी विषयों से सम्बद्ध मुक्तक प्रचुर परिमाण में समय-समय पर लिखे जाते रहे थे जिनको इन्होंने अपने काव्य के लिए ग्रहण किया। इनमें शृंगारिक मुक्तक सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण सबसे अधिक परिमाण में लिखे गये। इनकी तीन धाराएँ थीं, जो अपनी विशेषताओं के कारण स्वतः स्पष्ट थीं। इनमें पहली ऐसे मुक्तकों की थी, जिनमें ऐहिकता का स्वर एकदम मुखर था। हाल की ‘गाथासप्तशती’ इस धारा का आरम्भिक रूप कही जा सकती है, जहाँ गार्हस्थिक परिवेश में ौन-सम्बन्धों के वर्णन की स्पष्टता और स्वाभाविकता से यह सहज ही अनुभव हो जाता है कि यह उस समय की रचना है जबकि भारतीयों के मन में परलोक-साधना की अपेक्षा गृहस्थ-जीवन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा था। इसके पश्चात् इस धारा ने क्रमशः नया मोड़ लिया और गार्हस्थिक जीवन की सरलता के स्थान पर इसमें नागर जीवन की कृत्रिमता आ गयी; परिणामस्वरूप अभिव्यक्ति में सहजता और स्वाभाविकता का स्थान अलंकरण तथा अतिशयता ने ले लिया। अमरुक के ‘अमरुकशतक’ तथा गोवर्द्धनाचार्य की ‘आर्यासप्तशती’ से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। आगे चलकर सामन्तीय प्रभाव के कारण यह धारा साधारण धरातल से हटती चली गयी और परिणाम यह हुआ कि कृत्रिमता के साथ इसमें आभिजात्य ने अपना घर कर लिया; वैयक्तिकता के सन्निवेश से वाणी में सहज माधुर्य आ गया। कालिदास के ‘शृंगारतिलक’ और ‘घटकर्पर’, भर्तृहरि का ‘शृंगारशतक’, विल्हण की ‘चौरपंचाशिका’ आदि इसके प्रमाण हैं। दूसरी धारा स्तोत्रों की थी, जो इस धारा के समानान्तर चल रही थी। इसके भीतर शिव-पार्वती अथवा राधा-कृष्ण की लीलाओं के व्याज से खुलकर शृंगार-वर्णन किया गया था। ‘वक्रोक्तिपंचाशिका’, ‘कृष्णलीलामृत’ आदि ग्रन्थ इसी कोटि के कहे जा सकते हैं। तीसरी धारा कामशास्त्र के ग्रन्थों की थी, जिसने उक्त दोनों धाराओं को प्रभावित किया। वात्स्यायन का ‘कामसूत्र’, कोक्कन का ‘रतिरहस्य’, जयदेद की ‘रतिमंजरी’, प्रौढदेवदाय की ‘रतिरत्नदीपिका’, कल्याणमल्ल का ‘अनंगरंग’ और वीरभद्र का ‘कंदर्पचिन्तामणि’ इस धारा की प्रमुख रचनाएँ हैं।

हिन्दी में ये धाराएँ आरम्भ से प्रचलित रहीं। इनमें ‘पृथ्वीराज रासो’ के शृंगार-वर्णन; कृपाराम की ‘हिततरंगिनी’, सूर की ‘साहित्यलहरी’ तथा ‘सूरसागर’ के वे शृंगारिक प्रसंग जिनमें नायिकाभेद और संयोग-वियोग शृंगार की सामग्री पर शास्त्रीयता की छाप स्पष्ट है; तुलसी की ‘बरवै रामायण’, केशव की ‘रसिकप्रिया’, रहीम के ‘बरवै नायिकाभेद’ और ‘नगरशोभा’ आदि को अलंकरण के कारण प्रथम धारा की परम्परा में सहज ही रखा

जा सकेगा जबकि विद्यापति, सूर, नन्ददास आदि कृष्णभक्त कवियों द्वारा राधा-कृ लीलाओं के व्याज से शृंगार-वर्णन दूसरी धारा का सीधा अनुकरण कहे जा सकें। शास्त्रीय ग्रन्थों की प्रेरणा इन दोनों के मूल में रही, यह इनमें वर्णित संयोग शृंगार के से सहज ही जाना जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आगे चलकर रीति अपने अनुकूल वातावरण प्राप्त कर शृंगारिक मुक्तकों की यह त्रिमुखी परम्परा अ और समृद्ध हो गयी। रीतिकवियों ने हाल, गोवर्द्धन आदि के प्रभाव से सतसइयाँ लिखीं, उनको अपनी रचनाओं की विषयवस्तु का स्रोत भी बनाया—'अमरुकशतक' के पर भी अनेक मुक्तकों की रचना हुई। इसी प्रकार दूसरी धारा कृष्णभक्ति-काव्य प्रकार मुखरित होकर आयी थी, उससे प्रभावित होकर इन कवियों ने राधा-कृष्ण अपने नायक-नायिका बनाकर उनके विभिन्न शृंगारिक व्यापारों के वर्णन में अपनी भावना का आरोप कर लिया। भिखारीदास का यह कथन कि "अवके सुकवि री कविताई है, न तु राधा कन्हाई सुमिरन को बहानो है", इसका प्रमाण है। इधर तीस के प्रभाव के परिणामस्वरूप इन लोगों ने नायक-नायिकाओं की रतिक्रीड़ाओं का विस्त ही नहीं किया, नायिकाओं के भेदों की उद्भावना में भी इससे प्रेरणा ली। पद्मिनी, चित्रिणी और हस्तिनी नामक नायिकाओं की उद्भावना के मूल में उक्त कामशास्त्री की यही धारणा कही जा सकती है।

शृंगार के समान वीरकाव्य की परम्परा भी हिन्दी की पूर्ववर्ती भाषाओं में समृद्ध एवं विशद है; अन्तर केवल इतना ही है कि इसमें मुक्तकों की अपेक्षा प्रबन्ध की रचना अधिक हुई है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि रस के परिपाक के वीर रस के आलम्बन महत्कर्म और उसके प्रति आश्रय के उत्साह-भाव को दिखाने की से कर्मशृंखला को जिस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है, प्रबन्धकाव्य का विस्तार सर्वाधिक अनुकूल पड़ता है—मुक्तक के सीमित कलेवर के भीतर कभी-कभी समस्त शृंखला न समा सकने के कारण वीर रस का पूर्ण परिपाक नहीं हो पाता और रचना प्रशस्ति रह जाती है। जो हो, इस परम्परा में चार धाराएँ स्पष्टतः देखी जा सकती हैं। पहली तो उन काव्यों की है, जिनके नायक 'रामायण' अथवा 'महाभारत' के प्रसिद्ध पात्र रहे हैं। कालिदास का 'रघुवंश', प्रवरसेन का 'सेतुबन्ध', कुमारदास भट्टि का 'र वध', अभिनन्द का 'रामचरित', क्षेमेन्द्र का 'रामायणमंजरी', वामन भट्ट का 'रघुनाथच भारवि का 'किरातार्जुनीय', माघ का 'शिशुपालवध', देवप्रभसूरि का 'पाण्डवचरित' आदि धारा के प्रसिद्ध काव्य हैं। दूसरी धारा उन चरितकाव्यों की है, जिनमें कवियों ने आश्रयदाता अथवा उसके किसी पूर्वज के चरित्र का सांगोपांग वर्णन करते हुए उसके महान् का बखान किया है। इनके भीतर बाण का 'हर्षचरित', कनकसेनवादिराज का 'यशोधरच शंकुक का 'भुवनाभ्युदय', गंगादेवी का 'मधुराविजय', राजनाथ द्वितीय का 'सालुवाभ्यु राजनाथ तृतीय का 'अच्युतरायाभ्युदय', गंगाधर का 'गंगादासप्रताप विलास', जयानक 'पृथ्वीराजविजय' आदि उल्लेखनीय हैं। तीसरी धारा उन मुक्तक रचनाओं की है, जो क ने अपने श्रद्धापात्रों की प्रशस्ति में लिखी हैं। इनका संकेत मेरुत्तुंग की 'प्रबन्धचिन्ता तथा राजशेखर के 'प्रबन्धकोश' में संकलित मुक्तकों तथा विभिन्न आचार्यों के काव्यशा ग्रन्थों में उद्धृत रचनाओं से मिलता है। चौथी धारा उन ग्रन्थों की है जो लिखे तो इति निर्माण की दृष्टि से गये, पर उनमें कतिपय राजाओं और सामन्तों के महत्कर्मों का वर्णन इतने ओज और श्रद्धा के साथ हुआ है कि तत्सम्बन्धी छन्द सहज ही वीरकाव्य की कोटि

जा सकते हैं। इनमें कल्हण की 'राजतरंगिणी' तथा सन्ध्याकरनन्दि का 'रामचरित' उल्लेखनीय हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी वीरकाव्यों की परम्परा की ये धाराएँ विद्यमान रहीं, पर जैनों तथा सिद्धों के प्रभाव के कारण इनका क्षेत्र धार्मिक महत्कर्मों के बखान के कारण सीमित ही नहीं रहा, रूढ़िबद्धता के कारण किसी सीमा तक स्फूर्तिहीन भी हो गया।

हिन्दी में आदिकाल के अन्तर्गत चरितकाव्यों की धारा ही मुख्य रूप से प्रचलित रही। इनमें यद्यपि अपभ्रंश के चरितकाव्यों की रूढ़ियों का पालन रहा है, किन्तु तत्कालीन युद्ध के सामान्य वातावरण और चारणों और भाटों की अतिशयप्रधान उक्तियों के कारण इनमें ओज का जैसा सन्निवेश हुआ है, वह पूर्ववर्ती काव्य में दुर्लभ है। भक्तिकाल के अन्तर्गत यह धारा तो क्षीण रूप में चलती ही रही, राम और कृष्ण के चरित विषयक ग्रन्थों में यथावसर वीररसपरक प्रसंगों की योजना भी की गयी। भक्त कवियों ने इन दोनों महापुरुषों को यद्यपि विष्णु के अवतार-रूप में प्रतिष्ठित किया, तथापि उनके महत्कर्मों के वर्णन इस भावना से इतने असंयुक्त रहे कि इनकी वीररसात्मकता पर किसी भी प्रकार से सन्देह नहीं हो पाता। रीतिकाल में चरितकाव्यों की धारा तो अविच्छिन्न रही, पर राम-कृष्ण आदि रामायण-महाभारत के प्रसिद्ध चरित्रों से सम्बद्ध काव्यों की धारा एकदम क्षीण हो गयी। इसके स्थान पर संस्कृत के प्रशस्तिपरक मुक्तकों की धारा अनेकमुखी होकर इस प्रकार प्रवाहित होने लगी कि उक्त सभी धाराएँ अकेली अथवा संश्लिष्ट होकर समाहित हो गयीं—इतिहास की वस्तुपरकता और प्रबन्धकाव्यों की वर्णनात्मकता इस धारा के मुक्तकों में सहज ही समा गयीं। वास्तव में शृंगारिक मुक्तकों के इस युग में वीररसपरक रचनाओं के लिए भी कवियों ने इस काव्य-रूप को अपनाने का यदि प्रयत्न किया, तो वह स्वाभाविक ही था। इधर छप्पय, दोहा, कवित्त और सवैया—ये चार छन्द आरम्भ से ही प्रकृतितः मुक्तक के अधिक अनुकूल थे। आदिकाल में 'पृथ्वीराज रासो', 'आल्हखण्ड' आदि तथा भक्तिकाल में 'वीरसिंहदेवचरित', 'जहाँगीरजसचन्द्रिका' आदि प्रबन्धकाव्यों में इन छन्दों की मुक्तक-काव्यानुकूलता इतनी मुखर है कि उनसे पृथक् करके पढ़ने पर ये सामान्यतः मुक्तक रचना ही प्रतीत होते हैं। रीतिकाल के चरितकाव्यों में भी ये छन्द इसी विशेषता से युक्त हैं। रीतिनिरूपण सम्बन्धी ग्रन्थों के आरम्भ अथवा अन्त में कवियों के आश्रयदाताओं अथवा उनके पूर्वजों के महत्कर्मों की प्रशस्तियाँ तथा आश्रयदाताओं की राज्यश्री आदि का वर्णन मुक्तकों की इसी धारा के सूचक हैं। दूसरे, चूँकि प्रशस्तिपरक मुक्तकों के उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये जाने की परम्परा संस्कृत और प्राकृत के काव्यशास्त्रीय एवं छन्दोनिरूपण विषयक ग्रन्थों में विद्यमान थी, अतएव अलंकारों और छन्दों के विवेचन में ही अधिकांशतः इन लोगों ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशस्तियाँ ही उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत नहीं कीं; अवसर मिलने पर वीर, रौद्र, वीभत्स और अद्भुत रसों के उदाहरणों के रूप में भी इस प्रकार के मुक्तक प्रस्तुत किये। पर चूँकि इन छन्दों में—विशेषतः दोहे में वीर रस के परिपाक के लिए अपेक्षित कर्म-शृंखला का पूर्णतः निर्वाह न हो सका, इसीलिए ये मुक्तक रसात्मक होने की अपेक्षा अधिकांशतः राजविषयक अथवा रीतिपरक ही अधिक रह गये।

शृंगार और राजप्रशस्तिपरक वीरकाव्य से इतर विषयों में भक्ति और नीतिपरक मुक्तकों की परम्परा इन दोनों विषयों के समानान्तर चलती रही। इनमें भक्तिपरक मुक्तक संस्कृत में अनेक स्तोत्र-संग्रहों के रूप में लिखे गये। बाण का 'चण्डीशतक' ऐसे मुक्तक-संग्रहों में सबसे प्राचीन कहा जा सकता है। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी पर्यन्त विभिन्न देवी-

देवताओं की स्तुति में अनेक स्तोत्र-ग्रन्थ लिखे गये । इनमें मानत्तुंग के 'भक्तामरस्तोत्र', म के 'सूर्यशतक', केरल-नरेश कुलशेखर के 'मुकुन्दमाला', आनन्दवर्द्धन के 'देवीशतक', उत्पल के 'शिवस्तोत्रावलि', जयदेव के 'गंगास्तव', वेदान्तदेशिक के 'पादुकासहस्र गरुडदण्डक' औ 'अच्युतशतक', अप्पय दीक्षित के 'वरदराजस्तव', नीलकण्ठ दीक्षित के 'आनन्दस्तव' औ 'शिवोत्कर्षमंजरी' तथा पण्डितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' का विषय उल्लेख किया ज सकता है । इनके अतिरिक्त पुराणों में दिये गये स्तोत्र भी जन-सामान्य के बीच अपने माहात्म्य के कारण प्रचलित रहे होंगे । इनका प्रभाव उपर्युक्त स्तोत्रों पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से रहा, यह इसी बात से प्रमाणित होता है कि इनमें अधिकांश के भीतर देवी-देवताओं के उन्हीं गुणों का गायन है जिनका पुराणकारों ने निर्देश किया है । हिन्दी में भक्तिकाल के अन्तर्गत भक्तिपरक मुक्तकों की जो धारा चली उस पर यद्यपि पूर्वोक्त स्तोत्रों का प्रभा रहा, किन्तु उसका मूल उत्स उक्त पौराणिक स्तोत्र ही रहे । रीतिकालीन कवियों द्वारा रचित रीतिग्रन्थों के मंगलाचरणों तथा विभिन्न अलंकारों, शान्त और भक्ति रसों आदि के उदाहरणस्वरूप रचित एतद्विषयक स्फुट छन्दों पर इन सबका सम्मिलित प्रभाव ही रहा चूंकि ये लोग किसी विशिष्ट सम्प्रदाय में दीक्षित नहीं थे, इसलिए किसी भी देवी-देवता की स्तुति इनके लिए मात्र आस्था की बात थी । यही कारण है कि भक्तिकालीन कवियों की तुलना में इन कवियों की रचनाओं में इष्टविषयक वैविध्य अधिक है ।

नीतिपरक मुक्तकों का क्षेत्र भक्तिपरक मुक्तकों की तुलना में आरम्भ से ही अधिक विशद रहा । श्रृंगारिक मुक्तकों के समान इनकी भी तीन धाराएँ पृथक् रूप से चलीं, किन्तु इनका परिवेश जीवन के प्रति विशिष्ट दृष्टिकोण न होकर संस्कृति ही है । कदाचित् इसीलिए हिन्दी के जन्म से पूर्व रचे गये नीतिकाव्य पर ब्राह्मण, बौद्ध और जैन सांस्कृतिक सिद्धान्तों का प्रभाव रहा । ब्राह्मण संस्कृति के परिवेश में लिखे गये नीतिकाव्य-ग्रन्थों में चाणक्य के 'चाणक्य-शतक', सुन्दरपाण्ड्य की 'नीतिद्विषष्टिका', शंकरवर्मा के 'वल्लालशतक', भर्तृहरि के 'नीतिशतक', क्षेमेन्द्र के 'चारुचर्या', 'सेव्यसेवकोपदेश', 'दर्पदलन' आदि; जल्हण के 'मुग्धोपदेश', कुसुमदेव के 'दृष्टान्तशतक', द्याद्विदेव की 'नीतिमंजरी', गुमान कवि के 'उपदेशशतक' आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है । जैनों द्वारा लिखे गये नीतिग्रन्थों में अमितगति की 'धर्मपरीक्षा' तथा हेमचन्द्र का 'योगशास्त्र' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं । ये ग्रन्थ अन्य जैन ग्रन्थों के समान अपभ्रंश भाषा में हैं । इनके अतिरिक्त बौद्ध संघों के विघटन से आविर्भूत महायान और हीनयान शाखाओं तथा बाद में महायान की वज्रयान और सहजयान नामक उपशाखाओं से विकसित क्रमशः सिद्ध और नाथ सम्प्रदायों के सन्तों ने अपने उपदेश भी इसी भाषा में लिखे । इन सब पर साम्प्रदायिक प्रभाव स्पष्ट है । हिन्दी की आरम्भिक अवस्था में तो इस प्रकार का काव्य कम लिखा गया, किन्तु भक्तिकाल में यह मूलतः पूर्ववर्ती धार्मिक परम्पराओं के अनुरूप रचा जाने के परिणामस्वरूप बौद्ध और जैन प्रभावों से अछूता रहा। सन्तकाव्यधारा के कवियों ने जितनी भी नीतिपरक रचनाएँ लिखीं, उन पर प्रायः नाथों का प्रभाव रहा। सगुणभक्त कवि इनके विपरीत संस्कृत में रचित नीतिग्रन्थों के अनुगामी रहे। इस सम्बन्ध में यह कहना असंगत न होगा कि इस काल के कवियों की रचनाओं में नीति सामान्यतः भक्ति और साधना की अंगीभूत होकर आयी । किन्तु, इनके साथ ही एक अन्य धारा भी इसी काल में आरम्भ हुई । उसमें वे कवि थे, जिन्होंने वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर नीतिपरक मुक्तकों की रचना की । ऐसे कवियों में रहीम का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है । इनके पश्चात् तो नीतिकाव्य का प्रवाह इसी दिशा में चल पड़ा—रीतिकवियों

ने इस विषय की जो रचनाएँ की, उन पर निजी अनुभवों की छाप ही अधिक रही। यदि किसी रचना में पूर्ववर्ती नीतिकाव्य-धाराओं का प्रभाव आया भी, तो वह समाज में प्रचलित नैतिक मूल्यों की वैयक्तिक अनुभवों के साथ संगति बैठ जाने के कारण ही आया—पूर्ववर्ती नीतिग्रन्थों को पढ़ने का इस युग में न तो किसी को अवकाश था और न इच्छा ही।

रीतिकाव्य की मूल प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल के अन्तर्गत राजाश्रित कवियों में से अधिकांश तथा जनकवियों में से कतिपय ऐसे थे जिन्होंने आत्म-प्रदर्शन की भावना अथवा काव्य-रसिक-समुदाय को काव्यांगों का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से ब्रजभाषा में रीतिग्रन्थों का प्रणयन किया। अतएव इन कवियों की सबसे प्रमुख प्रवृत्ति रीति-निरूपण की ही थी। इसके साथ ही विलासी आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए चूँकि इन लोगों ने उनकी रुचि के अनुरूप सामान्यतः शृंगारिक रचनाएँ कीं, अतः शृंगारिकता इन कवियों की मुख्य काव्य-प्रवृत्ति कही जा सकती है। इधर आश्रयदाताओं के दान, पराक्रम आदि का आलंकारिक वर्णन करने से जहाँ इन्हें धन-सम्मान मिलता था, वहाँ प्रबल धार्मिक संस्कारों के कारण भक्तिपरक रचनाएँ करने से भी आत्मलाभ होता था। ऐसी दशा में राजप्रशस्ति और भक्ति भी इनकी कविता का अंग बनकर गौण प्रवृत्तियों के रूप में आयीं। दूसरी ओर इन लोगों के कटु-मधुर वैयक्तिक अनुभव भी समय-समय पर नीतिपरक रचनाओं के रूप में व्यक्त होते रहते थे। अतः नीति भी इनकी कविता का अंग कही जा सकती है। इस प्रकार कुल मिलाकर रीति-कवियों की प्रवृत्तियों को दो वर्गों में रखा जा सकता है—

१. मुख्य प्रवृत्तियाँ—(क) रीति-निरूपण और (ख) शृंगारिकता।
२. गौण प्रवृत्तियाँ—(क) राजप्रशस्ति (वीरकाव्य), (ख) भक्ति और (ग) नीति।

रीति-निरूपण : रीति-निरूपण की इस व्यापक प्रवृत्ति का अध्ययन करने पर इसके भीतर कतिपय अन्तःप्रवृत्तियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। इनका विश्लेषण ग्रन्थकार की दृष्टि, काव्यांग-विवेचन तथा निरूपण-शैली के आधार पर पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। इनमें ग्रन्थकारों की दृष्टि के आधार पर यदि अन्तःप्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो कहना होगा कि इस युग में रीति-ग्रन्थों की रचना मुख्य रूप से तीन दृष्टियों से की गयी। इनमें प्रथम दृष्टि तो मात्र रीति-कर्म की है। इसके परिचायक वे ग्रन्थ हैं, जिनमें सामान्य रूप से काव्यांग-विशेष का परिचय कराना ही इनके रचयिताओं का उद्देश्य रहा है—अपने कवित्व का प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नहीं रहा। ऐसे ग्रन्थों में लक्षण के साथ उदाहरण या तो अन्य लोगों के काव्य से दिया गया है या फिर वह इतना संक्षिप्त रहा है कि उसमें कवित्व-जैसी बात नहीं रही। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', याकूब ख़ाँ का 'रसभूषण', रसिक सुमति का 'अलंकारचन्द्रोदय', दलपतिराय वंशीधर का 'अलंकाररत्नाकर', गोविन्द का 'कर्णाभरण', दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण', रसरूप का 'तुलसीभूषण' आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। द्वितीय प्रवृत्ति में रीतिकर्म और कविकर्म का समान महत्त्व रहा है। इसके अन्तर्गत आनेवाले ग्रन्थों में लक्षण और उदाहरण—दोनों ही उनके रचयिताओं द्वारा रचित हैं तथा उदाहरणों में सरसता का विशेष ध्यान रखा गया है। चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर, ग्वाल आदि के रीतिनिरूपण विषयक ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। तृतीय प्रवृत्ति के अन्तर्गत लक्षणों को महत्त्व नहीं दिया गया—ग्रन्थकारों ने प्रायः सभी छन्दों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों में बद्ध होकर करने पर भी लक्षणों के फेर में पड़ना उचित नहीं

समझा। बिहारी, मतिराम, भूपति, चन्दन आदि की सतसइयाँ, नखशिख-वर्णन सम्बन्धी समस्त ग्रन्थ तथा विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुट छन्द इस प्रवृत्ति के परिचायक हैं। इन ग्रन्थों की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि ये मुख्यतः शृंगारी हैं।

काव्यांग-विवेचन के आधार पर इस प्रवृत्ति की दो अन्तःप्रवृत्तियाँ कही जा सकती हैं—१. सर्वांग-विवेचन की, और २. विशिष्टांग-विवेचन की। इनमें सर्वांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत आनेवाले ग्रन्थों में सामान्य रूप से काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, काव्य की आत्मा (रस, ध्वनि), काव्य-गुण, काव्य-दोष, [illegible] रीति, अलंकार तथा छन्द का निरूपण किया गया है—कतिपय लोगों ने काव्यांगों का विवेचन एक ग्रन्थ में किया है और छन्द का पृथक् रूप से करने का प्रयत्न किया है। चिन्तामणि का ‘कविकुलकल्पतरु’, देव का ‘शब्दरसायन’, कुलपति का ‘रसरहस्य’, दास का ‘काव्यनिर्णय’, सोमनाथ का ‘रसपीयूषनिधि’, अमीरदास का ‘सभामंडन’, जनराज का ‘कवित्तरसविनोद’ आदि इसी प्रवृत्ति के परिचायक ग्रन्थ हैं। विशिष्टांग-विवेचन की प्रवृत्ति के अन्तर्गत वे ग्रन्थ कहे जा सकते हैं, जिनमें उक्त काव्यांगों में से किसी एक अथवा दो या तीन को विवेचन का विषय बनाया गया है। ये विषय हैं—रस, अलंकार और छन्द। इन तीनों के विवेचन में सामान्य प्रवृत्ति तो यह रही है कि तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन एक ग्रन्थ में हो; किन्तु देव के ‘भावविलास’ और याकूब खाँ तथा राय शिवप्रसाद के ‘रसभूषण’ नामक ग्रन्थों में रस और अलंकार का विवेचन साथ-साथ किये जाने का प्रयत्न भी रहा है। रस-निरूपक ग्रन्थों में पुनः दो प्रवृत्तियाँ दृष्टिगत होती हैं। इनमें एक तो है रस की विभावादि सामग्री के निरूपण के उपरान्त उसके समस्त भेदों का सामान्य रूप से तथा शृंगार और उसके आलम्बन (नायक-नायिकाभेद) आदि का विशेष रूप से विवेचन करने की, और दूसरी है रसों में शिरोमणि शृंगार के विभावादि—विशेषतः नायक-नायिकाभेद के सविस्तर वर्णन के उपरान्त उसके भेदोपभेदों के वर्णन की। चिन्तामणि का ‘रसविलास’, तोष का ‘सुधानिधि’, सुखदेव मिश्र के ‘रसरत्नाकर’ और ‘रसार्णव’, रसलीन का ‘रसप्रबोध’, समनेस का ‘रसिकविलास’, उजियारे की ‘रसचन्द्रिका’, बेनी प्रवीन की ‘नवरसतरंग’, पद्माकर का ‘जगद्विनोद’, नवीन का ‘रंगतरंग’, ग्वाल का ‘रसरंग’, चन्द्रशेखर वाजपेयी का ‘रसिकविनोद’ आदि ग्रन्थ रस-निरूपण की प्रथम प्रवृत्ति के कहे जा सकते हैं; जबकि मतिराम के ‘रसराज’, देव के ‘रसविलास’, ‘भवानीविलास’, ‘कुशलविलास’ आदि; कृष्णभट्टदेव ऋषि की ‘शृंगार-रसमाधुरी’, शिवनाथ की ‘रसदृष्टि’, दास के ‘शृंगारनिर्णय’ आदि को दूसरी प्रवृत्ति के भीतर रखा जा सकता है। अलंकार-निरूपण की प्रवृत्ति के परिचायक ग्रन्थों में मतिराम के ‘ललितललाम’ और ‘अलंकारपंचाशिका’, भूषण का ‘शिवराजभूषण’, गोप के ‘रामालंकार’, ‘रामचन्द्रभूषण’ और ‘रामचन्द्राभरण’; रसिक सुमति का ‘अलंकारचन्द्रोदय’, दलपतिराय का ‘अलंकाररत्नाकर’, रघुनाथ का ‘रसिकमोहन’, गोविन्द का ‘कर्णाभरण’, दूलह का ‘कविकुलकण्ठाभरण’, सेवादास का ‘रघुनाथ अलंकार’, रसरूप का ‘तुलसीभूषण’, पद्माकर का ‘पद्माभरण’, ग्वाल का ‘अलंकार-भ्रमभंजन’ आदि तथा छन्दोविवेचन की प्रवृत्ति के ग्रन्थों में मतिराम की ‘वृत्तकौमुदी’, भूषण का ‘छन्दोहृदयप्रकाश’, सुखदेव मिश्र का ‘वृत्तविचार’, माखन का ‘श्रीनाथपिंगल छन्दविलास’, दास का ‘छन्दोर्णवपिंगल’, दशरथ का ‘वृत्तविचार’, नन्दकिशोर का ‘पिंगलप्रकाश’ आदि उल्लेखनीय हैं।

विवेचन-शैली के आधार पर यदि प्रवृत्ति-विश्लेषण किया जाए, तो कहना होगा कि इस काल में रीति-निरूपण की मुख्य रूप से तीन शैलियाँ प्रचलित थीं। इनमें प्रथम है

काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण की शैली है जिसमें लक्षण-उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति देकर विषयों को समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसके अन्तर्गत चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरु', देव के 'शब्दरसायन', कुलपति के 'रसरहस्य', दास के 'काव्यनिर्णय', प्रतापसाहि की 'व्यंग्यार्थकौमुदी' और 'काव्यविलास', ग्वाल के 'अलंकारभ्रमभंजन' आदि ग्रन्थों को लिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के भीतर मम्मट-विश्वनाथ द्वारा दी गयी संस्कृत-गद्य की वृत्ति के समान ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति देकर विषय को यथावश्यकता समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की संक्षिप्त शैली है। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण', वैरीसाल का 'भाषाभरण', गोविन्द का 'कर्णाभरण', याकूब खाँ का 'रसभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि इसके परिचायक कहे जा सकते हैं। इनमें 'भाषाभूषण', 'कविकुलकण्ठाभरण' जैसे ग्रन्थों में एक ही छन्द में लक्षण और उदाहरण का एक-साथ निर्वाह करने के कारण इस शैली का पूरा अनुकरण कहा जा सकता है; जबकि 'कर्णाभरण', 'रसभूषण', 'पद्माभरण' जैसे ग्रन्थों में संक्षिप्तता के निर्वाह का प्रयत्न तो अवश्य रहा है पर इस शैली का पूर्ण अनुकरण नहीं हो पाया—प्रायः लक्षण और उदाहरण दोनों में पृथक्-पृथक् दिये गये हैं। तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की है, जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण देकर विषय-निरूपण किया गया है। रीतिकवियों ने इसका निर्वाह केवल भानुदत्त के समान शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद विवेचन के लिए ही नहीं किया; रस, अलंकार और छन्दों के विवेचन में भी किया है। उक्त दोनों शैलियों में आनेवाले ग्रन्थों को छोड़ शेष सभी ग्रन्थ इसी शैली में लिखे गये हैं।

रीति-निरूपण की समस्त अन्तःप्रवृत्तियों का अध्ययन करने पर इन सबके विषय में कतिपय सामान्य बातें कही जा सकती हैं। इनमें सबसे पहली तो यही है कि इस युग के समस्त रीतिकवियों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण सामान्य पाठकों को काव्यशास्त्र का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए किया है। अतएव सुबोधता, सुकण्ठता और सरसता का ध्यान रखते हुए ही इनमें संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रचलित विभिन्न शैलियों का अनुकरण किया गया है। इस सम्बन्ध में दूसरी ज्ञातव्य बात यह है कि रीति-निरूपण के लिए इस काव्य में सामान्यतः ध्वनि-परवर्ती परम्पराओं के उन्हीं संस्कृत-ग्रन्थों को आधार बनाया गया है जो विवेचन की व्यवस्था और सुबोधता के कारण एक प्रकार से पाठ्यग्रन्थ बन चुके थे। इनके भीतर दिये गये लक्षणों का व्रजभाषा में अनुवाद करने का ही इन लोगों ने प्रयत्न किया है। इस प्रकार इन लोगों ने आचार्य-कर्म की अपेक्षा कवि-शिक्षक के कर्म का ही निर्वाह किया है और सीमाओं के रहते हुए भी कुल मिलाकर इस दिशा में इन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। तीसरे, विभिन्न काव्यांगों का मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी ये लोग मूलतः रसवादी थे। इसीलिए इनकी रचनाओं में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों की दृष्टि से रसवाद की ही स्थापना देखने को मिलती है।

शृंगारिकता : शृंगारिकता की प्रवृत्ति रीतिकवियों की कविता का प्राण है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति के समान इस प्रवृत्ति के भीतर यद्यपि स्वतन्त्र अन्तःप्रवृत्तियाँ तो विद्यमान नहीं, तथापि एक ओर से काव्यशास्त्रीय बन्धनों के निर्वाह के और दूसरी ओर से नैतिक बन्धनों की छूट तथा विलासी आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के कारण इस प्रवृत्ति ने जो स्वरूप प्राप्त किया, उसे इतर कवियों की शृंगारिक प्रवृत्ति से सहज ही पृथक् करके देखा जा सकता है। शास्त्रीय बन्धनों ने तो इसे इतना रूढ़ बना दिया है कि शृंगार के विभाव-पक्ष में नायक-नायिकाओं के प्रत्येक भेद तथा उद्दीपक सामग्री के प्रत्येक अंग, अनुभावों के विविध रूपों,

प्रत्येक संचारी तथा संयोग के भीतर वर्णित हावादिकों और वियोग के भेदोपभेदों
विभिन्न कामदशाओं सम्बन्धी रचनाओं के पृथक्-पृथक् वर्ग बनाये जा सकते हैं। ऐसा
होता है कि इन विषयों में से प्रत्येक से सम्बद्ध बिम्बों का एक साँचा है, जिसमें से
उन्हें निकाला गया है—उनकी रेखाओं को विशिष्ट परिवेश से बाहर आने ही नहीं
गया। दूसरी ओर नैतिक बन्धनों की छूट तथा आश्रयदाताओं के प्रोत्साहन के का
लोग अपनी कल्पना के पंख उतने अवश्य फैला सके हैं कि काव्यशास्त्रीय घेरे के भीतर
बिम्बों की रेखाएँ उभरकर अपने निर्माताओं की अभिरुचि और दृष्टि की व्यंजना के
उनकी इस प्रवृत्ति की सामान्य विशेषताओं को प्रकट कर गयी हैं। इनमें सबसे मह
विशेषता यह है कि इन कवियों की शृंगार-भावना में दमन से उत्पन्न किसी प्रकार
मानसिक ग्रन्थियाँ न होकर शरीर-सुख की वह साधना है जिसमें विलास के समस्त उप
के संग्रह की ओर ही व्यक्ति की दृष्टि केन्द्रित रहती है—प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने
वासना के उन्नयन का प्रयत्न नहीं होता। यही कारण है कि संयोग के नग्न चित्रों
नायकों की धृष्टताओं के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत करते समय इन्होंने किसी प्रकार का सं
नहीं किया। क्योंकि इस प्रवृत्ति में विलासिता का प्राधान्य है, अतएव प्रेम-भावना में
न्मुखता का स्थान अनेकोन्मुखता ने कुछ इस प्रकार से ले लिया है कि कुण्ठारहित प्रे
उन्मुक्तता रसिकता का रूप धारण कर गयी है। इसीलिए अनेक पत्नियों के बीच
नायक किसी मानसिक तनाव का शिकार हुआ दृष्टिगत नहीं होता। निर्द्वन्द्व होकर
करने में ही वह अपने जीवन की सार्थकता समझता है—उसकी निर्द्वन्द्विता पत्नि
आँसुओं से व्यक्त होनेवाली निराशा और पीड़ा को ग्रहण ही नहीं कर पाती। वास्त
नारी के प्रति इन कवियों की दृष्टि सामन्तीय ही रही है। ये उसे पुरुष के समकक्ष
की चेतन इकाई अथवा पुरुष का अर्द्धांग न समझकर भोग्य सम्पत्ति के समान उसे
का मात्र उपकरण समझते हैं। इनके लिए उसकी समस्त चेष्टाएँ चेतन प्राणी की
भावना की अभिव्यक्ति न होकर पुरुष की उपभोग्य वस्तु की श्री-वृद्धि मात्र हैं। इतना
नहीं, यह मानते हुए भी कि नारी में पुरुष की अपेक्षा काम की मात्रा अधिक होती है,
की अतृप्ति के कारण हुए उसके विरह तथा तज्जन्य व्याधियों के प्रति मानव-सुलभ सहानु
के स्थान पर इनमें उपेक्षा अथवा कौतूहल का भाव ही अधिक रहा है। कदाचित् इसी
इनकी विरहिणी नायिकाओं की कामदशाओं के बिम्ब या तो प्रभावहीन रहे हैं या
तमाशा बनकर रह गये हैं। इधर विलासिता की प्रधानता और सामन्तीय प्रभाव के का
ही इन लोगों की सौन्दर्य-भावना भी विषयिगत न होकर विषयगत रही है—नारी के
रूप की परिचायक अंगों की बनावट में ही इनकी दृष्टि उलझी रही है, उसके आन्तरि
गुणों तक नहीं पहुँच पायी।

विलासितापूर्ण उन्मुक्त प्रेम की अभिव्यक्ति तथा नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि
होते हुए भी इस प्रवृत्ति में गार्हस्थिक प्रेम की व्यापक स्वीकृति देखने को मिलती है। "
आपनो भौन तुम, भौन कौन के जात" अथवा "ते धनि जे ब्रजराज लखें ग्रहकाज करें
लाज सँभारें" (मतिराम) द्वारा स्वकीया-प्रेम की जिस प्रकार स्थापना की गयी है,
सामान्यतः इस प्रवृत्ति के प्रत्येक कवि की रचनाओं में देखने को मिलेगा—नायकों की रसि
अपनी पत्नियों के साथ किये गये उचित-अनुचित प्रेम-व्यवहार से प्रायः बाहर नहीं जा पा
इसमें सन्देह नहीं कि परकीया और सामान्या-प्रेम का वर्णन भी इन लोगों ने किया है, कि
ऐसा उन्हें अपने नायिकाभेद-विवेचन को पूर्ण बनाने के कारण ही करना पड़ा है—

अप्रत्यक्ष प्रभाव ग्रहण करने में भी संकोच नहीं किया गया। इसमें क्रमशः छन्द, भाव, रस, शब्द-शक्ति, काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, काव्य-स्वरूप, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, चित्रकाव्य, गुण, रीति, दोष और अलंकार का विवेचन अत्यन्त विस्तार और पाण्डित्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं तथा उदाहरण विभिन्न छन्दों में प्रस्तुत किये गये हैं—यथावश्यकता स्थान-स्थान पर व्रजभाषा-गद्य में टीका देकर अपनी बात को तर्कपूर्ण ढंग से समझाने का प्रयत्न किया गया है। विषय-निरूपण में ग्वाल की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि मम्मट को सामान्य रूप से अपना आधार बनाते हुए भी वे अन्य आचार्यों के मतों पर विचार किये बिना नहीं रहते—उनके मतों को यथास्थान उद्धृत करते हुए उन पर विमर्श प्रस्तुत करते हैं और अन्त में समन्वयात्मक निष्कर्ष दे देते हैं। इनके अतिरिक्त वे इन आचार्यों—विशेषतः हिन्दी के पूर्ववर्ती रीति-निरूपक आचार्यों के उदाहरणों में गुण-दोषों का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख ही नहीं करते, दोषों का परिहार कर उन छन्दों को निर्दोष रूप में प्रस्तुत भी कर देते हैं। अतएव कह सकते हैं कि इनमें पूर्ववर्तियों की आलोचना करने का साहस और प्रतिभा दोनों ही विद्यमान हैं। पर क्योंकि इनकी दृष्टि सामान्यतः समन्वयात्मक अधिक रही है, इसलिए इस वर्ग के आचार्यों में सर्वाधिक सामग्री का उपयोग और विमर्शपूर्वक संकलन प्रस्तुत करते हुए भी ये ऐसी कोई बात नहीं कह पाये जिसे भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में इनके मौलिक योगदान के रूप में स्वीकार किया जाए—इनके सभी निष्कर्ष प्रायः वही हैं, जो संस्कृत के प्रसिद्ध आचार्यों ने दिये हैं। फिर भी गम्भीर चिन्तन, विवेचन की प्रौढ़ता और अधिक-से-अधिक सामग्री का उपयोग करने के कारण इनका महत्त्व कम नहीं है।

जहाँ तक कवित्व का सम्बन्ध है, लक्षणों के अनुरूप स्वच्छ छन्दों की रचना करने पर भी ग्वाल का महत्त्व आचार्यत्व की तुलना से कम ही कहा जाएगा। इनकी भाषा में ओज और चमत्कार पर्याप्त है—संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, पंजाबी आदि की शब्दावली के स्वच्छ प्रयोग से इनकी अभिव्यक्ति सशक्त बन गयी है; किन्तु फिर भी कल्पना-वैभव और बिम्ब-योजना का वैसा उत्कर्ष इनकी रचनाओं में उपलब्ध नहीं हो पाता जैसा कि देव आदि सर्वांग-निरूपक और पद्माकर-जैसे रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं कि इनका समस्त काव्य हीन कोटि का है। रस का परिपाक इनकी रचनाओं में सम्यक् रूप से तो हुआ ही है, अभिव्यंजना-कौशल भी सर्वत्र देखने को मिलता है। षड्ऋतु-वर्णन तो इन्होंने इतने मनोयोग से किया है कि गुण और परिमाण की दृष्टि से इस युग के बहुत कम कवि उस सीमा तक पहुँच सके हैं—भक्ति, नीति और राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में भी ये इस काल के कवियों से किसी भी प्रकार हेठे नहीं रहे। इनकी काव्य-कला के उदाहरण-रूप में नायिका का यह रूप-वर्णन देखिए :

धारी है इजार गुलबदन बहारवारी
प्यारी छबि झूलन इजारबंद छोर की।
सेत कुरती सौं जालदार जुरती है अंग
रती हू न लागै उरवसी गौंहुं ओर की॥
ग्वाल कवि जाने रूप आगें रूप रंक भयो
वंक भृकुटी मैं भरी घात चित चोर की।

उत्तर

प्रलय में शरीर संज्ञा नहीं रहती। कहना सुनना कछु नहीं रहता। स्तंभ मैं औस झपकना आदि व्यवहार सब होता है। ऐतो भेद है।

जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, सिद्धान्त-रूप में उत्कृष्ट काव्य के गुण जानते हुए तथा श्रृंगार, राजप्रशस्ति, भक्ति, नीति आदि विषयों की रचनाएँ करने पर भी ये अपनी प्रतिभा की छाप नहीं छोड़ पाये। इनकी 'ब्रजविलास सतसई' के अधिकांश दोहे बिहारी के दोहों से प्रभावित हैं। इसी प्रकार 'शेरसिंहप्रकाश' में संगृहीत कवित्तों में भाषागत स्वच्छता तो है, पर उनमें ओज का वह सन्निवेश नहीं जो भूषण आदि पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं में मिलता है। वास्तव में कवित्व की दृष्टि से ये अत्यन्त साधारण श्रेणी के कवियों में ही परिगणित किये जा सकते हैं।

ग्वाल : कवित्व एवं आचार्यत्व का सम्यक् निर्वाह करनेवाले इस युग के अन्तिम चरण के सर्वांग-निरूपक कवियों में ग्वाल का स्थान अन्यतम कहा जा सकता है। इनका जन्म १७९१ ई० में सेवाराय नामक ब्रह्मभट्ट (बंदीजन) के यहाँ वृन्दावन में हुआ था तथा बाद में ये मथुरा में आकर बस गये थे। इन्होंने आरम्भिक शिक्षा राधावल्लभीय गोस्वामी दयालाल से ग्रहण की और काव्यशास्त्र का अध्ययन काशी में अपनी ननिहाल में रहकर किया। बरेली-निवासी कवि खुशहालराय इनके काव्य-गुरु थे, ऐसा भी उल्लेख मिलता है। इनका स्वर्गवास १८६८ ई० में रामपुर में हुआ। अपने जीवन-काल में ये लाहौर, नाभा, पटियाला, टोंक, अमृतसर और रामपुर के राजा-नवाबों के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचे हुए मुख्य रूप से ये सोलह ग्रन्थ कहे जा सकते हैं—रसिकानन्द, कविदर्पण, बलवीरविनोद, साहित्यानन्द, प्रस्तारप्रकाश, नेहनिर्वाह, बंसीबीसा, हम्मीरहठ, विजयविनोद, भक्तभावन, कुब्जाष्टक, गुरुपचासा, निम्बार्कस्वाम्यष्टक, इश्कलहरदरयाव और कविहृदयविनोद। इनमें प्रथम छह लक्षण-ग्रन्थ हैं तथा शेष लक्ष्य अथवा अनुवाद हैं। लक्ष्य ग्रन्थों में 'हम्मीर हठ' और 'विजयविनोद' वीररसात्मक प्रबन्ध-रचनाएँ कही जा सकती हैं और शेष ('इश्कलहरदरयाव' को छोड़) मुक्तक रचनाएँ हैं। मुक्तक रचनाओं में 'भक्तभावन' सबसे बड़ा ग्रन्थ है जिसमें सन् १८६० से पूर्व ग्वाल द्वारा रची हुई सभी भक्ति, श्रृंगार, शान्त रस और नीति सम्बन्धी छोटी-बड़ी रचनाओं को संकलित कर दिया गया है। 'इश्कलहरदरयाव' मीर हसन दहलवी की 'सिहर-उल-बयान' नामक उर्दू-मसनवी का ब्रजभाषा में अनुवाद है। लक्षण-ग्रन्थों में 'रसिकानन्द', 'बलवीरविनोद' और 'रसतरंग' नायक-नायिकाभेद और रस-विवेचन सम्बन्धी हैं तथा 'कविदर्पण', 'प्रस्तारप्रकाश' और 'साहित्यानन्द' क्रमशः काव्य-दोष, छन्द और सर्वांग-निरूपण विषयक हैं। इनकी रचना १८२२-१८४८ ई० के बीच हुई।

निरूपण-शैली एवं विवेचन की प्रौढ़ता की दृष्टि से यद्यपि उक्त सभी ग्रन्थों का महत्त्व है, तथापि विषय की व्यापकता तथा इतर लक्षण-ग्रन्थों की मुख्य सामग्री को अपने भीतर समाहित कर लेने के कारण 'साहित्यानन्द' को सर्वाधिक महत्त्व दिया जा सकता है। स्कन्धों में विभक्त २४४३ छन्दों, ५९७ गद्य-टीकाओं और ३८२ मानचित्रों के इस विशाल-काय ग्रन्थ का शास्त्रीय आधार भी अत्यन्त व्यापक है। इसके लिए नाट्यशास्त्र, ध्वन्यालोक, काव्यमीमांसा, चन्द्रालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, रसमंजरी, रसतरंगिणी, भक्तिरसामृत-सिन्धु, उज्ज्वलनीलमणि, कुवलयानन्द, कामसूत्र, रतिरहस्य आदि संस्कृत-ग्रन्थों का ही आश्रय ग्रहण नहीं किया गया; ब्रजभाषा के केशव, बिहारी, जसवन्तसिंह, मतिराम, भूषण, कुलपति, दास, कवीन्द्र, पद्माकर आदि पूर्ववर्ती कवियों के लक्षण-लक्ष्य ग्रन्थों से प्रत्यक्ष अथवा

सभी आचार्यों और रीतिनिरूपकों के ग्रन्थ इनके समक्ष रहे हैं। यही कारण है कि इनके विवेचन में जहाँ विभिन्न मतों पर विचार-विमर्श है, वहीं दूसरी ओर पूर्ववर्तियों की रचनाओं को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'ननु' शैली में प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंकाएँ उठाते हुए उनके समाधान एवं समन्वयात्मक प्रतिपादन इन्होंने जिस प्रकार से किये हैं, वे अपने आप में इतने सुलझे हुए हैं कि इस दृष्टि से इस काल का कोई भी रीतिनिरूपक इनके समकक्ष नहीं ठहरता। दूसरे, प्रांजल व्रजभाषा-गद्य में इनके द्वारा प्रस्तुत लक्षण और लक्षणों तथा उनके उदाहरणों पर टीकाएँ एवं व्याख्याएँ एक ओर जहाँ इनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण की परिचायक हैं वहीं दूसरी ओर इनके मनोयोग, गम्भीर अध्ययन और चिन्तन एवं अपने कर्म के प्रति निष्ठा को प्रकट करती हैं—इस क्षेत्र में यह कवि की अपेक्षा आचार्य के रूप में अधिक मुखर हैं। इसमें सन्देह नहीं कि समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण इन्होंने सामान्यतः वही बातें कही हैं जो इनके पूर्ववर्ती संस्कृत अथवा हिन्दी के आचार्य कह गये हैं, तथापि इनके द्वारा संचारियों के साथ रसाभास, भावोदयादि की सम्बन्ध-स्थापना, समस्त भावों की सुखात्मकता का कथन; मूर्च्छा, छल, तुर्यावस्था, अपस्मार आदि के संचारी होने की सम्भावना पर विचार करते हुए अन्य संचारियों में उनका अन्तर्भाव किया जाना, अन्योक्ति और यथासंख्य अलंकारों के उपभेदों की उद्भावना एवं १६ मात्रिक तथा २५ वर्णिक छन्दों का आविष्कार—ये ऐसे विषय हैं जिन्हें विचार किये बिना सहज ही उपेक्षित नहीं किया जा सकता। किन्तु दूसरी ओर कारण बताये बिना वीर रस के भेदों में धर्मवीर की उपेक्षा, गुण में रीति के अन्तर्भाव एवं दोष-विवेचन में प्रसिद्धिविरुद्ध और विद्याविरुद्ध को प्रसिद्धिविद्याविरुद्ध में और विधि-अयुक्त और अनुवाद-अयुक्त को अनुवाद-अयुक्त के रूप में प्रस्तुत किया जाना ऐसी बातें हैं जो खटकती ही नहीं, इनकी सजगता पर प्रश्नचिह्न भी छोड़ जाती हैं। फिर भी, इनका निरूपण कुल मिलाकर इतना गुणवान् है कि इस प्रकार के साधारण स्खलन इनके महत्त्व को कम नहीं कर सकते। इनकी विवेचन-शैली का स्वरूप निम्नोक्त अंश से देखा जा सकता है :

जो शारीरिक धर्म है, ताको होइ गतिरोध।
तन संज्ञा कंपादि बिन, सो स्तंभ इम बोध॥

टीका

कोऊ कारण सों शरीर संज्ञा के होते ही चलना आदि का रोध होइ सो स्तंभ है।

प्रश्न

चाल आदि मिटी तो शरीर संज्ञा कहाँ रही ?

उत्तर

शरीर संज्ञा सो नेत्र झपकना आदि गिरा श्रवण आदि रहे हैं। या ते स्तंभ है।

यथा

हरि के देखत ही कहा, थकित भये तव गात।
रही गई ते हाथ में दधि मथ्यो नहिं जात॥

टीका

सखि कहै है—हरि को देख तेरा गात ऐसा थकित भया है जो दधि नहीं मथ्या जाता। ऐसे जहाँ गति रुकी है तहाँ स्तंभ जानना।

प्रश्न

चेष्टारोध होने ते प्रलय सात्त्विक होइ ?

है, उसे अत्यन्त ईमानदारी के साथ अपनी कविता में निरूपित कर दिखाया है। कहना न होगा कि व्यंग्य और रस-परिपाक की दृष्टि से इनका काव्य इतना स्वच्छ है कि इस युग के अनेक रस-ध्वनिवादी कवि भी इनके समकक्ष नहीं पहुँच पाते। इसमें सन्देह नहीं कि कहीं-कहीं व्यंजना-व्यापार की क्लिष्टता के कारण रसास्वाद में व्याघात उत्पन्न हो जाता है, पर व्यंग्यार्थ के स्पष्ट हो जाने पर उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता है। इनकी भाषा भी व्याकरण, भाव-सामग्री एवं व्यंग्य के अनुरूप चलती है—उसमें किसी प्रकार की शिथिलता दृष्टिगत नहीं होती। इनके काव्य को देखकर यदि यह कहा जाए कि रीतिकाव्य में कवित्व का चरमोत्कर्ष इनके बाद समाप्त हो जाता है, तो असंगत न होगा। एक छन्द देखिए

सीख सिखाई न मानति है बरहू बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में बिन काम वृथा कत जाम बितावै॥
छोड़ि कें साथ सहेलिन को रहिकै कहि कौन सवाद दिखावै।
कौन परी यह बानि अरी नित नीर भरी गगरी ढरकावै॥

अमीरदास : इस काल में जिन भक्तों ने रीति-निरूपण किया, उनमें निर्गुणधारा का तिनिधित्व करनेवाले आचार्यों में अमीरदास का नाम विशेष सम्मान के साथ लिया जा कता है। इनका जन्म १७८३ ई० के आसपास पंजाब के एक वैष्णव-परिवार में हुआ था। गुरु रामदास के शिष्य थे और उदासी-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे। बाद में इन्होंने मृतसर के कटरा लोहगढ़ में अपनी गद्दी स्थापित की थी। पटियाला के राजदरबार से इनका निष्ठ सम्बन्ध था। इनके द्वारा रचित ये १२ ग्रन्थ बताये जाते हैं—१. सभामंडन (१८२७), . वृत्तचन्द्रोदय (१८३०), ३. ब्रजविलास सतसई (१८३२), ४. श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु १८३३), ५. शेरसिंहप्रकाश (१८४०), ६. फागपचीसी, ७. ग्रीष्मविलास, ८. भागवतरत्ना-र, ९. दूषण उल्लास, १०. अमीरप्रकाश, ११. वैद्यकल्पतरु (१८५०) तथा १२. अश्वसंहिता-काश (१८६२)। इनमें प्रथम पाँच और अन्तिम दो रचनाएँ आज उपलब्ध हैं—शेष का ल्लेख या तो इन्होंने अपने ग्रन्थों में किया है या फिर खोज-रिपोर्टों में हुआ है। इनकी त्यु सन् १८६८ ई० के आसपास बतायी जाती है।

उपलब्ध ग्रन्थों में 'वैद्यकल्पतरु' और 'अश्वसंहिताप्रकाश' क्रमशः मानव और पशु-कित्सा सम्बन्धी हैं तथा 'ब्रजविलास सतसई' में शृंगार रस के विभिन्न अंगों के अतिरिक्त क्ति, नीति आदि विषयों पर ७०१ दोहे संकलित हैं—शेष काव्यशास्त्र-निरूपण विषयक । काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में 'सभामंडन' में पाँच उल्लासों में क्रमशः काव्य-प्रयोजन, काव्य-रण (हेतु), काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्दार्थवृत्ति, ध्वनि, भाव, रस, गुण, नायक-नायिका-द, काव्य-दोषों और अलंकारों का तथा 'वृत्तचन्द्रोदय' में लघु, गुरु, गण, दग्धाक्षर के मान्य परिचय के साथ ४० मात्रिक छन्दों और दण्डकों सहित ६१ वर्णिक छन्दों का रूपण है; जबकि 'श्रीकृष्ण-साहित्यसिन्धु' के अन्तर्गत पाँच तरंगों में क्रमशः काव्य-लक्षण, व्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि-भेद, रस और रस-सामग्री, गुण, नायक-नायिकाभेद, दोष और ंकार को निरूपण का विषय बनाया गया है—'शेरसिंहप्रकाश' में पाँच शब्दालंकारों और अर्थालंकारों के क्रम से ७० अलंकारों का विवेचन शेरसिंह के गुणगान के उद्देश्य से हुआ । अमीरदास ने प्रायः काव्य के सभी अंगों का विवेचन किया है।

विषय-निरूपण की दृष्टि से आचार्य अमीरदास की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि कें विवेचन का आधार रसिकगोविन्द के समान ही अत्यन्त व्यापक रहा है—संस्कृत में त से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तथा हिन्दी में केशव से लेकर रसिकगोविन्द तक के प्रायः

धनुष सी बाँकी भौंह बनी है 'गुबिन्द' दृग
मृग कैसे चख मुख चंद ऐसो चारु है।
चतुर बिहारी एक प्यारी मैं निहारी जाके
अंगनि की सुषमा की उपमा अपार है।।

प्रतापसाहि : रीतिकाल के अन्तर्गत कवि, रीतिकार एवं टीकाकार के रूप में प्रतापसाहि का नाम विशेष रूप से स्मरणीय है। ये बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बंदीजन के पुत्र थे तथा चरखारी-नरेश महाराज विक्रमसिंह के आश्रय में भी रहते थे। ठा० शिवसिंह सेंगर के अनुसार ये पन्ना के महाराज छत्रसाल के आश्रय में रहे थे। इनका रचना-काल १८२३ और १८४३ ई० के बीच माना जाता है। इनके द्वारा रचे हुए ये आठ ग्रन्थ बताये जाते हैं—जयसिंहप्रकाश, शृंगारमंजरी, व्यंग्यार्थकौमुदी, शृंगारशिरोमणि, अलंकारचिन्तामणि, काव्यविनोद, जुगलनखशिख और रसचन्द्रिका। इनके अतिरिक्त इन्होंने जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण', मतिराम के 'रसराज', बलभद्र के 'नखशिख' और बिहारी की 'सतसई' की टीकाएँ भी लिखीं। टीकाओं से इतर ग्रन्थों में आज 'काव्य-विलास' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी' ही उपलब्ध हैं। इनमें 'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५) के अन्तर्गत शब्द-शक्ति, अलंकार-स्वरूप तथा व्यंग्यार्थ-महत्त्व को स्पष्ट करते हुए भानुदत्त मिश्र के आधार पर नायक-नायिका-भेदों के लक्षण और स्वरचित उदाहरण देकर उनके भीतर नायक-नायिका, शब्द-शक्ति और अलंकार-विशेष का निर्देश किया गया है; जबकि 'काव्यविलास' (१८२६) में काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष का निरूपण किया गया है। शेष ग्रन्थों में 'जयसिंहप्रकाश' और 'बिहारी सतसई की टीका' को छोड़ सभी काव्यांग-विवेचन अथवा रीतिग्रन्थों की टीका से सम्बद्ध हैं। यदि ये ग्रन्थ उपलब्ध होते, तो सम्भव है इनके सम्बन्ध में कुछ और बातें ज्ञात होतीं। फिर भी, इतना तो ज्ञात हो ही जाता है कि काव्यशास्त्र में इनकी गहरी रुचि थी।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से प्रतापसाहि के उक्त दो ग्रन्थों की परीक्षा की जाए तो कहना होगा कि इन्होंने यद्यपि विश्वनाथ और पण्डितराज जैसे आचार्यों के मतों को अनेक स्थलों पर उद्धृत कर अपने विवेचन का आधार पुष्ट एवं व्यापक बनाने की चेष्टा की है, किन्तु उनको भली भाँति समझ न सकने के कारण ये कहीं-कहीं ठीक लक्षण नहीं दे पाये। कुलपति मिश्र यद्यपि सधे हुए आचार्य हैं, तथापि इन्होंने उनका जो आश्रय लिया है वह इनके विवेचन की विशेषताओं को पुष्ट करने के स्थान पर इनमें आत्मविश्वास के अभाव तथा इनके अध्ययन और चिन्तन की गहराई की न्यूनता को अधिक प्रकट करता है। हाँ, 'व्यंग्यार्थकौमुदी' में इन्होंने जो नायक-नायिकाभेद-विवेचन प्रस्तुत किया है वह अपेक्षाकृत स्वच्छ अवश्य है। किन्तु, इसमें भी भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' तथा हिन्दी के पूर्ववर्ती विभिन्न रीतिकारों के एतद्विषयक विवेचन का अधिक आश्रय लिया गया है। इस ग्रन्थ में गद्य द्वारा विषय को स्पष्ट करने तथा एक ही उदाहरण में नायिका, ध्वनि और अलंकार-विशेष का उद्घाटन करने की शैली अपने आप में नवीन एवं गम्भीर है; किन्तु मौलिकता की दृष्टि से यह नगण्य ही है। वस्तुतः रीतिग्रन्थों के निर्माण और उनकी व्याख्या में विशेष अभिरुचि रखते हुए भी ये अपने विवेच्य विषयों को सामान्यतः स्वच्छतापूर्वक प्रस्तुत नहीं कर पाये।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से ये जितने शिथिल दृष्टिगत होते हैं, काव्य-रचना में उतने ही समर्थ कहे जा सकते हैं। बात यह है कि इन्होंने जिस व्यंग्य को काव्य का जीवित कहा

'गोविन्दानन्दघन' (१८०१) चार प्रबन्धों में विभक्त विशालकाय ग्रन्थ है। प्रथम प्रबन्ध के अन्तर्गत रस-लक्षण, रसों के भेदोपभेदों, प्रत्येक रस के विभाव-अनुभावों, सात्त्विक, संचारी और स्थायी भावों के लक्षण-उदाहरण दिये गये हैं। द्वितीय प्रबन्ध में नायक-नायिका-भेद, नायक-सखा, दूती और उसके कर्मों का वर्णन मनोयोगपूर्वक किया गया है। तृतीय प्रबन्ध में दोष-लक्षण, दोष-भेद तथा दोष-समाधान का सविस्तर वर्णन किया गया है जबकि चतुर्थ में माधुर्यादि तीन गुणों, उपनागरिकादि तीन वृत्तियों तथा ५ शब्दालंकारों और १२३ अर्थालंकारों के क्रम से १२८ अलंकारों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही स्थान-स्थान पर काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति आदि के विषय में भी इसके रचयिता का दृष्टिकोण व्यक्त होता गया है। अतएव कह सकते हैं कि यह ग्रन्थ यद्यपि सर्वांग-विवेचन विषयक नहीं है तथापि इसमें किये गये विषय-निरूपण को देखते हुए इसे इस कोटि का कह लिया जाए तो बहुत अनुचित न होगा। इसका शास्त्रीय आधार अत्यन्त व्यापक रहा है। भरत, अभिनव, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ, भानुदत्त, अप्पय दीक्षित आदि संस्कृताचार्यों के ग्रन्थों का आश्रय ही इसमें ग्रहण नहीं किया गया, पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ब्रजभाषा-रीतिविवेचकों के ग्रन्थों के लक्षणों और उदाहरणों का प्रयोग भी बिना किसी रोक-टोक के कर लिया गया है। इनके अतिरिक्त अनेक पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं को भी इसमें उद्धृत किया गया है। इस प्रकार यह ऐसा संग्रह-ग्रन्थ बन गया है जिसमें विवेचन-व्यवस्था, गद्यमय लक्षणों और उनके उदाहरणों की गद्यमय टीकाओं तथा कतिपय छन्दों के सिवाय सब-कुछ अन्य कवियों का ही है। परन्तु फिर भी जिस स्वच्छता और आत्मविश्वास के साथ पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों का उल्लेख अपने मत की पुष्टि में करते हुए विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने अपने समकालीनों के समान कवित्व-प्रदर्शन के मोह को छोड़कर आचार्य-कर्म का निर्वाह अत्यन्त गम्भीरता के साथ किया है। अनेक ग्रन्थों का आश्रय लेने से इसमें यद्यपि मौलिक उद्भावनाओं की सम्भावना नहीं की जा सकती तथापि अद्भुत रस के अत्युक्ति, चित्रोक्ति, भ्रमोक्ति और विरोधाभास नामक चार भेदों की परिकल्पना रस-विवेचन के क्षेत्र में ग्रन्थकार का योगदान कही जाएगी। कुल मिलाकर रीतिनिरूपण की दृष्टि से यह ग्रन्थ उपादेय एवं महत्त्वपूर्ण है। किन्तु, कवित्व की दृष्टि से इसका अपना कोई महत्त्व नहीं—ग्रन्थकार के अपने छन्द एक तो संख्या में बहुत कम हैं और उस पर भी उनमें कवित्व अत्यन्त साधारण कोटि का ही है। वैसे भी, उसके अन्य ग्रन्थ भी इस दृष्टि से साधारण ही हैं। 'गोविन्दानन्दघन' का यह अंश इनके आचार्यत्व और कवित्व की सामान्य जानकारी के लिए पर्याप्त होगा :

> उपमेय कौं जहाँ साधारण धर्म करिकैं अरु उपमान की सादृस्य कीजै, सो उपमा॥ जाकी सादृस्यता दीजै, सो उपमान। जाकौं सादृस्यता दीजै सो उपमेय॥ दोऊ ओर की सादृस्यता दिखावै सो वाचक पद॥ दोऊनि की लक्षमी (लक्ष्य!) की जो सादृस्यता सो साधारण धर्म। ये चारयौं जहाँ होइ सोई पूर्णोपमा॥ इनमैं ते इक बिना, द्वै बिना, तीन बिना होइ सो लुप्तोपमा॥
>
> पूर्णोपमा उदाहरण—

मद गजराज की सी चाल चलै मंद मंद
पद अरबिंद से सुछंद सुकुमार हैं।
केहरि की कटि ऐसी खीन कटि पीन कुच
हेम कुंभ से हैं कंठ कंबु सो सुढार है॥

की सबसे बड़ी विशेषता 'तुक' को सर्वप्रथम काव्यांग के रूप में ग्रहण कर इन्होंने इसका विवेचन जिस प्रकार से किया है, वह यह सहज प्रकट कर देता है कि इनकी पकड़ कितनी पैनी थी। इसी भाँति छन्दोविवेचन में संस्कृत-प्राकृत-ग्रन्थों में प्रस्तुत छन्दों के अतिरिक्त नवीन छन्दों का निरूपण इनकी दृष्टि की व्यापकता का द्योतक है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्होंने जो कुछ कहा है, उसके साथ पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता तथा परम्परा के उल्लंघन के साथ कतिपय स्थलों पर विवेचन की अव्यवस्था एवं अपूर्णता के कारण इनका आचार्य-कर्म अपने आप में पूर्ण एवं निर्दोष नहीं रह पाया, तथापि सरस एवं सुबोध लक्षण-उदाहरणों के साथ यथास्थान ब्रजभाषा-गद्य में तिलक देकर इन्होंने अपने विषय को मनोयोग से स्पष्ट किया है।

जहाँ तक भिखारीदास के कवित्व का प्रश्न है, वह भी इन्हें प्रथम श्रेणी के कवियों में प्रतिष्ठित करता है। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने जिस रस-ध्वनि सिद्धान्त की स्थापना की है, उसका समुचित निर्वाह इनकी रचनाओं में दृष्टिगत होता है। सबसे बड़ी विशेषता तो यह रही है कि ध्वनिपरक होने पर भी इनमें किसी प्रकार की क्लिष्टता नहीं आ पायी, सीधे-सरल बिम्बों की अनुरंजकता से इन्होंने उन्हें मर्मस्पर्शी बनाया है। दूसरी ओर इनकी भाषा—व्याकरण और सौष्ठव, दोनों ही दृष्टियों से परिमार्जित है। विषयानुरूप संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्दों का ही इन्होंने प्रयोग नहीं किया, अरबी और फ़ारसी की शब्दावली को भी बिना किसी संकोच के ग्रहण कर लिया है। वास्तव में शब्द-चयन इनकी कविता में कुछ इस प्रकार से हुआ है कि प्रत्येक शब्द के अर्थ में निहित विशिष्ट व्यंग्य सूक्ष्म होता हुआ भी भाव को रस-कोटि तक पहुँचाता है। दूसरे शब्दों में, इनके काव्य में भाव और भाषा अथवा बिम्ब और उसकी अभिव्यक्ति का सहज एवं स्वाभाविक सामंजस्य हुआ है। उदाहरण के लिए एक छन्द देखिए :

> *अरबिंद प्रफुल्लित देखि कै भौंर अचानक जाइ अरैं पै अरैं।*
> *बनमाल थली लखि कै मृगसावक दौरि बिहार करैं पै करैं॥*
> *सरसी ढिग पाइकै ब्याकुल मीन हुलास सों कूदि परैं पै परैं।*
> *अवलोकि गुपाल कों दास जू ये अँखियाँ तजि लाज ढरैं पै ढरैं॥*

रसिकगोविन्द : रीतिकाल के अन्तर्गत जिन भक्तों ने आचार्य-कर्म द्वारा रीति-साहित्य को समृद्ध किया, उनमें रसिकगोविन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनका जन्म १७४३ ई० के आसपास राजस्थान के जयपुर नगर में नाटाणीगोत्रीय खण्डेलवाल वैश्य-परिवार में हुआ था। कहा जाता है कि दैवी प्रकोप अथवा राजप्रकोप के कारण सम्पत्ति के नष्ट हो जाने पर ये वृन्दावन चले आये थे और निम्बार्क-सम्प्रदाय की हरिव्यासीय गद्दी की परम्परा के सर्वेश्वरशरण देवाचार्य के शिष्य बनकर रहने लगे थे। यहीं पर इनकी मृत्यु १८३८ ई० में हुई। इनके द्वारा रचे हुए ये दस ग्रन्थ कहे जाते हैं—रामायणसूचनिका, कलिजुग रासो, अष्टदेशभाषा, समयप्रबन्ध, युगलरसमाधुरी, पदावली, रसिकगोविन्दानन्दघन, पिंगल, लछिमनचन्द्रिका और रसिकगोविन्द। इनमें प्रथम आठ ही आज उपलब्ध हैं। अनुपलब्ध ग्रन्थों के विषय में विद्वानों का कथन है कि 'लछिमनचन्द्रिका' काशी के किन्हीं लछिमन नामक कान्यकुब्ज ब्राह्मण को शिक्षा देने के लिए 'गोविन्दानन्दघन' की सूचनिका के रूप में उसके समस्त लक्षणों का संग्रह-मात्र है, जबकि 'रसिकगोविन्द' 'भाषाभूषण' की शैली पर लिखा हुआ रस-निरूपण का ग्रन्थ है। उपलब्ध ग्रन्थों में केवल गोविन्दानन्दघन' और 'पिंगल' ही रीतिग्रन्थ हैं, शेष भक्ति अथवा रीतिविषयक छोटी-बड़ी रचनाएँ हैं।

चढ़िकै तुरंग जंग रंग करि सैलनि सों
तोरि डारी तीखी तरवार तुरकाने को ॥

सोमनाथ की भाषा व्याकरण एवं शब्द-योजना की दृष्टि से सुसंगठित तथा सौष्ठव की दृष्टि से विषयानुरूप कही जा सकती है। विषय को सीधे-सादे ढंग से ये जिस कौशल के साथ प्रस्तुत करते हैं, वैसा इस युग के कवियों में बहुत कम देखने को मिलता है। छन्द-योजना की दृष्टि से इनकी कविता कुछ अनगढ़ अवश्य लगती है, पर कुल मिलाकर यह निर्बलता ऐसी नहीं कि इसके कारण उसे अग्राह्य कहा जा सके।

भिखारीदास : रीतिकाल के सर्वांग-विवेचक कवियों में आचार्य भिखारीदास का नाम सर्वाधिक सम्मान के साथ लिया जाता है। उत्तरप्रदेश के ज़िला प्रतापगढ़-स्थित ट्योंगा नामक ग्राम के कायस्थ कुल में इनका जन्म हुआ था। इनका कविता-काल १७२५-१७६० ई० के बीच ठहरता है। १७३४ से १७५० ई० तक ये प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीसिंह के भाई हिन्दूपतिसिंह के आश्रय में रहे। इनके रचे हुए ये सात ग्रन्थ उपलब्ध हैं—रससारांश, काव्यनिर्णय, शृंगारनिर्णय, छन्दोर्णवपिंगल, शब्दनाम कोश, विष्णुपुराण भाषा और शतरंजशतिका। इनमें अन्तिम तीन के नामों से ही स्पष्ट है कि ये क्रमशः शब्दकोश, विष्णुपुराण का भाषानुवाद तथा शतरंज के खेल से सम्बन्धित हैं। शेष चारों का विषय काव्यांग-विवेचन है। इनमें 'रससारांश' और 'शृंगारनिर्णय' के अन्तर्गत क्रमशः रस की सामग्री और उनके भेदों तथा नायक-नायिकाभेद का वर्णन किया गया है। इनका आधार भानुमिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा रुद्रभट्ट के 'शृंगारतिलक' के अतिरिक्त केशव, चिन्तामणि, तोष आदि के एतद्विषयक ग्रन्थ रहे हैं। 'काव्यनिर्णय' में मम्मट, विश्वनाथ, अप्पय दीक्षित, जयदेव तथा भानुमिश्र के अतिरिक्त हिन्दी के केशव, चिन्तामणि, तोष आदि अनेक पूर्ववर्ती रीतिकवियों का आश्रय लेकर क्रमशः काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्यपुरुष-स्वरूप, काव्य-भाषा, उत्तम काव्य के रचयिता के गुण, शब्द-शक्ति, रस-सामग्री, अपरांग (रसवदादि), ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, अलंकार, गुण, शब्दालंकार, चित्रालंकार, तुक और दोष का गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया गया है। 'छन्दोर्णवपिंगल' में संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा में लिखे गये छन्दोविवेचन विषयक ग्रन्थों के आधार पर छन्दोनिरूपण अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। इन चारों ग्रन्थों की रचना १७३७ और १७५० ई० के बीच हुई।

रीतिनिरूपण के क्षेत्र में आलोचक-दृष्टि एवं मौलिक चिन्तन इनके विवेचन की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ कही जा सकती हैं। रीतिकाल के अन्तर्गत सम्भवतः ये ही सबसे पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने संस्कृत-काव्यशास्त्र के प्रकाश में अपने पूर्ववर्ती हिन्दी-काव्य का सम्यक् अध्ययन कर उसमें से तदनुरूप उदाहरणों के चयन द्वारा अपनी आलोचक दृष्टि का ही परिचय नहीं दिया, आधुनिक हिन्दी-आलोचना का शिलान्यास भी एक प्रकार से किया। काव्य के प्रयोजनों के प्रसंग में प्रत्येक के भीतर आनेवाली हिन्दी की विशिष्ट रचनाओं के रचयिताओं का नामोल्लेख तथा विभिन्न काव्य-दोषों के लिए हिन्दी-कवियों की रचनाओं का उदाहरण-रूप में चयन इसका पुष्ट प्रमाण है। इसके अतिरिक्त ६१ अर्थालंकारों का १२ मूल अलंकारों के आधार पर वर्गीकरण तथा वामन-सम्मत १० गुणों का चार वर्गों में और अवस्थानुसार नायिकाओं के स्वाधीनपतिकादि आठ भेदों का दो वर्गों में विभाजन प्रस्तुत करके ही इन्होंने अपने मौलिक चिन्तन का परिचय नहीं दिया है; शृंगार के सम और मिश्रित, सामान्य और संयोग तथा नायक-अन्य और नायिका-अन्य के नाम से भेद नये ढंग से प्रस्तुत कर यह भी प्रकट कर दिया है कि ये कितनी गहराई तक जा सकते थे। इधर ब्रजभाषा-काव्य

द्वारा रचित ये पाँच ग्रन्थ बताये जाते हैं—रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, कृष्णलीलावती, पंचाध्यायी, सुजानविलास और माधवविनोद। इनमें 'कृष्णलीलावती' और 'सुजानविलास' को छोड़ सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं। 'माधवविनोद' संस्कृत के 'माधवमालती' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है तथा 'पंचाध्यायी' में कृष्णभक्त कवियों के समान रासलीला का वर्णन किया गया है। 'रसपीयूषनिधि' (१७३७) के अन्तर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' एवं भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर' के अतिरिक्त संस्कृत में भानुदत्त मिश्र, मम्मट और विश्वनाथ के ग्रन्थों का तथा ब्रजभाषा में कुलपति के 'रसरहस्य' और जसवन्तसिंह के 'भाषाभूषण' का आश्रय लेकर क्रमशः छन्द, काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-शरीर की सामग्री, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दोष, गुण, शब्दालंकार और अर्थालंकार का विवेचन किया गया है। 'शृंगारविलास' में शृंगार रस तथा नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। वास्तव में यह 'रसपीयूषनिधि' की सामग्री को यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर पृथक् रूप से बनाया हुआ ग्रन्थ है। अतएव रीति-निरूपण की दृष्टि से इसका पृथक् महत्त्व नहीं है।

'रसपीयूषनिधि' की रचना का उद्देश्य सुकुमार-बुद्धि पाठकों के लिए काव्यशास्त्र की सामग्री उपलब्ध करने का रहा है; अतएव विषय-प्रतिपादन में सुबोधता की ओर दृष्टि रहने के कारण इन्होंने केवल उन्हीं विषयों को ग्रहण किया है जो सहज बोधगम्य हों—कठिन प्रसंगों को या तो ये छोड़ते चले गये हैं या फिर अत्यन्त संक्षेप में उनकी चर्चा कर उन्हें समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए काव्य-हेतुओं में केवल अभ्यास का, आर्थी व्यंजना के दस वैशिष्ट्यों में से केवल चार का, रससूत्र के व्याख्याताओं में केवल अभिनवगुप्त के सिद्धान्त का तथा दोषों में मम्मट द्वारा गिनाये गये ९० दोषों में से केवल १९ की चर्चा और उनमें केवल एक के परिहार का उल्लेख किया गया है। इसी प्रकार छन्दों के निरूपण में गुरु, लघु, गण आदि पर सविस्तर विचार करने के उपरान्त मात्रिक छन्दों में केवल दो से बत्तीस मात्राओं तक के तथा वर्णिक छन्दों में एक से लेकर बत्तीस वर्णों तक के प्रसिद्ध छन्दों का ही निरूपण किया गया है। वास्तव में इस ग्रन्थ में काव्यांगों को जिस उत्साह से ग्रहण किया गया है, उतने ही उत्साह से उनका विवेचन नहीं हुआ। इसकी विशेषता बस इसी बात में निहित है कि विषय-विवेचन अत्यन्त सुबोध रूप में प्रस्तुत हुआ है।

अपने विवेचन में इन्होंने जिस ध्वनि-रसवाद की स्थापना की है, उसका निर्वाह अपने काव्य में अत्यन्त मनोयोग के साथ कर दिखाया है। यह ठीक है कि इनकी कविता में अनुभूति का वह आवेग नहीं, जो सरस कवियों की रचनाओं में देखने को मिलता है; फिर भी स्वच्छता सर्वत्र विद्यमान है। यही कारण है कि इनका प्रत्येक शृंगारिक छन्द पाठक के हृदय को रमाने में पूर्ण समर्थ रहा है। शृंगार के अतिरिक्त इन्होंने राजप्रशस्तिपरक रचनाएँ भी की हैं। इनमें उत्साह और आश्रय की भावना की तीव्रता का समावेश एक-साथ होने से वीर रस का पूर्ण परिपाक हुआ है। यथा :

प्रबल प्रताप दावानल सो विराजै वीर
अरिन के पारे रोरि धमकि निसाने की।
ठट्ट मरहट्टा के निघट्ट दारे बाननि सों
पेस करु लेता है प्रचंड तिलगाने की।
'सोमनाथ' कहैं सिंह सूरजकुमार जाको
क्रोध त्रिपुरारि को सौं लाज वर बाने की।

आत्मविश्वास के साथ व्यक्त करते हैं। "दधि घृत, मधु पायस तजि वायसु चाम चबात" कह कर चित्रकाव्य का तथा "प्रेमहीन त्रिय वेश्या है शृंगाराभास" के द्वारा सामान्या-प्रेम का तिरस्कार इन्होंने जिस प्रकार से किया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इसके साथ ही भेदीकरण तथा मौलिक उद्भावना की प्रवृत्ति इनके विवेचन का दूसरा गुण कही जा सकती है। इनके द्वारा निरस, उदास आदि सात रस-दोषों, वामन-सम्मत गुणों के आधार पर रीति के भेदों; करुण, बीभत्स और शान्त रसों के भेदों आदि की परिकल्पना तथा कतिपय नवीन छन्दों का आविष्कार इस प्रवृत्ति के सहज परिचायक हैं। जहां तक इनके विवेचन सम्बन्धी दोषों का प्रश्न है, इनके लक्षणों और उदाहरणों में कहीं-कहीं अस्पष्टता एवं भ्रान्ति तो है ही; साथ में अव्यवस्था, अशास्त्रीयता एवं असामंजस्य भी कम नहीं है। उदाहरण के लिए इनके रस-विवेचन में एक स्थान पर श्रृंगार, वीर और शान्त को मुख्य तथा हास्य और भय, रौद्र और करुण तथा अद्भुत और बीभत्स को क्रमशः इनके आश्रित एवं दूसरे स्थान पर श्रृंगार, रौद्र और बीभत्स को मुख्य तथा क्रमशः हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक को इनके आश्रित कहने में जहाँ असामंजस्य दिखायी देता है; वहाँ अलंकार-विवेचन में कतिपय अलंकारों के लक्षणों में परस्पर-भिन्नता अव्यवस्था की परिचायक है। सत्त्व, वातादि प्रकृतियों के आधार पर नायिकाओं के भेदों के आविष्कार में अशास्त्रीयता कही जा सकती है। इस प्रकार इनका रीतिनिरूपण न तो साधारण पाठक के लिए उपयोगी बन पाया है और न गम्भीर अध्येता को अपनी ओर आकृष्ट करने में समर्थ ही है।

इसके विपरीत कवित्व की दृष्टि से इनकी रचनाएँ कहीं अधिक आकर्षक एवं प्रभावी कही जा सकती हैं। इन्होंने यद्यपि तत्त्व-चिन्तन सम्बन्धी रचनाएँ भी की हैं, तथापि इनके काव्य का मूल विषय श्रृंगार ही है—इनमें जीवन का राग-पक्ष निखार के साथ आया है। अपने रीतिनिरूपण में सिद्धान्त-रूप से अपने रसवादी होने का परिचय इन्होंने जिस प्रकार से दिया है, काव्य में उसका निर्वाह अत्यन्त मनोयोग के साथ कर दिखाया है। कल्पना की ऊंची उड़ान के परिणामस्वरूप रंग-वैभव और प्रसाधन-सामग्री ने इनकी विम्ब-योजना में विशेष सौन्दर्य की सृष्टि की है—रूप, अनुभाव, मिलन आदि से सम्बद्ध बिंम्ब अपने लक्षित और उपलक्षित रूपों में इतने स्पष्ट और आकर्षक हैं कि इस युग के उत्कृष्ट कलाकारों के एतद् सम्बन्धी बिम्ब ही इनके समक्ष ठहर पाते हैं। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम समर्थ नहीं है—प्रत्येक शब्द अपनी विषयानुरूपता का परिचय देता है। इसमें सन्देह नहीं कि इनकी भाषा दूसरों की अपेक्षा कुछ अधिक सदोष है—उसमें शब्दों की तोड़-मरोड़ और व्याकरण-रूपों की अव्यवस्था कुछ अधिक देखने को मिलती है; किन्तु ये दोष भी भाषा-सौष्ठव और छन्दों की लय के आग्रह के कारण ही आये हैं। अतएव कहा जा सकता है कि इनका काव्य कुल मिलाकर सरस एवं ग्राह्य है। उदाहरणार्थ यह छन्द द्रष्टव्य है :

देव मैं सीस बसायो सनेह कै, भाल मृगम्मद-बिंद कै भाख्यो।
कंचुकि मैं चुपर्‌यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत, सिंगार कै चाख्यो।
सांवरे लाल को साँवरो रूपं, मैं नैननि को कजरा करि राख्यो॥

सोमनाथ : सर्वांग-निरूपक रीतिकवियों में सोमनाथ अथवा शशिनाथ का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनके अपने कथन के अनुसार यह ज्ञातव्य है कि ये माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ के पुत्र थे तथा भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र महाराज प्रतापसिंह के आश्रय में रहते थे। इनका कविता-काल १७२५-१७६० ई० के बीच ठहरता है। इनके

की 'शृंगारमंजरी' इनका आदर्श रही है। इनके लक्षण और उदाहरण स्वच्छ एवं सुबोध होने के साथ इनके विवेचन की प्रौढ़ता के परिचायक रहे हैं। सीधी-सरल भाषा में सीधे-सरल विषयों को इन्होंने जिस कौशल के साथ प्रस्तुत किया है, वह इन्हें इस युग के अच्छे कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर देता है। इनके काव्यों को पढ़कर भाषा-शैली आदि की दृष्टि से पूर्ववर्तियों में मतिराम की और परवर्तियों में पद्माकर की कविता का स्मरण हो आता है।

देव : रीतिकालीन रीतिकाव्य जिन कवियों के कृतित्व के कारण प्रतिष्ठित हुआ, उनमें कवि देव विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन्होंने विभिन्न ग्रन्थों में अपने विषय में जो कुछ लिखा है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इनका जन्म इटावा (उत्तरप्रदेश) के द्योसरिया ब्राह्मण-परिवार में १६७३ ई० में हुआ था। अपने जीवन-काल में ये अनेक राजा-रईसों और नवाबों के आश्रय में रहे। इनमें कुछ के नाम ये हैं---१. आज़मशाह, २. चर्खापति राजा सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य, ३. फफूंद रियासत के राजा कुशलसिंह, ४. किसी स्थान के राजा अथवा सेठ भोगीलाल, ५. इटावा के निकटवर्ती ड्योड़िया खेरा के राजा उद्योतसिंह, ६. दिल्ली के रईस पातीराम के पुत्र सुजानमणि, ७. पिहानी के अधिपति अली अकबर खाँ। इनकी मृत्यु अनुमानतः १७६७ ई० के आसपास हुई।

कवि देव द्वारा रचित ७२ ग्रन्थ बताये जाते हैं, किन्तु आज ये १५ ही उपलब्ध हैं—भावविलास, अष्टयाम, भवानीविलास, प्रेमतरंग, कुशलविलास, जातिविलास, देवचरित्र, रसविलास, प्रेम-चन्द्रिका, सुजानविनोद, काव्यरसायन (शब्दरसायन), सुखसागरतरंग, रागरत्नाकर, देवशतक और देवमायाप्रपंच। इनमें 'प्रेमचन्द्रिका' में विषय-वासना के तिरस्कार, प्रेम के माहात्म्य और उसके विभिन्न रूपों का वर्णन किया गया है। 'रागरत्नाकर' संगीतविषयक लक्षण-ग्रन्थ है। 'देवशतक' अध्यात्म-सम्बन्धी ग्रन्थ है जिसमें जीवन और जगत् की असारता, ब्रह्मतत्त्व तथा प्रेम के माहात्म्य का वर्णन है। 'देवचरित्र' कृष्ण के जीवन से सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य है। 'देव-मायाप्रपंच' संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का पद्यबद्ध अनुवाद है। शेष ग्रन्थ काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी हैं। इनमें 'भावविलास' (१६८९) के अन्तर्गत रस-सामग्री और रस-भेदों---विशेषतः शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद तथा ३९ अलंकारों के विवेचन में भानुदत्त मिश्र की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी', भामह के 'काव्यालंकार', दण्डी के 'काव्यादर्श' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' और 'कविप्रिया' का आश्रय लिया गया है। 'शब्दरसायन' में क्रमशः काव्य-स्वरूप, शब्द-शक्ति, नवरस, नायक-नायिकाभेद, रीति, गुण, वृत्ति, अलंकार और पिंगल का विवेचन 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर किया गया है। शेष ग्रन्थों में नायक-नायिकाभेद और शृंगार रस से सम्बद्ध विवेचन है जिसका मूल आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी', केशव की 'रसिकप्रिया' और रहीम का 'बरवै नायिका-भेद' आदि ग्रन्थ रहे हैं—'सुखसागरतरंग' इन विषयों से सम्बद्ध कवित्त-सवैयों का संग्रह है तथा 'अष्टयाम' में दिन के आठ पहरों के बीच होनेवाले नायक-नायिका के विविध विलासों का वर्णन है। इन ग्रन्थों की रचना १६८९-१७६७ ई० के बीच हुई। यहाँ यह कह देना असंगत न होगा कि इन सबकी सामग्री बहुत-कुछ समान है—एक के लक्षण-उदाहरण थोड़े हेर-फेर के साथ अथवा ज्यों-के-त्यों दूसरे में सन्निविष्ट करके नवीन शीर्षक के साथ नवीन ग्रन्थ की रचना का प्रयत्न अधिक रहा है।

रीतिनिरूपण की दृष्टि से कवि देव के विवेचन में गुण और दोष—दोनों ही स्पष्ट हैं। गुणों में लक्षणों की सुबोधता, स्पष्टता और संक्षिप्तता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता के अतिरिक्त सबसे महत्त्वपूर्ण यह है कि ये अपने मत को प्रबल शब्दों में एवं

किया है। इसमें अलंकारों के विवेचन में 'साहित्यदर्पण' का तथा ध्वनि-विवेचन के प्रसंग में हुए रस-विवेचन में 'साहित्यदर्पण' और 'रसिकप्रिया' का आश्रय ग्रहण किया गया है—जो काव्यांगों का विवेचन 'काव्यप्रकाश' के आधार पर हुआ है। इनके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य आचार्यों से भी यथावश्यकता प्रभाव ग्रहण किया गया है। इन्होंने अपने निष्कर्ष पर्याप्त चिन्तन के बाद दिये हैं। यही कारण है कि इनमें कहीं तो पूर्ववर्तियों के मतों का समन्वय दृष्टिगत होता है और कहीं पर स्वतन्त्र चिन्तन के परिणामस्वरूप नवीन मत का आभास मिलता है। गम्भीर चिन्तन के समान इनकी विवेचन-शैली भी गम्भीर है। अन्य कवियों की भाँति ये मात्र लक्षण-उदाहरण ही नहीं देते, एक विषय पर पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों को उद्धृत करते हुए जब अपना मत देते हैं, तो उसकी व्याख्या ब्रजभाषा-गद्य के द्वारा करते चलते हैं—कहीं-कहीं लक्षणों एवं उदाहरणों को स्पष्ट करने के लिए भी गद्य का आश्रय लिया गया है।

जहाँ तक इनके कवित्व का प्रश्न है, इनका काव्य साधारण कोटि का ही कहा जाएगा। 'काव्यप्रकाश' के आधार पर इन्होंने यद्यपि रस-ध्वनि की स्थापना की है, तथापि ये अपनी रचनाओं में इसका सम्यक् निर्वाह नहीं कर पाये; यह ठीक है कि इनकी कविता नितान्त नीरस नहीं, तथापि इसके भीतर कल्पना-व्यापार-जन्य रमणीक बिम्बों के अभाव के कारण प्राविधिकता आ जाने से ये प्रथम श्रेणी के कवियों के वर्ग से बाहर पड़ जाते हैं। इधर व्याकरण एवं शब्दों के स्वच्छ प्रयोग के कारण इनकी भाषा यद्यपि आदर्श कही जा सकती है, तथापि उसमें विषयानुरूप सौष्ठव न आ सकने के कारण वह सौन्दर्य नहीं आ पाया जो सरस काव्य के लिए अपेक्षित होता है। वस्तुतः आचार्य-कर्म में ये जितने सफल हैं, कवि-कर्म में उतने ही असफल रहे हैं। ये आचार्य पहले हैं और कवि बाद में। उदाहरण के लिए 'रस-रहस्य' का यह अंश देखिए :

एक रूप ही अर्थ बहु, जहाँ कहँ कवि लोय।
नयो रूप लखिये नहीं, अनविकृत है सोय॥

यथा—

रूप की रासि भये तौ कहा रु कहा भयो जो गुन सागर गाह्यौ।
बन्धु अनेक भये तो कहा रु कहा भयो जो अरि को उर दाह्यौ॥
हाथी तुरंग भये तौ कहा रु कहा भयो जग दान सराह्यौ।
लाखन साल जिये तौ कहा रु कहा भयो जो जग नेह निबाह्यौ॥

टी०—यहाँ वांछित अर्थ का इन दृष्टान्तों ने पोषण नहीं किया। इस कारण यहाँ पर यह कहना उचित है कि 'हरि सों जग जो नहिं नेह निबाह्यौ।'

कुमारमणि : कुमारमणि शास्त्री चिन्तामणि, कुलपति आदि की परम्परा के ध्वनि-रसवादी आचार्य हैं। इनका जन्म १६६५ ई० के आसपास ठहरता है। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—रसिकरंजन (१७०८) और रसिकरसाल (१७१९)। 'रसिकरंजन' संस्कृत-कवियों की सूक्तियों का संग्रह है और 'रसिकरसाल' में क्रमशः काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, ध्वनि, रस, नायिकाभेद; गुणीभूत व्यंग्य, शब्दालंकार, अर्थालंकार, गुण और दोष का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ किन्हीं रामनरेश के आश्रय में लिखा गया है। इनके रीति-निरूपण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्पष्ट और सीधी भाषा में विभिन्न विषयों का निरूपण गम्भीरतापूर्वक किया गया है। इनका आधार यद्यपि 'काव्यप्रकाश' है तथापि ये सर्वत्र मम्मट का अन्धानुकरण करते प्रतीत नहीं होते—विश्वनाथ और पण्डितराज के ग्रन्थों का आश्रय लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। नायिकाभेद-विवेचन में अकबरशाह

के आधार पर कृष्ण का चरित्र-वर्णन किया गया है ।

चिन्तामणि ने रीतिनिरूपण को अत्यन्त गम्भीरता एवं निष्ठा के साथ ग्रहण किया है। इनके विवेचन की विशेषता इस बात में निहित है कि लक्षण देने से पूर्व ये सभी आधार ग्रन्थों में दिये गये लक्षणों को तोलकर देखते हैं और उनमें जो इन्हें ठीक जँचता है उसे ग्रहण कर लेते हैं। यदि आवश्यकता होती है तो उसमें फेर-बदल भी कर लेते हैं। किन्तु, इतनी व्यापक दृष्टि होते हुए भी इस दिशा में ये कोई मौलिक योगदान नहीं कर पाये—सामान्यतः लक्षण संस्कृत-ग्रन्थों के लक्षणों के ब्रजभाषा में अनुवाद ही रहे हैं। वैसे, इतना निश्चित है कि इनका विवेचन स्वच्छ है, जिसके लिए इन्होंने लक्षणों और उदाहरणों की रचना एक-दूसरे के अनुसार ही नहीं की, विषय को स्पष्ट करने के लिए कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति का प्रयोग भी किया है।

आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, कवित्व की दृष्टि से भी इनका स्थान अत्यन्त गौरव-पूर्ण है। सिद्धान्ततः रसवादी होने के कारण इनकी कविता में शृंगार, वीर, वात्सल्य एवं भक्ति रसों का सम्यक् परिपाक देखने को मिलता है। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह कहना असंगत न होगा कि इनकी कविता में भावों के आवेग तथा कल्पना की ऊँची उड़ान के स्थान पर सीधी-सादी शब्दावली में सच्ची अनुभूति की अभिव्यक्ति है। भाषा-शैली की दृष्टि से भी इनका काव्य परिष्कृत कहा जा सकता है। पूर्वी प्रदेश के निवासी होते हुए भी इन्होंने ब्रज-भाषा का स्वच्छ प्रयोग किया है। वास्तव में केशव के पश्चात् सम्भवतः ये ही प्रथम कवि हैं, जिन्होंने भाषा को नियमानुसार व्यवहृत किया है। पदावली में सामान्य रूप से लालित्य और अनुप्रास-योजना मिलती है। रसवादी होने के कारण इन्होंनें अलंकारों का प्रयोग रसोत्कर्ष के लिए ही किया है। इनकी छन्द-योजना भी सुन्दर कही जा सकती है। कवित्व और सवैया का प्रयोग इन्होंने सर्वाधिक किया है। इनमें परवर्ती कवियों के समान यद्यपि स्वर और लय की अधिक संगति नहीं है, तथापि पूर्ववर्तियों का-सा अनगढ़पन भी नहीं है। एक उदाहरण देखिए :

अवलोकनि में पलकैं न लगें, पलकौ अवलोकि बिना ललकैं ।
पति के परिपूरन प्रेम पगी मन और सुभाव लगै न लकै ॥
तिय की बिहँसौंही बिलोकनि में 'मनि' आनँद आँखिन यों झलकैं ।
रसवंत कवित्तन को रस ज्यों अखरान के ऊपर ह्वै छलकै ॥

कुलपति मिश्र : चिन्तामणि की परम्परा में आनेवाले इस युग के दूसरे महत्त्वपूर्ण आचार्य कुलपति मिश्र हैं। इनके अपने साक्ष्य के अनुसार ये आगरा-निवासी माथुर चौबे परशुराम के पुत्र थे तथा जयपुर के कूर्मवंशीय महाराज जयसिंह के पुत्र महाराज रामसिंह के आश्रय में रहते थे। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि बिहारी इनके मामा थे। इनका कविता-काल १६६०-१७०० ई० के बीच ठहरता है। इनके द्वारा 'रसरहस्य', 'संग्रामसार', 'दुर्गाभक्ति-चन्द्रिका', 'मुक्तितरंगिणी' तथा 'नखशिख'—ये पाँच ग्रन्थ रचे हुए कहे जाते हैं। किन्तु, आज इनमें प्रथम तीन ही प्राप्त हैं। इनमें 'संग्रामसार' महाभारत के द्रोणपर्व का तथा 'दुर्गाभक्ति-चन्द्रिका' 'दुर्गासप्तशती' का पद्यबद्ध अनुवाद है। 'रसरहस्य' (१६७०) मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा केशव की 'रसिकप्रिया' के आधार पर रचा गया काव्यांग-विवेचन सम्बन्धी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें कुल मिलाकर आठ वृत्तान्त हैं जिनमें क्रमशः काव्य-लक्षण, काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, काव्य-पुरुष-रूपक और काव्य-भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, गुण, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार नायक-नायिकाभेद और छन्द के अतिरिक्त इन्होंने सभी काव्यांगों का विवेचन

अथवा रसध्वनि को ही इन्होंने काव्य के जीव-रूप में स्वीकार किया है; शेष सम्प्रदायों में से किसी को भी ये प्रतिष्ठा नहीं दे पाये। यह सत्य है कि इसके मूल में मम्मट और विश्वनाथ का व्यापक प्रभाव कुछ अधिक सक्रिय रहा, किन्तु यह कहना इनके प्रति अन्याय होगा कि इतर सम्प्रदायों की स्थापना का इन लोगों को ज्ञान नहीं था—इनमें अनेक ऐसे हैं, जिन्होंने ध्वनि-पूर्ववर्ती और ध्वनि-उत्तरवर्ती संस्कृताचार्यों के ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी में केशव आदि के ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर उनकी मान्यताओं पर विचार करते हुए अपना मत बिना किसी संकोच के व्यक्त किया है। परन्तु इतना होते हुए भी ये लोग काव्यशास्त्र के क्षेत्र में विशेष योगदान नहीं कर पाये—छन्द के क्षेत्र को छोड़ जो कुछ भी उद्भावनाएँ इन्होंने नायिकाभेद, रस, शब्द-शक्ति, गुण-दोष आदि के विषय में की हैं वे या तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण नहीं या नितान्त अशास्त्रीय होकर इनकी भ्रान्ति की परिचायक हो गयी हैं। इसके विपरीत इन्होंने जो उदाहरण दिये हैं, वे वास्तव में लक्षणों के अनुरूप एवं स्वच्छ तो हैं ही, साथ में इतने कवित्वपूर्ण भी हैं कि सामान्य पाठक की दृष्टि विवेचन सम्बन्धी उक्त दोषों की ओर नहीं जा पाती। विषयानुरूप सरस भाषा में श्रृंगार, राजप्रशस्ति अथवा भक्ति और नीतिपरक बिम्ब जिस प्रकार से इन लोगों ने कवित्त, सवैया और दोहा-जैसे विषयानुकूल छन्दों में रचित मुक्तकों में व्यक्त किये हैं, उनको देखकर इनकी सहृदयता पर किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो पाता; यह बात दूसरी है कि देव, दास, सोमनाथ, ग्वाल-जैसे कतिपय कवियों को छोड़ इन सबके कवित्व का स्तर ऐसा नहीं कि इन्हें एकदम प्रथम श्रेणी के कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया जा सके। फिर भी, स्वच्छ लक्षणों और तदनुरूप उदाहरणों एवं गद्य में इनकी व्याख्या और वृत्ति द्वारा जो सुबोध, स्पष्ट एवं सरस विवेचन इन्होंने प्रस्तुत किया है उसके आधार पर ये आचार्य नहीं तो कम-से-कम सफल कविशिक्षक कहलाने के अधिकारी तो हैं ही। प्रस्तुत प्रसंग में इनमें से कतिपय प्रसिद्ध कवियों का परिचय देना उचित होगा।

चिन्तामणि : रीतिकालीन आचार्यों में चिन्तामणि का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। एक जनश्रुति के आधार पर लोग अब तक इन्हें तिकवाँपुर-निवासी रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र तथा मतिराम, भूषण और जटाशंकर नामक प्रसद्धि कवियों के सहोदर के रूप में स्वीकार करते चले आ रहे हैं; किन्तु अधुनातन शोधों द्वारा यह सब भ्रामक सिद्ध हो चुका है। वास्तव में ये उत्तरप्रदेश के ज़िला फ़तेहपुर में स्थित कोंड़ा ज़हाँनाबाद के रहने वाले थे और राजा हम्मीर के कहने से भूषण और मतिराम के साथ तिकवाँपुर में आ बसे थे। ये शाहजी भोंसला, शाहजहाँ और दाराशिकोह के आश्रय में रहे। इनका जन्म १६०० ई० के लगभग तथा मृत्युकाल १६८०-८५ के आसपास ठहरता है। इनके द्वारा रचे हुए ये नौ ग्रन्थ बताये जाते हैं—रसविलास, छन्दविचार पिंगल, श्रृंगारमंजरी, कविकुलकल्पतरु, कृष्णचरित, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कवित्तविचार और रामायण। इनमें आज प्रथम पाँच ही उपलब्ध हैं। 'रसविलास', रस-विवेचन का ग्रन्थ है। इसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त धनंजय के 'दशरूपक' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लिया गया है। 'श्रृंगारमंजरी' आन्ध्र के सन्त अकबरशाह की 'श्रृंगारमंजरी' के संस्कृत-अनुवाद का ब्रजभाषा में अनुवाद है। यह नायक-नायिकाभेद का ग्रन्थ है। 'कविकुलकल्पतरु' में मम्मट के 'काव्यप्रकाश', विश्वनाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', धनंजय के 'दशरूपक', अकबरशाह की 'श्रृंगारमंजरी' तथा भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर काव्य के दशांगों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। 'छन्दविचारपिंगल' के अन्तर्गत 'प्राकृतपैंगलम्' तथा भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर

अनुभवों की छाप प्रायः देखने को मिलती है। अलंकारों, निर्वेदादि संचारियों आदि के विवेचन के प्रसंगों में उद्धृत ये नीतिपरक रचनाएँ यद्यपि परिमाण में बहुत अधिक नहीं हैं, तथापि ऐसी प्रवृत्ति की परिचायक तो हैं ही जिसमें वैयक्तिक अनुभवों से उत्पन्न विवेक को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। इस प्रकार गौण प्रवृत्तियों में राजप्रशस्ति की प्रवृत्ति शृंगारी प्रवृत्ति के समान उस युग के दरबारी जीवन में 'प्रवृत्ति' की परिचायक है, जबकि भक्ति और नीति की प्रवृत्तियाँ उससे निवृत्ति की। चूँकि प्रवृत्ति और निवृत्ति जीवन के परस्पर पूरक पक्ष हैं, अतएव इन प्रवृत्तियों को एक-दूसरी की पूरक कहा जा सकता है।

रीतिकवियों के वर्ग

रीति-निरूपण के आधार पर रीतिकवियों के मुख्यतः दो वर्ग किये जा सकते हैं—१. सर्वांग-निरूपक, और २. विशिष्टांग-निरूपक। इनमें सर्वांग-निरूपक वे हैं, जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों—काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्य की आत्मा (रस अथवा ध्वनि), शब्द-शक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छन्द का विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है। चिन्तामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास, जनराज आदि ऐसे ही आचार्य हैं। इन्होंने एक अथवा अनेक ग्रन्थों के भीतर इन सभी अंगों का विवेचन किया है। विशिष्टांग-निरूपक आचार्यों ने काव्य के सभी अंगों को अपने विवेचन का विषय न बनाकर उसके तीन महत्त्वपूर्ण अंगों—रस, अलंकार और छन्द में से एक, दो अथवा तीनों का निरूपण एक अथवा अनेक ग्रन्थों में किया है। इनमें रस-निरूपण करनेवालों के भी तीन वर्ग किये जा सकते हैं—(क) समस्त रसों के निरूपक, (ख) शृंगाररस-निरूपक और (ग) शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरूपक। समस्त रसों का निरूपण करनेवालों में तोष, याक़ूब खाँ, रामसिंह, सेवादास, बेनीप्रबीन, पद्माकर आदि का; शृंगार रस का निरूपण करनेवालों में मतिराम, उदयनाथ, कवीन्द्र, चन्द्रदास, यशवन्तसिंह, कृष्ण कवि आदि का; तथा नायक-नायिकाभेद-विवेचकों में कालिदास, यशोदानन्दन, गिरिधरदास आदि का नाम लिया जा सकता है। अलंकार-निरूपक आचार्यों में मतिराम, भूषण, गोप, दलपतिराय, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह, बैरीसाल, सेवादास, पद्माकर आदि तथा छन्दोनिरूपक आचार्यों में मतिराम, सुखदेव मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, दास, दशरथ, नन्दकिशोर, रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं। यदि इन तीनों अंगों को स्वतन्त्र रूप में लें तो इन कवियों के मुख्यतः ये चार वर्ग होंगे—१. सर्वांग-निरूपक, २. रस-निरूपक, ३. अलंकार-निरूपक और ४. छन्दोनिरूपक। यहाँ इन चारों वर्गों के कवियों के आचार्यत्व एवं कवित्व पर पृथक्-पृथक् विचार करना होगा।

सर्वांग-निरूपक कवि

इस वर्ग में आनेवाले कवियों की संख्या यद्यपि बहुत अधिक नहीं है तथापि विषय की व्यापकता, विस्तृत शास्त्रीय आधार, गम्भीर चिन्तन, मौलिक उद्भावना-प्रवृत्ति, आलोचक के लिए अपेक्षित आत्मविश्वास और साहस, सुबोध एवं स्पष्ट निरूपण-शैली, सहृदयता आदि ऐसी अनेक विशेषताएँ हैं जो इस काल के इतर वर्गों के रीतिनिरूपक कवियों की तुलना में इन्हें सहज ही ऊँचे स्थान पर प्रतिष्ठित कर देती हैं। इनके रीति-निरूपण का उद्देश्य भी यद्यपि सामान्य पाठक को विभिन्न काव्यांगों का साधारण ज्ञान-मात्र कराना था, तथापि प्रत्येक का विभिन्न काव्य-सम्प्रदायों के विषय में दृष्टिकोण अपने आप में स्पष्ट है—रस, ध्वनि

व्यापक रूप से इनकी प्रवृत्ति नहीं रही। "पर रस चाहै परकिया, तजै आपु गुन गोत" तथा "प्रेमहीन त्रिय वेश्या है श्रृंगाराभास" (देव) के द्वारा परकीया-प्रेम में मर्यादा हानि तथा सामान्या-प्रेम में अनौचित्य को जिस प्रकार से व्यक्त किया गया है, वह इसकी पुष्टि के लिए पर्याप्त है। इतना ही नहीं, सामान्या-प्रेम विषयक जितने भी छन्द इन लोगों ने रचे हैं उनमें प्रभाव-शक्ति इसीलिए नहीं आ पायी, क्योंकि इसमें इनका मनोयोग नहीं रहा। परकीया-प्रेम-वर्णन में ये लोग यद्यपि औत्कट्य एवं मार्मिकता का सन्निवेश कर गये हैं जिससे एतद्विषयक रचनाओं में मार्मिकता आ गयी है, तथापि उनका अन्तिम निष्कर्षात्मक प्रभाव यही रहा है कि "कोऊ कितेक उपाय करो, कहुँ होत हैं आपुने पीव पराए।" (मतिराम)। इस प्रकार कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि रीतिकवियों की श्रृंगारिकता में सामान्य रूप से इन्द्रियदमनजन्य कुण्ठाहीनता, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूपलिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण-दोषों के रहते हुए भी ऐसी ताज़गी है जो काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बन्द रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए आत्मविभोर कर सकती है।

इतर प्रवृत्तियाँ : जहाँ तक रीतिकाव्य में विद्यमान इतर प्रवृत्तियों का प्रश्न है, उनमें राजप्रशस्ति अथवा वीरकाव्य की प्रवृत्ति मूलतः अलंकार और छन्दोविवेचन के ग्रन्थों में ही देखने को मिलती है—रस-विवेचन के ग्रन्थों में यह ग्रन्थ-विशेष की भूमिका के रूप में अथवा वीर और रौद्र रसों के निरूपण के प्रसंग में ही देखी जा सकती है। इसका मुख्य विषय आश्रयदाताओं की दानवीरता अथवा युद्धवीरता ही रही है। किन्तु इनकी अभिव्यक्ति उनके दान अथवा पराक्रम के परिचायक व्यापारों के स्थान पर सामान्य रूप से दान की सामग्री की विपुलता तथा आश्रयदाताओं के आतंक एवं निर्बल और कायर शत्रुओं पर उनके प्रभाव के विविध वर्णनों द्वारा होने के कारण वैसा रसात्मक प्रभाव नहीं डाल पाती, जो वीर रस की रचनाएँ छोड़कर जाती हैं। इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं में लोकमान्य गुणों का आरोप तथा उनके अत्यधिक वैभव का बखान भी अपने आप में झूठी प्रशस्ति का ही प्रभाव छोड़ता है—किसी प्रकार का श्रद्धा-भाव उत्पन्न करने में वह असमर्थ रहता है। अतएव कहा जा सकता है कि इनकी वीरकाव्य की प्रवृत्ति में अलंकारनिबद्ध राजविषयक रति का ही प्राधान्य है—उत्साह का प्रायः अभाव ही रहा है।

भक्ति की प्रवृत्ति रीतिग्रन्थों के मंगलाचरणों, ग्रन्थों की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनों, भक्ति और शान्त रसों, निर्वेदादि संचारियों तथा अलंकार-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में दिये गये उदाहरणों में मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण—इन दो अवतारी रूपों में विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति में भी वैसी ही श्रद्धा रखते थे। अतः कहा जा सकता है कि ये किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी नहीं थे—ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप में आज साधारण आस्तिक हिन्दुओं में देवी-देवताओं के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति का भाव रहता है, वही इनमें था। वास्तव में इस युग में भक्ति धार्मिकता की ही परिचायक नहीं थी, विलास-जर्जर दरबारी वातावरण के बाहर विषय-वासनाजन्य-दुःखों से आकुल मन के लिए शरणभूमि भी थी। इसीलिए समय-समय पर रचित इन छन्दों में से अधिकांश में भक्त कवियों की तन्मयता का आभास होता है।

भक्ति यदि इन कवियों के आकुल मन के लिए शरणभूमि थी, तो नीति संघर्षमय दरबारी जीवन के घात-प्रतिघातों से उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व के विरेचन के परिणामस्वरूप शान्ति का आधार थी। इसीलिए आत्मोपदेश और अन्योक्तिपरक छन्दों में इनके वैयक्तिक

तीन ताल दै कै तान लेत है तिलोत्तमा सी
देत तन लाल इकलाई तार तार की ॥

सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक कवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या दूसरे वर्गों के कवियों की तुलना में सबसे अधिक है। के अतिरिक्त ये लोग इस युग के साहित्य की प्रवृत्तियों एवं विशेषताओं का प्रतिनिधित्व सर्वाधिक करते हैं। रीति-निरूपण की दृष्टि से यदि इन्हें देखें तो कहना होगा कि इनमें है सर्वरस-विवेचक हों और चाहे शृंगार अथवा नायक-नायिकाभेद-निरूपक; सभी ने क-नायिकाभेद का विवेचन तो अत्यन्त मनोयोग के साथ किया ही है; शृंगार रस का वेचन भी थोड़े-से नायक-नायिकाभेद के विवेचकों को छोड़ सबका प्रिय विषय रहा है। न्तु कहना न होगा कि शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन की यह व्यापक प्रवृत्ति पि सर्वांग-विवेचकों तक में भी इन लोगों के समान ही सर्वाधिक प्रचलित रही है, किन्तु ल मिलाकर इस दिशा में किसी प्रकार का मौलिक योगदान नहीं हो पाया—जो भी उद्-चनाएँ अपने आप में मौलिक प्रतीत होती हैं उनमें या तो मौलिकता ही नहीं है, या फिर इतनी अशास्त्रीय हैं कि उन्हें किसी प्रकार का महत्त्व देने में संकोच होता है। वर्ण, प्रदेश दि के आधार पर नायिकाओं के विविध भेदों की परिकल्पना तथा शृंगार में इतर रसों अन्तर्भाव आदि इसके प्रमाण हैं—इनमें न शास्त्रीयता है और न गणनीय मौलिकता ही। नके विवेचन का आधार भी अत्यन्त सीमित कहा जा सकता है—संस्कृत में भानुदत्त की समंजरी' और 'रसतरंगिणी' तथा हिन्दी में कृपाराम की 'हिततरंगिनी', केशव की 'रसिक-या' और रहीम-कृत 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशोभा' ही इनके आश्रय रहे हैं; बहुत ही म लोग ऐसे हैं जिन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र', धनंजय के 'दशरूपक' तथा रुद्रभट्ट के गारतिलक' का आश्रय लिया हो। इधर विवेचन-शैली भी इन सबकी लगभग एक-जैसी —सामान्यतः लक्षण दोहों में और उदाहरण कवित्त, सवैया अथवा दोहा छन्द में दिये गये। विवेचन की विशेषता अपने आप में यही रही है कि लक्षण स्वच्छ तथा उदाहरण तदनुरूप, बोध एवं सरस हैं।

जहाँ तक कवित्व का प्रश्न है, इसका निर्वाह प्रायः सभी कवियों ने अपनी रचनाओं यथासम्भव ईमानदारी से किया है। विवेच्य विषय के अनुरूप इनकी अधिकांश रचनाएँ गारिक ही हैं—इतर विषयों से सम्बन्धित रचनाएँ केवल शृंगारेतर रसों के उदाहरणों के रूप ही देखने को मिलती हैं। काव्यशास्त्रीय नियमों में बद्ध होती हुई भी ये रचनाएँ वैविध्यपूर्ण मों के कारण पर्याप्त कलात्मक रही हैं—क्या लक्षित और क्या उपलक्षित, सभी प्रकार बिम्बों की रेखाएँ इतनी स्पष्ट एवं सधी हुई हैं कि काव्यशास्त्रीय नियमों में आबद्ध परिवेश एकरूपता भी उन्हें एकरस नहीं बना पायी। दूसरी ओर इनकी अभिव्यक्ति भी कम भावशाली एवं समर्थ नहीं रही। व्याकरण-सम्मत ब्रजभाषा में संस्कृत, अपभ्रंश और प्राकृत-सी प्राचीन भाषाओं, अरबी और फ़ारसी-जैसी विदेशी भाषाओं तथा क्षेत्रीय बोलियों के दों का यथावश्यकता प्रयोग कर जिस कसावट और बिम्बानुरूप संगीत की सृष्टि की गयी, वह इतर कालों में लिखे गये ब्रजभाषा-साहित्य में विरल है—कवित्त, सवैया तथा दोहा के पक प्रयोग ने इस दिशा में अपना योग और दिया है। कुल मिलाकर इन कवियों की चनाएँ कलापूर्ण कही जा सकती हैं। इनमें इन्हें अपने रीति-निरूपण के समान ही सफलता

मिली है। प्रस्तुत प्रसंग में सर्वरस, शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-निरूपक से कतिपय का परिचय देना असंगत न होगा।

सर्वरस-निरूपक रीतिकवि

तोष : संस्कृत के आचार्यों का आश्रय लेते हुए भी अपने ढंग से रस-निरू वाले इस युग के आचार्यों में तोष का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये के निकट स्थित शृंगवेरपुर (सिंगरौर) नामक स्थान के निवासी थे तथा इनके पिता चतुर्भुज था। ये सरयूपारीण शुक्ल ब्राह्मण थे। इनके द्वारा रचित 'सुधानिधि', और 'विनयशतक'—ये तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। इनमें आज केवल 'सुधानिधि' (उपलब्ध है। कुछ लोग रचना-काल सम्बन्धी इनके दोहे के पाठभेद के आधार पर ई० में रचित मानते हैं।

'सुधानिधि' में विषय का विवेचन नवरस-परिगणन तथा विभाव, अनुभा स्थायी भाव (प्रेम) के उल्लेख के साथ किया गया है। इसके पश्चात् शृंगार के विभाव के अन्तर्गत क्रमशः नायिका और नायक के भेदोपभेदों, नायक के सखाओं, नायक एवं दर्शन के चारों भेदों का तथा उद्दीपन विभाव के भीतर क्रमशः वर्ण- आधार पर विभिन्न प्रकार की दूतियों, चार प्रकार की सखियों तथा विभिन्न प्रकार पक पदार्थों का विवेचन किया गया है। विभाव के विवेचन के उपरान्त संयोग, सामान्य और मिश्रित नाम से शृंगार के चार भेदों का वर्णन है—संयोग शृंगार और अवसरानुरूप संभोग का, वियोग शृंगार में विरह-पीड़ा का; सामान्य शृंगा प्रसिद्ध और दस अपर हावों; नायिकाओं के औदार्य, माधुर्य, प्रगल्भता और धीरता चार अलंकारों; आठ सात्त्विक भावों, विप्रलम्भ के त्रिविध मान, पूर्वराग, प्रवास और नामक चार भेदों और काम की दस दशाओं का तथा मिश्रित शृंगार में संयोग में वियो में संयोग, जन्य और जनक इन चार रूपों का वर्णन किया गया है। इस प्रकार शृं सविस्तर विवेचन कर क्रमशः शेष आठ रसों, तैंतीस संचारी भावों, भाव-सन्धि, भावो भावशबलता के मात्र उदाहरण दे दिये गये हैं। अन्त में क्रमशः कैशिकी आदि चार में विद्यमान रहनेवाले रसों के उल्लेख, स्थायी और संचारी भावों के अन्तर, रसाभ भावाभास, रसदोषों आदि के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए विवेचन समाप्त कर दिया लक्षणों और उदाहरणों के लिए कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा और छप्पय का प्रयोग नुसार कर लिया गया है। विवेचन में अधिकांश विषय ऐसे हैं जो विश्वनाथ के 'साहि शिंगभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर', भानुदत्त की 'रस मंजरी' और 'रसतरंगिणी', कल्या की 'अनंगरंग', केशव की 'रसिकप्रिया', रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' और 'नगरशो ग्रन्थों में आ चुके हैं; तथापि लक्षणों के स्वरूप और उनकी योजना को देखकर यह जा सकता कि ग्रन्थकार ने इनमें से कौन-सा किसके लक्षण का अनुवाद अथवा रूपान्तर है। अतएव कहा जा सकता है कि उन्होंने न केवल अपने कर्म को गम्भीरता के साथ किया, उनमें अपने ढंग से विचार करने और अपनी मान्यताओं को व्यवस्थित रूप सामर्थ्य भी है। चिन्तन और दृष्टि में इस प्रकार की मौलिकता के परिणामस्वरूप परकीया की वैयक्तिक परिस्थितियों तथा मिलन-युक्तियों के आधार पर क्रमशः साध्या- तथा उद्बुद्धा-उद्बोधिता नामक नवीन भेदों की उद्भावना कर सके हैं। इसी प्रकार व्यवमाय के आधार पर अन्तर्वर्तिनी, विदग्धा, सहचरी और हितकारिणी नामक चार

र्तियों, उद्दीपक नामक हाव, सामान्य और मिश्रित नामक शृंगार के दो भेदों, धर्मवीर स्थान पर सत्यवीर नामक भेद तथा कठिनता नामक संचारी सम्बन्धी परिकल्पनाएँ ऐसी जिनकी चर्चा पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ में इस रूप में देखने को नहीं मिलती। इससे यह निष्कर्ष ज ही निकाला जा सकता है कि रस-विवेचन में इनकी दृष्टि दूसरों की अपेक्षा अधिक पक है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्वच्छ उदाहरणों के द्वारा ही विषय को स्पष्ट या गया है—लक्षण केवल वहीं देने का प्रयत्न रहा है, जहाँ पर उदाहरणों से काम चलता नहीं देखा गया। विवेचन की इस शैली से यह सोचा जा सकता है कि ग्रन्थकार की ति आचार्यत्व की अपेक्षा कवित्व-प्रदर्शन की ओर अधिक रही है।

तोष का कवित्व भी कम सराहनीय नहीं है। कल्पना की ऊँची उड़ान के परिणाम-रूप उनकी रचनाओं में एक से बढ़कर एक आकर्षक एवं नवीन बिम्बों की सृष्टि ही नहीं हुई विभिन्न अलंकारों द्वारा नियोजित विविध प्रकार की रेखाओं ने चेतना का स्पर्श कर ह्लादित करने की क्षमता भी उनमें उत्पन्न कर दी है। किसी भी रचना को उठाकर देख इए, उसमें दूसरी की अपेक्षा अपना वैशिष्ट्य सहज ही अनुभव हो जाएगा। इधर अभि-क्ति भी अपने आप में इतनी सहज, स्वच्छ एवं निश्छल रही है कि काव्यशास्त्रीय नियमों घेरे में रची हुई उनकी कविता की अकृत्रिमता पर आश्चर्य होता है—भाषा और छन्द-जना का निर्दोष प्रयोग जिस प्रकार का स्वाभाविकता-सम्पृक्त प्रभाव छोड़ता है, वह चिन्ता-णि और मतिराम-जैसे सरल कलाकार कवियों की श्रेणी में इन्हें प्रतिष्ठित कर देता है। व्यशास्त्र को हृदयंगम कर तदनुरूप सरस काव्य की रचना करनेवाले गिने-चुने रीतिकवियों इनकी गणना बिना किसी संकोच के की जा सकती है। नमूने के रूप में लक्षण-सहित एक दाहरण प्रस्तुत करते हैं :

पिय को जिय जासों रमैं, सोई ज्येष्ठा होइ।
आनि कनिष्ठा जानिये, कहैं सयाने लोइ॥

प्रेम जनायो मुरारि चहै बहु नारिनि मैं लखि प्यारी नवीनी।
खेल रच्यौ अँखि मूदने को, कहि 'तोष' कियो नँदलाल प्रवीनी॥
कै तेहि चोर मुदे अँखिया छतियाँ में लियो छतिया गहि पीनी।
बाल गई जब लौं लुकिबे कहँ, लाल दई तब लौं रति कीनी॥

रसलीन : व्यवस्थित विवेचन और कवित्व का समान रूप से निर्वाह करते हुए रीति-निरूपण करनेवाले इस युग के इने-गिने आचार्यों में सैयद गुलाम नबी 'रसलीन' (१६९९-७५०) का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ये उत्तरप्रदेश के ज़िला हरदोई के प्रसिद्ध साहित्य-केन्द्र बिलग्राम के रहनेवाले थे। इनके मामा मीर अब्दुल जमील और गुरु मीर तुफ़ैल अहमद च्छे कवि थे, जिनसे इन्हें काव्य-रचना की प्रेरणा मिली। इनके पिता का नाम सैयद मुहम्मद बाक़र था। ये अच्छे संगीतज्ञ होने के साथ-साथ सुयोग्य सैनिक, तीरन्दाज़ और घुड़सवार भी थे तथा नवाब सफ़दरजंग की सेना में काम करते थे। रामचेतौनी के युद्ध में ये मारे गये थे। कवित्त-सवैयों तथा कतिपय लोकगीतों के अतिरिक्त इनके द्वारा रचित 'रसप्रबोध' (१७४२) और 'अंगदर्पण' (१७३७) नामक दो रीतिग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, जिनमें क्रमशः रस-विवेचन और नखशिख-वर्णन मिलता है। लेकिन फ़ारसी भाषा में भी इन्होंने रचनाएँ की हैं।

'रसप्रबोध' में यद्यपि सभी रसों का वर्णन हुआ है, तथापि इस वर्ग के अन्य ग्रन्थों के समान ही इसका मूल विषय शृंगार रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचन ही है—अन्य रसों आदि का विवेचन इसकी तुलना में कहीं अधिक संक्षिप्त है। इसमें सबसे पहले रस का सामान्य

परिचय देने के उद्देश्य से रस और उसके कारण-रूप भाव को स्पष्ट करते हुए क्रम भाव, विभाव और अनुभाव को स्पष्ट किया गया है। इसी प्रसंग में ८ सात्त्विकों और रियों को क्रमशः 'तन' और 'मन' संचारी के रूप में वर्गीकृत करते हुए ९ स्थायी भा रसों के नामों का उल्लेख कर दिया गया है। इसके उपरान्त शृंगार रस का विवेच किया गया है। इसमें 'रति' स्थायी के लक्षण-उदाहरण देने के बाद शृंगार के वि आलम्बन और उद्दीपन—की चर्चा कर आलम्बन में क्रमशः नायिका और नायक के साथ उनके भेदों के अनेक अवान्तर भेदोपभेदों की लक्षण-उदाहरण-सहित चर्चा की जबकि उद्दीपन विभावों के अन्तर्गत सखी, दूती और नायक-सखा के भेदों और उनके अतिरिक्त षड्ऋतुओं तथा अन्य पदार्थों को प्रस्तुत किया गया है। विभाव-पक्ष के अनुभावों, हावों आदि का वर्णन है। अन्त में बारहमासा-सहित वियोग शृंगार का शेष आठ रसों की विभावादि सामग्री एवं उनमें से कतिपय के भेदों का उल्लेख प्रत्येक से सम्बद्ध उदाहरण देकर ग्रन्थ समाप्त कर दिया गया है। लक्षण और उदाह ही दोहों में हैं।

रस और नायक-नायिकाभेद सम्बन्धी इस विवेचन को देखकर यह सहज ही हो जाता है कि इसका आधार अन्य विवेचकों की तुलना में पर्याप्त विस्तृत है—भरत, , भानुदत्त और वात्स्यायन के अतिरिक्त हिन्दी के कृपाराम, केशव, तोष और कुमार गौढ़ आचार्यों का आश्रय ग्रहण किया गया है। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता क्रम स्पष्टता और विस्तार में निहित है। विवेचन का क्रम कुछ इस प्रकार से रखा गया है तः पुनरुक्ति हुई है और न कोई विषय छूट ही पाया है। स्वच्छ एवं सरस उदाहरणों दिशा में अपना विशेष योग दिया है। इधर पूर्ववर्ती समस्त ग्रन्थों की नायिका विषयक सामग्री का यथासम्भव समन्वय कर विवेचन को पर्याप्त विस्तार ही प्रदान न गया, इसके अतिरिक्त नायिकाओं में त्रिविध पतिदुःखिता और सेवकवधू नामक चतुर्विध सामान्या तथा अवस्थानुसार नायिकाओं में गमिष्यत् और आगमिष्यत्पतिका नायकों में नायिकाओं के आधार पर उपपति और वैशिक के भेदों की परिकल्पना द्वारा का विकास भी किया गया है।

रीति-निरूपण के समान इनका कवित्व भी इस युग के कवियों में वैशिष्ट्य रसवादी होने के कारण अपनी रचनाओं में रस का सम्यक् परिपाक तो इन्होंने किया अभिव्यंजना-शिल्प भी इनके काव्य की अपनी विशेषता बन गया है। सीधे-सादे बि नवीन उपमानों का प्रयोग ये जिस खूबी के साथ करते हैं, वह इस काल के कवि रचनाओं में विरल है। कदाचित् इसीलिए इनके बिम्ब अधिक स्पष्ट और मार्मिक हैं। दूसरी ओर भाषा में विषयानुसार सरसता भी है। इनकी कविता का सौन्दर्य वा वक्रता की अपेक्षा स्वाभाविकता में अधिक निहित रहा है। उदाहरणस्वरूप ये दोहे

(अ) *यौं तिय नैननि लाज मैं, लसत काम के भाइ।*
मिले सलिल मैं नेह ज्यौं, ऊपर ही दरसाइ॥
(आ) *अगिन रूप बनि रे बिरह, कत जारत है मोहि।*
तिय तन पानिप पाइकै, बोरि मारिहौं तोहि॥

पद्माकर : कवित्व का पूर्णतः निर्वाह करते हुए नवरसों का सफल निरूपण वाले गिने-चुने आचार्यों में पद्माकर का नाम लिया जा सकता है। ये तैलंग ब्राह्मण इनका जन्म १७५३ ई० में मध्यप्रदेश के सागर नामक स्थान में हुआ था। इनके पिता

भट्ट भी अच्छे कवि थे और सामान्यतः अनुष्ठान और मन्त्र-साधना का कार्य करते थे। गर-नरेश रघुनाथराव अप्पा, महाराज जैतपुर, सुमरा-निवासी नोने अर्जुनसिंह, दतिया-महाराज पारीक्षित, शुजाउद्दौला के जागीरदार गोसाइं अनूपगिरि (उपनाम हिम्मत-र), सितारा-नरेश रघुनाथराव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह और उनके पुत्र जगतसिंह, उदय-नरेश महाराज भीमसिंह तथा ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिन्धिया के आश्रय में रहे। ३३ ई० में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई। इनके द्वारा रचित ये सात मौलिक ग्रन्थ मिलते -हिम्मतबहादुर विरुदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रवोध-पचासा, गंगालहरी, प्रतापसिंह दावली और कलिपच्चीसी। इनके अतिरिक्त इनके अनेक स्फुट छन्द भी मिलते हैं। कहते कि वाल्मीकि-रामायण, हितोपदेश आदि संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद भी इन्होंने किये थे। लिक ग्रन्थों में 'पद्माभरण' और 'जगद्विनोद' ही रीतिग्रन्थ हैं—शेष राजप्रशस्ति अथवा क और वैराग्य सम्बन्धी हैं। इन रीतिग्रन्थों में क्रमशः अलंकार और नवरस-विवेचन किया है। 'पद्माभरण' १८१० ई० में रचा गया बताया जाता है। 'जगद्विनोद' की रचना ०३ और १८२१ ई० के बीच महाराज जगतसिंह के आश्रय में उनकी आज्ञा से हुई।

'जगद्विनोद' में छह प्रकरण और ७३१ छन्द हैं। आरम्भ में आलम्बन विभाव के तंत नायक-नायिकाभेद और चार प्रकार के दर्शन का विवेचन करने के अनन्तर उद्दीपन भाव के अन्तर्गत नायक के सखाओं, नायिका की सखी, तीन प्रकार की दूतियों तथा षड्-तुओं का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। तदनन्तर शृंगार रस के अनुभावों के विवेचन के व्याज आठ सात्त्विक भावों और बारह हावों का वर्णन करते हुए शृंगारादि नव रसों का विवेचन तुत किया गया है। लक्षण सामान्यतः दोहों में हैं और उदाहरण कवित्त, सवैया, दोहा दि में। लक्षणों को देखने से यह सहज ही स्पष्ट हो ज़ाता है कि ग्रन्थकार मूलतः 'रस-री', 'रसतरंगिणी', 'साहित्यदर्पण', 'रसिकप्रिया', 'सुधानिधि' आदि ग्रन्थों का ऋणी रहा । अतएव मौलिकता की दृष्टि से इसका कोई महत्त्व नहीं। ग्रन्थ की विशेषता यही है कि प सुबोध और स्पष्ट तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। विषय को स्पष्ट करने के ए कहीं-कहीं व्रजभाषा-गद्य का आश्रय भी लिया गया है। किन्तु फिर भी, लक्षणों में वह ता और शास्त्रीयता नहीं आ पायी जो संस्कृत-आचार्यों के लक्षणों में मिलती है।

कवित्व की दृष्टि से यदि पद्माकर की रचनाओं की परीक्षा की जाए, तो कहना ना कि इनके द्वारा गृहीत तीनों विषयों—शृंगार, राजप्रशस्ति और भक्ति में इन्हें पूर्ण लता मिली है। इस दिशा में इनकी सबसे बड़ी विशेषता बिम्ब-योजना है जिसमें रेखाएँ र रंग ही अत्यन्त स्पष्ट होकर नहीं आये; उनमें यथावश्यकता भावात्मकता, गति और स्थैर्य सन्निवेश भी कुछ ऐसे कौशल के साथ हुआ है कि वे सहृदय के मन पर आत्मविभोर कर वाला आह्लादक प्रभाव छोड़ जाते हैं। भाषा भी बिम्बों और उनकी रेखाओं के अनुरूप नी सधी हुई एवं सौष्ठव-सम्पन्न है कि प्रत्येक शब्द की योजना देखते ही बनती है। इधर वित्तों और सवैयों का प्रयोग भी विशेष प्रकार के गम्भीर संगीत की सृष्टि कर रचनागत म के अनुकूल वातावरण ही उत्पन्न नहीं करता, प्रत्येक रेखा के धर्म को भी व्यंजित करता ता है। कहना न होगा कि इन्हीं विशेषताओं के कारण ये परवर्ती कवियों के लिए अनु-रणीय बन गये। एक छन्द द्रष्टव्य है :

सिन्धु के सपूत सुत सिन्धु तनया के बन्धु
मन्दिर अमन्द सुभ सुन्दर सुधाई के।

कहै 'पदमाकर' गिरीस के बसे हौ सीस
तारन के ईस कुलकारन कन्हाई के ॥
हाल ही के बिरह बिचारी ब्रजबाल ही पै
जाल से जगावत जुआल सी जुन्हाई के ।
ए रे मतिमन्द चन्द आवत न तोहैं लाज
ह्वै कै दुजराज काज करत कसाई के ॥

बेनी 'प्रवीन' : इस काल के नवरस-विवेचक आचार्यों में संक्षिप्त लक्षणों उदाहरणों की रचना के लिए बेनी 'प्रवीन' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये लखनऊ वाले वाजपेयी ब्राह्मण थे तथा वल्लभ-सम्प्रदाय के वंशीलाल के शिष्य थे। इनके शृंगारभूषण, नवरसतरंग और नानारावप्रकाश—ये तीन ग्रन्थ कहे जाते हैं। कि आज 'नवरसतरंग' (१८१७) ही उपलब्ध है। कहा जाता है कि 'प्रवीन' उपाधि समकालीन भँड़ौआकार बेनी ने दी थी। 'नवरसतरंग' में कुल मिलाकर ५४३ छन्द हैं नवरस-परिगणन, रस-लक्षण तथा विभिन्न रसों के स्थायी भावों के उल्लेख के उपरान्त शृंगार के आलम्बन विभाव में नायक-नायिकाभेद और चतुर्विध दर्शन; उद्दीपन में सखी, दूतियों के अतिरिक्त वर्ण-व्यवसाव के आधार पर कतिपय अन्य दूतियों और उद्दीपक आठ सात्त्विक भावों, तेंतीस संचारियों और भावोदयादि, भावाभास तथा नौ स्थायी का; शृंगार के संयोग-पक्ष में दस हावों तथा विप्रलम्भ शृंगार के करुण को छोड़ भेदों और मरण को छोड़ सभी कामदशाओं का; एवं शेष आठ रसों का निरूपण कि है। लक्षण विषयवस्तु के अनुरूप बरवै, दोहा अथवा सोरठा में हैं: उदाहरण कवित्त, अथवा दोहों में। विवेचन में लक्षणों का आधार सामान्यतः भानुदत्त की 'रसमंज 'रसतरंगिणी' ही रही हैं—वर्ण-व्यवसाय के आधार पर दूती के भेदों के वर्णन के लि के 'सुधानिधि' और केशव की 'रसिकप्रिया' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। ने अपने 'शृंगारभूषण' के अनेक छन्दों को भी इसमें उद्धृत किया है। करुण, रौद्र के उदाहरण शृंगारमिश्रित हैं। समग्रतः लक्षण संक्षिप्त, स्वच्छ और सुबोध तथा लक्षणों के अनुरूप और सरस हैं। कवित्व की दृष्टि से इन्हें इस युग के तोष, मति आदि सरस कवियों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इनके बिम्बों की रेखाएं सुनियोजित ही नहीं, पर्याप्त आकर्षक भी हैं। प्रत्येक बिम्ब मतिराम के बिम्बों-जैसा जन्य गम्भीर प्रभाव छोड़ जाता है—उसमें न बिहारी-जैसी नक़्क़ाशी मिलेगी और पद्माकर-जैसी क्रमशः गति और मुखरता ही। भाषा भी विषय के अनुरूप सरस एवं प्रसादगुण-सम्पन्न है।

अन्य रीतिकवि : रीतिकाल के सर्वरस-विवेचक आचार्य-कवियों में सुखदेव याक़ूब खाँ, उजियारे, रामसिंह और चन्द्रशेखर वाजपेयी भी उल्लेखनीय हैं। सुखदेव (कविता-काल १६३३-१७०३ ई०) द्वारा रचे हुए ये ग्रन्थ बताये जाते हैं—वृ छन्दविचार, फ़ाज़िलअलीप्रकाश, अध्यात्मप्रकाश, रसार्णव, रसरत्नाकर और शृंगार इनमें 'वृत्तविचार' छन्दोनिरूपण विषयक है, 'अध्यात्मप्रकाश' में जीव, जगत्, माया और विषयक शंकर के विचारों को कविता में समझाया गया है, 'रसार्णव' और 'रसरत्ना नवरस-वर्णन है तथा अन्य ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं। 'रसार्णव' और 'रसरत्नाकर' में शृं के आलम्बन नायक-नायिकाभेद, त्रिविधदर्शन, सखी, दूती, नायक-सखा, उद्दीपक हावादिक एवं शृंगार के दोनों भेदों का वर्णन विस्तार के साथ किया गया है और

का वर्णन चलते ढंग से कर दिया गया है। अन्त में रस-सामग्री के अन्तर्गत आनेवाले चारी भाव आदि का विवेचन किया गया है। दोनों ही ग्रन्थों के विवेचन का आधार दत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' हैं। 'रसरत्नाकर' में जहाँ सुबोधता, स्पष्टता और प की ओर ग्रन्थकार का आग्रह रहा है वहाँ 'रसार्णव' में संक्षेप के स्थान पर कवित्व-र्णन पर उसकी दृष्टि अधिक केन्द्रित रही है। वैसे, कवित्व की दृष्टि से दोनों ही ग्रन्थों महत्व है। इनमें कल्पना की उड़ान भले ही न हो, किन्तु सीधे-सादे बिम्ब कुछ इस प्रकार अंकित किये गये हैं कि उनकी स्वाभाविकता देखते ही बनती है।

रस और अलंकार के समानान्तर विवेचन द्वारा रीति-निरूपण की संक्षेप-शैली में ने ढंग का अनूठा प्रयोग करने के कारण **याक़ूब ख़ाँ** इस युग के आचार्यों में विशेष रूप से न आकर्षित करते हैं। किन्तु, दुर्भाग्य की बात यह है कि 'रसभूषण' के सिवाय न तो का कोई ग्रन्थ मिलता है और न इनके जीवन-वृत्त के विषय में किसी प्रकार की सामग्री उपलब्ध है। राय शिवप्रसाद द्वारा रचित 'रसभूषण' (१८१२) पर इनके प्रभाव को खकर इतना ही अनुमान लग पाता है कि ये १८०० ई० से पूर्व हुए होंगे। याक़ूब ख़ाँ के सभूषण' में रस-विवेचन के अन्तर्गत नायक-नायिकाभेद, नायक-सखा, त्रिविधमान, चतुर्विध र्शन, त्रिविध दूती, सखी और उनके कर्मों, १८ हावों, ८ सात्त्विक भावों, ८ स्थायी भावों, शृंगार के भेदोपभेद-सहित मरण के सिवाय सभी कामदशाओं तथा शान्त रस समेत नवरस को प्रस्तुत किया गया है। इनमें नायक-नायिकाभेद सम्बन्धी प्रकरण का विवेचन लगभग वैसा ही है, वैसा कि भानुदत्त की 'रसमंजरी' में देखने को मिलता है तथा शेष का निरूपण 'साहित्य-र्पण' के अधिक निकट है। संचारी भावों का विवेचन बिना कोई कारण बताये ही छोड़ दिया गया है। अलंकारों के विवेचन में कुवलयानन्दकार द्वारा उपमा से हेतु तक गृहीत १०० मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त रस-भाव वर्ग के ८ रसवदादि अलंकार, प्रमाणाधृत १० अलंकारों में से केवल 'प्रत्यक्ष' नामक अलंकार तथा शब्दालंकारों में से 'छेक' और 'वृत्ति' नामक दो भेदों सहित अनुप्रास और यमक के क्रम से कुल मिलाकर १११ अलंकारों को भेदोप-भेद-सहित समझाया गया है। रस और अलंकारविषयक यह विवेचन क्रम और भेदोपभेद सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से यद्यपि उक्त संस्कृत-ग्रन्थों के अनुरूप है, तथापि एतद्विषयक कोई भी लक्षण ऐसा नहीं जिसे इनके लक्षणों का अनुवाद अथवा रूपान्तर कहा जा सके। ऐसा प्रतीत होता है कि लक्षणों की सामग्री के लिए इस काल के 'रसिकप्रिया', 'भाषाभूषण', 'रसराज' आदि ब्रजभाषा-रीतिग्रन्थ ही आधार रहे हैं। अतः मौलिक उद्भावनाओं की दृष्टि से यह ग्रन्थ नगण्य है। विषय-विवेचन के लिए लक्षण सोरठे में दिये गये हैं और उदाहरणों के लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। ग्रन्थकार ने सामान्यतः एक ही छन्द के प्रथम दो चरणों में अलंकार-विशेष का और बाद के दो में रस-सामग्री के अंश-विशेष का लक्षण देने का प्रयत्न किया है—दोनों के उदाहरण भी उसने प्रायः एक ही छन्द में घटा दिये हैं। कहीं-कहीं ब्रज-भाषा-गद्य में वृत्ति देकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। लक्षण, उदाहरण और वृत्ति, तीनों के समन्वित योग के कारण अलंकार और रस का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने-वालों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी है, परन्तु कवित्व अपने आप में साधारण कोटि का ही है।

उजियारे : ये वृन्दावन-निवासी सनाढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे। इन्होंने १७८० ई० के आसपास 'जुगलरसप्रकाश' और 'रसचन्द्रिका' की रचना की थी। 'रसचन्द्रिका' के १६ और 'जुगलरसप्रकाश' के १२ प्रकाशों में रस-सामग्री और विभिन्न रसों का प्रायः एक-जैसा विवेचन किया गया है—अन्तर केवल इतना ही है कि 'रसचन्द्रिका' के अन्त में 'रसरोध'

शीर्षक से रस-विरोधी बातों की चर्चा 'जुगलरसप्रकाश' की अपेक्षा अधिक है। आधार मूलतः भरत का 'नाट्यशास्त्र' रहा है। इनमें प्रश्नोत्तर की पद्धति द्वारा समस्याओं को उठाते हुए उनका समाधान करने का प्रयत्न किया गया है—यह है कि भारतीय दृष्टि से इनमें कोई मौलिक बात नहीं कही गयी। एक विशेषता ग्रन्थकार ने शृंगार का विवेचन सविस्तर करते हुए भी इतर रसों के विवेचन रीति-निरूपकों के समान चलता नहीं कर दिया—एक-एक प्रकाश में एक-एक विवेचन करते हुए प्रत्येक रस के महत्त्व को अप्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादित किया गया है। सामान्यतः स्वच्छ और स्पष्ट हैं तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस कहे जा सकते हैं। न होगा कि उजियारे इस काल के प्रतिष्ठित कवियों की श्रेणी में भले ही न आते कवि और कवि-शिक्षक के रूप में वे पर्याप्त सफल हैं।

विषय को स्वच्छ, सरस, विस्तृत और व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करनेवाले विवेचक आचार्यों में महाराज रामसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ये नरेश छत्रसिंह के पुत्र थे। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें जुगलविलास, अलंकारदर्पण और रसनिवास प्रसिद्ध हैं। इनमें 'जुगलविलास' (१७७६) देव के के समान नायक-नायिका की विलासपूर्ण दिनचर्या के वर्णन का ग्रन्थ है, (१७७८) में 'कुवलयानन्द' के आधार पर अलंकार-विवेचन किया गया है, (१७७३) 'रसमंजरी' के आधार पर रचित नायक-नायिकाभेद और शृंगाररस सम्बन्धी ग्रन्थ है; जबकि 'रसनिवास' (१७८२) में रसतरंगिणी, रसमंजरी, रसिकप्रिया आदि के आधार पर नायक-नायिकाभेद के अतिरिक्त रस-सामग्री और रसों के वर्णन के साथ रस-भाव-अलंकार-सम्बन्ध, रसविरोध, रसाभास, रसशवलता मनोयोगपूर्वक विवेचन किया गया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में 'रसनिवास' का महत्त्व है। इसमें ग्रन्थकार ने भरती के शब्दों को बचाते हुए नपी-तुली भाषा में लक्षण और रूप सरस उदाहरण देकर ही अपने विवेचन को पूर्ण नहीं समझा, इससे आगे विभिन्न पक्षों पर गम्भीर चिन्तन के बाद अपने ढंग से अनेक निष्कर्ष प्रस्तुत करने का किया है। रस के आधार पर अभिमुख (रसप्रधान), विमुख (गुणीभूत रस) और (रसहीन) नामक काव्य की तीन कोटियों की परिकल्पना भी इनके मौलिक परिणाम कही जा सकती है। संक्षेप में, यह ग्रन्थ अपने रचयिता को उच्च कोटि के शिक्षकों की कोटि में सहज ही प्रतिष्ठित कर देता है। कवित्व की दृष्टि से भी ये के मतिराम-जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों में बिना किसी संकोच के परिगणित किये हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान ने इनके बिम्बों को कुछ ऐसा वैशिष्ट्य प्रदान किया उससे इनकी रसवादी दृष्टि सहज ही प्रमाणित हो जाती है।

लक्षण सम्बन्धी दोषों से सावधान और लक्ष्य के लिए अनिवार्य गुणों के निमित्त सचेष्ट रहकर शास्त्रनिष्ठ स्वच्छ विवेचन करनेवाले इस युग के आचार्यों में बाजपेयी (१७६८-१८८५) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जा सकता है। में हम्मीर हठ, नखशिख, वृन्दावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, विलास, रसिकविनोद आदि प्रसिद्ध हैं। 'रसिकविनोद' (१८४६) में नवरस का किया गया है। इसकी रचना पटियाला-नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह के आश्रय में हुई थी। शृंगार रस के आलम्बन-रूप नायिका-नायकभेद और चतुर्विध दर्शन, उद्दीपन विभाव, भावों, संचारी भावों, स्थायी भावों, रस-लक्षण, शृंगार के भेदों में संभोग के अन्तर्गत

वियोग के अन्तर्गत पूर्व अनुराग, प्रवास, ईर्ष्या, विरह और शाप के नाम से उसके पाँच भेदों एवं शेष आठ रसों का निरूपण किया गया है। इन विषयों में नायक-नायिकाभेद-विवेचन का आधार भानुदत्त की 'रसमंजरी' और शेष का उनकी 'रसतरंगिणी' रही है। लक्षण दोहों में हैं और सभी भानुदत्त के लक्षणों के अनुवाद अथवा छायानुवाद रहे हैं। उदाहरण कवित्त अथवा सवैयों में हैं तथा लक्षणों के अनुरूप एवं सरस हैं। विवेचन की स्वच्छता एवं सुबोधता ही इस ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता है। आचार्यत्व की दृष्टि से ही नहीं, कवित्व की दृष्टि से भी चन्द्रशेखर वाजपेयी को सफल कहा जा सकता है। इनकी शृंगार और राजप्रशस्ति-परक—दोनों ही प्रकार की रचनाओं में व्यंग्य का निर्वाह दृष्टिगत होता है। शृंगारिक रचनाओं में कल्पना के स्वच्छ विनियोग ने जहाँ इनके बिम्बों को सहज, आकर्षक एवं मधुर रूप प्रदान किया है, वहाँ राजप्रशस्तिपरक रचनाओं में आश्रयदाता के गुणों का बखान परम्पराभुक्त होते हुए भी वाणी के ओज के कारण अत्यन्त प्रभावी बन पड़ा है। भाषा व्याकरण की दृष्टि से स्वच्छ एवं सौष्ठवपूर्ण है।

शृंगाररस-निरूपक रीतिकवि

मतिराम : शृंगार रस को रसशिरोमणि मानकर केवल उसी का सांगोपांग विवेचन करनेवाले आचार्यों में मतिराम का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। इनका जन्म १६०४ ई० के लगभग उत्तरप्रदेश के ज़िला फ़तेहपुर के बनपुर नामक स्थान में हुआ था तथा इनके पिता का नाम विश्वनाथ त्रिपाठी था। ये सम्राट् जहाँगीर, बूँदी-नरेश राव भावसिंह हाड़ा, कुमायूं-नरेश ज्ञानचन्द, बुन्देलखण्ड-स्थित श्रीनगर-नरेश स्वरूपसिंह बुन्देला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे। इनके द्वारा रचित ये आठ ग्रन्थ कहे जाते हैं—फूलमंजरी, लक्षण-शृंगार, साहित्यसार, रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपंचाशिका और वृत्तकौमुदी। इनमें 'लक्षणशृंगार' और 'साहित्यसार' आज उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध ग्रन्थों में 'फूलमंजरी' की रचना जहाँगीर की आज्ञा से १६१९ ई० में, 'ललितललाम' की रचना भावसिंह के आश्रय में सन् १६६१-६४ के बीच, 'सतसई' की रचना किन्हीं भोगनाथ के आश्रय में १६८१ ई० के आसपास, 'अलंकारपंचाशिका' की रचना ज्ञानचन्द के आश्रय में १६९० ई० में तथा 'वृत्त-कौमुदी' की रचना स्वरूपसिंह बुन्देला के आश्रय में १७०१ ई० में हुई। 'रसराज' का रचना-काल १६३३-४३ ई० के बीच स्वीकार किया जा सकता है। यह किसी आश्रयदाता के आश्रय में नहीं लिखा गया। कतिपय विद्वान् इन्हें एक किंवदन्ती के आधार पर चिन्तामणि और भूषण के सहोदर-रूप में स्वीकार करते हुए 'अलंकारपंचाशिका' और 'वृत्तकौमुदी' को किन्हीं अन्य मतिराम की रचना कहते हैं, किन्तु अधुनातन शोधों ने यह भ्रामक सिद्ध कर दिया है।

अस्तु, 'रसराज' में शृंगार रस और उसके आलम्बन नायक-नायिकाभेद का विवेचन किया गया है। इसमें दोहों, कवित्तों और सवैयों में उक्त विषय को मनोयोगपूर्वक प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में नायिका और नायक को शृंगार के आलम्बन-रूप में स्वीकार करते हुए क्रमशः दोनों का निरूपण भानुदत्त की 'रसमंजरी' और रहीम के 'बरवै नायिकाभेद' के आधार पर किया है। इसके पश्चात् आलम्बन के ही प्रसंग में दर्शन के स्वप्न, चित्रादि भेदों, उद्दीपनों, अनुभावों, सात्त्विक भावों तथा शृंगार के संयोग-वियोग नामक भेदों का वर्णन भी 'रसमंजरी' के आधार पर करते हुए संयोग के प्रसंग में दस हावों का वर्णन भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' तथा विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का आश्रय लेकर किया गया है। अन्त में विप्रलम्भ शृंगार के भेदों तथा काम की दस अवस्थाओं का वर्णन पुनः

रसमंजरीकार की सहायता से किया गया है। लक्षण दोहों में हैं, आधार ग्रन्थों के अथवा छायानुवाद हैं तथा विषय-निरूपण की दृष्टि से अपने आप में पर्याप्त स्वच्छ सकते हैं। उदाहरण सरस कवित्तों, सवैयों अथवा दोहों में हैं तथा सभी प्रकार के के अनुरूप हैं। ग्रन्थकार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह संस्कृत-ग्रन्थों का लेते हुए भी उनका अन्धानुकरण नहीं करता। कदाचित् इसीलिए उसने रसमंजरीकार वर्णित 'गुप्ता' नायिका के तीन भेदों में वर्त्तिष्यमाण और वृत्तवर्त्तिष्यमाण नामक भेदों 'करुण विप्रलम्भ' और 'मरण' नामक कामदशा को एक ओर जहाँ छोड़ दिया है, वहाँ ओर हिन्दी-आचार्यां द्वारा परिगणित 'आगतपतिका' नामक नवीन नायिका का सफल नि किया है। विवेचन के सम्बन्ध में केवल एक ही वात खटकती है कि शृंगार के सभी अंगों मनोयोगपूर्वक निरूपण करते हुए भी रस-परिपाक के लिए अनिवार्य कहे गये संचारी का कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया।

'रसराज' के उदाहरणों का वर्ण्य विषय यद्यपि शृंगार ही है, तथापि अपने ग्रन्थों में मतिराम ने राजप्रशस्ति को भी अपनी कविता का विषय बनाया है। कवित्व की से इन दोनों विषयों से सम्बद्ध रचनाएँ अत्यन्त सरस हैं। कल्पना के सहज व्यापार ने को आकर्षक एवं भव्य ही नहीं बनाया, अपनी अकृत्रिम सूक्ष्मता द्वारा उनके रचयिता उत्कृष्ट कलाकारों की श्रेणी में ला खड़ा किया है। संयत वाणी में मर्यादित शृंगार ओजमयी वाणी में राजप्रशस्तियों की अभिव्यक्ति स्वच्छ भाषा में जिस प्रकार से हुई है अनेक कवियों के लिए आदर्श रही; यह परवर्ती कवियों में से अनेक ने स्पष्ट शब्दों स्वीकार किया है। छन्दों में विषयानुरूप संगीत की सृष्टि ने तद्गत बिम्बों और अभिव्यक्ति को जिस रूप में ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत किया है, वह इस काल के गिने-चुने की रचनाओं में ही देखने को मिलती है। यथा:

कुन्दन कौ रंग फीकौ लगै झलकै सब अंगन चारु गुराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि में मंजु बिलासन की सरसाई॥
को बिन मोल बिकात नहीं 'मतिराम' लहै मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई॥

कृष्णभट्टदेव ऋषि : शृंगार को मूर्द्धन्य रस मानकर उसका सविस्तर विवेचन वाले गिने-चुने आचार्यों में कृष्णभट्टदेव ऋषि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता जिन्होंने इतर रसों का अन्तर्भाव भी इसमें कर दिखाया है। दुर्भाग्य से इनके जीवन-वृत्त विषय में आज कुछ भी ज्ञात नहीं है—केवल इतना ही पता चलता है कि १७१२ ई० इन्होंने विन्दवती के राजा बुद्धसिंह जी देव की आज्ञा से 'शृंगाररसमाधुरी' नामक ग्रन्थ रचना की थी। इसके अतिरिक्त इनका 'अलंकारकलानिधि' नामक एक अन्य ग्रन्थ और जो रस-अलंकार-विवेचन विषयक है, किन्तु वह खण्डित रूप में ही मिलता है। 'शृंगार माधुरी' की विषयवस्तु सोलह अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'स्वाद' संज्ञा दी गयी है। क्रमशः द्विविध शृंगार, नायक-भेद, नायिका-भेद, चतुर्विध दर्शन, दूती, मिलन-भेद आदि वर्णन है। 'अलंकारकलानिधि' में भी रस-सामग्री, सखी-भेद, दूती-कर्म, विभिन्न रस और शृंगारपरक वर्णन, रसों के अनुकूल वृत्तियों तथा रस-दोषों का वर्णन किया गया है। विवेचन में 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त 'हिततरंगिनी', 'रसिकप्रिया' 'सुधानिधि' का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है। विवेचन की व्यवस्था, लक्षणों की स्व और स्पष्टता तथा उदाहरणों की तदनुरूपता एवं सरसता इन कृतियों की उल्लेखनीय वि

ताएँ हैं। कवित्व की दृष्टि से भी ये रचनाएँ अत्यन्त मार्मिक कही जा सकती हैं।

नायक-नायिकाभेद-निरूपक रीतिकवि

रीतिकाल में रस-विवेचन के सन्दर्भ में नायक-नायिकाभेद का विवेचन मतिराम, तोष, रसलीन प्रभृति अनेक कवियों ने किया है, किन्तु इस दिशा में सर्वथा भिन्न शैली के उद्भावक होने के कारण इस युग के आचार्यों में कालिदास त्रिवेदी का विशिष्ट स्थान है। इनके विषय में यह ज्ञातव्य है कि ये अन्तर्वेद के रहनेवाले थे तथा औरंगज़ेब के साथ बीजापुर की लड़ाई में गये थे। प्रसिद्ध रीतिकवि उदयनाथ कवीन्द्र और दूलह इनके क्रमशः पुत्र और पौत्र थे। इन्होंने हजारा, राधामाधवबुधमिलन विनोद, वारवधूविनोद आदि ग्रन्थों की रचना की। इनमें 'वारवधूविनोद' नायिकाभेद-विवेचन विषयक है। इसकी रचना १६९२ ई० के लगभग जम्बूनगर के शासक किन्हीं जालिम जोगाजीत के आश्रय में हुई। यह पाँच प्रभावों में विभक्त है। इनमें प्रथम प्रभाव के अन्तर्गत मंगलाचरण, आश्रयदाता की प्रशस्ति एवं उसके वंश के संक्षिप्त परिचय के बाद विषय का विवेचन नाटकीय ढंग से एक कथा-प्रसंग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण से राधा का मिलन कराने के निमित्त ललिता दूती का कार्य करती हैं। राधा के आगमन में विलम्ब जानकर और कृष्ण का विरहाधिक्य देखकर वह उनके मन को बहलाने के उद्देश्य से नायिकाभेद की चर्चा आरम्भ कर देती है और एक-एक करके प्रथम तीन प्रभावों में क्रमशः भेदोपभेदों-सहित स्वकीया और परकीया का तथा नखशिख और सुरतादि-सहित सामान्या का वर्णन करती है। इसके पश्चात् चतुर्थ में अन्यसम्भोगदुःखितादि अष्टविध नायिकाओं का परिचय देती है। अन्तिम प्रभाव में उत्तमादि त्रिविध नायिकाओं का उल्लेख कर वह नायिका की सखी के कर्मों का वर्णन जैसे ही समाप्त करती है, वैसे ही राधा पहुँच जाती है। यहीं पर दोनों के सुरत और सुरतान्त का वर्णन कर कवि ग्रन्थ को समाप्त कर देता है। इस प्रकार विषय-वैशद्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण कोटि का है। मौलिकता की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व नहीं, कारण लक्षण अपने आप में सामान्य एवं परम्परागत लक्षणों के आधार पर रचे गये हैं—उनमें किसी प्रकार की सूक्ष्मता का ध्यान नहीं रखा गया। इसकी विशेषता इसी बात में निहित है कि विवेचन कथा के प्रसंग के माध्यम से प्रस्तुत करने के अतिरिक्त उसके लिए ऐसे छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, जो इस काल के अन्य कवियों ने रीति-निरूपण अथवा शृंगार-वर्णनों के लिए प्रायः ग्रहण नहीं किये। ये छन्द हैं—छप्पय, हरिगीतिका, त्रिभंगी, त्रोटक, भुजंगप्रयात, चौपाई, सरसी और कुंडलिया। इन छन्दों का प्रयोग इतने कलात्मक ढंग से किया गया है कि कोई भी प्रकृतितः इस विषय के प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता। इसके अतिरिक्त सामान्या नायिका के प्रसंग में उसके नखशिख एवं सुरतादि का वर्णन इसमें जिस मनोयोग एवं आकर्षक ढंग से किया गया है, वैसा इस युग के समग्र शृंगारी साहित्य में उपलब्ध नहीं होता—बिम्ब, भाषा और छन्द-योजना, तीनों ही अपने समन्वित रूप में यह सिद्ध कर देते हैं कि यदि कवि विषय में रुचि ले तो रसाभास की उत्पत्ति करनेवाले इस प्रकार के विषय भी विशुद्ध रस का-सा आनन्द प्रदान कर सकते हैं।

अलंकार-निरूपक रीतिकवि

रस और नायक-नायिकाभेद-विवेचकों के समान अलंकार-विवेचकों की संख्या भी पर्याप्त है और इनमें प्रत्येक इस युग की रीति-निरूपण की प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है

—सभी ने कवित्व-प्रदर्शन के स्थान पर अलंकार का सामान्य ज्ञान कराने के उद्देश्य से एतद्विषयक ग्रन्थों का निर्माण किया है तथा सामान्य रूप से सुबोधता और सुकण्ठता का ध्यान रखा है। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों ही प्रायः इन कवियों के विवेचन के विषय हैं। किन्तु, इनमें कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अर्थालंकारों का ही विवेचन किया है। अलंकार विवेचन के लिए सामान्यतः जयदेव के 'चन्द्रालोक' अथवा अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' का ही आधार लिया गया है; ध्वनिपूर्व के अलंकारवादी आचार्यों का आश्रय बहुत ही थोड़े लोगों ने लिया है। इनके अतिरिक्त 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का आश्रय भी थोड़े लोगों ने लिया है; पर इनका प्रभाव बहुत अधिक दृष्टिगत नहीं होता। अलंकारों के विवेचन का क्रम प्रायः वही रहा है जो आधार-ग्रन्थों—'चन्द्रालोक' अथवा 'कुवलयानन्द'—में देखने को मिलता है। परन्तु इन ग्रन्थों—विशेषतः 'कुवलयानन्द' में दिये गये सभी अलंकारों को इन्होंने ग्रहण नहीं किया; अप्पय दीक्षित द्वारा गृहीत रस-भाव पर आधृत रसवदादि नामक सात अलंकारों तथा प्रमाणाधृत प्रत्यक्ष, अनुमान आदि दस अलंकारों के अतिरिक्त संसृष्टि और पंचविध संकर को बहुत ही कम लोगों ने अपने ग्रन्थों में स्थान दिया है; उपमा से लेकर तक दिये गये सौ अलंकार ही इनके ग्रन्थों में प्रायः देखने को मिलते हैं। गम्भीर चिन्तन के अभाव तथा उक्त संस्कृत-ग्रन्थों का आश्रय रहने के कारण इनमें मौलिक उद्भावनाओं के लिए कोई स्थान नहीं रहा। मौलिकता यदि इनमें कहीं है, तो विवेचन-शैली में अनेक प्रकार के नवीन प्रयोगों की है—जितनी विवेचन-शैलियाँ इस वर्ग के कवियों ने प्रस्तुत की हैं, उतनी अन्य वर्गों में देखने को नहीं मिलतीं। इनके अतिरिक्त उदाहरणों के वर्ण्य विषय भी पर्याप्त वैविध्यपूर्ण रहे हैं—शृंगार और राजप्रशस्ति के अतिरिक्त भक्ति और नीति सम्बन्धी रचनाएँ भी उदाहरण-रूप में प्रस्तुत की गयी हैं। कहना न होगा कि इन सभी विषयों की रचनाएँ पर्याप्त कवित्वपूर्ण हैं। अलंकारों के निरूपण पर दृष्टि रहते हुए भी तद्गत बिम्बों के सौं की हानि नहीं हो पायी; अभिव्यक्ति भी अपने आप में समर्थ रही है। हाँ, जहाँ कवित्व की ओर ध्यान नहीं दिया गया—संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण अथवा मात्र लक्षण देना ही ग्रन्थकार का अभीष्ट रहा है, वहाँ इन विशेषताओं का सर्वत्र अभाव रहा है। कुल मिलाकर इस वर्ग के कवि अपने कर्म में सामान्य रूप से सफल रहे हैं। उदाहरण के लिए कतिपय अलंकार-विवेचकों का परिचय अभीष्ट है।

जसवन्तसिंह : रीतिकाल के अलंकार-निरूपक आचार्यों में महाराज जसवन्तसिंह (१६२७-१७२९) का नाम विशेष आदर के साथ लिया जाता है। ये मारवाड़-नरेश महाराज गजसिंह के द्वितीय पुत्र थे तथा पिता की मृत्यु के उपरान्त बारह वर्ष की अल्प आयु में ही इन्हें राज्य-भार सँभालना पड़ा था। शाहजहाँ और औरंगज़ेब के शासन-काल में मुग़ल दरबार और उसकी राजनीतिक गतिविधियों में ये विशेष रूप से सक्रिय रहे—शिवाजी के हाथों शायस्ता खाँ की जो दुर्गति हुई थी, उसमें इन्हीं का हाथ था। ये तेजस्वी राजनीतिज्ञ एवं कुशल शासक ही नहीं थे, साहित्य और दर्शन के प्रति भी इनका विशेष अनुराग था। अनेक कवि और पण्डित इनके आश्रय में रहते थे। इन्होंने स्वयं भी 'भाषाभूषण' नामक अलंकार-विषयक ग्रन्थ के अतिरिक्त अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभवप्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्तबोध और सिद्धान्तसार नामक पाँच अध्यात्मविषयक ग्रन्थों की रचना की—संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का ब्रजभाषा में पद्यानुवाद भी इन्होंने किया।

अस्तु, 'भाषाभूषण' चन्द्रालोक-शैली में लिखा हुआ २१२ दोहों का ग्रन्थ है, जिसे पाँच प्रकाशों में विभक्त कर प्रस्तुत किया गया है। इनमें क्रमशः नायक-नायिकाभेद, हावभा

अर्थालंकारों एवं छेक, लाट और तीनों वृत्तियों के अनुसार अनुप्रास के साथ यमक का वर्णन यमकानुप्रास नाम से किया गया है। अलंकारों के नामों तथा उनके क्रम और विवेचन को देखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि इसकी रचना के लिए ग्रन्थकार ने 'कुवलयानन्द' का ही आश्रय ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त 'चन्द्रालोक', 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' से भी कहीं-कहीं प्रभाव ग्रहण किया गया है। लक्षण-उदाहरणों में कतिपय 'कुवलयानन्द' के अनुवाद और शेष इसके तथा अन्य मूल ग्रन्थों के छायानुवाद कहे जा सकते हैं। इसकी विशेषता ही यह है कि प्रत्येक लक्षण और उसके साथ दिया गया उदाहरण अपने आप में सुबोध, सरस एवं आकर्षक है[१]; जहाँ पर उपभेदों का वर्णन किया गया है वहाँ पहले एक-साथ सभी लक्षण और फिर क्रमशः उनके उदाहरण दे दिये गये हैं। कुल मिलाकर यह ग्रन्थ सुबोध और सुकण्ठ्य कहा जा सकता है। बादं के लोगों में यह इन्हीं विशेषताओं के कारण अत्यन्त लोकप्रिय रहा। अनेक कवियों ने ही अपने अलंकार-विवेचन में इसकी सहायता नहीं ली, कतिपय ने इसकी टीकाएँ भी लिख डालीं। टीकाओं में दलपतिराय वंशीधर की 'अलंकाररत्नाकर' नामक टीका तो मूल के समान प्रतिष्ठा की भागी बनी। किन्तु, अलंकार-निरूपण में जसवन्तसिंह जितने सफल हैं, कवित्व की दृष्टि से उतने ही साधारण कहे जा सकते हैं। 'भाषाभूषण' के विषय में तो यह कहा जा सकता है कि संक्षिप्त लक्षण-उदाहरणों के उद्देश्य से लिखा जाने के कारण इसमें उन्हें कवित्व-प्रदर्शन का अवसर नहीं मिला, किन्तु इनके अन्य ग्रन्थ भी ऐसे नहीं जिनमें इसका दर्शन किया जा सके—इनमें भी ये सहृदय कवि के स्थान पर तत्त्व-ज्ञान-निरूपक आचार्य दृष्टिगत होते हैं।

मतिराम : जसवन्तसिंह के समान परवर्ती टीकाकारों एवं पाठकों में प्रतिष्ठा प्राप्त करने-वाले दूसरे अलंकार-निरूपक आचार्य मतिराम हैं। 'ललितललाम' और 'अलंकारपंचाशिका' इनके एतद्विषयक दो ग्रन्थ हैं। इनमें 'पंचाशिका' तो अलंकार-निरूपण की दृष्टि से अत्यन्त सामान्य है, कारण आश्रयदाता की प्रशस्ति सम्बन्धी स्फुट रचनाओं पर लक्षण घटाकर इसे ग्रन्थ का रूप दे दिया गया है—न तो इसके विवेचन में कोई व्यवस्था है और न औचित्य ही। वास्तव में इस दृष्टि से 'ललिललाम' का ही महत्त्व स्वीकार किया जा सकता है। इसमें भेदापभेदों-सहित १०० अर्थालंकारों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। इन अलंकारों का क्रम और विवेचन 'कुवलयानन्द' के आधार पर रहा है—सामान्यतः कुवलयानन्दकार के लक्षणों का दोहों में अनुवाद अथवा छायानुवाद कर सुविधानुसार शृंगारिक सरस छन्दों अथवा आश्रय-दाता की प्रशस्तियों को उनके उदाहरण-रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह कह देना असंगत न होगा कि अप्पय दीक्षित से अत्यधिक प्रभावित होते हुए भी ग्रन्थकार ने उनका अन्धानुकरण नहीं किया—यथावश्यकता 'साहित्यदर्पण' और 'काव्यप्रकाश' का आश्रय लेते हुए कहीं-कहीं थोड़ी फेर-बदल कर लेने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। यही कारण है कि मालोपमा और रशनोपमा नामक अलंकार कुवलयानन्दकार द्वारा गृहीत न होने पर भी इन्होंने साहित्यदर्पणकार से ग्रहण कर लिये हैं। इसी प्रकार अप्पय दीक्षित द्वारा स्वीकृत हेतु और काव्यलिंग नामक दो पृथक् अलंकारों को मम्मट से संकेत ग्रहण कर इन्होंने एक कर दिया है—अन्तर केवल इतना है कि मम्मट ने जहाँ काव्यलिंग में 'हेतु' का

---

[१] एक उदाहरण देखिए।

प्रतिवस्तूपम समझिए, दोऊ वाक्य समान।
आभा सूर प्रताप तें, सोभा सूर कमान॥

अन्तर्भाव किया है, वहाँ इन्होंने 'हेतु' के भीतर इसको अन्तर्भूत कर दिया है। इतना ही रसवादी होने के कारण इन्होंने कुवलयानन्दकार द्वारा मान्य रसवदादि तथा प्रमाणावृत मानादि अलंकारों का स्पर्श भी इसलिए नहीं किया कि या तो ये इनके सिद्धान्त के प्रति पड़ते हैं या फिर रसोत्कर्ष में सहायक नहीं कहे जा सकते। इधर अन्य रीतिकवियों आग्रहपूर्वक गृहीत शब्दालंकारों को भी इन्होंने सम्भवतः इसलिए अपने विवेचन में स्थान दिया क्योंकि रस के साथ इनका सीधा सम्बन्ध नहीं है—भापा के मात्र चमत्कारक धर्म कर मतिराम ने इन्हें छोड़ दिया है। कहने का अभिप्राय यही है कि इनका अलंकार-विवे मौलिक न होने पर भी सुचिन्तित एवं तर्कसंगत है। इसके अतिरिक्त यह सुबोध एवं स्पष्ट नहीं, सरस भी है—लक्षण अपने आप में गठे हुए तथा उदाहरण तदनुरूप एवं सरस हैं। संस्कृत और ब्रजभाषा की परस्पर प्रकृति-भिन्नता के कारण पूर्ण अनुवाद न हो सके लक्षणों में यदि कहीं पर कोई न्यूनता आ गयी है, तो उसकी पूर्ति उदाहरणों ने कर दी है।

भूषण : रीति-निरूपण में शृंगारिक उदाहरण देने की सामान्य प्रवृत्ति का तिरस् कर केवल वीररसपरक राजप्रशस्तियों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करनेवाले इस युग के आचा में भूषण का नाम सबसे पहले लिया जा सकता है। ये कानपुर के समीपवर्ती तिकवाँपुर स्थान के निवासी रत्नाकार त्रिपाठी के पुत्र थे तथा छत्रपति शिवाजी और उनके पौत्र शाहू छत्रसाल बुन्देला आदि अनेक राजाओं के आश्रय में रहे थे। कहते हैं कि चित्रकूट के राजा साह सोलंकी ने इन्हें 'भूषण' की उपाधि से सम्मानित किया और इस उपनाम से ये प्रसिद्ध हुए कि आज इनका वास्तविक नाम ही शोध का विषय बन गया है। शिवाजी आश्रय में इन्होंने 'शिवराजभूषण' (१६७३), 'शिवाबावनी' तथा अनेक स्फुट छन्दों की की। छत्रसाल की प्रशस्ति में इन्होंने 'छत्रसालदशक' की रचना की। एक जनश्रुति के पर कतिपय विद्वान् अब तक इन्हें चिन्तामणि, मतिराम और नीलकण्ठ नामक प्रसिद्ध के सहोदर-रूप में स्वीकार करते आ रहे हैं, किन्तु अधुनातन शोधों ने इसे भ्रामक सिद्ध दिया है। इसके साथ ही विद्वानों का एक अन्य वर्ग 'अलंकारप्रकाश' और 'छन्दोहृदयप्र के रचयिता मुरलीधर 'भूषण' नामक कवि को तथा इन्हें एक ही मानता है, किन्तु इस की पुष्टि के लिए अभी ठोस प्रमाणों की अपेक्षा है। कतिपय इतिहासकारों ने 'भूषण 'दूषण उल्लास' तथा 'भूषण हज़ारा' नामक इनके तीन ग्रन्थों का और उल्लेख किया है, आज इनमें से कोई भी उपलब्ध नहीं है।

'शिवराजभूषण' में १०५ अलंकारों का निरूपण हुआ है जिनमें ९९ अर्थालंकार, शब्दालंकार तथा शेष दो चित्र और संकर नामक अलंकार हैं। विवेचन-क्रम एवं लक्षणों देखने से प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार ने जयदेव के 'चन्द्रालोक' और मतिराम के 'ललित का ही आश्रय लिया है—अर्थालंकारों में कम-से-कम एक-चौथाई लक्षण ऐसे हैं, शब्दावली मतिराम के लक्षणों से ज्यों-की-त्यों मिलती है। उपमान-उपमेय, मालो भ्रान्तापह्नुति, छेकापह्नुति, निदर्शना, सम्भावना, उल्लास, तद्गुण आदि के लक्षण प्रमाण हैं। सहोक्ति, विचित्र, प्रत्यनीक, परिणाम, प्रतिवस्तूपमा आदि के लक्षण जयदेव लक्षणों के अनुवादमात्र ही नहीं रहे, 'शिवराजभूषण' में वर्णित प्रतीपोपमा, ललितो भाविक छवि और अनुमान नामक अलंकार ऐसे हैं जिनका विवेचन केवल 'चन्द्रालोक' में है—विरोध और विरोधाभास को पृथक् अलंकारों के रूप में भी चन्द्रालोककार की के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। शब्दालंकारों के विवेचन में चन्द्रालोककार तथा दर्पणकार का प्रभाव प्रतीत होता है। इन सभी अलंकारों के लक्षण दोहों में तथा

कवित्त, सवैया, छप्पय अथवा दोहा छन्द में दिये गये हैं। सभी उदाहरण महाराज शिवाजी की प्रशस्तिविषयक हैं। लक्षणों में सामान्य रूप से मतिराम आदि अन्य अलंकार-निरूपकों-जैसी स्वच्छता का अभाव है—भरती के शब्दों के कारण जहाँ इनमें कसावट नहीं आ पायी, वहीं संस्कृत-ग्रन्थों में प्रयुक्त सूक्ष्मताओं के निर्देशक शब्दों का पूरी तरह से निर्वाह नहीं हो पाया। फिर भी, कुल मिलाकर इन्हें भ्रष्ट नहीं कहा जा सकता। इनके उदाहरण अवश्य ही ऐसे हैं जो प्रायः लक्षणों के अनुरूप नहीं रहे—शिवाजी की प्रशस्तियों में कवित्व की रक्षा के प्रयत्न के कारण उन विशेषताओं का सन्निवेश नहीं हो पाया, जो एक अलंकार को दूसरे से पृथक् करती हैं अथवा अलंकार-विशेष के स्वरूप को खड़ा करती हैं।

आचार्य-कर्म में भूषण जितने असफल रहे हैं, कवि-कर्म में उतने ही अधिक सफल कहे जा सकते हैं। प्रशस्तिपरक काव्य की रचना करने के कारण शृंगारिक कवियों के समान इन्हें कल्पना की ऊँची उड़ान भरने का अवकाश न मिल सकने के कारण इनकी रचनाओं में एकदम नये बिम्बों का यद्यपि किसी सीमा तक अभाव रहा है, तथापि विषय के अनुरूप जिस ओजपूर्ण वाणी की अपेक्षा होती है, वह इनमें सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इसके निर्वाह के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, अरबी, फ़ारसी तथा ब्रजभाषा और क्षेत्रीय बोलियों के ओजपूर्ण शब्दों की योजना ही इन्होंने नहीं की, यथावश्यकता शब्दावली को तोड़-मरोड़कर विकृत करने में भी इन्होंने संकोच नहीं किया। कहना न होगा कि वाणी के ओज पर पूर्ण दृष्टि रहने के कारण सामान्य रूप से ये उन तत्त्वों का सन्निवेश नहीं कर पाये जिनसे वीर रस का परिपाक होता है—कर्म के प्रति आश्रय की ललक तथा अभीष्ट-सिद्धि के लिए व्यापार-शृंखला में उसकी उत्तरोत्तर आनन्द-प्राप्ति की व्यंजना का अभाव इनकी अनुभाव-योजना को शिथिल कर रस-परिपाक को निर्बल कर गया है। साथ में इनके द्वारा आश्रय के गुणों का अत्यधिक संकीर्तन तथा उसके आतंक का विविध रूपों में वर्णन उत्साह के स्थान पर राजविषयक रति को अधिक व्यंजित करता है। फिर भी, इनकी वाणी का ओज अपने आप में ऐसा है कि ये अभाव उसके भीतर दब जाते हैं और सहृदय पाठक आनन्दविभोर होकर वीररसजनित स्फूर्ति का अनुभव करता है। उदाहरणस्वरूप यह कवित्त द्रष्टव्य है :

इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाह पर राम द्विजराज है॥
दावा द्रुमदण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर
'भूषन' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥

पद्माकर : अलंकार-निरूपण में संक्षेप और सरसता का निर्वाह करनेवाले इस काल के रीतिकवियों में पद्माकर का नाम बिना किसी संकोच के लिया जा सकता है। इन्होंने 'पद्माभरण' (१८१० ई० के लगभग रचित) में क्रमशः अलंकार-रीति, उपमा से हेतु तक १०० मुख्य अर्थालंकारों, रसवदादि, भावोदयादि तथा प्रमाणादि १५ अलंकारों तथा संसृष्टि और संकर के लक्षण-उदाहरण दिये हैं। अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, ऐतिह्य और सम्भव—इन चार अलंकारों को छोड़ सबके लिए दोहे का प्रयोग किया गया है। इन चारों के लक्षण चौपाई में तथा उदाहरण दोहा अथवा चौपाई में दिये गये हैं। संकर और संसृष्टि के लक्षण ग्रन्थकार

द्वारा रचित हैं तथा इनके उदाहरणों में ६ दोहे बैंरीसाल के 'भाषाभरण' के और
बिहारी की 'सतसई' के हैं—केवल एक दोहा इनका अपना है। ग्रन्थकार के अपने
अनुसार विवेचन का आधार यद्यपि 'भाषाभरण' ही रहा है, तथापि अलंकारों के
कतिपय लक्षणों को देखकर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है कि इनके सामने 'कुवलयानन्द'
'भाषाभूषण' भी अवश्य रहे हैं। अलंकार-रीति के प्रसंग में यद्यपि अलंकार के तीन
शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकार—की चर्चा की गयी है, तथापि ग्रन्थ के
कहीं भी शब्दालंकारों को विवेचन का विषय नहीं बनाया गया। विवेचन की दृष्टि
ग्रन्थ अपने आप में अत्यन्त सुबोध कहा जा सकता है—लक्षणों की स्पष्टता तथा
की सरसता एवं तदनुरूपता ने ही ग्रन्थकार को अपने कर्म में सफलता प्रदान की है। यदि
बात खटकती है तो यही कि रसवादी होकर इन्होंने रसवदादि को अलंकार-रूप में क्यों
किया तथा अनुप्रास और यमक-प्रिय होते हुए भी शब्दालंकारों—विशेपतः इन दोनों
—का निरूपण क्यों नहीं किया !

अलंकार-विवेचक अन्य रीतिकवि : आलोच्य काल के अलंकार-विवेचकों में
से गोप, रसिक सुमति, रघुनाथ, दूलह, रसरूप, सेवादास और गिरिधरदास भी
हैं। गोप (१७१६ ई० के आसपास विद्यमान) दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे तथा इनके पूर्वज
में आकर बसे थे। इनके पिता यदुनाथ भगवद्भक्त कवि थे तथा उन्होंने 'रसविलास'
ग्रन्थ की रचना की थी। ओड़छा-नरेश महाराज पृथ्वीसिंह इनके आश्रयदाता थे। 'रामा
'रामचन्द्रभूषण' तथा 'रामचन्द्राभरण' नामक तीन अलंकार-निरूपण-विषयक ग्रन्थ इनके
रचे हुए बताये जाते हैं। इनमें से आज केवल 'रामचन्द्राभरण' ही उपलब्ध है।[1] इसमें
लक्षण प्रायः दोहों में हैं तथा उदारहण कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा, छप्पय आदि
छन्दों में। उदाहरणों का वर्ण्य विषय केवल भगवान् राम का चरित्र है। अर्थालं
कुवलयानन्दकार द्वारा निरूपित उपमा से हेतु तक के १०० अलंकारों में से ९३ का
किया गया है—व्याजनिन्दा, विषम, सम, अल्प, अतद्गुण, विवृतोक्ति और युक्ति इन
अलंकारों को छोड़ दिया गया है। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास के छेक, वृत्ति और
नामक भेदों तथा यमक का विवेचन किया गया है। यद्यपि अलंकारों का क्रम वही
'कुवलयानन्द' में मिलता है, तथापि लक्षणों के लिए ग्रन्थकार इसका पूर्णतः ऋणी नहीं
'चन्द्रालोक', 'साहित्यदर्पण', 'भाषाभूषण', 'ललितललाम' आदि से भी सहायता ली
विवेचन अपने आप में स्पष्ट एवं व्यवस्थित है—लक्षण और उदाहरण सामान्यतः
के अनुरूप हैं। इसमें जाति, क्रिया और द्रव्य के आधार पर स्वभावोक्ति के चार
परिकल्पना यह संकेत करती है कि ग्रन्थकार ने विषय पर मौलिक चिन्तन करने का
किया है। कवित्व की दृष्टि से उदाहरणों में भक्त कवियों-जैसी तमन्यता तो नहीं है, पर
कवियों का शिल्प उनमें सहज ही देखा जा सकता है।

'भाषाभूषण' की संक्षेप-शैली के अलंकार-निरूपकों में रसिक सुमति का विशेष
है। इनके एकमात्र ग्रन्थ 'अलंकार-चन्द्रोदय' (१७२९) में लक्षण-उदाहरण के क्रम से
दोहों में अर्थालंकारों का तथा ७ दोहों में शब्दालंकारों का विवेचन हुआ है। शब्दालं

---

[1] 'रामालंकार' का उल्लेख मिश्रबन्धुओं ने किया है, किन्तु उसका विवरण नहीं दिया। 'रामचन्द्र
डॉ० भगीरथ मिश्र ने दतिया के राज-पुस्तकालय में देखा था। उन्होंने इसका जो संक्षिप्त विवरण
है, उसके आधार पर कहा जा सकता है कि इसमें दोहों में लक्षण-उदाहरण-शैली में विवेचन किया
है तथा इसके समस्त लक्षण एवं कतिपय उदाहरण वही हैं जो 'रामचन्द्राभरण' में आये हैं।

नुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट—इन तीनों भेदों की ही चर्चा है। विवेचन का आधार के अपने शब्दों में यद्यपि 'कुवलयानन्द' ही है, तथापि शब्दालंकारों के अतिरिक्त इतर अलंकारों के विवेचन के लिए 'चन्द्रालोक' और 'भाषाभूषण' की भी सहायता ली गयी है। इनके विवेचन की मुख्य विशेषता यह है कि प्रत्येक अलंकार अथवा उसके भेद के लिए लक्षण-उदाहरण स्वतन्त्र दोहे में दिये हैं—'भाषाभूषण' के समान उपभेदों के एकसाथ लक्षण और र क्रमशः एकसाथ उदाहरण नहीं दिये गये। 'कुवलयानन्द' का आश्रय लेते हुए भी अलंकारों का चयन तथा उनका वर्णन-क्रम ग्रन्थकार का अपना रहा है। इसीलिए अप्पय दीक्षित द्वारा वर्णित न होते हुए भी रशनोपमा और मालोपमा को इन्होंने ग्रहण कर लिया है। ग्रन्थ की भाषा सरल और सरस है तथा विवेचन स्वच्छ एवं सुबोध है। निश्चय ही रसिक सुमति अपने रीति-निरूपण में जसवन्तसिंह की टक्कर के आचार्य हैं।

अलंकार-निरूपण में प्रौढ़ता और कवित्व का निर्वाह करनेवाले रीतिकवियों में रघुनाथ बन्दीजन का भी विशेष स्थान है। ये काशी-नरेश महाराज वरिवण्डसिंह के दरबार में रहते । इनके द्वारा रचित तीन रीतिग्रन्थ—रसिकमोहन (१७३९), काव्यकलाधर (१७४५) और जगतमोहन (१७५०) उपलब्ध होते हैं। 'रसिकमोहन' के अन्तर्गत अलंकार-निरूपण हुआ है तथा 'काव्यकलाधर' में रस और नायक-नायिका-भेद का विवेचन है। 'जगतमोहन' में देव के 'अष्टयाम' के समान नायक कृष्ण की दिनचर्या का वर्णन है। इनके अतिरिक्त 'इश्क-महोत्सव' नामक इनका एक और ग्रन्थ है। इसमें रीतिमुक्त कवियों के समान प्रेम और उसके माहात्म्य पर सरल रचनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। 'रसिकमोहन' में अलंकारों के विवेचन का क्रम लगभग वही है जो 'कुवलयानन्द' में देखने को मिलता है; लक्षण भी सामान्य रूप से 'कुवलयानन्द' के छायानुवाद कहे जा सकते हैं। विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनके उदाहरण सरस ही नहीं है, उसके सम्पूर्ण कलेवर के भीतर तत्सम्बन्धी अलंकार व्याप्त रहा है—इतर रीतिकारों के समान विशिष्ट चरणों में उसकी व्याप्ति दिखाकर उदाहरण को पूर्ण नहीं समझ लिया गया। कहीं-कहीं ब्रजभाषा-गद्य में टीका देकर भी अपनी बात को समझाने का सफल प्रयत्न किया गया है। क्या शृंगारिक और क्या राजप्रशस्ति अथवा भक्ति-विषयक रचनाएँ—सर्वत्र इन्होंने अपने सहृदय कवि होने का परिचय दिया है।

रीति-निरूपण की संक्षेप-शैली में नवीन प्रयोग करने के कारण दूलह का नाम इस काल के अलंकार-निरूपकों में भाषाभूषणकार के समान ही आदरपूर्वक लिया जाता है। ये प्रसिद्ध कवि कालिदास त्रिपाठी के पौत्र तथा रस-चन्द्रोदयकार उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनकी रचनाओं में आज 'कविकुलकण्ठाभरण' नामक अलंकार-ग्रन्थ तथा कतिपय स्फुट छन्द ही उपलब्ध होते हैं। इनका कविता-काल १७४३-१७६८ ई० के बीच माना जाता है। 'कविकुलकण्ठाभरण' में कुल मिलाकर ८५ छन्द हैं, जिनमें ११५ अलंकारों का निरूपण हुआ है। ग्रन्थकार ने 'चन्द्रालोक' और 'कुवलयानन्द' का ऋण स्वीकार करते हुए शब्दालंकारों को छोड़ अलंकारों को ग्रहण क़िया है उनके नाम और विवेचन का क्रम वही है जो 'कुवलयानन्द' में देखने को मिलता है—उपमा से हेतु तक १०० मुख्य अलंकारों के साथ क्रमशः रसवदादि, ३ भावोदयादि तथा ८ प्रत्यक्ष, अनुमानादि। विवेचन में संक्षेप का अर्थ दोहे-जैसे छोटे छन्द का प्रयोग न लेकर संक्षेप-कथन को लिया गया है; यही कारण है कि कवित्त और सवैया-जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग करते हुए संक्षिप्त लक्षण-उदाहरण देकर जहाँ तक भी सका है भरती के शब्दों को बचाने का प्रयत्न किया गया है। उदाहरण सामान्य रूप से तत्सम्बन्धी लक्षणों के साथ ही आये हैं, तथापि कतिपय स्थल ऐसे भी हैं जहाँ अनेक अलंकारों

अथवा एक के अनेक भेदों से सम्बद्ध उदाहरण 'भाषाभूषण' के समान पूर्वोक्त विशेषता के क्रम में दिये गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अत्यधिक संक्षिप्तता के ग्रन्थ अपने आप में नीरस हो गया है; तथापि स्पष्टता एवं सुबोधता की दृष्टि से शैली के ग्रन्थों में अन्यतम कहा जा सकता है।

रसरूप का 'तुलसीभूषण' (१७५४) अलंकार-निरूपण सम्बन्धी छोटा-सा १११ अलंकारों के लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। लक्षण दोहों में ग्रन्थकार हैं और उदाहरण सामान्यतः तुलसी-कृत 'रामचरितमानस', 'गीतावली' और से छाँटकर दिये गये हैं। लक्षणों का मूल आधार 'काव्यप्रकाश', 'चन्द्रालोक', 'कल्पलता' और 'चन्द्रोदय' नामक ग्रन्थ रहे हैं। इनमें शब्दालंकारों के लिए मुख्य का आश्रय लिया गया प्रतीत होता है और अर्थालंकारों के लिए शेष ग्रन्थों को गया है। विवेच्य अलंकारों में शब्दालंकार पहले आये हैं और अर्थालंकार अकारादि में। शब्दालंकारों में क्रमशः अनुप्रास, वक्रोक्ति, यमक, श्लेष, चित्र और पुनरुक्त वर्णन किया गया है—अनुप्रास के वृत्ति, छेक और लाट नामक प्रसिद्ध भेद ही बताये वृत्त्यनुप्रास के प्रसंग में तीनों वृत्तियों का परिचय भी दे दिया गया है। विवेचन व्यापक आधार, उनकी स्वच्छता और सुबोधता को देखकर उनके रचयिता के प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

रीतिकाल के अन्तर्गत काव्यांग-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति केवल राजाश्रित में ही नहीं थी, वैष्णव भक्त भी उससे नहीं बच सके थे, यह **सेवादास** की रचनाओं कर सहज ही कहा जा सकता है। ये अलबेले लाल जू के शिष्य थे तथा इन्होंने 'अलबेले लाल जू को नखशिख', 'अलबेले लाल जू को छप्पय' आदि भक्तिपरक ग्रन्थों रिक्त 'रसदर्पण' और 'रघुनाथ-अलंकार' नामक रीतिग्रन्थ भी लिखे थे। 'रसदर्पण' 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' के आधार पर शृंगार रस और नायक-नायिका रूप से तथा अन्य रसों का सामान्य रूप से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ के हरण सीता, राम, राधा तथा कृष्ण सम्बन्धी हैं—नायिकाभेद के प्रसंग में सीता तथा राधा को परकीया नायिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'रघुनाथ-अलंकार' में ७० अर्थालंकारों का विवेचन हुआ है। ग्रन्थकार के अनुसार उसके अलंकार आधार केवल 'कुवलयानन्द' तथा 'चन्द्रालोक' हैं, किन्तु लक्षणों को देखकर ऐसा होता कि उन पर इनका किसी प्रकार का प्रभाव है—अलंकारों का क्रम तक है। लुप्तोपमा के सातों भेदों का मनोयोगपूर्वक वर्णन करना; प्रतीप, तुल्ययोगिता, विभावना और असंगति-जैसे महत्त्वपूर्ण अलंकारों के भेदों की चर्चा न कर उनका चन करना तथा दृष्टान्त, स्वभावोक्ति, विरोधाभास और समासोक्ति-जैसे महत्त्वपूर्ण को छोड़कर अधिक, अल्प, संभावन जैसे सामान्य अलंकारों को विवेचन में स्थान प्रकट करता है कि विवेच्य अलंकारों के चयन के मूल में कोई तर्क नहीं है। रूप से भगवान् राम को तथा कहीं-कहीं हनुमान को इष्ट के रूप में ग्रहण किया कवित्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ साधारण ही कहा जाना चाहिए—इसमें न तो कवियों-जैसी तन्मयता दृष्टिगत होती है और न रीतिकालीन कवियों-जैसे सधे निर्वाह हो पाया है।

गिरिधरदास के 'भारतीभूषण' (१८३३) में १०४ अलंकारों का निरूपण वदादि पंचदश अलंकारों को इसमें ग्रहण नहीं किया गया। उपमा से लेकर

अलंकारों का विवेचन-क्रम तथा उनके लक्षण 'कुवलयानन्द' के आधार पर हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि मालोपमा तथा रशनोपमा के लक्षण 'साहित्यदर्पण' के आधार पर और जोड़ दिये गये हैं तथा स्मरण, भ्रम और सन्देह के लक्षण 'लच्छनलच्छित नाम' कहकर दिये नहीं गये। शब्दालंकारों में केवल अनुप्रास और यमक का विवेचन किया गया है। इनका आधार भी 'साहित्यदर्पण' रहा है। कुल मिलाकर स्वच्छ एवं स्पष्ट लक्षणों तथा तदनुरूप सरस उदाहरणों के कारण यह ग्रन्थ पर्याप्त उपयोगी बन पड़ा है।

छन्दोनिरूपक रीतिकवि

इस वर्ग के कवियों की संख्या यद्यपि सर्वांग-विवेचकों के समान सीमित ही है, तथापि विषय-विवेचन सम्बन्धी गुणों की दृष्टि से इनमें कोई भी ऐसा नहीं जिसका प्रयास किसी प्रकार से हीन अथवा असफल कहा जा सके—प्रत्येक ने छन्द का सामान्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक पाठक की सीमाओं को दृष्टि में रखते हुए सुबोधता एवं स्पष्टता का ध्यान ही नहीं रखा; छन्दःशास्त्र के नियमों का पूर्णतः पालन कर विषय की प्राविधिकता का विशेष ध्यान रखा है। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि 'प्राकृतपैंगलम्' और भट्ट केदार के 'वृत्तरत्नाकर' से प्रभावित होते हुए भी विवेचन की व्यवस्था और शैली सबकी अपनी रही है—दोहादि छन्दों में छन्द-विशेष का पूरा लक्षण और तदनुरूप उदाहरण की पद्धति ही सबमें प्रचलित रही है; आवश्यकता पड़ने पर कतिपय ने ब्रजभाषा-गद्य की वृत्ति का उपयोग भी कर लिया है। इन कवियों द्वारा प्रसिद्ध छन्दों के निरूपण के अतिरिक्त नवीन छन्दों का आविष्कार किया जाना हिन्दी-छन्दःशास्त्र के लिए विशेष योगदान रहा है। यद्यपि प्रस्तार-रीति की वैज्ञानिक पद्धति के कारण किसी भी छन्द की अपूर्वता का दावा नहीं किया जा सकता, तथापि यति और लय की व्यवस्था तो इनकी अपनी है ही। एक-दो कवियों को छोड़कर प्रायः सबने उदाहरण राजप्रशस्तिपरक ही दिये हैं। क्योंकि इनमें छन्द का निर्वाह प्रधान रहा है, इसलिए कवित्व के निर्वाह का विशेष ध्यान नहीं रखा गया। कदाचित् यही कारण है कि इनमें न तो इतर काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में दिये गये इस विषय के छन्दों-जैसे आकर्षक एवं वैविध्यपूर्ण बिम्बों की योजना ही हो पायी है और न अभिव्यक्ति भी तदनुरूप आकर्षक हो सकी है। यहाँ इस वर्ग के कतिपय प्रसिद्ध कवियों का परिचय दिया जा रहा है।

मुरलीधर 'भूषण' : रीतिकाल के अन्तर्गत विस्तृत एवं व्यवस्थित छन्दोविवेचन करनेवाले आचार्यों में मुरलीधर 'भूषण' सम्भवतः सबसे पहले व्यक्ति हैं। इनके एतद्विषयक ग्रन्थ का नाम 'छन्दोहृदयप्रकाश' (१६६६) है। इसकी रचना इन्होंने मार्तण्डगढ़ के पौलस्त्यवंशी महाराज हृदयनारायण देव के आश्रय में की थी। इनका 'अलंकारप्रकाश' (१६४८) नामक एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है जिसमें दोष, अलंकार, रस और शब्द-शक्ति का विवेचन किया गया है। इनके पिता का नाम रामेश्वर त्रिपाठी था तथा चँदेरी के राजा देवीसिंह ने इन्हें 'कविभूषण' की उपाधि से विभूषित किया था। ये प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ही हैं अथवा इनसे भिन्न, यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता; जो प्रमाण पक्ष अथवा विपक्ष में दिये जाते हैं, उनकी पूरी छानबीन अभी अपेक्षित है।

'छन्दोहृदयप्रकाश' में तेरह प्रकरण हैं, जिन्हें 'उल्लास' संज्ञा दी गयी है। इनमें प्रथम के अन्तर्गत मंगलाचरण और आश्रयदाता के वंश-परिचय के बाद द्वितीय से विवेचन आरम्भ किया है। द्वितीय और तृतीय उल्लासों में क्रमशः वर्णिक और मात्रिक गणों के स्वरूप

तथा उनके फलादि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। चतुर्थ में १ से २६ अक्षरों २०० समवर्णिक छन्दों का, पंचम में १० अर्द्धसमवर्णिक छन्दों का तथा षष्ठ में ३ वि छन्दों का निरूपण किया गया है। सप्तम उल्लास के अन्तर्गत मात्रिक छन्दों के लक्षण भेदों का उल्लेख है, जिनमें से ५६ छन्दों का लक्षण-उदाहरण-सहित निरूपण किया ये सम, अर्द्धसम और विषम—तीनों ही प्रकार के हैं। अष्टम और नवम उल्लासों में वर्ण और मात्रा-प्रस्तार-रीति का संक्षिप्त परिचय है और दशम में छन्दों की विभिन्न का विवरण दिया गया है। एकादश उल्लास में सात्तूर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी प्रसिद्ध दण्डकों का मुक्तक छन्दों के नाम से तथा द्वादश में अन्य १३ दण्डकों का दिया गया है। अन्तिम उल्लास में 'गद्य-विवरण' शीर्षक से पूर्णंक, उत्कलिकाप्राय और गन्ध नामक गद्य के तीन भेदों का परिचय दिया गया है। इस विवेचन का आधार पैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर', पिंगल का 'छन्दःशास्त्र' आदि ग्रन्थ रहे हैं। विवेचन की विशेषता यह है कि विभिन्न जातियों के वर्णिक छन्दों की संख्याओं के कथन के साथ मात्रिक छन्दों के विभिन्न भेदों का उल्लेख भी किया गया है। दूसरे, संस्कृत-शैली पर छन्द का लक्षण भी उसका उदाहरण रहा है। लक्षण-उदाहरण अपने आप में स्वच्छ हैं। उदाहरण सामान्य रूप से आश्रयदाता की प्रशस्तियों से सम्बद्ध हैं। इनमें अनेक पूर्ण भी हैं।

सुखदेव मिश्र : मुरलीधर 'भूषण' के बाद इस काल के दूसरे महत्त्वपूर्ण छन्दों आचार्य सुखदेव मिश्र हैं। इनके 'वृत्तविचार' और 'छन्दोविचार' नामक दो ग्रन्थ हैं जिनमें से प्रथम ही उपलब्ध है। इसकी रचना १६७१ ई० में महाराज रामसिंह के में हुई। यह चार परिच्छेदों में विभक्त है, जिनमें से प्रथम के अन्तर्गत मंगलाचरण तथा और उनके आश्रयदाता का परिचय है। द्वितीय में छन्द के सामान्य नियमों अर्थात् गुरु-लघु गण, प्रत्यय आदि का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तृतीय परिच्छेद में अक्षरों तक के वर्णिक छन्दों का विवेचन है। इसमें ग्रन्थकार ने उक्ता, अत्युक्ता, आदि जातियों तथा उनके अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न छन्दों का उल्लेख करते हुए केवल छन्दों का निरूपण किया है। अर्द्धसम और विषम मात्रिक छन्दों की भी चर्चा की किन्तु उनका निरूपण नहीं किया गया। तृतीय परिच्छेद में वर्णिक दण्डकों का विवेचन है। अन्तिम परिच्छेद में मात्रिक गणों, मात्रिक प्रत्ययों और उनके दोषों तथा सम, अर्द्धसम, और विषम मात्रिक छन्दों का मनोयोगपूर्वक विवेचन हुआ है—दोहे के वर्णन भी किया गया है। ग्रन्थ की परीक्षा करने पर यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है पर 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वृत्तरत्नाकर' का प्रभाव है। विवेचन की दृष्टि से यह यद्यपि सुबोध है, तथापि इसमें विवेचन-शैली की अनेकरूपता के कारण यथोचित व्यवस्था पायी—कहीं तो लक्षण दोहा आदि छन्दों में दिये गये हैं और कहीं सूत्र-शैली से काम गया है। कदाचित् इसीलिए एक जाति का छन्द दूसरी जाति के छन्दों के विवेचन पा गया है। किन्तु, ये दोष अपने आप में बहुत अधिक नहीं हैं। कुल मिलाकर पाण्डित्यपूर्ण कहा जा सकता है।

मतिराम : मुरलीधर 'भूषण' और सुखदेव मिश्र की कोटि के तीसरे गम्भीर विवेचक आचार्य मतिराम हैं। इनका छन्दोविवेचन सम्बन्धी ग्रन्थ 'छन्दसारसंग्रह' अथवा कौमुदी (१७०१) है। कतिपय विद्वान् इसे किन्हीं परवर्ती मतिराम की कृति किन्तु यह भ्रामक है। 'वृत्तकौमुदी' पाँच अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'प्रकाश' संज्ञा दी

इनमें क्रमशः गण, वर्णिक छन्द, मात्रिक छन्द, प्रत्यय और दण्डकों का विवेचन किया गया गणों के प्रसंग में एक ओर वर्णिक गणों के स्वरूप, क्रम, देवता, फल, ग्रह, गुण, पिता, रंग, देश, पुरुषार्थ, दिशामुख, वाहन, तेज, जाति और प्रकृति का सविस्तर वर्णन किया है और दूसरी ओर देवनागरी वर्णमाला में प्रत्येक वर्ण के शुभाशुभ फल, लिंगभेद इत्यादि था मात्रिक गणों का संक्षिप्त परिचय है। वर्णिक छन्दों में १ से लेकर २६ अक्षरों तक १४७ छन्दों का वर्णन है। मात्रिक छन्दों में कुल मिलाकर ५५ छन्दों का वर्णन है, जिनमें ३२ मात्राओं तक के ३५ सममात्रिक और शेष अर्द्धसम, विषम और दण्डक हैं। दण्डक में अनंखगशेर, घनाक्षरी और रूपघनाक्षरी नामक प्रसिद्ध दण्डकों का वर्णन किया गया प्रत्ययों के प्रसंग में प्रत्यय के समस्त भेदों का वर्णन मात्रा और वर्ण—दोनों की दृष्टि से क्-पृथक् किया गया है। रीतिकाल के अन्य छन्दोनिरूपकों के समान इनका आधार भी पि 'प्राकृतपैंगलम्' तथा 'वृत्तरत्नाकर' का ही है तथापि इनके साथ इनकी टीकाओं एवं र ग्रन्थों का आश्रय भी लिया गया है। विषय-विवेचन सुबोध एवं स्वच्छ है—'अरिल्ल' ायक लक्षण को छोड़कर सभी लक्षण-उदाहरण शास्त्रीय एवं स्पष्ट हैं। इस विवेचन की बड़ी विशेषता यह रही है कि विवेचन-प्रसंग में मूल आधार-ग्रन्थों का उलेख भी यथा- न किया गया है। उदाहरण सामान्यतः बुन्देलखण्ड-स्थित श्रीनगर के महाराज स्वरूपसिंह प्रशस्ति सम्बन्धी हैं। ग्रन्थकार को जिन छन्दों में कवित्व-प्रदर्शन के लिए अवकाश मिला वहाँ उसका पूर्ण निर्वाह किया गया है।

रामसहाय : छन्दोनिरूपण के क्षेत्र में रामसहाय इस युग के सबसे प्रौढ़ आचार्य कहे सकते हैं। इनका 'वृत्ततरंगिणी' (१८१६) नामक ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से इस युग की त्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त इनके 'शृंगार सतसई' तथा 'वाणीभूषण' नामक दो थ और उपलब्ध होते हैं—'सतसई' 'बिहारी-सतसई' के अनुकरण पर है और 'वाणीभूषण' अलंकार-विवेचन प्रस्तुत किया गया है। ये काशी के महाराज उदितनारायणसिंह के आश्रय रहते थे। 'वृत्ततरंगिणी' शास्त्रीय ढंग से चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें 'तरंग' संज्ञा गयी है। प्रथम तरंग में लघु-गुरु विषयक नियमों तथा गणों और उनके देवता, योग, ादि के कथन के अतिरिक्त प्रत्यय आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय तरंग १ से ३२ मात्राओं की विभिन्न जातियों के छन्दों की सूची देते हुए उनमें से कतिपय का रूपण किया गया है। ग्रन्थकार ने सम, अर्द्धसम और विषम—इन तीन वर्गों में मात्रिक छन्दों को विभक्त करते हुए सममात्रिक छन्दों की संख्या बानवे लाख सत्ताईस हज़ार चार सौ रेसठ बतायी है। यहीं पर मात्रिक दण्डकों का भी विवेचन किया गया है। तृतीय तरंग में स्कृत-आचार्यों के समान उक्तादि जातियों में प्रत्येक के छन्दों की संख्या बताते हुए उनमें से क समवर्णिक छन्दों के साथ कतिपय अर्द्धसम वृत्तों तथा दण्डकों का विवेचन भी किया गया है। चतुर्थ तरंग में तुक का विवचन वैज्ञानिक ढंग से करते हुए उसके अनेक भेदों का परिचय दिया गया है। ग्रन्थ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्', 'वृत्तरत्नाकर' आदि के अतिरिक्त हिन्दी के भी छन्दोनिरूपण विषयक ग्रन्थ रहे हैं। विवेचन-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रौढ़ कहा जा सकता है। इसमें लक्षण दोहों से ही नहीं दिये गये, कहीं-कहीं सूत्र-पद्धति और -शैली को भी अपनाया गया है। इसके अतिरिक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए ब्रजभाषा-गद्य का उपयोग भी किया गया है। दूसरे, इसमें उदाहरण ग्रन्थकार के स्वरचित तो हैं ही, हिन्दी-संस्कृत-कवियों की रचनाओं को भी यथास्थान उद्धृत किया गया है। सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि एक उदाहरण देकर विवेचन को चलता नहीं कर दिया गया—प्रत्येक

विषय के लिए अधिक-से-अधिक उदाहरण देने का प्रयत्न किया गया है। ग्रन्थकार रचित उदाहरण सामान्यतः शृंगारिक हैं और अपने आप में सरस कहे जा सकते हैं। नवीन छन्दों की इसमें उद्भावना की गयी है, वे ये हैं—

मात्रिक : माधुर्य, कलकण्ठ, इन्दिरा और नागर।
वर्णिक : ७ वर्ण—कलिन्दजा, पंचवर्ग, मृगाक्षी, ललित ललाम।
९ वर्ण—नवल, जमाल, मैत, धृति, सुखकन्द।
१० वर्ण—नागरी, मधु, वानिनि, कपटी।
१३ वर्ण—दीप्ति, मेनका, रति।
१४ वर्ण—रंभामाला, केदार, दामिनी, खीनुकान्ता, चोलपी, तार।

अन्य छन्दोनिरूपक कवि : इस काल के अन्य महत्त्वपूर्ण छन्दोनिरूपक आचार्य और दशरथ हैं। माखन ने 'श्रीनागपिंगल अथवा छन्दविलास' (१७०२) के अतिरिक्त चिन्तामणि', 'रामप्रताप', 'जैमिनी अश्वमेध' 'खूब तमाशा', 'सुदामाचरित' तथा 'विनोद नामक ग्रन्थों की भी रचना की थी, जिनमें से अन्तिम दो उपलब्ध नहीं हैं। 'श्रीनागपिंगल छन्दविलास' तीन प्रकरणों में विभक्त है। प्रथम प्रकरण के अन्तर्गत लघु-गुरु सम्बन्धी वर्णिक और मात्रिक गणों तथा उनके देवता, फल और विभिन्न नामों के अतिरिक्त छन्द में व्यवहृत संख्याओं के द्योतक विशिष्ट शब्दों का उल्लेख किया गया है। द्वितीय प्रक छप्पय और उसके ७१ भेदों का सविस्तर विवेचन-विश्लेषण है तथा तृतीय में सम, और विषम मात्रिक छन्दों का विवेचन किया गया है। प्रस्तार-रीति आदि गूढ़ विष इसमें स्पर्श नहीं किया गया है। उदाहरण प्रायः सरस हैं तथा आश्रयदाताओं की प्रशं अतिरिक्त कृष्णलीलाओं से भी सम्बद्ध हैं। कुम्भक, हरिमालिका, मदनमोहन, सुरस, तरल सदागति, सुबल, प्रवाह और गन्धार नामक मात्रिक छन्दों का निरूपण सर्वप्रथम इन्हों किया है। अतएव ये इनकी उद्भावना कहे जा सकते हैं। इस ग्रन्थ में विवेचन का आ मुख्य रूप से 'प्राकृतपैंगलम्' रहा है।

माखन के समान नवीन छन्दों के उद्भावक आचार्यों में दशरथ का नाम भी जा सकता है। इनका ग्रन्थ 'वृत्तविचार' (१७९९) चार अध्यायों में विभक्त है, जिन्हें संज्ञा दी गयी है। प्रथम विचार के अन्तर्गत लघु-गुरु सम्बन्धी सामान्य नियमों, वर्णिक तथा प्रस्तार-रीति के परिचय के अतिरिक्त मात्रावृत्त, वर्णवृत्त और उभयवृत्त नाम से के तीन वर्गों का उल्लेख किया गया है—सम, अर्द्धसम और विषम नामक वर्गों की भी रूप में चर्चा नहीं की गयी है। द्वितीय विचार में वर्णिक छन्दों का तथा तृतीय में गणों का परिचय तथा मात्रिक छन्दों का विवेचन किया गया है। गाहा, विग्गाहा आदि छन्दों का निरूपण यहाँ पर विषमपद छन्दों के रूप में किया गया है। चतुर्थ विचार शीर्षक यद्यपि 'वर्णवृत्तानि' दिया गया है, तथापि इसमें केवल घनाक्षरी और श्लोक (अनुष्टु का ही विवेचन हुआ है। ग्रन्थ का आधार 'प्राकृतपैंगलम्' और 'वृत्तरत्नाकर' प्रतीत होते विवेचन साधारण कोटि का है, तथापि ग्रन्थकार को कतिपय वर्णिक छन्दों (महीप, दामिनी, सुभग, नग, लगन, गगन, छगन, अगन, मणिहारबन्द, संवत, कुशल, सुधा, हरिहर, मतंग) और मद, सैनिक, मुक्तावली, सुमन और अह्व नामक मात्रिक छन्दों की भावना का श्रेय दिया जा सकता है।

रीतिबद्ध काव्य

कालीन कविता के प्रसंग में विद्वानों ने तीन प्रकार के काव्य का विवरण दिया है—एक बद्ध, दूसरा रीतिसिद्ध और तीसरा रीतिमुक्त। 'रीतिमुक्त' के सम्बन्ध में कोई मतभेद है, परन्तु 'रीतिबद्ध' शब्द के विषय में मतभेद प्राप्त होता है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद के अनुसार 'रीतिबद्ध' रचना लक्षणों और उदाहरणों से युक्त होती है, परन्तु डॉ० नगेन्द्र प्रकार की रचनाओं को रीतिबद्ध कहने के पक्ष में नहीं हैं। ऐसे कवियों को वे रीतिकार आचार्य कवि मानते हैं। रीतिकार आचार्य कवि उनके मत से वे कवि हैं, जिन्होंनें काव्य-य की शिक्षा देने के लिए रीतिग्रन्थों का प्रणयन किया। उनका प्रमुख उद्देश्य या तो य की शिक्षा देना है या किसी काव्यशास्त्रीय विषय का सोदाहरण प्रतिपादन करना। की दृष्टि में रीतिबद्ध कवि वे हैं, जिन्होंने रीतिग्रन्थों की रचना न करके काव्य-सिद्धान्तों नियमों के अनुसार काव्य-रचना की है। अलंकार, रस, नायिकाभेद, ध्वनि आदि उनके ध्यान रहे हैं, परन्तु उनका प्रत्यक्षत: निरूपण इन कवियों ने नहीं किया; वरन् उनके अनुसार ष्ट काव्य का सृजन किया है। ऐसी दशा में मूलतः वे कवि हैं, आचार्य नहीं। इसलिए रीतिबद्ध कवि मानना चाहिए। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ऐसे कवियों को 'रीति-द्ध कवि' कहते हैं। अतः इस प्रसंग में यहाँ आचार्य विश्वनाथप्रसाद जी के अनुसार जो तिसिद्ध कवि हैं, तथा डॉ० नगेन्द्र के अनुसार जो रीतिबद्ध कवि हैं, उन्हीं का विवेचनात्मक रूप रीतिबद्ध कवियों के अन्तर्गत दिया जा रहा है।

'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, षष्ठ भाग' में रीतिबद्ध कवियों के प्रसंग में निम्न-लित कवियों को सम्मिलित किया गया है—१. बिहारी, २. बेनी, ३. कृष्ण कवि, ४. रस-नि, ५. नृपशम्भु, ६. नेवाज, ७. हठी जी, ८. रामसहायदास, ९. पजनेस, १०. द्विजदेव कवियों के अतिरिक्त इस परम्परा में सेनापति, वृन्द तथा विक्रम को और सम्मिलित ना आवश्यक है, क्योंकि ये कवि भी उसी परम्परा के हैं।

सेनापति : कविवर सेनापति की जीवनी के सम्बन्ध में अधिक सामग्री नहीं मिलती। कुछ भी सूचना ज्ञात है, वह इनकी रचना के आधार पर ही है। सेनापति ने अपने ग्रन्थ वित्त रत्नाकर' में अपना परिचय दिया है, जो इस प्रकार है :

दीक्षित परसराम दादौ है विदित नाम,
जिन कीने जज्ञ जा की जग मैं बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाको,
गंगातीर बसति अनूप जिन पाई है।
महा जानिमनि विद्यादान हू को चिन्तामनि,
हीरामनि दीक्षित तैं पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी,
सब कवि कान दै सुनत कविताई हैं॥

इस छन्द से स्पष्ट होता है कि इनके पितामह का नाम परशुराम दीक्षित था तथा के पिता गंगाधर दीक्षित गंगा के किनारे अनूप बस्ती में रहते थे। 'अनूप' का अर्थ गंगा किनारे स्थित प्रसिद्ध नगर अनूपशहर भी हो सकता है, जो उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर ले में स्थित है। यद्यपि निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता, पर जब तक अन्य प्रमाण मिले, तब तक उन्हें अनूपशहर का निवासी मानने में कोई हानि नहीं है। कुछ लेखक

सेनापति को संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् भट्ट नागेश दीक्षित से अभिन्न सिद्ध करते हैं। भी यही कथन है कि भट्ट नागेश दीक्षित उसी समय के थे; और वे भी गंगा के तट निवास करते थे। यह सत्य है कि सेनापति भी अपनी रचनाओं के आधार पर प्रकाण्ड विद्वान् सिद्ध होते हैं, परन्तु वे भट्ट नागेश दीक्षित ही हैं—यह कहना क्योंकि नागेश भट्ट के पिता का नाम शिव भट्ट था और वे शृंगवेरपुर के महाराज आश्रय में रहते थे। वे प्रसिद्ध वैयाकरण थे और अधिकतर काशी में ही रहे। वे ब्राह्मण थे और उन्होंने अनेक ग्रन्थों की टीका की। नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित थे। नागेश भट्ट की किसी हिन्दी-रचना का पता नहीं लगता; न नागेश भट्ट के 'सेनापति' के सम्बन्ध में ही कोई सूचना प्राप्त होती है। परन्तु दोनों में कुछ साम्य ऐसा है, अनुमान को पुष्ट करता है कि दोनों एक हो सकते हैं। सेनापति के पिता का नाम था, जो शिव का ही दूसरा नाम हो सकता है; और शिव भट्ट नागेश जी के पिता थे। प्रकार सेनापति के गुरु हीरामनि दीक्षित थे जबकि नागेश भट्ट के गुरु हरि दीक्षित हरि और हीरा में ध्वन्यात्मक साम्य है। इसके अतिरिक्त सेनापति की प्रसिद्धि सीता प्रसाद से हुई। नागेश जी भी महाराज राम के आश्रित थे तथा दोनों ही गंगा के रहनेवाले थे। अनुमान के लिए थोड़ा आधार यद्यपि इन बातों से मिल जाता है, परन्तु रूप से प्रमाण के साथ यह कहना कठिन है कि सेनापति और नागेश भट्ट एक ही हैं।

सेनापति के सम्बन्ध में और कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। अभी तक ही कृति 'कवित्त रत्नाकर' प्राप्त हुई है। कुछ इतिहासकारों ने इनकी दूसरी कृति द्रुम' भी मानी है, पर वह उपलब्ध नहीं है। कुछ लोग 'काव्य-कल्पद्रुम' और 'कवित्त कर' को एक ही ग्रन्थ मानते हैं। 'कवित्त रत्नाकर' में पाँच तरंगें और तीन सौ छन्द हैं। इसके अन्तर्गत सेनापति ने श्लेष अलंकार, शृंगार, षड्ऋतु, रामायण और रसायन का वर्णन किया है। प्रथम तीन तरंगों से स्पष्ट होता है कि इनका प्रणयन परम्परा का ध्यान रखकर किया गया है। छन्दों की मूल चेतना रीतिकालीन है, इन्हें रीतिबद्ध कवि मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। सेनापति का प्रिय अलंकार है, इसीलिए इन्होंने पूरी-की-पूरी तरंग श्लेष अलंकार का चमत्कार दिखाने के लिए इनके ये श्लेष बड़े ही रोचक हैं—श्लेष की योजना में इनकी समता करनेवाला छोड़कर अन्य कोई कवि नहीं है। सभंग-पद-श्लेष और अभंग-पद-श्लेष दोनों का इसमें मिलता है। 'कवित्त रत्नाकर' की दूसरी तरंग में शृंगार-वर्णन है जिसके अन्तर्गत शिख-सौन्दर्य, उद्दीपन भाव, वयःसन्धि आदि का मनोहारी चित्रण हुआ है। शृंगार के कहीं बड़े सुन्दर चित्र इसमें हैं, पर मूल प्रयत्न शब्द-चमत्कार-प्रदर्शन का है; भाव और का विश्लेषण उतना नहीं है। एक छन्द द्रष्टव्य है :

नूपुर को झनकाइ मेदनी धरति पाइ,
ठाढ़ी आइ आँगन भई ही साँझी बार सी।
करता अनूप कीन्हीं रानी मैं न भूप की सी,
राजे रासि रूप की बिलास कों अधार सी।
'सेनापति' जाके दृगदूत ह्वै मिलत दौरि,
कहत अधीनता को होत है सिपारसी।
गेह को सिंगार सी सुरत सुख सार सी,
सो प्यारी मानो आरसी चुभी है चित आर सी॥

सेनापति की अप्रतिम सफलता उनके उत्कृष्ट ऋतु-वर्णन में है जिसमें यद्यपि शब्द और अर्थ का चमत्कार भरा पड़ा है, परन्तु वर्णित ऋतु का सहज और यथार्थ स्वरूप उनके छन्दों में बड़ा खरा उतरता है। प्रत्येक ऋतु में उठनेवाले लोक-मानस के सहज भाव भी ऋतु-वर्णन के छन्दों में तरंगित हो उठते हैं। इनके ऋतु-वर्णन के छन्द ही सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। यद्यपि सभी ऋतुओं का सुन्दर वर्णन इन्होंने किया है, पर ग्रीष्म और वर्षा का वर्णन अत्यन्त प्रभावशाली है। केवल एक ही छन्द इसके लिए पर्याप्त होगा :

> *दूरि जदुराई, सेनापति सुखदाई देखो,*
> *आई रितु पाउस, न पाई प्रेम पतियाँ।*
> *धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी, हैं*
> *दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ।*
> *आई सुधि बर की, हियें में आनि खरकी, तू*
> *मेरी प्रानप्यारी यह पीतम की बतियाँ।*
> *बीती औधि आवन की, लाल मन भावन की,*
> *द्रग भई बावन की, सावन की रतियाँ॥*

चौथी और पाँचवीं तरंगों में राम का चरित्र और रामभक्ति-भावना का संक्षिप्त सुन्दर वर्णन है। इन तरंगों में शृंगार, वीर, शान्त और भक्ति-भाव प्रधान हैं। पाँचवीं तरंग में भी आलंकारिक चमत्कार भरा पड़ा है जिसमें यमक, श्लेष, अनुप्रास, चित्र, प्रश्नोत्तर आदि के चमत्कार की विशेषता है।

सेनापति की कविता में उनकी प्रतिभा फूटी पड़ती है। निश्चित एवं सुनियोजित लय में सन्तुलित गति से चलती हुई उनके छन्दों की पंक्तियाँ नर्तकी के पद-संचार का सौन्दर्य बिखेरती हैं। उनके वर्णों और शब्दों का ध्वनि-सौन्दर्य नृत्य के मनोहर लालित्य से युक्त है। इससे स्पष्ट होता है कि भाषा पर उनका असाधारण अधिकार है। शब्द-चमत्कार के साथ-साथ उनकी कविता में उक्ति-वैचित्र्य भी है, जो उनकी प्रतिभा और सूझ का परिचायक है। इन सब विशेषताओं से युक्त सेनापति की कविता एक अपना परिमार्जित और विलक्षण व्यक्तित्व प्राप्त किये हुए है और उसे अन्य कवियों की रचनाओं के बीच सहज ही पहचाना जा सकता है। सेनापति का रचना-काल १६५० ई० के लगभग है, जैसा कि 'कवित्त रत्नाकर' की पाँचवीं तरंग के इस दोहे में देखा जा सकता है :

> *संवत सत्रह सै छ में, सेइ सियापति पाई।*
> *सेनापति कबिता सजी, सज्जन सजौ सहाइ॥*

बिहारी : बिहारी रीतिकाल के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। इनका जन्म १५९५ ई० में ग्वालियर में हुआ था। इनके पिता का नाम केशवराय था, परन्तु ये केशवराय प्रसिद्ध आचार्य केशवदास से भिन्न थे। इनके पिता निम्बार्क-सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य थे। बिहारी ने उनके यहाँ संस्कृत-प्राकृत के काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। बाद में ये वृन्दावन आ गये और वहीं मथुरा के किसी ब्राह्मण-परिवार में इनका विवाह हुआ। तदुपरान्त ये वहीं रहने लगे। उसी बीच इन्होंने फ़ारसी-काव्य का अभ्यास किया और बादशाह शाहजहाँ से भेंट की। शाहजहाँ के कृपापात्र बिहारी का सम्पर्क अन्य राजाओं से भी हुआ; और अनेक राज्यों से इनके लिए वृत्ति बँध गयी। सन् १६४५ के आसपास ये जब वृत्ति लेने जयपुर गये तो पता लगा कि वहाँ के महाराज जयसिंह अपनी नवविवाहिता रानी के प्रेम में मुग्ध होकर महलों में ही पड़े रहते हैं और राज-काज देखना छोड़ दिया है। सामन्तगण तथा प्रजा के

लोग व्यथित थे। उसी समय बिहारी ने एक दोहा लिखकर महाराज के पास पहुँचाया, इस प्रकार है :

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली कली ही सों बिंध्यो, आगे कौन हवाल॥

बिहारी के इस दोहे का बड़ा अद्भुत प्रभाव पड़ा और महाराज जयसिंह तथा चौहा रानी दोनों ही बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने इनको काली पहाड़ी नामक ग्राम दिया तथा प्र छन्द पर एक मुहर पुरस्कार में देने का संकल्प किया। तदुपरान्त बिहारी जयपुर में ही र लगे और आमेर दरबार के राजकवि के रूप में अपना जीवन सुखपूर्वक विताने लगे। चौहा रानी से कुमार रामसिंह का जन्म हुआ और तदनन्तर राजकुमार के बड़े होने पर बिहारी ही उसका विद्यारम्भ संस्कार कराया। कुमार के पढ़ने के लिए इन्होंने अपने दोहों का सं किया, साथ-ही-साथ अनेक दोहे भी आवश्यकतानुसार संकलित किये। इस प्रकार बिहारी जयपुर के राज-परिवार में विशिष्ट स्थान हो गया। बिहारी के कोई सन्तति नहीं थी। क हैं कि निरंजन कृष्ण को इन्होंने गोद लिया था। एक कृष्ण कवि 'बिहारी सतसई' के टीका हुए हैं। हो सकता है कि ये कृष्ण कवि निरंजन कृष्ण ही हों। परम्परा के अनुसार 'बिह सतसई' का समाप्ति काल सन् १६६२ माना जाता है और यह भी कहा जाता है कि बिह का देहावसान सन् १६६३ में हुआ।

बिहारी की ख्याति का मूल आधार उनका अन्यतम ग्रन्थ 'सतसई' है। यह सप्तशती', 'आर्या सप्तशती', 'अमरुकशतक' आदि ग्रन्थों की प्रेरणा से निर्मित एक वि रत्नमाला है, जिसकी आभा के सामने आज भी कोई मुक्तक काव्य ठहर नहीं पाता। मुक्त परम्परा में बिहारी का स्थान शीर्ष पर है। 'सतसई' में बिहारी ने अलंकार, रस, नायिकाभेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि का ध्यान रखकर सुन्दर दोहे रचे हैं। सतसई-परम्परा की एक उज्ज्वल कड़ी है। 'सतसई' के अन्तर्गत आलंकारिक चमत्कार भाव-सौन्दर्य दोनों ही हैं। इसमें ध्वनिकाव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अतः बिहारी की रीतिबद्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

'बिहारी सतसई' की अनेक टीकाएँ हो गयी हैं, जिनसे इसकी लोकप्रियता का चलता है। डॉ० ग्रियर्सन के अनुसार यूरोप में 'बिहारी सतसई' के समकक्ष कोई रचना है। बिहारी ने प्रेम और कला दोनों का महत्त्व अंकित किया है। उन्होंने लिखा है :

तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग॥

बिहारी का समस्त जीवन काव्य-साधना में ही व्यतीत हुआ, इसलिए उनका एक दोहा मर्मस्पर्शी है और हमारे समक्ष सौन्दर्य तथा प्रेम-क्रीड़ा की मनोरम झाँकियाँ प्रस्तु करता है। बिहारी अपने संक्षिप्त वर्णन और नपे-तुले शब्दों में किसी वस्तु, व्यक्ति या का जगमगाता रूप निखारकर प्रस्तुत करते हैं। उनके रूप-वर्णन, वयःसन्धि के चित्रण मादक एवं गदरायी युवावस्था की मधुर झलकें मन को मुग्ध कर लेती हैं और ये चित्र केवल काल्पनिक न होकर जीवन के यथार्थ रूप हैं। बिहारी ने अपनी पैनी दृष्टि से जीव का निरीक्षण किया था; अतः उन्होंने युवा वृत्तियों का सजीव चित्रण किया है। शृंगार संयोग-पक्ष के चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। आन्तरिक भावना से प्रेरित शारीरिक चेष्टा तथा विभिन्न कार्यकलाप का चित्रण बिहारी इस प्रकार करते हैं त्रह मानस-पटल सदा के लिए अमिट हो जाता है। उन्होंने केवल भावुकता-वश सौन्द वत्रण ही नहीं कि

नु जीवन के प्रौढ़ अनुभवों का भी उद्घाटन किया है। वे अपने भावों और विचारों को त्मक रूप में प्रस्तुत करने की विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। भक्ति एवं नीति के मार्मिक हे भी उन्होंने लिखे हैं। इस प्रकार 'बिहारी सतसई' शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी है।

ब्रजभाषा पर बिहारी का असाधारण अधिकार था। उनको शब्द और वर्ण के स्वभाव परख थी। शब्द और वर्ण उनके दोहों में नगों के समान जड़े हैं और रत्नों की आभा बेरते हैं। शब्द को माँजने, चमकाने, मोड़ने और सँवारने की कला में बिहारी सिद्धहस्त हैं। नकी रचना में ब्रजभाषा अपनी प्रौढ़ता और भाव-सम्पन्नता में इठलाती हुई चलती है— ह लय और गति, संगीत और नर्तन की विशेषताओं से युक्त है। उनकी भाषा प्रांजल, प्रौढ़, धुर और सरस है। निम्नलिखित उदाहरण इसके प्रमाण हैं :

अंग-अंग नग जगमगति, दीप सिखा-सी देह।
दिया बुझाए हूँ रहै, बड़ो उजेरो गेह॥
रस सिंगार मंजन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हूँ बिना, खंजन गंजन नैन॥
केसरि कै सरि क्यों सकै, चम्पक कितक अनूप।
गात रूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप॥

उपर्युक्त दोहों से स्पष्ट है कि भाव, अनुभूति और चेतना को बिहारी किस प्रकार र्मिक शब्दों और प्रभावशाली बिम्बों में प्रकट करने की क्षमता रखते हैं! बिहारी विदग्ध कवि होते हुए भी अत्यन्त मौलिक हैं। केवल एक ग्रन्थ की रचना करके भी कवियों की पंक्ति में बिहारी का उत्कृष्ट स्थान है। कवि के रूप में वे हिन्दी-साहित्य के गौरव हैं और उनकी सतसई काव्य की अपूर्व निधि है।

रसनिधि : रसनिधि का वास्तविक नाम पृथ्वीसिंह था। 'रसनिधि' इनका उपनाम था। ये दतिया राज्य में बरौनी इलाक़े के जागीरदार थे। इनका सम्पर्क धामी सम्प्रदाय के प्रवर्तक प्राणनाथ स्वामी से भी हुआ था। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री नहीं मिलती। इनका रचना-काल १६०३ से १६६० ई० तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थ अग्रलिखित हैं—रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासा, रसनिधि सागर, हिंडोला, अरिल्ल आदि। इनकी ख्याति का मूल आधार 'रतनहजारा' नामक दोहा-संग्रह है, जो 'बिहारी सतसई' के अनुकरण पर लिखित है। इससे स्पष्ट होता है कि ये प्रेम और शृंगार के कवि थे। इनकी रचनाओं पर वैष्णव भक्ति और सूफ़ी-परम्परा के फ़ारसी-काव्य का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। धार्मिक दृष्टि से ये बड़े उदार थे और इन्होंने हिन्दू-मुसलमान का भेद स्वीकार नहीं किया था। इसका कारण स्वामी प्राणनाथ का सम्पर्क था। इसीलिए इनके दोहों में आत्म-तत्त्व की व्यापकता लक्षित होती है। फिर भी, रसनिधि की मूल वृत्ति प्रेम और शृंगार है, जिसको इन्होंने समकालीन रीति-परम्परा का ध्यान रखकर प्रस्तुत किया है। ऐसे दोहों में रूप-वर्णन की रीतिबद्ध विशेषता, जिसमें अलंकृति और शृंगार-परम्परा विद्यमान है, प्राप्त होती है। इनके अनेक दोहे बिहारी और मतिराम से तुलनीय हैं। उदाहरण के लिए देखिए :

लाल भाल पै लसत है, सुन्दर बेंदी लाल।
कियो तिलक अनुराग ज्यों, लखि कै रूप रसाल॥
सबही को पोषन करै, अमृत कला सरसाइ।
ससि चकोर के दरद को, अज्यौं सकत नहिं पाइ॥

पल अँजुरिन सों पियत दृग, जल असुवाँ भरि साँस ।
गनति रहति हैं अवधि कै, दिन पखवारे मास ॥

उपर्युक्त दोहों में रसनिधि की अलंकारप्रियता, नखशिख-सौन्दर्य-चित्रण, सौ नुभूति और विरह-भावना के चित्रण की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट हैं। इस प्रकार से इनके दो रीतियुगीन प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं।

वृन्द : वृन्द (१६४३-१७२३) कवि के पूर्वज बीकानेर के रहनेवाले शाकद्वीपी ब्राह्मण थे, परन्तु किन्हीं कारणों से इनके पिता श्री रूप जी मेड़ते में आकर बसे। वहीं का जन्म हुआ। इनका पूरा नाम वृन्दावन था। बचपन से ही ये सुशील, गम्भीर और बुद्धि थे। दस वर्ष की अवस्था में इनके पिता ने इन्हें विद्याध्ययन के लिए काशी भे वहाँ तारा पण्डित के पास रहकर इन्होंने व्याकरण, साहित्य, वेदान्त, गणित, दर्शन आदि का ज्ञान प्राप्त किया और काव्य-रचना भी सीखी। काशी से लौटने पर मेड़ते में इन बड़ा सम्मान हुआ और जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह ने इन्हें कुछ भूमि प्रदान की उन्हीं के द्वारा औरंगज़ेब के वज़ीर नवाब मुहम्मद ख़ाँ से इनका परिचय हुआ और इन प्रवश बादशाह के दरबार में हुआ। कहते हैं कि औरंगज़ेब ने इन्हें समस्या दी—'पयों पैर्‌यो चाहे मिसिरी की पुतरी।' वृन्द ने उसकी उसी समय पूर्ति की, जिस पर प्रसन्न हो औरंगज़ेब के मुँह से 'खूब-खूब' प्रशंसात्मक शब्द निकले और उसने बहुत-सा धन देकर इ अपना दरबारी कवि बनाया। तदनन्तर उसने इन्हें अपने ज्येष्ठ पुत्र शहज़ादा मुअज्ज़म पौत्र अज़ीमुस्सम्मं का शिक्षक नियुक्त किया। वृन्द उसके साथ उड़ीसा और बंगाल गये उसके आग्रह से बहुत-सी रचनाएँ लिखीं। सन् १७०७ के लगभग किशनगढ़ के महा राजसिंह ने वृन्द को माँग लिया और अच्छी जागीर देकर इन्हें किशनगढ़ में बसाया।

वृन्द की रचनाओं में सोलह अधिक प्रसिद्ध हैं, जो नीति, भक्ति, वार्त्ता तथा शृं से सम्बन्धित हैं। इनमें से अग्रलिखित छह रचनाएँ रीतिबद्ध कही जा सकती हैं—बारह (१६६८), भावपंचाशिका (१६८६), नयन पचीसी (१६८६), पवन पचीसी (१६६ शृंगार शिक्षा (१६९१), यमक सतसई (१७०६)। ये रचनाएँ रीति-परम्परा की हैं, यहाँ इन्हीं का परिचय अभीष्ट है। 'बारहमासा' में बारहों महीनों का सुन्दर वर्णन है। 'भा पंचाशिका' में शृंगार के विविध भावों के अनुसार सरस छन्द लिखे गये हैं। उदाहरण लिए निम्नांकित छन्द द्रष्टव्य है :

आयो असन्त बसन्त समैं, निज कन्त बिदेस दिगन्त लियो है।
बागनि बागनि कोकिल कूकि, बियोगिनि कौं दुख घोर दियो है।
तानि कमान की बाननि सौं, हनि कै तन ब्याकुल काम कियो है।
चातुरि नागरि आतुर ह्वै, तब काहे मलैगिरि पौन पियो है ?

उपर्युक्त छन्द में उद्दीपन के रूप में वसन्त का चित्रण किया गया है। 'शृंगार शि में नायिकाभेद के आधार पर आभूषण और शृंगार के साथ नायिकाओं का चित्रण है। इ ग्रन्थ में लक्षण का आश्रय पूर्णतः स्पष्ट दीखता है। 'नयन पचीसी' के अन्तर्गत नेत्रों के महत्त्व तथा नेत्रों द्वारा प्रकट विभिन्न भावों का चित्रण है। इसमें कवि ने रीति का आश्रय लेक नखशिख, राग-रंग, अंजन, रस और विरह का चित्रण किया है। कवित्व की दृष्टि से 'न पचीसी' बहुत उत्कृष्ट तो नहीं है, पर युगीन परम्परा से जुड़ी हुई है। इसमें दोहा, सवै और घनाक्षरी छन्दों का प्रयोग है। 'पवन पचीसी' वास्तव में षड्ऋतु-वर्णन का एक सु है। इसके अन्तर्गत वृन्द ने पवन के वसन्त, ग्रीष्म, बर्षा, शरद्, हेमन्त और शिशिर ऋतुओं

अन्तर्गत स्वरूप और प्रभाव का चित्रण किया है। इसमें पच्चीस छप्पय छन्द हैं, जो बड़े ललित और प्रभावपूर्ण हैं। वृन्द ने वसन्त और हेमन्त ऋतुओं का विशेष वर्णन किया है। अधिकांश छन्द सुन्दर हैं। इनमें कल्पना का चमत्कार उतना नहीं है, जितना अनुप्रास आदि का। फिर भी, भाषा बहुत सुगठित नहीं कही जा सकती। 'यमक सतसई' में विविध प्रकार से यमक अलंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इसके अन्तर्गत ७१५ छन्द हैं। यह रचना चमत्कार-पूर्ण है। यमक का लक्षण दिये बिना उसके आधार पर रचित इस कृति का वर्ण्य विषय शृंगार और भक्ति है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं :

मुरली मुरलीधर धरी, अरी परी धुनि कान।
जातन जात न बनत है, लाज करी कुल कान॥
देह दही बेचत दही, दई दई यह जाति।
गोरस मिस गोरसहि, हरि, मग मँडराति डराति॥

इस प्रकार वृन्द कवि की रचनाएँ रीतिबद्ध परम्परा में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इन्होंने सरल, सरस और विदग्ध सभी प्रकार की काव्य-रचना की है।

नृप शम्भु : नृप शम्भु के सम्बन्ध में हिन्दी-साहित्य के विभिन्न इतिहासों में विभिन्न मत पाये जाते हैं। किन्हीं ने इन्हें सितारागढ़ वाले और किन्हीं ने शम्भुनाथसिंह सोलंकी कहा है। नृप शम्भु की रचनाओं में जो उपनाम प्रयुक्त हुए हैं, वे हैं—नृप शम्भु, शम्भुराज, शम्भु कवि, शम्भु जू आदि। शम्भुराज या नृप शम्भु छत्रपति शिवाजी महाराज के पुत्र थे। इनका जन्म १६५७ ई० में पुरन्दर में हुआ था। दो वर्ष बाद ही माता का स्वर्गवास हो गया; अतः इनका पालन-पोषण इनकी दादी अर्थात् शिवाजी की माता जीजाबाई ने किया। नृप शम्भु की शिक्षा-दीक्षा तत्कालीन परम्परा के अनुसार हुई, जिसमें इन्होंने संस्कृत, फ़ारसी का ज्ञान प्राप्त किया। नृप शम्भु ने संस्कृत में 'बुधभूषण' नामक ग्रन्थ की रचना की, जिससे स्पष्ट है कि इन्होंने अलंकारशास्त्र, पुराण, संगीत और धनुर्विद्या में शिक्षा प्राप्त की थी। इनका विवाह सन् १६६५ में येसूबाई से हुआ; जो बड़ी योग्य पत्नी थीं। वे राजनीति में बड़ी निपुण थीं और राजकाज में भी सहायता देती थीं।

शम्भुराज को आठ वर्ष की अवस्था में औरंगज़ेब द्वारा 'पंचहज़ारी' पद प्रदान किया गया। १५ मई, सन् १६६६ को औरंगज़ेब की प्रार्थना और राजा जयसिंह के आश्वासन पर पंचहज़ारी शम्भुराज तथा शिवाजी ने बादशाह औरंगज़ेब से भेंट की। वहीं छल करके बादशाह ने इन्हें क़ैद कर लिया। बड़ी कठिनता और चतुराई से ये दोनों बन्दी-गृह से मुक्त हुए। शम्भुराज उस समय केवल नौ वर्ष के थे। इन्हें मथुरा छोड़कर शिवाजी बनारस होते हुए महाराष्ट्र लौट आये। वहाँ रहने के कारण ही नृप शम्भु पर ब्रजभाषा का प्रभाव पड़ा और इन्होंने उत्तम ब्रजभाषा-काव्य की रचना की। कुछ लोग इन्हें व्यसनी और विलासी मानते हैं, परन्तु तथ्य यह नहीं जान पड़ता। ये वीरता तथा धर्म पर प्राण देनेवाले व्यक्ति थे। शिवाजी की मृत्यु के उपरान्त इन्होंने औरंगज़ेब का मुक़ाबला किया। अन्त में ये क़ैद कर लिये गये, इनकी आँखें निकाल ली गयीं तथा शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर मृत्युदण्ड दिया गया।

नृप शम्भु की तीन हिन्दी-कृतियाँ प्राप्त होती हैं—'नायिकाभेद', 'नखशिख' और 'सात शतक'। प्रथम दो रचनाएँ इनकी उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा का प्रमाण हैं। इनके छन्दों को देखकर आश्चर्य होता है कि एक मराठीभाषी व्यक्ति किस प्रकार ऐसी सुन्दर ब्रजभाषा में रचना कर सका है! नृप शम्भु की उपर्युक्त दोनों रचनाएँ रीति-परम्परा पर आधारित हैं

और उत्कृष्ट कोटि का हैं। इनमें कल्पना की नवीनता के साथ भाव और भाषा का
भी विद्यमान है। यथा :

सासु कह्यो दधि बेंचन को,
सुदई सुखदाई कहाँ ते धौं हाँक री।
मोहि मिले 'नृपशम्भु' गुपाल,
तमाल तरे वह गैल जो साँकरी॥
मो तन ताकि बड़ो अँखियान तें,
काँकरी लै घिरि मो तन धाँकरी।
काँकरी ओड़ि गई कर तें पै,
करेजे कहाँ धौं गयी गड़ि काँकरी॥

उपर्युक्त छन्द से स्पष्ट है कि नृप शम्भु की रचना में भाव को समुचित
उभारनेवाली सुन्दर कल्पना तथा सुन्दर सार्थक शब्द-योजना विद्यमान रही है।
इन्होंने रीति-परम्परा को आधार बनाकर लिखा है, फिर भी सर्वत्र परम्परागत उप
प्रयोग न कर नये उपमानों से अपने छन्दों को अलंकृत किया है। इनके नखशिख
छन्द विशेष रूप से प्रभावशाली हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि नृप शम्भू ब्रजभाषा
परम्परा में देव और मतिराम के समकक्ष ठहरते हैं।

नेवाज : नेवाज महाराज छत्रसाल के दरबारी कवि थे। इनका समय सन्
के आसपास मानना चाहिए। मिश्रबन्धुओं के अनुसार ये कान्यकुब्ज तिवारी थे।
से इनका सम्बन्ध भगवन्त कवि के निम्नलिखित दोहे से प्रमाणित होता है :

भली आजु कलि करत हो, छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी, तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

इससे स्पष्ट होता है कि नेवाज छत्रसाल के दरबार में भगवन्त कवि के
नियुक्त हुए। नेवाज कवि के सम्बन्ध में और विशेष जानकारी नहीं मिलती।
'शकुन्तला नाटक' नामक ग्रन्थ मिलता है, जो वास्तव में नाटक न होकर काव्य-ग्रन्थ
इसमें उत्तम छन्द-रचना है तथा भावों का मार्मिक चित्रण मिलता है। मिश्रबन्धुओं ने
भाषा की बड़ी प्रशंसा की है। संयोग शृंगार का इन्होंने विशेष वर्णन किया है।
रचना-शैली रीति-स्वच्छन्द कवि ठाकुर की टक्कर की है। ऐसा लगता है कि इन्होंने
का व्यापक वर्णन करनेवाला कोई ग्रन्थ लिखा होगा, परन्तु अब वह नहीं मिलता।
सन्दर्भ में जो स्फुट छन्द मिलते हैं, वे इस बात के द्योतक हैं कि इन्होंने सहज ढंग
व्यापार का वर्णन किया है। उदाहरण के लिए यह छन्द देखिए :

आगे तें कीन्हीं लगा लगी लोयन कैसे छिपै अजहूँ जो छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति।
कौन सकोच रह्यो है 'नेबाज' जो तू तरसै उनहूँ तरसावति।
बावंरि जो पै कलंक लग्यो तो निसंक ह्वै क्यों नहि अंक लगावति॥

कृष्ण कवि : कृष्ण कवि ने 'बिहारी सतसई' के प्रत्येक दोहे पर सवैया बना
इस कारण बिहारी की परम्परा में इन्हें रीतिबद्ध कवियों के अन्तर्गत रखना उचि
कृष्ण कवि के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में विशेष सूचना नहीं है। ये 'बिहारी सतसई' की
प्रथम काव्यात्मक टीका करनेवाले व्यक्ति के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। कुछ लोगों का
है कि ये जयपुर नरेश महाराज जयशाह के मन्त्री के आश्रित थे और उन्हीं के

इन्होंने 'बिहारी सतसई की टीका' लिखी। कुछ अन्य विद्वान् कृष्ण कवि को बिहारी का पुत्र मानते हैं, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं प्राप्त होता। यदि ये बिहारी के पुत्र होते तो अपने ग्रन्थ में कहीं-न-कहीं उल्लेख अवश्य करते। कृष्ण कवि के द्वारा लिखित दो ही ग्रन्थ ज्ञात हुए हैं—'बिहारी सतसई की टीका' और 'विदुर-प्रजागर'। इनसे इनका समय १७२० ई० के आसपास ठहरता है। इनकी कवित्त-सवैयाबद्ध टीका वास्तव में बड़ी रोचक है। उसके अन्तर्गत 'सतसई' के दोहों में प्रकट किये गये भावों का पल्लवन हुआ है। इससे इनका कवि-रूप उजागर होता है। टीका के छन्दों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन्होंने और रचनाएँ भी की होंगी, जो अभी प्राप्त नहीं हैं। उदाहरण के लिए इनका एक छन्द द्रष्टव्य है :

छबि सो फबि सीस किरीट बन्यो रुचि साल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रही मुरली कछनी कटि चारु प्रभा बरसै।
कवि कृष्ण कहै लखि सुन्दर मूरति यों अभिलाष हियैं सरसै।
वह नन्दकिशोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझि बसै॥

हठी जी : हठी जी का समय १७८० ई० के आसपास निर्धारित किया गया है। ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय के कृष्णभक्त कवि थे। इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों से इनका जन्मस्थान चरखारी माना जाता है। यद्यपि ये कृष्णभक्ति-परम्परा के कवि थे, फिर भी इनकी रचना रीति-चेतना से सम्पृक्त है क्योंकि उसके अन्तर्गत उक्ति-वैचित्र्य, नखशिख-सौन्दर्य-चित्रण और शृंगार-वर्णन की रीति-परम्परा का पूरा अनुगमन है। इसीलिए इनको रीतिबद्ध-परम्परा में स्थान देना उचित है। इनका एक ही प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होता है, जो 'श्रीराधासुधाशतक' नाम से है। इसके अन्तर्गत १०३ छन्द हैं। यद्यपि भाव की मर्मिकता और नवीन उद्भावना इनकी रचना में विशेष नहीं मिलती, परन्तु राधा के वर्णन में राजसी ठाठ-बाट और विलास का चित्रण भरपूर है। जिस प्रकार इनके छन्दों में विलास और सम्पन्नता का वर्णन है, उसी प्रकार इनकी कविता में अलंकृति है और विशेष रूप से उपमा और उत्प्रेक्षा-जैसे सादृश्यमूलक अलंकार विपुलता से मिलते हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित छन्द द्रष्टव्य हैं :

केसर से अग पट केसर के रंग जगे मोती गुहौ गंग है अनंग हूँ की बालिका।
रम्भा सी रमा सी मैनका सी मंजुघोषा सम सची सी उमा सी सुखमा सी जोति जालिका।
साँझ समै आन वृषभानु की कुमारी राधा ठाढ़ी दरवाजे 'हठी' प्रानन की पालिका।
भाग भरे नैनन निहारौ नन्दलाल चलि रैन गुजरी सी उजरी सी दीपमालिका॥

उपर्युक्त छन्द से हठी जी की अलंकारप्रियता और चमक-दमक में रुचि स्पष्ट होती है। भाषा पर इनका अद्भुत अधिकार भी स्पष्ट है।

विक्रमादित्य : विक्रमादित्य या विक्रमसिंह बुन्देलखण्ड-स्थित चरखारी के राजा थे। इनका राज्य-काल १७८२ से १८२९ ई० तक रहा। ये बड़े साहित्य-प्रेमी, कवि और गुण-ग्राहक व्यक्ति थे। कवियों का ये बड़ा सम्मान करते थे। हिन्दी के प्रसिद्ध आचार्य प्रतापसाहि इनके संरक्षण में रहे। इन्होंने काव्यशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों का भी प्रणयन किया। 'बिहारी सतसई' के समान इन्होंने 'विक्रम सतसई' की रचना की। 'सतसई' के अतिरिक्त इन्होंने 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध का हिन्दी में अनुवाद किया तथा 'ब्रजलीला' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यद्यपि 'बिहारी सतसई' के समकक्ष इनकी रचना नहीं पहुँच पाती, फिर भी कुछ छन्द अच्छे बन पड़े हैं। अधिकांश छन्दों से लगता है कि बिहारी के भावों को ही इन्होंने अपने शब्दों में रखा है। विक्रम कवि के कुछ दोहे इस प्रकार हैं :

हरित पीत अंकुर बसन, नव लतानि के हार।
जनु अषाढ़ कीन्ही मही, दुलही को श्रृंगार॥
पंकज के धोखे मधुप, कियो केतकी संग।
अन्ध भयो कंटक बिध्यो, भयो मनोरथ भंग॥

रामसहाय : रामसहायदास चौबेपुर (बनारस) के निवासी थे। इनके पिता का भवानीदास था। ये जाति के अस्थाना कायस्थ थे। रामसहायदास काशी-नरेश म उदितनारायणसिंह के आश्रित कवि थे। अपनी कविताओं में इन्होंने 'भगत' उपनाम है। इनका कविता-काल १८०३ से १८२३ ई० तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित हैं—'राम सतसई', 'वाणीभूषण', 'वृत्ततरंगिणी' तथा 'ककहरा'। 'वाणीभूषण' में काव्यशास्त्र के विषयों का विवेचन किया है, 'वृत्ततरंगिणी' में छन्दों का परिचय है 'ककहरा' 'अखरावट' के ढंग का ग्रन्थ है। 'राम सतसई' रीतिकालीन श्रृंगार-परम्परा उत्तम ग्रन्थ है, जिसे 'बिहारी सतसई' के समान उत्कृष्ट कहा जा सकता है। नव अलंकार, ध्वनि, रस आदि को ध्यान में रखकर उत्कृष्ट काव्य-सौष्ठव का इसमें किया गया है। शब्द-चमत्कार, वाग्वैदग्ध्य तथा विभिन्न अनुभावों और हाव-भावों के में रामसहाय काफ़ी सफल हैं। भावों का भी मार्मिक वर्णन हुआ है। माधुर्य और प्र गुणों से सम्पन्न 'राम सतसई' बड़ी सुन्दर रचना है। इसका प्रमाण निम्नलिखित छन्दों स्वतः मिल जाएगा :

वृन्दावन विहरत फिरैं, राधा नन्दकिशोर।
नीरद दामिनि जानि संग, बोलैं डोलैं मोर॥
किहि बिधि जाउँ वसंत में, विकसित बेलि निकुंज।
मो मुख लखि चहुँ ओर तें, झुकत झँपत अलि पुंज॥
सीस झरोखे डारिके, झाँकी घूँघट टारि।
कैबर सी कसके हियैं, बाँकी चितवनि नारि॥

पजनेस : पजनेस का समय १८१५ ई० के आसपास है। इनका जन्म पन्ना में था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार इन्होंने 'नखशिख' और 'मधुरप्रिया' नामक दो ग्रन्थ थे, किन्तु ये उपलब्ध नहीं हैं। भारतजीवन प्रेस से 'पजनेस-प्रकाश' नामक संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनके छन्दों से यह स्पष्ट है कि इन्होंने रीति-परम्परा के अनुसार की है। इनका नखशिख-वर्णन बड़ा ही सुन्दर है। इस प्रसंग में मुख-वर्णन सम्बन्धी छन्द द्रष्टव्य है :

चितवत जाकी ओर चख चकि चौंध कौंधे,
भनि पजनेस मातु किरन खरी सी है।
छवि प्रतिबिम्ब छूट्यो छिति ह्वै छपाकर तें,
छाजत छबीली राजै कनक छरी सी है।
कीनो डर लुरक गुलाब को प्रसून ग्रास,
झुकि झुकि झूमि झूमि झांकत परी सी है।
आनन अमल अरबिन्द ते अमल अति,
अद्भुत अमूल आभा उफनि परी सी है॥

पजनेस की रचना में अनुप्रास का प्रयोग अधिक है, पर भाषा बहुत परिमार्जित नहीं है। अनेक स्थलों पर इन्होंने फ़ारसी के शब्दों का स्वच्छन्दता के साथ प्रयोग किया है

चना की नवीन उद्भावना तथा अलंकारप्रियता ही इनके काव्य-गुण कहे जा सकते हैं।

बेनी वाजपेयी : बेनी नाम से तीन कवि मिलते हैं—एक बेनी भँडौआकार, दूसरे प्रवीन और तीसरे बेनी वाजपेयी। प्रस्तुत वेनी कवि असनी के निवासी बेनी वाजपेयी। इनको कई इतिहासकारों ने बेनी वन्दीजन कहा है, परन्तु यह भ्रामक है। ये असनी के वासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका समय सन् १८२३ माना जाता है, जिसका प्रमाण ताजी-कृत 'अश्वनी चरित्र' में मिलता है। वेनी कवि के जीवन के सम्बन्ध में और अधिक री प्राप्त नहीं होती। इनके फुटकर छन्द ही मिलते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि इन पर ति-परम्परा का प्रभाव था। नखशिख और षड्ऋतु सम्बन्धी इनके अनेक छन्द प्राप्त होते। आलंकारिक चमत्कार इनकी विशेषता है। ये रसिक कवि थे और उक्ति-वैचित्र्य इनकी चना में प्रभूत रूप से प्राप्त होता है। राधा को चोर बनाने का एक उक्ति-चमत्कारपूर्ण न्द निम्नलिखित है :

करि की चुराई चाल सिंह की चुराई लंक,
ससि को चुरायो मुख नासा चोरी कीर की।
पिक को चुरायो बैन मृग को चुरायो नैन,
दसन अनार हाँसी गूजरी गँभीर की॥
कहै कवि 'वेनी' वेनी व्याल की चुराइ लीनी,
रती रती सोभा सब रति के सरीर की।
अब तो कन्हैया जू को चित्त हू चुराइ लीनो,
चोरटी है गोरटी या छोरटी अहीर की॥

उक्ति-चमत्कार के साथ-साथ वेनी की रचना में मुहावरों का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। इनकी भाषा टकसाली है। छन्द और गति का बड़ा सूक्ष्म विवेक इनके छन्दों से स्पष्ट होता है। यमक की छटावाले अनेक छन्द इनकी रचनाओं में पाये जाते हैं। बेनी कवि ने गोस्वामी तुलसीदास की भी बड़ी प्रशंसा की है, और अनेक छन्दों में नीति की बातें भी कही हैं; पर इनके ऋतु-वर्णन के छन्द विशेष प्रभावशाली हैं। वैसे, इनकी मूल प्रकृति शृंगार-चित्रण की ही है। इसीलिए जो कुछ छन्द भक्ति सम्बन्धी मिलते हैं, उन पर भी शृंगार का प्रभाव लक्षित होता है। यद्यपि यह स्पष्ट पता नहीं चलता कि इनका सम्बन्ध किसी भक्ति-सम्प्रदाय से था, पर इन्होंने राधा-कृष्ण की वन्दना की है जिससे जान पड़ता है कि ये राधा-कृष्ण के उपासक थे। राधा-कृष्ण विषयक इनके इस छन्द को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अपनी सम्पादित रचना 'सुन्दरी-तिलक' के मंगलाचरण के रूप में दिया है :

छहरै सिर पै छबि मोरपखा उनकी नथ के मुकता थहरैं।
फहरै पियरो पट बेनी इतै उनकी चूनरी के झबा झलरैं।
रसरंग भिदें अभिदे हैं तमाल दोऊ रसख्याल चहै लहरैं।
नित ऐसे सनेह सों राधिका श्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं॥

वेनी कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था और काव्यशास्त्र का समुचित प्रभाव भी इनकी रचनाओं में स्पष्ट है।

रीतिमुक्त काव्य

प्रवृत्ति का नाम

इस धारा का नामकरण कुछ लोगों ने तो ‘रीतिमुक्त’ और कुछ ने ‘स्वच्छन्द किया है। ‘रीतिमुक्त’ का सीधा अर्थ यही है कि यह धारा रीति-परम्परा के बन्धनों और रूढ़ियों से मुक्त है। यह शब्द स्पष्टतः इस धारा का दूसरी समसामयिक प्रवृत्ति से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। ‘रीतिमुक्त’ नामकरण विवाद-रहित निरापद है। पर दूसरा नाम विवेचन की अपेक्षा रखता है; क्योंकि यही शब्द साहित्य की एक प्रसिद्ध महती काव्यधारा के लिए रूढ़ है। तो क्या रीतिकाल काव्यधारा किसी प्रकार योरुप की स्वच्छन्द काव्यधारा से सम्बद्ध है? लेकिन लिए जो ऐतिहासिक आधार चाहिएँ, वे यहाँ नाम को भी नहीं हैं। फिर क्या इन किसी प्रकार की उल्लेखनीय समानताएँ हैं? यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल की एक अन्य काव्यधारा को भी ‘स्वच्छन्द धारा’ कहा है जिसमें श्रीधर पाठक, माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, शर्मा ‘नवीन’, हरिवंशराय ‘बच्चन’ आदि को गिनाया है। ये सभी अपने समय की साहित्यिक परम्पराओं को त्यागकर भावनाओं के मुक्त क्षेत्र में विचरण करनेवाले थे। ने प्रकृति के मुक्त रूप को काव्य का विषय बनाया, तो दूसरों ने छायावादी अपनी काव्य-कला को अप्रभावित रखा। इसलिए शुक्ल जी की दृष्टि में ये सभी स्वच्छन्दतावादी थे। इस सबसे यही सिद्ध होता है कि हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में वादी’ शब्द परम्पराओं और रूढ़ियों के त्याग के अर्थ में अधिक प्रयुक्त हुआ है— काव्यधारा की समानता अथवा प्रभाव के अर्थ में नहीं। इसीलिए हम छायावादी को भी ‘स्वच्छन्द काव्यधारा’ कह लेते हैं, क्योंकि उसमें भी प्राचीन रूढ़ियों एवं का त्याग है। फलतः घनानन्दवाली रीतिकालीन काव्यधारा को ‘स्वच्छन्द काव्यधारा’ अनुचित नहीं है।

परिभाषा और परिधि

अंगरेजी-साहित्य में रोमांटिक (स्वच्छन्द) और क्लासिकल (शास्त्रीय) काव्य अपने विशिष्ट इतिहास और परिस्थितियों के कारण विशिष्ट अर्थों में रूढ़ हो विद्वानों ने बड़े विस्तार से विविध प्रकार के ऊहापोह उन पर किये हैं। हिन्दी के साहित्य में भी यह उसी चिन्तन-शैली का प्रभाव है, जो हम किसी काव्यधारा को और दूसरी को मुक्त समझते हैं। पश्चिम में ‘स्वच्छन्द काव्यधारा’ शृंगारिकता, काल्पनिकता, भावप्रधानता, अनगढ़पन, सहजता आदि गुणों के लिए प्रसिद्ध है। उक्त धारा के गुण हैं, लक्षण नहीं। लक्षण तो—जैसा ‘स्वच्छन्द’ शब्द से व्यक्त नियममुक्तता, रूढ़िमुक्तता आदि हैं। ज्ञान के अन्य क्षेत्रों की भाँति कला के नियमों के अनुसर्ता, और स्वानुभूति के उन्मुक्त उद्गाता—दो प्रकार के मनीषी हैं। प्रथम वर्ग के मनीषी कला की बाह्य रूप-सज्जा, चयन और श्रेष्ठता पर अधिक हैं, तो दूसरे अनुभूति के आवेगमय रूप की सहज अभिव्यक्ति को महनीय मानते हैं। [illegible] की कला-सृष्टि अभ्यास का फल होती है; तो दूसरों की हृदय-निस्सृत

ति। प्रवृत्ति का यह भेद थोड़ी-बहुत मात्रा में सर्वत्र-सर्वदा मिल जाता है। वस्तुतः नियम-द (क्लासिकल) और स्वच्छन्द (रोमांटिक) प्रवृत्तियों का यही मनोवैज्ञानिक मूल है।

अभिव्यक्ति के क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी काव्य व्यंजनाप्रधान होता है। उसमें सांके-कता अधिक रहती है इसलिए थोड़ी-बहुत मात्रा में रहस्यवाद की प्रवृत्ति भी उसमें आ ती है। इस काव्यधारा में रूप-सज्जा की प्रधानता नहीं होती, व्यक्तिगत अनुभूतियों की र्य अभिव्यक्ति पर दृष्टि रहती है। श्लेमल का कथन है कि क्लासिकल काव्य अपने में मित होता है; उसका उतना ही तात्पर्य रहता है जितना शब्द प्रकट करते हैं, पर न्दतावादी काव्य में एक ऐसी विच्छित्ति रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं देती और उसकी इयत्ता अधिकाधिक बढ़ा देती है। विक्टर ह्यूगो ने स्वच्छन्तावादी व्य को रूढ़ियों से मुक्त बताया है, डंटन इसमें चमत्कार और अनुभूति की प्रधानता मानते था डॉ० हेज ने प्रेरणा (जीवन से) को इसका प्राण कहा है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी इस सन्दर्भ में कल्पना और भावावेग पर बल दिया है: "रोमांटिक साहित्य की उत्सभूमि मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड आवेग की ही नता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड आवेग ये दो निरन्तर भूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्वप्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।"[1] चार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रकृति के मुक्त रूप और जीवन के सहज प्रवाह को स्वच्छन्दतावादी हित्य का प्रमुख विषय समझते हैं। उनके अनुसार शिष्ट साहित्य के साथ-साथ लोक-हित्य की धारा बहती रहती है, जिसमें जीवन की सहज और निश्छल अभिव्यक्ति होती है। शिष्ट साहित्य पण्डितों और आचार्यों की रूढ़ियों में आबद्ध हो जाता है, तो भाव की जीवता और स्फूर्ति जीवनगत दूसरी प्राकृतिक भावधारा से ही प्राप्त हो सकती है। इस कार के परिवर्तन को हो अनुभूति की सच्ची नैसर्गिक स्वच्छन्दता (ट्रू रोमांटिसिज़्म) कहना हिए।'[2]

क्लासिकल प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशंसा इस बात में है कि वह जीवन और जगत् अपनी प्रतिभा से यथातथ्य ग्रहण करे और इन्हें प्रभविष्णु अभिव्यक्ति प्रदान करे। पर मांटिक प्रवृत्ति के कवि की श्रेष्ठता इसमें है कि उसकी आत्मा स्फुटित होकर अपनी ऐसी भिव्यक्ति दे कि वह जादू-जैसा भाव उत्पन्न करे। वास्तव में स्वच्छन्दतावाद का मूल कला-र की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति में रहता है। इसका न काल से सम्बन्ध है र न देश से। नियमों की रूढ़ियों और अपरिवर्तन से ऊबे हुए उत्साही कलाकार क्रान्ति लगते हैं। इसी का साहित्यिक नाम 'स्वच्छन्द धारा' हो जाता है। स्वच्छन्दता की अति ब उच्छृंखलता में परिणत होने लगती है, तो उसकी सीमा बाँधना आवश्यक हो जाता है माओं का वन्धन और अनुवर्तन ही क्लासिकल मार्ग है। इस प्रकार क्लासिकल और रोमां-प्रवृत्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया साहित्यिक इतिहास में चलती रहती है।

स्वच्छन्द प्रवृत्ति का कवि अन्तर्मुखी होता है। उसे अपनी अनुभूति पर अधिक विश्वास हता है—अनुभूति की इन्द्रियानुभूति नहीं, हृदयानुभूति। संसार का अनुभव करनेवाले व्यक्ति क्षा अपना अनुभव करनेवाला व्यक्ति उसकी दृष्टि में अधिक सच्चा और प्रामाणिक स्वच्छन्दतावादी साहित्य में अभिनवत्व (ताज़गी) रहता है क्योंकि उसकी प्रेरणा जीव

---

[1] डॉ० देवराज उपाध्याय-कृत 'रोमांटिक साहित्यशास्त्र' की भूमिका से।

[2] देखिए 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५५३

से मिलती है। जब साहित्य अपने समवर्ती जीवन से प्रेरणा न लेकर पूर्ववर्ती साहित्य लेने लगता है तब वह क्लासिकल बन जाता है, उसकी अभिनवता क्षीण होने संक्षेप में, स्वच्छन्दतावादी साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ ये हैं—

१. यह आन्तरिक अनुभूतियों का काव्य होता है, फलतः इसमें भावावेग का प्रवाह बहता है।

२. यह मूलतः आत्मप्रधान और व्यक्तिपरक होता है अर्थात् कवि बाह्य उतना महत्त्व नहीं देता, जितना अपने को देता है।

३. यह सब प्रकार की रूढ़ियों से मुक्त होता है, इसलिए इसमें अभिनव अद्भुतता के तत्त्व निहित रहते हैं।

४. अभिव्यंजना में यह सांकेतिक और व्यंजनाप्रधान होता है, इसीलिए रहस्यात्मकता का पुट भी इसमें आ जाता है।

५. इसमें कल्पना और असाधारणता का प्राचुर्य रहता है।

६. यह भावप्रधान अधिक और रूपप्रधान कम होता है। कवि की प्रवृत्ति के पर्त खोलने की अधिक होती है, अपनी उक्ति को सजाने-सँवारने की कम।

रीतिमुक्त काव्यधारा के विकास में घनानन्द, आलम, ठाकुर, बोधा और योगदान मुख्य रूप से उल्लेखनीय है। यहाँ इन कवियों की काव्य-प्रवृत्तियों का विवेचन अपेक्षित है।

घनानन्द : घनानन्द स्वच्छन्द काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस धारा के गुण इनकी शैली में मिल जाते हैं, जैसे—भावात्मकता, वक्रता, लाक्षणिकता, भावों की कता, रहस्यात्मकता, मार्मिकता, स्वच्छन्दता आदि। इनकी दो प्रकार की रचनाएँ जिनका सम्बन्ध क्रमशः लौकिक श्रृंगार और भक्ति से है। प्रथम वर्ग की रचनाएँ कवित्त-सवैयों में रचित हैं और दूसरे वर्ग की पदों एवं दोहे-चौपाइयों में। अब तक कवित्त-सवैयों की संख्या ७५२, पदों की संख्या १०५७ और दोहे-चौपाइयों की काव्य-सौन्दर्य के अतिरिक्त रचना-विस्तार की दृष्टि से भी घनानन्द महाकवियों में योग्य हैं। इनके काव्य में ऋजु और वक्र दोनों प्रकार की शैलियों का प्रयोग मिलता भाव के अनुरोध से कहीं संश्लिष्ट और कहीं विश्लिष्ट हो गयी हैं। इनके वर्ण्य विविधता और विस्तार नहीं है, अपितु कवि की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति के कारण विविध के सूक्ष्म भेद-प्रभेदों में मिलती है। भाव कवि के व्यक्तिगत अतएव स्वच्छन्द हैं, के नहीं। विषय के समान भावों में भी कहीं-कहीं आवृत्ति के दर्शन होते हैं। भावों और निराशा का प्राचुर्य है। कवि प्रेम की पराजय में भी अडिग है, अतएव उसे जाएगा। यह विषाद उसके अभिलाषातिरेक का परिणाम है। प्रेम के हर्षावसरों हुई अभिलाषाएँ उसे बेचैन बना देती हैं। उसके भाग्य में प्रेम का हर्ष बदा ही नहीं की यह विषादमयी अनुभूति हिन्दी-साहित्य की परम्परा के प्रतिकूल और फ़ारसी- अनुकूल है। घनानन्द के समकक्ष फ़ारसी के अनेक कवियों में यही प्रवृत्ति पायी तत्कालीन समाज की हीन दशा और उसमें व्यक्ति की परवशता के अनुभव का भी णाम हो सकता है।

काव्य-शैली में वर्ण्य का उपयोग दो प्रकार से हो सकता है—भाव- स्वरूप खड़ा करके या फिर वस्तु से उठे भावों का सीधा वर्णन करके। रस-सि में पहले को विभावप्रधान और दूसरे को भावप्रधान कह सकते हैं। हिन्दी-संस्कृत

वप्रधान ही रही है, पर घनानन्द ने दूसरा मार्ग अपनाया है अर्थात् भावों का सीधा न अधिक किया है। इन भावों में रीझ, विषाद, उलझन, अभिलाष, भूल, उपालम्भ आदि हैं। इन भावों के आश्रय हैं—मन, प्राण, नेत्र तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियों को भावों आश्रय बनाकर कवि ने उनका मानवीकरण कर दिया है। इनका काव्य भावों की भूमि पर ही अधिक खड़ा है, वस्तु पर कम। प्रिय के रूप पर रीझने में मन की क्या दशा ती है, इस पर नीचे लिखा सवैया देखिए :

रावरे, रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं-ज्यौं निहारियै।
त्यौं इन आँखिन बानि अनोखी, अघानि कहूँ नहि आन तिहारियै।
एक ही जीव हुतौ सुतौ वार्‌यौ, सुजान संकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनँद बाबरी रीझ के हाथनि हारियै॥

इसी प्रकार वियोग-व्यथा की सैकड़ों अन्तर्दशाओं के मार्मिक चित्र कवि ने खींचे हैं, हृदय को सीधे छूते हैं। वियोग शृंगार में प्रिय के रहने पर प्रेमी का भावमग्न हो जाना ाविक है, पर घनानन्द संयोग में भी भावमग्न हैं। भावात्मकता के कारण ही अनुभूति का जब सशरीर प्रिय से हटकर अनुभूत्यात्मक हो जाता है, तो उसका संम्बन्ध परम सत्ता से प्रतीत होने लगता है। ऐसी उक्तियाँ अनेक हैं, जिनमें से निम्नलिखित सवैया द्रष्टव्य है :

मन जैसे कछू तुम्हें चाहत है, सो बखानियै कैसें सुजान ही हौं।
इन प्राननि एक सदा गति रावरे, बावरे लौं लगिये नित लौं॥
बुधि औ सुधि नैननि बैननि में, करि बास निरन्तर अन्तर गौ।
उघरौ जग छाय रहे घनआनँद, चातिक लौं तकियै अब तौ॥

यहाँ प्रेम का विषय सांसारिक प्राणी भी हो सकता है और परमेश्वर भी। ऐसी क्तियों में रहस्यात्मकता की स्पष्ट झलक मिलती है। घनानन्द के प्रेम का उदय अवश्य न के शरीर से हुआ था, पर उसकी परिणति सुजान (सु+ज्ञान) परमेश्वर में हुई थी। की शैली उत्तम पुरुष-प्रधान आत्मनिवेदन की है, प्रेम की अनुभूतियों को उन्होंने अपनी कर प्रस्तुत किया है। अपनी रचना-प्रक्रिया का संकेत करते हुए कवि ने स्पष्ट कहा है कि काव्य की प्रेरणा प्रेयसी सुजान के मादक रूप से मिलती है, उसी को वह काव्य के रूप उपस्थित कर देता है।[1] इस प्रकार के संकेतों से अनुमान होता है कि कवि का काव्य उसकी की प्रेमानुभूति है। रीतिकाल के लिए यह नवीन प्रणाली है, अन्य कवियों ने तो नायक-यिकाओं अर्थात् पात्रों की योजना द्वारा अपने भाव व्यक्त किये हैं। इसीलिए डॉ० नगेन्द्र- मनोवैज्ञानिक आलोचक रीतिकालीन कविता में दमित भावना की मनोग्रन्थि का एहसास , तो वह अनुचित नहीं है। किन्तु घनानन्द ने तो अपने ही को निश्छल अभिव्यक्ति प्रदान , अतः वह दोष इनकी कविता में नहीं है। सुजान का रूप-वर्णन भी इन्होंने अपनी लालसा-आँखों से देखकर ही किया है। लौकिक शृंगार के क्षेत्र में यह साहस घनानन्द ने ही या। नीचे लिखे सवैयें में प्रेमी कवि अपनी वियोग-दशा बताता है :

अंक भरौं चकि चौंकि परौं कबहूक लरौं छिन ही में मनाऊँ।
देखि रहौं, अनदेखे दहौं सुख सोच सहौं, जु लहौं सुनि पाऊँ।

तीछन ईछन बान बखान सौं, पैनी दसाहि लै सान चढ़ावत।
प्रानि प्यास भरे अतिपानिप, माइल घाइल चोंप चढ़ावत॥
यौं घनआनंद छावत भावत, जान सजीवन ओर तें आवत।
लोग है लागि कवित्त बनावत, मोहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

जान तिहारो सो मेरी दसा, यह को समझै अरु काहि सुनाऊँ।
यौं घनआनंद रैनि-दिना नहि बीतत, जानियै कैसे विहाऊँ॥

घनानन्द के काव्य की एक विशेषता भावजन्य वक्रता है। कवि के भाव हैं, उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए असाधारण भाषा का प्रयोग ही एकमात्र उपाय है लगता है कि भावों का जन्म ही इस प्रकार की वक्र भाषा में हुआ है। इस प्रकार भाषा का प्रयोग करना उनकी शैली है जिसके परिणामस्वरूप उसमें विरोध और दो गुण आ गये हैं। इनके कारण निःसन्देह शैली में सरलता नहीं रही है, पर और चमत्कार पद-पद पर अनुभूत होते हैं। वस्तुतः प्रेम की पीड़ा को कवि ने अपनी पूर्णता में भोगा था, इसलिए उसकी अभिव्यक्ति सटीक और मार्मिक हुई है। अपेक्षाकृत अधिक भावुक रहा है, वहाँ वह वक्र शैली को भूल गया है। फिर भी, का सर्वाधिक उल्लेखनीय गुण भाषा का लाक्षणिक प्रयोग है। भावों की जो सूक्ष्म कवि को अनुभूत हैं और रूप आदि के विषय में जो विलक्षण चिन्तन उसे प्राप्त है अभिव्यक्ति साहित्य में प्रचलित भाषा से नहीं हो सकती थी। इसलिए घनानन्द ने का मार्ग अपनाया। मुहावरे भी प्रायः लक्षणा के रूढ़ प्रयोग होते हैं, अतः इनमें उनका भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। लक्षणा का ऐसा सफल प्रयोग रीतिकाल के लि नया प्रयास है। उस समय के आचार्यों ने प्रसंगवश अभिधा आदि वृत्तियों का वि किया है—संस्कृत में तो इस पर ग्रन्थ-के-ग्रन्थ लिखे पड़े हैं—पर लाक्षणिक भाषा न संस्कृत भाषा में मिलता है और न हिन्दी के पूर्ववर्ती काव्यों में; सूर, तुलसी कवियों की वाणी में अवश्य उसके कहीं-कहीं दर्शन होते हैं। इसका कारण अलंकार का प्रभाव है। काव्य की अभिव्यक्ति के लिए अलंकार-योजना ही एकमात्र दूसरी दिशाओं में बढ़ने का प्रयास कवि नहीं करते थे। ऐसी भाषा परम्पराग्रस्त कारण जीवन से हटी हुई और नवीनताहीन प्रतीत होती है। लक्षणा में शब्दों का पूर्ण प्रयोग होता है कि वाक्य में एक का धर्म दूसरे में आरोपित हो जाता है। की शक्ति दुहरी हो जाती है और चित्रात्मकता बढ़ जाती है। घनानन्द ने काव्य-सौन्दर्य ही नहीं, भाषा की क्षमता के भी नये आयाम खोले। पर यह सकी; और रीतिकाल की भाषा वहीं की वहीं रह गयी।

आलम : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी-साहित्य का इति आलम माने हैं—एक अकबर के समसामयिक और दूसरे, औरंगज़ेब के पुत्र आश्रित। प्रेमाख्यानक प्रबन्धकाव्य 'माधवानल कामकन्दला' को उन्होंने पहले रचना माना है और 'आलमकेलि' को दूसरे आलम की रचना स्थिर किया है। सनेही' और 'सुदामाचरित' दो रचनाएँ और प्रकाश में आ गयी हैं। इस प्रकार कामकन्दला', 'स्याम सनेही' और 'सुदामाचरित' तीन प्रबन्धकाव्य और एक 'आलमकेलि' आलम के नाम से प्राप्त हैं। शुक्ल जी के अनुसार प्रबन्धकार तथा मुक्तककार आलम और ! काव्य-रूप और शैली की भिन्नता इस मान्यता है। रँगरेज़िन प्रेयसी शेख़ का सम्बन्ध मुक्तककार आलम से माना गया है और शुक्ल जी ने स्वच्छन्द प्रवृति का कवि कहा है—प्रबन्धकार आलम तो सूफ़ी प्रभाव शुद्ध प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा के कवि हैं। इसके विपरीत पण्डित विश्वनाथप्रसाद को एक ही व्यक्ति मानते हैं। इस विवाद के प्रक्ष-विपक्ष की परीक्षा करने का तो काश नहीं है, इतना अवश्य कथनीय है कि स्वच्छन्द-धारा की विशेषताओं के दर्शन

लि' में ही होते हैं, लौकिक प्रेम की भावात्मक और परम्परामुक्त अभिव्यक्ति जैसी 'आलम-लि' के कवित्त-सवैयों में मिलती है, वैसी उपरिकथित अन्य रचनाओं में नहीं। शेख कोई रँगरेज़िन थीं और उसकी काव्य-कुशलता पर मुग्ध होकर कोई ब्राह्मण-ता मुसलमान 'आलम' बन गये—यह किंवदन्ती भी प्रचलित है। साथ ही यह भी कहा ता है कि 'आलमकेलि' के 'आलम' छापवाले पद्य पति आलम के और 'शेख' छापवाले पद्य नी शेख के हैं। पर परीक्षा करने पर उनमें शैली आदि का कोई विशेष अन्तर नहीं प्रतीत ता। इसके अतिरिक्त 'शेख' नाम के साथ पुल्लिग क्रिया के प्रयोग भी पद्यों में मिलते हैं। लमानों में 'शेख' नाम स्त्रियों का होता भी नहीं। अतः अनुमान यह होता है कि 'शेख' लम का ही जातीय नाम था। वही अपनी छाप यथावश्यक कभी 'आलम' और कभी ख' रख देता था। रँगरेज़िन की कहानी या तो मनगढ़न्त है या फिर उसका कोई और य होगा।.

आलम घनानन्द की भाँति सर्वथा स्वच्छन्द नहीं हैं। इनके कवित्त-सवैयों में रीति-रम्परा के गुण भी कुछ-कुछ मिल जाते हैं अर्थात् कहीं-कहीं उन्हें नायिकाभेद, रस आदि के धार पर खतियाया भी गया है। घनानन्द जिस प्रकार अपनी अनुभूति की स्वच्छन्दता और साधारणता के प्रति जागरूक हैं, उस प्रकार आलम नहीं हैं। पर फिर भी इनके काव्य को रीतिबद्ध नहीं माना जा सकता। इनका काव्य स्थूल वस्तुप्रधान नहीं है, भावप्रधान है। संयोग हो या वियोग, कवि विषादमग्न रहता है; वियोग तो वैसा ही मार्मिक और आन्तरिक है जैसा घनानन्द का। आलम वियोग में बिके-से, थके-से एवं जीवन का दाँव हारे हुए-से लगते हैं। इस संग में उनका यह सवैया बड़ा प्रसिद्ध है :

जा थल कीन्हे विहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यौ करैं।
जा रसना सौं करीं बहु बात सु ता रसना सौं चरित्र गुन्यौ करैं।
'आलम' चैन से कुंजन में करी केलि वहाँ अब सीस धुन्यौ करैं।
नैनन में जो सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यौ करैं॥

इनकी प्रेमानुभूति व्यक्तिगत है। अतएव वह मार्मिक और सत्य प्रतीत होती है। समें अभिलाषा की प्रधानता है, इसलिए प्रिय को पाकर भी प्रेमी तृप्त नहीं होता। उसका प्रत्येक क्षण अन्तर्द्वन्द्व से पीड़ित रहता है। अभिलाषाओं का ही यह प्रभाव है कि प्रिय की छोटी-छोटी चेष्टाएँ प्रेमी के अन्तरतम को मथ डालती हैं। दूसरी ओर, इस प्रेम में विषमता भी है। प्रेमी अपनी अभिलाषाओं में आकुल रहता है, पर प्रिय निष्ठुर और कठोर ही बना रहता है—कृष्ण निकट रहते हैं, फिर भी निष्ठुर हैं। ऐसी स्थिति प्रेमी के लिए गले की फाँसी बन जाती है।

इस प्रकार विभाव, अनुभाव, नायिकाभेद आदि की रीतिबद्ध परम्परा से मुक्त होकर मन की उलझन और व्यथा की अनेक ऐसी अन्तर्दशाएँ आलम ने चित्रित की हैं, जो रीतिबद्ध काव्य में देखने को नहीं मिलतीं। उनके द्वारा वर्णित प्रेम चेष्टाप्रधान बाह्य नहीं है, अनुभूति-प्रधान आन्तरिक है; इसीलिए उनकी शैली मार्मिक है। उसमें अभिलाषा और वेदना की प्रधानता है; इसलिए वह आपाततः फ़ारसी की प्रेम-पद्धति की ओर अधिक झुका हुआ है। उसमें नैराश्य, मार्मिकता, व्यथा, मूकता आदि विशेषताएँ बार-बार अभिव्यक्त हुई हैं। सम्भवतः इसीलिए आलम अपनी उक्तियों को सजाने और चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए कभी सावधान नहीं दिखायी पड़ते। उनकी चिन्ता भावों को अपनी समस्त पूर्णता और गम्भीरता के साथ व्यक्त करने की रहती है, अतः वे शैली की आलंकारिकता के मोह से मुक्त हैं।

ठाकुर : ठाकुर का साहित्य मात्रा में अधिक नहीं है। उनके दो संग्रह हैं—'ठाकुर ठसक' और 'ठाकुर शतक', जिनमें से 'शतक' के कुछ पद्य 'ठसक' में भी हैं। वैसे, अपने काव्य-मार्ग की विशेषताओं के प्रति घनानन्द की भाँति ठाकुर भी केवल कवि-शिक्षा के बल पर काव्य-रचना का उन्होंने उपहास किया है। ऐसे जो कृत्रिमता और सीमितता रहती है, ठाकुर का काव्य उससे मुक्त है। अनुभूति अभिव्यक्ति दोनों में ये सहज-स्वाभाविक हैं। इनके भाव व्यक्तिगत होकर भी सार्वजनीन हृदय-हृदय में उनका स्पन्दन होता है। भाषा भी बोलचाल की, चलती और स्वच्छ है। प्रवाह तो है, पर अलंकार आदि का लदाव नहीं। निश्छल अनुभूति और अकृत्रिम अभि ठाकुर को रीतिबद्ध कवियों से पृथक् कर देती है। अन्य स्वच्छन्दमार्गियों की भाँति ये की स्थिरता और निर्वाह के प्रशंसक हैं। प्रिय के रुक्ष या चंचल होने पर भी प्रेमी का निर्वाह ही करता है :

> *का करियै तुम्हरे मन कौ जिनकौ अब लौं न मिटी दगा दीवौ।*
> *पै हम दूसरो रूप न देखिहैं आनन आन कौ नाम न लीवौ।*
> *ठाकुर एक सो भाव है तौ लगि जौ लगि देह धरे जग जीवौ।*
> *प्यारे सनेह निबाहिवे को हम तौ अपनौ सौ कियौ अरु कीवौ॥*

ठाकुर के काव्य में भक्ति-भावना भी मिलती है। उसके अन्तर्गत उन्होंने ली नहीं किया, अपितु उनकी परमेश्वर सम्बन्धी धारणा ऐसी सर्वसाधारण है जो राम कृष्ण सीमाओं से परे एक अप्रतर्क्य शक्ति के रूप में लोक-मानस में बैठी रहती है। सर्वसाधा मन में ईश्वर की विलक्षण महिमा का ही विश्वास रहता है, ठाकुर इसी के कवि हैं। की दृष्टि से एक अन्य विशेषता यह है कि इनकी काव्यानुभूति में वैयक्तिकता के सा लोकजीवन के सहज सौन्दर्य का संस्पर्श भी है। प्रकृति के मुक्त रूप के साथ ही इनके में तीज-त्योहारों का उल्लासमय रूप भी वर्णित है, जिससे इनका काव्य लोकधर्मी प्रतीत है। वस्तुतः ठाकुर की सम्पूर्ण काव्य-कला लोकरुचि की ओर झुकी हुई है। इसी रीतिमार्ग से हटकर स्वच्छन्द और नवीन लगते हैं।

रीतिमार्गी कवि अपनी अभिव्यक्ति के लिए अलंकारों के अचल दलदल में मस्तक मग्न थे। यह पद्धति घिसी-पिटी होकर अपना आकर्षण खो चुकी थी। साथ ही साहित्यिक सीमा-बन्धन भाषा को जीवन से काट देता था। ठाकुर ने इसके लिए लोको और मुहावरों का प्रयोग कर नया मार्ग अपनाया। मुहावरों की तुलना में उनके लोकोक्तियाँ अधिक हैं। ठाकुर ने उन्हें भाषा का अलंकरण समझा है। लोकोक्तियों से कवि शीघ्र ही लोक-मानस को छू लेता है। लोकोक्तियों और मुहावरों से भाषा का और बल तो बढ़ जाता है, पर उसमें अलंकारों-जैसा भारीपन नहीं आता। ठाकुर की विशेषता को समकालीन काव्य-प्रवृत्ति से प्रस्थान-भेद ही माना जाएगा।

बोधा : 'विरहवारीश' और 'इश्कनामा'—बोधा की ये दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। पहली तो माधवानल-कामकन्दला की प्रसिद्ध प्रेमकथा पर लिखी गयी प्रबन्ध-रचना है दूसरी प्रेम पर लिखे मुक्तकों का संग्रह है। 'विरहवारीश' में घटनाओं का विस्तार किया गया है। सूफ़ी कवि आलम की रचना से यह आकार में बड़ी है, लेकिन प्रांजलता और प्रौढ़ता इसमें नहीं है। सम्भोग आदि के कुछ वर्णन अश्लील भी हो 'इश्कनामा' अपेक्षाकृत सुथरी रचना है। इसमें प्रेम के निर्वाह-पक्ष पर सहज भाषा प्रभावकारी भाव दिये गये हैं। प्रेम-पन्थ के विषय में बोधा का यह सवैया बड़ा प्रसिद्ध

अति छीन मृनाल के तारहु तें तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई वेहतें द्वार सकीन वहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है।
कवि बोधा अनी घनी नेजहु त चढ़ि तापै न चित्त डरावनो हैं।
यह प्रेम को पन्थ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है।।

बोधा बड़े बेधड़क होकर निःसंकोच बात कहते हैं। यह उनके व्यक्तित्व की विशेषता है। उन्होंने मनोवेगों को प्रायः प्राकृत रूप में व्यक्त किया है। उनमें परिष्कार और संयम का अभाव रहता है। इसीलिए कहीं-कहीं वे निर्मर्याद भी हो गये हैं। पर इस अनियन्त्रित भाव-राशि में भी कवि की स्वच्छन्द प्रकृति का आभास स्पष्ट मिलता है। इनके भाव व्यक्ति-गत हैं। कवि ने जैसा अनुभव किया है, उसे वैसा ही कह दिया है। सँवारने-सजाने की चिन्ता उन्हें नहीं रहती। अकृत्रिमता बोधा की कविता की सर्वप्रमुख विशेषता है।

भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छन्दमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा बोधा में अधिक है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा, घनानन्द ने लक्षणाओं के बल से तथा आलम ने अलंकारों के प्रयोग से चमत्कार का आश्रयण किया है। केवल बोधा ही ऐसे हैं, जो भाषा के स्वाभाविक रूप को लेकर चले हैं। उर्दू-फ़ारसी के शब्द अवश्य कहीं-कहीं बीच में आ जाते हैं। फारसी के प्रभाव से ही भाव भी कहीं-कहीं अधिक खुले और बाज़ारू हो गए हैं, पर ऐसे स्थल कम हैं और वे कवि की स्वच्छन्दता के ही द्योतक हैं।

द्विजदेव : द्विजदेव (१८२०-१८६१) की गणना रीतिबद्ध कवियों में भी की जाती है, किन्तु स्वच्छन्द प्रवृत्ति का प्रभाव उनके काव्य पर अधिक है। उन्होंने शृंगार के रीतिग्रस्त वर्णनों के साथ-साथ हृदय की अनेक अन्तर्दशाओं का मार्मिक उद्घाटन किया है, जिससे वे घनानन्द की दिशा में बढ़ते प्रतीत होते हैं। रोष, क्षोभ, दैन्य, अधैर्य, धृति, स्मृति, उद्वेग, जड़ता आदि कितने ही भावों की सफल व्यंजना उन्होंने की है। ऐसा वे वियोग के प्रसंग में ही कर पाते हैं, संयोग-वर्णन तो परम्परा‌ग्रस्त ही है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय विशेषता प्रकृति-वर्णन की है। उनका प्रकृति-प्रेम स्वच्छन्द है। प्रकृति का आलम्बन-रूप में भी उन्होंने वर्णन किया है। उनके एकमात्र संग्रह-ग्रन्थ 'शृंगारलतिका सौरभ' में वसन्त पर लिखे तेंतीस पद्य हैं। बसन्त राजकुमार की भाँति सबका सेव्य और प्रिय है; वृक्षावली उसका स्वागत करती है :

डोलि रहे विकसे तरु एकै,
सु एकै रहे हैं नवाइकै सीसहिं।
त्यौं द्विजदेव मरन्द के व्याजहिं,
एकै अनन्द के आँसू बरीसहिं।
तैसेउ कै अनुराग भरे,
कर पल्लव जोरि कैं एकैं असीसहिं।।

द्विजदेव की भाषा एक ओर रीतियुग के समस्त काव्य-सौन्दर्य को आत्मसात् किये हुए है; तो दूसरी ओर लक्षणाओं, लोकोक्तियों और मुहावरों से उनकी अभिव्यंजना-शक्ति द्विगुणित हो गयी है। इस दिशा में वे घनानन्द और ठाकुर के पथ पर अग्रसर रहे हैं।

रीतिमुक्त काव्य की सामान्य विशेषताएँ

रीतिमुक्त पद्धति के कवियों और इनकी काव्य-प्रवृत्तियों का जो परिचय यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उसके समन्वित आकलन से रीतिकालीन स्वच्छन्द काव्यधारा का यह स्वरूप स्थिर होता है :

१. इस धारा के कवि अपनी काव्यगत विशेषताओं के प्रति विशेष रूप से हैं। उन्होंने अपने काव्यादर्श व्यक्त किये हैं और उन्हें अपने समसामयिक रीतिबद्ध से पृथक् समझा है। घनानन्द ने विशेष रूप से अपने काव्यादर्शों का साग्रह उद्घोष उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने काव्यमार्ग को परम्परामुक्त स्वच्छन्द वास्तव में इनका काव्य-जगत् भावावेगमय होने के कारण आन्तरिक अधिक है, नहीं; जैसा कि बिहारी, मतिराम, पद्माकर आदि का है। इन कवियों का लक्ष्य भावावेगों को मुक्त भाव से उँड़ेल देना है। आत्मविभोर होकर काव्य-रचना लोग बौद्धिकता को काव्य का अनुकूल गुण नहीं मानते। घनानन्द और आलम के भावों के पर्त के पर्त, उनके भेद-प्रभेद एक के बाद एक उघड़ते जाते हैं। ये भाव माओं के ऐसे आकर्षक बिम्ब लेकर आते हैं कि पाठक उनकी अरूपता का अनुभव पाता और एक अनोखे भावलोक में पहुँच जाता है।

२. इस धारा के काव्य में कवियों की प्रेमानुभूति को आत्माभिव्यक्ति की स्थान प्राप्त हुआ है। रीतिबद्ध कवियों ने प्रेमी-प्रेमिकाओं अथवा नायक-नायिकाओं को कर प्रेम-भाव की जैसी व्यंजना की है, वह यहाँ नहीं है। आत्माभिव्यक्ति की परम्परा भक्ति-साहित्य में ही प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु वहाँ भक्त जो दैन्य-निवेदन करता साधनात्मक और आध्यात्मिक है; जबकि रीतिमुक्त काव्य में वह लौकिक प्रेम-व्यथा मर्मोद्घाटन लिये हुए है। संक्षेप में, रीतिबद्ध काव्य वस्तुप्रधान है, तो रीतिमुक्त काव्य प्रधान। इस धारा के कवि अपने व्यक्तिगत जीवन में किसी-न-किसी से प्रेमाहत हुए इन्हें अपनी प्रेम-व्यथा का वर्णन करने में मुक्ति-जैसा अनुभव हुआ होगा। हिन्दी की काव्य-परम्परा में यह शैली नवीन है। फ़ारसी का प्रभाव इसमें कारण हो सकता है, वहाँ प्रेम-व्यंजना प्रायः उत्तम पुरुष की भाषा में की जाती है।

३. रीतिमुक्त कवियों का प्रेम-वर्णन व्यथाप्रधान है। उसके अन्तर्गत एक तो की मात्रा कम है और वह है भी तो उसमें भी पीड़ा की अनुभूति किसी-न-किसी प्रकार रहती है: "यह कैसौ संयोग न सूझि परै, जो वियोग न क्यों हू विछोहतु है।" परम्परागत शृंगार-वर्णन संयोग के हर्ष और वियोग के विषाद के अन्तर्गत हुआ है, अतः रीतिमुक्त की व्यथा-प्रधानता उसे प्रचलित परम्परा से पृथक् प्रमाणित करती है। इसका एक यह है कि फ़ारसी का प्रभाव इसके मूल में है। वहाँ भी प्रेम वेदनाप्रधान ही हुआ है। दूसरे, तत्कालीन समाज की भी छाया इन कवियों के मन पर पड़ी थी। में व्यक्ति के मन में घुटन और अवसाद के भाव ही प्रमुख रूप से विद्यमान थे। अपने चरम शिखर पर थी। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य पदाक्रान्त था। पीड़ा की कहानी कोई तैयार न था। इसीलिए इन लोगों ने व्यथा को भीतर-ही-भीतर पी लेने की, न करने की बात बार-बार कही है। यह असन्तोष काव्य में प्रेम की भाषा में पाये—यह स्वाभाविक था। इस प्रकार इन कवियों की ऐकान्तिक प्रेमानुभूति के सामाजिक असन्तोष का भी पुट था।

४. प्राचीन काव्य-परम्परा का त्याग इनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है। काल का समूचा साहित्य या तो आलंकारिक चमत्कारों के प्रभाव से शोभा-सम्पन्न हुआ फिर नायिकाभेद अथवा भाव-भेद से। दोनों ही सन्दर्भ अपनी शास्त्रीय इयत्ता में गये थे। नायिकाभेद का बोध कवि को परम्परा से अधिक होता था, जीवन से कम। प्रकार भाव-भेद नौ रसों के स्थायी, संचारी आदि भावों तक परिमित हो गया था।

मुक्त कवियों ने अपनी काव्य-शैली पर जान-बूझकर अलंकारों के चमत्कार को आरोपित नहीं होने दिया है। ठाकुर ने प्राय: निरलंकृत सहज भाषा में अभिव्यक्तियाँ दी हैं। घनानन्द ने अलंकारों का प्रयोग सबसे अधिक किया है, पर वे सप्रयास नहीं प्रयुक्त हुए—भाव के अंग-रूप में प्रयुक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त मुहावरों एवं लक्षणाओं द्वारा शैली में सामर्थ्य, चमत्कार आदि लाने का जो नया मार्ग घनानन्द ने खोला, वह भी उनकी अलंकार-निरपेक्ष शैली का परिचायक है। ठाकुर की शैली अलंकार-सापेक्ष नहीं है, लोकोक्तियों का सफल प्रयोग उसकी विशेषता है। आलम और घनानन्द के काव्य में सैकड़ों ऐसे पद्य मिलते हैं जिनमें एक भी अलंकार नहीं, पर कविता अपनी मार्मिकता से हृदय के अन्तरतम को छू लेती है। इन कवियों की नायिकाएँ व्यक्ति हैं, उनकी रूप-चेष्टाओं का उन्होंने आँखों देखा वर्णन किया है। सुजान का होकर उठना, चिक में से झाँकना, काली साड़ी पहनना, सजकर चलने को उद्यत होना, शराब पीना, नाचने को एड़ी उठाना आदि छोटी-छोटी शतश: चेष्टाएँ घनानन्द के काव्य में वर्णित हैं जिनकी प्रेरणा नायिकाभेद से नहीं प्राप्त हो सकती। अत: रीतिमुक्त कवियों के वर्ण्य विषय और उनकी वर्णन-शैली, दोनों काव्य-परम्परा से मुक्त हैं।

५. रीतिमुक्त कवियों की प्रेम सम्बन्धी धारणा रीतिबद्ध कवियों से भिन्न है। इनके प्रेम में उदात्तता है, रीतिबद्ध कवियों-जैसी ऐन्द्रिय वासना नहीं। प्रेमी वियोग की व्यथा सहकर भी प्रिय की कुशल-कामना करता है; उसके लिए त्याग करता है और अन्तिम श्वास तक उसी का स्मरण करता रहता है। प्रिय नहीं प्राप्त होता तो भी प्रेमी के प्राण प्रिय का सन्देश लेकर वाहर निकलना चाहते हैं। वेदना को प्रेमी अपना भाग्य समझता है, मौन होकर उसे सह लेता है—किसी से कहता नहीं। घनानन्द, आलम, बोधा, ठाकुर सभी इस विषय में एक-सी धारणा लिये हुए हैं। प्रेम की अनन्यता के भाव इन कवियों ने बड़ी दृढ़ता और मार्मिकता के साथ बार-बार व्यक्त किये हैं। यह प्रेम भावनात्मक है। संयोग हो अथवा वियोग, प्रेमी सदा चाह में मग्न रहता है। संयोग के रूप-वर्णन में भी अभिलाषाओं का प्राधान्य रहता है। इसके विपरीत रीतिबद्ध कविता स्थूल, चेष्टाप्रधान अथवा रूपप्रधान प्रेम को लेकर चली है; इसीलिए उसमें कहीं-कहीं अनौचित्य एवं अश्लीलता आ जाती है। इसमें वैसा कुछ नहीं है, क्योंकि इसकी उत्सभूमि और क्रीड़ाभूमि भाव ही हैं।

वियोग में अनुभूतियों का प्राधान्य और भी बढ़ जाता है। उपमानों और बिम्बों के सहारे कवि अन्तर्दशाओं का ऐसा अनुभव करता चलता है कि पाठक भावमग्न हो जाता है। घनानन्द और आलम के काव्य में हमें भावों की अनेक सूक्ष्म अन्तर्दशाओं का वर्णन मिलता है, जो न रुक्ष है और न अनास्वाद्य। भावात्मकता के कारण इन कवियों का प्रेम-वर्णन प्रारम्भ में स्थूल शारीरिक है, पर बाद में परम सत्ता के प्रति उन्मुख होकर ऊर्ध्वगामी बन गया है। इसीलिए इसमें कहीं-कहीं रहस्यात्मकता का सौरभ और बढ़ गया है। रीतिमुक्त प्रेम की एक और विशेषता उसकी विषमता है। उसका निर्वाह कर सकना सबके लिए सुगम नहीं है। प्रेमी प्रिय में आसक्त, उसके वियोग में व्यथा-पीड़ित, आतुर, सचिन्त और सकाम है; वह अपने प्रेम का निर्वाह करने में प्राणपण से प्रस्तुत है पर प्रिय इसके विपरीत उपेक्षक, अन्योन्मुख, सुख-चैन का ग्राहक, भुलक्कड़ और लापरवाह है। उसके सम्बन्ध में प्रेम के निर्वाह का प्रश्न ही नहीं उठता। यह विषमता वैसे तो चारों कवियों के काव्य में विद्यमान है, पर घनानन्द में वह अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी है। प्रेम की विषम भावना के कारण ही घनानन्द की शैली में विरोध की प्रधानता हो गयी है—उन्हें प्रेम की अनुभूति में पद-पद पर विषमता और विरोध के दर्शन होते हैं। इस प्रवृत्ति की प्रेरणा पर विचार करें तो इसके स्रोत पूर्ववर्ती

साहित्य में मिल जाते हैं। फ़ारसी-काव्य में एकपक्षीय प्रेम का ही वर्णन है। में जब वियोग की अनुभूति होती है तो परमेश्वर रूपी प्रिय को निष्ठुर, कठोर और कहकर उलाहना दिया जाता है। सूर का 'भ्रमरगीत' विषम भगवत्प्रेम का ही 'भागवत' के दशम स्कन्ध में भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपिकाओं को समझाया है कि करनेवाले भक्तों से स्वयं प्रेम नहीं करता, इसी से उनका प्रेम परिपक्व होता है।"[1] कवियों की प्रेम-भावना में आध्यात्मिकता की गन्ध से यह गुण आ गया हो, यह है। तीसरा कारण इन लोगों के व्यक्तिगत जीवन की परिस्थितियाँ भी हो सकती हैं सभी के जीवन में असफल प्रेम का प्रसंग घटा था!

विचारणीय बात यह है कि इस विषमता से प्रेमानुभूति में पुष्टता और और अधिक बढ़ती है। इससे प्रिय का स्वरूप सदोष किंवा लांछित नहीं होता, का स्वरूप इस बात से और भी अधिक उज्ज्वल हो उठता है कि वह दूसरी ओर से पाकर भी अपने मार्ग पर अडिग रहता है। अतः रीतिमुक्त कवियों के प्रेम की अनुभूति में दृढ़ता लाने के लिए नियोजित है, न कि उसे एकदेशीय किंवा अपूर्ण लिए।

६. इस धारा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भाषा का असाधारण प्रयोग है। रीतिबद्ध कवियों की भाषा अलंकारों की सत्ता में जकड़ी हुई होने के कारण अपने कटी हुई है और एकरूपता के दोष से पीड़ित है; वहाँ रीतिमुक्त कवियों की भाषा अभावों से मुक्त है। सत्य तो यह है कि रीतिबद्ध कवि भाषा की उस जीवनी-शक्ति अपरिचित हैं जो जायसी, सूर, तुलसी आदि के काव्य में सुलभ है। न उन्हें अपने में सौन्दर्य दिखायी पड़ता है और न भाषा के व्यावहारिक रूप में रमणीयता। कवियों ने इस दिशा में नया मार्ग अपनाया है। सूरदास आदि की भाँति उन्होंने लोकोक्तियों और मुहावरों के प्रयोग से अपनी भाषा-शक्ति बढ़ायी है और के नये आयाम खोले हैं। लक्षणा के सहारे घनानन्द अपनी सूक्ष्म अनुभूतियों को तो अभिव्यक्ति दे ही सके, वे उनमें अनेक प्रकार की चमत्कार-योजना भी कर गए हैं। का काव्य-शिल्प अलंकारों का मुहताज नहीं है, सहज भाषा में बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति उन्होंने की है। ठाकुर ने भी लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रचुर है। उनकी सम्पूर्ण कला ही लोकजीवन की ओर विशेष झुकी हुई है।

७. रीतिमुक्त काव्यधारा का फ़ारसी की काव्य-प्रवृत्तियों से प्रभावित होना भी आकृष्ट करता है। सत्य तो यह है कि अकबर के शासन-काल से ही मुग़ल दरबार में और फ़ारसी के कवियों का साथ-साथ बैठना, एक-दूसरे की कविता को प्रारम्भ हो गया था। फलस्वरूप दोनों ही एक-दूसरे से प्रभावित होने लगे। यह प्रभाव प्रारम्भिक अवस्था में रहा। भक्त कवियों की भाषा में जहाँ-तहाँ फ़ारसी आने लगे और भगवत्प्रेम की अनुभूति में लौकिकता का हल्का रंग झलकने लगा, पर का स्वरूप और आत्मा उससे अछूते रहे। इस काल की काव्य-कला का झुकाव या तो जीवन की ओर है या फिर संस्कृत की काव्य-परम्परा की ओर। किन्तु, रीतिकाल तक आते फ़ारसी उत्तर भारत के हिन्दू समाज में फैलने लगी थी। हिन्दुओं में भी विद्वान् और कवि होने लगे। घनानन्द और आलम फ़ारसी के विद्वान् थे। किंवदन्ती है

---

[1] "नाहं तु तेषां भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये।"

घनानन्द ने कोई मसनवी भी लिखी थी। इसलिए यह प्रभाव विषय, भाव और शैली सब पर आ गया। काव्य भक्तों के बजाय कविन्दों के हाथ में आया, तो कविता भी भगवान् के दरबार से उतरकर राजदरबारों में आ बैठी। राधा और कृष्ण नायक-नायिकाएँ बन गये। उनके प्रेम में नागरिकता और मादकता का सन्निवेश रीतिकाल की देन है, जो दरबारी संस्कृति और उनमें छिपे फ़ारसी-प्रभाव का फल है। जो लोग संस्कृत की परम्परा का निर्वाह कर रहे थे, वे भी इस प्रभाव से अछूते न रह सके। मुक्तक-कला का सर्वव्यापी प्रसार, उपमानों और बिम्बों में परिवर्तन, शृंगार में खण्डिता के वचनों की प्रचुरता आदि को फ़ारसी-काव्य के प्रभाव का ही फल माना जाता है। इस काल के कवित्त-सवैयों में जो अन्तिम पंक्ति अधिक प्रधान होती है, वह भी फ़ारसी का ही प्रभाव है; शेरों में भी प्रभविष्णु अंश उनका अन्तिम भाग रहता है।

रीतिमुक्त कवियों पर यह प्रभाव और भी अधिक पड़ा। विषम प्रेम का आश्रयण, आत्मकथन की शैली में भावात्मक काव्य-प्रणयन और भाषा में अलंकारों की उपेक्षा इसी प्रभाव के परिचायक हैं। आत्मकथन की शैली का कारण कवियों का व्यक्तिगत प्रेमी जीवन भी हो सकता है, पर फ़ारसी का साहित्यिक प्रभाव भी अपनी भूमिका निभा रहा था। घनानन्द तो मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे; साथ ही फ़ारसी के विद्वान् थे, अतः इन पर उसका प्रभाव सर्वाधिक पड़ा। इनकी रचना 'इश्कलता' की भाषा में फ़ारसी के शब्दों की भरमार है। उसके भाव भी फ़ारसी की भाँति अत्युक्तिपूर्ण और आशिकाना ढंग के हैं। घनानन्द-कृत 'वियोगवेलि' का छन्द फ़ारसी का है। शराब, दिल के टुकड़े, प्राणों का घुट भरना, छाती में घाव या छाले पड़ना, छुरी-तलवार या भाले, बधिक आदि अप्रस्तुत इनके समस्त काव्य में प्रचुरता से प्रयुक्त हुए हैं। लक्षणा और मुहावरों के प्रयोग से भाषा की जैसी शक्ति इन्होंने बढ़ायी है, वह प्रभाव का बड़ा स्वस्थ और स्वतन्त्र रूप है। उसमें ब्रजभाषा की निजी प्रकृति का दक्षतापूर्ण प्रयोग हुआ है, फ़ारसी की केवल प्रेरणा है। मुहावरे ब्रज के और लक्षणाएँ कवि की निजी हैं। घनानन्द का यह पक्ष सबसे अधिक अभिनन्दनीय है। भावों में चमत्कार के स्थान पर मार्मिकता, सूक्ष्मता, वैयक्तिकता, विषाद, आन्तरिकता आदि गुण भी फ़ारसी के प्रभाव के फलस्वरूप हैं। शैली में जो रहस्य का पुट कहीं-कहीं आ गया है, वह भी फ़ारसी के सूफ़ी-पक्ष का प्रभाव हो सकता है। सब मिलाकर घनानन्द ने फ़ारसी-प्रभाव का पचाकर प्रयोग किया है, उसका अन्धानुकरण नहीं किया।

आलम की शैली में भी नैराश्य, विषम प्रेम, भावों की आन्तरिकता आदि गुण फ़ारसी के प्रभाव से आये हैं। 'आलमकेलि' को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो इनके सम्बन्ध में कहा है कि 'कहीं-कहीं फ़ारसी-शैली के रसबाधक भाव भी इनमें मिलते हैं'—वह ठीक ही है। बोधा की भाषा और भाव दोनों में फ़ारसी का प्रभाव खुलकर पड़ा। फ़ारसी की प्रचुर शब्दावली के मिश्रण से इनकी भाषा बोझिल और शैली असंयत हो गयी। बोधा के काव्य पर फ़ारसी का खुला प्रभाव सभी आलोचकों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार रीतिमुक्त कवियों ने रीतिकालीन काव्य-फलक पर जो नयी रेखा खींची थी, उसमें उनके व्यक्तित्व की वैशिष्ट्यता के साथ-साथ फ़ारसी के प्रभाव को भी प्रेरक कारण माना जा सकता है।

रीतिकाल की अन्य काव्य-प्रवृत्ति

रीतिकाल में जहाँ सामन्तों और राजाओं का जीवन विलासिता से परिपूर्ण था, वहाँ जनता, जो सच्ची-सीधी थी व खुशामदी बातों से दूर थी, प्राय: धार्मिक वृत्ति की थी और पूर्ववर्ती भक्तिभावधारा के प्रवाह में योग दे रही थी। निर्गुण धारा के अन्तर्ग और सूफ़ी-भावनाओं का समावेश था। उसके प्रभाव से जनसाधारण में से अनेक कवि सर्जना के माध्यम से अपनी भावनाओं को व्यक्त करने लगे; जिन्हें पहले कबीर, आदि व्यक्त कर चुके थे। इस युग में नीतिकाव्य की रचना भी इसी सन्दर्भ में की दूसरी ओर राजा, सामन्त तथा नवाब छोटी-छोटी बातों पर आत्मसम्मान का प्रश्न युद्ध भी करते रहते थे। फलस्वरूप उनके आश्रित दरबारी कवि युद्ध के समय आश्रयदा का यशोगान भी करते थे। इस प्रकार विवेच्य काल में श्रृंगार-काव्य के अतिरिक्त काव्य, नीतिकाव्य और वीरकाव्य की रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई। इनके अतिरिक्त काल के गद्य-साहित्य का अनुशीलन भी अभीष्ट है।

भक्तिकाव्य

हिन्दीभाषी प्रदेशों में चौदहवीं शती तक जिस साहित्य की सर्जना होती रही, प्रमुखरूपेण दो प्रकार का साहित्य मिलता है—एक तो पूर्वी प्रदेशों की सहजयानी तथा पन्थी रचनाएँ और दूसरे, पश्चिमी प्रदेशों की नीतिपरक, श्रृंगारपरक तथा आख्या रचनाएँ। इन दोनों प्रकार की रचनाओं के सम्मिश्रित प्रभाव से दक्षिण के आलवा भक्तिवाद उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता की हृदय-भूमि में अवतार-भावन पल्लवित हुआ। ईसा की बारहवीं शती से पन्द्रहवीं शती तक सूफ़ी सम्प्रदायों का प्रेमत भारतीय धर्म-जिज्ञासुओं को आकृष्ट कर चुका था। सूफ़ी सन्तों ने भारत की प्रचलित कथाओं का सहारा लेकर अपने प्रेमतत्त्वपरक आध्यात्मिक विचार काव्य के माध्यम से प्रारम्भ कर दिये थे। साहित्य के क्षेत्र में इसका परिणाम यह हुआ कि भक्तिकाल के रीतिकाल में भी सन्त-काव्य, सूफ़ी-काव्य, राम-काव्य और कृष्ण-काव्य की रचना रही।

न्त-काव्य

रामानन्द की शिष्य-परम्परा में दो भिन्न भक्ति-भावनाओं के भक्त हुए। निर्गुणमार्गी भक्तों में कबीर, दादू, रैदास आदि प्रसिद्ध सन्त कवि हुए और सगुणमार्गी भक्तों में तुलसीदास-जैसे विख्यात महाकवि। निर्गुण भाव के सन्त कवियों में नामदेव का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। ईसा की तेरहवीं शती में उन्होंने जिस निर्गुण भाव की काव्यधारा प्रवाहित की, वह शनैः-शनैः अग्रसर होती रही और ईसा की सत्रहवीं शती से आगे बढ़कर उन्नीसवीं शती तक भी इसकी ज्ञान-योग-भावना की शान्तिमयी शीतलता प्रदान करती रही। इस भावना को अग्रसर करने में रीतिकाल के कई सन्त कवियों ने समय-समय पर योग दिया जिनमें यारी साहब, दरिया साहब, जगजीवनदास, पलटू साहब, चरनदास, शिवनारायण और तुलसी साहब (हाथरसवाले) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

यारी साहब : ईसा की सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में यारी साहब नाम के एक मुस्लिम सन्त हुए जिन्होंने योग, अध्यात्म, ज्ञान आदि से सम्बद्ध बातों का उपदेश अपनी रचनाओं के माध्यम से दिया। इनका पूरा नाम यारमुहम्मद था। इनका रचना-काल १७०० ई० के लगभग ठहरता है। इन्होंने सूफ़ियों की संगति भी की थी। वैसे, ये प्रमुख रूप से बावरी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त थे। इनके शिष्यों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पाये जाते हैं। जीवात्मा को स्त्री-रूप में और परमात्मा को प्रियतम-रूप में सम्बोधित करते हुए इन्होंने शान्त रस के बड़े अच्छे पद लिखे हैं। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

विरहिनी मन्दिर दियना बार।
बिन बाती बिन तेल जुगुति सों, बिन दीपक उजियार।
प्रान पिया मेरे घर आयो, रचि पचि सेज सँवार।
सुखमन सेज परम तत रहिया, पिय निरगुन निरंकार।
गावहु री मिलि आनँद मंगल, यारी मिलिकै यार॥

दरिया साहब : बिहारवाले दरिया साहब प्रसिद्ध सन्त हो गये हैं। ये जाति के मुसलमान थे। इनका जन्म १६६४ ई० में और स्वर्गवास १७८० ई० में बताया जाता है। इस तरह इनकी आयु ११६ वर्ष की बैठती है। इतनी आयु एक सन्त के लिए सम्भव भी है। इनका विवाह तो नौ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किन्तु पन्द्रह वर्ष की अवस्था से ही वैराग्य लेकर इन्होंने देश-भ्रमण प्रारम्भ कर दिया था। यद्यपि देश-भ्रमण अधिक स्थानों में नहीं किया, फिर भी इनके छत्तीस शिष्य थे, जो बड़े प्रभावशाली थे और इनकी प्रतिष्ठा तथा यश के स्तम्भ थे। दरिया साहब पर कबीर-पन्थ, सूफ़ी-मत और सतनामी सम्प्रदाय का बहुत प्रभाव पड़ा था। इनके ग्रन्थों की संख्या बीस बतायी जाती है। इनकी रचनाओं में आत्म-शुद्धि पर बल दिया गया है। निराकार पूर्ण ब्रह्म की उपासना के विश्वासी होते हुए भी दरिया साहब प्रमुखता नाम-स्मरण को ही देते हैं। इनकी एक प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानदीपक' है। इनकी रचनाओं का एक संग्रह 'दरियासागर' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। निर्गुण और सगुण भक्ति की दृष्टि से हम इनका क्षेत्र निश्चित करना चाहें, तो ये निर्गुण भक्तिधारा के सन्त कवि ही अधिक सिद्ध होते हैं। नाम-स्मरण के माध्यम से निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना ही इनका मुख्य सिद्धान्त और आध्यात्मिक लक्ष्य था। अग्रलिखित पंक्तियों से इनकी विचारधारा का संकेत मिल जाता है और साथ में यह भी विदित हो जाता है कि ये कबीर से कितने प्रभावित थे :

भीतर मैलि चहल कै लागी, ऊपर तन का धोवै है।
अवगति सुरति महल के भीतर, वाका पन्थ न जोवै है।
जुगति बिना कोई भेद न पावै, साधु संगति का गोवै है।
कह दरिया कुटने वे गोदो, सीस पटकि का रोवै है॥

जगजीवनदास : जगजीवनदास अपने शिष्यों में जगजीवन साहब नाम से भी थे। ये सन्त दादूदयाल की शिष्य-परम्परा में आते हैं, लेकिन इन्होंने अपना एक भिन्न चलाया था जिसे 'सत्यनामी' (सतनामी) सम्प्रदाय कहते हैं। इनकी शिष्य-परम्परा चलकर गोविन्द साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि सन्त हुए। जगजीवनदास १६७० ई० में बाराबंकी ज़िले के सरदहा ग्राम में हुआ था। यह गाँव सरयू नदी के कोटवा से चार मील दूर है। इनका स्वर्गवास १७६१ ई० में कोटवा में हुआ। वहाँ सम्प्रदाय की गद्दी और जगजीवनदास की समाधि आज भी मौजूद है। इनकी 'प्रथम ग्रन्थ', 'ज्ञानप्रकाश', 'शब्दसागर', 'आगमपद्धति', 'महाप्रलय', 'प्रेमपन्थ' और उल्लेखनीय हैं। निर्गुण भक्ति-भावना के सन्त कवि होते हुए भी इनकी रचनाओं में सगुण भक्ति का पुट दिखायी पड़ता है। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा तथा अवधी वली का समन्वयात्मक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। इनकी काव्य-शैली का उदाहरण

ऐसे साईं की मैं बलिहरिया री।
ए सखि संग रंग रस मातिउँ देखि रहिउँ अनुहरिया री।
गगन भवन मा मगन भइउँ मैं, बिनु दीपक उँजियरिया री।
झलकि चमकि तहँ रूप विराजै, मिटी सकल अँधियरिया री।
कहा कहौं कहिबे की नाहीं, लागि जाहि मन पहियाँ री।
जगजीवन वह जोती निरमल, मोती हीरा बरियाँ री॥

पलटू साहब : पलटू साहब जाति के वैश्य थे। इनका जन्म फ़ैज़ाबाद ज़िले पुर जलालपुर गाँव में हुआ था। ये आरम्भ में गृहस्थ थे, किन्तु बाद में विरक्त हो इनका जन्म कब हुआ, यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता; फिर भी इतना सकता है कि ये जगजीवनदास के परवर्ती सन्त हैं। इनकी रचनाएँ प्रायः दोहा, झूलना, अरिल्ल आदि छन्दों में मिलती हैं। भाषा में सरलता के साथ-साथ प्रभाव चमत्कारपूर्ण भाषा के लिए इनकी वाणी प्रसिद्धि पा चुकी थी। इनकी अन्योक्तियों में आध्यात्मिक उद्बोधन मिलता है। जीवात्मा को ज्ञान प्राप्त कराने के संकेत श्रोताओं पाठकों पर एकदम सीधा प्रभाव डालते हैं। इनकी काव्य-शैली का उदाहरण इस प्रकार

क्या तू सोवै बावरी चाला जात बसन्त।
चाला जात बसन्त कन्त ना घर में आये।
धृग जीवन है तोर कन्त बिनु दिवस गँवाये।
गर्व गुमानी नारि फिरै जीवन मदमाती।
खसम रहा है रूठि नहीं तू पठवै पाती।
लगै न तेरो चित्त कन्त को नाहि मनावै।
का पर करै सिंगार फूल की सेज बिछावै।
पलटू ऋतु भरि खेलि ले फिरि पछितैहै अन्त।
क्या सोवै तू बावरी चाला जात बसन्त॥

चरनदास : सन्त चरनदास (१७०३-१७८२) अलवर के पास मेवात क्षेत्र के

इनका जन्म अलवर के पास डेहरा गाँव में मुरलीधर नाम के दूसर वैश्य के यहाँ हुआ। इनका विवाह छोटी अवस्था में ही हो गया था; किन्तु इनमें विवाहोपरान्त बहुत जल्दी व-भाव उत्पन्न हो गया और उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करता गया। ये बहुत दिनों तक त गुरु की खोज में घूमते फिरे। जब कोई समर्थ गुरु न मिला, तब एक दिन श्री शुकदेव के दर्शन स्वप्न में प्राप्त करके इन्होंने उन्हें ही अपना गुरु मान लिया। ये 'भागवत' के पाठी थे—उसी के प्रभाव से ये सच्चे ज्ञानी और विरागी बने। वर्षों योगाभ्यास भी । कहते हैं कि इनके बावन शिष्य थे, जो बड़े पण्डित और वक्ता थे। इनके द्वारा प्रवर्तित दासी सम्प्रदाय' की बावन शाखाएँ इन्हीं शिष्यों ने स्थापित की थीं। कहा जाता है कि दास ने इक्कीस ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें इनके विचारों का पल्लवन बहुत स्पष्टता व हुआ है। इनमें योग, भक्ति और सदाचार पर विशेष बल है। इनका स्वर्गवास ी में हुआ था; वहीं इनकी समाधि भी बनी हुई है। इनके प्रमुख ग्रन्थ हैं—अमरलोक ड धाम वर्णन, अष्टांगयोग, ज्ञानस्वरोदय, धर्मजहाज, पंचोपनिषद, ब्रजचरित्र, ब्रह्मज्ञान- र शब्द, भक्तिसागर, मनविक्तकरण गुटकासार, योगसन्देहसागर, भक्तिपदार्थ। जीवात्मा ली और परमात्मा को पति मानकर इन्होंने शान्त रस की सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। जैसे :

हिरदै मैं पावक जरै, हेली तपि नैंना भये लाल।
आँसू पर आँसू गिरैं, हेली यही हमारा हाल॥
प्रीतम बिन कल ना परै, हेली कलकल सब अकुलाहिं।
डिगी परूँ सत ना रहो, हेली कब पिय पकरे बाँहिं॥
गुरु सुकदेव दया करैं, हेली मोहि मिलावै काल।
चरनदास दुख सब भजैं, हेली सदा रहूँ पति नाल॥

शिवनारायण : शिवनारायणी सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त शिवनारायण का जन्म बलिया े के चन्दवार नामक स्थान में हुआ था। 'मूल ग्रन्थ' के अनुसार इनकी आयु ७५ वर्ष की ती है, क्योंकि जन्म सन् १७१६ ई० में और देहावसान सन् १७९१ में माना गया है। ल्यकाल में ही विरक्त हो गये थे। सन्त दुखहरनदास के दर्शन इन्हें एक दिन जंगल में े, उसी क्षण इन्होंने उन्हें अपना गुरु मान लिया। गुरुदेव को ही परब्रह्म मानकर ये न और ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि इन्होंने योगाभ्यास के बल पर प्राणा- न द्वारा सुरति को स्थिर किया था और दिव्य ज्योति के दर्शन किये थे। प्रसिद्ध है कि होंने ज्ञान, योग आदि से सम्बद्ध सोलह ग्रन्थों की रचना की थी, जिनमें 'गुरु अन्यास' सर्वा- क प्रसिद्ध है। इसमें बारह खण्डों के अन्तर्गत इन्होंने जो विचारधारा व्यक्त की है, वह तुः स्वानुभूतिपरक ज्ञानोपदेश ही है। प्रतीकों के माध्यम से इन्होंने आध्यात्मिक जगत् का र वर्णन किया है। पिण्ड के अन्तर्गत हठयोग के द्वारा दिव्य ज्योति की प्राप्ति पर इन्होंने बल दिया है। इनके काव्य में परमात्मा से जीवात्मा का मिलन पति-पत्नी के मिलन भाँति रसमयी वाणी में चित्रित है। इनकी वाणी पर भोजपुरी का प्रभाव स्पष्टतः व्यक्त है। यथा :

फूल एक फुलेला बलम जी के देसवा सतगुरु दिहले लखाय हो।
नैन सनेहिया सोइ फुल निरखत मन मोरा रहले लोभाय हो।
नयन कँवल जल तीनों सुहावन भौंरा गुंजेला तेहि बीच हो।
वाके डार पात नहिं साखा नहीं काँदों नहिं कीच हो॥

तुलसी साहब : तुलसी साहब का कुल-नाम श्यामराव था। प्रसिद्ध है कि ये दाक्षिणात्य

ब्राह्मण थे और पूना के युवराज थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन के मतानुसार इनका १७६० ई० में और देहावसान १८४२ ई० में हुआ था। ये बचपन से ही विरक्त स्व थे। बारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया गया था। ये पेशवा वाजीराव के भाई थे। जिस समय पूना की राजगद्दी देने का अवसर आया तो परम्परा के अनुसार इन्हें गद्दी दी गयी तब ये चुपचाप घर से निकल पड़े और विरागी बने हुए यत्र-तत्र भ करते रहे। अन्त में ये हाथरस (अलीगढ़) में आकर स्थायी रूप से रहने लगे और इन्होंने मत अपना लिया। तुलसी साहब अपने को तुलसीदास का अवतार मानते थे। इसीलि 'तुलसी साहब' नाम से विख्यात हुए। इन्होंने एक पन्थ भी चलाया था जिसका नाम ' पन्थ' है। इनकी गद्दी आज भी हाथरस में है और वहीं समाधि भी बनी हुई है। इ कविताओं में सन्त-मत, दर्शन, वैराग्य, साधना आदि से सम्बद्ध उपदेश भरे हुए हैं। 'घटरा शीर्षक कृति में इन्होंने माया के सम्बन्ध में यह भाव व्यक्त किया है :

नर से निकसी इक नारी, कोई बूझै साधु विचारी।
हाथ न पाँव सीस नहिं काया, खाया सब जग झारी॥
माई न बाप आपसें उपजी, करी खसम की ख्वारी।
बारी न बूढ़ि तरुन तन नाहीं, सोवत सब जग मारी॥
आवै न जाय मरै ना जीवै, जुग जुग रहनि करारी।
ऋषी मुनी सब झारि बिगारे, सब जग त्राहि पुकारी॥

तुलसी साहब के चार ग्रन्थ मिलते हैं, जो बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशि इनके नाम इस प्रकार हैं—घटरामायण, रत्नसागर, शब्दावली, पद्मसार (अपूर्ण)। इ रचनाओं से सिद्ध होता है कि इनके मतानुसार परब्रह्म राम घट-घटवासी हैं और जो ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड में समाविष्ट है।

अन्य सन्त कवि : रीतिकाल के अन्य प्रसिद्ध सन्त कवि अधिकतर सत्रहवीं शता हुए। साहित्यिकता की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम **गुरु तेगबहादुर** (१६२२-१६७५) की र उल्लेखनीय हैं। ये सिखों के नवें गुरु थे। इनकी रचनाओं की भाषा एक प्रकार से ब्रज ही है। 'आदिग्रन्थ' के अन्तर्गत गुरुमुखी लिपि में इनकी रचनाओं को देखा जा सकता इसी अवधि में **आनन्दघन** नामक एक जैन सन्त की जैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकें मिलती हैं, नि निर्गुण भाव के भजन हैं। इनकी 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आनन्दघन बहोत्तरी' कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। सत्रहवीं शती के मध्य में दतिया राज्य के सेनुहरा गाँव में अक्षर नाम के प्रतिभाशाली सन्त हुए। इनका कहना था कि संसार-रूपी समुद्र से तरने के लिए और ईशाराधन ही प्रमुख साधन हैं। योग और वेदान्त-दर्शन पर इनकी छह पुस्तकें जाती हैं—सिद्धान्तबोध, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, राजयोग, विवेकदीपिका और अनन्यप्र

सत्रहवीं शती के एक अन्य प्रसिद्ध सन्त **प्राणनाथ** (१६१८-१६९४) हैं। इनका जामनगर (काठियावाड़) में हुआ था, किन्तु अधिकांश जीवन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हु ये उच्च कोटि के साधक और सन्त थे। भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में भ्रमण करते हुए इ कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। हिन्दी और संस्कृत के अतिरिक्त ये अरबी-फ भी अच्छी तरह जानते थे। देश-भ्रमण करते-करते ही ये बुन्देलखण्ड पहुँचे थे। वहाँ १६७ में इन्होंने महाराज छत्रसाल को दीक्षा दी थी। इनकी कृतियों में उल्लेखनीय हैं—भा सागर, क़यामतनामा, सिधिभाषा, सागर सिंगार, किरतन, खुलास, सम्बन्ध, खेलबात, पट्ट कलस, रामग्रन्थ, प्रकाशग्रन्थ आदि। आध्यात्मिक उपदेशों के माध्यम से मानव-जीवन

उत्तम और उदात्त बनाने में प्राणनाथ की रचनाएँ सफल सिद्ध हुई हैं। जिसके बिना किसकी क्या स्थिति हो जाती है, उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए :

चन्द बिन रजनी, सरोज बिन सरवर,
तेज बिन. तुरग, मतंग बिन मद को।
बिन सुत सदन, नितम्बिनी सुपति बिन,
धन बिन धरम, नृपति बिन पद को॥
बिन हरि भजन जगत साहै जग कौन,
नौन बिनु भोजन, बिटप बिना छद को।
प्राणनाथ सरस सभा न सोहै कवि बिन,
विद्या बिना बात, न नगर बिना नद को॥

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में बिहार में बाबा धरणीदास नामक सन्त हुए, जिन्होंने 'प्रेमप्रगास' और 'रत्नावली' नाम की पुस्तकें लिखीं। लगभग उसी समय गाजीपुर जिले के सन्त बूला साहब ने 'शब्दसागर' नामक पुस्तक लिखी। इसी सन्त-परम्परा में गाजीपुर ज़िले के गुलाल साहब, सतनामी सम्प्रदाय के दूलनदास और गरीबदासी सम्प्रदाय के गरीबदास प्रसिद्ध हैं।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चरणदास की शिष्या दयाबाई और सहजोबाई की निर्गुण भक्ति-भावना की रचनाओं को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ये दोनों चचेरी बहिनें थीं। सहजोबाई दिल्ली के हरिप्रसाद वैश्य की पुत्री थीं। इनका जन्म १७४३ ई० में हुआ था। इनकी रचनाएँ 'सहजप्रकाश' में संगृहीत हैं। गुरु चरणदास के व्यक्तित्व और ज्ञान से प्रभावित सहजोबाई ने अपने गुरु के सम्बन्ध में बहुत लिखा है। गुरु के आभार को इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देस मैं, सतगुरु दई बसाय॥
सहजो गुरु रँगरेज-सा, सब ही कूँ रँग देत।
जैसा तैसा बसन ह्वै, जो कोई आवै सेत॥

उन्नीसवीं शताब्दी के सन्त कवियों में स्वामी शिवदयाल का उल्लेख अपेक्षित है। वे जाति के खत्री थे और सन् १८१८ में उत्पन्न हुए थे। आगरा के पास दयालबाग नाम की बस्ती इनके नाम पर ही बसायी गयी है। 'ये राधास्वामी सत्संग' के प्रवर्तक थे। राधास्वामी-सम्प्रदाय के भक्तजन इन्हें 'स्वामी जी महाराज' नाम से सम्बोधित करते हैं। शिवदयाल जी अर्थात् 'स्वामी जी महाराज' की पत्नी को भक्त लोग 'राधा जी' कहते थे। इसलिए शिवदयाल जी को 'राधा-स्वामी' कहा गया। इनके दो ग्रन्थ हैं—एक पद्य में और दूसरा गद्य में। इनमें योग, साधना और सन्तों से सम्बद्ध उपदेश हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से पहले का सन्त-काव्य व्यापक सदाचरण की मानवीय भावनाओं का क्रान्तिकारी उद्घोष था। एक व्यापक भगवद्भक्ति की उदात्त भावना को बाह्याडम्बर-रहित सच्चरित्र में आबद्ध करके जिस सहज वाणी से कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि ने जनता को आकृष्ट किया था, वह वाणी अठारहवीं शताब्दी में आकर शक्तिहीन हो चली थी। अठारहवीं शती के अन्त में तो सन्तों का अपना जीवन साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता और बाह्याचार के ढोंग से परिपूर्ण हो गया था। अनेक सन्तों की पूजा चल पड़ी थी। सत्रहवीं

ब्राह्मण थे और पूना के युवराज थे। आचार्य क्षितिमोहन सेन के मतानुसार इनका १७६० ई० में और देहावसान १८४२ ई० में हुआ था। ये बचपन से ही विरक्त स्वभाव थे। बारह वर्ष की अवस्था में इनका विवाह कर दिया गया था। ये पेशवा बाजीराव के भाई थे। जिस समय पूना की राजगद्दी देने का अवसर आया तो परम्परा के अनुसार इन्हें गद्दी दी गयी तब ये चुपचाप घर से निकल पड़े और विरागी बने हुए यत्र-तत्र करते रहे। अन्त में ये हाथरस (अलीगढ़) में आकर स्थायी रूप से रहने लगे और इन्होंने मत अपना लिया। तुलसी साहब अपने को तुलसीदास का अवतार मानते थे। इसीलिए 'तुलसी साहब' नाम से विख्यात हुए। इन्होंने एक पन्थ भी चलाया था जिसका नाम ' पन्थ' है। इनकी गद्दी आज भी हाथरस में है और वहीं समाधि भी बनी हुई है। इन कविताओं में सन्त-मत, दर्शन, वैराग्य, साधना आदि से सम्बद्ध उपदेश भरे हुए हैं। 'घटरामा शीर्षक कृति में इन्होंने माया के सम्बन्ध में यह भाव व्यक्त किया है :

> *नर से निकसी इक नारी, कोई बूझै साधु विचारी।*
> *हाथ न पाँव सीस नहिं काया, खाया सब जग झारी॥*
> *माई न बाप आपसें उपजी, करी खसम की ख्वारी।*
> *बारी न बूढ़ि तरुन तन नाहीं, सोवत सब जग मारी॥*
> *आवै न जाय मरै ना जीवै, जुग जुग रहनि करारी।*
> *ऋषी मुनी सब झारि बिगारे, सब जग त्राहि पुकारी॥*

तुलसी साहब के चार ग्रन्थ मिलते हैं, जो बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं—घटरामायण, रत्नसागर, शब्दावली, पद्मसार (अपूर्ण)। इन रचनाओं से सिद्ध होता है कि इनके मतानुसार परब्रह्म राम घट-घटवासी हैं और जो ब्रह्माण्ड में है, वह सभी पिण्ड में समाविष्ट है।

अन्य सन्त कवि : रीतिकाल के अन्य प्रसिद्ध सन्त कवि अधिकतर सत्रहवीं शताब्दी में हुए। साहित्यिकता की दृष्टि से इनमें सर्वप्रथम **गुरु तेगबहादुर** (१६२२-१६७५) की रच उल्लेखनीय हैं। ये सिखों के नवें गुरु थे। इनकी रचनाओं की भाषा एक प्रकार से ब्रज ही है। 'आदिग्रन्थ' के अन्तर्गत गुरुमुखी लिपि में इनकी रचनाओं को देखा जा सकता है। इसी अवधि में आनन्दघन नामक एक जैन सन्त की जैन धर्म सम्बन्धी पुस्तकें मिलती हैं, जि निर्गुण भाव के भजन हैं। इनकी 'आनन्दघन चौबीसी' और 'आनन्दघन बहोत्तरी' कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। सत्रहवीं शती के मध्य में दतिया राज्य के सेनुहरा गाँव में अक्षर नाम के प्रतिभाशाली सन्त हुए। इनका कहना था कि संसार-रूपी समुद्र से तरने के लिए और ईशाराधन ही प्रमुख साधन हैं। योग और वेदान्त-दर्शन पर इनकी छह पुस्तकें जाती हैं—सिद्धान्तबोध, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, राजयोग, विवेकदीपिका और अनन्यप्रकाश

सत्रहवीं शती के एक अन्य प्रसिद्ध सन्त **प्राणनाथ** (१६१८-१६९४) हैं। इनका ज जामनगर (काठियावाड़) में हुआ था, किन्तु अधिकांश जीवन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ। ये उच्च कोटि के साधक और सन्त थे। भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में भ्रमण करते हुए इन्होंने कई भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया था। हिन्दी और संस्कृत के अतिरिक्त ये अरबी-फ़ा भी अच्छी तरह जानते थे। देश-भ्रमण करते-करते ही ये बुन्देलखण्ड पहुँचे थे। वहाँ १६७४ में इन्होंने महाराज छत्रसाल को दीक्षा दी थी। इनकी कृतियों में उल्लेखनीय हैं—मार सागर, क़यामतनामा, सिंधिभाषा, सागर सिंगार, किरतन, खुलास, सम्बन्ध, खेलबात, पट कलस, रामग्रन्थ, प्रकाशग्रन्थ आदि। आध्यात्मिक उपदेशों के माध्यम से मानव-जीवन

उत्तम और उदात्त बनाने में प्राणनाथ की रचनाएँ सफल सिद्ध हुई हैं। जिसके बिना किसकी क्या स्थिति हो जाती है, उसे उन्हीं के शब्दों में देखिए :

चन्द बिन रजनी, सरोज बिन सरवर,
तेज बिन. तुरग, मतंग बिन मद को।
बिन सुत सदन, नितम्बिनी सुपति बिन,
धन बिन धरम, नृपति बिन पद को ॥
बिन हरि भजन जगत साहै जग कौन,
नौन बिनु भोजन, बिटप बिना छद को।
प्राणनाथ सरस सभा न सोहै कवि बिन,
विद्या बिना बात, न नगर बिना नद को ॥

सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में बिहार में बाबा **धरणीदास** नामक सन्त हुए, जिन्होंने 'प्रेमप्रगास' और 'रत्नावली' नाम की पुस्तकें लिखीं। लगभग उसी समय गाज़ीपुर ज़िले के बूला साहब ने 'शब्दसागर' नामक पुस्तक लिखी। इसी सन्त-परम्परा में गाज़ीपुर ज़िले के गुलाल साहब, सतनामी सम्प्रदाय के दूलनदास और गरीबदासी सम्प्रदाय के गरीबदास प्रसिद्ध हैं।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में चरणदास की शिष्या **दयाबाई** और **सहजोबाई** की निर्गुण भक्ति-भावना की रचनाओं को प्रसिद्धि प्राप्त हुई। ये दोनों चचेरी बहिनें थीं। सहजोबाई दिल्ली के हरिप्रसाद वैश्य की पुत्री थीं। इनका जन्म १७४३ ई० में हुआ था। इनकी रचनाएँ 'सहजप्रकाश' में संगृहीत हैं। गुरु चरणदास के व्यक्तित्व और ज्ञान से प्रभावित सहजोबाई ने अपने गुरु के सम्बन्ध में बहुत लिखा है। गुरु के आभार को इन्होंने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देस मैं, सतगुरु दई बसाय ॥
सहजो गुरु रँगरेज-सा, सब ही कूँ रँग देत।
जैसा तैसा वसन ह्वै, जो कोई आवै सेत ॥

उन्नीसवीं शताब्दी के सन्त कवियों में स्वामी **शिवदयाल** का उल्लेख अपेक्षित है। ये जाति के खत्री थे और सन् १८१८ में उत्पन्न हुए थे। आगरा के पास दयालबाग नाम की बस्ती इनके नाम पर ही बसायी गयी है। 'ये राधास्वामी सत्संग' के प्रवर्तक थे। राधास्वामी-सम्प्रदाय के भक्तजन इन्हें 'स्वामी जी महाराज' नाम से सम्बोधित करते हैं। शिवदयाल जी अर्थात् 'स्वामी जी महाराज' की पत्नी को भक्त लोग 'राधा जी' कहते थे। इसलिए शिवदयाल जी को 'राधा-स्वामी' कहा गया। इनके दो ग्रन्थ हैं—एक पद्य में और दूसरा गद्य में। इनमें योग, साधना और सन्तों से सम्बद्ध उपदेश हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

ईसा की सत्रहवीं शताब्दी से पहले का सन्त-काव्य व्यापक सदाचरण की मानवीय भावनाओं का क्रान्तिकारी उद्घोष था। एक व्यापक भगवद्भक्ति की उदात्त भावना को बाह्याडम्बर-रहित सच्चरित्र में आबद्ध करके जिस सहज वाणी से कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि ने जनता को आकृष्ट किया था, वह वाणी अठारहवीं शताब्दी में आकर शक्तिहीन हो चुकी थी। अठारहवीं शती के अन्त में तो सन्तों का अपना जीवन साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विता और बाह्याचार के ढोंग से परिपूर्ण हो गया था। अनेक सन्तों की पूजा चल पड़ी थी। सत्रहवीं

तथा अठारहवीं शताब्दी के सन्त-काव्य में हमें अभिव्यंजना का शक्तिमय प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। उसमें अर्थहीन पहेलियाँ तथा व्यर्थ के शब्द-जाल ही अधिक दिखायी पड़ते हैं। अपने-अपने सम्प्रदायों की प्रतिष्ठा, दिखावटी आडम्बर और ख्याति में डूबे रहनेवाले सन्त सच्ची भगवद्भक्ति से कोसों दूर हो गये। इसका परिणाम यह हुआ कि वे सत्य से हट गये और सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा में साधन-शुद्धि को छोड़ बैठे। सत्य एवं सदाचरण का बल ही काव्य की वाणी में शक्ति का संचार किया करता है। उसके अभाव में सन्त-काव्य की शक्ति क्षीण होती गयी और अन्त में पहेलियों तथा बुझौवलों ने सन्त-वाङ्मय को नितान्त निर्जीव-सा बना दिया। परिणाम यह हुआ कि अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक वह प्रायः समाप्त-सा हो गया। वह काव्य वास्तव में भगवत्प्रेम और जगत् से विरक्ति उत्पन्न न कर सका। दो-एक सन्त कवियों को छोड़कर यही कहा जा सकता है कि रीतिकालीन सन्त-काव्य के स्रष्टा कवि न तो सुकवि हैं और न ही सूक्तिकार; वे केवल पद्यकार हैं। उनकी रचनाएँ पाठक की केवल बोधवृत्ति जाग्रत करती हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न नहीं करतीं।

सूफ़ी-काव्य अथवा प्रेमाख्यान-काव्य

यद्यपि हिन्दी में प्रेमाख्यानों की सूफ़ी-काव्यधारा का पूर्ण उत्कर्ष भक्तिकाल में लक्षित होता है, किन्तु वस्तुतः यह काव्यधारा उन्नीसवीं शती के अन्त तक प्रभावित होती रही। रीतिकाल में प्रायः दो प्रकार के प्रेमाख्यान-काव्य लिखे गये—आध्यात्मिक सिद्धान्तपरक तथा लौकिक प्रेमपरक। इनमें से प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रायः कल्पित प्रेमाख्यान अधिक लिखे गये। इनके रचयिताओं में कुछ मुसलमान सूफ़ी कवि थे और कुछ हिन्दू सन्त कवि। मुसलमान सूफ़ी कवियों में कासिमशाह, नूर मुहम्मद और शेख निसार विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। हिन्दू कवियों में सूरदास और दुखहरनदास अधिक प्रसिद्ध हैं। लौकिक प्रेमाख्यानकारों में बोधा, चतुर्भुजदास आदि का उल्लेख अभीष्ट है।

कासिमशाह : इनका जन्म बाराबंकी ज़िले के दरियाबाद नगर में श्री इमानुल्लाह के यहाँ हुआ था। ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समकालीन थे। जिस प्रकार मलिक मुहम्मद जायसी के प्रेमकाव्य 'पदमावत' में रत्नसेन और पद्मावती की प्रेमकथा है उसी प्रकार कासिमशाह के 'हंस-जवाहर' (१७३६) काव्य में शहज़ादा हंस और शहज़ादी जवाहर की प्रेम-कहानी है। हंस बलख के सुलतान बुढ़ानशाह का पुत्र है और जवाहर चीन देश के आलमशाह की पुत्री है। दोनों एक-दूसरे को स्वप्न में देखते हैं और प्रेमाबद्ध हो जाते हैं। 'हंस-जवाहर' काव्य के कथानक का विस्तार कल्पना के आधार पर किया गया है। वर्णन में कासिमशाह ने जायसी के 'पदमावत' की शैली को अपनाया है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार जायसी ने 'पदमावत' में सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहा लिखा है, ठीक उसी प्रकार 'हंस-जवाहर' में भी सात अर्द्धालियों के उपरान्त एक दोहा लिखा गया है। 'पदमावत' में तो जायसी का कुछ परिचय मिल जाता है, किन्तु 'हंस-जवाहर' में कासिमशाह ने अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। भाषा की दृष्टि से यह शुद्ध अवधी भाषा की रचना नहीं है, इसमें ब्रजभाषा और अवधी का गंगा-जमनी रूप प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ की भाषा में 'होना' क्रिया का भूतकालीन अवधी-रूप 'भा' भी है और ब्रजभाषा-रूप 'भयो' भी। जवाहर स्वप्न में हंस को देखती है और जागने पर अपनी विरह-व्यथा को इन शब्दों में व्यक्त करती है:

कहँ गइ रैनि सुहावनी, भोर भयो केहि काज।
मैं पापिन कस जागहूँ, बिछुड़ि गयो सरताज॥

भा अति सोच बिरह धुनि केरी। निरखे रूप मिले नहिं हेरी।
पिय आपुहि माँ अहै समाना। ओहट भयो आग दै प्राना।
सपने कंठ कन्त के लागी। बाउर भई सोय जब जागी।

नूर मुहम्मद : नूर मुहम्मद के जन्म और देहावसान-काल के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में नूर मुहम्मद विद्यमान थे। इनका रचना-काल १७४४ से १७६४ ई० तक माना जाता है। इनका जन्म जौनपुर ज़िले के सबरहद नामक स्थान में हुआ था। विवाह के उपरान्त ये अपनी ससुराल भादों (आज़मगढ़) चले गये थे। नूर मुहम्मद अवधी भाषा के तो ज्ञाता थे ही, फ़ारसी के अच्छे आलिम भी थे। इन्होंने 'इन्द्रावती' (१७४४) नामक प्रेमाख्यान-काव्य में कालिंजर के राजकुमार राजकुँवर और आगमपुर की राजकुमारी इन्द्रावती की प्रेम-कहानी सूफ़ी-सिद्धान्तों को व्यक्त करने की दृष्टि से लिख़ी है। जायसी ने 'पदमावत' में सात अर्द्धालियों के बाद एक दोहा लिखा है, लेकिन जायसी के पूर्ववर्ती सूफ़ी कवि पाँच अर्द्धालियों के पश्चात् एक दोहा लिखा करते थे। 'इन्द्रावती' में भी पाँच अर्द्धालियों के उपरान्त ही एक ही दोहा लिखा गया है। इसकी भाषा जनपदीय अवधी है। शाहेवक़्त की तारीफ़ के बाद नूर मुहम्मद ने कथानक की भूमिका इन शब्दों में व्यक्त की है :

मन दृग सों इक राति मझारा। सूझि परा मोहिं सब संसारा।
देखेउँ एक नीक फुलवारी। देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी।
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई। चन्द सुरज उतरें भुइँ आई।
तपी एक देखेउँ तेहि ठाऊँ। पूछेउँ तासों तिन्हकर नाऊँ।
कहा अहैं राजा औ रानी। इन्द्रावति औ कुँवर गिआनी।
आगमपुर इन्द्रावती, कुँवर कलिंजर राय।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ, दीन्हा अलख जगाय॥

'इन्द्रावती' के पश्चात् नूर मुहम्मढ ने 'अनुराग बाँसुरी' (१७६४) की रचना की। इसमें पाण्डित्यपूर्ण शैली में तत्त्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। कवि ने इसमें शरीर, जीवात्मा तथा मन की वृत्तियों का रूपक बाँधकर अध्यात्म को समझाया है। इसकी भाषा संस्कृत-मिश्रित अवधी है, जिसमें यत्र-तत्र ब्रजभाषा की शब्दावली भी समाविष्ट है। इस ग्रन्थ में कवि ने अर्द्धालियों के बाद दोहा न लिखकर एक बरवै छन्द लिखा है। नूर मुहम्मद की भाषा-शैली सरस और मुहावरेदार है। शब्द-विन्यास सहज और प्रवाहमय है, जो श्रोता और पाठक पर सीधा प्रभाव डालता है। काव्यों के कथा-विन्यास से भी कवि की प्रतिभा का सुन्दर आभास मिलता है।

शेख निसार : शेख निसार का वास्तविक नाम गुलाम अशरफ़ था। इनके पिता शेख़ गुलाम मुहम्मद फ़ैज़ाबाद के पास के शेख़पुर गाँव के रहनेवाले थे। ईसा की अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में नवाब शेख निसार ने 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' (१७९०) की रचना की थी। कासिमशाह-कृत 'हंस-जवाहर' की पद्धति पर इन्होंने भी अपने प्रेमाख्यान का नाम 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' रखा था, जिसमें प्रेमी यूसुफ़ का नाम पहले और प्रेमिका ज़ुलेखा का नाम बाद में है। इस काव्य के नायक-नायिका काल्पनिक नहीं हैं—यूसुफ़ का वृत्तान्त 'क़ुरान' में आया है; 'क़ुरान' का बारहवाँ सूरा 'सूरा यूसुफ़' के नाम से पुकारा जाता है। 'क़ुरान शरीफ़' के उसी यूसुफ़ नामक व्यक्ति की प्रेम-कथा शेख निसार ने अपने काव्य 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' में लिखी है। मसनवी-शैली में लिखित इस कृति में आसफ़ुद्दौला की प्रशंसा भी की गयी है, क्योंकि उन दिनों वही शाहेवक़्त थे। 'यूसुफ़ ज़ुलेखा' की भाषा जनपदीय अवधी है और

कथानक में अलौकिकता की भरमार है। शीरीं-फ़रहाद और लैला-मजनूँ की भाँति
ज़ुलेखा' का कथानक भी प्रेमपरक है। ज़ुलेखा ने स्वप्न में यूसुफ़ को देखा था। इस पर
जो दशा हुई, उसे कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

दिन भर मौन गहे रहै, भूख प्यास गई भूल।
पान खाइ न रस पियैं, काँट भये सब फूल॥
भूषन रतन उतारि जो डारा। दुखदायक भई सभै सिंगारा।
मन महँ सोच करै मुरझाई। लैगा प्रान सरूप देखाई।
नाउँ ठाउँ कछु जानौं नाहीं। कहाँ सो खोज करौं जग माहीं।

यहाँ भी स्मरण रखना आवश्यक है कि शेख़ निसार ने अर्द्धालियों के वाद एक
लिखने का क्रम अपना निजी ही रखा है। उन्होंने पाँच अथवा सात अर्द्धालियों के वाद दोहा
लिखकर नौ अर्द्धालियों के वाद दोहा लिखा है। शेष वर्णन-पद्धति मसनवी-शैली का
अनुसरण करती है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के क्षेत्र में वे प्रायः बनी-बनायी
पगडण्डी पर ही चले हैं। जायसी की भाँति नवीन उद्भावनाएँ उनमें नहीं मिलतीं।

सूरदास : हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में सूरदास नाम के कई कवि हो गये हैं—पहले तो
छापी भक्त कवि सूरदास हैं, दूसरे सूरदास सन्त थे जो बनारस में रहा करते थे और
सूरदास सूफ़ी थे। इनके पिता का नाम गोवर्धनदास था। वे ज़िला गुरदासपुर के कलानौर
के निवासी थे, किन्तु वहाँ से लखनऊ आकर बस गये थे। यहीं सूरदास का जन्म हुआ था।
दास ने अपनी कृति 'नलदमन' (१६५७) में शाहेवक़्त शाहजहाँ की प्रशंसा लिखी है।
दमयन्ती की कथा मूलतः 'महाभारत' में मिलती है, उसी को कवि सूरदास ने सूफ़ी
की भाँति मसनवी-शैली में पल्लवित किया है। इसमें जनपदीय अवधी के माध्यम से
त्मिक प्रेम का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से कवि की
अलंकारों एवं साहित्यिकता से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र कुछ अश्लीलता होने पर भी इस
पर्याप्त कवित्व मिलता है। कवि की उत्प्रेक्षाएँ परम सुन्दर और आकर्षक हैं। शृंगार
साधनों से वीर रस का संकेत देते हुए कवि सूरदास दमयन्ती के विषय में लिखते हैं :

नैन चपल हैं कोतल काँछै। कज्जल बाग लगै पुनि आछै।
पवन लागि अंचल फरहरा। सोई जान ध्वजा कै धरा॥
फेरि भँवर सुर राजहीं, नूपुर बर्जाहि निसान।
ऐसी सजि कामिनि चली, सेज जुद्ध मैदान॥

दुखहरनदास : दुखहरनदास का मूल नाम मनमनोहर था। ये जाति के कायस्थ
और गाज़ीपुर के रहनेवाले थे। मलूकदास के शिष्यत्व में इन्होंने आध्यात्मिक ज्ञान की
पायी थी। जायसी के 'पदमावत' के आधार पर इन्होंने 'पुहुपावती' (१६६९) की रचना
की। काव्य के आरम्भ में निर्गुण राम की वन्दना के उपरान्त शाहेबक़्त औरंगज़ेब का
किया गया है। इसमें राजकुमार कुमार और राजकुमारी पुहुपावती की प्रेम-कथा का
है। जिस प्रकार नारी (पद्मावती) की प्रधानता रखते हुए जायसी ने अपने काव्य का
'पदमावत' रखा, ठीक उसी प्रकार दुखहरनदास ने भी नारी (पुहुपावती) की प्रमुखता
कारण अपने काव्य का नाम 'पुहुपावती' रखा था। सूफ़ी-सिद्धान्तों के अनुसार
शरीअत, तरीक़त और हक़ीक़त नाम की मंज़िलें पार कर लेता है, तव मारफ़त (सिद्धावस्था)
प्राप्त होती है। इसी की सम्पुष्टि के लिए 'पुहुपावती' काव्य की क़था में कुमार अनेक
नाइयाँ झेलता हुआ पुहुपावती के साथ विवाह का संयोग प्राप्त करता है। इस प्रकार

प्रेम-काव्य मानव को सांसारिकता की निद्रा से जगाकर ज्ञानमय ईश्वरीय प्रेम का सन्देश प्रदान करता है। यही कवि का अपना दृष्टिकोण भी है :

जागहिं खेलत जुआ जुआरी। जागहिं रसिक पुरुष औ नारी।
जागै कारन मैं चित जानी। हिअ उपजाई प्रेम कहानी।

प्रबन्धात्मकता तथा कवित्व की दृष्टि से दुखहरनदास की कृति महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। सूफ़ी प्रेमाख्यान-काव्यों में 'पुहुपावती' इस दृष्टि से भी नवीन और महत्त्वपूर्ण है कि इसमें चौपाइयों तथा दोहों के साथ कवित्त-सवैयों का भी प्रयोग है। भाषा की दृष्टि से इसमें जनपदीय अवधी के साथ-साथ ब्रजभाषा का भी पुट मिलता है।

उपर्युक्त आध्यात्मिक प्रेमगाथाओं में प्रेम-अर्थमूलक शब्दावली प्रमुखतः उपमान या प्रतीक के रूप में ही प्रयुक्त हुई है। कवियों का अभीष्ट कथ्य पारलौकिक प्रेम ही है, लौकिक प्रेम को तो काव्य की अर्थबोधगम्यता और सरसता की दृष्टि से साधन-रूप में ग्रहण किया गया है। इन काव्यों के अवलोकन से विदित होता है कि प्रेम पहले साधक के मन में उत्पन्न होता है। जब बन्दा (भक्त या प्रेमी) प्रेम के सागर में पूरी डुबकी लगाने लगता है तब खुदा या ईश्वर (प्रियतम) में भी बन्दे (भक्त) के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस तरह आध्यात्मिक प्रेमाख्यानों में उभयांगी प्रेम की अभिव्यक्ति स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। कवियों का सन्देश यही है कि सच्चे प्रेमी भक्त की दृष्टि में यह दुनिया प्रेम का क्षेत्र है। जिस प्रेमी भक्त के मन में अलौकिक प्रेम-रस उत्पन्न हो गया, वह निश्चितरूपेण इहलोक तथा परलोक का राजा बन गया। प्रेम-साधना में 'काम' भाव प्रधान रहा है, किन्तु यह 'काम' परम पवित्र और समुज्ज्वल है। यह विषय-भोग से परे है और दिव्य है। इसे लौकिक 'काम' न समझने के लिए पाठकों को स्थल-स्थल पर सावधान भी किया गया है। वास्तव में इश्क़ मजाजी को इश्क़ हक़ीक़ी तक पहुँचने के लिए सीढ़ी के रूप में ही स्वीकार किया गया है—इस साधना का मूल तत्त्व 'काम' (इश्क़) जीवित अवस्था में ही मुक्ति प्रदान करनेवाला है। सन्त दुखहरनदास 'पुहुपावती' में लिखते हैं :

दुःखहरन यहि काम कहँ, राखि सके जो कोइ।
जगत माँह सो सहज ही, मुक्ती जीअत होइ॥

लौकिक प्रेमपरक आख्यानकाव्यों की भी रीतिकाल में प्रभूत रचना हुई। **केसि** का 'माधवानल नाटक' (१६६०) दोहा-चौपाई-शैली में रचित है। अवधी भाषा के इस काव्य में माधवानल-कामकन्दला की प्रसिद्ध कथा सामान्य ढंग से वर्णित है। **दामोदर** कवि की 'माधवानल कथा' (१६८०) भी इसी आख्यान पर आधारित है। **हंस** कवि की 'चन्द्रकुँवर री बात' (१६९३) भी इस काल की प्रसिद्ध प्रेम-कथा है, जिसमें प्रचलित कथानक-रूढ़ियों का विपुल समावेश है। इसकी रचना राजस्थानी में हुई है और कहीं-कहीं इसमें गद्य का भी प्रयोग है। इसी शताब्दी के किसी अज्ञात कवि ने 'सारंगा सदैव्रछ रा दूहा' काव्य लिखा था। इसमें राजा शालिवाहन के पुत्र सदयवत्स और उनके मन्त्री की पुत्री सारंगा की प्रेम-कहानी है जो राजस्थान में आज भी प्रचलित है। सत्रहवीं शती में ही अनेक 'बातें' (प्रेम-कथाएँ) राजस्थानी में लिखी गयीं, जो अठारहवीं शती तक चलती रहीं। इनमें निम्नांकित विशेषतः उल्लेख्य हैं—मौभल री बात, मलयगिरि री बात, रावल लषणसेन री बात, सोहणी री बात, बीझरै अहीर री बात आदि।

अठारहवीं शती के लौकिक प्रेमाख्यानों में **बोधा** का 'विरहवारीश' (१७५२-१७५९) विशेष प्रसिद्ध है। इसमें वियोग-अवस्था का मर्मस्पर्शी वर्णन मिलता है। अभि-

व्यंजना-शैली की नवीनता भी इस कृति में प्रायः लक्षित होती है। इस प्रेमाख्यानों में **जनकुंज** का 'उषाचरित्र' (१७८०), **चतुर्भुजदास** की 'मधुमालती' और **सेवाराम** का 'नल-दमयन्ती चरित्र' (१७९६) उपलब्ध हैं। 'उषाचरित्र' कथा पर आधारित है और अवधी में रचित है। 'मधुमालती' में अन्य अनेक भावों प्राप्त रहने पर भी शृंगार-वर्णन की प्रमुखता है। छन्द-वैविध्य भी इस काव्य की प्रवृत्ति है। 'नल-दमयन्ती चरित्र' की रचना 'महाभारत' के नल-दमयन्ती-आख्यान पर हुई है। प्रेम-वर्णन के अतिरिक्त इसमें स्थान-स्थान पर धर्म, दर्शन और नीति पादन हुआ है।

लौकिक प्रेमाख्यानों की रचना-परम्परा उन्नीसवीं शताब्दी में भी गतिशील शती के रीतिकालीन प्रेमाख्यानकारों में **जीवनदास नागर** (उषा-अनिरुद्ध, १८२९), दास (उषा-अनिरुद्ध, १८३१) और **रामदास** (उषा-अनिरुद्ध, १८३७) का उल्लेख है। इन तीनों ने उषा-अनिरुद्ध के प्रसिद्ध आख्यान का दोहा-चौपाई-शैली में अवधी वर्णन किया है। कवित्व और मौलिकता की दृष्टि से इनका अधिक महत्त्व नहीं है। अतिरिक्त किसी अज्ञात कवि ने 'रमणशाह छबीली भटियारी की कथा' (१८४८ ई० की रचना इसी काल में की थी। इसमें कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग भी हुआ है।

उपर्युक्त लौकिक प्रेम-काव्य लोक-प्रचलित कहानियों तथा पौराणिक कथाओं पर रित हैं, यद्यपि इनके कथानकों तथा पात्रों की जीवन-चर्या में कहीं-कहीं सूफ़ियों की के प्रभाव को भी स्पष्टतः देखा जा सकता है।

इस प्रकार प्रेमाख्यानक धारा ईसा की सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती साहित्य-धरा पर अबाध रूप में प्रवाहित होती रही। यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत, और अपभ्रंश में प्रचुर प्रेमाख्यान लिखे गये थे। इन भाषाओं के साहित्य में प्रेममूलक दो दृष्टियों से प्रविष्ट हुए थे—एक, किसी आध्यात्मिक तत्त्व की व्याख्या करने दूसरे, प्रेमकथा-वर्णन के लिए। कालान्तर में नयी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परि उत्पन्न हुईं। परिणामतः आख्यानों में नवीन तत्त्वों का भी समावेश हुआ। हिन्दी के प्रे में नयी प्रेम-पीड़ा और नयी रंगत की तड़प पैदा हुई। भक्तिकालीन प्रेमाख्यानों में और उत्कृष्ट प्रेम-पीड़ा या बुलन्द दर्देइश्क़ की विशद अभिव्यक्ति हुई थी, वह रीति प्रेमाख्यानों में कुछ संकीर्ण बन गयी। तात्पर्य यह है कि रीतिकाल के प्रेमपरक जीवन की उस विस्तृत-व्यापक परिधि का स्पर्श नहीं करते, जिसके दर्शन भक्तिकालीन ख्यान-काव्यों में होते हैं। वास्तव में इन प्रेमाख्यानों का कथानक विशेषतः रागात्मक में बँधकर चला है। वह ऊपरी तौर से ही ईश्वरोन्मुखी दृष्टिगत होता है, अन्यथा रीति शृंगार-भावना की बहुत झीनी-सी चादर उस पर पड़ी हुई है। यदि भक्तिकालीन प्रे और रीतिकालीन प्रेमाख्यानों में सोदाहरण अन्तर बताने का प्रयत्न किया जाए, तो मुहम्मद जायसी और नूर मुहम्मद की रचनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके कही जा सकती है। 'पदमावत' में जिस लोकजीवनव्यापी भावना की प्रेम-ज्योति के होते हैं, वैसी ज्योति नूर मुहम्मद की 'इन्द्रावती' और 'अनुराग बाँसुरी' में दिखा देती। इन्द्रावती में वह व्यापक, विशाल और परमोदात्त पारस-रूप कहाँ, जो पदमावती में है। नूर मुहम्मद का दृष्टिकोण संकीर्ण और साम्प्रदायिक है।

भक्तिकालीन प्रेमाख्यानों के रचयिता जायसी आदि कवि भाषा की जिस स्वाभाविकता और अनलंकृति को लेकर चले हैं, वैसी स्वाभाविकता रीतिकालीन प्रे

नहीं पायी जाती—उनमें अत्यधिक अलंकरण, पाण्डित्य-प्रदर्शन और नायक-नायिकाभेद की ओर झुकाव पाया जाता है। उनका नखशिख-वर्णन भी रीतिकाव्य-ग्रन्थों के प्रभाव में आकर रस, बोझिल और अकाव्योचित बन गया है। जायसी आदि ने विरह-वर्णन की लीक जैसी और जिस शैली के साथ बना दी थी, उसी पर प्रायः सभी रीतिकालीन प्रेमाख्यानकार चले हैं। संयोग का वर्णन इन्होंने नहीं के बराबर किया है। संसार में रहते हुए और सांसारिक जीवन बिताते हुए भी मानव को ईश्वरीय आनन्द की प्राप्ति कराने में सूफ़ी कवि सफल सिद्ध हुए हैं। सन्त हिन्दू कवियों की प्रेमपरक रचनाएँ भी सूफ़ी अध्यात्मदर्शन से पर्याप्त प्रभावित हैं। रीतिकालीन श्रृंगारिक काव्य-धारा से वासना को जो बल मिला था, उसे रीतिकालीन प्रेमाख्यानों ने बहुत-कुछ निर्बल और स्वच्छ बनाया। इन्होंने पवित्र आध्यात्मिक श्रृंगार की समुज्ज्वल छटा छिटकायी। काव्य की नायिकाओं को अलौकिक आभा और दिव्य सौन्दर्य ता। प्रेमी जब हाड़, मांस, मज्जा आदि को विरह की अग्नि में भस्म कर देता है तब त्व का संयोग प्राप्त होता है। शारीरिक श्रृंगार के समानान्तर आध्यात्मिक श्रृंगार की हुवी प्रवाहित करके रीतिकालीन प्रेमाख्यानों ने मानव-समाज का परम कल्याण किया था।

राम-काव्य

रामानन्द की शिष्य-परम्परा में सगुण धारा के भक्त कवियों ने भक्ति-भावना में राम को ब्रह्म माना और उनके प्रति अपनी भावनाओं की पुष्पांजलि श्रद्धा और प्रेम के साथ समर्पित की। तुलसीदास की परम्परा में आगे और कवि भी हुए। यद्यपि १६५० ई० के आस-पास भक्ति की काव्यात्मक गंगा में श्रृंगार की यमुना और नीति की सरस्वती भी आ मिली थी, किन्तु फिर भी उस त्रिवेणी में भक्ति की गंगा-धारा दिखायी देती है। ईसा की सत्रहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक रामभक्ति से सम्बद्ध काव्यों की सृष्टि होती रही। उदाहरणार्थ सेनापति के 'कवित्त-रत्नाकर' में रामकथा वर्णित है, जिसमें भक्ति और श्रृंगार का प्राधान्य है। लालदास-कृत 'अवधविलास' (१६४३) में सीता और राम की लीलाओं का वर्णन है। इसी प्रकार १६९३ ई० में रचित 'बालभक्तिनेह प्रकाश' (अज्ञात कवि) में सीता जी और रामचन्द्र जी की कथा वर्णित है। इस युग के रामभक्ति-काव्य के प्रमुख कवियों का काव्य-परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

गुरु गोविन्दसिंह : गुरु गोविन्दसिंह (१६६६-१७०८) वीर योद्धा और कुशल संगठन-कर्ता थे। ये सिक्खों के दसवें गुरु के रूप में अधिक प्रसिद्ध और समादृत हैं। इन्होंने अपनी कृतियों से यह सिद्ध किया है कि ये कुशल कवि और काव्यमर्मज्ञ थे। अपनी वृत्ति और मन से वे शक्ति के उपासक थे, किन्तु देव-कथाओं के वर्णन में भक्ति-भावना भी व्यक्त की गयी है। इनकी काव्य-कृति 'गोविन्दरामायण' में राम की कथा का बड़ा सुन्दर और तेजस्वी वर्णन विस्तार से मिलता हैं। 'गोविन्दरामायण' की ब्रजभाषा कवित्वपूर्ण और सरस है। सवैया छन्द में उदाहरण प्रस्तुत है :

> *भेंटि भुजा भर अंक भले भरि नैन दोऊ निरखें रघुराई।*
> *गुंजत भृंग कपोलन ऊपर नाग लवंग रहे लव लाई।*
> *कंज कुरंग कलानिधि केहरि कोकिल हेरि हिये हहराई।*
> *वाल लखैं छवि खाट थरैं नहिं बाट चलैं निरखैं अधिकाई॥*

जानकीरसिकशरण : जानकीरसिकशरण प्रमोदवन, अयोध्या के निवासी थे और ७० ई० के आसपास विद्यमान थे। राम के जीवन से सम्बद्ध 'अवधसागर' नामक काव्य

इनकी प्रसिद्ध रचना है। इन्होंने राम का जीवन-वृत्त कुछ-कुछ कृष्णभक्त कवियों लिखा है, इसीलिए इनके 'अष्टयाम-प्रसंग' में रास, नृत्य, भोजन, शयन मिलता है। कवि की वस्तु-वर्णन-शैली सुन्दर तो है; किन्तु उनमें शृंगारिकता स्पष्टतः दृष्टिगोचर होती है। केसरिया बाने में राम का साँवला शरीर रथ में पा रहा है, इसका चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है :

रथ पर राजत रघुवर राम।
क्रीट मुकुट सिर धनुषबान कर सोभा कोटिन काम॥
स्याम गात केसरिया बानो सिर पर मौर ललाम।
वैजन्ती वनमाल लसै उर फटिक मध्य अभिराम॥
मुख मयंक सरसीरुह लोचन हैं सबके सुखधाम।
कुटिल अलक अतर [illegible] निसि छटी स्याम॥
कम्बु कंठ मोतिन की माला किंकिन कटि दुति दाम।
रस माला यह रूप रसिकवर करहु हिये अभिराम॥

अवधीभाषी क्षेत्र के निवासी होते हुए भी जानकीरसिकशरण के काव्य-भ भाषा का बड़ा सुन्दर और सहज रूप पाया जाता है।

भगवन्तराय खीची : भगवन्तराय खीची असोथर (ज़िला फ़तहपुर) के रा स्वयं अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ा आदर-सत्कार करते थे। 'शिवसिंह सरोज' सार यह कहा जा सकता है कि इन्होंने सात काण्डों में कवित्त छन्द में 'रामायण' की थी। यह ग्रन्थ तो मिलता नहीं; किन्तु इनकी एक रचना 'हनुमत्पच्चीसी' मिलती है, जिसमें हनुमान जी के सम्बन्ध में पच्चीस कवित्त लिखे गये हैं। 'भगवन्त' से लिखी इनकी कविता निस्सन्देह ओजस्विनी और उत्साहपूर्ण है। अनुप्रास कविता में सौन्दर्य और अधिक बढ़ गया है। यथा :

बिदित बिसाल ढाल भालु कपि जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तमार की।
जाही सों चपेटिकै गिराए गिरि गढ़ जासों,
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सों मार की॥
भनैं भगवंत जासों लागि लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओढ़े ब्रह्म अस्त्र की अवाती महाताती वन्दौं,
युद्ध मदमाती छाती पवनकुमार की॥

जनकराजकिशोरीशरण : ये अयोध्या के महन्त थे और श्री राघवदास के इन्होंने रामचरित से सम्बद्ध अनेक काव्य-ग्रन्थों की रचना की, जिनकी भाषा भाषा सिद्ध होती है। आवश्यकतानुसार बीच-बीच में संस्कृत-शब्दों का पुट भी है। इनका रचना-काल १८०० ई० के आसपास माना जाता है। इनकी कृतियों लगभग बीस है, जिनमें 'सीतारामसिद्धान्त मुक्तावली', 'सीतारामरसतरंगिणी', भरण', 'रघुवरकरुणाभरण' आदि स्पष्टतया रामभक्ति-काव्य के अन्तर्गत गिनायी हैं। इनके रामभक्ति-काव्य पर रसिक-सम्प्रदाय का प्रभाव दिखायी पड़ता है।

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाव।
गुंजत मधुप मदमत्त नाना रंग रज अंग फाव॥

सीरो सुगंध सुमन्त वात विनोद कन्त वहन्त।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाख कामिनि कन्त॥

नवलसिंह : ये जाति के कायस्थ थे। इनका जीवन समरथ-नरेश हिन्दूपति की सेवा ीत हुआ था। कवि होने के साथ-साथ ये एक अच्छे चित्रकार भी थे। इन्होंने ब्रज- में कई रामकाव्यों की सृष्टि की थी, जिनमें 'रामचन्द्र विलास', 'आल्हा रामायण', ल रामायण', 'रूपक रामायण', 'सीतास्वयंवर', 'रामविवाहखण्ड', 'नाम रामायण', न सुमिरनी', 'मिथिला खण्ड' आदि उल्लेखनीय हैं। अपने ग्रन्थों में नवलसिंह ने यत्र- ब्रजभाषा-गद्य का भी प्रयोग किया है। इनके काव्यों का रचना-काल १८१६-१८६९ ई० जाता है। इनका शब्द-विन्यास पुष्ट और अभ्यस्त है। आधुनिकता की भी झलक ती है। कविता में इनका उपनाम 'नवलेस' भी पाया जाता है। अनुप्रासमयी अलंकृत शैली उदाहरण देखिए :

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन अप्रान अमर अविकारा।
अज अनीह आतम अबिनासी। अगम अगोचर अबिरल वासी।
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा।
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजस मैं गाऊँ।

विश्वनाथसिंह : रीवाँ के विद्या-प्रेमी एवं रामभक्त नरेश महाराज विश्वनाथसिंह का १७८९ ई० में हुआ था। ये सन् १८५४ ई० तक रीवाँ में राज्य करते रहे। इन्होंने सन्त मत की विचारधारा में भी अपनी रचनाओं द्वारा योगदान किया है। इसके में 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी' आदि रचनाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। ये रचनाएँ रूप से सन्तकाव्य-परम्परा के अन्तर्गत आती हैं, किन्तु इनकी अनेक रचनाएँ ऐसी भी जो इन्हें रामकाव्य-धारा का मान्य कवि सिद्ध करती हैं। इनके ग्रन्थों की संख्या ३२ के है, जिनमें निम्नांकित छह रचनाएँ रामोपासना से सम्बद्ध हैं—रामायण, गीता प्रामाणिक, रामचन्द्र की सवारी, आनन्दरघुनन्दन नाटक (यह हिन्दी का प्रथम माना जाता है), आनन्दरामायण, संगीत रघुनन्दन। इनके राम-काव्यों की भाषा ब्रज- है, जो सरस और सानुप्रास है :

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐंड़वारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले राजवंश वारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सर्रकार के॥
केते जातिवारे, केते-केते देसवारे जीव,
स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार द्वै सवार सबै एक बार,
राजकार पार कार कौसलकुमारं के॥

अन्य रामभक्त कवि : रीतिकाल में राम-काव्य की रचना करनेवाले अन्य कवियों में पुर (मिथिला) के महन्त रामप्रियाशरण (१७०३ ई० में विद्यमान) का उल्लेख सर्व- वशीष्ट है। इनके पूर्ववर्ती कवियों ने प्रायः राम के वृत्त को लेकर ही काव्य-रचनाएँ की किन्तु इन्होंने सीता जी के वृत्त को प्रमुखता प्रदान करते हुए 'सीतायन' काव्य की सर्जना । इसमें सीता तथा उनकी सखियों का चरित-वर्णन विस्तार से किया गया है। 'सीतायन' प्रसिद्ध 'सीतारामप्रिया' के नाम से भी है। इसकी भाषा सरस ब्रजभाषा है। रोला छन्द

में कवि की वाणी का उदाहरण इस प्रकार है :

पितु दरसन अभिलाष जुगुल कुँवरन मन भाई।
गुरु सनमुख कर जोरि भाँति बहु विनय सुनाई॥
पुलके गुरु लखि सील राम कौ अति सुख पाये।
ताहि समै सब सखा संग लक्ष्मीनिधि आये॥

अठारहवीं शताब्दी के मध्य में १७५० ई० के आसपास कवि काव्य-कृतियों की रचना की—'षटऋतु पदावली', 'होरी', 'अष्टयाम' और रामचन्द्र जी जब जनकपुर पहुँचते हैं, तब मिथिला नगरी की शोभा का वर्णन में व्रजभाषा के माध्यम से विविध छन्दों में किया गया है। कविता में कविवर की रसिकता की झलक मिलती है। राम और सीता का रूप-चित्रण बहुत-कुछ भाँति है, जो शृंगारी प्रवृत्ति का सूचक है। चन्द्रिका-सहित सीता जी तथा रामचन्द्र जी की शोभा का वर्णन कवि ने घनाक्षरी छन्द में इस प्रकार किया है:

सोहै सीस प्यारी जू के चन्द्रिका जटित नग,
जगमग जोति भानु कोटि उजियारी है।
रतन किरीट राजै राघव सुजान सीस,
उदित विदित कोटि तरुन तमारी है॥
दामिनी सघन घन बरन विराजैं दोऊ,
नील पीत बसननि जटित किनारी है।
रसिकअली जू प्यारे राजत सिंगार कुंज,
सुषमा अमित पुंज छवि मोदकारी है॥

रसिकअली के समकालीन कवि **सरजूराम पण्डित** ने 'रामचरितमानस' एक विशाल कथात्मक ग्रन्थ 'जैमिनिपुराण भाषा' (१७४८) की रचना की थी। अध्याय हैं और दोहा, चौपाई के अतिरिक्त अन्य छन्द भी हैं। इसमें 'महाभारत' यण' से सम्बन्धित अनेक कथाएँ हैं जिनमें सीता-त्याग और लवकुश-युद्ध नामक नीय हैं। इसी भाषा-पुराण में कवि ने 'संक्षिप्त रामायण' शीर्षक से की कथा सार-रूप में लिखी है। ग्रन्थ की भाषा गम्भीर और कवित्वमय है। शती के अन्तिम चरण में रामायत सखी-सम्प्रदाय के मूल प्रवर्तक कृपानिवास भावना से सम्बद्ध निम्नांकित चार ग्रन्थों की रचना की थी—भावनापच्चीसी, (अष्टयाम-लीला), माधुरी-प्रकाश (राम और सीता के अंग-प्रत्यंगों की शोभा और जानकीसहस्रनाम। **मधुसूदनदास** का प्रबन्धकाव्य 'रामाश्वमेध' (१७८२) की उल्लेखनीय रचना है। इसमें अड़सठ अध्याय हैं और यह 'पद्मपुराण' के भावानुवाद है। चौपाइयों और दोहों में व्रजावधी भाषा में यह ऐसी सुन्दर शैली विधान के साथ अनूदित है कि इसे तुलसी के 'रामचरितमानस' की भाषा की तुलना किया जा सकता है। अश्वमेध-यज्ञ के लिए छोड़े गये घोड़े, लव-कुश के साथ हुए का वर्णन इसमें बहुत उत्तम और प्रभावशाली ढंग से हुआ है। ग्रन्थ के तिरेसठवें कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं, जिसमें भरत-पुत्र पुष्कल के साथ लव-कुश के घमासान पद-विन्यास-युक्त भाषा में वर्णन हुआ है :

पर्म बली लव बीरबर रिपुगन विपिन कृसान।
तिन कहँ मुरछित निरखि रन, राम अनुज बलवान॥

बिजय पाइ उर हरखित भयेऊ। बहुरि एक रथ लव धरि लयेऊ।
शत्रान कवचादिक साजे। स्याम सुगात मदन छबि लाजे।
वध चलन हित तब महिपाला। कीन्ह बिचार मुदित तिह काला।
तब सब मुनिसुत सुनि मुनिराई। भये महादुख बिबस बनाई।

भक्ति-काव्य की परम्परा में उन्नीसवीं शताब्दी में **जानकीशरण** ने 'सियारामरस- ', और बालअली जू ने 'नेहप्रकाश' की, रचना की। **गोकुलनाथ** द्वारा ब्रजभाषा में काव्य 'सीतारामगुणार्णव' भी प्रसिद्ध है। यह 'अध्यात्म रामायण' का अनुवाद है की रचना १८१३ ई० के आसपास की गयी थी। रचना रसमयी और सालंकार है प्रौढ़ और प्रांजल है। इनके समकालीन कवियों में **मनियारसिंह** ने 'हनुमतछब्बीसी', और 'सुन्दरकाण्ड' नामक रामकाव्यों को रचना की थी। इनकी भाषा परिष्कृत, पाण्डित्यपूर्ण है। सालंकार सुष्ठु ब्रजभाषा लिखने में कवि पूर्णतः सिद्धहस्त है। निवासी महन्त ललकदास का 'सत्योपाख्यान' (१८००-१८२५ के मध्य रचित) ग्रन्थ है, जिसमें राम की जीवन-गाथा को दोहा, चौपाई तथा कुछ अन्य छन्दों में लिखा इसमें रामचन्द्र जी का चरित गार्हस्थ्य जीवन से अधिक सम्बद्ध है। ललकदास पर के रसिक-सम्प्रदाय का प्रभाव अधिक मालूम पड़ता है। तभी तो राम के क्रिया- होली, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन अधिक किया गया है। वर्णनप्रधान होने के कारण में उत्कृष्ट कला एवं उच्च कवित्व का अभाव-सा पाया जाता है। वर्णन-शैली में रामचरितमानस' का अनुसरण किया है। यथा :

किसलय सुधर अधर छवि छाजैं। इन्द्रनील सम गंड विराजैं।
सुंदर चिवुक नासिका सोहैं। कुंकुम तिलक त्रिलक मन मोहैं।
कामचाप सम भृकुटि विराजैं। अलक कलित मुख अति छबि छाजैं।
यहि विधि सकल राम के अंगा। लखि चूमति जननी सुख संगा।

कवि के पुत्र तथा लाल कवि के पौत्र **गणेश** भी इसी शती के रामकाव्यकार थे। महाराज उदितनारायणसिंह के दरबार में रहा करते थे। इनका रचना-काल ई० के आसपास ठहरता है। इनकी दो रचनाएँ उल्लेखनीय हैं—'वाल्मीकि रामायण प्रकाश' तथा 'हनुमतपच्चीसी'। प्रथम ग्रन्थ में कवि ने 'वाल्मीकि रामायण' के समग्र और किष्किन्धाकाण्ड के पाँच अध्यायों पर प्रकाश डाला है। इनके काव्यों की ब्रज- पूर्ण और आलंकारिक है। इनके समकालीन कवि **प्रेमसखी** ने राम और कृष्ण प्रति भक्तिभावमयी रचनाएँ लिखी हैं। इनका मूल नाम बख्शी हंसराज श्रीवास्तव इनके द्वारा रचित 'श्रीराम तथा सीता जी का शिखनख' काव्य महत्त्वपूर्ण है। यह छन्दों में लिखित है और इसमें प्रयुक्त ब्रजभाषा ललित तथा सरस है। कवि ने राम- जी की चरण-वन्दना इन शब्दों में की है :

कलपलता के सिद्धिदायक कलपतरु,
कामधेनु कामना के पूरन करन हैं।
तीन लोक चाहत कृपा-कटाक्ष कमला की,
कमला सदाई जाकी सेवत सरन हैं॥
चिन्तामनि चिन्ता के हरनहारे 'प्रेमसखी',
तीरथ जनक बर बानिक बरन हैं।

नख विधु-पूषन समन सब दूषन ये,
रघुबंस भूषन के राजत चरन हैं॥

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि जहाँ भक्तिकालीन रामभक्ति-काव्य मर्यादा के रक्षण का साहित्य था और उसमें वैधी भक्ति की प्रधानता थी वहाँ भक्ति से अनुप्राणित कृष्ण-काव्य के प्रभाव से ईसा की अठारहवीं शती के बाद में भी माधुर्य भाव की उपासना का प्रवेश हुआ। 'रामचरितमानस' के प्रसिद्ध रामचरणदास ने रामभक्ति के क्षेत्र में 'स्वसुखी' शाखा का प्रवर्तन करके पति-पत्नी- उपासना को प्रश्रय दिया। इस शाखा के भक्तों की मान्यता है कि राम ने लीला- करके ९९ रामलीलाएँ की थीं और अन्तिम लीला के निमित्त उन्होंने ही कृष्ण अवतार लिया था। राम की उपासना के लिए इस सम्प्रदाय के भक्त स्त्री-वेश स्वयं को सीता की सपत्नी मानते थे। बाद में जीवाराम जी ने 'तत्सुखी शाखा' करके पति-पत्नी-भाव की भक्ति के स्थान पर इसी परम्परा में सखी-भाव की प्रचार किया। उन्नीसवीं शताब्दी में इस शाखा के एक प्रसिद्ध भक्त कवि युगला का नाम भी उल्लेखनीय है। रामभक्ति-काव्यों में मधुरा भक्ति के समावेश का हुआ कि रीतिकालीन रामभक्ति-काव्य शृंगारिकता तथा विलासिता से सम्पृक्त हो अतः हम कह सकते हैं कि रामभक्ति-काव्यों में विशेषतः उन्नीसवीं शती के शृंगार-भावना के काव्य हैं। उनकी भक्ति का मूल स्वर शुद्ध भक्तिमय न होकर लौकिक शृंगार की ओर झाँकता हुआ-सा दिखायी देता है। रीतिकालीन कवियों राम-काव्यों के कवियों में भी कलामयी चमत्कारिकता अधिक दृष्टिगत होती है। सहज न होकर अलंकृत है। रीतिकालीन राम-काव्य के स्रष्टा कवि हमारे समक्ष के रूप में तो बहुत कम, कलाविज्ञ पण्डित के रूप में ही अधिक आते हैं। उनमें अभिव्यक्ति का भक्ति-भाव कम है, किन्तु अलंकृत अभिव्यंजना का कवित्व अधिक है।

कृष्ण-काव्य

चाहे राम-काव्य का अवलोकन किया जाए और चाहें कृष्ण-काव्य का, दोनों प्रकार के काव्य-ग्रन्थों में माधुर्य भाव की भक्ति का ही प्राधान्य पाया प्रेमभावनापूर्ण भक्ति की जो धारा बहती चली आ रही थी, वह कृष्ण और राधा की आड़ में मानवी शृंगार में परिवर्तित होकर १८५० ई० तक प्रवाहित होती रही। नगेन्द्र के इस मन्तव्य में बहुत-कुछ तथ्य है कि जीवन की अतिशय रसिकता से धर्मभीरु रीतिकवियों को राधा-कृष्ण का अनुराग आश्वासन देता था। इस काल के ने कृष्णभक्ति से सम्बद्ध दो प्रकार के काव्यों की सृष्टि की—प्रबन्धात्मक और उक्त दोनों प्रकार के काव्य-ग्रन्थों में मूलतः शृंगार-भावना ही है, लेकिन वह राधा- भक्ति के आवरण से आवृत है।

प्रबन्धात्मक कृष्ण-काव्य

प्रबन्धात्मक कृष्णभक्ति-काव्य के रचयिताओं में गुमान मिश्र, ब्रजवासीदास आदि के नाम विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। गुमान मिश्र महोबा के निवासी थे। भक्ति में इन्होंने 'कृष्णचन्द्रिका' (१७८१) नामक प्रबन्धकाव्य की रचना की थी। कविता सीधे और सरल भावों की वाहिका है और भाषा-गठन की दृष्टि से

सम्प्रदाय के अनुयायी तथा वृन्दावन-निवासी ब्रजवासीदास ने 'सूरसागर' के कथा-आधार पर दोहों, सोरठों और चौपाइयों में ब्रजभाषा-प्रबन्धकाव्य 'ब्रजविलास') की रचना की थी। इसमें सीधी-सादी ब्रजभाषा-शब्दावली के माध्यम से कृष्ण के जीवन का चित्रण किया गया है। सर्वसाधारण में इसका बहुत प्रचार है। कवि ने 'सूरसागर' के पदों के भावानुसरण की पद्धति अपनायी है। वाललीला सम्बन्धी एक द्रष्टव्य है :

कहति जसोदा कौन विधि, समझाऊँ अव कान्ह।
भूलि दिखायो चन्द मैं, ताहि कहत हरि खान॥
यहै देत नित माखन मोकौं। छिन-छिन देति तात सो तोकौं।
जो तुम स्याम चन्द को खैहो। वहुरो फिर माखन कहँ पैहो।
देखत रहो खिलौना चन्दा। हठ नहिं कीजै वालगोविन्दा।

'ब्रजविलास' में श्रीकृष्ण-लीला से सम्बन्धित कथाओं का विवरण ही विशेष रूप से या है। ब्रजवासीदास ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का भी अनुवाद किया था। इस के तीसरे प्रबन्धकाव्यकार मंचित जाति के ब्राह्मण थे और मऊ (बुन्देलखण्ड) के निवासी १७३९ ई० के लगभग वर्तमान थे। इन्होंने दो प्रबन्धकाव्यों की सृष्टि की थी—सुरभी-दानलीला, कृष्णायन। 'सुरभी-दानलीला' में श्रीकृष्ण की वाललीला, यमलार्जुन-मुक्ति और लीला का वर्णन सुन्दर ब्रजभाषा में सार छन्द के माध्यम से किया गया है। 'कृष्णायन' काव्य की रचना चौपाइयों तथा दोहों में की गयी है। भाषा संस्कृतनिष्ठ ब्रजभाषा सरसता की दृष्टि से 'सुरभी-दानलीला' अधिक प्रभावित करती है। कृष्ण के नखशिख- के सन्दर्भ में इस कृति से यह अंश देखिए :

भ्रकुटी वंक नैन खंजन से, कंजन गंजनवारे।
मदभंजन खग मीन सदा जे, मनरंजन अनियारे॥

मंचित कवि ने 'कृष्णायन' की रचना तुलसी के 'रामचरितमानस' की शैली में दोहों चौपाइयों में की है। भाषा अनुप्रासमयी तथा संस्कृतगर्भित है, अन्तर यह है कि 'राम-चरितमानस' की भाषा तो अवधी है, लेकिन 'कृष्णायन' की भाषा ब्रजभाषा है। स्वाभाविक शब्दावली में मनोहारिणी ब्रजभाषा के लिए मंचित कवि सदा स्मरण किये जाते रहेंगे। 'कृष्णायन' से एक उद्धरण देखिए :

अचरज अमित भयो लखि सरिता।
दुतिय न उपमा कहि सम चरिता॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी।
जिमि गोकुल गोलोक प्रकासी॥
अति विस्तार पार पद पावन।
उभय करार घाट मनभावन॥

शैली में रचित कृष्ण-काव्य

आलोच्य युग में भक्तिभावप्रेरित कृष्ण-काव्य की प्रभूत रचना हुई। मुक्तक पद्धति अपनानेवाले कृष्णभक्त कवियों में रूपरसिकदेव, नागरीदास, अलबेली अलि, चाचा हित-वृन्दावनदास और भगवतरसिक विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त वृन्दावनदेव, पीताम्बर-, सुन्दरि कुँवरिवाई, प्रेमसखी, सहचरिसरन, मंजरीदास, कृष्णदास, रत्नकुँवरि, उरदाम भण्डारी नामक कुछ अन्य कवियों ने भी इस काव्यधारा के विकास में योग दिया।

रूपरसिकदेव : ये भक्तिकाल के प्रसिद्ध निम्बार्क-सम्प्रदायी भक्त कवि श्री हरि के शिष्य थे। किंवदन्ती के अनुसार इन्होंने श्री हरिव्यासदेव के निकुंजवास के अनन्तर शिष्यत्व ग्रहण किया था, फलस्वरूप गुरु-दर्शन इन्हें नहीं हो पाए। इनके जीवन सम्बन्ध में विशेष सामग्री ज्ञात नहीं है, फिर भी यह कहा जा सकता है कि इनका काल अठारहवीं शती का पूर्वार्द्ध है। इनकी चार कृतियाँ उपलब्ध हुई हैं—लीला (१७३०), हरिव्यास यशामृत, नित्यविहार पदावली, वृहदोत्सव मणिमाल। 'लीला निम्बार्क-सम्प्रदाय के रसोपासना-सिद्धान्त का परिचायक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, तो 'नित्य पदावली' में राधा-कृष्ण की रस-लीलाओं का चित्रण है। हरिव्यास यशामृत' में की उपासना की प्रशंसा की गई है और 'वृहदोत्सव मणिमाल' में वर्ष-भर के उत्स वर्णन करने के अतिरिक्त राधा-कृष्ण के प्रति भक्ति-भावना का निदर्शन है।

नागरीदास : 'नागरी' शब्द 'राधा' के लिए प्रयुक्त किया गया है। राधा भक्त अर्थात् 'नागरीदास' नाम के कई भक्त कवि ब्रज में हो गये हैं; लेकिन कृष्णगढ़ के राजा श्री सावन्तसिंह ही 'नागरीदास' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका संन् १६९९ में हुआ था। गृह-कलह के कारण ये घर-बार छोड़कर नागरी राधा के भक्त गये और वृन्दावन में रहने लगे। वृन्दावन में इनकी उपपत्नी 'वणीठणी जी' भी नागरीदास भी कवि थे और बणीठणी जी भी कवयित्री थीं। भक्तप्रवर नागरीदास कविता-काल १७२३ से १७६२ ई० तक माना जा सकता है। इन्होंने कृष्ण-भक्ति से गई पुस्तिकाओं की सृष्टि की थी, जिनमें से अधिक उल्लेखनीय हैं—जुगलरसमाधुरी, विलास, रासरसलता, इश्कचमन, कृष्णजन्मोत्सव कवित्त, प्रियाजन्मोत्सव कवित्त, धारन के कवित्त, फागविहार, भक्तिसार, रसिकरत्नावली आदि। नागरीदास की में विषय का पिष्टपेषण भी मिलता है, किन्तु फिर भी भावों की अभिव्यक्ति में और शैली में विशिष्टता के दर्शन होते हैं। इनकी कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत यत्र-तत्र और सूफ़ियाना रंग-ढंग भी दृष्टिगोचर होता है। 'इश्कचमन' की भाषा में फ़ारसी- शैली की रंगीनी और ग़ज़ब की बहार पायी जाती है। 'वर्षा के कवित्त' नामक पुस्तिका कवि ने राधा का रूप-चित्र उपस्थित किया है; राधा के मुख की छवि के दर्शन मोहन नेत्रों ने पवन और दामिनी की दया के सहारे ही किये हैं। नागरीदास लिखते हैं

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि; बादर मन्द फुही बरसावै।
स्यामा जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रसरीति मलारहि गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

ऐसे शृंगारमयी कृष्णभक्ति का कारण नागरीदास का सखी-सम्प्रदाय से प्रभा होना है। सखी-सम्प्रदाय में रस-रूप 'युगलोपासना' गृहीत है।

अलबेली अलि : विष्णुस्वामी-सम्प्रदाय के महात्मा श्री वंशीअलि के प्रसिद्ध श्री अलबेली अलि राधा के उपासक थे। संस्कृत और ब्रजभाषा के पण्डित होने के इनकी कविता बड़ी परिष्कृत और प्रांजल है। सूरदास की भाँति इनके पद बड़े सरस उत्कृष्ट हैं। इनका कविता-काल ईसा की अठारहवीं शती का प्रथम चरण माना जा है। आनुप्रासिक छटा के साथ सरस शब्दावली मनोहारिणी सिद्ध हुई है। जैसे :

सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुनातीर सुहायौ।
सकल कलापूरन ससि सीतल महिमंडल पर आयौ॥

राधावल्लभ-सम्प्रदाय तथा सखी-सम्प्रदाय में कुंजविहार और रास-लीला का प्र है। कुंजविहार के समय राधा और कृष्ण परस्पर गलबाहीं डालकर सम्मोहन-केलि में रहते हैं। इन सम्प्रदायों की रासलीला 'भागवत' की रासलीला से भिन्न है। उक्त में रासलीला के अधिकारी केवल राधा और कृष्ण ही हैं। इनकी रासलीला भी कुंज-के निकट ही है। इन्हीं भाव-भावनाओं से प्रभावित होकर अलबेली अलि ने अपना लिखा है।

बाबा हितवृन्दावनदास : ये जाति के गौड़ ब्राह्मण थे और १७०८ ई० में उत्पन्न थे। ये राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त थे, फलस्वरूप इन्होंने ब्रजवासी कृष्ण का गुणगान के अतिरिक्त राधा के प्रति दास्य भाव रखा है। इनकी दृष्टि में राधा स्वतन्त्र विहार वाली पराशक्ति हैं। वे परमैश्वर्यवती और शोभाशालिनी हैं, अष्ट सिद्धियाँ और नव-निधियाँ उनकी टहल करती हैं—यहाँ तक कि ब्रजचन्द्र का महत्त्व भी ब्रजेश्वरी राधा की से ही है। राधा जहाँ एक ओर गरिमामयी हैं, वहाँ दूसरी ओर लावण्य तथा मधुरिमा-भी हैं। यही कारण है कि राधावल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियों की वाणी में भक्ति-के साथ-साथ माधुर्यमय शृंगार की झलक भी मिल जाती है। इस सम्प्रदाय के ने सामान्यतः नित्यलीला में कुंजविहार, रासलीला, अष्टयाम और छद्मलीला के का विशद वर्णन मिलता है। इनकी रचनाओं में 'लाड़ सागर', 'ब्रजप्रेमानन्द सागर', स्नेह पत्रिका', 'कृपा अभिलाष वेली', 'भ्रमरगीत' आदि प्रसिद्ध हैं। भाषा पर इनका अधिकार है। इनमें सर्वत्र काव्य-प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है। इनकी रचनाओं में ता और स्वाभाविक मधुरता है। यथा :

अतिसय सरस सुगन्ध मन्द गति बहत पवन रुचिकारी।
नव नव रूप नवल नव जोवन बने नवल पिय प्यारी॥
गौर स्याम छवि सदन बदन पर फबि रहे श्रमकन ऐसे।
नील कनक अंबुज अन्तर धरे ओपि जलज मनि जैसे॥
झलकत हार चलत कल कुंडल मुख मयंक ज्यौं सोहैं।
वारौं सरद निसा ससि केतिक मैन कटाच्छनि मोहैं॥

भगवतरसिक : भगवतरसिक महात्मा ललितमोहनीदास के शिष्य थे। इनका रचना-काल १७३३ से १७९३ ई० तक माना गया है। कुण्डलिया छन्द में लिखा हुआ इनका निश्चयात्मक ग्रन्थ' बहुत प्रसिद्ध है। ये सखी-सम्प्रदाय के भक्त थे। इस सम्प्रदाय में 'युगलोपासना' को स्वीकार किया गया है। इसका प्रचार निम्बार्क और गौड़ीय वैष्णवों में था। 'राधा-भाव' की तरह 'सखी-भाव' भी एक भाव है, जिसमें भक्त स्वयं को भगवान् सखी मानता है। इस भाव में भक्त श्रीकृष्ण की किसी प्रिय गोपी के वेश, लीला, आदि के अनुसार आचरण करता है। इस भाव की प्राप्ति रागात्मक स्मरण से होती है। कवि भगवतरसिक की रचनाओं में सखी-भाव की अभिव्यक्ति अनेक स्थलों पर गोचर होती है। जैसे :

तुव मुख नैन कमल अलि मेरे।
पलक न पलक पलक विनु देखे, अरबरात अति फिरत न फेरे॥
पान करत मरकन्द रूप रस, भूलि नहीं फिर इत उत हेरे।
भगवतरसिक भये मतवारे, झूमत रहत छके मद तेरे॥

भगवतरसिक प्रेमरसपूर्ण भक्त-हृदय थे। इनकी लेखनी से प्रेम-तत्त्व का निरूपण

सुन्दर शैली में हुआ है। इनकी रचनाएँ 'भगवतरसिक की वाणी' में संकलित हैं।

अन्य कवि : निम्बार्क-सम्प्रदाय के भक्त कवि **वृन्दावनदेव** घनानन्द के गु भक्तिकालीन कवि परशुरामदेव की शिष्य-परम्परा में इनका गौरवपूर्ण स्थान है और चौथी पीढ़ी में हुए थे। इनका आचार्यत्व-काल १७०२-१७४३ ई० स्वीकार किया और 'निम्बार्क-माधुरी' में इनकी एक रचना 'कृष्णामृत गंगा' का उल्लेख मिलता है 'गीतामृत गंगा' भी कहा जाता है। इनकी पदावली यद्यपि भक्ति-तत्त्व से अनुप्रा तथापि उसमें रीतिबद्धता की छाप भी स्पष्टतः लक्षित होती है। सखी-सम्प्रदाय के दास भी इन्हीं की भाँति उल्लेखनीय भक्त कवि हैं। 'केलिमाल की टीका', 'सग 'सिद्धान्त और रस की साखी' तथा 'सिद्धान्त और रस के पद' इनकी प्रसिद्ध रच स्वामी हरिदास की शिष्य-परम्परा में रसिकदास जी की गद्दी इन्हीं को मिली थी ये 'निजमत-सिद्धान्त' के रचयिता किशोरदास के गुरु थे। रीतिकालीन कृष्णभक्त भक्तवर नागरीदास की बहिन **सुन्दरी कुँवरिबाई** का भी विशेष स्थान है। इनका राघवगढ़ के कुँवर बलवन्तसिंह के साथ हुआ था, किन्तु पति से इनकी प्रायः अनबन थी। कुँवरिबाई का मन कृष्ण-पूजा तथा काव्य-सर्जना में ही सदा लगा रहता था राधावल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित हुई थीं। इनके द्वारा रचित दस पुस्तकें उपलब्ध हैं— निधि, वृन्दावन गोपी माहात्म्य, संकेतयुगल, रसपुंज, प्रेमसम्पुट, सारसंग्रह, भावनाप्रकाश, रासरहस्य। इनका रचना-काल १७६० से १७९६ ई० तक माना जा राधा-कृष्ण की रूपमाधुरी एवं भक्ति-भावना के सम्बन्ध में इनके कुछ फुटकर कवि पद भी मिलते हैं। इनकी कृतियों में भावों की सरस तथा कलामयी अभिव्यक्ति पा है। भाषा सुन्दर तथा अलंकृत है। यथा :

स्याम रूप सागर मैं नैन वार-पार थके,
नचत तरंग अंग-अंग रँगमगी है।
गाजन गहर धुनि बाजन मधुर बेनु,
नागिन अलक जुग सोधै सगबगी है॥
भँवर त्रिभंगताई पानिप लुनाइ तामैं,
मोती मनि जालन की ज्योति जगमगी है।
काम पौन प्रबल धुकाव लोपी पैंज तामैं,
आज राधे लाज की जहाज डगमगी है॥

बख्शी हंसराज श्रीवास्तव 'प्रेमसखी' भी इस काल के उल्लेख-योग्य कृष्ण इनका जन्म १७३२ ई० में पन्ना में हुआ था। ये सखी-सम्प्रदाय में दीक्षित हु विजयसखी वैष्णव इनके गुरु थे। 'प्रेमसखी' की रचनाओं में सनेहसागर, विरह कृष्ण जू की पाती, बारहमासा, विरहपत्रिका, चुरिहारिनलीला और फागतरंगिनी प्रसिद्ध हैं। इनकी कृतियों में राधाकृष्ण की लीलाएँ वर्णित हैं; जो माधुर्य भाव से हैं। सखी-भाव का भक्त अपने को राधा की सखी मानता है, अतः कृष्ण उसके लिए पति हैं और उनकी रूप-माधुरी ही उसके लिए परमानन्ददायिनी है। श्री कृष्ण की चितवन की चुभन का 'प्रेमसखी' ने इस प्रकार चित्रण किया है :

लोचन ललित प्रीति रस पागे पुतरिन स्याम निहारे।
मानौं कमल दलन पर बैठे उड़त न अलि मतवारे॥

चुभति चारु चंचल नैननि की चितवनि अति अनियारी।
अति सनेहमय प्रेम सरस लखि को न होति मतवारी॥

अठारहवीं शती के अन्तिम चरण में विद्यमान सहचरिसरन सखी-सम्प्रदाय के भक्त थे। युगल-उपासना की प्रधानता के कारण इन्होंने राधा और कृष्ण की विभिन्न के चित्र अपनी कविताओं में चित्रित किये हैं। यमुना-तट पर नटवरलाल मुरली ते हुए अपनी निराली छवि से चटक-मटक के साथ चले आ रहे हैं। सहचरिसरन उस माधुरी को इन शब्दों में चित्रित करते हैं :

मलयज तिलक ललाट पटल पट
अटल सनेह सटक सों।
मदन विजय जनु करत पुरटमय
कटि किंकिनी कटक सों॥
सहचरिसरन तरनि तनया तट
नटवर मुकट लटक सों।
चित चुरली मुरली धुनि गावत
आवत चटक-मटक सों॥

सानुप्रासमयी ललित शब्दावली के साथ रूपमाधुरी के चित्र खींचने में सहचरिसरन ही अभिनन्दन प्राप्त करते रहेंगे। इनकी दो पुस्तकें प्राप्त हैं—'ललितप्रकाश' तथा मन्त्रावली'। 'सरस मन्त्रावली' में युगल-छवि की शोभा का निदर्शन है।

चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्त कवि **मंजरीदास** अठारहवीं शताब्दी के अन्त में हुए थे। चैतन्य-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार अपनी कविता के माध्यम से किया था। की भक्तिविषयक कविताएँ बहुत लोकप्रिय हुईं। इनके समकालीन कवियों में **कृष्णदास** नुबंलहरी' (१७९६) में कृष्णचरित का गान किया है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भाषा पद्य' और 'भागवत माहात्म्य' नामक दो अन्य ग्रन्थों की रचना भी की थी। दास की रचनाओं की भाषा सरल और सीधी ब्रजभाषा है :

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहौ नर-देह कहाँ पाइये।
दुर्लभ समाज मिलौ सकल सिधान्त जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइये॥

आलोच्य काल की कृष्णभक्त कवयित्रियों में **रत्नकुँवरि** अविस्मरणीय हैं। ये राजा प्रसाद सितारेहिन्द की दादी थीं। इनका जीवन योगियों की भाँति व्यतीत हुआ—सत्तर वर्ष की आयु बड़े आनन्द से भगवद्भक्ति में बितायी। १८०० ई० के आसपास 'प्रेमरत्न' नामक प्रबन्धकाव्य की रचना दोहों और चौपाइयों में की थी। इसमें सरल षा में कृष्ण का चरित बड़ी भक्ति-भावना से लिखा गया है। **दामोदर चौधरी 'उरदाम'** -१८५३) मथुरा-निवासी चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनके कृष्णभक्ति-काव्यों में 'उरदाम-', 'कूबरीकिलोल', 'कान्हा की बंसी', 'मनमौजसागर', 'कोरदारत्नतीसी' आदि उल्लेख-हैं। रीतिकाल के अन्तिम चरण में **भोला भण्डारी** की काव्य-प्रतिभा भी ध्यान आकृष्ट है। इनके जन्म-काल के सम्बन्ध में तो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु अवश्य पता लगता है कि ये ग्वाल कवि को अपना काव्य-गुरु मानते थे। अतः यह है कि ये ईसा की उन्नीसवीं शती में विद्यमान थे। इनकी कविता में कृष्ण-भक्ति,

कृष्ण-प्रेम, ऋतु-सौन्दर्य आदि का अच्छा वर्णन मिलता है। इनकी ब्रजभाषा में तथा परिनिष्ठत शैली दोनों के ही दर्शन होते हैं। युगल-छवि-वर्णन में कवि ने ली है। मोहन के साथ फाग खेलने की हौंस में एक सखी का कथन सुनिए और के सिंहावलोकन का चमत्कार देखिए :

फाग री आयौ सुहायौ चहूँ दिसि गावंत सुन्दरी सुन्दर राग री।
राग री मेरौ गयौ हरि लै अब कासौं कहौं यह मेरी अभाग री॥
भाग री हूँ सो छूटै ना सरीर रह्यौ इन बातन कौ उर दाग री।
दाग री मेरौ तबै मिटिहै जब मोहन के सँग खेलिहौं फाग री॥

पन्द्रहवीं शती में भक्तिधारा में स्नात ब्रजभाषा के कवियों ने ब्रजभूमि में का जो अंकुर बो दिया था, वह शताब्दियों तक पुष्पित-पल्लवित और फलित प्रेमपूर्ण मधुरा भक्ति शनैः शनैः अग्रसर होती रही और फिर सत्रहवीं शती में साहित्य में सखी-भाव की साधना प्रमुख हो गयी। सखी-भाव को सबल और में निम्नांकित तीन सम्प्रदायों ने विशेष योग दिया—१. गोस्वामी हितहरिवंश द्वारा राधावल्लभ-सम्प्रदाय, २. गोस्वामी हरिदास द्वारा पोषित सखी-सम्प्रदाय, ३. के शिष्यों द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय। इन तीनों में ही आत्मसमर्पण-भाव पर ज़ोर दिया गया है। रीतिकाल के कृष्णभक्त कवियों ने इस आत्मसमर्पण को नारी-भाव में सम्भव मानकर अपनी वाणी को सरस, सबल तथा मनोहारी शब्दों से व्यक्त किया। इनका प्रभाव रामभक्ति-काव्य पर भी पड़ा। वृन्दावन की भाँति नगरी भी सखी-सम्प्रदाय का केन्द्र बन गयी। शनैः शनैः आन्तरिक प्रेम-प्रदर्शन क्षीण होती गयी और बाह्य उपकरणों-सहित स्त्री-भाव प्रदर्शित करने की प्रणाली करण प्रारम्भ हो गया। परिणाम यह हुआ कि मूलतः जो भक्ति की सच्ची वह वासना की गन्धवाले शृंगार में परिवर्तित होती गयी। फिर भी, कुछ कृष्णभक्त में वह शृंगार बहुत ऊँचा न उठ सका—उनमें भक्ति की लहर ही प्रबल रही।

रीतिकाल के कृष्णभक्ति-काव्य के स्रष्टा कवियों में बहुत-से संस्कारों से थे। वे सम्प्रदायों में दीक्षित भी थे। उनका कृष्णभक्ति-काव्य वास्तव में सामान्य की प्रबलतम भूख की शान्ति का उदात्त समाधान है। वह मनुष्य को शुष्क प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता, अपितु प्रेममयी सरस भक्ति-भावनाओं के मांसल शृंगार की आसक्ति से हटाकर उदात्त समुज्ज्वल प्रेमा-भक्ति में रमण किन्तु मानव-जीवन को पूर्णांगी रूप में उत्तम बनाने के लिए केवल प्रेमनिष्ठा के रससिक्त रहना ही आवश्यक नहीं है, अपितु मानव को कर्त्तव्य-पथ पर चालित भी कुछ विशिष्ट तत्त्वों की आवश्यकता है। उन तत्त्वों को कृष्णभक्ति-काव्य ने दिया है। उसका परिणाम सर्वांगीण दृष्टि से अच्छा नहीं निकला। एकान्तिक सच्चे भक्तों को तो कुछ सहारा देती थी, किन्तु सर्वसाधारण को वह वासना तथा का रास्ता भी दिखाने लगी। आगे चलकर कृष्णभक्ति-साहित्य सच्चे माधुर्य-भाव के पर काम-वासना की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। कुछ काल तक भक्तों के लिए प्रेरणा तथा सच्चे सुख का स्रोत बना रहा, किन्तु कालान्तर में एकांगी [illegible]गिता को प्राप्त हो गया। रीतिबद्ध शृंगारी कवियों में तो वह लौकिक [illegible] सफल भी हुआ है।

नीतिकाव्य

हिन्दी-साहित्य के रीतिकाल में नीतिकाव्य भी एक प्रमुख प्रवृत्ति है। इस काल की नीति-यक रचनाएँ पुच्छल तारे की भाँति अचानक टूटकर नहीं आयीं, संस्कृत-काव्यों से इनकी परम्परा प्रवाहित हो रही थी। भर्तृहरि ने 'नीतिशतक' (६५०) नाम से संस्कृत भाषा नीतिकाव्य की रचना की थी। हेमचन्द्र के अपभ्रंश-व्याकरण में अनेक दोहे नीति से सम्बद्ध । कबीर, तुलसी, रहीम, जमाल आदि कवियों ने भी नीतिविषयक रचनाएँ दोहा छन्द में हैं। रीतिकाल में नीतिविषयक काव्यों के रचयिताओं में वृन्द, गिरिधर कविराय, बैताल, रामसहायदास, दीनदयाल गिरि आदि के नाम विशेषतया उल्लेखनीय हैं। ये नीति-कार ईसा की अठारहवीं शती से उन्नीसवीं शती तक अपनी रचनाओं की सृष्टि करते । अठारहवीं शती के प्रथम चरण में सन् १७०४ के आसपास मेड़ता (जोधपुर)-निवासी ने अपनी 'सतसई' की रचना की थी। 'वृन्द सतसई' में सात सौ दोहे हैं। भाषा सरल, और कलापूर्ण है। वृन्द के दोहों में रसमय कवित्व तो नहीं है; हाँ, कलापूर्ण सूक्तियाँ अवश्य कह सकते हैं। लोकप्रियता की दृष्टि से 'वृन्द सतसई' के अनेक दोहे आज भी जीवन की वाणी के माध्यम से सुने जा सकते हैं। जैसे :

फ़ीकी पै नीके लगैं, कहिए समय बिचारि।
सबको मन हरषित करै, ज्यौं बिवाह में गारि॥
भले बुरे सब एक सम, जौ लौं बोलत नाहिं।
जान परत हैं काग पिक, ऋतु बसन्त के माहिं॥

व्यवहार और नीति से सम्बद्ध कुण्डलियाँ लिखकर **गिरिधर कविराय** ने जितनी अधिक द्धि प्राप्त की है, उतनी प्रसिद्धि रीतिकाल का कोई अन्य नीतिकाव्यकार नहीं पा सका। विषयक कुण्डलियाँ केवल दो कवियों की ही सुनी जाती हैं—एक गिरिधर कविराय की र दूसरे दीनदयाल की। इन दोनों में गिरिधर कविराय अधिक ख्यातनामा हैं। इनका ना-काल १७४३ ई० के बाद का माना जा सकता है। जाति, गाँव, परिवार, घरबार, रबार आदि स्थानों पर मनुष्यों को क्या नीति अपनानी चाहिए और कैसा व्यवहार ना चाहिए; इन बातों को कवि ने ऐसी सीधी-सादी सरल भाषा में तथ्यपूर्ण ढंग से बता है कि श्रोता पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है और वह सामाजिक व्यवहार के लिए उन बातों गाँठ बाँध लेता है। गिरिधर तथ्यवक्ता पद्यकार हैं, जबकि वृन्द अलंकार-विधान-प्रेमी कार हैं। गिरिधर की कुछ कुण्डलियों में 'गिरिधर कविराय' नाम के साथ 'साईं' शब्द आता है। कुछ विद्वानों का कहना है कि 'साईं' शब्दवाली कुण्डलियाँ गिरिधर की पत्नी रची हुई हैं। 'कविराय' नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि ये जाति के भाट थे, परन्तु श्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

नीतिकाव्यकार बैताल का समय १७८२ ई० के बाद और १८२९ ई० से पहले माना सकता है। ये जाति के बन्दीजन थे और कहा जाता है कि चरखारीवाले विक्रमसाह की में रहा करते थे। बैताल ने अपनी कुण्डलियाँ 'विक्रम' को सम्बोधित करते हुए लिखी । इनकी भाषा सरल है तथा कथन-शैली अनूठी है। उदाहरण :

बाम्हन सो मरि जाय, हाथ लै मदिरा प्यावै।
पूत वही मरि जाय, जो कुल में दाग लगावै॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए।
बैताल कहै विक्रम सुनो एते मरै न रोइए॥

सम्मन जाति से ब्राह्मण थे । इनका जन्म १७७७ ई० में हुआ था और इनका स्थान मल्लावाँ (ज़िला हरदोई) था । इनके नीति सम्बन्धी दोहे ग्रामीण जनता में बहु हैं । भाषा सरल और सीधी होते हुए भी मर्म को स्पर्श करती है। मनुष्य का जीव के फेर से अच्छा-बुरा बनता रहता है—इस भाव के दोहे बड़े मर्मस्पर्शी हैं और जि जिह्वा पर आज भी निवास करते हैं । मिष्ट भाषण के सम्बन्ध में सम्मन कहते हैं :

सम्मन मीठी बात सों, होत सबै सुख पूर ।
जेहि नहिं सीखो बोलिवो, तेहि सीखो सब धूर ॥

रामसहायदास जाति के कायस्थ थे और चौबेपुर (ज़िला बनारस) के रहने कविता में इनका उपनाम 'राम' था । बिहारी की 'सतसई' की भाँति इनकी 'राम भी शब्दों की कारीगरी और वाक्चातुर्य की दृष्टि से प्रसिद्ध है । इनका कविता-काल से १८२३ ई० तक माना जा सकता है। जायसी के 'अखरावट' के ढंग पर इन्होंने 'ककह रचना की थी, जिसमें नीतिविषयक उपदेश हैं ।

रीतिकालीन नीतिकारों में **दीनदयाल गिरि** सर्वप्रसिद्ध हैं । कहा जाता है कि ये ज़िले के बरसावा गाँव के महात्मा थे । बाबा दीनदयाल गिरि जाति के गोसाईं थे । शुक्ल के मतानुसार इनका जन्म १८०२ ई० में काशी के गायघाट नामक मुहल्ले में हु लौकिक विषयों पर गिरि जी की अन्योक्तियाँ नीति-साहित्य में मूर्धन्य स्थान र इनके ग्रन्थ 'अन्योक्तिकल्पद्रुम' की भाषा बहुत स्वच्छ, सुव्यवस्थित और परिष्कृत है। कविता में सहृदयता एवं भावुकता स्पष्टतः लक्षित होती है । कलामयी भावात्मकता नीतिकाव्य की सर्जना में दीनदयाल गिरि गिरिधर कविराय से उच्च सिद्ध होते हैं। आश्रित नीतिकाव्य के क्षेत्र में इनकी मार्मिकता और सौन्दर्यानुभूति का विशिष्ट स्थ किसी क्रूर के सम्बन्ध में चन्द्र को सम्बोधित करते हुए गिरि जी लिखते हैं :

केतौ सोम कला करौ, करौ सुधा कौ दान ।
नहीं चन्द्रमणि जो द्रवै यह तेलिया परवान ॥
यह तेलिया परवान बड़ी कठिनाई जाकी ।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी ॥
बरनै दीनदयाल चन्द ! तुम ही चित चेतौ ।
कूर न कोमल होंहि कला जौ कीजै केतौ ॥

अन्त में यह उल्लेखनीय है कि जहाँ भक्तिकाल में तुलसी और रहीम के दो भक्ति और नीति दोनों को स्थान प्राप्त हुआ, वहाँ रीतिकालीन नीतिकाव्य शुद्ध नी व्याख्या के लिए ही लिखा गया। समाज के कल्याण तथा सांसारिक व्यावहारिकता की प्राप्ति के दृष्टिकोण से नीतिविषयक काव्य परमोत्तम सिद्ध हुआ है । सामान्य जनता के नीतिकाव्य सद्व्यवहार और चरित्र-निर्माण का मार्ग प्रस्तुत करता है, किन्तु सरलता मार्मिक भावुकता की दृष्टि से नीतिकाव्य बहुत उत्कृष्ट सिद्ध नहीं होता । यही कारण रीतिकालीन नीतिकाव्य कविता की अपेक्षा पद्य की ओर ही अधिक झुका हुआ है।

वीरकाव्य

हिन्दी-साहित्य के आदिकाल में काव्य के अन्तर्गत वीर-भावनाओं की उत्ताव दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु वह वीर-भावना प्रायः श्रृंगार के साहचर्य में व्यक्त हुई है रीतिकालीन वीरकाव्य स्वयं स्वतन्त्र रूप में आगे आया है और राजाओं की कीर्ति

अतिरंजित वर्णन होते हुए भी उसमें देश-भक्ति की चिनगारियाँ अपनी अद्भुत चमक दिखा हैं। ऐतिहासिकता पर आधृत होने के कारण रीतिकालीन वीरकाव्य जनता को प्रेरणा करने में भी अधिक प्रभावशाली सिद्ध हुआ है। रीतिकाल के कवियों ने वीर-भावों की अभिव्यक्ति दो प्रकार से की है—१. प्रबन्धकाव्यों द्वारा, २. मुक्तक काव्यों द्वारा। प्रबन्धात्मक वीरकाव्यों के रचयिताओं में लाल, पद्माकर, सूदन, खुमान, जोधराज आदि उल्लेखनीय हैं। मुक्तक वीरकाव्यों की रचना करनेवालों में भूषण और बाँकीदास प्रसिद्ध हैं।

प्रबन्धात्मक वीरकाव्यों के कवि

लाल कवि : गोरेलाल पुरोहित 'लाल कवि' का समय ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण के आसपास माना जाता है। ये मऊ (बुन्देलखण्ड) के निवासी थे। इन्होंने 'छत्रप्रकाश' शीर्षक से महाराज छत्रसाल का जीवन-चरित्र दोहों-चौपाइयों में विस्तार से लिखा है। इस प्रबन्धात्मक वीरकाव्य में बुन्देल-वंश की उत्पत्ति, चम्पतराय के पराक्रम तथा छत्रसाल की युद्ध-वीरता का वर्णन विस्तार से किया गया है। वीरगाथाकालीन वीरकाव्यों में कवि-कल्पनाएँ इतनी अधिक समाविष्ट हो गयी हैं कि घटना-तथ्य उनमें बहुत-कुछ खो गया है, लेकिन 'छत्रप्रकाश' में ऐतिहासिक घटनाओं को सुरक्षित रखा गया है। कवि के विवरण इतिहास से ठीक-ठीक मेल खाते हैं। जहाँ छत्रसाल की वीरता का ओजस्वी वर्णन है, वहाँ यथास्थान, सुकुमार घटनाओं के मर्म को प्रस्तुत करने में भी कवि जागरूक है। छत्रसाल के वीरतापूर्ण व्यक्तित्व की झाँकी देखिए :

छत्तसाल हाड़ा तहँ आयो।
असन रंग आनन छबिछायो॥
भयो हरोल बजाय नंगारो।
सार धार को पहिरन हारो॥

पद्माकर भट्ट : रीतिकाल के कवियों में भाव और भाषा की दृष्टि से पद्माकर बिहारी की भाँति ही पण्डितप्रिय तथा जनप्रिय रहेंगे। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनका जन्म १७५३ ई० में बाँदा में हुआ था। जयपुर-नरेश महाराज प्रतापसिंह से इन्हें अच्छी जागीर मिली थी और 'कविराज शिरोमणि' की पदवी भी प्राप्त हुई थी। १७९२ ई० में पद्माकर वृद्ध गोसाईं अनूपगिरि उपनाम 'हिम्मतबहादुर' के यहाँ चले गये थे। वहीं पर इन्होंने 'हिम्मतबहादुर विरदावली' नामक वीरकाव्य लिखा था। वीर-भावना का उद्रेक जिस कलामयी भाषा में इस काव्य के अन्तर्गत दृष्टिगत होता है, वह अपने ढंग का अनूठा है। जीवन के अन्तिम चरण में पद्माकर भट्ट कानपुर में रहने लगे थे। वहीं गंगातट पर अस्सी वर्ष की आयु में इन्होंने अपनी जीवन-लीला समाप्त की। वीररसोद्भाविनी ओजगुणपूर्ण समर्थ शब्द संयोजना के लिए पद्माकर सदैव प्रसिद्ध एवं श्लाघ्य रहेंगे।

सूदन : मथुरा के माथुर चौबे सूदन जी भरतपुर के राजा सुजानसिंह उपनाम 'सूरजमल' के यहाँ रहा करते थे। उनकी वीरता का विशद वर्णन कवि ने 'सुजानचरित' नामक प्रबन्धात्मक वीरकाव्य में किया है। युद्ध की घटनाओं का वर्णन इसमें सर्वत्र इतिहास-सम्मत है। किन्तु, वीरता के वर्णन में कवि ने जहाँ वस्तुओं की गिनती गिनाने का प्रयत्न किया है, वहाँ कविता-स्थल कुछ नीरस हो गये हैं। 'सुजानचरित' में १७४५ से १७५३ ई० तक की घटनाओं का वर्णन है। इससे सिद्ध है कि सूदन की मृत्यु १७५३ ई० के बाद ही हुई होगी। 'सुजानचरित' को सात जंगों में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक जंग अंकों में विभक्त

हैं। सूदन की शब्दावली युद्ध का वातावरण उत्पन्न करने में सफल सिद्ध हुई है। नादात्मक ओजमय स्वरूप प्रस्तुत करने में कवि ने शब्दों में इतनी अधिक तोड़-मरोड़ भाषा के प्रति कुछ-कुछ अन्याय-सा लगने लगता है। फिर भी, यह मानना पड़ेगा प्रभावशाली वातावरण के चित्रण में ये वीर-रस के कवियों में अपना विशिष्ट हैं। योद्धा के चित्त की उमंग के वर्णन में भी सूदन बेजोड़ हैं। सानुप्रास व्रजभाषा छिटकाने में ये पाठकों की प्रशंसा के पात्र हैं। सूरजमल की धाक का वर्णन करते ने लिखा है :

दलन दलैया दीह देसन दवैया उग्ग,
दुग्गन दरैया खल-खण्ड रहै सूक्यो सौ।
छिति के छितीसन की छाती छनि छार भई,
पेखत प्रताप तेरो प्रबल भभूक्यो सौ।
सूदन सकल सिंह सूरज तिहारे धाक,
धूमनु करत रहै दक्खिनी विझूक्यो सौ।
सहित अमीर पीर धीर न धरत उर,
चौंकि चौंकि चाहत चकत्ता चित चूक्यो सौ॥

सूदन को युद्ध की भीषण प्रचण्डता की प्रत्यक्ष अनुभूति है। वह रणभूमि दर्शक मात्र नहीं, अपितु युद्धभूमि के रंगमंच का सक्रिय वीर पात्र है। इसीलिए सचित्र एवं बिम्बात्मक वर्णन सूदन की लेखनी से शक्तिशाली वाणी पा सके हैं।

खुमान : खुमान ने 'मान' उपनाम से काव्य-रचना की है। ये जाति के और चरखारी (बुन्देलखण्ड) के राजा विक्रमसाह के यहाँ रहा करते थे। इनका १७७३ से १८२३ ई० तक माना जाता है। १८२२ ई० के आसपास खुमान ने की रचना की थी। इससे पहले 'लक्ष्मण शतक' में इन्होंने लक्ष्मण और मेघनाद वर्णन बड़े प्रभावशाली शब्दों में किया था।

जोधराज : अलवर जिले के नींवगढ़ के कवि जोधराज ने 'हम्मीर रासो' में महाराणा हम्मीर के चरित का वर्णन ऐतिहासिक घटनाओं की सुरक्षा करते हुए हम्मीरदेव राजा पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन युद्ध में परास्त किया था। 'हम्मीर रासो' में भाषा और छन्दोविधान प्रायः पुराने ही है। यह वास्तव में एक ओजस्वी प्रबन्धकाव्य है। ऐतिहासिक तथ्यों की रक्षा कवि ने कुछ स्थलों पर नवीन कल्पनाएँ भी की हैं ताकि प्रबन्धात्मक वीरकाव्य मनोरम बन सके।

मुक्तक-वीरकाव्यों के कवि

भूषण : 'शिवराजभूषण' नामक अलंकार-ग्रन्थ की रचना कर महाकवि भूषण ग्रन्थकारों में तो स्थान बनाया ही है; 'शिवाबावनी' और 'छत्रसालदशक' के रूप में उन्होंने मुक्तक-वीरकाव्यकारों में भी प्रसिद्धि प्राप्त की है। इन दोनों रीतिरहित वीररसात्मक काव्य का सच्चा उत्कर्ष मिलता है। निस्सन्देह 'शिवाबावनी' भावोद्भाविनी राजस्तुति के गौरव से मण्डित है। शिवाजी के पराक्रम और उनकी वर्णन करते हुए भूषण लिखते हैं :

—

भूषन भनत तेरी हिम्मत कहाँ लौं कहौं,
किम्मति यहाँ लगि है जाकी भट जोट मैं।
ताव दै दै मूछन कँगूरन पै पाँव दै दै,
अरि-मुख घाव दै दै कूदि परैं कोट मैं॥

भूषण राष्ट्रीय भावों के गायक हैं। उन्होंने राष्ट्रीयता की परिभाषा सांस्कृतिक कोण से की है। उनकी वाणी प्रपीड़ित प्रजा के प्रति एक अपूर्व आश्वासन है। चाहे की कविता में उत्कृष्ट मर्मज्ञ कवि की सूक्ष्म कवित्व-कला न हो, किन्तु उनके काव्य में का प्रभावी घोष अवश्य है, जो रग-रग में रक्त का संचार करने में समर्थ है। वीर-नुकूल ब्रजभाषा लिखने में भूषण सिद्धहस्त हैं। छत्रसाल की तलवार की प्रशंसा में का भाषा-प्रवाह और अलंकार-चमत्कार दर्शनीय है :

पच्छी परछीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरो बरछी ने बर छीने हैं खलन के।

बाँकीदास : कविराज बाँकीदास का जन्म मारवाड़ राज्य के भड़ियावास गाँव में ई० में चारण-वंश में हुआ था। जोधपुर के राजा मानसिंह बाँकीदास की काव्य-ता से बड़े प्रभावित थे और इन्हें अपना गुरु मानते थे। बासठ वर्ष की आयु में इनकी हुई। इनके सत्ताईस ग्रन्थों में 'सूरछत्तीसी' और 'वीरविनोद' नामक वीरकाव्य बहुत हैं। बाँकीदास की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। इनकी कविता और प्रसाद गुणों का प्राधान्य है। शूरों को नमस्कार करते हुए कवि ने कितनी वनात्मक बात कही है :

नमस्कार सूराँ नराँ, पूरा सतपुरसाँह।
भारथ गजथाटाँ भिड़ै, अड़ै भुजाँ उरसाँह॥

(अर्थात् उन पूर्ण वीर सत्पुरुषों को नमस्कार है, जो युद्ध में हाथियों के समूह से जा हैं और जिनकी भुजाएँ आकाश से जा लगती हैं।)

रीतिकालीन वीरकाव्य के मूल्यांकन के लिए आदिकालीन वीरकाव्य से उसकी तुलना होगी। आदिकाल में पर्याप्त वीरगाथाएँ लिखी गयी थीं, किन्तु उनमें शृंगार रस और अतिशयोक्ति की इतनी भरमार है कि ऐतिहासिक तथ्यों का कुछ पता नहीं। भाषा भी अपभ्रंश-मिश्रित पुरानी हिन्दी अथवा डिंगल-बहुला है। किन्तु, रीति-न वीरकाव्य प्रायः ब्रजभाषा में ही लिखे गये और कवियों ने काव्य-सर्जना के क्षणों ऐतिहासिक तथ्यों को भी सुरक्षित रखा। आदिकाल का वीरगाथा-काव्य प्रायः प्रबन्ध-के रूप में लिखा गया था, किन्तु रीतिकाल का वीरकाव्य प्रबन्धकाव्यों के साथ-मुक्तक काव्यों के रूप में भी लिखा गया। मुक्तक-रूप में लिखे जाने का प्रमुख कारण परम्परा-अनुगमन है। रीतिकालीन वीरकाव्यकारों ने भी छन्दों में परिवर्तन किया और इस दिशा में वैभिन्न्य लाये।

आदिकाल के वीरगाथा-काव्य प्रायः आश्रयदाता राजाओं की चाटुकारी को प्रकट हैं। वे आश्रयदाताओं के बखान-मात्र हैं। उन राजाओं की वीरता का वर्णन बहुत-कुछ ही है। तत्कालीन समाज, धर्म तथा राष्ट्र से उनकी काव्यान्तर्गत भावनाओं का विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसके विपरीत रीतिकालीन वीरकाव्य के रचयिता चारण या नहीं थे। वे कवि पहले थे, आश्रित बाद में। उन्होंने स्वराष्ट्र तथा स्वधर्म की रक्षा वाले वीर पुरुषों की कर्त्तव्य-भावना को प्रेरणा देने के लिए ही वीरता की कविताएँ

लिखी थीं। रीतिकालीन वीरकाव्यों के रचयिता वीर-भावनाओं के साथ एकाकार हैं। दूसरे शब्दों में, उन्होंने उस युग में देश-भक्ति तथा हिन्दुत्व के सन्देश को ज के हृदय-तल तक पहुँचाया था। भावना-क्षेत्र में जो देश-भक्ति भूषण के रूप में आ हुई, वही कर्म-क्षेत्र में शिवाजी के रूप में क्रान्तिकारिणी सिद्ध हुई। देश-भक्ति की कि के प्रथम दर्शन पृथ्वीराज राठौर की रचना में होते हैं, उसी का पल्लवित रूप भूषण सूदन आदि की रचनाओं में देखा जा सकता है। निःसन्देह रीतिकालीन वीरकाव्यों उनके स्रष्टा कवियों के अन्तस् में सच्ची वीरता और देश भक्ति के स्पष्ट दर्शन सकते हैं। काव्य के कलापक्ष की दृष्टि से भी रीतिकालीन वीरकाव्यकार बहुत होते हैं, शब्दों के रसानुकूल प्रयोगों में वे अप्रतिम हैं। भावों की उत्तम भूमिका पद-संघटना का जो बेमिसाल कमाल उन्हें हासिल है, उसकी जितनी प्रशंसा की जा थोड़ी है।

स्फुट काव्य-प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त काव्य-प्रवृत्तियों के अन्तर्गत रचना करनेवाले कवियों के अतिरि काल में कुछ ऐसे कवि भी हुए जिन्होंने या तो राम और कृष्ण से भिन्न किसी दे की उपासना की अथवा हास्यरसादि का आश्रय लिया। उदाहरणार्थ १७८३ ई० **रामचन्द्र** ने 'चरणचन्द्रिका' की रचना की थी। इसमें कवि ने पार्वती की भक्ति उद्गार परम सुषमा तथा शान्ति के साथ व्यक्त किये हैं। स्वभावतः ऐसे कवियों को लिखित किसी विशेष धारा या वर्ग में नहीं रखा जा सकता। इन कवियों में सबलसिंह ब्रजनिधि, बेनी आदि उल्लेखनीय हैं।

सबलसिंह चौहान : सबलसिंह चौहान (१६६१-१७२४) इटावा के पास के राजा थे। इन्होंने दोहों-चौपाइयों में 'महाभारत' का अनुवाद किया था। इनकी सीधी-सरल है, उसमें कोई काव्यात्मक छटा नहीं है। इनके ग्रन्थों में 'रूपविलास' प्र इन्होंने 'ऋतुसंहार' का भाषानुवाद भी किया था।

ब्रजनिधि : ब्रजनिधि का मूल नाम प्रतापसिंह जी देव था। ये जयपुर के न इनका जन्म १७६४ ई० में हुआ था। ये आयुर्वेद और संगीत के अच्छे पण्डित थे। तेईस ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से 'रास का रेखता' और 'रेखतासंग्रह' खड़ीबो रचनाएँ हैं। शेष इक्कीस ब्रजभाषा-ग्रन्थों में प्रीतिलता, फागरंग, स्नेह-बहार, हरिपदसंग्रह, प्रेमपन्थ आदि उल्लेखनीय हैं। इनकी ब्रजभाषा में यत्र-तत्र राजस्थानी शब्द आ गये हैं।

बेनी कवि : रीतिकाल के अन्तिम चरण के कवियों में भड़ौए लिखने की प्र पायी जाती है। राजा-रईसों के मनोरंजन के लिए हास्योद्रेक का काव्य आवश्यक हास्यरसमयी सूक्तियों के लिए बेनी कवि (१८४० के लगभग) का नाम बहुत प्रसिद्ध जाति के बन्दीजन थे और बैंती (ज़िला रायबरेली) के रहनेवाले थे। दयाराम नामक ने कभी इन्हें छोटे-छोटे आम खिलाये होंगे। आम क्या खिलाये, बेचारे दयाराम की ही आ गयी। कवि बेनी ने निम्नांकित भड़ौए में उनकी अच्छी खबर ली है :

चींटी को चलावै को मसा के मुख आपु जाय,
स्वास की पवन लागे कोसन भगतु है।

ऐनक लगाये मरु मरु कैं निहारे जात
अनु परमानु को समानता लगतु है ॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं
मेरी जान ब्रह्म को बिचारिबो सुगतु है।
ऐसे आम दीन्हे दयाराम दया करि मोहिं
जाके आगे सरसौं सुमेरु सौ लगतु है ॥

बेनी कवि का 'भड़ौवा-संग्रह' प्रकाशित हो चुका है। ऐसी कविताओं को उपहासकाव्य अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

रीतिकालीन काव्य की अन्य प्रवृत्तियों का मूल्यांकन

रीतिकालीन काव्यों में जहाँ रीतिबद्ध तथा रीतिमुक्त स्वच्छन्द प्रेम-धारा के ग्रन्थों की ष्टि हुई; वहाँ ज्ञान, प्रेम, भक्ति, नीति तथा वीर रस की काव्य-सरणियाँ भी समानान्तर में प्रवाहित होती रहीं। ये सभी पूर्ववर्ती काव्यधाराओं की विकसित अवस्थाएँ थीं। लोच्य युग में अभिव्यंजना-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रतिभा वाले कवि अधिक संख्या में न्न हुए—उनकी लेखनी से भाषा का संस्कार, परिष्कार तथा शृंगार हुआ। भक्तिकाल में विता का भाव-लोक यदि उच्च और मनोहारी था, तो रीतिकाल में कविता का कलापक्ष न्दर और चमत्कारी बना। रीतिकालीन आचार्यों तथा कवियों की लेखनी की जीवनी-शक्ति कर व्रजभाषा प्रौढ़ तथा सबल हुई। इस युग में अवधी भाषा में भी काव्य-सृष्टि हुई, किन्तु समें व्रजभाषा की भाँति विविध प्रयोग नहीं हुए। उसमें प्रेमाख्यान ही अधिक लिखे गये। व्य-क्षेत्र में कवियों ने दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि अनेक छन्दों के माध्यम से अपनी व्य-शक्ति का प्रदर्शन किया।

यद्यपि रीतिकाल में कृष्ण-भक्ति के उद्‌गार कवियों की वाणी के माध्यम से सुने जा ते हैं, किन्तु फिर भी लौकिक शृंगारमयी भोगात्मक प्रवृत्तियों की प्रधानता ही उनमें अधिक खायी पड़ती है। समाज में तथा कवियों में उस समय जन-जीवन के लिए कोई ऐसा लक्ष्य-शेष नहीं था जो व्यापक रूप में प्रेरणा जगा सकता और साधनापूर्ण जीवन का विकास रता। इसलिए तत्कालीन रीतिकाव्यों में किसी नवीन जीवन-दर्शन का प्रतिबिम्ब दिखायी हीं पड़ता। कोई सामाजिक या धार्मिक आन्दोलन भी ऐसा नहीं हुआ जो मानव-जीवन को यी चेतना और प्रेरणा प्रदान करता। राजाओं की विलासिता के प्रभाव से जैसी आशा की जा सकती थी, वही दृश्य कविता में भी दिखायी दिया। क्योंकि इस युग में आत्मतेज का प्त हो चुका था; इसलिए काव्य का बाहरी स्वरूप ही परिष्कृत और प्रांजल बन सका। ल्प-चमत्कार और सौन्दर्य-चित्रण को छोड़कर प्राय; सर्वत्र रूढ़ि और परम्परा की रेखाएँ ही इस काल के साहित्यिक पटल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

इस युग में सिक्खों, मराठों और राजपूतों के तेज का प्रकाश सीमित-सा ही था। उनमें देशव्यापी राष्ट्रीय भावना को जाग्रत करने का लक्ष्य न था। इसका एक मुख्य रण यह भी था कि रीतिकाल को कबीर अथवा तुलसी-जैसा सारस्वत नेता नहीं मिला। अतः काव्य-रचना अपने रूढ़ ढंग पर शनैः शनैः चल रही थी। लेकिन औसत साहित्यिक चेतना फी प्रबुद्ध थी। सामान्य जन भी काव्य-कृतियों का रसास्वादन किया करते थे। इस युग की साहित्यप्रियता तथा कला-रुचि का प्रमाण यह है कि मुद्रण-यन्त्रों का अभाव होने पर भी रचनाएँ सहृदयों के निजी घरों तथा राजपुस्तकालयों में सुरक्षित रहीं।

अध्याय

रीतिकाल का गद्य-साहि

रीतिकाल में गद्य-निर्माण भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक हुआ। इस युग भाषा और राजस्थानी का गद्य निश्चय ही पर्याप्त समृद्ध, प्रौढ़, प्रचुर और खड़ीबोली, दक्खिनी, मैथिली आदि अन्य विभाषाओं में भी इस काल में गद्य-लेखन भक्तिकाल की तुलना में अधिक सक्रिय रही। टीकात्मक अनूदित रचनाओं की काल में अधिक है, परन्तु मौलिक ललित गद्य का भी परिमाण विरल नहीं है। इस प्रमुख गद्य-विधाएँ हैं—कथा-कहानी, वार्त्ता, वात, वर्णन, चरित्र, वचनिका, दवावैत, वचनामृत (प्रवचन), गोसट, जनमसाखी, परचीओ, जीवनी, नाटक, ख्यात, पीढ़ी, वंशावली, पट्टावली, पत्र (मौलिक रूप) और बालावबोध, टीका, टिप्पण, भाषा, रथ, भाव, भावना, वार्तिक (व्याख्यानुवाद)। पुस्तक-परिचय, निबन्धात्मक रचना जीवनी-शैली की रचनाएँ भी प्राप्त हैं। शिलालेखों, भित्ति-प्रशस्तियों और काग रूप में भी गद्य के नमूने प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त उन्नीसवीं शती के प्रथम से पाठ्य पुस्तकों और समाचार-पत्रों का प्रारम्भ हुआ। स्वतन्त्र ग्रन्थों के अतिरि प्रधान रीतिग्रन्थों और अन्य पद्यग्रन्थों में वात, वचनिका, वारता (वार्त्ता), चर्चा, आदि शीर्षकों से जहाँ-तहाँ टिप्पणी-रूप में गद्य का प्रयोग हुआ। इस समय के गद्य में पादित विषय हैं—धर्म, दर्शन, अध्यात्म, इतिहास, भूगोल, चिकित्सा, ज्योतिष, काव्य शकुनशास्त्र प्रश्नशास्त्र, सामुद्रिक, गणित और व्याकरण। उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञानविषयक पाठ्य पुस्तकें भी लिखी जाने लगी थीं। धार्मिक ग्रन्थों और काव्य-ग्र टीकाओं के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत और फ़ारसी की कथात्मक कृतियों तथा योग, वैद्यक, ज्योतिष आदि विषयों की रचनाओं के अनुवाद भी रीतिकाल में हुए।

ब्रजभाषा-गद्य

रीतिकाल का ब्रजभाषा-गद्य इस समय के खड़ीबोली-गद्य की अपेक्षा अधिक वि और समृद्ध है। धार्मिक और उपयोगी गद्य के साथ ललित गद्य भी इस काल में ब्रज में पर्याप्त परिमाण में लिखा गया। ब्रजभाषा में टीकाएँ भी क़ाफ़ी संख्या में निर्मित हिन्दी-परिवार की भाषाओं में काव्य-ग्रन्थों पर टीका-टिप्पण ब्रजभाषा में ही सर्वाधिक हैं। इस समय के ब्रजभाषा-गद्य के रूप हैं—कथा, वार्त्ता, जीवनी, वर्णन, पत्र,

वचनिका (मौलिक) और टीका, टिप्पण, वार्तिक भाव भावना अनुवाद, छायानु- । मौलिक-अमौलिक, ललित-अललित, सानुप्रास, अनुप्रास-रहित सभी प्रकार का गद्य काल में ब्रजभाषा में लिखा गया। गद्य-ग्रन्थों में ज्ञात, वचनिका, चर्चा, वार्त्ता अथवा अन्य शीर्षक से यत्र-तत्र टिप्पणीपरक गद्य भी इस युग में पर्याप्ततः लिखा गया। इस के ब्रजभाषा-गद्य में प्रतिपादित विषय हैं—धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, शकुनशास्त्र, गणित, इतिहास, भूगोल, अस्त्र, चित्रकारी, मल्लविद्या तथा काव्यशास्त्र।

रीतिकाल में वल्लभ-सम्प्रदाय में 'वार्ता' नाम से प्रचुर गद्य-वाङ्मय की सर्जना । वार्ताओं में वैष्णव जनों के पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने, उनके जीवन-प्रसंगों और जी की महिमा के अतिरंजनात्मक विवरण हैं। प्रधानतः वार्त्ता-साहित्य धार्मिक-साम्प्र- दृष्टि से ही महत्त्वपूर्ण है। इतिहास सम्बन्धी तथ्य भी इसमें प्राप्त होते हैं। वार्त्ता- का दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक और भौगोलिक महत्त्व भी है। प्रमुखतः वार्त्ता- का उद्देश्य वल्लभ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार और आचार्यों का महिमा-स्थापन । अब तक शताधिक वार्त्ता-ग्रन्थ प्राप्त हो चुके हैं। इस साहित्य में कालक्रम और महत्त्व दृष्टि से 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' अग्रणी हैं। वार्ता' की सन् १६४० ई० की प्रति काँकरौली विद्या-विभाग में सुरक्षित है। वार्ता' में वल्लभाचार्य जी के शिष्यों और 'दो सौ बावन वार्ता' में विट्ठलनाथ जी के के जीवन-वृत्त हैं। साहित्येतिहास के लेखकों ने निरन्तर इन दोनों वार्त्ता-ग्रन्थों के और इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में सन्देह व्यक्त किया है। वस्तुतः ये वार्त्ताएँ रूप में गोकुलनाथ जी की कथित हैं, बाद में उनके अनुयायियों ने इनका विस्तार कर ग्रन्थ का रूप दिया।

वल्लभ-सम्प्रदाय का वार्त्ता-साहित्य गो० विट्ठलनाथ जी और गो० गोकुलनाथ जी के वचनामृतों पर आधृत है। इन वचनामृतों को लिपिबद्ध करनेवालों में श्रीकृष्णभट्ट, कल्याण- और हरिराय के नाम प्रसिद्ध हैं। हरिराय रीतिकाल के ब्रजभाषा-गद्यकारों में अग्रणी हैं। वचनामृतों का संकलन, सम्पादन और संवर्धन किया तथा उन पर भाव-भावना संज्ञक जोड़ीं। कथात्मक और तथ्य-निरूपक दोनों प्रकार का गद्य हरिराय जी ने लिखा । इनके नाम से भाव-भावना संज्ञक बहुत-सी वार्त्ताएँ प्राप्त हैं। इन वचनामृतों में लेखन- स्थान और तत्कालीन इतिहास के भी संकेत प्राप्त होते हैं। कुछ मुख्य वचनामृतों के हैं—'गुसाईं दामोदरदास संवाद', 'नित्यसेवा प्रकार', 'चौरासी बैठक चरित्र', 'वनयात्रा', बैठक चरित्र', 'श्री गिरिधरदास की बैठकन के चरित्र', 'घरू वार्ता'। हास्य-प्रसंग के वचनामृत प्राप्त हैं। कुछ वचनामृत भावना और भाव नाम से प्राप्त होते हैं—'भावना- मृत', 'भाव-सिन्धु', 'उत्सव-भावना', 'रहस्य-भावना', 'चरण-चिह्न-भावना'। इन वचनामृतों में कुछ गो० गोकुलनाथ के अवश्य हैं। गोकुलनाथ जी के नाम से लगभग बीस ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। वस्तुतः गो० गोकुलनाथ जी के नाम से प्रसिद्ध ब्रजभाषा-गद्य पुस्तकें प्रवचनों के विस्तार हैं, जो उनके अनुयायियों द्वारा बाद में (भक्तिकाल के बाद) किये हैं।

वार्त्ताओं में अधिकांश स्थलों पर साहित्यिक सौष्ठव से रहित सरल शैली है। शब्द- चमत्कार-रहित है। वैष्णवों की जीवनियों के प्रसंग में जो कथात्मकता और चरित्र- है, उसी के कारण कुछ रोचकता उत्पन्न हुई है। वर्णित व्यक्ति जीवन के अनेक क्षेत्रों और अनेक प्रान्तों के हैं। वार्त्ताओं में इतिवृत्त-कथन त्वरापूर्ण, वर्णन स्वाभाविक और वाता-

वरण यथार्थ है। चरित्र-चित्रण चित्रात्मक और सजीव है। अन्त में सुधार और विजय दिखाने से ये आख्यान पर्यवसान में अस्वाभाविक और अरुचिकर हो गये हैं। साहित्य प्रायः प्रचारपरक, शिक्षात्मक और सोद्देश्य है; उसका गद्य प्रचार के उपयुक्त हारिक व्यास शैली का गद्य है। वल्लभ-सम्प्रदाय के वार्त्ता-साहित्य की भाषा विशेषताएँ ये हैं—तत्सम-अर्धतत्सम शब्दों की बहुलता; प्रायः लघुगत्वर वाक्य; में 'सो', 'तब', 'औरु' शब्दों का बारम्बार आना; संज्ञोपवाक्यों के पूर्व बहुधा 'कि' शब्द; कहीं-कहीं टूटी हुई लयवाले असम्बद्ध वाक्य; भूतकाल की क्रिया का (यथा : 'सो तब श्रीमदाचार्य आप श्री मुख तें सूरदास सों आज्ञा किये···तब श्री आप प्रसन्न होय कै कहे'—सूरदास की वार्ता); कहीं-कहीं उर्दू-शैली का शब्द-क्रम 'यह देह दिन चार पाँच में छूटेगी'), टीका-शैली के 'भगवदर्पण करयो है तन मन धन ···ऐसे धर्मन के' इस प्रकार के पण्डिताऊ रूप और प्रयोग; कहीं-कहीं संज्ञा की अनेक स्थलों पर शैथिल्य; कहीं-कहीं प्रान्तीय भाषाओं और बोलियों के ठेठ शब्दों के अर्थ का आच्छन्न हो जाना; कृदन्त और संयुक्त क्रियापदों के साथ तिङन्त और क्रियापद; 'दैन्यता' जैसे अशुद्ध शब्द, जहाँ-तहाँ खड़ीबोली के रूप और प्रयोग तथा अरबी के प्रचलित शब्द।

इनके अतिरिक्त रीतिकालीन ब्रजभाषा-गद्य की रचनाएँ निम्नलिखित हैं :

सत्रहवीं शताब्दी : मीनराज प्रधान—'हरतालिका कथा' (१६६९); अक्षर —'अष्टांग योग' (१६९३); 'कोककथा' और 'कोकमंजरी' (रचनाकार अज्ञात); दामोदरदास—'मार्कण्डेय-पुराण'-अनुवाद (१६४८); मेघराज प्रधान—'अध्यात्म रामा अनुवाद।

अठारहवीं शताब्दी : वल्लभ-सम्प्रदाय के श्री हरिराय के नाम से प्रसिद्ध संज्ञक टिप्पणियोंवाले 'चौरासी वैष्णवन की भावना वार्ता', 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', 'द्वादशनिकुंज की भावना', 'भावभावना', 'सात स्वरूपन की भावना', 'महाप्रभु की प्राकट्य भावना वार्ता', 'नित्यलीला भावना', 'सेवाभावना', 'निजवार्ता भावना', वार्ता भावना' शीर्षक भावना-ग्रन्थ; हरिराय के नाम से प्रसिद्ध 'नित्य कृत्य', 'पुष्टि 'श्रीकृष्ण प्रेमामृत', 'पुष्टि प्रवाह-मर्यादा', 'बैठक चरित्र', 'मार्ग स्वरूप-सिद्धान्त'; इसी दाय के श्री ब्रजभूषण द्वारा लिखित 'श्री महाप्रभु जी तथा गुसाइँ जी का चरित्र', द्वारिकाधीश जी की प्राकट्य वार्ता', 'नित्यविनोद', 'नीतिविनोद', काका वल्लभ-कृत वचनामृत'; राधावल्लभ-सम्प्रदाय के अनन्य अली का 'स्वप्न-प्रसंग' (आत्म-जीवनी, गद्य)[1]; इसी सम्प्रदाय के प्रियादास का 'सेवक जू कौ चरित्र' (ललित गद्य);

---

[1] इस काल की गद्य-शैली के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

(अ) "तादिन कृष्णदास के घर कछू सीधो सामग्री न हतो और कृष्णदास घर न हते—सो एक बनियाँ हतो सो या स्त्री कों सुन्दर देखि कै वह बनिया कबहुँ-कबहुँ या स्त्री सों तब वा स्त्री ने विचारी जो वा बनियाँ के पास जाऊँ सो वा बनियाँ की हाट पर बनियाँ प्रसन्न होयकै जो इन माँग्यो सो दियो। तब वह स्त्री सामग्री घर लाई। स्नान करि, श्री ठाकुर जी को भोग धरि सब वैष्णवन को महाप्रसाद लिवाये। बचो सो गायन को दियो। आप वामें ते कछु न लियो।" (चौरासी वैष्णवन की वार्ता, भावनात्मक संस्करण)

(आ) "तब भाई नें कही तू भीतर क्यों आयो। तब मैंने कही कि श्री लड़ैती जू नें बुलायो तब

[शेष अगले पृ

-कृत 'भक्ति-विवेचन', प्राणनाथ—'हस्तामलक'; लाड़लीदास—'सुधर्म बोधिनी'; सम्प्रदाय के ललितकिशोरी ललितमोहिनी की 'श्री स्वामी जी महाराज की वचनिका' ज्ञातनाम लेखकों की 'ब्रह्मजिज्ञासा', 'वेदान्त निर्णय', 'ईश्वर-पार्वती-संवाद' (सृष्टि-विषयक रचना), १७६३ ई० का एक मुग़ल इतिहास', 'वैष्णवलक्षण ग्रन्थ', 'वैष्णवोपदेश', वों के नित्य कर्म', 'दृष्टान्त', 'मोहिनी चरित्र', 'भूगोल पुरान', 'वसन्तराज शकुन', की वैदगाई', 'वैद्यक-संग्रह', 'अश्वचिकित्सा', 'वैद्य-जीवन' शीर्षक रचनाएँ; रामहरि माधव नाटक' (१७६७, रूपगोस्वामी के संस्कृत-नाटक का छायानुवाद); सुरति —'बैताल पच्चीसी' (संस्कृत की 'वैतालपंचविंशतिका' का छायानुवाद); देवीचन्द—देश ग्रन्थ महाप्रबोधिनी' ('हितोपदेश' का अनुवाद); वंशीधर—'मित्र मनोहर' 'हितोपदेश' का अनुवाद); 'कथा-विलास' (हितोपदेश-भोजप्रबन्ध-अनुवाद), केतोपाख्यान' (१७०७); 'नासिकेत महापुराण' ('नासिकेतपुराण-अनुवाद, १८३१); पुराण'-भाषा (१७५४); 'गरुण पुराण'-अनुवाद (१७६९); 'पद्मपुराण' के एक भाग आनन्दराम-कृत अनुवाद, शिवचन्द्र –'महारावल मूलराज वचनिका', गुमानी राय —'आईने अकबरी की भाषा-वचनिका', 'चाणक्य-राजनीति'; दादूपन्थी अनाथदास—साला' (अनुवाद)। अठारहवीं शताब्दी के कुछ पत्र भी प्राप्त हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी : वल्लभ-सम्प्रदाय के गन्नू जी की 'सप्त स्वरूपोत्सव वार्ता'; भट्टू श्रीनाथ जी की सेवाविधि"[1]; लल्लूलाल—'राजनीति' (हितोपदेश-अनुवाद, १८०२)[2], शआदत' का अनुवाद (प्रति १८१७), 'कालयवन कथा' ('महाभारत' के शुकदेव-संवाद का अनुवाद); सेवाराम मिश्र—'भागवत' (अनुवाद); श्रीपति—'माधवनिदान'[3] प्रकाश, प्रसिद्ध वैद्यक-पुस्तक); 'हकीम फ़रासीसी' ('अंजुलिपुराण', रचनाकार); 'वैद्यचन्द्रिका' (रचनाकार अज्ञात); आलम—'ग्रन्थ संजीवन'; सिंवलाल—सार'; दुर्गाप्रसाद द्विवेदी—'विवाह-पद्धति'; 'सिद्धसिद्धान्त-पद्धति' (अनुवाद, अनुवादक); डुमराव-नरेश शिवप्रकाश सिंह—'सत्संगविलास' (रामकथा सम्बन्धी शंकाओं का); नवलसिंह—'महाभारत'-वार्तिक; माणिकलाल ओझा—'सोम वंसन की वंसा-।

इस युग के प्रमुख ब्रजभाषा-गद्यकार हैं—वल्लभ-सम्प्रदाय के श्री हरिराय, ब्रजभूषण द्वारकेश; राधावल्लभ-सम्प्रदाय के दामोदर स्वामी, अनन्य अली, प्राणनाथ, प्रियादास; सम्प्रदायों के रामहरि, अक्षर अनन्य; धार्मिक सम्प्रदायों से बाहर के मीनराज प्रधान,

---

ले पृष्ठ का शेष]

सहेली तू नें कही कि यह हमारी है। यूं कहि हँसि कै मेरे कंधा पै बैठि गई।"

(अनन्य अली, स्वप्न-प्रसंग)

[1] "सो पुष्टि मार्ग में जितनी क्रिया है सो सब, स्वामिनी जी भाव ते हैं। ताते मंगलाचरण गावे। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरण कमल को नमस्कार करते हैं जिनकी उपमा दैवे को मन दसो दिसा दौड़्यौ परन्तु कहूँ पायो नहीं।" (हरिराय, भावभावना)
इस सम्प्रदाय के अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं : चतुरशिरोमणिलाल—'भावमासागर', गो० रंगीलाल—'ब्रज-प्रेमामृत'।

[2] उदाहरण—"नरमदा नदी के तीर पर पर्वत। ताके तरै एक सेमल को रूख। वापै पंछी आपने घोंसुआ बनाय सुख सौं रह्यो करैं…कह्यो है प्रीतम सो जो आपदा निवारै, संजीवक तिहारो। सुखदेवा नहिं यह का मूल है याको शीघ्र ही नास करौ।" (राजनीति)

[3] इस शीर्षक का ग्रन्थ चन्द्रसेन मिश्र के नाम से भी प्रसिद्ध है।

गुमानीराय कायस्थ, शिवचन्द्र, सुरति मिश्र, लल्लूलाल । इन लेखकों का गद्य पर्याप्त पुष्ट और प्रौढ़ है । उसमें प्रवाह और भाव-व्यंजना की शक्ति है । संस्कृतनिष्ठता के होने पर भी इन लेखकों की भाषा सजीव है । धार्मिक रचनाओं में भी यत्र-तत्र अलंकृत गद्य के सरस स्थल प्राप्त होते हैं । उपयोगी विषयों की रचनाओं में प्रायः व्या भाषा प्रयुक्त हुई है ।

रीतिकाल में काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों, धार्मिक-दार्शनिक रचनाओं, अन्य विषयों और काव्य-ग्रन्थों में यत्र-तत्र वात, वचनिका, चर्चा, वार्ता, तिलक, वार्तिक अथवा अन स भी टिप्पणीपरक गद्य का प्रयोग हुआ है । ऐसे ग्रन्थ हैं : चिन्तामणि—'शृंगार 'कविकुलकल्पतरु'; कुलपति—'रसरहस्य', जयगोविन्द वाजपेयी—'कवि सर्वस्व', भि दास—'काव्यनिर्णय', दलपतिराय वंशीधर—'अलंकाररत्नाकर', सोमनाथ—'रसपीयू बेनी कवि—'अलंकारशिरोमणि', रसिकगोविन्द—'रसिकगोविन्दानन्दघन' (१८०१) देव मिश्र—'पिंगल', रामसहायदास—'वृत्ततरंगिणी' (१८१६), करनेस—'बलभद्र (रसालंकार-विवेचन, १८२३), बख्शी समनसिंह—'पिंगल काव्य विभूषण' (१८२३), साहि—'व्यंग्यार्थकौमुदी' (१८२५), 'काव्यविलास' (१८२९), बलवानसिंह—'चित्र ग्वाल—'अलंकारभ्रमभंजन', मनोहरदास निरंजनी—'सत प्रश्नोत्तरी', 'षटदर्शनी नागरीदास—'पदप्रसंगमाला', रामचरणदास—'अणभौविलास', जसवन्तसिंह—'प्रबोध दय', हरिनाथ गुजराती—'संग्रह कवित्त', लल्लूलाल—'माधोविलास' ।[1] चिन्तामणि, कु सोमनाथ आदि ने लक्षणों की व्याख्या के लिए गद्य का प्रयोग किया है । रसिकों गद्य-लक्षण का क्रम चलाया । इनके अतिरिक्त इस युग में वैद्यक, ज्योतिष, भूगोल, को गणित आदि विषयों पर भी पद्य-गद्यमय पुस्तकें लिखी गयी हैं ।

रीतिकाल में टीका-साहित्य भी पर्याप्त परिमाण में निर्मित हुआ । गद्य तथा प की बहुत-सी समीचीन व्याख्यायुक्त टीकाएँ प्राप्त हैं । संस्कृत-टीका-प्रणाली के अनुकर खण्डान्वयी तथा पर्यायमयी होने पर भी रीतिकाल की अनेक टीकाओं में समुचित तथा स्वच्छ, सुबोध एवं सजीव भाषा मिलती है । गोपेश्वर, ईसवी खाँ, सुरति मिश्र, ह दास, ठाकुर, प्रेमदास, प्रतापसिंह आदि अनेक टीकाकारों की टीकाएँ सन्तोषजनक हैं । क्रम की दृष्टि से 'भागवत' की टीकाएँ सर्वप्रथम उल्लेखनीय हैं । 'भागवत' की सत्रहवीं की टीकाएँ हैं—चतुरदास-कृत 'एकादश स्कन्ध-टींका', वल्लभ (हरिवल्लभ ?)-रचित वत-भाषा टीका सन्दर्भ', माथुर कृष्णदेव-प्रणीत 'भागवत' (१६८३) । अठारहवीं

---

[1] कुछ उद्धरण द्रष्टव्य हैं :

(अ) "चर्चा—इहाँ चन्द्र पद प्रदीपादिक जे आल्हादक तेजस पदार्थ तिनके आगमन ते पहले ही फैलति है तैसे उनके मुखादि अंगन की अरु रत्नन की दीप्ति फैलति है ।"

(चिन्तामणि, कविकु

(आ) "इहाँ चारों तुकन में फिरत है, यह तुक है, जाते 'लाटिया' तुक कहाति है । जहाँ 'पद' और अर्थ में भेद न होय पै वाकी आवृत्ति होइ तो लाटिया है ।" (भिखारीदास, काव्यनि

(इ) "यामें विग्य है । मेरे मुप चन्द देषे कमल सकुचत हैं । सो विकास मिटि जैहैं अरु कोकन हैं । ताते रूपगर्विता नायिका रूप कारन, कमल की सकुचिबो कारज ना सम्बन्ध ते लक्षना है । नायका को रूप गुन सरोजन को दुष होय । ताते उल्लास अलंकार ।"

(प्रतापसाहि, व्यंग्यार्थ

(ई) "या छवि सों वाहि देखि माधव काम के वस होय शास्त्र कौ भय भूलि लोक-लाज लोगनि कौं विदा करि आप अकेलो वहीं ठाढ़ो रह्यो ।" (लल्लूलाल, माधोविलास)

टीकाओं में प्रियादास की 'सुलोचना टीका' और सेवाराम मिश्र का 'भागवतानुवाद' हैं। उन्नीसवीं शती की टीकाओं में गो० सुन्दरलाल मध्यगौडेश्वर की टीका उल्लेख- । इसमें कुछ ही श्लोकों की व्याख्या है। 'भगवद्गीता' की भी टीकाएँ ईसा की सत्रहवीं वे ही मिलती हैं। 'गीता' के सत्रहवीं शती के टीका-ग्रन्थ हैं—रामानुजी भगवानदास भाषामृत' (१६६८, खड़ीबोली-मिश्रित), स्वामी नवरंग का 'गीता-प्रश्न' (विवेचन- । अठारहवीं शताब्दी की गीता-व्याख्याएँ हैं—नाजर आनन्दराम-कृत 'परमानन्द-प्रबोध (१७०४, गद्य-पद्य), जनभुआल-कृत 'कृष्णार्जुन-संवाद', किशोरदास की छह अध्यायों , कृष्णराय चक्रवर्ती की 'भगवतगीता भाषा', मंजु मिश्र की टीका, हरिवल्लभ की भाषा-टीका (गद्य-पद्य), हरिवंश-कृत 'पाण्डव गीता' टीका और मेघनाद की टीका। तुलसी के काव्य पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं। 'मानस' के पुराने टीका- र हैं—महन्त रामचरणदास और हरिहरप्रसाद। इनकी भाषा प्राय: खड़ीबोली-पूर्वी- है। तुलसी के अन्य ग्रन्थों के टीकाकारों में राजा रतनसिंह ('विनयपत्रिका' टीका), नरेश शिवप्रकाश सिंह ('विनयपत्रिका' टीका), हरिहरप्रसाद ('गीतावली' टीका), पाठक बनारसी ('तुलसी-सतसई' टीका) और पाण्डे रामबख्श, मानसीवन्दन पाठक, लाल (पटनावासी), जानकीदास और रघुनाथदास वैष्णव के नाम उल्लेखयोग्य हैं। कारों की भाषा ब्रज न होकर प्राय: ब्रज, अवधी और खड़ीबोली का मिश्रित रूप है।

बिहारी सतसई' पर लिखित टीकाओं की संख्या काफ़ी बड़ी है।[1] सत्रहवीं शती की गद्य-टीका (मानसिंह-कृत) प्राप्त है, परन्तु अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की बहुत- प्राप्त हैं। अठारहवीं शती की प्रमुख टीकाएँ हैं—शुभकरण कमलनयन-कृत 'अनवर , कृष्ण कवि की गद्य-पद्य टीका, पन्नावासी कर्ण कवि की टीका, यूसुफ़ खाँ या ईसवी चन्द्रिका-टीका' (ब्रजभाषा और खड़ीबोली का मिश्रित रूप), हरिचरणदास-कृत टीका', सुरति मिश्र-कृत 'अमरचन्द्रिका टीका' (टीका गद्य में, अलंकार-निर्देश पद्य न्नीसवीं शती की टीकाओं में हरजू कवि की टीका, असनीवासी ठाकुर द्वितीय की टीका' (सतसैया-वरनार्थ, गद्य-पद्य), रणछोड़दास की टीका, माथुर ब्राह्मण की टीका, अमरसिंह की पद्य-गद्यमय टीका और प्रतापसिंह-प्रणीत 'रत्नचन्द्रिका लेखनीय हैं।

केशव के अठारहवीं शताब्दी के टीकाकारों में सुरति मिश्र ('रसिकप्रिया' पर 'रस चन्द्रिका टीका' और 'कविप्रिया' पर 'जोरावरप्रकाश' शीर्षक टीका), हरिचरणदास पर 'कविप्रियाभरण-तिलक' तथा 'रसिकप्रिया' पर तिलक) और ईसवी खाँ खाँ ('रसिकप्रिया' की टीका)[2] प्रसिद्ध हैं। उन्नीसवीं शती के टीकाकार हैं— ('रसिकप्रिया'-तिलक, गद्य-पद्य), नाज़िर सहजराम ('कविप्रिया' पर 'सहजराम- टीका', गद्य-पद्य), जानकीप्रसाद ('रामचन्द्रिका'-टिप्पण, शब्दार्थ-मात्र), लछिमन राव पर 'लछिमन चन्द्रिका' टीका), धनीराम ('रामचन्द्रिका' टीका)।[3] किसी ने 'वैराग्यशतक' की भी टीका की है।

---

[1] जी ने बिहारी के ३१ प्राचीन टीकाकारों की चर्चा 'कविवर बिहारी' शीर्षक ग्रन्थ में की है।

[2] पर याकूब ख़ाँ की भी टीका बतायी जाती है।

[3] 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर सरदार कवि की टीकाएँ भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु इनका रचना- काल के कुछ बाद का है।

अन्य उल्लेखयोग्य टीकाएँ हैं—हरिराय-कृत 'शिक्षापत्र' की उनके अनुज टीका ('इकतालीस शिक्षापत्र' टीका); आचार्य वल्लभ और विट्ठलनाथ की प्रसिद्ध 'सर्वोत्तम स्तोत्र', 'सिद्धान्त-रहस्य', 'वल्लभाष्टक', 'मंगलपद', 'गुप्त र आदि बीस संस्कृत-ग्रन्थों की संस्कृत-टीकाओं और 'शृंगाररसमण्डन' आदि हिन्दी-रूपान्तर, राधावल्लभ-सम्प्रदाय के श्री हितहरिवंश के 'हितचौरासी' की रचित पद्य-गद्य-टीका और धरनीधरदास, लोकनाथ, अतिवल्लभ, केलिदास, सुख रतनदास की टीकाएँ; सुखलाल-कृत 'भागवत' टीका, प्रेमदास-कृत 'स्फुट पद दास-कृत 'सेवकवाणी' टीका, 'हरिवंशाष्टक' टीका (अठारहवीं शती), 'चौरासी' वल्लभ और चन्द्रलाल-कृत टीकाएँ, 'सेवकवाणी' की हरिलाल व्यास और गो० टीकाएँ, 'वृन्दावनशतक', 'कर्णामृत' पर चन्द्रलाल की टीकाएँ; 'मनप्रबोध', रंगीलाल की टीकाएँ, 'राधासुधानिधि' पर रंगीलाल और भोलानाथ की टीकाएँ, पर ब्रजगोपाल, सर्वसुखदास और भोलानाथ की टीकाएँ, 'भक्तमाल' की प्रिया पर अग्रनारायणदास-वैष्णवदास-लिखित 'भक्ति-रसबोधिनी' शीर्षक गद्य-पद्य-टीका शती उत्तरार्ध), 'भक्तमाल' पर लाल जी कायस्थ की 'भक्त उर्वशी टीका', हरिचरणदास, रणधीरसिंह ('भूषण कौमुदी' टीका), दलपतिराय वंशीधर तथा टीकाएँ, मतिराम-कृत 'रसराज' पर बख्तेश और प्रतापसाहि की टीकाएँ, किशोरदास की अठारहवीं शती पूर्वार्द्ध की डॉ० वेनिस की खोजी हुई टीकाएँ, गिरधारीलाल गोस्वामी, उनके शिष्य बालकृष्णदास और पटनावासी हरिश्चन्द्र

इस समय की कुछ अन्य टीकाएँ हैं—रामसनेही पन्थ के संस्थापक स्वा के शिष्य रामजन की 'दृष्टान्त-सागर' और 'संजुगतिवचनिका' पर सन् लिखित टीकीएँ (खड़ीबोली-मिश्रित भाषा), मध्व-गौडेश्वर-सम्प्रदाय के गो० 'पंचाध्यायी'-टीका, 'गोपी-विरह-वर्णन'-टीका, 'इन्द्रस्तुति'-टीका, गोपाल पच्चीसी तिलक', वासुदेव सनाढ्य-रचित 'मुहूर्त संचय टीका'[1] और अज्ञातनाम 'उत्सावली'-टीका, 'बलभद्र-जन्म-चम्पू'-टीका, 'नन्दोत्सव'-टीका, 'जानकी 'रामचरित्र'-टीका ।[2]

[1] जैन धर्म के ग्रन्थों और अन्य विषयों के ग्रन्थों की भी टीकाएँ प्राप्त हैं । वैद्यक का ग्रन्थ है—सवाई प्रतापसिंह-प्रणीत 'अमृतसागर टीका' ।

[2] उपरिलिखित कतिपय कृतियों से उदाहरणार्थ कुछ अंश द्रष्टव्य हैं

(अ) "प्रथम गंगा ही सबतें अधिक तीर्थ होत भई । अब तो श्रीकृष्ण की कीरति श्रेष्ठ है । इन तीर्थ नें गंगा रूप तीरथ अल्प कीयो है । कीरति रूपी तीरथ ही है ।" (वल्लभ या हरिवल्लभ, भागवत भाषा-सन्दर्भ)

(आ) "तुम या चराचर लोक के पिता हों, पूज्य परम गुर हों, हे अचिंत्य प्रभाव समान कोऊ नांही, तुम तें अधिक कोंन होयगों ।" (कृष्णराय सन्तोषी, भगवद्गीता

(इ) "पार्‍यौ इति । सौति की सखी कौ बचन ईर्षा सों काहू स्त्री सों । या नायिका ने सोहाग को सोर पार्‍यौ, सौभाग्य प्रसिद्ध कियौ, उनींदी आँखें करि करि राति नायक के संग जागी है यातैं आँखि में नींद लगी है, प्रिय कौ नेह कारन है सो नहीं है । विभावनालंकार—'होति [illegible] भाँति विभावना कारन सोहाग प्रसिद्ध होनौ इष्ट है ताकौं छल करि साध्यो, यातैं पर्य्यायोक्ति अलंकार । साधियै जो कछु चितहिं सुहात । संदेह जहाँ अलंकार का होइ तहाँ संकर जानिये
(हरिचरणदास, 'बिहारी सतसई' की

खड़ीबोली-गद्य

रीतिकाल का खड़ीबोली-गद्य प्रायः मिश्रित भाषा में है। ब्रजभाषा के सम्पर्क से शुद्ध खड़ीबोली-गद्य उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता। इस समय की अनेक ों पर ब्रजभाषा के साथ पूर्वी हिन्दी, राजस्थानी अथवा पंजाबी का प्रभाव है। इस में भी ललित गद्य की अपेक्षा अललित गद्य (धर्म, दर्शन, चिकित्सा, ज्योतिष, इतिहास, सामुद्रिक, शकुन, गणित आदि विषयों पर लिखित शुष्क गद्य) का ही प्राधान्य रहा। वीं शताब्दी सें पूर्व की ब्रजभाषा, फ़ारसी, पंजाबी आदि से प्रभावित खड़ीबोली-गद्य हत्त्वपूर्ण मौलिक रचनाएँ हैं—'एकादशी महिमा', 'सीधा रास्ता' (इस्लामविषयक), फ़र्सनामा' (पोथी सलोत्री की), 'बाजनामा', 'सकुनावली', 'हकीकत', 'नरसिंहदास की दवावैत', 'जिनसुखसूरि मजलस', 'लखपत दवावैत', 'मंडोवर का वर्णन', 'विश्वातीत-नाटक', 'सुरासुर निर्णय' (मुन्शी सदासुखराय), 'गोसट गुरु मिहरिबानु' (हरिजी), की पातस्याही की परम्परा', 'मोक्षमार्गप्रकाश' (टोडरमल जैन) 'चिद्विलास' (दीप-चंद)।

इनमें प्रथम दो रचनाएँ धार्मिक, तीसरी-चौथी चिकित्साविषयक, पंचम शकुनविषयक, ' शीर्षक छठी रचना प्रणामी सम्प्रदाय के 'मारफ़त सागर' ग्रन्थ का परिचय, सातवीं-वीं ललित सानुप्रास गद्य की कथात्मक-वर्णनात्मक रचनाएँ, दसवीं वर्णनात्मक, ग्यारहवीं नाटक शाहजी महाराज द्वारा लिखित नाटक, बारहवीं निबन्धात्मक, तेरहवीं 'गोसट' रचना सिक्ख गुरु मिहरबानु की जीवनी, चौदहवीं इतिहासविषयक (तैमूर से सूरजमल क का घटना-विवरण) और अन्तिम दो जैन धर्म की दार्शनिक रचनाएँ हैं।[1] उल्लिखित ' और 'मजलस' संज्ञक रचनाएँ सानुप्रास गद्य की रचनाएँ हैं और प्रायः राजस्थानी-खड़ीबोली में हैं। वर्णनात्मक, कथात्मक तथा निबन्धात्मक रचनाएँ विरल हैं। इस के पत्र भी प्राप्त हैं, जिनमें से कुछ में ललित गद्य प्रयुक्त है। उल्लिखित रचनाओं में में खड़ीबोली के शब्द-रूप पर्याप्ततः प्रयुक्त हैं। कुछ रचनाओं में ब्रजभाषा, राज-पंजाबी या पूर्वी हिन्दी से मिश्रित खड़ीबोली प्रयुक्त है। 'हकीकत' और 'सीधा रास्ता'

पृष्ठ का शेष]

(ग) "जोइ जोइ प्यारो करे सोइ सोइ मोहि भावै—इति प्यारो उचित अनुचित करै जो तो सब भावै उचित अनुचित यह क्यों लिखो, कोउ संदेह करै ताको उत्तर करिवे में दोउ इहै उचित कें अन-उचित उचित तो प्यार विना हू करै···।" (प्रेमदास, हितचौरासी टीका)

(घ) "सम्पति कहियै नाइक नाइका, आपुस में देषत ही जहाँ अनुराग उपजि परै फेर बिन देषे दुष होई सो पूर्वानुराग विरह कहावै।" (सुरति मिश्र, रसिकप्रिया टीका)

[1] रचनाओं से गद्यांश उद्धृत किये जाते हैं :

(क) "एक ब्रह्मन था, नाम उसका अस्पत था, अकनवोत्री था, अकन वोतर सों धुअंकस के जो आँखों में पर्दा था तिसते आँसू जो चलते थे दाहिनी जो अख ते आँसू चलते थे तिससे खोरा होत फया (फया) बावें अख ते जो आँसू चलते थे तिससे खोरी होत फई (भई) पुत्र जो इस ब्रह्मन का था उसका नाम सालूतर था तन पुत्र अपने नौखियाँ एक पोथी खोरियाँ की करो जिसते कोंओकन र रोक अर इलाज जानिया जाय तिसने ओ पोथी करी, अपन मांहे नाम रखिया।"

(पोथी सलोत्री की)

(ख) "ध्यान विकार गया। विमल चरित्त का षेल भया। मम की ममता मिटी। स्वरूप नें अैसो रलि मिली एकमेक हुआ। सो वह आनंद कैवलीगम्य है। जहाँ समाधि सुष की कल्लोल उठै है। दुर उपाधि मिटि गई। आनन्द घर तो पहुच्या।" (दीपचन्द, चिद्विलास)

खड़ीबोली हिन्दी की अपेक्षा हिन्दुस्तानी के निकट हैं; 'सीधा रास्ता' पर पूर्वी हिन्दी है तथा 'गोसट गुरु मिहर्रिबानु' और 'फ़र्सनामा' पर पंजाबी का प्रभाव है।

इनके अतिरिक्त अन्य उल्लेख-योग्य रचनाएँ हैं—'पोथी हरिजी' (सिक्ख की पुस्तक), 'जनमसाष कबीर भगति जी की' (कबीर की जीवनी और उनकी व्याख्या), 'विवेकसार' (अड्डनशाह-कृत), 'जनम-साषी गुरु नानक जी दी' (कृत), 'अषवार डेवड़ी का' (राजा रणजीतसिंह के दरबार की गुप्त सूचनाएँ) तथा की कृतियाँ ('स्त्रीक्रिस्न-साहित्य-सिन्धु' शीर्षक पद्य-गद्यमय रीति-ग्रन्थ, 'पासा केवली वती अष्ट चण्डिका', 'विवेक-मार्तंड', 'दिल्ली की पातस्याही')। खड़ीबोली के विशिष्ट हैं—टोडरमल जैन, दीपचन्द जैन, शाहजी महाराज, हरिजी, दयाल अनेमी, रामप्रसाद निरंजनी, दौलतराम जैन, टेकचन्द जैन और मुन्शी सदासुखराय। मुंशी निसार (नियाज नहीं), जिनके नाम से 'सुखसागर' शीर्षक ग्रन्थ का उल्लेख प्रायः सभी पुस्तकों में किया गया है, 'सुखसागर' शीर्षक किसी ग्रन्थ के रचयिता नहीं हैं। उनका उपनाम था। 'विष्णु पुराण' या 'भागवत' का मुन्शी जी ने पद्यानुवाद किया था दो अन्य गद्य-रचनाएँ अवश्य प्राप्त हैं—'सुरासुर निर्णय' (निबन्धात्मक रचना, सज्जन विवेचन) और 'वार्तिक' (बाबा दयालुदास के ध्रुव-पदों का भाष्य)।

हम लिख चुके हैं कि रीतिकाल में निर्मित खड़ीबोली-गद्य अधिकांशतः टीका ही रूप में प्राप्त है। अठारहवीं शताब्दी के प्रमुख अनूदित ग्रन्थ हैं—'भाषा 'भाषायोगवासिष्ठ', 'भाषा-पद्मपुराण', 'आदिपुराण वचनिका', 'मल्लीनाथ चरित्र 'सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका' और 'हितोपदेश वचनिका'। 'भाषा उपनिषद्' तैत्तिरीयोपनिषद् आदि बाईस उपनिषदों के फ़ारसी-अनुवाद का हिन्दी-भाषान्तर है। की एशियाटिक सोसाइटी के संग्रह में सुरक्षित इस उपनिषद्-अनुवाद की एक सौ पत्रों की नागरी-प्रति में भाषा ब्रजभाषा-मिश्रित और प्रायः अपरिमार्जित है।[1] संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है। वाक्य-रचना पूर्णान्वय-पद्धति पर प्रायः सीधी और सुगठित कहीं-कहीं उस पर फ़ारसी-अनुवाद का प्रभाव है। लम्बे वाक्यों में प्रायः पदों शिथिलता और यत्र-तत्र अस्पष्टता है। रामप्रसाद निरंजनी के नाम से प्रसिद्ध वासिष्ठ'—जैसा कि इस ग्रन्थ के नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित संस्करणों की बम्बई से १८६५ ई० में प्रकाशित संस्करण से तथा इस ग्रन्थ की उपलब्ध हस्तलिखित से प्रकट है—मूलतः पंजाबी-ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली में लिखा गया था। भाषा सुधारकर प्रकाशित किया गया था। रामप्रसाद जी ने कथा-रूप में इसका किया था। पटियाला-नरेश साहिबसिंह द्वारा नियुक्त दो गुप्त लेखकों द्वारा यह किया गया था। डॉ० गोविन्दनाथ राजगुरु का मत है कि रामप्रसाद निरंजनी इस कर्त्ता (इसके प्रवचनकर्त्ता भी) नहीं हैं, यह ग्रन्थ मूलतः गुरुमुखी लिपि में लिखा और इसकी रचना पटियाला-राजवंश के अस्तित्व में आने के पूर्व (१६७४ ई०) चुकी थी। परन्तु डॉ० राजगुरु अपनी इस मान्यता को स्थापित नहीं कर सके हैं।[2]

---

१. डॉ० गोविन्दनाथ राजगुरु को इस ग्रन्थ की 'पंचासत उपनिषद भाषा' शीर्षक १८४० ई० लिपि की प्रति प्राप्त हुई है जिसमें 'छान्दोग्य' आदि चौंतीस उपनिषदों का अनुवाद है। समान है।

२. देखिए 'गुरुमुखी लिपि में हिन्दी गद्य', पृष्ठ ५३, ६७

ी के नाम से प्रसिद्ध 'भाषायोगवासिष्ठ' निश्चय ही मूलतः उनका रचित (कथित) यह हो सकता है कि उनके पूर्व भी पण्डित जन पंजाब में और अन्यत्र पंजाबी, हिन्दी भाषाओं में इस ग्रन्थ का व्याख्यान करते रहे हों। बसवावासी दौलतराम जैन कृत- पद्मपुराण' अथवा 'पद्मपुराण वचनिका' राजस्थानी-ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली में की जैन राम-कथा का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम जी की दूसरी प्रख्यात 'आदि पुराण वचनिका' है, जो भगवान् ऋषभदेव तथा राजा श्रेयांस के जन्मों से सम्बद्ध जैन प्राकृत-ग्रन्थ 'आदिपुराण' का व्याख्यामय अनुवाद है। दौलतराम की अन्य गद्य-रचनाएँ हैं—'पुण्याश्रव कथा कोष वचनिका', 'वसुनन्दिश्रावकाचार ', 'परमात्मप्रकाश वचनिका', 'श्रीपाल चरित्र वचनिका' तथा 'हरिवंश पुराण '। इस वर्ग की अन्य कृतियों में 'मल्लीनाथ चरित्र वचनिका' इन्दौरवासी दौलतराम है। 'सुदृष्टि तरंगिणी वचनिका' के लेखक टेकचन्द जैन हैं। 'हितोपदेश वचनिका' की रचना है। ये सभी वचनिकाएँ जैन रचनाएँ हैं और राजस्थानी-ब्रजभाषा- खड़ीबोली में लिखित हैं। इनके अतिरिक्त खड़ीबोली में उपलब्ध कुछ और भी अनूदित रचनाएँ हैं। जैसे—'पारस भाग' ('महमूद गजाली री वात'—फ़ारसी शआदत' का सेवापन्थी अड्डनशाह और कृपाराम-कृत अनुवाद), गीतानुवाद -कृत ?, प्रति १७२३), 'सूर्यसिद्धान्त' (१७८२, पण्डित कमोदानन्द मिश्र द्वारा से अनूदित ज्योतिष-ग्रन्थ), 'गोराबादल की वीरता' (१८२३ ई० के लगभग), 'सिंघासन ' (छायानुवाद), 'विष्णुपुराण-भाषा', 'श्रीमद्भागवत भाषा'।[1]

ब्रजभाषा-मिश्रित खड़ीबोली में अनेक टिप्पण-टीकाएँ भी प्राप्त हैं। इस प्रकार के टिप्पण हैं—'गोरक्षशतम् टिप्पण' (इस पर पूर्वी हिन्दी का भी प्रभाव है) तथा योगाभ्यास टिप्पण' (संस्कृतपरक भाषा)। शैली दोनों की खण्डान्वयी और 'कथंभूती' है। सत्रहवीं के उत्तरार्ध और अठारहवीं शताब्दी की टीकाओं में उल्लेखनीय हैं—'प्रवचन-सार- —पंचास्तिकाय-टीका' (पांडेय हेमराज), 'विषापहरस्तोत्र टीका' (अखयराज), 'भर्तृ-वैराग्य-शतक टीका' (जिनसमुद्र सूरि), 'भाषामृत-गीता-टीका' (भगवानदास), -गीता भाषा' (दयाल अनेमी), 'गीताभाषा' (दयाल अनेमी), 'जपु टीका'), 'गीताभाषा' (किसनदास-किसोरदास), 'गरब गंजनी टीका' (भाई सन्तोष-), 'आत्मपुराण टीका' (टीकाकार अज्ञात), 'अजीर्ण मंजरी टीका' (काशीनाथ, प्रति के इण्डिया आफ़िस में सुरक्षित), 'बिहारी सतसई' की ईसवी खाँ-कृत टीका, 'गोरख- के सत्ताईस पदों का तिलक' (गोरखबानी में प्रकाशित), 'कबीर के १२१ पदों की (असपष्ट खण्डान्वयी व्याख्या), 'दृष्टान्तसागर टीका' (रामसनेही पन्थ के संस्थापक

---

[1] लिखित कृतियों से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये जाते हैं :

"यथा जब सूरज पूरब दिशा सौं निकसता है। सम्पूरण मनुषादिक चैतनता की प्रापति हो करि व्यवहार मौं प्रवरतत है। अरु अंधकार जो भयानक है सो दूर होत है। जो कोऊ या भाँति जानै निरत लोक अर स्वरग लोप अरथ यह जु अरथ प्रमारथ इन दोनों को पावै।" (पंचासत उपनिषद भाषा)

"ताते मन विषे जो कछू कलना है तिस का त्याग करि मोक्ष की इछा का भी त्याग करि बंधन वृत्ति को भी त्याग करि हे राम जी वैराग्य अरु विवेक अभ्यास करिकें मन को निर्मल किए जब मन निर्मल हुआ तब मन का मननभाव नष्ट हो जावेगा। जब यह फुर्ना फुर्ता है जो मैं मुक्त होऊँ तब मन जागि जाता है अरु मन के जागे तें मनन भी हो जाता है। मनन हुआ तब अपणे साथ शरीर भी भासि आता है।" (भाषायोगवासिष्ठ)

श्री रामचरणदास के ग्रन्थ 'दृष्टान्तसागर' की उनके अन्तेवासी रामभजन द्वारा
मिश्रित खड़ीबोली में लिखित टीका), 'सुषमनी सहंसर नाम परमारथ' (हरिजी-
ग्रन्थ जिसमें उन्होंने अपने पिता मिहरिबानु के ग्रन्थ 'सुषमनी सहंसरनाम' की
'मानस' की महन्त रामचरणदास और सन्तसिंह पंजाबी-कृत टीकाएँ। इन टीकाओं
भाषा ब्रजभाषा और यत्र-तत्र पंजाबी से प्रभावित है।[1]

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में खड़ीबोली-
महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण हुआ। इस कॉलेज से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा
हैं—'नासिकेतोपाख्यान', 'रामचरित्र', 'प्रेमसागर', 'लालचन्द्रिका टीका',
'सिंहासनबत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी', 'भक्तमाल टीका' और 'हातिमताई'
'यजुर्वेद' तथा 'कठोपनिषद्' की नचिकेत-कथा पर आधृत सदल मिश्र-कृत
में पूर्वी प्रयोगों, ब्रजभाषा-रूपों, पण्डिताऊपन और अनेक स्थलों पर असन्तुलित
के होने पर भी खड़ीबोली-गद्य का पर्याप्त स्वच्छ-सुष्ठु रूप है। 'रामचरित्र' भी
की रचना है। यह 'अध्यात्म रामायण' का रूपान्तर है। भाषा-स्थिति इसमें
पाख्यान' के समान है। शैली में त्वरा, सरलता और स्पष्टता है।[2]

श्री लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' 'भागवत' के दशम स्कन्ध के चतुर्भुज मिश्र
भाषा-अनुवाद का खड़ीबोली-रूपान्तर है। इसका गद्य अनेक स्थलों पर सानुप्रास
भास है। भाषा ब्रजभाषा से प्रभावित है। शब्द-रूपों में अनिश्चितता और
स्थलों पर ग्रामीण और अर्धनागरिक शब्द-रूप और प्रयोग, कहीं-कहीं विचित्र
—'प्रेमसागर' की भाषा की अन्य प्रवृत्तियाँ हैं।[3] 'लालचन्द्रिका टीका' ('बिहारी
की टीका), 'सिंहासन बत्तीसी' (काज़िम अली की सहायता से लिखित, सुन्दरदास
अनुवाद का हिन्दुस्तानी-रूपान्तर), 'बैताल पच्चीसी' (शिवदास-रचित
सुरति मिश्र-कृत ब्रजभाषानुवाद का मज़हर अली के साथ लिखित खड़ीबोली-

---

[1] टीका-गद्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :
"नायिका है तो पिय की सुहागिनि पै इसकी जो सखी है, सो इसके सुहाग को
वास्ते छिपावै है। और कै यौं अर्थ कीजिये कि नायिका को सौति के सुहाग का
सो सखी नायिका को समझावै है कि तेरी सौति ने उनींदी आँखैं करि कै और
करि कै सुहाग कौं सोरु डार्‌यो है पै सुहागिनि तू ही है। अलंकार पर्यायोक्ति,
मिस कै कारज साधियै। सो यहाँ उनीदी आँखिनु अलसौंही देह मिस पिय के सुहाग को
सो इहाँ नजर न लगै। यह इष्ट-साधन सखी करै है। यह हेत मिस। नेह तोही सों
पर्य्यायोक्ति है।" (ईसवीं ख़ाँ-कृत 'रसचन्द्रिका' शीर्षक 'बिहारी सतसई' की टीका)

[2] (अ) "धन्य हो पुत्र, कि इसी देह से यम की पुरी को देख ज्यों के त्यों फिर चले आये।
से एक सिद्ध हुए हैं, पर मैं जानता हूँ कि तुम्हारे गुण वो तेज को कोई
सकता है।" (नासिकेतोपाख्यान)
(आ) "यह समझ अपनी मूर्खता विचार वैर त्याग सीता को आगे कर कुल परिवार समेत
जा मिलो···लगे हनुमान को सराहने कि शौ योजन सागर को लांघ शक्ता वो
है कि राक्षसन से पालित लंका में जा अपनी प्रभुता जनावे।" (रामचरित्र)

[3] "इतनी कथा सुन राजा परीक्षित ने श्री शुकदेव जी से पूछा, महाराज रौनक दीप तो
काली वहाँ से क्यों आया और किसलिए यमुना में रहा यह मुझे समझा कर कहो जो मेरे
जाय। श्री शुकदेव बोले, राजा! रौनकदीप में हरि का बाहन गरुड़ रहता है सो अति

ायदा' (ब्रजभाषा-व्याकरण) लल्लूलाल जी के नाम से प्रसिद्ध अन्य रचनाएँ हैं।[1]
इस काल की अन्य कृतियों में 'भक्तमाल'-टीका (श्री तारिणीचरण मित्र द्वारा 'हिन्दी दुस्तानी सिलेक्शन्स' में प्रकाशित) 'भक्तमाल' की विस्तृत व्याख्या है। 'हातिमताई' का पं० योगध्यान मिश्र ने १८३८ ई० में किया था। अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं—शुद्ध की छटा दिखाने के लिए रचित इन्शा अल्ला की दास्तान-शैली की चपल तुकमय गद्य ी केतकी की कहानी' (१८०५ ई० के लगभग), रीवां-नरेश महाराज विश्वनाथसिंह कथा विषयक 'आनन्दरघुनन्दन नाटक' जिसमें ब्रजभाषा-पद्य के साथ खड़ीबोली-गद्य हुआ है, 'स्त्री-शिक्षा-विधायक' (निबन्धात्मक रचना) तथा 'श्रीकृष्ण-चरितोपाख्यान (१८३०, पद्य ब्रजभाषा और पूर्वी में तथा गद्य खड़ीबोली में), दयाशंकर जी के राम का राम-विवाह विषयक 'जानकीरामचरित नाटक', तारिणीचरण मित्र द्वारा से अनूदित 'पुरुष-परीच्छा संग्रह' (१८१३) और लल्लूलाल के अनुज दयाशंकर द्वारा 'दाय भाग' (१८३२, भाषा संस्कृतनिष्ठ तथा ब्रजभाषा-प्रभावित)।

दक्खिनी-गद्य

रीतिकाल में दक्खिनी में पूर्व-परम्परा के अनुसार सूफ़ी तथा इस्लामी धर्म-ग्रन्थों -अनुवाद और धर्म-दर्शनविषयक पुस्तकों का निर्माण अधिक हुआ। कुछ अनूदित पुस्तकें, इतिहासविषयक और चिकित्साविषयक कुछ पुस्तकें और पत्रों, हुक्मनामों तथा ों की एक-दो संग्रह-पुस्तकें भी प्राप्त हैं। इस काल की प्रमुख धार्मिक दक्खिनी-रचनाएँ ाविदशाह अलहसन उलहुसेनी-कृत 'गुलज़ारुस्सालिकीन' तथा 'कंजुल मोमिनीन', मीरां कृत 'शमायलुल अतकिया' और 'दलायलुल अतकिया' नामक ग्रन्थों के अनुवाद; शाह क़ादिरी-कृत 'रिसाले वजूदिया', मोहम्मद शरीफ़-रचित 'गंजमख़फ़ी', मोहम्मद क़ादिरी का किया हुआ 'मारिफ़तुस्सुलूक' का अनुवाद, सैयद शाह मोहम्मद क़ादिरी साले वजूदिया', सैयद शाहमीर का 'असरारुत्तौहीद', अब्दुल हमीद का 'रिसाले '। इनमें से अधिकतर पुस्तकें सूफ़ीमतविषयक हैं। इनके अतिरिक्त अज्ञातनामा लेखकों नामा', 'अनवारे सुहेली', 'किस्सा-ए-गुलो हुरमुज़' शीर्षक अनूदित कथात्मक पुस्तकें, ', 'तारीख जापान', 'अम्दतुल तारीख़', 'तारीख़ श्रीरंगपट्टन', 'गुलदस्तए हिन्द' इतिहासविषयक ग्रन्थ और 'मुआलज़ात ख्वाज़ा बन्दानवाज़' तथा 'मजमूआ नुस्खेज़ात चिकित्साविषयक रचनाएँ और विज्ञान सम्बन्धी कुछ अनूदित पुस्तकें (सित्तए शम्सिया, बरें सकीन आदि) भी मिलती हैं। इन रचनाओं की भाषा प्रायः उर्दू-शैली की है। ों और वाक्य-विन्यास की दृष्टि से दक्खिनी-गद्य की भाषा आधुनिक खड़ीबोली के निकट है।[2]

[1] ल्लूलाल जी की ब्रजभाषा-गद्य की रचनाओं में 'राजनीति' ('हितोपदेश' का अनुवाद), 'ऑरिएंटल स्ट' का अनुवाद तथा 'माधोविलास' (गद्य-पद्य में माधव-सुलोचना की प्रणय-कथा) प्रसिद्ध हैं। लूलाल जी के नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रन्थ हैं—'नक्लियात' या 'लतायफ़े हिन्दी' (लघु कहानियों का ह, सम्पादित), 'माधोनल' (लल्लूलाल की सहायता से मजहर अली द्वारा लिखित, उर्दू-शैली की), 'मसादिरे भाषा', 'विद्यादर्पण' (रामकथा और भारतीय कला तथा विज्ञान का सार)।

[2] स काल के दक्खिनी-गद्य के नमूने के रूप में यह अवतरण द्रष्टव्य है :
"ारा दिन रोजा रखना, सारी रात इबादत करना, अगर फ़ाका पेश आया तो खुशहाल होना और सी के आगे ना बोलना।" (गंजमख़फ़ी)

राजस्थानी-गद्य

रीतिकालीन राजस्थानी-गद्य इस समय के ब्रजभाषा-गद्य से भी अधि वातों, 'वार्ता' शीर्षक कथात्मक रचनाओं और ख्यातों के अतिरिक्त इस समय के (मारवाड़ी)-गद्य की प्रमुख विधाएँ हैं—वचनिका (गद्य-पद्य में कथा और व दवावैत (कथा और वर्णन), सलोका, पत्र, वंशावली, पट्टावली, विगत, पीढ़ी। प्राय: अललित और ख्यात के समान इतिहासविषयक हैं। शेष विधाएँ ललित हैं (वातों, वार्त्ताओं को छोड़कर) शुद्ध गद्य के साथ सानुप्रास (तुकमय) गद्य प्रयुक्त है। कुछ वातों और वार्त्ताओं में भी तुकमय गद्य का दर्शन होता है। अमौलिक (व्याख्या-अनुवाद रूपों) गद्य-रूपों में बालावबोध, टीका, टिप्पण प्रमुख हैं। विषय हैं—इतिहास, धर्म, अध्यात्म, कोकशास्त्र, शकुन, सामुद्रिक, ज्यो यन्त्र, तन्त्र, नीति, गणित।

राजस्थानी का वात-साहित्य प्रसिद्ध है। यह आधुनिक कहानी के नि त्मक विधा है। गद्यात्मक वातों के साथ पद्यमय और गद्य-पद्यमय वातें भी प्राप्त विषय की दृष्टि से वातें स्थूलतः छह प्रकार की हैं—प्रेमपरक, वीरतापूर्ण, हास्य शान्तरसपरक, स्त्रीचातुर्यविषयक और अद्‌भुततत्त्वपूर्ण। ऐतिहासिकता की दृ साहित्य तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक वातों को घटनाप्रधान, व्यक्तिपरक, वर्णनपरक, विचारपूर्ण—इन चार वर्गों में किया जा सकता है। कुछ प्रसिद्ध वातें हैं—'रतना हमीर री वात', 'राव अमरसिं 'सिद्धराज जैसिंह दे री वात', 'राव रिणमल री वात', 'सयणी चारणी री मारवाणी री वात', 'गोराबादल री वात', 'वात दूधै जोधावत री', 'राजा भोज री वात', 'बीरबल री वात'। 'वारता' शीर्षक से भी इस प्रकार की रचनाएँ प्राप्त

राजस्थानी में अन्यविध ललित गद्य-रचनाओं की संख्या विरल है। इ 'वचनिका' संज्ञक (गद्यपद्यमय सानुप्रास गद्य की) रचनाएँ दो ही प्राप्त हैं—खि कृत 'राठौड़ रतनसिंह जी महेस दासौत रां वचनिका' (गद्यांश अत्यल्प) और वृन्द की 'वचनिका स्थान किशनगढ़', जिनमें क्रमशः राठौड़ रतनसिंह और राजा वीरता का वर्णन है।[1] वर्णनपरक रचनाएँ भी पूर्ण रूप में पाँच ही उपलब्ध हैं: नींबावत रो दोपहरो', 'राजान राउत रो वात-वणाव', 'भोजन-विच्छित्ति', 'राम री आखड़ी री वात', 'मुत्कलानुप्रास'। इनमें चौथी 'वात' संज्ञक रचना में वर्णन कम है, रामदास राठौड़ के विरुदों और आखड़ियों (निषेधात्मक शपथों) का उल्ले अन्त में उसकी पराक्रम-कथा है। प्रथम में गंगेव (गंगा) खीची और उसके दुपहरी का, उनकी दिनचर्या (आखेट, भोज आदि) का काव्यात्मक गद्य में वर्णन है वणाव' संज्ञक दूसरी रचना में विविध अवसरों वाले वर्णन हैं। 'मुत्कलानुप्रास' में नगर, वनभूमि, सरोवर, राजसभा आदि के ७१ वर्णन हैं। 'भोजन-विच्छित्ति' में जन्म के पश्चात् कुटुम्बी जनों को भोजन कराये जाने का वर्णन है। ये सभी रचना

---

[1] 'जिनसमुद्र सूरि' और 'शान्तिसागर सूरि' सम्बन्धी दो तुकमय गद्य की जैन रचनाएँ भी डॉ॰ शिवस्वरूप शर्मा अचल ने 'वचनिका' कहा है। (राजस्थानी गद्य-साहित्य : उद्भव १९६१, पृ०.५८-५९), परन्तु इनमें पद्य का प्रयोग न होने से इन्हें 'वचनिका' कहना उचि

गद्य की रचनाएँ हैं और इनमें प्रायः स्थल-स्थल पर तुकमय गद्य प्रयुक्त है।[1]

राजस्थानी की अन्य प्रचलित गद्य-रचनाएँ हैं—'कुँवरजी श्री संग्रामसिंह री दवावैत', 'रामदेव महाराज रौ सिलोका', 'दलपति विलास' (कुँवर दलपतिसिंह का जीवन-विवरण), राजरूपक ('वार्ता' नाम से यत्र-तत्र गद्य)।[2] ऐतिहासिक गद्य-रचनाओं में 'नैणसी री ख्यात', 'बीकानेर री ख्यात', 'उदयपुर री ख्यात', 'बाँकीदास री ख्यात', 'सोलंकियाँ री साख री विगत', 'खींची वाडारां राठौड़ां री पीढ़ियाँ', 'कछवाहाँ री वंसावली', 'सीसोदियाँ री वंसावली', पीढ़ियाँ' आदि बहुत-सी रचनाएँ प्राप्त होती हैं। पट्टावली, हाल, अहवाल, हगीगत, हलकावनामा, तहकीकात, याददास्त संज्ञक रचनाएँ भी प्राप्त हैं। पत्र, पट्टे, परवाने और जन्मपत्रियाँ भी उपलब्ध हैं। 'ख्यात' संज्ञक रचनाएँ द्विविध हैं—राजकीय और व्यक्तिगत। 'नैणसी री ख्यात' सुप्रसिद्ध व्यक्तिगत ख्यात है, जिसमें मुहणोत नैणसी ने राजस्थान के ग्रामों आदि के विवरण के साथ राजपूत जातियों का इतिहास दिया है।

इस समय के 'बालावबोध' (कथामय व्याख्या-ग्रन्थ)-निर्माताओं में विमल कीर्ति, विमलरत्न, हंसराज, कुँवर विजय, यशोविजय उपाध्याय, सुखसागर, रामविजय आदि कितने ही नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सैकड़ों बालावबोध-टीकाओं की रचना की। टीका-ग्रन्थों में कुशलधीर-कृत 'रसिकप्रिया टीका' और 'भगवद्गीता-टीका' (टीकाकार अज्ञात) उल्लेखनीय हैं। अनुवाद-कार्य भी इस काल में राजस्थानी में हुआ। 'भागवत', 'गरुण पुराण', 'योग-वासिष्ठ', 'पंचतन्त्र', 'सिंहासन बत्तीसी', 'बैताल पच्चीसी' आदि कथात्मक रचनाओं के भी अनुवाद-छायानुवाद किये गये।

भोजपुरी और अवधी की गद्य-रचनाएँ

भोजपुरी में प्राचीन गद्य के नाम पर कुछ पत्र, दस्तावेज़, सनद, पंचनामे आदि 'अभिलेख' ही प्राप्त हैं, जो प्रायः अनलंकृत और शुष्क हैं। काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रह में १६४४ ई० का 'फणीन्द्र मिश्र का पंचायत का न्याय पत्र' नामक अवधी-मिश्रित भोजपुरी का एक अभिलेख सुरक्षित है। इस प्रकार के काग़ज़-पत्रों का गद्य तथ्यकथनात्मक और व्यावहारिक है। रीतिकाल में अवधी-गद्य (ब्रजभाषा-खड़ीबोली-मिश्रित अवधी-गद्य) की ये रचनाएँ प्राप्त हैं : भानुमिश्र—'रसविनोद' (पद्य-गद्य, १७६३ ई० की प्रति), नित्य-नाथ—'उड्डील' (प्रति १७१९ ई०, जन्त्र-मन्त्र) रामचरणदास—'मानस' टीका, गौतमरिषि—'सगुनावती' (१८२२), प्रियादास—'व्यवहारपाद' (दायभाग, १८४३ ई० के लगभग), महाराज विश्वनाथसिंह—'कबीर बीजक' टीका तथा 'परमधर्म निर्णय'।

हिन्दी-साहित्य के उत्तर-मध्यकाल में भी बौद्धिक व्यावहारिक जीवन के आज की

---

[1] इस सन्दर्भ में यह उद्धरण द्रष्टव्य है :
"तिणरा मुख री ओपमा तो पूरण चन्द्रमा ही न पावै। कहाँ कण ताई दीठा हीज वण आवै। नैण जी के अमृतरा हीज नैण। वेण जि को कोयल रो हीन वैण। धनष ज्यूं ही मुहां रीखंच। नासिका जिका सुआ री चुंच। अधर प्रवाली जिसा वणियां। दात जाणे हीरा री कणियां। बांह तो चंपा री डाल। हाथ पग जिके कमल सूं ही सुकुमाल। जिका हालीती लजावै हंस री गति ने।"
(रतना हमीर री वात)

[2] राजस्थानी की भी अनेक पद्यप्रधान रचनाओं में वार्ता, वार्तिक नाम से यत्र-तत्र तुकमय और तुकरहित गद्य प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार की रचनाएँ हैं—'केहरप्रकाश', 'ढोलामारू रा', 'गुणमार', 'रामकृष्ण जस', 'सूरजप्रकाश', 'रतन रासो', 'शिखरवंशोत्पत्ति काव्य'।

भाँति विकसित-जटिल न होने, साहित्यिक प्रवृत्तियों में परम्परा के प्रति निष्ठा होने, परिवर्तन न हो पाने, राजाश्रित साहित्यकारों के सामने राजाओं और दरवारियों के मनोरं और उनकी स्तुति द्वारा आत्मभरण का प्रश्न होने और इस उद्देश्य की सिद्धि में पद्य के अधि उपयोगी माध्यम होने, बहुत समय तक प्रेस के अभाव, काग़ज़ की कमी और परम्परा प्रवृत्ति के कारण साहित्य को कण्ठस्थ करने की आवश्यकता बनी रहने से पद्य ही प्रधा साहित्य-माध्यम के रूप में प्रतिष्ठित रहा; गद्य का समुचित विकास न हो सका। काव्य-शास्त्र और उपयोगी साहित्य के क्षेत्र में भी संस्कृत के काव्यशास्त्रीय और अन्य विषयों के ग्रन्थों की पद्यनिष्ठ रचना-प्रवृत्ति का अनुकरण होने और उल्लिखित अनेक कारणों से पद्य का ही प्राधान्य रहा। गद्य-रचना की प्रवृत्ति रीतिकाल में भी प्रबल न हो सकी। वस्तुतः गद्य-लेखन की विशेष आवश्यकता ही उस समय नहीं थी। अनेक शैलियाँ होने पर भी गद्य की कोई विशिष्ट पद्धति, कोई बहु-स्वीकृत सामान्य शैली रीतिकाल में भी विकसित नहीं हुई। रीतिकाल के उत्तरार्ध में गद्य-क्षेत्र में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा के साथ ब्रजभाषा की उपेक्षा की जाने लगी। ब्रजभाषा-गद्य का लेखन ब्रज-प्रदेश तक और उसमें भी प्रायः राधा-कृष्ण के उपासकों तक सीमित हो गया। वैसे, खड़ीबोली का प्रचार-प्रसार बढ़ने के साथ ब्रज-भाषा, अवधी और राजस्थानी भी खड़ीबोली से प्रभावित होने लगी थीं।

अध्याय : १२

रीतिकाल की उपलब्धियाँ

काव्यशास्त्र : रीति-आचार्यों के दोष पहले सामने आते हैं और गुण बाद में। इनका पहला दोष है सिद्धान्त-प्रतिपादन में मौलिकता का अभाव। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिकता की दो कोटियाँ हैं : एक के अन्तर्गत नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना और दूसरी के अन्तर्गत प्राचीन सिद्धान्तों का पुनराख्यान आता है। हिन्दी के रीति-आचार्य निश्चय ही किसी नवीन सिद्धान्त का आविष्कार नहीं कर सके। किसी ऐसे-व्यापक आधारभूत सिद्धान्त का प्रतिपादन, जो काव्य-चिन्तन को नवीन दिशा प्रदान करता, सम्पूर्ण रीतिकाल में सम्भव नहीं हुआ। इन कवियों ने काव्य के सूक्ष्म अवयवों के वर्णन में कहीं-कहीं नवीनता का प्रदर्शन किया, परन्तु उन तथाकथित उद्भावनाओं का भी आधार-स्रोत किसी-न-किसी संस्कृत-ग्रन्थ में मिल जाता है; जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ भी यह कल्पना करना असंगत प्रतीत नहीं होता कि कदाचित् किसी लुप्तप्राय संस्कृत-ग्रन्थ में इस प्रकार का वर्णन रहा होगा। इनके अतिरिक्त भी जो कुछ नवीन तथ्य शेष रह जाते हैं उनके पीछे विवेक का पुष्ट आधार नहीं मिलता; अर्थात् वहाँ नवीनता-प्रदर्शन केवल- नवीनता या विस्तार-मोह के कारण किया गया है, काव्य के मर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। कहीं-कहीं रीतिकवियों की उद्भावनाएँ अकाव्योचित भी हो गयी हैं। जैसे स्वर, काक आदि के अंशों से युक्त नायिका-भेदों का विस्तार; अथवा प्रमाण आदि के भेदों के आधार पर कल्पित अलंकारों का प्रस्तार। वास्तव में हिन्दी के रीतिकवियों ने आरम्भ से ही ग़लत रास्ता अपनाया। उन्होंने मौलिकता का विकास विस्तार के द्वारा ही करने का प्रयास किया। परन्तु संस्कृत के काव्यशास्त्र की प्रवृत्ति तो भेद-विस्तार की ओर पहले से ही इतनी अधिक थी कि अब उस क्षेत्र में कोई विशेष अवकाश नहीं रह गया था। जिन क्षेत्रों में अवकाश था उनकी ओर रीतिकवियों ने उचित ध्यान नहीं दिया। उदाहरण के लिए, संस्कृत-काव्यशास्त्र में कवि-कर्म के बाह्य रूप का जितना पूर्ण विवेचन है उतना उसके आन्तरिक रूप का नहीं है; अर्थात् कवि-मानस की सृजन-प्रक्रिया का विवेचन यहाँ व्यवस्थित रूप से नहीं मिलता। हिन्दी का रीति-आचार्य इस उपेक्षित अंग को ग्रहण कर सकता था। यहाँ मौलिक विवेचन के लिए बड़ा अवकाश था, परन्तु परम्परा का अतिक्रमण करने का साहस वह नहीं कर सका। सामान्यतः उस युग में इतना साहस कोई कर भी नहीं सकता था। दूसरा क्षेत्र था व्यवस्था का; रीतिकाल तक संस्कृत-काव्यशास्त्र का भेद-विस्तार इतना अधिक हो चुका था कि कई क्षेत्रों में एक प्रकार की अव्यवस्था-सी उत्पन्न हो गयी थी।

उदाहरण के लिए, ध्वनि का भेद-विस्तार हजारों तक, नायिकाभेद की संख्या भी सैकड़ों पहुँच चुकी थी। अलंकार वर्णन-शैली को छोड़ वर्ण्य विषय के क्षेत्रों में प्रवेश करने ल थे, लक्षणा और दोषादि के सूक्ष्म भेद एक-दूसरे की सीमा का उल्लंघन कर रहे थे। परि भारतीय काव्यशास्त्र की वह स्वच्छ व्यवस्था, जो मम्मट के समय में स्थिर हो चुकी अस्तव्यस्त-सी हो गयी थी। पण्डितराज जगन्नाथ-जैसे मेधावी आचार्य ने उसे फिर से स् करने का प्रयत्न किया; किन्तु उस युग की प्रवृत्ति विवेचन की अपेक्षा वर्णन की ओर अधिक थी, अतः शास्त्रार्थ की अपेक्षा कवि-शिक्षा उसके अधिक अनुकूल पड़ती थी। हि का आचार्य भी उसी प्रवाह में बह गया; अपने समसामयिक पण्डितराज का मार्ग ग्रह कर वह भानुदत्त और केशव मिश्र की परिपाटी का ही अनुसरण करने लगा। हमारे आचार्य पर एक और बड़ा दायित्व था, और वह था—हिन्दी की विशाल काव्य-राशि अनुगम विधि से विश्लेषण कर उसके आधार पर एक स्वतन्त्र विधान की कल्पना कर किन्तु, उसने हिन्दी के साहित्य की तो लगभग उपेक्षा ही कर दी। लक्षणों के लिए संस्कृत-काव्यशास्त्र का अवलम्ब लिया और उदाहरणों का स्वयं ही नूतन निर्माण कि इस प्रकार हिन्दी के समृद्ध काव्य का उसके लिए जैसे कोई अस्तित्व ही नहीं रहा। वा में इस प्रकार अपने पूर्ववर्ती एवं समसामयिक काव्य की उपेक्षा कर लक्षणों का अनुवाद नूतन उदाहरणों की सृष्टि करते रहना आलोचक के मौलिक कर्त्तव्य-कर्म का निषेध क था। आलोचना-शास्त्र मूलतः एक सापेक्षिक शास्त्र है; उसका आलोच्य साहित्य के स अत्यन्त अन्तरंग सम्बन्ध है। अतः न तो केवल हजारों वर्ष पुराने लक्षणों और उदाहर का अनुवाद अभीष्ट था और न नये उदाहरणों की सृष्टि से ही उद्देश्य की सिद्धि सम्भ थी। संस्कृत के आचार्यों ने जहाँ प्रायः आचार्यत्व और कवि-कर्म को पृथक् रखा था, हिन्दी के आचार्य-कवियों ने दोनों को मिला दिया। इसमें काव्य की वृद्धि तो निस्सं हुई, किन्तु काव्यशास्त्र का विकास न हो सका।

रीति-आचार्यों का दूसरा प्रमुख दोष यह था कि उनका विवेचन अस्पष्ट और उलझा हुआ था, फलतः उनके ग्रन्थों पर आधृत शास्त्रज्ञान कच्चा और अधूरा ही रहता है। इस अभाव के दो कारण थे : एक तो कुछ कवियों का शास्त्रज्ञान अपने आप में निर्भ्रान्त नहीं था; दूसरे, पद्य में साहित्य के सूक्ष्म-गम्भीर प्रश्नों का समाधान सम्भव नहीं था। प्रतापसाहि-जैसे प्रमुख आचार्य ने संस्कृत-आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किये हैं; मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षण उनके शब्दों में इस प्रकार हैं :

साहित्यदर्पण मत काव्यलक्षण—

रसयुत व्यंग्य-प्रधान जहँ, शब्द अर्थ शुचि होइ।
उक्त युक्ति भूषण सहित, काव्य कहावै सोइ ॥

काव्यप्रकाश रसगंगाधर मत काव्यलक्षण—

अलंकार अरु गुन सहित, दोष रहित पुनि कृत्य।
उक्त रीति मुद के सहित, रसयुत वचन प्रवृत्य ॥[1]

वास्तव में इस प्रकार का अज्ञान अक्षम्य है; परन्तु इन कवियों की अपनी परि सीमाएँ थीं।

उपर्युक्त दोषों के लिए अनेक परिस्थितियाँ उत्तरदायी थीं। एक तो संस्कृत-काव्य

---

[1] काव्यविलास, हस्तलेख, पृष्ठ १

शास्त्र की परम्परा ही रीतिकाल तक आते-आते प्रायः निर्जीव हो चुकी थी। उस समय पण्डितराज को छोड़ कोई आचार्य मौलिक चिन्तन का प्रमाण नहीं दे सका। उस युग में कवि-शिक्षा का ही प्रचार अधिक रह गया था—जिसके लिए न मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन अपेक्षित था, न खण्डन-मण्डन अथवा पुनराख्यान। कवि-शिक्षा का लक्ष्य था रसिकों को सामान्य काव्य-रीति की शिक्षा देना, जिज्ञासु मर्मज्ञ के लिए कवि-कर्म अथवा काव्यास्वाद के रहस्यों का व्याख्यान करना नहीं। रीतिकाव्य जिस वातावरण में विकसित हो रहा था, उसमें रसिकता का ही प्राधान्य था। इन रसिक श्रीमन्तों को अपने व्यक्तित्व के परिष्कार के लिए केवल सामान्य कला-ज्ञान अपेक्षित था, गहन प्रश्नों पर विचार करने की न उनमें शक्ति थी और न धैर्य ही। अतः उनके आश्रित कवि लक्षणादि की रचना द्वारा उनका शिक्षण और सरस शृंगारिक उदाहरणों की सृष्टि द्वारा मनोरंजन करते रहे; सूक्ष्म शास्त्र-चिन्तन न उनके लिए ग्राह्य था और न इनके लिए आवश्यक। इसके अतिरिक्त हिन्दी में गद्य का अभाव भी एक बहुत बड़ी परिसीमा थी, तर्क और विचार-विश्लेषण का माध्यम गद्य ही हो सकता है, छन्द के बन्धन में बँधा हुआ पद्य नहीं। हिन्दी के सर्वांग-निरूपक आचार्यों ने, जो अपने शास्त्र-कर्म के प्रति जागरूक थे, वृत्तियों में गद्य का सहारा लिया है; किन्तु ब्रजभाषा का यह असमर्थ गद्य उनके मन्तव्य को सुलझाने की अपेक्षा अधिक उलझाने में ही सफल हुआ है।

अतः रीति-आचार्यों के योगदान का मूल्यांकन उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर ही करना चाहिए। ये कवि वस्तुतः शास्त्रकार नहीं थे, रीतिकार थे और उसी रूप में इसका विचार होना चाहिए। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्यों के सामान्यतः तीन वर्ग हैं :

१. उद्भावक आचार्य, जिन्हें मौलिक सिद्धान्त-प्रतिपादन का श्रेय प्राप्त है : जैसे भरत, वामन, आनन्दवर्धन, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, कुन्तक आदि। ये शास्त्रकारों की कोटि में आते हैं।
२. व्याख्याता आचार्य, जो नवीन सिद्धान्तों की उद्भावना न कर प्राचीन सिद्धान्तों का आख्यान करते हैं। इनका कर्त्तव्य-कर्म होता है—मूल सिद्धान्तों को स्पष्ट और विशद करना। मम्मट, विश्वनाथ और पण्डितराज जगन्नाथ प्रतिभा-भेद से इसी वर्ग के अन्तर्गत आएँगे।
३. तीसरा वर्ग है कवि-शिक्षकों का, जिनका लक्ष्य अपने स्वच्छ व्यावहारिक ज्ञान के आधार पर सरस-सुबोध पाठ्यग्रन्थ प्रस्तुत करना होता है। इस प्रकार के आचार्यों को मौलिक उद्भावना करने अथवा शास्त्र की गहन गुत्थियों को खण्डन-मण्डन द्वारा सुलझाने की कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं होती। जयदेव, अप्पय दीक्षित, केशव मिश्र, भानुदत्त आदि की गणना इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

हिन्दी के रीति-आचार्य स्पष्टतः प्रथम श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने किसी व्यापक आधारभूत काव्य-सिद्धान्त का प्रवर्तन नहीं किया, उनमें से किसी में इतनी प्रतिभा नहीं थी। दूसरी श्रेणी में सर्वांग-निरूपक आचार्यों की गणना की जा सकती थी; किन्तु खण्डन-मण्डन तथा स्पष्ट और विशद व्याख्यान के अभाव में, केवल प्रमुख काव्यांगों के संक्षिप्त निरूपण के आधार पर, वे इस स्थान के अधिकारी भी नहीं हो सकते। अन्ततः वे तृतीय वर्ग के अन्तर्गत ही स्थान प्राप्त कर सकते हैं। वे न शास्त्रकार थे और न शास्त्र के भाष्यकार, उनका काम तो शास्त्र की परम्परा को सरस रूप में हिन्दी में अवतरित करना था

और इसमें वे निश्चय ही कृतकार्य हुए। उनके कृतित्व का मूल्यांकन इसी आधार होना चाहिए।

अतएव हिन्दी के रीति-आचार्यों का प्रमुख योगदान यह है कि उन्होंने काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में सरस रूप में अवतरित किया। इस प्रकार काव्य को शास्त्र-चिन्तन की प्रौढ़ि प्राप्ति हुई और शास्त्रीय विचार सरस रूप में प्रस्तुत भारतीय भाषाओं में हिन्दी को छोड़ अन्यत्र कहीं भी यह प्रवृत्ति नहीं मिलती। अपने दोष हो सकते हैं, परन्तु वर्तमान हिन्दी-आलोचना पर इसका सत्प्रभाव भी है। अन्य भाषाओं में जहाँ संस्कृत-आलोचना से वर्तमान आलोचना का सम्बन्ध हो गया है, वहाँ हिन्दी और मराठी में यह अन्तःसूत्र टूटा नहीं है। फलतः हमारी आलोचना की समृद्धि में इन रीतिकारों का स्पष्ट योगदान है। बौद्धिक ह्रास के अन्धकार-युग में काव्य के बुद्धि-पक्ष को जाने-अनजाने पोषण देकर इन्होंने अपने ढंग से काम किया।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में व्यापक रूप से इनका दूसरा महत्त्वपूर्ण दान यह है कि इन्होंने रस को ध्वनि के प्रभुत्व से मुक्त कर रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा इतिहास साक्षी है कि संस्कृत-काव्यशास्त्र का सर्वमान्य सिद्धान्त ध्वनिवाद ही रहा है। का स्थान मूर्धन्य होते हुए भी उसका विवेचन प्राय: असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य-ध्वनि के अंग-रूप में ही होता रहा है। हिन्दी के रीतिकार आचार्यों ने रस को परतन्त्रता से किया और पूरी दो शताब्दियों तक रसराज शृंगार की ऐसी अविच्छिन्न धारा प्रवाहित कि यहाँ 'शृंगारवाद' एक प्रकार से स्वतन्त्र सिद्धान्त के रूप में ही प्रतिष्ठित हो गया मधुरा भक्ति से संप्रेरित शृंगार-भाव में जीवन के समस्त कटु भावों को निमग्न कर आचार्यों ने भारतीय काव्यशास्त्र के प्राण-तत्त्व आनन्द की पुनः प्रतिष्ठा का अभूतपूर्व किया। रीति-युग के अधिकांश आचार्यों द्वारा ध्वनि की उपेक्षा और नायिकाभेद के उत्कट आग्रह इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। देव-जैसे कवियों ने अत्यन्त प्रवल शब्दों में अधम व्यंजना पर आश्रित ध्वनि का तिरस्कार कर रसवाद का पोषण किया और ने रस के आधार पर काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम भेद करते हुए रस-सिद्धान्त सार्वभौम प्रभुत्व का प्रतिपादन किया। 'संयोग', 'शास्त्र का अपरिपक्व ज्ञान', 'युग दूषित प्रवृत्ति' आदि कहकर इन स्थापनाओं की उपेक्षा करना न्याय नहीं है, इनके गहरी आस्था का बल था।

रीतिकाव्य : भारतीय इतिहास में 'रीतिकाल' की भाँति हिन्दी-साहित्य के इतिहास में 'रीतिकाव्य' भी अत्यन्त अभिशप्त काव्य है! आलोचना के आरम्भ से ही इस पर आलोचकों की वक्र दृष्टि रही है। द्विवेदी-युग ने सदाचार-विरोधी कहकर नैतिक आधार पर इसका तिरस्कार किया, छायावाद की सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि रीतिकाव्य के स्थूल सौन्दर्य-बोध के प्रति हीन भाव रखती थी, प्रगतिवाद ने इस पर समाजविरोधी और प्रतिक्रियावादी होने का आरोप लगाया और प्रयोगवाद ने इसकी रूढ़ विषयवस्तु एवं अभिव्यंजना-प्रणाली को एकदम 'बासी' घोषित कर दिया। इस प्रकार की आलोचनाएँ निश्चय ही पूर्वाग्रह से दूषित हैं—इनमें बाह्य मूल्यों का रीतिकाव्य पर आरोप करते हुए काव्यालोचन के इस आधारभूत सिद्धान्त का निषेध किया गया है कि आलोचक को आलोच्य काव्य में से ही दृष्टि प्राप्त करनी चाहिए। इस पद्धति को ग्रहण करने से रीतिकाव्य के साथ अन्याय होने की आशंका नहीं रह जाएगी।

व्यापक स्तर पर विचार करने से काव्य की दो प्रतिनिधि परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं, जो काव्य के प्रति दो भिन्न दृष्टिकोणों को अभिव्यक्त करती हैं : एक 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और दूसरी 'काव्य जीवन की समीक्षा है'। इनमें से पहली शुक्ल जी की शब्दावली में आनन्द की सिद्धावस्था' और दूसरी 'साधनावस्था' को महत्त्व देती है। केवल भारतीय वाङ्मय में ही नहीं, विश्व-भर के वाङ्मय में काव्य के ये दो पृथक् रूप स्पष्ट दृष्टिगत होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस भेद के मूल में आन्तरिक अभेद की सत्ता भी उतनी ही स्पष्ट है, फिर भी ये दोनों और इनका आख्यान करनेवाली उपर्युक्त दोनों परिभाषाएँ दो विभिन्न दृष्टिकोणों की द्योतक तो हैं ही। किसी भी काव्य की समीक्षा करते समय इस दृष्टि-भेद को सामने रख लेना आवश्यक है—एक ही मानक से दोनों को तोलने से किसी-न-किसी के प्रति भारी अन्याय होने की आशंका रहती है। उदाहरण के लिए वाल्मीकि और जयदेव अथवा तुलसी और सूर की काव्य-दृष्टि में; तथा पाश्चात्य साहित्य से उदाहरण लें तो होमर या शेक्सपियर और शेली की काव्य-दृष्टिं में उपर्युक्त भेद स्पष्ट है : फिर भी आचार्य शुक्ल और मैथ्यू आर्नल्ड जैसे प्रौढ़ आलोचक उसे भूल बैठे। इसका उलटा भी हो सकता है—बिहारी की आलोचना करते हुए पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने यही किया और बिहारी की प्रतिभा से 'सूर और चाँद को भी गहन लगने' की आशंका होने लगी। यद्यपि कवित्व और रस में मौलिक अखण्डता है--किन्तु यह अखण्डता तो अन्तिम स्थिति में ही प्राप्त होती है, उससे पहले बहुत दूर तक उपर्युक्त भेद की सत्ता स्पष्ट विद्यमान रहती है। रीतिकाल का उचित मूल्यांकन करने के लिए इसका ध्यान रखना आवश्यक होगा।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' या 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की कसौटी पर परखने से रीतिकाव्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसमें सन्देह नहीं कि जीवन की उदात्त साधना और कदाचित् सिद्धियों का भी निरूपण इस काव्य में उपलब्ध नहीं होता। किन्तु, जीवन में सरसता का मूल्य नगण्य नहीं है—जीवन के मार्ग में धीर और प्रबुद्ध गति से निरन्तर आगे बढ़ना तो श्रेयस्कर है ही, किन्तु कुछ क्षणों के लिए किनारे पर लगे वृक्षों की शीतल छाँह में विश्राम करने का भी अपना मूल्य है। कला अथवा काव्य के कम-से-कम एक रूप का आविष्कार मनुष्य ने इसी मधुर आवश्यकता की पूर्ति के लिए किया था और वह आवश्यकता अभी निश्शेष नहीं हुई—कभी हो भी नहीं सकती। रीतिकाव्य मानव-मन की इसी वृत्ति का परितोष करता है और इस दृष्टि से इन रससिद्ध कवियों और इनके सरस काव्य का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

व्यापक सामाजिक स्तर पर भी रीतिकाव्य का यह योगदान इतना ही मान्य है। घोर पराभव के उस युग में समाज के अभिशप्त जीवन में सरसता का संचार कर इन कवियों ने अपने ढंग से समाज का उपकार किया था। इनमें सन्देह नहीं कि इनके काव्य का विषय उदात्त नहीं था—उसमें जीवन के भव्य मूल्यों की प्रतिष्ठा नहीं थी, अतः उसके द्वारा प्राप्त आनन्द भी उतना उदात्त नहीं था। काव्य-वस्तु के नैतिक मूल्य का काव्य-रस के नैतिक मूल्य पर प्रभाव निश्चय ही पड़ता है; और इस दृष्टि से रीतिकाव्य का नैतिक मूल्य निश्चय ही कम है। फिर भी अपने युग की आत्मघाती निराशा को उच्छिन्न करने में उसने स्तुत्य योगदान किया, इसमें सन्देह नहीं; इस सत्य को अस्वीकार करना कृतघ्नता होगी। यहाँ इस सत्य का फिर से उद्घाटन आवश्यक है कि कला का एक अतर्क्य उद्देश्य मनोरंजन भी है : यह मनोरंजन मानव-जीवन की जितनी अपरिहार्य आवश्यकता है इसकी पूर्ति करनेवाली कला या काव्य-कला का अपना मूल्य भी निश्चय ही उतना ही असन्दिग्ध

है। रीतिकाव्य का मूल्यांकन कला के इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर करना चाहिए—उसकी मूलवर्ती प्रेरणा यही थी और इसी की पूर्ति में उसकी सिद्धि निहित है। शुद्ध नैतिक दृष्टि से भी यह सिद्धि निर्मूल नहीं है क्योंकि कवि-शिक्षा से संयुक्त यह मनोरंजन तत्कालीन सहृदय-समाज की रुचि-परिष्कार का भी अत्यन्त उपादेय साधन था।

कला की दृष्टि से भी रीतिकाव्य का महत्त्व असन्दिग्ध है। वास्तव में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में सर्वप्रथम रीतिकवियों ने ही काव्यों को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। अपने शुद्ध रूप में रीतिकविता न तो राजाओं और सैनिकों को उत्साहित करने का साधन थी, न धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी, न सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार की परिचायिका ही। काव्य-कला का अपना स्वतन्त्र महत्त्व था—उसकी साधना उसी के अपने निमित्त की जाती थी, वह अपना साध्य आप थी।

कला के क्षेत्र में व्यावहारिक रूप से भी रीतिकवियों की उपलब्धि कम नहीं है। ब्रजभाषा के काव्य-रूप का पूर्ण विकास इन्होंने ही किया। वह कान्ति, माधुर्य और मसृणता आदि गुणों से जगमग हो उठी—शब्दों को जैसे खराद पर उतारकर कोमल और चिकना रूप प्रदान किया गया। सवैया और कवित्त की रेशमी ज़मीन पर रंग-विरंगे शब्द माणिक-मोती की तरह ढुलकने लगे। इन दोनों छन्दों की लय में अभूतपूर्व मार्दव और लोच आ गया। स्थूल दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि रीतिकवियों का छन्द-विधान एक बँधी लीक पर ही चलता है: उसमें स्वर और लय की सूक्ष्म संयोजनाओं के लिए अवकाश नहीं है। परन्तु यह दृष्टि-दोष है: सवैया और कवित्त के विधान के अन्तर्गत अनेक प्रकार के सूक्ष्म लय-परिवर्तन कर रीतिकवियों ने अपनी कोमल संगीत-रुचि का परिचय दिया है। रीतिपूर्व-युग के तुलसी और गंग-जैसे समर्थ कवियों और उधर रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द-जैसे प्रवीण कलाकारों के छन्द-विधान के साथ तुलना करने पर स्वतः स्पष्ट हो जाता है—ये कवि अपने सम्पूर्ण काव्य-वैभव के होते हुए भी रीतिकवियों के छन्द-संगीत की सृष्टि करने में नितान्त असफल रहे हैं। इसी प्रकार अभिव्यंजना की साज-सज्जा और अलंकृति की दृष्टि से रीतिकाव्य का वैभव अपूर्व है। यह ठीक है कि उसमें अलंकरण-सामग्री का वैसा वैविध्य नहीं है जैसा सूर और तुलसी में मिलता है—वैसा सूक्ष्म संयोजन भी नहीं है जैसा कि पन्त में मिलता है, परन्तु विलास-युग के रंगोज्ज्वल उपमानों और प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग से रीतिकाव्य की अभिव्यंजना दीपावली की तरह जगमगाती है। अतः इस कविता का कलात्मक रूप अपने आप में विशेष मूल्यवान् है—और इसी रूप में इसके महत्त्व का आकलन होना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाव्य में सूर, मीरां और घनानन्द-जैसी आत्मा की पुकार नहीं मिलेगी; न जायसी, तुलसी अथवा आधुनिक युग के विशिष्ट महाकाव्यों के समान व्यापक जीवन-समीक्षा और छायावादी कवियों का सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध ही यहाँ उपलब्ध होगा, परन्तु मुक्तक-परम्परा की गोष्ठीमण्डन कविता का जैसा उत्कर्ष रीतिकाव्य में हुआ वैसा न उसके पूर्ववर्ती काव्य में और न परवर्ती काव्य में ही सम्भव हो सका।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के इतिहास में रीतिकाव्य का अपना विशिष्ट स्थान है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा को हिन्दी में अवतरित करते हुए विवेचन एवं प्रयोग दोनों के द्वारा रसवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा कर और उधर सर्जना के क्षेत्र में कविता के कला-रूप की सिद्धि करते हुए भारतीय मुक्तक-परम्परा का अपूर्व विकास कर ब्रजभाषा के कला-प्रसाधनों के सम्यक् परिष्कार-प्रसाधन द्वारा रीतिकवियों ने हिन्दी-काव्य की समृद्धि में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। एकान्त वैशिष्ट्य की दृष्टि से भारतीय वाङ्मय में ही नहीं,

विश्व के वाङ्मय में आलोचना और सर्जना के संयोग से निर्मित यह काव्य-विधा उदाहरण आप ही है : किसी भी भाषा में इस प्रकार का काव्य इतने प्रचुर परिमाण रचा गया।

रीतिमुक्त काव्य : इस युग की तीसरी प्रवृत्ति है रीतिमुक्त काव्य। परिमाण में कम पर भी काव्य-गुण की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है, यह काव्य हिन्दी में स्वच्छन्दतावाद का पूर्वाभास है। इन कवियों ने काव्य के अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में आत्मपरक दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा की और जीवन तथा काव्य में रूढ़ियों का तिरस्कार कर स्वच्छन्द मार्ग को ग्रहण किया। कविता के लिए सायास विधान का कोई महत्त्व नहीं है, वह आवेश—प्रेम के आवेग—का सहज उच्छलन है :-

समुझि समुझि बातैं छोलिबो न काम आवै
छावै घनआनन्द न जौ लौं नेह बौरई।

इस प्रकार काव्य में अन्तःप्रेरणा—'नेह बौरई' अथवा 'लोकोत्तर विक्षेप' की महत्त्व-हुई और उसी को कवित्व का उद्‌गम-स्रोत माना गया। इन कवियों का भी मुख्य प्रेम या शृंगार ही है। किन्तु यह स्वच्छन्द प्रेम है, जो एक ओर भक्ति की साम्प्रदा-से मुक्त है और दूसरी ओर समाज के रीति-नियमों से। इसमें न रीतिशृंगार की —विभाव-अनुभाव-संचारी का प्रपंच है और न शास्त्र का कृत्रिम विधान। यह प्रेम एकनिष्ठ और एकांगी है और फिर भी रसाभास के अन्तर्गत नहीं आता। इन कवियों रीतिभाषा की उपेक्षा कर टकसाली ब्रजभाषा को अपने काव्य का माध्यम बनाया जिसमें रचना की ताजगी है। उसमें आयास-सिद्ध माधुर्य, कोमलता, मसृणता, कान्ति आदि गुणों स्थान पर भाव की मिठास से उत्पन्न माधुर्य और तीव्रता से उत्पन्न कान्ति मिलती है। अलंकारों का प्रयोग सजावट के लिए नहीं किया गया, भाव की दीप्ति से वाणी अनायास अलंकृत हो उठी है। इसीलिए रीतिमुक्त काव्य में लक्षणा और व्यंजना से चमत्कृत आलं-कारिक उद्भावनाओं का प्राधान्य है। वक्रता का ऐसा वैभव अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी-साहित्य इतिहास में 'शुद्ध कविता' की खोज का यह पहला सफल प्रयास था।

अन्य काव्य-प्रवृत्तियाँ : रीति और शृंगार के वृत्त से बाहर वीरकाव्य, भक्तिकाव्य, काव्य तथा गद्य के क्षेत्रों में भी रीतिकाल का योगदान स्तुत्य है। वीरकाव्य के क्षेत्र में और लाल-जैसे समर्थ कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने युगीन काव्य-प्रवृत्ति के प्रतिकूल नायकों के शौर्य का ओजस्वी वाणी में वर्णन कर नये कीर्तिमान स्थापित किये। हिन्दी में वीरकाव्य की जो परम्परा विद्यमान थी, उसमें या तो देवताओं के पराक्रम का वर्णन या आश्रयदाताओं का यशोगान। भूषण और लाल ने राष्ट्रीय अथवा जातीय अभिमान के वीर-भावना का सम्बन्ध स्थापित कर उसे एक नवीन आयाम प्रदान किया। उधर गुरु सिंह ने इसी भावना को चण्डी तथा महाकाल के प्रतीकों के द्वारा अत्यन्त प्रबल स्वर-काव्य के रूप में व्यक्त किया। भक्तिकाव्य की धारा भी इस युग में पूरे वेग से थी—मधुरा भक्ति का विस्तार कृष्णकाव्य की सीमाओं को पार कर रामकाव्य तक चुका था और रामभक्ति में रसिक भावना का पूर्णतः सन्निवेश हो गया था। भक्तिकाव्य में गेय पदों और लीलाओं की रचना प्रभूत मात्रा में हुई। किन्तु, रसार्द्रता होने पर रचनाओं में प्रायः मौलिक प्रतिभा का अभाव है; अधिकांश कवियों ने प्रायः पूर्ववर्ती की पुनरावृत्ति ही की है। कविता के क्षेत्र में इस युग की एक विशेष घटना है—नाटक' का अनुवाद। सबलसिंह चौहान का अनुवाद तो प्रायः इतिवृत्तात्मक ही है, परन्तु

गोकुलनाथ, गोपीनाथ आदि के अनुवादों में काव्य-गुण का भी पूर्ण सद्भाव है।

हिन्दी-गद्य का आविर्भाव रीतिकाल की अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। खड़ीबो के आरम्भिक निर्माता—इंशाअल्ला खाँ, सदासुखलाल, सदल मिश्र और लल्लूजी ला उनके पूर्ववर्ती रामप्रसाद निरंजनी का आविर्भाव-काल यही है अर्थात् इसी युग में हिन्दी-गद्य के विविध रूपों का प्रस्फुटन हुआ।

इस प्रकार रीतिकाल हिन्दी-साहित्य के बहुविध विकास-विस्तार का युग है। सर्जनात्मक प्रतिभा का उत्कर्ष-बिन्दु देव, बिहारी, मतिराम के काव्य तक ही पहुँच तुलसी और सूर के कीर्तिमान अप्राप्य ही रहे, परन्तु 'शुद्ध कविता' अथवा काव्य प्रतिमानों से आँकने पर इसका योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

चतुर्थ खण्ड

आधुनिक काल

अध्याय : १३

आधुनिक काल : पूर्वपीठिका

के इतिहास में काल का सीमांकन सबसे अधिक जटिल समस्या है। किसी कालखण्ड आरम्भ किस समय से होता है, इसे वैज्ञानिक सत्य के रूप में नहीं बताया जा सकता। कालखण्ड दूसरे कालखण्ड से अपने बदलाव के कारण अलग होता है। बदलाव की प्रक्रिया पहले से चलती रहती है, पर नये कालखण्ड का निर्धारण तब होता है जब बदलाव के हमारी आर्थिक-सांस्कृतिक स्थितियों, कला-रूपों तथा भाषा में स्पष्टतः दिखायी देने हैं: इसलिए साहित्येतिहास के लेखन में जो काल-निर्धारण किया जायेगा, वह लचीला । हिन्दी-साहित्य के इतिहास में आधुनिक काल के विकास का क्रम एक शताब्दी पहले प्रारम्भ हो गया था—बदलाव के स्पष्ट चिह्न उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में दिखायी थे। संयोग है कि हिन्दी-साहित्य में आधुनिक जीवन-बोध के प्रवर्तक भारतेन्दु चन्द्र का जन्म उन्नीसवीं शती के ठीक मध्य में सन् १८५० में हुआ। अतः इतिहास-ने इस वर्ष को ही आधुनिक हिन्दी-साहित्य के आरम्भ का वर्ष मान लिया। किन्तु, की गतिमानता या बदलाव में यह वर्ष स्वयं किसी तरह की भूमिका नहीं अदा । इतिहास के काल-विभाजन की रेखा कम-से-कम दो विभिन्न प्रवृत्तियों को स्पष्टतः करनेवाली तथा इस अलगाव के लिए स्वयं भी बहुत-कुछ उत्तरदायी होनी चाहिए। सन् १८५७ को आधुनिक काल का प्रारम्भिक बिन्दु मान लिया जाए, तो उपर्युक्त दोनों हो जाती हैं।[1] सन् सत्तावन दो विरोधी ताक़तों की टकराहट का काल था—वादी और पूँजीवादी। सामन्तवादी शक्तियाँ अपनी सारी ताक़त लगाकर सदा के लिए हो गयीं। सामन्तवाद की सम्पूर्ण सम्भावनाएँ ख़त्म होने के बाद देश के प्रबुद्ध वर्ग ने सिरे से सोचना शुरू किया और अँगरेज़ शासकों ने भी इस देश की परम्परा को समझ-आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का नवीनीकरण किया।

रीतिकाल के अन्त (१८४३) से आधुनिक काल का आरम्भ मानने की परम्परा रही है, नवीन राजनीतिक चेतना के संवहन के फलस्वरूप सन् १८५७ को भी यह गौरव दिया जाता है; साहित्य-क्षेत्र में नयी विचारधारा का प्रवेश वस्तुतः भारतेन्दु के रचना-काल (१८६८) से हुआ। पूर्ववर्ती काव्य-खण्ड (१८४३-१८६८) की गणना आधुनिक काल के अन्तर्गत तो होगी, किन्तु उसे युग की पूर्वपीठिका के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है।—सम्पादक

नामकरण

'आधुनिक' शब्द दो अर्थों—मध्यकाल से भिन्नता और नवीन इहलौकिक दृष्टि की सूचना देता है। मध्यकाल अपने अवरोध, जड़ता और रूढ़िवादिता के कारण स्थि एकरस हो चुका था, एक विशिष्ट ऐतिहासिक प्रक्रिया ने उसे पुनः गत्यात्मक बनाया। कालीन जड़ता और आधुनिक गत्यात्मकता को साहित्य और कला के माध्यम से सम सकता है। रीतिकाल में कला और साहित्य अपने-अपने कथ्य, अलंकृति और शैली रूप हो गये थे। वे घोर शृंगारिकता के बँधे घाटों से बह रहे थे। न छन्दों में वैवि और न विन्यास (डिक्शन) में—एक ही प्रकार के छन्द, एक ही प्रकार के ढंग। काल में बँधे हुए घाट टूट गये और जीवन की धारा विविध स्रोतों में फूट निकली। मनुष्य के बृहत्तर सुख-दुःख के साथ पहली बार जुड़ा।

'आधुनिक' शब्द से जो दूसरा अर्थ ध्वनित होता है, वह है—इहलौकिक दृष्टि धर्म, दर्शन, साहित्य, चित्र आदि सभी के प्रति नये दृष्टिकोण का आविर्भाव हुआ। मध्यक पारलौकिक दृष्टि से मनुष्य इतना अधिक आच्छन्न था कि उसे अपने परिवेश की सुध थी, पर आधुनिक युग में वह अपने पर्यावरण के प्रति अधिक सतर्क हो गया। आधुनिक की पीठिका के रूप में इस देश में जिन दार्शनिक चिन्तकों और धार्मिक व्याख्याताओं आविर्भाव हुआ उनकी मूल चिन्ताधारा इहलौकिक ही है। सुधार, परिष्कार और बौद्धि पुनरुत्थान नवीन दृष्टिकोण की देन हैं। आधुनिक युग की ऐतिहासिक प्रक्रिया का ही परि है कि साहित्य की भाषा ही बदल गयी—ब्रजभाषा की जगह खड़ीबोली ने ले ली।

उपविभाग

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक काल का जो उप-विभाजन किया है, वह सूत्रता के अभाव में विसंगतिपूर्ण हो गया है। उन्होंने आधुनिक काल को दो खण्डों में हैं—गद्य-खण्ड और काव्य-खण्ड। ये दोनों खण्ड एक-दूसरे से इतने पृथक् हैं कि इनमें तानता नहीं आ पाती। दोनों खण्डों को दो-दो प्रकरणों में बाँटा गया है। गद्य के प्रकरण में ब्रजभाषा-गद्य और खड़ीबोली-गद्य का विवेचन है। दूसरे प्रकरण में गद्य-सा का आविर्भाव विश्लेषित है। इसे फिर तीन उत्थानों में विभाजित किया गया है— द्वितीय और तृतीय। काल-खण्ड में भी दो प्रकरण हैं—पुरानी काव्यधारा और नयी धा नयी धारा के भी तीन उत्थान हैं—प्रथम, द्वितीय और तृतीय। शुक्ल जी के गद्य-खण्ड काव्य-खण्ड एक-दूसरे से सर्वथा अलग हैं, एक की प्रवृत्ति का दूसरे की प्रवृत्ति से कोई ता नहीं है। ऐसा लगता हैं कि मानो गद्य-खण्ड में एक प्रवृत्ति क्रियाशील है, तो काव्य-ख में दूसरी। उदाहरणार्थ काव्य-खण्ड के दूसरे प्रकरण के तृतीय उत्थान (काव्य में जिसे वाद' के नाम से अभिहित किया जाता है) तथा गद्य-खण्ड के द्वितीय प्रकरण के तृतीय उ में कोई एकरूपता निरूपित नहीं की जा सकी है। इस खण्ड-दृष्टि के कारण इतिहास नैरन्तर्य ओझल हो गया है। शुक्ल जी के परवर्ती इतिहासकारों ने प्रायः शुक्लजी अनुगमन किया।

आधुनिक हिन्दी-साहित्य में छायावाद-युग सर्वमान्य हो गया है। इसको केन्द्र बिन्दु मानकर इस काल का उपविभाजन करना अधिक सुविधाजनक होगा। छायावाद- के पूर्व हिन्दी-साहित्य परिष्कार की दो मंज़िलों से गुज़र चुका था—पुनर्जागरण और सुधार

राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, दयानन्द सरस्वती, विवेकानन्द आदि के कारण जो आया वह ऐतिहासिक तथ्य हो गया। इसका सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा। अपने नवीन पर्यावरण से जुड़कर मध्यकालीन प्रवृत्तियों से पृथक् हो गया। अतः काल की पहली मंज़िल को 'पुनर्जागरण-काल' कहना समीचीन है। दूसरी पर साहित्यकार अपने कथ्य, रूपाकार और भाषा के सुधार-परिष्कार में संलग्न पड़ते हैं। अतः इसे 'सुधार-काल' की संज्ञा दी जानी चाहिए। स्थूल रूप से छायावाद सन् १९१८ से १९३८ तक माना गया है। इसके अनन्तर साहित्य में प्रगतिधर्मी प्रयोगधर्मी आन्दोलन एक-साथ चले। इस काल को सन् १९३८ से १९५३ तक निर्धारित जा सकता है। 'दूसरा सप्तक' के प्रकाशन के साथ ही प्रयोगधर्मिता से छुट्टी पाकर परिवेश से आत्यन्तिक सम्पृक्तता के कारण नये लेखन का जो प्रयत्न दिखायी पड़ता 'नवलेखन-काल' की संज्ञा दी जा सकती है।

संक्षेप में, आधुनिक काल के उपविभाजन का प्रारूप निम्नलिखित ढंग से प्रस्तुत जा सकता है :

१. पुनर्जागरण-काल (भारतेन्दु-काल)	१८५७-१९०० ई०
२. जागरण-सुधार-काल (द्विवेदी-काल)	१९००-१९१८ ई०
३. छायावाद-काल	१९१८-१९३८ ई०
४. छायावादोत्तर-काल	
(क) प्रगति-प्रयोग-काल	१९३८-१९५३ ई०
(ख) नवलेखन-काल	१९५३ ई० से···

कोई भी बदलाव यों ही नहीं आता, बल्कि उसके कुछ कारण होते हैं। दो ओं का अन्तरावलम्बन परिवर्तन के लिए उतना कारगर नहीं होता जितने समाज के ढाँचे को बदलनेवाले आर्थिक कारण प्रभावशाली होते हैं। मुख्य कारण आर्थिक सांस्कृतिक कारण गौण होते हैं; पर इन दोनों को लाने का दायित्व जाने-अनजाने पर ही रहा। अतः आधुनिर्क काल की परिवर्तमान प्रक्रिया को समझने के लिए विवेचन आवश्यक है।

स्थितियाँ

राजनीतिक स्थिति : हिन्दी-साहित्य के आधुनिक काल का आरम्भ सन् १८५७ में भारतवर्ष के आधुनिक बनने की प्रक्रिया की शुरूआत एक शताब्दी पूर्व (१७५७ ई०) गयी थी जब ईस्ट इंडिया कम्पनी ने नवाब सिराजुद्दौला को प्लासी के युद्ध में हराया। सिराजुद्दौला की हार के बाद सम्पूर्ण बंगाल पर अँगरेज़ों का अधिकार हो गया। १७६४ में बक्सर के युद्ध में मुग़ल-सम्राट् शाहआलम भी पराजित हुआ, १७६५ में कड़ा के युद्ध रही-सही शक्ति भी समाप्त हो गयी। सम्राट् ने अब बंगाल, बिहार और उड़ीसा दीवानी अँगरेज़ों को बख्श दी। किन्तु, सम्पूर्ण देश पर आधिपत्य जमाने के लिए अँगरेज़ों अन्य शक्तियों को पराजित करना शेष था। वे शक्तियाँ थीं—मराठे और सिक्ख। जो पंजाब की सीमा में थे, परन्तु मराठों का प्रभाव बहुत व्यापक था। पारस्परिक और संघर्ष के कारण असी (१८०३) और लासवारी (१८०३) के युद्धों में मराठे गये और उनकी संघशक्ति समाप्त हो गयी। १८४९ ई० में सिक्खों को पराजित के बाद सम्पूर्ण देश अँगरेज़ों के अधीन हो गया। १८५६ ई० में अवध भी अँगरेज़ी

राज्य में सम्मिलित कर लिया गया । इस विजय के कारण अँगरेज़ों का मनो जाना स्वाभाविक था। उनकी नीतियों से असन्तुष्ट देशी राजाओं ने एकजु १८५७ ई० में व्यापक स्तर पर विद्रोह किया। फलस्वरूप ईस्ट इंडिया कम्पनी दी गयी और भारतवर्ष ब्रिटिश साम्राज्य का उपनिवेश बन गया । अँगरेज़ों ने आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में परिवर्तन किया । इस देश के लो सन्दर्भ में कुछ नया सोचने और करने के लिए बाध्य हुए । साहित्य मनुष्य के वृहत्तर दुःख के साथ पहली बार जुड़ा । यह प्रक्रिया भारतेन्दु के समय में हुई—वह भी माध्यम से । आधुनिक जीवन-चेतना की चिनगारियाँ जैसी गद्य में दिखायी पड़ीं, में नहीं । नया युग अपनी अभिव्यक्ति के लिए नयी भाषा की खोज कर रहा था । इसके लिए उपयुक्त नहीं थी । इसलिए आधुनिक काल में ब्रजभाषा-काव्य के पुरानी संवेदनाएँ ही अभिव्यक्ति पाती रहीं । खड़ीबोली-गद्य आधुनिक चेतना के ही सक्षम बन पड़ा ।

नया आर्थिक ढाँचा : नये सम्बन्ध : साहित्य का इतिहास बदलती हुई और संवेदनाओं का इतिहास होता है, जिसका सीधा सम्बन्ध आर्थिक और परिवर्तन से है । कुछ लोगों की दृष्टि में आर्थिक परिवर्तनों के साथ साहित्यिक का तालमेल बैठा देना ही साहित्य का इतिहास होता है, कुछ लोग संस्कृति के धरातल अभिरुचियों का विकास-क्रम निर्धारित करते हैं । वस्तुतः आर्थिक और सांस्कृतिक में पेचीदा सम्बन्ध है । स्थूल रूप से दोनों में कारण-कार्य-सम्बन्ध स्थापित करके नहीं किया जा सकता । अतः साहित्येतिहास के सन्दर्भ में दोनों के सम्बन्धों और का विवेचन अतिरिक्त अवधानता की अपेक्षा रखता है ।

आधुनिक काल के पूर्व भारतीय गाँवों का आर्थिक ढाँचा प्रायः अपरिवर्तन स्थिर रहा, गाँव अपने आप में स्वतः पूर्ण आर्थिक इकाई थे । इस अपरिवर्तनशील लक्ष्य करते हुए सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने लिखा है : "गाँव छोटे-छोटे गणतन्त्र थे। अपनी आवश्यकताएँ गाँव में पूरी हो जाती थीं । बाहरी दुनिया से उनका कोई नहीं था । एक के बाद दूसरा राजवंश आया, एक के बाद दूसरा उलटफेर हुआ; पठान, मुग़ल, सिक्ख, मराठों के राज्य बने और बिगड़े पर गाँव वैसे के वैसे ही बने गाँव की ज़मीन पर सबका समान अधिकार था । किसान खेती करता था; लुहार, कुम्हार, नाई, धोबी, तेली आदि गाँव की अन्य आवश्यकताएँ पूरी करते थे । पेशा के अनुसार निश्चित होता था । एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति का पेशा नहीं करत क्योंकि इसके लिए वह स्वतन्त्र नहीं था । नगर और गाँव अपनी-अपनी इकाइयों और एक-दूसरे से असम्बद्ध थे । नगर तीन तरह के थे—राजनीतिक महत्त्व के नगर, नगर और व्यापारिक नगर । नगरों में मूल्यवान् वस्तुओं का निर्माण होता था । आभूषणों, बारीक सूती-रेशमी वस्त्रों, हाथीदाँत की मीनाकारी, वस्त्रों की रँगाई लिए इस देश की अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति थी । पर इन वस्तुओं की खपत धनी वर्ग में थी—विशेष रूप से राजाओं, सामन्तों, श्रेष्ठियों आदि में । नगरों की औद्योगिक सामान्य वस्तुओं का निर्माण नहीं करती थीं । गाँव का घरेलू उद्योग अलग था और का अलग । अँगरेज़ व्यापारियों ने इस देश को अपना बाज़ार बनाने के लिए यहाँ के धन्धों को बहुत-कुछ नष्ट कर दिया । जो कुछ बाकी बचे थे, वे नयी सामाजिक कारण नष्ट हो गये ।

अँगरेज़ी राज्य की स्थापना के साथ-साथ इस देश की सामाजिक संघटना में विघटन परिवर्तन लक्षित होने लगा, यों अँगरेज़ों की विजय की ज़िम्मेदारी यहाँ की स्थिर क व्यवस्था पर नहीं है। अनेक जातियों-उपजातियों में विभक्त इस देश में पारस्परिक का सर्वदा अभाव रहा है। विदेशी मुसलमानों की विजय का कारण भी यही था अँगरेज़ों की विजय का भी ! आज भी, जबकि एक सीमा तक देश का आधुनिकी- हो गया है, स्थिति यही है। पुरातन आर्थिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने पर जाति- शिथिल तो हुई, पर मिट नहीं सकी। आधुनिक साहित्य में इस प्रथा पर करारी चोट है। जो आर्थिक परिवर्तन अँगरेज़ों द्वारा ले आया गया, वह मुसलमान आक्रमण- रियों द्वारा सम्भव नहीं था। इनके आगमन से सामाजिक रीति-नीतियों में कहीं संकोच कहीं विस्तार दिखायी पड़ा। मुसलमान यायावर थे और सामाजिक विकास की दृष्टि पिछड़े हुए थे। उनकी स्थिति पूर्व-सामन्तीय थी। इसलिए वे विजयी होकर भी यहाँ न्नतर सभ्यता से विजित हो गये और समाज के ढाँचे में कोई बुनियादी फ़र्क नहीं ला है। आर्थिक इकाइयों में यथास्थिति बनी रही। अँगरेज़ सामन्तीय व्यवस्था से आगे कर पूँजीवादी व्यवस्था अपना चुके थे। सामाजिक विकास की दृष्टि से वे यहाँ के लोगों एक मंज़िल आगे थे। इसलिए आर्थिक व्यवस्था को परिवर्तित करने में उन्हें सफलता हुई। किन्तु, इसे उनकी कृपा नहीं कहा जा सकता; इसमें उनका स्वार्थ था। गाँव ज़मीन का बन्दोवस्त करने के कारण उन्हें थोड़े लोगों से ही मालगुज़ारी मिल जाती । ज़मींदारों और बड़े-बड़े जोतदारों का एक ऐसा तबका खड़ा हुआ जो अँगरेज़ों की की विदाई के समय तक उनकी सहायता करता रहा। अँगरेज़ों ने अपने स्वार्थ के लिए देश को लूटा और यहाँ के व्यापार को नष्ट किया।[1] लॉर्ड कॉर्नवालिस ने सन् १७९३ बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ज़मींदारी-प्रथा लागू की। बाद में बम्बई, उत्तरप्रदेश र मध्यप्रदेश के कुछ इलाकों में भी यह व्यवस्था आरम्भ की गयी। सन् १८२० में सर मुनरो ने 'इस्तमरारी बन्दोबस्त' लागू करके ज़मीन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में दिया। ज़मींदार और जोतदार दोनों ही ज़मीन का क्रय-विक्रय कर सकते थे। इसके ज़मीन को न तो खरीदा जा सकता था और न बेचा जा सकता था, क्योंकि उस पर का स्वामित्व नहीं था। खेत के व्यक्तिगत सम्पत्ति हो जाने पर खेती का व्यावसायिक जाना स्वभाविक था। पहले कृषि का उत्पादन गाँव में ही रह जाता था, किन्तु अब ज़ारों में भी आने लगा। यातायात की सुविधा बढ़ने पर उत्पादन की किस्म पर भी पड़ा। खेतों में उन वस्तुओं का उत्पादन अधिक किया जाने लगा जो व्यवसाय की से अधिक लाभप्रद थीं। रुपये के चलन से भी व्यावसायिकता में अभिवृद्धि हुई। पर नों की स्थिति नहीं सुधर सकी—उन्हें एक ओर सरकारी मालगुज़ारी अदा करने की रहती थी, दूसरी ओर महाजन की ऋण-अदायगी की। समय-समय पर मालगुज़ारी दर बढ़ा दी जाती थी, फलस्वरूप वे महाजनों के चंगुल में बुरी तरह फँस जाते थे। सभ्यता का जाल फैलाने का श्रेय अँगरेज़ों को ही है। आये दिन अकाल भी पड़ते थे, किन्तु अकाल-पीड़ितों की रक्षा करने में अँगरेज़ अधिकारी असमर्थ थे। कर के और अकाल, महामारी आदि की भयंकरता का प्रचुर उल्लेख भारतेन्दु तथा उनके मयिक लेखकों के साहित्य में मिलता है।

---

[1] देखिए 'कविवचनसुधा', मार्च १८७४ के अंक में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की टिप्पणी।

पहले की सरल ग्राम-व्यवस्था में पारस्परिक झगड़ों का निपटारा पंचायतों जाता था। नयी अर्थ-व्यवस्था के कारण पारस्परिक सम्बन्ध जटिल हो गये। अब पं द्वारा उनका फ़ैसला नहीं हो सकता था। ऐसी स्थिति में नयी संस्थाओं का जन्म हुआ पंचायतों के स्थान पर कचहरियाँ स्थापित की गयीं। अलगाव तो पुरानी व्यवस्था में किन्तु नयी व्यवस्था में जो अलगाव आया; वह भिन्न प्रकार का था। पहले एक गाँ गाँव से और गाँव शहर से अलग थे। साहित्य-संस्कृति पर नागरिक संस्कृति की गहरी थी। सबको एकसूत्रता प्रदान करने वाला तत्त्व धर्म था। यही कारण था कि भक्ति काव्य नगर और गाँव को समान रूप से प्रभावित कर सका। रीतिकालीन काव्य में वैसा महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ। इसे प्रमाणित करने के लिए विहारी के दोहे उद्धृत कि सकते हैं। आधुनिक काल में गाँव की ओर साहित्यकारों की दृष्टि अवश्य गयी, पर अब किन्हीं अंशों में गाँव बदल चुके थे।

अँगरेज़ों की नयी व्यवस्था से जनता को घोर संकट का सामना करना पड़ा। अनेकानेक टुकड़ों में बँट गये, किसान और सरकार के बीच बहुत-से मध्यस्थ हो गये और पं घटती गयी। ग्रामीण उद्योग-धन्धों के नष्ट होने पर अधिक-से-अधिक लोग खेती पर आ हो गये। बहुत-से शहरी उद्योग भी अँगरेज़ों की कृपा से काल-कवलित हो गये। फि पुरानी अर्थव्यवस्था के स्थान पर जिस नयी अर्थ-व्यवस्था को लागू किया गया उससे जाने ही, ऐतिहासिक विकास की अनिवार्य प्रक्रिया के फलस्वरूप, भारतीय समाज विकास ओर अग्रसर हुआ। गाँवों की जड़ता टूटी, गाँव दूसरे गाँवों और शहर के सम्पर्क में आने लिए बाध्य हुए। घेरे में बँधी हुई अर्थ-व्यवस्था राष्ट्रोन्मुख हो चली। जो देश केवल धा एकता में बँधा हुआ था, वह राष्ट्रीय एकता के प्रति भी जागरूक होने लगा। दूसरी जातिप्रथा आर्थिक वर्गों में बदलने लगी; किन्तु जातीय उच्चता की भावना विलीन नहीं सकी। अँगरेज़ों ने जाने-अनजाने जो सुविधाएँ दीं, उनका उपयोग उच्च जाति के लोगों ही किया। शासन में भी उन्हीं का प्राधान्य था; राष्ट्रीय आन्दोलन भी उन्हीं के हाथ था। साहित्य और कला पर भी उन्हीं का आधिपत्य बना रहा। इसलिए आज एक हो भी हम अनेक हैं। अँगरेज़ों ने इस भेदभाव का लाभ उठाया, पर सारा दोष उनके क पर लादकर हम अपने को निर्दोष नहीं कह सकते। फिर भी जाति-प्रथा शिथिल ज़रूर हु इसमें सन्देह नहीं है। इसके साथ ही नये-नये आर्थिक वर्गों का जन्म हुआ। उच्च वर्ग श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त एक नये मध्य-वर्ग का उदय हुआ। इस देश में इस वर्ग की भूमि ही सबसे अधिक क्रान्तिकारी कही जायगी।

शिक्षा का पश्चिमीकरण : ब्रिटिश राज्य की स्थापना और आर्थिक परिवर्तनों सन्दर्भ में कुछ ऐसी नयी समस्याएँ पैदा हुईं, जिनसे जूझने के लिए नये दृष्टिकोण आवश्यकता पड़ी। कहना न होगा कि नयी शिक्षा प्रणाली द्वारा जो ज्ञान-विज्ञान उपल हुआ, उससे इस दिशा में बहुत सहायता मिली। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इ देश को जिस पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आना पड़ा, वह भारत के ज्ञान-विज्ञा से प्रकृति में ही भिन्न था। भारतीय ज्ञान गतानुगतिक और परम्पराभुक्त हो चला जबकि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान नये जीवन-सन्दर्भों की ताज़गी लिये था। भारतीय ज्ञा विज्ञान का लक्ष्य आध्यात्मिक और पारलौकिक था, तो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का भौति और इहलौकिक। इस देश की विद्या वर्ग या जाति विशेष तक सीमिति थी, पर पाश्चा विद्या सर्वसुलभ थी। फिर भी, ज्ञान-विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में इस देश ने अभूतपूर्व प्रग

थी। दर्शन, ज्योतिष, गणित, औषधि-विज्ञान, धर्मशास्त्र, काव्यशास्त्र, व्याकरण आदि का जोड़ कोई अन्य देश नहीं था। पर अब उन्हीं को दुहराया जा रहा था, नयी वनाओं का मार्ग अवरुद्ध हो चला था। कुछ लोग वेदादि की आप्तता, वर्णाश्रम-धर्म स्था, इहलौकिकता के प्रति अनासक्ति आदि को यथापूर्व बनाये रखने के पक्षधर थे। मानों में भी इसी प्रकार की गतानुगतिकता घर कर गयी थी। पर अब नयी तियों में पहली रूढ़ियों की उपयोगिता के आगे प्रश्नचिह्न लग गया था।

हिन्दुओं और मुसलमानों की शिक्षा-पद्धतियों पर टिप्पणी करते हुए ओ-मैले ने है: "इनमें बहुत-कुछ समानता थी। वे उस भाषा में शिक्षा देते थे जो जनता की नहीं थी। उनकी शिक्षा का मूल स्रोत धर्म था और उसकी आप्तता अपरिवर्तनीय। वे नये अभिनिवेश और परिवर्तन के विरुद्ध थे…।" इस प्रकार की शिक्षा-पद्धति अपने धर्म के प्रति कट्टरता की भावना ही पैदा कर सकती थी—इसके द्वारा स्वतन्त्र तन और विवेकसम्मत (रेशनल) दृष्टिकोण का निर्माण सम्भव नहीं था। फलस्वरूप निक शिक्षा-पद्धति का समारम्भ एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है। आधुनिक होने की में इसे एक गत्यात्मक प्रश्न माना जाएगा। इसके प्रसार में मुख्यतः तीन शक्तियों का रहा—१. ईसाई मिशन, २. सरकार और ३. व्यक्तिगत प्रयत्न।

ब्रिटिश राज्य की स्थापना के पूर्व ईसाई मिशन दक्षिण भारत में धर्म-प्रचार के कार्य में हुए थे। प्लासी-युद्ध के बाद सन् १७५८ में डैनिश मिशन कलकत्ता आया, परन्तु उसका कलाप भी सीमित रहा। १७९३ ई० में मिशनरियों का दूसरा महत्त्वपूर्ण दल कलकत्ता चा। कैरे और उनके दो सहयोगियों ने, जो उस मिशन से सम्बद्ध थे, नये बंगाल के में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। बँगला-गद्य की नींव डालनेवाले लोगों में कैरे भी हैं। १८१३ में कम्पनी ने एक नये चार्टर को स्वीकृति दी, जिसके अनुसार शिक्षा आदि कार्यों के लिए अनुदान देने की व्यवस्था की गयी। इस चार्टर के बाद आनेवाले रियों में अलेक्ज़ेंडर डफ़ का कार्य सर्वाधिक उल्लेखनीय है। कम्पनी के अधिकारियों डफ़ का विशेष प्रभाव था। वह धर्म-प्रचार का कार्य अँगरेज़ी शिक्षा के प्रचार द्वारा चाहता था। डफ़ को धर्म-प्रचार में तो सफलता प्रायः नहीं ही मिली, पर इसी बहाने ज़ी शिक्षा देनेवाले बहुत-से स्कूल-कॉलेज खुल गये। ईसाई मिशनरियों के कार्य के पीछे कोई आध्यात्मिक प्रेरणा थी, न अनुग्रह की भावना। वे ईसाई धर्म के प्रचार में लगे थे; जिसके लिए उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के धर्मों पर निस्संकोच आक्रमण उनकी निन्दा की। प्रत्येक स्कूल में ईसाई धर्म की शिक्षा अनिवार्य थी। उनका था कि प्रत्येक अध्यापक विज्ञान और गणित पढ़ाते हुए प्रकारान्तर से भारतीय धर्मों तोड़ने में मदद करता है। पर आँकड़ों से स्पष्ट है कि बहुत कम लोग ईसाई धर्म की ता से प्रभावित होकर उसमें दीक्षित हुए। जिन लोगों ने उस धर्म को स्वीकार किया प्रेरणा देनेवाली वस्तु धर्म की श्रेष्ठता नहीं, अर्थ की श्रेष्ठता थी। फिर भी, मिशनरियों के काम ने भी भारतीय भाषाओं को गद्य-शैली दी। हिन्दी, बँगला, मराठी, गुजराती भारतीय भाषाओं में गद्य-शैली अत्यन्त आरम्भिक स्थिति में थी। जनता में धर्म के मिशनरियों को उसकी आवश्यकता प्रतीत हुई। कैरे, ब्राउन, नेवलिन, स्किनर, आदि ने भारतीय भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद किया। स्कूलों में पढ़ाने के लिए पाठ्यपुस्तकें भी लिखनी पढ़ीं। भारतीय धर्म, पुराण आदि को उन्होंने विवरणात्मक में प्रस्तुत किया। स्त्री-शिक्षा के प्रसार में भी उनका महत्त्वपूर्ण योग है।

अँगरेज़ी शिक्षा की उपयोगिता कई दृष्टियों से सिद्ध हो रही थी। इसके
अँगरेज़ व्यापारियों से विचार-विनिमय में सुविधा होती थी। अँगरेज़ी जाननेवालों
विदेशी फ़र्मों और कम्पनी के प्रशासन में नौकरी पाना भी सरल था। यद्यपि
१८१३ ई० तक ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षा के क्षेत्र में विशेष कार्य नहीं
मुसलमानों के तुष्टीकरण के लिए वारेन हेस्टिंग्ज़ द्वारा 'कलकत्ता मदरसा' (
खोलना, बनारस के रेज़ीडेंट द्वारा 'बनारस संस्कृत कॉलेज' (१७९१) की नींव
और कम्पनी के सिविल सर्वेयर को अँगरेज़ी शिक्षा देने के लिए कलकत्ता में फ़ोर्ट
कॉलेज (१८०१) की स्थापना उल्लेखनीय घटनाएँ हैं। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के
से देशभाषा में पाठ्यपुस्तकें, कोश और व्याकरण तैयार करने का काम भी लिया
कॉलेज की मुख्य देन यह है कि इसके द्वारा भारतीय भाषाओं में गद्य-लेखन को
मिला। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना से अँगरेज़
भाषा में अभिरुचि लेने लगे। सन् १८२३ में कम्पनी ने लोक-शिक्षा के सम्बन्ध में
देने के लिए कलकत्ता में एक शिक्षा-समिति संघटित की। इस समिति के सदस्यों में
प्राच्य भाषाओं के समर्थक थे और कुछ अँगरेज़ी शिक्षा के। प्रथम वर्ग के श्री
विल्सन प्रभृति के प्रयत्न से कलकत्ता के मदरसे और बनारस के संस्कृत कॉलेज का
किया गया और १८२४ ई० में कलकत्ता एजूकेशन प्रेस की स्थापना हुई। इस
संस्कृत और अरबी की पुस्तकें छपने लगीं। दूसरी ओर राजा राममोहन राय ने
व्यक्त किया कि व्याकरण की बारीकियों और वेदान्त, मीमांसा तथा न्याय को
करने में नवयुवकों के एक दर्जन वर्ष नष्ट करना उचित नहीं है। इससे वे समाज के
सदस्य नहीं बन सकते। इन विषयों के स्थान पर उन्हें प्राकृतिक विज्ञान, रसायन
गणित आदि की उपयोगी शिक्षा देनी चाहिए। सन् १८३४ में जब मैकाले भारत
तो प्राच्य शिक्षा के विरोधियों को काफ़ी बल मिला।

मैकाले संस्कृत कॉलेज और अरबी-फ़ारसी मदरसों के विरुद्ध था। उसका सुझाव
इनको बन्द कर दिया जाए। अँगरेज़ी भाषा की प्रशंसा में उसने लिखा है: "हमारी
पश्चिमी भाषाओं में सर्वोत्तम है। जिसे इस भाषा का ज्ञान प्राप्त है, उसे संसार के
ज्ञान-भण्डार की उपलब्धि हो सकती है। बहुत-कुछ सम्भावना है कि यह पूर्व के
वाणिज्य-भाषा बन जाए।" लार्ड बेंटिक ने मैकाले का प्रतिवेदन स्वीकार कर लिया,
संस्कृत और अरबी-फ़ारसी को दिये जानेवाले अनुदान बन्द नहीं किये। फिर भी,
विद्या के विद्यार्थियों को जो छात्रवृत्ति मिलती थी वह समाप्त कर दी गयी और
अरबी-फ़ारसी की पुस्तकों का छपना रोक दिया गया। ऑकलैंड को यह स्थिति स्वीकार्य
हुई। उसने संस्कृत-अरबी-फ़ारसी का छपना जारी कर दिया, पर अँगरेज़ी शिक्षा की
उसे ज्यों-की-त्यों मान्य थी। इस समय दो प्रश्न प्रमुख रूप से सामने आये—शिक्षा
माध्यम क्या हो और जनता में शिक्षा का प्रचार-प्रसार कैसे हो? ये दोनों प्रश्न देश
संस्कृति, राजनीति और समाज के साथ व्यापक रूप से जुड़े हुए थे। शिक्षा के
के सम्बन्ध में तीन विकल्प थे—पहला यह कि माध्यमिक शिक्षा और विश्वविद्यालय
शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी हो; दूसरा यह है कि संस्कृत अथवा अरबी-फ़ारसी हो
तीसरा यह है कि बोलचाल की भाषा (बँगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, उर्दू आदि)
चार्ल्स ग्रांट पहले मत के समर्थक थे, मैकाले ने बोलचाल की भाषा को माध्यम के
असमर्थ घोषित किया, पर संस्कृत-अरबी के विषय में उसने जो कुछ कहा उससे

प्रकट होता है। जो भी हो, अँगरेज़ी भाषा माध्यम के रूप में स्वीकार कर ली गयी। बोलचाल की भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार न करने का निर्णय अत्यन्त पूर्ण था। प्रायः दलील दी जाती है कि अँगरेज़ी शिक्षा के फलस्वरूप देश में एकता भावना पैदा हुई और जीवन की समस्याओं के सम्बन्ध में लोगों ने एक ढंग से सोचना आरम्भ किया। राष्ट्रीय आकांक्षाओं को जाग्रत करने में इसे बहुत श्रेय दिया जाता है। प्रश्न है कि देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने से क्या इन उद्देश्यों की पूर्ति न होती? वस्तुतः यदि अँगरेज़ अधिकारियों ने देशी भाषा का माध्यम अपनाया होता, तो राष्ट्रीयता भावना और भी जल्दी उत्पन्न होती। शिक्षा के इतना अधिक फैल जाने पर भी इस का आधुनिकीकरण नहीं हो पाया। अधिकांश लोग आज भी निरक्षर हैं। पर उस समय शिक्षा के माध्यम से जिस बौद्धिक मध्य-वर्ग का उदय हुआ उसके आदर्श ऊँचे थे। आगे चलकर उन्होंने इसका उपयोग राष्ट्रीय-सांस्कृतिक विचारों के प्रसार में किया।

सन् १८५३ ई० में कम्पनी के आज्ञापत्र का नवीनीकरण होनेवाला था। ब्रिटिश संसद ने भारत में स्थायी शिक्षा-नीति निर्धारित करने के उद्देश्य से एक संसदीय समिति दी। इसके फलस्वरूप सन् १८५४ में वुड घोषणा-पत्र प्रकाशित हुआ। कुछ लोगों का कहना है कि इस घोषणा-पत्र को जॉन स्टुअर्ट मिल ने तैयार किया था। इसके अनुसार जन-समूह को शिक्षित करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई और प्रारम्भिक तथा माध्यमिक शिक्षा को भी प्रोत्साहन मिला। प्रत्येक प्रान्त में शिक्षा-विभाग की स्थापना की गयी, जिससे शिक्षा को एक सामान्य स्तर पर प्रतिष्ठित करने में सुविधा हुई।

अँगरेज़ी शिक्षा का प्रचार आरम्भ में विशेषतः बंगाल में हुआ—उत्तर भारत में लोग इस ओर उन्मुख नहीं हुए। इसका एक कारण यह है कि पश्चिमोत्तर प्रदेश और अवध (आज का उत्तरप्रदेश) को बहुत बाद में ब्रिटिश राज्य में मिलाया गया। कलकत्ता विदेशी व्यापारियों का केन्द्र था, फलतः अँगरेज़ी शिक्षा-प्राप्त लोगों को व्यावसायिक फ़र्मों और राजकीय दफ़्तरों में नौकरी पाने की सुविधा थी। बंगाल के बाहर ये सुविधाएँ उपलब्ध नहीं थीं। ईसाई मिशनरियों के साथ सम्बद्ध होने के कारण वहाँ के लोग अँगरेज़ी शिक्षा को शंका की दृष्टि से देखते थे। शिक्षा में पिछड़े रहने के कारण उत्तर भारत के सांस्कृतिक विकास में भी गत्यवरोध आया, जिसे दूर करने में समय लगा। नवीन शिक्षा-पद्धति का लेखा-जोखा लगाने पर इसमें कई अन्तर्विरोध दिखायी पड़ते हैं। सच तो यह है कि अँगरेज़ों को अपने दफ़्तरों के लिए देशी बाबुओं की आवश्यकता थी, जिससे उनका व्यवसाय और प्रशासन निर्बाध चल सके। ईसाई मिशनरी अँगरेज़ी शिक्षा के माध्यम से लोगों को ईसाई बनाकर पुण्य लूटने के चक्कर में थे। इस देश के उत्साही व्यक्तियों की दृष्टि में भी सामान्यतः रोज़ी-रोटी का सवाल ही प्रमुख था। अतः यह कहना कम भ्रान्तिपूर्ण नहीं है कि इस शिक्षा-पद्धति के कारण ही राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कौन-सी पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी? कांग्रेस की स्थापना के पूर्व उनकी रचनाओं में देश-काल की अनेक समस्याएँ मुखरित हुई हैं। इस शिक्षा-प्रणाली के कारण छोटा-सा बुद्धिजीवी मध्य-वर्ग ज़रूर पैदा हुआ, पर अधिकांश लोग निरक्षर रह गये। फिर भी, इससे एक तरह का धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण बना जो मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों से मुक्त होने के कारण तर्क-सम्मत और इहलौकिक हो सका। वैयक्तिक स्वतन्त्रता इसकी दूसरी उल्लेखनीय देन है। सम्प्रदायधर्मी घेरेबन्दी से बाहर निकलकर व्यक्ति के अपने निर्णय को प्रमुखता मिली। मध्य-कालीन धार्मिक कथाओं को विश्वसनीय बनाने और उन्हें आधुनिक युग की समस्याओं से

जोड़ने के मूल में भी यही प्रवृत्ति क्रियाशील थी।

यातायात के साधन : उन्नीसवीं शताब्दी में दुनिया-भर में यातायात के क्षे परिवर्तन हुआ। भारतवर्ष में भी रेल, बस, स्टीमशिप आदि ने लोगों में राष्ट्रीय वैचारिक एकता की भावना भरने में सहायता पहुँचायी। किसी भी राष्ट्र के आर्थिक पर ही यातायात का विकास निर्भर करता है। ब्रिटिश काल के पूर्व भारत का वाणि स्थिर और अविकसनशील था, इसलिए हम बैलगाड़ी के आगे नहीं जा सके। जितना विनिमय हो सकता था, उसके लिए बैलगाड़ी से अधिक की आवश्यकता भी नहीं दूसरी ओर इंग्लैंड की औद्योगिक क्रान्ति के कारण वहाँ के उद्योगपतियों के सा समस्या आयी कि वे अपने उत्पादन की खपत कहाँ करें और कारखानों के लिए कच्चा कहाँ से लायें? भला उन्हें भारतवर्ष से अच्छा बाज़ार कहाँ मिल सकता था! फ उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार से भारत में रेलवे की स्थापना और सड़क- के लिए अनुरोध किया। लार्ड डलहौज़ी ने रेल-निर्माण-योजना के मूल में निहित आवश्यकताओं का उल्लेख स्वयं किया है। आर्थिक लाभ के अतिरिक्त अंगरेज़ों को आक्रमणकारियों और आन्तरिक विद्रोहों से अपनी रक्षा के लिए भी गमनागमन की ओर देना पड़ा। रेलवे और अच्छी सड़कों की सहायता से फ़ौजों का एक स्थान से दूसरे पर पहुँचना सुगम हो गया। स्पष्ट है कि इस देश के सांस्कृतिक, आर्थिक और राज विकास के लिए इसका आयोजन नहीं हुआ, बल्कि अँगरेज़ों के अपने स्वार्थ-साधन के ही रेलवे का जाल बिछाया गया और अच्छी सड़कें निर्मित हुईं। वैसे, इसमें सन्देह न रेलों और सड़कों ने कृषि को व्यावसायिक बनाने में मदद पहुँचायी, दुनिया सिमटकर गयी और विभिन्न क्षेत्रों के लोगों को एक-दूसरे से अल्प समय में सुविधानुसार मिल अवसर मिला। छुआछूत, भेद-भाव आदि में कमी आयी। अकाल के समय एक स्था दूसरे स्थान पर अन्न, वस्त्र आदि भेजने की सुविधा प्राप्त हुई। किताबों, पत्र-पत्रि आदि को दूर-दूर तक सरलतापूर्वक पहुँचाया जाने लगा। इससे पुराने संकीर्ण विचारों भंग करने में भी सहायता मिली।

प्रेस और जनमत : नयी अर्थ-व्यवस्था और नवीन शिक्षा-पद्धति के कारण भार जनता में एक ऐसी चेतना उत्पन्न हुई जिसके आधार पर लोग अपनी कठिनाइयों को और उनको दूर करने की कोशिश करने लगे। इसके लिए प्रेस से बेहतर और कोई नहीं हो सकता था। भारतवर्ष में मुद्रण-यन्त्र स्थापित करने का श्रेय पुर्तगालियों को है। १५५० में उन्होंने दो मुद्रण-यन्त्र मँगवाकर धार्मिक पुस्तकें छापनी आरम्भ कीं। सन् १ में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बम्बई में मुद्रण-कार्य आरम्भ किया गया। अठारहवीं श में मद्रास, कलकत्ता, हुगली, बम्बई आदि स्थानों में छापेखाने स्थापित हुए। अंगरेज़ों मिशनरियों ने समाचारपत्र निकाले, किन्तु अपने देश के सन्दर्भ में पत्र निकालने की राजा राममोहन राय ने की। सन् १८२१ में उनके सहयोग से 'संवाद-कौमुदी' साप्ताहिक बँगला-पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें सामाजिक समस्याओं के सम्बन्ध लेख रहते थे। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा के विरुद्ध लगातार लिखना आरम्भ कि जिससे परम्परावादी हिन्दू-समाज उनके विरुद्ध हो गया और इस पत्र को भी क्षति पहुँ इसके पहले ही सीरामपुर मिशन के तत्त्वावधान में दो पत्र प्रकाशित हो रहे थे—'समाचार दर्पण' और 'दिग्दर्शन'। इनके प्रत्युत्तर में उन्होंने 'ब्रमेनिकल मैगज़ीन' का प्रकाशन कि फ़ारसी भाषा में भी उनकी प्रेरणा से दो पत्र निकले—'जाम-ए-जहाँ-नुमा' और 'मीरत

चार'। बम्बई से गुजराती प्रेस के तत्त्वावधान में १८२२ ई० में 'बॉम्बे समाचार' निकलना म्भ हुआ। दैनिक पत्र के रूप में यह अब भी निकल रहा है। द्वारिकानाथ टैगोर, प्रसन्न- र टैगोर, राजा राममोहन राय जैसे प्रगतिशील व्यक्तियों ने १८३० में 'बंगदूत' पत्र की ाती। सन् १८३० के अन्त तक कलकत्ता से तीन बँगला दैनिक, एक त्रिसाप्ताहिक, दो प्ताहिक, सात साप्ताहिक और एक मासिक प्रकाशित हो रहे थे। हिन्दी का पहला 'उदन्त मार्तण्ड' सन् १८२६ में प्रकाशित हुआ। बाद में कलकत्ता से ही 'प्रजामित्र' (१८३४) का प्रकाशन होने लगा। हिन्दी का दैनिक पत्र 'समाचार सुधावर्षण' (१८५४ ई०) सुन्दर सेन के सम्पादकत्व में कलकत्ता से ही निकला। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध पत्रिकाओं का प्रकाशन और भी अधिक संख्या में होने लगा। इससे नये विचारों के प्रदान में सुविधा हुई। विगलित सामाजिक-नैतिक रूढ़ियों के विरोध में पत्रों का उपयोग किया गया। इनके माध्यम से अँगरेज़ी हुकूमत की उन कार्यवाहियों का भी शुरू हुआ जो देश-हित के विरुद्ध पड़ती थीं। इनसे वैज्ञानिक दृष्टिकोण और राष्ट्रीयता चार-प्रसार में भी पर्याप्त सहयोग मिला।

प्रेस की स्वतन्त्रता को लेकर प्रारम्भ से ही अँगरेज़ों और भारतवासियों में टकराहट ी। इस संघर्ष में भी राजा राममोहन राय ने पहल की। एडम के समय में प्रेस की न्त्रता पर जो आक्रमण हुआ, उसके विरोध में उन्होंने अपने अन्य राष्ट्रीयतावादी मित्रों कलकत्ता उच्च न्यायालय में आवेदन किया। उन्होंने सरकार की इस कार्यवाही को तान्त्रिक, अव्यावहारिक तथा प्रतिक्रियावादी बताया। रमेशचन्द्र दत्त के मतानुसार धानिक ढंग से राजनीतिक अधिकार प्राप्त करने के संघर्ष की यह शुरूआत थी। सन् में वेलज़ली ने प्रेस की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी, पर १८१८ ई० में हेस्टिंग्ज़ ने प्रेस न्धी प्रतिबन्धों को हटा दिया। सन् १८२३ में प्रेस सम्बन्धी अधिकार-पत्र लेने का अधि- बना, जिसे सन् १८३५ में मेटकाफ़ ने समाप्त कर दिया। सन् १८५७ तक यही बनी रही। इसमें सन्देह नहीं कि समाचारपत्रों के माध्यम से विचारों का विनिमय सहज या। भारतीय पुनर्जागरण के लिए प्रेस का वरदान अत्यधिक मूल्यवान् सिद्ध हुआ। जागरण के नेताओं ने इस माध्यम का पूरा-पूरा उपयोग किया। मुद्रणालयों का प्रभाव के लिए भी अत्यन्त हितकर सिद्ध हुआ। भारतेन्दु के समय में शायद ही कोई ऐसा कार रहा हो जिसका सम्बन्ध किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से न रहा हो। पत्र-पत्रिकाओं हित्यिक रचनाओं के प्रकाशन के साथ ही समसामयिक समस्याओं पर भी प्रकाश डाला था। इस प्रकार उनके प्रकाशन का अर्थ था—दूसरों की समस्याओं में साझेदारी और उनको लेकर नयी-नयी वैचारिक भूमियाँ तैयार करना। ये पत्र-पत्रिकाएँ एक तान्त्रिक भावनाओं का पोषण कर रही थीं और दूसरी ओर समाज की रूढ़ियों पर करती हुई राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में महत्त्वपूर्ण योग दे रही थीं। मुद्रण-यन्त्र के साहित्य में वैयक्तिकता की भावना भी आयी। इसके पूर्व साहित्य सामान्यतः श्रुत हुआ था। उसके प्रशंसकों की संख्या सीमित होती थी। इसलिए साहित्यकारों के लिए था कि अपने श्रोताओं की रुचि का ध्यान रखते, पर छापेखाने ने सारी स्थिति लट दी। अब साहित्यकार और सामाजिक का सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया—मुद्रण के म से ही वे एक-दूसरे से सम्बद्ध हो पाते थे। इस माध्यम ने साहित्यकार को अवसर कि वह बहुत-कुछ व्यक्तिगत भी अभिव्यक्त कर सके। मुद्रण-यन्त्र के आविष्कार के पूर्व में वैयक्तिकता का समावेश अत्यल्प था, पर बाद में भारतेन्दु तथा उनके सहयोगियों

के वैयक्तिक निबन्धों में इस प्रवृत्ति का समावेश प्रचुर मात्रा में देखा जा सकता है।

आधुनिक युग का साहित्य मुद्रण-कला के कारण अपने रूप-रंग, अभि प्रभावान्विति आदि में मध्यकालीन साहित्य से पृथक् और स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व गया है। आधुनिक काल के साहित्य में जो वैविध्य, वैयक्तिक कल्पना-छवियाँ, शै और प्रयोगात्मकता आयी है उसका आंशिक दायित्व छापेखाने पर भी है। छापेखाने के में परिवर्तमान अभिरुचियों और संवेदनाओं का आकलन सम्भव नहीं था। साहि कला सम्बन्धी वादों, आन्दोलनों आदि को रूपायित करने में इसका महत्त्वपूर्ण योग है।

भारतीय जागरण (रेनेसाँ) : पश्चिम की चुनौती : ब्रिटिश राज्य की स्था कारण भारत की अर्थ-नीति, शिक्षा-पद्धति, यातायात के साधनों आदि में बुनियादी हुए। इसके फलस्वरूप समाज का जो आधुनिकीकरण आरम्भ हुआ, वह पुराने संस्कारों, रीति-नीतियों, संघटनों के मेल में नहीं था। नये यथार्थ और पुराने सं बीच सामंजस्य की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। इस सामंजस्य के साथ भारतीय समाज के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ हुई। यह उल्लेखनीय है कि पूँजीवा व्यवस्था वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर आधारित होती है, जबकि पूर्व-पूँजीवादी समाज में स्वातन्त्र्य के लिए कोई स्थान नहीं होता—वहाँ व्यक्ति जन्म और लिंग के आधार पर विशेष सामाजिक व्यवस्था का अंग हो जाता है। नया पूँजीवादी समाज जाति, संयुक्त आदि के बन्धनों से मुक्त होकर ही विकसित हो सकता है। कहना न होगा कि पुनर्जागरण के मूल में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का विशेष महत्त्व है।

आधुनिक युग में ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज और आर्यसमाज ने पुराने धर्म समाज के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। ब्राह्मसमाज और प्रार्थना समाज ने तो वर्तनों को स्पष्ट रूप से अंगीकार कर लिया, पर आर्यसमाज वैदिक धर्म के मूल स्व बनाये रखना चाहता था। किन्तु, इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि आर्यसमाजी वैदि की रीति-नीतियों में लौट जाना चाहते थे। उस समय की राजनीतिक, सामाजिक सांस्कृतिक विचारधारा पर आर्यसमाज का विशेष प्रभाव पड़ा। मध्यकाल में नये के फलस्वरूप जाति-प्रथा, छुआछूत, बाह्याडम्बर आदि के विरोध में भक्ति-आन्दोलन खड़ा हुआ था। मुसलमानों के प्रतिष्ठित हो जाने पर इस आन्दोलन के माध्यम से का प्रयास दिखायी पड़ा। किन्तु, नये युग में नये प्रकार के सामंजस्य की आवश्यकता मध्यकाल का सामंजस्य भावनामूलक था, उस काल के बहुत-से भक्त और सन्त के भी शिकार थे, पर अब भावना से काम नहीं चल सकता था; उसके स्थान पर विवेक और बुद्धि से काम लेना अनिवार्य हो गया था। ब्राह्मसमाज, प्रार्थना समाज, कृष्ण मिशन, आर्यसमाज और थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी की मान्यताएँ बहुत-कुछ बुद्धि और तर्क पर ही आधारित हैं।

आधुनिक भारत की नींव का पहला पत्थर राजा राममोहन राय ने रखा। आधुनि करण के सन्दर्भ में ही उन्होंने सन् १८२८ में ब्राह्मसमाज की स्थापना की। अरबी फ़ारसी का उन्हें बहुत गहरा ज्ञान था। अरबी-अनुवाद के माध्यम से ही वे अफ़ला अरस्तू, प्लॉटीनस आदि प्राचीन यूनानी विचारकों से परिचित हुए। बनारस जाकर उ कुछ वर्षों तक गीता, उपनिषद् आदि का भी गहन अध्ययन किया। उनकी विचारधारा इस्लामी एकेश्वरवाद का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। ईसाई धर्म से भी वे कम प्रभा नहीं थे! ये समस्त विचारधाराएँ उन्हें पुराने औपनिषदिक दर्शन में मिल गयीं—विशे

' और 'कौशीतकी' में । कर्मकाण्ड और अन्धविश्वास का विरोध करने के लिए निषदों का उपयोग किया और मूर्तिपूजा को धर्म का बाह्याडम्बर माना । आज वर्ष पहले वे अकेले व्यक्ति थे, जो अन्धश्रद्धा और रूढ़ियों के विरुद्ध लड़ रहे थे । विचारधारा में तर्क की प्रधानता थी जो लॉक, ह्यूम और रूसो के अनुरूप थी । त्व में ब्राह्मसमाज ने कई प्रकार की सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया । जाति- उन्होंने अमानवीय और राष्ट्रीयता-विरोधी कहा । सती-प्रथा के विरोध में उनका दा स्मरणीय रहेगा । उन्होंने विधवा-विवाह तथा स्त्री-पुरुष के समानाधिकार का किया और सन्दर्भ-विशेष में पाश्चात्य संस्कृति को भी मूल्यवान् समझा । इसीलिए अंगरेजी शिक्षा-प्रणाली के प्रसार में योग दिया और ब्रिटिश राज्य की अच्छाइयों की की । वस्तुतः उन्नीसवीं शती के पूर्वार्द्ध तक अँगरेजों ने जो कुछ किया, उसे ऐति- दृष्टि से प्रगतिशील ही कहा जायगा । ब्राह्मसमाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर (१८१७- और केशवचन्द्र सेन (१८३८-१८८४) ने आगे बढ़ाया । देवेन्द्रनाथ वेदों की पर विश्वास नहीं करते थे, उनकी आस्था अन्तःप्रज्ञा पर अधिक थी । केशवचन्द्र कुछ प्रयोगवादी थे । उन्होंने ब्राह्म-धर्म के प्रसार के लिए दूर-दूर तक यात्राएँ कीं के फलस्वरूप मद्रास में वेद समाज और बम्बई में प्रार्थना समाज की स्थापन राममोहन राय की तार्किकता और बौद्धिकता तक ही अपने को सीमित न रखकर के भजन-कीर्तन की ओर आकृष्ट हुए । ईसाई धर्म की ओर भी वे अधिकाधिक । उनके कारण ब्राह्मसमाज में दो बार फूट पड़ी और दोनों बार उन्होंने अलग-अलग —साधारण ब्राह्मसमाज और नव वेदान्त । केशवचन्द्र सेन के बाद ब्राह्मसमाज व्यक्ति नहीं हुआ जो शिक्षित समाज को प्रभावित करता ।

न् १८६४ में वम्बई और पूना में केशवचन्द्र सेन का आगमन हुआ । उनके प्रभाव ८६७ में प्रार्थना समाज की स्थापना हुई । इसके प्रमुख उन्नायक महादेव गोविन्द । वे उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख बुद्धिजीवी, विधिवेत्ता और मेधावी व्यक्ति थे । समाज का कोई ऐसा पक्ष नहीं था, जिसकी ओर उनकी दृष्टि न गयी हो । रूढ़ियों और अन्धविश्वासों के विरुद्ध वे निरन्तर संघर्ष करते रहे । उन्होंने धार्मिक जिक समस्याओं पर तर्कपूर्ण ढंग से विचार किया और भागवत-धर्म का अनुसरण संकीर्ण विचारधारा को कभी भी प्रश्रय नहीं दिया । मध्यकालीन महाराष्ट्रीय प्रति उनकी गहरी आस्था थी, पर अपने विचारों में वे कहीं भी प्रतिक्रियावादी और न ही उनमें कोई पूर्वाग्रह था । अतीत के लिए उनके मन में आदर था, किन्तु यह नहीं था कि वे अतीत को उसके उसी रूप में पुनः प्रतिष्ठित करना चाहते आचार, विचार और संस्थाओं को उनके मूल रूप में पुनः स्थापित करनेवाले वादियों से उनका विरोध था । उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि मृत अतीत को कभी भी नहीं किया जा सकता । उनके अनुसार समाज जीवित अवयवों का संघटन है, जिसमें की प्रक्रिया बराबर चलती रहती है—इस प्रक्रिया के बन्द हो जाने पर समाज जायगा । रानाडे ने जिस एक सुधार पर बार-बार बल दिया, वह है—मनुष्य की । वे जाति-पाँति की प्रथा के विरुद्ध थे और अन्तर्जातीय विवाह के पक्षधर थे । पर उन्होंने बराबर बल दिया है । उनके वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण, तर्क-पद्धति परिष्कार के प्रति अभिरुचि आदि से स्पष्ट है कि वे पाश्चात्य विचारधारा से । किन्तु, पाश्चात्य मत को भी उन्होंने बिना तर्क के स्वीकार नहीं किया । दूसरे

शब्दों में, वे भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार प्रणाली के अनुरू यत्न कर रहे थे।

रामकृष्ण मिशन की स्थापना रामकृष्ण परमहंस के देहावसान के बाद वि की थी। रामकृष्ण परमहंस अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व में परमहंस थे। उनके सम्ब जाता है कि इस ग़रीब, अपढ़, गँवार, रोगी, अर्धमूर्तिपूजक, मित्रहीन हिन्दू भक्त को बुरी तरह हिला दिया। उनके योग्य शिष्य विवेकानन्द ने उन्हें बाहर से भीतर से ज्ञानी कहा है। स्वयं विवेकानन्द के सम्बन्ध में ठीक इसका उल्टा कहा है। सन् १८९३ में विवेकानन्द विश्वधर्म ससंद् में सम्मिलित होने के लिए शिका उनकी वक्तृता से प्रभावित होकर 'न्यूयॉर्क हेराल्ड ट्रिब्यून' ने लिखा था : "विश्व में विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे। उनको सुनने के बाद ऐसा लगता था कि उस दे में धार्मिक मिशनों को भेजना कितनी बड़ी मूर्खता थी।" विवेकानन्द का मुख्य रामकृष्ण परमहंस के उपदेशों का प्रचार करना था, फिर सामाजिक कार्यों में उन रुचि थी। मानवीय समता के विश्वासी होने के कारण उन्होंने जाति, सम्प्रदाय, आदि का विरोध किया। ग़रीबों के प्रति उनकी सहानुभूति अत्यन्त प्रगाढ़ थी। समुदाय तथा उच्च वर्ग की भर्त्सना करते हुए उन्होंने लिखा है : "जब तक देश के लोग भूखे हैं, अज्ञानी हैं—मैं प्रत्येक शिक्षित वर्ग को धोखेबाज़ कहूँगा। ग़रीबों के पढ़कर भी वे उनकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते।...उच्च वर्ग शारीरिक औ दृष्टि से मर चुका है।" उनके अनुसार धर्म वह है जो शारीरिक, बौद्धिक और आ शक्ति दे; जो आत्मसम्मान और राष्ट्रीय गौरव प्रदान करने में सहायता करे। वि ने हीनता की भावना से ग्रस्त देश को यह अनुभव कराया कि इस देश की संस्कृति अपनी श्रेष्ठता में अद्वितीय है, इस देश का आध्यात्मिक चिन्तन असमानान्तर है। स्तर पर मनुष्य-मनुष्य की समता, एकता, बन्धुत्व और स्वतन्त्रता की ओर भी उन्हों ध्यान आकृष्ट किया। पश्चिम की भौतिकता से चमत्कृत देशवासियों को पहली एहसास हुआ कि हमारी अपनी परम्परा में भी कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जिन्हें संसार के गौरवपूर्ण ढंग से रखा जा सकता है।

गुजरात, उत्तरप्रदेश और पंजाब में **आर्यसमाज** का प्रभाव था। इस प्र स्वभाव बंगाल से भिन्न है—बंगाल की भावुकता के स्थान पर इन्हें पौरुष और अधिक प्रिय है। बंगाल और महाराष्ट्र के पुनर्जागरण में मध्यकालीन सन्तों की वाणी योगदान है, पर आर्यसमाज में उनका कोई स्थान नहीं है। सन् १८६७ में दयानन्द ने बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना की। दयानन्द असाधारण व्यक्ति थे। वे अनन्य विद्वान्, वाग्मी और अत्यन्त मेधावी थे। उनका व्यक्तित्व अतिशय दृढ़ और झौतावादी था। उनके विचारों में कहीं भी अस्पष्टता और रहस्यवादिता नहीं विवेकानन्द को छोड़कर इतना अटूट आत्मविश्वास अन्यत्र नहीं मिलता। उन्होंने के लिए वेदों को आधार माना। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय हैं और वैदिक धर्म और सार्वभौम है, अन्य धर्म अधूरे हैं। सामाजिक और नैतिक मूल्यों को देखते हु समाज ने एक आचार-संहिता बनायी थी। इसमें जाति-भेद और मनुष्य-मनुष्य में असमानता के लिए कोई स्थान नहीं था। निश्चय ही यह एक लोकतान्त्रिक दृ वैदिक धर्म के व्याख्याता होने के बावजूद स्वामी दयानन्द समाज की भौतिक उन्न पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा को आवश्यक समझते थे। इसीलिए सन् १८८६

वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई और आगे चलकर प्रत्येक महत्त्वपूर्ण स्थान पर दयानन्द कॉलेज खोले गये। हिन्दूवादी दृष्टिकोण के बावजूद आर्यसमाज ने राष्ट्रीय विचार-धारा को आगे बढ़ाने में आश्चर्यजनक योगदान किया। कुछ समय तक ब्रिटिश सरकार इसे दबाने के लिए भरपूर चेष्टा करती रही, किन्तु उत्तर भारत के आचार-विचार, रहन-सहन और साहित्य-संस्कृति पर आर्यसमाज का गहरा प्रभाव पड़ा। गद्य की भाषा के परिष्कार में इस आन्दोलन का अभूतपूर्व योग है। अस्पृश्यता पर जितना प्रबल आघात इस आन्दोलन ने किया, उतना और किसी ने नहीं। आर्यसमाज का प्रसार मुख्यतः मध्य-वर्ग के बीच हुआ, इसलिए इसका कार्य अधिक क्रान्तिकारी सिद्ध हो सका। इसकी कार्य-पद्धति एक ओर प्रगतिशील थी, तो दूसरी ओर प्रतिक्रियावादी। जहाँ तक मानवीय समता, अस्पृश्यता आदि का मन्तव्य है; इसे प्रगतिशील माना जाएगा। किन्तु, मुसलमानों के प्रति इसका आक्रामक रुख प्रतिगामी प्रवृत्ति का सूचक है। इसी प्रकार वेद को अपौरुषेय और अतर्क्य मान लेने के कारण व्यक्तिगत चिन्तन के लिए अवकाश नहीं रह गया।

थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी की स्थापना सन् १८७५ में मदाम ब्लावस्तू और ओल्काट द्वारा न्यूयार्क में हुई थी। यह आन्दोलन भारतीय धार्मिक परम्परा पर आधारित था। सोसाइटी के संस्थापक सन् १८७९ में भारतवर्ष पहुँचे और १८८२ में अड्यार (मद्रास) में इसकी शाखा खोल दी गयी। इस संस्था की इंग्लैंड की शाखा से सम्बद्ध श्रीमती एनी बेसेंट सन् १८९३ में भारत आयीं और सोसाइटी के विकास में तन-मन से जुट गयीं। अपने गतिशील व्यक्तित्व और असाधारण वक्तृत्व-शक्ति के कारण उन्होंने अनेक शिक्षित भारतीयों को आकृष्ट किया। श्रीमती बेसेंट ने समस्त देश का दौरा किया और हिन्दू धर्म की आध्यात्मिकता के पक्ष में ओजस्वी भाषण दिये। थियॉसॉफ़ी में अपने आदर्शों को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने शिक्षा-संस्थाएँ भी खोलीं। बनारस का सेंट्रल हिन्दू कॉलेज इसी तरह की संस्था है।

बंगाल, महाराष्ट्र और उत्तर भारत में नये धार्मिक आन्दोलनों के विरुद्ध पुनरुत्थान-वादी प्रतिक्रियाएँ आरम्भ हुईं। बंगाल में राधाकान्त देव ने राजा राममोहन राय के ब्राह्म-समाज के विरोध में धर्म-सभा (१८३०) की स्थापना की, पर सन् १८५७ तक वह ब्राह्म-समाज का प्रभाव कम नहीं कर सकी। १८५७ के विद्रोह के बाद सुधारवादी रेडिकल्स का ज़ोर कम हो गया और पुरातनवादी मनोवृत्तियाँ फिर से उभरकर सामने आयीं। इसके अनन्तर बंगाल में दो प्रवृत्तियों का ज़्यादा ज़ोर रहा—राष्ट्रीयतावादी और स्वच्छन्दतावादी। दोनों के मूल में वैयक्तिकता, अतीत के प्रति गौरव का भाव, विदेशी सत्ता के विरुद्ध आक्रोश, गाँव की बढ़ती हुई ग़रीबी के प्रति सहानुभूति, स्वतन्त्रता और समानता के प्रति आग्रह आदि प्रवृत्तियाँ क्रियाशील थीं। इनमें से अतीत के गौरव के प्रति जागृति फैलाने का श्रेय उन पुरातत्त्ववेत्ताओं और पुरालेखविदों को है जिन्होंने विस्मृति के गर्भ में विलीन भारतीय साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, वास्तु-कला आदि का पुनरुद्धार किया। इसके फलस्वरूप संसार में भारत का गौरव बढ़ा और इस देश के निवासियों में आत्मसम्मान का भाव जाग उठा। अब पाश्चात्य संस्कृति के सामने डटकर खड़ा हुआ जा सकता था। इसके फलस्वरूप नवीन हिन्दूवाद का जन्म हुआ। इसमें मुख्यतः दो दल थे—एक प्रत्येक प्रकार के सुधार का विरोधी था; दूसरा यथास्थान नये विचारों के सन्निवेश का पक्षपाती तो था पर मुख्य धारा में किसी प्रकार के मौलिक परिवर्तन का आकांक्षी नहीं था। बंकिमचन्द्र चटर्जी ऐसे ही व्यक्ति थे। वे गीता के निष्काम कर्मयोग के हिमायती थे। उन्होंने धर्मतत्त्व पर ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त

कृष्ण के सम्बन्ध में 'कृष्णचरित्र' की रचना की। धर्म-सुधारकों की भाँति वे
में समाज-सुधार के पक्षपाती नहीं थे। उनका विश्वास था कि धर्म और नैतिकता के
पुनर्जागरण में ही समाज-सुधार समाविष्ट हो जाता है। बंकिम के उपन्यासों में
स्थान बहुत ऊँचा था। वे देश-प्रेम को धर्म और धर्म को देश-प्रेम कहते थे।
स्थिति बंगाल से भिन्न थी। एक तो वह बंगाल से साठ वर्ष पीछे अँगरेज़ों के
आया और दूसरे, पेशवा-राज्य की परिसमाप्ति का दर्द उसे बना हुआ था। अपनी
के प्रति उसे अधिक अनुराग था। महाराष्ट्र ने देश की ग़रीबी, भूखमरी आदि का
अँगरेज़ी राज्य पर डाल दिया--चिपलूणकर के निबन्धों में देश के पराभव का
ज़िम्मेवार विदेशी शासन को ठहराया गया है। तिलक ने रानाडे के सुधारों का
किया। उनकी दृष्टि में ये सुधार समाज को विभक्त करनेवाले और राजनीतिक
प्राप्त करने में बाधा डालनेवाले थे। जनता को एक करने के लिए उन्होंने
शुरूआत की। उत्तर भारत में भी आर्यसमाज के विरोध में सनातनधर्मावलम्बियों ने
स्वर बुलन्द किया। इन विरोधी स्वरों के कारण सुधार का कार्य मन्द तो पड़ा, किन्तु
राष्ट्रीयता को अधिक बल मिला।

मध्यकालीनता से आधुनिकता की ओर : यद्यपि अँगरेज़ों ने इस देश में
व्यवस्था, औद्योगिकता, संचार-सुविधा, प्रेस आदि को अपने निजी स्वार्थों के लिए
किया, फिर भी इससे भारत का हित हुआ। एक स्थिर व्यवस्था से छूटकर देश
गत्यात्मकता का अनुभव हुआ। परम्पराएँ टूटने लगीं। नये परिवेश में, ऐतिहासिक
फलस्वरूप, लोग अपने को नये ढंग से ढालने लगे। आधुनिक काल में जिस
उल्लेख किया जाता है, उसके मूल में भी ये बदली हुई परिस्थितियाँ ही थीं। इसके
मुख्यतः आकांक्षाओं से सम्बद्ध था, किन्तु आधुनिक काल में वह इहलौकिक
भी वाहक बना। पूँजीवादी समाज की भौतिकता के फलस्वरूप धर्म-सुधारकों को
का बाना धारण करना पड़ा; या यों कहिए कि उन्हें इसके लिए बाध्य होना पड़ा।

भारतीय धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में अँगरेज़ प्रशासकों और ईसाई
के आक्रामक रुख के कारण धर्म-सुधारकों के लिए धारदार मार्ग से गुज़रना
गया। एक ओर उन्हें विदेशियों के समक्ष अपने धर्म और संस्कृति की वकालत
और दूसरी ओर देशवासियों के सामने धर्म का नया अर्थापन करना पड़ा। इस
बात की तर्कसंगत बनाने की दिशा में जो पहल की गयी वह बहुत फलदायक सिद्ध
इस संक्रान्ति-काल में धर्म का पल्ला पकड़ना बहुत आवश्यक था, क्योंकि धर्म
समाज-सुधार के साथ जुड़ा हुआ था। पुराणपन्थी और सुधारक दोनों ने अपने मत के
रार्थ धर्मशास्त्रों की शरण ली। राजा राममोहन राय अकेले व्यक्ति थे जिन्हें
वादी कहा जा सकता है। सती-प्रथा के उन्मूलन के लिए उन्हें धर्मशास्त्रों की
आवश्यकता हुई। विद्यासागर ने सिद्ध किया कि 'धर्मशास्त्रों में वैधव्य का कोई
है। दयानन्द सरस्वती सामाजिक सुधारों को वैधता देने के लिए वेदों की ओर उन्मुख
उन्होंने अपने मत के पुष्ट्यर्थ वेदों का नया अर्थ भी किया। धीरे-धीरे तर्क की संगति पर
बल दिया जाने लगा। इससे रूढ़ियों को उच्छिन्न करने में सुविधा हुई। फलतः
वादी और धर्म-सुधारक दोनों ही अतीत के गौरव को जागरित करने में सफल हुए।
भारतीयों को आत्मसम्मान का बोध हुआ और बराबरी के स्तर पर पश्चिम का
करने तथा स्वतन्त्रता की माँग करने का आत्मविश्वास मिला। यद्यपि परम्परावादी

सुधार में बहुत आस्था नहीं रखते थे, फिर भी राष्ट्रीयता पर उन्होंने अत्यधिक बल। उनका कहना था कि राष्ट्रीयता में सभी सुधार समाविष्ट हैं। वस्तुतः जिन्हें परम्परा- कहा जाता है, और जिस अर्थ में कहा जाता है, उस अर्थ में वे परम्परावादी नहीं थे। भी पूरे तौर पर रेडिकल नहीं थे। परम्परा के नैरन्तर्य को देखते हुए समस्या केवल चयन की है, क्योंकि परम्परा की निरन्तरता में कुछ अंश नये युग के प्रसंग में सार्थक हैं और कुछ अर्थहीन। परम्परा की प्रासंगिकता किस तत्त्व में है और किस में नहीं, विवेचन और चयन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। तथाकथित परम्परावादी और रेडिकल के मूलभूत दृष्टिकोण में कोई अन्तर नहीं था, फिर भी दोनों के अभिगम अलग-अलग पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली में दोनों ने विश्वास व्यक्त किया और नयी शिक्षा-संस्थाएँ। शिक्षा-संस्थाएँ तो पहले भी थीं, पर अब इनका रूप एकदम वदल गया। इनका विद्यार्थियों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान से परिचित कराना था।

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया नये अर्थ-तन्त्र, शिक्षा-प्रणाली, संचार-जाल आदि के कारण हुई। बहुत-से लोग इसे पश्चिमीकरण न कहकर आधुनिकीकरण कहते हैं। 'पश्चिमी-' शब्द का प्रयोग बहुत संगत नहीं है क्योंकि स्वयं पश्चिम को बहुत-सी बातें पूर्व से हुईं, जैसे मुद्रण-यन्त्र का आविष्कार सबसे पहले चीन देश में हुआ। पश्चिमीकरण से रीति-नीति, आचार-व्यवहार, वेशभूषा आदि के अन्धानुकरण का भ्रम होता है। करण एक दृष्टिकोण है जो वैज्ञानिक विचारधारा से बनता है और वह मूलतः इस से ही सम्बद्ध होता है। एम० एन० श्रीनिवास ने 'आधुनिक भारत में सामाजिक' पुस्तक में ठीक ही लिखा है : "भारतीयों को केवल स्याहीसोख का दर्जा देना स्पष्ट है। यह कहना ठीक नहीं कि जिस किसी बात के सम्पर्क में वे आये वह सब उन्होंने किया, उसे दूसरों तक सम्प्रेषित कर दिया—यद्यपि कुछ ऐसे व्यक्तियों के साथ ऐसा हुआ। वास्तव में पश्चिम से कुछ बातें ग्रहण की गयीं और ग्रहण की गयी बातों रूपान्तर हुआ।" रूपान्तरण की इस प्रक्रिया में पश्चिमी विचारकों में मिल, बेंथम, काम्ते ने बहुत-कुछ प्रेरणा ग्रहण की गयी। किन्तु, इसके लिए शास्त्रों के साथ-साथ मध्यकालीन की वानियों का भी सहारा लिया गया। छुआछूत, जातिप्रथा, स्त्री-पुरुष में भेद आदि का; और स्वतन्त्रता, समानता आदि का समर्थन इस तथ्य का सूचक है कि इस समय तक मानवतावाद का आविर्भाव हो चुका था। यों तो संस्कृत के शास्त्र-ग्रन्थों और मध्य- सन्तों-भक्तों की 'बानियों' में भी एक प्रकार का मानवतावाद मिलता है, पर वह ईश्वरवाद से सन्दर्भित है। कबीर ने हिन्दू-मुसलमान के भेद पर यह कहकर प्रहार कि वे सभी ईश्वर की सन्तान हैं। कर्मकाण्ड की निन्दा उन्होंने इसलिए की कि वह प्राप्ति में बाधक है। भक्तों में तुलसी की स्पष्टोक्ति है : "नाते सबै राम के मानियत।" आधुनिक युग में मनुष्य-मनुष्य की समता, स्वतन्त्रता आदि का सामाजिक न्याय के र पर समर्थन किया गया।

आर्यसमाज प्रभृति उपर्युक्त आन्दोलनों में से अधिकांश में अन्तर्विरोध दिखायी पड़ता। इनके आदर्शों और व्यवहारों में सर्वत्र एकरूपता नहीं मिलती। उदाहरणार्थ टैगोर-परिवार था; ब्राह्मसमाज में मूर्तिपूजा के लिए कोई स्थान नहीं है, पर टैगोर-परिवार खूब धूम- के साथ दुर्गोत्सव मनाता था। आर्यसमाज में वर्ण-व्यवस्था जन्मना नहीं, कर्मणा मानी है, पर आर्यसमाजियों में ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जो जाति के बाहर विवाह-सम्बन्ध करने में संकोच का अनुभव न करते रहे हों। दूसरा अन्तर्विरोध यह था कि राजा

राममोहन राय, रानाडे आदि बहुत-से लोग ब्रिटिश राज्य को देश के लिए वरदान थे, लेकिन प्रजा के दोहन, शोषण आदि का विरोध करते थे। समाज में एक ओर संस्कृ बढ़ रहा था, तो दूसरी ओर लौकिकीकरण।

संगीत, चित्र और साहित्य की नयी स्थिति : नवीन परिस्थिति और परिवेश के साहित्य, संगीत और कला को भी संकट का सामना करना पड़ा। उनको आश्रय देने तेज़ी से टूटने लग थे। कला और संगीत का विशेष घरानों से सम्बन्ध हुआ करता घराने इनकी स्वरूप-रक्षा में पीढ़ी-दर-पीढ़ी संलग्न रहा करते थे; और इन घरानों के का दायित्व सामन्त वर्ग पर था। मध्यकाल में भक्त कवियों के अतिरिक्त अकबर, मानसिंह तोमर आदि ने संगीत को प्रश्रय दिया। उनके दरबारों में अनेक कलाकार थे। तानसेन अकबरी दरबार का संगीतज्ञ था। मानसिंह ने गूजरी टोड़ी, मंगल गूजरी आदि का आविष्कार किया। मुग़ल-सल्तनत के समाप्त होने पर संगीत की मौलिकता हो गयी। वह छोटे-मोटे सामन्तों के आश्रय में किसी प्रकार साँस लेता रहा। जो कु था, वह पाश्चात्य संस्कृति की आँधी में समाप्त हो गया। पर भारतीय पुनर्जागरण के स्वरूप रवि बाबू ने नये संगीत की कल्पना की, जिसमें पूर्व और पश्चिम के स्वरों का था। इसे रवीन्द्र-संगीत की संज्ञा दी गयी। सन् १९१९ में अखिल भारतीय संगीत की स्थापना हुई। अब भारतीय संगीत के पुनरुद्धार का कार्य आरम्भ हुआ, जिसमें महत्त्वपूर्ण योगदान विष्णुनारायण भातखण्डे का है।

आधुनिक काल में कुछ दिनों तक भारतीय चित्रकला पश्चिम का अनुकरण रही। पर पश्चिम के ढंग के जिन तैल-चित्रों का निर्माण किया गया, वे अपनी अन्त में मध्यकालीन थे। ट्रावनकोर के राजा रवि वर्मा के चित्रों की विषयवस्तु पौराणि धार्मिक थी। उनके चित्रों की रूपरेखा सुनिर्मित, वर्णयोजनापरक और आकर्ष महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'सरस्वती' में रवि वर्मा के अनेक चित्रों को प्रकाशित किया १८५४ में कलकत्ता-आर्ट-स्कूल की स्थापना के साथ ही भारतीय चित्रकला में न आया। ई० बी० हैबेल इसके अध्यक्ष थे। आगे चलकर हैवेल, अवनीन्द्रनाथ ठाकु आनन्दकुमार स्वामी ने भारतीय चित्र-शैली को नया रूप दिया, जो मूलतः इस देश हुई भी आधुनिक जीवन-दृष्टि से अनुप्राणित थी। सन् १९०७ में गगनेन्द्रनाथ इंडियन सोसाइटी ऑफ ओरिएंटल आर्ट्स की स्थापना की। इन प्रयत्नों का फल कि भारतीय चित्र-शैली का एक स्वतन्त्र रूप निर्मित हुआ। चित्र-शैली में भी बंगाल की ओर अपनी चित्र-परम्परा को नये सन्दर्भों में पुनः जीवित करने का प्रयत्न भारतीय नवजागरण की अभिव्यक्ति चित्रों के माध्यम से भी हुई।

नवजागरण का सबसे अधिक प्रभाव बँगला-साहित्य पर पड़ा। आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में लिखा है : "संवत् १९२२ में वे (हरिश्चन्द्र) अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गये। उसी यात्रा में उनका परिचय की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बंगाल में नये ढंग के सामाजिक, देश सम्बन्धी ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिन्दी में वैसी के अभाव का अनुभव किया।" सम्भव है, भारतेन्दु बंगला-साहित्य से अनुप्रेरित हुए हों दूसरे साहित्य के आदर्श पर अपने वास्तविक साहित्य का निर्माण नहीं होता। अपने संवेदनाओं को आत्मसात् करके ही भारतेन्दु ने नये ढंग की साहित्य-रचना का किया।

नयी आर्थिक व्यवस्था, पाश्चात्य शिक्षा और नवागत जीवन-पद्धति के कारण इस देश नी पहचान खो गयी थी। पर इस अवरोध ने ही यहाँ के प्रबुद्ध वर्ग को नये सिरे से पहचान करने के लिए बाध्य किया। यह पहचान नवीन और प्राचीन के अन्तर्विरोध में ती। इसे दूसरे शब्दों में पश्चिमीकरण और भारतीयकरण का विरोध भी कहा जा सकता इन दोनों की रस्साकशी काफ़ी दिनों तक चलती रही। अन्ततः नवजागरण के अग्रदूतों मीकरण के विवेकसम्मत परिवेश में अपनी संस्कृति को नये ढंग से संघटित करने का किया। इसके फलस्वरूप साहित्यकारों ने अतीत को सामने रखकर अपने को पुनः न्वित अनुभव किया और देश में उभरती हुई राष्ट्रीय चेतना को ठोस रूप दिया। क काल का अधिकांश साहित्य अपने को पहचानने तथा पाश्चात्य बन्धनों से छुटकारा इतिहास है। अतीत के गौरव को इस देश की सभी भाषाओं में अभिव्यक्त किया। इस गौरव के मूल में पुनरुत्थानवाद (रिवाइवलिज़्म) न होकर नवीन जागरण ही था। यदि कहीं पर इस पुनरुत्थानवाद की ध्वनि सुनायी भी पड़ी तो कालान्तर में हो गयी। राष्ट्रीयता इस काल का दूसरा प्रमुख स्वर था। सन् १९४७ तक इसमें शिथिलता नहीं दिखायी पड़ती। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् यह स्वर आत्मा- में बदल गया, किन्तु सन् १९६० के आसपास आधुनिकता का जो प्रभाव हिन्दी-साहित्य ड़ा उससे साहित्यिक प्रगति की दिशा बदल गयी।

निकता

हिन्दी-साहित्य का पिछला दशक (१९६०-१९७०) आधुनिकता से विशेष रूप से त है। इससे ध्वनित होता है कि यह 'आधुनिक' से कुछ अलग है। इसलिए यह क है कि इन दोनों शब्दों का अर्थभेद कर लिया जाए। 'आधुनिक' शब्द की व्याख्या में की जा चुकी है, अतः उसे दुहराना कोई अर्थ नहीं रखता। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान टेक्नॉलॉजी के फलस्वरूप उत्पन्न मानवीय स्थितियों का नया, ग़ैर-रोमैंटिक और व साक्षात्कार 'आधुनिकता' है। 'आधुनिकता' का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए क है कि उसके ऐतिहासिक सन्दर्भ और प्रवृत्ति को समझ लिया जाए। आधुनिक अपने ज्ञान-विज्ञान और प्रविधियों के कारण मध्यकाल से अलग हुआ। यह काल करण, नगरीकरण और बौद्धिकता से सम्बद्ध है; जिससे नवीन आशाएँ उभरीं और का नया स्वप्न देखा जाने लगा। देश, धर्म, राष्ट्र, ईश्वर आदि की नयी-नयी व्याख्याएँ जाने लगीं।

एक समय तक इहलौकिक होकर यह आधुनिक दृष्टि प्रगतिशील बनी रही। प्रत्येक में पुनर्जागरण (रेनासाँ) आया, बहुत-से परतन्त्र देश स्वतन्त्र हुए, 'अपने-अपने सपने' र उन्होंने अपने-अपने ढंग की सरकारें बनायीं। एक बिन्दु पर खड़े होकर मनुष्य ने पाया जिस औद्योगीकरण और प्रविधीकरण के सहारे उसनें परी-देश का सपना देखा था, वह कार नहीं हो सका। सरकारें स्थिर व्यवस्था में बदल गयीं। लोकतन्त्र तथा साम्यवादी कारें समान रूप से निराशाजनक सिद्ध हुईं। व्यक्ति या तो व्यवस्था का पुर्ज़ा हो गया शिविर का। उसका अपना व्यक्तित्व और पहचान खो गयी। इस खोये हुए व्यक्तित्व खोज-प्रक्रिया का नाम 'आधुनिकता' है।

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान ने मनुष्य को बहुत-कुछ बुद्धि-सम्मत बना दिया था। नीत्शे इस घोषणा से कि 'ईश्वर मर गया', बौद्धिक जगत् में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आया।

यथार्थ का स्वरूप ही बदल गया। पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, अच्छे-बुरे की जो ग्रन्थों में निर्धारित की गयी थीं, उनकी प्रामाणिकता समाप्त हो गयी; पुराने हो गये। मनुष्य ने पाया कि वर्तमान परिस्थिति (सिचुएशन) में वह असहाय, निरर्थक प्राणी है। विज्ञान की प्रगति ने भी निश्चयतावादी सिद्धान्त को खोखला दिया। क्वांटम-सिद्धान्त और सापेक्षतावाद से सिद्ध हो गया कि न तो कोई सत्य होता है और न शाश्वत नैतिकता। अणुओं की सत्ता के असिद्ध हो जाने के शक्ति (एनर्जी) में बदल जाता है और शक्ति अणु में। निश्चयात्मकता की अन्तिम घोषणा हो गयी। अस्तित्ववादी दर्शन ने इस पर अपनी मुहर लगाकर पुष्ट कर दिया।

अस्तित्ववादी दर्शन ने अपने पूर्ववर्ती दर्शन और विज्ञान की अमूर्तता पर किया। उसने अपने को ठोस अनुभवों तथा प्रत्येक व्यक्ति के बुनियादी सवालों के साथ ये बुनियादी सवाल हैं—व्यक्ति की व्यग्रता, दुःख, निराशा, अकेलापन, मृत्यु-बोध, त्रास आदि। इसके साथ ही वह सामूहिकतावाद और निश्चयवाद के विरुद्ध भी वह उन समस्त विचारों के विरुद्ध है जो व्यक्ति को अ-मनुष्य और अस्तित्वहीन उसकी दृष्टि में मनुष्य स्वतन्त्र है—वह न वस्तु है, न मशीन है; वह क्रियात्मक स्वतन्त्र निर्णय लेने में समर्थ है और इसके लिए ख़ुद ज़िम्मेदार है। कीर्कें गार्ड, के अस्तित्ववादी विचारों का प्रभाव आधुनिक पश्चिमी साहित्य पर खूब पड़ा है।

सातवें दशक के हिन्दी-साहित्य में अ-कविता, अ-कहानी, अ-नाटक, जो चर्चाएँ हुईं ('चर्चाएँ' कहना अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन्होंने आन्दोलन लिया), उनके आधार पर लिखा गया साहित्य केवल परम्परागत रूपों को तोड़ने नहीं है, बल्कि इन रूपों में आज के अनिश्चय, व्यर्थता, अकेलेपन, अजनबीपन, आदि को व्यक्त किया गया है। यह अभिव्यक्ति किस दर्जे की है, यह अलग बात है।

आधुनिकता का यह बोध एक वास्तविकता है, जिसे अस्वीकार नहीं सकता। हमारे देश में इस बोध को ले आने की बहुत-कुछ ज़िम्मेदारी हमारे लोकतन्त्र की भी है। पर आठवें दशक के आरम्भ में हमारे साहित्यकारों में छुटकारा पाने की बेचैनी दिखायी पड़ने लगी है। यों कामू और सार्त्र ने भी ढंग से व्यर्थता से उबरने की, परिस्थितिजन्य बाधाओं में कर्म करने की चेतना है। सार्त्र का अस्तित्ववाद कर्म का ही दर्शन है। किन्तु, सार्त्र और कामू का सचेत कर सकता है, अपनी दृष्टि नहीं दे सकता। बदलाव, संघर्ष और अर्थान्वेषण में हमें स्वयं अपनी राह बनानी होगी। सार्त्र मार्क्सवाद का समर्थक होते हुए भी भी है। उसका अपना अस्तित्ववाद फ्रांसीसी परम्परा से सर्वथा अलग नहीं है। भावी जीवन, चिन्तन, कला, साहित्य आदि का भविष्य दो बातों पर निर्भर दिखायी है—एक तो अर्थहीनता की स्वीकृति पर और दूसरे, उसके भीतर से गुज़रते हुए सन्दर्भित अर्थान्वेषण की प्रक्रिया पर।

अध्याय : १४

भारतेन्दु-युग

(पुनर्जागरण-काल)

तेन्दु-युग अथवा पुनर्जागरण-काल का उदय हिन्दी-कविता के लिए नवीन जागरण के वाहक युग के रूप में हुआ था, किन्तु इसके सीमांकन के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) के रचना-काल को में रखकर संवत् १९२५ से १९५० की अवधि को नयी धारा अथवा प्रथम उत्थान की दी है और इस काल को हरिश्चन्द्र तथा उनके सहयोगी लेखकों के कृतित्व से समृद्ध माना । किन्तु, उनके द्वारा निर्धारित कालावधि से कुछ अन्य लेखकों का वैमत्य है । मिश्रबन्धुओं १९२६-१९४५ वि० तक, डॉ० रामकुमार वर्मा ने १९२७-१९५७ वि० तक, डॉ० केसरी-शुक्ल ने १९२२-१९५७ वि० तक और डॉ० रामविलास शर्मा ने १९२५-१९५७ वि० भारतेन्दु-युग की व्याप्ति मानी है । यह उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु द्वारा सम्पादित मासिक का 'कविवचनसुधा' का प्रकाशन १८६८ ई० में आरम्भ हुआ था, अतः भारतेन्दु-युग का १८६८ ई० (१९२५ वि०) से मानना उचित है । इसी तर्क का अनुसरण करते हुए स्वती' के प्रकाशन-वर्ष (१९०० ई०) को भारतेन्दु-युग की परिसमाप्ति का सूचक माना जा ता है। यह ठीक ही है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के देहावसान के साथ ही भारतेन्दु-युग की प्ति न मानकर उनके समकालीन कवियों द्वारा बाद में रचित कृतियों को ध्यान में रखते इस काल की व्याप्ति १९०० ई० तक स्वीकार की जाए क्योंकि इस समय तक साहित्य-त्र में अनेक नवीन प्रवृत्तियों का उदय लक्षित होने लगा था, किन्तु यह जिज्ञासा प्रासंगिक कि रीतिकाल के समापन से लेकर भारतेन्दु-युग के पूर्वकाल (१८४३-१८६७) तक की नाओं का अनुशीलन किस सन्दर्भ में किया जाना चाहिए ? वस्तुतः इतिहास का कोई भी सहसा समाप्त नहीं हो जाता और प्रायः अगले एक-दो दशक तक उसकी रचना-प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं । इसी भाँति किसी नये युग का समारम्भ भी सहसा हीं होता, उसके स्वरूप-निर्माण की प्रक्रिया के बीज दस-बीस वर्ष पहले तक के साहित्य में द्यमान रहते हैं । १८४३ से १८६७ ई० तक का कृतित्व न तो पूर्णतः रीतिकाल के प्रभाव-त्र के अन्तर्गत आता है और न इसमें भारतेन्दु-युग की पुनर्जागरणमूलक प्रवृत्तियाँ विद्यमान । अतः इसका अनुशीलन भारतेन्दु-युग की पृष्ठभूमि के रूप में किया जाना चाहिए ।

भारतेन्दु-पूर्व काव्यधारा

भारतेन्दु के पूर्ववर्ती कवियों की ब्रजभाषा-रचनाओं को तीन वर्गों में विभाजि जा सकता है—भक्तिकाव्य, शृंगार रस का काव्य और रीति-निरूपण। भक्तिका रचयिताओं में रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह (१८२३-१८७९) का प्रमुख स्थान है। उन्होंने और मुक्तक दोनों शैलियों में लगभग अट्ठाईस कृतियों की रचना की थी, जिनमें भारतेन्दु-युग की परिधि में भी आ जाती हैं। उदाहरणार्थ 'सुन्दर शतक', 'रुक्मिणी परिणय', 'आनन्दाम्बुनिधि' और 'श्रीमद्भागवत माहात्म्य' भारतेन्दु-पूर्व कृतियाँ हैं; जबकि 'रामस्वयंवर', 'भक्तिविलास', 'रामरसिकावली' आदि की रचना १८६९ अथवा इसके बाद की गयी। वे मुख्यतः रामभक्त थे, किन्तु कृष्ण-लीलाओं भी उन्होंने मनोयोगपूर्वक किया। भक्ति के साथ शृंगारिकता भी उनके काव्य में है। सूर और तुलसी-जैसी भक्ति-भावना, केशव-जैसा प्रबन्ध-कौशल और ब्रजभा रमणीयता उनके कृतित्व की उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इस काल के अन्य कवि अयोध्या-निवासी रघुनाथदास रामसनेही ने 'रामचरितमानस' के अनुकरण पर दोहा-चौ शैली में 'विश्रामसागर' (१८५४) की रचना की। इसमें राम और कृष्ण के अवतारों वर्णन करने के साथ ही अनेक पौराणिक कथाओं को स्थान दिया गया है। सरदार (रचना-काल=१८४५-१८८४) द्वारा रचित 'रामलीला प्रकाश' और 'राम-रत्नाकर' देव कवि काष्ठजिह्व (जन्म १८३१) के रामभक्ति सम्बन्धी स्फुट पद भी उल्लेखनीय कृष्णभक्त कवियों में लखनऊ के वैश्य-बन्धुओं साह कुन्दनलाल तथा साह फुन्दनलाल उल्लेख अपेक्षित है, जिन्होंने वृन्दावन में निवास कर क्रमशः ललित किशोरी तथा माधुरी नामों से माधुर्य-भक्तिपरक पदों की रचना की। इनमें ललित किशोरी (रचना- =१८५६-१८७३) का स्थान प्रमुख है—उनकी काव्य-शैली भी अपेक्षतया अधिक मधुर और मार्मिक है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के पिता गोपालचन्द्र 'गिरिधरदास' (१८ १८६०) द्वारा लिखित 'राधा-स्तोत्र', 'गोपाल स्तोत्र', 'जरासन्धवध महाकाव्य' और 'बल कथामृत' भी कृष्ण-कथा पर आधारित रचनाएँ हैं; यों उन्होंने 'रामकथामृत' की रचना की है। भाषा-परिष्कार और अलंकार-नियोजन पर उनका विशेष बल रहा है।

रीतिकालीन शृंगार-परम्परा का निर्वाह कम-से-कम इस अवधि के कवियों के नितान्त स्वाभाविक था। कवि ठाकुर के पौत्र शंकर (जन्म १८१२) ने शृंगार रस के मनोहारी छन्दों की रचना की है। इनके अनुज सेवक (१८१५-१८८१) द्वारा बरवै में प्रणीत 'नखशिख' और कुछ फुटकर सवैये भी पठनीय हैं। सरदार कवि ने काशी-न के आश्रय में रहकर रीतिबद्ध शैली में 'षड्ऋतु', 'साहित्य-सरसी' और 'शृंगार-संग्रह' रचना की; जिनमें अन्तिम ग्रन्थ में अन्य कवियों के चुने हुए छन्द संकलित हैं। चन्द्रशे वाजपेयी (१७९८-१८७५) की 'नखशिख' भी शृंगार रस की अच्छी कृति है, यों उनके वीर-काव्य 'हम्मीर हठ' (१८४५) में भी प्रसंगवश शृंगार रस को स्थान प्राप्त हुआ है।

काव्य-रीति-निरूपण भी इस काल की परम्परा-सिद्ध उपलब्धि है। इस दिशा सर्वप्रथम उल्लेखनीय रचना है—प्रयाग के निकटवर्ती ग्राम हरिपुर के निवासी राम (जिनका मूल नाम राजकुमार था) द्वारा रचित 'कविकल्पद्रुम' (१८४४)। यह ग्र ध्वनि-सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ है, किन्तु रस, अलंकार, छन्द प्रभृति अधिकांश अन्य काव्यां का विवेचन भी इसमें मिलता है। इसकी रचना संस्कृत और हिन्दी के प्रमुख काव्यशा

…ों के अध्ययन के उपरान्त की गयी है, फलस्वरूप समन्वयात्मक काव्य-दृष्टि इसकी …पूर्ण विशेषता है। चन्द्रशेखर वाजपेयी-कृत 'रसिक-विनोद' (१८४६) पटियाला-नरेश …सिंह के आश्रय में लिखा गया रस और नायिकाभेद सम्बन्धी सुबोध ग्रन्थ है। रस-…पण में भरत और नायिकाभेद-वर्णन में भानुदत्त कवि के उपजीव्य रहे हैं। रीतिकाल के …म चरण के कवि ग्वाल का 'रसरंग' (१८४७) भी इसी अवधि में रचित प्रसिद्ध रस-…क ग्रन्थ है। सेवक-कृत 'वाग्विलास' रस, भाव और नायिकाभेद का ग्रन्थ है, जिसमें …र के स्पष्टीकरण के लिए कहीं-कहीं गद्य का प्रयोग भी मिलता है। बाबू गोपालचन्द्र '…रिधरदास' इस काल के दूसरे उल्लेखनीय रीतिकवि हैं। 'भारती भूषण' शीर्षक अलंकार-… और 'छन्दोवर्णन' शीर्षक पिंगल-ग्रन्थ उनकी प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं। ज़िला … के अन्तर्गत टेकारी-निवासी बैजनाथ द्विवेदी (१८३७-१८७७) का उल्लेख इस सन्दर्भ में …रूप से अपेक्षित है : उनके द्वारा रचित 'सीतारामाभरण मंजरी' (१८६४) अलंकार-… है, 'राम-रहस्य' (१८६६) में शृंगार के रसराजत्व की स्थापना करते हुए अन्य रसों …क्षण-उदाहरण भी दिये गये हैं, 'वृत्तनि दोष कदम्ब' (१८६६) काव्य-दोष सम्बन्धी कूट-… की कृति है, 'वामाविलास' (१८६६) नायक-नायिकाभेद सम्बन्धी रचना है, कूट-शैली …रचित 'उद्दीपन शृंगार' (१८६७) में शृंगार रस की उद्दीपन-सामग्री का वर्णन है, '…ुव उल्लास' (१८६७) अनुभावों, संचारी भावों और शृंगार रस के विवेचन से सम्बद्ध … 'चित्राभरण' (१८६७) में चित्रालंकार का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। काव्यांग-…विवेचन में उनके विशद योगदान को प्रमाणित करने के लिए ये कृतियाँ पर्याप्त हैं। आचार्य …ाहि के शिष्य सरदार कवि (रचना-काल १८४५-१८८३) का उल्लेख भी यहाँ …क है। उनकी ख्याति विशेषतः 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' के टीकाकार के रूप में …। 'बिहारी सतसई' और सूर की दृष्टकूट-पदावली के सटीक संस्करणों में भी उनका …ांग-विवेक परिलक्षित होता है।

…रतेन्दु-युग का नवीन परिवेश

आलोच्य युग में जन-चेतना पुनर्जागरण की भावना से अनुप्राणित थी; फलस्वरूप …ामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक क्षेत्रों में न केवल अतिरिक्त सक्रियता थी, अपितु इन …में गहन अन्तःसम्बन्ध विद्यमान था। भारतेन्दुयुगीन कवि-कर्तृत्व पर इसका प्रभाव …स्वाभाविक था। इसकी परिणति विषय-चयन में व्यापकता और विविधता के रूप में …ई। शृंगारिक रसिकता, अलंकरण-मोह, रीति-निरूपण, प्रकृति का उद्दीपनात्मक चित्रण …ृति रीतिकालीन प्रवृत्तियों का महत्त्व क्रमशः कम होता गया; और भक्ति तथा नीति …प्रमुख वर्ण्य विषयों के रूप में ग्रहण करने का आग्रह भी नहीं रह गया। भारतेन्दु …रिश्चन्द्र ने जनता को उद्बोधन प्रदान करने के उद्देश्य से 'जातीय संगीत' अर्थात् लोकगीत … शैली पर सामाजिक कविताओं की रचना पर बल दिया।[1] मातृभूमि-प्रेम, स्वदेशी …स्तुओं का व्यवहार, गोरक्षा, बालविवाह-निषेध, शिक्षा-प्रसार का महत्त्व, मद्य-निषेध, …्रूणहत्या की निन्दा आदि विषयों को कविगण अधिकाधिक अपनाने लगे थे। राष्ट्रीय …वना का उदय भी इस काल की अनन्य विशेषता है। ब्राह्मसमाज, प्रार्थना-समाज, आर्य-…ाज, रामकृष्ण परमहंस और विवेकानन्द के विचारों तथा थियॉसॉफ़िकल सोसाइटी के

---

[1] देखिए 'कविवचनसुधा', मई १८७९, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की विज्ञप्ति।

सिद्धान्तों का प्रभाव भी जन-जीवन पर पड़ रहा था। आर्थिक, औद्योगिक और क्षेत्रों में पुनर्जागरण की प्रक्रिया आरम्भ होने लगी थी। पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली ने क्षेत्र में भी वैयक्तिक स्वतन्त्रता की प्रेरणा प्रदान की। अँगरेज़ी का प्रचार-प्रसा जनता से सम्पर्क-साधन और प्रशासकीय आवश्यकताओं के लिए किया जा रहा अँगरेज़ी-साहित्य के अध्ययन ने अन्य देशों के साथ तुलना का अवसर भी प्रदान कि इस तरह राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए उचित वातावरण बन सका। मुद्रण- विस्तार और समाचारपत्रों के प्रकाशन ने भी जन-जागरण में योग दिया। परि तत्कालीन साहित्य-चेतना मध्यकालीन रचना-प्रवृत्तियों तक ही सीमित न रहकर दिशाओं की ओर उन्मुख होने लगी।

काव्यधारा

भारतेन्दुयुगीन कवियों का काव्य-फलक अत्यन्त विस्तृत है। उनकी रचना-प्र एक ओर भक्तिकाल और रीतिकाल से अनुबद्ध हैं, तो दूसरी ओर समकालीन परिवेश के जागरूकता का भी उनमें अभाव नहीं है। प्रवृत्तिमूलक विश्लेषण के लिए उनके कृ इन शीर्षकों के अन्तर्गत विचार करना उचित होगा—राष्ट्रीयता, सामाजिक चेतना, भावना, शृंगारिकता, प्रकृति-चित्रण, हास्य-व्यंग्य, रीति-निरूपण, समस्यापूर्ति, काव्यानु कलापक्ष।

राष्ट्रीयता : भारतीय वीरों में प्रताप, छत्रसाल, शिवाजी आदि ने क्षेत्र (चित्तौड़, बुन्देलखण्ड और महाराष्ट्र) की रक्षा के लिए जिस तत्परता और वीरता परिचय दिया था, उसका स्तवन करनेवाले भूषण प्रभृति कवि क्षेत्रीय भावना अर्थात् राष्ट्रीयता से ऊपर नहीं उठ सके थे। भारतेन्दुयुगीन कवियों ने भारतीय इतिहा गौरवशाली पृष्ठों की स्मृति तो अनेक बार दिलायी, पर उनकी राष्ट्रीय भावना केवल तक सीमित नहीं रही। अँगरेज़ों की विचारधारा और उनकी देशभक्तिपूर्ण कविताओं से उन्होंने यथेष्ट प्रेरणा ली, जिसका फल यह हुआ कि क्षेत्रीयता से ऊपर उठकर वे राष्ट्र की नब्ज़ को टटोलने लगे। 'हमारो उत्तम भारत देस' (राधाचरण गोस्वामी), 'धन्य भूमि भारत सब रतननि की उपजावनि' (प्रेमघन) आदि काव्य-पंक्तियाँ इसी को प्रकट करती हैं। देश के उत्कर्ष-अपकर्ष के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्र डालकर इस युग के कवियों ने जन-मानस में राष्ट्रीय भावना के बीज-वपन का महत्त्व कार्य किया। देशभक्ति की जो भावना बाद में मैथिलीशरण गुप्त-कृत 'भारत-भारती' लक्षित हुई, उसकी प्रेरणा-भूमि भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आ की कविताएँ ही हैं। भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय वैजयन्ती', प्रेमघन की ' अरुणोदय', प्रतापनारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नया संवत' तथा राधाकृष्णदास 'भारत बारहमासा' और 'विनय' शीर्षक कविताएँ देशभक्ति की प्रेरणा से युक्त हैं। इन क में उन्होंने अपने प्रतिपाद्य को कहीं व्यंग्योक्तियों के माध्यम से प्रकट किया है, तो कहीं के प्रेरणादायी प्रसंगों की चर्चा द्वारा नवयुवकों को पुनर्जागरण का मन्त्र दिया है। अँगरे की शोषण-नीति का भारतेन्दु द्वारा प्रत्यक्ष उल्लेख इस भावना की चरम परिणति है:

भीतर भीतर सब रस चूसै, हँसि हँसि के तन मन धन मूसै।
ज़ाहिर बातन में अति तेज़, क्यों सखि सज्जन ! नहिं अँगरेज़॥

प्रेमघन ने 'हार्दिक हर्षादर्श' कविता में इस स्वार्थपूर्ण शासन-प्रक्रिया के लिए भी ईस्ट म्पनी को दोषी ठहराया है, अन्यथा उससे शासनाधिकार लेनेवाली रानी विक्टोरिया में तो उन्होंने यह मत व्यक्त किया है : "किय सनाथ भोली भारत की प्रजा ।" वास्तव में भारतेन्दु-युग की राष्ट्रीय चिन्तनधारा के दो पक्ष हैं—देश-प्रेम और ति । प्रथम पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने 'हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान' का गुणगान किया[1], तो दूसरे जिया-जैसा कर न लगानेवाले अँगरेज़ों के शासन-काल में प्रजा-मात्र की सुख- की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की । इन सुविधाओं से लाभ उठाने के लिए उन्होंने जनता प्रभावों से मुक्त होने का आग्रह किया और शासन के प्रति सहयोगी रुख अपनाने णा दी । इस वर्ग की राजभक्तिपरक कविताओं में भारतेन्दु की 'भारतभिक्षा', लरी' और 'रिपनाष्टक'; प्रेमघन की 'हार्दिक हर्षादर्श' और 'स्वागत' तथा राधा- की 'मेकडानल्ड पुष्पांजलि', 'जुबिली' और 'विजयिनी विलाप' उल्लेखनीय हैं । ने 'राजभक्ति भारत सरिस और ठौर कहुँ नाहिं' कहकर विदेशी शासकों को आश्वस्त तो अम्बिकादत्त व्यास ने 'जयति राजराजेश्वरी जय जय परमेश' द्वारा रानी रिया के सुशासन के प्रति आभार प्रकट किया । ड्यूक ऑफ़ एडिनबरा के स्वागत, क्टोरिया के शासन-काल की प्रशंसा, उनकी मृत्यु पर शोक-संवेदना, लॉर्ड रिपन के द्धांजलि आदि विषयों पर लिखित इन कविताओं को राष्ट्रद्रोही स्वर से युक्त न मान- न्हें नवीन राजनीतिक चेतना का प्रतीक माना जाना चाहिए ।

सामाजिक चेतना भारतेन्दु-युग की मुख्य विशेषता यह है कि कवियों ने सामाजिक की उपेक्षा न कर जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप दिया । इसके पूर्व रीतिकाल में राजाओं और सामन्तों के आश्रय में लिखित दरबारी में सामाजिक परिवेश के चित्रण की ओर नगण्य रूप में ध्यान दिया गया था । भारतेन्दु-युग में नारी-शिक्षा, विधवाओं की दुर्दशा, अस्पृश्यता आदि को लेकर जो पूर्ण कविताएँ लिखी गयीं उनके प्रतिपाद्य की नवीनता ने सहृदय-समुदाय को रूप से आकृष्ट किया । इन समस्याओं को रूपायित करने के लिए कवियों ने एक ध्यवर्गीय सामाजिक परिस्थितियों का चित्रण किया, तो दूसरी ओर रूढ़ियों का विरोध विकास-चेतना की आकांक्षा को भी अभिव्यक्ति दी । किन्तु आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज के प्रभाव से इस युग में जो नवीन सामाजिक चेतना उभरने लगी थी और भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र आदि की कविताओं में जिस सुधारवादी मनोवृत्ति की प्रमुखता के प्रति सभी कवियों का दृष्टिकोण उदारता-समन्वित नहीं था । 'भारत-धर्म' में अम्बिकादत्त व्यास द्वारा वर्णाश्रम-धर्म का दृढ़तापूर्वक अनुमोदन और राधाचरण द्वारा विभिन्न कविताओं में प्राचीन शास्त्र-नीतियों का समर्थन एवं विधवा-विवाह रोध ऐसे ही उदाहरण हैं । युगीन समस्याओं की जानकारी ऐसे कवियों को भी पूरी थी, किन्तु उनके समाधान के लिए वे परम्परागत धर्मशास्त्र को ही आधार बनाना थे । इसके विपरीत भारतेन्दु ने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में वर्णाश्रम धर्म की संकीर्णता का में विरोध किया : "बहुत हमने फैलाये धर्म, बढ़ाया छुआछूत का कर्म ।" मन की में प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि बाल-विधवाओं की करुण दशा की ओर गयी है :

हहु जु साँचहु निज कल्यान, तो सब मिलि भारत सन्तान ।
निरन्तर एक जबान, हिन्दी हिन्दू हिन्दुस्तान ॥" —प्रतापनारायण मिश्र

"कौन करेजो नहि कसकत सुनि बिपति बालविधवन की।" अभिप्राय यह कि परिवेश के चित्रण में कुछ कवियों की दृष्टि सुधारवादी थी, तो कुछ प्रायः यथा भी थे।

भारतीय अर्थ-व्यवस्था को सुदृढ़ करने की कामना से इस युग के कवियों ने उद्योगों को प्रोत्साहन देने और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करने पर भी बल दिया। बिदेस की वस्तु लै ता बिन कछु नहि करि सकत' के प्रतिपादक भारतेन्दु ने प्रबोधि कविता में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार की प्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा दी है। 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' तथा अम्बिकादत्त व्यास की शीर्षक कविताओं में भी विदेशी वस्त्रों और अन्य वस्तुओं के आयात को भारत की दुर्गति का मूल कारण माना गया है। यद्यपि प्रेमघन ने 'स्वागत' शीर्षक कविता में, दत्त व्यास ने 'जटिल वणिक्' में और राधाकृष्णदास ने 'जुबिली' में बिजली, सुगम साधनों, सिचाई की सुविधाओं, शिक्षा-प्रसार आदि अलभ्य लाभ प्रदान करने ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की है, किन्तु इसके साथ ही वे यह भी नहीं भूल सामान्य जनता और किसानों की दरिद्रता घटने के स्थान पर बढ़ती गयी है। पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में देश के सांस्कृतिक पुनरुत्थान की आवश्यकता करते हुए भी उन्होंने शासक वर्ग द्वारा देश के आर्थिक शोषण का विरोध किया है। नारायण मिश्र ने एक ग़ज़ल में देश की दुर्दशा पर गहरी चिन्ता प्रकट की है: " क्या दशा देश की हो, बदलता है रंग आसमाँ कैसे-कैसे !" कहाँ तो प्राचीन भारत की और सांस्कृतिक समृद्धि और कहाँ अकाल, महँगाई, महामारी तथा करों के बोझ जन-जीवन ! परिवार, समाज और देश की क्रमशः बढ़ती हुई हीनावस्था के चित्रण में की वाणी अनायास करुणा से भीग उठी ! भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र ने पीड़ा को क्रमशः इन शब्दों में व्यक्त किया है :

(अ) रोवहु सब मिलि, आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥
(आ) तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहुँ को तरसत॥
जहाँ आमन की गूठली अरु बिरछन की छालैं।
ज्वार चून महँ मेलि लोग परिवारहिं पालैं॥
नौन तेल लकरी घासहु पर टिक्स लगे जहँ।
चना चिरौंजी मोल मिलैं जहँ दीन प्रजा कहँ॥

भक्ति-भावना : भारतेन्दु-युग में परम्परागत धार्मिकता और भक्ति- अपेक्षतया गौण स्थान प्राप्त हुआ, फिर भी इस काल के भक्तिकाव्य को तीन वर्गों में जित किया जा सकता है—निर्गुण भक्ति, वैष्णव भक्ति और स्वदेशानुराग-समन्वित भक्ति। इनमें से प्रथम दो में किसी उल्लेखनीय नवीनता का परिचय न देकर परिपाटी का अनुसरण-मात्र किया गया, किन्तु भक्ति और देश-प्रेम को एक ही प्रतिष्ठित करना किसी सीमा तक संवेदना की मौलिकता का परिचायक है।

---

१. "अँगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख़्वारी॥" —भारतेन्दु

काल की मुख्य साधना-दिशा नहीं थी, फलस्वरूप कुछ कवियों ने परम्परा के प्रभाव-संसार की नश्वरता[1], माया-मोह की व्यर्थता[2], विषयासक्ति की निन्दा[3] आदि विषयों उपदेशात्मक ढंग से विचार व्यक्त किये हैं; किन्तु ब्रह्म-चिन्तन और हठयोग-जैसे पर काव्य-रचना उन्हें अभीष्ट नहीं रही। इसके विपरीत वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण और अन्य देवी-देवताओं का वर्णन अनेक कवियों का साध्य रहा। बिहार के कवि हरिनाथ पाठक (१८४३-१९०४) की 'श्री ललित रामायण' (१८९३), वहीं अक्षयकुमार द्वारा प्रणीत 'रसिकविलास रामायण' (१८९६) और बाबू तोताराम (१८४८-१९०२) की 'राम-रामायण' रामभक्ति के सन्दर्भ में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनमें पहली दोनों कृतियाँ माधुर्य भक्ति और रीति-पद्धति से प्रभावित हैं। हरिनाथ पाठक की से कृष्ण-काव्य की सुपरिचित शृंगार-पद्धति के अनुसरण में लिखित यह पद द्रष्टव्य है :

मुरगवा बोले बिपिन में भोरे।
सुखद सेज सोवत रघुनन्दन, जनक लली संग कोरे।
प्रीतम अंक लगी महारानी शापति सुनि खग सोरे॥
बन में अवरन जागे खग सब, शब्द करत झकझोरे।
जन हरिनाथ समय सुखदायक, नहि भावत मन मोरे॥

राम-काव्य की तुलना में कृष्णभक्ति-काव्य की रचना इस युग में अधिक परिमाण में हुई। इस दिशा में सबसे अधिक योगदान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का है। 'मेरे तो साधन एक ही नन्दलला वृषभानु-दुलारी' के गायक भारतेन्दु राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त थे। वे वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित थे और उनके अनेक पदों में 'सखा प्यारे कृष्ण के गुलाम राधारानी के' भावना के अनुकूल सख्य और विनय-भाव की भक्ति का निदर्शन मिलता है। वात्सल्य के कुछ पद भी उन्होंने लिखे हैं, किन्तु मध्ययुगीन कृष्णभक्ति-काव्य की तन्मयता और से अनुप्राणित माधुर्य भक्ति उनका मुख्य क्षेत्र है। पुष्टिमार्गीय भक्त होने के कारण भक्तिकाव्य में कहीं-कहीं साम्प्रदायिक भावना का सन्निवेश भी हुआ है, किन्तु यह प्रतिनिधि प्रवृत्ति नहीं है। अन्य धर्मों के प्रति उनका दृष्टिकोण उदारतायुक्त था, लिए 'अपुनो अपुनो मत लै लै सब झगरत ज्यौं भठिहारे' कहकर उन्होंने धार्मिक मतभेदियों तीव्र भर्त्सना की है। इसी झोंक में उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को उर्दू-पद-शैली में भी किया है :

ढूंढ फिरा मैं इस दुनिया में पश्चिम से ले पूरब तक।
कहीं न पायी मेरे दिलदार प्रेम की तेरे झलक।
मसजिद मन्दिर गिरजों में देखा मतवालों का जो दौर।
अपने अपने रंग में रँगा दिखाया सब का तौर।
सिवा झूठी बातों व बनावट के न नजर आया कुछ और !

---

१. "साँझ सवेरे पंछी सब क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जायेंगे यह दिन चार बसेरा है॥" —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

२. "साधो मनुवाँ अजब दिवाना।
माया मोह जनम के ठगिया, तिनके रूप भुलाना॥" —प्रतापनारायण मिश्र

३. "जो विषया संतन तजी, ताहि मूढ़ लपटात।
ज्यों नर डारत वमन करि, स्वान स्वाद सों खात॥" —राधाकृष्णदास

'प्रेमघन' की 'अलौकिक लीला' शीर्षक आख्यानक कविता और अनेकानेक स्फुट पदों, अम्बिकादत्त व्यास की 'कंसवध' शीर्षक प्रबन्ध-रचना तथा राधाकृष्णदास की भाव-युक्त कृष्ण-स्तुति का उल्लेख भी भारतेन्दुयुगीन कृष्णभक्ति-काव्य के सन्दर्भ में है। राधाचरण गोस्वामी के पिता गुणमंजरीदास (१८२७-१८९०) द्वारा रचित 'श्री और 'रहस्य पद' भी अपनी सरसता और आलंकारिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। घनारं (१८१९-१८८७) की 'कृष्ण-रामायण' (प्रकाशन=१८९४) भी इस धारा की मह कृति है। इसमें एक ओर 'रामचरितमानस' का अनुकरण मिलता है, तो दूसरी ओर कालीन कृष्ण-काव्य की छाप भी लक्षित होती है।

राम और कृष्ण से इतर देवी-देवताओं, श्रेष्ठ भक्तों और धार्मिक पर्वों की महिमा वर्णन भी कुछ कवियों को अभीष्ट रहा है। जगन्मोहनसिंह द्वारा अपनी कृतियों के आरम्भ दुर्गा की स्तुति, प्रेमघन-कृत 'सूर्य-स्तोत्र', भारतेन्दु-कृत 'उत्तरार्द्ध भक्तमाल' और 'का स्नान', प्रतापनारायण मिश्र की 'नवरात्र के पद' और राधाचरण गोस्वामी की 'नवभक्त शीर्षक कृतियाँ भक्ति-क्षेत्र की इसी व्यापकता की सूचना देती हैं।

आलोच्य युग के कवियों की तीसरी प्रवृत्ति है—**देशानुराग-व्यंजक भक्ति-भाव** साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों पर आधारित धार्मिकता के स्थान पर उन्होंने उदारता का दिया। प्रेमघन ने 'आनन्द अरुणोदय' में धार्मिक सहिष्णुता और समन्वय-भावना को इन में प्रकट किया है: "सभी धर्म के वही सत्य सिद्धान्त न और विचारो।" भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी 'जैन-कुतूहल' में धार्मिक विद्वेष की व्यर्थता प्रतिपादित की है। यह प्रवृत्ति द्विवेदी में और भी अधिक वर्द्धमान रही तथा कालान्तर में धर्म-निरपेक्षता के आदर्श में परिण गयी। जातीयता और देश-हित की भावनाओं को भारतेन्दु ने 'जागो अब तो खल बल रक्षहु अपनो आर्य मग' द्वारा तथा प्रतापनारायण मिश्र ने 'विधवा विलपैं नित धेनु कटैं लागत हाय गोहार नहीं' कहकर भली भाँति व्यक्त किया है। 'प्रबोधिनी' शीर्षक कविता 'डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो' जैसी पंक्तियों द्वारा भारतेन्दु ने जातीयता, राष्ट्री और भक्ति-भावना को एक समरेखा प्रदान कर दी है। 'कहाँ करुनानिधि केसव सोये' में उन्होंने केवल भक्ति-भाव का प्रतिपादन नहीं किया है, अपितु भारत की समकालीन गतियाँ भी उनकी दृष्टि में रही हैं। इसी प्रकार प्रतापनारायण मिश्र ने 'हम आरत वासिन पै अब दीनदयाल दया करिये' द्वारा और राधाकृष्णदास ने 'विनय' शीर्षक कविता 'अपने या प्यारे भारत के पुनि दुख दारिद हरिए' कहकर ईश्वर-भक्ति और देश-भक्ति ऐसा ही समन्वय प्रस्तुत किया है।

शृंगारिकता : भारतेन्दु और उनके समकालीन कवियों ने रस को काव्य की मानकर अपनी रचनाओं में विविध रसानुभूतियों का भावन किया है, जिनमें शृंगार सर्वप्रमुख है। प्रतापनारायण मिश्र के अतिरिक्त प्रायः सभी मुख्य कवि शृंगार-वर्णन ओर उन्मुख रहे हैं। रीतिकालीन कवियों का अनुसरण करते हुए सामान्यतः उन्होंने कथा के सन्दर्भ में प्रेम और सौन्दर्य का वर्णन किया है; किन्तु राधाकृष्णदास की जानकी' कविता में मर्यादित शृंगार और हरिनाथ पाठक की 'श्री ललित रामायण' आदि रामकथा की रसिकता-युक्त अवतारणा भी मिलती है। शृंगार-वर्णन के लिए इनके चार विकल्प थे—भक्तिकालीन कृष्ण-काव्य की परम्परा में माधुर्यभक्तिपरक शृंगार-चित्र रीतिकालीन पद्धति पर नखशिख, षड्ऋतु और नायिकाभेद का वर्णन; उर्दू-कविता से के फलस्वरूप प्रेम की वेदनात्मक व्यंजना और अँगरेज़ी की प्रेम-कविताओं से प्रभाव-

अन्तिम को छोड़कर शेष तीनों की परिव्याप्ति इस युग में मिलती है; विशेष रूप तेन्दु और प्रेमघन की रचनाओं में प्रायः ये तीनों विद्यमान हैं। भारतेन्दु ने 'प्रेम-र, 'प्रेम-माधुरी', 'प्रेम-तरंग,' 'प्रेम-फुलवारी' आदि में भक्ति-शृंगार और विशुद्ध र दोनों का समावेश किया है। प्रेमघन की 'युगलमंगल स्तोत्र' तथा 'वर्षा-बिन्दु' भी कार की रचनाएँ हैं। सौन्दर्य, प्रेम और विरह की व्यंजना में कहीं-कहीं ये दोनों ही र्दू-काव्य-शैली से भी प्रभावित हुए हैं, किन्तु नखशिख और नायिकाभेद पर परम्परित में काव्य-रचना इन्होंने नहीं की। वैसे, भारतेन्दु के प्रेम-दशा-वर्णन सम्बन्धी अनेक में घनानन्द-जैसी सरसता विद्यमान है। एक उदाहरण देखिए :

आजु लौं न मिले तो कहा हम तो तुमरे सब भाँति कहावैं।
मेरो उराहनो कछु नाहिं सबै फल आपुने भाग को पावैं॥
जो हरिचन्द भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा की समैं सब कंठ लगावैं॥

भारतेन्दु-युग में सांस्कृतिक पुनरुत्थान की जो लहर आयी थी, उसके फलस्वरूप रायण मिश्र और राधाकृष्णदास ने शृंगारिक मनोदशाओं को प्रायः अपने काव्य का नहीं बनाया। भारतेन्दु के बाद इस क्षेत्र में ठाकुर जगन्मोहनसिंह ही विशेषतः नीय हैं; यों बेनी द्विज, गोविन्द गिल्लाभाई, हनुमान, गोप, दिवाकर भट्ट, रामकृष्ण वीर' प्रभृति कुछ अन्य कवियों ने भी शृंगार रस के मनोहारी कवित्त-सवैयों की री है। अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस पचासा' भी इसी युग की रचना है। किन्तु जैसा निश्छल, सरस और रागात्मक वर्णन जगन्मोहनसिंह ने किया है, वैसा भारतेन्दु भी सर्वत्र सुलभ नहीं है। उदाहरणस्वरूप 'प्रेमसम्पत्तिलता' से एक सवैया देखिए :

अब यों उर आवत है सजनी, मिलि जाउँ गरे लगि कै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेकन औ मिलि कीजिय री रस की बतियाँ॥
हम हारि अरी करि कोटि उपाय, लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना कैसे कटैं दुख की रतियाँ॥

प्रकृति-चित्रण : प्राकृतिक सौन्दर्य का स्वच्छन्द वर्णन भारतेन्दुयुगीन कविता की विशेषता है, किन्तु अधिकतर कवियों ने परम्परा-निर्वाह ही किया है। भारतेन्दु-कृत होली', अम्बिकादत्त व्यास की 'पावस पचासा,' गोविन्द गिल्लाभाई की 'षड्ऋतु' और योनिधि' आदि कृतियों में वसन्त ऋतु और वर्षा-काल का आलम्बनात्मक चित्रण है; ऋतु-सौन्दर्य के स्थान पर कवियों ने ऋतु-विशेष में नायक-नायिका की मनो-ओं के वर्णन में अधिक रुचि ली है। सौन्दर्य-बोध में सहायक स्वतन्त्र प्रकृति-चित्रण का सी सीमा तक ठाकुर जगन्मोहनसिंह को ही दिया जा सकता है। भारतेन्दु ने 'सत्य न्द्र' नाटक में गंगा-वर्णन और 'चन्द्रावली' नाटिका में यमुना-वर्णन किया तो है, किन्तु स्कार के कारण इनमें उनकी स्वतन्त्र अनुभूति की क्षमता बहुत-कुछ दब-सी गयी है। प्रात समीरन', प्रेमघन की 'मयंक महिमा' और प्रतापनारायण मिश्र की 'प्रेम दि शीर्षक कविताओं में विषय के स्वतन्त्र उपस्थापन का यत्किंचित् प्रयास हुआ भी इनमें कवियों को उतनी सफलता नहीं मिली क्योंकि प्रकृति को शृंगारिक मनो-है, सामाजिक उद्बोधन, नीति-कथन आदि से सम्बद्ध करने की अनिवार्यता अभी रूप में बनी हुई थी। जगन्मोहनसिंह की कविताओं में इस प्रवृत्ति का अभाव तो नहीं इसके साथ ही प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और नैसर्गिक दृश्यों के स्वाभाविक चित्रण

में भी उनका मन रमा है। रीतिकाल के उद्दीपनात्मक प्रकृति-चित्रों को ही आद उन्होंने संस्कृत-काव्य में उपलब्ध होनेवाले सूक्ष्म नैसर्गिक सौन्दर्य से प्रेरणा ली है। प्रदेश की प्राकृतिक सुषमा का सजीव और वैविध्यपूर्ण चित्रण उनके काव्य विशेषता है। उदाहरणस्वरूप पर्वत-शृंखला की शोभा का चित्र-शैली में निर्मि द्रष्टव्य है :

पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिखा लगि अम्बर चूम।
निहारत दीठि भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता ऊपर झूम॥
प्रकाश पतंग सों चोटिन्न के बिकसै अरविन्द मलिन्द सुझूम।
लसै कटि मेखला के जगमोहन कारी घटा घन घोरत घूम॥

हास्य-व्यंग्य : भारतेन्दु-युग में हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं की भी प्रचुर रचना हुई। पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अन्धविश्वासों, रूढ़ि व्यंग्य करने के लिए क़वियों ने विषय और शैली की दृष्टि से अनेक नये प्रयोग दिशा में भारतेन्दु का योगदान सर्वाधिक है। अपने नाटकों के प्रगीतों में हास्य को स्थान देने के अतिरिक्त उन्होंने व्यंग्यगीतियों और मुकरियों की भी रच उनकी व्यंग्यगीतियों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—पैरोडी, और गाली। 'बन्दरसभा' के गीतों की रचना उन्होंने उर्दू-नाटक 'इन्दर सभा' की पैरोडी के रूप में की है। 'उर्दू का स्यापा' उर्दू-फ़ारसी के 'स्यापा' नामक शैली में लिखित है। "है-है उर्दू हाय-हाय, कहाँ सिधारी हाय-हाय" आदि उन्होंने 'बनारस अखबार' के समाचार-शीर्षक 'उर्दू मारी गयी' पर व्यंग्य किया है। मधुमास' की रचना 'ग़ाली' नामक व्यंग्यगीति की शैली में की गयी है। 'नये मुकरी' शीर्षक से उन्होंने समकालीन सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों मनोहारिणी मुकरियों की भी रचना की है, जिन पर अमीर खुसरो की शैली है। मद्यपान के विषय में उनकी व्यंग्योक्ति देखिए :

मुँह जब लागै तब नहिं छूटे, जाति मान धन सब कुछ लूटे।
पागल करि मोहिं करे ख़राब, क्यों सखि सज्जन नहीं सराब॥

इस काल के अन्य हास्य-व्यंग्यकारों में प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र 'प्रेमघन-सर्वस्व' का 'हास्य-बिन्दु' शीर्षक प्रकरण समसामयिक स्थितियों के विवे और तज्जनित उद्बोधन की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करता है। प्रतापनारायण 'तृप्यन्ताम्', 'हरगंगा', 'बुढ़ापा' और 'ककाराष्टक' शीर्षक कविताएं भी अपनी लिए प्रसिद्ध हैं।

अँगरेज़ी-शिक्षा-प्राप्त नवयुवकों द्वारा भारतीय रीति-नीति को त्यागकर सभ्यता का अनुकरण करने पर उन्होंने अत्यन्त मार्मिक व्यंग्य किया है :

जग जानैं इंगलिश हमैं वाणी वस्त्रहि जोय।
मिटै बदन कर श्याम रंग जन्म सुफल तब होय॥

रीति-निरूपण : परम्परागत रीति-निरूपण-पद्धति के प्रति भारतेन्दु-यु कवियों की क्रमशः क्षीण होती हुई अभिरुचि का परिणाम यह हुआ कि भारतेन्दु- लछिराम ब्रह्मभट्ट, कविराजा मुरारिदान और बालगोविन्द मिश्र ने ही इस दिशा में योगदान किया। लछिराम (१८४१-१९०४) ने मुख्यतः अयोध्या-नरेश मानसिंह आश्रय में काव्य-रचना की, किन्तु कुछ अन्य राजाओं और ताल्लुकेदारों को

र भी उन्होंने उनके नाम पर ग्रन्थ-रचना की है। उनकी काव्यशास्त्रीय कृतियों में र विलास' में मुख्य रूप से नायिकाभेद और संक्षेप में नवरस का विवेचन है, र भूषण' अलंकारशास्त्र का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है तथा 'रावणेश्वर कल्पतरु' (१८९०) सर्व-काव्यांग-निरूपिणी कृति है। इसकी रचना गिद्धौर-नरेश रावणेश्वरप्रसाद सिंह करने के लिए की गयी थी। इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, शब्द-शक्ति, रस, र और काव्य-दोष का सुसम्बद्ध विवेचन मिलता है जिसमें अध्ययन की गम्भीरता प्रतिपादन की स्वच्छता तो है, किन्तु उद्भावक आचार्य की गरिमा नहीं। कविराजा का 'जसवन्त जसोभूषण' (१८९३) भी महत्त्वपूर्ण बृहत् काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है। रचना मारवाड़-नरेश जसवन्तसिंह के आश्रय में रहकर की गयी थी। यह मूलतः ग्रन्थ है, किन्तु काव्य-स्वरूप, शब्दशक्ति, गुण और रीति का संक्षिप्त विवेचन भी मिलता है। इसकी विशेषता यह है कि पद्य में लक्षण-निरूपण करने के साथ ही ग्रन्थ-ने प्रत्येक लक्षण की गद्य में व्याख्या भी की है। इसमें अंलकारों के नामों के आधार पर लक्षण-निर्धारण की नवीन पद्धति अपनायी गयी है, उपमा को अलंकार मानकर सर्व-उसका विवेचन किया गया है और अतुल्ययोगिता, अप्रत्यनीक, अनवसर आदि कुछ अलंकारों की भी कल्पना की गयी है; किन्तु कुल मिलाकर इस ग्रन्थ में अलंकारशास्त्र परम्परा का सुनियोजन ही मिलता है, स्थायी महत्त्व की कोई मौलिक उद्भावना नहीं। के अन्तिम उल्लेखनीय रीतिकवि बालगोविन्द मिश्र हैं, जिन्होंने 'भाषा-छन्द-' (१८९९) में [illegible]तालीस मात्रिक-वर्णिक छन्दों के पद्यबद्ध लक्षण और प्रायः स्वरचित दिये हैं। काव्यांग-निरूपण की दिशा में यों तो अयोध्या-नरेश प्रतापनारायणसिंह-रसकुसुमाकर' (१८९४) और कन्हैयालाल पोद्दार-कृत 'अलंकार प्रकाश' (१८९६) इसी युग की कृतियाँ हैं, किन्तु इनमें लक्षण-निर्धारण के लिए पद्य के स्थान पर गद्य का हुआ है; अतः भारतेन्दु-युग के आचार्य-कवियों में इनकी गणना नहीं की जा सकती। अवश्य कहा जा सकता है कि हिन्दी-काव्यशास्त्र को पद्य की चिरपरिचित सीमाओं से दिलाकर उसे नवीन आयाम प्रदान करने का श्रेय भारतेन्दु-युग को ही प्राप्त है।

समस्यापूर्ति : भारतेन्दु-युग में गृहीत रीतिकालीन काव्य-शैलियों में 'समस्यापूर्ति' लोकप्रिय काव्य-पद्धति थी। कवियों की प्रतिभा और रचना-कौशल को परखने के कवि-गोष्ठियों और कवि-समाजों में कठिन-से-कठिन विषयों पर समस्यापूर्ति करायी जाती भारतेन्दु द्वारा काशी में स्थापित कविता-वर्द्धिनी-सभा, कानपुर का रसिक-समाज, बाबा सिंह द्वारा निजामाबाद (जिला आज़मगढ़) में स्थापित कवि-समाज आदि ऐसे मंच थे नियमित रूप से कवि-गोष्ठियाँ होती थीं और समस्यापूरण को प्रतियोगिता के रूप में दिया जाता था। प्रतिष्ठित कवि इनमें भाग लेने में संकोच नहीं करते थे और नये कवियों का इससे यथेष्ट उत्साह-वर्द्धन होता था। कानपुर के रसिक-समाज में 'पपीहा जब पीव कहाँ' की प्रतापनारायण मिश्र द्वारा की गयी पूर्ति कितनी हृदयस्पर्शी बन पड़ी है :

> बन बैठि है मान की मूरति-सी, मुख खोलत बोलै न 'नाहीं' न 'हाँ'।
> तुम ही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ॥
> बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अब लौं मन को समझायो जहाँ।
> यह ब्यारि तबै बदलेगी कछु पपीहा जब पूछिहै 'पीव कहाँ'?

समस्यापूरण के लिए उस समय परम्परागत शृंगारिक विषयों का ही अधिक प्रचलन वह दूसरी बात है कि नवीन सामाजिक परिवेश में काव्य में जिन नये-नये विषयों को

स्थान प्राप्त होने लगा था, कभी-कभी उनकी झलक समस्यापूर्तियों में भी दि
थी। शृंगार रस की ललित समस्यापूर्ति के लिए प्रेमघन, लछिराम, वि
गोविन्द गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर', बेनी द्विज, ब्रजचन्द वल्लभीय
को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। 'चरचा चलिबे की चलाइए ना' की प्रे
गयी यह पूर्ति अपनी आनुप्रासिक छटा के कारण उन दिनों बहुचर्चित थी :

बगियान बसन्त बसेरो कियो, बसिए तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम कुतूहल के जो बने; तिन बीच बियोग बुलाइए ना॥
'घन प्रेम' बढ़ाय कै प्रेम, अहो ! बिथा बारि वृथा बरसाइए ना।
चित चैत की चाँदनी चाह भरी, चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

समस्यापूरण का वैशिष्ट्य कवियों की सूझ-बूझ, उक्ति-वैचित्र्य और
होता है। तत्कालीन कवि-समाज में समस्यापूर्ति के लिए वाहवाही प्राप्त करना
बात समझा जाता था। अम्बिकादत्त व्यास ने अपने कवि-जीवन का आरम्भ
सभा में 'पूरी अमी की कटोरिया-सी, चिरजीवी रहौ विक्टोरिया रानी' सम
करके किया था और इस पर उन्हें 'सुकवि' की उपाधि प्राप्त हुई थी। उनके
व्यास भी ब्रजभाषा के रसिक कवि थे; उनके द्वारा संकलित 'समस्यापूर्ति-प्रका
की प्रसिद्ध रचना है। इस प्रकार के अन्य संग्रहों में अम्बिकादत्त व्यास का
सर्वस्व', गोविन्द गिल्लाभाई का 'समस्यापूर्ति-प्रदीप' और सीतापुर-निवासी गंगाध
का 'समस्या-प्रकाश' उल्लेखनीय हैं। नर्मदेश्वरप्रसादसिंह के कविता-संग्रह 'पंचर
समस्यापूर्तियाँ भी संगृहीत हैं। इसी प्रकार 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' में भारतेन्दु
पूर्तियों का भी संग्रह किया गया है। उदाहरणस्वरूप 'पिय प्यारे तिहारे नि
अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं' की भारतेन्दु-कृत पूर्ति देखिए :

यह संग में लागिये डोलैं सदा बिन देखे न धीरज आनती हैं।
छिनहू जो बियोग परै 'हरिचन्द' तौ चाल प्रलै की सु ठानती हैं॥
बसनी में थिरैं न झपैं उझपैं, पल में न समाइबौ जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना अँखियाँ दुखियाँ नहिं मानती हैं॥

काव्यानुवाद : मौलिक काव्य-रचना के साथ ही भारतेन्दु-युग के कुछ
ध्यान संस्कृत और अँगरेज़ी से काव्यानुवाद की ओर भी गया। इस दिशा में
उल्लेखनीय कृतियाँ हैं—राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६) द्वारा अनूदि
(१८७७) और 'मेघदूत' (१८८१-१८८३)। भावान्तरण की सरसता, शैली-
स्वच्छ ब्रजभाषा और सवैया छन्द का मनोहारी प्रयोग इन रचनाओं की मुख्य
हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'नारद-भक्ति-सूत्र' और शांडिल्य के 'भक्ति-सूत्र' को
सर्वस्व' (१८७४) और 'भक्तिसूत्र वैजयन्ती' शीर्षकों से अनूदित किया, किन्तु इन
लालित्य के स्थान पर प्रतिपाद्य की प्रेषणीयता पर अधिक ध्यान दिया गया है।
तोताराम (१८४८-१९०२) द्वारा वाल्मीकि-रामायण का 'राम-रामायण' शीर्षक से
न्तरण भी काव्य-कला की दृष्टि से साधारण प्रयास है। किन्तु, ठाकुर जगन्मोहन
अनूदित 'ऋतुसंहार' (१८७६) और 'मेघदूत' (१८८३) इस काल की विशिष्ट
हैं। इनमें शब्दानुवाद के स्थान पर भाव-सौन्दर्य के संरक्षण पर बल रहा है और
भाव-संक्षेपण तथा भाव-विस्तार की पद्धतियाँ भी अपनायी गयी हैं। तत्सम
भाषा-लालित्य और कवित्त-सवैयों की रमणीय छटा इन दोनों कृतियों की अन्य

पर यही बात लाला सीताराम 'भूप' (१८५८-१९३७) द्वारा अनूदित 'मेघदूत' 'कुमारसम्भव' (१८८४), 'रंघुवंश' (१८८५-१८९२) और 'ऋतुसंहार' के विषय में नहीं कही जा सकती। इन अनुवादों में दोहा, चौपाई, घनाक्षरी प्रभृति न्दों का प्रयोग हुआ है, किन्तु इनकी भाषा में काव्योचित सरसता और स्वच्छता पर सामान्य स्तर ही लक्षित होता है। अँगरेज़ी की ललित काव्य-कृतियों के की ओर ध्यान आकृष्ट करने का श्रेय श्रीधर पाठक को है। गोल्डस्मिथ-कृत और 'डेज़र्टेड विलेज' को उन्होंने एकान्तवासी योगी' (१८८६) तथा 'ऊजड़ ग्राम' के रूप में अनूदित किया है। इनकी रचना क्रमशः खड़ीबोली और ब्रजभाषा तथा मूल कृतियों के भाव-सौरस्य को भाषान्तरण में हानि नहीं पहुँचने दी गयी पाठक की कवि-प्रतिभा और अभिव्यंजन-सौष्ठव को इन कृतियों में अनेकशः जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि काव्यानुवाद को व्यापक रूप में प्रोत्साहन न्दर्भ में ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली दोनों का ही ललित रूप में प्रयोग करने और की काव्य-कृतियों के भाषान्तरण का समारम्भ करने का श्रेय पूरी तरह भारतेन्दु- है।

पक्ष : भारतेन्दु-युग के विषय में सामान्य धारणा यह है कि इस काल के कवियों की तुलना में काव्य-वर्ण्य पर अधिक ध्यान दिया है, जबकि सत्य यह है कि शिल्प पर बदलते हुए परिवेश का भी अनिवार्य रूप से प्रभाव पड़ा है। फल- युग की रचनाओं में काव्य-रूप, भाषिक चेतना, अलंकरण-प्रवृत्ति और छन्द-विधान प्रयोगधर्मिता को स्पष्टतः लक्षित किया जा सकता है।

काव्य-रूप की दृष्टि से भारतेन्दुयुगीन कवियों ने प्रधानतः मुक्तक काव्य की रचना पाठक की 'श्री ललित रामायण', प्रेमघन-कृत 'जीर्ण जनपद' और 'मयंक- (अपूर्ण) तथा अम्बिकादत्त व्यास की प्रबन्धात्मक कृति 'कंस-वध' (अपूर्ण) अपवाद- है। भारतेन्दु की 'रानी छद्मलीला', 'देवी छद्मलीला' और 'तन्मय लीला' प्रबन्ध- उदाहरण हैं। 'विजयिनी विजय वैजयन्ती' और 'हिन्दी भाषा' की रचना उन्होंने के रूप में की है—भारतेन्दु-युग के उत्तरार्द्ध में बालमुकुन्द गुप्त और राधा- ने भी इस पद्धति का यत्किंचित् अनुसरण किया। हरिऔध-कृत 'कृष्ण-शतक' और अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'सुकवि सतसई' शतक और सतसई-परम्परा के हरण हैं। प्रगीत-मुक्तकों की रचना भी इसी काल में प्रभूत परिमाण में हुई। दादरा, ईमन आदि राग-रागिनियों में प्राचीन पद-शैली की काव्य-रचना है। लोकसंगीत की शैली भी काफ़ी लोकप्रिय थी। उदाहरणस्वरूप प्रेमघन और मिश्र की कजलियाँ तथा भारतेन्दु (वर्षा-विनोद), प्रतापनारायण मिश्र, राधा- और जगन्मोहनसिंह द्वारा रचित लावनियाँ द्रष्टव्य हैं। 'उर्दू का स्यापा', प्रभृति व्यंग्यगीतियों से भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित एक नवीन शैली का परिचय है। उनकी मुकरियों से भी लोकरुचि-प्रेरित काव्य-रचना की प्रवृत्ति की झलक है। भारतेन्दु द्वारा 'रसा' उपनाम से और प्रेमघन द्वारा 'अब्र' उपनाम से उर्दू में की रचना भी उल्लेखनीय नवीन प्रयोग है। इसका एक स्वाभाविक परिणाम कि उर्दू-कविता के बाँकपन का समावेश हिन्दी-काव्य में भी होने लगा। प्रताप- मिश्र की प्रवृत्ति क़सीदा, शेर, मरसिया आदि लिखने की ओर भी थी। संक्षेप में सकता है कि इस युग का कवि-कर्तृत्व परम्परागत छन्दोबद्ध मुक्तक काव्य में ही

बँधकर नहीं रह गया है, अपितु काव्य-रूप के क्षेत्र में ये कवि यथासम्भव नवीन ओर उन्मुख रहे हैं।

भाषायी चेतना का भारतेन्दुयुगीन काव्यादर्श में महत्त्वपूर्ण स्थान है। शासकीय संरक्षण के सन्दर्भ में हिन्दी को उसका दाय दिलाने के लिए भारतेन्दु द्वारा 'हिन्दी भाषा' केवल राजनीतिक कारणों से प्रेरित रचना नहीं थी, अपितु तत्का त्यिक भाषा में उर्दू-फ़ारसी की जटिल तत्सम पदावली का बहिष्कार भी इसी देन है। यों भारतेन्दु उर्दू के एकान्त विरोधी नहीं थे—'फूलों का गुच्छा' में शब्दावली का प्रचुर प्रयोग किया है। प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र की भाषा भी उर्दूमयी हो गयी है। मिश्रित भाषा के प्रयोग की यह प्रवृत्ति इतनी प्रचलित हुई कि की भाषा पर मिर्जापुरी बोली का और प्रतापनारायण मिश्र की भाषा पर कन्नौजी अनायास लक्षित किया जा सकता है। खड़ीबोली की कविताओं में व्यावहारिक होने के फलस्वरूप ब्रजभाषा के कवि अन्य भाषाओं से शब्द-चयन के विषय में उदार होते गये; अतः भोजपुरी, बुन्देलखण्डी, अवधी आदि प्रान्तीय भाषाओं के उर्दू और अँगरेज़ी की प्रचलित शब्दावली को भी अपना लिया गया। इसके साथ ही चाल के अर्थहीन शब्दों को त्यागकर नयी शब्दावली की खोज की ओर भी कुछ यत्किंचित् प्रवृत्ति लक्षित होती है।

भाषा-संरचना के दृष्टिकोण से यद्यपि इस युग के किसी भी कवि की पद्माकर और घनानन्द की काव्य-भाषा के समान परिष्कृत नहीं है, किन्तु इसके अनेक रीतिकालीन कवियों की भाँति 'भाषा को 'कला कला के लिए' सिद्धान्त के शब्द-जाल का जामा पहनाना भी अभीष्ट नहीं रहा। इसके विपरीत भाषा की स्वच्छन्दता, व्यावहारिकता के वृत्त में उसकी प्रभावक्षमता, मुहावरों और लोकोक्ति प्रासंगिकता आदि विशेषताओं के महत्त्व को उन्होंने दृष्टि से ओझल नहीं होने दि भक्ति-काव्य और शृंगार-काव्य में कोमल-कान्त पदावली तथा वीर-काव्य में शब्दावली का प्रयोग इसका उदाहरण है। केवल इतिवृत्तात्मक अर्थात् वर्णनप्रधान शैली नहीं अपनायी, अपितु चित्रभाषा और उद्बोधन-वैशिष्ट्य भी उनकी रचनात्मक हैं। भारतेन्दु और प्रतापनारायण मिश्र द्वारा होली-वर्णन में प्रतीक-शैली का उल्लेखनीय है। व्याकरणिक भूलों के निराकरण की प्रवृत्ति भी कुछ कवियों— व्यास, श्रीधर पाठक, बालमुकुन्द गुप्त, राधाकृष्णदास—में विशेषतः लक्षित हो सम्भवतः इसका कारण यह है कि जहाँ प्रथम दोनों कवि संस्कृतज्ञ थे, वहाँ आलोचक भी थे; और बालमुकुन्द गुप्त की तो भाषाविज्ञान में भी गति थी।

भारतेन्दु-युग के कुछ कवियों ने खड़ीबोली में भी काव्य-रचना की है, किन्तु युग की प्रतिनिधि काव्य-भाषा नहीं बन सकी। भारतेन्दु (फूलों का गुच्छा), प्रेमघन महिमा) और प्रतापनारायण मिश्र की खड़ीबोली-कविताएँ तो परिमाण में बहुत हैं; किन्तु श्रीधर पाठक (एकान्तवासी योगी), बालमुकुन्द गुप्त (स्फुट कविता) राधाकृष्णदास को खड़ीबोली का सफल पक्षधर कहा जा सकता है। सत्य तो यह द्विवेदी-युग में मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कवियों ने खड़ीबोली को जो काव्योचित प्रदान की, उसकी पृष्ठभूमि का निर्माण भारतेन्दु-युग में ही होने लगा था। काव्य ब्रजभाषा और खड़ीबोली के प्रयोग को लेकर इस युग में एक प्रकार के आन्दोलन सूत्रपात हो गया था, जिसका मूल कारण यह था कि अयोध्याप्रसाद खत्री-कृत

न' (१८८८) में ब्रजभाषा और अवधी की रचनाओं को हिन्दी-साहित्य के स्थान देने से ही इनकार कर दिया गया था। इसका फल यह हुआ कि प्रतापनारायण कुछ कवियों ने प्रतिक्रियास्वरूप कुछ समय तक खड़ीबोली में काव्य-रचना का रोध किया; उनकी खड़ीबोली-कविताएँ बाद की रचनाएँ हैं। अयोध्याप्रसाद खत्री बोली का पद्य' (१८८९) शीर्षक एक अन्य रचना में विभिन्न शैलियों में रचित की खड़ीबोली-कविताओं का भी संकलन किया था, जिससे इस दिशा में कवियों हुई अभिरुचि का प्रमाण मिलता है। कारण स्पष्ट है—खड़ीबोली-गद्य के समा- खड़ीबोली-कविता के विकास की सम्भावनाओं की खोज उनमें से बहुतों को अभीष्ट उदाहरणस्वरूप भारतेन्दु की निम्नलिखित काव्य-पंक्तियाँ देखिए :

श्री राधामाधव युगलचरण रस का अपने को मस्त बना।
पी प्याला भर भरकर कुछ इस मै का भी देख मजा॥

खड़ीबोली की तत्कालीन कविताओं के दो पक्ष थे—ये कविताएँ या तो उर्दू की शैली और उसके शब्द-विन्यास की ओर झुकी हुई थीं अथवा इनमें ब्रजभाषा-शब्दावली के क्रियारूपों का कवियों के सहज अभ्यासवश प्रयोग रहता था। यह उल्लेख भी न होगा कि इस युग के कुछ कवियों की प्रवृत्ति हिन्दीतर भाषाओं में स्फुट पद- की ओर भी रही। भारतेन्दु और प्रेमघन ने बँगला, गुजराती और मराठी में स्फुट लिखी थीं, जिनमें से कुछ उनकी नाट्य-कृतियों में समाविष्ट हैं।

भारतेन्दु-युग में यद्यपि लछिराम-जैसे अलंकारवादी कवि की रचनाएँ भी उपलब्ध हैं, सामान्यतः कवियों ने रीतिकाल की अलंकरण-प्रवृत्ति का अनुकरण नहीं किया। काल की रीतिबद्ध शृंगारिक रचनाओं और भारतेन्दु की 'यमुना-छवि' जैसी कुछ ओं में उत्प्रेक्षा, सन्देह प्रभृति अर्थालंकारों की प्रमुखता भले ही लक्षित होती है और लंकारों के अन्तर्गत अनुप्रास, यमक और श्लेष का चमत्कार उनके मन को भले ही है, किन्तु सामान्यतः अलंकारों का सहज रूप में अभिनिवेश ही कवियों को अधिक रहा है।

भारतेन्दुयुगीन कविता का पर्याप्त भाग पद-शैली में रचित है, तथापि परम्परित ढंग छन्दोयोजना भी सभी कवियों की रचनाओं में मिलती है। दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, हरिगीतिका आदि मात्रिक छन्द और कवित्त, सवैया, मन्दाक्रान्ता, शिख- वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि वर्णिक छन्द कवि-समुदाय में विशेष प्रचलित रहे। और राधाकृष्णदास द्वारा बिहारी और रहीम के कुछ दोहों का कुण्डलियों में भाव- किया जाना और अम्बिकादत्त व्यास द्वारा 'बिहारी-विहार' में इस शैली को भी उल्लेखनीय है। भारतेन्दु ने उर्दू-छन्दों में काव्य-रचना[1] के साथ ही 'प्रात- कविता में बँगला के 'पयार' छन्द का प्रयोग किया है। अम्बिकादत्त व्यास ने भी के 'दीर्घललित' छन्द में काव्य-रचना की है। 'कंस-वध' में अतुकान्त काव्य-रचना की बनाकर भी उन्होंने नया प्रयोग किया है। इसमें सन्देह नहीं कि रीतिकाल की तुलना युग के कवि विविधतापूर्ण छन्द-विधान के प्रति अधिक जागरूक थे।

'भारतेन्दु-ग्रन्थावली', भाग २, पृष्ठ २०३, २०९, ७४७, ८५३, ८५५, ८५७-८६०

प्रमुख कवि

आलोच्य युग में यों तो शताधिक कवियों ने विविध प्रवृत्तियों के अन्तर्गत रच की है, किन्तु उनमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रतापना जगन्मोहनसिंह, अम्बिकादत्त व्यास और राधाकृष्णदास ही प्रमुख रूप से उल्ले इनके अतिरिक्त श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८), बालमुकुन्द गुप्त (१८६५-१९० हरिऔध (१८६५-१९४५) की कविताओं का प्रकाशन भी इस युग में आरम्भ हो किन्तु इनके कृतित्व का बहुल अंश परवर्ती युग में सामने आया। यद्यपि इनकी एका प्रवृत्तियों का उल्लेख इसके पूर्व किया जा चुका है, किन्तु इनके कृतित्व का स्वतन्त्र द्विवेदी-युग में ही उचित होगा।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : कविवर हरिश्चन्द्र (१८५०-१८८५) इतिहास-प्रसि अमीचन्द की वंश-परपम्रा में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता बाबू गोपालचन्द्र 'गिरि भी अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। हरिश्चन्द्र ने बाल्यावस्था में ही काव्य-रचना आ दी थी और अल्पायु में कवित्व-प्रतिभा और सर्वतोमुखी रचना-क्षमता का ऐसा दिया था कि उस समय के पत्रकारों तथा साहित्यकारों ने १८८० ई० में उन्हें की उपाधि से सम्मानित किया था। कवि होने के साथ ही भारतेन्दु पत्रकार 'कविवचनसुधा' और 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' उनके सम्पादन में प्रकाशित होनेवाली त्रिकाएँ थीं। नाटक, निबन्ध आदि की रचना द्वारा उन्होंने खड़ीबोली की निर्धारण में भी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। उनकी कविताएँ विविध-विषय-विभूषि भक्ति, शृंगारिकता, देश-प्रेम, सामाजिक परिवेश और प्रकृति के विभिन्न सन्दर्भों उन्होंने विपुल परिमाण में काव्य-रचना की; जो कहीं सरसता और लालित्य में हैं, तो अन्यत्र स्थूल वर्णनात्मकता की परिधि को लांघने में असमर्थ है। उनकी काव्य की संख्या सत्तर है, जिनमें 'प्रेम-मालिका', 'प्रेम-सरोवर', 'गीत गोविन्दानन्द', 'वर्षा 'विनय-प्रेम-पचासा', 'प्रेम-फुलवारी', 'वेणु-गीति' आदि विशेषतः उल्लेख-योग्य हैं। 'भारतेन्दु-ग्रन्थावली' के प्रथम भाग में उनकी सभी छोटी-बड़ी काव्य-रचनाएं एक उपलब्ध हैं। उनकी प्रमुख विशेषता यह है कि अपनी अनेक रचनाओं में जहां वे काव्य-प्रवृत्तियों के अनुवर्ती रहे, वहाँ नवीन काव्यधारा के प्रवर्तन का श्रेय भी प्राप्त है। राजभक्त होते हुए भी वे देशभक्त थे, दास्य भाव की भक्ति के साथ ही माधुर्य भाव की भक्ति भी की है, नायक-नायिका के सौन्दर्य-वर्णन में ही न रमकर उनके लिए नवीन कर्त्तव्य-क्षेत्रों का भी निर्देश किया है और इतिवृत्तात्मक काव्य साथ ही उनमें हास्य-व्यंग्य का पैनापन भी विद्यमान है। अभिव्यंजना-क्षेत्र में भी ऐसी ही परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाली प्रवृत्तियों को अपनाया है, जो उनकी मनोवृत्ति का प्रमाण है। 'हिन्दी भाषा' में प्रबल हिन्दीवादी के रूप में सामने आने उन्होंने उर्दू-शैली में क़विताएँ लिखी हैं और काव्य-रचना के लिए ब्रजभाषा को ही मानने पर भी वे खड़ीबोली में 'दशरथ-विलाप' तथा 'फूलों का गुच्छा' कविताएं दिखायी देते हैं। काव्य-रूपों की विविधता उनकी अनन्य विशेषता है। छन्दोबद्ध के साथ ही उन्होंने गेय पद-शैली में भी विदग्धता का परिचय दिया है। संक्षेप में जा सकता है कि कविता के क्षेत्र में वे नवयुग के अग्रदूत थे। अपनी ओजस्विता, भाव-मर्मज्ञता और प्रभविष्णुता में उनका क़ाव्य इतना प्राणवान् है कि उस युग का

कवि उनसे अप्रभावित रहा हो। उनकी काव्य-शैली के निदर्शनार्थ एक पद यहाँ किया जा रहा है :

रहैं क्यौं एक म्यान असि दोय।
जिन नैनन में हरि-रस छायो तेहि क्यौं भावै कोय॥
जा तन-मन में रमि रहे मोहन तहाँ ग्यान क्यौं आवै।
चाहो जितनी बात प्रबोधो ह्याँ को जो पतिआवै॥
अमृत खाइ अब देखि इनारुन को मूरख जो भूलै।
'हरीचन्द' ब्रज तो कदली-बन काटौ तौ फिरि फूलै॥

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' : भारतेन्दु-मण्डल के कवियों में प्रेमघन (१८५५-) का प्रमुख स्थान है। उनका जन्म उत्तरप्रदेश के जिला मिर्जापुर के एक सम्पन्न कुल में हुआ था। भारतेन्दु की भाँति उन्होंने भी पद्य और गद्य दोनों में विपुल रचना की है। साप्ताहिक 'नागरी नीरद' और मासिक 'आनन्दकादम्बिनी' के सम्पादन उन्होंने तत्कालीन पत्रकारिता को भी नयी दिशा दी थी। 'अभ्र' नाम से उन्होंने उर्दू में कविताएं लिखी हैं। 'जीर्ण जनपद', 'आनन्द अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक-, अलौकिक लीला', 'वर्षा-बिन्दु' आदि उनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं, जो अन्य के साथ 'प्रेमघन-सर्वस्व' के प्रथम भाग में संकलित हैं। भारतेन्दु के काव्य में प्राप्त सभी प्रवृत्तियाँ प्रेमघन की रचनाओं में भी समुपलब्ध हैं। 'लालित्य लहरी' के सम्बन्धी दोहों और 'वृजचन्द पंचक' में उनकी भक्ति-भावना व्यक्त हुई है, तो उनकी कविताएँ भी रसिकता-सम्पन्न हैं। उनका मुख्य क्षत्र जातीयता, समाज-दशा और की अभिव्यक्ति है। यद्यपि उन्होंने राजभक्ति सम्बन्धी कविताओं की भी रचना की राष्ट्रीय भावना की नयी लहर से उनका अविच्छिन्न सम्बन्ध था। देश की दुरवस्था और देशोन्नति के उपायों का जितना वर्णन उन्होंने किया है, उतना भारतेन्दु की में भी नहीं मिलता। इस सन्दर्भ में नयी-से-नयी घटना को वे कविता का विषय थे। उदाहरणस्वरूप पार्लियामेंट के सदस्य दादाभाई नौरोजी को जब विलायत में कहा गया, तब उन्होंने इस पर यह क्षोभपूर्ण प्रतिक्रिया व्यक्त की थी :

अचरज होत तुमहुँ सम गोरे बाजत कारे,
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे।
'कारे कृष्ण, राम, जलधर जल-बरसनवारे,
कारे लागत ताही सों कारन कौं प्यारे।
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे,
यहै असीस देत तुमको मिलि हम सब कारे—
सफल होंहि मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।

प्रेमघन ने मुख्यतः ब्रजभाषा में काव्य-रचना की है, किन्तु खड़ीबोली के लिए उनके विरक्ति नहीं थी। वे कविता में भाव-गति के क़ायल थे; न तो उन्हें भाषा के शुद्ध की चिन्ता थी और न वे यतिभंग से विचलित होते थे। छन्दोबद्ध रचनाओं के उन्होंने लोक-संगीत की कजली और लावनी शैलियों में भी सरस कविताएँ हैं।

प्रतापनारायण मिश्र : ब्राह्मण-सम्पादक प्रतापनारायण मिश्र (१८५६-१८९४) का बैजेगाँव, जिला उन्नाव में हुआ था। पिता के कानपुर चले जाने के कारण उनकी शिक्षा-

दीक्षा वहीं हुई । ज्योतिष का पैतृक व्यवसाय न अपनाकर व साहित्य-रचना की ओर हुए । कविता, निबन्ध और नाटक उनके मुख्य रचना-क्षेत्र हैं । कानपुर के रंगमंच और की साहित्यिक संस्था 'रसिक-समाज' से उनका निकट का सम्बन्ध था । 'प्रेमपुष्पावली', की लहर', 'लोकोक्ति-शतक', 'तृप्यन्ताम्' और 'शृंगार-विलास' उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ 'प्रताप-लहरी' उनकी प्रतिनिधि कविताओं का संकलन है । भारतेन्दु की भाँति उन्होंने विभिन्न विषयों को लेकर काव्य-रचना की है, किन्तु भक्ति और प्रेम की तुलना में सामयिक देश-दशा और राजनीतिक चेतना का वर्णन उन्होंने अधिक मनोयोग से किया इस सन्दर्भ में उनकी ये पंक्तियाँ कितनी सटीक और व्यंग्यात्मक हैं :

पढ़ि कमाय कीन्हों कहा, हरे देश कलेस ।
जैसे कन्ता घर रहे, तैसे रहे विदेस ॥

हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं के क्षेत्र में प्रतापनारायण मिश्र का अग्रणी स्थान प्रेमघन की भाँति उन्होंने भी लावनी-शैली में अनेक कविताएँ लिखी हैं । वे भावुक थे और अभिव्यंजना-पक्ष में उनका बल व्यावहारिकता पर अधिक था । काव्य-रचना के उन्होंने मुख्यत: ब्रजभाषा को ही अपनाया है, खड़ीबोली से उन्हें उतना लगाव नहीं था ।

जगन्मोहनसिंह : ठाकुर जगन्मोहनसिंह (१८५७-१८९९) मध्यप्रदेश की राघवगढ़ रियासत के राजकुमार थे । उन्होंने काशी में संस्कृत और अँगरेज़ी की शिक्षा की । वहाँ रहते हुए उनका भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से सम्पर्क हुआ, किन्तु भारतेन्दु की शैली की उन पर वैसी छाप नहीं मिलती, जैसी प्रेमघन और प्रतापनारायण मिश्र के में लक्षित होती है । शृंगार-वर्णन और प्रकृति-सौन्दर्य की अवतारणा उनकी मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं, जिन्हें उनकी काव्य-कृतियों—प्रेमसम्पत्तिलता (१८८५), श्यामालता (१८८ श्यामा-सरोजिनी (१८८६) और देवयानी (१८८६)—में सर्वत्र पाया जा सकता है । 'श्यामा-स्वप्न' शीर्षक उपन्यास में भी उन्होंने प्रसंगवश कुछ कविताओं का समावेश किया है । उनके द्वारा अनूदित 'ऋतुसंहार' और 'मेघदूत' भी ब्रजभाषा की सरस कृतियाँ हैं । जगन्मोहनसिंह में काव्य-रचना की स्वाभाविक प्रतिभा थी और वे भावुक मनोवृत्ति के कवि कल्पना-लालित्य, भावुकता, चित्र-शैली और सरस-मधुर ब्रजभाषा उनकी रचनाओं की तम विशेषताएँ हैं । अलंकारों का स्वाभाविक नियोजन भी उनमें भारतेन्दुयुगीन कवियों सबसे अधिक दृष्टिगत होता है । उनकी कविता का उदाहरण द्रष्टव्य है :

कुलकानि तजी गुरु लोगन में बसिकै सब बैन कुबैन सहा ।
परलोक नसाय सबै बिधि सों उनमत्त को मारग जान गहा ॥
'जगमोहन' धोय हया निज हाथन या तन पाल्यौ है प्रेम महा ।
सब छोड़ि तुम्हैं हम पायो अहो तुम छोड़ि हमैं कहो पायो कहा ॥

अम्बिकादत्त व्यास : कविवर दुर्गादत्त व्यास के पुत्र अम्बिकादत्त व्यास (१८ १९००) काशी-निवासी सुकवि थे । वे संस्कृत और हिन्दी के अच्छे विद्वान् थे और भाषाओं में साहित्य-रचना करते थे । 'पीयूष-प्रवाह' के सम्पादक के रूप में भी उन्होंने प्रतिभा का परिचय दिया है । उनकी काव्य-कृतियों में 'पावस पचासा' (१८८६), सतसई' (१८८७) और 'हो हो होरी' (१८९१) उल्लेखनीय हैं । इनकी रचना ब्रजभाषा में हुई है । उन्होंने खड़ीबोली में 'कंस-वध' (अपूर्ण) शीर्षक प्रबन्धकाव्य की भी आरम्भ की थी, किन्तु इसके केवल तीन सर्ग ही लिखे जा सके । 'बिहारी-विहार' एक अन्य प्रसिद्ध रचना है, जिसमें महाकवि बिहारी के दोहों का कुण्डलिया छन्द में

र किया गया है। उनके द्वारा लिखित समस्यापूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। अपने कों (भारत सौभाग्य, गोसंकट नाटक) में भी उन्होंने कुछ गेय पदों का समावेश किया व्यास जी की प्राचीन भारतीय संस्कृति में गहन आस्था थी, जिसे प्रत्यक्ष रूप में व्यक्त के अतिरिक्त उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता की कमियों पर व्यंग्य भी किये हैं। उन्होंने और कोमल-कान्त पदावली के प्रयोग को वरीयता दी है। 'सुकवि सतसई' के निम्न-त दोहों में स्वच्छ-सरस ब्रजभाषा में श्रीकृष्ण के प्रति भाव-निवेदन किया गया है :

सुमिरत छवि नँदनन्द की, बिसरत सब दुखदन्द।
होत अमन्द अनन्द हिय, मिलत मनहुँ सुख कन्द॥
रसना हू बस ना रहत, बरनि उठत करि जोर।
नन्दनन्द मुख चन्द पै, चितहू होत चकोर॥

राधाकृष्णदास : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७) मुखी प्रतिभा के धनी थे। कविता के अतिरिक्त उन्होंने नाटक, उपन्यास और आलोचना त्रों में भी उल्लेखनीय साहित्य-रचना की है। उनकी कविताओं में भक्ति, शृंगार और कालीन सामाजिक-राजनीतिक चेतना को विशेष स्थान प्राप्त हुआ है। 'भारत बारह-मासा' और 'देश-दशा' समसामयिक भारत के विषय में उनकी प्रसिद्ध कविताएँ हैं। कुछ विताओं में प्रसंगवश प्रकृति के सुन्दर चित्र भी उरेहे गये हैं। राधाकृष्ण-प्रेम के निरूपण में काल और रीतिकाल की वर्णन-परम्पराओं का उन पर समान प्रभाव पड़ा है। एक ण देखिए :

मोहन की यह मोहिनी मूरत, जीय सों भूलत नाहिं भुलाये।
छोरन चाहत नेह को नातो, कोऊ विधि छूटत नाहिं छुराये॥
'दास जू' छोरि कै प्यारै हहा हमैं और के रूप पै जाइ लुभाये।
भूलि सकै अब कौन जिया उन तौ हँसि कै पहिले ही चुराये॥

राधाकृष्णदास की कुछ कविताएँ 'राधाकृष्ण-ग्रन्थावली' में संकलित हैं, किन्तु उनकी क रचनाएँ अभी अप्रकाशित हैं। अम्बिकादत्त व्यास की परम्परा में उन्होंने भी रहीम के हों पर कुण्डलियाँ रची हैं। ब्रजभाषा की कविताओं में मधुरता और खड़ीबोली की रचनाओं में वादिकता की ओर उनकी सहज प्रवृत्ति रही है।

अन्य कवि : भारतेन्दु-युग में समसामयिक सामाजिक-राजनीतिक परिवेश के प्रति जागरूकता का उदय हुआ था, उसका निर्वाह उस काल के गौण कवियों में नहीं ता। उनकी रचनाओं में भक्ति-भावना और शृंगार-वर्णन की प्रमुखता रही है। इस में सर्वप्रथम नवनीत चतुर्वेदी (१८६८-१९१९) का नाम आता है। इनकी प्रसिद्ध 'कुब्जा पचीसी' रीति-पद्धति की सरस रचना है। इनके शिष्यों में जगन्नाथदास कर' ने आगे चलकर विशेष ख्याति प्राप्त की। गोविन्द गिल्लाभाई-कृत 'शृंगार सरो-नी', 'पावस पयोनिधि', 'राधामुख षोडसी' और 'षड्ऋतु' भी भक्ति और प्रेम-वर्णन की रचनाएँ हैं जिनमें राधा-कृष्ण के सन्दर्भ में प्रेम, सौन्दर्य और भक्ति का भावन किया है। दिवाकर भट्ट-कृत 'नखशिख' (१८८४) और 'नवोढारत्न' (१८८८) भी रीति-ति की रचनाएँ हैं। रामकृष्ण वर्मा 'बलवीर'-कृत 'बलबीर पचासा', सूर्यपुराधीश राजेश्वरी-र सिंह 'प्यारे'-कृत 'प्यारे प्रमोद', गुलाबसिंह की 'प्रेम सतसई' और राव कृष्णदेवशरण पं' का 'प्रेम-सन्देसा' भी शृंगार रस की कृतियाँ हैं। इनके अनेक छन्दों में नायक-िका की मनोदशाओं का सरस चित्रण हुआ है। शृंगार-परम्परा के कवियों में बेनी द्विज,

हनुमान, ब्रजचन्द्र वल्लभीय और नकछेदी त्रिपाठी का उल्लेख भी आवश्यक है। शृंगे विषयों पर स्फुट छन्द-रचना भी प्रायः इन सभी कवियों ने की है। इस सन्दर्भ में राधाच गोस्वामी के 'नव भक्तमाल', गोविन्द गिल्लाभाई-कृत 'नीति-विनोद' और दुर्गादत्त व्यास 'अधमोद्धार शतक' (रचना=१८७२) का उल्लेख अपेक्षित है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये कवि अभी भक्तिकाल और रीतिकाल के परिवेश में ही जी रहे थे; वैसा ही भाव-विन्यास और उसी ढंग की अभिव्यंजना-शैली! कभी समस्यापूर्तियों में और कभी चार स्फुट छन्दों में नवीन विषयों को ग्रहण करने पर भी ये ब्रजभाषा के परम्परागत वृत्त से ही सन्तुष्ट रहे। सत्य तो यह है कि विषय और भाषा के सम्बन्ध में इस युग के कवियों के पूर्वाग्रह का ही परिणाम यह हुआ कि कालान्तर में काव्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा का स्थान खड़ीबोली ने ले लिया।

मूल्यांकन

भारतेन्दु-युग की मुख्य उपलब्धि यह है कि इसके पूर्व रीतिकाल में जिसे वैयक्तिक शृंगारमयी काव्यधारा पर बल रहा था, उसके स्थान पर कविगण समाज और राष्ट्र के उद्बोधन देनेवाली लोकमंगलकारी दृष्टि की ओर उन्मुख होने लगे थे, जिसकी पूर्ण परिणति आगे चलकर द्विवेदी-युग में लक्षित हुई। वैचारिक धरातल पर इस युग का चिन्तन दो दिशाओं में विभक्त है—कुछ लेखक तो सनतान धर्म, रामकृष्ण मिशन आदि के प्रभाववश अतीत के गुणगान से ही सन्तुष्ट रहे और कुछ ने आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज से प्रभावित होकर तथा पाश्चात्य वाङ्मय से प्रेरणा पाकर देश की राजनीतिक-आर्थिक दासता और बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध जैसी रूढ़िवादी सामाजिक प्रथाओं के विरुद्ध गहरा असन्तोष प्रकट किया। किन्तु, ऐसे लेखकों का स्वर पूर्णतः विद्रोही स्वर नहीं है; उसमें समन्वय पर बल है।

भारतेन्दु-युग पुरातन और नवीन के सन्धि-स्थल पर स्थित है, फलस्वरूप कवियों के विचार-दर्शन में या तो एक प्रकार की उलझन है अथवा समकालीन परिवेश ने उन्हें परस्पर विरोधी दृष्टियाँ अपनाने के लिए विवश किया है। इसीलिए जहाँ उन्होंने रीतिकालीन परम्परा के अन्तर्गत प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् शृंगाररसात्मक काव्य-रचना का अनुमोदन किया है, वहाँ उसकी प्रतिक्रिया में भक्तिकालीन आदर्शवाद की ओर उन्मुख होकर भक्तिकाव्य और नीतिकाव्य की रचना भी की है। इस प्रकार इस काल में तीन काव्य-प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं—प्रवृत्तिमूलक प्रेमकाव्य, दास्य भक्ति और माधुर्य भक्ति से ओतप्रोत रचनाएँ, सुधारवादी जीवन-दृष्टि को बिम्बित करनेवाली कविताएँ। इसी प्रकार वे एक ओर तो राजभक्ति को नहीं छोड़ सके और दूसरी ओर जातीय गौरव की अनुभूति एवं समाज-विकास की आवश्यकता को समझने के कारण देशभक्ति की ओर भी उन्मुख हुए, परिणामस्वरूप यह स्थिति कहीं-कहीं द्वन्द्वात्मक प्रतीत हो सकती है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के दमनकारी शासन के उपरान्त विक्टोरिया की सुधारवादी शासन-नीति उस समय काफ़ी लोकप्रिय थी, अतः शासक-वर्ग की उदारता के गुणगान को राष्ट्रीयता-विरोधी प्रवृत्ति समझना भूल होगी। तीसरी बात यह है कि जहाँ उन्होंने गद्य-रचना के लिए ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली को माध्यम-रूप में अपनाकर युगानुरूप स्वस्थ दृष्टिकोण का परिचय दिया और परिणामस्वरूप जहाँ वे नवीन विषयों की ओर भी अनायास प्रवृत्त हुए, वहाँ कविता के लिए उन्हें प्रायः ब्रजभाषा ही उपयुक्त प्रतीत हुई। गद्य और पद्य की इस विभेदक रचना-दृष्टि का यह परिणाम हुआ कि अपने काव्य में वे नवीन विषयों को स्वतन्त्र रूप में नहीं अपना सके।

इस युग की कविता का बहुल अंश वस्तुनिष्ठता, बुद्धिवादिता, वर्णनात्मकता और इतिवृत्तात्मकता से युक्त है, किन्तु कुछ कवियों में सौन्दर्यवादी जीवन-दृष्टि का उन्मेष भी मिलता है। श्रीधर पाठक और जगन्मोहनसिंह की कविताएँ इस सन्दर्भ में विशेषतः उल्लेखनीय हैं। सौन्दर्य-चित्रण के रीतिकालीन स्वरूप की एकांगिता का तत्त्व-बोध इस युग के साहित्यकार को भलीभाँति हो चुका था, फलस्वरूप कवियों ने शृंगार और भक्ति के रोमानी परिवेश में ही न रहकर मानव को सर्वांगीण रूप में देखने का यत्न किया; यह दूसरी बात है कि इसकी सही परिणति विकास के विभिन्न चरणों से होकर वर्तमान युग में ही हो पायी। किन्तु, यही बात इस युग के गद्य-साहित्य के विषय में नहीं कही जा सकती। अपने कृतित्व को मानवता के बृहत्तर आयाम के साथ जोड़ने की दिशा में कवियों की अपेक्षा गद्यकार अधिक सक्रिय रहे हैं। अन्त में यह कहना समीचीन होगा कि भारतेन्दु-युग के कवियों की सबसे बड़ी विशेषता प्राचीन और नवीन का समन्वय करने में है।[1] वर्ण्य विषयों के सन्दर्भ में जो इस कोटि का प्रयास प्रायः सर्वत्र ही लक्षित होता है, अभिव्यंजना-पक्ष में भी उन्होंने अधिकतर व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया है।

गद्य-साहित्य

भारतेन्दु-युग हिन्दी-गद्य के बहुमुखी विकास का युग है। इसके पूर्व जिन गद्य-लेखकों—राजा लक्ष्मणसिंह (१८२६-१८९६), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८२३-१८९५), नवीनचन्द्र राय (१८३७-१८९०) और श्रद्धाराम फुल्लौरी—का उल्लेख इतिहास-ग्रन्थों में किया गया है, उनकी कृतियों का साहित्यिक महत्त्व नहीं के बराबर है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने छात्रों के लिए पाठ्यपुस्तकें तैयार कीं, नवीनचन्द्र राय के साहित्य की मूल प्रेरणा धार्मिक है और श्रद्धाराम फुल्लौरी भी धार्मिक व्यक्ति थे। राजा लक्ष्मणसिंह का 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अनुवाद (१८६३) अवश्य एक उत्तम अनुवाद-कृति है, किन्तु इसका प्रचार इसकी शुद्ध भाषा-नीति के कारण ही हुआ। वस्तुतः उपर्युक्त लेखकों का महत्त्व खड़ी-बोली-गद्य के स्वरूप-विकास के क्रम में अदा की गयी भूमिकाओं के कारण है।[2] इस युग में मुख्य संघर्ष हिन्दी की स्वीकृति और प्रतिष्ठा को लेकर था—फ़ारसी के स्थान पर हिन्दी को प्रतिष्ठा दिलाने के लिए किये गये प्रयत्न ही जागरण के आधार बने। इस युग के दो प्रसिद्ध लेखकों—राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह—ने हिन्दी के स्वरूप-निर्धारण के प्रश्न पर दो सीमान्तों का अनुगमन किया। राजा लक्ष्मणसिंह ने विशुद्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का समर्थन किया और राजा शिवप्रसाद ने हिन्दी का गँवारूपन दूर करते-करते उसे उर्दू-ए-

---

[1] इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन द्रष्टव्य है :

"उस सन्धि काल के कवियों में ध्यान देने की बात यह है कि वे प्राचीन और नवीन का योग इस ढंग से करते थे कि कहीं से जोड़ नहीं जान पड़ता था, उनके हाथों में पड़कर नवीन भी प्राचीनता का ही एक विकसित रूप जान पड़ता था।" (प्रेमघन-सर्वस्व, प्रथम भाग, परिचय, पृष्ठ ६)

[2] इन लेखकों के अतिरिक्त भारतेन्दु-पूर्व काल में रतनलाल, ओंकार भट्ट, दयाशंकर, मुंशी कालीराय, कुंजबिहारीलाल, लक्ष्मीशंकर मिश्र आदि ने इतिहास, भूगोल, व्याकरण, विज्ञान, हिन्दू संस्कृति आदि विषयों पर अनेक मौलिक अथवा अनूदित पाठ्यपुस्तकों को रचना की थी और 'बाइबिल' के बाउले, चेम्बरलेन आदि के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं; किन्तु गद्य-शैलीके स्वरूप-निर्माण में इनकी कोई विशेष भूमिका स्वीकार नहीं की जा सकती।—सम्पादक

मुअल्ला बना दिया। इन दोनों के बीच सर्वमान्य हिन्दी-गद्य की प्रतिष्ठा कर की विविधि विधाओं के विकास का ऐतिहासिक कार्य भारतेन्दु-युग में पूरा हुआ।

भारतेन्दु-युग में अर्थात् उन्नीसवीं शती के अन्तिम चरण में पूरे देश में जागरण की लहर दौड़ चुकी थी। सामान्तीय सामाजिक ढाँचा टूट चुका था। के विकास की गति चाहे जितनी धीमी रही हो और उसके उद्देश्य चाहे जितने हों, उसका व्यापक प्रभाव देश के शिक्षित समाज पर पड़ रहा था। देश में मध्य वर्ग तैयार हो गया था जो अत्यधिक संवेदनशील था। यह वर्ग व्यापक सामाजिक हितों की दृष्टि से सोचने लगा था और यह अनुभव करने लगा था दृष्टियों से हमारा देश अत्यन्त हीनावस्था में है; जीवन के सभी क्षेत्रों—सामाजिक, अर्थिक, राजनीतिक—में परिवर्तन और सुधार की आवश्यकता है। भारतेन्दु शील चेतना के प्रतिनिधि थे। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से ठीक समय पर नेतृत्व प्रदान किया और अपने निबन्धों, नाटकों तथा भाषणों में जागरण का सन्देश उनके सहयोगियों और समर्थकों ने उनके द्वारा प्रशस्त पथ पर चलकर हिन्दी की की, वह अविस्मरणीय है। भारतेन्दुकालीन साहित्य सांस्कृतिक जागरण का साहित्य युग में रचित गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा—नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना के समीक्षात्मक परिचय से विशेषतः इस सांस्कृतिक जागरण का स्वरूप ही स्पष्ट होता

नाटक

हिन्दी-नाटकों का आरम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से ही स्वीकार किया जाता इसके पूर्व जिन नाट्य-कृतियों—प्राणचन्द चौहान-कृत 'रामायण महानाटक' लछिराम-कृत 'करुणाभरण' (१६५७), नेवाज-कृत 'शकुन्तला' (१६८०), महाराज नाथसिंह-कृत 'आनन्द रघुनन्दन' (अनुमानतः १७०० ई०), रघुराय नागर-कृत (१७००), उदय-कृत 'रामकरुणाकर' एवं 'हनुमान नाटक' (१८४०)—का उल्लेख है, वे वस्तुतः नाटक नहीं हैं। ये पद्यात्मक प्रबन्ध हैं, जिनमें काव्य-गुणों का भी इनमें 'आनन्द रघुनन्दन' ही ऐसी रचना है जिसमें शास्त्रीय नियमों के अनुसार विष्कम्भक भरतवाक्य आदि का प्रयोग किया गया है और रंग-निर्देश (संस्कृत भाषा दिये गये हैं। इसलिए विद्वानों ने इसे हिन्दी का प्रथम नाटक माना है, किन्तु इसमें दृष्टि से अनेक दोष हैं। उदाहरणार्थ पात्रों के लोकप्रचलित नामों को बदलकर दुर्बोध दिया गया है; काल-दोष का ध्यान न रखकर अँगरेज़ी, फ़ारसी, बँगला, मैथिली आदि भाषाओं का प्रयोग किया गया है और कथानक भी शिथिल है। सब मिलाकर यह सुरुचिपूर्ण है और न ही अभिनेय। अन्य पूर्ववर्ती कृतियों में अमानत-कृत 'इन्दर (१८५३) को भी गीतिनाट्य (ऑपेरा) होने पर भी हिन्दी के साहित्यिक परम्परा में नहीं जोड़ा जा सकता। यह नवाब की महफ़िल की नाटकीय योजना-मात्र न इसमें कथा-तत्त्व है, न ही चरित्र-विकास। इसके गाने अत्यन्त हीन स्तर के व्यक्तियों प्रभावित कर सकते हैं। भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र गिरिधरदास-कृत 'नहुष' भी 'विशुद्ध नाटक रीति' से भले लिखा गया हो, वह अन्य ब्रजभाषा-नाटकों से बहुत नहीं है। गणेश कवि का 'प्रद्युम्न विजय' नाटक (१८६३) एक तो समग्र रूप में पद्य दूसरे यह किसी संस्कृत-नाटक का अनुवाद प्रतीत होता है। शीतलाप्रसाद त्रिपाठी का मंगल' (१८६८) नाटक अवश्य अभिनय के लिए रचा गया था। यह नाट्यगुणों से

और इसकी भाषा परिमार्जित खड़ीबोली है। किन्तु, इस समय तक भारतेन्दु का उदय हो चुका था और उनका 'विद्यासुन्दर' नाटक प्रकाशित हो गया था। वस्तुतः गोस्वामी तुलसीदास द्वारा प्रवर्तित रामलीला की लोकप्रियता के साथ लीला-नाटकों की जो परम्परा आरम्भ हुई, उसका श्रेष्ठ रूप 'जानकी मंगल' नाटक है। इसके अभिनय में भारतेन्दु ने भी भाग लिया था। इसकी विषय-वस्तु 'रामचरितमानस' पर आधृत राम-कथा ही है, किन्तु ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली के प्रयोग तथा सभी प्रकार के आवश्यक रंग-निर्देश के कारण यह नाटक भारतेन्दु द्वारा प्रवर्तित साहित्यिक नाटकों की परम्परा से जुड़ जाता है।

आलोच्य युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हैं। उन्होंने अनूदित और मौलिक सब मिलाकर सत्रह नाटकों की रचना की, जिनकी सूची इस प्रकार है : १ विद्यासुन्दर (१८६८, संस्कृत 'चौरपंचाशिका' के बँगला-संस्करण का हिन्दी-रूपान्तर), २ रत्नावली (१८६८, संस्कृत से अनुवाद), ३. पाखण्ड विडम्बन (१८७२, कृष्ण मिश्र-कृत 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद), ४ धनंजय विजय (१८७३, कांचन कवि-कृत संस्कृत-नाटक के रे अंक का अनुवाद), ५. कर्पूरमंजरी (१८७५, सट्टक, कांचन कवि-कृत संस्कृत-नाटक का अनुवाद), ६. भारत जननी (१८७७, नाट्यगीत), ७. मुद्राराक्षस (१८७८, विशाखदत्त के संस्कृत-नाटक का अनुवाद), ८. दुर्लभ बन्धु (१८८०, शेक्सपियर के 'मरचेंट ऑफ़ वेनिस' का अनुवाद), ९. वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति (१८७३, प्रहसन), १०. सत्य हरिश्चन्द्र (१८७५), ११. श्री चन्द्रावली (१८७६, नाटिका), १२. विषस्य विषमौषधम् (१८७६, भाण), १३. भारत दुर्दशा (१८८०, नाट्यरासक), १४. नीलदेवी (१८८१, गीतिरूपक), १५. अन्धेर नगरी (१८८१, प्रहसन), १६. सती प्रताप (१८८३, गीतिरूपक), १७. प्रेम-जोगिनी (१८७५, नाटिका)।

भारतेन्दु-काल में रचित नाटकों को विषय एवं प्रवृत्ति-भेद के आधार पर पौराणिक, ऐतिहासिक, रोमानी, सामयिक उपदानों के आधार पर रचित, प्रहसन और प्रतीकवादी—इन वर्गों में रखा जा सकता है। स्वयं भारतेन्दु ने उपर्युक्त सभी वर्गों के नाटकों की रचना की है। सर्वाधिक संख्या पौराणिक नाटकों की है, जिनके विषय-भेद से तीन वर्ग किये जा सकते हैं—१. कृष्ण एवं उनके परिवार के व्यक्तियों के चरित्र पर आधृत नाटक, २. राम एवं उनसे सम्बन्धित पात्रों के चरित्र पर आधृत नाटक, ३. अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटक। कृष्ण-चरित्र सम्बन्धी नाटकों में भारतेन्दु-कृत 'चन्द्रावली', अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'ललिता' (१८८४), हरिहरदत्त दूबे-कृत 'महारास' (१८८४), खड्गबहादुर मल्ल-कृत रास' (१८८५) और 'कल्पवृक्ष' (१८८६) तथा सूर्यनारायण सिंह-कृत 'श्यामानुराग नाटिका' (१८९९) उल्लेखनीय हैं। कृष्ण-परिवार के व्यक्तियों के चरित्र से सम्बन्धित नाटकों में चन्द्र शर्मा-कृत 'उषाहरण' (१८८७), कार्तिकप्रसाद खत्री-कृत 'उषाहरण' (१८९२) और अयोध्यासिंह उपाध्याय-कृत 'प्रद्युम्न विजय' (१८९३) तथा 'रुक्मिणी परिणय' (१८९४) महत्त्वपूर्ण हैं। रामचरित्र सम्बन्धी नाटकों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'सीताहरण' (१८७६) और रामलीला' (१८७९), शीतलाप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'रामचरितावली' (१८८७), ज्वाला-प्रसाद मिश्र-कृत 'सीता वनवास' (१८९५) और द्विजदास-कृत 'रामचरित्र नाटक' (१८९१) उल्लेखनीय हैं। अन्य पौराणिक आख्यानों पर आधृत नाटकों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र-कृत 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'सती प्रताप'; गजराजसिंह-कृत 'द्रौपदी हरण' (१८८५), श्रीनिवासदास-कृत 'प्रह्लाद चरित्र' (१८८८), बालकृष्ण भट्ट-कृत 'नल-दमयन्ती स्वयंवर' (१८९५) और शालिग्राम लाल-कृत 'अभिमन्यु' (१८९६) उल्लेखनीय हैं। पौराणिक नाटकों की ही परम्परा

में वे नाटक भी रखे जा सकते हैं जो ऐसे सन्तों और भक्तों के चरित्रों को आधा लिखे गये हैं, जिनकी प्रतिष्ठा लोकमानस में पौराणिक व्यक्तियों-जैसी हो गयी है परम्परा में गोपीचन्द, मोरध्वज और भर्तृहरि सम्बन्धी नाटक अधिक लिखे गये।

आलोच्य युग के ऐतिहासिक नाटकों में भारतेन्दु-कृत 'नीलदेवी', श्रीनिवास 'संयोगिता स्वयंवर' (१८८६), राधाचरण गोस्वामी-कृत 'अमरसिंह राठौर' (१८ राधाकृष्णदास-कृत 'महाराणा प्रताप' (१८९८) महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सबसे अधिक 'महाराणा प्रताप' को प्राप्त हुई। सम्भवतः आलोच्य युग में रचित यही एक नाटक ऐतिहासिक नाटकों में स्थान दिया जा सकता है।

प्रेमप्रधान रोमानी नाटकों में श्रीनिवासदास-कृत 'रणधीर प्रेममोहिनी' (और 'तप्ता संवरण' (१८८३), खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'रति कुसुमायुध' (किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'प्रणयिनी परिणय' (१८९०) और 'मयंक मंजरी' (शालिग्राम शुक्ल-कृत 'लावण्यवती सुदर्शन' (१८९२) तथा गोकुलनाथ शर्मा-कृत (१८९९) उल्लेखनीय हैं। इनमें 'रणधीर प्रेममोहिनी' हिन्दी का पहला दुःखान्त ना और इसी को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

सामयिक उपादानों को लेकर लिखे गये नाटकों में भारतेन्दु-कृत 'भारत-दुर्दशा' कृष्ण भट्ट-कृत 'नई रोशनी का विष' (१८८४), खड्गबहादुर मल्ल-कृत 'भारत आरत' (अम्बिकादत्त व्यास-कृत 'भारत-सौभाग्य' (१८८७), राधाकृष्णदास-कृत 'दुःखिनी (१८८०), गोपालराम गहमरी-कृत 'देश-दशा' (१८९२), काशीनाथ खत्री-कृत 'विधवा और देवकीनन्दन त्रिपाठी-कृत 'भारत-हरण' (१८९९) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों की तत्कालीन दुर्दशा का चित्र खींचा गया है और समाज की समस्याओं को प्रस्तु उनके मूल में काम करनेवाली बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा दी गयी है।

आलोच्य युग में अनेक सफल प्रहसनों की भी रचना की गयी। भारते 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' और 'अन्धेर नगरी', बालकृष्ण भट्ट-कृत 'जैसा का परिणाम' (१८७७) और 'आचार विडम्बन' (१८९९), विजयानन्द त्रिपाठी-कृत अन्धेर नगरी' (१८९३), प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'कलिकौतुक रूपक' (१८८ राधाचरण गोस्वामी-कृत 'बूढ़े मुँह मुँहासे' (१८८६) उल्लेखनीय प्रहसन हैं। इनमें व्यंग्यपूर्ण शैली में धार्मिक पाखण्डों का खण्डन हुआ है और सामाजिक कुरीतियों पर किये गये हैं।

प्रतीकवादी नाटकों की रचना इस काल में अधिक नहीं हुई। कमलाचरण मि 'अद्भुत नाटक' (१८८५), रतनचन्द-कृत 'न्याय सभा' (१८९२) और शंकरा 'विज्ञान' (१८९७) इस दिशा में एकमात्र उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन नाटकों में मनोवृत्तियों को ही पात्रों का रूप दिया गया है।

वस्तुतः भारतेन्दु-काल में नाटकों की रचना का मूल उद्देश्य मनोरंजन के जन-मानस को जाग्रत करना और उसमें आत्मविश्वास उत्पन्न करना था। फलस्वरूप सत्य, न्याय, त्याग उदारता आदि मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने, संस्कृति के प्रति प्रेम जगाने, अनुकरणीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक चरित्रों के प्रति को आकृष्ट करने और नवीनता की आँधी से समाज को सुरक्षित रखते हुए उसका एव परिष्कार करने पर अधिक बल दिया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से भारतेन्दुकालीन

नाट्यशास्त्र की मर्यादा की रक्षा करते हुए, युग और परिस्थिति के अनुसार उसमें छूट लेकर, लिखे गये हैं। साथ ही पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के प्रभाव से भी वे अछूते नहीं पाश्चात्य ट्रैजेडी की पद्धति पर दुःखान्त नाटक लिखने की परम्परा का श्रीगणेश स्वयं न्दु ने ही किया था। इस समय तक पारसी थियेट्रिकल कम्पनियाँ स्थापित हो चुकी इनका उद्देश्य व्यावसायिक था, फलस्वरूप इनमें अत्यन्त हीन रुचि के दृश्यों तथा नाच-की योजना की जाती थी। भारतेन्दु ने इनका प्रबल विरोध किया और सांस्कृतिक, क एवं उद्देश्यपूर्ण नाटकों को महत्त्व दिया। उनके बाद हिन्दी में साहित्यिक नाटकों म्परा कुछ दब गयी और द्विवेदी-युग में पारसी कम्पनियों की परम्परा के नाटक जनता लोकप्रिय हुए। स्पष्ट है कि उस समय तक हिन्दी-प्रदेश की सामान्य जनता का स्तर पर्याप्त नीचा था। क्रमशः उच्च शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ जनरुचि में हुआ। दूसरी ओर थियेटर कम्पनियों का स्थान चित्रपट ने ले लिया। पारसी ों के लिए लिखे जानेवाले नाटकों की परम्परा समाप्त हुई और प्रसाद जी के नाटकों में साहित्यिक नाटकों का द्वितीय उत्थान आरम्भ हुआ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में भारतेन्दुयुगीन साहित्यकारों [illegible] अनूदित नाटकों पर विचार कर उचित होगा। ये अनुवाद अथवा रूपान्तरण मुख्यतः संस्कृत, बँगला और अँगरेज़ी से किये गये। इस दिशा में स्वयं भारतेन्दु ने मार्ग-दर्शन किया। अनुवादों से न नाटक-साहित्य को नवीन दृष्टि प्राप्त हुई, वरन् हिन्दी-साहित्यकारों के रचना-संस्कार स्तृत आयाम भी प्राप्त हुआ। संस्कृत भाषा से भवभूति और कालिदास के नाटकों के धिक हुए। सन् १८६२ में राजा लक्ष्मणसिंह ने 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का अनुवाद हिन्दी-प्रेमियों का ध्यान आकृष्ट किया था। भारतेन्दु द्वारा अनूदित नाटकों का उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त होनेवाले प्रमुख अनुवादों की तालिका (मूल कार, नाटक, अनुवादक) नीचे उद्धृत की जाती है :

भवभूति : १. उत्तररामचरित—देवदत्त तिवारी (१८७१), नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (१८८६), लाला सीताराम (१८९७); २. मालतीमाधव—लाला शालिग्राम (१८८१), लाला सीताराम (१८९८); ३. महावीरचरित—लाला सीताराम (१८९७)।

कालिदास : १. अभिज्ञानशाकुन्तल—नन्दलाल विश्वनाथ दूबे (१८८८); २. मालविकाग्निमित्र—लाला सीताराम (१८९८)।

कृष्णमिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय—शीतलाप्रसाद (१८७९), अयोध्याप्रसाद चौधरी (१८८५)।

शूद्रक : मृच्छकटिक—गदाधर भट्ट (१८८०), लाला सीताराम (१८९९)।

हर्ष : रत्नावली—देवदत्त तिवारी (१८७२), बालमुकुन्द सिंह (१८९८)।

भट्ट नारायण : वेणीसंहार—ज्वालाप्रसाद सिंह (१८९७)।

उपर्युक्त तालिका से प्रकट है कि संस्कृत-नाटकों के अनुवाद की ओर सबसे अधिक ला सीताराम ने दिखायी थी। बँगला से सर्वाधिक अनुवाद माइकेल मधुसूदन के हुए। कुछ महत्त्वपूर्ण अनूदित नाटकों की तालिका नीचे दी जाती है :

माइकेल मधुसूदन : पद्मावती—बालकृष्ण भट्ट (१८७८); २. शर्मिष्ठा—रामचरण शुक्ल (१८८०); ३. कृष्णमुरारी—रामकृष्ण वर्मा (१८९९)।

मनमोहन वसु : सती—उदितनारायण लाल (१८८०)।
राजकिशोर दे : पद्मावती—रामकृष्ण वर्मा (१८८८)।
द्वारिकानाथ गांगुली : वीर नारी—रामकृष्ण वर्मा (१८९९)।

इस युग में बँगला से हिन्दी में अनुवाद करनेवालों में रामकृष्ण वर्मा का ना रूप से उल्लेखनीय है। अँगरेज़ी से सर्वाधिक अनुवाद शेक्सपियर के नाटकों के हुए। कम्पनियाँ शेक्सपियर के नाटकों का उर्दू-रूपान्तर करके उनका अभिनय प्रस्तुत क जिससे इन नाटकों के प्रचार-प्रसार में वृद्धि हुई। शेक्सपियर के कुछ प्रमुख अनूदित ना हैं : १. मरचेंट ऑफ़ वेनिस (वेनिस का व्यापारी—आर्या, १८८८); २. द कॉमे एरर्स (भ्रमजालक—मुंशी इमदाद अली); भूलभुलैया—लाला सीताराम (१८८५), यू लाइक इट (मनभावन—पुरोहित गोपीनाथ, १८९६), ४. रोमियो जूलियट (प्रेम पुरोहित गोपीनाथ, १८९७), ५. मैकबेथ (साहसेन्द्र साहस—मथुराप्रसाद उपाध्याय, १८ शेक्सपियर के नाटकों के इन अनुवादों के अतिरिक्त बाबू तोताराम ने जोजेफ़ एडी नाटक 'केटो' का अनुवाद 'कृतान्त' (१८७९) शीर्षक से किया था। इन अनुवादों का अँगरेज़ी भाषा की आत्मा को हिन्दी में अवतरित करने की दृष्टि से चाहे न हो, किन्तु नाटकों को नयी दिशा देने की दृष्टि से ये अवश्य मान्य होने चाहिएँ। अँगरेज़ी-नाटकों के में आने का ही परिणाम था कि लाला श्रीनिवासदास ने 'रणधीर और प्रेममोहिनी' दुःखान्त नाटक की रचना की। इसके सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लि "रणधीर और प्रेममोहिनी नाम ही 'रोमियो ऐंड जूलियट' की ओर ध्यान ले जाता यह संस्कार-संक्रमण का महत्त्वपूर्ण कार्य संस्कृत, बँगला और अँगरेज़ी-अनुवादों के द्वा हुआ।

उपन्यास

भारतेन्दु-युग में लेखकों को उपन्यास-रचना की प्रेरणा बँगला और अँगरे उपन्यासों से प्राप्त हुई। अँगरेज़ी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास लाला श्रीनिवासदा 'परीक्षागुरु' (१८८२) माना जाता है। इसके पूर्व श्रद्धाराम फुल्लौरी ने 'भाग्यवती' (१ शीर्षक लघु सामाजिक उपन्यास लिखा था। 'भाग्यवती' की रचना के पूर्व बँगला में सा और ऐतिहासिक दोनों ही प्रकार के अच्छे उपन्यास प्रकाशित हो चुके थे। हिन्दी में उपन्यासों की रचना आरम्भ होने के पूर्व बँगला-उपन्यासों के अनुवादों को लोकप्रियता चुकी थी। हिन्दी के भारतेन्दुयुगीन मौलिक उपन्यासों पर संस्कृत के कथा-साहित्य परवर्ती नाटक-साहित्य के प्रभाव के साथ ही बँगला-उपन्यासों की छाप भी लक्षित सकती है। इस युग के उपन्यासकारों में लाला श्रीनिवासदास (१८५१-१८८७), कि लाल गोस्वामी (१८६५-१९३२), बालकृष्ण भट्ट (१८४४-१९१४), ठाकुर जगन्मोह (१८५७-१८९९), राधाकृष्णदास (१८६५-१९०७), लज्जाराम शर्मा (१८६३-१९ देवकीनन्दन खत्री (१८६१-१९१३) और गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६) नीय हैं।

भारतेन्दु-काल में सामाजिक, ऐतिहासिक, तिलस्मी-ऐयारी, जासूसी तथा उपन्यासों की रचना-परम्परा का सूत्रपात हुआ। यह परम्परा आगे चलकर द्विवेदी- अधिक विकसित और पुष्ट हुई। आलोच्य युग के सामाजिक उपन्यासों में 'भाग्यवती' 'परीक्षागुरु' के अतिरिक्त बालकृष्ण भट्ट-कृत 'रहस्यकथा' (१८७९), 'नूतन ब्रह्मचारी' (१

सौ अजान एक सुजान' (१८९२); राधाकृष्णदास-कृत 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०); राम शर्मा-कृत 'धूर्त रसिकलाल' (१८९०) और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' ८९९) तथा किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'त्रिवेणी वा सौभाग्यश्रेणी' (१८९०) विशेष रूप लेखनीय हैं। इन सभी उपन्यासों का लक्ष्य समाज की कुरीतियों को सामने लाकर विरोध करना और आदर्श परिवार एवं समाज की रचना का सन्देश देना है। ये सभी सोद्देश्य लिखे गयें हैं और लेखकों ने प्रायः प्रारम्भ में ही अपना उद्देश्य स्पष्ट कर है। सामाजिक उपन्यासों की तुलना में आलोच्य युग में ऐतिहासिक उपन्यास बहुत कम गये। इस क्षेत्र में किशोरीलाल गोस्वामी का नाम ही उल्लेख-योग्य है, किन्तु उनके वता' (१८९०) उपन्यास को ऐतिहासिक उपन्यास की मर्यादा देना उचित नहीं है। इस युग में ऐतिहासिक उपन्यासों की आकांक्षा की पूर्ति बंकिम के ऐतिहासिक उपके अनुवादों से हुई।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों में देवकीनन्दन खत्री-कृत 'चन्द्रकान्ता' (१८८२), 'चन्द्र-सन्तति' (चौबीस भाग, १८९६), 'नरेन्द्र मोहिनी' (१८९३), 'वीरेन्द्र वीर' (१८९५) कुसुमकुमारी' (१८९९) तथा हरेकृष्ण जौहर-कृत 'कुसुमलता' (१८९९) उल्लेखनीय तिलस्मी-ऐयारी उपन्यास सामान्य जनता में खूब लोकप्रिय हुए थे। इनसे रहस्य-रोमांच-कल्पना को पुष्टि मिलती थी। प्रायः कोई सुन्दरी राजकुमारी किसी रहस्यमयी इमारत में क़ैद हो जाती थी। उसका प्रेमी राजकुमार अपने हरफ़न मौला ऐयार कुशलता से तिलस्म तोड़कर उसका उद्धार करता था। तिलस्मी उपन्यासों में 'चन्द्रकान्ता की ऐसी धूम मची कि इसको पढ़ने के लिए न जाने कितने उर्दूजीवी लोगों ने हिन्दी । इस युग के जासूसी उपन्यासों में गोपालराम गहमरी-कृत 'अद्भुत लाश' (१८९६) गुप्तचर' (१८९९) उल्लेखनीय हैं। गहमरी जी ने भारतेन्दु-युग के अन्तिम चरण में आरम्भ किया और लगभग २०० जासूसी उपन्यास लिखे, किन्तु उनके बहुसंख्यक उप-द्विवेदी-युग की सीमा में लिखे गये हैं। जासूसी उपन्यासों में भी घटनाएँ रहस्य-रंजित थीं, किन्तु उन्हें अधिक-से-अधिक विश्वसनीय बनाने की चेष्टा की जाती थी। रोमानी सों में ठाकुर जगन्मोहनसिंह का 'श्यामा स्वप्न' (१८८८) उल्लेखनीय है। इसमें श्यामा कुमारी) और श्यामसुन्दर (क्षत्रिय कुमार) की प्रेमकथा का स्वच्छन्द शैली में चित्रण है।

उपर्युक्त उपन्यासों में सबसे महत्त्वपूर्ण एवं सशक्त धारा उन सामाजिक उपन्यासों की जिसका श्रीगणेश 'परीक्षागुरु' से हुआ था। अन्य उपन्यासों का महत्व इतना ही है कि उनसे जनता में हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ी। इस युग के सर्वप्रधान उपन्यास-लेखक किशोरी गोस्वामी माने गये हैं। गोस्वामी जी ने मानवीय प्रेम के विविध पक्षों के उद्घाटन में शक्ति का अपव्यय किया। वस्तुतः जीवन के यथार्थ को कला में ढालनेवाले उप-की रचना का वातावरण अभी नहीं बन पाया था। इस शैली का आरम्भ आगे चलकर युग में हुआ।

आलोच्य युग में बँगला और अँगरेज़ी से उपन्यासों के अनुवाद की ओर भी यथेष्ट दिया गया। सर्वाधिक अनुवाद बँगला भाषा से किये गये। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध साहित्य में बंकिमचन्द्र चटर्जी (१८३८-१८९४), रमेशचन्द्र दत्त (१८४८-१९०९), गांगुली (१८४५-१८९१) और दामोदर मुकर्जी (१८५३-१९०७) के उपन्यास लोकप्रिय हुए थे। अतः हिन्दी में भी प्रायः इन्हीं के उपन्यास अनूदित हुए। प्रमुख अनू-

दित उपन्यासों की तालिका निम्नांकित है।

रमेशचन्द्र दत्त : बंग विजेता—गदाधरसिंह (१८८६)।
बंकिमचन्द्र : दुर्गेशनन्दिनी—गदाधरसिंह (१८८२); राजसिंह, इन्दिरा,
रानी, युगलांगुरीय—प्रतापनारायण मिश्र।
दामोदर मुकर्जी : मृण्मयी—राधाचरण गोस्वामी।
स्वर्ण कुमारी : दीप निर्वाण—मुंशी हरितनारायण लाल।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त रामकृष्ण वर्मा ने 'चित्तौर चातकी' (
कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'इला' (१८९५), 'प्रमीला' (१८९६), 'जया' तथा 'मधुमालती'
गोपालराम गहमरी ने 'चतुर चंचला' (१८९३), 'भानमती' (१८९४) और
(१८९५) शीर्षक अनूदित उपन्यासों की रचना की, किन्तु इन कृतियों के बँगला
के नाम उल्लिखित नहीं हैं। गहमरी जी ने प्रायः भावानुवाद की पद्धति अपनायी है।
उपन्यास और नाटक इन दोनों क्षेत्रों में बँगला-साहित्य की श्रेष्ठता तत्कालीन हिन्दी
मान्य थी और वे हिन्दी-साहित्य के उत्थान के लिए बँगला-साहित्य का सहारा
वश्यक समझते थे। इस सन्दर्भ में बालकृष्ण भट्ट और माधवप्रसाद मिश्र के कथन
द्रष्टव्य हैं :

(अ) "बंगभाषा में 'दुर्गेशनन्दिनी' प्रभृति शतशः उपन्यास एक-से-एक बढ़
हैं। बंगदेशी जैसे और-और बातों में उत्साह और तरक्की के ओर-छोर तक पहुँचे हैं
नाटक और उपन्यास लिखने में किसी से कम नहीं हैं।"[1]

(आ) "जो हो रिक्तहस्ता हिन्दी ने बँगला के सद्यःपूर्ण भण्डार से केवल
शब्द को ही ग्रहण नहीं किया वरंच इसका बहुत-सा उपकरण भी इस लघीयसी को
यसी से मिला है।"

यह निर्विवाद है कि बँगला-उपन्यासों से हिन्दी-लेखकों को रचना-संस्कार के
राष्ट्रीय जागरण का आलोक भी प्राप्त हुआ। अन्य भाषाओं में अँगरेजी, मराठी और
से भी कुछ स्फुट अनुवाद हुए। अँगरेज़ी के किसी गम्भीर उपन्यास के अनुवाद की सूचना
मिलती। पुरोहित गोपीनाथ ने 'वीरेन्द्र' (१८९६) शीर्षक से एक वीररसयुक्त,
श्रृंगाररस-प्रधान उपन्यास को किसी अँगरेजी-उपन्यास के छायानुवाद के रूप में प्रस्तुत
इसी प्रकार गोपालराम गहमरी ने 'किसी विलायती कहानी का निचोड़' लेकर
(१८९९) शीर्षक उपन्यास लिखा। मराठी से 'पूर्णप्रकाश चन्द्रप्रभा' नामक उपन्यास
अनुवाद स्वयं भारतेन्दु ने किया था। उर्दू से अनूदित उपन्यासों में रामकृष्ण वर्मा-कृत
दर्पण' (१८८५), 'अमला वृत्तान्तमाला' (१८८४), 'ठग वृत्तान्तमाला' (१८८९)
'पुलिस वृत्तान्तमाला' (१८९०) उल्लेखनीय हैं। इन अनुवादों से तत्कालीन पाठकों के
हल एवं रहस्य-वृत्ति की तुष्टि हुई।

कहानी

आलोच्य युग में आधुनिक कलात्मक कहानी का आरम्भ नहीं हुआ था।
के नाम पर जो प्रकाशित संग्रह प्राप्त हुए हैं—जैसे मुंशी नवलकिशोर द्वारा सम्पादित
कहानी' (१८८०) में संकलित एक सौ कहानियाँ, अम्बिकादत्त व्यास-कृत

---

[1] हिन्दी-प्रदीप, जनवरी १८८२

ंका' (१८८८), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द-कृत 'वामा मनोरंजन' (१८८६) और प्रसाद सिंह-कृत 'हास्य रतन' (१८८६)—वे लोक-प्रचलित तथा इतिहास-पुराण-कथित नीति या हास्य-प्रधान कथाएँ हैं जिन्हें तत्कालीन लेखकों ने स्वयं लिखकर या लिखवा-कर सम्पादन करके प्रकाशित करा दिया। कहानी के नाम पर जिन स्वप्न-कथाओं का उल्लेख किया गया है, वे वस्तुतः कथात्मक निबन्ध हैं। इनका आरम्भ कथात्मक पद्धति पर हुआ है, किन्तु आगे चलकर अवसर मिलते ही तत्कालीन समाज की विकृतियों का वर्णन आरम्भ हो गया है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और बालकृष्ण भट्ट की स्वप्न-कथाएँ कहानी और निबन्ध के बीच की रचनाएँ हैं। कहानियों के अभाव में तत्कालीन पाठक लघु उपन्यासों, मध्यकालीन कथाओं के गद्यात्मक रूपान्तरों, 'बैताल पच्चीसी' और 'सिंहासन बत्तीसी' की कहानियों, त्मक लोककथाओं और इन्हीं स्वप्न-कथाओं से अपनी मानसिक तुष्टि कर लेता था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है : "अँगरेज़ी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी-छोटी आख्यायिकाएँ या कहानियाँ निकला करती हैं वैसी कहानियों की रचना 'गल्प' के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थी। ये कहानियाँ जीवन के बड़े मार्मिक और भावव्यंजक खण्ड-चित्रों के रूप में होती थीं। द्वितीय उत्थान की सारी प्रवृत्तियों का आभास लेकर प्रकट होनेवाली 'सरस्वती' पत्रिका में इस प्रकार की छोटी कहानियों के दर्शन होने लगे।" तात्पर्य यह कि 'सरस्वती' के प्रकाशन के पूर्व आधुनिक कलात्मक हिन्दी-कहानियों का अस्तित्व नहीं था।

निबन्ध

भारतेन्दु-युग में सबसे अधिक सफलता निबन्ध-लेखन में प्राप्त हुई। निबन्धों का स्वरूप पत्र-पत्रिकाओं से सीधे जुड़ा हुआ था। लेखकों के सामने अनन्त विषय थे। राजनीति, समाज-सुधार, धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा, अतीत का गौरव, महापुरुषों की जीवनियाँ आदि विषयों पर विचार प्रकट करते हुए भारतेन्दु-युग के लेखकों ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध-साहित्य को खूब समृद्ध किया। वस्तुतः अन्य गद्य-विधाओं में विचारों को सीधे व्यक्त करने की छूट नहीं होती, जबकि निबन्धों में शैली के आकर्षण और कथन की भंगिमा के वैशिष्ट्य को बनाये रखकर भी किसी विषय पर सीधे बात की जा सकती है। निबन्धों का आरम्भ भारतेन्दु से ही मान्य होना चाहिए। बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने इस गद्य-विधा को और भी विकसित तथा समृद्ध किया—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तो इन्हें हिन्दी का 'स्टील' और 'एडीसन' कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि भट्ट जी और मिश्र जी हिन्दी के सच्चे आत्मव्यंजक निबन्धकार थे। भारतेन्दु-युग के प्रमुख निबन्धकार थे—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, काशीनाथ खत्री (१८४९-१८९१)। उपर्युक्त सभी निबन्धकारों का सम्बन्ध किसी-न-किसी पत्र-पत्रिका से था। भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन', प्रतापनारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', बदरीनारायण चौधरी ने 'आनन्दकादम्बिनी', श्रीनिवासदास ने 'सदादर्श' (१८७४) और राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' का सम्पादन किया था। अतः भारतेन्दु-युग के निबन्ध मुख्य रूप से मासिक और पाक्षिक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। उनका उद्देश्य उपदेश, उद्बोधन, आह्वान, व्याख्या, व्यंग्य-हास्य आदि अनेक माध्यमों से जनता को शिक्षित और प्रबुद्ध करना था।

भारतेन्दु ने पुरातत्त्व, इतिहास, धर्म, कला, समाज-सुधार, जीवनी, यात्रा-वृत्तान्त,

भाषा, साहित्य आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं जिनमें से अनेक में
अद्भुत आकर्षण विद्यमान है। उनके यात्रा-वृत्तान्त और ऋतुवर्णन सम्बन्धी
सजीव हैं। प्रतापनारायण मिश्र के लिए विषय की कोई सीमा नहीं थी। 'धोखा',
'आप', 'बात', 'दाँत', 'भौं', 'नारी', 'मुच्छ', 'परीक्षा', 'ह', 'द', 'समझदार
'मनोयोग' आदि अनेक विषयों को लेकर उन्होंने अपनी मौज में सार्थक
भारतेन्दु की भाँति उनका उद्देश्य भी जनता को जाग्रत करना था, फलतः उन्होंने
दुर्दशा का चित्र खींचकर सभी क्षेत्रों में सुधार और नवनिर्माण की प्रेरणा दी।
भारतेन्दु-युग के सर्वाधिक समर्थ निबन्धकार हैं। उन्होंने सामयिक समस्याओं पर
लिखा है। 'बालविवाह', 'स्त्रियाँ और उनकी शिक्षा', 'राजा और प्रजा', 'कृषकों की
'अंग्रेज़ी शिक्षा और प्रकाश', 'हमारे नये सुशिक्षितों में परिवर्तन', 'देश-सेवा-महत्त्व',
स्वातन्त्र्य' आदि निबन्ध इसी प्रकार के हैं। इनके अतिरिक्त मनोभावों तथा भाषा और
सम्बन्धी विषयों पर भी भट्ट जी ने विचार किया है। उनके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण
हैं जिनमें विषय की उपेक्षा करके उन्होंने अपने को व्यक्त किया है। 'ईश्वर भी
है', 'चली सो चली', 'देवताओं से हमारी बातचीत', 'नये तरह का जनून',
निबन्ध आत्मव्यंजना की प्रधानता के कारण अधिक आकर्षक बन पड़े हैं। 'प्रेमघन'
भी अधिकतर सामयिक विषयों पर टिप्पणी के रूप में हैं। वैसे, प्राकृतिक उपकरणों
उन्होंने काव्यात्मक शैली में निबन्ध लिखे हैं। अन्य निबन्धकारों का महत्त्व इसी
उन्होंने भारतेन्दु, बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र के पथ का अनुसरण
तत्कालीन सांस्कृतिक जागरण को व्यापक बनाया।

शैली की दृष्टि से देखा जाय तो यों तो प्रत्येक निबन्धकार की शैली
अलग-अलग है, किन्तु सामान्यतः सुविधा की दृष्टि से विचारात्मक, भावात्मक,
विवरणात्मक, कथात्मक, इतिवृत्तात्मक, अनुसन्धानात्मक एवं भाषण आदि सभी
निबन्ध भारतेन्दु-युग में लिखे गये हैं। अभिव्यक्ति की ऐसी कोई भंगिमा नहीं है
इस युग में न हुआ हो। सत्य तो यह है कि आगे चलकर द्विवेदी-युग में निबन्धों के
नवीन परम्परा का सूत्रपात नहीं हुआ। भारतेन्दु-युग के निबन्धों की सबसे बड़ी
माध्यम से प्रकट होनेवाला व्यापक राष्ट्रीय सांस्कृतिक जागरण है। यह साहित्य-विधा
जीवन-चेतना से सीधे जुड़ी हुई है। वस्तुतः इस सन्दर्भ में भारतेन्दु-युग का
सजग था, उतना उपन्यासकार या नाटककार नहीं। इस आधार पर इस युग के
को एक विशिष्ट उपलब्धि के रूप में स्वीकार करना सर्वथा समीचीन होगा।

आलोचना

भारतेन्दु-युग में हिन्दी-आलोचना का आरम्भ पत्र-पत्रिकाओं के
किन्तु आधुनिक आलोचना का उत्कृष्ट उदाहरण इस काल में नहीं मिलता।
(१८७७-१९१०) ही एक ऐसा पत्र था जो अपेक्षाकृत गम्भीर आलोचनाएँ
था। पत्र-पत्रिकाओं में पुस्तक-समीक्षा के रूप में प्रकाशित होनेवाली आलोचनाओं के
इस युग में तीन प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा
१. रीतिकालीन लक्षण-ग्रन्थों की परम्परा में लिखित सैद्धान्तिक आलोचना, २.
खड़ीबोली-गद्य में लिखी गयी टीकाओं के रूप में प्रचलित आलोचना, ३.
कवि-परिचय के रूप में लिखी गयी आलोचना।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत पिंगल, अलंकार, रस, नाटक तथा सम्पूर्ण काव्यशास्त्र—इन विषयों पर लक्षण-ग्रन्थों की रचना की गयी । उदाहरणस्वरूप ज्वालास्वरूप-कृत 'रुद्र (१८६९), उमरावसिंह-कृत 'छन्द महोदधि' (१८७८), जगन्नाथप्रसाद 'भानु'-कृत प्रभाकर' (१८९४) और जगन्नाथदास 'रत्नाकर'-कृत 'घनाक्षरी-नियम-रत्नाकर' (१८९७) इस युग में रचित उल्लेखनीय पिंगल-ग्रन्थ हैं । इसी प्रकार लछिराम-कृत 'रावणे- कल्पतरु' (१८९२), बिहारीलाल-कृत 'अलंकारादर्श' (१८९७) तथा मुरारिदान कवि-कृत 'जसवन्त-जसो-भूषण' (१८९७) आलोच्य युग के महत्त्वपूर्ण अलंकार-ग्रन्थ हैं । रस- में कृष्णलाल-कृत 'रससिन्धु विलास' (१८८३), साहबप्रसादसिंह-कृत 'रसरहस्य' (१८८७) और प्रतापनारायणसिंह-कृत 'रसकुसुमाकर' (१८९४) उल्लेखनीय हैं । 'रसकुसु- में लक्षण स्वच्छ खड़ीबोली-गद्य में दिये गये हैं। इसलिए रसशास्त्र के स्पष्ट और सुबोध के लिए यह ग्रन्थ महत्त्व का है। सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को दृष्टि में रखकर लिखे गये लक्षण- में जानकीप्रसाद का 'काव्यसुधाकर' (१८८६) उल्लेखनीय है। नाट्यशास्त्र सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कृति भारतेन्दु का 'नाटक' (१८८३) है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह कि इसमें प्राचीन नाट्यशास्त्र की जानकारी कराने के साथ ही युग-प्रवृत्ति का ध्यान रखकर जटिल शास्त्रीय नियमों से छूट लेने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। इन ग्रन्थों से दो महत्त्वपूर्ण बातें प्रकट होती हैं। एक तो ये इस बात के सूचक हैं कि किसी में शिक्षित जनता की मनोवृत्ति का प्रवाह समानान्तर कई धाराओं में हो सकता है— युग में एक ओर जहाँ पत्र-पत्रिकाओं में व्यापक राष्ट्रीय हित एवं समाज-कल्याण दृष्टि में रखकर पुस्तकों की समीक्षा की जा रही थी, वहीं दूसरी ओर रीतिकालीन मूल्यों विश्वास करनेवाले कुछ विद्वान् पिंगल, नायिकाभेद, रस-निरूपण एवं अलंकार-विवेचन में थे। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह लक्षित करने की है कि मात्र समाज को प्रभावित करने कुछ बुरी बातों का उल्लेख कर देने से काव्य-समीक्षा का स्तर ऊँचा नहीं उठता। जब शास्त्रीय सिद्धान्तों का पुनराख्यान करके उनकी कसौटी पर नवीन कृतियों की गम्भीर मार्मिक परख नहीं की जाती तब तक शास्त्रीय सिद्धांतों की पुरानी परम्परा अलग रहती है और सामान्य समीक्षा अलग प्रसारित होती रहती है।

ब्रजभाषा-गद्य में लिखी जाने वाली टीकाओं की परम्परा को जहाँ आलोच्य युग के ही पूर्व सरदार कवि ने जीवित रखा—उनके द्वारा रचित 'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया' और 'बिहारी सतसई' की टीकाएँ अधिक लोकप्रिय हुई थीं—वहाँ 'बिहारी सतसई' पर लल्लू जी की टीका 'लालचन्द्रिका' (१८१९) का संशोधन करके दुर्गादत्त कवि ने सन् १८६४ में और पुनः ग्रियर्सन ने १८९६ ई० में प्रकाशित कराया। यह टीका ब्रजभाषा-प्रभावित खड़ीबोली-गद्य में थी। प्रभुदयाल पाण्डेय ने भी १८९६ ई० में खड़ीबोली-गद्य में 'बिहारी सतसई' की एक अच्छी टीका लिखी थी। इन टीकाओं में कहीं-कहीं उत्तम एवं सूक्ष्म काव्य-गुणों का संकेत मिल जाता है। इसलिए टीका-पद्धति की व्याख्या को भी एक प्रकार की आलोचना कहा जा सकता है। आलोच्य युग में दो इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे गये—शिवसिंह सेंगर-कृत 'शिवसिंह सरोज' (१८७८) और जार्ज ग्रियर्सन-कृत 'द' मॉडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ़ नार्दर्न हिन्दुस्तान' (१८८९)। इनमें से शिवसिंह सेंगर की आलोचना पद्धति में प्रशंसात्मक उक्तियों की ही बहुलता है। उदाहरण के लिए देव कवि के सम्बन्ध में सरोजकार ने लिखा है, 'शब्दों में ऐसी समायी कहाँ कि उनमें इनकी प्रशंसा की जाय।' इस प्रकार के वाक्यों के अतिरिक्त जो कुछ कहा गया है वह सब प्रायः सूचना-मात्र है। ग्रियर्सन ने अवश्य कुछ

कहने की चेष्टा की है, किन्तु उनके कथन भी वैयक्तिक उद्‌गार-मात्र हैं। अतः के इतिहास-ग्रन्थों में दिये गये कवि-परिचयों में आलोचना के तत्त्व नहीं के बराबर

वस्तुतः भारतेन्दु-युग में आधुनिक आलोचना का रूप यदि कहीं बीज-रूप में है, तो वह पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पुस्तक-समीक्षाओं में ही है। इस क्रम में उल्लेखनीय नाम बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' का है। उन्होंने 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधरसिंह-कृत 'बंग विजेता' के अनुवादों की विस्तृत 'आनन्दकादम्बिनी' में की थी। इसके बाद बालकृष्ण भट्ट और बालमुकुन्द गुप्त ने को आगे बढ़ाया। भट्ट जी की 'नीलदेवी', परीक्षा गुरु', 'संयोगिता स्वयंवर' और बासी योगी' सम्बन्धी आलोचनाएँ तत्कालीन समीक्षा-साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान बालमुकुन्द गुप्त द्वारा लिखित आलोचनाएँ भी इसी परम्परा को आगे बढ़ानेवाली उनका कृतित्व बहुत-कुछ द्विवेदी-युग की सीमा में आता है।

सब मिलाकर कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में आधुनिक हिन्दी- सूत्रपात तो हो गया था, किन्तु तत्कालीन समीक्षकों में न तो सूक्ष्म काव्य-सौन्दर्य तत्त्वों को पहचानने की क्षमता थी और न रचना में निहित जीवन-मूल्यों को सौन्दर्य जोड़कर व्याख्यायित करने की शक्ति।

गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ

हिन्दी-गद्य-साहित्य की प्रमुख एवं प्रचलित विधाओं के विकास में ही नहीं, गौण समझी जानेवाली जीवनी, यात्रावृत्त सदृश विधाओं के विकास में भी भारतेन्दु तथा उनके समकालीन लेखकों का योगदान उल्लेखनीय है।

जीवनी-साहित्य : आधुनिक युग की अन्य अनेक विधाओं के समान जीवनी- का आरम्भ भी भारतेन्दु-युग में ही हुआ। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने विक्रम, रामानुज, जयदेव, सूरदास, शंकराचार्य, वल्लभाचार्य, मुग़ल बादशाहों, मुसलमान तथा लॉर्ड मेयो, रिपन प्रभृति अँगरेज़ शासकों से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण जीवनियाँ जो 'चरितावली', 'बादशाह-दर्पण', 'उदयपुरोदय' और 'बूंदी का राजवंश' नामक संकलित हैं। विषयानुकूल तथा भावानुकूल भाषा-शैली के प्रयोग द्वारा व्यक्ति जीवन-वृत्त का सशक्त अंकन उनके जीवनी-साहित्य की प्रमुख विशेषता है। के जीवनी-लेखकों में कार्तिकप्रसाद खत्री ने 'अहिल्याबाई का जीवनचरित्र' ('छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' (१८९०) और 'मीराबाई का (१८९३) नाम्नी जीवनियाँ लिखीं। काशीनाथ खत्री ने 'हिन्दुस्तान की अनेक का जीवनचरित्र' (१८७९) और 'भारतवर्ष की विख्यात स्त्रियों के (१८८३) की रचना कर ज़ीवनी-साहित्य की श्रीवृद्धि की। रमाशंकर उल्लेखनीय कृति 'नेपोलियन बोनापार्ट का जीवनचरित्र' (१८८३) है। इस युग के प्रसिद्ध जीवनी-लेखक देवीप्रसाद मुंसिफ़ हैं। उन्होंने 'महाराज मानसिंह कच्छवालवाले का जीवनचरित्र' (१८८९) 'राजा मालदेव का जीवनचरित्र' (१८८९), 'उदयसिंह राजा' (१८९३), 'अकबरनामा' (१८९३), 'राणा भीम' (१८९३), 'जसवन्तसिंह' (आदि ऐतिहासिक जीवनियाँ लिखकर जीवनी-साहित्य को समृद्ध किया। राधाकृष्णदास 'आर्यचरितामृत बाप्पा रावल' (१८८४) के अतिरिक्त 'श्रीनागरीदास जी का जीवन (१८९४), 'कविवर बिहारीलाल' (१८९५), 'सूरदास' (१९००) आदि साहित्यकारों

जीवनियाँ लिखी। गोपाल शर्मा शास्त्री, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, गोकुलनाथ शर्मा, बलभद्र मिश्र तथा अम्बिकादत्त व्यास ने क्रमशः 'दयानन्द दिग्विजय' (१८८१), 'आर्यचरितामृत'(१८८४), 'हरिदास गुरमानी' (१८९६), 'श्री देवीसहाय चरित्र', (१८९७), स्वामी दयानन्द महाराज का जीवनचरित्र' (१८९७) और स्वामी भास्करानन्द से सम्बद्ध स्वामी चरितामृत' (१८९९) नामक जीवनी-ग्रन्थ लिखे। इनमें से 'आर्यचरितामृत' बँगला से अनूदित है। हिन्दी-जीवनी-साहित्य के विकास में विदेशी मिशनरियों ने भी पर्याप्त योग दिया। 'विक्टोरिया महारानी का वृत्तान्त'(१८९६), 'सिकन्दर महान् का वृत्तान्त'(१८९९) आदि पुस्तकें ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नस्वरूप ही प्रकाशित हुईं। विदेशी महापुरुषों की जीवनियों में रमाशंकर व्यास-कृत 'नेपोलियन वोनापार्ट' (१८८३) भी महत्त्वपूर्ण है। किन्तु, भारतेन्दुयुगीन जीवनी-साहित्य का समग्ररूपेण मूल्यांकन करने पर यह कहा जा सकता है कि परिमाण की दृष्टि से अत्यल्प न होने पर भी इस युग के जीवनी-साहित्य में प्रायः न तो परिमार्जित एवं परिनिष्ठित भाषा-प्रयोग परिलक्षित होता है और न चित्ताकर्षक शैली ही मिलती है। वस्तुतः इस युग को जीवनी साहित्य का बीजवपन-काल कहना ही उचित होगा।

यात्रावृत्त : यात्रावृत्त-लेखन की दिशा में भी भारतेन्दु-युग के अनेक लेखकों ने योग दिया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने यात्रावृत्त विषयक अनेक रचनाएँ लिखीं जो 'कविवचनसुधा' के १८७१ से १८७९ तक के अंकों में समय-समय पर प्रकाशित होती रहीं। इनमें 'सरयू पार की यात्रा', 'लखनऊ की यात्रा' और 'हरिद्वार की यात्रा' उल्लेखनीय हैं। बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भी क्रमशः 'गया यात्रा' और 'विलायत यात्रा' नामक रचनाएँ लिखीं, जो क्रमशः 'हिन्दी-प्रदीप' के मार्च १८९४ तथा नवम्बर १८९७ के अंकों में प्रकाशित हुईं। इस युग में यात्रावृत्त सम्बन्धी जो कृतियाँ पुस्तकाकार प्रकाशित हुईं उनमें श्रीमती हरदेवी, भगवानदास वर्मा, दामोदर शास्त्री, तोताराम वर्मा, कल्याणचन्द्र और विगू मिश्र द्वारा क्रमशः रचित 'लन्दन यात्रा' (१८८३), 'लन्दन का यात्री'-(१८८४), 'मेरी पूर्व दिग्यात्रा' (१८८५) और 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' (१८८६), 'व्रजविनोद' (१८८८), 'बदरी-केदार-यात्रा, (१८९०) तथा 'व्रज-यात्रा' (१८९४) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। श्रीमती हरदेवी ने बम्बई से लन्दन तक की जहाज़ी यात्रा का विस्तृत विवरण दिया है, तो भगवानदास वर्मा ने तुलनात्मक शैली का आश्रय लेते हुए लखनऊ और लन्दन की समानताएँ प्रकट की हैं। दामोदर शास्त्री ने भारत के पूर्वी तथा दक्षिणी भागों में की गयी यात्राओं को अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। 'मेरी दक्षिण दिग्यात्रा' में यात्रा-वर्णनों को हिन्दी में लिखने के बाद पुनः संस्कृत में लिखा गया है। कल्याणचन्द्र तथा विगू मिश्र ने अपनी यात्राओं के वर्णन के लिए गद्य के स्थान पर पद्य का प्रयोग किया है। भारतेन्दु-युग में लिखी गयी यात्रावृत्त सम्बन्धी रचनाओं के अध्ययन-अनुशीलन के अनन्तर यह कहना उचित होगा कि विदेश-यात्रा सम्बन्धी वर्णनों में लन्दन को प्रमुखता मिली है, तो स्वदेश-यात्रा सम्बन्धी वर्णनों में तीर्थ-स्थानों को।

ज्ञान का साहित्य

आलोच्य युग में लिखित 'ज्ञान का साहित्य' परिचयात्मक है, उसके पीछे किसी प्रकार की महत् प्रेरणा या योजना नहीं है। इतिहास, भूगोल, व्याकरण, गणित, विज्ञान आदि विषयों पर सामान्यतः वर्नाक्युलर स्कूलों के छात्रों के लिए पुस्तकें लिखी गयीं। इसी प्रकार से, धर्म और दर्शन सम्बन्धी रचनाओं के पीछे भी साम्प्रदायिक प्रचार की भावना प्रेरक-

रूप में लक्षित की जा सकती है।

इतिहास : इतिहास-ग्रन्थों में राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का 'इतिहास ति नाशक' (१८७३), पूरनचन्द मुंशी का 'अवध समाचार' (१८७६), भारतेन्दु हरिश्च 'बूंदी का राजवंश' (१८८२), देवीप्रसाद मुंसिफ़-कृत 'आमेर के राजे' (१८८३) 'मारवाड़ के प्राचीन लेख' (१८९६) एवं महाराजसिंह का 'इतिहास बुन्देलखण्ड' (उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त लेखकों में देवीप्रसाद मुंसिफ़ में इतिहास-लेखन की वास्तविक थी, किन्तु वे इसका पूरा उपयोग नहीं कर सके। यह ध्यान देने की बात है कि विशे इतिहास लिखने की प्रवृत्ति आगे चलकर द्विवेदी-युग में लक्षित होती है।

राजनीति : भारतेन्दु-युग में राजनीति के सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा गया। इस दिशा में केवल दो कृतियों—श्रीनिवासदास-कृत 'राजनीति' (और देवीदास-कृत 'राजनीति' (१८७३) का उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु ये भी प्राचीन पद्धति पर लिखी गयी हैं।

भूगोल : आलोच्य काल में सामान्यतः भूगोल सम्बन्धी कुछ अत्यन्त प्रारम्भिक की पुस्तकें ही लिखी गयीं। फिर भी, लक्ष्मीशंकर मिश्र की 'प्राकृतिक भूगोल (१८७६), राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की 'भूगोल हस्तामलक' (१८७७), भगवा वर्मा की 'पश्चिमोत्तर तथा अवध का भूगोल' (१८८७) और ज्वालानाथ नागर की दर्शन' (१८९९) शीर्षक कृतियाँ उल्लेख-योग्य हैं।

ललित कला : ललित कलाओं के सन्दर्भ में भारतेन्दु-युग में मात्र संगीत सम्बन्धी कुछ पुस्तकें उपलब्ध होती हैं। सौरीन्द्रमोहन ठाकुर की 'गीतावली' (गोपालदास की 'संगीत सप्तार्णव तरंग' (१८८२), भक्तराम की 'राग रत्नाकर' (मणिराम की 'सितार चन्द्रिका' (१८९३) और राजा फ़तेहसिंह वर्मा की 'राग प्रका (१८९९) इस दिशा में उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

भक्ति, धर्म और दर्शन : इस क्षेत्र में वैज्ञानिक पद्धति पर विवेंचन प्रस्तुत करने रचनाएँ भारतेन्दुयुगीन लेखकों ने प्रस्तुत नहीं कीं—उनकी मूल प्रेरणा प्रायः साम्प्र प्रचार तक सीमित रही। सर्वाधिक प्रचार स्वामी दयानन्द के 'सत्यार्थप्रकाश' (हुआ। अन्य कृतियों में श्रद्धाराम फुल्लौरी-कृत 'आत्मचिकित्सा' (१८६७), गोपालदास 'वल्लभाख्यान' (१८७३), कृष्णचन्द्र धर्माधिकारी-कृत 'ज्ञानप्रदीप' (१८७४), कृष्णदास 'ज्ञानप्रकाश' (१८७४), हरिदास-कृत 'परमार्थ चिन्तन विधि' (१८७६), आत्मा महामुनि-कृत 'जैन तत्त्वादर्श' (१८८४) और रमाकान्तशरण-कृत 'प्रेम-सुधा-रत्न (१८९३) महत्त्वपूर्ण हैं।

चिकित्साशास्त्र : चिकित्साशास्त्र के क्षेत्र में आलोच्य युग में आयुर्वेद, एलोपैथी होमियोपैथी तीनों के ही सम्बन्ध में सामान्य ज्ञान की पुस्तकें प्राप्त होती हैं। आयुर्वेद सम्ब ग्रन्थों में जनार्दन भट्ट-कृत 'वैद्यक रत्न' (१८८२) और श्रीकृष्ण शास्त्री-कृत 'चिकि धातुसार' (१८८५) उल्लेखनीय हैं। एलोपैथी के क्षेत्र में डॉ० ब्रजलाल-कृत 'शस्त्र चिकि (१८८७) एक अच्छी पुस्तक है। पशु-चिकित्सा सम्बन्धी डॉ० शिवचन्द्र मैत्र की 'पशु-चिकित्सा' (१८९५) भी उस युग को देखतें हुए महत्त्वपूर्ण कृति है। इसी प्र केदारनाथ चटर्जी की 'होमियोपैथिक सार' भी उपयोगी रचना है।

विज्ञान : विज्ञान के क्षेत्र में गणित सम्बन्धी पुस्तकें अधिक लिखी गयीं। और गणित के संस्कार पण्डित-परम्परा में अभी तक विद्यमान थे। इसलिए इस क्षे

अच्छे प्रयत्न हुए। आदित्य भट्टाचार्य-कृत 'बीजगणित' (१८७४), शिवचरणलाल-कृत 'मितिप्रकाश' (१८७५), नवीनचन्द्र राय-कृत 'स्थिति-तत्त्व और गति-तत्त्व' (१८८२) और सुधाकर द्विवेदी-कृत 'चलन-कलन' (१८८६) तथा 'समीकरण मीमांसा' (दो भाग) तत्कालीन परिवेश में लिखी गयी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भौतिक-स्तर पर भी कुछ पुस्तकें प्राप्त होती हैं। इस क्रम में महेन्द्र भट्टाचार्य-कृत 'पदार्थ दर्शन' (१८७३) और लक्ष्मीशंकर मिश्र-कृत 'पदार्थ विज्ञान विटप' (१८७५) उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः शिक्षा का माध्यम हाईस्कूल तक में अँगरेज़ी होने के कारण विज्ञान के किसी भी ग्रंथ में हिन्दी में उल्लेखनीय पुस्तकें नहीं लिखी गयीं। पत्र-पत्रिकाओं में भी विज्ञान सम्बन्धी अच्छे लेख बहुत कम प्रकाशित होते थे। इस अभाव की पूर्ति आगे चलकर नागरीप्रचारिणी सभा की स्थापना और 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' के प्रकाशन से हुई।

पत्र-पत्रिकाएँ

भारतेन्दु के उदय के पूर्व पत्र-पत्रिकाओं के विकास का प्रथम दौर पूरा हो चुका था। पत्र-पत्रिकाओं का सम्बन्ध सीधे जन-जागरण से है। किसी प्रकार के अन्याय या पक्षपात का प्रतिकार करने के लिए जनता जब उठ खड़ी होती है तो उसे अपनी आवाज़ बुलन्द करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं का सहारा लेना पड़ता है। उन दिनों जन-जागरण का केन्द्र कलकत्ता नगर था। हिन्दी-पत्रकारिता का आरम्भ वहीं से हुआ। प्रथम उत्थान (१८२६-१८६७) में प्रकाशित कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ निम्नांकित हैं :

१. उदन्त मार्तण्ड, १८२६, साप्ताहिक, कलकत्ता; २. बंगदूत, १८२९, साप्ताहिक, कलकत्ता; ३. प्रजामित्र, १८३४, साप्ताहिक, कलकत्ता; ४. बनारस अखबार, १८४५, साप्ताहिक, बनारस; ५. मार्तण्ड, १८४६, साप्ताहिक, कलकत्ता; ६. मालवा अखबार, १८४९, साप्ताहिक, मालवा; ७. सुधाकर, १८५०, साप्ताहिक, काशी; ८. बुद्धिप्रकाश, १८५२, साप्ताहिक, आगरा; ९. समाचार सुधावर्षण, १८५४, दैनिक, कलकत्ता; १०. प्रजा-हितैषी, १८५५, आगरा; ११. तत्त्वबोधिनी पत्रिका, १८६५, बरेली; १२. ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका, १८६६, मासिक, लाहौर; १३. वृत्तान्त विलास, १८६७, मासिक, जम्मू।

इस प्रकार प्रथम उत्थान में अधिकतर साप्ताहिक पत्रों का ही प्रकाशन हुआ। इस काल में पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य जनता में जागरण और सुधार की भावना उत्पन्न करना था। अन्याय का प्रतिकार भी, अपनी सीमाओं में, ये पत्र-पत्रिकाएँ करती थीं। बहुसंख्यक पत्रिकाएँ दो-दो या तीन-तीन भाषाओं में निकलती थीं। इनमें प्रयुक्त हिन्दी भाषा टूटी-फूटी और अपरिमार्जित होती थी।

भारतेन्दु का स्थान हिन्दी-पत्रकारिता के क्षेत्र में अन्यतम है। उन्होंने हिन्दी के प्रत्येक अभाव को दूर करने की भरपूर चेष्टा की। 'कविवचनसुधा' के प्रकाशन से लेकर भारतेन्दु के अस्त होने तक हिन्दी-पत्रकारिता के विकास का दूसरा उत्थान (१८६८-१८८५) पूरा हो जाता है। इस अवधि में हिन्दी भाषा का रूप स्थिर और परिमार्जित हुआ, जागरण और सुधार की भावना का प्रसार हुआ तथा अनेक वर्णों और धर्मों में विभाजित भारतवासियों ने अपने जाति-वर्ग के उत्थान के लिए जातीय और धार्मिक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आरम्भ किया। क्रमशः पत्रि-पत्रकाओं में गम्भीर लेख निकलने लगे और कुछ शुद्ध साहित्यिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी हुआ। इनके माध्यम से राष्ट्रीय चेतना भी अधिक प्रखर रूप में सामने आयी। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के जीवन-काल में प्रकाशित कुछ प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ

निम्नलिखित हैं :

१. कविवचनसुधा (मासिक, पाक्षिक, साप्ताहिक), १८६८, काशी; समाचार, १८६९, साप्ताहिक, आगरा; ३. सुलभ समाचार, १८७१, साप्ताहिक, ४. बिहार बन्धु, १८७१, मासिक, बाँकीपुर; ५. चरणाद्रि चन्द्रिका, १८७३, बनारस; ६. हरिश्चन्द्र मैगज़ीन, १८७३, मासिक, बनारस; ७. बालाबोधिनी, १८७४, बनारस; ८. भारतबन्धु, १८७४, साप्ताहिक, अलीगढ़; ९. काशी पत्रिका; १८७५, काशी; १०. हिन्दी-प्रदीप, १८७७, मासिक, इलाहाबाद; ११. कायस्थ समाचार, १८७८, इलाहाबाद; १२. आर्यमित्र, १८७८, मासिक, बनारस; १३. उचित वक्ता, १८७८, हिक, कलकत्ता; १४. भारत सुदशा प्रवर्त्तक, १८७९, फ़र्रुखाबाद; १५. सारसुधानिधि, साप्ताहिक, कलकत्ता; १६. क्षत्रिय पत्रिका, १८८०, मासिक, बाँकीपुर; १७. आनन्द १८८१, मासिक, मिर्जापुर; १८. भारतेन्दु, १८८३, वृन्दावन; १९. देवनागरी १८८२, मेरठ; २०. ब्राह्मण, १८८३, मासिक, कानपुर; २१. काशी समाचार, १८८३, हिक, काशी; २२. इन्दु, १८८३, मासिक, लाहौर; २३. कान्यकुब्ज प्रकाश, १८८४, २४. हिन्दोस्थान, १८८५, दैनिक, कालाकाँकर; २५. भारतोदय, १८८५, दैनिक,

हिन्दी-पत्रकारिता के तृतीय उत्थान (१८८६-१९००) में २०० से ऊपर छोटे हिन्दी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। इनसे हिन्दी भाषा की शक्ति एवं लोकप्रियता तो होता ही है, देशव्यापी जन-जागरण की सूचना भी मिलती है। कुछ मुख्य पत्र-पत्रिकाएँ निम्नलिखित हैं :

१. आर्यावर्त, १८८७, साप्ताहिक, कलकत्ता; २. रहस्य-चन्द्रिका, १८८८, बनारस; ३. हिन्दी बंगवासी, १८९०, साप्ताहिक, कलकत्ता; ४. नागरी नीरद, १८९३, हिक, मिर्जापुर; ५. साहित्य सुधानिधि, १८९४. मासिक, काशी; ६. श्री वेंकटेश्वर १८९५ साप्ताहिक, बम्बई; ७. विद्याविनोद, १८९५, मासिक, बाँकीपुर; ८. नागरी पत्रिका, १८९६, त्रैमासिक, काशी; ९. समस्यापूर्ति, १८९७, बाँकीपुर; १०. रसिक १८९७, साप्ताहिक, कानपुर; ११. उपन्यास, १८९८, मासिक, काशी; १२. पण्डित १८९८, मासिक, काशी; १३. सरस्वती, १९००, मासिक, इलाहाबाद।

तीसरे उत्थान तक राजनीतिक चेतना का केन्द्र बंगाल ही था। हिन्दी- भारतेन्दु के समय में जो राष्ट्रीय जागरण की लहर आयी थी, उसे 'हिन्दी-प्रदीप' ने पूरी से जीवित रखा। इस पूरी अवधि (१८८६-१९००) में राष्ट्र का नेतृत्व कांग्रेस के उदार नेताओं के हाथ में था। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं में भी सामान्यतः विद्रोही स्वर नहीं हुआ। यह प्रवृत्ति लोकमान्य तिलक की प्रभाव-वृद्धि के बाद आगे चलकर व्यक्त

गद्य-शैली का विकास

आलोच्ययुगीन गद्य-शैली पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—१. की मूल जातीय प्रकृति को परखकर उसका सामान्य स्वरूप स्थिर करने की २. क्रमशः परिष्कृत, परिमार्जित, सशक्त और प्रौढ़ होने की दृष्टि से, ३. लेखकों की गत रुचि, प्रवृत्ति, संस्कार एवं व्यक्तिगत भेद के प्रभाव से उत्पन्न भंगिमा-वैचित्र्य दृष्टि से। जहाँ तक भाषा के सामान्य स्वरूप का प्रश्न है, यह निर्विवाद है कि उसे हरिश्चन्द्र द्वारा स्थिर किया जा चुका था। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने

"जब भारतेन्दु अपनी मँजी हुई परिष्कृत भाषा सामने लाये तब हिन्दी

को गद्य के लिए खड़ीबोली का प्रकृत साहित्यिक रूप मिल गया और भाषा के स्वरूप न रह गया। प्रस्ताव-काल समाप्त हुआ और भाषा का स्वरूप स्थिर हुआ।"[1] द्वारा स्थिर किये गये खड़ीबोली-गद्य के स्वरूप-निर्माण के तीन आधार थे—मुख्यत: हिन्दी के तद्भव और प्रचलित शब्दों का प्रयोग, २. उर्दू-फ़ारसी के लोक-व्यवहार चलित शब्दों का प्रयोग और ३. आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के मूल स्रोत से शब्दों को करने की नीति। इसी नीति का अनुसरण भारतेन्दु के अनुयायियों ने भी किया। सार, शक्ति और प्रौढ़ता की दृष्टि से देखा जाए तो भारतेन्दुकालीन गद्य पहले से बहुत-निखरकर भी पूर्णत: परिमार्जित नहीं हुआ था। भारतेन्दु-युग के लेखक 'दिखाकर', 'खिला-के स्थान पर 'दिखाय', 'खिलाय' लिखते थे। 'कैसे' के स्थान पर 'क्योंकर' और 'ले', 'दे' के पर 'लै', 'दै' का प्रयोग प्रचलित था अर्थात् उच्चारण के अनुसार शब्द-रचना की जाती। इसीलिए 'इसके' और 'उसके' के स्थान पर क्रमश: 'इस्के' और 'उस्के' लिखा जाता। कहीं-कहीं व्याकरण-विरुद्ध प्रयोग भी हो जाते थे। यह अवश्य है कि क्रमश: हिन्दी-गद्य रहा था और उसकी अभिव्यक्ति-क्षमता बढ़ रही थी। व्यक्तित्व-भेद से उत्पन्न भंगिमा-त्व की दृष्टि से देखा जाए तो प्रत्येक लेखक की निजी शैली रही है। भारतेन्दु की शैली लित और सजीव है। वाक्य हृदय की अनुभूति-लड़ियों के प्रतीक-से लगते हैं। उनमें व की जटिलता न होकर प्रवाह है। शब्द-प्रयोग सधा हुआ है। भारतेन्दु का गद्य उनकी कृति का परिचायक है। उसका क्षोभ-आक्रोश, हास-परिहास और व्यंग्य-विनोद उनके में अंकित होता चलता है। आचार्य शुक्ल ने उनकी गद्य-शैली के दो रूप लक्षित किये —१. भावावेश शैली, २. तथ्य-निरूपण की शैली। इन दोनों शैलियों के अतिरिक्त प्रधान शैली, व्यंग्य-विनोद-शैली, उद्बोधन शैली आदि भी उनके गद्य में लक्षित होती। वस्तुत: विषय और परिस्थिति के अनुसार भारतेन्दु की गद्य-शैली का ढलाव बदलता गया। हिन्दी-प्रदेश की मूल चेतना से जुड़ा होने के कारण ही उनका गद्य सर्वमान्य हुआ। के लिए उनकी भावावेग की शैली और तथ्य-निरूपण-शैली का क्रमश: एक-एक रूप देखिए :

(अ) *"झूठे झूठे झूठे ! झूठे ही नहीं विश्वासघातक ! क्यों इतना छाती ठोंककर और हाथ उठा-उठाकर लोगों को विश्वास दिया ? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते। भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया ? किसने उपद्रव और जाल करने को कहा था ? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनन्द था।"*

(आ) *"ये जाति के ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम बाबा रामदास जी था, जो गाना बहुत अच्छा जानते थे और कुछ ध्रुबपद इत्यादि भी बनाते थे और देहली या आगरे या मथुरा इन्हीं शहरों में रहा करते थे और उस समय के नामी गुनियों में गिने जाते थे।"*

बालकृष्ण भट्ट की शैली में खरापन है। वे गम्भीर प्रकृति के व्यक्ति थे और जीवन उन्होंने सचाई के लिए संघर्ष किया, फलस्वरूप समाज की विकृतियों को देखकर वे खीज थे। इसीलिए उनकी शैली में कहीं-कहीं खीज और चिड़चिड़ापन है। संस्कृत के पण्डित हुए भी उन्होंने हिन्दी की प्रकृति को पहचाना था। उन्होंने अनेक विषयों पर लेख लिखे

हैं, इसलिए उनमें शैली-वैविध्य भी औरों से अधिक है। उनकी शैली का एक
देखिए :

> "दूर दूर के लोग यही समझते होंगे कि रौनक में इलाहाबाद
> बम्बई के टक्कर का होगा क्योंकि यह भी एक तरह पर प्रेसीडेंसी
> पश्चिमोत्तर की राजधानी है। हाई कोर्ट यहां है और हर महकमे के आला
> सब यहां मौजूद हैं। पर हम आँख फैलाय देखते हैं तो भगार लोट रहा है,
> ओर मसान छाया हुआ है।"

दूसरी ओर, प्रतापनारायण मिश्र की शैली में एक प्रकार का मनमौजीपन है।
कटुता नहीं है। विनोदपूर्ण वक्रता तथा बैसवाड़ी बोली की सहज ग्रामीण स्वच्छन्द
उनकी शैली को अत्यन्त सजीव बना दिया है। मिश्र जी गम्भीर-से-गम्भीर विषय को
हास्य-रंजित करके प्रस्तुत करने की कला में अद्वितीय थे। उन्होंने ग्राम्य कहावतों
मुहावरों का खुलकर प्रयोग किया है। वे बराबर अपने पाठक से तादात्म्य बनाये रखते
यथा :

> "ले भला बताइये तो आप क्या हैं ? आप कहते होंगे, वाह आप तो
> ही हैं। पर कहाँ की आपदा आयी ? यह भी कोई पूछने का ढंग है?
> होता कि आप कौन हैं ? तो बतला देते कि हम आप के पत्र के पाठक हैं,
> आप ब्राह्मण सम्पादक हैं, अथवा आप पण्डित जी हैं, आप राजा जी हैं,
> जी हैं, आप लाला जी हैं, आप बाबू जी हैं, आप मियाँ साहब, आप तिरे
> हैं।"

बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की शैली उपयुक्त सभी लेखकों से भिन्न है।
अपने गद्य को कलात्मक बनाने की चेष्टा की है। उनके वाक्य लम्बे हैं और भाषा
गढ़ी हुई हैं। उनमें कवित्व है, लेकिन सहज भावोच्छ्वास नहीं। सीधी-सी बात को
कलात्मक विधान के साथ प्रस्तुत करते हैं। उनमें संस्कृत भाषा की पद-रचना के
प्रबल हैं, जैसा उदाहरण से स्पष्ट है :

> "धन्य धन्य उस परब्रह्म सच्चिदानन्द घन को कि जिसकी कृपा
> वर्षा से आनन्द प्रमत्त हो अचानक आज फिर यह मनमयूर उत्साह
> कर आनन्दकादम्बिनी के आनन्द विस्तार लालसा से थिरकने लगा और
> किसी सोच-विचार के लेखनी चातक बन चँहकार चली कि मेरे प्यारे
> आओ आज के समागम चिर वियोग दुःख को भूलें और बहुत दिनों से
> बैठी वार्ता बधूड़ी के आरम्भ घूँघट को खोल उसके आनन्द-मन्द-स्मित का
> अनुभव करें।"

भारतेन्दु-युग के अन्य लेखकों में ठाकुर जगन्मोहन सिंह की शैली में भावो
और काव्यमयता का आकर्षण है। उनका गद्य तत्समप्रधान एवं कलात्मक है। उनका
वर्णन तो प्राचीन संस्कृत-कवियों की स्मृति जगा देता है। कहीं-कहीं उनमें इतनी भावुक
कि उनकी शैली प्रलाप-शैली बन गयी है। इनके अतिरिक्त श्रीनिवासदास, तोताराम,
भट्ट, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, काशीनाथ खत्री और राधाकृष्णदास
गद्य-शैली के विकास में—कम-से-कम उसे विविध विषयों की अभिव्यक्ति में सक्षम
में—अपना महत्त्वपूर्ण योग देकर तत्कालीन हिन्दी-गद्य को समृद्ध किया है। शैली-विका
दृष्टि में इतना वैविध्य और इतनी सजीवता परवर्ती युग में नहीं देखी गयी।

मूल्यांकन

हिन्दी-गद्य-साहित्य के विकास-क्रम में भारतेन्दु-युग के गद्य-साहित्य का महत्त्व और असाधारण है। इसी युग में हिन्दी-प्रदेश में आधुनिक जीवन-चेतना का उन्मेष हुआ। वर्गीय सामाजिक परिवेश में साहित्य-रचना का जो रूप उभरा उसमें कहीं-कहीं सामन्तीय रों का अवशेष लक्षित अवश्य होता है, किन्तु वह टूटने के क्रम में है। रचनागत प्रतिपाद्य दृष्टि से यह बहुत बड़ा परिवर्तन था। यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश शासन-व्यवस्था दृढ़ता के बावजूद उसके प्रति विरोध का भाव प्रत्येक साहित्यकार के मन में विद्यमान है। और समाज के हित की भावना से सभी भावित हैं। साहित्य-सर्जन की दृष्टि से हिन्दी- ही प्रायः सभी विधाओं का सूत्रपात इसी युग में हुआ, विशेषतः निबन्ध और नाटक— दो विधाओं में लेखकों को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई। उपन्यासों में सामाजिक जीवन न्दन का स्वर भी इसी युग में सुनायी पड़ने लगा। सब मिलाकर भारतेन्दु-काल का व्यापक जागरण का सन्देश लेकर आया और भाषा के स्वरूप-विकास में भी अभूतपूर्व ति हुई। इस युग में न केवल हिन्दी-गद्य का स्वरूप स्थिर हुआ वरन् उसके शुद्ध साहित्योप- गी और व्यवहारोपयोगी रूपों की पूर्ण प्रतिष्ठा भी हुई। इस प्रकार भाषा और साहित्य जीवन की गति के साथ जुड़ गये। पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन और प्रचार की गति भी हुई, जिससे जीवन के विविध क्षेत्रों में हिन्दी के प्रयोग की परम्परा आगे बढ़ी। किसी भाषा के इतिहास में इतनी अल्प अवधि में होनेवाली यह प्रगति गर्व की बात मानी गी। यह सब कम नहीं है, किन्तु यह भी ध्यान रखना होगा कि यह सारा मन्थन सुप्त ष्ट्र के जागरण की भूमिका-मात्र है। अभी हिन्दी-गद्य-साहित्य में ऐसा कुछ भी नहीं था जिसे कर हम संसार की उन्नत भाषाओं के सामने खड़े हो सकें। आधुनिक हिन्दी-साहित्य का प्रथम उत्थान था। इस उत्थान में सबसे मूल्यवान् तत्त्व था—साहित्यकारों का अदम्य ाह। उनमें हिन्दी के प्रति, राष्ट्र और समाज के प्रति अटूट निष्ठा थी। उन्होंने हँसते- ते अपने को उत्सर्ग करके हिन्दी के विशाल भवन का निर्माण किया जिसको सजाने, ले और मूल्यवान् उपकरणों से अलंकृत करने का कार्य द्विवेदी-युग के साहित्यकारों ने किया।

अध्याय

द्विवेदी-यु

(जागरण-सुधार-का

हिन्दी-कविता को शृंगारिकता से राष्ट्रीयता, जड़ता से प्रगति तथा रूढ़ि से स्वच्छन्द द्वार पर ला खड़ा करनेवाले बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों का समधिक महत्त्व है। इ काल-खण्ड के पथ-प्रदर्शक, विचारक और सर्वस्वीकृत साहित्य-नेता आचार्य महावीरप्र द्विवेदी के नाम पर इसका नाम 'द्विवेदी-युग' उचित ही है। वैसे, इसे 'जागरण-सुधार-क भी कहा जाता है। भारतीय इतिहास में यह समय ब्रिटिश शासन के दमन-चक्र और कू नीति का काल है। सन् १८५७ के विद्रोह के पश्चात् १८५८ में महारानी विक्टोरिया सहृदयतापूर्ण घोषणा-पत्र से भारतीय जनता आशान्वित हो गयी थी। कुछ सुधार हुए अतएव भारतेन्दुकालीन कवियों ने अँगरेज़ों की प्रशस्तियाँ लिखीं और राजराजेश्वरी विक्टो रिया का जयजयकार किया। किन्तु, छोटे-मोटे सुधारों के अतिरिक्त कुछ नहीं हुआ। प्रजा जो बड़ी-बड़ी आशाएँ लगायी थीं, अपूर्ण ही रहीं। अनेक प्रतिगामी एवं काले क़ानून पा हुए जिनसे जनता पिसती चली गयी। फलत: जनता में असन्तोष और क्षोभ की आग ध कती चली गयी।

आर्थिक दृष्टि से भी अँगरेज़ों की नीति भारत के लिए अहितकर थी। यहाँ से कच्चा माल बाहर जाता था और वहाँ के बने माल की खपत भारत में होती थी। देश का धन विदे बाहर जाने से भारत निर्धन हो गया। यहाँ उद्योग-धन्धों के विकास की ओर सरका का ध्यान ही नहीं गया। ऊपर से एक-पर-एक पड़नेवाले दुर्भिक्षों ने तो देशवासियों क कमर ही तोड़ दी। अत्याचारों एवं सर्वतोमुखी विफलता का मुख्य कारण परतन्त्रता ही सम में जाया। अत: जनता ने पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग की। सौभाग्य से गोपालकृष्ण गोखले तथ बालगंगाधर तिलक-जैसे मेधावी एवं कर्मठ नेता मिल गये। 'स्वराज्य' एवं 'स्वतन्त्रता हमा जन्मसिद्ध अधिकार है' की धूम मच गयी। भारतेन्दुकालीन साहित्यकार जहाँ भारत-दुर्द पर दु:ख प्रकट करके रह गया था, वहाँ द्विवेदीकालीन कवि-मनीषियों ने देश की दुर्दशा चित्रण के साथ-साथ देशवासिंयों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति की प्रेरणा भी दी—उन्हें आन्दोल एवं बलिदान का मार्ग भी दिखाया।

अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए गौरांग प्रभुओं ने राजनीतिक एवं आर्थिक ही नहीं शैक्षणिक, धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी कूटनीति से काम लियां था। भार

अंग्रेज़ों को अँगरेज़ी शिक्षा किसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर नहीं दी जा रही थी। उसका उद्देश्य था—देशवासियों का ऐसा वर्ग खड़ा करना जो शरीर से भारतीय होते हुए भी मन से अँगरेज़ों का गुलाम हो और उनके शासन-कार्य में सहायक सिद्ध हो सके। एक सीमा तक शासक वर्ग को इसमें सफलता भी मिली। दूसरी ओर अँगरेज़ी शिक्षा के माध्यम से भारतवासी बर्क, मिल, स्पेंसर, रूसो आदि उदार विचारकों की रचनाओं के सम्पर्क में भी आये जिससे राष्ट्रीयता एवं स्वतन्त्रता-प्राप्ति की भावना को और बल मिला। वैसे, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज, थियासोफ़िकल सोसाइटी तथा इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना के फलस्वरूप भारतीय सभ्यता, संस्कृति, धर्म और समाज के पुनरुत्थान की प्रक्रिया आरम्भ हो चुकी थी। आलोच्य काल में इसका और भी विकास और विवर्द्धन हुआ। बालगंगाधर तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानन्द, मदनमोहन मालवीय आदि नेताओं और निःस्वार्थ समाज-सेवियों ने देशवासियों के स्वाभिमान को जगाने तथा अपनी गौरव-परम्पराओं के प्रति उन्हें निष्ठावान् बनाने का सफल प्रयास किया।

काव्यधारा

द्विवेदी-युग से पूर्व कविता के क्षेत्र में मुख्यतः श्रृंगार, भगवद्भक्ति एवं देशभक्ति की धाराएँ प्रवाहित थीं। समस्यापूर्तियों का भी खूब ज़ोर था। इसके लिए अनेक कवि-गोष्ठियों की स्थापना हुई। गद्य की एकमात्र भाषा खड़ीबोली स्वीकार कर लेने पर भी भारतेन्दु-काल में कविता के क्षेत्र में ब्रजभाषा का एकच्छत्र साम्राज्य बना रहा। यद्यपि खड़ीबोली में भी किंचित् रचना हुई, किन्तु उसे काव्योपयुक्त नहीं समझा गया। ब्रजभाषा की माधुरी पर रीझा हुआ इन लोगों का रसिक मन अन्त तक खड़ीबोली की काव्योपयुक्तता में अविश्वास करता रहा। सब मिलाकर भारतेन्दुकालीन कविता के उपादान सीमित तथा अधिकांशतः निक्षेपित थे एवं इस युग की काव्य-भाषा परम्परागत थी। भारतेन्दु के बाद भी कुछ समय तक यही स्थिति बनी रही।

उन्नीसवीं शताब्दी का अन्त होते-होते हवा बदलने लगी। परिवर्तित जन-रुचि को भक्ति एवं श्रृंगार का पिष्टपेषण बेस्वाद प्रतीत हुआ। समस्यापूर्तियों एवं नीरस तुकबन्दियों से सहृदय ऊब गये। चिरव्यवहृत ब्रजभाषा का आकर्षण निःशेष हो गया। सुयोग से इसी समय जनता की रुचि एवं आकांक्षाओं के पारखी तथा साहित्य के दिशा-निदेशक आचार्य के रूप में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी का प्रादुर्भाव हुआ। जून १९०० की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'हे कविते' शीर्षक अपनी कविता में उन्होंने जनरुचि का प्रतिनिधित्व करते हुए ही सौरस्य एवं वैविध्य के अभाव तथा ब्रजभाषा के चिरप्रयोग पर क्षोभ प्रकट किया था। सन् १९०३ में आचार्य द्विवेदी 'सरस्वती' के सम्पादक बने। उन्होंने नायिकाभेद को छोड़कर विविध विषयों पर कविता लिखने, सभी प्रकार के छन्दों का व्यवहार करने, सभी काव्यरूपों को अपनाने तथा गद्य और पद्य की भाषा के एकीकरण का परामर्श दिया। उनकी अमोघ प्रेरणा एवं वात्सल्यमय प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप अनेक कवि सामने आये, जो उन्हीं के आदर्शों को लेकर आगे बढ़े। इनमें मैथिलीशरण गुप्त, गोपालशरण सिंह, गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही', लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। समयानुसार चलनेवाले कतिपय कवियों ने अपना रास्ता बदला। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'अरिऔध', नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' काव्य के चिरपरिचित उपादानों को छोड़कर नये विषयों पर कविता लिखने

लगे। इस युग की कविता में विषय की दृष्टि से अपार वैविध्य एवं नवीनता आयी। द्विवेदी जी के प्रयत्नों से खड़ीबोली काव्य की मुख्य भाषा बन गयी। गुप्त जी, ठाकुर गोपालशरण सिंह, सनेही, लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि तो खड़ीबोली के कवियों के रूप में ही सामने आये, किन्तु श्रीधर पाठक, हरिऔध तथा 'शंकर' जो ब्रजभाषा में अच्छी कविता लिख चुके थे, वे भी अब खड़ीबोली का व्यवहार करने लगे। 'पूर्ण' जी ने परम्परागत विषयों की कविता के लिए ब्रज तथा नये विषयों की कविता के लिए खड़ीबोली का प्रयोग किया। द्विवेदी जी भाषा की शुद्धि तथा वर्तनी की एकरूपता के प्रबल समर्थक थे। अतएव इस युग की काव्य-भाषा व्याकरण की दृष्टि से सामान्यतः शुद्ध है तथा वर्तनी की दृष्टि से उसमें भारतेन्दु-युग जैसी अस्थिरता नहीं है। हिन्दी के सभी छन्दों का ही नहीं, संस्कृत-वृत्तों तथा उर्दू-बह्रों का भी प्रयोग हुआ। आचार्य द्विवेदी ने समस्यापूर्ति को छोड़ने तथा स्वतन्त्र विषयों पर कविता लिखने का भी परामर्श दिया था। फलतः इस युग में समस्यापूर्तियों का भी रिवाज कम हो गया। जगन्नाथदास 'रत्नाकर', सत्यनारायण 'कविरत्न' प्रभृति दो-एक कवि अब भी ब्रज भाषा के परिचित मार्ग पर ही चलते रहे, परन्तु नूतन प्रभाव से वे भी अछूते नहीं रहे।

द्विवेदीकालीन कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ

राष्ट्रीयता : बढ़ती हुई राजनीतिक चेतना तथा सांस्कृतिक पुनरुत्थान के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता द्विवेदी-युग की प्रधान भावधारा थी। अतः तत्कालीन कविता का मुख्य स्वर भी राष्ट्रीयता ही है।[1] इस युग के प्रायः सभी कवियों ने देशभक्तिपूर्ण कविताओं का प्रणयन किया। उन्होंने पराधीनता को सबसे बड़ा अभिशाप बताया तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए क्रान्ति एवं आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा दी। कविवर 'शंकर' ने 'बलिदान-गान' में कहा है :

देशभक्त वीरो, मरने से नेक नहीं डरना होगा
प्राणों का बलिदान देश की वेदी पर करना होगा। (शंकर सर्वस्व)

मैथिलीशरण गुप्त की ओजस्वी हुंकार निम्नलिखित शब्दों में प्रकट हुई है :

धरती हिलकर नींद भगा दे
वज्रनाद से व्योम जगा दे
दैव, और कुछ लाग लगा दे। (स्वदेश-संगीत)

रामनरेश त्रिपाठी अपने खण्डकाव्यों में परोक्ष रूप से परतन्त्रता के बन्धन काटने का सन्देश देते हैं। इसी प्रकार अनेक कविताओं में पशु-बल की अवहेलना करते हुए निर्भयतापूर्वक स्वतन्त्रता के मार्ग पर बढ़ने की प्रेरणा दी गयी है। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन कवियों ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से अतीत के गौरव का गान करते हुए देश की वर्तमान दशा पर क्षोभ प्रकट किया है। इस प्रकार की रचनाओं में गुप्त जी की 'भारत-भारती' सर्वश्रेष्ठ और सशक्त रचना है। कितने विश्वास के साथ भारत-भारतीकार भारतवर्ष की श्रेष्ठता की घोषणा करता है :

भू-लोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीला-स्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगाजल जहाँ।

---

[1] आत्माभिमान एवं देशाभिमान की प्रेरणा प्रदान करने में कवि-समुदाय पीछे नहीं था। इस सन्दर्भ में श्रीधर पाठक का मन्तव्य पठनीय है :

"वन्दनीय वह देश जहाँ के देशी निज अभिमानी हों।
बान्धवता में बँधे परस्पर परता के अज्ञानी हों।।"

सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है ।।

देश की हीन दशा—धैर्य, गाम्भीर्य, शौर्य तथा कला-कौशल के अभाव—पर भी ने क्षोभ व्यक्त किया। ठाकुर गोपालशरण सिंह की काव्य-पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

वह धीरता कहाँ है गम्भीरता कहाँ है ?
वह वीरता हमारी है वह कहाँ बड़ाई ?
क्या हो गयीं कलाएँ कौशल सभी हमारे ?
किसने शताब्दियों की ली छीन सब कमाई ?

आलस, फूट, खुदगर्ज़ी, मिथ्या कुलीनता आदि अभिशापों की ओर भी इस युग के की दृष्टि गयी। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने इनका उल्लेख इनके निराकरण की कामना किया है :

भरतखण्ड का हाल ज़रा देखो है कैसा।
आलस का जंजाल ज़रा देखो है कैसा ।।
ज़रा फूट की दशा खोलकर आँखें देखो।
खुदगर्ज़ी का नशा खोलकर आँखें देखो ।।
है शेखी दौलत की कहीं, बल का कहीं गुमान है।
है ख़ानदान का मद कहीं, कहीं नाम का ध्यान है ।।

देश की आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियों, रूढ़ प्रथाओं तथा धार्मिक आडम्बरों वेदीयुगीन कवियों ने स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया। स्वदेशी वस्तुओं के प्रयोग तथा वस्तुओं के बहिष्कार पर उन्होंने निरन्तर बल दिया। मातृभूमि की महिमा का गान भक्ति का अंग है, जिसकी ओर अनेक कवियों ने आग्रहपूर्वक ध्यान दिया है।

सामान्य मानवता : पूर्ववर्ती काव्य में असामान्य—ईश्वर, ईश्वरावतार, राजा, सामन्त, या फिर अनेकविध नायिकाओं आदि—को ही स्थान मिला था; किन्तु आलोच्य काल मानव को यह गौरव प्राप्त हुआ। मानव-मात्र के सुख-दुःख और परिस्थितियों का व्य में बड़े ही सहज भाव से किया जाने लगा। महावीरप्रसाद द्विवेदी की कविता नरक ठेकाना नाहिं' में जहाँ कल्लू अल्हैत काव्य का विषय बना—

भैंसि भवानी कै तब सेवा लागे करन पढ़व गा छूटि।
बटुवन दूध दुहा इन हाथन धार न कबहुँ दुहत माँ टूटि ।।
मोटरिन कटिया भथुरा सानी कीन रोज हम बाँह चढ़ाय।
मस्त भयन तब आल्हा गावा उपर दुहत्था हाथु उठाय ।।

'अविद्यानन्द के व्याख्यान' में विदेशीयता का रसिक शंकर जी के व्यंग्य का लक्ष्य :

छड़ी धार छैला छबीले बनो, रंगीले, रसीले, फबीले बनो।
न चूको भले भोग भोगी बनो, किसी तेड़नी के वियोगी बनो ।।

दीन-हीन कृषक तथा विधवा के दुःखों का भी बड़ा कारुणिक वर्णन आलोच्य काल के ने किया। गुप्त जी की 'किसान' (१९१७), सियारामशरण जी की 'अनाथ' (१९१७) नेही जी की 'कृषक-क्रन्दन' कृषक जीवन-सम्बन्धी प्रभावी रचनाएँ हैं। नाथूराम शर्मा कृत 'गर्भरण्डा-रहस्य' में जन्म से पहले ही विधवा हो जानेवाली विधवाओं के कष्टमय का बड़ा मार्मिक चित्रण हुआ है। शिक्षा-विहीन नारियों की दुर्दशा की ओर भी इस

युग के कवियों ने संकेत किये हैं। वस्तुतः मानव-सुलभ सहानुभूति ही इस प्रकार ताओं की प्रेरक भावना है। इसी भावना से प्रेरित होकर हरिऔध ने उन्न द्वारा निम्न जातियों के प्रति किये गये अन्याय और दुर्व्यवहार का उल्लेख किया है:

आप आँखें खोलकर के देखिए,
आज जितनी जातियाँ हैं सिर-धरी।
पेट में उनके पड़ी दिखलायेंगी,
जातियाँ कितनी सिसकती या मरी॥

इस प्रकार द्विवेदीयुगीन काव्य में जनसाधारण को काव्य-विषय के स्थान प्राप्त हुआ।

नीति और आदर्श : द्विवेदीयुगीन काव्य आदर्शवादी और नीतिपरक है। पुराण से गृहीत कथा-प्रसंगों के आधार पर अथवा कल्पनाश्रित उज्ज्वल कथाएँ ले चरित्रों पर अनेक प्रबन्धकाव्य लिखे गये। उन सभी में असत् पर सत् की विजय दि है—स्वार्थ-त्याग, कर्त्तव्य-पालन, आत्मगौरव आदि उच्चादर्शों की प्रेरणा दी गयी है औध कृत 'प्रियप्रवास'; मैथिलीशरण जी के 'साकेत' (इसका अधिकांश भाग में ही रचा गया था), 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'विकट भट'; गोकुलचन्द्र शर्मा गौरव'; रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'मिलन' आदि आदर्शवादी रचनाएँ ही हैं। अनेक कथाएँ भी इस उद्देश्य से लिखी गयीं, जो समय-समय पर 'सरस्वती' पत्रिका में प्रका आख्यानक कृतियों के अतिरिक्त इस काल में नीतिपरक एवं उपदेशप्रधान क पुष्कल परिमाण में रचना की गयी। इस प्रकार के पद्य-लेखकों में महावीरप्रसाद अयोध्यासिंह उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय आदि प्रमुख हैं। विषय में पण्डित रामचरित उपाध्याय के विचार नीचे दिये जाते हैं :

अति खल की संगति करने से, जग में मान नहीं रहता है।
लोहे के संग में पड़ने से, घन की मार अनल-सहता है॥
सबसे नीति-शास्त्र कहता है, दुष्ट-संग दुख का दाता है।
जिस पय में पानी रहता है, वही खूब औटा जाता है॥

आलोच्य काल के कवियों ने प्रेम के भी आदर्श स्वरूप को ग्रहण किया। 'साकेत', 'मिलन' आदि में उसका उदात्त स्वरूप देखा जा सकता है। राधा सम्पूर्ण कृष्ण की कान्ति के दर्शन कर विश्व-प्रेमिका और विश्व-सेविका बन जाती है। उर्मि मन को 'प्रिय-पथ का विघ्न' बनने से रोकती है। प्रेम जीवन की अद्भुत शक्ति है उसके बिना जीवन निस्सार है। रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में प्रेम की महिमा सुनि

गन्ध-विहीन फूल हैं जैसे चन्द्र चन्द्रिका-हीन।
यों ही फीका है मनुष्य का जीवन प्रेम-विहीन॥
प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है, प्रेम हृदय-आलोक॥

---

१. केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए,
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।
क्यों आज 'रामचरितमानस' सब कहीं सम्मान्य है?
सत्काव्य-युत उसमें परम आदर्श का प्राधान्य है। (भारत-भारती)

वर्ण्य विषय का क्षेत्र-विस्तार : द्विवेदी-युग में वर्ण्य विषय का अद्भुत विस्तार हुआ। अपार वैविध्य और और व्यापकत्व आया। नायिकाभेद को छोड़कर सभी चिरपरिचित तो गृहीत हुए ही, साथ ही अनेक नूतन विषयों को भी काव्य में स्थान मिला। आचार्य ने 'कवि-कर्त्तव्य' निबन्ध में लिखा था : "चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त पशु, भिक्षुक से राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है।" परिणामतः जीवन और जगत् के सभी दृश्य पदार्थ कविता के विषय बनने लगे। अनेक छोटे-छोटे साधारण विषयों पर कविताएँ गयीं। वस्तुतः ऐसे विषयों को लेकर इस युग में लिखी गयी छोटी-छोटी कविताओं की कोई सीमा ही नहीं है। स्थाली-पुलाक-न्याय से विषयगत वैविध्य और विस्तार का अनु-लगाने के लिए तत्कालीन कविताओं के कुछ शीर्षक देखिए—परोपकार, मुरली, कृषक, लड़कपन, ग्रन्थ-गुण-गान, प्रणय, ईर्ष्या, निद्रा, कलियुगी साधु, पुस्तक-प्रेम, ब्रह्मचर्य, हिन्दी बालक, हिन्दी-साहित्य सम्मेलन, मूढ़ मानव, मेंहदी, नैकटाई, मनोव्यथा, कामना, कुलीनता, पौरुष, शिशु-स्नेह, सुखमय जीवन, भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन, लक्ष्मी-सपूत, ग्राम-गौरव, सज्जनों का स्वभाव, समालोचक-लक्षण, दरिद्र विद्यार्थी आदि। यह है कि कोई क्षेत्र ऐसा नहीं रहा जिधर इन कवियों की दृष्टि न गयी हो।

प्रकृति भी स्वतन्त्र रूप में काव्य का विषय बनी। मैथिलीशरण गुप्त, हरिऔध, शुक्ल, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरण सिंह, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गिरिधर शर्मा के काव्य में बड़ा मनोहारी प्रकृति-चित्रण मिलता है जो नायक-नायिका के सन्दर्भ में रीतिकालीन ऋतु-वर्णन आदि के समान निर्जीव एवं परम्परा-पालन-मात्र नहीं है, द्विवेदीयुगीन प्रकृति-चित्रण में भी पर्याप्त स्थूलता है, कल्पना-वैभव एवं सौरस्य का है, फिर भी उसमें यथार्थता एवं ताज़गी है। 'प्रियप्रवास' का तो आरम्भ ही प्रकृति-से हुआ है :

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥
तरु-शिखा पर थी अब राजती।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

इस युग में 'सरस्वती' में प्रकाशित राजा रवि वर्मा तथा बाबू ब्रजभूषण राय चौधरी चित्रों पर भी कविताएँ लिखी गयीं। कविताकारों में प्रमुख थे—महावीरप्रसाद द्विवेदी, गुप्त नाथूराम शर्मा 'शंकर' तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'।

हास्य-व्यंग्य-काव्य : भारतेन्दु-युग जैसी ज़िन्दादिली, चुहलबाज़ी और फक्कड़पन इस नहीं रह गया था, अतः उस युग के समान हास्य-व्यंग्यपूर्ण कविता का प्राचुर्य द्विवेदी-में नहीं है। इस दिशा में जितना कुछ लिखा भी गया है, वह द्विवेदी जी के व्यक्तित्व स्वरूप अपेक्षाकृत संयत और मर्यादित है। हास्य और व्यंग्य के विषय राजनीतिक सामाजिक कुरीतियाँ, धर्माडम्बर, लकीर की फ़कीरी, विदेशीयता का अन्धानुकरण, व्यभिचार आदि हैं। आचार्य द्विवेदी ने 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं' में कल्लू के माध्यम से गाँव को छोड़कर शहर जानेवाले तथा विदेशी सभ्यता का अन्धानुकरण लोगों की हास्यास्पद स्थिति का चित्रण इन शब्दों में किया है :

अचकुन पहिरि बूट हम डाटा बाबू बनेन डेरात-डेरात।
लागेन आवै जाय सभन मां कण्ठु फूट तब बना बतात॥

जब तक हमरे तन मां तनिकौ रहा गाउं के रस का बंसु।
तब तक हम अखबार किताबैं लिखि-लिखि कीन उजागर बंसु॥

बालमुकुन्द गुप्त इस युग के बड़े सशक्त व्यंग्यकार हैं। इन्होंने तत्कालीन लॉर्ड कर्ज़न को अपने व्यंग्य और हास्य का प्रमुख आलम्बन बनाया। एक बार कर्जन ने वासियों को 'झूठा' कहा था, उसी को लक्ष्य कर गुप्त जी ने कितना तीखा प्रहार

हमसे सच की सुनो कहानी, जिससे मरे झूठ की नानी।
सच है सभ्य देश की चीज़, तुमको उसकी कहाँ तमीज़?
औरो को झूठा बतलाना, अपने सच की डींग उड़ाना।
ये ही पक्का सच्चापन है, सच कहना तो कच्चापन है॥
बोले और करे कुछ और, यही सभ्य सच्चे के तौर।
मन में कुछ मुँह पे कुछ और, यही है सत्य कर लो ग़ौर॥
झूठ को जो सच कर दिखलावे, सो ही सच्चा साधु कहावे।
मुँह जिसका हो सके न बन्द, समझो उसे सच्चिदानन्द॥

इसी प्रकार 'कर्ज़नाना' शीर्षक कविता में इन्होंने कर्ज़न को 'अपने मुँह मियाँ की उक्ति चरितार्थ करते हुए हास्य का पात्र बनाया है। एक अन्य कविता 'आजकल में स्वार्थी, खुशामदी और विलासियों की ख़बर ली गयी है। नाथूराम शर्मा द्विवेदी-युग के विशिष्ट हास्य-व्यंग्यकार हैं। 'गर्भरण्डा-रहस्य' इनकी सुप्रसिद्ध है, जिसमें गर्भ में ही विधवा हो जानेवाली बालिका के माध्यम से सामाजिक पर्दाफ़ाश किया गया है। आर्यसमाज का इन पर गहरा प्रभाव था। अतः एक सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों एवं आडम्बरों पर फब्तियाँ कसते हैं तथा अपनी सभ्यता, संस्कृति और परम्परा को तिलांजलि देनेवाले पाश्चात्य सभ्यता के को भी अपने परिहास और व्यंग्य का आलम्बन बनाते हैं। ब्रजराज कृष्ण को पाश्चात्य मूषा धारण करने का परामर्श देकर इन्होंने वस्तुतः विदेशियों की नक़ल करनेवाले का ही मज़ाक उड़ाया है :

भड़क भुला दो भूतकाल की, सजिये वर्तमान के साज।
फैसन फेर इंडिया भर के, गोरे गाड बनो ब्रजराज॥
गौर वर्ण वृषभानुसुता का, काढ़ो काले तन पर तोप।
नाथ उतारो मोर मुकुट को, सिर पै सजो साहिबी टोप॥
पौडर चन्दन पोंछ लपेटो, आनन की श्री ज्योति जगाय।
अंजन अँखियों में मत आँजो, आला ऐनक लेहु लगाय॥
रवधर कानों में लटका लो, कुण्डल काढ़ मेकराफून।
तज पीताम्बर कम्बल काला, डाटो कोट और पतलून॥

द्विवेदी-युग में हास्य-व्यंग्य की रचना करनेवाले कवियों में ईश्वरीप्रसाद जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के नाम भी उल्लेखनीय हैं। वैसे, यह प्रवृत्ति मैथिलीशरण में भी कहीं-कहीं शिष्ट और संयत हास्य के रूप में लक्षित होती है—'साकेत' के में गणेश और षडानन की बालोचित क्रीड़ाओं के हास्यविनोदपूर्ण वर्णन और लक्ष्मण-उर्मिला के परिहास-प्रसंग का उल्लेख उदाहरणस्वरूप किया जा सकता है।

सभी काव्य-रूपों का प्रयोग : आलोच्य काल में काव्य-क्षेत्र में प्रचलित प्रबन्ध प्रगीत प्रभृति की सभी काव्य-रूपों में रचना हुई। कथाश्रित काव्य-रचना कवियों

मुख्य प्रतीत हुई। 'प्रियप्रवास', 'साकेत' (अधिकांश भाग) तथा 'रामचरित चिन्तामणि' महाकाव्यों का प्रणयन इसी युग में हुआ। हिन्दी के अनेक श्रेष्ठ खण्डकाव्य भी इसी काल में लिखे गये जिनमें से मैथिलीशरण-कृत 'रंग में भंग', 'जयद्रथ-वध', 'किसान'; प्रसाद जी का 'प्रेमपथिक' (१९१३); सियारामशरण गुप्त का 'मौर्य-विजय' (१९१४); रामनरेश त्रिपाठी का 'मिलन' (१९१७) तथा गोकुलचन्द्र शर्मा का 'गांधी-गौरव' विशेषतः उल्लेखनीय हैं। 'विकट भट', 'केशों की कथा', 'शकुन्तला-जन्म', 'सरगौ नरक ठेकाना नाहिं', 'रुक्मिणी-सन्देश', 'सती सीता', 'वीर पंचरत्न' आदि अनेक पद्यकथाओं का भी इस काल में निर्माण हुआ। मुक्तक रचना की ओर इस युग के सभी कवि प्रवृत्त हुए हैं—छोटे-छोटे विषयों को लेकर स्वतन्त्र पद्यों की रचना पुष्कल परिमाण में हुई। शंकर तथा हरिऔध ने समस्यापूर्तियों के रूप में भी अनेक सुन्दर मुक्तक लिखे। रत्नाकर ने प्रबन्ध-मुक्तक 'उद्धव-शतक'[1] की रचना की। इसमें प्रबन्ध का पूर्वापर सम्बन्ध भी है तथा प्रत्येक पद्य मुक्तक के समान स्वतः पूर्ण भी है। द्विवेदी-युग में प्रगीतों का भी प्रणयन हुआ। यद्यपि इस विधा का वास्तविक विकास तो द्विवेदी-युग के बाद ही हुआ, किन्तु इस युग के कवियों ने भी इसे अपना अवश्य लिया था। इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय तथा माखनलाल चतुर्वेदी के नाम उल्लेखनीय हैं।

भाषा-परिवर्तन : द्विवेदी-युग में काव्य की मुख्य भाषा ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ीबोली बन गयी। आज खड़ीबोली के भाषा-सौन्दर्य, मार्दव और अभिव्यंजना-क्षमता के दर्शन के पश्चात् उसकी काव्योपयुक्तता विवादास्पद नहीं रह गयी है, किन्तु द्विवेदी-काल से पूर्व ऐसी बात नहीं थी। जार्ज ग्रियर्सन-जैसे भाषाविद्; भारतेन्दु, प्रतापनारायण मिश्र आदि कवि तथा बाद में रत्नाकर-सरीखे कवि-मनीषी खड़ीबोली की काव्योपयुक्तता के विषय में सन्देहशील थे। द्विवेदीयुगीन काव्य ने इस शंका को निर्मूल कर दिया। यद्यपि आरम्भ में खड़ीबोली-काव्य नीरस तुकबन्दी के अतिरिक्त कुछ नहीं था, किन्तु उसमें उत्तरोत्तर निखार गया। 'जयद्रथ-वध' की प्रसिद्धि ने ब्रजभाषा के मोह का वध कर दिया। 'भारत-भारती' की लोकप्रियता खड़बोली की विजय-भारती सिद्ध हुई। वस्तुतः द्विवेदीयुगीन काव्य का विकास इस बात का इतिहास है कि खड़ीबोली अपरिपक्वता, अव्यवस्था और अमार्दव से किस भाँति परिपक्वता, व्यवस्था और मार्दव तक पहुँची। इसके अतिरिक्त इस युग की भाषा आचार्य द्विवेदी के आदर्शानुसार सुबोध, शुद्ध और रसानुरूप है।

छन्द-वैविध्य : आलोच्य काल में वर्ण्य विषय के समान ही छन्द के क्षेत्र में भी अद्भुत वैविध्य मिलता है। दोहा, कवित्त या सवैया के प्रयोग तक ही कवि सीमित नहीं रहे वरन् रोला, छप्पय, कुण्डलिया, सार, सरसी, गीतिका, हरिगीतिका, ताटंक, लावनी, वीर आदि छन्द भी कुशलतापूर्वक व्यवहृत हुए। हिन्दी के ही नहीं, संस्कृत के वर्णिक छन्दों और उर्दू-बह्रों को भी अपनाया गया। गुप्तजी, हरिऔध तथा शंकर ने छन्द-प्रयोग में अद्भुत कौशल का परिचय दिया। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने छन्द के विशेषीकरण का भी परामर्श दिया था। परिणामतः गुप्तजी ने हरिगीतिका, हरिऔध ने वर्णिक छन्दों तथा उर्दू-शैली के चौपदों, शंकर ने कवित्तों, पूर्ण जी ने कुण्डलिया, गोपालशरण सिंह ने कवित्त-सवैया तथा गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' और भगवानदीन जी 'दीन' ने उर्दू-बह्रों में वैशिष्ट्य अधिक प्राप्त किया।

---

[1] 'उद्धव-शतक' का प्रकाशन यद्यपि १९२९ ई० में हुआ, किन्तु इसके अधिकांश भाग का प्रणयन द्विवेदी-युग में ही हो चुका था। (देखिए 'उद्धव-शतक', कवि का निवेदन)

प्रमुख कवि

नाथूराम शर्मा शंकर : पण्डित नाथूराम शर्मा शंकर (१८५९-१९३२) का जन्म हरदुआगंज, ज़िला अलीगढ़ में हुआ था। ये हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी तथा संस्कृत भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आरम्भ से ही शंकर जी बड़े साहित्यानुरागी थे। तेरह वर्ष की छोटी आयु में ही इन्होंने अपने एक साथी पर एक दोहा रचा था। कानपुर में ये भारतेन्दु-मण्डल के प्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र के सम्पर्क में आये तथा 'ब्राह्मण' में इनकी कविताएँ छपने लगीं। बाद में इन्होंने आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' के मुख्य कवियों में स्थान पाया। प्रारम्भ में ये ब्रजभाषा के कवि थे, किन्तु शीघ्र ही खड़ीबोली की ओर झुक गये थे। ये उर्दू में भी अच्छी कविता लिखते थे। शंकर जी पर आर्यसमाज तथा तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों का गहरा प्रभाव पडा। देश-प्रेम, स्वदेशी-प्रयोग, समाज-सुधार, हिन्दी-अनुराग तथा विधवाओं और अछूतों का दारुण दुःख इनकी कविता के प्रमुख विषय हैं। सामाजिक कुरीतियों, आडम्बरों अन्धविश्वासों, बाल-विवाह आदि पर इन्होंने बड़े तीखे व्यंग्य किये हैं। रीतिकालीन पद्धति पर इन्होंने कुछ शृंगारमयी रचनाएँ भी की हैं। राजा रवि वर्मा के चित्रों के आधार पर भी शंकर जी ने सुन्दर कविताएँ लिखीं। छन्दःशास्त्र के ये बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके काव्य में सभी प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है। ये समस्यापूर्ति में बड़े कुशल थे। तत्कालीन कवि-समाजों और सम्मेलनों में इनकी धूम थी तथा ये 'कविता-कामिनी-कान्त', 'भारतेन्दु-प्रज्ञेन्दु', 'साहित्य-सुधाकर' आदि उपाधियों से विभूषित किये गये। 'अनुरागरत्न', 'शंकर-सरोज', 'गर्भरण्डा-रहस्य' तथा 'शंकर-सर्वस्व' (१९५१) इनके प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं। ये प्रायः अतिशयोक्तिपूर्ण कविता लिखते थे। इनकी अतिशयोक्तियाँ आकाश-पाताल को एक कर देनेवाली हैं। यथा :

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की,
भाप बन अम्बर तें ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव छोरन लौं पल में पिघलकर,
घूम-घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
झारेंगे अंगारे ये तरनि तारे तारापति,
जारेंगे खमण्डल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचेगी नाहि,
जौ पै वा वियोगिनि की आह कढ़ जायगी॥

श्रीधर पाठक (१८५९-१९२८) : इनका जन्म आगरा ज़िले के जोन्धरी गाँव में हुआ था। हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने अँगरेज़ी और संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। आजीविका के लिए पाठक जी ने सरकारी नौकरी की। नौकरी के प्रसंग में ही इन्हें काश्मीर और नैनीताल भी जाना पड़ा, जहाँ इन्हें प्रकृति के निरीक्षण का अच्छा अवसर मिला। इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में अच्छी कविता की है। इनकी ब्रजभाषा सहज और निराडम्बर है—परम्परागत रूढ़ शब्दावली का प्रयोग इन्होंने प्रायः नहीं किया है। खड़ीबोली के तो ये प्रथम समर्थ कवि भी कहे जा सकते हैं। यद्यपि इनकी खड़ीबोली में कहीं-कहीं ब्रजभाषा के क्रियापद भी प्रयुक्त हैं, किन्तु यह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा 'सरस्वती' का सम्पादन सँभालने से पूर्व ही इन्होंने खड़ीबोली में कविता लिखकर अपनी स्वच्छन्द वृत्ति का परिचय दिया। देश-प्रेम, समाजसुधार तथा प्रकृति-चित्रण इनकी कविता

विषय हैं। इन्होंने बड़े मनोयोग से देश का गौरव-गान किया है, किन्तु देश-
साथ इनमें भारतेन्दुकालीन कवियों के समान राजभक्ति भी मिलती है। एक ओर
रतोत्थान', 'भारत-प्रशंसा' आदि देशभक्तिपूर्ण कविताएँ लिखी हैं तो दूसरी ओर
ना' जैसी कविताओं में राजभक्ति का भी प्रदर्शन किया है। समाज-सुधार की ओर
दृष्टि बराबर रही है। 'बाल-विधवा' में इन्होंने विधवाओं की व्यथा का कारुणिक
किया है। परन्तु इनको सर्वाधिक सफलता प्रकृति-चित्रण में प्राप्त हुई है। तत्कालीन
इन्होंने सबसे अधिक मात्रा में प्रकृति-वर्णन किया है। परिमाण की दृष्टि से ही
की दृष्टि से भी वह सर्वश्रेष्ठ है। इन्होंने रूढ़ि का परित्याग कर प्रकृति का स्वतन्त्र
नोहारी चित्रण किया है। मातृभाषा की उन्नति की भी ये कामना करते थे। यथा :

निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग।
करहु सकल विषयन विषैं निज भाषा उपजोग ॥

पाठक जी कुशल अनुवादक भी थे—कालिदास-कृत 'ऋतुसंहार' और गोल्डस्मिथ-कृत
', 'डेजर्टेड विलेज' तथा 'द ट्रैवेलर' का ये बहुत पहले ही 'एकान्तवासी योगी', 'ऊजड़
और 'श्रान्त पथिक' शीर्षक से काव्यानुवाद कर चुके थे। इनकी मौलिक कृतियों में
', 'काश्मीर सुषमा' (१९०४), 'देहरादून' (१९१५) और 'भारत गीत' (१९२८)
उल्लेखनीय हैं। पाठक जी की काव्य-शैली के उदाहरणस्वरूप एक अवतरण नीचे
ता है :

चारु हिमाचल आँचल में एक साल विसालन कौ बन है।
मृदु मर्मर शीत झरैं जल-स्रोत हैं पर्वत-ओट है निर्जन है॥
लिपटे हैं लता द्रुम, गान में लीन प्रवीन विहंगन कौ गन है।
भटक्यौ तहाँ रावरौ भूल्यौ फिरै, मद बावरौ सौ अलि को मन है॥

महावीरप्रसाद द्विवेदी : महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८) का जन्म ज़िला
ली के दौलतपुर नामक ग्राम में हुआ था। गाँव की पाठशाला में प्रारम्भिक शिक्षा पाने
त् ये अँगरेज़ी पढ़ने के लिए रायबरेली के स्कूल में भरती हुए, बाद में रनजीत पुरवा
उन्नाव), फ़तेहपुर तथा उन्नाव के स्कूलों में दाखिल हुए। वहाँ से अपने पिता के पास
चले गये। बम्बई में इन्होंने संस्कृत, गुजराती, मराठी और अँगरेज़ी का अच्छा ज्ञान
किया। मिडिल कक्षाओं में इन्होंने वैकल्पिक विषय के रूप में फ़ारसी पढ़ी तथा इन्हें
का भी अच्छा अभ्यास था। आजीविका के लिए द्विवेदी जी ने रेलवे की नौकरी की।
उच्चाधिकारी से कुछ कहा-सुनी हो जाने के कारण इन्होंने त्यागपत्र दे दिया। साहित्य-
जो द्विवेदी जी नौकरी के दिनों में भी कर रहे थे, किन्तु नौकरी छोड़ने के बाद तो
हिन्दी भाषा और साहित्य की सेवा में जुट गये। सन् १९०३ में ये 'सरस्वती' के
बने और १९२० तक बड़े परिश्रम और लगन से यह कार्य करते रहे। 'सरस्वती'
दक के रूप में इन्होंने हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया,
स्मरणीय रहेगा। इनके प्रोत्साहन और मार्ग-दर्शन के परिणामस्वरूप कवियों और
की एक पीढ़ी का निर्माण हुआ। खड़ीबोली को परिष्कार तथा स्थिरता प्रदान करने
ये अग्रगण्य हैं। ये कवि, आलोचक, निबन्धकार, अनुवादक तथा सम्पादकाचार्य थे।
हुए मौलिक और अनूदित गद्य-पद्य-ग्रन्थों की संख्या लगभग ८० है। मौलिक
रचना की ओर इनकी विशेष प्रवृत्ति नहीं थी, अनूदित काव्य-कृतियाँ अधिक सरस हैं।
एवं सम्पादन के क्षेत्र में इन्हें विशेष सफलता मिली। 'काव्य-मंजूषा', 'सुमन'

(१९२३), 'कान्यकुब्ज-अबला-विलाप' (मौलिक पद्य) 'गंगालहरी', 'ऋतु-तरंगिणी', सम्भवसार' (अनूदित). आदि द्विवेदी जी की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनकी कविता सरल और प्रायः उपदेशपूर्ण होती थी। इन्होंने अपनी कविता में दो प्रकार की भाषा प्रयोग किया है—एक तो तत्सम-प्रधान समस्त भाषा का, दूसरे प्रचलित शब्दावली-युक्त भाषा का। दोनों तरह का एक-एक उदाहरण नीचे दिया जाता है :

(अ) पृथ्वी-समुद्र-सरित-नर-नाग-सृष्टि।
मांगल्य-मूल-मय वारिद-वारि-वृष्टि॥
कर्तार कौन इनका ? किस हेतु नाना—
व्यापार-भार सहता रहता महाना ?

(आ) तुम्हीं अन्नदाता भारत के सचमुच बैलराज ! महाराज!
बिना तुम्हारे हो जाते हम दाना-दाना को मोहताज॥
तुम्हें षंण्ड कर देते हैं जो महानिर्दयीजन-सिरताज॥
धिक उनको, उन पर हँसता है, बुरी तरह, यह सकल समाज॥

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' : 'हरिऔध' जी (१८६५-१९४७) द्विवेदी-यु प्रख्यात कवि होने के साथ-साथ उपन्यासकार, आलोचक एवं इतिहासकार भी थे। पु संस्कृति का पुनरुद्धार, देश के वर्तमान युवक का उचित मार्ग-प्रदर्शन तथा कविता में उप त्मक वृत्ति को इन्होंने आरम्भ से ही अपना ध्येय रखा। इनका जन्म निज़ामाबाद, ज़ि आज़मगढ़ में हुआ था। इन्होंने उर्दू, फ़ारसी एवं संस्कृत का ज्ञान घर पर ही प्राप्त कि सर्वप्रथम ये निज़ामाबाद के मिडिल स्कूल में अध्यापक हुए, उसके पश्चात कानूनगो। इ सन् १९२३ में सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण किया और शेष जीवन साहित्य-सेवा समर्पित कर दिया। कुछ समय तक इन्होंने काशी विश्वविद्यालय में अवैतनिक प्राध्यापक रूप में भी कार्य किया। इनके काव्य-ग्रन्थों में 'प्रियप्रवास' (१९१४), 'पद्यप्रसून' (१९ 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' (१९३२), 'बोलचाल', 'रसकलस' तथा 'वैदेही-वनवास'(१९ प्रसिद्ध हैं। इनमें से 'प्रियप्रवास' खड़ीबोली में लिखा गया प्रथम महाकाव्य है। इसमें राधा और कृष्ण को सामान्य नायक-नायिका के स्तर से ऊपर उठाकर विश्व-सेवी तथा विश्व-प्रेमी के में चित्रित करने में 'हरिऔध' ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। महाकाव्यत्व की दृ से भी यह एक सफल ग्रन्थ है। इनकी दूसरी उल्लेख्य रचना है—'रसकलस'। यह एक री ग्रन्थ है, जिसमें रस स्वरूप और रस-प्रकारों का सूक्ष्म विवेचन है। नायिकाभेद-वर्णन और वर्णन के अन्तर्गत इन्होंने कुछ मौलिक स्थापनाएँ भी की हैं। इनके द्वारा नव-निर्धारि नायिकाओं में पति-प्रेमिका, परिवार-प्रेमिका, लोक-सेविका आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी-युगो काल में रचित 'वैदेही-वनवास' भी एक श्रेष्ठ महाकाव्य है। यद्यपि कथानक के अपेक्षा संक्षिप्त होने के कारण इसमें राम का शक्ति, सौन्दर्य और शील-समन्वित चरित्र नहीं उ सका; फिर भी इसका महत्त्व अक्षुण्ण है। अपनी करुण सरलता में यह काव्य अद्वितीय है।

'हरिऔध' जी ने ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों में रचनाएँ की हैं। ब्रजभाषा 'रसकलस' की रचना हुई है, तो 'प्रियप्रवास' तथा 'वैदेही-बनवास' की खड़ीबोली में। इन काव्य में एक ओर सरल और प्रांजल हिन्दी का निरलंकार सौन्दर्य है, तो दूसरी ओर संस् की आलंकारिक समस्त पदावली की छटा भी विद्यमान है। एक स्थान पर मुहावरों और बोलचाल के शब्दों की झड़ी लगी हुई है, तो दूसरी जगह उन्हें तिलांजलि दे दी गयी है। कहीं वर्णनात्मक शैली का अजस्र प्रवाह है, तो कहीं चित्रात्मक शैली का चमत्कार। इन्हों

द्विवेदीयुगीन भाषा की कर्कशता में सरसता का संचार किया है। वास्तव में खड़ीबोली को काव्योपयुक्त बनानेवालों में ये अग्रगण्य हैं। इन्होंने दोहा, कवित्त, सवैया आदि के साथ ही संस्कृत के वर्णवृत्तों में काव्य-रचना की है और इनको सभी में समान रूप से सफलता मिली है। छन्दों और भावों के अनुरूप भाषा का प्रयोग करने की इनमें अद्‌भुत सामर्थ्य है। इनकी पूर्ण साहित्य-सेवा के कारण ही हिन्दी-संसार इन्हें 'कवि-सम्राट्' के रूप में स्मरण करता है। दो बार हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का सभापति बनाकर हिन्दी-जगत् ने इनका यथोचित सम्मान किया। नागरीप्रचारिणी सभा, आरा ने अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रदान कर इनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी। 'प्रियप्रवास' पर इन्हें हिन्दी का सर्वोत्तम पुरस्कार—मंगलाप्रसाद पारितोषिक—प्रदान किया गया था। इनकी काव्य-शैली बड़ी मार्मिक और भावपूर्ण है। यशोदा का विरह वर्णन बड़ा सहृदय-संवेद्य है :

प्रिय पति, वह मेरा प्राणप्यारा कहाँ है।
दुख-जलनिधि डूबी का सहारा कहाँ है॥
लख मुख जिसका मैं आज लौं जी सकी हूँ।
वह हृदय हमारा नैन-तारा कहाँ है॥
पल-पल जिसके मैं पन्थ को देखती थी।
निशिदिन जिसके ही ध्यान में थी बिताती॥
उर पर जिसके है सोहती मुक्तमाला।
वह नवनलिनी से नैनवाला कहाँ है॥

उपर्युक्त पद्यों में खड़ीबोली का सहज रूप मिलता है, किन्तु 'प्रियप्रवास' में ही कहीं-कहीं उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा का भी प्रयोग किया है। इसी प्रकार 'चुभते चौपदे', 'चोखे चौपदे' और 'बोलचाल' मुहावरेदार भाषा में रचित सफल काव्य-कृतियाँ हैं।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' : राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (१८६८-१९१५) का जन्म जबलपुर में हुआ था। वहीं पर बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त कर इन्होंने कुछ दिन वकालत की और फिर कानपुर चले आये। वकालत के अतिरिक्त ये सार्वजनिक कार्यों में भी सोत्साह भाग लेते थे। ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे तथा वेदान्त में इनकी विशेष रुचि थी। व्यावसायिक और सामाजिक कार्य-कलाप में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी ये साहित्य के अध्ययन और प्रणयन में दत्तचित्त रहे। इनकी कविता बड़ी सरस एवं भावपूर्ण है। ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों पर इनका समानाधिकार था। इन्होंने शृंगारादि परम्परागत विषयों पर ब्रजभाषा में तथा देशभक्ति आदि नवीन विषयों पर खड़ीबोली में काव्य-रचना की है। प्रकृति-सौन्दर्य की ओर भी इनका ध्यान गया था। इनके प्रकृति-चित्र बड़े सरल और स्वाभाविक हैं। 'धाराधरधावन' (१९०२) शीर्षक से इन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का अत्यन्त सरस पद्यबद्ध अनुवाद किया है। 'स्वदेशी कुण्डल' (१९१०) में इनकी देशभक्तिपूर्ण ५२ कुण्डलियाँ संगृहीत हैं। 'मृत्युंजय' (१९०४), 'राम-रावण-विरोध' (१९०६) तथा 'वसन्त-वियोग' (१९१२) इनकी अन्य उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं। 'पूर्ण' जी की काव्य-शैली के परिचय के लिए उनका एक उपदेशात्मक छन्द उद्धृत किया जाता है :

चींटी, मक्खी शहद की, सभी खोजकर अन्न।
करते हैं लघु जन्तु तक, निज गृह को सम्पन्न॥
निज गृह को सम्पन्न करो स्वच्छन्द मनुष्यो!
तजो तजो आलस्य अरे मतिमन्द मनुष्यो!!

चेत न अब तक हुआ मुसीबत इतनी चक्खी;
भारत की सन्तान ! बने हो चींटी, मक्खी !

रामचरित उपाध्याय : रामचरित उपाध्याय (१८७२-१९३८) गाज़ीपुर के रहनेवाले थे। इनकी आरम्भिक शिक्षा संस्कृत में हुई—बाद में इन्होंने ब्रजभाषा और खड़ीबोली पर भी अच्छा अधिकार प्राप्त किया। पहले ये प्राचीन विषयों पर ही कविताएँ लिखते थे, किन्तु आचार्य द्विवेदी के सम्पर्क में आने पर-इन्होंने खड़ीबोली तथा नूतन विषयों को अपनाया। 'राष्ट्रभारती', 'देवदूत', 'देवसभा', 'विचित्र विवाह' आदि कृतियों के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने 'रामचरित-चिन्तामणि' नामक प्रबन्धकाव्य की भी रचना की है। कवित्व अथवा रामभक्ति की दृष्टि से विशेष महत्त्व की रचना न होने पर भी इसके रावण-अंगद-संवाद प्रभृति कतिपय स्थल बड़े मार्मिक बन पड़े हैं। उपाध्याय जी द्विवेदी-युग के प्रमुख सूक्तिकार हैं। नीतिविषयक इनके पद्य 'सूक्ति-मुक्तावली' में संगृहीत हैं, जो इनके व्यापक अनुभव एवं लोक-व्यवहार-ज्ञान के परिचायक हैं। इनके कुछ दोहे नीचे दिये जाते हैं :

उपजे यदपि सुवंस में, खल तउ दुखद कराल।
चन्दन हूँ की आग ले, जरे देह तत्काल ॥
मानी दीन न हो सकैं, बरुक प्रान दें खोय।
बिना बुझे सपनेहुँ नहिं, पावक सीतल होय ॥
अपने तें जो छुद्र अति, तिहिं पै करिउ न क्रोध।
किहूँ भाँति सोहत नहीं, केहरि ससक विरोध ॥

गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' : कविवर 'सनेही' (१८८३-१९७२) का जन्म उन्नाव ज़िले के हड़हा ग्राम में हुआ था। ये उर्दू के भी अधिकारी विद्वान् थे और हिन्दी के साथ-साथ उर्दू में भी अच्छी कविता करते थे। हिन्दी में इन्होंने प्राचीन और नवीन दोनों शैलियों की कविता लिखी है। खड़ीबोली में कवित्त और सवैया छन्दों का प्रयोग करने में ये बड़े माहिर थे। उर्दू-बह्रों का भी इन्होंने कुशल प्रयोग किया है। शृंगार आदि परम्परागत विषयों पर जहाँ ये 'सनेही' उपनाम से लिखते थे, वहाँ राष्ट्रीय भावनाओं की कविता को इन्होंने 'त्रिशूल' उपनाम से लिखा है। तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलनों के लिए इन्होंने अनेक प्रयाण-गीत और बलिदान-गीत लिखे। पराधीन देश की दुर्दशा, आर्थिक विषमता, अस्पृश्यता आदि विषयों पर भी इन्होंने बड़ी मार्मिक एवं प्रभावी कविताओं का प्रणयन किया। ये कवि-सम्मेलनों में उत्साहपूर्वक भाग लेते थे तथा 'सुकवि' नामक काव्य-पत्रिका के सम्पादक भी थे। 'कृषक-क्रन्दन', 'प्रेम-पचीसी', 'राष्ट्रीय वीणा', 'त्रिशूल तरंग', 'करुणा कादम्बिनी' आदि इनकी मुख्य काव्य-रचनाएँ हैं। इनकी रचनाओं में अपूर्व वाग्वैदग्ध्य, शब्द-चमत्कार, उक्ति का अनूठापन तथा ऊहात्मकता मिलती है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ,
तू है महासागर अगम मैं एक धारा क्षुद्र हूँ।
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ,
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ ॥

मैथिलीशरण गुप्त : मैथिलीशरण गुप्त (१८८६-१९६४) का जन्म चिरगाँव (झाँसी) में हुआ था। ये द्विवेदी-काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि थे। गुप्त जी की आरम्भिक रचनाएँ कलकत्ता से निकलनेवाले 'वैश्योपकारक' में प्रकाशित होती थीं। बाद में इनका परिचय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी से हुआ और इनकी कविताएँ 'सरस्वती' में प्रकाशित होने

ओं। द्विवेदी जी के आदेश और उपदेश तथा स्नेहमय प्रोत्साहन के परिणामस्वरूप इनकी काव्य-कला में निखार आया। इनकी प्रथम पुस्तक 'रंग में भंग' का प्रकाशन सन् १९०९ में हुआ, किन्तु इनकी ख्याति का मूलाधार 'भारत-भारती' (१९१२) है। 'भारत-भारती' ने हिन्दी-भाषियों में जाति और देश के प्रति गर्व और गौरव की भावनाएँ प्रबुद्ध कीं और तभी से ये राष्ट्रकवि के रूप में विख्यात हुए। गुप्त जी मातृभूमि को केवल भूमि-खण्ड नहीं, अपितु 'सगुण मूर्ति सर्वेश की' मानते हैं :

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मण्डन हैं,
बन्दीजन खगवृन्द, शेष-फन सिंहासन हैं।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की ॥

मैथिलीशरण गुप्त प्रसिद्ध रामभक्त कवि थे। इसके साथ ही इन्होंने भारतीय जीवन को समग्रता में समझने और प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया है। 'मानस' के पश्चात् हिन्दी में रामकाव्य का दूसरा स्तम्भ मैथिलीशरण-कृत 'साकेत' ही है। वास्तव में आधुनिक युग में प्रबन्धकाव्य की विलोपमान परम्परा के संरक्षक गुप्त जी ही हैं। इन्होंने दो महाकाव्यों और उन्नीस खण्डकाव्यों का प्रणयन किया है। परन्तु इस विपुलता में पिष्टपेषण नहीं है, वरन् आधारभूत पृष्ठभूमि का समयोचित विस्तार है। इनका चरित्र-चित्रण-कौशल भी उत्कृष्ट प्रबन्ध-कला का प्रमाण है। गुप्त जी ने 'तिलोत्तमा', 'चन्द्रहास' और 'अनघ' नामक तीन नाटक, प्रायः सभी प्रकार के प्रगीत और मुक्तक भी लिखे हैं। किन्तु नाटकों, प्रगीतों और मुक्तकों में ये वैसी भाव-सृष्टि नहीं कर पाये, जैसी कि प्रबन्धकाव्यों में। वस्तुतः ये मूलतः प्रबन्धकार थे—अन्य साहित्य-रूपों में इनकी प्रतिभा को उचित विकास नहीं मिला। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास में इनका अन्यतम योगदान है। वास्तव में उसे काव्योपयुक्त रूप प्रदान करनेवालों में ये अग्रगण्य थे। यहाँ तक कि इनकी आरम्भिक रचना 'जयद्रथ-वध' में भी खड़ीबोली का सरस-मधुर और प्रांजल रूप मिलता है। भारतीय संस्कृति के ये अनन्य प्रस्तोता थे। किन्तु, अन्धानुकरण की प्रवृत्ति इनमें नहीं थी—कालान्तर में आ जानेवाली विकृतियों से इनके साहित्य का सांस्कृतिक पृष्ठाधार एकदम मुक्त है। दूसरे, अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं में आस्था रखने पर भी इन्होंने युगधर्म की कभी उपेक्षा नहीं की। भारतीय संस्कृति के प्रवक्ता होने के साथ-साथ ये नवीन भारत के राष्ट्रीय कवि भी थे। इनकी प्रायः सभी रचनाएँ राष्ट्रीयता से ओतप्रोत हैं। उत्तर भारत में राष्ट्रीयता के प्रचार और प्रसार में 'भारत-भारती' के योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता। इनकी परवर्ती रचनाएँ भी असन्दिग्ध रूप से राष्ट्र-भावना से परिपूर्ण हैं। गुप्त जी के प्रमुख काव्य-ग्रन्थ हैं—जयद्रथ-वध (१९१०), भारत-भारती (१९१२), पंचवटी (१९२५), झंकार (१९२९), साकेत (१९३१), यशोधरा (१९३२), द्वापर (१९३६), जयभारत (१९५२), विष्णुप्रिया (१९५७) आदि। 'प्लासी का युद्ध', 'मेघनाद-वध', 'वृत्र-संहार' आदि इनके द्वारा अनूदित काव्य हैं।

रामनरेश त्रिपाठी : रामनरेश त्रिपाठी (१८८९-१९६२) का जन्म ज़िला जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर ग्राम में हुआ था। इन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा गाँव की पाठशाला में ही पायी। अंग्रेज़ी पढ़ने के लिए ये जौनपुर के एक स्कूल में भरती हुए, किन्तु अध्ययन का क्रम नवीं

कक्षा से आगे नहीं चल सका। कविता के प्रति इनकी लड़कपन से ही रुचि थी। गाँव की पाठशाला के प्रधानाचार्य ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। ये सभी समस्यापूर्तियाँ करने लगे। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रभावस्वरूप ये खड़ीबोली की ओर उन्मुख हुए। त्रिपाठी जी के चार काव्य-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं : 'मिलन' (१९१७), 'पथिक' (१९२०), 'मानसी' (१९२७) और 'स्वप्न' (१९२९)। इनमें से 'मानसी' इनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है जो मुख्यतः देशभक्ति, प्रकृति-चित्रण और नीति-निरूपण से सम्बद्ध है। 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' काल्पनिक कथाश्रित प्रेमाख्यानक खण्डकाव्य हैं। तीनों में व्यक्तिगत सुख और स्वार्थ को त्यागकर देश के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा दी गयी है। इन प्रबन्धकाव्यों में यथास्थान प्रकृति के भी मनोरम चित्र मिलते हैं। कवि होने के साथ-साथ त्रिपाठी जी सहृदय सम्पादक भी थे। 'कविता-कौमुदी' के आठ भागों में इन्होंने बड़ी योग्यता से हिन्दी, उर्दू, बँगला एवं संस्कृत की कविताओं का संकलन और सम्पादन किया है। लोकगीतों का संग्रह भी इन्होंने बड़ी लगन और परिश्रम से किया तथा इस कार्य के निमित्त इन्हें पर्याप्त पर्यटन करना पड़ा। इनकी काव्य-रचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

सच्चा प्रेम वही है जिसकी,
तृप्ति आत्म-बलि पर हो निर्भर।
त्याग बिना निष्प्राण प्रेम है,
करो प्रेम पर प्राण निछावर॥
देश-प्रेम वह पुण्य-क्षेत्र है,
अमल असीम त्याग से विलसित।
आत्मा के विकास से जिसमें,
मनुष्यता होती है विकसित॥

अन्य कवि : द्विवेदी-युग की काव्य-समृद्धि में कुछ अन्य कवियों का योगदान भी उल्लेखनीय है। कालक्रमानुसार इनमें प्रमुख हैं—बालमुकुन्द गुप्त, भगवानदीन, अमीर अली 'मीर', कामताप्रसाद गुरु, गिरिधर शर्मा 'नवरत्न', रूपनारायण पाण्डेय, लोचनप्रसाद पाण्डेय, गोपालशरण सिंह और मुकुटधर पाण्डेय। यहाँ इनकी काव्य-कला का संक्षिप्त विवेचन अभीष्ट है। **बालमुकुन्द गुप्त** (१८६५-१९०७) का जन्म हरियाणा प्रदेश के रोहतक ज़िले के ग्राम गुड़ियाना में हुआ था। ये भारतेन्दु-युग और द्विवेदी-युग को जोड़नेवाली कड़ी हैं। ये अच्छे कवि, अनुवादक और अपने समय के बहुत कुशल सम्पादक थे। इनकी कविताएँ 'स्फुट कविता' (१९०५) में संकलित हैं और परिमाण में थोड़ी होने पर भी बड़ी प्रभावी हैं। राष्ट्रीयता और हिन्दी-प्रेम इनकी कविताओं के मुख्य विषय हैं। ये बड़े ज़िन्दादिल तथा विनोदशील व्यक्ति थे। तत्कालीन लेखकों से प्रायः इनकी नोक-झोंक चलती रहती थी। लाला भगवानदीन (१८६६-१९३०) ने खड़ीबोली और ब्रज़भाषा दोनों में सफलतापूर्वक काव्य-रचना की है। ये काव्यशास्त्र के पण्डित और मध्यकालीन काव्य के मर्मज्ञ थे। इनका जन्म फतहपुर ज़िले के बरबर ग्राम में हुआ था। ये हिन्दी, उर्दू और फ़ारसी के अच्छे ज्ञाता थे तथा 'दीन' उपनाम से कविता करते थे। उर्दू-बह्रों के प्रयोग में ये बड़े निपुण थे। इनकी ब्रजभाषा की कविताएँ तो चिराचरित विषयों पर परम्परागत शैली में लिखी गयी हैं, किन्तु खड़ीबोली में इन्होंने बड़ी ओजस्वी भाषा में वीरों के चरित्र लिखे हैं। 'वीर क्षत्राणी', 'वीर बालक' तथा 'वीर पंचरत्न' इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। 'नवीन बीन' इनका एक अन्य कविता-संग्रह है। उर्दू की तर्ज़ पर लिखी इनकी नेत्र-सम्बन्धी कुछ उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :

कहो तो आज कह दें आपकी आँखों को क्या समझे।
सिता सिन्दूर मृगमदयुक्त अद्भुत कुछ दवा समझे।।
अगर इसको न मानो तो बता दें दूसरी उपमा।
सहित हाला हलाहल मिश्रिता सुन्दर सुधा समझे।।
न हो सन्तोष इस पर भी तो उपमा तीसरी ले लो।
युगल पद धारिणी त्रिगुणात्मिका ऋग् की ऋचा समझे।।

अमीर अली 'मीर' (१८७३-१९३७) का जन्म सागर (मध्यप्रदेश) में हुआ में ही पिता की मृत्यु हो जाने के कारण ये अपने चाचा के पास ज़िला सागर, के में रहे। साहित्य के क्षेत्र में इनका प्रवेश समस्यापूर्ति के माध्यम से हुआ। इनके में 'मीर-मण्डल' कवि-समाज की स्थापना हुई। ये बड़े हिन्दी-प्रेमी थे और उसे बनाने के समर्थक थे। 'रामचरितमानस' के प्रति इनका विशेष अनुराग था। परिमार्जित खड़ीबोली है। ईश्वर-भक्ति और देश-प्रेम इनकी कविता के मुख्य । 'उलाहना-पंचक' और 'अन्योक्ति-शतक' इनकी मुख्य काव्य-कृतियाँ हैं। **कामता-** का जन्म भी सागर (मध्यप्रदेश) में हुआ था। ये कई भाषाओं के अच्छे ज्ञाता कविता सरल और भावपूर्ण है। 'भौमासुर-वध' और 'विनय पचासा' इनके में लिखे हुए पद्य-ग्रन्थ हैं। 'पद्य पुष्पावली' नाम से इनकी खड़ीबोली-कविताओं का शित हुआ है। इनकी 'शिवाजी' और 'दासी रानी' शीर्षक कविताओं ने अच्छी । किन्तु इनकी ख्याति का विशेष कारण इनका व्याकरण-ग्रन्थ है, जिसे आज का आदर्श और प्रामाणिक व्याकरण-ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। **गिरिधर शर्मा** (१८८१-१९६१) का जन्म झालरापाटन (जयपुर) में हुआ था। इनकी अधि- काशी में हुई। 'सरस्वती' तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में इनकी कविताएँ बराबर थीं। इनकी कविताओं का मुख्य विषय स्वदेश-प्रेम था। ये हिन्दी के अतिरिक्त भी कवि थे। संस्कृत और बँगला से इन्होंने हिन्दी में पद्यानुवाद भी किया है। मौलिक काव्य-रचना 'मातृवन्दना' है। **रूपनारायण पाण्डेय** का जन्म १८८४ ई० में हुआ था। 'नागरी-प्रचारक', 'इन्दु', 'माधुरी' आदि कई पत्रिकाओं का इन्होंने सम्पादन किया। आरम्भ में ये ब्रजभाषा में कविता करते थे, किन्तु द्विवेदी से खड़ीबोली में काव्य-रचना करने लगे। इनका काव्य बड़ा सरस और है। पशु-पक्षियों तक इनकी सहानुभूति का प्रसार है। इन्होंने संस्कृत तथा के हिन्दी में सरस अनुवाद भी किये हैं। 'पराग' (१९२४) तथा 'वन-वैभव' कविताओं के संकलन हैं।

द्विवेदीयुगीन कवियों में **लोचनप्रसाद पाण्डेय** (१८८६-१९५९) को विशेष ख्याति । इनका जन्म मध्यप्रदेश के बिलासपुर ज़िले के बालापुर गाँव में हुआ था। हिन्दी, अंगरेजी एवं संस्कृत भाषाओं के ये अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने प्रबन्ध तथा मुक्तक की रचनाएँ लिखी हैं। नीति-उपदेश तथा चरित्रोत्थान इनकी कविता का है। 'प्रवासी', 'मेवाड़-गाथा', 'महानदी' तथा 'पद्य-पुष्पांजलि' इनकी मुख्य हैं। अपनी साहित्य-सेवाओं के कारण पाण्डेय जी को 'काव्य-विनोद' तथा वाचस्पति' की उपाधियाँ प्राप्त हुईं। **ठाकुर गोपालशरण सिंह** (१८९१-१९६०) (रीवां राज्य) में उत्पन्न हुए थे। खड़ीबोली को परिमार्जित करने और उसे माधुर्य- वालों में इनका नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने खड़ीबोली में ब्रजभाषा के समान

सरस-मधुर कवित्त-सवैयों की रचना की है। इनकी कविता में जीवन की विविध के भावपूर्ण चित्र मिलते हैं। 'माधवी', 'मानवी', 'संचिता' तथा 'ज्योतिष्मती' इनकी काव्य-कृतियाँ हैं। लोचनप्रसाद पाण्डेय के अनुज मुकुटधर पाण्डेय (जन्म १८९५) सुकवि थे। ये प्रकृति के उपासक थे। इनके काव्य में भावात्मकता, आंतरिक और रहस्यात्मक अनुभूति के दर्शन होते हैं। ये द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ प्रगीतकार माने हैं। वस्तुतः इनके काव्य में छायावाद का पूर्वाभास मिलता है। 'पूजा-फूल' तथा ' कुसुम' इनके प्रकाशित काव्य-संकलन हैं।

उपर्युक्त काव्य-निर्माताओं के अतिरिक्त और भी अनेक महानुभावों ने द्विवेदी में हिन्दी-काव्य की श्रीवृद्धि की है जिनमें से लोकमणि, सत्यशरण रतूड़ी, मन्नन द्वि पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, शिवकुमार त्रिपाठी, पार्वतीदेवी, तोषकुमारी आदि के उल्लेखनीय हैं। सियारामशरण गुप्त, माखनलाल चतुर्वेदी, प्रसाद, पन्त तथा निराला ने इसी युग में कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु इनकी काव्य-कला का वास्तविक विकास आगे चलकर ही हुआ।

ब्रजभाषा-काव्य

भारतेन्दु-काल से खड़ीबोली और ब्रजभाषा का जो तीव्र विवाद चला आ रहा वह द्विवेदी-युग के आरम्भ में लगभग समाप्त हो गया—गद्य की सर्व-स्वीकृत भाषा खड़ी बोली कविता की भी मुख्य भाषा बन गयी। देश-काल के अनुसार चलनेवाले कवियों ने खड़ी बोली और नव-नव भावनाओं को सहर्ष अपनाया। समय का रुख देखकर कुछ ऐसे कवि हुए जो आलोच्य काल से पूर्व ब्रजभाषा में अच्छी रचना कर चुके थे और अब खड़ीबोली में कविता लिखने लगे। ऐसे कवियों में श्रीधर पाठक, 'हरिऔध' तथा नाथूराम शर्मा 'शंकर' के नाम मुख्य हैं। श्रीधर पाठक-कृत 'काश्मीर सुषमा' और हरिऔध-कृत 'रसकलस' ब्रजभाषा की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। इनके विपरीत कुछ कवि काल-प्रवाह से निरपेक्ष रहकर प्राचीन परिपाटी की कविता ही लिखते रहे। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' विशेषतः और एक सीमा सत्यनारायण 'कविरत्न' ऐसे ही कवि हैं। उधर राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' तथा भगवानदीन 'दीन' नवीन शैली की ओर भी उन्मुख हुए और प्राचीन शैली की कविता भी लिखते रहे। द्विवेदी-युगीन ब्रजभाषा-काव्य प्रायः प्राचीनता का अनुवर्तनमात्र है। इस काव्यधारा में प्रा परम्परागत उपादान ही गृहीत हैं—चिराचरित विषयों पर चिरभुक्त प्राचीन परिपाटी के अनुसार लिखा गया है। अधिकांशतः भक्ति, शृंगार तथा ऋतु-वर्णन से आगे प्रस्तुत की काव्य-भूमि नहीं बढ़ सकी। भाव, कल्पना और कला की दृष्टि से उस पर प्राचीनता की स्पष्ट छाप है—उसका वातावरण निश्चित रूप से मध्यकालीन है। उदाहरणस्वरूप रा देवीप्रसाद 'पूर्ण', जिन्होंने खड़ीबोली में नवीन विषयों को अपनाया, जब ब्रजभाषा में कवि लिखते हैं तो पुराना राग अलापने लगते हैं :

चन्दमुखी हीरन के भूषन अमन्द धारे,
मोतिन किनारी बारी सारी चारु धारी है।
जोबन की ज्योति तैसी रूप की है बेस बनी,
जाति ब्रजचन्द सों मिलन हेतु प्यारी है॥
'पूरन' जू जामिनी में कौतुक अनोखो भयो,
जावै कुंजबन ह्वै सिधारी सुकुमारी है।

भोर जानी चोरन ने, मोरन तड़ित जानी,
समुझी चकोरन ने चन्द उजियारी है ॥

इसी प्रकार खड़ीबोली में वीरों की उत्साहवर्द्धक कथाओं के प्रणेता 'दीन' का में लिखा हुआ ताजमहल विषयक पद्य देखिये जिसकी वस्तु और शैली सर्वथा वीन है :

कैधौं बासुकी को खंड खंड ह्वै पर्यो है आय,
चारिहू मीनार सो सँपोलन-समाज हैं।
चारि भुजा धारिकै विराजो किधौं भूत-नाथ,
जमुना निकट बहै सोई नागराज है ॥
'दीन' कवि कैधौं चारि दन्त-जुत देखियत,
ब्रज-तट इन्द्रगज-मस्तक दराज है।
जग के समस्त सौध-सन्धन को सिर-ताज,
भारत में राजि रह्यो आगरे को ताज है ॥

सत्यनारायण 'कविरत्न' की कविता पर यत्किंचित् युग-चेतना का प्रभाव भी परि- होता है। नारी-शिक्षा के विषय में 'भ्रमरदूत' की यशोदा कहती हैं :

नारी-सिक्षा निरादरत जे लोग अनारी,
ते स्वदेस-अवनति-प्रचंड-पातक अधिकारी।
निरखि हाल मेरो प्रथम, लेउ समझि सब कोइ,
विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होई ॥
लखौ अजमाइ कै ॥

सब मिलि पूजिय भारत माई', 'बन्दौं भारत-भुवि महतारी' आदि पदों में उन्होंने द्गार प्रकट किये हैं तथा भक्तिपरक पदों में कहीं-कहीं देश की दुर्दशा का भी किया है। किन्तु ऐसे स्थल विरल ही हैं; अन्य ब्रजभाषा-कवियों की रचनाओं में तो भी कम हैं। द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ ब्रजभाषा-कवि रत्नाकर तो युगीन भावनाओं अप्रभावित ही रहे। श्रीधर पाठक आदि दो-एक कवियों ने प्रकृति का स्वतन्त्र रूप त्रण किया है, किन्तु वे उसमें किसी मौलिक विशेषता का समावेश नहीं कर सके। और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से भी द्विवेदीयुगीन ब्रजभाषा-काव्य में कोई उल्लेख- रिवर्तन नहीं हुआ। प्रायः परम्परागत काव्य-रूपों, चिर-व्यवहृत छन्दों और रिक्थ- प्राप्त ब्रजभाषा का ही प्रयोग होता रहा।

काल-प्रवाह की चिन्ता न कर आधुनिक युग में भी कथ्य और कथन-शैली दोनों ही से मध्यकालीन आदर्शों को स्वीकार करनेवाले कवियों में जगन्नाथदास 'रत्नाकर' -१९३२) प्रमुख थे। इनके पूर्वज हरियाणा के प्रसिद्ध नगर पानीपत के निकट नामक कस्बे के निवासी थे, जो कई पीढ़ी पहले काशी में आ बसे थे। रत्नाकर जी ने तक शिक्षा पायी; आगे फ़ारसी में एम० ए० भी करना चाहते थे, किन्तु कुछ कारणों इच्छा पूरी न हो सकी। कुछ दिनों ये अवागढ़ रियासत में कोषाधिकारी रहे और फिर नरेश के निजी सचिव के रूप में कार्य किया; उनके स्वर्गस्थ होने पर इनकी कार्य- से प्रभावित महारानी अयोध्या ने इन्हें अपने निजी सचिव के रूप में नियुक्त किया। रत्नाकर जी के पिता भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अन्तरंग मित्र, हिन्दी-कविता के प्रेमी फ़ारसी के विद्वान् थे। अतः इनके घर पर कवि-गोष्ठियाँ हुआ करती थीं। यहीं से

इनमें साहित्यानुराग उत्पन्न हुआ और ये स्वयं भी कविता करने लगे। आरम्भ में ये ' उपनाम से उर्दू में कविता करते थे, बाद में हिन्दी में कविता लिखने लगे। साहित्य, सं धर्म और दर्शन में रत्नाकर जी की विशेष रुचि थी। ब्रजभाषा-काव्य के ये आदर्श संगीत, आयुर्वेद, ज्योतिष, पुरातत्त्व आदि की भी इन्हें अच्छी जानकारी थी। ये उर्दू, फ़ा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, मराठी, बँगला भाषाओं के ज्ञाता तथा ब्रजभाषा के मर्मज्ञ आधुनिक ब्रजभाषा-कवियों में रत्नाकर जी को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है। ब्रजभाषा के तत्का अन्य कवियों ने जहाँ पूर्ववर्ती काव्य की प्रायः एक ही प्रवृत्ति को ग्रहण किया; वहाँ इ भक्ति, नीति, शृंगार तथा वीरता-सम्बन्धी रीति-परिपाटी की कविताएँ लिखीं। भावों रमणीयता के साथ-साथ इनके काव्य में शैलीगत अलंकरण भी मिलता है, किन्तु यह अलं कहीं भी रसास्वादन में व्याघात उपस्थित नहीं करता। रत्नाकर-जैसी अनूठी सूझ, उ वैचित्र्य तथा चित्रोपम शैली भी बहुत कम कवियों में मिलेगी। प्रौढ़ और चित्रमय ब्रज के प्रयोग में ये रीतिकाल के श्रेष्ठ कवियों के समकक्ष हैं। 'उद्धव-शतक' (१९२ 'गंगावतरण' (१९२७), 'शृंगार-लहरी', 'हरिश्चन्द्र', 'हिंडोला' (१८९४) आदि इनके प्र काव्य-ग्रन्थ हैं। इनके द्वारा सम्पादित 'बिहारी-रत्नाकर' बिहारी-कृत 'सतसई' का विस्त पूर्ण टीका-सहित प्रामाणिक संस्करण है। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'कविकुल-कण्ठाभरण 'दीपप्रकाश', 'हम्मीर-हठ' आदि का भी सम्पादन किया। रत्नाकर जी की काव्य-शैली निदर्शनार्थ 'उद्धव-शतक' से एक कवित्त नीचे दिया जाता है:

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गावँनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नन्द-पौरि आवन तबै लगीं॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि-पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥

सत्यनारायण 'कविरत्न' (१८८०-१९१८) का जन्म ज़िला अलीगढ़ के सराय ना गाँव में हुआ। बाल्यावस्था में ही ये माता-पिता के स्नेह से वंचित रह गये; ताज (आगरा) के बाबा रघुबरदास ने इनका पालन-पोषण किया। १९१० ई० में इन्हों सेंट जॉन्स कॉलेज, आगरा से बी० ए० की परीक्षा दी, किन्तु असफल रहे। क्रमिक शि वहीं छूट गयी। 'कविरत्न' जी छात्रावस्था से ही ब्रजभाषा में कविताएँ लिखने लगे थे। आरम्भ में ये परम्परागत ढंग से विनय-पद तथा समस्यापूर्तियाँ लिखते थे, बाद में प्रौढ़ रचनाओं भक्त तथा देशप्रेमी कवि के रूप में सामने आये। इनकी कविता अत्यन्त भावुकतापूर्ण निराडम्बर है। प्रकृति का भी इन्होंने बड़ा मनोहारी चित्रण किया है। इन्होंने सहज मधु ब्रजभाषा का प्रयोग किया है। इनके भक्तिपरक पद किसी भी भक्त कवि से कम द्रवणशी नहीं हैं, किन्तु ये भक्ति के पदों में भी देश की दशा को विस्मृत नहीं करते। इसी भाँ 'भ्रमर-दूत' के परम्परागत प्रसंग में भी इन्होंने देश-प्रेम का समावेश कर दिया है:

जे तजि मातृभूमि सों ममता, होत प्रवासी।
तिन्हें बिदेसी तंग करत हैं विपदा खासी॥

नहिं आये—निरदय दई, आये—गौरव जाय।
साँप छछूँदर गति भई; मन ही मन अकुलाय ।।
रहे सब के सबै ।।

कविरत्न' जी की कविताओं का एक संग्रह 'हृदय-तरंग' नाम से प्रकाशित हुआ है। संगृहीत 'प्रेमकली' एवं 'भ्रमरदूत' शीर्षक दो रचनाओं ने बड़ी प्रसिद्धि पायी। 'भ्रमर- राष्ट्रीय भावना की सशक्त व्यंजना हुई है। लार्ड मैकाले की प्रसिद्ध रचना 'होरेशस' इन्होंने बहुत अच्छा अनुवाद किया है। वस्तुतः परिमाण में अल्प होने पर भी इनकी गुण की दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण हैं।

उपर्युल्लिखित कवियों के अतिरिक्त शिवसम्पत्ति, किलोरीलाल गोस्वामी, सुधाकर तथा जगन्नाथप्रसाद 'भानु' के नाम भी द्विवेदीकालीन ब्रजभाषा-कवियों के रूप में णीय हैं।

मूल्याकन

द्विवेदी-युग की कविता राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता है। इस युग की राष्ट्रीयता यिकता और प्रान्तीयता से ऊपर अति उदार और व्यापक राष्ट्रीयता है। मातृभूमि सर्वस्व-बलिदान, स्वार्थ-त्याग तथा पारस्परिक वैमनस्य को दूर करने की अमोघ प्रेरणा इन कवियों ने असंकीर्ण राष्ट्रीय भावना को विकसित किया तथा तत्कालीन राष्ट्रीय नों को बल प्रदान किया। द्विवेदीकालीन कवियों ने जातीय जीवन की बड़ी मार्मिक त्मक आलोचना की। उन्होंने उसके शुभ पक्ष को प्रोत्साहित और अशुभ पक्ष को किया। जहाँ उन्होंने सामाजिक कुरीतियों, धार्मिक आडम्बरों एवं निरर्थक रूढ़ियों दार प्रहार किये वहाँ अपनी परम्परा के उपयोगी तत्त्वों का सबल समर्थन और किया। वस्तुतः इस युग की कविता का सांस्कृतिक पक्ष अत्यन्त सबल है, उसी में शक्ति निहित है। प्रस्तुत युग में एक नवीन मानवतावादी दृष्टिकोण गृहीत हुआ— मानव के गौरव की प्रतिष्ठा पहली बार इसी युग में हुई। महिमामण्डित ही नहीं, तुच्छ भी काव्य का विषय बना।

द्विवेदी-युग में काव्य-भूमि का अद्भुत विस्तार हुआ। 'सब विषय काव्योपयुक्त हो हैं; अपना-अपना मत प्रकाशन करने की सबको स्वतन्त्रता है'—इस प्रकार के मत का तो भारतेन्दु-काल में ही हो गया था। परन्तु फिर भी भारतेन्दुकालीन कविता के सीमित ही रहे। इस युग में आकर ही उपर्युक्त मत व्यवहार में परिणत हुआ। महान् और आदर्श चरित्रों के साथ-साथ न जाने कितने छोटे-छोटे, नगण्य और काव्य-क्षेत्र अपरिचित प्रसंग काव्य-विषय के रूप में गृहीत हुए। आचार्य द्विवेदी के अथक एवं सफल दिशा-निर्देशन के फलस्वरूप गद्य और पद्य की भाषा का एकीकरण भी युग में हुआ। बोलचाल की भाषा अर्थात् खड़ीबोली ही काव्य की मुख्य भाषा बन । द्विवेदी-युग के आरम्भ में खड़ीबोली अनगढ़, शुष्क और अस्थिर-स्वरूप थी, किन्तु शनैः इसका स्वरूप निश्चित, सुघड़ और मधुर बनता चला गया। असल में, आलोच्य का इतिहास खड़ीबोली के तुतलाने से लेकर उसके स्फीत वाग्धारा तक पहुँचने का है। द्विवेदीकालीन खड़ीबोली के कवियों ने विविध छन्दों का भी कुशल प्रयोग है। इनके काव्य में हिन्दी के ही नहीं, संस्कृत और उर्दू के भी अनेक छन्द प्रयुक्त हैं। के चिर-व्यवहृत छन्दों—कवित्त और सवैया—में भी सुष्ठु रचना हुई। भाव,

भाषा और छन्द में ही नहीं, काव्य-रूप के क्षेत्र में भी एकरूपता मिलती है। प्रस्तुत काल में महाकाव्य, खण्डकाव्य, लघु पद्यकथा, मुक्तक, प्रबन्ध-मुक्तक आदि विविध काव्य-विधाओं में प्रचुर रचना हुई।

सामान्यत: द्विवेदीयुगीन काव्य को नीरस, इतिवृत्तात्मक और उपदेशात्मक कहा जाता है। एक सीमा तक यह बात ठीक भी है। नये-नये काव्य-विषयों और अपरिमार्जित भाषा को स्वीकार करने के कारण आरम्भ के कुछ वर्षों तक प्रयोग की स्थिति बनी रही। प्रयोग-कालीन कविताओं में निश्चय ही भाव-प्रवणता का अभाव है। किन्तु, यह भी निश्चित है कि धीरे-धीरे इनमें मधुरता, सरसता और भावपूर्णता आती चली गयी। 'प्रियप्रवास', 'साकेत', 'जयद्रथ-वध', 'मिलन' आदि रम्य भावपूर्ण रचनाएँ तथा 'भारत-भारती', 'वीर पंचरत्न' प्रभृति ओजपूर्ण कृतियाँ इसी युग की देन हैं। हाँ, काव्य में सदुपदेश और उच्चादर्शों का समावेश तो अन्त तक ही बना रहा क्योंकि वह द्विवेदीकालीन सिद्धान्त—'उसमें उचित उपदेश का भी मर्म्म होना चाहिए'—के अनुरूप ही है।

समग्रत: द्विवेदीयुगीन काव्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान, उदार राष्ट्रीयता, जागरण-सुधार एवं उच्चादर्शों का काव्य है। इसमें विषयगत अपार वैविध्य एवं व्यापकत्व मिलता है। इस युग में सभी काव्य-रूपों का सफल प्रयोग हुआ है। खड़ीबोली के स्वरूप-निर्धारण और विकास का श्रेय भी इसी कालखण्ड को है। छन्द के क्षेत्र में जो वैविध्य इस युग में मिलता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। यद्यपि इस युग की अधिकांश कविता में अपेक्षित गहराई नहीं है, कलात्मक समृद्धि भी नहीं है; किन्तु राष्ट्र के उद्बोधन, जागरण-सुधार और सांस्कृतिक पुनरुत्थान के अद्भुत सामर्थ्य एवं खड़ीबोली के स्वरूप-निर्माण और संस्कार के कारण हिन्दी-काव्य के इतिहास में द्विवेदी-युग का अवमूल्यन नहीं किया जा सकता।

गद्य-साहित्य

द्विवेदी-युग में रचित गद्य-साहित्य के मूल में कार्य करनेवाली सांस्कृतिक चेतना का महत्त्व कई दृष्टियों से मान्य है। इस समय विदेशी शासन के प्रति जनता के असन्तोष में निरन्तर वृद्धि हुई और हमारी राष्ट्रीय चेतना क्रमश: विकसित होती हुई एक निश्चित लक्ष्य—पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति—की सिद्धि के संकल्प में परिणत हुई, जिसकी अभिव्यक्ति इस युग के साहित्य में प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष दोनों रूपों में ध्यान आकृष्ट करती है। राजनीतिक चेतना के साथ ही इस अवधि में भारत की आर्थिक चेतना भी विकसित हुई। १९०६ ई० में कांग्रेस ने भारतीय जनता के आर्थिक हितों को दृष्टि में रखकर शासन का खर्च घटाने—विशेषत: सेना पर व्यय की जानेवाली राशि को घटाने, करों में कमी करने, सिंचाई का उचित प्रबन्ध करने, कृषि-बैंकों की स्थापना करने, प्राचीन उद्योगों को पुन: जीवित कर नये उद्योगों को स्थापित करने और गल्ले के निर्यात पर रोक लगाने का सुझाव दिया। विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और सामाजिक-धार्मिक चेतना के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य काल का महत्त्व कम नहीं है। जहाँ १८९२ ई० में ईसाई धर्मोपदेशकों के साथ लोकमान्य तिलक और न्यायमूर्ति रानाडे के मात्र चाय पी लेने पर समाज में तहलका मच गया था और इन नेताओं को गोमूत्र के प्राशन से प्रायश्चित्त करना पड़ा था; वहाँ १९१८ ई० में महात्मा गांधी ने एक अछूत कन्या को अपने आश्रम में रखकर अपनी पुत्री की तरह उसका पोषण किया, सभी जातियों के लोगों को एकसाथ एक ही पंक्ति में बैठाकर भोजन कराने की

की और अन्तर्जातीय विवाह को प्रोत्साहित किया। यद्यपि आलोच्य काल में आर्य- और सनातन धर्म दोनों का द्वन्द्व चलता रहा, किन्तु यह निर्विवाद है कि धार्मिक- क्षेत्र में क्रमशः उदारता और सहिष्णुता की भावनाएँ फैलती जा रही थीं। यह नैतिक जागरूकता, आर्थिक समझदारी, सामाजिक-धार्मिक उदारता तथा राष्ट्र-प्रेम तः शिक्षित मध्य वर्ग की जनता के जागरण का परिणाम था। समाज को सभी क्षेत्रों में प्रदान करनेवाला वर्ग यही था। साहित्य-रचना भी इसी शिक्षित मध्यवर्गीय समाज की जा रही थी। यह वर्ग सर्वाधिक संवेदनशील था। साहित्यकारों के मन पर राष्ट्र प्रत्येक महत्त्वपूर्ण घटना का प्रभाव पड़ता था और वह उनकी रचनाओं में प्रतिविम्बित थी। यही कारण है कि आलोच्य काल के गद्य-साहित्य की प्रत्येक विधा में अन्तर्निहित एक ही है और वह व्यापक राष्ट्रीय जागरण एवं सुधार की भावना से सम्बद्ध है।

नाट्य साहित्य

आलोच्य काल नाट्य साहित्य की दृष्टि से सबसे कम समृद्ध है। जहाँ भारतेन्दु ने पूर्ण साहित्यिक नाटकों को लोकप्रिय बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया था और उनके योगी साहित्यकार नाटक-रचना को साहित्यिक प्रतिभा की कसौटी मानते थे, वहाँ तेन्दु के बाद लगभग पच्चीस वर्षों की कालावधि में हिन्दी-नाटक-साहित्य ह्रासोन्मुख रहा। की दृष्टि से आलोच्य काल में लिखे गये नाटक कम नहीं हैं, किन्तु महत्त्व की दृष्टि से य हैं। सुविधा के लिए इस काल के नाटकों को छह वर्गों में विभाजित किया जा ता है: (क) पौराणिक नाटक, (ख) ऐतिहासिक नाटक, (ग) सामयिक उपादानों पर त नाटक, (घ) रोमांचकारी नाटक, (ङ) प्रहसन और (च) अनूदित नाटक।

द्विवेदी-युग में पौराणिक नाटकों के तीन वर्ग लक्षित होते हैं—कृष्णचरित-सम्बन्धी, चरित-सम्बन्धी तथा अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं से सम्बन्धित। कृष्णचरित- न्धी नाटकों में राधाचरण गोस्वामी-कृत 'श्रीदामा' (१९०४), शिवनन्दन सहाय-कृत मा' (१९०७), बनवारीलाल-कृत 'कृष्णकथा' व 'कंसवध' (१९०९), ब्रजनन्दन सहाय- 'उद्धव' (१९०९) और नारायण मिश्र-कृत 'कंसवध' (१९१०) उल्लेखनीय हैं। चरित-सम्बन्धी नाटकों में रामनारायण मिश्र-कृत 'ज़नक बाड़ा' (१९०६), गंगाप्रसाद- 'रामाभिषेक' (१९१०), गिरधरलाल-कृत 'राम-वनयात्रा' (१९१०), नारायणसहाय- 'रामलीला' (१९११) और रामगुलामलाल-कृत 'धनुषयज्ञ लीला' (१९१२) महत्त्व- हैं। अन्य पौराणिक पात्रों एवं घटनाओं को लेकर लिखे गये नाटकों में महावीरसिंह का दमयन्ती (१९०५), गौरचरण गोस्वामी का 'अभिमन्यु-वध' (१९०६), सुदर्शनाचार्य 'अनर्घ नलचरित' (१९०६), बाँकेबिहारीलाल का 'सावित्री नाटिका' (१९०८), कृष्ण भट्ट का 'वेणुसंहार' (१९०९), लक्ष्मीप्रसाद का 'उर्वशी' (१९१०), हनुमन्तसिंह 'सती चरित्र' (१९१०), शिवनन्दन मिश्र का 'शकुन्तला' (१९११), जयशंकर प्रसाद का णालय' (१९१२), बद्रीनाथ भट्ट का 'कुरुवन दहन' (१९१५), माधव शुक्ल का भारत पूर्वार्द्ध' (१९१६), हरिदास माणिक का 'पाण्डव-प्रताप' (१९१७) तथा माखन- चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' (१९१८) उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त नाटकों में पौराणिक ख्यानों एवं चरित्रों के माध्यम से जनता को उपदेश देने की प्रवृत्ति ही प्रधान है। प्रायः कला का उपयुक्त विकास इनमें नहीं मिलता और अभिनय-तत्त्व भी गौण है। यहाँ कि बालकृष्ण भट्ट-जैसे साहित्यकार ने भी भद्दी भूलें की हैं। 'वेणुसंहार' में महाराज

वेणु के कर्मचारी अँगरेज़ी शब्दों का प्रयोग करते हुए दिखाये गये हैं और उनके राज्य नागरिक उर्दू-ग़ज़लों में आधुनिक सामाजिक विकृतियों का चित्रण करते हैं। एकमात्र अपवा 'कृष्णार्जुन-युद्ध' है, जिसे राष्ट्रीय चेतना और साहित्यिक गुणों से युक्त होने के फलस्वरू पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हुई।

ऐतिहासिक नाटकों में गंगाप्रसाद गुप्त का 'वीर जयमल' (१९०३), वृंदावनला वर्मा का 'सेनापति उदल' (१९०९), बद्रीनाथ भट्ट का 'चन्द्रगुप्त' (१९१५), कृष्णप्रक सिंह का 'पन्ना' (१९१५), हरिदास माणिक का 'संयोगिता हरण' (१९१५), जयशं प्रसाद का 'राज्यश्री' (१९१५) और परमेष्ठीदास जैन का 'वीर चूड़ावत सर्दार' (१९१ उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में ऐतिहासिक वातावरण का निर्माण नहीं हो सका है— 'राज्यश्री' में प्रसाद ने इतिहास-तत्त्व की रक्षा अवश्य की है। वस्तुतः हिन्दी-साहित्य में ऐतिहासिक नाटकों का सूत्रपात प्रसाद से ही हुआ है;

सामयिक उपादानों पर आधृत नाटकों में प्रतापनारायण मिश्र-कृत 'भारत दुर्द (१९०२), भगतीप्रसाद-कृत 'वृद्ध-विवाह' (१९०५), जीवानन्द शर्मा-कृत 'भारत विज (१९०६), कृष्णानन्द जोशी-कृत 'उन्नति कहाँ से होगी' (१९१५) और मिश्रबन्धु-कृ 'नेत्रोन्मीलन' (१९१५) उल्लेखनीय हैं। इन नाटकों में सामयिक सामाजिक-राजनीति जीवन की विकृतियों को उभारने की चेष्टा की गयी है किन्तु इनका लक्ष्य समाज-सुधा ही है। नाट्यकला की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व नहीं है।

रोमांचकारी नाटक मुख्यतः रोमांचकारी एवं अलौकिक घटनाओं को केन्द्र में रखकर पारसी रंगमंच की दृष्टि से लिखे गये। इन्हें इतिहासकारों ने मंचीय नाटक भी कहा है। ये नाटक दो प्रकार के हैं—एक वे, जिनकी रचना फ़ारसी-प्रेमाख्यानों के आधार पर हुई है और दूसरे वे, जिनकी रचना पौराणिक आख्यानों को लेकर की गयी है। ये नाटक व्यवसायी नाटक-मण्डलियों के लिए लिखे गये हैं, इसलिए इनके आधार पर तत्कालीन जनसामान्य की रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है। रोमांचकारी रंगमंचीय नाटककारों में मोहम्मद मियाँ 'रौनक', हुसैन मियाँ 'जरीफ़', मुंशी विनायकप्रसाद 'तालिब', सैयद मेंहदी हसन 'अहसान' नारायणप्रसाद 'बेताब', आगा मोहम्मद 'हश्र' और राधेश्याम कथावाचक उल्लेखनीय हैं। इन्होंने अपने नाटकों को चमत्कारपूर्ण बनाने के लिए परदों की तड़क-भड़क और वेश-भूषा की चमक-दमक के साथ दृश्यों में अद्भुत तत्त्वों का समावेश किया। आकाश में तारों का टूटना, मंच पर खम्भों का टूटना और उनके भीतर से पात्रों का सहसा प्रकट होना, आकाश-मार्ग से देवताओं का जाना और वहीं से पुष्प-वर्षा करना आदि विचित्र दृश्यों का विधान साधारण बात थी। इन नाटकों का प्रारम्भ 'कोरस' से होता था। इनमें प्रायः प्रमुख कथा के समानान्तर एक 'प्रहसन' भी चलता था, जो दर्शकों को हँसाने या मूल नाटक की भावधारा में परिवर्तन लाने के लिए प्रयुक्त होता था। आगे चलकर नाटककारों ने प्रमुख कथा के अन्तर्गत ही हास्य-तत्त्व का समावेश करना उचित समझा। रोमांचक रंगमंचीय नाटकों की भाषा में उर्दू-फ़ारसी की शब्दावली का प्राधान्य था। क्रमशः इसमें परिवर्तन हुआ और साधारण बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जाने लगा। वस्तुतः व्यवसायी पारसी कम्पनियों का उद्देश्य सामान्य जनता का मनोरंजन करके धनोपार्जन करना था। इनकी प्रतिक्रिया में कुछ अव्यवसायी नाटक-मण्डलियाँ भी सामने आयीं। इनमें श्रीरामलीला नाटक-मण्डली (प्रयाग), काशी नागरी नाटक-मण्डली, भारतेन्दु नाटक मण्डली, हिन्दी नाट्य परिषद् (कलकत्ता) आदि उल्लेखनीय हैं। इन नाटक-मण्डलियों

साहित्यिक और सुरुचिपूर्ण नाटकों का अभिनय किया ।

आलोच्य युग में नाटकों के अन्तर्गत प्रमुख कथा-धारा के समानान्तर चलनेवाले प्रहसनों रिक्त स्वतन्त्र रूप से भी कुछ प्रहसनों की रचना की गयी । बद्रीनाथ भट्ट का 'चुंगी दवारी' (१९१२) एक अच्छा प्रहसन है । इसके विपरीत गंगाप्रसाद श्रीवास्तव-कृत ' (१९१८) और 'नोक-झोंक' (१९१८) में छिछले हास्य की सृष्टि की गयी है ।

द्विवेदी-युग में संस्कृत, अँगरेज़ी और बँगला भाषा से कुछ नाटकों के अनुवाद भी संस्कृत से श्री सदानन्द अवस्थी ने 'नागानन्द' (१९०६), लाला सीताराम ने टिक' (१९१३) और कविरत्न सत्यनारायण ने 'उत्तररामचरित' का अनुवाद किया । ज़ी से शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद लाला सीताराम और चतुर्भुज औदीच्य ने । फ्रांस के प्रसिद्ध नाटककार मोलियर के नाटकों को लल्लीप्रसाद पाण्डेय और गंगा- श्रीवास्तव ने अँगरेज़ी के माध्यम से अनूदित किया । बँगला भाषा से कुछ नाटकों का ब्रजनन्दन सहाय ने किया । किन्तु, प्रायः उपर्युक्त सभी अनूदित नाटकों में मूल की आत्मा सुरक्षित नहीं रह सकी है ।

सब मिलाकर आलोच्य युग का नाट्य साहित्य तत्कालीन हिन्दी-साहित्य के गौरव के नहीं है । भारतेन्दु और प्रसाद के बीच ऐसा एक भी नाटककार नहीं है जिसमें नाट्य प्रतिभा हो । एकमात्र अपवाद बद्रीनाथ भट्ट हैं, किन्तु उनके नाटक भी पारसी के उस प्रभाव से अछूते नहीं हैं जिसका उल्लेख बालकृष्ण भट्ट ने १९०३ ई० में इन किया था : "हिन्दू जाति तथा हिन्दुस्तान को जल्द गिरा देने का सुगम लटका यह पारसी है, जो दर्शकों को आशिकों-माशूकों का लुत्फ़ हासिल कराने का बड़ा उम्दा ज़रिया भट्ट जी की यह प्रतिक्रिया तत्कालीन शिष्ट जन-समुदाय की प्रतिक्रिया है । यह भावना भी भट्ट जी स्वयं पारसी थियेटर के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके । 'वेणुसंहार' में भी उर्दू-ग़ज़ल की पद्धति पर गीत-रचना की है । पारसी थियेटर का प्रभाव प्रसाद म्भिक नाटकों पर भी है । इस युग के नाटकों का महत्त्व न तो शिल्प की दृष्टि से हो सकता है और न संस्कार तथा सुरुचि की दृष्टि से । यह अवश्य है कि तत्कालीन की विकृतियाँ सभी प्रकार के नाटकों में उभरकर सामने आयी हैं । कुछ नाटकों में शासन के प्रति विरोध का भाव भी प्रत्यक्ष हो उठा है—इनमें देश की हीनावस्था संकेत भी मिलता है । नाटक चाहे पौराणिक हों चाहे ऐतिहासिक, उनमें तत्कालीन का स्वरूप कहीं-न-कहीं अवश्य उभरा है । आगे चलकर प्रसाद के ऐतिहासिक नाटकों यह प्रवृत्ति लक्षित होती है ।

उपन्यास

आलोच्य काल कथा-साहित्य की दृष्टि से अपेक्षाकृत समृद्ध है, किन्तु इस क्षेत्र में और पाठकों की प्रवृत्ति कुतूहल, रहस्य और रोमांच के माध्यम से मनोरंजन करने रही है । सामाजिक जीवन की यथार्थ समस्याओं को लेकर गम्भीर उपन्यासों की इस युग में कम हुई । रहस्यमयी अद्भुत घटनाओं को शृंखलाबद्ध करके एक संसार में पाठकों को भटकाते रहना लेखकों का प्रधान लक्ष्य प्रतीत होता है । भेद के अधार पर द्विवेदीयुगीन उपन्यासों को पाँच वर्गों में रखा जा सकता है— ऐयारी उपन्यास, जासूसी उपन्यास, अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यास, ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यास ।

तिलस्मी-ऐयारी उपन्यासों की परम्परा देवकीनन्दन खत्रां (१८६१-१९१३) भारतेन्दु-युग में आरम्भ की गयी। आलोच्य युग में यह परम्परा जीवित रही। खत्री के 'काजर की कोठरी' (१९०२), 'अनूठी बेगम' (१९०५), 'गुप्त गोदना' (१९ 'भूतनाथ'—प्रथम छह भाग—(१९०९) आदि उपन्यास इसी युग में प्रकाशित हुए। जी की परम्परा का निर्वाह हरेकृष्ण जौहर ने 'मयंकमोहिनी या मायामहल' (१९ 'कमलकुमारी (१९०२), 'निराला नकाबपोश' (१९०२), 'भयानक खून' (१९ आदि तिलस्मी उपन्यासों की रचना द्वारा किया। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'ति शीशमहल' (१९०५) और रामलाल वर्मा-कृत 'पुतली महल' (१९०८) भी इसी की रचनाएँ हैं। आगे चलकर देवकीनन्दन खत्री के सुपुत्र दुर्गाप्रसाद खत्री ने 'भूतनाथ' शेष भागों को लिखकर इस परम्परा को आगे बढ़ाया।

जासूसी उपन्यासों का प्रवर्तन गोपालराम गहमरी (१८६६-१९४६) ने किया। 'गहमरी जी अँगरेजी के प्रसिद्ध जासूसी उपन्यासकार आर्थर कानन डायल (१८५९-१९ से प्रभावित थे—उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'ए स्टडी इन स्कारलेट' (१८८७) को 'गोविन्दराम' (१९०५) शीर्षक से हिन्दी में रूपान्तरित भी किया। गहमरी जी के उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय हुए। 'सरकटी लाश' (१९००), 'चक्करदार चोरी' (१९० 'जासूस की मूल' (१९०१), 'जासूस पर जासूसी' (१९०४), 'जासूस चक्कर में' (१९ 'इन्द्रजालिक जासूस' (१९१०), 'गुप्त भेद' (१९१३) 'जासूस की ऐयारी' (१९१ आदि उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। गहमरी जी के अतिरिक्त रामलाल वर्मा, किशोरीला गोस्वामी और जयरामदास गुप्त ने भी इस क्षेत्र में कुछ प्रयोग किये, किन्तु सर्वाधिक ख्या गहमरी जी को ही प्राप्त हुई।

अद्भुत घटनाप्रधान उपन्यासों की रचना तिलस्मी और जासूसी उपन्यासों से भि तकनीक पर की जाती थी। इनमें इसी लोक के किसी रहस्यमय कोने का उद्घाटन कि जाता था। इनकी प्रेरणा रेनाल्ड्स-कृत 'मिस्ट्रीज़ ऑफ़ द कोर्ट ऑफ़ लन्दन' के अनुवा 'लन्दन रहस्य' से प्राप्त हुई थी। विट्ठलदास नागर का 'किस्मत का खेल' (१९०१), बांकेलाल चतुर्वेदी का 'खौफ़नाक खून' (१९१२), निहालचन्द वर्मा का 'प्रेम का फल मिस जौहरा' (१९१३), प्रेमविलास वर्मा का 'प्रेममाधुरी या अनंगकान्ता' (१९१५) और दुर्गाप्रसाद खत्री का 'अद्भुत भूत' (१९१६) इस शैली के मुख्य उपन्यास हैं।

प्रस्तुत युग के ऐतिहासिक उपन्यास प्रायः मुस्लिम काल के इतिहास से साम लेकर लिखे गये, किन्तु उनमें इतिहास-तत्त्व की कमी है। लेखकों ने इतिहास की ऐ घटनाओं का चयन किया है, जो पाठकों के कुतूहल एवं रहस्य-रोमांच-वृत्ति को पुष्ट क सकें। किशोरीलाल गोस्वामी, गंगाप्रसाद गुप्त, जयरामदास गुप्त और मथुराप्रसाद शर् इस काल के उल्लेखनीय ऐतिहासिक उपन्यासकार हं। किशोरीलाल गोस्वामी-कृत 'तारा वा क्षात्रकुलकमलिनी' (१९०२), 'सुल्ताना रजिया बेगम वा रंगमहल में हलाहल' (१९०४), 'मल्लिका देवी वा वंग सरोजिनी' (१९०५) और 'लखनऊ की क़ब्र व शाही महलसरा' (१९१७) आलोच्य युग के चर्चित ऐतिहासिक उपन्यास हैं। गंगाप्रसाद गुप्त के ऐतिहासिक उपन्यासों में 'नूरजहाँ' (१९०२), 'कुमारसिंह सेनापति' (१९०३) और 'हम्मीर' (१९०३) उल्लेखनीय हैं। जयरामदास गुप्त-कृत 'काश्मीर पतन' (१९०७), 'नवाबी परिस्तान वा वाजिद अली शाह' (१९०९), 'मल्का चाँद बीबी' (१९०९) आदि उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी की परम्परा में रखे जा सकते हैं। इनमें भी इतिहास कम और

सृष्टि करनेवाली कल्पना अधिक है। मथुराप्रसाद शर्मा-कृत 'नूरजहाँ बेगम व गीर' (१९०५) में इतिहास को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गयी है। वस्तुतः आलोच्य में श्रेष्ठ कलात्मक ऐतिहासिक उपन्यासों की सृष्टि सम्भव ही नहीं थी। उस समय हिन्दीभाषी जनता का मानसिक उन्नयन एवं परिष्कार नहीं हुआ था। इस युग के सबसे उपन्यासकार किशोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२) हैं। उपन्यास-रचना में उद्देश्य प्रेम का विज्ञान प्रस्तुत करना था। इसलिए इनके द्वारा रचित ऐतिहासिक न्यासों के कथानक भी प्रेम की विविधता एवं रहस्यमयता के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास-सम्मत सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक तियों का चित्रण नहीं हुआ है तथा अनेक स्थलों पर काल-दोष भी आ गया है।

द्विवेदी-युग के सामाजिक उपन्यासकारों में लज्जाराम शर्मा (१८६३-१९३१), शोरीलाल गोस्वामी (१८६५-१९३२), अयोध्यासिंह उपाध्याय (१८६५-१९४१), ब्रज- सहाय, राजा राधिकारमणप्रसादसिंह और मन्नन द्विवेदी (१८८४-१९२१) लेखनीय हैं। लज्जाराम शर्मा के 'आदर्श दम्पती' (१९०४), 'बिगड़े का सुधार अथवा सुखदेवी' (१९०७) और 'आदर्श हिन्दू' (१९१४) उपन्यासों का विशेष महत्त्व है। शोरीलाल गोस्वामी के 'लीलावती वा आदर्श सती' (१९०१), 'चपला वा नव्य समाज' (१९०३-१९०४), 'पुनर्जन्म वा सौतिया डाह' (१९०७), 'माधवी माधव वा मदनमोहिनी' (१९०३-१९१०) और 'अँगूठी का नगीना' (१९१८) उपन्यासों को विशेष ख्याति प्राप्त हुई। अयोध्यासिंह उपाध्याय में उपन्यास-लेखन की प्रतिभा नहीं थी। इनके 'अधखिला ल' (१९०७) में धार्मिक अन्धविश्वासों का कुपरिणाम दिखाया गया है। 'ठेठ हिन्दी का ट' (१८९९) इनकी अपेक्षाकृत प्रसिद्ध रचना है, किन्तु इसमें कथाविन्यास की अपेक्षा भाषा विशिष्ट प्रयोग पर ही लेखक की अधिक दृष्टि रही है। ब्रजनन्दन सहाय के 'सौन्दर्योपासक' (१९११) और 'राधाकान्त' (१९१२)—ये दो उपन्यास अधिक प्रसिद्ध हुए। इनके उपन्यास प्रधान हैं, जिसका कारण सम्भवतः यह है कि ये बँगला के भावुकतापूर्ण एवं मर्मस्पर्शी प्रधान उपन्यासों से प्रभावित थे। इस युग की अन्य रचनाओं में मन्नन द्विवेदी-कृत लाल' (१९१७) में ग्रामीण जीवन का सजीव और यथार्थ चित्रण मिलता है तथा कारमण प्रसादसिंह का 'नवजीवन वा प्रेमलहरी' (१९१६) प्रेमाकुलतापूर्ण भावात्मक न्यास है।

आलोच्यकालीन सामाजिक उपन्यासों में सुधारवादी जीवन-दृष्टि ही प्रधान है। शोरीलाल गोस्वामी, लज्जाराम शर्मा और गंगाप्रसाद गुप्त सनातन धर्म के समर्थक थे। समाज के नवीन सुधारवादी आन्दोलन के विरुद्ध होते हुए भी ये लेखक नतिक जीवन- की प्रतिष्ठा चाहते थे। गोस्वामी जी सती-साध्वी देवियों के आदर्श प्रेम के साथ ही प्रेम, विधवाओं के व्यभिचार, वेश्याओं के कुत्सित जीवन और देवदासियों की विलास- का भी चित्रण किया है। उनका उद्देश्य नारकीय कुत्सित जीवन के दुष्परिणाम दिखा- लोगों को उच्च नैतिक जीवन में प्रवृत्त करना था; यों निम्न कोटि के वासनापरक प्रेम-प्रसंगों के प्रभाव से युवा पाठकों के पथभ्रष्ट होने का ख़तरा भी उनके उपन्यासों कम नहीं है।

आलोच्य युग में अँगरेज़ी और बँगला से बहुत-से उपन्यास अनूदित हुए। उदाहरणार्थ प्रसाद गुप्त ने रेनाल्ड के 'लव्ज़ ऑफ़ द हेयर' का 'रंगमहल' (१९०४) नाम से, जनार्दन झा 'द्विज' ने डिफ़ो के 'राबिन्सन क्रूसो' का इसी नाम से, दुर्गाप्रसाद खत्री ने विक्टर

ह्यूगो के 'ला. मिजरेबुल' का 'अभागे का भाग्य' (१९१४-१९१५) नाम से, महावीरप्रसाद पोद्दार ने स्टो के 'अंकल टाम्स केबिन' का 'टाम काका की कुटिया' (१९१६) नाम से और लाला चन्द्रलाल ने स्कॉट के 'द एबट' का 'रानी मेरी' (१९१६) नाम से अनुवाद किया। बँगला भाषा से अधिक अनुवाद हुए। ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने दामोदर मुखोपाध्याय के, किशोरीलाल गोस्वामी ने बंकिमचन्द्र के, गोपालराम गहमरी ने पंचकौड़ी दे के तथा जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' ने रवीन्द्रनाथ टाकुर और रमेशचन्द्र दत्त के कई उपन्यासों के अनुवाद प्रस्तुत किये। यहाँ पर ध्यान देने की बात यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी अनुवाद कौतुक, रहस्य और रोमांचप्रधान उपन्यासों के ही हुए हैं। अँगरेज़ी के गम्भीर समस्याप्रधान उपन्यासों के अनुवाद नहीं किये गये। इससे तत्कालीन लोक-रुचि का अनुमान लगाया जा सकता है।

आलोच्ययुगीन उपन्यासों में महत्त्वपूर्ण परम्परा, जिसने आगे चलकर प्रेमचन्द की उपन्यास-रचना के लिए पृष्ठभूमि प्रस्तुत की, सामाजिक उपन्यासों की ही है। सामाजिक उपन्यासों का लक्ष्य समाज-सुधार था। प्रेमचन्द भी इसी उद्देश्य से प्रेरित थे। उनके 'प्रेमा' (१९०७), 'रूठी रानी' (१९०७) और 'सेवासदन' (१९१८) उपन्यास आलोच्य युग में प्रकाशित हुए। इन तीनों में समाज-सुधार की प्रवृत्ति प्रधान है। प्रेमचन्द का महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने प्रेम-कुतूहल, राग-रंग और रहस्य-केलि के चटकीले चित्रों के स्थान पर सुरुचिपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना पर बल दिया। उन्होंने घटना के स्थान पर चरित्र को उभारने की चेष्टा की, जीवन की वास्तविक समस्याओं को केन्द्र में रखा और क्रमशः कथा-प्रसंगों को मध्य वर्ग के तत्कालीन जीवन-प्रवाह के साथ जोड़ दिया। प्रेमचन्द अंगरेज़ी उपन्यासकारों की रचना-दृष्टि से परिचित थे और उन्होंने ठीक समय पर हिन्दी-उपन्यास को एक नया मोड़ दिया।

कहानी

हिन्दी-साहित्य में कहानियों का आरम्भ कुछ बाद में हुआ। भारतेन्दु-युग में कहानियां नहीं लिखी गयीं। कुछ कथात्मक शैली के निबन्ध अवश्य लिखे गये थे, जो पढ़ने में अत्यन्त रोचक थे। कहानियों का विकास आलोच्य युग में ही हुआ। 'सरस्वती' (१९००) पत्रिका के प्रकाशन के साथ ही हिन्दी-कहानी का जन्म मान्य है। आरम्भ में लिखी गयी कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर, कुछ संस्कृत-नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला-कहानियों को रूपान्तरित करके, कुछ लोककथाओं से प्रेरणा लेकर और कुछ जीवन की वास्तविक घटनाओं को दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गयीं। आरम्भिक कथा-लेखकों में किशोरीलाल गोस्वामी, माधवप्रसाद मिश्र, बंगमहिला, रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, वृन्दावनलाल वर्मा आदि उल्लेखनीय हैं। किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' कहानी 'सरस्वती' में १९०० ई० में प्रकाशित हुई। यह शेक्सपियर के 'टेम्पेस्ट' नाटक के आधार पर लिखी गयी है। इसी वर्ष 'सुदर्शन' में माधवप्रसाद मिश्र की 'मन की चंचलता' कहानी प्रकाशित हुई। १९०२ ई० में 'सरस्वती' में भगवानदीन, बी० ए० की 'प्लेग की चुड़ैल' कहानी प्रकाशित हुई। यह वास्तविक परिस्थिति का चित्र प्रस्तुत करनेवाली रचना है। 'सरस्वती' में ही रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (१९०३) और बंगमहिला की 'दुलाईवाली' (१९०७) शीर्षक कहानियां प्रकाशित हुईं। हिन्दी के आरम्भिक मौलिक कहानीकारों में इन्हीं लेखकों के नाम आते हैं। आगे चलकर ये लेखक साहित्य की अन्य विधाओं की सृष्टि में प्रवृत्त हुए

हानी को विकसित एवं प्रतिष्ठित करने का श्रेय अन्य कलाकारों को मिला। १९०९ ई० वनलाल वर्मा ने 'राखीबन्द भाई' लिखकर ऐतिहासिक कहानियों की परम्परा को या। १९०९ ई० में काशी से 'इन्दु' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें जयशंकर की भावात्मक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इन कहानियों का संग्रह 'छाया' (१९१२) प्रकाशित हुआ। राधिकारमणप्रसाद सिंह की भावपूर्ण कहानी 'कानों में कंगना' में ही १९१३ ई० में प्रकाशित हुई थी। इस समय तक प्रेमचन्द की कुछ कहानियाँ में प्रकाशित हो चुकी थीं। उर्दू में अधिक यश और धन की प्राप्ति की सम्भावना कर वे हिन्दी की ओर उन्मुख होने लगे थे। 'सरस्वती' में प्रकाशित उनकी कुछ यों के शीर्षक हैं—'सौत' (१९१५), 'पंच परमेश्वर' (१९१६), 'सज्जनता का दंड' १६), 'ईश्वरीय न्याय' (१९१७) और 'दुर्गा का मन्दिर' (१९१७)। चन्द्रधर शर्मा (१८८३-१९२०) की प्रसिद्ध कहानी 'उसने कहा था' १९१५ ई० में 'सरस्वती' में हुई। पहले महायुद्ध की पृष्ठभूमि को लेकर लिखी गयी यह कहानी रचना-शिल्प ष्टि से अपने समय से बहुत आगे की रचना है। आधुनिक हिन्दी-कहानी का आरम्भ से मान्य होना चाहिए। इसमें निहित त्यागमय प्रेम का आदर्श भारतीय संस्कृति की के अनुकूल है। १९१५-१९१७ ई० के बीच 'सरस्वती' में ज्वालादत्त शर्मा दिन', विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक (१८९१-१९४५) की 'रक्षाबन्धन', पदुमलाल बख्शी की 'झलमला' आदि बहुचर्चित कहानियाँ प्रकाशित हुईं। सन् १९१८ में से 'हिन्दी गल्पमाला' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इसमें जयशंकर की कहानियाँ नियमित रूप से प्रकाशित होती थीं। इसी पत्र में गंगाप्रसाद श्रीवास्तव इलाचन्द्र जोशी की कुछ प्रारम्भिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं।

उपर्युक्त विवेचन से प्रकट है कि सन् १९०० के लगभग हिन्दी-कहानी का जन्म हुआ १९१२ से १९१८ ई० के बीच वह पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गयी। साहित्य में उसकी स्वतन्त्र भी मान्य हुई और उसका मौलिक रूप निखरा। किसी भी साहित्य-विधा के उद्भव विकास के लिए यह समय बहुत कम है; किन्तु भारतीय मानस में प्राचीन लघुकथाओं संस्कार शेष था। पाश्चात्य कहानी-कला से परिचित होते ही वह संस्कार जाग उठा और में कलापूर्ण कहानियों की सृष्टि आरम्भ हो गयी। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द और प्रसाद भिन्न प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया। प्रेमचन्द जीवन की वास्तविक घटनाओं और ओं को लेकर आदर्श की प्रतिष्ठा कर रहे थे, जबकि प्रसाद मनुष्य के भीतरी भाव-को व्यक्त करने में लीन थे। प्रेमचन्द मुख्यतः वर्तमान के दुःख-दर्द, हार-जीत और अन्याय की कहानी कह रहे थे, जबकि प्रसाद अतीत में कल्पना के सहारे रम रहे थे। उर्दू से हिन्दी में आये थे। उनकी भाषा बोलचाल की मुहावरेदार, चुस्त और सजीव थी। इसके विपरीत प्रसाद काव्यमयी अलंकृत तत्समप्रधान भाषा लिखते थे। इन ने तत्कालीन लेखकों को पर्याप्त प्रभावित किया। आगे चलकर प्रसाद काव्य और नाटक में रम गये। कहानी के क्षेत्र में प्रेमचन्द का स्थान अन्यतम रहा। कालान्तर में हिन्दी-में विकसित होनेवाली सभी प्रवृत्तियों का उद्भव-स्रोत यहीं लक्षित होता है। व्यक्ति में रखकर लिखी जानेवाली कहानियों का उद्भव प्रसाद से और समाज के व्यापक को दृष्टि में रखकर लिखी जानेवाली कहानियों का उद्भव-स्रोत प्रेमचन्द से स्वीकार जाना चाहिए।

आलोच्य युग में कहानियों के अनुवाद भी हुए। अधिकतर बँगला भाषा से अनुवाद

किये गये। अनुवादकों में गिरिजाकुमार घोष (पार्वती नन्दन) और बंगमहिला के नाम वि रूप से उल्लेखनीय हैं।

निबन्ध

भारतेन्दु-युग में पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से निबन्ध-साहित्य की पूर्ण प्रतिष्ठा चुकी थी। उसकी तुलना में द्विवेदी-युग में व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों की परम्परा का ह्रा लक्षित होता है। लेखकों का ध्यान ज्ञान के विविध क्षेत्रों से सामग्री-संचय की ओर अधि गया, आत्मव्यंजना की ओर कम। इस युग के निबन्ध-लेखकों में महावीरप्रसाद द्वि (१८६४-१९३८), गोविन्दनारायण मिश्र (१८५९-१९२६), बालमुकुन्द गुप्त (१८६ (१९०७), माधवप्रसाद मिश्र (१८७१-१९०७), मिश्रबन्धु—श्यामबिहारी मिश्र (१८ १९४७) और शुकदेवबिहारी मिश्र (१८७८-१९५१), सरदार पूर्णसिंह (१८८१-१९३१ चन्द्रधर शर्मा गुलेरी (१८८३-१९२०), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी (१८७५-१९३९), श्याम सुन्दरदास (१८७५-१९४५), पद्मसिंह शर्मा (१८७६-१९३२), रामचन्द्र शुक्ल (१८८ १९४०), कृष्णबिहारी मिश्र (१८९०-१९६३) आदि उल्लेखनीय हैं। महावीरप्रसाद द्वि के बहुसंख्यक निबन्ध परिचयात्मक या आलोचनात्मक टिप्पणियों के रूप में हैं। उनमें आत्म व्यंजना का तत्त्व नगण्य है। कहीं-कहीं आक्रोश या क्षोभ में आकर जब उन्होंने अनुचि कार्यों का प्रतिकार करना चाहा है तब व्यंग्य-रूप में उनकी आन्तरिक भावना प्रकट हो ग है और उनकी न्यायनिष्ठ आत्मा की झलक मिल जाती है। 'म्युनिसिपैलिटी के कारना निबन्ध में उनकी व्यंग्य-शैली का रूप देखा जा सकता है। 'आत्मनिवेदन', 'प्रभात', 'सुतापरा जनकस्य दण्डः' आदि निबन्धों में व्यक्तित्व-व्यंजना के तत्त्व भी मिलते हैं। गोविन्दनाराय मिश्र अपनी पाण्डित्यपूर्ण, संस्कृतनिष्ठ, तत्समप्रधान समासबहुला, दीर्घ वाक्य-विन्यास गद्य-शैली के लिए स्मरणीय हैं। उनके निबन्ध 'सारसुधानिधि' में प्रकाशित होते थे। उन गद्य-विधान को आचार्य शुक्ल ने 'सायास अनुप्रास में गुंथे शब्द-गुच्छों का अटाला' कहा है बालमुकुन्द गुप्त हिन्दी-साहित्य में 'शिवशम्भु का चिट्ठा' के लिए प्रसिद्ध हैं। ये चिट्ठे 'भारतमित्र' में १९०४-१९०५ ई० में प्रकाशित हुए थे। ये तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉ कर्ज़न को सम्बोधित करके लिखे गये हैं। लेखक ने कर्ज़न के भारत-विरोधी कारनामों पर ओजपूर्ण, तीखी एवं व्यंग्यात्मक शैली में प्रहार किया है। इन चिट्ठों के अतिरिक्त इन्होंने तत्कालीन साहित्यिक, राजनीतिक, भाषा-सम्बन्धी तथा राष्ट्रीय महत्त्व के अन्य प्रश्नों पर भी निर्भीकतापूर्वक लेखनी चलायी है। गुप्त जी उर्दू से हिन्दी में आये थे। इनकी गद्य-शैली तीखी, प्रवाहपूर्ण, चुस्त, चुटीली, सजीव, व्यावहारिक एवं सर्वजन-ग्राह्य है। अनेक परवर्ती एवं समकालीन गद्य-लेखक इनकी शैली से प्रभावित हुए थे।

माधवप्रसाद मिश्र के निबन्ध 'सुदर्शन' में प्रकाशित हुए थे। इनके निबन्धों का संग्रह 'माधव मिश्र निबन्धमाला' नाम से प्रकाशित हुआ है। इसमें सभी प्रकार के निबन्ध हैं। इनके द्वारा लिखित पर्वों, त्योहारों तथा भ्रमण-वृत्तान्तों से सम्बन्धित निबन्ध अधिक सजीव, रोचक और आत्मव्यंजक हैं। मिश्रबन्धुओं ने आलोचक-रूप में ही प्रतिष्ठा प्राप्त की, किन्तु कभी-कभी उन्होंने समाज-सुधार-सम्बन्धी विषयों पर भी लेखनी चलायी है। उनका महत्त्व खोजपूर्ण एवं सूचनापरक साहित्यिक निबन्धों के कारण ही मान्य है। ये निबन्ध 'पुष्पाञ्जलि' (१९१६) में संकलित हैं। सरदार पूर्णसिंह आलोच्य युग के श्रेष्ठ निबन्धकार हैं। इन्होंने कुल छह निबन्ध लिखकर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। इनके

नैतिक और सामाजिक विषयों से सम्बद्ध हैं। गद्य में आवेगशील और व्यक्तित्व-णिक शैली का प्रयोग इनकी विशेषता है। इनके निबन्धों में व्यक्त भावनाएँ लहरियों से सीधे जुड़ी हुई हैं। विषय-प्रतिपादन स्वच्छन्द पद्धति पर किया गया तु इन्होंने पाठकों से तादात्म्य बनाये रखने की चेष्टा की है। कहीं-कहीं इनकी शैली शैली बन गयी है। 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता', 'मजदूरी और प्रेम', ता' और 'कन्यादान' इनके प्रसिद्ध निबन्ध हैं।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की साहित्य-क्षमता भी अप्रतिम थी। वे पुरातत्त्व के मान्य थे, किन्तु कहानी और निबन्ध के क्षेत्र में भी उनका स्थान अन्यतम है। उनके निबन्धों क व्यंग्य, पाण्डित्य की छाप और व्यक्तित्व का आकर्षण है। अनेक पुरातात्त्विक एवं क सन्दर्भ इस प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं जैसे वे घरेलू बातचीत के सामान्य विषय हों। जी की भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और विषयानुकूल है। 'कछुवा धर्म' और 'मारेसि मोहिं इनके बहुचर्चित निबन्ध हैं। जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के निबन्ध 'गद्यमाला' (१९०९) निबन्ध-निचय' में प्रकाशित हैं। चतुर्वेदी जी अपनी हास्य-विनोदपूर्ण शैली के लिए हैं। 'ब की बहार', 'पिक्चर पूजा', 'अनुप्रास का अन्वेषण' आदि उनके आकर्षक हैं। पद्मसिंह शर्मा तुलनात्मक आलोचना के लिए प्रसिद्ध हैं। निबन्धों में भी उन्होंने इसी पद्धति को अपनाया है। उनकी शैली प्रशंसात्मक और प्रभावपूर्ण है, साथ ही उनमें खण्डन की भी विशेष क्षमता थी। उनके चुस्त और चुभते हुए वाक्य विशिष्ट शैली की करनेवाले हैं। श्यामसुन्दरदास और कृष्णबिहारी मिश्र मूलतः आलोचक थे, इनके निबन्ध और साहित्य से ही सम्बन्धित हैं। इन दोनों निबन्धकारों की शैली सहज और परि- है, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि इनके अधिकांश श्रेष्ठ साहित्यिक निबन्ध आलोच्य के बाद लिखे गये।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के प्रारम्भिक निबन्धों में भाषा-सम्बन्धी प्रश्नों और कुछ क व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त किये गये हैं। आरम्भ में उन्होंने अँगरेजी विचारपूर्ण निबन्धों का अनुवाद भी किया था। उनके श्रेष्ठ मनोवैज्ञानिक निबन्ध ई० से १९१९ ई० तक 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' में प्रकाशित हुए थे। शुक्ल जी ही हिन्दी-निबन्ध-साहित्य के क्षेत्र में नवीन युग के प्रवर्तक हैं। गम्भीर विचार-सूत्रों आदि से अन्त तक अटूट रखकर भी उन्होंने व्यक्तित्व-व्यंजना के लिए अवसर निकाल है। सामान्यतः व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों में वर्ण्य विषय या प्रतिपाद्य विषय की उपेक्षा जाती है, किन्तु शुक्ल जी के निबन्धों में ऐसा नहीं हुआ है। उन्होंने प्रतिपाद्य विषय से आनुषंगिक विषयों की चर्चा करके विचारों के कसाव को थोड़ा हल्का कर दिया है व्यक्तित्व की झलक दिखा दी है। उनके 'भय और क्रोध', 'ईर्ष्या', 'घृणा', 'उत्साह', भक्ति', 'करुणा', 'लज्जा और ग्लानि' तथा 'लोभ और प्रीति' निबन्ध आलोच्य युग में प्रकाशित हुए थे।

उपर्युक्त निबन्ध-लेखकों के अतिरिक्त द्विवेदी-युग में गणेशशंकर विद्यार्थी, मन्नन द्विवेदी, यशोदानन्दन अखौरी, केशवप्रसाद सिंह आदि कुछ अन्य निबन्धकारों ने भी अपनी और प्रतिभा से आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया था।

द्विवेदी-युग में समाज की हीनावस्था, आर्थिक विषमता, धार्मिक पतन और व्यापक समस्याओं को भी दृष्टि में रखकर निबन्ध लिखे गये, किन्तु विषय-प्रधानता के वे सच्चे निबन्धों की श्रेणी में नहीं आते। युग की व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के

अध्ययन की दृष्टि से उनका महत्त्व अवश्य मान्य है। शैली की दृष्टि से इस युग में वर्णना भावात्मक, विवरणात्मक, विचारात्मक, कथात्मक, शोधपरक आदि सभी शैलियों में नि लिखे गये। सव मिलाकर इस युग की उपलब्धियाँ नगण्य नहीं हैं; किन्तु वह ताज़गी, उल्लास, वह निर्द्वन्द्व भाव, व्यक्तित्व का उल्लसित उच्छ्वास तथा खड़ीवोली के भीतर झाँकती हुई अवधी, बैसवाड़ी या ब्रजी की चुलबुलाहट और मधुरता इस युग के निबन्धों उपलब्ध नहीं होती जो भारतेन्दुयुगीन निबन्ध-साहित्य की सहज निधि थी। परिष्कार औ परिमार्जन की सायास चेष्टा ने अनुभूति की सहज अभिव्यक्ति की सम्भावना को कम क दिया था। इसीलिए श्रेष्ठ आत्मव्यंजक निबन्ध द्विवेदी-युग की समाप्ति के वाद लिखे गये।

आलोचना

द्विवेदी-युग में हिन्दी-आलोचना का गम्भीर एवं तात्त्विक रूप तो नहीं निखरा, कि उनकी कई महत्त्वपूर्ण पद्धतियाँ अवश्य विकसित हुईं। सामान्यतः इस युग में हिन्दी-आलोच के पाँच रूप लक्षित किये जा सकते हैं—शास्त्रीय आलोचना अर्थात् लक्षण-ग्रन्थों की परम्प में काव्यांग-विवेचन, तुलनात्मक मूल्यांकन एवं निर्णय, अन्वेषण एवं अनुसन्धानपरक आलोचना, परिचयात्मक आलोचना तथा व्याख्यात्मक आलोचना। संस्कृत-आचार्यों की पद्धति प लक्षण-ग्रन्थ प्रस्तुत करने की परम्परा रीतिकाल की एक प्रमुख प्रवृत्ति थी। आलोच्य यु में भी इस परम्परा में जगन्नाथप्रसाद 'भानु' ने 'काव्य प्रभाकर' (१९१०) तथा 'छन्द सारावली' (१९१७) और लाला भगवानदीन ने 'अलंकार मंजूषा' (१९१६) की रचना की। 'भानु' जी ने भूमिका अँगरेज़ी में लिखी है और हिन्दी के अनेक पारिभाषिक शब्दों के अँगरेज़ी-पर्याय भी दिये हैं। दीन जी ने अलंकारों की समुचित जानकारी कराने के उद्देश्य से ही उपर्यु ग्रन्थ की रचना की है। उन्होंने यथास्थल हिन्दी-अलंकारों के समकक्ष फ़ारसी, अरबी और अँगरेज़ी अलंकारों का भी उल्लेख किया है। इससे प्रकट है कि अँगरेज़ी पढ़े-लिखे पाठकों का ध्यान दोनों ही लेखकों को रहा है।

तुलनात्मक मूल्यांकन आलोच्ययुगीन समीक्षा की प्रमुख प्रवृत्ति कही जा सकती है। तुलनात्मक आलोचना का आरम्भ १९०७ ई० में पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी और सादी की तुलना द्वारा किया। १९०८-१९१२ ई० तक वे 'सरस्वती' में संस्कृत और हिन्दी-कविता के बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव की परीक्षा करते रहे। १९१० ई० में मिश्रबन्धुओं का 'हिन्दी नवरत्न' प्रकाशित हुआ। इसमें भी तुलनात्मक आलोचना को महत्त्व दिया गया था। आगे चलकर तुलनात्मक आलोचना की धूम मच गयी। लाला भगवानदीन और कृष्णबिहारी मिश्र ने देव और बिहारी की विशद तुलना करते हुए एक को दूसरे से वड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न किया। अन्वेषण और अनुसन्धानपरक आलोचना का विकास 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' (१८९७) के प्रकाशन से हुआ। 'मिश्रबन्धु-विनोद' (१९१३) में भी शोधपरक दृष्टि को महत्त्व दिया गया था। और कवियों के वृत्त-संग्रह के साथ उनकी प्राप्य-अप्राप्य कृतियों की सूचना तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में मत-प्रकाश भी किया गया था। मिश्रबन्धुओं के अतिरिक्त शोधपरक आलोचना के उन्नायकों में श्यामसुन्दरदास, राधाकृष्णदास, जगन्नाथदास रत्नाकर और सुधाकर द्विवेदी उल्लेखनीय हैं। इन सभी का सम्बन्ध 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' से रहा। १९०२ ई० में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने जयपुर से 'समालोचक' पत्र निकाला था। यह गम्भीर आलोचना का पत्र था। अधिक दिनों तक इसका प्रकाशन नहीं हो सका, किन्तु इससे आलोचना का स्तर निश्चित रूप से ऊँचा हुआ था।

परिचयात्मक आलोचना का आरम्भ भारतेन्दु-युग में ही हो गया था। आलोच्य युग 'सरस्वती' के माध्यम से इस समीक्षा-पद्धति में स्थिरता और गम्भीरता आयी तथा समीक्षा आदर्श स्थिर हुआ। परिचयात्मक आलोचनाएँ आलोच्य कृति के सामान्य परिचय, उसकी प्रशंसा या निन्दा, आलोच्य विषय या कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र लेख, कृतिविशेष को किसी तुलना या ऐतिहासिक सन्दर्भ में रखने की प्रवृत्ति तथा आलोच्य विषय के प्रति भावात्मक विचार व्यक्त करते हुए प्रभावाभिव्यंजन के रूप में लिखी गयीं। 'सरस्वती' में प्रकाशित परिचयात्मक आलोचनाएँ प्रायः महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा ही लिखी गयी हैं। द्विवेदी जी आलोचना को पत्रकारिता से अलग करके नहीं देख सके। यही उनकी दुर्बलता या सीमा थी। उन्होंने समालोचक का कर्त्तव्य निर्धारित करते हुए कहा था : "किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को भी लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नयी बात लिखी है या नहीं, यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को अतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।" द्विवेदी जी ने विषय-विवेचन के साथ ही भाषा-सम्बन्धी त्रुटियों की ओर भी ध्यान आकृष्ट किया। आलोचना के क्षेत्र में उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए आचार्य शुक्ल ने कहा है : "यदि द्विवेदीजी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती।"

व्याख्यात्मक आलोचना किसी रूढ़ि का अनुसरण न करके आलोच्य विषय की व्यापक उपयोगिता को दृष्टि में रखकर नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राष्ट्रीय एवं सौन्दर्यपरक मूल्यों के आधार पर की जाती थी। कभी-कभी परिचयात्मक आलोचना विशद और गम्भीर होकर व्याख्यात्मक आलोचना का रूप ले लेती थी। इस प्रकार की आलोचना का सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने 'आनन्दकादम्बिनी' में लाला श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' की आलोचना से कर दिया था। बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी-प्रदीप' में वीं', 'परीक्षागुरु' और 'संयोगिता स्वयंवर' की गम्भीर आलोचना करके इस पद्धति को शुरू किया था। बालमुकुन्द गुप्त ने 'हिन्दी बंगवासी' में 'अश्रुमती' नामक बँगला-नाटक के हिन्दी-अनुवाद (मुंशी उदितनारायण-कृत) की आलोचना द्वारा इस परम्परा को आगे बढ़ाया, किन्तु ये प्रारम्भिक प्रयास-मात्र थे। आलोचना की इस शैली का विशद वैज्ञानिक स्वरूप आगे चलकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की समालोचनाओं में प्रतिष्ठित हुआ।

वस्तुतः आलोच्य युग की उपर्युक्त सभी प्रकार की आलोचनाओं में प्रतिमान के रूप में दो दृष्टियाँ लक्षित होती हैं—एक तो परम्परागत शास्त्रीय दृष्टि, जिसके आधार पर आलोच्य कृति का गुण-दोष-विवेचन करके उसकी उत्कृष्टता या हीनता प्रमाणित की जाती थी; दूसरी नैतिक-सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि जो आलोच्य कृति के व्यापक प्रभाव के परिणाम को दृष्टि में रखकर उसकी श्रेष्ठता या हीनता घोषित करती थी। जिस तुलनात्मक आलोचना ने आलोच्य युग में सबसे अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की थी उसका मूल आधार शास्त्रीय दृष्टि से गुण-दोष-विवेचन ही था। इस आलोचना से प्राचीन कवियों की ओर सामान्य शिक्षित जनता का ध्यान आकृष्ट हुआ। तुलनात्मक समीक्षकों में पद्मसिंह शर्मा का महत्त्व शृंगार-वर्णन की दीर्घकालीन परम्परा का निदर्शन करते हुए उसके बीच बिहारी का मूल्यांकन करने के कारण है। कृष्णबिहारी मिश्र का महत्त्व प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा को सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करने के कारण है और लाला भगवानदीन का महत्त्व बिहारी की बारीकियों को

RajGurū Math, Shivala, Varanasi Collection

लक्षित करने में है। इन सभी समीक्षकों ने आलोच्य कृतियों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसलिए इनके कथनों में तत्त्व और प्रभावोत्पादन की क्षमता है। यहाँ यह ध्यान देने की बात है कि चाहे द्विवेदीजी की कठोर नैतिक दृष्टि हो चाहे पद्मसिंह शर्मा की उल्लसित भाव-तरल दृष्टि; चाहे मिश्रबन्धुओं की लचीली और अस्थिर सौन्दर्य-दृष्टि हो चाहे लाला भगवानदीन और कृष्णविहारी मिश्र की स्थिर शास्त्रीय दृष्टि, प्राचीन रस-दृष्टि से किसी का कोई विरोध नहीं था। अपनी सीमाओं के बावजूद ये सभी आलोचक रसात्मक कविता को ही महत्त्व देते रहे।

आलोच्य युग में पाश्चात्य समीक्षकों की आलोचनात्मक कृतियों के कुछ अनुवाद भी प्रस्तुत किये गये। इस युग के आरम्भ होने से कुछ वर्ष पूर्व जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने 'समालोचनादर्श' (१८९७) नाम से पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज़्म' का पद्यात्मक अनुवाद प्रस्तुत किया था। सन् १९०५ में आचार्य शुक्ल ने एडिसन के 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अपने काव्य-सिद्धान्त-प्रतिपादक कुछ निबन्धों में कई अँगरेज़ लेखकों का आधार लिया है। इन सारे प्रयत्नों ने एक ऐसी पृष्ठभूमि प्रस्तुत की जिस पर आगे चलकर आचार्य शुक्ल और बाबू श्यामसुन्दरदास ने हिन्दी की वैज्ञानिक आलोचना का भव्य भवन निर्मित किया। भारत में समालोचना काव्य-सिद्धान्त-निरूपण के रूप में भी प्रचलित थी। कवियों की निजी विशेषताओं को या तो सूक्तियों और प्रशस्तियों के माध्यम से प्रकट किया जाता था अथवा टीकाओं के अन्तर्गत कभी-कभी काव्य-सौन्दर्य-विधायक सूक्ष्म तत्त्वों का संकेत कर दिया जाता था। पाश्चात्य साहित्य से परिचित होने और उसका स्वस्थ प्रभाव ग्रहण करने का परिणाम यह हुआ कि आलोचना एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्य हुई। कवि-विशेष के सामान्य गुण-दोष प्रकट करने के साथ ही उसके काव्य की मूल प्रवृत्तियों की छानबीन करके उसमें निहित देश-काल सापेक्ष्य और शाश्वत तत्त्वों का उद्घाटन करने तथा व्यापक मानवीय मूल्यों की दृष्टि से उसका महत्त्व-प्रतिपावन करने की नयी परिपाटी का विकास आगे चलकर आचार्य शुक्ल की आलोचनाओं द्वारा हुआ।

गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ

द्विवेदी-युग में नाटक, उपन्यास प्रभृति मुख्य गद्य-विधाओं के अतिरिक्त कुछ अन्य गद्य-रूपों—जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण और पत्र-साहित्य—के विकास-परिष्कार की ओर भी ध्यान दिया गया। इनमें से अन्तिम तीन का तो प्रवर्तन ही इस युग में हुआ। वैसे, पत्रकारिता की बहुमुखी उन्नति के फलस्वरूप इन सभी साहित्य-रूपों के विकास की गति भारतेन्दु-युग की तुलना में कहीं अधिक व्यवस्थित और द्रुत रही।

जीवनी-साहित्य : जिस प्रकार भारतेन्दु-युग में स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जीवनी-लेखन के क्षेत्र में अपने समकालीन लेखकों का मार्ग-दर्शन किया था, उसी भाँति आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी इस गद्य-विधा में यथासम्भव रुचि ली। उनके द्वारा रचित जीवनियाँ 'प्राचीन पण्डित और कवि' (१९१८), 'सुकवि संकीर्तन' (१९२४), 'चरित चर्चा' (१९२९) आदि ग्रन्थों में संकलित हैं। उनके अतिरिक्त जिन अनेक लेखकों ने जीवनी-साहित्य को समृद्ध किया उन सब की रचनाओं का अनुशीलन करने पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में मुख्यतः पाँच प्रकार का जीवनी-साहित्य लिखा गया—(क) आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द तथा अन्य महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनियाँ, (ख) राष्ट्रीय महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनियाँ, (ग) ऐतिहासिक महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनियाँ, (घ) विदेश के महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनियाँ, (ङ) महिलाओं से सम्बन्धित जीवनियाँ। इनमें से महर्षि

का जीवनचरित्र अधिक परिमाण में लिखा गया जिसका मुख्य कारण यह था कि में आर्यसमाज द्वारा किये गये कार्य अपनी पराकाष्ठा पर थे। सर्वश्री रामविलास ाराम, चिम्मनलाल वैश्य और अखिलानन्द शर्मा ने विभिन्न दृष्टिकोणों से स्वामी के जीवन के विविध पक्षों को उभारते हुए क्रमशः 'आर्य धर्मेन्दु जीवन महर्षि'), 'दयानन्द चरितामृत' (१९०४), 'स्वामी दयानन्द' (१९०७) और 'दयानन्द (१९१०) शीर्षक कृतियों की रचना की। इन जीवनियों की सबसे बड़ी है कि आर्य-धर्म के प्रचार-प्रसार को दृष्टि-पथ में रखकर लिखे जाने के फलस्वरूप त्मक अधिक हो गयी हैं। इस वर्ग की एक अन्य उल्लेखनीय कृति माधवप्रसाद मिश्र चित 'विशुद्धानन्द चरितावली' है, जिसमें महात्मा विशुद्धानन्द का जीवनचरित्र दिया ।

लोच्य युग राष्ट्रीय चेतना का युग था। इस काल में अँगरेजी शासन को नष्ट लिए जनता में अपूर्व संगठन-शक्ति पैदा हो गयी थी। फलस्वरूप कुछ लेखकों ने पुरुषों की जीवनियाँ भी लिखीं, जो युग की विचारधारा का नेतृत्व कर रहे थे। पारसनाथ त्रिपाठी, मुकुन्दीलाल वर्मा, सम्पूर्णानन्द, नन्दकुमार देव शर्मा, बद्री- , वृजविहारी शुक्ल, शीतलाचरण वाजपेयी, मातासेवक आदि साहित्यकारों ने जपत महिमा' (१९०७), 'तपोनिष्ठ महात्मा अरविन्द घोष' (१९०९), 'कर्मवीर (१९१३), 'धर्मवीर गांधी (१९१४), 'महात्मा गोखले' (१९१४), 'दादाभाई नौरोजी'), 'मदनमोहन मालवीय' (१९१६), 'रमेशचन्द्र दत्त' (१९१७), 'लोकमान्य तिलक (१९१८), आदि रचनाएँ लिखीं। अपने युग के कर्मवीर महापुरुषों के प्रेरणाप्रद निरूपण करनेवाली इन जीवनियों का मूल उद्देश्य तद्युगीन जनता के मन में देश- भावना जाग्रत करना था।

राष्ट्रीय चेतना को बल प्रदान करने में पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों की थाएँ भी सहायक सिद्ध होती हैं। यही कारण है कि इस युग के लेखकों ने ऐति- जीवनियाँ प्रर्याप्त मात्रा में लिखी हैं। इस दृष्टि से कार्तिकप्रसाद, बलदेवप्रसाद मिश्र, , ज्वालादत्त शर्मा, आनन्दकिशोर मेहता, रघुनन्दनप्रसाद मिश्र, सम्पूर्णानन्द और वाजपेयी द्वारा क्रमशः लिखित 'छत्रपति शिवाजी का जीवनचरित्र' (१९०१), चौहान' (१९०२), 'महाराणा प्रतापसिंह' (१९०३), 'सिक्खों के दस गुरु'), 'गुरु गोविन्दसिंह जी' (१९१४), 'शिवाजी और मराठा जाति' (१९१४), छत्रसाल' (१९१६) तथा 'छत्रपति शिवाजी' (१९१७) शीर्षक कृतियाँ विशेषतः हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अपने देश की महान् विभूतियों के जीवन-वृत्त ही शों के महापुरुषों के जीवनचरित्र भी पर्याप्त प्रेरणाप्रद होते हैं। द्विवेदी-युग के लेखक से अपरिचित न थे। उन्होंने विदेश के अनेक महामानवों के जीवनवृत्त लिखे हैं लाप, वलिदान तथा कर्त्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अपने-अपने राष्ट्रों के उत्थान अनवक प्रयत्न किये। उदाहरणार्थ सिद्धेश्वर वर्मा, उमापति दत्त शर्मा, नाथूराम प्रेमी , लक्ष्मीधर वाजपेयी, कृष्णप्रसाद सिंह अखौरी, इन्द्र वेदालंकार, द्वारकाप्रसाद शर्मा श्वर पाठक द्वारा क्रमशः रचित 'गैरीबाल्डी' (१९०१), 'नेपोलियन बोनापार्ट की (१९०५), 'जान स्टुअर्ट मिल' (१९१२), 'जर्मनी के विधाता' (१९१४), 'गेसिफ़ (१९१४), 'नेलसन' (१९१४) 'प्रिंस बिस्मार्क' (१९१५), 'महात्मा साक्रटीज़' (१९१५) पोलियन बोनापार्ट' (१९१६) शीर्षक कृतियाँ अवलोकनीय हैं। विदेशी महापुरुषों से

सम्बद्ध रचनाओं में नेपोलियन बोनापार्ट-सम्बन्धी जीवनियाँ ही सर्वाधिक मात्रा में गयी हैं। इनके अतिरिक्त राजस्थान के इतिहास-लेखन में महत्त्वपूर्ण योग देनेवाले कर्नल टॉड के सम्बन्ध में एक अन्य महत्त्वपूर्ण जीवनी गौरीशंकर ओझा ने 'कर्नल टॉड' (१९ शीर्षक से लिखी।

आलोच्य युग में देश-विदेश की महान् महिलाओं से सम्बन्धित जीवनियाँ भी मात्रा में लिखी गयीं। गंगाप्रसाद गुप्त, परमानन्द, हनुमन्तसिंह पन्नालाल, यशोदे द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी, देवेन्द्रप्रसाद जैन, ललिताप्रसाद शर्मा, रामजीलाल वर्मा, लाल वर्मा, सूर्यनारायण त्रिपाठी, रामानन्द द्विवेदी तथा दत्तात्रय बलवन्त पारस ने क्रमशः भवानी' (१९०४), 'पतिव्रता स्त्रियों के जीवनचरित्र' (१९०४), 'रमणीय रत्न (१९०७), 'वीर पत्नी संयोगिता' (१९१२), 'आदर्श महिलाएँ' (१९१२), 'ऐति स्त्रियाँ' (१९१२), 'विदुषी स्त्रियाँ'—भाग १, २ (१९१२), 'भारतीय विदुषी' (१९ 'भारतवर्ष की वीर माताएँ' (१९१३), 'रानी दुर्गावती' (१९१४), 'नूरजहाँ' (१९ और 'झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई' (१९१८) शीर्षक जीवनियों की रचना कर इस दि प्रशंसनीय योग दिया। जैसा कि इस विवरण से स्पष्ट है, इस युग में लेखकों का भारतीय महिलाओं के गुण-स्तवन की ओर ही अधिक रहा। समग्रतः यह कहा जा सक कि द्विवेदीयुगीन जीवनी-साहित्य पर्याप्त समृद्ध एवं वैविध्यपूर्ण है।

यात्रावृत्त : यात्रावृत्त के विकास की दृष्टि से भी आलोच्य युग महत्त्वपूर्ण तत्कालीन पत्रिकाओं में अनेक यात्रा-वृत्तान्त प्रकाशित हुए। उदाहरणस्वरूप स्वामी मं नन्द, श्रीधर पाठक, उमा नेहरू और लोचनप्रसाद पाण्डेय के द्वारा क्रमशः लिखी 'मारीशस यात्रा' (मर्यादा, जुलाई १९१२), 'देहरादून-शिमला-यात्रा' (मर्यादा, सितम्बर १९१३), 'युद्ध-क्षेत्र की सैर' (गृहलक्ष्मी, १९१४) और 'हमारी यात्रा' (सितम्बर १९१५) का उल्लेख किया जा सकता है। पुस्तकाकार रूप में भी यात्रा-वृ सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ इस युग में प्रकाशित हुए। इस दृष्टि से देवीप्रसाद खत्री, गोपाल गहमरी, गदाधर सिंह, स्वामी सत्यदेव परिव्राजक आदि के द्वारा लिखी गयी रचनाएँ वि रूपेण उल्लेखनीय हैं। देवीप्रसाद खत्री की उल्लेखनीय कृति 'बद्रिकाश्रम यात्रा' (१९ है। साहित्यिक दृष्टि से बहुत अधिक मूल्यवान् न होने पर भी इसमें बद्रिकाश्रम की करनेवालों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री जुटायी गयी है। गोपालराम गहमरी ने 'लंका- का विवरण' (१९१६) की रचना करके यात्रा-वृत्त-सम्बन्धी साहित्य की श्रीवृद्धि की है उन्होंने रेल तथा जहाज़ द्वारा की गयी अपनी लंका-यात्रा का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कि है। ठाकुर गदाधर सिंह ने 'चीन में तेरह मास' (१९०२) तथा 'हमारी एडवर्ड तिलक या (१९०३-१९०४) के माध्यम से अपने यात्रावृत्त प्रस्तुत किये हैं। ठाकुर साहब को १९००-१९०१ में सेना के साथ चीन के युद्ध में भाग लेने के लिए जाना पड़ा था। कृति में उन्होंने इस युद्ध का आँखों-देखा वर्णन करने के साथ-साथ चीनियों के रीति-रिवा आचार-विचार आदि का भी अत्यन्त रोचक विवरण दिया है। 'हमारी एडवर्ड-तिलक या में सन् १९०२ में हुए महाराज एडवर्ड के तिलकोत्सव के वर्णन के साथ-साथ इंग्लैं दर्शनीय स्थानों तथा समुद्र-यात्रा का विस्तृत वर्णन है। स्वामी सत्यदेव परिव्राजक इस के सर्वाधिक उल्लेखनीय यात्रवृत्त-लेखक हैं। उनकी तीन कृतियाँ उपलब्ध होती हैं 'अमरीका दिग्दर्शन' (१९११), 'मेरी कैलास-यात्रा' (१९१५) तथा 'अमरीका भ्र (१९१६)। 'अमरीका दिग्दर्शन' तथा 'अमरीका भ्रमण' में लेखक ने अमरीका की सामाजि

क और धार्मिक स्थिति तथा वहाँ के दर्शनीय स्थानों का औपन्यासिक शैली में वर्णन है। 'मेरी कैलास-यात्रा' में लेखक ने काठगोदाम से तिब्बत तक की यात्रा के विवरण वे हैं। कैलास, मानसरोवर तथा हिमालय के मनमोहक प्राकृतिक सौन्दर्य का चित्रण की उल्लेखनीय विशेषता है। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि द्विवेदी-युग में वी यात्रावृत्त-सम्बन्धी रचनाओं ने न केवल पीछे से चली आती हुई परम्परा को बनाये रखा, अपितु भावी विकास की दिशा में भी मूल्यवान् योग दिया।

संस्मरण : प्रायः प्रत्येक नयी विधा अपने आगमन की घोषणा पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम करती है। संस्मरण-साहित्य भी इसका अपवाद नहीं है। 'सरस्वती' इस युग की सर्वा-त्त्वपूर्ण पत्रिका थी और संस्मरण-साहित्य ने इसके माध्यम से ही अपने अस्तित्व की की। इसके विभिन्न अंकों में समय-समय पर अनेक रोचक संस्मरण प्रकाशित होते स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'अनुमोदन का अन्त' (फरवरी १९०५), 'सभा की (अप्रैल १९०७), 'विज्ञानाचार्य बसु का विज्ञान मन्दिर' (जनवरी १९१८) आदि करके संस्मरण-साहित्य की श्रीवृद्धि की। 'सरस्वती' के विभिन्न अंकों में महावीर-द्विवेदी के अतिरिक्त रामकुमार खेमका, जगद्बिहारी सेठ, पाण्डुरंग खानखोजे, प्यारे-य, काशीप्रसाद जायसवाल, जगन्नाथ खन्ना, भोलादत्त पाण्डेय आदि द्वारा क्रमशः र्यों 'इधर-उधर की बातें' (मई १९१८), 'मेरी बड़ी छुट्टियों का प्रथम सप्ताह' (१९१३), 'वाशिंगटन महाविद्यालय का संस्थापन दिनोत्सव' (अक्तूबर १९१३), फाग या कुहरा' (फरवरी १९०८), 'इंग्लैंड के देहात में महाराज बनारस का कुआँ' (१९०७), 'अमेरिका आनेवाले विद्यार्थियों को सूचना' (दिसम्बर १९११) और दुनिया सम्बन्धिनी रामकहानी' (दिसम्बर १९०९) शीर्षक रचनाएँ प्रकाशित हुईं। युग में प्रकाशित उपर्युक्त अधिकांश संस्मरण प्रवासी भारतीयों द्वारा लिखे गये और का अभीष्ट भारतीय पाठकों को पश्चिम की रीति-नीतियों, दर्शनीय स्थलों आदि से कराना था। यही कारण है कि इनकी शैली अनेक स्थलों पर निबन्धात्मक हो गयी काकार रूप में प्रकाशित संस्मरण-साहित्य की दृष्टि से 'हरिऔध जी के संस्मरण' ही की उल्लेखनीय कृति है। यद्यपि इस पुस्तक पर वेणीमाधव शर्मा का नामोल्लेख लेखक में किया गया है, किन्तु कृति के 'निवेदन' से यह ज्ञात होता है कि इसके लेखक बाल-गुप्त हैं।

पत्र-साहित्य : आलोच्य युग में पत्र-साहित्य विषयक दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित महात्मा मुन्शीराम ने सन् १९०४ में स्वामी दयानन्द सरस्वती सम्बन्धी पत्रों का संकलन । वह आलोच्य युग का ही नहीं, समूचे हिन्दी-साहित्य में पहला प्रकाशित पत्र-संग्रह नन्तर पं० भगवद्दत्त ने पर्याप्त परिश्रम तथा अनुसन्धान के बाद 'ऋषि दयानन्द का व्यवहार' (१९०९) शीर्षक पत्र-संग्रह सम्पादित किया। यह संग्रह स्वामी दयानन्द के चिन्तन-मनन तथा उनकी पैनी दृष्टि का परिचय देने के साथ-साथ तद्युगीन परिस्थितियों का भी प्रामाणिक चित्र प्रस्तुत करता है।

ज्ञान का साहित्य

आलोच्य युग में ज्ञान के साहित्य की सृष्टि अधिक नहीं हुई। हिन्दी-प्रदेश में शिक्षा माध्यम अंगरेज़ी होने के कारण ज्ञान-विज्ञान की उच्चस्तरीय पुस्तकें हिन्दी में नहीं लिखी गयीं। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' में साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी

साहित्य के प्रकाशन की भी व्यवस्था की थी। 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका' ने भी प्रा से ही सभी प्रकार की उच्चस्तरीय ज्ञान-विज्ञान की सामग्री हिन्दी में प्रकाशित करने संकल्प लिया था। इन पत्रिकाओं में इतिहास, धर्म, दर्शन, राजनीति, कला, संस्कृति विज्ञान-सम्बन्धी बहुत-से स्फुट निबन्ध प्रकाशित हुए हैं। इन विषयों पर स्वतन्त्र ग्र पुस्तकें लिखी गयीं। सबसे अधिक इतिहास-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें उल्लेखनीय सोमेश्वरदत्त शुक्ल-कृत 'फ़्रांस का इतिहास' (१९०८), 'जर्मनी का इतिहास' (१९ 'इंग्लैंड का इतिहास' (१९११); मिश्रबन्धु-कृत 'रूस का इतिहास' (१९०९), देवी मुंसिफ़-कृत 'हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाह' (१९०९), 'पड़िहार वंश (१९११); गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'सिरोही राज्य का इतिहास' (१९११), नारायण गर्दे-कृत 'महाराष्ट्र रहस्य' (१९१२), रामप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'महाराष्ट्र (१९१३), कृष्णबिहारी मिश्र-कृत 'चीन का इतिहास' (१९१८) और सम्पूर्णानन्द 'भारत के देशी राष्ट्र' (१९१८)। इन लेखकों में पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति पर इतिहास केवल गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, देवीप्रसाद मुंसिफ़, रामप्रसाद त्रिपाठी और सम्पूर्णानन्द किया है, अन्य लेखकों ने व्यापक राष्ट्रीय जागरण से उत्साहित होकर लेखनी उठायी है

इतिहास के बाद राजनीति, अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, शिक्षाशास्त्र आदि सम्बद्ध रचनाओं का क्रम आता है। **राजनीति-सम्बन्धी कृतियों** में गदाधरसिंह-कृत 'ब राज्य-व्यवस्था' (१९१२), अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी-कृत 'हिन्दुओं की राज्य-कल्पना' (१९ और 'भारतीय शासन-पद्धति' (१९१५) तथा भगवानदास केला-कृत 'भारतीय (१९१५) का प्रमुख स्थान है। **अर्थशास्त्र-सम्बन्धी कृतियों** में राधामोहन गोकुल जी 'देश का धन' (१९१०) और पारसनाथ द्विवेदी की 'देश की दशा' (१९१५) उल्लेखनीय धर्मशास्त्र के ग्रन्थों में शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी का 'जैन धर्म का महत्त्व' (१९११), शिवानन्द 'आत्मदर्शन' (१९१७) और भीमसेन शर्मा-कृत 'पुनर्जन्म' (१९१४) उल्लेखनीय हैं। नी शास्त्र के ग्रन्थों में राधामोहन गोकुल जी द्वारा लिखित 'नीतिदर्शन' (१९१३) महत्त्व है। शिक्षाशास्त्र के सम्बन्ध में एक ही ग्रन्थ महावीरप्रसाद द्विवेदी-कृत 'शिक्षा' (१९ का उल्लेख किया जा सकता है।

आलोच्य युग में **विशुद्ध विज्ञान**—गणित, भौतिकी जीवविज्ञान आदि से सम्ब रचनाएँ प्रायः नहीं के बराबर लिखी गयीं। नागरीप्रचारिणी सभा के संस्थापकों ने वैज्ञानिक कोश' (१९०६) का प्रकाशन करके इस क्षेत्र में एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति गणित के क्षेत्र में माधवसिंह मेहता की, 'माप विद्या प्रदर्शिनी' (१९०९), भौतिक विज्ञा सम्बन्ध में प्रेमवल्लभ जोशी-कृत 'ताप' (१९१५) सम्पूर्णानन्द-कृत 'ज्योतिर्विनोद' (१९ तथा जीवविज्ञान के सम्बन्ध में पी० ए० वी० जी० साठे-कृत 'विकासवाद' (१९ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

कोश-विज्ञान की परम्परा का सूत्रपात्र भी आलोच्य युग में हुआ। हरिराम 'कृषिकोश' (१९१०), व्रजवल्लभ मिश्र ने 'पदार्थ संख्या कोश' (१९११), ठाकुरप्रसाद ने 'जगत व्यापारिक पदार्थ कोश' (१९१८) और जीवाराम शर्मा ने 'सरस्वती कोश' (१९ शीर्षक संस्कृत-हिन्दी-कोश की रचना इसी अवधि में की।

भाषा, व्याकरण और लिपि के सम्बन्ध में विचार-विमर्श भी इस युग में आरम्भ चुका था। महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त और जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने इस वि पर अनेक विद्वत्तापूर्ण लेखों की रचना की। बालमुकुन्द गुप्त-कृत 'हिन्दी भाषा' और

वेदी-कृत 'विराम चिह्न' (१९१८) इसी वर्ग की रचनाएँ हैं।

स्तुतः आलोच्य युग में युगनिर्माता साहित्यकारों का ध्यान पहले भाषा के परिष्कार था और बाद में साहित्यिक अभावों की पूर्ति की ओर। ज्ञान-विज्ञान का साहित्य करना आसान नहीं था। हिन्दी का साहित्यकार अपार उत्साह और अखण्ड निष्ठा के ज्ञान के साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता था। इसके लिए ज्ञान-विज्ञान के मान्य को हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित करना आवश्यक था। नागरीप्रचारिणी सभा ने ए कई प्रकार के पुरस्कारों की व्यवस्था की। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने भी इसी अनुसरण किया। इन प्रयत्नों का परिणाम परवर्ती युग में सामने आया।

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी-पत्रकारिता का आरम्भ हिन्दी-प्रदेश से बाहर बंगाल के कलकत्ता महानगर । समाचारपत्र सामाजिक चेतना के वाहक होते हैं। जिस नवीन सामाजिक-सांस्कृतिक ने सम्पूर्ण आधुनिक हिन्दी-साहित्य को नयी दिशा दी है, उसका उदय सर्वप्रथम बंगाल हुआ था; फलस्वरूप उन्नीसवीं शती के अन्त तक हिन्दी-पत्रकारिता का केन्द्र कलकत्ता । बीसवीं शती के आरम्भ से भारतीय राजनीति के क्षेत्र में बालगंगाधर तिलक का ढ़ने लगा था। उन्होंने १९०८ ई० से अपने 'केसरी' पत्र का हिन्दी-संस्करण 'हिन्दी नाम से प्रकाशित करना आरम्भ किया। इसमें उनकी ओजस्वी और विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ प्रकाशित होती थीं। राजनीति में गणेशशंकर विद्यार्थी तिलक के थे। हिन्दी-प्रदेश के तत्कालीन राजनीतिक हिन्दी-पत्रों को विद्यार्थी जी ने बहुत प्रभावित किया। यह प्रभाव प्रकारान्तर से बालगंगाधर तिलक का ही था। कलकत्ता की पत्रकारिता को भी तिलक ने प्रभावित किया। वहाँ से निकलनेवाले 'भारतमित्र', 'मारवाड़ी बन्धु' सिंह'—ये तीन पत्र तिलक की प्रखर राजनीति के समर्थक थे। बीसवीं शती के प्रथम हिन्दी-प्रदेश में दो प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती थीं—१. राजनीतिक, तिक। १९०० से १९१८ ई० तक प्रायः प्रत्येक वर्ष कोई-न-कोई पत्रिका अवश्य हुई। इस अवधि में प्रकाशित होनेवाली राजनीतिक पत्रिकाएँ निम्नलिखित हैं:

१. हितवाणी, १९०४, कलकत्ता, सं० रुद्रदत्त शर्मा और सखाराम गणेश देउस्कर।
२. नृसिंह १९०७, साप्ताहिक, सं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी।
३. अभ्युदय, १९०७, साप्ताहिक, प्रयाग, सं० मदनमोहन मालवीय।
४. कर्मयोगी, १९०९, साप्ताहिक, प्रयाग, सं० सुन्दरलाल।
५. मर्यादा, १९०९, मासिक, प्रयाग, सं० कृष्णकान्त मालवीय।
६. प्रताप, १९१३, साप्ताहिक, कानपुर, सं० गणेशशंकर विद्यार्थी।
७. प्रभा, १९१३, मासिक, खण्डवा, सं० कालूराम जी।

इस अवधि में कलकत्ता से दो दैनिक समाचारपत्र 'कलकत्ता समाचार' (१९१४) विश्वमित्र' (१९१८) भी प्रकाशित हुए।

आलोच्य युग में प्रकाशित होनेवाली प्रमुख साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाएँ निम्न- हैं:

१. सरस्वती, १९००, मासिक, इलाहाबाद, प्रारम्भ में इसका सम्पादन काशी से होता था। १९०३ ई० से महावीरप्रसाद द्विवेदी इसके सम्पादक नियुक्त हुए।
२. सुदर्शन, १९००, मासिक, काशी, सं० देवकीनन्दन खत्री, माधवप्रसाद मिश्र।

३. समालोचक, १९०२, मासिक, जयपुर, सं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।
४. देवनागर, १९०७, मासिक, कलकत्ता, सं० उमापतिदत्त शर्मा और यशोदा
अखौरी।
५. इन्दु, १९०९, मासिक, काशी, सं० अम्बिकाप्रसाद गुप्त।
६. मनोरंजन, १९१२, मासिक, शाहाबाद, सं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा।
७. प्रभा, १९१३, मासिक, खण्डवा, मई १९१७ तक साहित्यिक पत्रिका थी,
में राजनीतिक हो गयी।
८. पाटलिपुत्र, १९१४, मासिक, पठना, सं० काशीप्रसाद जायसवाल।

आलोच्य युग की कुछ साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं में भी राजनीतिक पर मत व्यक्त किये जाते थे। 'सरस्वती' और 'देवनागर' ऐसी पत्रिकाएँ थीं जो सभी वि पर लेख प्रकाशित करती थीं। द्वितीय महायुद्ध के बाद भारतीय राजनीति में महात्मा का प्रभाव बढ़ा। इसका प्रभाव हिन्दी-पत्रकारिता पर भी पड़ा। बहुत-सी नयी पत्र-पत्रि प्रकाश मे आयीं और उनके स्वर की उग्रता भी कुछ कम हुई। पत्रिकाएँ भी अहिंसक आन्दो का समर्थन करने लगीं।

आलोच्य युग की साहित्य-समृद्धि एवं भाषा-परिष्कार में पत्र-पत्रिकाओं का बड़ा योगदान है। भारतेन्दु-युग में तो पत्रकारिता और साहित्य दोनों प्रायः एक ही पर विकसित हो रहे थे। आलोच्य युग में इस स्थिति में कुछ अन्तर आया। कुछ साहित्यिक पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगीं, जो समाज-सुधार या राजनीतिक उथल-पुथल प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखती थीं। गद्य की विविध शैलियों एवं विधाओं के विकास आलोच्य युग की पत्रिकाओं का स्थायी योगदान है। इस श्रेणी की पत्रिकाओं में 'सरस्व अन्यतम थी। इसमें सन्देह नहीं कि 'सरस्वती' ने भाषा और साहित्य दोनों क्षेत्रों में नये का निर्माण किया। वह सचमुच आलोच्य युग की साहित्यिक उच्चता का निकष बन गयी

मूल्यांकन

आलोच्ययुगीन गद्य-साहित्य के विवेचनात्मक सर्वेक्षण के आधार पर कहा जा है कि इस युग के साहित्य-सृजन का प्रेरक तत्त्व राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण ही था। भारते युग में इस जागरण ने साहित्य-धारा को नये पथ पर मोड़ दिया था और साहित्य तथा के अन्तराल को कम किया था। आलोच्य युग में यह जागरण प्रत्येक साहित्य-विधा का वर्ती प्रवाह बन गया। निबन्ध हो या आलोचना, कहानी हो या उपन्यास, उसके कला परिधान को हटा देने पर भीतर राष्ट्रीय-सांस्कृतिक जागरण की चेतना अवश्य लक्षित हो है। इस जागरण ने साहित्य के मूल्यों में परिवर्तन किया। शास्त्रीय रूढ़ियाँ टूटीं, का उद्देश्य व्यापक जनसमुदाय को प्रभावित करना और उसे आदर्श जीवन की ओर मोड़ माना गया। मुद्रण-व्यवस्था ने इस उद्देश्य की पूर्ति में योग दिया। साहित्य कुछ रसिकों वस्तु न रहकर समस्त शिक्षित जनता की वस्तु बन गया। नयी जीवन-दृष्टि ने नयी को माध्यम बनाया। खड़ीबोली पूर्णतः प्रतिष्ठित हुई। उसे पण्डिताऊपन और ठेठ गंवार से मुक्त करके माँजा-सँवारा गया। वस्तुतः हिन्दी-प्रदेश की जनता अपने सारे जीवन को ढंग से व्यवस्थित कर रही थी, अपने को नये युग के अनुकूल बना रही थी। इसलिए को भी युग की नयी चेतना की अभिव्यक्ति के लिए सक्षम बनाने की चेष्टा की गयी। का ध्यान हिन्दी के प्रचार-प्रसार और परिमार्जन के साथ ही उसके अभावों की ओर भी

सीमित साधनों को संघटित करके उन्होंने योजनाबद्ध रूप में साहित्य के अभावों का प्रयत्न किया । नागरीप्रचारिणी सभा और हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन इसी भावना हैं । हिन्दी-साहित्य के विकास में इनका योगदान अविस्मरणीय रहेगा । साहित्य ग्रन्थों की खोज, हिन्दी-साहित्येतिहास के निर्माण, प्राचीन ग्रन्थों के प्रकाशन और से सम्बद्ध उपयोगी साहित्य की सृष्टि को प्रोत्साहन देकर इन संस्थाओं ने साहित्य- में ऐतिहासिक भूमिका निभायी है ! अभी तक हिन्दी को विश्वविद्यालय में स्थान था । इसलिए उसे ज्ञान के साहित्य का माध्यम बनाने की दिशा में जो कुछ किया इन संस्थाओं और 'सरस्वती' जैसी कुछ पत्रिकाओं द्वारा ही किया गया । साहित्य- मूल प्रेरणा समाज-सुधार, चरित्र-निर्माण या व्यापक राष्ट्रीय हित होने के कारण की साहित्य-कृतियों में कलात्मक निखार तो नहीं आया, किन्तु सभी प्रकार की की विकास-परम्परा का आरम्भ अवश्य हो गया । साहित्य का स्वर क्रमशः हुआ और उसमें दायित्व-बोध जागा । साहित्य को शिष्ट समाज में प्रवेश पाने के जाने लगा और सब मिलाकर हिन्दी को व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई ।

अध्याय :

छायावाद-यु

जिस प्रकार साहित्य के पूर्ण इतिहास को विविध युगों में बाँटा जा सकता है, प्रकार काल-विशेष के साहित्य को विविध धाराओं या काल-खण्डों में विभाजित किया सकता है। भक्तिकाल में भक्ति की विविध धाराएँ एक ही परिवेश के विविध पक्षों प्रेरणा ग्रहण करती हुई प्रायः समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रहीं; किन्तु आधुनिक का जीवन सिर्फ़ एक ही काल में अनेकमुखी प्रसार का जीवन नहीं है—वह समय की के साथ-साथ विकासशील है। विज्ञान के आविष्कारों और उनसे उत्पन्न होनेवाले के कारण जीवन द्रुत गति से और निरन्तर परिवर्तित होता रहा है। प्राचीन काल जीवन की प्रगति पहले विचार के स्तर पर होती थी जो आध्यात्मिक आन्दोलनों के दिखायी देती है, किन्तु आज के जीवन का विकास पहले भौतिक आधार पर होता है फिर यह भौतिक विकास युग को आध्यात्मिक विकास के लिए आन्दोलित करता है। के विद्वानों के सामने सांस्कृतिक विकास —भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों के विकास— की समस्या एक गम्भीर और जटिल समस्या है, जिसे प्रायः 'दो संस्कृतियों की समस्या' रूप में प्रस्तुत किया जाता है। विवेच्य युग में आधुनिक युग की इस सांस्कृतिक समस्या आरम्भिक रूप मिलता है। इस पर विचार करने से पहले इस काल की सीमा, नामकरण और परिवेश पर विचार किया जाएगा।

सीमांकन, नामकरण तथा परिवेश

वर्ष विशेष से किसी साहित्यिक युग का आरम्भ मानने के बारे में थोड़ा-बहुत मतभेद हो सकता है। इसलिए जब छायावाद का आरम्भ सन् १९१८ में और अन्त १९३८ में जाता है तो इन दोनों सीमाओं का आधार इन वर्षों की और इनके आसपास —दो-चार साल पहले या दो-चार साल बाद —की रचनाएँ होती हैं और इसलिए दोनों छोरों दो-चार साल इधर या उधर सरकाया जा सकता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आधुनिक कविता के तृतीय उत्थान की सीमा का आरम्भ संवत् १९७५ (सन् १९१८) से माना है। सन् १९१८ को ही छायावाद की आरम्भिक सीमा मानने का कारण यह है कि छायावादी पद्धति की रचनाएँ इसके आसपास प्रकाशित होने लगी थीं। निराला की 'जूही की कली' (१९१६) के अतिरिक्त पन्त की 'पल्लव' की कुछ कविताओं की रचना भी १९२० ई० के

हो चुकी थी। इसलिए यह स्पष्ट है कि इस काल के आसपास साहित्य में एक नये आरम्भ हो गया था, जो पुरानी काव्य-पद्धति को छोड़कर एक नयी पद्धति के का सूचक था। सन् १९३५ में छायावादी काव्य-चेतना को मूर्तिमान् करनेवाली कृति का प्रकाशन हुआ। उधर सन् १९३६ में प्रान्तों में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल स्थापित जब ब्रिटिश सरकार ने भारतीय प्रतिनिधि दलों से बातचीत किये बिना भारत युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी तो सन् १९३९ में मन्त्रिमण्डलों ने त्यागपत्र । इससे स्पष्ट है कि सन् १९३६ से १९३९ तक का समय आधुनिक भारतीय इति- एक नये मोड़ का सूचक है। कांग्रेस के मन्त्रिमण्डलों में शामिल होने की तरह-तरह क्रियाएँ हुईं, जो जीवन में एक नयी चेतना के उदय की निशानी थी। इस काल के कवि स्वयं भी अपने छायावादी भावबोध का अतिक्रमण करने का प्रयास कर रहे के 'युगान्त' (१९३६) और निराला की 'अनामिका' (१९३८) में अनेक ऐसी संकलित हैं जो छायावादी संसार से आगे बढ़कर एक नये ठोस यथार्थ के निकट प्रयास कर रही थीं। यह साहित्यिक परिवर्तन कहाँ तक उक्त राजनीतिक परिवर्तन उत्पन्न सामूहिक चेतना के परिवर्तन से सम्बद्ध है, यह अध्ययन काफ़ी महत्त्वपूर्ण रोचक होगा। वैसे, यह स्पष्ट है कि सन् १९३८ के आसपास छायावादी काव्यधारा होकर एक नये प्रकार के काव्य के आगमन की सूचना दे रही थी। इसलिए १९३८ ई० छायावाद-युग की आख़िरी सीमा माना जा सकता है।

सीमांकन की भाँति विवेच्य युग के नामकरण की समस्या भी महत्त्वपूर्ण है। सन् से १९३८ तक के बीस सालों में अत्यन्त विपुल काव्य-राशि का निर्माण हुआ। पत्र- के प्रकाशन की सुविधा होने से तथा साहित्य के सामाजिक उद्देश्य की व्यापक के कारण अनेक सजग और संवेदनशील व्यक्तियों ने काव्य-रचना की। एक ओर निराला आदि कवि भी इसी युग में हुए जिनका प्रधान लक्ष्य साहित्य-साधना था और माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि भी हुए जो अपने युग के आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते थे और साथ ही कविताएँ थे। इस वर्ग के कवियों का एकमात्र लक्ष्य काव्य-रचना नहीं था। इनकी साधना को ही केन्द्र बनाकर चलती रही। ब्रजभाषा में भी ऐसे काव्यों का निर्माण हुआ जो की भावनाओं और आकांक्षाओं को व्यक्त करने में प्रयत्नशील दिखायी देते थे। अतिरिक्त बच्चन, नरेन्द्र शर्मा और अंचल की अनेक रचनाएँ भी इस युग में रची जिनका प्रधान स्वर प्रणय की लौकिक और मांसल अनुभूति है। इस प्रकार रचना- की दृष्टि से यह काल अत्यन्त समृद्ध है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि में छायावादी पद्धति की रचनाएँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा की रचनाओं से अधिक । इसलिए यह जिज्ञासा स्वाभाविक ही है कि फिर इस काल को 'छायावाद-काल' कहाँ तक समीचीन है? यद्यपि परिमाण की दृष्टि से इन काव्यधाराओं में रचनाएँ सबसे अधिक नहीं हैं, फिर भी वे निश्चित रूप से इस युग की सर्वाधिक उपलब्धि हैं। इस मान्यता के तीन कारण हैं। पहला तो यह कि कवित्व की अर्थात् अनुभूति की तीव्रता, सूक्ष्मता और अभिव्यंजना-शिल्प के उत्कर्ष की दृष्टि काव्य-राशि सर्वश्रेष्ठ है। दूसरी बात यह है कि छायावादी काव्य में प्राचीन भारतीय के जीवन्त तत्वों का ही समावेश नहीं हुआ, वरन् उसने परवर्ती काव्य के विकास काफ़ी दूर तक प्रभावित किया है। छायावादोत्तर युग के कवियों के लिए छायावादी

काव्य-राशि ही प्रतिस्पर्धा और प्रतिक्रिया का आधार बनी। और, तीसरी बात यह है छायावादी काव्य में ही अपने युग के जन-जीवन की समग्रता की अभिव्यक्ति मिलती है यह काव्य पूर्ण और सर्वांगीण जीवन के उच्चतम आदर्श को व्यक्त करने का प्रयास क है। 'कामायनी' को इस काव्यधारा की चरम परिणति के रूप में स्वीकार किया जा स है। इसलिए इस काल का 'छायावाद-काल' नाम ही युक्तियुक्त है।

किसी भी साहित्य-धारा को समझने के लिए उसके युग का अध्ययन अनिवार्य है है। युग की विषमताएँ और आकांक्षाएँ साहित्यकार के माध्यम से उसके काव्य को स तथा आधार प्रदान करती हैं। साहित्यकार ही नहीं, चिन्तक और विचारक भी अपने की सीमाओं के भीतर ही कार्यशील होते हैं, क्योंकि उनमें युग की चेतना ही पुंजीभूत साकार हो उठती है। कोई साहित्यकार तो अपने देश की प्राचीन संस्कृति के प्राणवान् का अन्वेषण कर उनका नये युग के निर्माण में प्रयोग करता है तथा कोई किसी वि चिन्तन-धारा से प्रभावित होकर नये युग के स्वप्न तराशने लगता है। छायावाद-यु काव्यधारा को समझने के लिए उस युग के जीवन को भी समझना होगा और उन त और मूल्यों के स्रोत तथा स्वरूप पर भी प्रकाश डालना होगा जो इस काव्यधारा के आ बने। कुछ तत्त्व और मूल्य तो उस युग में ही प्राप्त होते हैं—जैसे स्वाधीनता की भाव राष्ट्र-प्रेम, अहिंसा आदि; और कुछ मूल्यों का शोध करने के लिए हमें अतीत की देखना होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जीवन में परिवर्तन के तीन कारण हैं। पहला यह कि मनुष्य स्वभाव से ही परिवर्तनशील प्राणी है और उसकी सक्रिय चेतना निरन्तर एक स्थिति से दूसरी स्थिति की ओर परिचालित करती रहती है। दूसरा तत्त्व क्रिया-प्रतिक्रिया का। चिन्तन या सर्जना की कोई नयी लहर पैदा होती है तो कुछ अंश वह अपना विकास करती रहती है। फिर एक स्थिति ऐसी भी आती है जब नये संचरण क्षमता के अभाव में वह अपने आप को दोहराने लगती है। ऐसी अवस्था में आ जाने पर धारा की प्रतिक्रिया होती है और उसके विरोध में या उसके समकक्ष सर्जना की एक न पद्धति की उद्भावना की जाती है। सांस्कृतिक-विकास का तीसरा तत्त्व है नवीन स्थिति का प्रभाव। नवीन स्थितियों का जन्म आन्तरिक, भौतिक या राजनीतिक विकास पर आधारि हो सकता है या किसी बाह्य शक्ति अथवा सत्ता के आगमन या उसके सम्पर्क का परि होता है। विवेच्य काल के परिवेश में इन तीनों तत्त्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी किन्तु इस युग का सबसे विराट् और कटु सत्य था—बाहरी शक्ति अर्थात् ब्रिटिश साम्रा वादी सत्ता का प्रभाव।

सबसे पहले छायावाद-युग की साहित्यिक विरासत पर विचार करना उचित होगा इस युग से पूर्व का काव्य द्विवेदीयुगीन व्यापक नैतिकता से आक्रान्त था। महावीरप्र द्विवेदी ने काव्य की सामाजिक उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए साहित्य में 'सरल असलियत और जोश' पर बल दिया। इनमें से 'असलियत' वाली बात सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रीतिकालीन काव्यधारा का विरोध किये बिना साहित्य सामाजिक जीवन के विविध रूपों और समस्याओं को चित्रित करने का प्रयास कि था। इसका प्रभाव यह हुआ कि साहित्य का पाट विस्तृत होने लगा। साहित्य में 'आ जनों' के जीवन की स्वीकृति निश्चित रूप से युगान्तर की सूचक थी। किन्तु, भारतेन्दु-यु पर रीतिकालीन प्रभाव भी काफ़ी व्यापक था। इसका एक कारण तो यह है कि इस युग ब्रजभाषा को ही काव्य-भाषा के रूप में स्वीकार किया गया था, इसलिए रीतिका

पद्धति की विशेषताओं का उस पर गहरा असर दिखायी देता है। दूसरा कारण उस युग में भक्ति और श्रृंगार की पुरानी परम्परा का प्रभाव भी विद्यमान था। प्राचीन रंग के साथ-साथ भारतेन्दु के काव्य में एक नयी अदा भी दिखायी देती है, अपने युग-बोध की स्वीकृति से प्राप्त हुई। आधुनिक काव्य के विकास की दृष्टि से क्रान्तिकारी उपलब्धि थी जो उत्तरोत्तर अधिक पुष्ट, व्यापक और अनेकरूप होती करुनानिधि केसव सोए' जैसी रचनाओं में भारतेन्दु अपने युग-जीवन की दुर्दशा सामाजिक सुधार के लिए केशव का स्मरण करते हैं, द्विवेदी-युग के हरिऔध और और राम के चरित्र का सहारा लेकर देशोद्धार की साधना में तत्पर दिखायी देते प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी शैव-दर्शन, अद्वैत और भक्ति, वेदान्त और दर्शन अथवा निर्गुण-निराकार की प्रणयानुभूति का आधार ग्रहण कर सामाजिक को दिशा देने का प्रयास करते हैं। भारतेन्दु के 'केसव' ही इन विविध दार्शनिक-आस्थाओं के रूप में व्यक्त होते दिखायी देते हैं।

द्विवेदी-युग में रीतिकालीन संवेदना का तीव्र विरोध तथा ठोस यथार्थ के चित्रण का आग्रह दिखायी देता है। काव्य के लिए नये माध्यम के रूप में खड़ीबोली की प्रतिष्ठा भी थी। यह छायावाद-युग की निकटतम पूर्व-स्थिति थी। हरिऔध और गुप्त की में द्विवेदीयुगीन चेतना पूर्णतः मुखर हो चुकी थी; 'साकेत' की चेतना तो द्विवेदी-बोध का अतिक्रमण करती दिखायी देती है। छायावादी काव्य में न केवल द्विवेदी-इतिवृत्तात्मकता का विरोध हुआ, बल्कि उसकी स्थूल और सरल पदावली की भी हुई और कविता अंतर्जगत् की ओर उन्मुख होकर सूक्ष्म, वक्र तथा सांकेतिक में अवतरित होने लगी। द्विवेदी-युग ने रीतिकालीन श्रृंगार भावना का तीव्र विरोध किन्तु इसकी जो प्रतिक्रिया छायावाद-युग में लक्षित हुई, उसमें रीतिकालीन श्रृंगार-के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों रूपों की नवीन स्वीकृति दिखायी देती है; जो इस युग के बोध के अनुकूल है। प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति न सिर्फ छायावादी कवियों ने की, राष्ट्रीय भावना के कवियों ने भी की; और एक धारा में तो प्रणय और मस्ती के भाव हो गये।

व्यापक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि छायावाद-युग भारत के लिए अस्मिता का युग है। सदियों की दासता के कारण भारतीय जनता आत्मकेन्द्रित होती हुई हो गयी थी। पाश्चात्य साम्राज्यवादियों के आगमन ने देश में एक विराट् तूफ़ान दिया था, जिसके कारण रूढ़ियों में सुप्त देश की आत्मा पूरी शक्ति और उद्वेलन जाग उठी। पाश्चात्य ढंग की शिक्षा ने—विशेषकर अँगरेज़ी की शिक्षा ने देश के के सामने एक क्षितिज का उद्घाटन किया। परिणामस्वरूप भारतीय मनीषी परिवेश की त्रासपूर्ण विघटनमयी स्थिति के प्रति सजग हुए और उसके व्यापक सुधार आवश्यकता की ओर उनका ध्यान आकर्षित हुआ। इसका एक और कारण भी था, सम्बन्ध ईसाई धर्म के प्रचार से है। सत्ता का सम्बल पाकर ईसाई धर्म-प्रचारक जीवन-पद्धति की गरिमा और भारतीय सांस्कृतिक निस्सारता का प्रचार करने लगे। दासता के साथ-साथ इस सांस्कृतिक आक्रमण ने यहाँ के चिन्तकों को और भी आन्दोलित कर दिया। इसका परिणाम था भारतीय पुनर्जागरण का व्यापक आन्दोलन, जन्मदाता थे राजा राममोहन राय। स्वामी दयानन्द, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, गोपालकृष्ण गोखले, बालगंगाधर तिलक, महात्मा गांधी आदि इसी

विराट् आन्दोलन के नेता थे। इन सब महापुरुषों ने देश की अतीत परम्परा से मूल्य तत्त्वों को खोजकर उन्हें नये जीवन के अनुरूप ढालने का प्रयास किया। चाहे व्यक्तिगत रूप से कवियों की आस्था इनमें से किसी एक प्रचारक पर रही हो या न रही हो, यह सच है कि ये कवि जिस वातावरण में साँस ले रहे थे उसका निर्माण इन्हीं महापुरुषों के कार्य प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ था। इसलिए ज्ञात या अज्ञात भाव से छायावाद-युग के अधिकांश कवि इन लोक-पुरुषों के सिद्धान्तों से प्रभावित हुए। गांधीवाद से प्रभावित कवियों की पूरी एक क़तार ही उभरकर सामने आयी। सांस्कृतिक दृष्टि से छायावाद-युग में यथार्थ और सम्भावना के बीच गहरी खाई दिखायी देती है। सदियों से रूढ़िग्रस्त भारत ने जब एक अपने आप को वैज्ञानिक समृद्धि से पूर्ण पाश्चात्य सभ्यता के सम्मुख खड़ा पाया तो उसे आदर्श और युग के बीच उस गहरी खाई का एहसास हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि भारत में विज्ञान और यन्त्रों का विकास सहज-स्वाभाविक रूप से उसके अपने प्रयासों के फलस्वरूप नहीं हुआ था, अपितु ये यहाँ साम्राज्यवाद के साथ आये और भारतीय विकास का साधन बनकर नहीं वरन् शोषण का साधन बनकर आये। गांधीवाद में यान्त्रिकता का जो विरोध मिलता है, उसका यह एक प्रधान कारण है। मगर जो भी हो, देश में संचार-व्यवस्था, यातायात, यान्त्रिकता और नयी शिक्षा-पद्धति की स्थापना से राष्ट्रीय जीवन एक नयी आशा और साथ ही एक नये तनाव का अनुभव कर रहा था। यह नयी स्थिति मध्ययुगीन जीवन मूल्यों और आदर्शों के लिए चुनौती बनकर आयी।

नवीन शिक्षा-पद्धति, अँगरेज़ी के प्रभाव और अँगरेज़ी से प्रभावित बँगला-साहित्य के सम्पर्क ने व्यक्तिवादी भावना को जगाया जिससे व्यक्ति का अहम् उद्दीप्त हो उठा। जो कुछ भी इस उद्दीप्त अहम् के विरोध में आया उसे अस्वीकार करने की, उसका विरोध करने की कोशिश की गयी। इसीलिए एक ओर तो इस युग के काव्य में द्विवेदीयुगीन नैतिकता और स्थूलता की प्रतिक्रिया दिखायी देती है और दूसरी ओर विदेशी दासता के प्रति विद्रोह का स्वर सुनायी देता है। उदाहरणार्थ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों ने विदेशी शासन का विरोध किया और जनता में आत्मविश्वास की भावना उत्पन्न की। यह विद्रोह छायावादी कवियों में भी व्यापक रूप में दिखायी देता है। उन्होंने विषय, भाव, भाषा, छन्द आदि सभी क्षेत्रों में नये मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया। किन्तु, प्रेम और मस्ती के कवियों में यह विद्रोह-भावना सीमित रूप में दिखायी देती है। इस विद्रोह को केवल द्विवेदी-युग की प्रतिक्रिया में ही नहीं देखा जा सकता। इसके मूल में तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक कारण भी हैं। नयी शिक्षा ने अनन्त सम्भावनाओं को उजागर तो किया, किन्तु उनको साकार करने के अवसर नहीं के बराबर थे। फलस्वरूप असफलता और कुण्ठा से उत्पन्न विक्षोभ, क्रान्ति और कभी-कभी घोर व्यक्तिवादिता के स्वर निरन्तर अधिक सशक्त और मुखर होते गये। सभी छायावादी कवियों की आरम्भिक रचनाओं में निराशा और कुण्ठा का स्वर दिखायी देता है। यहाँ तक कि राष्ट्रीय-सांस्कृतिक आन्दोलन में भाग लेनेवाले नवीन-जैसे कवि भी इस स्वर के प्रभाव से अछूते नहीं रहे। किन्तु, छायावादी कवियों का क्षेत्र व्यापक था। वे पुनर्जागरण से गम्भीर रूप में प्रभावित थे और इसलिए उनका क्षेत्र एकदम पलायन, मादकता और निराशा का नहीं था। उनके सामने जीवन का—व्यक्ति, जाति और मानव-मात्र के जीवन का—भावात्मक पक्ष भी था और इसलिए उनके काव्य में मूल्यों की अभिव्यक्ति व्यापक मानवीय स्तर पर ही हुई।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि छायावाद-युग ने भारतीय जीवन के विकास में

महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह युग भारत के लिए आधुनिकीकरण का युग है, यह प्रक्रिया उसकी आन्तरिक शक्ति से उद्भूत न होकर विदेशी शासन के परिणाम- आयी। विदेशी शासन ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को अत्यन्त जटिल बना दिया। उसका एक और आयाम भी है जो देश के पुनर्जागरण से सम्बद्ध है और उसकी अतीत क-धार्मिक-दार्शनिक आदि परम्पराओं को रूपायित करता है। इस युग के कवियों युगीन इतिवृत्तात्मकता के विरुद्ध सूक्ष्म भावनाओं की प्रतिष्ठा की, तत्कालीन और ईसाई धर्म-प्रचारकों के आक्षेपों के विरुद्ध अतीत भारत के प्राणवान् मूल्यों की की, आर्थिक-राजनीतिक दासता के विरुद्ध स्वाधीनता—केवल राष्ट्रीय ही नहीं, मात्र की स्वाधीनता—के मूल्य की प्रतिष्ठा की। इस युग की किसी काव्यधारा में ास प्रधान दिखायी देता है तो किसी में दूसरा; केवल छायावादी काव्य में तीनों का समन्वित रूप से निर्वाह हुआ है।

काव्यधारा

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

विवेच्य काल भारतीय जीवन के लिए विषम संघर्ष का समय था। देश ऐसे ज्यवादियों के चंगुल में फँसा हुआ था जिनकी शासन-पद्धति प्राचीन काल के विदेशियों लतः भिन्न थी। अँगरेज़ों से पहले जितने भी विदेशी आक्रमणकारी यहाँ आये वे या तो र करके वापिस चले गये या देश में देश के ही होकर रह गये। निस्सन्देह वे अपने धर्म पर आस्था रखनेवालों को अधिक सुविधाएँ देते थे और दूसरे धर्मों के लोगों सी समानता का अधिकार नहीं मिल पाता था, फिर भी वे इस देश में रहते हुए किसी देश के हित की बात नहीं सोंचते थे। इसके विपरीत अँगरेज़ शासक यहाँ रहते हुए भी के निवासी नहीं बने। उनका उद्देश्य था—इस देश का शोषण कर अपने देश की द्धि करना। इसलिए उनके प्रति आक्रोश होना स्वाभाविक ही था। यह आक्रोश धीरे- बढ़ता हुआ स्वाधीनता-संग्राम के रूप में फूट पड़ा और महात्मा गांधी के नेतृत्व में आज़ादी संघर्ष एक नये रूप में—अहिंसा और सत्य पर आधारित असहयोग के रूप में हमारे ने आया। इस युग के राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य में दो भावनाएँ पूरी शक्ति के साथ हुईं—एक ओर तो कवियों ने भारत की आन्तरिक विसंगतियों और विषमताओं को रने के लिए देश का आह्वान किया और दूसरी ओर जनता को विदेशी शासन से मुक्ति ने के लिए स्वाधीनता-संग्राम में कूद पड़ने की प्रेरणा दी। माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश ठी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' और सुभद्राकुमारी चौहान ने केवल राष्ट्र-प्रेम को ही त्रित नहीं किया; उन्होंने स्वयं देश की आज़ादी की लड़ाई में भाग लिया। फलस्वरूप की देश-प्रेम की कविताओं में अनुभूति की सच्चाई और आवेश दिखायी देता है। हरणार्थ माखनलाल चतुर्वेदी ने 'क़ैदी और कोकिला' शीर्षक कविता में अपनी अनुभूति ही एक उच्चतर और लोक-सामान्य भावभूमि के स्तर पर व्यक्त करने का प्रयास

किया है :

> *क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना।*
> *हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिश राज्य का गहना॥*
> *कोल्हू का चरंक चूँ ? जीवन की तान।*
> *मिट्टी पर लिखे अँगुलियों ने क्या गान ?*
> *हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ।*
> *खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूआ॥*

इन पंक्तियों में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरोधी किसी भी ऐसे व्यक्ति की सुनी जा सकती है जिसे आज़ादी के लिए संघर्ष करने के जुर्म में क़ैद किया गया हो। काल में देश के सर्वमान्य नेता थे—महात्मा गांधी। इसलिए स्वाभाविक ही है कि के भावों से भरी कविता में गांधी-दर्शन का गम्भीर प्रभाव दिखायी दे। स्वाधीनता के प्रेरक मूल्य थे—सत्य और अहिंसा। इनके साथ ही गांधी-दर्शन में सामान्य जनता समूह-शक्ति के उपयोग का प्रयास दिखायी देता है। युगों से शोषित भारतीय जनता विज्ञान से प्राप्त नये साधनों से युक्त ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के साथ संघर्ष के लिए करना कोई आसान काम नहीं था। जन-मानस में जागरण और संघर्ष के भावों का करने के लिए कवियों ने जनता को मुख्य रूप से यह बताया कि प्रत्येक व्यक्ति असीम- शक्ति का स्रोत है; आवश्यकता इस बात की है कि वह इसे पहचाने और आत्मविश्वास साथ संघर्ष के लिए तैयार हो जाए। 'नवीन' ने इन पंक्तियों में 'चिरदोहित' और भारत को जगाने का प्रयास किया है :

> *ओ भिखमंगे, अरे पराजित, ओ मजलूम, अरे चिरदोहित,*
> *तू अखण्ड भण्डार शक्ति का, जाग अरे निद्रा सम्मोहित।*
> *प्राणों को तड़पानेवाली हुंकारों से जल-थल भर दे,*
> *अंगारों के अंबारों में अपना ज्वलित पलीता धर दे॥*

जनता में आत्मविश्वास का संचार करने का दूसरा उपाय था – अतीत की का सजीव चित्रण। आज का भारत इतना विकसित हो जाने पर भी अपनी प्राचीन परम्परा से जुड़ा हुआ है। इसके अनेक कारण दिये जाते हैं, किन्तु प्रधान कारण है मूल तीय जीवन-दृष्टि में दुराग्रह का अभाव; जिसके कारण वह युगानुरूप अपनी सांस्कृ परम्पराओं का संशोधन-परिवर्धन करती रही। आधुनिक काल में भी यह प्रयास बड़े पैमाने पर हुआ। धर्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थना समाज, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, अरविन्द, महात्मा गांधी आदि ने प्राचीन सिद्धान्तों को ग्रहण किया और उनकी युगानुरूप नयी व्याख्याएँ कीं। यह सारा प्रयास वास्तव में भारतीय परम्परा में उन मूल्यों की खोज का प्रयास है जो आज के युग-जीवन के लिए सार्थक और उपयोगी हो सकें। छायावादी कवियों ने इस दिशा में एक व्यापक प्रक्रिया अपनाया, जिसकी चर्चा आगे की जाएगी। राष्ट्रीय कवियों ने भी राम, कृष्ण, भीम, हरिश्चन्द्र आदि प्राचीन युगपुरुषों के चरित्रों के उदाहरण देकर जनता में विश्वास और आस्था पैदा करने का प्रयत्न किया। सियारामशरण गुप्त की 'बापू' कविता की ये पंक्तियाँ देखिए :

> *प्राप्त इसे दूर के अतल से*
> *सत्य हरिश्चन्द्र की अटलता,*

लब्ध इसे ताराग्रह मण्डल से
श्री प्रह्लाद की अनन्त भक्ति समुज्ज्वलता,
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञान कर्मयोग इसने
पुण्यरत पांचजन्य स्वर में
जीवन का पाया है अमर योग इसने।

निराला ने भी 'दिल्ली' कविता में देश के अतीत गौरव के साथ वर्तमान दुर्दशा का कर एक गम्भीर प्रभाव की अभिव्यक्ति की है :

क्या यह वही देश है—
भीमार्जुन आदि का कीर्तिक्षेत्र
चिरकुमार भीष्म की पताका ब्रह्मचर्य-दीप्त
उड़ती है आज भी जहाँ के वायुमण्डल में
उज्ज्वल अधीर और चिरनवीन ?—
श्रीमुख से कृष्ण के सुना था जहाँ भारत ने
गीता गीत-सिंहनाद —
मर्मवाणी जीवन-संग्राम की—
सार्थक समन्वय ज्ञान-कर्म-भक्ति योग का ?

इस प्रकार इन कवियों ने वर्तमान को अतीत से सम्बद्ध करके वर्तमान में उत्साह और का उद्बोध करने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में कवियों का ध्यान उन्हीं कर्म, निष्ठा, सत्य, साधना, सहिष्णुता आदि मूल्यों की ओर गया जो समकालीन जीवन भी आदर्श बन सकते हैं। इस प्रकार यह 'जीवन्त अतीत' की खोज का प्रयास था। साधकों, चिन्तकों और कवियों ने मिलकर योग दिया। किन्तु, ये कवि केवल अतीत कर नहीं रह गये, अपने युग की विविध विषमताओं और आकांक्षाओं के प्रति भी रहे। यह तो ठीक है कि प्राचीन महापुरुषों के चरित्र का ज्ञान और अतीत के जीवन्त मूल्यों की प्रतिष्ठा सामाजिक अभ्युदय में सहायक होती है, किन्तु इतना ही पर्याप्त है। युग की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि व्यक्ति दीन-दुखियों की सेवा करे उनके के लिए, उन्हें सुखी बनाने के लिए अपना जीवन समर्पित कर दे। यह भाव भी किया गया कि ईश्वर दीन-दुखियों के हृदय में निवास करता है, इसलिए जो ईश्वर-करना चाहता है उसका प्रधान कर्तव्य यह है कि वह दलित और शोषित वर्ग के के लिए साधना करे। जो प्रवृत्ति भारतेन्दु की प्रसिद्ध पंक्ति 'कहाँ करुनानिधि केसव में मिलती है, वही विवेच्य काव्यधारा में भी दिखायी देती है। इस तरह के विचारों में भगवद्भक्ति और लोक-कल्याण की भावनाओं में समन्वय का प्रयास दिखायी है। ऐकान्तिक लोक विमुख आध्यात्मिक साधना आधुनिक युग की आकांक्षाओं को नहीं कर सकती, परन्तु भक्ति या आध्यात्मिकता सर्वथा निरर्थक या उपेक्षणीय भी नहीं ध्यात्मिकता और सामाजिकता का समन्वय जीवन के चतुर्दिक् विकास के लिए अनिवार्य रामनरेश त्रिपाठी ने इस सत्य का बड़ी मार्मिकता के साथ प्रतिपादन किया है :

मेरे लिए खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।

बनकर किसी के आँसू मेरे लिए बहा तू
मैं देखता तुझे था माशूक के बदन में।

आलोच्य धारा की कई रचनाओं में प्रत्यक्ष रूप से देश की स्वाधीनता की माँ 'होमरूल' का, समर्थन किया गया है। हमारा देश किसी और का अधिकार नहीं छी चाहता, हम तो केवल स्वराज्य—अपने देश के वर्तमान और भविष्य को बना अधिकार—चाहते हैं। रामनरेश त्रिपाठी ने अपने युग की इस आकांक्षा को स्पष्ट रू व्यक्त किया है :

करेंगे क्या लेकर अपवर्ग, हमारा भारत ही सुख-स्वर्ग।
नहीं है किसी लक्ष्य पर ध्यान, चाहिए केवल स्वत्व समान॥
इसे तजकर क्या तरु निर्मूल, करेंगे लेकर किंशुक फूल।
प्रकृत पुरुषों का जीवन-मूल, चाहिए केवल घर का रूल॥

इस तरह की रचनाओं में कवित्व की अपेक्षा उपदेश का भाव ही अधिक है वस्तुतः जब भी कविता किसी सामाजिक माँग को—चाहे वह स्वराज्य की माँग के स महत्त्वपूर्ण ही क्यों न हो—लेकर चलती है, तो उसके कवित्व की प्रायः हानि होती एक तो यह खड़ीबोली-काव्य की आरम्भिक अवस्था थी और तब तक भाषा का पूर्ण नि नहीं हो पाया था और दूसरे, कवियों की चेतना कविता या कवि-कर्म में केन्द्रित न हो राष्ट्रीय आकांक्षा में केन्द्रित थी; इसलिए इस प्रकार की रचनाओं का महत्त्व केवल इ राष्ट्रीय चेतना के कारण ही है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि स्वाधीनता-आन्दो के दो महत्त्वपूर्ण मूल्यों—असहयोग और आत्मबलिदान—के प्रभावस्वरूप इस धारा की अ रचनाओं में जनता को सरकार से असहयोग करने के लिए प्रेरित किया गया है। स्पष्ट कि सरकार का विरोध करने पर, चाहे वह शान्तिपूर्ण असहयोग ही क्यों न हो, लोगों सरकार के दमन-चक्र की निरंकुशता को सहने की शक्ति होनी चाहिए। इसलिए असह के साथ-साथ सहिष्णुता पर भी विशेष बल दिया गया। यदि यह शान्तिपूर्ण आन्दोलन जी की बलि माँगता है, तो इसके लिए भी जनता को तैयार रहना चाहिए। सुभद्राकुमारी चौ ने असहयोग और बलिदान की प्रेरणा देते हुए कहा है :

विजयिनी माँ के वीर सुपुत्र पाप से असहयोग ले ठान
गुजा डालें स्वराज्य की तान और सब हो जावें बलिदान।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने भी देश के युवकों को स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर मिटने के लिए प्रेरित किया है :

है बलिवेदी, सखे प्रज्वलित माँग रही ईंधन क्षण-क्षण,
आओ युवक, लगा दो तो तुम अपने यौवन का ईंधन।
भस्मसात हो जाने दो ये प्रबल उमंगें जीवन की,
अरे सुलगने दो बलिवेदी, चढ़ने दो बलि जीवन की॥

कहीं-कहीं क्रान्ति और ध्वंस के स्वर भी सुनायी देते हैं। 'नवीन' जी की र 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल-पुथल मच जाए' इस विषय में प्रसिद्ध है। निरा की 'आवाहन' कविता में भी ध्वंस की बात कही गयी है :

एक बार बस और नाच तू श्यामा!
सामान सभी तैयार,

कितने ही असुर, चाहिए कितने तुझको हार ?
कर मेखला मुण्ड-मालाओं से बन-बन अभिरामा—
एक बार बस और नाच तू श्यामा !
भैरवी मेरी तेरी झंझा
तभी बजेगी मृत्यु लड़ाएगी जब तुझसे पंजा;
लेगी खड्ग और तू खप्पर,
उसमें रुधिर भरूँगा माँ
मैं अपनी अंजलि भर-भर…

किन्तु, यह भाव विरल ही है; प्रधानता असहयोग और आत्मबलिदान के भावों की ही है। इस काव्यधारा की अनेक रचनाओं में मातृभूमि की महिमा का वर्णन करने के न्दर्भ में उसे देवी के रूप में भी चित्रित किया गया है। निराला ने भारतमाता का चित्र न पंक्तियों में व्यक्त किया है :

भारति, जय विजय करे,
कनक शस्य कमल धरे।
लंका पदतल शतदल,
गर्जितोर्मि सागर जल
धोता शुचि चरण धवल
स्तव कर बहु-अर्थ भरे।

इस प्रकार की रचनाओं के द्वारा कवियों ने जनता में देश के प्रति प्रेम और भक्ति की भावनाएँ उत्पन्न करने का प्रयास किया है। जिस देश ने हमें जीवन दिया है, जिसकी धूल में खेलकर हम बड़े हुए हैं; क्या हम उसके दु:खों की उपेक्षा करके जीवन को सार्थक कर सकते हैं? स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता के संघर्ष-काल में प्रत्येक भारतवासी का सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य था—देश की स्वाधीनता के लिए साधना करना। इस युग के प्राय: सभी कवियों ने देश के अतीत गौरव के प्रति अटूट श्रद्धा तो व्यक्त की ही है, साथ ही उनका यह दृढ़ विश्वास भी है कि शीघ्र ही देश पराधीनता और अत्याचार के दमन-चक्र से मुक्त होगा और फिर से एक नयी, विराट् और भव्य सामाजिक व्यवस्था का उदय होगा।

काव्य-मूल्यों की दृष्टि से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य को स्पष्ट रूप से दो वर्गों में रखा जा सकता है। पहले वर्ग में तो वे रचनाएँ आती हैं जो अपने युग-धर्म के साथ सम्बद्ध होने के कारण ही सार्थक हैं। ऐसी रचनाएँ प्राय: वे हैं जो इस युग के विशिष्ट आन्दोलनों या तात्कालिक उद्देश्यों को ध्यान में रखकर लिखी गयी थीं। दूसरे वर्ग में वे रचनाएँ आती हैं जो अपने युग के लिए तो सार्थक हैं ही, साथ ही उनमें युग-निरपेक्ष उत्कर्ष की स्थिति भी दिखायी देती है। इन रचनाओं में केवल तात्कालिक सामाजिक-राजनीतिक उद्देश्य ही अभिव्यक्त नहीं हुए, अपितु इनमें मानव-जीवन को शक्ति प्रदान करनेवाले साम्य, साधना, न्याय, स्वाधीनता आदि सामान्य मूल्यों की प्रतिष्ठा भी की गयी है।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के प्रमुख कवि

माखनलाल चतुर्वेदी : माखनलाल चतुर्वेदी (१८८९-१९६८) का जन्म मध्यप्रदेश के जिला होशंगाबाद के गाँव बाबई में हुआ था। इनके पिता गाँव के स्कूल में अध्यापक थे,

इसलिए इनकी आरम्भिक शिक्षा वहीं हुई। ये एक सजग, संवेदनशील एवं उत्साही व्यक्ति थे और आरम्भ से ही देश की दशा के प्रति जागरूक थे। इन पर सैयद अमीर अली 'मीर', स्वामी रामतीर्थ और माधवराव सप्रे का विशेष प्रभाव था। वैष्णव-संस्कार तो इन्हें अपने परिवार से ही मिले थे। अपने जीवन का आरम्भ इन्होंने एक अध्यापक के रूप में किया था, किन्तु ये पत्रकारिता के क्षेत्र में भी कार्यशील रहे और इन्होंने 'प्रभा', 'प्रताप' तथा 'कर्मवीर' का सम्पादन किया। इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' था। आरम्भ में ये क्रान्ति के दर्शन से प्रभावित हुए थे, किन्तु बाद में इनकी आस्था गांधीवाद की ओर हुई। अपनी राजनीतिक सक्रियता के कारण इन्हें कई बार बन्दी बनाया गया। जेल के जीवन-काल में इन्होंने अनेक कविताओं की रचना की। छायावाद-युग के इनके प्रमुख कविता-संग्रह हैं—'हिमकिरीटिनी' और 'हिमतरंगिनी'। चतुर्वेदी जी की रचनाओं में देश के प्रति गम्भीर प्रेम और देश-कल्याण के लिए आत्मोत्सर्ग की उत्कट भावना दिखायी देती है। इस मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को तभी सफलता मिल सकती हैं जब वह जीवन के सुख और वैभव को ठुकराकर संघर्ष और साधना का मार्ग अपनाये। इन्होंने अपनी रचनाओं द्वारा देशवासियों को इसी संघर्ष और साधना के मार्ग पर चलने की प्रेरणा दी। इनकी कई रचनाओं में—विशेषकर आरम्भिक रचनाओं में आध्यात्मिक अनुभूति को भी वाणी मिली है। इनकी आध्यात्मिक भावना पर निर्गुण भक्ति, सगुण भक्ति और रहस्य-भावना का प्रभाव दिखायी देता है; किन्तु इनकी रचनाओं का प्रधान स्वर राष्ट्र-प्रेम और आत्मोत्सर्ग का है।

सियारामशरण गुप्त : सियारामशरण गुप्त (१८९५-१९६३) का जन्म उत्तरप्रदेश के ज़िला झाँसी के चिरगाँव नामक ग्राम में हुआ था। ये मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई थे। रोग एवं पारिवारिक दुःखों के कारण इनका जीवन अत्यन्त दुःखमय रहा। वैसे, ये सरलता एवं नम्रता की प्रतिमूर्ति थे। इनकी पहली रचना सन् १९१० में 'इन्दु' पत्रिका में प्रकाशित हुई। इसके बाद 'सरस्वती' में कई रचनाएँ छपीं। 'मौर्य विजय', 'अनाथ', 'दूर्वादल', 'विषाद', 'आर्द्रा', 'पाथेय', मृण्मयी', 'बापू', 'दैनिकी' आदि इनकी प्रसिद्ध काव्य-कृतियाँ हैं। गांधीवाद में इनकी अटूट आस्था थी, इसलिए इनकी सभी रचनाओं पर अहिंसा, सत्य, करुणा, विश्वबन्धुत्व, शान्ति आदि गांधीवादी मूल्यों का गहरा प्रभाव दिखायी देता है। जिन रचनाओं में इन्होंने प्राचीन भारतीय आख्यानों को आधार बनाया है, वहाँ भी वे इन्हीं मूल्यों की प्रतिष्ठा करते दिखायी देते हैं। विषय-प्रतिपादन और अभिव्यंजना-शैली की दृष्टि से जहाँ इन पर एक ओर द्विवेदीयुगीन रचना-पद्धति का प्रभाव लक्षित होता है वहाँ दूसरी ओर ये छायावादी शिल्प से भी प्रत्यक्षतः प्रभावित हैं। इनकी भाषा-शैली सरल और स्पष्ट है तथा इन्होंने बड़ी सफलता के साथ मुक्त छन्द का प्रयोग किया है।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : 'नवीन' जी (१८९७-१९६०) का जन्म ग्वालियर राज्य के भयाना गाँव में हुआ था। ग्यारह वर्ष की आयु में इनकी शिक्षा का आरम्भ हुआ। सन् १९१७ में हाई स्कूल पास करने के बाद ये कानपुर पहुँचे, जहाँ गणेशशंकर विद्यार्थी ने इन्हें कॉलेज में दाखिल करा दिया। किन्तु, सन् १९२० में ये गांधी जी के आह्वान पर कॉलेज छोड़कर राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगे। अपने लम्बे राजनीतिक जीवन के दौरान इन्हें कई बार जेल जाना पड़ा। देश के स्वाधीन होने पर ये पहले लोकसभा और फिर राज्यसभा के सदस्य रहे। कुछ समय तक इन्होंने 'प्रभा' और 'प्रताप' का भी सम्पादन किया था। इनकी रचनाएँ सन् १९१८ से ही पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं, लेकिन इन्होंने उनको विधिवत् प्रकाशित कराने का कोई प्रयास नहीं किया। 'कुंकुम'

इनका पहला कविता-संग्रह है। 'ऊर्म्मिला' काव्य को इन्होंने सन् १९३४ में ही लिया था, किन्तु उसका प्रकाशन १९७५ ई० में हुआ। इसमें कवि ने उर्मिला के के माध्यम से भारत की प्राचीन आर्य संस्कृति के उज्ज्वल रूप को प्रस्तुत करने का किया है। कथानक को अपने परिवेश के यथार्थ से—भारतीय संस्कृति और ब्रिटिश वाद के संघर्ष से—सम्बद्ध करने के लिए कवि ने कुछ प्रसंगों की अत्यन्त कौशल- योजना की है। इनके अन्य काव्य-ग्रन्थ हैं—'अपलक', 'रश्मिरेखा', 'क्वासि' तथा पायी जनम के'।[1] 'नवीन' जी की रचनाओं में प्रणय और राष्ट्र-प्रेम दोनों भावों क्तिशाली अभिव्यक्ति मिलती है। इनकी प्रणय-सम्बन्धी रचनाओं में छायावादी के समान स्वच्छन्दता तथा प्रेम और मस्ती के काव्य-जैसी मार्मिकता दिखायी देती है। में 'नवीन' जी को परवर्ती प्रेम और मस्ती के काव्य के अग्रदूत के रूप में स्वीकार जा सकता है। इनकी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविताओं में अनुभूतियों का सीधा सम्बन्ध जीवन के साथ है। देश की स्वतन्त्रता तथा समाज की नयी रचना के लिए इन्होंने जो चना की थी, वही साधना निश्छल और सहज शक्ति के साथ इनकी राष्ट्रीय रच- भी दिखायी देती है। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के अन्य कवियों के समान ही व्य के प्रधान विषय हैं—अतीत की महिमा का गौरव-गान, तत्कालीन भारतीय की रुग्ण अवस्था के प्रति व्यथा और आक्रोश, भविष्य को अवतरित करने की आदि। किन्तु, इनकी काव्य-चेतना का एक पक्ष बिलकुल निजी और अनुभूति-प्रधान म अनिकेतन, हम अनिकेतन, हम तो रमते राम हमारा क्या घर, क्या दर, कैसा ' कहीं तो ये अपने फक्कड़पन और मस्ती की अभिव्यक्ति करते हैं और कहीं नशे हो जाना चाहते हैं : "हो जाने दे ग़र्क नशे में, मत पड़ने दे फ़र्क नशे में।" ये क और उत्साह के साथ कर्म और साधना की ओर अग्रसर होते हैं, उसी आवेश र्जित के साथ प्रणय में डूब जाना चाहते हैं। फलस्वरूप पहली दशा का संघर्ष व और दूसरी स्थिति की मदहोशी और मस्ती दोनों कारण-कार्य-भाव से सम्बद्ध रस्पर पूरक-से लगते हैं।

सुभद्राकुमारी चौहान : सुभद्रा जी (१९०५-१९४८) का जन्म प्रयाग ज़िले के निहाल- में हुआ था। इन्होंने प्रयाग में ही शिक्षा ग्रहण की। सन् १९२१ में असहयोग- न के प्रभाव से इन्होंने शिक्षा अधूरी ही छोड़ दी और ये राजनीति में सक्रिय भाग लगीं। अपने राजनीतिक कार्यों के कारण इन्हें कई बार जेल ज़ाना पड़ा। काव्य-रचना र इनकी प्रवृत्ति विद्यार्थी-काल से ही थी। इनकी कविताएँ 'त्रिधारा' और 'मुकुल' कलित हैं। भाव की दृष्टि से इनकी कविताओं को दो वर्गों में विभाजित किया जा है। प्रथम वर्ग में राष्ट्र-प्रेम की कविताएँ रखी जा सकती हैं जिनमें इन्होंने असहयोग ज़ादी की लड़ाई में भाग लेनेवाले वीरों को अपना विषय बनाया है। इनकी 'झाँसी की कविता तो सामान्य जनता में बहुत प्रसिद्ध हुई है। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत वे कविताएँ जा सकती हैं जिनकी प्रेरणा इन्हें अपने पारिवारिक जीवन से प्राप्त हुई है। ऐसी ताओं में कुछ तो पति-प्रेम की भावना से अनुप्राणित हैं और कुछ में सन्तान के प्रति की सहज एवं मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है। इनकी भाषा शैली भावों के अनुरूप

---

[1] और इन कृतियों का प्रकाशन छायावादोत्तर काल में हुआ, किन्तु इनमें उनकी छायावादयुगीन कविताएँ संकलित हैं।—सह-सम्पादक

सरलता और गति लिये हुए है।

अन्य कवि : छायावाद-युग में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा के विकास अन्य कवियों ने उल्लेखनीय योग दिया अथवा इस धारा के परवर्ती प्रमुख कवियों में कवियों की एक-दो कृतियाँ आलोच्य काल में प्रकाश में आयीं उनमें रामनरेश उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द, दिनकर आदि का उल्लेख आवश्यक है। त्रिपाठी (१८८९-१९६०) ने 'मानसी' (१९२७) की कतिपय देशभक्तिपरक कवि अतिरिक्त 'पथिक' (१९२०) और 'स्वप्न' (१९२९) शीर्षक खण्डकाव्यों में कथाओं के माध्यम से देश के उद्धार के लिए आत्मोत्सर्ग की भावना को व्यक्त कि दोनों काव्यों के नायक सामान्य जनता के प्रतिनिधि हैं। 'पथिक' का नायक जन- वैषम्य को दूर करने के उद्देश्य से राजतन्त्र से लोहा लेता है और अन्त में इसी पूर्ति के लिए अपना तथा अपने परिवार का बलिदान कर देता है। 'स्वप्न' में कवि ऐसे संवेदनशील नायक की कथा का वर्णन किया है जो पहले तो स्वार्थ और लो अथवा व्यक्तिगत सुख और समाज-कल्याण में विरोध देखता है, किन्तु फिर उसे क बोध होता है और वह देश के कल्याण के लिए पूरी शक्ति से कर्मलीन होता है। के विपरीत इस काव्य का अन्त सुखद है। इन दोनों काव्यों में कवि ने राष्ट्र-सेवा के की स्थापना की है तथा समाज-विरोधी शक्तियों के प्रति विद्रोह करने की प्रेरणा इस प्रकार ये कल्पित कथानक भी सहज ही कवि के सामाजिक यथार्थ से सम्बद्ध अधिक सार्थक बन गये हैं। **उदयशंकर भट्ट** (१८९८-१९६६) के आख्यान-काव्य (१९२९) की गणना भी प्रस्तुत काव्यधारा के अन्तर्गत की जा सकती है—भार सांस्कृतिक गुण-गाथा की अभिव्यक्ति इस रचना का मुख्य अभीष्ट है। जगन्ना मिलिन्द (जन्म १९०७) के 'जीवन-संगीत' में भारत के सांस्कृतिक गौरव, राष्ट्रीय और बलिदान की भावना को व्यक्त करनेवाली कविताएँ संकलित हैं। इनकी रचना से १९३६ के मध्य हुई थी। दिनकर-कृत 'रेणुका' (१९३५) भी इसी शैली का संग्रह है। रूढ़ि-विद्रोह, नवयुग की स्फूर्ति और ओजस्विता की दृष्टि से इसकी अप्रतिम हैं। इस सन्दर्भ में मैथिलीशरण गुप्त की 'स्वदेश-संगीत' (१९२५), कवि (गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही') की 'राष्ट्रीय मन्त्र' (१९२१), केदारनाथ मिश्र 'प्र 'ज्वाला' (१९२९), महेशचन्द्र प्रसाद की 'कांग्रेस शतक' (१९३६) आदि रचना उल्लेख भी आवश्यक है—उस युग की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य-चेतना को गति में इन कृतियों का योगदान अविस्मरणीय है।

छायावाद : सामान्य विशेषताएँ

'छायावाद' शब्द के अर्थ को लेकर आलोचना-जगत् में काफ़ी विवाद रहा है। कारण यह है कि जहाँ यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद आदि ऐसे नाम हैं जिनके पर इन वादों के अन्तर्गत स्वीकृत रचनाओं के बुनियादी स्वरूप को आसानी से सकता है वहाँ 'छायावाद' शब्द किसी ऐसे स्पष्ट अर्थ का बोध नहीं कराता जिसके पर छायावादी काव्य की विशेषताओं को समझा जा सके। हो सकता है कि आरम्भ में से अस्पष्टता की व्यंजना अभिप्रेत रही हो, किन्तु यह अर्थ छायावादी काव्य के समझाने में सर्वथा असमर्थ है। इसलिए 'छायावाद' के अर्थ को समझने के लिए प्रवृत्तियों को जानने का प्रयास करना होगा जो छायावादी काव्य में पायी जाती हैं।

प्रगतिवाद आदि काव्यधाराओं के विवेचन में यथार्थ, प्रगति आदि के अर्थ से जाती है वहाँ छायावाद के अर्थ को समझने के लिए विपरीत दिशा में चलना वाचक शब्द के अर्थ से काव्यगत विशेषताओं की ओर जाने के स्थान पर काव्य ओं से नामवाचक शब्द के अर्थ-निर्धारण का प्रयास करना होगा। लेकिन के जो अर्थ आरम्भ में निर्धारित किये गये, उनमें 'छाया' शब्द के अर्थ को समझाने की गयी। उदाहरणार्थ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इसका सम्बन्ध अँगरेज़ी के मैटा' से जोड़ने का प्रयास किया तो प्रसाद जी ने इसे 'विच्छित्ति' या 'मोती की ' से सम्बद्ध किया। लेकिन आज इन मान्यताओं का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है। छायावाद' के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में एक और विवाद भी सामने आया। आचार्य शुक्ल ने इसे सीमित अर्थ में एक शैली-विशेष माना जिसमें लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, , विरोध-चमत्कार, विशेषण-विपर्यय, मानवीकरण, अन्योक्ति-विधान आदि पर है। 'छायावाद' के व्यापक अर्थ में उन्होंने रहस्यवाद को भी समाविष्ट किया है। जी ने छायावाद में स्वानुभूति की विवृत्ति पर बल दिया। लेकिन आज छाया- रहस्यवाद दो स्वतन्त्र वाद माने जाते हैं। 'छायावाद' में शैलीगत विशेषताओं के प्रेम, सौन्दर्य आदि भावनाओं को भी स्वीकार किया जाता है जबकि अव्यक्त के प्रति प्रणय-निवेदन को रहस्यवाद की मूल विशेषता माना जाता है। यद्यपि रहस्यवाद को अध्यात्मवाद और विशेषतः शैव दर्शन के साथ सम्बद्ध करने का , किन्तु उनकी वह व्याख्या सर्वमान्य न हो सकी। जहाँ तक भाषा-शैली का प्रश्न और रहस्यवाद में समानता पायी जाती है। किन्तु, विषय वस्तु की दृष्टि से अन्तर है। रहस्यवादी भावना का आलम्बन जहाँ अमूर्त निराकार ब्रह्म है, जो है; वहाँ छायावाद का विषय लौकिक ही होता है।

वाद के विवेचन के प्रसंग में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का भी उल्लेख मिलता है। चन्द्र शुक्ल ने श्रीधर पाठक को आधुनिक काव्यधारा में 'सच्चे स्वच्छन्दतावाद के रूप में स्वीकार किया है : "हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नये-नये ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखायी पड़ी, पर भाषा ब्रज ही रहने दी गयी और , अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के । इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले-पहल पं० श्रीधर पाठक ने ही न्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को स्वर्गीय वीणा' में उन्होंने उस परोक्ष दिव्य संगीत की ओर रहस्यपूर्ण संकेत किया सुर पर यह सारा विश्व नाच रहा है। इन सब बातों का विचार करने पर पाठक ही सच्चे स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज़्म) के प्रवर्तक ठहरते हैं। खेद है कि र स्वाभाविक स्वच्छन्दता का यह मार्ग हमारे काव्य-क्षेत्र के बीच चल न पाया।"[1] ने इसका कारण यह माना है कि 'गीतांजलि' की धूम मच जाने के कारण हिन्दी कवि चित्रात्मक भाषा और प्रतीकवाद की ओर आसक्त हुए। लेकिन यह स्पष्ट अटूट धारा के रूप में स्वच्छन्दतावाद का आरम्भ श्रीधर पाठक से नहीं हुआ। ध्यान देने योग्य है कि शुक्ल जी ने स्वच्छन्दतावाद का उल्लेख करते हुए 'पद्य , अभिव्यंजना के ढंग, प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण' आदि की बात की है। ये

हित्य का इतिहास, पृष्ठ ६०३-६०४

विशेषताएँ परवर्ती छायावादी काव्य में सामने आयीं। वैसे, छायावादी काव्य का एक लक्षण है—स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृत्ति, जो व्यक्तिगत प्रणय से लेकर करुणा और तक फैली हुई है।

छायावाद और स्वच्छन्दतावाद (रोमांटिसिज़्म) की समानता की ओर यद्यपि यास ही ध्यान आकृष्ट हो जाता है, किन्तु इन दोनों में बुनियादी अन्तर है। वैसे स्वच्छन्दतावादी काव्य से पहले काव्य पर कई शताब्दियों तक कठोर अनुशासन रहा इस अनुशासन का रूप धार्मिक भी था (जैसे अन्धकार-युग में) और नैतिक तथा शास्त्रीय भी था (जैसे नव्यशास्त्रवादी युग में)। अँगरेज़ी के स्वच्छन्दतावादी कवियों ने बन्धनों का आग्रहपूर्वक तिरस्कार किया। लेकिन यहाँ छायावादी काव्य से पूर्व द्विवेदी में नैतिक दृष्टि की प्रधानता मिलती है और छायावाद में उसका विरोध भी दिखायी दे वहाँ द्विवेदी-युग से थोड़ा और पीछे जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रणय की स्वच्छन्द व्यक्ति छायावादी काव्य की कोई क्रान्तिकारी प्रवृत्ति नहीं थी। वस्तुतः छायावाद स्वच्छन्दतावादी कम और पुनरुत्थानवादी अधिक था। छायावाद की प्रणयानुभूति रीतिकालीन शृंगार-चित्रण का काफ़ी प्रभाव है। काव्यशास्त्रीय मूल्यों की दृष्टि छायावाद प्राचीन सिद्धान्तों—विशेषकर रस-सिद्धान्त के अनुरूप है। और जहाँ तक दा सिद्धान्तों का सम्बन्ध है—छायावादी काव्य सर्ववाद, कर्मवाद, वेदान्त, शैव दर्शन, अद्वै भक्ति आदि पुराने सिद्धान्तों को ही व्यक्त करता दिखायी देता है।

छायावादी काव्य की अभिव्यंजना-पद्धति भी नवीनता और ताज़गी लिये हु द्विवेदीकालीन खड़ीबोली और छायावादी खड़ीबोली में बहुत अन्तर है। भाषा का वि समग्र काव्य-चेतना के विकास का ही अन्तरंग तत्त्व होता है। द्विवेदीयुगीन काव्य बहि था, इसलिए उसकी भाषा में स्थूलता और वर्णनात्मकता अधिक थी। इसके विपरीत छ वादी काव्य में जीवन की सूक्ष्म-निभृत स्थितियों को आकार प्राप्त हुआ, इसलिए शैली में उपचारवक्रता मिलती है जो मानवीकरण आदि अनेक विशेषताओं के रूप में दि देती है। ब्रजभाषा तथा खड़ीबोली के विवाद के कारण भी छायावादी कवियों ने आग्रह खड़ीबोली को अधिक सूक्ष्म, चित्रात्मक और वक्र बनाया। छायावादी कविता में प्र खड़ीबोली के लिए ये विशेषताएँ इस कारण अधिक मौलिक और विलक्षण लगती हैं कि द्विवेदीकालीन कविता में प्रयुक्त इतिवृत्तात्मक खड़ीबोली की तुलना में देखा जाता है अ घनानन्द-जैसे कवियों की ब्रजभाषा में ऐसी वक्रता और सूक्ष्मता का विकास बहुत पहले हो चुका था। किन्तु, छायावादी अभिव्यंजना निस्सन्देह अर्थ-गाम्भीर्य के उस उत्कर्ष पहुँच जाती है जिससे आगे जाने की सम्भावना नहीं रहती; हाँ, कोई चाहे तो दिशा अवश्य सकता है। महादेवी की 'दीपशिखा' की ये पंक्तियाँ देखिए :

> *झर चुके तारक-कुसुम जब*
> *रश्मियों के रजत-पल्लव,*
> *सन्धि में आलोक-तम की क्या नहीं नभ जानता तब,*
> *पार से, अज्ञात वासन्ती*
> *दिवस-रथ चल चुका है।*

इन पंक्तियों में अर्थ के तीन पक्षों का एक साथ निर्वाह किया गया है। यहाँ प्रति तो है जीवन की साधना का वह अन्तिम क्षण जब इस लौकिक जीवन की समाप्ति के एक लोकोत्तर आनन्दमय चेतना का आभास होने लगता है, किन्तु इस अर्थ के लिए

स्तुत है या यों कहना चाहिए कि अप्रस्तुत-दर-अप्रस्तुत है। एक अप्रस्तुत तो है प्रातःकाल, जब तारे तथा चन्द्रमा की किरणें धूमिल होने लगती हैं और वासन्ती प्रकाशवाले सूर्य क्षितिज के उस ओर से आता दिखायी देता है तथा दूसरा अप्रस्तुत है पतझर की न्धि की वेला का, जब कुसुमों और पल्लवों के झर जाने के बाद वसन्त के आगमन की मिलने लगती है। आलोक और तम की सन्धि का प्रयोग मृत्यु के लिए हुआ है और का चेतना के लिए। ऐसी पंक्तियों को देखकर 'सनि-कज्जल चखु-झखु लगनु' जैसे हारी के दोहों का स्मरण हो आता है। किन्तु, अर्थ-गाम्भीर्य में समानता होने पर भी यावादी रचनाओं की अभिव्यंजना की सूक्ष्मता का वैशिष्ट्य भी अनायास स्पष्ट हो ता है।

छायावादी काव्य के मूल स्वरूप को समझने के लिए उसे ऐतिहासिक सन्दर्भ में धर देखना अनिवार्य है। द्विवेदीयुगीन काव्य विषयनिष्ठ, वर्णनप्रधान और स्थूल था। के विपरीत छायावादी काव्य व्यक्तिनिष्ठ और कल्पनाप्रधान है। प्रसाद, निराला आदि वियों ने अधिकतर अपनी सुख-दुःखमयी अनुभूति को ही मुखर किया है। जिस प्रकार वेदीयुगीन कविता में सृष्टि की व्यापकता और अनेकरूपता को समेटने का प्रयास है उसी कार छायावादी काव्य में मनोजगत् की गहराई को वाणी में सँजोने का प्रयत्न किया गया । मनोजगत् का सत्य सूक्ष्म होता है जिसे सर्जना द्वारा साकार करने के लिए छायावादी वियों ने उर्वरा कल्पना-शक्ति का उपयोग किया है। कल्पना का उपयोग अनुभूति के विध पक्षों और प्रसंगों की उद्भावना में भी किया गया है और उन्हें व्यक्त करनेवाले तीकों तथा बिम्बों की सर्जना में भी। इसीलिए छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति विशिष्ट र सांकेतिक हो गयी है।

छायावादी कवियों ने प्रधान रूप से प्रणय की अनुभूति को व्यक्त किया है। उनकी विताओं में प्रणय से सम्बद्ध विविध मानसिक अवस्थाओं का—आशा, आकुलता, आवेग, लीनता, निराशा, पीड़ा, अतृप्ति, स्मृति, विषाद आदि का—अभिनव एवं मार्मिक चित्रण लता है। रीतिकालीन काव्य में शृंगार की अभिव्यक्ति नायक-नायिका आदि के माध्यम हुई है, किन्तु छायावादी कवियों की अनुभूति की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है। यहाँ कवि और पाठक की चेतना के बीच अनुभूति के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की स्थिति नहीं है। नुभूति को इस भाँति चित्रित किया गया है कि सामान्य पाठक सहज ही उसमें तल्लीन जाता है। स्वानुभूति के सम्प्रेषण के लिए यह आवश्यक है कि कवि उसे निजी सम्बन्धों और प्रसंगों से मुक्त करके लोकसामान्य अनुभूति के रूप में प्रस्तुत करे। छायावादी कवि की प्रणयानुभूति की अभिव्यक्ति भी इसी लोक-सामान्य स्तर पर हुई है। छायावादी काव्य नुभूति के स्तर पर मानव-मात्र की एकता की स्थापना करने में समर्थ हुआ है। इसका ह अभिप्राय नहीं है कि यही उसका उद्देश्य था। शृंगारपरक रचनाओं को देखने से ष्ट हो जाता है कि कवियों ने तो मूल रूप से स्वानुभूति में केन्द्रित होकर ही सर्जना की है, वह दूसरी बात है कि कल्पना के माध्यम से निजी अनुभूति का इस भाँति संस्कार कर या गया है कि वह मानव-मात्र के हृदय को तल्लीन करने में समर्थ हो सके। छायावादी काव्य के स्वरूप के सम्बन्ध में यह सहज ही स्वीकार किया जा सकता है कि उसमें कवि की नुभूति की प्रधानता है और यह अनुभूति कवि-प्रतिभा द्वारा परिष्कृत होकर ऐसे न्दर्यमय रूप में व्यक्त होती है जो सभी सहृदयों को अपने में सहसा आसक्त कर लेती है। छायावादी काव्य में अनुभूति की इस प्रधानता के कारण ही उसे स्थूल के प्रति सूक्ष्म

का विद्रोह माना गया है।

छायावादी काव्य की चेतना व्यक्तिनिष्ठ और सूक्ष्म होते हुए भी मूर्त उपकरणों द्वारा व्यंजित की गयी है। जैसे ही हम मूर्त उपकरणों का उल्लेख करते हैं, हमारा ध्यान छायावादी चेतना के सौन्दर्य-पक्ष की ओर आकृष्ट हो जाता है। जिस प्रकार प्रसाद ने 'संकल्पात्मक अनुभूति' की व्याख्या करते हुए 'मूल चारुत्व' की बात की है, उसी प्रकार महादेवी भी सत्य को काव्य का साध्य मानती हैं और सौन्दर्य को उसका साधन। सौन्दर्य के स्वरूप पर विचार करते हुए यहस्पष्ट हो जाता है कि उसका प्रधान स्रोत प्रकृति है इसका यह तात्पर्य नहीं है कि छायावादी कवियों ने मानव के सौन्दर्य का चित्रण नहीं किया। नारी के शारीरिक सौन्दर्य के अनेक मोहक चित्र प्रणय की कविताओं में बिखरे हुए मिलते हैं। यह सौन्दर्य प्रत्यक्ष रूप से नायिका के रूप-वर्णन में भी दिखायी देता है; जैसे प्रसाद-कृत 'आँसू' तथा 'कामायनी' में प्रस्तुत किया गया नायिका का सौन्दर्य या पन्त-कृत 'भावी पत्नी के प्रति' में व्यक्त नायिका का सौन्दर्य—और परोक्ष तथा सांकेतिक र में भी लक्षित होता है; निराला की 'जूही की कली' में। इन कवियों की सौन्दर्य-भावना ने प्रकृति के विविध दृश्यों को अनेक कोमल-कठोर रूपों में साकार किया है। प्रथम पक्ष के अन्तर्गत प्रसाद की 'बीती विभावरी जाग री', निराला की 'सन्ध्या सुन्दरी', पन्त की 'नौका-विहार' आदि कविताओं का उल्लेख किया जा सकता है जबकि 'कामायनी' का प्रलय वर्णन, निराला की 'बादल-राग' कविता तथा पन्त की 'परिवर्तन' जैसी रचनाओं में प्रकृति के कठोर रूपों का चित्रण भी मिलता है। छायावादी काव्य में अनुभूति और सौन्दर्य के स्तर पर प्रायः मानव और प्रकृति के भावों और रूपों का तादात्म्य दिखायी देता है।

छायावादी कविता अपनी आरम्भिक अवस्था में व्यक्तिनिष्ठ, अनुभूति-प्राण और सौन्दर्यमयी रही है। किन्तु, बाद में जब कवियों की दृष्टि जीवन के अन्य प्रसंगों की ओर गयी तो कवि व्यक्तिनिष्ठ परिधि से बाहर निकल आये लेकिन अनुभूति और सौन्दर्य की कल्पनामयी अभिव्यक्ति के कारण जीवन के बाह्य प्रसंगों को चित्रित करनेवाली रचनाएँ भी एक अपूर्व दीप्ति और शक्ति से अलंकृत हो गयीं। उदाहरण के लिए प्रसाद की 'प्रलय' की छाया', निराला की 'राम की शक्तिपूजा' और पन्त की 'परिवर्तन' शीर्षक कविताएँ जीवन के मूर्त-स्थूल आख्यानों और प्रसंगों को या प्रकृति की परिवर्तनशीलता के तथ्य को चित्रित करती हुई भी तीव्र अनुभूति की अविच्छिन्न धारा के कारण तथा सौन्दर्यमय सांकेतिक बिम्ब-विधान के कारण सहज ही छायावादी काव्य की मूल भावमूलक संवेदना से जुड़ जाती हैं। इस प्रकार छायावाद की अन्तर्मुखी अनुभूतिप्रधान मूल चेतना ने सृष्टि के बाह्य और स्थूल पक्ष के चित्रण में नयी स्फूर्ति और आवेग का संचार किया।

इसमें सन्देह नहीं कि छायावादी भाव-बोध स्वानुभूति और सौन्दर्यप्रधान कल्पना द्वारा ही निर्मित हुआ है। किन्तु, छायावादी काव्य की अनुभूति केवल मन के स्तर पर ही नहीं रुक जाती—वह और भी गहरी उतरती हुई आत्मा के लोक में संचरण करने लगती है। छायावादी कवि की दृष्टि अन्तर्मुखी होती हुई पहले तो मन के स्तर पर संचरण करती दिखायी देती है, किन्तु वहाँ भी उसका पूर्ण परितोष नहीं होता और वह आत्मा तक पहुँच जाती है। पहले तो छायावादी काव्य भाव के स्तर पर अन्तःसृष्टि और बाह्य सृष्टि की एकता की स्थापना करता है और फिर आध्यात्मिकता के स्तर पर इसी ऐक्य को मूल सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करता है। प्रसाद की अनुभूति शैव दर्शन में परिणत होती चली जाती है, निराला अद्वैत और भक्ति के क्षेत्र में साधना करते दिखायी देते हैं,

काव्य-दृष्टि सृष्टि में व्याप्त मूल अक्षर सत्य का उद्घाटन करती है और महादेवी …रागक प्रिय की भावना को ही काव्य का प्राण मानती हैं। इस प्रकार छाया- …ना की अन्तर्मुखी दृष्टि में सृष्टि का निषेध नहीं है वरन् आध्यात्मिकता के स्तर …की साग्रह स्वीकृति के साथ वह कर्मवाद से जुड़ जाती है। आधुनिक युग के …के आन्दोलन ने आध्यात्मिक सत्य का जो रूप स्वीकार किया था, वह छायावादी …का भी अन्तरंग मूल्य बन गया है। आध्यात्मिकता सत्य को स्वीकार करते हुए …यथार्थ के स्थूल और व्यापक सत्य की स्वीकृति विचार की दृष्टि से छायावादी भाव- …महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसीलिए यह काव्य निराशा और अकर्मण्यता के स्थान पर …आत्मविश्वास और कर्मवाद की प्रखरता से युक्त है।

…काव्य-रूपों की दृष्टि से भी छायावादी काव्य अत्यन्त समृद्ध है। एक ओर उसमें …और मुक्त छन्द की कविताओं की अधिकता है, तो दूसरी ओर 'आँसू' एवं 'तुलसी- …खण्डकाव्य भी मिलते हैं और 'कामायनी' महाकाव्य में तो छायावादी संवेदना …समग्रता में मूर्तिमान दिखायी देते हैं। इनके अतिरिक्त 'प्रलय की छाया में' …), 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) और 'परिवर्तन' (पन्त) जैसी लम्बी कविताएँ …ती हैं जिन्हें काव्य-रूप की दृष्टि से किसी परम्परित साँचे में नहीं रखा जा सकता। …ना की सांकेतिकता और वक्रता भी छायावादी कवियों की उल्लेखनीय उपलब्धि है।

छायावादी कवि

…जयशंकर प्रसाद : कविवर जयशंकर प्रसाद (१८९०-१९३७) का जन्म काशी के …ल घराने में हुआ था, जो 'सुंघनी साहु' नाम से प्रसिद्ध था। इन्होंने आठवीं कक्षा …क्षा पाने के बाद घर पर ही संस्कृत, हिन्दी, उर्दू और अँगरेज़ी का अध्ययन किया। …में इन्होंने 'कलाधर' उपनाम से ब्रजभाषा में कविताएँ लिखीं, किन्तु बाद में खड़ी- …में कविता करने लगे। इनकी काव्य-कृतियों में भाषा, छन्द, भाव आदि की दृष्टि से …ता दिखायी देती है। कवि होने के साथ-साथ ये गम्भीर चिन्तक भी थे – 'कामायनी' …में …त्र और तर्क पर आधारित समाज के चित्रण के साथ-साथ शैव दर्शन की …त भी की है। इस प्रकार आधुनिक होते हुए भी प्रसाद सहज ही प्राचीन गरिमा- …परम्परा से जुड़ जाते हैं। इनकी काव्य-रचनाएँ हैं : 'उर्वशी' (१९०९), 'वनमिलन' …), 'प्रेमराज्य' (१९०९), 'अयोध्या का उद्धार' (१९१०), 'शोकोच्छ्वास' (१९१०), …' (१९११), 'कानन कुसुम' (१९१३), 'प्रेम पथिक' (१९१३), 'करुणालय' …), 'महाराणा का महत्त्व' (१९१४), 'झरना' (१९१८), 'आँसू' (१९२५), 'लहर' …) और 'कामायनी' (१९३५)। 'प्रेम पथिक' की रचना पहले ब्रजभाषा में की गयी …न्तु बाद में उसे खड़ी बोली में रूपान्तरित कर दिया गया। यह भी उल्लेखनीय …'कानन कुसुम' और 'झरना' के परवर्ती संस्करणों में कवि ने कुछ नयी कविताओं का …किया तथा 'आँसू' में चौंसठ छन्द और जोड़ दिये। स्पष्ट है कि 'झरना' के पूर्व …रचनाएँ द्विवेदी-युग के अन्तर्गत लिखी गयी थीं। प्रसाद जी की आरम्भिक शैली …अयोध्यासिंह उपाध्याय की संस्कृतगर्भित शैली से मिलती-जुलती है, जो स्थूल …मुखी है। छायावादी प्रवृत्तियों के दर्शन सबसे पहले 'झरना' में होते हैं। इनकी …कविताओं में कवि ने अन्तर्मुखी कल्पना द्वारा सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त करने का …किया है। बाह्य सौन्दर्य का चित्रण करते हुए भी उन्होंने उसके सूक्ष्म और मानसिक

पक्ष को व्यक्त करने की ओर ध्यान दिया है। 'आँसू' का आरम्भ कवि की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति से हुआ है :

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

इसके अन्त में यह छन्द दिया गया है :

सबका निचोड़ लेकर तुम
सुख से सूखे जीवन में
बरसो प्रभात हिमकन-सा
आँसू इस विश्व-सदन में।

इन दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि ने आरम्भिक व्यक्तिगत वेदना को छूकर अन्त में 'आँसू' को विश्व-कल्याण की भावना के साथ सम्वद्ध कर दिया है। जिस प्रकार राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा के कवियों में स्वार्थ का निषेध कर समाज (भारतीय समाज) के कल्याण के भाव की प्रतिष्ठा दिखायी देती है, उसी प्रकार छायावादी कवि भी व्यक्तिगत वेदना से ऊपर उठकर करुणा या विश्व-कल्याण की भावना की अभिव्यक्ति करने लगते हैं। 'आँसू' काव्य की आत्मिक और अन्तिम मनोभूमि में इतना व्यवधान दिखायी देता है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-जैसे मेधावी आलोचक ने उस पर आक्षेप करते हुए कहा है : "कहने का तात्पर्य यह है कि वेदना की कोई एक निर्दिष्ट भूमि न होने से सारी पुस्तक का कोई एक समन्वित प्रभाव नहीं निष्पन्न होता।"[1] किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि 'आँसू' एक स्मृति-काव्य है—कवि ने अतीत जीवन की अनुभूतियों को स्मृति के माध्यम से दर्द-भरी अभिव्यक्ति दी है। यही कारण है कि 'आँसू' की भावभूमि स्थायी नहीं, विकासशील है। उसमें कवि का अतीत (जो स्मृति-पथ पर आता है) ही नहीं, उसका वर्तमान भी संयुक्त है। इसलिए अन्त तक आते-आते कवि अपने व्यक्ति-जीवन के नैराश्य और अवसाद से ऊपर उठकर अपनी वेदना को करुणा के रूप में, विश्व-प्रेम के रूप में रूपान्तरित कर देता है। इसका कारण स्पष्ट है—छायावादी काव्य निराशावादी काव्य नहीं है, वह मानव-समाज के लिए कल्याण की कामना से अलंकृत है। इसलिए छायावादी कवियों की व्यक्तिगत निराशा भी करुणा और विश्व-प्रेम का रूप ग्रहण कर लेती हैं, जहाँ पहुँचकर कवि सारे संसार की वेदना को खुद स्वीकार करके विश्व-जीवन को सुखमय बनाना चाहता है। इस दृष्टि से देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि 'आँसू' में प्रसाद की अनुभूति व्यक्तिगत निराशा के गर्त से निकलकर विश्व-वेदना के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई मानव-जीवन को सुखी बनाने के लिए आकुल हो उठती है।

'लहर' में प्रसाद की गीत-कला का उत्कृष्ट रूप दिखायी देता है। इन गीतों में कहीं तो प्रकृति के सौन्दर्य का वर्णन है और कहीं प्रणय की तीव्र अनुभूति का, कहीं करुणा की अभिव्यक्ति है तो कहीं रहस्यवादी संकेत दिखायी देते हैं। 'शेरसिंह का शस्त्र-समर्पण,' 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' में कवि ने मुक्त छन्द में ऐतिहासिक प्रसंगों की शक्तिशाली और मार्मिक अवतारणा की है। कल्पना की मनोरमता, भावुकता और भाषा

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६८१

शैली की प्रौढ़ता को इसकी रचनाओं में सर्वत्र देखा जा सकता है।

'कामायनी' प्रसाद की अन्तिम कृति है। इसके कथानक का आधार वह प्राचीन आख्यान है जिसके अनुसार मनु के अतिरिक्त सम्पूर्ण देव-जाति प्रलय का शिकार हो जाती है और मनु तथा श्रद्धा या कामायनी के संयोग से मानव-सभ्यता का प्रवर्तन होता है। इसका कथानक बहुत संक्षिप्त है, लेकिन कवि ने इसमें जीवन के अनेक पक्षों को समन्वित करके मानव-जीवन के लिए एक व्यापक आदर्श व्यवस्था की स्थापना का प्रयास किया है। 'कामायनी' के एक सन्दर्भ का सम्बन्ध मनु और श्रद्धा के व्यक्तिगत जीवन और प्रणय के साथ है। इड़ा के चरित्र का एक अंश भी इस प्रसंग से सम्बद्ध है। प्रसाद ने इन प्रमुख पात्रों के चरित्रांकन में मनुष्य की अनुभूतियों, कामनाओं और आकांक्षाओं की अनेकरूपता का वर्णन किया है। यह 'कामायनी' की चेतना का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। कवि ने मनु आदि के माध्यम से मानव-मात्र कें मनोजगत् के विविध पक्षों का चित्रण 'चिन्ता', 'आशा', 'वासना', 'ईर्ष्या', 'संघर्ष', 'आनन्द' आदि सर्गों में किया है।

'कामायनी' केवल मनु आदि के व्यक्ति-जीवन की ऐतिहासिक कथा ही नहीं है, इन पात्रों की सांकेतिक व्यंजनाएँ भी उसमें हैं; जिन्हें स्वयं कवि ने 'कामायनी' की भूमिका में स्वीकार किया है : "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहास में रूपक का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं। मनु अर्थात् मन के दोनों पक्ष, हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इड़ा से भी सरलता से लग जाता है।" कवि की इस उक्ति के आधार पर 'कामायनी' में रूपक-तत्त्व के विशद विवेचन का प्रयास भी किया जाता है। किन्तु, ध्यान देने की बात यह है कि प्रसाद ने 'रूपक' शब्द का प्रयोग 'इतिहास' के सन्दर्भ में किया है, 'कामायनी' के सन्दर्भ में नहीं। 'कामायनी' के सन्दर्भ में तो कवि ने मनु आदि पात्रों के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को ही प्रधान माना है—हाँ, उनके सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति में उन्हें 'कोई आपत्ति नहीं' है। इस दृष्टि से 'कामायनी' की समग्रता में ही समासोक्ति का विधान लक्षित होता है।

'कामायनी' में बुद्धिवाद के विरोध में हृदय-तत्त्व की प्रतिष्ठा करते हुए कवि ने शैव दर्शन के आनन्दवाद को जीवन के पूर्ण उत्कर्ष का साधन माना है। जहाँ उन्होंने काम को 'मंगल से मंडित श्रेय' माना है, वहाँ श्रद्धा की प्रेरणा से मनु को कामना के बन्धनों से ऊपर उठकर सामरस्य के आनन्द की उपलब्धि में तत्पर दिखाया है। इसी क्रम में कवि ने सारस्वत प्रदेश की यन्त्राश्रित सभ्यता के वर्णन में अपनी समकालीन सामाजिक व्यवस्था की विषमता का चित्रण भी किया है। इस प्रकार 'कामायनी' को उन्होंने अपने परिवेश से सम्बद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु इस सन्दर्भ को लेकर इस कृति की आलोचना भी की गयी है। अनेक विद्वानों का कहना है कि लोकमंगल की भावना को मुखरित करते हुए भी 'कामायनी' की चेतना मूलतः व्यक्तिवादी-अध्यात्मवादी चेतना है, जो अपने युग के यथार्थ की समस्याओं का यथार्थ के धरातल पर समाधान करने में असमर्थ रही है। वास्तव में किसी भी काव्य को सभी दृष्टियों से पूर्ण और आदर्श काव्य न तो माना गया है और न ही सम्भवतः माना जा सकेगा क्योंकि व्यक्ति और समाज के स्तर पर जीवन के विकास की सम्भावनाएँ असंख्य एवं असीम हैं। इसलिए 'कामायनी' अपनी सीमाओं के बावजूद भी हिन्दी-साहित्य की एक गौरवशाली उपलब्धि है।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : निराला जी (१८९७-१९६२) का जीवन अनेक अभावों एवं

विपत्तियों से पीड़ित रहा, किन्तु इन्होंने किसी विपत्ति के सामने झुकना नहीं सीखा। अभावों की तीव्र एवं मर्मान्तिक व्यथा को झेलते हुए भी ये साधना में तल्लीन रहे। मगर कब तक कोई इस तरह जी सकता है? निराला का मन और बुद्धि तो संघर्षों की उपेक्षा करते हुए ब- विचलित रहे, किन्तु उनकी चेतना के भीतर जैसे कुछ टूट रहा था, घुल रहा था। उनके जीवन के अन्तिम वर्ष जहाँ उनकी चेतना के अथक-अविचल संघर्ष की कहानी कहते हैं, वहीं उनके जीवन की विपत्तियों और व्यथाओं की दुर्निवार शक्ति को भी व्यंजित करते हैं। सन् १९१६ से १९५८ तक निराला निरन्तर काव्य-साधना में तल्लीन रहे। उनकी छायावादयुगीन रचनाएँ हैं—'अनामिका' (१९२३), 'परिमल' (१९३०), 'गीतिका' (१९३६), 'तुलसीदास' (१९३८)। कुछ अर्से तक निराला ने 'मतवाला' और 'समन्वय' का सम्पादन भी किया।

निराला को केवल व्यक्ति के रूप में ही परिस्थितियों का तीव्र विरोध नहीं सहना पड़ा, वरन् कवि के रूप में भी उनका प्रबल विरोध हुआ। इसका प्रधान कारण तो उनकी मौलिकता है जो कवि के दीप्त अहंकार की साहित्यिक अभिव्यक्ति है। सन् १९१६ में 'जूही की कली' का प्रकाशन उस युग के साहित्यचेताओं के लिए एक चुनौती बनकर सामने आया। उसमें व्यक्त प्रणय-केलि के चित्र और मुक्त छन्द का शक्तिशाली शिल्प दोनों ही तत्कालीन मान्यताओं से मेल नहीं खाते थे। किन्तु, निराला अपनी धुन के पक्के और फक्कड़ स्वभाव के व्यक्ति थे। इसलिए उन्होंने सबकी उपेक्षा की। उनके काव्य में आरम्भ से ही विविधता के दर्शन होते हैं। यह विविधता भाषागत भी है और भावगत भी, विचारगत भी है और शिल्पगत भी। उदाहरणार्थ 'परिमल' में गीत भी हैं और मुक्त छन्द भी, मधुर भावों से अनुप्राणित प्रणयगीत भी हैं और ओजपूर्ण रचनाएँ भी। उसमें 'अधिवास' और 'पंचवटी-प्रसंग' जैसी दर्शनप्रधान रचनाएँ भी हैं और 'भिक्षुक' तथा 'विधवा' जैसी कविताएँ भी, जिनमें यथार्थ का तीव्र दंश दिखायी देता है। निराला की एक ही समय की रचनाओं में दिखायी देनेवाली यह अनेकरूपता सम्भवतः उनके अध्ययन के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण संकेत है। अन्य कवियों की, जैसे पन्त की, अनेकरूपता काल में विस्तृत साधना की विशेषता है—जैसे-जैसे युग बदलता है, कवि यथार्थ के नये स्तरों और आयामों के प्रति सजग होता चलता है। किन्तु, निराला अद्वैत दर्शन से भिखारी के जीवन तक फैले युग-सत्य के विविध स्तरों और आयामों को मानो एकसाथ ही अपनी साधना में समेट लेना चाहते हैं। यह सूक्ष्म गवेषणा का विषय है कि उनके जीवन में जो बिखराव आया, उसे चेतना और शिल्प के उनके आरम्भिक बिखराव (या विस्तार) से कहाँ तक सम्बद्ध किया जा सकता है?

निराला की रचनाओं पर दर्शन का प्रत्यक्ष और गम्भीर प्रभाव है। 'अधिवास', 'पंचवटी-प्रसंग', 'तुम और मैं' आदि रचनाओं में कवि ने दार्शनिक सत्य को रूपायित करने का प्रयास किया है। 'परिमल' और 'गीतिका' में प्रार्थना और वन्दना के गीत भी मिलते हैं, जो मध्यकालीन भक्ति-परम्परा से जोड़े जा सकते हैं। आध्यात्मिकता के प्रति निष्ठा होने के कारण कवि में कहीं-कहीं रहस्यवादी भावना के भी दर्शन होते हैं। यह आध्यात्मिकता सहज ही कवि की सांस्कृतिक चेतना से समन्वित हो जाती है। निराला में भी पुनर्जागरण के प्रभाव के फलस्वरूप प्राचीन भारतीय परम्परा के प्रति निष्ठा का भाव है और वे भी भारतीय संस्कृति के उन मूल्यों के सन्धान का प्रयास करते हैं जो वर्तमान जीवन को प्रेरणा दे सकें।

'तुलसीदास' में कवि ने गोस्वामी तुलसीदास के माध्यम से भारतीय परम्परा के गौरवशाली मूल्यों की प्रतिष्ठा का प्रयास किया है। इस खण्डकाव्य में उन्होंने लोक में प्रचलित उस कथा को आधार बनाया है जिसके अनुसार यह माना जाता है कि जब

तुलसीदास बिना बुलाये अपनी पत्नी रत्नावली से मिलने के लिए उसके नैहर पहुँचे तब उसने उन्हें फटकारा, जिसका प्रभाव यह हुआ कि तुलसीदास गृहस्थ जीवन को त्यागकर रामोपासना में लीन हो गये। काव्य के आरम्भ में कवि ने मध्यकालीन भारत की पतित अवस्था का चित्रण किया है, जिसका कारण है भारत पर विदेशी शासन की स्थापना। इस सन्दर्भ में निराला ने जीवन के सभी पक्षों के विघटन और ह्रास का शक्तिशाली चित्रण किया है। इस भूमिका के द्वारा उन्होंने नायक के सामाजिक परिवेश को अंकित किया है, किन्तु अभी तक तुलसीदास इस विषमता के प्रति सजग नहीं हैं। फिर वे अपने मित्रों के साथ घूमने के लिए चित्रकूट जाते हैं। वहाँ प्रकृति की निर्मल और सात्त्विक शोभा से उनका हृदय आन्दोलित हो उठता है। उधर रत्नावली के रूप का सम्मोहन तुलसीदास की चेतना को ग्रस लेता है। जब वे बिना बुलाये पत्नी से मिलने उसके नैहर पहुँच जाते हैं, तो रत्नावली की कटूक्तियों से उनकी चेतना मुक्त होती है और ऊर्ध्व की ओर संचरण करने लगती है। इस प्रकार कवि ने व्यक्तिगत सुख और जीवन के महान् एवं व्यापक मूल्यों के बीच संघर्ष दिखलाकर अन्त में उदात्त मूल्यों की विजय दिखायी है।

निराला युगीन यथार्थ के प्रति भी अत्यन्त सजग थे। कुछ तो उनके निजी जीवन की पीड़ा ने और कुछ उनकी प्रखर-मुक्त प्रतिभा ने उन्हें यथार्थ के विषम एवं निम्नतर पक्षों की ओर भी आकृष्ट किया। यह आकर्षण कहीं तो करुणा के रूप में व्यक्त हुआ है और कहीं व्यंग्य और उपहास के रूप में।

'राम की शक्तिपूजा' निराला की ही नहीं, सम्पूर्ण छायावादी काव्य की एक उत्कृष्ट उपलब्धि है। इसमें कवि ने एक ऐतिहासिक प्रसंग के द्वारा धर्म और अधर्म के शाश्वत संघर्ष का चित्रण किया है। राम धर्म के प्रतीक हैं और रावण अधर्म का। इस कविता में अधर्म का चित्रण एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में हुआ है, जिसके सामने एक बार तो राम का साहस भी कुण्ठित होने लगता है। यह स्थिति एक ओर तो कवि के व्यक्तिगत जीवन के भयानक संघर्ष से सम्बद्ध हो जाती है और दूसरी ओर युगीन यथार्थ की विकरालता को भी व्यंजित करती है। अन्त में राम शक्ति की 'मौलिक कल्पना' करते हैं, उसकी आराधना करते हैं और अधर्म के विनाश के लिए सक्षम होते हैं। शक्ति की उपासना में एक ओर तो परम्परागत सत्य की स्वीकृति का संकेत निहित है और दूसरी ओर 'मौलिक कल्पना' इस बात पर बल देती है कि प्राचीन सांस्कृतिक आदर्शों का युगानुरूप संशोधन अनिवार्य है। इस कविता में विविध भावों और भाषा के विविध रूपों के दर्शन होते हैं, जो कवि की शक्ति के विविध पक्षों की अन्विति का परिणाम है।

निराला की अधिकांश रचनाओं की भाषा संस्कृतगर्भित है और उसमें समास की अधिकता है। पदों के प्रयोग में कवि ने गेयता का विशेष ध्यान रखा है, कहीं तो गेयता का गुण ही इतना प्रधान हो गया है कि अर्थ की संगति नहीं बैठ पाती। लेकिन प्रायः कवि ने समस्त पदावली के प्रयोग द्वारा उपयुक्त लय और अर्थ-गाम्भीर्य की अभिव्यक्ति की है। 'राम की शक्तिपूजा' में राम-रावण-युद्ध का वर्णन करते हुए कवि कहता है :

प्रतिपल-परिवर्तित-व्यूह, भेद-कौशल-समूह,
राक्षस-विरुद्ध-प्रत्यूह, क्रुद्ध-कपि-विषम-हूह,
विच्छुरित वह्नि—राजीवनयन-हत-लक्ष्य-बाण,
लोहित लोचन-रावण-मदमोचन-महीयान।

कवि की भाषा-शैली का दूसरा रूप अत्यन्त सरल और छोटे पदों के कुशल व्यवहार

के रूप में दिखायी देता है। 'अनामिका' में संगृहीत रचना 'सच है' की ये पंक्तियाँ देखिए :

यह सच है !
बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया,
उड़ी धूल, तन सारा भर गया,
नहीं फूल, जीवन अविकच है—
यह सच है !

'राम की शक्तिपूजा" की रचना सन् १९३६ में हुई थी और 'सच है' की रचना १९३५ में। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि भाषा के विविध रूपों पर निराला को कैसा पूर्ण अधिकार प्राप्त था !

सुमित्रानन्दन पन्त : कविवर पन्त का जन्म १९०० ई० में उत्तरप्रदेश के जिला अल्मोड़ा के कौसानी ग्राम में हुआ था। जन्म के कुछ घण्टे बाद ही मातृस्नेह से वंचित हो जाने के कारण अल्मोड़ा की प्राकृतिक सुषमा ने इन्हें बचपन से ही अपनी ओर आकृष्ट किया और प्रकृति के उस मनोरम वातावरण का इनके व्यक्तित्व पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। पन्त में यथार्थ के विषम और दारुण रूप के अभाव का कारण भी कुछ सीमा तक प्रकृति के उस प्रभाव को माना जा सकता है। इनके मन में प्रकृति के प्रति इतना मोह पैदा हो गया था कि ये जीवन की नैसर्गिक व्यापकता और अनेकरूपता में पूर्ण रूप से आसक्त न हो सके :

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
छोड़ अभी से इस जग को।

इन पंक्तियों में सामान्य रूप से तो यह प्रतीत होता है कि कवि रमणी के सौन्दर्य की अपेक्षा प्रकृति के सौन्दर्य को अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है, लेकिन रमणी के सौन्दर्य की यह उपेक्षा क्या जीवन की उपेक्षा के भाव को व्यंजित नहीं करती ? यह तो सच है कि बाद की रचनाओं में कवि ने प्रणय के महत्त्व को स्वीकार किया है, किन्तु उपर्युक्त पंक्तियों में रमणी-सौन्दर्य के निषेध को प्रतीकात्मक अर्थ में—जीवन-सौन्दर्य की उपेक्षा के अर्थ में—भी ग्रहण किया जा सकता है।

पन्त जी की पहली कविता 'गिरजे का घण्टा' सन् १९१६ की रचना है। तब से वे निरन्तर काव्य-साधना में तल्लीन हैं। उनके आरम्भिक काव्य-ग्रन्थ हैं—'उच्छ्वास' (१९२०), 'ग्रन्थि' (१९२०), 'वीणा' (१९२७), 'पल्लव' (१९२८) और 'गुंजन' (१९३२)। 'वीणा' की रचनाएँ सन् १९१८-१९१९ की लिखी हुई हैं। 'गुंजन' को उनका अन्तिम छायावादी काव्य-संग्रह कहा जा सकता है। इसके बाद के कविता-संकलन पहले प्रगतिवादी चेतना से और फिर अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हैं।

पन्त-काव्य में प्रकृति के मनोरम रूपों का मधुर और सरस चित्रण मिलता है। 'आँसू की बालिका', 'पर्वत-प्रदेश में पावस' आदि कविताओं में प्रकृति के मनोहर चित्र विद्यमान हैं जिनमें कवि की जन्मभूमि के प्राकृतिक सौन्दर्य का वैभव दिखायी देता है। किन्तु 'बादल' और 'छाया' जैसी कविताओं में केवल एक अद्भुत या विलक्षण कल्पना के ही दर्शन होते हैं जिससे चमत्कार की अनुभूति तो होती है, किसी गम्भीर भाव की नहीं। छाया को दमयन्ती

यां 'रतिश्रान्ता ब्रजवनिता' के समान चित्रित करने में कवि किसी गम्भीर अनुभूति नहीं प्रतीत होता । दूसरी ओर कवि पन्त आदर्श-प्रेमी रहे हैं। उनकी अनेक ओं में प्रकृति-प्रेम और आदर्शवादिता सम्बद्ध रूप में मुखरित हैं । 'वीणा' से कुछ द्रष्टव्य हैं :

कुमुद कला वन कल हासिनी,
अमृत प्रकाशिनि, नभ वासिनि;
तेरी आभा को पाकर माँ !
जग का तिमिर त्रास हर दूँ—
नीरव रजनी में निर्भय ।

यहाँ कवि ने प्रकृति से चाँदनी की आभा को पाकर जग के 'तिमिर त्रास' को दूर की आकांक्षा व्यक्त की है । कवि की यह आदर्शवादी भावना निरन्तर प्रबल होती गयी यह आदर्शवादी भावना ही 'परिवर्तन' शीर्षक कविता में 'सर्ववाद' का रूप ग्रहण करती में अरविन्द-दर्शन की ओर उन्मुख हो गयी । कवि 'तिमिर त्रास' को दूर तो करना है, किन्तु प्रकृति-प्रेम को—जो एक तरह से ठोस यथार्थ जीवन के प्रति आसक्ति की जाता है—त्यागना भी नहीं चाहता । 'परिवर्तन', 'एक तारा', 'नौका-विहार' आदि ओं में जिस दार्शनिक सत्य को वाणी दी गयी है उसका आधार और साधन भी प्रकृति । 'परिवर्तन' कविता में कवि की दार्शनिक चेतना उद्दीप्त दिखायी देती है, जो 'एक जैसी कविताओं में अधिक संयम और निखार के साथ व्यक्त हुई है । लेकिन कवि दर्शन-प्रेम उसे अनुभूति से विमुख नहीं करता । वास्तव में बुद्धि और हृदय के विरोध समस्या छायावाद-युग में कहीं इतनी गहराई से जुड़ी हुई थी कि उस युग के सभी कवियों के समन्वय की बात की है। पन्त ने छायावादी कविताओं में तो इस आदर्श का निर्वाह सफलता के साथ किया है, लेकिन परवर्ती रचनाओं में कवि सत्य को सजीव रूप में करने में असमर्थ रहा है—वह सत्य को केवल चित्रोपम रूप में प्रस्तुत कर सका है; हृदय के रस से भीगा हुआ नहीं है । 'गुंजन' तक की रचनाओं में पन्त ने विचार सजीव-सरस रूप में ही प्रस्तुत किया है। उनमें रस की अभिव्यक्ति दो स्तरों पर हुई है— भाव-जगत् के क्षेत्र में प्रायः प्रणय के स्तर पर, जैसे 'मधु स्मिति' या 'भावी पत्नी कविताओं में; और दूसरे, विचार या दर्शन के स्तर पर 'परिवर्तन', 'एक तारा', विहार' आदि कविताओं में कवि ने सत्य को ही सरस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। वैसे, यह उल्लेखनीय है कि पन्त की सौन्दर्य-भावना और कल्पना का प्रसार प्रकृति जीवन के सुकुमार रूपों की ओर ही अधिक रहा है । 'परिवर्तन' में प्रकृति के कठोर रूप चित्रण हुआ अवश्य है, किन्तु कविता के अन्त तक आते-आते कवि उस भयानकता को भी आनन्दमय सत्य के साथ सम्बद्ध करके देखने लगता है और इस प्रकार फिर अपनी भूमि पर—सौन्दर्य, आनन्द और माधुर्य की भूमि पर—लौट जाता है । प्रकृति के रूप में आसक्ति होने के कारण पन्त-काव्य में रहस्यवादी भावना वाद के रूप में मुखर पायी—'मौन निमन्त्रण' जैसी कविता अपवाद-रूप ही है; और यहाँ भी अरूप-अज्ञात के प्रति विस्मय और जिज्ञासा का भाव मिलता है, आसक्ति या प्रणय का नहीं ।

'पल्लव' की भूमिका में पन्त ने भाषा, अलंकार, छन्द, शब्द और भाव के सामरस्य विचार व्यक्त किये हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि कवि भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध जागरूक है। पन्त की शैली की प्रमुख विशेषताएं हैं—लाक्षणिक वैचित्र्य,

विशेषण-विपर्यय, विरोध-चमत्कार, मानवीकरण, प्रतीक-विधान, अन्योक्ति-विधान 'सुरभि पीड़ित मधुपों के बाल तड़प बन जाते हैं गुंजार' (मौन निमन्त्रण) का लाक्षणिक वैचित्र्य के कारण है। 'उषा का था उर में आवास' (आँसू की 'उषा' का प्रयोग प्रतीक के रूप में हुआ है। 'गिरा हो जाती है सनयन, नयन भाषण' (स्नेह) में विरोध-चमत्कार का सौन्दर्य है। इसी प्रकार अन्य असंख्य दिये जा सकते हैं। 'वीणा' में भावों और विचारों की सरलता एवं स्पष्टता के शैली भी प्रायः प्रसाद गुण से युक्त है, किन्तु 'ग्रन्थि' में कवि भाषा के प्रति अधिक हो उठा है। यह सजगता भाषा के मन्थर-गम्भीर प्रभाव और अलंकार-विधान के दिखायी देती है। 'पल्लव' तक आते-आते कवि की भाषा शब्द और अर्थ के अपूर्व सामंजस्य के रूप में व्यक्त हुई है। 'गुंजन' की कविताओं में ये सभी विशेषताएँ हैं वहाँ कवि अधिक संयत है। 'पल्लव' की रचनाओं में भाषा के एक नये रूप की दिखायी देती है। अनुभूति में जैसा प्रवाह और आवेग है, वैसा ही प्रवाह और भाषा में है। किन्तु, 'गुंजन' में कवि का व्यक्तित्व भी अधिक प्रौढ़ हो उठा है और भी।

'गुंजन' के बाद भी पन्त जी की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। उनकी कविताएँ 'युगान्त', 'युगवाणी', 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'उत्तरा', 'वाणी', 'पतझर' आदि में संगृहीत हैं। मुक्तक रचनाओं के अतिरिक्त उन्होंने महाकाव्य की रचना भी की है। उनके छायावादोत्तर काव्य को प्रवृत्ति की दृष्टि से में रखा जा सकता है—पहले वर्ग के अन्तर्गत 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की आती हैं। उनकी भाषा-शैली और भाव-बोध प्रगतिवादी चेतना से प्रभावित हैं। इन में कवि की भाषा वक्रता, सांकेतिकता आदि को छोड़कर सरलता और ओर अग्रसर रही है। वैसे इन रचनाओं में अनुभूति के स्थान पर विचार को महत्त्व मिला है :

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलंकार!

'ग्राम्या' की इन पंक्तियों में कवि अलंकरण की प्रवृत्ति का त्याग नहीं वरन् कविता में 'विचार' के सम्प्रेषण के महत्त्व को प्रतिष्ठित करते हुए उसे सम्बद्ध करना चाहता है। यह उल्लेखनीय है कि इस सन्दर्भ में पन्त जी ने विरोध नहीं किया। आध्यात्मिक सत्य पर कवि की आस्था बनी हुई है, किन्तु वह समृद्धि की अनिवार्यता को भी स्वीकार करता है :

भूतवाद उस धरा-स्वर्ग के लिए मात्र सोपान,
जहाँ आत्मदर्शन अनादि से समासीन अम्लान।

ये पंक्तियाँ पन्त की प्रगतिशील चेतना के मूल स्वर को बड़े स्पष्ट रूप में करती हैं। किन्तु, प्रश्न यह उठता है कि भूतवाद और आत्मदर्शन के इस समन्वय सैद्धान्तिक रूप क्या हो? कवि को इस प्रश्न का उत्तर मिलता है—अरविन्द-दर्शन जिसकी अभिव्यक्ति 'ग्राम्या' के बाद के स्वर्ण-काव्य में हुई है। यहाँ उनकी शैली में परिवर्तन आया है। इस नयी शैली में छायावादी कविता की सांकेतिकता और वक्रता के साथ ही 'युगवाणी' की बौद्धिकता भी समाविष्ट है। अपने स्वर्ण-काव्य में अनेक सन्दर्भ और स्थितियों के अन्तर्गत अरविन्द-दर्शन को अभिव्यक्त किया है।

मानव-जीवन के विषम संकट को व्यक्त करते हुए एक नये आदर्श भविष्य का करता है । यह प्रयास युगीन यथार्थ के अनेक पक्षों का स्पर्श करते हुए भी अध्यात्म त है और अध्यात्म द्वारा ही नियन्त्रित है। इन रचनाओं की शक्ति और सीमा पर आधारित है।

महादेवी वर्मा : महादेवी वर्मा का जन्म सन् १९०७ में हुआ । इन्होंने आरम्भिक र पर ही ग्रहण की । इसके बाद इनकी शिक्षा विधिवत् प्रयाग में हुई जहाँ इन्होंने ३३ में दर्शनशास्त्र में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की । ये आरम्भ में ब्रजभाषा ता लिखती थीं, बाद में खड़ीबोली में लिखने लगीं और शीघ्र ही इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया । ये एक कुशल चित्रकार भी हैं । इसलिए इनकी ओं में चित्रों-जैसी संरचना का आभास प्रायः मिला करता है। महादेवी का काव्य-लप्रधान रूप से सन् १९२४ से १९४२ तक है। छायावाद-युग में इनके ये काव्य-संग्रह हुए : 'नीहार' (१९३०), 'रश्मि' (१९३२), 'नीरजा' (१९३५) और 'सान्ध्यगीत') । 'यामा' (१९४०) में 'नीहार', 'रश्मि', 'नीरजा' और 'सान्ध्यगीत' के सभी संग्रह है ।

महादेवी की कविताओं में आरम्भ से ही विस्मय, जिज्ञासा, व्यथा और आध्यात्मिकता मिलते हैं। ये भाव निरन्तर अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित होते गये हैं । किन्तु ी अनेकरूपता नहीं मिलती जैसी निराला और पन्त में लक्षित होती है । प्रसाद के ं भी अनुभूति और विचार निरन्तर व्यापकता की ओर अग्रसर होते दिखायी देते हैं, महादेवी के सभी गीतों में अनुभूति और विचार के धरातल पर एकान्विति मिलती है । भावभूमि गीतिकाव्य के ही उपयुक्त है क्योंकि ये स्वानुभूति की प्रत्यक्ष विवृत्ति करती के अनुसार सफल गीत वही है जिसमें संयमित भावातिरेक की व्यंजना होती है : ख की भावावेशमयी अवस्थाविशेष का गिने-चुने शब्दों में स्वर-साधना के उपयुक्त कर देना ही गीत है ।···वास्तव में गीत के कवि को आर्त्त क्रन्दन के पीछे छिपे हुए रेक के दीर्घ निःश्वास में छिपे हुए संयम से बाँधना होगा; तभी उसका गीत दूसरे के ं उसी भाव का उद्रेक करने में सफल होगा ।'' इसमें सन्देह नहीं कि महादेवी के गीत ल हैं। उनके विविध गीतों में व्यथा, पीड़ा, आशा, अज्ञात प्रिय के प्रति प्रणय-और साधना की विविध अनुभूतियों के स्वर मुखरित हुए हैं। उन्होंने अनुभूति को से समन्वित करने का प्रयास किया है—अन्य छायावादी कवियों के समान वे भी और बुद्धि के विरोध का निराकरण कर काव्य में दोनों की अखण्ड-स्थिति का समर्थन है।

महादेवी ने अज्ञात प्रियतम के प्रति प्रणय-निवेदन किया है, किन्तु उनका प्रणय दुःख-है। वे प्रिय से मिलन की कामना नहीं करतीं क्योंकि मिलन में तो व्यक्तित्व का ही हो जाता है : "मिलन का मत नाम लो, मैं विरह में चिर हूँ ।'' महादेवी का यह दुःखवाद या अकर्मण्यता का व्यंजक नहीं है, उनकी वेदना की तुलना प्रसाद के 'आँसू' काव्य के में दिखायी देनेवाली करुणा की अनुभूति से की जा सकती है । महादेवी ने दुःख को केवल जीवन के सन्दर्भ में स्वीकार किया है, सामाजिक जीवन के प्रसंग में तो वे अथक अमर साधना में विश्वास करती हैं । उन्हें 'अमरों के लोक' की कामना नहीं है, वे तो के अधिकार' को ही बनाये रखना चाहती हैं । अपनी पीड़ा का वर्णन उन्होंने इन में किया है : "अमरता उसमें मनाती है मरण-त्योहार ।'' उनका दुःखवाद किसी सीमा

तक समाज-कल्याण की भावना से भी सम्पृक्त है। वे जब अपने जीवन की तुलना 'नीर दुख की बदली' या दीपशिखा से करती हैं तो वहाँ आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ कल्याण की भावना भी विद्यमान रहती है। जिस प्रकार घटा स्वयं को गलाकर पृथ्वी सुख और शीतलता प्रदान करती है या दीपक स्वयं जलकर राख हो जाता है किन्तु को आलोकित करता है, उसी प्रकार महादेवी स्वयं साधना की आग में जलकर जीवन को अधिक सुखद और मंगलमय बनाना चाहती हैं :

दु:ख प्रति निर्माण उन्मद
ये अमरता नापते पद
बाँध देंगे अंक-संसृति से तिमिर में स्वर्ण-वेला।

महादेवी पर बौद्ध दर्शन का प्रभाव केवल उनकी लोकमंगलविधायिनी स्वीकृति तक ही सीमित है अन्यथा जहाँ तक सत्य के पारमार्थिक स्वरूप का सम्बन्ध है उपनिषदों की परम्परा को ही स्वीकार करती हैं। उन्होंने सर्ववादी दर्शन को अपनाया फलस्वरूप उनकी आध्यात्मिक साधना और लोक-साधना में विशेष विरोध नहीं है। अनुसार सृष्टि उस एक असीम सत्य की ही सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति है, इसलिए सृष्टि प्रति प्रेम और उस मूल सत्य के प्रति प्रेम में समानता है : 'मैं कण कण में ढाल रही आँसू के मिस प्यार किसी का।" दीपशिखा उनका प्रिय बिम्ब है, उनके विश्लेषण यही सत्य व्यंजित होता है। यद्यपि दीपक की एक आध्यात्मिक उपयोगिता भी है- आराधना का अनिवार्य उपकरण है, किन्तु वही दीपक संसार के लिए भी प्रकाश है जिसमें पथिक अपना मार्ग खोज पाता है।

महादेवी ने निर्गुण के प्रति जिस प्रणय-भाव की अभिव्यक्ति की है, उसकी विकता को लेकर प्राय: मतभेद व्यक्त किया जाता है। शुक्ल जी के शब्दों में, "कहाँ वे वास्तविक अनुभूतियाँ हैं और कहाँ तक अनुभूति की रमणीय कल्पना है, यह नहीं जा सकता।"[1] अनुभूति की वास्तविकता का प्रश्न एक टेढ़ा प्रश्न है। इसीलिए शुक्ल भी इस विषय में किसी निश्चित मत का प्रतिपादन नहीं करते। यदि रचनाकार अनुभूति की वास्तविकता का प्रमाण माना जाय तो महादेवी की रहस्यानुभूति की विकता के बारे में कोई सदेन्ह नहीं रह जाता; और यदि पाठक की प्रतिक्रिया को मूति की सम्प्रेषणीयता को प्रामाणिकता का आधार बनाया जाय तो महादेवी के प्रसं यह स्वीकार करना होगा कि किसी भी लोकोत्तर सत्ता के प्रति—और खास कर लोकोत्तर सत्ता निर्गुण हो—व्यक्त अनुभूति की प्रामाणिकता के लिए उसकी संप्रेषणीयता को आधार बनाने से भी समस्या का सर्वमान्य समाधान नहीं होता। जायसी और की रहस्यानुभूति और निर्गुण भक्ति तथा सूर द्वारा व्यंजित माधुर्य भाव की भक्ति के में भी यही शंका उठायी जा सकती है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, महादेवी की अनुभूति केवल व्यक्तिपरक त्मिकता की अनुभूति ही नहीं है, उसमें लोक-कल्याण की भावना भी है जो अडिग अटूट साधना और आत्मबलिदान के रूप में गीतों में बिखरी हुई मिलती है। इस महादेवी ने मध्यकालीन रहस्य-साधना की परम्परा को स्वीकार करके उसे लोक-कल्याण साथ सयुक्त कर अपने युग-बोध के अनुरूप ढालने की कोशिश की है। यह रहस्य

---

[1] हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ७२०

आयाम है जिसके उद्घाटन का श्रेय महादेवी को है । इसके लिए उन्होंने अभिव्यक्ति कता और सूक्ष्मता के अतिरिक्त प्रतीक-विधान और आलंकारिकता का भी सफल किया है ।

छायावाद के अन्य कवि : छायावादी काव्य के विकास में कुछ अन्य कवियों का भी रहा है । इनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो मुख्य रूप से इस युग की किसी अन्य धारा आते हैं, किन्तु युग और प्रधान साहित्यिक धारा के प्रभाव से छायावादी पद्धति भी आकृष्ट हुए हैं । उदाहरण के लिए माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', चरण वर्मा आदि प्रधान रूप से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्यधारा या प्रेम और मस्ती धारा के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु उन पर छायावादी विशेषताओं का भी काफ़ी दिखायी देता है । दूसरे प्रकार के छायावादी कवि वे हैं जिनकी सम्पूर्ण प्रतिभा छाया-व्य के निर्माण में ही तल्लीन रही है, किन्तु जिनका काव्य परिमाण में अधिक नहीं कुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, मोहनलाल महतो 'वियोगी', आरसीप्रसाद सिंह, केदार-'प्रभात' आदि कवियों को इस कोटि में रखा जा सकता है ।

प्रथम वर्ग के कवियों में रामनरेश त्रिपाठी, 'नवीन', माखनलाल चतुर्वेदी आदि ने ष्ट्र-प्रेम और सांस्कृतिक गौरव का चित्रण किया है उसकी अभिव्यंजना पद्धति पर दी प्रवृत्तियों का गहरा प्रभाव है । इसका एक प्रधान कारण यह है कि छायावादी में भी राष्ट्र-प्रेम और सांस्कृतिक गरिमा का चित्रण हुआ है । माखनलाल चतुर्वेदी ीय प्राकृतिक सुषमा के जो सरस, सजीव और मूर्त चित्र खींचे हैं, वे उन्हें दी कवियों के समीप ले आते हैं । 'नवीन' ने 'अपलक' में स्वानुभूति की आवेश-क्ति की है :

सिहर उठा मलयानिल, हम सिहरे बेकल-से,
काँपा मन, उमड़ा हिय, नयन झरे झर झर प्रिय
फिर गूंजे नव स्वर प्रिय ।

प्रणय की ऐसी उन्मुक्त एवं उच्छ्वासमयी अभिव्यक्तियाँ छायावादी काव्य की विशेषता के रूप में दिखायी देती हैं । 'क्वासि' में 'नवीन' जी ने आध्यात्मिक मूल्यों वादी अनुभूति के रूप में भी व्यक्त किया है । इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा-कृत (१९३१) की कुछ कविताओं में प्रणयानुभूति की स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मिलती है ।

द्वितीय वर्ग के कवियों में **डॉ० रामकुमार वर्मा** (जन्म १९०५) का नाम सर्वाधिक य है । उनके 'रूपराशि', 'निशीथ', 'चित्ररेखा', 'आकाशगंगा' आदि काव्य-संग्रहों वादी पद्धति की रचनाएँ संकलित हैं । इन रचनाओं में सर्ववादी चेतना को व्यक्त का प्रयास दिखायी देता है । यह प्रयास कहीं तो प्रकृति के विविध रूपों के मानवी-के रूप में लक्षित होता है और कहीं रहस्यवादी संकेतों के रूप में । उन्होंने अपनी रचनाओं में कल्पना को प्रधानता दी है, किन्तु परवर्ती कृतियों में अनुभूति को महत्त्व दिया गया है । उनकी अभिव्यंजना-पद्धति अलंकृत और वक्र होते हुए भी सरल है और अनुभूति को प्रभावशाली रूप में मुखर करने में समर्थ है । भट्ट की अधिकांश काव्य-कृतियाँ भी छायावादी भावुकता से ओतप्रोत हैं । 'राका', 'मानसी', 'विसर्जन', 'युगदीप', 'अमृत और विष' प्रभृति कविता-संग्रहों में अनुभूति की सूक्ष्मता, सर्ववादी चेतना, प्रकृति के मानवीकरण, अभिव्यक्ति की आदि को प्रायः लक्षित किया जा सकता है ।

मोहनलाल महतो 'वियोगी' (जन्म १८९९) के छायावादी पद्धति के काव्य हैं—'निर्माल्य' (१९२६), 'एक तारा' और 'कल्पना' (१९३५)। इनकी रचना वेदना, रहस्यानुभूति और उपचारवक्रता की बहुलता दिखायी देती है। लक्ष्मीना मिश्र (जन्म १९०३) के 'अन्तर्जगत्' नामक कविता-संग्रह में वेदना और व्यथा की व्यक्ति मिलती है, किन्तु बाद में मिश्र जी की प्रतिभा नाटक-रचना में ही केन्द्रित हो इस दृष्टि से **जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'** के कविता-संग्रह 'अनुभूति' और 'अन्तर्ध्व उल्लेखनीय हैं। इन संग्रहों के नामों से ही स्पष्ट है कि कवि की चेतना प्रधान व्यक्तिनिष्ठ और अन्तर्मुखी है। इनमें वेदना के प्रति वैसी ही आसक्ति दिखायी जैसी कि महादेवी के गीतों में है, किन्तु यह वेदना जीवन के व्यापक-विराट् सत्य किसी महान् उद्देश्य के साथ सम्बद्ध नहीं हो पायी है। इनके अतिरिक्त गोपालसिंह ने (काव्य-संग्रह : 'पंछी' और 'रागिनी'), केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' (काव्य-संग्रह : स्पर्श', 'सेतुबन्ध' आदि), आरसीप्रसाद सिंह (काव्य-संग्रह : 'कलापी') आदि भी वादी काव्यधारा के उल्लेखनीय कवि हैं।

प्रेम और मस्ती का काव्य

प्रस्तुत काल के काव्य में छायावादी रचनाएँ इतनी प्रौढ़ और शक्तिशाली हैं प्रायः इस काल का विवेचन करते हुए आलोचकों का ध्यान केवल छायावादी काव्य में ही केन्द्रित होकर रह जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि इस काल के वे जो पूरी तरह से छायावाद के अन्तर्गत नहीं आ पाते, उपेक्षित-से हो जाते हैं। बालकृ शर्मा 'नवीन', भगवतीचरण वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि की प्रणयमूलक वैय कविताओं का अध्ययन इसी सन्दर्भ में अपेक्षित है। यद्यपि प्रेम और यौवन की तथा आवेश को व्यक्त करनेवाली इनकी अधिकांश रचनाएँ छायावादोत्तर-काल में प्रका हुईं, तथापि इस दिशा में इनका आरम्भिक कृतित्व छायावाद-युग में ही प्रकाश में आ फलस्वरूप आलोच्य युग की इस काव्यधारा पर यहाँ संक्षेप में विचार कर लेना युक्तियु होगा। बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने राष्ट्रीय-सांस्कृतिक काव्य की रचना की है, किन्तु उन प्रणय-सम्बन्धी रचनाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। यह कहा जा सकता है कि प्रणय और यौवन चित्रण तो छायावादी काव्य में बड़ी तल्लीनता के साथ किया गया है, इसलिए इन कवि को स्वतन्त्र रूप से प्रेम और मस्ती की काव्यधारा के अन्तर्गत रखने का क्या आधार है उत्तर स्पष्ट है; छायावादी कवियों में प्रणय का महत्त्व सीमित है। प्रसाद, निराला और पन्त की रचनाओं में रति के मांसल और आवेशमय रूप के विविध पक्षों की अभिव्य मिलती तो है, किन्तु धीरे-धीरे इन कवियों ने स्थूल प्रणय-बन्धन से ऊपर उठने का प्र करते हुए उसे एक व्यापक जीवन-चेतना के अंग-रूप में अर्थात् जीवन के सर्वतोमुखी वि के सोपान के रूप में ग्रहण किया है। इस दृष्टि से प्रसाद का 'आँसू' काव्य छाया प्रणय-भावना के दोनों रूपों को—मांसल वासनात्मक रूप को और उदात्त करुणा के को—व्यक्त करता है। 'कामायनी' में श्रद्धा, जो कामगोत्रजा है और प्रेम का सन्देश सु के लिए अवतरित हुई है, एक सीमा तक ही लौकिक प्रणय की आलम्बन रहती है अन्त में उसी की रागात्मिका वृत्ति का सम्बल पाकर मनु आनन्द-लोक तक पहुँचते हैं। निराला के 'तुलसीदास' में भी प्रणय के इस सामान्य लौकिक रूप का निषेध कर राग को एक उदात्त, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास है।

को साध्य न मानकर साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रणय का यह उनके छायावादोत्तर काव्य में ही पूर्णता के साथ मुखर हुआ है। महादेवी ने तो ही प्रणय को आध्यात्मिक स्तर पर ग्रहण करने का प्रयास किया है। इस छायावादी प्रणय धीरे-धीरे रूपान्तरित और विकसित होते हुए एक व्यापक जीवन-सम्बद्ध हो गया है।

इस सन्दर्भ में दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि छायावादी चेतना भी प्रधान व्यक्तिवादी चेतना है और प्रेम और मस्ती के इन कवियों की साधना व्यक्तिनिष्ठ तथापि दोनों के व्यक्तिवाद में मूलभूत अन्तर है। छायावादी व्यक्ति-चेतना शरीर उठकर मन और फिर आत्मा का स्पर्श करने लगती हैं, जबकि इन कवियों में निष्ठ चेतना प्रधान रूप से शरीर और मन के धरातल पर ही व्यक्त होती रही है। प्रणय को ही साध्य के रूप में स्वीकार करने का प्रयास किया है। छायावादी काव्य को जीवन की यथार्थ-विषम व्यापकता में सँजोने का प्रयास करता है वहाँ प्रेम मस्ती का यह काव्य या तो यथार्थ से विमुख होकर प्रणय में तल्लीन दिखायी देता है, जीवन की व्यापकता को प्रणय की सीमाओं में ही खींच लाता है। 'नवीन' जी की शीर्षक कविता की ये पंक्तियाँ देखिए :

हो जाने दे ग़र्क़ नशे में, मत पड़ने दे फ़र्क़ नशे में
ज्ञान ध्यान पूजा पोथी के फट जाने दे वर्क़ नशे में
ऐसी पिला कि विश्व हो उठे एक बार तो मतवाला
साक़ी अब कैसा विलम्ब भर-भर ला तन्मयता-हाला।

प्रेम और मस्ती के इस काव्य में जीवन के विषय में किसी व्यापक परिकल्पना या का अभाव मिलता है। इसकी विशेषता तो मात्र प्रणय में तल्लीन हो जाने की में है—यही इसका साध्य प्रतीत होता है : "वह मादकता ही क्या जिसमें बाकी रह का भय!" (बच्चन) इस दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रणय छायावादी उदात्त प्रेम-भावना और अर्वाचीन नयी कविता की यौन-भावना के कड़ी है। यद्यपि प्रणय के ये कवि शारीरिक प्रेम के महत्त्व को स्वीकार करते हुए जीवन की नैतिक मर्यादाओं का अतिक्रमण कर गये हैं, किन्तु मुक्त-निर्बन्ध भोग या प्रचारक ये भी नहीं हैं। यहाँ देखना यह है कि वे कौन-सी ऐसी नैतिक 'जग का भय' है, जिसे ये आग्रहपूर्वक अस्वीकार कर देना चाहते हैं। दरअसल भी उसी युग की उपज है जिसने छायावाद को जन्म दिया। छायावादी कवियों नैतिकता के बोझ से आक्रान्त प्रणय को मुक्त करने का प्रयास किया, किन्तु वे उसे मुक्त न कर सके और उनकी प्रणय-भावना आध्यात्मिकता से सम्पृक्त हो गयी। इन कवियों ने द्विवेदीयुगीन नैतिकता के कठोर बन्धनों के प्रति विद्रोह किया। पर प्रणय की तीव्रता की स्वीकृति का एक परिणाम यह हुआ कि प्रणय के कविता में मादकता, शराब, साक़ी, मैख़ाने, आदि का भरपूर वर्णन होने लगा। बच्चन की 'मधुशाला' आदि कृतियों में पूरी शक्ति के साथ दिखायी देती है। मदिरा का यह नशा, साक़ी और मैख़ाने का यह वर्णन व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति है। कवि न तो संसार से डरता है और न ही कोई लोकोत्तर शक्ति उसे आतंकित करने में समर्थ है। इस प्रकार इन कवियों में व्यक्तिनिष्ठ अधिक सशक्त अभिव्यक्ति दिखायी देती है।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि स्वाधीनता-आन्दोलन के मध्य यह काव्य किस प्रकार अपने आप को राष्ट्रीय यथार्थ से विमुख रख सकी ? पहली बात तो यह है नवीन-जैसे कवियों में राष्ट्रीय भावना भी पूरी प्रखरता के साथ दिखायी देती है—वे के व्यापक जीवन से जुड़े हुए हैं और स्वतन्त्रता के गीत ही नहीं गाते, वरन् उसकी के लिए साधना भी करते हैं। किन्तु, नवीन का 'व्यक्ति' जब प्रबल हो उठता है तो वे की धारा में मुक्त होकर बहने के लिए आकुल हो उठते हैं। दूसरी ओर भगवतीचरण बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, अंचल आदि कवि भी हैं जिनका प्रधान वर्ण्य विषय प्रणय ही है परिवेश में व्याप्त संघर्ष से इतने उदासीन क्योंकर रह सके। इसके उत्तर में दो बातें जा सकती हैं। पहली तो यह कि विवेच्य काल में लिखित इनकी कविताएँ इनके जीवन की आरम्भिक रचनाएँ हैं और इसलिए उनमें प्रणय की वैसी ही आवेग अभिव्यक्ति हुई है, जैसी आरम्भिक छायावादी काव्य—'आँसू', 'पल्लव', 'अना आदि—में मिलती है। प्रस्तुत काल की समाप्ति के बाद भी ये कवि रचना करते रहे बच्चन, नरेन्द्र शर्मा आदि में कुछ नयी प्रवृत्तियाँ भी उभरकर सामने आयीं। दूसरी यह है कि जैसे-जैसे स्वाधीनता का आन्दोलन बल पकड़ता जा रहा था, वैसे-ही-वैसे साम्राज्यवाद का दमन-चक्र और उसका आतंक बढ़ता जा रहा था। इसलिए जो खुलकर दमन-चक्र और आतंक का सामना नहीं कर सके, वे आत्मकेन्द्रित होकर प्रण गीत गाने लगे। यह उनके व्यक्तित्व की दुर्बलता या अपरिपक्वता का संकेत हो सकता एक बात और भी है—काव्य अपनी अन्तरंग शक्ति से भी नये स्तरों और सोपानों की बढ़ता है। प्रणय के इस काव्य में छायावादी प्रणय का एक नया सोपान दिखायी देता जहाँ प्रणय को प्रणय के रूप में ही—सांसारिक रूप में—स्वीकार करने का आग्रह स्प व्यंजित है। इस विशेषता को यथार्थवादी दृष्टि के विकास के रूप में देखा जा सकता इन कवियों की अभिव्यंजना-पद्धति भी इस विकास की साक्षी है। इनकी भाषा छाया सूक्ष्मता और वक्रता से रहित है तथा सीधी-सरल पदावली द्वारा जीवन की नि अनुभूतियों को व्यक्त करने का प्रयास करती है। द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक भाषा के छायावादी अभिव्यंजना के चमत्कार का उदय और उसके बाद जनभाषा से वि रखनेवाली प्रणय-काव्य की यह भाषा निश्चय ही काव्य-भाषा खड़ीबोली की अन्तर्नि शक्ति के विकास की सूचक हैं। इसके मूल में कविता के सम्बन्ध में बदलते हुए दृष्टि को भी लक्षित किया जा सकता है। यद्यपि यह काव्य छायावादी चेतना की छाया में उदित और पल्लवित हुआ, किन्तु छायावाद के बाद का—चाहे यह अन्तर कितना ही क्यों न हो—काव्य होने के कारण इसमें छायावादी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी कार्य है। छायावादी अभिव्यंजना-पद्धति की सूक्ष्म सांकेतिकता तथा लोकोत्तर स्तर की अनु की दुरूहता इन कवियों के लिए एक वस्तुगत सत्य था। ज्ञात या अज्ञात रूप से ये आरम्भ से ही छायावादी काव्य की इन सीमाओं के प्रति सजग रहे होंगे और इ सायास एक नयी भाव-भूमि और नयी काव्य शैली के निर्माण का प्रयास किया होगा। और मस्ती का यह काव्य निस्सन्देह अपनी सीधी-सच्ची अनुभूति और कला के का जनता में विशेष ख्याति पा सका। किन्तु, एक ही धरातल पर संचरण के कारण यह एकांगी और सीमित होकर रह गया। जिस प्रकार छायावादी कवियों ने अपने प्रणय अपनी व्यथा से ऊपर उठने का प्रयास किया, वैसा प्रयास इन कवियों में कम दि देता है।

आलोच्य काव्यधारा के कवियों में **भगवतीचरण वर्मा** (जन्म १९०३) की कविताएँ में सन् १९१७ से ही प्रकाशित होने लगी थीं। इनकी अनुभूति के दो रूप दिखायी एक रूप तो वह है जहाँ ये मस्ती और फक्कड़पन को अभिव्यक्त करते हैं : 'हम की क्या हस्ती, हैं आज यहाँ कल वहाँ चले।' इस प्रकार की अनुभूति इन्हें 'नवीन' ता खड़ा करती है, किन्तु ऐसी रचनाएँ परिमाण में बहुत कम हैं। प्रधान रूप से समाज की विषमताओं से पराजित और संघर्ष से विरत एकाकी व्यक्ति की यों को ही व्यक्त किया है :

है इस जीवन का बोझ असह
मैं निर्बलता से चूर प्रिये।
उर शंकित है, पग डगमग है,
तुम मुझ से कितनी दूर प्रिये!

× × ×

यहाँ सफलता या असफलता, ये तो सिर्फ़ बहाने हैं,
केवल इतना सत्य कि निज को हम ही स्वयं अनजाने हैं।

इस तरह की रचनाओं में जो बेबसी और कर्म से विमुखता लक्षित होती है, वह ही महान् काव्य की रचना में सहायक नहीं हो सकती। छायावादी कवियों में भी ह के उद्गार मिलते हैं जहाँ कवि यथार्थ के विषम संघर्ष से विमुख होकर कहीं दूर ना चाहता है, किन्तु ऐसे उद्गार काव्य-साधना के किसी क्षण-विशेष में व्यक्त हों गत है और यदि वही सम्पूर्ण काव्य-साधना पर छाए हुए हों, तो निश्चय ही काव्य क्तित्व सीमित ही रह जाता है। वैसे, वर्मा जी की भाषा-शैली सरल और स्पष्ट है। छायावादी शैली की भाँति तत्सम शब्दों की प्रधानता, सूक्ष्मता या वक्रता के दर्शन हैं। काव्य-भाषा की दिशा में इनकी रचनाएँ निश्चय ही खड़ीबोली-कविता के एक ड़ की सूचना देती हैं।

हरिवंशराय 'बच्चन' (जन्म १९०७) का आरम्भिक जीवन कष्टों और अभावों रा। असहयोग आन्दोलन में भाग लेने के कारण इन्हें जेल भी जाना पड़ा। इसका यह हुआ कि इनकी कविता जीवन से पूरी तरह विमुख नहीं है। जहाँ ये ला' में पूरी तरह ग़र्क़ दिखायी देते हैं, वहाँ भी इन्हें यह भान रहा है कि मधुशाला -साम्प्रदायिक अन्तराल को दूर कर अनुभूति के धरातल पर—चाहे वह अनुभूति मस्ती की ही क्यों न हो—एकता की स्थापना करती है। इनके 'मधुशाला', ला' और 'मधुकलश' काव्य-संग्रहों में उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का प्रभाव लक्षित है। किन्तु, मधुशाला में डूबा हुआ यह कवि सामाजिक विषमता से अनजान नहीं ने एक ओर तो उद्दाम यौवन की लालसा को अपनाया है और दूसरी ओर उसी र सामाजिक संवेदना को भी मुखर करने का प्रयास किया है। इसका परिणाम यह है कि कवि ठोस यथार्थ को पूरी तरह से ग्रहण नहीं कर पाया। हाँ, जीवन की ओं को एक सामान्य अनुभूति के स्तर पर सुलझाने का प्रयास उसने अवश्य किया षा की दृष्टि से भी बच्चन का महत्त्वपूर्ण योगदान है। सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति रूप भगवतीचरण वर्मा में मिलता है, उसी का विकसित रूप बच्चन में दिखायी है।

प्रस्तुत काव्यधारा के अन्य कवियों में **नरेन्द्र शर्मा** (जन्म १९१३) प्रेम और

मस्ती के भावों से प्रभावित तो हुए, किन्तु वे प्रणय के उच्छ्वास में लड़खड़ाये नहीं। कारण सम्भवत: यह है कि उन्होंने देश के राजनीतिक जीवन में सक्रिय भाग लिया है इसलिए वे प्रणय को अधिक सहजता के साथ खुलकर व्यक्त कर सके हैं। 'प्रभात (१९३८), 'प्रवासी के गीत' (१९३८) और 'पलाश वन' (१९३९) में इसी प्रकार भावप्रधान रचनाएँ संकलित हैं, जिनमें प्रणय के संयोग और वियोगमूलक प्रसंगों का और प्रवाहमयी भाषा में चित्रण हुआ है।

गोपालसिंह नेपाली (जन्म १९०२), हृदयनारायण 'हृदयेश' (जन्म १९०५), हरि 'प्रेमी' (जन्म १९०८), रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' (जन्म १९१५) आदि इस धारा अन्य मुख्य कवि हैं। नेपाली के प्रथम काव्य-संग्रह 'उमंग' (१९३४) में प्रेम और की मधुर अनुभूतियों के अनेक मोहक और सरस चित्र मिलते हैं। कवि सम्मेलनों में रचनाएँ रंग जमा देती थीं। बाद में ये चलचित्रों के लिए गीत लिखने लगे। इनके भाषा एवं भावभूमि की सरलता के कारण सामान्य जनता को तल्लीन और विभोर में समर्थ हैं। इसमें सन्देह नहीं कि यदि ये अपने कृतित्व को सामान्य जनता के स्तर से रख सकते तो इनकी कला अधिक निखार और उत्कर्ष प्राप्त करने में सफल होती। 'हृदयेश' की रचनाओं में अनेकरूपता दिखायी देती है। इनकी कविताओं में प्रणय के अतिरि करुणा और हालावाद की अभिव्यक्ति भी मिलती है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' की कविताओं देश-प्रेम के साथ-साथ प्रणय की तीव्रता और यौवन के उल्लास के दर्शन भी होते हैं। भाषा-शैली सरल होते हुए भी कहीं-कहीं छायावादी वक्रता की अदा दिखा जाती है। 'अंचल' की रचनाओं में मांसल प्रणय की आवेशमयी अभिव्यक्ति मिलती है। इसलिए कविताओं में कोमल भावों की अनुभूति भी आवेशमयी और ओजपूर्ण हो उठी है। 'अंचल' के काव्य में छायावादी प्रणय के व्यापक और उदात्त रूप की कोई छाया नहीं दिखायी वे प्रणय के उस छोर पर खड़े हैं जो शारीरिकता और वासना से आक्रान्त है।

हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य

छायावाद-युग में हास्य-व्यंग्यात्मक काव्य की भी प्रभूत परिमाण में रचना की गयी—एक ओर तो ईश्वरीप्रसाद शर्मा, हरिशंकर शर्मा, उग्र, बेढब बनारसी प्रभृति कुछ कवियों ने इस काव्यधारा का प्रमुख रूप में अवलम्बन लिया और दूसरी ओर ऐसे कवियों की संख्या भी कम नहीं है जिन्होंने मुख्यत: अन्य विषयों पर काव्य-रचना करने पर भी प्रसंगवश हास्य-व्यंग्य को स्थान दिया है। 'मनोरंजन' के सम्पादक ईश्वरीप्रसाद शर्मा इस युग के प्रथम उल्लेखनीय व्यंग्यकार हैं। 'मतवाला', 'गोलमाल', 'भूत', 'मौजी', 'मनोरंजन' आदि पत्रिकाओं में इनकी अनेक हास्यरसात्मक कविताओं का प्रकाशन हुआ था। इनके कविता-संकलन 'चना चबेना' (१९२४) में खड़ीबोली और ब्रजभाषा दोनों की रचनाएँ संकलित हैं। शर्मा जी ने तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक परिवेश के छिद्रों की खोज कर सुरुचिपूर्ण हास्य की शैली अपनायी है। हरिशंकर शर्मा इस धारा के अन्य वरिष्ठ कवि हैं। यद्यपि छायावाद-युग में उनका कोई कविता-संकलन प्रकाशित नहीं हुआ, किन्तु 'पिंजरापोल' और 'चिड़ियाघर' शीर्षक गद्य-रचनाओं में कुछ हास्य-व्यंग्यात्मक कविताओं और पैरोडियों का इन्होंने कहीं-कहीं समावेश किया है। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में व्याप्त पाखण्ड तथा भ्रष्टाचार पर इन्होंने तीखे व्यंग्य किये हैं।

छायावाद-युग के व्यंग्यकारों में **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** (१९००-१९६७) का

ही स्थान है। इनकी व्यंग्य-कविताओं और पैरोडियों में जो ताज़गी और निर्भीकता ती है, वह आज भी उतना ही प्रभावित करती है। इसी कोटि के एक अन्य प्रसिद्ध स्य-व्यंग्यकार थे कृष्णदेवप्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' (१८९५-१९६८)। छायावाद-ग में ही नहीं, उसके बाद भी समसामयिक सामाजिक-धार्मिक आचार-व्यवहार को लेकर होंने व्यंग्य-विनोद की जो धारा प्रवाहित की वह अपनी व्यावहारिक भाषा-शैली के कारण और भी अधिक उल्लेखनीय है। हास्य की छटा बिखराने के लिए इन्होंने अँगरेज़ी और उर्दू शब्दावली का भी खुलकर प्रयोग किया है। उपमा और वक्रोक्ति के प्रयोग द्वारा व्यंग्य तीखा बनाने में भी ये सिद्धहस्त थे। इनकी काव्य-शैली का एक उदाहरण देखिए:

बाद मरने के मेरे क़ब्र पर आलू बोना
हश्र तक यह मेरे ब्रेकफ़ास्ट के सामाँ होंगे,
उम्र सारी तो कटी घिसते कलम ए बेढब
आख़िरी वक्त में क्या ख़ाक पहलवाँ होंगे।

आलोच्य युग में हास्य-व्यंग्य को प्रमुखता देनेवाले अन्य समर्थ कवि हैं—अन्नपूर्णानन्द (महाकवि चच्चा), कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' और शिवरत्न शुक्ल। अन्नपूर्णानन्द ने श्चिम के अन्धानुकरण, सामाजिक रूढ़ियों की दासता, मानव-स्वार्थ आदि विषयों पर उत्कृष्ट ग्य-काव्य की रचना की है। कान्तानाथ पाण्डेय 'चोंच' की कृतियों में 'चोंच चालीसा' नी पांडे' और 'महाकवि साँड़' उल्लेखनीय हैं जिनमें से अंतिम दो में इनकी कुछ हास्य-त्मक कहानियाँ भी समाविष्ट हैं। समाज की कुरीतियों पर इन्होंने शिक्षात्मक व्यंग्य-लेखन की पद्धति अपनायी है। अँगरेज़ी-शब्दों के प्रयोग द्वारा हास्य की सृष्टि करने में भी ये बेढब नारसी की भाँति सिद्धहस्त हैं। 'परिहास प्रमोद' (१९३०) के रचयिता शिवरत्न शुक्ल की नोदपूर्ण रचनाएँ भी अनायास मन को मुग्ध कर लेती हैं। छायावाद युगीन पत्रिकाओं में नकी रचनाएँ बलई' नाम से प्रकाशित हुआ करती थीं। समाज में व्याप्त अभिशापों पर ग्य करने के साथ ही इन्होंने पथभ्रष्ट राजनीतिज्ञों पर भी मार्मिक वाक्प्रहार किये हैं।

छायावाद-युग की हास्य-व्यंग्यात्मक रचनाओं में हरिऔध-कृत 'चोखे चौपदे' और भते चौपदे', चतुर्भुज चतुरेश-कृत 'हँसी का फव्वारा' और ज्वालाराम नागर 'विलक्षण' रा छायावाद पर व्यंग्य के निमित्त रचित 'छायापथ' का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। न्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, मोहनलाल गुप्त, श्रीनाथ सिंह प्रभृति कवियों द्वारा रचित स्फुट विताएँ भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आलोच्य ल में समाज, धर्म, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों से सम्बद्ध ऐसी अनेक हास-परिहासात्मक चनाएँ लिखी गयीं जिनमें हास्य की मुखरता और व्यंग्य की तीव्रता स्वाभाविक रूप में द्यमान हैं। किन्तु, इनमें छायावादी काव्य के तुल्य उत्कर्ष और लावण्य को ढूंढ़ना असंगत गा क्योंकि विषय की सामान्य सहजता के कारण ये रचनाएँ शैली, विचार, संरचना आदि की दृष्टि से सामान्य स्तर की ही मानी जाएँगी।

ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक युग को ब्रजभाषा-काव्य की एक दीर्घ-संमुन्नत परम्परा प्राप्त हुई थी, सलिए आधुनिक युग के आरम्भिक कवियों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे उस परम्परा से प्रभावित हों—प्रभावित ही न हों, उसे आगे भी बढ़ाएँ। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और ब्रज-षा के परवर्ती कवियों की रचनाएँ प्राचीन परम्परा से प्रभावित होते हुए भी नवीनता

की ओर—नये विषयों और नयी अभिव्यंजना-पद्धति की ओर – अग्रसर हुईं। किन्तु, छायावाद-युग में ब्रजभाषा-काव्य की परम्परा एक गौण धारा के रूप में ही दिखायी देती है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक-काल में गद्य-रचना की भाँति काव्य-रचना के लिए भी खड़ीबोली को स्वीकार कर लिया गया। फिर भी, काव्य की भाषा को लेकर काफ़ी दिनों तक तीव्र विवाद होता रहा। ब्रजभाषा के समर्थन में यह तर्क दिया जाता था कि यदि हम सूर, तुलसी, सेनापति, बिहारी और घनानन्द-जैसी समर्थ प्रतिभाओं की परम्परा को भुलाना नहीं चाहते तो हमें ब्रजभाषा को साहित्य में जीवित रखना होगा; और इसका उपाय यह है कि काव्य में ब्रजभाषा को ही स्वीकार किया जाय। साथ ही यह भी कहा जाता था कि ब्रजभाषा को अनेक महान् प्रतिभाओं ने सँवारकर काव्य के उत्तम माध्यम के रूप में ढाल दिया है जबकि खड़ीबोली का रूप अव्यवस्थित, कर्कश और खुरदरा है और वह काव्य-भाषा के गुणों से रहित है। इसलिए कवियों और विद्वानों के एक वर्ग ने ब्रजभाषा का ज़ोरदार समर्थन किया। किन्तु, ऐतिहासिक परिस्थितियाँ इस वर्ग के विपक्ष में थीं। गद्य के लिए खड़ीबोली को स्वीक़ार किया जा-चुका था और गद्य के सर्वतोमुखी महत्त्व के विकास के साथ-साथ खड़ीबोली का महत्त्व भी बढ़ता जा रहा था। ब्रजभाषा में गद्य-साहित्य की परम्परा के अभाव के कारण ब्रजभाषा के समर्थक भी गद्य के निर्माण के लिए खड़ीबोली का विरोध न कर सके। परिणाम यह हुआ कि एक ही साहित्यकार गद्य के लिए खड़ीबोली का उपयोग करता था और पद्य के लिए ब्रजभाषा का। स्पष्ट है कि इस प्रकार की असंगत स्थिति ज्यादा देर तक नहीं चल सकती थी। महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस स्थिति का, जो अपने आप में ही काफ़ी दुर्बल थी, विरोध किया और खड़ीबोली में काव्य-रचना के लिए अनेक कवियों को प्रेरित किया। बाद में जब प्रसाद, निराला आदि छायावादी कवियों ने खड़ीबोली-कविता में भी सूक्ष्मतम अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यक्ति कर उसकी अन्तरंग शक्ति को प्रत्यक्ष कर दिखाया तब खड़ीबोली का विरोध शान्त हो गया। इसके बावजूद अनेक कवि ब्रज़भाषा में काव्य-रचना करते रहे। इनमें रामनाथ जोतिसी (जन्म १८७४), रामचन्द्र शुक्ल (१८८४-१९४०), राय कृष्णदास (जन्म १८९२), जगदम्बाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' (१८९५-१९५६), दुलारेलाल भार्गव (जन्म १८९५), वियोगी हरि (जन्म १८९६), बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', अनूप शर्मा (जन्म १९००), रामेश्वर 'करुण' (जन्म १९००), किशोरीदास वाजपेयी, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' (१९०७-१९५७) आदि का उल्लेख मुख्य रूप से अपेक्षित है। रामनाथ जोतिसी की रचनाओं में 'रामचन्द्रोदय काव्य' (१९३६) मुख्य है। इसमें राम के जन्म से लेकर उनके विवाह और अयोध्या-निवास तक की ही कथा का वर्णन मिलता है। इस काव्य में प्रधान रूप से कवि की भक्ति-भावना मुखर हुई है, किन्तु उपदेश देने की प्रवृत्ति भी स्थान-स्थान पर दिखायी देती है। कवि ने परोक्ष रूप से अपने युग की दशा के वर्णन का प्रयास भी किया है। इनकी रचना-शैली पर केशव की 'रामचन्द्रिका' का प्रभाव है और इसमें विविध छन्दों का सफल प्रयोग लक्षित होता है। रामचन्द्र शुक्ल इस युग के मेधावी आलोचक तो थे ही, उन्होंने एडविन आर्नल्ड के आख्यान-काव्य 'लाइट ऑफ़ एशिया' का 'बुद्धचरित' (१९२२) शीर्षक से ब्रजभाषा में अनुवाद भी किया, किन्तु यह मूल का अक्षरशः अनुवाद नहीं है—कवि ने अनेक स्थलों पर उद्भावनाएँ भी की हैं। शुक्ल जी की भाषा सरल और व्यावहारिक है क्योंकि वे रीतिकालीन चमत्कारप्रधान भाषा के क़ायल नहीं थे।

राय कृष्णदास-कृत 'ब्रजरज' (१९३६), जगदम्बाप्रसाद 'हितैषी' द्वारा रचित

कवित्त-सवैये और दुलारेलाल भार्गव की 'दुलारे दोहावली' भी इस काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। ब्रजभाषा की प्रचलित शैली के अनुरूप प्राचीन विषयों का प्रतिपादन करने के साथ-साथ इन कवियों ने नयी शैली द्वारा नयी स्थितियों के चित्रण का प्रयास भी किया है। वियोगी हरि की ब्रजभाषा-कृतियों में 'वीर सतसई' (१९२७) का प्रमुख स्थान है। यह राष्ट्रीय भावना की एक श्रेष्ठ कृति है जिसमें इन्होंने कहीं प्राचीन भारतीय गरिमा का चित्रण किया है तो कहीं देश की वर्तमान दशा के मार्मिक चित्र खींचे हैं, कहीं वीरों का गौरव-गान किया है तो कहीं युवकों को देश-सेवा की प्रेरणा दी है। भाषा के नैसर्गिक सौन्दर्य और अनुभूति की तीव्रता के कारण यह रचना अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ी है। **बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'** ने ब्रजभाषा में अनेक स्फुट रचनाएँ लिखी हैं, किन्तु इनके कृतित्व का वैशिष्ट्य 'ऊर्मिला' महाकाव्य के पंचम सर्ग में लक्षित होता है। इसमें विरहिणी नायिका की मनोदशाओं का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। यथा :

वे स्वप्निल रतियाँ मधुर, वे बतियाँ चुपचाप।
ह्वै विलीन हिय में, बनी आज विछोह विलाप॥
साजन संस्मृति नेह की, खटकि खटकि रहि जाय।
अटकि अटकि आँसू झरें, भरे हृदय निरुपाय॥

छायावाद-युग में ब्रजभाषा-काव्य के उन्नयन में **अनूप शर्मा** का योगदान अविस्मरणीय है। इनके चम्पू-काव्य 'फेरि मिलिबौ' (१९३८) में कुरुक्षेत्र में राधा-कृष्ण के पुनर्मिलन का वर्णन है, जो 'श्रीमद्भागवत पुराण' के सम्बद्ध प्रसंग पर आधारित है। इसका कथानक चार प्रसंगों में विभाजित है तथा गद्य और पद्य दोनों में ब्रजभाषा को अपनाया गया है। कथा-प्रवाह, रस-व्यंजना, चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और भाषा की सहज मधुरता इस कृति की सहज विशेषताएँ हैं। **रामेश्वर 'करुण'** द्वारा रचित 'करुण सतसई' (१९३०) में अनुभूति की तीव्रता, करुणा, समस्यामूलकता और व्यंग्य को अनेकशः देखा जा सकता है। सामयिक विषयों का कहीं भावप्रेरित और कहीं विचारपूर्ण निरूपण इस कृति की मुख्य उपलब्धि है। **किशोरीदास वाजपेयी**-कृत 'तरंगिणी' (१९३६) के दोहों में भी प्राचीन और नवीन रचना-दृष्टियों का समन्वय मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि आलोच्य युग के ब्रजभाषा-कवियों में भी नवीनता के दर्शन होते हैं, चाहे वह कितने ही सीमित रूप में मुखर हुई हो। उदाहरण के लिए **उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश'** की इन पंक्तियों में भाषा और संवेदना की दृष्टि से नवीनता दिखायी देती है :

वह नील सिखर तें उतरी, अनुरागमयी निसिबाला।
स्वागत कौं अवनि खड़ी लै, सुठि साँझ सुमन की माला॥

भाव-बोध और शिल्प की दृष्टि से ये पंक्तियाँ छायावाद के इतने निकट हैं कि यदि ऐसी रचनाओं का परिमाण अधिक होता तो सम्भवतः ब्रजभाषा-काव्य में छायावादी धारा को स्वीकार करना पड़ता।

मूल्यांकन

छायावादयुगीन काव्य का समन्वित अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस युग की कवि-प्रतिभा सर्जना के विविध क्षेत्रों में गतिशील रही है और उसने नयी दिशाओं का संकेत भी किया है। अभिव्यंजना की दृष्टि से इस काल के काव्य की छायावादी धारा में जहाँ सूक्ष्म वक्रता और जटिल संरचना दिखायी देती है, वहाँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

और प्रेमप्रधान स्वच्छन्द वैयक्तिक काव्यधारा में शैली सरलता और आवेग से युक्त दिखायी देती है। इस काल के ब्रजभाषा-काव्य में भी काव्य-शैली के दोनों रूपों—प्राचीन पद्धति का अलंकृत रूप तथा नवीन सूक्ष्म-वक्र रूप —के दर्शन होते हैं। इस काव्य की, विशेषत: छायावादी काव्य की, प्रकृति-सम्बन्धी दृष्टि में नवीनता और ताज़गी है। यहाँ आकर जड़ और चेतन का द्वैत मिट गया है और कवियों ने जिस भाँति चेतन सृष्टि के विविध रूपों के सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है उसी भाँति प्रकृति-चित्रण में भी सूक्ष्म, संश्लिष्ट और नूतन उद्भावनाएँ की हैं। अनुभूति की दृष्टि से इस युग का काव्य व्यक्तिनिष्ठ होने के साथ ही सामाजिकता से प्रतिबद्ध भी रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक कविताओं एवं गीतों में व्यक्तिनिष्ठ भावना ही प्रधान रूप से मुखर हुई है, किन्तु महान् काव्य में यह व्यक्तिनिष्ठ भावना व्यापक सामाजिक जीवन से सम्बद्ध होती हुई उदात्त आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचने का प्रयास करती है। इस काव्य की व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि में विकास की सम्भावना स्पष्ट लक्षित होती है। प्रेम और मस्ती के काव्य को लोकोन्मुखी छायावादी व्यक्ति-चेतना और छायावादोत्तर नयी कविता की अहं-केन्द्रित भावना के बीच की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है।

छायावादी काव्य ने दो संस्कृतियों के —भौतिक तथा आध्यात्मिक संस्कृतियों के द्वैत और संघर्ष की ज्वलन्त आधुनिक समस्या से जूझने का प्रयास किया है। इस धारा के कवियों ने अपने-अपने ढंग से इस द्वैत का निषेध कर दोनों संस्कृतियों के समन्वय का यत्न किया है। किन्तु, स्पष्टत: यह समन्वय आध्यात्मिक सत्ता की प्रमुखता पर आधारित है। इसलिए इस प्रयास की अपनी सीमाएँ हैं। किन्तु, यह समस्या एक जटिल समस्या है और आज भी इसका कोई सर्वमान्य समाधान नहीं हो पाया। इस काल की काव्य-चेतना के दो छोर जिस प्रकार आध्यात्मिक और भौतिक सत्य हैं, उसी प्रकार वह व्यक्ति और सामाजिकता की स्थितियों का भी स्पर्श करती है और इन दोनों में समन्वय का प्रयास करती है। इस स्थिति में विकास की दोनों सम्भावनाएँ निहित हैं— समाजवादी चेतना के विकास की भी और व्यक्तिवादी चेतना के विकास की भी। पहली सम्भावना छायावादोत्तर काल में प्रगतिवादी काव्य में दिखायी देती है और दूसरी प्रयोगवादी कविता या नयी कविता में। सार-रूप में यह कहा जा सकता है कि छायावाद-युग का काव्य महान् उपलब्धियों और अनेक सम्भावनाओं का काव्य है।

गद्य-साहित्य

छायावादयुगीन गद्य-साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के पूर्व इस युग की राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त सर्वेक्षण आवश्यक है क्योंकि युगविशेष का साहित्य जहाँ पूर्ववर्ती साहित्य से जुड़ा होता है वहाँ समसामयिक वातावरण और रचना-प्रवृत्तियों का भी उस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक दृष्टि से इस युग में महात्मा गांधी का नेतृत्व जनता को सत्य, अहिंसा और असहयोग के माध्यम से स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान कर रहा था। १९१९ ई० के प्रथम अवज्ञा-आन्दोलन

की असफलता, जलियाँवाला काण्ड तथा भगतसिंह को प्रदत्त मृत्युदण्ड जैसी घटनाओं से जनता का मनोबल कम नहीं हुआ था—साइमन कमीशन के बहिष्कार तथा नमक-कानून-भंग सदृश जन-आन्दोलनों से इसी तथ्य की पुष्टि होती है। पश्चिमी सभ्यता तथा संस्कृति के प्रभावस्वरूप इस युग के सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आ गया था। युवा-मन परम्परागत रीति-रिवाजों को तोड़कर पश्चिमी राष्ट्रों के स्वतन्त्र नागरिकों के समान जीवन-यापन के लिए लालायित था। सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों की जैसी स्पष्ट छाप छायावाद-युग के गद्य-साहित्य में लक्षित होती है, वैसी काव्य-साहित्य में नहीं होती। वस्तुतः आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की प्रेरणा से हिन्दी-गद्य का व्याकरण-सम्मत परिमार्जित रूप प्रायः स्थिर हो चुका था, फलस्वरूप समकालीन परिवेश के सन्दर्भ में विभिन्न गद्य-विधाओं का यथार्थोन्मुख विकास-परिष्कार स्वाभाविक था। इसलिए छायावाद-युग का गद्य-साहित्य पूर्ववर्ती युगों की तुलना में अधिक विकासशील और समृद्ध है।

नाटक

नामकरण की दृष्टि से विचार करें तो हिन्दी-नाट्यसाहित्य के इस युग को 'प्रसाद-युग' कहना युक्तिसंगत होगा। यद्यपि प्रसाद जी ने १९१८ ई० के पूर्व ही नाटकों की रचना आरम्भ कर दी थी, पर उनकी आरम्भिक रचनाएँ—सज्जन, कल्याणी-परिणय, प्रायश्चित्त, करुणालय, राज्यश्री (प्र० सं०)—नाट्यकला की दृष्टि से अपरिपक्व हैं। इनके अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे अपने लिए माध्यम की खोज कर रहे थे। यह माध्यम उन्हें आलोच्य युग में प्राप्त हुआ—विशाख (१९२१), अजातशत्रु (१९२२), कामना (रचना १९२३-२४, प्रकाशन १९२७), जनमेजय का नागयज्ञ (१९२६), स्कन्दगुप्त (१९२८) एक घूँट (१९३०), चन्द्रगुप्त (१९३१) और ध्रुवस्वामिनी (१९३३) शीर्षक नाट्यकृतियों के रूप में! इनके माध्यम से उन्होंने हिन्दी-नाट्य साहित्य को विशिष्ट स्तर और गरिमा प्रदान की। वस्तुतः हिन्दी-उपन्यास और कहानी के क्षेत्र में जो स्थान प्रेमचन्द का है, नाटक के क्षेत्र में लगभग वही स्थान प्रसाद का है।

हिन्दी-नाटक को साहित्यिक भूमिका प्रदान करने का प्रयास सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था। उनके पूर्व साहित्यिक नाटकों का अभाव था—पारसी नाटक-कम्पनियों द्वारा अभिनीत नाटक असाहित्यिक और कुरुचिपूर्ण हुआ करते थे। भारतेन्दु ने स्वयं नाटक लिखने और अपने साहित्यिक सहयोगियों को इस ओर प्रवृत्त करने के साथ ही अव्यावसायिक रंगमंच की नींव भी डाली। उनके द्वारा स्थापित की गयी नाटक और रंगमंच की परम्परा को ही जयशंकर प्रसाद ने नया जीवन और नयी दिशा प्रदान की। प्रसाद की कठिनाई यह थी कि वे जिस प्रकार के नाटक लिखना चाहते थे उनके अनुरूप रंगमंच हिन्दी में नहीं था। पारसी रंगमंच सस्ती जनरुचि का पोषक था, अतः प्रसाद के लिए उसे अपनाने का प्रश्न ही नहीं था। उधर हिन्दी का शौक़िया रंगमंच नितान्त अविकसित था। फलतः प्रसाद ने साहित्यिक रंगमंच की स्वयं कल्पना की और इस मानसिक रंगमंच की पृष्ठभूमि में ही अपने नाटक लिखे। यदि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तरह वे भी व्यावहारिक और बहिर्मुखी रहे होते तो सम्भव था कि उनके हाथों हिन्दी-रंगमंच का वैसा ही निर्माण हो गया होता, जैसा कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा बंगला-रंगमंच का हुआ। प्रसाद जी अपने काल्पनिक रंगमंच को व्यावहारिक रूप नहीं दे सके, जिसका परिणाम यह हुआ कि उनके नाटक अन्य सभी दृष्टियों से उत्कृष्ट होने पर भी अभिनय की दृष्टि से सफल न हो पाये। उन्होंने विवेच्य

काल में नौ नाटकों की रचना की जिनमें सात ऐतिहासिक, एक अन्यापदेशिक और एक एकांकी है। उनके ऐतिहासिक नाटक हैं—विशाख, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ, राज्यश्री, स्कन्दगुप्त, चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी। 'राज्यश्री' की रचना सर्वप्रथम १९१ ई० में हुई थी, बाद में कतिपय नये दृश्यों तथा नये पात्रों के समावेश द्वारा उन्होंने १९३ ई० में इसे नाटकीय पूर्णता प्रदान की।

प्रसाद जी मुख्यतः ऐतिहासिक नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। परतन्त्र देश का लेखक यदि वर्तमान की क्षतिपूर्ति अपने गौरवमय अतीत में करता है, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। रोमानी प्रकृति के लेखक के लिए तो यह अनिवार्य-सा हो जाता है। प्रसाद जी रोमानी प्रकृति के कवि थे, अतः उन्होंने देश में गौरवमय अतीत को अपने नाटकों का विषय बनाया। उनके नाटकों में पौराणिक युग (जनमेजय का नागयज्ञ) से लेकर हर्षवर्धन-युग (राज्यश्री) तक के भारतीय इतिहास की गौरवमयी झाँकी देखने को मिलती है। शायद ही हिन्दी के किसी अन्य लेखक ने भारतीय संस्कृति, समृद्धि, शक्ति और औदात्य का ऐसा भास्वर चित्र प्रस्तुत किया हो। इन नाटकों में जो चरित्र उभरे हैं वे शील, शक्ति और औदात्य के प्राणवन्त विग्रह हैं। इतिहास के प्रसिद्ध पात्रों में नया जीवन भर दिया गया है। गौतम बुद्ध, चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, राज्यश्री, ध्रुवस्वामिनी आदि ऐतिहासिक पात्र हैं, पर प्रसाद के नाटकों में इनका जो रूप उभरा है वह इतिहास की उपलब्धि नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त प्रसाद ने इतने विविध प्रकार के पात्रों की सृष्टि की है कि उनके माध्यम से पूरा युग ही सजीव होकर सामने उपस्थित हो गया है। पर यह समझना भूल होगा कि उन्होंने केवल भारतीय संस्कृति के गौरव-गान के लिए नाटकों की रचना की थी। वस्तुतः उन्होंने इतिहास की प्राचीन घटनाओं के माध्यम से व्यंग्य-रूप में वर्तमान की समस्याओं का चित्रण और समाधान प्रस्तुत किया। 'इतिहास अपने को दुहराता है', इस उक्ति का बड़ा सुन्दर उपयोग उन्होंने अपने नाटकों में किया है। यों तो प्रायः उनके सभी नाटकों में युगीन समस्याओं का समावेश हुआ है, पर 'ध्रुवस्वामिनी' तो 'ऐतिहासिक नाटक' होकर भी 'समस्या नाटक' बन गया है। इसलिए प्रसाद को 'अतीत के स्वर्णयुग में विचरण करनेवाले' या 'गड़े मुर्दे उखाड़नेवाले' लेखक के रूप में देखना न्यायसंगत नहीं होगा। उनकी प्रवृत्ति रोमानी अवश्य थी, पर उनमें सामाजिक जागरूकता का अभाव नहीं था।

प्रसाद के नाटकों में शिल्प पर कई तरह के प्रभाव दिखायी पड़ते हैं। उनके सामने संस्कृत-नाट्य साहित्य की गौरवमयी परम्परा तो थी ही, अँगरेज़ी के प्रसिद्ध नाटककार, जिनमें शेक्सपियर की कृतियाँ भी थीं। समकालीन बँगला-नाटककार, जिनमें द्विजेन्द्रलाल राय प्रमुख थे, शेक्सपियर के नाटकों से प्रभावित थे। प्रसाद पर इनका प्रभाव भी पड़ा था। यही नहीं, पारसी नाटक-कम्पनियों का—जिन्हें वे बिलकुल भी सहन नहीं करते थे - प्रभाव भी उन पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़े बिना न रहा। उनके आरम्भिक नाटकों में गद्यात्मक वार्त्तालापों के बीच तुकबन्दी, पद्यात्मक संवाद तथा 'नर्तकियों का नाचते हुए प्रवेश' आदि पारसी नाटकों के प्रभाव से ही आये जान पड़ते हैं। वस्तु-योजना, नायक-परिकल्पना तथा रस-सृष्टि में जहाँ वे संस्कृत-नाटकों के निकट प्रतीत होते हैं, वहाँ कथावस्तु में संघर्ष का समायोजन, अंकों का दृश्यों में विभाजन, वस्तु-संघटन एवं पात्रों की सृष्टि में संस्कृत-काव्यशास्त्र की रूढ़ियों की अवहेलना उन्हें अँगरेज़ी—विशेषकर शेक्सपियर—के नाटकों के निकट ले जाती है। लगता है, बाद में उन्होंने इब्सन और बर्नार्ड शॉ से भी प्रभाव ग्रहण किया था—'ध्रुवस्वामिनी' में इस प्रभाव की कुछ झलक देखी जा सकती है।

कलात्मक उत्कर्ष की दृष्टि से प्रसाद के प्रमुख नाटक तीन हैं—'स्कन्दगुप्त', 'चन्द्रगुप्त' और 'ध्रुवस्वामिनी'। 'स्कन्दगुप्त' में समृद्धि और ऐश्वर्य के शिखर पर आसीन गुप्त-साम्राज्य की उस स्थिति का चित्रण हुआ है, जहाँ आन्तरिक कलह, पारिवारिक संघर्ष और विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप उसके भावी क्षय के लक्षण प्रकट होने लगे थे। विषय और रचना-शिल्प दोनों ही दृष्टियों से यह प्रसाद का सर्वश्रेष्ठ नाटक माना जाता है। भारतीय और पाश्चात्य नाटक-पद्धतियों का इतना सुन्दर समन्वय उनके अन्य किसी नाटक में नहीं मिलता। स्कन्दगुप्त और देवसेना के चरित्र पाठकों पर अपनी अमिट छाप छोड़ जाते हैं। 'चन्द्रगुप्त' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें विदेशियों से भारत के संघर्ष और उस संघर्ष में अन्ततः भारत की विजय की थीम उठायी गयी है। प्रसाद के मन में भारत की पराधीनता को लेकर गहरी व्यथा थी; और ऐसा लगता है जैसे उन्होंने इस ऐतिहासिक प्रसंग के माध्यम से अपने इच्छित विश्वास को वाणी दी हो। इस दृष्टि से 'चन्द्रगुप्त' की कथा-वस्तु 'स्कन्दगुप्त' से भी उदात्त है। चाणक्य, चन्द्रगुप्त, मालविका, कार्नेलिया आदि के रूप में उन्होंने अनेक प्रभावशाली चरित्र हमें दिये हैं। पर शिल्प की दृष्टि से यह अपेक्षाकृत शिथिल कृति है—इसकी कथा में वह संगठन, सन्तुलन और एकतानता नहीं है जो 'स्कन्दगुप्त' में है। अंकों और दृश्यों का विभाजन भी असंगत है। नाटकीय अन्वितियों की अवहेलना 'चन्द्रगुप्त' में सीमातिक्रमण कर गयी है। फिर भी, 'चन्द्रगुप्त' हिन्दी की एक श्रेष्ठ नाट्य-कृति है—प्रसाद की प्रतिभा ने इसकी त्रुटियों को ढँक दिया है।

प्रसाद के नाटकों में 'ध्रुवस्वामिनी' का विशिष्ट स्थान है। यद्यपि यह भी मूलतः ऐतिहासिक नाटक है और इतिहास की एक अत्यन्त नाजुक घड़ी का चित्रण इसमें हुआ है. पर इसका विशेष महत्त्व 'समस्या-नाटक' के रूप में है। इसमें तलाक और पुनर्विवाह की समस्या को बड़े कौशल से उठाया गया है। प्रसाद के समय तक यूरोप में समस्या-नाटकों का प्रचलन काफ़ी हो गया था और प्रसाद जी इनसे प्रभावित हुए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस समय तक लक्ष्मीनारायण मिश्र के समस्या-नाटक भी प्रकाश में आने लगे थे; और 'ध्रुवस्वामिनी' से पता चलता है कि प्रसाद कितने युगधर्मी थे। 'कामना' और 'एक घूँट' भी उनके उल्लेखनीय नाटक हैं। 'कामना' संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली का अन्यापदेशिक नाटक है। इसमें विभिन्न मनोविकारों को प्रतीक-रूप में रंगमंच पर उपस्थित किया गया है और उनके कार्यकलापों द्वारा मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास की कथा प्रस्तुत की गयी है। यद्यपि नाट्य-शिल्प की दृष्टि से इसे विशेष महत्त्व नहीं दिया जा सकता, पर इससे प्रसाद की प्रयोगधर्मिता का पता तो चलता ही है। 'एक घूँट' भी विषय की दृष्टि से 'अन्यापदेशिक' है, पर इसका विशेष महत्त्व इसके एकांकी होने में है। समूचे नाटक में एक अंक और एक दृश्य है। यद्यपि आधुनिक एकांकी की एकलक्ष्यता, तीव्रता और यथार्थ-बोध का इसमें नितान्त अभाव है, पर नाट्य-शिल्प की दिशा में प्रसाद जी का यह प्रयोग उपेक्षणीय नहीं माना जा सकता।

प्रसाद के नाटकों के अवलोकन से यह तथ्य बड़े स्पष्ट रूप में सामने आता है कि वे हर श्रेष्ठ लेखक की तरह प्रयोगधर्मी थे। उन्होंने कभी भी अपने आप को दुहराया नहीं। उनके आरम्भिक नाटक, जिनका लेखन काल १९१० से १९१५ ई० है, उनकी प्रयोगधर्मिता के प्रमाण हैं। प्रसाद को जब इन नाटकों से सन्तोष नहीं हुआ तो उन्होंने अपने परवर्ती नाटकों में विषय और शिल्प दोनों क्षेत्रों में निरन्तर प्रयोग किये। प्रसाद को रंगमंच नहीं [illegible] इस कारण उनके शिल्पविषयक प्रयोग अन्त तक पूर्णतः व्यावहारिक नहीं बन सके।

फिर भी, उन्होंने हिन्दी-नाटक को उत्कर्ष प्रदान किया और रंगमंच को चुनौती दी। सम्भव है, हिन्दी का भावी रंगमंच प्रसाद के नाटकों के सफल और प्रभावशाली मंचन में समर्थ हो सके।

विवेच्य काल के परवर्ती नाटककारों में हरिकृष्ण 'प्रेमी' और लक्ष्मीनारायण मिश्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी" ने इस अवधि में 'स्वर्णविहान' (१९३०), 'रक्षाबन्धन' (१९३४), 'पाताल विजय' (१९३६), 'प्रतिशोध' (१९३७), 'शिवासाधना' (१९३७) आदि नाटक लिखे। इनमें 'स्वर्णविहान' गीतिनाटक है, शेष गद्य-नाटक। प्रेमी जी के नाटक प्रसाद के नाटकों की तरह ही ऐतिहासिक हैं, यद्यपि दोनों के लक्ष्य और काल-खण्ड के चुनाव में बहुत अन्तर है। प्रेमी जी ने भारतीय इतिहास के मुस्लिम-काल को अपने नाटकों का आधार बनाया और हिन्दू-मुस्लिम-एकता के प्रतिपादन पर उनका विशेष बल रहा। यह स्मरणीय है कि १९३० ई० तक हिन्दू-मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक संघर्ष राष्ट्रीय जीवन की एक चिन्ताजनक समस्या बन चुका था और एक ओर राजनीतिक मंच से महात्मा गांधी तथा दूसरी ओर साहित्यिक मंच से प्रेमचन्द आदि इस समस्या के समाधान में लगे हुए थे। प्रेमी जी ने हिन्दू-मुसलमानों की सांस्कृतिक एकता पर बल दिया और उदार प्रकृति के हिन्दू-मुसलमान ऐतिहासिक पात्रों के जीवन के मार्मिक प्रसंगों को जीवन्त नाट्य-दृश्यों के रूप में प्रस्तुत कर हिन्दू-मुसलमान-हृदयों को एक-दूसरे के निकट लाने का प्रयास किया। उनके नाटक राष्ट्रीयता और देश-प्रेम के भावों से ओतप्रोत हैं और इस रूप में अपने युग के सच्चे प्रतिनिधि हैं।

प्रेमी जी के समसामयिक नाटककारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र ने इस अवधि में 'अशोक' (१९२७), 'सन्यासी' (१९२९), 'मुक्ति का रहस्य' (१९३२), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३२), 'राजयोग' (१९३४), 'सिन्दूर की होली' (१९३४), 'आधी रात' (१९३४) आदि नाटकों की रचना की। प्रसाद से सर्वथा भिन्न मार्ग पर चलकर उन्होंने हिंदी-नाटक-साहित्य को नया मोड़ दिया। 'सन्यासी' की भूमिका में उन्होंने लिखा है: "इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं।" यह स्पष्टतः प्रसाद-साहित्य के प्रति प्रतिक्रिया थी। जब प्रतिक्रिया का यह दौर समाप्त हुआ तो मिश्र जी ने भी इतिहास पर आधृत नाटक लिखे, पर १९३८ ई० तक उनका विद्रोही रूप ही प्रधान रहा। उनका पहला नाटक 'अशोक' द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद के नाटकों की परम्परा में लिखा गया था, किन्तु परवर्ती नाटकों में उनकी शैली सर्वथा भिन्न है। सत्य तो यह है कि उनके 'सन्यासी' नाटक के साथ हिन्दी-नाटक के विषय और शिल्प दोनों में बदलाव आया। 'संन्यासी' में राष्ट्र और अपनी संस्कृति के गौरव-बोध की प्रेरणा मुख्य रही है—इसमें विदेशी शासकों की धोखाधड़ी, गांधी जी के असहयोग, रौलट ऐक्ट, पंजाब हत्याकाण्ड आदि से उत्पन्न स्थितियों का चित्रण है। वैसे, 'संन्यासी' से 'आधी रात' तक अपने सभी नाटकों में उन्होंने सामाजिक समस्याओं को—विशेषकर नारी-समस्याओं को—आधार बनाया है। अपने नाटकों की विषयवस्तु के लिए उन्होंने इतिहास के पृष्ठों में नहीं, समाज के विस्तृत आँगन में झाँका और समसामयिक समाज में विशेष रूप से नारी की स्थिति और उसकी समस्याओं को अपने दृष्टिकोण से चित्रित किया। स्त्री-शिक्षा के प्रचार, नारी-स्वातन्त्र्य-आन्दोलन तथा नवीन जीवन-दर्शन के फलस्वरूप आधुनिक नारी का ऐसा रूप सामने आया जिससे हमारा समाज अब तक अपरिचित था। प्रेम और विवाह, प्रणय और दाम्पत्य, काम और नैतिकता विषयक अनेक समस्याएँ समाज के समक्ष सहसा उपस्थित

है। मिश्र जी ने इन समस्याओं को उठाते समय सामाजिक वैषम्य की पृष्ठभूमि में और पुरुष के सम्बन्धों का चित्रण किया। उन्होंने प्रेम, विवाह और शिक्षा-सम्बन्धी ओं के समाधान के लिए बुद्धिवादी दृष्टिकोण का आग्रह रखा। प्रसाद के नाटकों में जहाँ तावादी प्रवृत्ति का प्राधान्य था वहाँ मिश्र जी के नाटकों में बौद्धिकता का समावेश समकालीन और परवर्ती आलोचकों ने इसे इब्सन और शॉ के नाटकों के प्रभाव का सिद्ध किया है, यद्यपि स्वयं मिश्र जी ने इस प्रभाव का बार-बार खण्डन किया है। अपने नाटकों की मूल प्रेरणा प्राचीन संस्कृति के गौरव-बोध, पूर्वजों के प्रति निष्ठा मानी है। इसलिए यद्यपि उनके नाटकों की नारियाँ अपने काम-सम्बन्धों में स्वतन्त्रता बरतती हैं और इस कारण उनका चरित्र पहली दृष्टि में भारतीय ओं के प्रतिकूल दीख पड़ता है, पर गहराई में जाकर देखने से विदित होता है कि जीवन-दृष्टि मूलतः भारतीय है। 'मुक्ति का रहस्य' में पश्चिम के उन्मुक्त प्रेम पर दाम्पत्य-विधान की विजय और 'सिन्दूर की होली' में विधवा-विवाह एवं नारी के प्रति मनोरमा के दृष्टिकोण से इस कथन की पुष्टि होती है। सहशिक्षा और शिक्षा का स्थान-स्थान पर विरोध भी मिश्र जी को परम्परावादी सिद्ध करता परिणाम यह हुआ है कि कहीं-कहीं उनके विचारों में अन्तर्विरोध पैदा हो गया नगेन्द्र ने ठीक ही लिखा है: "कहीं व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सिफ़ारिश है, कहीं को विश्व में लय कर देने की।"[1]

मिश्र जी ने नाट्यशास्त्र की दिशा में भी अनेक मौलिक एवं क्रान्तिकारी प्रयोग । उनके सभी नाटक तीन अंकों के हैं और अंकों का विभाजन दृश्यों में नहीं किया । उस समय के हिन्दी-नाटककार, द्विजेन्द्रलाल राय के माध्यम से, शेक्सपियर के ने बुरी तरह आक्रान्त थे; यद्यपि अँगरेजी में तब तक इब्सन, शॉ आदि के यथार्थ नाटकों का खूब प्रचलन हो चुका था। मिश्र जी ने स्वयं पर पाश्चात्य प्रभाव को स्वीकार किया है, और सम्भव है उनके विषय-प्रतिपादन पर पश्चिम का प्रभाव है, पर उनके नाटकों के शिल्प-विधान पर अँगरेज़ी के यथार्थवादी नाटकों का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप में अवश्य पड़ा था। उनके नाटकों में उसी प्रकार विशुद्ध गद्य का हुआ है, जैसे बर्नार्ड शॉ के नाटकों में। नाटकीय अन्वितियों के निर्वाह में भी वे र प्रसाद की अपेक्षा अधिक सतर्क हैं, जो सम्भवतः पश्चिमी प्रभाव ही है। मिश्र र पश्चिमी प्रभाव के सम्बन्ध में तथ्य चाहे जो हो—प्रभाव हेय नहीं होता—किन्तु स्पष्ट है कि हिन्दी-नाटक को नयी दिशा और नयी शक्ति देनेवालों में प्रसाद के बाद स्थान प्रमुख है।

उपर्युक्त प्रमुख नाटककारों के अतिरिक्त आलोच्य युग में जिन अन्य लेखकों ने रचना की, उनका नाटक-साहित्य गुण की दृष्टि से बहुत समृद्ध न होने पर भी की दृष्टि से ध्यान आकृष्ट करता है। सबसे अधिक संख्या धार्मिक-पौराणिक और नाटकों की है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत अम्बिकादत्त त्रिपाठी-कृत 'सीय-स्वयंवर (१९१८), रामचरित उपाध्याय-कृत 'देवी द्रौपदी' (१९२१), रामनरेश त्रिपाठी- ' (१९२४) तथा 'जयन्त' (१९३४), गंगाप्रसाद अरोड़ा-कृत 'सावित्री-सत्यवान'), गौरीशंकर प्रसाद-कृत 'अजामिलचरित नाटक' (१९२६), परिपूर्णानन्द वर्मा-

---

हिन्दी नाटक, पृष्ठ ४४

कृत 'वीर अभिमन्यु नाटक' (१९२६), वियोगी हरि-कृत 'छद्मयोगिनी' (१९२८) और
यामुन अथवा यामुनाचार्य चरित' (१९२९), गोकुलचन्द वर्मा-कृत 'जयद्रथ-वध' (
कैलाशनाथ भटनागर-कृत 'भीष्म प्रतिज्ञा' (१९३४), लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत '
(१९३४), जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी-कृत 'तुलसीदास' (१९३४), हरिऔध-कृत '
विजय व्यायोग' (१९३६) और 'रुक्मिणी परिणय' (१९३७), सेठ गोविन्ददास-
'कर्त्तव्य' (१९३६), किशोरीदास वाजपेयी-कृत 'सुदामा' (१९३४) आदि उल्लेखनीय
यों राम, कृष्ण, प्रह्लाद, सुदामा आदि पौराणिक चरित्रों को आधार बनाकर
नाटकों की संख्या शताधिक है। ये नाटक पौराणिक आख्यानों पर आवृत होने
राष्ट्र-गौरव और समसामयिक राष्ट्रीय चेतना से युक्त हैं। बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत '
ईसा' की गणना भी इसी प्रकार के नाटकों में होगी, यद्यपि न यह पौराणिक है और
अर्थों में धार्मिक। इसमें ईसा मसीह के चरित्र को भारतीय संस्कृति की कड़ी के
प्रस्तुत किया गया है – ईसा मसीह जातिविशेष के धार्मिक नेता न रहकर मानव
नेता के रूप में सामने आये हैं।

इस काल की गौण ऐतिहासिक नाट्यकृतियों में गणेशदत्त इन्द्र-कृत '
संग्रामसिंह' (१९२१), भँवरलाल सोनी-कृत 'वीर कुमार छत्रसाल' (१९२३),
भण्डारी-कृत 'सम्राट् अशोक' (१९२३), प्रेमचन्द-कृत 'कर्बला' (१९२८),
शास्त्री-कृत 'जयश्री' (१९२४), बदरीनाथ भट्ट-कृत 'दुर्गावती' (१९२५) और '
(१९२८), जिनेश्वरप्रसाद मायल-कृत 'भारत गौरव अर्थात् सम्राट् चन्द्रगुप्त' (
दशरथ ओझा-कृत 'चित्तौड़ की देवी' (१९२८) और प्रियदर्शी सम्राट् अशोक (
जगन्नाथशरण-कृत 'कुरुक्षेत्र' (१९२८), लक्ष्मीनारायण गर्ग-कृत 'महाराणा
(१९२९), नत्थीमल उपाध्याय बेचैन कृत 'अत्याचारी औरंगज़ेब' (१९२९), जगन्नाथ
मिलिन्द-कृत 'प्रताप-प्रतिज्ञा' (१९२९), चतुरसेन शास्त्री कृत 'उत्सर्ग' (१९२९)
'अमर राठौर' (१९३३), उदयशंकर भट्ट-कृत 'विक्रमादित्य' (१९२९), और 'दाहर
सिन्ध पतन' (१९३३), द्वारिकाप्रसाद मौर्य-कृत 'हैदरअली या मैसूर-पतन' (
घनीराम प्रेम-कृत 'वीरांगना पन्ना' (१९३४), जगदीश शास्त्री-कृत 'तक्षशिला' (
उमाशंकर शर्मा-कृत 'महाराणा प्रताप' आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इनमें से
कृतियों को ऐतिहासिक घटनाओं का वार्त्तालाप-रूपान्तर मात्र कहा जा सकता है—
स्थितियों के सर्जन के लिए जिस कल्पना-शक्ति, मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ और
अपेक्षा होती है, वह अधिकांश नाटककारों के पास नहीं है। शिल्प की दृष्टि से
प्रायः सभी लेखकों ने पारसी नाटक-कम्पनियों, द्विजेन्द्रलाल राय और प्रसाद में से
किसी का अनुकरण किया है।

पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के साथ-साथ विवेच्य अवधि में अनेक
नाटकों की भी रचना हुई, जिनमें विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'-कृत 'अत्याचार का
णाम' (१९२१) और 'हिन्दू विधवा नाटक' (१९३५), प्रेमचन्द-कृत 'संग्राम' (
ईश्वरीप्रसाद शर्मा-कृत 'कृषक दुर्दशा' (१९२२), सुदर्शन-कृत 'अंजना' (१९२३),
मैजिस्ट्रेट' (१९२६) और 'भाग्यचक्र' (१९३७); गोविन्दवल्लभ पन्त-कृत '
खोपड़ी' (१९२३), और 'अंगूर की बेटी' (१९३७), रामेश्वरी प्रसाद 'राम'-कृत '
नाटक' (१९२६) बैजनाथ चावलवाला-कृत 'भारत का आधुनिक समाज' (
छविनाथ पाण्डेय-कृत 'समाज' (१९२९), केदारनाथ बजाज-कृत 'बिलखती

), जमुनादास मेहरा-कृत 'हिन्दू कन्या' (१९३२); महादेवप्रसाद शर्मा-कृत 'समय बलदेवप्रसाद मिश्र-कृत 'विचित्र-विवाह' (१९३२) और 'समाज सेवक' (१९३३), चौधरी-कृत 'अछूत की लड़की या समाज की चिनगारी' (१९३४), महावीर 'परदा' (१९३६), बेचन शर्मा 'उग्र'-कृत 'चुम्बन' (१९३७) और 'डिक्टेटर'), रघुवीरस्वरूप भटनागर-कृत 'समाज की पुकार' (१९३७), अमर विशारद-कृत वक' (१९३७), चन्द्रिकाप्रसाद सिंह-कृत 'कन्या-विक्रय या लोभी पिता' (१९३७) ल्लेख के योग्य हैं। यद्यपि नाट्यकला की दृष्टि से ये कृतियाँ उच्च कोटि की नहीं इनमें एक प्रकार की सामाजिक चेतना की झलक मिलती है जिससे स्पष्ट होता है युग के नाटककार जीवन के यथार्थ के निकट आने का प्रयत्न कर रहे थे।

नाट्यकला की दृष्टि से तो नहीं, पर साहित्यिक दृष्टि से इस अवधि में छिटपुट लिखे गये 'अन्यापदेशिक' नाटक—डॉ० नगेन्द्र के अनुसार नाट्यरूपक—भी महत्त्वपूर्ण र की 'कामना' के पश्चात् सुमित्रानन्दन पन्त-कृत 'ज्योत्स्ना' (१९३४) इस शैली नीय प्रतीकात्मक रचना है जिसमें संसार में सर्वत्र फैली अशान्ति, हिंसा, संघर्ष दूर करने लिए रूमानी ढंग का समाधान प्रस्तुत किया गया है। कार्य, संघर्ष, विकास आदि के अभाव में नाटक के रूप में इस कृति का विशेष महत्त्व नहीं है, यद्यपि की कल्पना-क्षमता और कवित्व का परिचय इसमें अच्छा मिलता है। इस युग में गीतिनाट्य भी लिखे गये जिनमें मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (१९२८), हरिकृष्ण का 'स्वर्ण-विहान' (१९३०), भगवतीचरण वर्मा का 'तारा', उदयशंकर भट्ट के त्वा' (१९३७) और 'विश्वामित्र' (१९३८) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें 'अनघ' र्ण-विहान' गीतिनाट्य-कला की दृष्टि से हीन कोटि के हैं, पर 'तारा' सफल गीति- है। भट्ट जी के गीतिनाट्यों में कवित्व के साथ नाटकीय संघर्ष और प्रतीकात्मकता र समन्वय मिलता है—वस्तुतः इस काल में इस नाट्यरूप के सर्वप्रमुख लेखक भट्टजी विवेच्य काल में कुछ ऐसे नाटक भी लिखे गये जिनमें गद्य में लिखे जाने पर भी की प्रधानता है। डॉ० नगेन्द्र ने इन्हें 'भावनाट्य' की संज्ञा दी है। इनमें गोविन्द- का 'वरमाला' तथा उदयशंकर भट्ट का 'विद्रोहिनी अम्बा' (१९३५) प्रमुख अवधि में जी० पी० श्रीवास्तव (गंगाप्रसाद श्रीवास्तव) ने हास्य-व्यंग्यप्रधान नाटक जिनमें सामाजिक और व्यक्तिगत चारित्रिक विसंगतियों पर प्रकाश डाला गया है। हिन्दी-नाटकों में हास्यपूर्ण दृश्यों का समावेश प्रायः होता था, पर शुद्ध हास्य-नाटक तक कम ही लिखे गये थे। जी० पी० श्रीवास्तव ने 'दुमदार आदमी' (१९१९), (१९१९), 'नाक में दम उर्फ़ जवानी बनाम बुढ़ापा उर्फ़ मियाँ की जूती मियाँ (१९२६), 'मूलचूक' (१९२८), 'चोर के घर छिछोर' (१९३३), 'चाल बेढब'), 'साहित्य का सपूत' (१९३४), 'स्वामी चौखटानन्द' (१९३६) आदि नाटकों की। इन नाटकों का दोष इनकी स्थूलता और अनगढ़पन है, यद्यपि इनके द्वारा की पूर्ति अवश्य हुई।

प्रस्तुत सन्दर्भ में उन नाटककारों का उल्लेख भी अपेक्षित है जो पारसी नाटक- नियों से सम्बद्ध थे और तत्कालीन लोकरुचि को ध्यान में रखकर सामाजिक, ऐतिहासिक पौराणिक नाटकों की रचना तथा उनके प्रदर्शन में योग देते थे, अथवा इन नाटक- नियों से सम्बद्ध न होने की स्थिति में इनके द्वारा अभिनीत नाटकों के अनुकरण पर की रचना करते थे। ऐसे नाटककारों में सैयद अकबर हुसेन 'आरज़ू', मुंशी अब्दुल

समी 'आरज़ू', आनन्दप्रकाश कपूर, कन्हैयालाल मिश्र 'तसव्वुर', किशनचन्द जेबा, जमु मेहरा, जलाल अहमदशाह, तुलसीदत्त शैदा, दुर्गाप्रसाद गुप्त, नारायणप्रसाद बेताब, प्रसाद खरे, बलदेवप्रसाद मिश्र, आग़ा मुहम्मदशाह हश्र काश्मीरी, मुंशी मेहदीहसन राधेश्याम कथावाचक, शिवनाथ शर्मा, शिवरामदास गुप्त, श्रीकृष्ण हसरत, सुवर्णसिं आदि प्रमुख थे। इन लेखकों ने सैकड़ों की संख्या में पौराणिक, सामाजिक तथा ऐतिहा नाटक लिखे जिनमें से अनेक पारसी-रंगमंच तथा उससे प्रभावित व्यावसायिक मण्डलियों द्वारा खेले भी गये। इनकी विशेषता यह है कि रंगमंच से सम्बद्ध होने के ये सर्वथा अभिनेय हैं, किन्तु ये नाटक साहित्यिक गुणों से रहित हैं और तत्कालीन जनरुचि के अनुगमन के कारण हिन्दी-नाट्यसाहित्य की समृद्धि में इनका योग महत्त्वपूर्ण बन पाया है।

कुल मिलाकर इस काल के नाट्यसाहित्य को अन्य विधाओं की तुलना में पिछड़ा हुआ नहीं माना जा सकता। जयशंकर प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र की कृतियाँ निस्सन्देह गौरवास्पद हैं। यदि हिन्दी के पास अव्यावसायिक रंगमंच होता तो युग का नाट्यसाहित्य और भी समृद्ध होता, इसमें कोई सन्देह नहीं।

एकांकी नाटक

हिन्दी में एकांकी नाटकों का प्रचलन विशेष रूप से विवेच्य काल के अन्तिम वर्षों में ही हुआ, यों आरम्भ से ही एकांकी लिखने के छिटपुट प्रयास होने लगे थे। उदाह स्वरूप महेशचन्द्र प्रसाद के 'भारतेश्वर का सन्देश' (१९१८) शीर्षक पद्यबद्ध एकां देवीप्रसाद गुप्त के 'उपाधि और व्याधि' (१९२१) तथा रूपनारायण पाण्डेय द्वारा अमूल्य नाग के बँगला-नाटक 'प्रायश्चित्त' के आधार पर लिखित 'प्रायश्चित्त प्रहसन' (१९ का उल्लेख किया जा सकता है। ब्रिजलाल शास्त्री-कृत 'वीरांगना' (१९२३) में 'पद्मि तीन क्षत्राणियाँ', 'पन्ना', 'तारा', 'कमल', 'पद्मा', 'कोड़मदेवी', 'किरणदेव' प्रभृति एकां संगृहीत हैं। बदरीनाथ भट्ट के एकांकी-संग्रह 'लवड़ धों धों' (१९२६) में मनोरंजक प्रह संकलित हैं। हनुमान शर्मा-कृत 'मान-विजय' (१९२६), बेचन शर्मा 'उग्र' के एकांकी प्रहसनों का संग्रह 'चार बेचारे' (१९२९) और प्रसाद का 'एक घूंट' (१९३०) भी इ काल की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। उग्र जी ने समसामयिक परिस्थितियों का व्यंग्यपूर्ण ढं में निर्मम विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि एकांकी-रूप नाटकों की रचना बहुत पहले होने लगी थी। सच पूछें तो यह विधा हमारे लिए बिलकु नयी नहीं थी। संस्कृत में 'अंक', 'व्यायोग', 'भाण', 'वीथी' आदि एक अंकवाले नाटकों प्रचलन था, किन्तु इस विधा को विशेष महत्त्व पश्चिम में मिला। संस्कृत में रूपक के इ भेदों को गौण माना गया और इनका विशेष साहित्य भी उपलब्ध नहीं है। पर पश्चिम सम्भवतः आधुनिक जीवन की व्यस्तता और संघर्षमयता के फलस्वरूप, एकांकी नाट का पुनर्जन्म-सा हुआ। संकलनत्रय और संघर्षमय कार्य-व्यापार के योग से एकां नाटक नये युग के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुए। हिन्दी में पश्चिमी ढंग के एकांकी नाटकों प्रणयन १९३० ई० के बाद के दशक में हुआ। इस क्रम में रामकुमार वर्मा के 'बादल मृत्यु' (१९३०) शीर्षक एकांकी के पश्चात् भुवनेश्वरप्रसाद (जन्म १९१०) का 'कारवाँ (१९३५) नामक एकांकी संग्रह उल्लेखनीय है जिसमें 'श्यामा', 'एक साम्यहीन साम्यवादी', 'शैतान', 'प्रतिमा का विवाह', 'लाटरी' आदि एकांकी संगृहीत थे। इनमें भुवनेश्वरप्रसा

आसपास की ज़िन्दगी की अनेक परतों को उघाड़कर देखने का प्रयास किया। टकों में भावुकता के दर्शन नहीं होते, वे निर्मम भाव से जीवन के प्रश्नों से जूझते ीक की दृष्टि से भी ये एकांकी पग-पग पर ध्यान आकृष्ट करते हैं। इनकी भाषा ंजना तथा वक्रोक्ति से—जो कभी-कभी बर्नार्ड शॉ के प्रभाव से आयी जान पड़ती त है। इस प्रकार भुवनेश्वरप्रसाद ही हिन्दी के पहले महत्त्वपूर्ण आधुनिक एकांकी- े जा सकते हैं, यद्यपि तिथि-क्रम की दृष्टि से रामकुमार वर्मा का 'बादल की मृत्यु' कांकी ठहरता है।

आलोच्य युग के अन्य एकांकीकारों में गणेशप्रसाद द्विवेदी, जगदीशचन्द्र माथुर, र भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्ददास आदि प्रमुख हैं। द्विवेदी जी के एकांकी- ोहागबिन्दी तथा अन्य नाटक' (१९३५) के अतिरिक्त उदयशंकर भट्ट के 'दुर्गा') और 'एक ही क़ब्र में' (१९३६) शीर्षक एकांकी; सेठ गोविन्ददास का 'स्पर्द्धा') शीर्षक एकांकी, जगदीशचन्द्र माथुर के 'मेरी बाँसुरी' (१९३६) और 'भोर का (१९३७) शीर्षक एकांकी और भगवतीचरण वर्मा का एकांकी 'सबसे बड़ा आदमी') विशेष लोकप्रिय हुए। १९३८ ई० में उदयशंकर भट्ट ने 'आधुनिक एकांकी नाटक े और उपेन्द्रनाथ अश्क ने 'छः एकांकी' शीर्षक से दो एकांकी-संकलन प्रकाशित आधुनिक एकांकी नाटक' में 'राजपूत की हार' (सुदर्शन), 'दस मिनट' (रामकुमार स्ट्राइक' (भुवनेश्वरप्रसाद), 'लक्ष्मी का स्वागत' (अश्क), 'सबसे बड़ा आदमी' चरण वर्मा), 'दीवू' (धर्मप्रकाश आनन्द) और 'दस हज़ार' (उदयशंकर भट्ट) एकांकी संकलित हैं तथा 'छः एकांकी' में 'लक्ष्मी का स्वागत' (अश्क), 'उस पार' कान्त वर्मा), 'स्ट्राइक' (भुवनेश्वरप्रसाद), 'टकराहट' (जैनेन्द्रकुमार), 'कामरेड' प्रसाद द्विवेदी) आदि एकांकियों को स्थान प्राप्त हुआ है। इससे स्पष्ट है कि आलोच्य न कुछ प्रमुख एकांकी नाटकों की रचना हो चुकी थी जिनमें से अधिकांश की गणना ी हिन्दी के प्रतिनिधि एकांकियों में की जाती है। यह उल्लेखनीय है कि उपेन्द्रनाथ (जन्म १९१०) के एकांकी नाटकों में मध्यवर्गीय जीवन अपनी विशेष भंगिमा, ओं और तल्खियों के साथ उभरा है। हास्य और व्यंग्य की छटा उनके एकांकियों स्थान पर बिखरी दिखायी देती है। रंगमंच से घनिष्ठ परिचय होने के कारण एकांकी अभिनय की दृष्टि से बहुत सफल रहे हैं। उदयशंकर भट्ट के एकांकी भी क जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालते हैं। जगदीशचन्द्र माथुर (जन्म १९१७) नाओं में कथन का बाँकपन, विशिष्ट मनःस्थितियों की पकड़ और रंगमंचीय निष्ठा ी पड़ती है। गणेशप्रसाद द्विवेदी के एकांकियों में स्त्री-पुरुष के भावुकतापूर्ण आकर्षण वाहिक वैषम्य का मनोवैज्ञानिक धरातल पर चित्रण हुआ है। पुरुष और नारी- के मनोविश्लेषण में उनकी रुचि विशेष रूप से दीख पड़ती है।

सन् १९३०-१९३८ के गौण एकांकी नाटकों में राधाकृष्ण मिश्र का 'किरानी का (१९३१), गंगाप्रसाद श्रीवास्तव का 'मिट्टी का शेर' (१९३४), केदारनाथ मिश्र का 'तरुण भारत' (१९३४), कुँवर बहादुर का 'प्रजातन्त्र की एक झलक' (१९३५), वली 'कमलेश' का 'सूर्योदय अर्थात् अछूतोद्धार' (१९३५), सत्येन्द्र का 'कुणाल'), व्यथित हृदय का 'पुण्यफल' (१९३७), इन्द्र बसावड़ा का 'बड़े म्याँ' (१९३८), र हृदय का 'प्राणदान' (१९३८) आदि भी उल्लेखनीय हैं।

इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल के उत्तरार्द्ध

में ही एकांकी नाटकों का सही अर्थों में उद्‌भव और विकास हुआ। वस्तुतः यह एकां शैशव-काल था, परवर्ती युग के प्रसिद्ध एकांकीकार—रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ भुवनेश्वरप्रसाद, जगदीशचन्द्र माथुर आदि—इसी काल में उभरे थे।

उपन्यास

हिन्दी-उपन्यास-साहित्य के सन्दर्भ में आलोच्य युग को 'प्रेमचन्द-युग' की संज्ञा निर्विवाद रूप में मिल चुकी है क्योंकि 'सेवासदन' (१९१८) का प्रकाशन न केवल प्रे (१८८०-१९३६) के साहित्यिक जीवन की, वरन् हिन्दी-उपन्यास की भी एक महत्‍ घटना थी। 'सेवासदन' पूर्ववर्ती कथा-साहित्य का अभूतपूर्व विकास था—इसके पहले साहित्य में या तो अजीबोग़रीब घटनाओं के द्वारा कुतूहल और चमत्कार की सृष्टि थी अथवा आर्यसमाज और तत्समान अन्य सामाजिक आन्दोलनों से प्रभावित समाज-सु का प्रचार ही उसकी उपलब्धि रह गयी थी; जीवन की सही अभिव्यक्ति का साधन ब बन पाया था। देवकीनन्दन खत्री, गोपालराम गहमरी, हरिकृष्ण जौहर आदि पहली के कथाकार थे तो गौरीदत्त, श्रद्धाराम फिल्लौरी, श्रीनिवासदास, बालकृष्ण भट्ट, लज्जाराम शर्मा, ब्रजनन्दन सहाय आदि दूसरी कोटि के। किशोरीलाल गोस्वा स्थिति कुछ-कुछ बीच की थी, यद्यपि उनका झुकाव भी 'मनोरंजन' की ओर ही था। उस काल के केवल एक उपन्यासकार भुवनेश्वरप्रसाद मिश्र की रचना-दृष्टि समकालीनों से भिन्न थी, 'मनोरंजन' और 'प्रचार' से ऊपर उठकर उन्होंने उपन्या जीवन की अभिव्यक्ति के साधन के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया—'घराऊ (१८९३) और 'बलवन्त भूमिहार' (१८९६) ऐसी ही कृतियाँ थीं। वैसे, प्रेमचन्द १९१८ ई० के पूर्व उर्दू में कई उपन्यासों की रचना की थी जिनमें से 'प्रेमा अर्थात् दो का विवाह' ('हमखुर्मा व हमसवाब' का रूपान्तर) १९०७ ई० में हिन्दी में प्रका हो चुका था। उनके अन्य आरम्भिक उपन्यास 'असरारे मआबिद उर्फ़ देवस्थान र 'किसना', 'रूठी रानी', 'जलवए ईसार' आदि थे। इनमें प्रेमचन्द ने भी उपन्यास को रंजन से ऊपर उठाकर जीवन के सीधे सम्पर्क में लाने का प्रयत्न किया था। उन्होंने समाज से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की थीं, पर उनकी अपनी विशिष्ट जीवन-दृष्टि भी हो चुकी थी जो इन उपन्यासों में अभिव्यक्ति पाना चाह रही थी। किन्तु, हिन्दी में 'उप की कोई परम्परा न होने के कारण प्रेमचन्द को उसका समुचित ढाँचा (फ़ार्म) नहीं रहा था। सम्भवतः अपने लिए सही भाषा की तलाश भी वे नहीं कर पाये थे। परि इस काल में लिखित उनके सभी उपन्यास एक प्रतिभाशाली लेखक के 'बचकाने प्रयास' लगते हैं। 'सेवासदन' उनकी पहली प्रौढ़ कृति है जहाँ से उनके नये औपन्यासिक जीव ही नहीं, हिन्दी-उपन्यास के एक नये युग का भी प्रादुर्भाव हुआ।

'सेवासदन' के बाद प्रेमचन्द के 'प्रेमाश्रम' (१९२२), 'रंगभूमि' (१९२५), 'काया (१९२६), 'निर्मला' (१९२७), 'ग़बन' (१९३१), 'कर्मभूमि' (१९३३) और 'गो (१९३५) शीर्षक सात मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए। इस बीच उन्होंने अपने दो पु उर्दू-उपन्यासों को भी हिन्दी में रूपान्तरित और परिष्कृत करके प्रकाशित किया। ' ईसार' का रूपान्तर 'वरदान' १९२१ ई० में प्रकाशित हुआ तथा 'हमखुर्मा व हमसवा पूर्व-प्रकाशित हिन्दी-रूपान्तर 'प्रेमा अर्थात् दो सखियों का विवाह' को परिष्कृत कर 'प्रतिज्ञा' (१९२९) शीर्षक से सर्वथा नये रूप में प्रकाशित कराया। एक उल्लेखनीय

है कि आरम्भ में प्रेमचन्द अपने उपन्यास पहले उर्दू में लिखते थे और फिर स्वयं उनका -रूपान्तर करते थे। 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' और 'रंगभूमि' क्रमशः 'बाज़ारे हुस्न', ए आफ़िमत' और 'चौग़ाने हस्ती' नाम से उर्दू में लिखे गये थे, किन्तु प्रकाशित पहले ये में ही हुए। वैसे, मूल रूप से हिन्दी लिखित उनका पहला उपन्यास 'कायाकल्प' है— के बाद उन्होंने सभी उपन्यासों की रचना हिन्दी में ही की, उर्दू की बैसाखी की जरूरत अब नहीं रह गयी थी।

हिन्दी-उपन्यास को प्रेमचन्द की देन अनेकमुखी है। प्रथमतः उन्होंने हिन्दी-कथा- हित्य को 'मनोरंजन' के स्तर से उठाकर जीवन के साथ सार्थक रूप में जोड़ने का काम ा। चारों ओर फैले हुए जीवन और अनेक सामयिक समस्याओं—पराधीनता; ज़मींदारों, पतियों और सरकारी कर्मचारियों द्वारा किसानों का शोषण; निर्धनता, अशिक्षा, विश्वास, दहेज की कुप्रथा, घर और समाज में नारी की स्थिति, वेश्याओं की जिन्दगी, वृद्ध- ाह, विधवा-समस्या, साम्प्रदायिक वैमनस्य, अस्पृश्यता, मध्यम वर्ग की कुण्ठाएँ आदि — न्हें उपन्यास-लेखन के लिए प्रेरित किया था। प्रेमचन्द ने एक-एक कर बड़ी बेसब्री से समस्याओं और जीवन के विभिन्न पहलुओं को अपने उपन्यासों में स्थान दिया। सदन' में उनका ध्यान मुख्यतः विवाह से जुड़ी समस्याओं—तिलक-दहेज की प्रथा, ीनता का प्रश्न, विवाह के बाद घर में पत्नी का स्थान आदि —और समाज में वेश्याओं स्थिति पर रहा। 'निर्मला' में दहेज-प्रथा और वृद्ध-विवाह से होनेवाले पारिवारिक टन तथा विनाश का चित्रण है। कृषक-जीवन की समस्याओं के चित्रण का प्रथम प्रयास श्रम' में लक्षित हुआ और उसे पूर्णता प्राप्त हुई 'गोदान' में। वैसे, प्रेमचन्द ने मान्य से अपने प्रायः सभी उपन्यासों में और विशेष रूप से 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' में णों की स्थिति का चित्रण किया है; पर 'गोदान' को तो ग्रामीण जीवन और कृषि- संस्कृति का महाकाव्य ही कहा जा सकता है। ग्रामीण जीवन का इतना सच्चा, व्यापक र प्रभावशाली चित्रण हिन्दी के किसी अन्य उपन्यास में नहीं हुआ है, सम्भवतः वह संसार साहित्य में बेजोड़ है।

महात्मा गांधी से प्रभावित होने के कारण ही नहीं, अपनी मानवतावादी दृष्टि के रण भी देश की साम्प्रदायिक समस्या प्रेमचन्द की चिन्ता का मुख्य विषय थी। इस समस्या को 'सेवासदन' और विशेष रूप से 'कायाकल्प' में प्रस्तुत किया गया है। 'सेवासदन', रंगभूमि', 'प्रतिज्ञा', 'कर्मभूमि' और 'गोदान' में अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्न को उठाया या है। उच्चवर्गीय और मध्यमवर्गीय समाज में नारी की स्थिति तथा अपने अधिकारों के ति उसकी क्रमशः उभरती गयी जागरूकता तो प्रायः उनके सभी उपन्यासों में चित्रित है। विधवा-विवाह का प्रश्न 'प्रतिज्ञा' में उठाया गया है। मध्यम वर्ग की कुण्ठाओं का सबसे अच्छा चित्रण 'ग़बन' और 'निर्मला' में है, यद्यपि 'सेवासदन' और 'कर्मभूमि' में भी इसकी झलक देखी जा सकती है। समाज में हरिजनों की स्थिति और उनकी समस्याओं का चित्रण 'कर्मभूमि' में मिलता है। बड़े पैमाने पर फैलनेवाले उद्योग-धन्धों के फलस्वरूप ग्रामीण जीवन और पुराने मूल्यों में विघटन तथा पूंजीवाद के बढ़ते हुए प्रभाव का चित्रण 'रंगभूमि' में देखा जा सकता है। देश की पराधीनता के अहसास से पैदा हुआ दर्द 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'कायाकल्प', ग़बन' और 'कर्मभूमि' में स्थान-स्थान पर व्यक्त हुआ है। सामान्य जीवन की धड़कन तो उनके सभी उपन्यासों में मिलती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने किस्सागोई से बिलकुल ही नाता तोड़ लिया था, बल्कि यह कहना ज्यादा ठीक होगा

कि वे अन्त तक किस्सागोई से जुड़े रहे। यही कारण है कि उनके उपन्यासों को लोकप्रियता प्राप्त हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में देवकीनन्दन खत्री ने कौतूह त्पादक चौंकानेवाली नयी-नयी घटनाओं की सृष्टि करके कथा में रोचकता पैदा की जबकि प्रेमचन्द ने सहज-सामान्य मानवीय व्यापारों को मनोवैज्ञानिक स्थितियों से जोड़ उनमें एक सहज-तीव्र मानवीय रुचि पैदा कर दी। उनके आरम्भिक उपन्यासों में 'घटना की सृष्टि का भी प्रयास लक्षित होता है, पर धीरे-धीरे वे इस पुराने रोग से मुक्त होते और 'गोदान' में पहुँचकर उन्होंने किस्सागोई की उस कला को प्रस्तुत करने में सफ प्राप्त की जो 'घटनाओं' पर नहीं, मनोवैज्ञानिक स्थितियों से दीप्त सहज-सामान्य मानवी व्यापारों पर जीती है। उनका वैशिष्ट्य इस बात में निहित है कि उन्होंने साम समस्याओं को अपने उपन्यासों का आधार बनाने के बावजूद जीवन की सहज-सामान्य धा को उचित महत्त्व दिया। उनके उपन्यासों में समस्याओं और उनके आदर्शवादी समाधानों का महत्त्व उत्तरोत्तर कम होता गया और जीवनधारा की ताज़गी तथा यथार्थता क्रमशः प्रमुख तथा व्यापक होती गयी। अपने अन्तिम उपन्यास 'गोदान' में भी वे आदर्शों से मुक्त नहीं हो सके हैं, पर 'गोदान' में सामान्य जीवनधारा की अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। अपने अन्य उपन्यासों में भी उन्होंने समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की सामान्य ज़िन्दगी को उसकी सम्पूर्ण मार्मिकता में प्रस्तुत किया है। विशेषता यह है कि सामान्य ज़िन्दगी के ये ब्योरे मनोवैज्ञानिक स्थितियों से संकलित हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में जीवन का गहरा और व्यापक अनुभव तथा तीव्र संवेदना विद्यमान है।

प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में समाज के विभिन्न वर्गों का चित्रण किया है। इनमें सबसे प्रमुख वर्ग है किसानों का, जो मुख्यतः गाँवों में रहता था और समूची आबादी का लगभग ८५ प्रतिशत था। इसके बाद उन्होंने मध्यवर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया। अभिजात वर्ग और नागरिक जीवन का चित्रण उन्होंने बहुत कम किया है; और जहाँ ऐसे स्थल आये हैं वहाँ उनका मन रमा नहीं है। 'गोदान' में नागरिक जीवन के चित्रण की सम्भावनाएँ तो थीं, किन्तु उसका प्रामाणिक और पर्याप्त चित्रण वहाँ भी नहीं है। उपन्यास में कुछ नागरिक पात्रों के दर्शन अवश्य होते हैं, पर वे किसी विशेष अर्थ में नागरिक जीवन का प्रतिनिधित्व नहीं करते। नगर-जीवन की विशेषताओं—जैसे कोलाहल, दौड़-धूप, तंगी, भीड़, घुटन, गन्दगी, बेकारी, होटल, रेस्तराँ, शुष्क औपचारिकता, भयानक जीवन-संघर्ष आदि का बहुत प्रामाणिक चित्रण 'गोदान' में कहीं दिखायी नहीं देता। 'गोदान' की तथाकथित नगर-कथा के पात्र प्रेमचन्द के नारी विषयक, प्रेम विषयक और देश-सेवा विषयक आदर्श के प्रतिपादन के निमित्त खड़े किये गये हैं, न कि वे नगर-जीवन के अंग हैं। लगभग यही बात उनके अन्य उपन्यासों में आये नागरिक पात्रों के विषय में भी कही जा सकती है। हाँ, उनके उपन्यासों में शोषक-वर्ग का—ज़मींदारों, साहूकारों, सरकारी कर्मचारियों (विशेषतः पुलिस-विभाग) तथा पुरोहितों का—यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण हुआ है। इनमें ज़मींदार-वर्ग के प्रति प्रेमचन्द की सहानुभूति उन्हें उच्चकोटि का कलाकार ही नहीं, सन्तुलित दृष्टि-सम्पन्न सामाजिक आलोचक भी सिद्ध करती है। तत्कालीन ज़मींदार एक ओर किसानों का शोषण करता था तो दूसरी ओर वह बैंकरों, दलालों और अँगरेज़ सरकार के शोषण का शिकार भी था। तत्कालीन सामन्ती ढाँचा भव्य और डरावना दिखायी पड़ने पर भी भीतर से बिलकुल खोखला हो चुका था। प्रगतिवाद या साम्यवाद के प्रति दुराग्रही लेखकों की दृष्टि इस खोखलेपन की ओर नहीं जा सकी, किन्तु प्रेमचन्द ने अपनी सूक्ष्म

वलोकन-क्षमता से न केवल इसे लक्ष्य किया, अपितु सहानुभूति के साथ इसे अपने न्यासों में प्रस्तुत भी किया।

प्रेमचन्द यद्यपि राष्ट्रप्रेमी और देशभक्त लेखक थे, पर अपने उपन्यासों में वे राष्ट्रीय वना को सशक्त अभिव्यक्ति न दे सके। जगह-जगह ऐसा लगता है कि वे इस ओर बढ़ना चाहते हैं, पर उनकी व्यावहारिक बुद्धि जैसे रास्ता रोक देती है। वे सामाजिक सुधारों या प्राकृतिक विपत्तियों में सहायता-कार्य करनेवाली 'सेवा-समितियों के गठन और उनकी तिविधियों का तो वर्णन करते हैं, पर सत्याग्रह-आन्दोलन या स्वतन्त्रता-प्राप्ति के निमित्त ये गये आन्दोलन के चित्रण से बचते हैं। यह बात 'प्रेमाश्रम', 'रंगभूमि', 'ग़बन' और र्मभूमि' सबमें देखी जा सकती है। इसी प्रकार कतिपय सामाजिक समस्याओं को सही न्दर्भ में उठाने पर भी वे उन्हें उचित तर्कसंगत परिणति नहीं दे पाये हैं। कई उपन्यासों में न्तर्जातीय विवाह की समस्या उठायी गयी है। दो विभिन्न जातियों के युवक-युवतियों में प्रेम-म्बन्ध स्थापित होता है, पर प्रेमचन्द उस सम्बन्ध को विवाह में बदलने के पूर्व ही प्रेमी-मिका को मृत्यु या किसी अन्य बहाने से एक-दूसरे से अलग कर देते हैं। सोफ़िया-विनय, मरकान्त-सकीना, चक्रधर-मनोरमा आदि प्रेमी-युगलों की कहानी इसका प्रमाण है। इसी कार 'प्रतिज्ञा' में विधवा-विवाह की समस्या को उठाकर भी वे अमृतराय और पूर्णा का विवाह सम्पन्न नहीं करा पाते। केवल 'गोदान' में मातादीन और सिलिया का विवाह खाने का साहस उन्होंने किया है। सम्भवतः सामाजिक आलोचना के भय से प्रेमचन्द माज-सुधार की दिशा में क्रान्तिकारी क़दम उठाने से रह गये थे।

शिल्प और भाषा की दृष्टि से भी प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास को विशिष्ट स्तर दान किया। यों सुघटित और चारों ओर से दुरुस्त कथानक गढ़ने का कौशल देवकीनन्दन त्री भी दिखा चुके थे, पर चित्रणीय विषय के अनुरूप शिल्प के अन्वेषण का प्रयोग हिन्दी-न्यास में पहली बार प्रेमचन्द ने ही किया। उनकी विशेषता यह है कि उनके द्वारा प्रस्तुत किये गये दृश्य अत्यन्त सजीव, गतिमान और नाटकीय हैं। उनके उपन्यासों की भाषा की खूबी यह है कि शब्दों के चुनाव तथा वाक्य-योजना की दृष्टि से उसे 'सरल' और 'बोलचाल की भाषा' कहा जा सकता है। पर भाषा की इस सरलता को निर्जीवता, एकरसता और काव्यात्मकता का पर्याय नहीं समझा जाना चाहिए। प्रेमचन्द के उपन्यासों में, विशेषतः गोदान' में, भाषा का वैविध्य जितने स्तरों पर दिखायी पड़ता है वह हिन्दी के उपन्यास-साहित्य में अब तक दुर्लभ है। इतनी 'सरल' भाषा को एक-साथ इतने स्तरों पर काम में लाना प्रेमचन्द-जैसे उपन्यासकार द्वारा ही सम्भव था। भाषा के सटीक, सार्थक और व्यंजनापूर्ण प्रयोग में वे अपने समकालीन ही नहीं, बाद के उपन्यासकारों को भी पीछे छोड़ जाते हैं। वस्तुतः प्रेमचन्द ने ही हिन्दी-उपन्यास को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम प्रदान किया।

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों की संख्या दो-ढाई सौ के लगभग है, किन्तु सबका उल्लेख न यहाँ सम्भव है न आवश्यक। फिर भी, इस काल के कम-से-कम दस-बारह उपन्यासकार ऐसे अवश्य हैं जिन्होंने किसी-न-किसी रूप में अपनी पहचान क़ायम की है। विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' (१८९१-१९४६) ने 'माँ' और 'भिखारिणी' लिखकर प्रेमचन्द का सफल अनुकरण किया था, पर सम्भवतः इसी कारण लिखने की योग्यता होते हुए भी वे अपनी अलग पहचान नहीं बना सके। प्रेमचन्द के अन्य अनुकरणकर्त्ताओं में चतुरसेन

शास्त्री और प्रतापनारायण श्रीवास्तव प्रमुख हैं। चतुरसेन शास्त्री ने आलोच्य अवधि में 'हृदय की परख' (१९१८), 'हृदय की प्यास' (१९३२), 'अमर अभिलाषा' (१९३२) और 'आत्मदाह' (१९३७) शीर्षक उपन्यासों की रचना की, किन्तु प्रेमचन्द की रचना-शैली से प्रभावित होने पर भी उन्होंने उसे कौशिक जी की भाँति एकान्ततः ग्रहण नहीं किया है। यही कारण है कि परवर्ती युग में उनकी उपन्यास-कला पर्याप्त भिन्न आयाम ग्रहण कर सकी। प्रतापनारायण श्रीवास्तव-कृत 'विदा' (१९२९) और 'विजय' (१९३७) आदर्शवादी उपन्यास हैं। 'विदा' में नागरिक उच्चवर्गीय समाज का चित्रण है और 'विजय' में अभिजातवर्गीय विधवा-जीवन की समस्याएँ चित्रित हैं। रचना-शैली की दृष्टि से ये उपन्यास प्रेमचन्द के कहीं अधिक समीप हैं।' देवनारायण द्विवेदी (जन्म १८९७) के 'कर्त्तव्याघात', 'प्रणय', 'पश्चात्ताप' और 'दहेज' तथा अनूपलाल मण्डल-कृत 'निर्वासिता' (१९२९) भी प्रेमचन्द की परम्परा में लिखित औपन्यासिक रचनाएँ हैं। वैसे इस धारा के अन्य उपन्यासकारों में प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' और जगदीश झा 'विमल' का भी उल्लेख किया जा सकता है।

कालक्रम की दृष्टि से देखें तो विवेच्य काल में सबसे पहले शिवपूजन सहाय (१८९३-१९६३) ने हिन्दी-उपन्यास को प्रेमचन्द से भिन्न मार्ग पर ले जाने का प्रयास किया। उनका 'देहाती दुनिया' (१९२६) शीर्षक उपन्यास प्रचलित रूढ़ि को तोड़ने की दिशा में एक साहसिक क़दम था, किन्तु शायद यह क़दम समय से पहले उठा लिया गया। इसीलिए इस उपन्यास का समुचित मूल्यांकन १९५० ई० के लगभग आंचलिक उपन्यासों का आविर्भाव होने पर हुआ। प्रेमचन्द-युग के सबसे अक्खड़ और इसलिए सबसे बदनाम उपन्यासकार हुए बेचन शर्मा 'उग्र', जिन्होंने 'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' (१९२७), 'दिल्ली का दलाल' (१९२७), 'बुधुआ की बेटी' (१९२८), 'शराबी' (१९३०) आदि उपन्यासों में समाज की बुराइयों को, उसकी नंगी सच्चाई को बिना किसी लाग-लपेट के बड़े ही साहस के साथ, किन्तु सपाटबयानी के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने समाज के उस वर्ग को अपने उपन्यासों का विषय बनाया जिसे दलित या पतित वर्ग कहते हैं; और उसके चित्रण में उन्होंने किसी प्रकार के 'शील' या 'अभिजात शिष्टता' का परिचय नहीं दिया। इस कारण उनके उपन्यासों में एक ओर सच्चाई अपने नग्न रूप में आयी है, तो दूसरी ओर वह 'परचेबाज़ी' के निकट पहुँच जाती है जो किसी कृति को कला-रूप में परिणत नहीं होने देती। उग्र के सभी उपन्यास सुधारवादी दृष्टिकोण से लिखे गये हैं, इसलिए भी वे श्रेष्ठ कला-रूप में परिणत नहीं हो पाये हैं। दूसरी ओर उनकी सपाटबयानी अधकचरे और कम-उम्र पाठकों की रुचि को विकृत करने के ख़तरे से भी युक्त है, जिससे उनका सुधारवादी उद्देश्य भी पूरा नहीं हो पाता। वैसे, यह उल्लेखनीय है कि 'चन्द हसीनों के ख़ुतूत' पत्रात्मक प्रविधि में लिखा गया हिन्दी का पहला उपन्यास है। उग्र के अनुकरणकर्त्ताओं में विषय की दृष्टि से ऋषभचरण जैन और शिल्प की दृष्टि से अनूपलाल मण्डल उल्लेखनीय हैं। ऋषभचरण जैन ने उग्र की भाँति तत्कालीन समाज के 'वर्जित विषयों' पर 'दिल्ली का कलंक', 'दिल्ली का व्यभिचार', 'वेश्यापुत्र', 'रहस्यमयी' आदि उपन्यासों की रचना की और अनूपलाल मण्डल ने पत्रात्मक प्रविधि में 'समाज की वेदी पर' और 'रूपरेखा' शीर्षक उपन्यासों का प्रणयन किया।

प्रेमचन्द के समकालीनों में जयशंकर प्रसाद इसलिए उल्लेखनीय हैं कि वे न केवल कविता और नाटक के क्षेत्र में वरन् 'कंकाल' (१९२९) और 'तितली' (१९३४) की रचना द्वारा उपन्यासकार के रूप में भी चर्चा के विषय बने। इनमें से 'कंकाल' ही विशेष उल्लेख-

नीय है—'तितली' में ग्रामीण और कृषक-जीवन का सामान्य औपन्यासिक फैलाव-मात्र है। 'कंकाल' की विशिष्टता यह है कि इसमें प्रसाद ने समाज की त्याज्य, अवैध और अज्ञात-कुलशील सन्तानों की कथा कही है। विषय के चुनाव की दृष्टि से वे घोर प्रकृतिवादी लगते हैं, पर पात्रों की रचना में उनका वही रोमैंटिक रूप सामने आता है जो उनके नाटकों और कविताओं में देखने को मिलता है। यद्यपि प्रसाद की भी दृष्टि प्रेमचन्द, उग्र आदि की तरह सामाजिक थी, किन्तु संयोगवश 'कंकाल' में कुछ व्यक्ति ही प्रधान बन गये हैं। ये व्यक्ति समाज में अकेले हैं, इनका कोई वर्ग नहीं है, इस प्रकार के कई पात्र मिलकर भी किसी वर्ग का निर्माण नहीं करते। स्वभावतः ऐसे पात्र असामान्य होते हैं और यदि प्रसाद ने असामान्य मनोविज्ञान के सिद्धान्तों के अनुरूप अपने पात्रों को गढ़ा होता तो उन्हें बहुत दूर तक सफलता मिली होती। पर वे उग्र की तरह समाज के इन उपेक्षित और लांछित व्यक्तियों के मसीहा बनकर उपस्थित होते हैं; और इनको केन्द्र में रखकर ऐसी कहानी गढ़ते हैं जो इनके प्रति पाठक की करुणा जगाने में एक हद तक समर्थ तो है पर वह कहानी 'घटनाओं', संयोगों और 'चमत्कारों' पर आधृत होने के कारण कृत्रिम और अविश्वसनीय हो जाती है। उपन्यासकार के रूप में प्रसाद की असफलता का एक अन्य कारण यह है कि उनकी भाषा, बिलकुल ही उपन्यासोचित नहीं है। भाषा को अलंकृत करने—उसे लक्षणा शक्ति और अलंकारों से सजाने—का मोह उनमें इतना अधिक है कि वह विषय से सर्वथा अलग पड़ जाती है। इस प्रकार प्रसाद प्रतिभा-सम्पन्न लेखक होते हुए भी हिन्दी-उपन्यास को कोई नया आयाम नहीं दे सके।

हिन्दी-उपन्यास को प्रेमचन्द-युग में ही नयी दिशा देने का सफल प्रयास किया जैनेन्द्र (जन्म १९०५) ने। विवेच्य काल में उनके तीन उपन्यास प्रकाशित हुए—'परख' (१९२९), 'सुनीता' (१९३५) और 'त्यागपत्र' (१९३७)। हिन्दी-उपन्यास को उनसे जो पाना था, वह इन्हीं कृतियों में मिल गया। 'परख' में समकालीन 'सामाजिक' उपन्यासों की परम्परा से (जिसके प्रेमचन्द सर्वश्रेष्ठ लेखक थे) अलग लीक पर चलने का प्रयास किया गया है। लेखक ने व्यापक सामाजिक जीवन को अपने उपन्यासों का विषय न बनाकर व्यक्ति-मानस की शंकाओं, उलझनों और गुत्थियों का चित्रण किया है। उनके उपन्यासों की कहानी अधिकतर एक परिवार की कहानी होती है और वे 'शहर की गली और कोठरी की सभ्यता' में ही सिमटकर व्यक्ति-पात्रों की मानसिक गहराइयों में प्रवेश करने की कोशिश करते हैं। जैनेन्द्र की अगर कोई त्रुटि है तो यह कि वे अपने पात्रों को पहेली बनाकर छोड़ देते हैं; और पाठक उस मनोवैज्ञानिक पहेली को सुलझाने के असफल प्रयत्न में उलझा रह जाता है। जो हो, उन्होंने हिन्दी-उपन्यास को असन्दिग्ध रूप से नयी दिशा प्रदान की और उपन्यास को सामाजिक यथार्थ ही नहीं, मनोवैज्ञानिक यथार्थ के क्षेत्र में भी प्रवेश करने की राह सुझायी। इस प्रकार उन्हें हिन्दी में मनोवैज्ञानिक उपन्यासों की परम्परा का पुरस्कर्त्ता माना जा सकता है। वैसे, उन्होंने हिन्दी-उपन्यास को नये शिल्प और नयी भाषा से भी समृद्ध किया है। 'परख' में यद्यपि उन्होंने प्रेमचन्द की दृश्यात्मक और परिदृश्यात्मक पद्धति को मिश्रित रूप में अपनाया है, पर सिलसिलेवार कहानी कहने की ज़रूरत जितनी प्रेमचन्द समझते थे उतनी जैनेन्द्र ने नहीं समझी। 'परख' की भाँति 'सुनीता' और 'त्यागपत्र' भी वयस्क और संवेदनशील पाठकों के लिए लिखे गये उपन्यास हैं—विषय और शिल्प दोनों दृष्टियों से। 'त्यागपत्र' में समूची कथा एक पात्र-विशेष के अवलोकन-बिन्दु से प्रस्तुत की गयी है जो निश्चय ही नाटकीयकरण की विकसित पद्धति है। कथ्य के अनुरूप उनकी भाषा

में भी नवीनता है। 'सादगी' उनकी भाषा की भी विशेषता है, पर वह प्रेमचन्द की भाषा की सादगी से भिन्न है। जैनेन्द्र की भाषा स्वगतालाप अथवा खुद से या बहुत हुआ तो किसी आत्मीय से चुप-चुप की जानेवाली बातचीत की भाषा है। इसलिए सरल होने पर भी आन्तरिक मनोभावों को व्यक्त करने की उसमें अद्‌भुत क्षमता है। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी-उपन्यास को जैनेन्द्र की देन महत्त्वपूर्ण है—प्रेमचन्द के बाद उन्होंने ही हिन्दी-उपन्यास को विशेष व्यक्तित्व प्रदान किया।

इस काल के अन्य प्रमुख उपन्यासकारों में भगवतीचरण वर्मा, राधिकारमणप्रसाद सिंह, सियारामशरण गुप्त, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, वृन्दावनलाल वर्मा, राहुल सांकृत्यायन, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि उल्लेखनीय हैं। **भगवतीचरण वर्मा** ने 'चित्रलेखा' (१९३४) की रचना कर पाठकों के बीच पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त की थी, पर उपन्यास में जीवन की धड़कन न होने के कारण इसका कोई स्थायी मूल्य न हो सका। १९३६ ई० में इनका 'तीन वर्ष' नामक उपन्यास छपा जो अपनी 'अश्रुपंकिल' भावुकता के कारण पाठकों में काफ़ी लोकप्रिय हुआ। **राधिकारमणप्रसाद सिंह** ने 'राम रहीम' (१९३७) में कतिपय सामाजिक पहलुओं का उद्‌घाटन किया, पर उनका लगभग सारा ध्यान भाषा को 'चुलबुलाहट' से युक्त बनाने में ही लगा रहा। **सियारामशरण गुप्त**-कृत 'गोद' (१९३२), 'अन्तिम आकांक्षा' (१९३४) और 'नारी' (१९३७) गांधी-दर्शन पर आधारित मनोवैज्ञानिक सामाजिक उपन्यास हैं जिनमें क्रमशः लांछनाग्रस्त निरपराध व्यक्तियों की मनोव्यथा, घरेलू नौकरों की अनुकरणीय मर्यादा और नारी-समस्याओं के निराकरण के लिए नये-पुराने मूल्यों के समन्वय पर बल दिया गया है। **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** के उपन्यासों—प्रेमपथ, मीठी चुटकी, अनाथ पत्नी, त्यागमयी, लालिमा आदि—में मध्यवर्गीय पारिवारिक-सामाजिक जीवन का मनोविश्लेषणपरक चित्रण मिलता है। अपने पात्रों के सन्दर्भ में जीवन की उपलब्धि-अनुपलब्धियों का तटस्थ, व्यावहारिक और कहीं-कहीं भावुकतापूर्ण प्रस्तुतीकरण उनकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। **वृन्दावनलाल वर्मा** (१८८९-१९६९)-कृत 'संगम' (१९२८), 'लगन' (१९२९), 'प्रत्यागत' (१९२९) और 'कुण्डलीचक्र' (१९३२) सामाजिक उपन्यास हैं तथा 'गढ़कुंडार' (१९२९) और 'विराटा की पद्मिनी' (१९३६) की रचना ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में हुई है। जहाँ लेखक का अभीष्ट विभिन्न सामाजिक समस्याओं के सन्दर्भ में जीवन का आदर्शात्मक यथार्थ निरूपण प्रतीत होता है, वहाँ शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना-परम्परा को आरम्भ करने का श्रेय भी उन्हीं को प्राप्त है। **राहुल सांकृत्यायन** (१८९३-१९६३) ने इस काल में मौलिक उपन्यासों के स्थान पर 'शैतान की आँख' (१९२३), 'विस्मृति के गर्भ में' (१९२३), 'सोने की ढाल' (१९२३) प्रभृति अनूदित उपन्यासों की रचना की जिनमें ऐतिहासिक-रोमानी कथानकों को स्थान प्राप्त हुआ है। इस काल में स्वच्छन्दतावादी पद्धति के प्रेममूलक उपन्यासों की रचना का श्रेय **सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** को है—उनके द्वारा रचित 'अप्सरा' (१९३१), 'अलका' (१९३३), 'प्रभावती' (१९३६) और 'निरुपमा' (१९३६) भले ही प्रसाद के कथा-साहित्य की भाँति विषय-निरूपण और शैली दोनों की दृष्टि से उनकी कवि-चेतना से प्रभावित हैं, किन्तु इनके उल्लेख के बिना इस काल के उपन्यास-साहित्य का विश्लेषण अधूरा रहेगा।

निष्कर्ष-रूप में विवेच्य काल को हिन्दी-उपन्यास का स्थापना-काल कह सकते हैं। जहाँ प्रेमचन्द ने हिन्दी-उपन्यास को प्रथम बार साहित्य का दर्जा प्रदान किया और जैनेन्द्र ने उसे 'आधुनिक' बनाया वहाँ प्रसाद, कौशिक, उग्र, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद

वाजपेयी, निराला आदि ने भी अपने-अपने ढंग से उसे समृद्धि प्रदान कर परवर्ती उपन्यासकारों का मार्गदर्शन किया।

कहानी

हिन्दी-कहानी का प्रकार और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से वास्तविक विकास विवेच्य काल में ही हुआ, यह एक निर्विवाद तथ्य है। जिस प्रकार **प्रेमचन्द** इस काल के उपन्यास-साहित्य के एकछत्र सम्राट् बने रहे, उसी प्रकार कहानी के क्षेत्र में भी उनका स्थान अद्वितीय रहा। इस अवधि में उन्होंने लगभग दो सौ कहानियाँ लिखीं। उनके कहानी-लेखन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्वय उनकी ही कहानियों में हिन्दी-कहानी के विकास की प्रायः सभी अवस्थाएँ दृष्टिगोचर हो जाती हैं। उनकी आरम्भिक कहानियों में किस्सागोई, आदर्शवाद और सोद्देश्यता की मात्रा अधिक है। यद्यपि व्यावहारिक मनोविज्ञान का पुट देकर मानव-चरित्र के सूक्ष्म उद्घाटन की क्षमता के फलस्वरूप प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों को विशिष्ट बना दिया है, पर उनकी आरम्भिक कहानियों का कच्चापन और यथार्थ की उनकी कमज़ोर पकड़ अत्यन्त स्पष्ट है। इन कहानियों में हम एक अत्यन्त प्रबुद्ध कलाकार को कहानी के सही ढाँचे या शिल्प की तलाश में संघर्षरत पाते हैं। 'बलिदान' (१९१८), 'आत्माराम' (१९२०), 'बूढ़ी काकी' (१९२१), 'विचित्र होली' (१९२१), 'गृहदाह' (१९२२), 'हार की जीत' (१९२२), 'परीक्षा' (१९२३), 'आपबीती' (१९२३), 'उद्धार' (१९२४), 'सवा सेर गेहूँ' (१९२४), 'शतरंज के खिलाड़ी' (१९२५), 'माता का हृदय' (१९२५), 'कजाकी' (१९२६), 'सुजान भगत' (१९२७), 'इस्तीफ़ा' (१९२८), 'अलग्योझा' (१९२९), 'पूस की रात' (१९३०), 'तावान' (१९३१), 'होली का उपहार' (१९३१), 'ठाकुर का कुआँ' (१९३२), 'बेटोंवाली विधवा' (१९३२), 'ईदगाह' (१९३३), 'नशा (१९३४), 'बड़े भाई साहब' (१९३४), 'कफ़न' (१९३६) आदि कहानियों में इस तलाश की रेखाएं स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

प्रेमचन्द की कहानियाँ अपने आसपास की ज़िन्दगी से जुड़ी हुई हैं। वे ग्रामीण जीवन से अधिक सम्बद्ध थे, अतः उनकी अधिकतर कहानियों का विषय गाँव की ज़िन्दगी से निःसृत है। पर उनकी बहुतेरी कहानियाँ कस्बाई ज़िन्दगी, सत्याग्रह-आन्दोलन, स्कूल और कॉलेज के वातावरण तथा ज़मींदारों, साहूकारों, कलर्कों एवं उच्च पदाधिकारियों की समस्याओं और परिवेश की उपज हैं। इससे उनके अनुभव-क्षेत्र के वैविध्य और विस्तार का पता चलता है। यद्यपि कलात्मक विकास की दृष्टि से प्रेमचन्द के कथा-रचना-काल को उपखण्डों में बाँटना बहुत संगत प्रतीत नहीं होता, फिर भी १९३०.ई० को एक अस्पष्ट विभाजक रेखा के रूप में रखा जा सकता है; इसके पूर्व की कहानियाँ अपने सन्दर्भों से गहरे रूप में जुड़ी रहने के बावजूद प्रभाव की दृष्टि से कमज़ोर हैं। बहुधा प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण, परम्परागत मूल्यों में उनकी आस्था और उनका इच्छित विश्वास—यहाँ तक कि उनका अन्धविश्वास—उनकी पूर्ववर्ती कहानियों पर हावी रहे हैं। पर प्रेमचन्द अपनी कमज़ोरियों को आलोचकों द्वारा चेताये जाने के पूर्व ही समझ चुके थे और हर अगली कहानी में उन्हें दूर करने की कोशिश करते थे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण 'बूढ़ी काकी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'कजाकी' और 'इस्तीफ़ा' जैसी कहानियाँ मानी जा सकती हैं। इनमें आदर्शवादी समाधान, पुराने मूल्यों के प्रति आस्था की अभिव्यक्ति, समाज की आलोचना आदि कम हैं और कुछ मार्मिक स्थितियों को उनकी पूरी मनोवैज्ञानिकता

और यथार्थता में उभारने की कोशिश अधिक। प्रेमचन्द की १९३० ई० के बाद की कहानियाँ उनकी पूर्ववर्ती कहानियों से नितान्त भिन्न हैं। यद्यपि इनमें भी कुछ निहायत कमज़ोर कहानियाँ मिल जाती हैं, पर इस काल की अधिकतर कहानियों का स्वर और तेवर पहले से बदला हुआ प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए ‘पूस की रात’, ‘ईदगाह’, ‘बड़े भाई साहब’, ‘ठाकुर का कुआँ’, ‘तावान’, ‘ज्योति’, ‘कायर’, ‘होली का उपहार’ और ‘कफ़न’ का उल्लेख किया जा सकता है। प्रेमचन्द की इस काल की कहानियों में सच्चाई को उसके नग्नतम रूप में ही देखने का प्रयास नहीं, उसके उस पहलू को भी पकड़ने की चेष्टा है जिसकी ओर साधारणतः दृष्टि नहीं जाती। ‘पूस की रात’, ‘तावान’ और ‘कफ़न’ तो प्रेमचन्द की ही नहीं, हिन्दी की बेजोड़ कहानियाँ हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि आधुनिक हिन्दी-कहानी को इन्हीं कहानियों से जोड़ने की चेष्टा आज हो रही है। इस अवधि की कहानियों में प्रेमचन्द का आदर्शवादी दृष्टिकोण भी है, पर वह अधिकतर छिपा हुआ ही नहीं, कहानियों के साथ घुला हुआ भी है। प्रेमचन्द की इस काल की कहानियाँ निस्सन्देह हिन्दी-कहानी को एक कसौटी देने में समर्थ हो सकी हैं।

इस काल के दूसरे प्रमुख कहानीकार हैं—**जयशंकर प्रसाद**। यद्यपि उनकी पहली कहानी ‘ग्राम’ सन् १९११ में ही ‘इन्दु’ में छप चुकी थी, तथापि उनके महत्त्वपूर्ण कहानी-संग्रह—‘प्रतिध्वनि’ (१९२६), ‘आकाशदीप’ (१९२९), ‘आँधी’ (१९३१), ‘इन्द्रजाल’ (१९३६) आदि—विवेच्य काल में ही प्रकाश में आये। कहानी-लेखक के रूप में उनकी प्रकृति प्रेमचन्द से बिलकुल अलग है। जहाँ प्रेमचन्द का रुझान जीवन के चारों ओर फैले यथार्थ में था वहाँ प्रसाद रूमानी स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी कहानियों में जीवन के सामान्य यथार्थ को कम और स्वर्णिम अतीत के गौरव, मसृण भावुकता, कल्पना की ऊँची उड़ान तथा काव्यात्मक चित्रण को अधिक महत्त्व मिला है। उनकी कुछ कहानियाँ तो आधुनिक कहानी की तुलना में संस्कृत-गद्यकाव्य के निकट हैं—‘चक्रवर्ती का स्तम्भ’, ‘खँडहर की लिपि’, ‘पत्थर की पुकार’, ‘उस पार का योगी’, ‘प्रतिमा’ आदि कहानियों में यह बात देखी जा सकती है। यद्यपि प्रसाद की कहानियों में प्रेम और करुणा का, त्याग और बलिदान का, दार्शनिकता और काव्यात्मकता का, भावुकता और चित्रात्मकता का प्राधान्य है, तथापि उनकी परवर्ती कहानियों में भावुकता और चित्रमयता की प्रवृत्तियाँ थोड़ी छँटी हैं और इनका स्थान मनोविज्ञान ने लिया है—‘आकाशदीप’, ‘कला,’ ‘देवदासी’, ‘आँधी’, ‘मधुवा’, ‘इन्द्रजाल’, सालवती’ आदि कहानियों में उलझनपूर्ण मनःस्थितियों तथा मानसिक द्वन्द्व के चित्रण में प्रसाद को पूरी सफलता मिली है। एक खास प्रकार के नारी पात्रों की सृष्टि में प्रसाद जी अद्वितीय हैं जो अपने निश्छल प्रेम, त्याग और बलिदान से पाठकों के मन पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती हैं। ‘आकाशद्वीप’ की चम्पा, ‘देवरथ’ की सुमाता, ‘पुरस्कार’ की मधूलिका आदि प्रसाद की अनुपम नारी-सृष्टि हैं। नियति और समाज से एक-साथ संघर्षरत नारी का ऐसा चित्रण अन्यत्र दुर्लभ है। इसके बावजूद प्रसाद की कहानियाँ आधुनिक कहानी से सही रूप में नहीं जुड़ पातीं। उनकी जीवन-दृष्टि ही नहीं, भाषा भी आधुनिक कहानी की प्रकृति के प्रतिकूल है। यही कारण है कि जहाँ प्रेमचन्द को आधुनिक हिन्दी-कहानी का जनक माना जाता है वहाँ प्रसाद को यह श्रेय नहीं मिलता।

विवेच्य काल के अन्य कहानी-लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा ‘कौशिक’ और सुदर्शन विशेष उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही प्रेमचन्द की परम्परा के कहानीकार माने जाते हैं।

शिक जी की 'रक्षाबन्धन' कहानी यद्यपि १९१२ ई० में ही छप चुकी थी, पर उनकी हानी-कला में विशेष निखार १९१८ ई० के बाद ही आया। 'गल्पमन्दिर', 'चित्रशाला' ो भाग), 'प्रेम प्रतिमा', 'मणिमाला', 'कल्लोल' आदि में उनकी दो सौ से ऊपर कहा- याँ संगृहीत हैं। प्रेमचन्द की भाँति उन्होंने अपने आसपास की ज़िन्दगी से कहानियों के षय चुने हैं और पारिवारिक जीवन की अनेक समस्याओं—बालविवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज- ा आदि – का अंकन किया है। ग्रामीण जीवन की अपेक्षा उन्होंने नगर-जीवन का अधिक त्रण किया है। सुदर्शन के कहानी-संग्रहों में 'सुदर्शन सुधा', 'सुदर्शन सुमन', 'तीर्थयात्रा', ष्पलता', 'गल्पमंजरी', 'सुप्रभात', 'परिवर्तन', 'पनघट' आदि उल्लेखनीय हैं। विषय-चयन ी दृष्टि से उन्होंने भी तत्कालीन जीवन की ज्वलन्त समस्याओं को आधार बनाया है। शिक और सुदर्शन ने यद्यपि कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं—जैसे कौशिक की 'ताई' र 'पगली' तथा सुदर्शन की 'हार की जीत', 'कवि की स्त्री' आदि—पर उनमें प्रेमचन्द ी तरह विकास की सम्भावनाएँ नहीं दीखतीं। फिर भी, प्रेमचन्द की आरम्भिक कहा- यों तथा कौशिक और सुदर्शन की कहानियों में पर्याप्त समानता है—वही संयोग के आधार पर कथानक की योजना, किसी आदर्श को केन्द्र में रखकर कथा की बुनावट, हृदय- रिवर्तन के नुस्खे से सामाजिक समस्याओं का समाधान, हर जगह पुण्य की विजय और रम्परागत मूल्यों की स्थापना। विकास के दूसरे चरण में इनकी कहानियों में मनोविज्ञान ा प्रवेश हुआ, संयोगावृत कथानकों में कमी आयी और दोनों ने ही कुछ ऐसी कहानियों ी रचना की जो प्रेमचन्द की समकक्षता करती हैं। किन्तु, अपने विकास के तीसरे रण में प्रेमचन्द ने जिस कोटि की विशुद्ध, यथार्थवादी कहानियाँ लिखीं, वैसी कहानियाँ कौशिक और सुदर्शन नहीं लिख पाये।

आलोच्य युग के कुछ कहानी-लेखकों—चतुरसेन शास्त्री, राय कृष्णदास और विनोदशंकर व्यास—ने प्रसाद की कथा-लेखन-शैली को अपनाया। चतुरसेन शास्त्री ने विभिन्न युगों के ऐतिहासिक प्रसंगों पर आधारित अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखीं जिनमें ुखवा मैं कासों कहूँ मोरी सजनी' अत्यन्त प्रसिद्ध हुई, पर बाद में पता चला और अब ह सिद्ध हो चुका है कि यह कहानी बँगला-कथाकार हरिसाधन मुखोपाध्याय की 'सेलिमा बेगम' कहानी का रूपान्तर है। उनकी अन्य कहानियों में 'अंबपालिका', 'प्रबुद्ध', 'भिक्षुराज,' 'वार्वचन', 'हल्दीघाटी में', 'बाणवधू' आदि उल्लेखनीय हैं जिनमें भारतीय इतिहास के विभिन्न प्रसंगों का मर्मस्पर्शी चित्रण हुआ है। राय कृष्णदास ने प्रसाद की तरह भावप्रधान कहानियों की रचना की। कवित्वपूर्ण वातावरण की सृष्टि और नाटकीय शिल्प-योजना में वे प्रसाद की भाँति सिद्धहस्त हैं। 'अन्तःपुर का आरम्भ' और 'रमणी का रहस्य' जैसी कहानियों में यह बात स्पष्टतः देखी जा सकती है। विनोदशंकर व्यास की कहानियों में प्रसाद की करुणा, प्रेम आदि भावनाओं का प्राधान्य है। 'कल्पनाओं का राजा', 'विधाता', 'अपराध' आदि कहानियाँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

विवेच्य काल के कहानीकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्र और अज्ञेय अलग-अलग कारणों से उल्लेखनीय हैं—उग्र की कहानियाँ 'चिनगारियाँ' (१९२३), 'शैतान मंडली' (१९२४), 'इन्द्रधनुष' (१९२७), 'बलात्कार' (१९२७) 'चाकलेट' (१९२८), 'दोजख की आग' (१९२९), 'निर्लज्जा' (१९२९) आदि कृतियों में संकलित हैं। प्रेमचन्द की तरह उग्र भी सामाजिक चेतना के लेखक थे और वे आदर्शवादी भी प्रेमचन्द से कम न थे, पर समाज के नग्न यथार्थ को उन्होंने ऐसे कच्चे रूप में पेश किया कि तत्कालीन

पाठकों और विशेषकर समीक्षकों ने उन्हें पश्चिमी प्रकृतिवाद का अनुगामी समझ लिया। उनकी कहानियों में अनुभूति की तीव्रता कुछ कम है और सामाजिक शोषण, अनाचार एवं कुप्रथाओं के प्रति आक्रोश तनिक ज्यादा है। यही कारण है कि उनकी कहानियाँ उतना बेधती नहीं, जितना चौंकाती और झकझोरती हैं। 'चिनगारियाँ' में उन्होंने अपनी विद्रोह-पूर्ण राष्ट्रीय चेतना को वाणी देने का प्रयास किया, जिसके फलस्वरूप यह कहानी-संग्रह सरकार द्वारा ज़ब्त कर लिया गया। अन्य कहानियों में उन्होंने समाज पर चौतरफ़ा प्रहार किया—व्यंग्य का जैसा पैनापन उनकी कहानियों में मिलता है वैसा बहुत कम लेखकों में सुलभ होता है। 'उग्र' विशुद्ध समाजद्रोही थे, कला की उन्होंने कभी चिन्ता ही नहीं की; फलतः उनकी कहानियाँ कलात्मक दृष्टि से कभी भी शिखर पर न पहुँच सकीं। फिर भी अपने अक्खड़ व्यक्तित्व, बेलौस भाषा और पैनी दृष्टि के लिए वे सदैव स्मरण किये जाएँगे।

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी-कहानी को नवीन आयाम देनेवालों में जैनेन्द्र प्रमुख हैं। उन्होंने प्रेमचन्द के निकट सम्पर्क में रहने पर भी उनका अनुसरण नहीं किया, वरन् अपने लिए नयी दिशा की खोज की। उन्होंने कहानी को 'घटना' के स्तर से उठाकर 'चरित्र' और 'मनोवैज्ञानिक सत्य' पर लाने का प्रयास किया। यद्यपि स्वयं प्रेमचन्द ने भी १९३० ई० तक इस उपलब्धि को पा लिया था, पर जैनेन्द्र की एक और खूबी यह रही कि उन्होंने कथावस्तु को सामाजिक धरातल से समेटकर व्यक्तिगत और मनोवैज्ञानिक भूमिका पर प्रतिष्ठित किया। उनकी 'हत्या' (१९२७) शीर्षक कहानी में इन प्रवृत्तियों की झलक देखी जा सकती है। बाद की कहानियों में—जैसे 'खेल', 'अपना अपना भाग्य', 'बाहुबली', 'वातायन', 'नीलम देश की राजकन्या', 'दो चिड़ियाँ', 'ध्रुवयात्रा', 'पाजेब', 'एक दिन' आदि में—जैनेन्द्र ने व्यक्ति-मन की शंकाओं, प्रश्नों तथा गुत्थियों का अंकन किया है। उनकी कहानियों का मुख्य विषय नारी है, ऐसी नारी जो घर ही नहीं पातिव्रत्य की चहारदीवारी से भी बाहर निकलकर मुक्ति की साँस लेना चाहती है। जैनेन्द्र प्रेमचन्द से इस अर्थ में विशिष्ट हैं कि वे कहानी कहने से भागते हैं। घटनाओं को वे प्रायः छोड़ते जाते हैं या उनकी जगह संकेतों से काम लेना पसन्द करते हैं। अनुभूति की गहरी प्रेरणा उनकी कहानियों को वैशिष्ट्य प्रदान करती है—यहाँ तक कि कथानक, पात्र, परिस्थिति आदि की विरलता भी तीव्र अनुभूति के संस्पर्श से अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो जाती है।

हिन्दी-कहानी के विकास में अज्ञेय (जन्म १९११) का स्थान लगभग वही है जो जैनेन्द्र का। किन्तु, जहाँ जैनेन्द्र मनःसंसार को छोड़कर वास्तविक दुनिया में आना पसन्द नहीं करते और जहाँ उनके पात्र समाज से लड़ने का हौसला न रखकर अपने मन की दुर्बलताओं से ही उलझते रहते हैं वहाँ अज्ञेय के पात्र बहिर्मुखी हैं जो समाज तथा अपने आसपास की परिस्थितियों से जूझने के लिए सदैव प्रस्तुत रहते हैं। भारतीय समाज की रूढ़िप्रियता, शोषण, वर्तमान विश्व में व्याप्त संघर्ष आदि को लेकर उन्होंने अनेक मार्मिक कहानियाँ लिखी हैं। उनका प्रथम कहानी-संग्रह 'त्रिपथगा' १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'त्रिपथगा' कहानी में आधुनिक विश्व में होनेवाले युद्ध के कारणों की खोज की गयी है और नारी का चित्रण क्रान्ति की अग्रदूत के रूप में किया गया है। इसी प्रकार 'कड़ियाँ', 'अमर वल्लरी', 'मैना', 'सिगनेलर', 'रेल की सीटी', 'रोज़', 'हरसिंगार' आदि कहानियों में आज की स्वीकृत शासन-व्यवस्था तथा परम्परागत मान-मूल्यों को नकारा गया है। एक ओर प्रेम और कर्त्तव्य तथा दूसरी ओर आदर्श और सहज वृत्ति के संघर्ष का मार्मिक चित्रण इन कहानियों में देखा जा सकता है। इनमें अज्ञेय ने व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों, प्रेरणाओं तथा

ों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। अज्ञेय की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक होने पर भी क संघर्ष और विद्रोह के तीखेपन से युक्त हैं— जैनेन्द्र के कथा-साहित्य की तुलना में क ठोस और विश्वसनीय हैं।

विवेच्य काल के कहानीकारों में कुछ और नाम गिनाये जा सकते हैं, जैसे— रमणप्रसाद सिंह, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, राहुल त्यन, सुभद्राकुमारी चौहान, शिवरानी देवी, उषादेवी मित्रा, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, भाकर आदि। राधिकारमणप्रसाद सिंह बहुत पहले 'कानों में कंगना' लिखकर प्रसिद्धि र चुके थे। विवेच्य काल में उन्होंने अपनी विशिष्ट चुभती शैली में 'दरिद्रनारायण', घुघती' आदि प्रसिद्ध कहानियों की रचना की जो 'गांधी टोपी' (१९३८) में हैं। उनकी कहानियाँ अधिकतर समाज-सुधार और आदर्श-स्थापन की प्रेरणा से हैं। भगवतीप्रसाद वाजपेयी की 'मधुपर्क', 'दीपमालिका', 'हिलोर', 'मिठाईवाला', ', 'तारा', 'स्वप्नमयी', 'शबनम' आदि कहानियाँ विवेच्य अवधि में प्रकाशित हुईं। सबसे प्रसिद्ध कहानी है 'निंदिया लागी' जिसमें मध्यवर्गीय समाज की विसंगतियों का च्छा चित्रण हुआ है। भगवतीचरण वर्मा ने भी विवेच्य काल में कुछ कहानियाँ लिखी 'इन्सटालमेन्ट' (१९३६) में संगृहीत हैं। उन्होंने जीवन की कुरूपताओं का परदा-करते हुए वर्तमान सभ्यता और आधुनिक समाज के खोखलेपन का चित्रण किया है। क युग में नारी-पुरुष के सम्बन्धों के विघटन का यथार्थ अंकन भी उनकी कहानियों ता है।

छायावाद के प्रसिद्ध कवि-द्वय निराला और पन्त ने भी कहानियाँ लिखने का प्रयास था। निराला ने 'श्रीमती गजानन्द शास्त्रिणी', 'पद्मा' और 'लिली' जैसी कहानियाँ ं जिनमें काव्यात्मक वातावरण की सृष्टि ही प्रमुख है। पन्त की 'पानवाला' नामक ने इसी काल में लिखी गयी थी, जिसमें अनुभूति-पक्ष की ही प्रधानता है। पन्त और ा की कहानियों पर युगीन चिन्तन की छाप नहीं मिलती। वस्तुतः ये दोनों रूमानी े और रूमानियत कहानी के लिए अनुकूल नहीं पड़ती। विवेच्य काल में राहुल त्यायन ने भी कुछ कहानियों की रचना की जो 'सतमी के बच्चे' (१९३५) में संकलित नमें भारत की तत्कालीन सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का यथार्थ अंकन हुआ र्थिक विषमता की घुटन इन कहानियों में बहुत ही सशक्त रूप में अभिव्यक्त हुई है। हानियाँ चरित्रप्रधान हैं, पर राहुल जी का झुकाव मनोविज्ञान की ओर उतना नहीं है ना कि वर्ग-संघर्ष की ओर है।

इस युग की नारी-लेखिकाओं में **सुभद्राकुमारी चौहान** की कहानियाँ सामाजिक-ारिक जीवन के व्यावहारिक चित्रण के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। 'बिखरे मोती' (१९३२) 'उन्मादिनी' (१९३४) में संगृहीत कहानियों में उन्होंने अधिकतर भारतीय नारी की स्थितियों, समस्याओं तथा भावनाओं का सजग चित्रण किया है। उनकी 'पापी पेट' क प्रसिद्ध राष्ट्रीय कहानी भी इसी अवधि की रचना है। प्रेमचन्द की अर्द्धांगिनी रानी देवी ने भी प्रायः उन्हीं की शैली को अपनाते हुए कुछ सामाजिक कहानियों की ना की थी, जो 'कौमुदी' (१९३७) में प्रकाशित हैं। **उषादेवी मित्रा** की भावुकता-भरी नामयी सामाजिक कहानियाँ भी १९३३ ई० के आसपास तत्कालीन पत्रिकाओं में शित होने लगी थीं। 'पिउ कहाँ', 'मूर्त्त मृदंग', गोधूलि', 'देवदासी' 'मन का मोह' दि की रचना उन्होंने इसी अवधि में की थी। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार और विष्णु प्रभाकर

के कहानीकार-जीवन का आरम्भ भी इसी काल के अन्तिम चरण में हुआ। चन्द्रगु विद्यालंकार की इस अवधि की कहानियों में 'गोरा', 'बचपन', 'सन्देह', 'आँसू', 'शरणा 'भय का राज्य', 'पगली', 'ताड़ का पत्ता', 'मास्टर जी आदि प्रमुख हैं। विष्णु प्रभाक (जन्म १९१२) की कुछ कहानियाँ १९३१ और १९३४ के बीच 'हंस' और 'अलंकार' प्रकाशित हुई थीं। इन दोनों ही लेखकों ने परवर्ती युग में कहानी-लेखन के क्षेत्र में अप विशेष स्थान बनाया।

कुल मिलाकर हिन्दी-कहानी के विकास की दृष्टि से विवेच्य काल का उल्लेखनी महत्त्व है। प्रेमचन्द ने हिन्दी-कहानी को मजबूत नींव ही नहीं दी, उसे कलात्मक ऊँचा भी प्रदान की। कौशिक सुदर्शन, उग्र, राहुल आदि ने कहानी को सामाजिक पीड़ा की अभिव्यक्ति का सफल माध्यम बनाया। जैनेन्द्र और अज्ञेय ने मनोविश्लेषण को आधा बनाकर नवीन प्रयोग किये, जहाँ से हिन्दी-कहानी की एक नवीन धारा का सूत्रपात हुआ। तात्पर्य यह है कि इस युग में हिन्दी कहानी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं को पा कर वहाँ पहुँच गयी जहाँ से हमें इसके श्रेष्ठ रूप के दर्शन होने लगते हैं।

निबन्ध

हिन्दी में 'निबन्ध' शब्द का प्रयोग एक ओर तो 'एस्से' के पर्याय-रूप में ललित या व्यक्तिगत निबन्धों के लिए होता है और दूसरी ओर उन रचनाओं के लिए भी होता है जिनमें किसी विषय का सुसम्बद्ध विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ इनमें से प्रथम वर्ग की रचनाओं अर्थात् विषय के स्थान पर 'व्यक्ति' और लालित्य को प्रधानता देनेवाले निबन्धों का विवेचन ही अभीष्ट है। इस युग के सबसे प्रमुख निबन्धकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं पर इस मान्यता का आधार उनके वे सभी निबन्ध हैं जो 'चिन्तामणि' के दोनों खण्डों में संकलित हैं। इन निबन्धों में प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्कपूर्ण सुसम्बद्ध विवेचन का चरम आदर्श लक्षित होता है; और इस कसौटी पर शुक्ल जी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार मानना सर्वथा उचित भी है, किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'चिन्तामणि' के दूसरे भाग में संकलित 'काव्य में प्राकृतिक दृश्य', 'काव्य में रहस्यवाद' और 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' निबन्ध न होकर विस्तृत आलोचनात्मक लेख हैं। प्रथम भाग में भी तीन प्रकार के निबन्ध हैं—मनोविकार विषयक, साहित्य-सिद्धान्त विषयक और साहित्यालोचन विषयक। इनमें अन्तिम दो प्रकार निश्चित रूप से साहित्यालोचन से सम्बद्ध हैं, अतः ये 'आलोचना' के अन्तर्गत आएँगे, 'निबन्ध' के अन्तर्गत नहीं। शेष रह जाते हैं मनोविकार सम्बन्धी निबन्ध, जिन्हें प्रस्तुत प्रसंग में विचारणीय होने पर भी शुद्ध 'ललित' या 'व्यक्तिगत' निबन्ध नहीं कहा जा सकता। इनमें अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में उत्साह, श्रद्धा, भक्ति, करुणा, लज्जा, ग्लानि लोभ, प्रीति, ईर्ष्या, भय आदि भावों अथवा मनोविकारों का स्वरूप-निर्धारण तथा इनका तुलनात्मक विवेचन किया गया है। इस सन्दर्भ में शुक्ल जी का विशद पाण्डित्य, प्रौढ़ चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण, व्यापक अनुभव सब कुछ अपने उत्कर्ष पर पहुँचा दिखायी देता है, और वे एक आचार्य तथा दार्शनिक के रूप में हमारे सामने आते हैं। इन निबन्धों में पर्यवेक्षण, विश्लेषण और निष्कर्ष तीनों की सुसम्बद्ध शृंखला है। फिर भी ये दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान की सम्पत्ति न होकर साहित्य की सम्पत्ति हैं क्योंकि इनमें गम्भीर मुद्रा त्यागकर शुक्ल जी बीच-बीच में सहज बातचीत, हास्य-व्यंग्य और मधुर सम्भाषण की अनौपचारिक मुद्रा अपनाते दीखते हैं जिसके फलस्वरूप इनमें व्यक्तिगत तत्त्व का समावेश

है। उदाहरणार्थ 'लोभ और प्रीति' निबन्ध का यह अंश द्रष्टव्य है :

> "लोभियों का दमन योगियों के दमन से किसी प्रकार कम नहीं होता। लोभ के बल से वे काम और क्रोध को जीतते हैं, सुख की वासना का त्याग करते हैं, मान-अपमान में समान भाव रखते हैं।...लोभियो, तुम्हारा अक्रोध, तुम्हारा इन्द्रिय-निग्रह, तुम्हारी मानापमान-समता, तुम्हारा तप अनुकरणीय है : तुम्हारी निष्ठुरता, तुम्हारी निर्लज्जता, तुम्हारा अविवेक, तुम्हारा अन्याय विगर्हणीय है। तुम धन्य हो, तुम्हें धिक्कार है!"

किसी विषय के वैज्ञानिक विवेचन में ऐसे भावोद्गार के लिए कोई स्थान नहीं मनोविज्ञान के ग्रन्थ में इस प्रकार का विषयान्तर दोष माना जायगा। इसी प्रकार बात को स्पष्ट करने के लिए शुक्ल जी ने कहीं-कहीं अन्तर्कथा की भी सहायता ली ललित निबन्ध का तो गुण है पर वैज्ञानिक विवेचन में जिसका कोई महत्त्व स्वीकार या जा सकता। इस तरह की 'ललित उड़ान' ही 'निबन्ध' को 'लेख' से भिन्न करती शुक्ल जी के निबन्धों में इस 'ललित उड़ान' के दर्शन यत्र-तत्र होते हैं।

शुक्ल जी के निबन्धों की एक अन्य विशेषता है प्रांजल साहित्यिक भाषा का प्रयोग, को विषय के शुष्क विवेचन से भिन्न धरातल पर ला खड़ा करती है। वैज्ञानिक की भाषा का सारा बल अर्थ की 'निश्चयात्मकता' पर होता है जबकि शुक्ल जी ने निश्चयात्मकता का ध्यान रखने पर भी उसे अधिक बोधगम्य, व्यंजक और प्रतीति-ने के लिए भाषा की उन सभी शक्तियों का प्रयोग किया है जिनके कारण ही कोई 'काव्य' की संज्ञा प्राप्त करता है। शब्द-चयन, वाक्य-रचना, सादृश्य-विधान, सबमें अपनी काव्यात्मक रुचि का परिचय दिया है। 'प्रथम पुरुष' की शैली का प्रयोग भी निबन्धों को 'ललित निबन्ध' के निकट पहुँचानेवाला तत्त्व है। इस प्रकार उनके कार विषयक निबन्धों में ललित निबन्धों की आत्मीयता, काव्य-गुण प्रभृति अनेक ताएं विद्यमान हैं; फिर भी गम्भीर चिन्तन, सूक्ष्म विश्लेषण और तर्क की प्रधानता के इन्हें सही अर्थों में 'ललित निबन्ध' नहीं कहा जा सकता।

'ललित निबन्ध' की दृष्टि से गुलाबराय (१८८८-१९६३) की कुछ रचनाएँ उल्ले-है। 'ठलुआ क्लब', 'फिर निराशा क्यों', 'मेरी असफलताएँ' आदि संग्रहों में उनके कुछ व्यक्तिगत निबन्ध संकलित हैं। 'मेरा मकान', 'मेरे नापिताचार्य', 'मेरी दैनिकी का एक 'प्रीतिभोज आदि निबन्ध ललित निबन्ध की सभी विशेषताओं से युक्त हैं। इनमें उन्होंने गम्भीर आलोचकीय पाण्डित्य वाली मुद्रा का त्याग कर सर्वथा अनौपचारिक बात-की शैली में अपने व्यक्तिगत जीवन तथा आसपास की तुच्छ दीख पड़नेवाली वस्तुओं सम्बन्ध में भावपूर्ण उद्गार और चलती हुई प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। इनमें 'विषय' को महत्ता न देकर लेखक के व्यक्तित्व, उसकी निजी प्रतिक्रियाओं और उल्लास तथा व्यंग्य-क्षणों की अभिव्यक्ति मिलती है। लेखक की भाषा सरल, स्वच्छ, स्पष्ट और भावव्यंजक उदाहरणस्वरूप 'मेरी दैनिकी का एक पृष्ठ' की कुछ पंक्तियाँ देखिए :

> "ख़ैर, आजकल उस (भैंस) का दूध कम हो जाने पर भी और अपने मित्रों को छाछ भी नहीं पिला सकने की विवशता की झूँझल के होते हुए भी (सुरराज इन्द्र की तरह मुझे भी मट्ठा दुर्लभ हो जाता है—तक्रं शक्रस्य दुर्लभम्) उसके लिए भुस लाना अनिवार्य हो जाता है। कहाँ साधारणीकरण और

अभिव्यंजनावाद की चर्चा और कहाँ भुस का भाव। भुस ख़रीदकर मुझे भी पीछे ऐसे ही चलना पड़ता है, जैसे बहुत-से लोग अक्ल के पीछे लाठी लेकर हैं। कभी-कभी गधे के साथ क़दम मिला के रखना कठिन हो जाता है। मुझे गधे के पीछे चलने में उतना ही आनन्द आता है जितना कि पलायनवादी जीवन से भागने में।"

समीक्ष्य काल में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी ने भी कतिपय व्यक्तिगत निबन्ध लिखे जो 'पंचपात्र' में संगृहीत हैं। इसमें संकलित 'अतीत स्मृति', 'उत्सव', 'रामलाल पण्डित' 'श्रद्धांजलि के दो फूल' आदि निबन्धों में लेखक की भावुकता, आत्मीयता तथा व्यंग्यपूर्ण प्रतिक्रिया का सुन्दर समन्वय मिलता है—कहीं-कहीं अन्तर्कथाओं का प्रयोग भी उन्होंने सफलता के साथ किया है। बख्शी जी की भाषा में गति सजीवता और चित्रात्मकता पर्याप्त मात्रा में दिखायी पड़ती हैं। इस काल के अन्य ललित निबन्धकारों में शान्तिप्रिय द्विवेदी, शिवपूजन सहाय, बेचन शर्मा 'उग्र', रघुवीरसिंह और पाखनलाल चतुर्वेदी के नाम लिये जा सकते हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी ने निजी जीवन और व्यक्तिगत समस्याओं पर निबन्ध लिखने के अतिरिक्त 'कवि और काव्य' (१९३६), साहित्यिकी' (१९३८) प्रभृति आलोचनात्मक निबन्ध-संग्रहों में भी भावुकता और आत्मीयता का परिचय दिया है। भाषा की काव्यमयता, सुकुमार शब्द-योजना और भावोच्छ्वासों की तरल अभिव्यक्ति उनके निबन्धों की सहज विशेषताएँ हैं। शिवपूजन सहाय 'भाषा के जादूगर' के रूप में ख्यात हैं। उनकी मस्ती और ज़िन्दादिली उनके व्यक्तिगत निबन्धों में फूटी-सी पड़ती है—'कुछ' शीर्षक निबन्ध-संग्रह में उन्होंने तुच्छ-से-तुच्छ विषय को अपनी रोचक रचना-शैली से मोहक बना दिया है। उनके निबन्ध संख्या में अधिक नहीं हैं पर जो हैं वे उनकी आत्म- व्यंजना, शिष्ट हास्य, मार्मिक व्यंग्य और औपचारिक किन्तु परिष्कृत-परिमार्जित शैली के कारण हिन्दी-निबन्ध-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखते हैं।

बेचन शर्मा 'उग्र' के अधिकतर निबन्ध भावात्मक हैं। 'बुढ़ापा' 'गाली' आदि निबन्धों में उन्होंने सामाजिक और आर्थिक विषमताओं का भावपूर्ण शैली में प्रतिपादन किया है—यत्र-तत्र व्यंग्य के समावेश में भी वे दक्ष हैं। उनके निबन्धों की भाषा अत्यन्त चित्रात्मक, गतिशील और नाटकीय तीव्रता से युक्त है। वे अपने पाठकों से बिना किसी औपचारिकता के बात करते हुए आगे बढ़ते हैं, पर उनके निबन्धों में वह शालीनता, माधुर्य और आभिजात्य नहीं है जो गुलाबराय अथवा शिवपूजन सहाय के निबन्धों में है। फलतः उनके निबन्ध 'ललित' निबन्ध न बनकर जोशीले भाषण बन गये हैं। रघुवीर सिंह ने ऐतिहासिक प्रसंगों को आधार बनाकर कुछ अच्छे भावात्मक निबन्धों की रचना की है। मुग़लकालीन इतिहास की घटनाओं और इमारतों पर उन्होंने अनेक ललित निबन्ध लिखे हैं। उनकी भाषा में चित्रात्मकता, सांकेतिकता और अर्थ-सम्पन्नता पूरे तौर पर दिखायी देती हैं। माखनलाल चतुर्वेदी ने भी आलोच्य युग में कतिपय भावप्रधान निबन्धों की रचना की थी। उनके निबन्धों में भावुकता की प्रधानता है, पर वे चिन्तन से बिलकुल शून्य नहीं हैं। उनके निबन्धों की सबसे बड़ी शक्ति है उनकी भाषा जिसमें कथन का बाँकपन, ओज, प्रतीकात्मकता, लाक्षणिकता और प्रवाह सब-कुछ का अत्यन्त सुन्दर समन्वय हुआ है।

संक्षेप में, विवेच्य युग में निबन्धों की रचना तो पर्याप्त मात्रा में हुई, किन्तु ललित निबन्धों के क्षेत्र में उल्लेखनीय उपलब्धियाँ अधिक नहीं हैं—इस दिशा में जिन लेखकों ने योगदान किया है उन्होंने एक अभाव की पूर्ति भले ही की है, कोई मानदण्ड स्थापित नहीं

। इस काल के निबन्ध-साहित्य के सम्बन्ध में शुक्ल जी का यह कथन सर्वथा उचित है : वैचित्र्य और भाषा-शैली का नूतन विकास जैसा कहानियों के भीतर प्रकट हुआ है निबन्ध के क्षेत्र में नहीं देखने में आ रहा है।"

समालोचना

उपन्यास, कहानी, नाटक और कविता की भाँति विवेच्य काल में समालोचना-साहित्य क नये युग में प्रवेश करता दिखायी देता है। द्विवेदी-युग में आचार्य महावीरप्रसाद ी तथा उनके समकालीन समीक्षकों ने समालोचना-ग्रन्थों की रचना आरम्भ तो कर दी र उनके द्वारा आरम्भ किये गये आलोचना-साहित्य को सम्यक् आकार देने का श्रेय य काल के समालोचकों, विशेषकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, को है। इस काल तक ाते समालोचना हिन्दी-साहित्य की अनिवार्य आवश्यकता बन गयी थी। विश्वविद्यालयों न्दी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के सन्दर्भ में एक ओर तो काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों चना की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था और दूसरी ओर हिन्दी में कतिपय साहित्य-विधाएँ विकसित हो रही थीं जिनके विवेचन-विश्लेषण में संस्कृत-काव्यशास्त्र ई सहायता नहीं मिल सकती थी; जैसे उपन्यास और कहानी। काव्य और नाट्यरचना े ऐसी नवीन काव्य-प्रवृत्तियाँ दिखायी देने लगी थीं जिनका संस्कृत-काव्यशास्त्र से कोई नहीं जुड़ता था। ये नवीन प्रवृत्तियाँ अँगरेजी के माध्यम से पाश्चात्य साहित्य से थीं, अतः पाश्चात्य काव्यशास्त्र की ओर भी लेखकों का ध्यान जाने लगा था। छाया- के पक्ष-विपक्ष में पुस्तकों और अधिकतर निबन्धों के रूप में आलोचना का एक ऐसा विकसित हुआ जो अपने युग के लिए नया तो था ही, वह भावी आलोचना की पीठिका ना।

इस काल के जिन लेखकों ने संस्कृत-काव्यशास्त्र का परिचय देने के लिए सिद्धांत या ग्रन्थों की रचना की उनमें जगन्नाथप्रसाद 'भानु' (रस रत्नाकर—१९१९, अलंकार- —१९३६), गुलाबराय (नवरस—१९२१), विश्वनाथप्रसाद मिश्र (काव्यांग कौमुदी—), भगवानदीन (व्यंग्यार्थ मंजूषा—१९२७), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (अलंकार —१९२९, नाट्य निर्णय—१९३०), अर्जुनदास केडिया (भारतीभूषण—१९३०), दास वाजपेयी (रस और अलंकार—१९३१), श्यामसुन्दरदास (रूपक रहस्य—), कन्हैयालाल पोद्दार (रस मंजरी—१९३४, अलंकार मंजरी—१९३६) आदि प्रमुख हरिऔध-कृत 'रसकलस' (१९३५) की भूमिका में रस और नायिकाभेद का विवेचन सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकों में कन्हैयालाल गुप्त- 'चरित्र-चित्रण' (१९२३), पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी-कृत 'विश्व-साहित्य' (१९२४) 'विश्व-साहित्य-विमर्श' (१९२४), सेठ गोविन्ददास-कृत 'नाट्यकला मीमांसा' (१९३६), मलाल-कृत 'आदर्श और यथार्थ' (१९३७) तथा विनोदशंकर व्यास-कृत 'कहानी- ' (१९३८) के नाम लिये जा सकते हैं। यद्यपि इनमें कहीं-कहीं भारतीय समीक्षा-दृष्टि पाहार भी है और उस समय तक पाश्चात्य आलोचनाशास्त्र का जैसा विस्तार हो चुका उसकी पूरी झलक भी इनमें नहीं है तथापि समालोचना-क्षेत्र में नवीन विषयों के प्रवर्तन र उनके सुसम्बद्ध विवेचन का जैसा प्रयत्न इनमें किया गया वह किसी सीमा तक सराह- है। सत्य तो यह है कि हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना का सही और स्तरीय रूप लिखित आलोचकों द्वारा प्रस्तुत किया गया—गुलाबराय (नवरस, १९२०), श्याम-

सुन्दरदास (साहित्यालोचन, १९२२), रामचन्द्र शुक्ल (काव्य में रहस्यवाद, १९ लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' (काव्य में अभिव्यंजनावाद, १९३६), रामशंकर शुक्ल 'र आलोचनादर्श, १९३८) तथा रामकुमार वर्मा (साहित्य समालोचना, १९३८)। भार और पाश्चात्य काव्यशास्त्र का मन्थन करके काव्यशास्त्र के विभिन्न अवयवों पर स्व विचार प्रस्तुत करने के कारण इन सभी को समन्वयवादी समालोचक माना जाता श्यामसुन्दरदास (१८७५-१९४५)-कृत 'साहित्यालोचन' में पाश्चात्य और भारतीय का शास्त्र के तत्त्वों को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की गयी है, पर एक हडसन के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'एन इंट्रोडक्शन टु द स्टडी लिट्रेचर' पर अत्यधिक अवलम्बित के कारण और दूसरी ओर भारतीय काव्यशास्त्र विषयक विवेचन में भी कोई खास मौलि न होने के कारण यह ग्रन्थ हिन्दी की सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में विशेषतः ऐतिहासिक महत्त्व के कारण ही परिगणनीय है।

आलोच्य युग में सैद्धान्तिक आलोचना के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यो रामचन्द्र शुक्ल का है। यों तो उन्होंने 'कविता क्या है' (सरस्वती, १९०८), 'सा (सरस्वती, १९१४) आदि निबन्ध लिखकर इसके पूर्व ही अपनी काव्यशास्त्रीय मेधा और स चिन्तन-शक्ति का परिचय दिया था, पर उनकी पहली सैद्धान्तिक आलोचना-कृति 'काव्य रहस्यवाद' इसी युग में प्रकाशित हुई थी। शुक्ल जी ने भारतीय और पाश्चात्य सा शास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने हिन्दी में पहली बार रस-विवेचन को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। यद्यपि इस दृष्टि से उनका सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मीमांसा विवेच्य अवधि के बाद प्रकाशित हुआ, पर उनकी इस काल में प्रकाशित आलो पुस्तकों में भी उनके व्यापक और गम्भीर अध्ययन तथा गहरी मनोवैज्ञानिक दृष्टि परिचय मिलता है। 'चिन्तामणि' में संकलित निबन्ध इस कथन के प्रमाण-रूप में प्रस्तुत जा सकते हैं। रस-सिद्धान्त के विवेचन में शुक्ल जी ने मौलिकता का परिचय दिया है, ही आज उससे सहमत न हुआ जा सके। उन्होंने अपने दृष्टिकोण से भाव, विभाव, रस की पुनर्व्याख्या की—विभिन्न भावों की व्याख्या में उनका पाण्डित्य, मौलिकता और पर्यवेक्षण पग-पग पर दिखायी पड़ता है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद और कुन्तक के वक्रो वाद का तुलनात्मक विवेचन कर अभिव्यंजनावाद को भारतीय वक्रोक्तिवाद का 'विला उत्थान' मानना भी उनके अध्ययन की गहराई का परिचायक है। हिन्दी की सैद्धान्ति आलोचना को परिचय और सामान्य विवेचन के धरातल से ऊपर उठाकर गम्भीर स्त प्रदान करने का श्रेय शुक्ल जी को ही है।

विवेच्य काल की सैद्धान्तिक आलोचना को गति प्रदान करने वाले आलोचकों लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' भी उल्लेखनीय हैं। 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' में उन्होंने भार काव्यशास्त्र में निहित अभिव्यंजनावाद के तत्त्वों की सावधानी के साथ छानबीन की है, कि क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की सम्यक् व्याख्या इस कृति में नहीं हो पायी। क्रोचे द्वारा प्र पादित 'सहजानुभूति' का भी विस्तृत स्पष्टीकरण इसमें नहीं हो पाया। फिर भी, इस ग्र की उपयोगिता इस बात में है कि इसमें साहित्य-रचना की प्रमुख प्रवृत्तियों पर गहराई औ मौलिक सूझ-बूझ के साथ विचार किया गया है। 'सुधांशु' जी ने काव्य की व्याख्या में 'क के लिए कला' सिद्धान्त को वरीयता दी है। डॉ० रसाल और डॉ० रामकुमार वर्मा द्वा क्रमशः रचित 'आलोचनादर्श' और 'साहित्य समालोचना' (१९३०) विषय के सरल, स और व्याख्यात्मक प्रतिपादन की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

प्रायोगिक आलोचना के क्षेत्र में इस युग की उपलब्धियाँ कहीं अधिक हैं। यद्यपि रिक समीक्षा का उदय द्विवेदी-युग में भली भाँति हो चुका था, पर उसका सम्यक् इस अवधि में ही हुआ। इस दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय आलोचक हैं—पद्मसिंह (बिहारी सतसई की भूमिका), कृष्णबिहारी मिश्र (देव और बिहारी) और दीन (बिहारी और देव) जिन्होंने तुलनात्मक आलोचन-पद्धति अपनाकर क्रमशः री, देव और बिहारी की श्रेष्ठता सिद्ध की। इस तुलनात्मक आलोचना-प्रत्यालोचना की उल्लेखनीय बात यह है कि यह पूर्णतः परम्परागत काव्यशास्त्रीय मान्यताओं पर थी, अतः इसे भारतीय काव्यशास्त्र का प्रायोगिक रूप भी कह सकते हैं। इसके विपरीत त्य काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर समकालीन रचनाओं के विवेचन-मूल्यांकन यास विवेच्य काल में नहीं के बराबर हुआ। जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज'-कृत 'प्रेमचन्द की ास-कला' (१९३२) का अपवादस्वरूप उल्लेख किया जा सकता है। इसमें वस्तु, कथोपकथन, देशकाल, भाषा-शैली और उद्देश्य विषयक पाश्चात्य मान्यताओं के र पर प्रेमचन्द के उपन्यास-साहित्य का अनुशीलन किया गया है। समकालीन पत्र-ाओं में भी इस प्रकार के कुछ निबन्ध प्रकाशित हुए, पर व्यवस्थित प्रयास कहीं भी न नहीं होता। सच पूछें तो कहानी और उपन्यास-जैसी नयी काव्यधाराएँ इस युग के ेखकों द्वारा उपेक्षित ही रह गयीं। इसी भाँति नये ढंग की कविता और नाटक को भी महत्त्व नहीं मिल पाया।

विवेच्य काल के समालोचना-साहित्य को सबसे महत्त्वपूर्ण देन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हैं जिन्होंने अपने व्यापक और गम्भीर अध्ययन, काव्य-गुणों को पहचानने की अद्भुत ता और विश्लेषण-बुद्धि के द्वारा हिन्दी-समालोचना को अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रदान किया। ोंने अपने विवेचन के लिए हिन्दी के तीन बड़े कवियों गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास और सी को चुना। तुलसीदास उनके प्रिय कवि थे, अतः सर्वप्रथम उन्होंने 'तुलसी-ग्रन्थावली' २३) का सम्पादन किया और उसकी भूमिका में 'रामचरितमानस' तथा तुलसी के अन्य ों के काव्य-सौन्दर्य का विस्तारपूर्वक उद्घाटन किया। तुलसीदास यों तो समस्त भारत हान् भक्त और कवि के रूप में विख्यात थे, पर उनके काव्य-गुणों का सम्यक् उद्घाटन ल जी के पूर्व किसी आलोचक के द्वारा नहीं हुआ था। उनकी यही भूमिका बाद में 'गोस्वामी सीदास' (१९३३) शीर्षक से स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित हुई। इसी भाँति उन्होंने यसी-ग्रन्थावली' (१९२५) और 'भ्रमरगीतसार' (१९२६) का सम्पादन कर इनकी की भूमिकाओं में जायसी और सूरदास की काव्योपलब्धियों का सूक्ष्म विवेचन किया। न्दी-साहित्य का इतिहास' (१९२९) उनके गम्भीर अध्ययन और विश्लेषण-सामर्थ्य का प्रमाण है।

वैसे तो शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति वैज्ञानिक अध्ययन-चिन्तन से पुष्ट और तर्क-है, पर यह नहीं कहा जा सकता कि वे पूर्वाग्रह और अनुदारता से बिलकुल मुक्त हैं। की काव्य-मान्यताओं के निर्माण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि संस्कृत-कवियों प्रधानतः गोस्वामी तुलसीदास के 'रामचरितमानस' का प्रमुख हाथ है। काव्य-विधाओं प्रबन्धकाव्य को श्रेष्ठ मानने का कारण भी इन कवियों का प्रभाव ही है। इसके अतिरिक्त जी रसवादी, नीतिवादी और लोकमंगलवादी भी हैं। इन मान्यताओं के प्रति स्पष्ट र अडिग आस्था के कारण जहाँ वे एक ओर तुलसी और जायसी-जैसे प्रबन्ध-कवियों के व्य-सौष्ठव का सम्यक् उद्घाटन कर सके वहाँ दूसरी ओर सूरदास, रीतिकवियों और

आधुनिक कवियों के साथ पूरा न्याय नहीं कर पाये। कवि-रूप में सूरदास की श्रेष्ठ स्वीकार करने पर भी वे उन्हें तुलसी के समकक्ष इसलिए नहीं रख सके क्योंकि सूरद 'लोकपक्ष' पर उतना ध्यान नहीं दिया, जितना तुलसीदास ने; और कबीर को तो विवेचन के योग्य भी नहीं समझा। रीतिकालीन कवियों को भी शुक्ल जी अपने इसी पू के कारण पर्याप्त महत्त्व नहीं दे सके तथा समकालीन छायावादी कवियों की तो उपेक्षा ही नहीं, विरोध भी किया। वे छायावाद के विरोधी इसलिए थे कि उसका 'लोक अत्यन्त दुर्बल था। बाद में जब छायावादी कवियों ने जीवन की सहज-सामान्य बातों अपनी महानताओं का विषय बनाना आरम्भ किया तो शुक्ल जी उनकी प्रशंसा करने में न रहे। पन्त जी की प्रकृति-सम्बन्धी कविताओं तथा निराला की सामाजिक और ऐतिहा प्रसंगों से जुड़ी कविताओं की उन्होंने प्रशंसा की है। फिर भी अपने कतिपय पूर्वाग्रहों बावजूद शुक्ल जी उच्चकोटि के समालोचक के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

शुक्ल जी की आलोचना-सारणि पर अग्रसर होनेवाले आलोचकों में कृष्णशं शुक्ल ने 'केशव की काव्य-कला' (१९३४) और 'कविवर रत्नाकर' (१९३५) शीर्षक कृ में केशवदास और रत्नाकर की जीवनी तथा उनके काव्य के विभिन्न पक्षों पर ब सहृदयता तथा तत्त्वान्वेषिणी दृष्टि से विचार किया है। आचार्य शुक्ल ने कवि के रू केशव को कोई महत्त्व नहीं दिया था, पर कृष्णशंकर शुक्ल ने उनके काव्य से मार्मिक पंक्ति उद्धृत कर उनकी भावपूर्ण व्याख्या की और सिद्ध किया कि केशव में भी समर्थ कवि की क्षमता थी। इसी प्रकार उन्होंने 'रत्नाकर' के पदों का काव्य-विषय, अभिव्यंजना-शै भाव-चित्रण, अलंकार आदि की दृष्टि से सराहनीय विवेचन किया। इस पद्धति के एक अ उल्लेखनीय समीक्षक विश्वनाथप्रसाद मिश्र हैं। 'बिहारी की वाग्विभूति' (१९३६) उन्होंने बिहारी के दोहों पर पूर्ववर्ती काव्य के प्रभाव का विवेचन करते हुए शास्त्री आलोचना की पद्धति अपनायी है। बिहारी के काव्य-सौन्दर्य का सम्यक् विवेचन करनेवाली यह पहली आलोचनात्मक कृति है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'हिन्दी नाट्यसाहित्य का विकास' (१९३०) नामक पुस्तक भी लिखी जिसमें संस्कृत-नाट्यसाहित्य के आधार प हिन्दी-नाटकों का विवेचन किया गया है।

शुक्ल जी की आलोचना-पद्धति से प्रभावित समीक्षकों में रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमु (प्रसाद की नाट्यकला, १९२९), ब्रजरत्नदास (हिन्दी-नाट्यसाहित्य, १९३०), रामकुमा वर्मा (कबीर का रहस्यवाद, १९३१), जनार्दन मिश्र (विद्यापति, १९३२), कृष्णानन्द गुप्त (प्रसाद जी के दो नाटक, १९३३), अखौरी गंगाप्रसाद (पद्माकर की काव्य-साधना, १९३४), भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' (मीरा की प्रेम-साधना, १९३४), गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' (महाकवि हरिऔध—१९३४, गुप्त जी की काव्यधारा—१९३७) तथा रामनाथ 'सुमन' (प्रसाद की काव्य कला, १९३८) उल्लेखनीय हैं। किन्तु, इन सब आलोचनात्मक कृतियों में प्रायः वह गहराई और आलोच्य कृति के मर्मोद्घाटन की क्षमता नहीं है जो आचार्य शुक्ल में मिलती है। इस काल के कुछ आलोचकों ने शुक्ल जी द्वारा मथे हुए विषय को भी स्पर्श करने का साहस दिखाया,[1] पर इनमें दृष्टिकोण विषयक मौलिकता के दर्श

---

[1] देखिए: श्यामसुन्दरदास (हिन्दी भाषा और साहित्य, १९३०), रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (हिन्दी साहि का इतिहास, १९३१), ब्रजरत्नदास (हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९३३), अयोध्यासिंह उपाध्या 'हरिऔध' (हिन्दी भाषा और उसके साहित्य का विकास, १९३४), कृष्णशंकर शुक्ल (आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, १९३४), सूर्यकान्त शास्त्री (हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, १९३ आदि के इतिहास-ग्रन्थ तथा रामचन्द्र द्विवेदी (तुलसी साहित्य रत्नाकर १९२९), श्यामसुन्दरदा (गोस्वामी तुलसीदास, १९३३), रामनरेश त्रिपाठी (तुलसी और उनकी कविता, १९३८) आदि के गोस्वामी तुलसीदास विषयक ग्रन्थ।

नहीं होते—सामान्यतः इन आलोचकों ने शुक्ल जी के आधार पर सम्बद्ध कवि या युगीन काव्यधारा का सविस्तर विवेचनमात्र किया है।

आचार्य शुक्ल और उनकी परम्परा तथा स्वभाव के अन्य आलोचकों ने हिन्दी के प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में काफ़ी लिखा, पर समकालीन छायावादी काव्य को उनकी सहानुभूति नहीं मिली। बदरीनाथ भट्ट, ललितकिशोर सिंह, बनारसीदास चतुर्वेदी, पद्मसिंह शर्मा, हेमचन्द्र जोशी आदि ने गुट बनाकर अत्यन्त आक्रामक ढंग से छायावाद का विरोध किया। 'सरस्वती', 'विशाल भारत', 'सुधा', 'प्रभा' आदि पत्रिकाएँ प्रसाद, निराला और पन्त की कविताओं की ही नहीं, उनके चरित्र की भी अत्यन्त कुरुचिपूर्ण ढंग ने आलोचना करती थीं। इधर 'मतवाला', 'जागरण', 'भारत' आदि पत्र छायावाद का समर्थन कर रहे थे। छायावाद के समर्थकों में नन्ददुलारे वाजपेयी, अवध उपाध्याय, कृष्णदेवप्रसाद गौड़, शान्तिप्रिय द्विवेदी, रामनाथलाल 'सुमन', नगेन्द्र आदि उल्लेखनीय हैं। इस विरोध और समर्थन के क्रम में छायावादी कवियों पर जो लेख लिखे गये, उनमें कविताओं के गुण-दोष से अधिक सम्बद्ध कवियों और आलोचकों के चरित्र पर छींटाकशी की गयी है, पर इस सिलसिले में छायावादी कवियों ने अपनी कविता के बचाव या 'डिफ़ेंस' में जो आलोचनाएँ लिखीं उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। सर्वप्रथम सुमित्रानन्दन पन्त ने, सम्भवतः वर्ड्स्वर्थ-कृत 'लिरिकल बैलेड्स' और शेली-कृत 'डिफ़ेंस आफ़ पोयट्री' से प्रेरणा लेकर, 'पल्लव' (१९२७) और 'वीणा' (१९२९) की भूमिकाओं में रीतिकाल से द्विवेदी-युग तक की कविता की त्रुटियाँ दिखाते हुए छायावादी कविताओं की वकालत की, पर छायावादी कविता का सुदृढ़ दर्शन वे प्रस्तुत नहीं कर सके क्योंकि उनमें कविसुलभ भावुकता और संवेदना जिस मात्रा में है उस मात्रा में विश्लेषण-क्षमता नहीं है।

'पल्लव' के प्रकाशन के तुरन्त बाद निराला ने 'पन्त और पल्लव' शीर्षक कृति में पन्त की कविताओं के उद्धरण देकर उनकी त्रुटियों का निर्देश किया। जहाँ-तहाँ उन्होंने पन्त की कविताओं की तारीफ़ भी की, पर प्रधानता दोष-दर्शन की ही रही। उन्होंने जिस सूझबूझ और मर्मभेदिनी दृष्टि से पन्त की कविताओं की आलोचना की है, वह एकांगी होने पर भी ध्यान आकृष्ट करती है। अपने स्फुट निबन्धों में उन्होंने 'हरिऔध' के चौपदों और गुप्त जी की काव्य-भाषा की भी प्रशंसा की है जिससे यह सिद्ध होता है कि छायावादी कवियों में एकमात्र निराला ही आलोचकीय क्षमता से युक्त थे। उन्होंने काव्य के सैद्धान्तिक विवेचन में भी रुचि ली। उदाहरणार्थ छायावाद के सन्दर्भ में अपने विरोधियों को उत्तर देने के लिए उन्होंने समकालीन पत्र-पत्रिकाओं में अनेक लेख लिखे जिनमें भाषा, छन्द, तुक लय, सार्वदेशिकता, समसामयिकता, स्थानीयता आदि के सन्दर्भ में ऐसे अनेक मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं जो भावी कविता और आलोचना के लिए मार्गदर्शक बने। इसी भाँति पन्त ने 'पल्लव' की भूमिका में काव्य विषयक कुछ प्रश्नों पर किंचित् अस्पष्ट-से विचार व्यक्त किये हैं। प्रसाद ने १९३६ ई० में 'हंस' के कई अंकों में कतिपय काव्यालोचन विषयक निबन्ध लिखे, जिनका संकलन बाद में 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध' (१९३९) शीर्षक से हुआ। इन निबन्धों में उन्होंने काव्य और कला, रहस्यवाद, रस, नाटकों में रस का स्थान, रंगमंच, यथार्थवाद, छायावाद आदि के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये, पर पन्त की भाँति वे भी छायावाद की दार्शनिक पीठिका और उसकी पहचान के आधार-बिन्दु प्रस्तुत नहीं कर पाये। 'सान्ध्यगीत' (१९३६) की भूमिका में महादेवी ने भी छायावाद की परिभाषा देने की कोशिश की—उन्होंने छायावाद और रहस्यवाद का भारतीय सूत्र ढूंढ़ा तथा

वेदों से ढूंढ़कर ऐसी पंक्तियाँ सामने रखीं जिनसे छायावाद-रहस्यवाद का समर्थन होता है।

छायावाद को अपना समर्थ आलोचक नन्ददुलारे वाजपेयी के रूप में मिला था। उन्होंने बहुत ही तर्कपूर्ण और प्रामाणिक ढंग से छायावाद के सामाजिक सन्दर्भ में व्याख्या की तथा छायावादी काव्य की विशेषताओं का उद्घाटन किया। प्रसाद, 'निराला' और पन्त पर १९३१ ई० में पृथक्-पृथक् तीन निन्बध लिखकर उन्होंने छायावाद की बृहत् त्रयी की घोषणा की। उनके अनुसार प्रसाद के काव्य में 'मानवीय भूमि', 'निराला' के काव्य में बुद्धि-तत्त्व तथा पन्त के काव्य में 'कल्पना' की प्रधानता है। वाजपेयी जी का महत्त्व इस बात में है कि जब पुराने खेमे के आलोचकों के प्रहार से छायावादी कवि कुण्ठित हो रहे थे तब उन्हें वाजपेयी जी का समर्थन प्राप्त हुआ। उन्होंने शुद्ध सौन्दर्यबोधात्मक मूल्यों की दृष्टि से छायावादी काव्य का मूल्यांकन किया है और उनके आलोचनात्मक निबन्धों में उनकी काव्य विषयक गहरी पकड़ तथा तीक्ष्ण विश्लेषण-क्षमता के दर्शन होते हैं। छायावादी कविता की सहानुभूतिपूर्ण व्याख्या और विवेचन करने वालों में शान्तिप्रिय द्विवेदी और नगेन्द्र भी उल्लेखनीय हैं। द्विवेदी जी ने विवेच्य काल में तीन आलोचनात्मक ग्रन्थों की रचना की—'हमारे साहित्य निर्माता' (१९३२), 'कवि और काव्य' (१९३७) तथा 'साहित्यिकी' (१९३८)। उन्होंने छायावादी काव्य के विकास के मूल में गांधीवाद और प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की परिस्थितियों को कारणभूत बताया। पन्त जी के काव्य से वे विशेष प्रभावित थे, वैसे उन्होंने प्रसाद और 'निराला' की भी प्रशंसा की है। उनकी आलोचना-शैली में विश्लेषण और तर्कपूर्ण विवेचन के स्थान पर मन पर पड़े प्रभावों का मनोहर शैली में कथन अधिक मिलता है। इसके विपरीत डॉ० नगेन्द्र ने 'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८) नामक पुस्तक में सर्वप्रथम छायावाद की विशेषताओं का प्रामाणिक विवेचन किया और तदनन्तर पन्त जी की भावभूमि, विचार-धारा, कला, भाषा तथा उन पर पड़े बाह्य प्रभावों की व्याख्या की। पन्त की कविताओं की व्याख्या करके उन्होंने वहीं से आलोचना के सूत्र ढूंढ़े हैं और उन्हीं के आधार पर पन्त-काव्य का मूल्यांकन किया है। कहना नहीं होगा कि यही आलोचना की सर्वश्रेष्ठ पद्धति है।

हिन्दी-आलोचना के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विवेच्य काल में उसे स्तरीय बनाने का श्रेय एकमात्र आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को है। आलोचना के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों रूपों में शुक्ल जी दुर्लंघ्य हैं। पर उनका क्षेत्र सीमित रहा—उन्होंने प्राचीन कवियों, विशेषकर तुलसी, जायसी और सूर के विवचन में तो उच्च कोटि की आलोचनात्मक क्षमता का परिचय दिया, पर आधुनिक कवियों के प्रति वे अनौचित्य की सीमा तक अनुदार हो गये। बाद में उन्होंने छायावादी काव्य में कुछ अच्छाइयाँ भी देखीं, पर उनका मूल स्वर विरोधी खेमे का ही रहा। छायावाद को समझने-समझाने का प्रयास इसी काल के अन्य आलोचकों—नन्ददुलारे वाजपेयी, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नगेन्द्र आदि ने किया। आगे चलकर इन्हीं आलोचकों ने हिन्दी-आलोचना को दिशा और गति भी प्रदान की।

गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ

छायावादयुगीन लेखकों ने गद्य-साहित्य की गौण तथा नवप्रवर्तित विधाओं को अंकुरित और पल्लवित करने में भी यथेष्ट योगदान किया। आलोच्य युग के पूर्व हिन्दी में जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण और पत्र-लेखन की परम्परा तो विद्यमान थी, किन्तु आत्मकथा, रेखाचित्र, गद्यकाव्य तथा अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थों की रचना प्रथम बार छायावाद-युग

में ही हुई। गद्य-शैली के विकास के साथ-साथ अभिव्यक्ति के इन नये रूपों की खोज सर्वथा स्वाभाविक थी। इनमें से रेखाचित्र और गद्यकाव्य को तो इस युग की विशिष्ट उपलब्धि कहा जा सकता है।

जीवनी-साहित्य : आलोच्य युग में जीवनी-लेखन की दिशा में पर्याप्त कार्य हुआ। तत्कालीन राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभावस्वरूप स्वभावतः लेखकों की सर्वाधिक अभिरुचि राष्ट्रीय नेताओं से सम्बन्धित जीवनियाँ लिखने की ओर रही। इसके साथ ही इतिहास-प्रसिद्ध महापुरुषों और महान् महिलाओं के जीवनवृत्त प्रस्तुत करने की ओर भी ध्यान दिया गया। राष्ट्रीय नेताओं के सन्दर्भ में नवजादिकलाल श्रीवास्तव, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, रामदयाल तिवारी, रामनरेश त्रिपाठी, नरोत्तमदास व्यास, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, नन्दकुमारदेव शर्मा, व्यथित हृदय, गणेशशंकर विद्यार्थी, इन्द्र वाचस्पति, जगपति चतुर्वेदी तथा मन्मथनाथ गुप्त ने क्रमशः 'देशभक्त लाला लाजपतराय' (१९२०), 'बाल गंगाधर तिलक', (१९२०), 'गांधी-मीमांसा' (१९२१), 'गांधी जी कौन हैं' (१९२१), 'गांधी गौरव' (१९२१), 'चंपारन में महात्मा गांधी' (१९२२), 'लाजपत-महिमा' (१९२२), 'पं० जवाहरलाल नेहरू' (१९२६), 'श्री गांधी' (१९३१), 'जवाहरलाल नेहरू' (१९३३), 'लाला लाजपतराय (१९३८), 'चन्द्रशेखर आज़ाद' (१९३८) आदि रचनाओं के माध्यम से जीवनी-साहित्य को समृद्ध किया। गांधी जी इस युग के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता थे। फलतः महात्मा गांधी विषयक जीवनियाँ सर्वाधिक संख्या में लिखी गयीं। उनके अतिरिक्त लाला लाजपत राय, लोकमान्य तिलक तथा जवाहरलाल नेहरू के जीवनवृत्तों को भी अनेक लेखकों ने अपनी रचनाओं का आधार बनाया।

समसामयिक राष्ट्रीय विभूतियों के अतिरिक्त इस काल में भारतीय इतिहास के महापुरुषों से सम्बन्धित जीवनियाँ भी पर्याप्त संख्या में लिखी गयीं। रामनरेश त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द, चन्द्रशेखर पाठक, सुखसम्पतिराय भण्डारी, रामवृक्ष शर्मा, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, गंगाप्रसाद मेहता, प्रेमचन्द आदि ने क्रमशः 'पृथ्वीराज चौहान' (१९१९), 'सम्राट् हर्षवर्द्धन' (१९२०), 'राणा प्रतापसिंह' (१९२०), 'शिवाजी' (१९२५), 'महाराणा प्रतापसिंह' (१९२७), 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' (१९३२), 'दुर्गादास' (१९३८) आदि कृतियों की रचना कर इस साहित्य-विधा के विकास में योगदान किया। देश और समाज के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में निष्ठावती महिलाओं के इतिहास-प्रसिद्ध जीवन-चरित्र लिखने की ओर भी कुछ लेखकों का ध्यान गया। शिवव्रतलाल वर्मन, मनोरमाबाई, जहूरबख्श, जटाधरप्रसाद शर्मा विमल, जगन्नाथ शर्मा, भगवद्दत्त आदि ने क्रमशः 'सच्ची देवियाँ' (१९२१), 'विद्योत्तमा' (१९२४), 'आर्य महिला रत्न' (१९२४), 'अहिल्याबाई' (१९२६), 'रमणी नवरत्न' (१९२७), तथा 'भारतीय महिला' (१९३५) नाम्नी रचनाओं का प्रणयन कर एतद्विषयक साहित्य की अभिवृद्धि की। इस प्रकार आलोच्य युग के जीवनी-लेखकों की दृष्टि पाठकों को राष्ट्र-प्रेम और जन-सेवा की प्रेरणा देने की ओर रही है। फलस्वरूप उद्बोधनात्मकता, आदर्शवाद, ओजस्विता, सहज-स्पष्ट भाषा-शैली आदि का संयोजन सभी लेखकों को अभीष्ट रहा है; और ऐसी भी जीवनियाँ दुर्लभ नहीं हैं जिनमें इतिवृत्तात्मकता-मात्र न होकर विषय का आत्मीयतापूर्ण प्रतिपादन मिलता है।

आत्मकथा : जब कोई व्यक्ति अपनी जीवनी स्वयं लिखता है तब उसे 'आत्मकथा' कहते हैं, किन्तु अपने चरित्र का विश्लेषण करना सरल नहीं है, क्योंकि यदि लेखक अपने गुणों का वर्णन करता है तो आत्मप्रशंसक कहलाता है, यदि दोषों का उल्लेख करता है तो

यह भय बना रहता है कि कहीं श्रद्धालु जनों की श्रद्धा ही न समाप्त हो जाए; और यदि वह अपने दोषों का उल्लेख नहीं करता तो सच्चा आत्मकथा-लेखक होने का अधिकारी नहीं है। हिन्दी में इस विधा का आरम्भ बनारसीदास जैन की पद्यात्मक रचना 'अर्धकथानक' (१६४१) से होता है, किन्तु गद्य-विधा के रूप में इसकी प्रतिष्ठा आधुनिक काल में हुई—सत्यानन्द अग्निहोत्री-कृत 'मुझमें देव-जीवन का विकास' (१९१०) तथा स्वामी दयानन्द-कृत 'जीवन-चरित्र' (१९१७) इस विधा की आरम्भिक कृतियाँ हैं। छायावाद-युग में प्रकाशित आत्मकथा-साहित्य में भाई परमानन्द, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तथा नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा क्रमशः लिखी गयीं 'आपबीती' (१९२१), 'आत्मकथा' (१९२३) तथा 'तरुण के स्वप्न' (१९३५) शीर्षक कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। भाई परमानन्द-कृत 'आपवीती' को छोड़कर शेष दोनों रचनाएँ अनूदित हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' का अनुवाद श्री हरिभाऊ उपाध्याय ने किया तथा उसका प्रकाशन १९२७ ई० में हुआ। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस की आत्मकथा का अनुवाद गिरीशचन्द्र जोशी ने किया। ये दोनों ग्रन्थ पर्याप्त प्रेरणाप्रद हैं और पाठकों को कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने के लिए उत्साहित करते हैं।

यात्रावृत्त : द्विवेदी-युग की भाँति इस युग में भी यात्रावृत्त-लेखन का पर्याप्त प्रचलन रहा। सर्वश्री रामनारायण मिश्र (१८७६-१९५३), गणेशनारायण सोमानी (जन्म १८७८), स्वामी सत्यदेव परिव्राजक (जन्म १८७९), कन्हैयालाल मिश्र आर्योपदेशक (जन्म १८८०), शिवप्रसाद गुप्त (१८८३-१९१३), जवाहरलाल नेहरू (१८८९-१९६४), राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३), सेठ गोविन्ददास (जन्म १८९६), प्रो० मनोरंजन (जन्म १९००) और केदाररूप राय (जन्म १९०२) ने इस विधा को आलोच्य काल में यथाशक्ति समृद्ध किया। रामनारायण मिश्र ने 'यूरोप यात्रा में छह मास' (१९३२) में यूरोप के दर्शनीय स्थानों के रोचक वर्णन के साथ-साथ वहाँ की शिक्षा-पद्धति आदि का भी यथास्थान विवरण दिया है। गणेशनारायण सोमानी ने अपनी यूरोप-यात्रा का वर्णन पत्र-शैली में किया है। 'मेरी यूरोप-यात्रा' (१९३२) में संकलित ये पत्र उन्होंने अपनी पुत्री को लिखे थे। वैसे, सत्यदेव परिव्राजक इस युग के सर्वप्रमुख यात्रावृत्त-लेखक हैं। 'मेरी जर्मन-यात्रा' (१९२६), 'यात्री-मित्र' (१९३६), 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' (१९३७), 'ज्ञान के उद्यान में' (१९३७), 'नई दुनियां के मेरे अद्‌भुत संस्मरण' (१९३७) और 'अमरीका प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी, (१९३७) इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। 'मेरी जर्मन-यात्रा' में जहाँ जर्मनी के प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण है, वहाँ 'यूरोप की सुखद स्मृतियाँ' में सम्बद्ध यात्रा-वर्णन के साथ-साथ प्रकारान्तर से भारत के स्वतन्त्र होने की आवश्यकता पर भी बल दिया गया है। 'यात्री-मित्र' में यात्रा में आनेवाली कठिनाइयों का वर्णन करते हुए लेखक ने अपने यात्रा-अनुभवों को अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत किया है। निबन्धात्मक शैली में लिखित 'ज्ञान के उद्यान में' पुस्तक में लेखक ने ऐसे चालीस निबन्ध संकलित कर दिये हैं जो उन्होंने अपनी यात्राओं के समय विभिन्न पत्रिकाओं के लिए लिखे थे। 'नई दुनिया के मेरे अद्‌भुत संस्मरण' तथा 'अमरीकी प्रवास की मेरी अद्‌भुत कहानी' में स्वामी जी ने अमरीका की शिक्षा-पद्धति, प्राकृतिक वैभव, सामाजिक-राजनीतिक जीवन, दर्शनीय स्थानों आदि का कथात्मक शैली में वर्णन किया है। कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक' ने 'हमारी जापान-यात्रा' (१९३१) में जापान की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक स्थितियों, दर्शनीय स्थानों आदि का वर्णन करने के साथ-साथ सुमात्रा, जावा, बाली, हांगकांग, शंघाई आदि पर पड़े भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रभाव का निरूपण किया है, तो शिवप्रसाद गुप्त ने 'पृथ्वी-प्रदक्षिणा' (१९३४)

अमरीका, जापान, आयरलैंड, कोरिया, चीन, सिंगापुर, इंग्लैंड आदि के दर्शनीय स्थानों का रोचक वर्णन किया है। जवाहरलाल नेहरू द्वारा हिन्दी में लिखित 'रूस की सैर' (१९२९) यात्रा-वर्णन के साथ-साथ रूस की रमणीय छटा का भी सजीव चित्रण मिलता है।

यात्रावृत्त-लेखन में राहुल सांकृत्यायन का अन्यतम स्थान है। वे पक्के घुमक्कड़ थे और उनके जीवन का बहुत बड़ा भाग घूमने-फिरने में व्यतीत हुआ था। आलोच्य युग में न्होंने 'तिब्बत में सवा वर्ष' (१९३३), 'मेरी यूरोप-यात्रा' (१९३५) तथा 'मेरी तिब्बत-यात्रा' (१९३७) शीर्षक ग्रन्थों की रचना की। 'तिब्बत में सवा वर्ष' में न केवल तिब्बत के न-जीवन की सशक्त झाँकी उतारी गयी है, अपितु वहाँ रहकर खोजे गये ग्रन्थों का भी स्तृत वर्णन दिया गया है। 'मेरी यूरोप-यात्रा' में यूरोप के दर्शनीय स्थलों के अतिरिक्त म्ब्रिज तथा ऑक्सफ़ोर्ड विश्वविद्यालयों के रोचक वृत्त भी प्रस्तुत किये गये हैं। अनेक चित्रों से अलंकृत तथा डायरी शैली में लिखी गयी 'मेरी तिब्बत-यात्रा' में तिब्बत के प्राकृतिक न्दर्य का मनमोहक निरूपण मिलता है। सेठ गोविन्ददास ने भी यात्रा-वृत्त-साहित्य के कास में योग दिया है। उनके द्वारा रचित 'हमारा प्रधान उपनिवेश' (१९३८) में दक्षिण फ्रीका की सामाजिक-राजनीतिक स्थितियों का सम्यक् उद्घाटन हुआ है, किन्तु इस कृति का शीर्षक कुछ भ्रामक है, क्योंकि भारत का न तो कोई उपनिवेश है और न वह उपनिवेश-वाद में आस्था रखता है। प्रो॰ मनोरंजन ने 'उत्तराखण्ड के पथ पर' (१९३९) में अपनी द्री-केदार-यात्रा का औपन्यासिक शैली में वर्णन किया है तथा केदाररूप राय ने 'हमारी लायत-यात्रा' (१९२६) में यूरोप के दर्शनीय स्थानों के साथ-साथ वहाँ की पर्वतीय शोभा र भी प्रकाश डाला है।

प्रवृत्त्यात्मक दृष्टि से आलोच्य युग की कृतियों का मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि इस युग में विदेश-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकें ही अधिक संख्या में प्रकाशित हुईं। नमें भी यूरोप-सम्बन्धी पुस्तकों की संख्या अधिक है। विषयानुरूप सुबोध भाषा तथा पत्र, यरी, निबन्ध आदि विविध शैलियों का प्रयोग इस युग के यात्रा-साहित्य की शिल्पगत शेषताएं हैं।

संस्मरण तथा रेखाचित्र : आलोच्य युग में संस्मरणों तथा रेखाचित्रों की पर्याप्त रिमाण में रचना की गयी। संस्मरण तो इस युग के पूर्व भी लिखे गये थे, किन्तु रेखा-चित्रों की रचना इसी काल में हुई। जहाँ तक संस्मरणों का सम्बन्ध है, पूर्ववर्ती युग के मान विवेच्य युग में भी पत्र-पत्रिकाओं ने ही इसकी श्रीवृद्धि में सर्वाधिक योग दिया। रस्वती' में रामकुमार खेमका, कृपानाथ मिश्र, रामनारायण मिश्र, भगवानदीन दुबे, मेश्वरी नेहरू, श्रीमन्नारायण अग्रवाल आदि के अनेक यात्रावृत्तमूलक संस्मरण प्रकाशित ए जिनसे देश-विदेश के जीवन के विविध पक्षों, दर्शनीय स्थानों, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि की र्णन-विवरणपरक भावात्मक शैली में रोचक ढंग से रूपायित किया गया है। 'विशाल रत', 'सुधा' और 'माधुरी' में भी कतिपय उल्लेखनीय संस्मरण प्रकाशित हुए। आचार्य मदेव, अमृतलाल चक्रवर्ती, बनारसीदास चतुर्वेदी, मंगलदेव शर्मा प्रभृति लेखकों ने इन त्रिकाओं के लिए क्रमशः स्वामी श्रद्धानन्द, बालमुकुन्द गुप्त, श्रीधर पाठक और पद्मसिंह र्मा से सम्बद्ध जीवनीपरक संस्मरणों की रचना की। 'सुधा' (१९२१) में प्रकाशित ला-चन्द्र जोशीकृत 'मेरे प्राथमिक जीवन की स्मृतियाँ' तथा वृन्दावनलाल वर्मा-कृत 'कुछ स्मरण' भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री के अतिरिक्त इस वधि में संस्मरणों के कतिपय संकलन भी प्रकाशित हुए जिनमें शिवराम पाण्डेय, श्रीराम

शर्मा, मन्मथनाथ गुप्त तथा शिवनारायण टण्डन द्वारा क्रमशः रचित 'मदन मोहन के सम्बन्ध की कुछ पुरानी स्मृतियाँ' (१९३२), 'शिकार' (१९३६), 'क्रान्ति-युग के संस्मरण' (१९३७) और 'झलक' (१९३८) उल्लेखनीय हैं। इनमें से अन्तिम कृति में हरिऔध जी के जीवन की कुछ स्मृतियाँ दी गयी हैं। बाबूराव विष्णुराव पराड़कर द्वारा सम्पादित 'हंस' का 'प्रेमचन्द स्मृति अंक' (१९३७) तथा ज्योतिलाल भार्गव द्वारा सम्पादित 'साहित्यिकों के संस्मरण' भी इसी युग की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

आलोच्य युग में संस्मरणात्मक रेखाचित्रों की एक नयी विधा का भी प्रचलन हुआ जिसके विकास में श्रीराम शर्मा, बनारसीदास चतुर्वेदी तथा महादेवी वर्मा ने महत्त्वपूर्ण योग दिया। इस सन्दर्भ में श्रीराम शर्मा-कृत 'बोलती प्रतिमा' (१९३७) विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। लेखक ने भूमिका में इस कृति में संकलित रचनाओं को लेख, स्कैच और कहानियाँ माना है, किन्तु यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इस कृति की अधिकांश रचनाएँ स्कैच यानी रेखाचित्र ही हैं। 'भाई जगन्नाथ' इस संकलन की सर्वश्रेष्ठ रचना है। ग्रामीण जीवन से अपने पात्रों का संकलन करते हुए उनके सुख-दुःख, त्याग-तपस्या आदि का ओजस्वी शैली में जीवन्त चित्र प्रस्तुत करने में शर्मा जी को कमाल हासिल है। बनारसीदास चतुर्वेदी तथा महादेवी वर्मा के संस्मरणात्मक रेखाचित्र केवल पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए। चतुर्वेदी जी ने सन्तों, समाजसेवियों, देशसेवकों और साहित्यकारों से सम्बद्ध अनेक संस्मरणात्मक रेखाचित्र लिखे जिनका प्रकाशन 'विशाल भारत' तथा अन्य समकालीन पत्रिकाओं में हुआ। उनका विशेष बल व्यक्ति के गुणों के उद्घाटन पर रहा —व्यक्तित्व के दुर्लभ पक्षों पर उनका ध्यान नहीं गया है। सामग्री की वैसी कल्पनामूलक कलात्मक अभिव्यक्ति भी उनके यहाँ नहीं मिलती जो महादेवी वर्मा के प्रतिनिधि संस्मरणात्मक रेखाचित्रों—रामा (१९३०), बिन्दा (१९३४), सबिया (१९३५), बिट्टो (१९३५) घीसा (१९३६) आदि—में सुलभ है। ये सभी रचनाएँ आगे चलकर पुस्तक-रूप में भी प्रकाशित हुई। बनारसीदास चतुर्वेदी ने व्यंग्य का पुट देते हुए छोटे-छोटे वाक्यों तथा रोचक शैली के माध्यम से पाठक के मन पर अपनी अमिट छाप छोड़ देनेवाली चित्रोपम रचनाओं का प्रणयन किया है, तो महादेवी वर्मा ने समाज के दीन-हीन तथा शोषित व्यक्तियों को कथ्य के रूप में चुनकर भारतीय समाज का जीवन चित्र प्रस्तुत कर दिया है। महादेवी के रेखाचित्रों में संवेदनशीलता, भावुक कल्पना, कवि-हृदय और कलात्मक अभिव्यक्ति का अभूतपूर्व उत्कर्ष मिलता है।

समग्रतः आलोच्य युग में संस्मरणों और रेखाचित्रों में कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से पर्याप्त वैविध्य दृष्टिगत होता है। कथ्य की दृष्टि से संस्मरण-साहित्य में जहाँ समाजसेवी नेताओं, साहित्यकारों तथा प्रवासी भारतीयों के स्मृति-प्रसंगों को रोचक एवं प्रवाहपूर्ण शैली में प्रस्तुत करके पाठक को कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने की प्रेरणा दी गयी है। वहाँ रेखाचित्रों में समाज के उपेक्षित व्यक्तियों के चित्रण पर बल दिया गया है। शिल्प की दृष्टि से इस युग के साहित्य की सर्वप्रमुख उपलब्धि है—चित्रात्मकता। कथ्य को सशक्त रूप में रूपायित करने के लिए रेखाचित्रों की जिस शैली का इस युग में श्रीगणेश हुआ वह परवर्ती युग के लेखकों के लिए दिशासूचक सिद्ध हुई।

गद्यकाव्य : 'गद्यकाव्य' से अभिप्राय उस रचना से है जिसमें वैयक्तिक आशा-निराशा, सुख-दुःख आदि घनीभूत भावनाओं को साधारण गद्य से भिन्न भावपूर्ण गद्य में व्यक्त किया जाता है—उसमें संवेदनशीलता एवं रसात्मकता तो छन्दोबद्ध काव्य के समान

ोती है, किन्तु माध्यम गद्य होता है। हिन्दी में इस प्रकार की रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ठाकुर ी प्रसिद्ध कृति 'गीतांजलि' के प्रभावस्वरूप लिखी गयीं। राय कृष्णदास (जन्म १८९२), योगी हरि (जन्म १८९६), चतुरसेन शास्त्री (१८९१-१९६०), दिनेशनन्दिनी चोरड्या जन्म १९१५), माखनलाल चतुर्वेदी (१८८९-१९६८) और डॉ० रघुवीरसिंह (जन्म ९०८) इस विधा के मुख्य कृतिकार हैं। 'साधना' (१९१७), 'संलाप' (१९२७), वाल' (१९२९), 'प्रवाह' (१९३१) और 'छायापथ' (१९३१) राय कृष्णदास के प्रमुख काव्य-संग्रह हैं। रहस्योन्मुख, प्रकृतिपरक एवं भावात्मक रचनाओं का प्रणयन इनकी ी विशेषता है जिसके लिए इन्होंने परिमार्जित तथा प्रवाहपूर्ण भाषा का आश्रय लिया । वियोगी हरि द्वारा प्रस्तुत युग में रचित मुख्य गद्यकाव्य हैं—'तरंगिणी' (१९२०), न्तर्नाद' (१९२६), 'भावना' (१९२८) और 'प्रार्थना' (१९२९)। इनकी रचनाएँ तः भक्तिपरक हैं जिनमें अनेक स्थलों पर राष्ट्र-प्रेम का स्वर समवेत है। सामासिक आनुप्रासिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए भावात्मक एवं व्यंग्यात्मक शैली का ोग इनके लेखन की मुख्य विशेषता है। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने 'अन्तस्तल' (१९२१) र 'तरलाग्नि' (१९३६) द्वारा गद्यकाव्य के भण्डार को समृद्ध किया है। उन्होंने मान-क भावों के विविध रूपों को शब्दबद्ध किया है। स्थानीय शब्दों तथा लोकप्रचलित मुहावरों युक्त व्यावहारिक भाषा- तथा उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों का स्वाभाविक ोग करते हुए वार्तालाप, स्वगत कथन, सूक्त्यात्मक आदि विषयानुरूप शैलियों का प्रयोग की रचना-शैली की उल्लेखनीय विशेषता है।

हिन्दी-गद्यकाव्य के विकास में योग देनेवाली महिलाओं में दिनेशनन्दिनी चोरड्या ोपरि हैं। 'शबनम' (१९३३) और 'मौक्तिकमाल' (१९३७) इनकी उल्लेखनीय कृतियाँ जिनमें प्रायः वैयक्तिक सुख-दुःख को कथ्य-रूप में संकलित किया गया है। यद्यपि इनकी नाओं में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्वर मुखरित होता हुआ दिखायी देता है, किन्तु मान्यतः पार्थिव प्रेम की व्यंजना ही इनका प्रतिपाद्य है। संस्कृत की सामासिक पदावली लेकर उर्दू-फ़ारसी की शब्दावली से युक्त भाषा तथा भावानुरूप विविध शैलियों का ोग इनकी शिल्पगत विशेषता है। डॉ० रघुवीरसिंह तथा माखनलाल चतुर्वेदी ने भी लोच्य काल में कुछ स्फुट गद्यकाव्यात्मक रचनाएँ लिखीं, किन्तु उनका पुस्तकाकार ुसम्बद्ध प्रकाशन छायावादोत्तर काल में हुआ। इस काल के अन्य गद्यकाव्यकारों में शान्ति-साद वर्मा, तेजनारायण काक, भँवरलाल सिंधी और रावी उल्लेखनीय हैं। इन्होंने क्रमशः चित्रपट' (१९३२), 'सदिरा' (१९३५), 'वेदना' (१९३७) और 'पूजा' (१९३७) शीर्षक रचनाओं के माध्यम से हिन्दी-गद्यकाव्य की भावभूमि तथा रचना-शिल्प को समृद्ध किया है। शान्तिप्रसाद वर्मा का मूल स्वर आध्यात्मिकता का है तथा उन्होंने अनेकशः प्रकृति में ईश्वर के दर्शन किये हैं, तेजनारायण काक ने अपने संवेदनशील मन के उद्गारों को खलील जिब्रान की दृष्टान्त शैली में व्यक्त किया है, भँवरलाल सिंधी की रचनाओं में अज्ञात सत्ता के ान्निध्य की ललक है तथा उसके विरह में प्रतिपल बिलकुल व्याकुल रहनेवाले मन के विरहोद्गारों को लाक्षणिक शब्दों एवं प्रसंगानुकूल परिमार्जित भाषा-शैली में व्यक्त किया या है तथा राधास्वामी सम्प्रदाय में दीक्षित रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' ने सरल तथा ोधगम्य भाषा में निराकार के प्रति समर्पण के साथ-साथ विश्व-कल्याण की कामना व्यक्त की है।

संक्षेप में यह कहना उचित होगा कि छायावादयुगीन गद्यकाव्य का मूल स्वर प्रेम

और प्रकृति से सम्बद्ध है। प्रेम-व्यंजना कहीं रहस्योन्मुख है, तो कहीं मात्र लौकिक। प्रकृति के विविधरूप सौन्दर्य को आधार बनाकर भी अनेक रचनाएँ लिखी गयीं। सौन्दर्य-चेतना की यह अभिव्यक्ति इस युग की छायावादी काव्य-पद्धति के सर्वथा अनुकूल थी, इसलिए भावुकता, कल्पना, प्रतीकात्मकता, शब्द-लालित्य, चित्रात्मकता आदि प्रवृत्तियाँ काव्य-रचनाओं की भाँति गद्यकाव्यों में भी सहज उपलब्ध हैं।

पत्र-साहित्य : आलोच्य युग में पत्र-साहित्य के सन्दर्भ में जो संग्रह प्रकाशित हुए उनमें 'पत्रांजलि', 'विवेकानन्द पत्रावलि', 'पत्रावलि' तथा 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' विशेषरूपेण उल्लेखीय हैं। 'पत्रांजलि' (१९२२) का सम्पादन सतीशचन्द्र द्वारा किया गया, तो 'विवेकानन्द पत्रावलि' का प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, देहरादून से हुआ। 'पत्रावलि' नेताजी सुभाषचन्द्र बोस द्वारा १९१२-१९२० ई० के बीच लिखे गये लगभग १५३ पत्रों का संग्रह है तथा 'पिता के पत्र पुत्री के नाम' जवाहरलाल नेहरू द्वारा अँगरेज़ी में लिखित पत्र-संग्रह का का प्रेमचन्द द्वारा किया गया हिन्दी-अनुवाद है। इन पत्रों में नेहरू जी ने रोचक एवं मर्मस्पर्शिनी शैली में अपनी पुत्री को नानाविध विषयों पर महत्त्वपूर्ण शिक्षा प्रदान की है। शान्तिप्रिय आत्माराम ने औरंगज़ेब के ऐतिहासिक पत्रों का 'आलमगीर के पत्र' (१९३१) शीर्षक से सम्पादन किया। पत्र-साहित्य की दिशा में ये प्रकाशन परिमाण में अल्प भले ही हैं, इनसे इस विधा के स्वरूप, महत्त्व और इसे प्रोत्साहन देने की आवश्यकता का अनुभव अवश्य होता है।

अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ : व्यक्तिविशेष के गुणों से प्रभावित होकर उसके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करना मानव-मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। साहित्य-क्षेत्र में इसके लिए जिन माध्यमों का उपयोग किया जाता है उनमें अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस दृष्टि से आलोच्य युग में जो ग्रन्थ प्रकाशित हुए उनमें 'महावीरप्रसाद द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ' (१९२३) तथा 'गौरीशंकर हीराचन्द ओझा अभिनन्दन-ग्रन्थ' (१९३४) उल्लेखनीय हैं। इनमें एक ओर क्रमशः महावीरप्रसाद द्विवेदी और गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के व्यक्तित्व तथा सामाजिक और साहित्यिक क्षेत्रों में उनकी उपलब्धियों का प्रामाणिक मूल्यांकन किया गया है और दूसरी ओर इस सन्दर्भ में समकालीन वाङ्मय पर अधिकारी विद्वानों के लेख भी दिये गये हैं।

ज्ञान का साहित्य

ज्ञान-साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। यद्यपि विवेच्य काल में भारत में ज्ञान-विज्ञान की कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई फिर भी विश्वविद्यालयों में प्राकृतिक विज्ञान समाज विज्ञान, इंजीनियरिंग, चिकित्सा, विधि आदि का अध्ययन-अध्यापन होने लगा था। दुर्भाग्यवश विश्वविद्यालयों में ही नहीं, स्कूलों में भी साहित्येतर विषयों का अध्ययन-अध्यापन अँगरेज़ी के माध्यम से होता था, फलतः हिन्दी में ज्ञान-साहित्य के निर्माण के मार्ग में अनेक बाधाएँ थीं। किन्तु, स्वाधीनता-संग्राम के सन्दर्भ में क्षेत्रीय भाषाओं को—विशेषतः हिन्दी को—उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने के लिए आन्दोलन आरम्भ हो गया था जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की पुस्तकें तैयार करने की ओर अनेक लेखकों का ध्यान गया।

इतिहास विषयक ग्रन्थ : विवेच्य काल में इतिहास विषयक पुस्तकें सबसे अधिक

ी गयीं, कारण सम्भवतः राष्ट्रीय चेतना रही हो। हमारा वर्तमान अन्धकारमय था, पर उज्ज्वल था। अतीत का गौरवपूर्ण चित्र सामने रखने के उद्देश्य से इतिहास-ग्रन्थों रचना हुई। ये इतिहास-ग्रन्थ कई प्रकार के हैं। कुछ सामान्य इतिहास-ग्रन्थ हैं, जैसे बन्धुओं का 'भारतवर्ष का इतिहास' (१९१९) तथा जयचन्द्र विद्यालंकार कृत 'भारतीय हास का भौगोलिक आधार' (१९२५), 'भारतभूमि और उसके निवासी' (१९३१), रतीय इतिहास की रूपरेखा' (१९३४) तथा 'इतिहास-प्रवेश' (१९३८)। हिन्दू-युग के हास पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये, जैसे गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत 'अशोक की लिपियाँ' (१९२३) तथा 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' (१९२८), आर्य मुनि-कृत क काल का इतिहास' (१९२५), जनार्दन भट्ट-कृत 'बुद्धकालीन भारत' (१९२६), प्रसाद-कृत 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता' (१९३१), महादेव शास्त्री दिवेकर-कृत संस्कृति का उत्कर्षापकर्ष' (१९३१), राहुल सांकृत्यायन-कृत 'पुरातत्व निबन्धावली' ९३७) आदि। मुस्लिम युग के प्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थों में मन्नन द्विवेदी-कृत 'मुसलमानी का इतिहास' (१९२०), परमात्माशरण-कृत 'मध्यकालीन भारत' (१९३५), इन्द्र-वाचस्पति-कृत 'मुग़ल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (१९३८), आदि उल्लेख-हैं। ब्रिटिश काल के इतिहास पर भी कुछ पुस्तकें प्रकाश में आयीं, जिनमें गंगाप्रसाद कृत 'भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य' (१९२०), सूरजमल जैन-कृत 'मराठे और अंगरेज़' ९२२) तथा ईश्वरीप्रसाद शर्मा-कृत 'सन् सत्तावन का ग़दर' (१९२४) मुख्य हैं। कालीन स्वाधीनता-संग्राम से सम्बद्ध कुछ पुस्तकें भी लिखी गयीं, जिनमें नवजादिकलाल लिखित 'पराधीनों की विजययात्रा' (१९३४) और मन्मथनाथ गुप्त द्वारा लिखित रत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का रौमांचकारी इतिहास' (१९३७) प्रमुख हैं।

विवेच्य काल में कुछ ऐसे इतिहास-ग्रन्थ भी लिखे गये जिनका सम्बन्ध राजवंशों, तियों, धर्मों तथा विशिष्ट स्थानों से हैं। ऐसे इतिहास-ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं : विश्वे-नाथ रेउ-कृत 'क्षत्रप वंश का इतिहास' (१९१९) तथा 'भारत में प्राचीन राजवंश, ९२६), गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'मराठों का उत्थान और पतन' (१९३१) ोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा लिखित 'जैन वीरों का इतिहास' (१९३०), भदन्त आनन्द त्यायन द्वारा लिखित 'बुद्ध और उनके अनुचर' (१९३७), देवीप्रसाद मुंशी-कृत 'सिन्ध इतिहास' (१९२१), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा द्वारा लिखित 'राजपूताना का इतिहास' ९२५), जगदीशचन्द्र गहलोत-कृत 'मारवाड़ राज्य का इतिहास' (१९२५) आदि। देशी इतिहास से सम्बद्ध कुछ पुस्तकें भी लिखी गयीं, जैसे शंकरराव जोशी-कृत 'रोम म्राज्य' (१९२१), प्यारेलाल गुप्त-कृत 'ग्रीस का इतिहास' (१९२३), रमाशंकर स्थी-कृत 'रूस की राज्यक्रान्ति' (१९२०), सम्पूर्णानन्द द्वारा लिखित 'चीन की राज्य-न्ति' आदि। किन्तु, विवेच्य काल में लिखित इतिहास-ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों में होने के वजूद यह स्वीकार करना होगा कि देश के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ अँगरेज़ी में ग्रन्थों की रचना रते थे। हिन्दी में लिखित इतिहास-ग्रन्थ अधिकतर परिचयात्मक ढंग के हैं। केवल गौरी-कर हीराचन्द ओझा ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने, इतिहास और प्राच्य विद्या के प्रकाण्ड ण्डित और अंगरेज़ी के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी, हिन्दी में भी इतिहास-ग्रन्थ लिखे।

राजनीति एवं प्रशासन विषयक ग्रन्थ : इरा काल में राजनीतिक चेतना पर्याप्त बुद्ध थी, अतः राजनीतिक और प्रशासन विषयक पुस्तकें भी प्रकाश में आयीं, यद्यपि परिमाण और स्तर दोनों ही दृष्टियों से इनका स्तर काफ़ी सामान्य था। विवेच्य काल में प्रकाशित

कुछ पुस्तकों के नाम हैं—प्राणनाथ विद्यालंकार-कृत 'राजनीति शास्त्र' (१९२२), सुखसम्पतिराय भण्डारी-कृत 'राजनीति विज्ञान' (१९२९), गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'राज विज्ञान' (१९२९), शेषमणि त्रिपाठी-कृत 'अकबर की राज्यव्यवस्था' (१९२१), रामप्रसाद त्रिपाठी-कृत 'भारतीय शासन-विकास' (१९३६) आदि।

भूगोल और देश-परिचय : शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने तथा कोई इतर प्रेरणा न होने के कारण हिन्दी में भूगोल विषयक पुस्तकें न के बराबर लिखी गयीं। इस सन्दर्भ में रामनारायण मिश्र-कृत 'भू-परिचय' (१९३०) तथा शंकरसहाय सक्सेना-कृत 'औद्योगिक तथा व्यापारिक भूगोल' (१९३३) जैसी दो-एक पुस्तकें ही मिलती हैं। किन्तु, देश-विशेष का परिचय देनेवाली पुस्तकों की रचना अधिक संख्या में हुई। इनमें लाला हरदयाल-कृत 'जर्मनी और तुर्की में ४४ मास' (१९२१), बालमुकुन्द गुप्त-कृत 'बनारस' (१९२४), पूरनचन्द नाहर कृत 'जैसलमेर' (१९२८), सीताराम लाल-कृत 'चित्रकूट की झाँकी' (१९३०), श्रीगोपाल नेवटिया कृत 'कश्मीर' (१९३४), प्रभुदयाल मेहरोत्रा-कृत 'आधुनिक रूस' (१९३४), राहुल सांकृत्यायन-कृत 'लंका' (१९३५), 'ईरान' (१९३७) और 'सोवियत भूमि' (१९३८) आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

अर्थशास्त्र : अर्थशास्त्र आधुनिक युग का बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है और आज इसकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ विकसित हो चुकी हैं। पाश्चात्य देशों में अर्थशास्त्र का बहुमुखी और गम्भीर अध्ययन हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप वहाँ का अर्थशास्त्र-साहित्य बहुत ही समृद्ध है। भारत इस दृष्टि से आज भी बहुत पिछड़ा हुआ है, विवेच्य काल की तो बात ही व्यर्थ है। फिर भी, हिन्दी में कुछ पुस्तकों की रचना हुई ही जिनमें अमरनाथ बाली-कृत 'भारतीय अर्थशास्त्र' (१९२३), प्राणनाथ विद्यालंकार-कृत 'भारतीय सम्पत्तिशास्त्र (१९२३), भगवानदास केला-कृत 'भारतीय अर्थशास्त्र' (१९२५), शंकरसहाय सक्सेना-कृत 'भारतीय सहकारिता का आन्दोलन' (१९२५), व्रजगोपाल भटनागर-कृत 'ग्रामीण अर्थशास्त्र' (१९३३) आदि उल्लेखनीय हैं। ध्यान देने की बात है कि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त-पक्ष पर एक भी पुस्तक इस काल में नहीं लिखी गयी।

धर्म और दर्शन : विवेच्य काल में वेदान्त, भक्ति, योग, विशिष्ट धर्म, नीति आदि विषयों से सम्बद्ध पुस्तकें भी थोड़ी-बहुत लिखी गयीं। गुलाबराय-कृत 'कर्त्तव्यशास्त्र' (१९१९), प्रसिद्धनारायण सिंह-कृत 'योगत्रयी' (१९२०) तथा 'हठयोग' (१९२३), गोवर्द्धनलाल-कृत 'नीतिविज्ञान' (१९२३), ज्वालाप्रसाद सिंघल-कृत 'कैवल्य शास्त्र' (१९२४), गंगाप्रसाद उपाध्याय-कृत 'अद्वैतवाद' (१९२८), वियोगी हरि-कृत 'प्रेमयोग' (१९२९), महामहोपाध्याय गंगानाथ झा-कृत 'धर्म कर्म रहस्य' (१९२९), शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी-कृत 'जैन बौद्ध तत्त्वज्ञान' (१९३४), रामदास गौड़-कृत 'हिन्दुत्व' (१९३८) आदि इस काल की कुछ उल्लेखनीय पुस्तकें हैं।

शिक्षा विषयक ग्रन्थ : द्विवेदी-युग में शिक्षा विषयक पुस्तकें न के बराबर लिखी गयी थीं, किन्तु आलोच्य युग में शिक्षा-सिद्धान्त, शिक्षा-मनोविज्ञान, विशिष्ट शिक्षा-विज्ञान और शिक्षा की समस्याओं पर कतिपय पुस्तकें प्रकाश में आयीं, जिनमें गोपाल दामोदर तामस्कर-कृत 'शिक्षा-मीमांसा' (१९२५), चन्द्रशेखर शास्त्री-कृत 'कन्या शिक्षा' (१९२८), कन्हैयालाल-कृत 'राष्ट्रीय शिक्षा का इतिहास और उसकी वर्तमान अवस्था' (१९२६), भैरवनाथ झा-कृत 'मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र' (१९३२), चन्द्रावती लखनपाल-कृत 'शिक्षा मनोविज्ञान' (१९३४), लज्जाशंकर झा-कृत 'शिक्षा और स्वराज्य' (१९३४),

माथुर-कृत 'शिक्षा विधि', कालिदास कपूर-कृत 'शिक्षा मीमांसा, (१९३७) आदि नीय हैं।

विज्ञान विषयक ग्रन्थ : विज्ञान विषयक पुस्तकें इस काल में और भी कम संख्या गयीं। इसका कारण भी भारत में वैज्ञानिक प्रगति का धीमापन और शिक्षा के के रूप में हिन्दी की उपेक्षा ही था। फिर भी गणित, भौतिकी, रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, जैविकी आदि विषयों पर कुछ पुस्तकें उपलब्ध हैं। यथा— कोचक-कृत 'पैमाइश' (१९१९, गणित), सुखसम्पतिराय-कृत 'ज्योतिर्विज्ञान'), निहालकरण सेठी-कृत 'प्रारम्भिक भौतिक विज्ञान' (१९३०), सत्यप्रकाश-कृत मिति' (१९३१), शकदेव पाण्डेय-कृत 'त्रिकोणमिति' (१९३५), जगदानन्द राय-नक्षत्र' (१९२५), गोरखप्रसाद-कृत 'सौर परिवार' (१९३२), केशव अनन्त पटवर्धन-स्पति-शास्त्र' (१९२८), प्रवासीलाल-कृत 'वृक्ष विज्ञान' (१९२९), मुकुटबिहारी 'जीवन-विकास' (१९३०), प्रभुदयाल मिश्र-कृत 'जीवन विज्ञान' (१९३३) आदि।

भाषा, लिपि और व्याकरण-सम्बन्धी रचनाएँ : इस काल में हिन्दी भाषा, लिपि करण सम्बन्धी कुछ अच्छी पुस्तकें प्रकाश में आयीं। हिन्दी भाषा-सम्बन्धी पुस्तकों शंकर शुक्ल-कृत 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' (१९२०), रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'हिन्दी नी' (१९२२), श्यामसुन्दरदास-कृत 'भाषाविज्ञान' (१९२४) और 'भाषा-रहस्य'), मंगलदेव शास्त्री-कृत 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' (१९२६), पद्मसिंह शर्मा-कृत उर्दू और हिन्दुस्तानी' (१९३२) आदि उल्लेखनीय हैं। लिपि विषयक पुस्तकों में वसु-कृत 'भारतीय लिपि तत्त्व' (१९२४), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा-कृत अंक और अक्षर' (१९२६), गौरीशंकर भट्ट-कृत 'अक्षर तत्त्व' (१९३६) आदि लिये जा सकते हैं। इसी भाँति व्याकरण-ग्रन्थों में कामताप्रशाद गुरु-कृत 'हिन्दी-ण' (१९२०), धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'ब्रजभाषा-व्याकरण' (१९३७) और पारसमणि त 'नेपाली-हिन्दी-व्याकरण' (१९२०) उल्लेख-योग्य हैं।

कोश-ग्रन्थ : विवेच्य काल में विद्वानों का ध्यान कोश-ग्रन्थों के निर्माण की ओर ा। श्यामसुन्दरदास, बालकृष्ण भट्ट, रामचन्द्र शुक्ल, रामचन्द्र वर्मा आदि के त्व में हिन्दी का महत्त्वपूर्ण शब्दकोश 'हिन्दी-शब्द-सागर' दस खण्डों में नागरी-ी सभा, काशी से प्रकाशित हुआ। इसके अतिरिक्त रामनरेश त्रिपाठी-कृत 'हिन्दी कल्पद्रुम' (१९२५), मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव-कृत 'हिन्दी-शब्द-संग्रह' (१९३०), प्रसाद त्रिपाठी द्वारा सम्पादित 'ज्ञानकोश' (१९३४), रामशंकर शुक्ल 'रसाल'-भाषा-शब्द-कोश' (१९३७), शिवन्न शास्त्री-कृत 'हिन्दी-तेलुगू-कोश' (१९२२), शर्मा-कृत 'हिन्दी-तामिल'कोश' (१९२५), नारायण तमना जी कहगरे-कृत 'हिन्दी-कोश' (१९२९), रामनरेश त्रिपाठी का 'हिन्दुस्तानी कोश' (१९३१), जम्बुनाथन हिन्दी कोश' (१९३६), श्रीकृष्ण शुक्ल-कृत 'हिन्दी पर्यायवाची कोश' (१९३५), दास सेठ का 'पाइअ सह महान्नवो' (१९२६) शीर्षक प्राकृत-कोश आदि इसी उपलब्धियाँ हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों के भी कतिपय कोश प्रकाशित हुए रामदहिन मिश्र का 'हिन्दी मुहावरे' (१९२४), बहादुरचन्द्र का 'लोकोक्तियाँ और ' (१९३२), जम्बुनाथन का 'हिन्दी मुहावरा कोश' (१९३५), आर० जे० सरहिन्दी हिन्दी मुहावरा कोश' (१९३७), ब्रह्मस्वरूप 'दिनकर' का 'हिन्दी मुहावरे' (१९३८) उल्लेखनीय हैं। कतिपय अन्य प्रकार के भी कोश-ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जैसे—

केशवप्रसाद मिश्र-कृत 'वैद्युत शब्दावली' (१९२५), भगवानदास केला-कृत 'राजनीति वली' (१९२७), गुरुप्रसाद-कृत 'रत्नावली' (संस्कृत के धार्मिक तथा दार्शनिक शब्दों का (१९२७), गदाधरप्रसाद-कृत 'अर्थशास्त्र शब्दावली' (१९३२), आदि।

ज्ञान साहित्य के अन्तर्गत उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त विवेच्य काल में संगी चित्रकला, वक्तृता, चित्रपट, कृषि, बाग़वानी, मधुमक्खी-पालन, वस्त्र-शिल्प, मूर्ति सिलाई, वास्तु-शिल्प, व्यापार-कला, युद्ध-कला, खेलकूद, आयुर्वेद, एलोपैथी, होमियो प्राकृतिक चिकित्सा, पशु-चिकित्सा आदि पर भी पुस्तकें प्रकाशित हुईं।[1] कुल मिला यद्यपि इस युग का ज्ञान-साहित्य समृद्ध नहीं माना जा सकता, पर परिस्थितियों की कूलता को देखते हुए इसे नितान्त निराशजनक भी नहीं कहा जा सकता। बिना किसी कारी संरक्षण और पोषण के—या यों कहें कि सरकार द्वारा घोर उपेक्षा के बावजूद—हि में इतनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं, यह हिन्दी भाषा के अनुरागियों के पुरुषार्थ का प्रतीक है।

पत्र-पत्रिकाएँ

साहित्य के इतिहास में पत्र-पत्रिकाओं का विशेष महत्त्व होता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ, उसमें होनेवाले प्रयोग और नूतन दृष्टिकोण सर्वप्रथम पत्रिकाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति पाते हैं। समीक्ष्य काल में विविध प्रकार की पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित होती जिनसे पाठकों की अभिरुचि को समझने में सहायता मिलती है। मासिक पत्रिकाओं सरस्वती, मर्यादा और स्त्री-दर्पण का तो पहले की भाँति इस काल में भी प्रकाशन हो रहा तथा चाँद, प्रभा, माधुरी, सुधा, विशाल भारत, हंस आदि भी परिगणनीय पत्रि हैं। 'सरस्वती' के इस अवधि में प्रकाशित अंकों में भी अधिकतर महावीरप्रसाद द्वि द्वारा निर्धारित पद्धति का ही निर्वाह हुआ, फलतः प्रायः सभी प्रमुख साहित्यकारों रचनाओं से अलंकृत होने पर भी उसमें सच्चे अर्थों में नये युगबोध, विशेषतः छायावाद साथ तालमेल नहीं मिलता। 'मर्यादा' का प्रकाशन १९२३ ई० तक हुआ। इसका सम्पा पहले कृष्णकान्त मालवीय ने, फिर बाबू सम्पूर्णानन्द ने और कुछ समय के लिए प्रेमचन्द किया था। इसमें साहित्य, समाजशास्त्र और राजनीति विषयक विद्वत्तापूर्ण लेख ही न कहानियाँ, कविताएँ और उपन्यास भी प्रकाशित होते थे। रामेश्वरी नेहरू के सम्पादक में प्रकाशित होनेवाली पत्रिका 'स्त्री-दर्पण' (प्रयाग) में नारी-समस्याओं पर लेखादि अतिरिक्त महिलाओं की रचनाओं को प्राथमिकता प्राप्त रहती थी।

'चाँद' (प्रयाग) का प्रकाशन आरम्भ में १९२० ई० में साप्ताहिक पत्र के रू हुआ था, किन्तु १९२३ ई० से रामरख सहगल और चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' के सम्पादन इसका प्रकाशन मासिक पत्रिका के रूप में हुआ। इसमें नारी विषयक समस्याओं लेखिकाओं को प्राथमिकता मिलती थी। इस काल की दूसरी प्रमुख पत्रिका 'प्र (कानपुर) बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' के सम्पादकत्व में निकलती थी। इसमें साहित्य की विधाओं को स्थान प्राप्त रहता था। 'प्रभा' में ही 'भावों की भिड़न्त' नामक वह ऐतिहासि लेख प्रकाशित हुआ जिसमें यह सिद्ध किया गया था कि निराला की बहुत-सी कविता रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविताओं की नक़ल हैं। इस लेख ने तत्कालीन साहित्य-जगत् हलचल मचा दी थी। 'माधुरी' (लखनऊ) का प्रकाशन १९२२ ई० में आरम्भ हुआ ज़ाहिरा तौर पर तो इसके सम्पादक दुलारेलाल भार्गव थे, पर वास्तविक सम्पा

---

[1] पुस्तकों की सूची के लिए देखिए 'हिन्दी पुस्तक साहित्य', डॉ० माताप्रसाद गुप्त।

रायण पाण्डेय और कृष्णबिहारी मिश्र द्वारा किया जाता था। कुछ दिनों के लिए और शिवपूजन सहाय का आगमन भी इसके सम्पादकीय विभाग में हुआ, पर वे क न पाये। 'माधुरी' उन कुछ थोड़ी-सी पत्रिकाओं में थी जिनसे छायावाद को मिला था। दूसरी ओर आरम्भ में छायावाद पर आक्रमण करनेवाली पत्रिकाओं में (लखनऊ) सम्भवतः सबसे आगे थी, पर बाद में इसके सम्पादकीय विभाग में ' का प्रवेश हुआ जिन्होंने इसके साहित्यिक स्वरूप को सर्वथा बदल दिया। इसने न राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थन, अँगरेजी के स्थान पर भारतीय भाषाओं की तथा हिन्दी-साहित्य की चतुर्दिक् उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

हिन्दी-जगत् का सबसे लोकप्रिय मासिक 'कल्याण' १९२५ ई० में प्रकाशित होना हुआ। इसका उद्देश्य था—भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार का उपदेश देना भी इसके द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो रहा है। इसके विशेषांक धार्मिक साहित्य त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। विवेच्य काल की मासिक पत्रिकाओं में 'विशाल भारत' ता) भी उल्लेखनीय है। इसका प्रकाशन १९२८ ई० में बनारसीदास चतुर्वेदी के में आरम्भ हुआ था, बाद में इसके सम्पादन-विभाग में कुछ समय के लिए 'अज्ञेय' र्य किया। 'विशाल भारत' में उच्च कोटि की साहित्यिक रचनाएँ प्रकाशित होती सके 'कला अंक' को विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई। चतुर्वेदी जी के सम्पादन में 'विशाल अपने समय का एक बहुत ही तेजस्वी और जागरूक पत्र बन गया था। छायावाद शेषकर 'निराला' के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि बहुत ही अनुदार थी। 'उग्र' के कथा- को 'घासलेटी' संज्ञा देकर उन्होंने उनके विरुद्ध बड़ा भारी साहित्यिक आन्दोलन किया था। इसी प्रकार प्रेमचन्द द्वारा सम्पादित 'हंस' (बनारस, १९३०) भी तत्का- ाहित्यिक गतिविधियों का महत्त्वपूर्ण माध्यम बनने में समर्थ हुआ था। प्रकाशित होते समकालीन हिन्दी-कथा-साहित्य का प्रतिनिधि पत्र बन गया। कथा-साहित्य के क्त इसमें उच्च कोटि की कविताएँ, एकांकी, निबन्ध और आलोचनाएँ भी प्रकाशित थीं। प्रेमचन्द की मृत्यु के बाद शिवदानसिंह चौहान, अमृतराय आदि ने 'हंस' का न किया। यह इस युग का एक जागरूक मासिक पत्र था।

आलोच्य काल के अन्य मासिक पत्रों में 'आदर्श', 'मौजी', 'समन्वय', 'सरोज', त्य सन्देश' आदि भी उल्लेखनीय हैं। 'आदर्श' और 'मौजी' शिवपूजन सहाय के कत्व में कलकत्ता से प्रकाशित हुए थे। इनमें हिन्दू-मुस्लिम एकता, नारी-समस्या भाषा की समस्या आदि विषयों पर टिप्पणियाँ और लेख तथा निराला आदि की ाएँ प्रकाशित होती थीं। 'समन्वय' का प्रकाशन १९२२ ई० में रामकृष्ण मिशन के ी माधवानन्द के सम्पादन में आरम्भ हुआ, बाद में निराला जी की नियुक्ति इसके दन-विभाग में हुई। इसमें धार्मिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विषयों की प्रधानता र भी उच्चकोटि की साहित्यिक सामग्री प्रकाशित हुआ करती थी। 'सरोज' कत्ता) का प्रकाशन १९२८ ई० में नवजादिकलाल श्रीवास्तव के सम्पादकत्व में भ हुआ। यह मुख्यतः साहित्यिक पत्र था जिसमें तत्कालीन प्रमुख लेखकों की विभिन्न ओं की रचनाएँ रहती थीं। जुलाई, १९३७ में गुलाबराय के सम्पादकत्व में 'साहित्य (आगरा) का प्रकाशन आरम्भ हुआ। यह शुद्ध आलोचनात्मक पत्र था।

मासिक पत्रों के साथ-साथ विवेच्य काल में अनेक ऐसे साप्ताहिक और पाक्षिक पत्र जिनका साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें 'मतवाला', 'जागरण'

और 'भारत' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये तीनों ही पत्र नवीन काव्य-चेतना को देने में अग्रसर रहे। 'मतवाला' १९२३ ई० में कलकत्ता से निकला, उसके घोषित तो महादेवप्रसाद सेठ थे, पर इसके सम्पादन-विभाग में शिवपूजन सहाय, नवजादि श्रीवास्तव और 'निराला' भी थे। यह हिन्दी का पहला हास्य-व्यंग्यप्रधान साप्ताहिक यद्यपि यह प्रधानतः साहित्यिक पत्र था, पर सामाजिक-राजनीतिक समस्याओं की भी कभी उपेक्षा नहीं की। ब्रिटिश सरकार की नीतियों की इसमें तीखी आलोचना हुआ थी। शिवपूजन सहाय के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'जागरण' (बनारस) इस काल का प्रमुख साहित्यिक साप्ताहिक था। यह छायावाद का घोर पक्षधर था, फलतः इसमें रचनाओं के साथ-साथ छायावादी रचनाएँ भी बहुसंख्या में प्रकाशित हुआ करती थीं। ई० में इसे प्रेमचन्द का संरक्षण प्राप्त हुआ, किन्तु १९३४ ई० में इसका प्रकाशन गया। इस बीच प्रेमचन्द ने इसमें राजनीतिक और सामाजिक समस्याओं पर जो लिखीं वे बहुत ही पैनी और महत्त्वपूर्ण हैं। छायावाद का समर्थक इस अवधि का एक महत्त्वपूर्ण पत्र था—अर्धसाप्ताहिक 'भारत' (इलाहाबाद)। यह नन्ददुलारे वाजपेयी सम्पादकत्व में निकलता था। वाजपेयी जी छायावाद के विरोधियों की गिन-गिनकर लेते थे। उन्होंने प्रसाद, निराला, पन्त आदि की कविताओं के समर्थन में भी अनेक णियाँ प्रकाशित की थीं।

विवेच्य काल के अन्य साप्ताहिकों में 'हिन्दी नवजीवन', 'कर्मवीर', 'देश', 'हिन्दू पंच' और 'श्रीकृष्ण सन्देश' मुख्य हैं। 'हिन्दी नवजीवन' (अहमदाबाद, सम्पादक महात्मा गांधी थे। इसने तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक चेतना को देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। १९२० ई० में ही पटना से डॉ० राजेन्द्रप्रसाद के दन में प्रकाशित 'देश' भी राजनीतिक पत्र था। 'कर्मवीर' (जबलपुर) माखनलाल और माधवराव सप्रे के संरक्षण-सम्पादन में प्रकाशित हुआ। यह राजनीतिक के साथ साहित्यिक पत्र भी था। लक्ष्मणनारायण गर्दे द्वारा सम्पादित 'श्रीकृष्ण सन्देश' १९२५) भी इस युग का प्रसिद्ध पत्र था जिसमें राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, त्यिक, वैज्ञानिक आदि विषयों पर टिप्पणियों तथा समाचारों का संग्रह रहा करता १९२६ ई० में कलकत्ता से रामगोविन्द त्रिवेदी के सम्पादकत्व में 'सेनापति' नामक निकला। इसमें प्रकाशित रचनाएँ मूलतः राष्ट्रीयता से अनुप्राणित रहती थीं। में मुकुन्दलाल वर्मा के सम्पादन में 'हिन्दू पंच' का प्रकाशन हुआ। इसमें अछूतोद्धार, सुधार, हिन्दी-प्रचार आदि विषयों पर टिप्पणियाँ और लेख प्रचुरतापूर्वक प्रकाशित करते थे। बाद में जब नवजादिकलाल श्रीवास्तव इसके सम्पादक नियुक्त हुए तो व्यंग्य-विनोदपूर्ण टिप्पणियाँ भी प्रकाशित होने लगीं।

साहित्यिक दृष्टि से यद्यपि दैनिक पत्रों का महत्त्व कम होता है, पर पत्र-पत्रि के इतिहास में उनकी चर्चा अप्रासंगिक नहीं होगी। विवेच्य काल के पूर्व हिन्दी में दैनिक नहीं के बराबर थे, और जो थे वे अनियमित होने के साथ-साथ अँगरेज़ी पत्रों की तुलना बहुत साधारण थे। द्विवेदी-युग में एकमात्र उल्लेखनीय दैनिक पत्र 'भारतमित्र' था सम्पादक अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने १९१९ ई० में उससे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया लक्ष्मणनारायण गर्दे उसके सम्पादक नियुक्त हुए। 'भारतमित्र' का प्रकाशन १९३५ ई० हुआ। यह हिन्दी का पहला सुसंगठित दैनिक था और अपनी सीमाओं के बावजूद इसे में दैनिक पत्रों की परम्परा का सूत्रपात करने का श्रेय प्राप्त है। विवेच्य काल के

दैनिक 'दैनिक विश्वमित्र' और 'आज' थे। 'दैनिक विश्वमित्र' का प्रकाशन १९१६ ई० में आरम्भ हुआ। इसके समाचारों में ताजगी और मौलिकता का समावेश रहता था। समसामयिक समस्याओं पर स्वतन्त्र लेख और टिप्पणियाँ भी प्रकाशित होती थीं। 'आज' १९२० ई० में वाराणसी से निकला। यह कई दृष्टियों से हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ दैनिक था। प्रकाश, बाबूराव विष्णुराव पराड़कर, कमलापति त्रिपाठी जैसे व्यक्तियों के सक्रिय सहयोग फलस्वरूप 'आज' ने स्वाधीनता-संग्राम के लिए जनमत तैयार करने के साथ-साथ साहित्यिक गतिविधियों की अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस युग के अन्य दैनिक पत्रों में 'कलकत्ता समाचार' और 'स्वतन्त्र' का उल्लेख किया जा सकता है। 'कलकत्ता समाचार' अमृतलाल चक्रवर्ती के सम्पादन में १९१४ ई० से ही प्रकाशित होता आ रहा था। उधर 'भारतमित्र' से सम्बन्ध-विच्छेद के उपरान्त अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी ने १९२० ई० में 'स्वतन्त्र' (कलकत्ता) का प्रकाशन आरम्भ किया, जो १९३० ई० तक जीवित रहा। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन का समर्थन करनेवाले पत्रों में यह अग्रणी था।

मूल्यांकन

छायावादयुगीन गद्य-साहित्य पर विहंगम दृष्टि-निक्षेप करने पर हम सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि इस युग में गद्य की विभिन्न विधाओं की अभूतपूर्व उन्नति हुई। प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद तथा रामचन्द्र शुक्ल इस युग के ऐसे कृतिकार हैं जिन्होंने एकाधिक गद्य-विधाओं को समृद्ध करने में उल्लेखनीय योग दिया। कथा-साहित्य के क्षेत्र में प्रेमचन्द का आगमन क्रान्तिकारी परिवर्तन का सूचक सिद्ध हुआ। 'सेवासदन' के प्रकाशन से कल्पनातिरंजित कथानक के परित्याग की जो प्रवृत्ति १९१८ ई० में आरम्भ हुई, वह इस काल के अनेक लेखकों के लिए दिशा-निदेशक सिद्ध हुई। इसलिए इस युग के लगभग सभी उपन्यासकारों और कहानी-लेखकों ने युग-जीवन को वाणी प्रदान करने का भरपूर प्रयत्न किया। नाट्यरचना के क्षेत्र में जयशंकर प्रसाद ने पाठकों के हृदय में आत्मगौरव, उत्साह एवं प्रेरणा का संचार करने के लिए देश के अतीतकालीन गौरवपूर्ण इतिहास को प्रतिपाद्य के रूप में अपनाया, तो लक्ष्मीनारायण मिश्र ने समस्यामूलकता और मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का सफल अंकन किया। किन्तु, सम्पूर्ण नाटकों की तुलना में इस अवधि के एकांकी नाटक परिमाण और उपलब्धि दोनों दृष्टियों से विशेष उल्लेखनीय नहीं हैं—उनका महत्त्व परवर्ती एकांकीकारों के लिए पृष्ठभूमि उपस्थित करने की दृष्टि से ही मान्य हो सकता है। इसके विपरीत निबन्ध-रचना के क्षेत्र में पर्याप्त विषय-वैविध्य, भाषागत प्रौढ़ता तथा शैलीगत विविधता दृष्टिगत होती है। आचार्य शुक्ल ने मानव-मन की विभिन्न अवस्थाओं की मनोवैज्ञानिक विवेचना करनेवाले निबन्धों के साथ-साथ उत्कृष्ट कोटि के विचारात्मक निबन्धों की भी रचना की। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में उनका योगदान और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने ही पहली बार कवियों की आन्तरिक विशेषताओं के उद्घाटन और अन्वेषण का मार्ग अपनाया तथा पौर्वात्य काव्य-सिद्धान्तों के साथ-साथ पाश्चात्य आलोचना-दृष्टि से भी प्रेरणा ग्रहण की। जीवनी, यात्रावृत्त, संस्मरण, गद्यकाव्य आदि गौण समझी जानेवाली विधाओं ने भी इस युग में नये आयाम प्राप्त किये। गद्यकाव्य तो सर्वथा इसी युग में अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित हुआ। समग्रतः यह कहा जा सकता है कि छायावाद-युग काव्य-क्षेत्र में ही नहीं, गद्य-साहित्य की दृष्टि से भी पर्याप्त समृद्ध है; और यह समृद्धि परिमाण तथा गुण दोनों ही रूपों में ध्यान आकृष्ट करती है।

अध्याय : १

छायावादोत्तर काल

काव्यधारा

छायावादोत्तर काल की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियाँ हैं। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई-कई जीवन-दृष्टियाँ तथा काव्य की वस्तु और शिल्प सम्बन्धी मान्यताएँ उभरी हैं। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है, तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रोमानी दृष्टि की प्रधानता है, तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचना-रूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से पाँच-छह काव्य-धाराएँ उभरकर आती लक्षित होती हैं। उन्हें राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता, क्रमागत छायावादी काव्यधारा या उत्तर-छायावाद, वैयक्तिक गीतिकाव्य, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद और नयी कविता कहा जा सकती है। इनमें से पहली दो धाराएँ नयी नहीं हैं। राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा भारतेन्दु-काल से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-काल, छायावाद-काल को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गयी। छायावादी काव्यधारा छायावाद-काल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थी और परम्परा के निर्वाह-सी इस काल में भी बहती हुई दिखायी पड़ती है। शेष धाराएँ प्रस्तुत काल की ही उपज हैं। वे अपने-अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिवार्यता के गर्भ से फूटी हैं।

प्रस्तुत युग में कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें एक ही साथ कई धाराएं दिखायी पड़ती हैं। इन्हें भले ही किसी एक वर्ग में न रखा जा सके, किन्तु ये इस बीच उभरनेवाली एकाधिक काव्य-प्रवृत्तियों का निदेश तो करती ही हैं। किन्तु, इनके अतिरिक्त शेष कृतियाँ स्पष्ट रूप से किसी न किसी धारा या प्रवृत्ति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इनका वर्गीकरण करें तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा—'नहुष', 'कुणालगीत', 'अजित', 'जयभारत' (मैथिलीशरण गुप्त); 'माता', 'समर्पण', 'युगचरण' (माखनलाल चतुर्वेदी); 'अपलक', 'क्वासि', 'विनोबा-स्तवन', 'हम विषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'); 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिन्द', 'आत्मोत्सर्ग', 'उन्मुक्त', 'गोपिका' (सियारामशरण गुप्त); 'हुंकार'

ीत', 'कुरुक्षेत्र', 'इतिहास के आँसू', 'रश्मिरथी', 'धूप और धुआँ', 'दिल्ली'(दिनकर); वदत्ता', 'भैरवी', 'कुणाल', 'चित्रा', 'युगाधार' (सोहनलाल द्विवेदी); 'सूत की माला' न); 'हल्दीघाटी', 'जौहर' (श्यामनारायण पाण्डेय); 'विक्रमादित्य' (गुरुभक्तसिंह '); विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला ारें', 'विजयपथ' (उदयशंकर भट्ट); 'काल दहन', 'तप्तगृह', 'कैकेयी', 'दानवीर कर्ण' ारनाथ मिश्र प्रभात) राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की कृतियाँ हैं। इनमें 'गोपिका', 'अपलक', ासि' और 'चित्रा' ऐसी कृतियाँ हैं जिनमें राष्ट्रीय स्वर गौण है, प्रेम का स्वर प्रधान है। सीदास', 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' (निराला); 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'मधु- त', 'युगपथ', 'उत्तरा', 'रजतशिखर', 'शिल्पी', 'अतिमा', 'कला और बूढ़ा चाँद', ायतन' (सुमित्रानन्दन पन्त); 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा); 'रूप अरूप', 'शिप्रा', ीत'; 'अवन्तिका' (जानकीवल्लभ शास्त्री) **उत्तर-छायावाद** की कृतियाँ हैं। 'अणिमा' ुछ कविताएँ राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों पर भी हैं। पन्त जी की इस काल की ी उत्तर-छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनायी पड़ता है। भौतिकवाद और ात्मवाद के समन्वय की एक बेचैनी इनमें बराबर लक्षित होती है। इस तरह इन कृतियों मूल स्वर तो छायावाद है, किन्तु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्यान्य धाराओं से भी जोड़ा सकता है।

रोमानी धारा में आनेवाली, किन्तु छायावाद से अलग, ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जो नयी प्रवृत्ति को सूचित करती हैं, जिसे **वैयक्तिक प्रगीत कविता** कहा जा सकता है। इस ृत्ति के अन्तर्गत आनेवाली कृतियाँ हैं—'निशा निमन्त्रण', 'आकुल अन्तर', 'सतरंगिनी', लन यामिनी' (हरिवंशराय बच्चन); 'रसवन्ती' (दिनकर); 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के ें', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल', 'कदलीवन' (नरेन्द्र शर्मा); 'मधूलिका', 'अपराजिता', िरणवेला', 'लाल चूनर' (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'); 'कलापी', 'संचयिता', 'जीवन और ेवन', 'पांचजन्य' (आरसीप्रसाद सिंह); 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वन्तर', ेवालोक' (शम्भुनाथ सिंह); 'पंछी', 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन' (गोपालसिंह नेपाली); ींद के बादल' (केदारनाथ अग्रवाल); 'मंजीर' (गिरिजाकुमार माथुर); 'छवि के बन्धन' (भारतभूषण अग्रवाल)।

'युगवाणी', 'ग्राम्या' (पन्त); 'कुकुरमुत्ता' (निराला); 'युग की गंगा' (केदारनाथ ग्रवाल); 'युगधारा' (नागार्जुन); 'धरती' (त्रिलोचन); 'जीवन के गान', 'प्रलय सृजन' (शिवमंगलसिंह 'सुमन'); 'अजेय खँडहर', 'पिघलते पत्थर', 'मेधावी' (रांगेय राघव); ुक्तिमार्ग', 'जागते रहो' (भारतभूषण अग्रवाल) **प्रगतिवादी** धारा की सृष्टि करती हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा, अंचल, आरसीप्रसाद सिंह और शम्भुनाथ सिंह की उपर्युक्त ुस्तकों की अनेक कविताएँ ऐसी हैं जो इस धारा के अन्तर्गत आती हैं।

प्रगतिवाद और वैयक्तिक कविता-धारा की कृतियों के साथ-साथ कुछ ऐसी कृतियाँ भी सामने आयीं जिन्हें **प्रयोगवादी** कृतियाँ कहा गया। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताएँ १९३५ ई० के आसपास प्रारम्भ हो गयी थीं, किन्तु प्रयोगवादी धारा की कविताएँ १९४३ ई० के आसपास उभरती हुई दीखती हैं; फिर सभी साथ-साथ चलती हैं। 'तार सप्तक' (सं० अज्ञेय), 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर' (अज्ञेय); 'नाश और निर्माण' (गिरिजाकुमार माथुर); 'ठंडा लोहा' (धर्मवीर भारती) तथा 'दूसरा सप्तक' इस धारा की कृतियाँ हैं। प्रयोगवाद आगे चलकर नयी कविता में पर्यवसित हो गया। इसलिए नयी

कविता में प्रयोगवाद के बहुत-से तत्त्व मिलते हैं, फिर भी उसका स्वतन्त्र विकास हुआ। बहुत से कवि ऐसे हैं जो दोनों धाराओं में हैं, इसलिए उनकी कृतियों को लेकर बहुत साफ़ तौर पर यह कह पाना कठिन है कि कहाँ तक वे प्रयोगवादी हैं और कहाँ से नयी कविता के कवि हो जाते हैं। फिर भी, इतना तो कहा जा सकता है कि सन् १९५० के बाद नये भावबोध की जो कविताएँ लिखी गयीं वे नयी कविता हैं और प्रयोगवादियों की भी सन् पचास के बाद की कविताओं को नयी कविता कह सकते हैं। फिर भी, १९५२ ई० में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएँ अपने व्यक्तिवादी रूप के कारण प्रयोगवाद में ही शरीक की जाती हैं। इसलिए नयी कविता को प्रयोगवाद के ही क्रम में देखना चाहिए। यदि सन् १९५० को विभाजक रेखा माना जाय, तो 'दूसरा सप्तक' की कुछ कविताएँ, 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', 'सागर मुद्रा', 'क्योंकि मैं उसे जानता हूँ', 'पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ' (अज्ञेय); 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले' (गिरिजाकुमार माथुर); 'अर्द्धशती' (बालकृष्ण राव); 'अनागता की आँखें', 'शून्य पुरुष और वस्तुएँ' (वीरेन्द्रकुमार जैन); 'माध्यम मैं', 'खंडित सेतु' (शम्भुनाथ सिंह); 'कुछ कविताएँ', 'कुछ और कविताएँ', 'चुका भी नहीं हूँ मैं' (शमशेर); गीत फ़रोश', 'चकित है दुःख', 'बुनी हुई रस्सी', 'खुशबू के शिलालेख' (भवानीप्रसाद मिश्र); 'स्वप्न भंग', 'अनुक्षण', 'मेपल' (प्रभाकर माचवे); 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध); 'ओ अप्रस्तुत मन' (भारतभूषण अग्रवाल); 'वन पाखी सुनो', संशय की एक रात' (नरेश मेहता); 'सात गीत वर्ष', 'कनुप्रिया', 'अन्धा युग' (भारती); 'मृग और तृष्णा' (हरिनारायण व्यास); 'मछली घर' (विजयदेवनारायण साही); 'काठ की घंटियाँ', 'बाँस के पुल', 'एक सूनी नाव', 'कुआनो नदी' (सर्वेश्वरदयाल सक्सेना); 'चक्रव्यूह', 'परिवेश हम तुम', 'आत्मजयी' (कुँवर नारायण); 'सीढ़ियों पर धूप में', 'आत्म-हत्या के विरुद्ध', 'हँसो जल्दी हँसो' (रघुवीर सहाय); 'वंशी और मादल' (ठाकुरप्रसादसिंह); 'नाव के पाँव', 'युग्म', 'हिमविद्ध' (जगदीश गुप्त); 'इतिहास पुरुष' (डॉ० देवराज); 'माया दर्पण' (श्रीकान्त वर्मा); 'अंकित होने दो', 'अकेले कंठ की पुकार' (अजितकुमार); 'मुक्ति प्रसंग' (राजकमल चौधरी); 'एक कंठ विषपायी', 'साये में धूप' (दुष्यंत कुमार); 'अतुकान्त', 'तीसरा पक्ष' (लक्ष्मीकान्त वर्मा); 'कविताएँ' (कीर्ति चौधरी); आत्मनिर्वासन तथा अन्य कविताएँ' (राजीव सक्सेना); 'अभी बिलकुल अभी' (केदारनाथ सिंह); 'उजली कसौटी' (राजेन्द्रप्रसाद सिंह); 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ', 'पक गयी है धूप' (रामदरश मिश्र); 'इतिहास का दर्द' (रणजीत); 'कल सुबह होने के बाद' (शलभ श्रीराम सिंह); 'संसद से सड़क तक' (धूमिल); 'नाटक जारी है' (लीलाधर जगूड़ी); 'दीवारों पर खून से' (चन्द्रकान्त देवताले); 'आकाश विभाजित है' (विष्णुचन्द्र शर्मा); 'अंगीरस' (ऋतुराज); 'जो नितान्त मेरी है' (बालस्वरूप राही); 'एक पुरुष और' (डॉ० विनय); 'इस हादसे में' (नरेन्द्रमोहन); 'त्रास' (विजेन्द्र) तथा वे सब कृतियाँ, जिनकी चर्चा सप्तकों के बाहर के कवियों के सन्दर्भ में की गयी है, नयी कविता की कृतियाँ हैं। इस सन्दर्भ में 'कल्पना', 'कृति', 'लहर', 'ज्ञानोदय', 'कवि' आदि मासिक पत्रिकाओं तथा नयी कविता से सम्बन्धित निम्न-लिखित त्रैमासिक या अर्द्धवार्षिक और वार्षिक पत्रिकाओं तथा संकलनों का अनुशीलन भी अभीष्ट है :—

प्रतीक (सं० अज्ञेय); 'कविता' (सं० भागीरथ भार्गव); 'निकष' (सं० धर्मवीर भारती; 'संकेत' (सं० उपेन्द्रनाथ अश्क); 'आधुनिक कविताएँ' (सं० रणधीर सिन्हा); 'नयी

कविता' (सं० जगदीश गुप्त); 'कविताएँ सन् १९५४, १९६३, १९६४, १९६५' अजितकुमार-देवीशंकर अवस्थी तथा अजितकुमार-विश्वनाथ त्रिपाठी); 'कविताएँ सन् १९५७-५८' (सं० सुरेन्द्र चतुर्वेदी-रामबहादुर मुक्त); 'संचेतना' का विचार कविता अंक (सं० प्रदीपसिंह और नरेन्द्र मोहन); 'निषेध' (सं० जगदीश चतुर्वेदी); 'पहचान' शृंखला के संकलन (सं० अशोक वाजपेयी)।

उत्तर-छायावाद

वास्तव में इस अवधि के छायावाद का इतिहास मूलतः निराला और पन्त के काव्य-विकास का इतिहास है। यों छायावाद की शैली में मिलनेवाले और भी बहुत-से लोग आये, किन्तु उनमें अपना कोई उन्मेष नहीं। वे इस धारा को स्फीति भले ही दे सके हों, कोई वैशिष्ट्य नहीं प्रदान कर सके। इसलिए उनकी चर्चा अनपेक्षित है। महादेवी जी की 'दीप-शिखा' उनकी रचनाओं के क्रम में ही अगली कड़ी के रूप में आयी, इसलिए उन्हें भी पहले की महादेवी से मूलतः अलग नहीं किया जा सकता और फिर उसके बाद तो वे मौन हो गयीं।

निराला : निराला के गीत छायावाद से अलग न हटकर उसकी सम्भावनाओं से निर्मित हैं। किन्तु, उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता गया है—वह है लोकोन्मुखता। निराला की छायावादी कविताओं में निराला का लोकोन्मुख व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही झलकता रहा है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोक-सम्पृक्त रहा है, इसलिए वे स्वभावतः प्रेम-सौन्दर्य के बोध के साथ-साथ जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लेते हैं और व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गाकर लोक-जीवन के सुख-दुःख को, यातना और संघर्ष को गहराई से उभारते हैं और उनकी व्यक्तिगत प्रणयानुभूति भी एकान्तवासिनी न रहकर प्रायः लोकगन्ध से उष्ण हो उठती है। निराला की यह विशेषता प्रस्तुत अवधि में अधिक विकसित होती गयी है। उनकी यह लोकोन्मुखता दो रूपों में आयी—१. छायावाद से एकदम अलग हटकर कवि ने प्रगतिशील कविताएँ लिखीं, २. उनकी छायावादी काव्यधारा का स्वर अधिक लोकोन्मुख होता गया। प्रगतिवादी कविताओं में छन्द, भाषा और भाव-भूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त हैं। 'कुकुरमुत्ता', 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम-संगीत', 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्स', 'स्फटिक शिला' और 'नये पत्ते' की अधिकांश कविताएँ इस प्रकार की कविताएँ हैं। इनमें प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं है, बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में है। इन कविताओं की भाषा लोक की है, मुहावरे लोक के हैं, शैली लोक की है। इनमें लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निराला इस बात को समझते थे कि लोक-जीवन को केवल उसके भाव, दृश्य, व्यापार में नहीं लिया जा सकता; उसके लिए उसकी भाषा भी आवश्यक होती है दूसरी ओर, पन्त इस बात को समझते हुए भी इसे चरितार्थ नहीं कर सके।

'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' आदि में संकलित इधर की छायावादी कविता में निराला ने एक ओर तो स्वानुभूतिपरक गीत लिखे हैं तथा दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानन्द जी, सन्त रविदास, प्रसाद जी, महात्मा बुद्ध आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएँ लिखी हैं। ये गीत कई तरह के हैं—इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थना-परकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएँ भी इनमें व्यक्त हुई हैं। ये सभी बातें निराला की १९३८ ई० से पहले की कविताओं में भी हैं, उनका अनुपात भले ही थोड़ा भिन्न हो। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत को सांस्कृतिक

और सामाजिक पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है। निराला की इस अवधि की नयी देन है—उनकी लोकवादी कविताएँ, जो वास्तव में कविता की उपलब्धि के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकतीं, वरन् वस्तु और भाषा के एक नये प्रयोग के रूप में ही महत्त्व प्राप्त करती हैं। ये कविताएँ एक ठहराव को तोड़ती हैं और कवि को पुनः समग्र भाव से जन-जीवन से जोड़ती हैं। निराला की इस अवधि की कविताओं में उनकी जीवनानुभूति के जो स्तर उभरे, उनमें टूटन और पराजय भी थी। टूटन और पराजय की यह प्रवृत्ति कवि को भक्ति की ओर उन्मुख करती है। साथ ही कवि का असन्तुलित मानस प्रेम, भक्ति, खुलेपन और उलझाव का कुछ ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएँ उलझे प्रभाव से ग्रस्त हो गयी हैं।

सुमित्रानन्दन पन्त : पन्त जी के इस काल के काव्य-साहित्य का विश्लेषण किया जाय तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये अपने चिन्तन और विषय में अधिक विकासशील रहे और चूंकि ये अपने संस्कार और भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे, अतः यह कहा जा सकता है कि पन्त के माध्यम से छायावाद को इस अवधि में नया चिन्तन और नया विषय-जगत् प्राप्त हुआ है। सन् १९३६ में 'युगान्त' की घोषणा कर पन्त ने १९३९ में 'युगवाणी' और १९४० में 'ग्राम्या' की रचना की। इसलिए वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन और जन-जीवन के सत्यों की ओर उन्मुख हुए। यहाँ निराला और पन्त के अन्तर को समझ लेना चाहिए। निराला ने चिन्तन के माध्यम से नहीं, संवेदना और अनुभव के माध्यम से जन-जीवन को ग्रहण किया; इसलिए उनकी कविताओं में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं पा सका, वहाँ जन-जीवन अपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ओर पन्त ने मार्क्सवादी दर्शन को चिन्तन के स्तर पर स्वीकार किया। वे प्रायः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ही व्यक्त करते रहे हैं :

कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण,
भौतिक भव ही एकमात्र मानव का अन्तर दर्पण,
स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन,
वाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।

कहना न होगा कि कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि से आलोक में गाँव के जीवन की विविध यथार्थ-छवियों का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल शिल्पी पन्त ने गाँव के जीवन-यथार्थ को जितना उसके रूप-रंग में पकड़ा है, उतना भीतर की चेतना में नहीं।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो उठती है जब पन्त जी 'ग्राम्या' से आगे की यात्रा में अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। बीच में प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन की ओर भटके हुए उनके विचार पुनः आध्यात्मिक लोक की ओर उठने लगते हैं। इस प्रकार विचार के स्तर पर छायावाद को एक नयी दिशा और समृद्ध आधार प्राप्त होता है। कवि मार्क्स के भौतिकवाद से सन्तुष्ट नहीं है, किन्तु फिर भी उसे आवश्यक मानता है। कवि आरम्भ से ही मनुष्य-मात्र के सुख, प्रेम, शान्ति का स्वप्न देखता रहा है। इस वायवी स्वप्न को उसने रूप देना चाहा तो मार्क्सवाद में उसे आलोक दिखायी पड़ा, किन्तु पुनः उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है, केवल भौतिक योगक्षेम की व्यवस्था कर सकता है। अतः कवि इसे आवश्यक मानते हुए भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविन्दवाद में भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय ढूंढ़ता है। कवि ने 'स्वर्णकिरण', 'स्वर्णधूलि', 'शिल्पी', 'लोकायतन' आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय को स्वर दिया है,

इस विकास-यात्रा में पन्त का काव्य-पक्ष आहत हो गया है, धारणा-पक्ष उठता गया है। कारण यही है कि वे मानव-समाज की समस्याओं, उनके समाधान और नये विचारों को धारणा और आकांक्षा के स्तर पर स्वीकार करते हैं, अनुभूति के स्तर पर नहीं। इसलिए चाहे मार्क्सवाद हो, चाहे अरविन्दवाद—वह पन्त-काव्य को समृद्ध बनाने में सहायक प्रायः नहीं हुआ है।

महादेवी वर्मा : महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' में उनकी क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखायी पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। कवयित्री ने संयोग और वियोग में उभरनेवाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है, यह वेदना विरहजन्य है। करुण वेदना और निराशा से आक्रान्त इनका प्रारम्भिक काव्य 'दीपशिखा' में कुछ आलोक पा सका है—आशा का, उल्लास का, मिलन का। यथा :

(अ) सब बुझे दीपक जला लूँ।
घिर रहा तम आज दीपक रागिनी अपनी जगा लूँ।
(आ) हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन
अगरु धूम सी साँस सुधिगन्ध सुरभित।

महादेवी में गीतिकाव्य के उत्कर्ष की सुन्दर भावनाएँ हैं, लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुछ कुण्ठित कर देता है। कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएँ हैं, इन्हें वह भिन्न-भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती है। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात हैं। कवयित्री की लौकिक संवेदनाएँ रहस्यवादी आभास से लिपटकर निश्चय ही नये अर्थ का विस्तार करती हैं, किन्तु साथ ही अपनी लौकिक मूर्त्तता, प्रत्यक्षता और तीव्रता खो देती हैं। दीप, चन्दन, मन्दिर, क्षितिज, आकाश, करुण, धूल, मेघ, विद्युत्, सागर आदि प्रतीक और शब्द बार-बार आते हैं और रहस्यात्मक संकेत में उलझ जाते हैं। इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवी जी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री हैं और 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति। रहस्य और संकोच के आवरण के बावजूद कवयित्री की अन्तरंग निजता गीतों में बहती रहती है। जहाँ कहीं वह पारदर्शी हो जाती है या जहाँ पमग्र दृश्य सिमटकर उसी की ओर संकेत करने लगते हैं, वहाँ वे बहुत उत्कृष्ट गीतों की रचना करती हैं। महादेवी की दूसरी विशेषता है—सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूपजगत् और भावजगत् दोनों के हैं किन्तु रूपजगत् के चित्र भी कवयित्री के मानसिक सन्दर्भ में ही नियोजित होते हैं। लोक-परिवेश और लोकभाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करनेवाले, भाषा की अभिजात छवि से मण्डित ये गीत शब्द-चयन, पद-सन्तुलन, बिम्ब-ग्रहण, प्रांजलता, कोमलता और स्वर-लय में बहुत विशिष्ट हैं।

जानकीवल्लभ शास्त्री : शास्त्री जी मूलतः गीतकार हैं और इनके गीतों में छायावादी गीतों के ही संस्कार शेष हैं। ये गीत छायावादी गीतों से अधिक खुले हुए अवश्य हैं, किन्तु इनकी संवेदना और गूंज-अनगूंज प्रायः वैसी ही है। परम्परागत दर्शन संवेदन और भाषा से निर्मित ये गीत उत्तर छायावाद युग के गीतों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं और इनका अपना आकर्षण है। 'रूप अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत' और 'अवन्तिका' इनकी प्रमुख काव्य-कृतियाँ हैं।

इन कवियों के अतिरिक्त उत्तर-छायावाद के अन्य उल्लेख्य कवि हैं—रामकुमार

वर्मा ('अंजलि', 'रूपराशि', 'चित्ररेखा', 'चन्द्रकिरण' और 'एकलव्य'), सुमित्राकुमारी सिन्हा ('विहाग', 'पंथिनी') और विद्यावती कोकिल ('अंकुरिता' और 'सुहागिन')।

व्यक्तिवादी गीतिकविता

इस धारा के कवियों तथा छायावादी कवियों में दृष्टि और विषय की बड़ी समानता है। इन कवियों की भी दृष्टि रोमानी है, वस्तुजगत् के प्रति इनकी भी प्रतिक्रिया अत्यन्त भावात्मक है। ये भी वस्तुजगत् से नहीं, वस्तुजगत् की प्रक्रिया से उत्पन्न अपने निजी सुख-दुःख के आवेग से सम्बद्ध थे; इसलिए इनकी कविताओं में भी भयंकर आत्म-सम्पृक्ति और उत्तेजना मिलती है। इनका भी विषय मूलतः सौन्दर्य और प्रेम तथा तज्जन्य उल्लास और विषाद की अनुभूति है। इनकी भी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम गीत ही है क्योंकि इनके भी काव्य-विषय की प्रकृति छायावादी काव्य की प्रकृति के समान गीतात्मक है। किन्तु इन कृतियों में छायावादी कविता जैसा संकोच, रहस्यात्मकता और आदर्शवादिता नहीं है, साहस के साथ सीधे साफ़ तौर पर अपने निजी प्रेम-संवेग तथा सुख-दुःख को कहने की आकुलता है। इनकी वेदना छायावाद की घिसती हुई वेदना की तरह सामान्य नहीं, वरन् निजी प्रतीत होती है। अतः उससे अनुभव का एक विशिष्ट बिम्ब उभरता लक्षित होता है। यह अवश्य है कि इनके ये अनुभव-बिम्ब छायावाद के सुन्दर अनुभव-बिम्बों के समान सूक्ष्म, संश्लिष्ट और गहरे नहीं हैं, किन्तु जो कुछ है वह छल नहीं ओढ़ता, उघड़े ही रूप में उभरकर सहज प्रवाह का सुख देता है। छायावादी कविता भी प्रायः 'मैं' के माध्यम से अपना अनुभव उभारती है और व्यक्तिवादी गीतिकविता भी। किन्तु, छायावाद का 'मैं' संकोच या मर्यादा के आतंक का अनुभव करने के कारण तीव्रता से आलोकित होने के स्थान पर मन्द-मन्द दीप्त होता है जबकि व्यक्तिवादी गीतिकविता का 'मैं' अपने समूचे राग-विराग के साथ निर्व्याज भाव से फूट चलता है।

यदि हम इस धारा में आनेवाली कृतियों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि लौकिक प्रेम इनकी केन्द्रीय वृत्ति है। प्रेम के संयोग-वियोगजन्य उल्लास, पीड़ा, उदासी, टूटन, असन्तोष आदि का सघन स्वर इन कविताओं में मुखर हुआ। परिस्थिति, अनुभव और संस्कार के अनुसार कवियों के स्वरों में भिन्नता अवश्य है, किन्तु मूल वृत्ति में अन्तर नहीं। इनका प्रेम किसी लौकिक सौन्दर्य-आलम्बन पर ठहरा होने के कारण अधिक मूर्त रूप धारण करता है। इनका हर्ष-विषाद न तो आदर्श का छल ओढ़ता है और न धरती-आकाश के बीच झुकता है, वह शुद्ध धरती पर यात्रा करता है—धरती के परिवेश के बीच, और अपने-अपने रूप में बहुत ही उघड़ा हुआ होता है। बच्चन के 'निशा-निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' काव्य यदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो 'मिलन-यामिनी' मिलन की मादकता और उमंग को। नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' में यदि लौकिक विरह की व्यथा की प्रधानता है तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौन्दर्य, भोग और संयोग की ऊष्मा के मादक चित्र भी हैं। यह स्थिति अंचल, नवीन, दिनकर आदि की इस धारा में आनेवाली कृतियों में भी देखी जा सकती है।

वास्तव में इस धारा की कृतियों का मूल स्वर प्रेम है और प्रेमजन्य व्यथा तथा उदासी यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है। इनकी स्वच्छन्द वृत्ति सौन्दर्य और प्रेम की भूख लिये उड़ती थी, वह भूख तृप्त नहीं हो पाती थी, स्वच्छन्द उड़ान सामाजिक प्रतिबन्धों से टकराती थी और टूटकर विरह की पीड़ा बन जाती थी। कवि अनुभव करता था कि संसार

उसके ये गान वासना के गान लग रहे हैं, इसलिए उसे स्वीकार्य नहीं हैं। किन्तु, कवि अपने अनुभव का गान मानता था। इन अनुभव-सत्यों को उसका स्वच्छन्द हृदय न्वित भाव से गाना चाहता था। बच्चन ने अपने और समाज के इस तनाव को स्पष्ट व करते हुए 'मधुकलश' में कहा है :

(अ) कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा।
(आ) वृद्ध जग को क्यों अखरती है क्षणिक मेरी जवानी ?
(इ) शत्रु मेरा बन गया है छलरहित व्यवहार मेरा।

इस धारा की कृतियों में निराशा और उदासी का जो स्वर है वह केवल प्रेममूलक है, वह जीवन के अन्य सन्दर्भों में भी मुखर हुआ है। देश की पराधीनता, सामाजिक यों, आर्थिक रिक्तता के भयंकर अहसास से गुज़रता हुआ अकेला, स्वच्छन्द, संवेदनशील मानस बार-बार अपने को टूटता हुआ पा रहा था। उसका व्यक्तिवादी आक्रोश-स्वर असुन्दर वस्तुओं को अस्वीकार करता हुआ, और स्वयं कहीं स्वीकृत न होता हुआ, ही में लौट आता था। वह आत्मपीड़न, टूटन, कुण्ठा की एक नयी पर्त लपेट लेता था उसे गाता चलता था। इनके पास जीवन-दृष्टि नहीं थी— न तो पुरानी आध्यात्मिक न-दृष्टि और न नवीन समाजवादी दृष्टि। ये कवि अपने अनुभवों से परिचालित हो रहे नके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे। उनकी दृष्टि रोमानी थी, अतः वे व्यक्ति को सामाजिक शक्ति से जोड़ सके, न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवन-दृष्टि के अभाव में क्तिवादी अनुभव निराशा, मृत्यु की छाया और नियति-बोध से ग्रस्त हैं। ये अनुभव जहाँ तीव्रता में सूक्ष्म, परन्तु खुले हुए बिम्बों की रचना में एक नये साहित्यिक सौन्दर्य की ट करते हैं वहाँ अपने आत्यंतिक अकेलेपन, उदासी और दुहराव में क्षयोन्मुख दीखने ते हैं और जहाँ ये काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाते हैं वहाँ अपनी सार्थकता किसी भी र प्रमाणित नहीं कर पाते :

कितना अकेला आज मैं
संघर्ष में टूटा हुआ
दुर्भाग्य से लूटा हुआ
परिवार से छूटा हुआ, किन्तु अकेला आज मैं। (एकान्त संगीत)

वह चारों ओर अवसाद देखता है। जो अवसाद है, वह खुला हुआ लौकिक अवसाद । कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़ समाज नहीं है, संस्था नहीं है; इसलिए ह किसी प्रकार के आश्रय का आभास नहीं पाता, उसे यदि कोई सहारा नज़र आता है केवल प्रेयसी से मिलन का, किन्तु वह भी कहाँ हो पाता है? इसलिए कवि अपनी नंगी श, असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष, बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल और निराधार नुभव करता है।

इस प्रकार की व्यक्तिवादी अनुभव-यात्रा के दो परिणाम दिखायी पड़ते हैं—एक तो ह विश्वास कि जीवन क्षणभंगुर है; इस अवसाद के विस्तार में यदि उल्लास के कुछ क्षण ल जाते हैं तो उन्हें मस्ती से भोगो, आगे-पीछे मत देखो। दूसरा यह कि कवि अपने ग़म ग़लत करने के लिए मधु का सहारा लेता है; और सारे सहारे तो छूट चुके हैं। इतना नहीं, वह अपनी मादकता, प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने के लिए भी मधु पान करना चाहता है। यह मधु धीरे-धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवन-नों का प्रतीक बन जाता है, जैसा कि 'मधुशाला', 'मधुबाला' आदि में हुआ है।

इस धारा की प्रमुख कृतियों में कहीं-कहीं प्रगतिवादी कविता का-सा विद्रोह ध्वनि हुआ है, जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल', नरेन्द्र शर्मा के 'अग्निशस्य', अंचल की 'कि बेला', शम्भुनाथ के 'मन्वन्तर' आदि में। इन कवियों मे लक्षित होनेवाला विद्रोह स्वर व्यक्तिगत अस्वीकृति तथा सामाजिक असन्तोष दोनों रूपों में है। लेकिन इस धारा का समस्त विद्रोह-स्वर मूलतः समान है। उसमें व्यक्तिगत भावावेश अधिक है, सामाजिक दर्श और रचनात्मक चिन्तन कम।

वैयक्तिक गीतिकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधे-सादे शब्दों, परिचित चित्रों और सहज कथन-भंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफाई से कह देता है। इसलिए कवि की शक्तियाँ और अशक्तियाँ दोनों बड़ी स्पष्टता से उभरती हैं। शक्तियाँ अस्पष्ट बिम्बों में उलझकर अपनी तीव्रता और प्रभाव नहीं खोतीं और अशक्तियाँ रहस्यात्मकता का लाभ उठाकर महान् होने का आभास नहीं दे पातीं। यद्यपि इन कवियों की संवेदना व्यक्तिवादी है, किन्तु वे अपने को जिस माध्यम---परिवेश, प्रकृति-चित्र, बिम्ब, उपमा, भाषा आदि—के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा अति परिचित होता है, लोक के निकट का होता है, अतएव मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। यद्यपि इस धारा की कविता की भी भाषा मूलतः संस्कृतनिष्ठ है, किन्तु उसके शब्द या पद हमारे निकट के लगते हैं। बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी इनमें पर्याप्त मात्रा में आये हैं। कुल मिलाकर यह जीवन्त भाषा प्रतीत होती है।

हरिवंशराय 'बच्चन' : बच्चन इस धारा के सर्वोत्तम कवि हैं। इस धारा की समस्त सम्भावनाएँ और सीमाएँ बच्चन में पुंजीभूत हैं। बच्चन मूलतः आत्मानुभूति के कवि हैं इसलिए उनकी जिन कृतियों में आत्मानुभूति की सघनता है, वे अपने प्रभाव में तीव्र और मर्मस्पर्शी हैं। जिन कृतियों में आत्मानुभूति के साथ अवधारणाओं का संयोग होता चला है, उनमें प्रभाव की अन्विति टूट-टूट गयी है। लगता है कवि अपनी बात कहने के बाद उसे 'जनरलाइज्ड' करने लगता है। 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'मिलन यामिनी' के गीत इस दृष्टिकोण से जहाँ गीतिकाव्य की उपलब्धियाँ हैं वहाँ अवधारणाएँ अनुभूतियों के रंग में भीग गयी हैं। कवि ने स्वानुभूतिजन्य सुख-दुःख, सौन्दर्य और प्रेम के उन्मुक्त सहज गीत गाये हैं, किन्तु उसका स्वर यहीं तक सीमित नहीं है वह सामाजिक विसंगतियों का भी चित्रण करता है तथा उनके प्रति विद्रोह भी करता है।

> प्रार्थना मत कर मत कर मत कर
> युद्धक्षेत्र में दिखला भुजबल
> रहकर अविजित अविचल प्रतिपल
> मनुज पराजय के स्मारक हैं
> मठ, मस्जिद, गिरजाघर। (एकान्त संगीत)

किन्तु, लगता है विद्रोह या सामाजिक सत्य-चित्रण बच्चन के स्वभाव में नहीं अँटते, इसके लिए जिस सामाजिक जीवन-भोग और बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह बच्चन या इस धारा के किसी कवि में नहीं है। बच्चन के गीत जहाँ अपनी सहज भाषा और अनुभूति की निश्छलता के कारण गीतिकाव्य को नयी गरिमा प्रदान करते हैं वहाँ कहीं-कहीं उत्तेजना, भाषा के सपाटपन, शब्दों, बिम्बों के अपव्यय तथा स्फीति के कारण बहुत प्रभावहीन सिद्ध होते हैं। जैसे 'जो बीत गयी सो बीत गयी' गीत का आरम्भ एक अवधारणा से होता है और इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कवि ने अनावश्यक रूप से तीन

लिये हैं। कहा जा सकता है कि बच्चन के काव्य-सौन्दर्य का धरातल बहुत विषम हीं काफ़ी ऊँचा, कहीं नीचा या सपाट। अपनी धारा के अन्य कवियों से बच्चन त में अलग हैं कि जहाँ और लोगों ने बाद में अपने को दुहराया है, वहाँ बच्चन ने भाव से अपनी जानी-पहचानी दुनिया को छोड़कर यथार्थ की नयी दुनिया में प्रवेश है और उसके अनुकूल भाषा की तलाश की है।

नरेन्द्र शर्मा : नरेन्द्र शर्मा के गीतों का अपना वैशिष्ट्य है। उनमें बड़ी चित्रात्मकता आत्मीयता है, उनके गीतों का सुख-दुःख सीधे-सीधे प्रेमपात्र को निवेदित है, बीच में ई अवधारणा आती है और न छल। इन गीतों का एक परिवेश होता है और वह कवि का ही नहीं, हमारा भी निकट का परिचित होता है। वह कवि के अनुभवों वन्तता प्रदान करता है। कुल मिलाकर नरेन्द्र शर्मा के गीत अधिक अपने मालूम है। प्रकृति का बहुत चटक और सुपरिचित परिवेश इन्हें घेरे रहता है। शर्मा जी के आत्मीय क्षेत्र हैं—प्रकृति-सौन्दर्य, मानव-सौन्दर्य और उससे उत्पन्न विरह-मिलन की तियाँ :

फिर फिर रात और दिन आते
फिर फिर होता साँझ सवेरा,
मैंने भी चाहा फिर आये
बिछुड़ा जीवन साथी मेरा।

× × ×

कच्चे धागे सा सुख सपना
टूट गया सो टूट गया (पलाशवन)

नरेन्द्र शर्मा में भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण तथा विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोही है। यद्यपि यहाँ भी कवि की रूमानी दृष्टि ही प्रधान है तो भी उसका स्वर बच्चन की अधिक वस्तुवादी और अनुभूतिप्रवण है तथा उसमें समाजवादी चिन्तन का पुट भी है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' : अंचल का जन्म १ मई, सन् १६१५ को किशनपुर में हुआ एम० ए० तक शिक्षा प्राप्त करके पहले ये इन्स्टीट्यूट ऑफ़ लैंग्वेजेज़ ऐण्ड रिसर्च पुर) में हिन्दी-विभागाध्यक्ष रहे, फिर राजकीय कला एवं विज्ञान महाविद्यालय के आचार्य हुए। इन्होंने अपने तीव्र रूमानी संवेदन को लेकर अपने अन्तर की यात्रा ही है, ये समाज में भी घूमे हैं। इसलिए इनके सामाजिक यथार्थवाले काव्यों में रूमानी की ही प्रधानता लक्षित होती है। रूप की उद्दाम आसक्ति, उद्दाम वासना, उद्दाम और उद्दाम जिजीविषा ने इनके काव्य की प्रकृति का निर्माण किया है। वासना की ता कविता को एक ओर सामाजिक संयम से काट देती है, दूसरी ओर रचनात्मक स्तर से अनुभूति की गहराई और संश्लिष्टता की अपेक्षा उत्तेजना अधिक देती है। उत्तेजना यविक तनाव अंचल में इस प्रकार हावी है कि वे निरन्तर किसी न किसी रूप में कविताओं में शृंगारिक प्रतिक्रियाएं व्यक्त करते रहे हैं।

भगवतीचरण वर्मा : इनका जन्म सन् १६०३ में शफ़ीपुर, ज़िला उन्नाव में हुआ। में शिक्षा प्राप्त कर पहले ये पत्रकार बने फिर स्वतन्त्र भारत में आकाशवाणी से हुए। वर्मा जी की कविताओं में कई प्रकार की प्रवृत्तियों का संगम मिलता है। परम्परा के साथ युग-बोध, वैयक्तिक सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और आशा-निराशा के सामाजिक विद्रोह तथा निम्न वर्ग का पीड़ाबोध, अभिजात भाषा के साथ ऊर्जामयी

सामान्य भाषा का अस्तित्व लक्षित होता है। फिर भी मस्ती, आवेश और अहं कविताओं के केन्द्र में हैं। 'मधुकण', 'प्रेम-संगीत', 'मानव' और 'एक दिन' इनकी कृतियाँ हैं।

गोपालसिंह नेपाली : (जन्म १९०३) नेपाली जी बेतिया (विहार) में पैदा थे। काफ़ी समय तक फ़िल्मी दुनिया से सम्बद्ध रहे। नेपाली के प्रारम्भिक गीत मार्मिक किन्तु सीधे-सादे चित्रों से सम्पन्न होने के कारण अन्य कवियों की कविताओं से को साफ़ अलगा लेते हैं। इनके गीतों में चित्रित प्रेम-संवेग का भी अपना वैशिष्ट्य उनमें बड़ी सादगी, माधुर्य और प्रवाह है। 'पंछी', 'उमंग', 'रागिनी', 'पंचमी', 'रिमझिम 'नवीन' आदि इनकी काव्य-कृतियाँ हैं।

आरसीप्रसाद सिंह : आरसीप्रसाद सिंह में छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीति की सभी प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। इनकी कविता के केन्द्र में नारी है। नारी के प्रेम, प्रेमजन्य उत्सुकता, स्नायविक उत्तेजना, निराशा, वेदना आदि के स्वरों से इनकी कविताएँ अपनी धारा की कविताओं का ही रूप उजागर करती हैं। 'संचयिता', 'जीवन और यौवन', 'पांचजन्य' और 'प्रेमगीत' इनकी काव्य-कृतियाँ

शम्भुनाथ सिंह : शम्भुनाथ सिंह की काव्य-यात्रा अत्यन्त विकासशील रही है। रश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल' और 'दि़वालोक' में ये छायावादोत्तर व्यक्तिवादी कविता के कवि रहे हैं। 'मन्वंतर' प्रगतिवादी चेतना से प्रभावित है और बाद की में 'नयी कविता' का स्वर स्पष्ट है। व्यक्तिवादी गीतिकविता-धारा में आने के बावजूद शम्भुनाथ सिंह के गीतों में अपना सौन्दर्य निखर आया है जो रूप-विधान, प्रणय-संवेदना, भाषा और छन्द में लक्षित होता है।

राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता

'राष्ट्रीय' शब्द अपने आधुनिक अर्थ में आधुनिक है जिसमें जाति, सम्प्रदाय, धर्म, सीमित भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करनेवाली समस्त जातियों, भिन्न-भिन्न भू-खण्डों, सम्प्रदायों और रीति-रिवाजों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अँगरेज़ों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न-भिन्न राज्यों में बँटा हुआ था। वास्तव में पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अँगरेज़ों ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया, जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा हुए और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ। अलग-अपने में बँटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिलकर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अँगरेज़ों के गुलाम हैं। और फिर जब अँगरेज़ी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरम्भ हुआ तो मुक्ति की चेतना किसी धर्म या प्रदेश में सीमित न रहकर पूरे देश में व्याप्त हुई। इस प्रकार आधुनिक काल में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप उभरा और विकसित हुआ, उसके तीन आधार हैं—पूरे देश में अँगरेज़ी शासन की स्थापना, समग्र भारतीय प्रजा द्वारा अँगरेज़ी शासन से उत्पन्न यातना का समान अनुभव तथा स्वाधीनता-आन्दोलन और उसका देशव्यापी प्रसार।

राष्ट्रीयता का विकास सबसे पहले पश्चिम में हुआ, विशेषतया इंगलैंड में। किन्तु वहाँ पराधीनता की समस्या नहीं थी, इसलिए वहाँ राष्ट्रीयता के जो तत्त्व उभरे, वे भारत

वाले तत्त्वों से थोड़े भिन्न थे। भारतीय राष्ट्रीयता में स्व-रक्षा का भाव प्रधान था, स्वतन्त्र पश्चिमी देशों में स्व-विकास का। भारत एक विशाल देश है, जहाँ अनेक ों, भाषाओं, रीति-रिवाजों के लोग रहते हैं। ऊपर-ऊपर वे एक-दूसरे से अलग-खते हैं, परन्तु सबका मूल स्रोत एक ही है, जो आन्तरिक रूप से सबको बांधता मूल स्रोत है अपनी प्राचीन संस्कृति, प्राचीन आध्यात्मिक सत्य। कहा जा सकता है रे यहाँ उभरनेवाली राष्ट्रीयता में तीन मुख्य बातें लक्षित होती हैं—१. भारतीय ता की यातना का अहसास और उससे मुक्ति पाने का प्रयास, २. पश्चिमी सभ्यता भाव की भावना से आक्रान्त होती हुई भारतीय चेतना के उद्धार के लिए तथा ता और स्वाभिमान का बल फूँकने के लिए अपनी प्राचीन संस्कृति के समुज्ज्वल स्तुतीकरण, ३. उपयोगी आधुनिक मूल्यों के आलोक में राजनीतिक, सामाजिक थिक व्यवस्था का पुनर्विचार तथा पुनर्गठन। कहना न होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति न दो तत्त्व बहुत प्रबल रहे, किन्तु स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् तीसरे तत्त्व की ही शेष रह गयी। किन्तु उससे बड़ी बात जो आयी, वह थी देश की राजनीतिक की प्रतिष्ठा और विकास करने का प्रयास तथा नवीन राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परि- के कारण उत्पन्न समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने की चेष्टा। समस्याओं और प्रश्नों के सन्दर्भ में जब हम अपने अतीत गौरव को देखते हैं तब भिभूत होने के स्थान पर उसका पुनर्मूल्यांकन करते हैं और विचार के स्तर पर हम को जोड़ते या काटते हैं, उसके भीतर निहित द्वन्द्वों, विसंगतियों और मानवीय की तलाश करते हैं। जहाँ तक आधुनिक हिन्दी-कविता में राष्ट्रीयता की का प्रश्न है, कहा जा सकता है कि वह भारतेन्दुकालीन कविताओं से प्रारम्भ । किन्तु, राष्ट्रीयता का स्वरूप तब से लेकर आज तक विकसित होता रहा है। में छोटे-मोटे दुःख-दर्दों, सहज भावात्मक प्रतिक्रियाओं तथा अतीत-स्मरण के रूप में होनेवाली राष्ट्रीयता धीरे-धीरे जटिल और संश्लिष्ट होती गयी तथा अनेक मानवीय सीम प्रश्नों तथा संवेदनों से सम्पन्न होती चली गयी। नयी-नयी राष्ट्रीय तथा ट्रीय परिस्थितियों ने उसे जटिल रूप प्रदान किया। द्विवेदी-काल तक भारतीय ा बहुत-कुछ हिन्दू राष्ट्रवाद के रूप में दिखायी पड़ती है। इसका कारण सायास ट्रवाद का प्रसार नहीं था, वरन् उस भारतीय दृष्टि का अभाव था, जो गांधीजी त्व में उभरकर आयी।

स्तुत कालावधि में आनेवाली कृतियों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि राष्ट्रीयता रूप कहीं खंडित रूप में, तो कहीं संश्लिष्ट रूप में इनमें दिखायी पड़ते हैं। राष्ट्रीयता सबसे स्थूल रूप है, वह है—विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जन-यातनाओं नता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असन्तोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट रूप में भी। इस प्रकार ट्रीय कविताओं का महत्त्वपूर्ण स्तर प्रस्तुत अवधि में दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, माखनलाल चतुर्वेदी आदि की कृतियों में सुनायी पड़ता है। वास्तव में प्रेमचन्द के सों में तत्कालीन भारतीय जीवन को जकड़ती हुई विदेशी सत्ता, सामन्तवाद और सभ्यता के जिस जटिल और बुनियादी स्वरूप को उभारा गया है, उसे भावुकता से इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविताएँ मुखर नहीं कर सकी हैं। इनमें वस्तुस्थिति की व्याख्या के स्थान पर भावुक प्रतिक्रिया है। इस सन्दर्भ में एक बात अवश्य लक्षित करने

की है कि १९३८ ई० के आसपास के राष्ट्रीय जीवन की यातना और आक्रोश के एक नया उभार लक्षित होता है। छायावाद-काल में गांधी जी के प्रभाव में आत्मपीड़न अहिंसा-जन्य नरम प्रतिरोध दिखायी पड़ता है, किन्तु वामपन्थी दलों के उदय, समाज सिद्धान्तों के प्रचार तथा विदेशी शासन के झूठे वायदों और अधिकाधिक कठोर, विष जटिल होती परिस्थितियों के कारण साहित्य का स्वर अधिक उग्र, यथार्थवादी और न्मुख होता गया। दूसरी बात यह हुई कि प्रगतिवाद के प्रभाव से देश के भीतर शोषकों तथा शोषितों के अनेक वर्गों की पहचान होती गयी। लड़ाई केवल अँगरेजी ही नहीं है बल्कि सामन्ती, महाजनी सभ्यता और उनके प्रतिनिधि देशी शोषकों से जो अपने ही देश की जनता के लिए अपने-अपने ढंग से भयंकर शोषण के अस्त्र-शस्त्र रहे हैं। राष्ट्रीयता का यह नया स्वर दिनकर में अधिक उभरकर आया। कहा जा सक कि प्रगतिवाद ने भारतीय राष्ट्रीयता को अधिक प्रत्यक्ष किया, उसे आकाश से धरा उतारा, उसे जन-जीवन से जोड़ा।

राष्ट्रीयता का सम्बन्ध देश के स्थूल सुख-दुःख और आक्रोश के चित्रण से ही होता बल्कि राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से होता है, वरन् उसी से होता है। यह चेतना स्थिर न होकर गतिशील रहती है, अर्थात् नव-नव परिस्थिति नये-नये कोण उभारती रहती है और पुराने कोण छोड़ती रहती है। संस्कृति का स इसी आत्मा या चेतना से होता है। यह संस्कृति ज़हाँ इतिहास के रूप में हमारे लिए और पृष्ठभूमि बनती है, वहाँ वर्तमान चेतना से स्पन्दित होकर हमारा जीवन बन जाती प्रतिभावान् और नव-दृष्टि-सम्पन्न कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्त जीवन-सन्दर्भों में पुनर्परीक्षित करके ही स्वीकार किया है। यह प्रयास प्रस्तुत अवधि के रचित महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियों --'यशोधरा', 'पंचवटी', 'साकेत', 'प्रिय-प्रवास','कामाय 'राम की शक्तिपूजा' आदि—में भी लक्षित होता है।

प्रस्तुत अवधि में प्रकाशित काव्य-कृतियों में प्रमुख हैं—'कुरुक्षेत्र', 'जयभार 'नकुल', 'उन्मुक्त', 'रश्मिरथी', 'विक्रमादित्य' आदि। इनके अतिरिक्त 'इतिहास के की फुटकल कविताओं को भी इस सन्दर्भ में देखा जा सकता है। इन कृतियों में वर्त जीवन-प्रश्नों का प्रत्यक्ष या परोक्ष अंकन-आकलन तो अवश्य है, किन्तु उन्हें परिणति वाला स्वर भारतीय है, अर्थात् भारतीय संस्कृति के किसी उदात्त स्वर की तलाश ही प्रश्नों के बीच भटकती है।

मैथिलीशरण गुप्त : गुप्त जी इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। कवि ने अपने समय समस्त राष्ट्र-चेतना को अपने शब्दों में स्वर दिया है। काव्यात्मक दृष्टि से यह स्वर ही विषम है, कहीं गहन, कहीं एकदम विवरणात्मक। फिर भी, जहाँ अपने युग को बहुरंगी रूप में पकड़ने का प्रश्न है, गुप्त जी बहुत जागरूक कवि रहे हैं।

माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन: इन दोनों कवियों में बहुत साम्य है। यों नवीन सौन्दर्य और प्रेम की कविताएँ लिखने के कारण छायावादी कवियों के समीप पहुँच जाते किन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का प्रश्न है, इन दोनों की प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। दोनों का सम्बन्ध मूलतः राष्ट्र की तत्कालीन अवस्था से है, दोनों पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अँगरेज़ी शासन के अत्याचारों, स्वाधीनता-सेनानियों के उत्साह, कारागार-यात्रा और उनकी बेबसियों आदि के चित्रण में ही अपनी व्यस्तता दिखा है; सांस्कृतिक पक्ष उनसे प्रायः छूट ही गया है। वर्तमान के सन्दर्भ में अतीत के पुनर्परीक्ष

मूल्यों के आकलन, बृहत्तर मानवीय प्रश्नों और संवेदनाओं के अनुभव में इनका मन रम नहीं सका है।

रामधारीसिंह 'दिनकर' : इस धारा के कालावधि के सबसे सशक्त कवि 'दिनकर' -१९७४) हैं। इनका जन्म सिमरिया (ज़िला मुंगेर) में हुआ था। इन्होंने बी० ए० तक प्त की। ये क्रमशः एक हाई स्कूल के प्रधानाध्यापक, बिहार सरकार के अधीन सब-र, बिहार सरकार के प्रचार-विभाग के उपनिदेशक, मुज़फ़्फ़रपुर के कॉलेज में हिन्दी-ध्यक्ष, राज्यसभा के सदस्य, भागलपुर विश्वविद्यालय के उपकुलपति तथा भारत के हिन्दी-सलाहकार रहे। दिनकर में संवेदना और विचार का बड़ा सुन्दर समन्वय पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम-सौन्दर्यमूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ, वि की संवेदना से स्पन्दित हैं। दिनकर में आरम्भ से ही अपने को अपने परिवेश से की तड़प दिखायी पड़ती है, इसलिए उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, है—व्यक्तिगत प्रेम-सौन्दर्यमूलक कविताओं में भी। छायावाद या उत्तर-छायावादी कविता की कुण्ठा, अतिरिक्त अवसाद तथा निराशा के घिराव के स्थान पर प्रसन्नता तंत्र सौन्दर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखायी पड़ती है। दिनकर की सबसे शेषता है—अपने देश और युग-सत्य के प्रति जागरूकता। कवि देश और काल के अनुभूति और चिन्तन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ हुआ है। कवि ने राष्ट्र की तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समताओं आदि के ही रूप में नहीं, संश्लिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के रूप में पहचाना है और उसके प्राचीन मूल्यों का नये न्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवन्तता प्रदान की है, दूसरी मान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्त्व देते हुए उन्हें अपने प्राचीन किन्तु मूल्यों से जोड़ना चाहा है। दिनकर ने राष्ट्रीयता की पहचान को मात्र भावनात्मक मा से उबारकर चिन्तन, परीक्षण तथा आत्मालोचन का स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न साथ ही इस राष्ट्रीयता के सार्वभौम मानवता के रूप में विकसित होने का स्वप्न यह विकास तभी सम्भव है जब बुद्धि के ऊपर संवेदनशील हृदय का शासन हो। में भीष्म के माध्यम से बुद्धि से वस्तुस्थिति की तीखी पहचान और हृदय में सार्वभौम साम्राज्य की स्थापना की कामना का सुन्दर समन्वय हुआ है :

> कर पाता यदि मुक्त हृदय को
> मस्तक के शासन से
> उतर पकड़ता बाँह दलित की
> मन्त्री के आसन से
> स्यात् सुयोधन भीत उठाता
> पग कुछ और सँभल के
> भरत भूमि पड़ती न स्यात्
> संगर में आगे चल के। (कुरुक्षेत्र)

सियारामशरण गुप्त : गुप्त जी और दिनकर के समान सियारामशरण गुप्त इस के विशिष्ट कवि हैं। इनकी कृतियों में सर्वत्र गांधीवाद की अभिव्यक्ति दीखती है। ज्वलन्त घटनाओं और समस्याओं का इन्होंने बड़ा जीवन्त चित्र प्रस्तुत किया है, संस्कृति के उदात्त तत्त्वों के प्रति गहरी आस्था रखनेवाले सियारामशरण जी इन ओं, अवस्थाओं और समस्याओं को तात्कालिक तथ्य के रूप में न देखकर उन्हें बृहत्तर

मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं और सन्दर्भों से जोड़ देते हैं। इसलिए इनके का पृष्ठभूमि अतीत हो या कि वर्तमान, उनमें आधुनिक मानवता की करुणा, यातना औ का समन्वित रूप उभरा है। सियारामशरण ने भारत की जिस किसी तात्कालिक को लिया है, उसे एकदेशीयता से ऊपर उठाकर बृहत्तर मानवीय मूल्य का स्तर प्रदा है, मात्र राष्ट्रीयता कवि को स्वीकार्य नहीं। 'उन्मुक्त' आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय स बहुत महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है।

उदयशंकर भट्ट : इनका जन्म कर्णवास, ज़िला बुलंदशहर में हुआ था। ये सनात कॉलेज, लाहौर में हिन्दी के अध्यापक रहे और बाद में आकाशवाणी ने सम्बद्ध हुए। की काव्य-कृतियाँ हैं—'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथा 'एकला चलो रे', 'विजय पथ'। इनके काव्य में भाव, विचार और भाषा बड़ा सुथरापन दीखता है। ये ठीक-ठीक किसी वाद के अन्तर्गत नहीं आते। कविताओं में युग का स्वर सुनायी पड़ता है और साथ-ही-साथ अपनी अतीत संस्कृति के आस्था भी। इनकी कविताओं में वेदना एवं निराशा की भी गूँज है और नवनिर्मा उत्साह तथा शक्ति भी है।

सोहनलाल द्विवेदी : इनका जन्म सन् १९०५ में बिन्दकी, ज़िला फ़तेहपुर में ये अत्यन्त सरल भाषा में राष्ट्रीय चेतना का स्वर व्यक्त करने वाले कवि हैं। इनकी यता की चेतना अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों ही काल-आयामों को समेटे अभिव्यक्ति की सादगी और वर्णनात्मकता इनके भावों को अत्यन्त सहजता से पाठकों प्रेषित कर देती है। द्विवेदी जी की काव्य-यात्रा प्रबन्धकाव्य और गीतिकाव्य, दोनों में हुई है। प्रसिद्ध रचनाएँ हैं: 'भैरवी', 'वासवदत्ता', 'कुणाल', 'चित्रा', 'प्रभाती', और 'पूजागीत'।

श्यामनारायण पांडेय : पांडेय जी की काव्य-प्रवृत्ति मुख्यतः उनके प्रबन्धका ही निखरी है। 'हल्दीघाटी' महाराणा प्रताप के जीवन पर तथा 'जौहर' पद्मिनी की कथा पर आधारित काव्य है। इन काव्यों में अद्भुत प्रवाह, ओज और सादगी है। पांडेय जी की राष्ट्रीयता अपने समय की सामासिक भारतीय राष्ट्रीयता न होकर राष्ट्रीयता है। कवि ने अतीत की कथाओं को युगीन सन्दर्भों में नियोजित न कर वर्णना पद्धति पर ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर दिया है। इसलिए इन काव्यों में प्रवाह तो है, भावात्मक और वैचारिक गाम्भीर्य नहीं है।

प्रगतिवाद

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गयी जो छायावाद के समा काल में १९३६ ई० के आसपास से सामाजिक चेतना को लेकर निर्मित होना आरम्भ इसके शब्दार्थ से इसके स्वरूप को समझने में भ्रान्ति होती रही है। इसलिए यही सम चाहिए कि यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामा चेतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बनाकर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्भव विकास में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुईं ही, साथ ही छाया की जीवन-शून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें थी। एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जन-संकट था, तो दूसरी ओर

RajGuru Math, Shivala, Varahasi Collection

र्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था जो वहाँ के विषम संकट और संघर्ष गुजरे जन-जीवन को बल दे रहा था, जो सामन्तवाद और पूँजीवाद की विभीषिकाओं कुचलकर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक र अपने समाज में उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक विसंगतियों र संकटों को देख रहा था, दूसरी ओर वह रूस के उस समाज को देख रहा था जो इन संगतियों और संकटों से गुज़रकर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था जिसमें सामान्य -जीवन को महत्ता प्राप्त हो रही थी, जहाँ नये सुख-सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के अन्य देशों में फैलता हुआ उसका मार्क्सवादी भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा-केन्द्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति म हो रही थी और उस विषम परिस्थिति में युवकों का हृदय असन्तोष और विद्रोह कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिए उपयुक्त बन रही थी।

हमारा राष्ट्रीय वातावरण नवीन परिस्थितियों के कारण एक नये प्रकार के युयुत्सा-से आन्दोलित हो रहा था। गांधी जी के नेतृत्व में जो स्वाधीनता आन्दोलन चल रहा उससे युवा-हृदय की विद्रोही भावना को अभिव्यक्ति नहीं मिल पा रही थी। सन् १९३४ में कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। इससे विदित हुआ कि स्वयं कांग्रेस में गांधी जी के अहिंसावादी सिद्धान्तों से असन्तुष्ट लोग उभर रहे थे। वे अकिध उग्र विचारों के और उग्र आचरण में विश्वास करते थे। महात्मा गांधी ने हिंसा के भय से बार-बार जनता के आन्दोलन को रोक दिया था। उमड़ता हुआ जन-जीवन इसे सहज भाव से स्वीकार नहीं कर पाता था, अतः उग्र प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। मजदूरों का आन्दोलन भी ज़ोर पकड़ रहा था। धीरे-धीरे राजनीति में वामपन्थी शक्तियों का ज़ोर बढ़ता गया। इस वैचारिक उग्रता और समाजोन्मुखता को बल दे रही थीं तत्कालीन परिस्थितियाँ। राजनीतिक दासता देश में एक ओर पूँजीवाद और सामन्तवाद की शोषक शक्तियों को प्रश्रय दे रही थी, दूसरी ओर जन-सामान्य के लिए अपार भयावह गरीबी, अशिक्षा, असुविधा और अपमान की सृष्टि कर रही थी। इसके अतिरिक्त अकाल और बाढ़ की भीषण विभीषिकाएँ भी देश को खा रही थीं। द्वितीय महायुद्ध और बंगाल का अकाल देश को निगलनेवाली भीषण घटनाएँ थीं। युद्ध के दबाव में जनता और भी आक्रान्त हो रही थी। जगती हुई उग्र जन-चेतना, रूस में स्थापित समाजवाद तथा पश्चिम के अन्य देशों में प्रचारित कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों से उभरते हुए विश्वव्यापी प्रभाव के कारण भारत में १९३५ ई० के आसपास साम्यवादी (या समाजवादी) आन्दोलन उगने लगा था। साहित्य भी उससे प्रभावित हुआ और प्रगतिवादी साहित्य का आन्दोलन आरम्भ हुआ। सन् १९३५ ई० में एम० फार्स्टर के सभापतित्व में पेरिस में 'प्रोग्रेसिव राइटर्स एसोसियेशन' नामक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का प्रथम अधिवेशन हुआ। सन् १९३६ में सज्जाद ज़हीर और डॉ० मुल्कराज आनन्द के प्रयत्नों से भारतवर्ष में भी इस संस्था की शाखा खुली और प्रेमचन्द की अध्यक्षता में लखनऊ में प्रथम अधिवेशन हुआ।

प्रगतिवाद रचना और आलोचना के क्षेत्र में सर्वथा नवीन दृष्टिकोण लेकर आया। यह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति को ही रचना का उद्देश्य मानता है। 'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रान्त अर्थ लेनेवाले भी कम नहीं हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखायी पड़नेवाली निर्जीव और पतनोन्मुख विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ

मान बैठते हैं। बुनियादी सत्य क्या है ? प्रत्येक युग में यथार्थ की दो शक्तियों का सं चलता रहता है—मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवन्त शक्तियों का। सामा स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित ग्रु किसान-मजदूर होते हैं। नवीन जीवन्त शक्तियाँ पुरानी शक्तियों को नष्ट कर नवीन जन-मं शाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों विकृतियाँ उतरायी रहती हैं, लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियाँ धीरे-धीरे उन्हें काटती रह हैं। ये शक्तियाँ व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ज़िन्दगी का संघर्ष, अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है। इ अनेक बुनियादी तत्त्वों को ग्रहण करनेवाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहि अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों लिए प्रेरणा-स्रोत होता है। प्रगतिवाद (जिसका दर्शन मार्क्सवादी है) भिन्न-भिन्न युगों साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। प्रगतिशी साहित्य समाज के युगीन सम्बन्धों को छोड़कर हवा में शाश्वत का महल बनानेवाले साहि को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजि मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियों से युद्ध करती है। आज के युग में बुनिया शक्तियाँ वे हैं जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हैं इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करनेवाला साहित्य अनिवार्य हा किसानों और मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूंजीवा (और सामन्तवादी) शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित, जर्जर, विसंगतिग्रस्त प्रवृत्ति पर चोट करता है।

प्रगतिवाद ने सौन्दर्य को नये दृष्टिकोण से देखा। वह वर्तमान जन-जीवन में सौन्द खोजता है। सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारे हार्दिक आवेगों और मानसिक चेतना दोनों से होता है। इन दोनों का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से होता है। नये समाज में पलनेवाला अथवा उसके साथ चलने का प्रयास करनेवाला कवि नये उठते हुए समाज में सौन्दर्य देखेगा, वह संघर्षों से भागकर किसी अतीत लोक या कल्पना-लोक के निष्क्रिय सौन्दर्य में मुंह नहीं छिपायेगा। प्रसिद्ध मार्क्सवादी दार्शनिक एन० जी० चरनीशवस्की के शब्दों में मनुष्य को जीवन सबसे प्यारा है इसीलिए सौन्दर्य की यह परिभाषा अत्यन्त सन्तोषजनक मालूम पड़ती है—'सौन्दर्य जीवन है।'

प्रगतिवाद साहित्य को सोद्देश्य मानता है। सोद्देश्यता और प्रचार को एक नहीं कर देना चाहिए। 'सोद्देश्यता' का अर्थ है—किसी विशेष अभिप्राय से, किसी विशेष दृष्टि से कला की रचना करना। 'प्रचार' का अर्थ है—बहुत स्पष्ट रूप से, किसी सिद्धान्त की दृष्टि-कोण की या मान्यता की घोषणा करते फिरना। प्रगतिवाद का उद्देश्य स्पष्ट किया जा चुका है अर्थात् वह सामाजिक यथार्थ का इस प्रकार चित्रण करता है कि कुरूप, शोषक, सड़ी-गली विसंगतिग्रस्त शक्तियों का पर्दाफ़ाश हो और नयी सामाजिक शक्तियों के संघर्ष, युयुत्सा और आस्था को बल मिले। साहित्य जनता का जनता के लिए ~~चित्रण करता है।~~ प्रचार साहित्य को हलका बनाता है और सिद्धान्त के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन के मनीषियों और साहित्य-चिन्तकों ने साहित्य में प्रचार का विरोध ही किया है। किन्तु, व्यवहार में यह देखा गया कि अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य प्रचार बनकर रह गया। सामाजिक जीवन की संश्लिष्ट वास्तविकता से कटकर केवल सिद्धान्त का प्रचार करने का परिणाम यह हुआ

कि कवि अपने परिवेश से सम्बद्ध न रहकर पहले लाल सेना और लाल रूस का; फिर बाद में लाल चीन का गीत गाने लगा। प्रचार का एक दूसरा खतरा यह भी हुआ कि कवियों ने जन-जीवन से अपने को सम्बद्ध किये बिना ही जन-जीवन का गीत गाना शुरू किया। अनुभव के स्थान पर फॉर्मूला कविताओं की प्रेरणा बना।

कला का शिल्प उसके वक्तव्य विषय के अनुसार होता है। प्रगतिवादी कविता चूँकि सामाजिक जीवन की वास्तविकता को लेकर चली, जनता तक पहुँचना और जनता के जीवन की ही बात कहना उसका लक्ष्य रहा, इसलिए वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और सूक्ष्म भाषा को छोड़कर सुस्पष्ट, सामान्य, प्रचलित भाषा को अपनाकर चली। उसने प्रतीक, बिम्ब, शब्द, मुहावरे, चित्र सभी जन-जीवन के बीच से लिये। इसलिए एक बहुत ही जीवन्त भाषा का उदय हुआ, जैसे रंगीन कुहासे को तोड़कर विषम यथार्थ धरातल उभर उठा हो। किन्तु प्रगतिवाद के आरम्भ में भाषा-शैली की यह स्पष्टवादिता अतिवादिता को पहुँचकर व्याख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गयी, उसमें अभिधा की प्रधानता हो गयी। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गयी। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य निखर नहीं पाया। ज्यों-ज्यों आन्दोलन का उफान मन्द पड़ता गया या ज्यों-ज्यों लोग मार्क्सवादी दृष्टि को साहित्य के सन्दर्भ में ठीक ढंग से समझते गये, त्यों-त्यों काव्य प्रचारात्मक, अभिधात्मक, सपाट रूप को छोड़कर अधिक चित्रात्मक, गहन और सांकेतिक होता गया।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी-काव्यधारा के विकास में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य-मात्र को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बन्द कमरे से निकालकर जन-जीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, जीवन और साहित्य के मूल्य, सौन्दर्य-बोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा, भाषा को कुहरे से निकालकर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। निराला, सुमित्रानन्दन पन्त, केदारनाथ अग्रवाल, रामविलास शर्मा, नागार्जुन, शिवमंगलसिंह सुमन, त्रिलोचन और मुक्तिबोध, इस धारा के प्रमुख कवि हैं। इनमें से निराला और पन्त की प्रगतिवादी कविताओं की चर्चा छायावाद के प्रसंग में हो चुकी है।

केदारनाथ अग्रवाल : इनका जन्म ९ जुलाई, सन् १९११ को कमासिन, ज़िला बाँदा में हुआ। ये बाँदा में वकालत करते हैं और प्रगतिवादी वर्ग के काफ़ी सशक्त कवि हैं। इन्होंने उद्बोधनात्मक कविताएँ भी काफ़ी लिखी हैं, किन्तु सच्ची कविताओं की भी इनके यहाँ कमी नहीं है। केदार की कविताओं में मानव और प्रकृति के सौन्दर्य का बड़ा सहज, वेगवान् और उन्मुक्त रूप मिलता है। 'माझी न बजाओ वंशी', 'वसंती हवा' आदि कविताएँ (जो 'फूल नही रंग बोलते हैं' में संगृहीत हैं) केदार की प्रगतिकालीन सहज सौन्दर्यवादी कविताओं के रूप में देखी जा सकती हैं। एक प्रकृति-चित्र देखिए :

आज नदी बिलकुल उदास थी
सोयी थी अपने पानी में,
उसके दर्पण पर
बादल का वस्त्र पड़ा था
मैंने उसको नहीं जगाया
दबे पाँव वापस घर आया।

(फूल नहीं रंग बोलते हैं)

रामविलास शर्मा : रामविलास शर्मा का जन्म सन् १९१२ में झाँसी में हुआ था।

ये अँगरेज़ी के पी-एच० डी० हैं। दीर्घकाल तक ये बलवन्त राजपूत कॉलेज, आगरा में अँग्रेज़ी के प्राध्यापक रहे और फिर के० एम० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। ये प्रगतिशील लेखक संघ के मन्त्री तथा 'हंस' के सम्पादक भी रहे हैं। ये प्रख्यात प्रगतिवादी समीक्षक हैं। इनकी कविताओं का सौन्दर्य है—सादगी, वेग और सहजता। शर्मा की में प्रचार और नारों की कमी नहीं, स्थूल व्यंग्यों की भी अधिकता है। किन्तु जहाँ वे अति-वादिताओं से मुक्त होकर कवि के रूप में विशेष रहे वहाँ वे सामाजिक संवेदना को आत्मसात् करके उसे सरल वेगवती भाषा में अभिव्यक्त करते हैं।

नागार्जुन : नागार्जुन का वास्तविक नाम वैद्यनाथ मिश्र है। इनका जन्म सन् १९१० में तरौनी (दरभंगा) में हुआ था। स्कूली शिक्षा के स्थान पर इन्होंने हिन्दी-संस्कृत का स्वाध्याय किया। 'यात्री' नाम से ये मैथिली में भी कविताएँ लिखते हैं। कवि के साथ-साथ ये हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकार भी हैं। इनकी कविताएँ मुख्यतः तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गम्भीर संवेदनात्मक और कलात्मक हैं जिनमें कवि ने मानव-मन की रागात्मक और सौन्दर्यमयी छवियों को अंकित किया है और साथ ही साथ मनुष्य की मानवीय सम्भावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो सामाजिक कुरूपता, राजनीतिक अव्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वास पर बढ़िया चुभता हुआ व्यंग्य करती हैं। शिक्षा-पद्धति पर एक व्यंग्य द्रष्टव्य है :

घुन खाये शहतीरों पर की बारहखड़ी विधाता बाँचे,
फटी भीत है, छत चूती है, आले पर बिस्तुइया नाचे,
बरसाकर बेबस बच्चों पर मिनट-मिनट में पाँच तमाचे,
इसी तरह से दुखरन मास्टर गढ़ता है आदम के साँचे। (युगधारा)

नागार्जुन की तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्‌बोधनात्मक हैं, किन्तु काव्य-तत्त्व की दृष्टि से हलकी हैं। 'बादल को घिरते देखा है', 'पाषाणी', 'चन्दना', 'रवीन्द्र के प्रति', 'सिन्दूर तिलकित भाल', 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि कविताएँ इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

रांगेय राघव : रांगेय राघव बहुमुखी प्रतिभा के प्रगतिवादी कवि थे! इन्होंने कविता के साथ-साथ कहानियाँ, उपन्यास और आलोचनाएँ तो लिखीं ही, कविता के क्षेत्र में भी ये प्रबन्ध और मुक्तक दोनों ही क्षेत्रों में सक्रिय रहे। 'अजेय खँडहर', 'मेधावी' और 'पांचाली' उनकी प्रबन्धात्मक कृतियाँ हैं जिनमें विषय की नवीन योजना के साथ-साथ नूतन प्रबन्ध विन्यास भी लक्षित होता है। रांगेय राघव की कविताओं में समाजवादी चिन्तन और उससे अनुप्राणित सामाजिक संवेदना की शक्ति है। 'राह के दीपक' की कविताओं में युगीन यथार्थ के सन्दर्भ में प्रकृति-छवि का भी अंकन किया गया है।

शिवमंगलसिंह सुमन (जन्म १९१५) की कविताएँ भी दो तरह की हैं। एक तो वे, जो गीत हैं या छोटी-छोटी सुगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे, जो अधिक लम्बी और उपदेशात्मक हैं। उनकी छोटी-छोटी कविताएँ और गीत जहाँ कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखते हैं वहाँ बड़ी कविताएँ अधिक स्थान घेरती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है, क्योंकि वे ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक होती हैं।

अन्य कवि

त्रिलोचन : (जन्म १९१७) भी इस वर्ग के कवि हैं। 'मिट्टी की बरात' इनकी प्रमुख कृति है। इनकी कविताओं में बड़ी सादगी है और हर कविता में धरती की सोंधी गन्ध मिलती है। ये कविताएँ प्रायः आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं। मुक्तिबोध अपने

विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी हैं। प्रगतिशील कविता के अन्तर्गत इनकी अनेक रचनाएँ आसानी से रखी जा सकती हैं, किन्तु कुल मिलाकर इन्हें नयी कविता के अन्तर्गत रखना ही समीचीन होगा। इन कवियों के अतिरिक्त अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती आदि में भी प्रगतिवाद किसी-न-किसी रूप में है, किन्तु मूलतः इन्हें प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

प्रयोगवाद और नयी कविता

प्रयोगवाद

प्रयोग को प्रत्येक युग में होते आये हैं, किन्तु 'प्रयोगवाद' नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया है जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करनेवाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरू-शुरू में 'तार सप्तक' के माध्यम से सन् १९४३ में प्रकाशन-जगत् में आयीं और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गयीं तथा जिनका पर्यवसान नयी कविता में हो गया। 'प्रयोगवाद' नाम भ्रामक है क्योंकि इस नाम से यह भाव टपकता है कि इन कवियों ने प्रयोग को साध्य मानकर एक नया वाद चला दिया। अज्ञेय जी ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में कवि-कर्म की व्याख्या करते हुए 'प्रयोग' शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में प्रयोग अपने-आप में इष्ट नहीं है, वरन् वह साधन है; दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण-क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है।

'तार सप्तक' और 'प्रतीक' पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें संगृहीत या प्रकाशित कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं हैं : कुछ ऐसे हैं जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से व्यक्तिवादी—जैसे शमशेरबहादुरसिंह, नरेश मेहता और नेमिचन्द्र जैन। कुछ ऐसे हैं जो विचारों और क्रियाओं दोनों से समाजवादी हैं—जैसे रामविलास शर्मा और गजानन माधव मुक्तिबोध। कुछ ऐसे हैं जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवन-मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पनेवाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः ये सभी कवि मध्य वर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढालकर कविताएँ लिखी हैं वे वास्तव में जनवादी कवि हैं, किन्तु जो ऐसा नहीं कर सके हैं या करना चाहते हैं, वे अपने व्यक्तिगत सुख-दुःखों की संवेदनाओं को ही अपने काव्य का सत्य मानकर उन्हें नये-नये माध्यमों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय मूलतः इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा है। यह ठीक भी है क्योंकि समाजवादी विश्वासोंवाले कवि प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में आ ही जाते हैं।

अतः प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्यवर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिस नये सत्य के शोध और प्रेषण के नये माध्यम की खोज की घोषणा की थी, वह सत्य इसी मध्यवर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। अतः प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दें जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं अर्थात् जिसे हम आत्मसात् कर लेते हैं। व्यापक जीवन की बड़ी-बड़ी सैद्धान्तिक बातें और नैतिकता के बड़े-बड़े फ़लसफ़े ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों, वे कला के क्षेत्र में कलाकार के 'स्व' की आँच में तपे बिना न तो खप सकते हैं और न उपादेय ही हैं। प्रश्न

यह नहीं कि हमने कला के जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिये हुए अंश को कितना जिया है, कितना भोगा है और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ व्यक्त किया है। प्रयोगवादी कवि इसीलिए व्यापक जन-जीवन के अंकन के फेर में न पड़कर अपने जिये हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसन्द करते हैं।

मध्यवर्गीय कवियों ने व्यक्ति-मन के सत्यों को उद्‌घाटित करने में ही नये सत्यों की प्रतीति और उनका सम्प्रेषण समझा। मध्यवर्ग आज ह्रासोन्मुख है। वह अपने चारों ओर के कठोर परिवेश के दबाव से टूट रहा है। उसकी आकांक्षाएँ विराट् हैं, सपने रंगीन हैं, संवेदनाएँ कोमल हैं। वह अपने चारों ओर खड़ी कठोर सामाजिक बन्धनों और आर्थिक वैषम्य की अभेद्य दीवारों से टकराकर अपने में लौट आता है और अपने को समाज से कटा हुआ, हारा हुआ, खण्डित और कुण्ठित समझने लगता है, पीड़ा के अनेक स्तरों से उलझी हुई संवेदनाओं को मन का गहरा यथार्थ मान बैठता है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति या कवि जन-जीवन के सामूहिक जागरण से असम्पृक्त रहने के कारण अपनी सीमाओं को तोड़ने का कोई सक्रिय प्रयास न करके 'स्व' की गुफा में पीड़ा के मणि खोजता रहता है। इस प्रकार वह जन-जीवन के प्रवाह से कटकर उसी के बीच में नदी के द्वीप की तरह अपनी इकाई में अवस्थित रहता है। प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों में यह स्थिति देखी जा सकती है। यह पीड़ा-बोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे इसे दार्शनिक स्तर पर एक चिरन्तन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं :

दुःख सब को माँजता है
और
चाहे स्वयं सब को मुक्ति देना वह न जाने, किन्त
जिनको माँजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सब को मुक्त रखें। —अज्ञेय

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की समस्त जड़ता, कुण्ठा, अनास्था, पराजय और मानसिक संघर्ष के सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्‌घाटित करते हैं। यों तो मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की पीड़ा के अनेक स्तर इन कविताओं में उभरे हैं, किन्तु विशेषतया दमित कामवासना का ही प्राधान्य लक्षित होता है। इनकी काम-संवेदना जितनी ही तीव्र है, उतनी ही सामाजिक बन्धनों की सीमाएँ कठोर हैं। अतएव तीव्र संवेदनाओं वाले मध्यवर्गीय कवि की यौन-वासना उभर-उभरकर कुण्ठित होती गयी और कुण्ठित होकर दर्द बनती गयी। छायावादी कवियों ने कल्पना-लोक में नारी के साथ साहचर्य स्थापित कर अपनी प्यास मिटा ली, किन्तु यथार्थ-आग्रही कवियों के लिए यह सम्भव नहीं था। उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटाकर दमित यौन-वासनाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का काम-सिद्धान्त इनके लिए प्रधान जीवन-दर्शन बन गया। इन कवियों ने कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं बारीक प्रतीकों तथा बिम्बों के माध्यम से दमित काम-वासनाओं और उलझी हुई संवेदनाओं को रूपायित किया। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर और भारती के नाम इस सन्दर्भ में लिये जा सकते हैं।

प्रयोगवाद ने बड़ी-बड़ी घटनाओं, बड़े-बड़े संघर्षों, बड़े-बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े-बड़े जीवन-प्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, उसने व्यक्ति के अन्तःसंघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म से सूक्ष्म, छोटी से छोटी संवेदनाओं

और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर छोटी-छोटी तीव्र प्रभावशाली कविताएँ लिखीं, स्केच दिये। कला में मूल प्रश्न विषय की महत्ता या लघुता का नहीं है, मूल प्रश्न है उसे ईमानदारी के साथ जीकर व्यक्त करने का। लघु मानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के सन्दर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से सोचने के लिए एक नया रास्ता खोला। मनुष्य अपनी समग्र दुर्बलताओं, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है। अतः यथार्थ मानव की सृष्टि के लिए उसके जटिल परिवेश को अंकित करना कलाकार का धर्म है।

नयी कविता

'नयी कविता' भारतीय स्वतन्त्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परम्परागत कविता से आगे नये भावबोधों की अभिव्यक्ति के साथ ही नये मूल्यों और नये शिल्प-विधान का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रायः सभी नये वाद या नयी-नयी धाराएँ अपने पूर्ववर्ती वादों या धाराओं की तुलना में कुछ नवीन अन्वेषण की प्यास लिये दिखायी पड़ती हैं। यह साहित्य की नवीनता सदैव श्लाघ्य है, यदि वह अपना सम्बन्ध बदलते हुए सामाजिक जीवन के मूल सत्यों से बनाये रखे। इस प्रकार नित नवता की एक परम्परा गतिमान रही है। फिर भी नयी कविता नाम स्वतन्त्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया, जो अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में पूर्ववर्ती प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास होकर भी विशिष्ट हैं।

नयी कविता की प्रवृत्तियों की परीक्षा करने पर उसकी सबसे पहली विशिष्टता जीवन के प्रति उसकी आस्था में दिखायी पड़ती है। आज की क्षणवादी और लघु-मानववादी दृष्टि जीवन-मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। नयी कविता में जीवन का पूर्ण स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। क्षणों की अनुभूतियाँ सम्पूर्ण जीवनानुभूति की बाधक नहीं, साधक हैं। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है—जीवन की एक-एक अनुभूति को, एक-एक व्यथा को, एक-एक सुख को, सत्य मानकर जीवन को सघन रूप से स्वीकार करना। लघु मानवत्व की जो बात नयी कविता में उठायी गयी है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही सन्दर्भ में देखना होगा। लघु मानव का अर्थ है—वह सामान्य मनुष्य जो अपनी सारी संवेदना, भूख-प्यास और मानसिक आँच को लिये-दिये उपेक्षित था। इस लघु मानव का अर्थ यदि मनुष्य की लघुता को खोज-खोजकर सत्य-रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने से है, तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवन-दृष्टि है। स्वस्थ नयी कविता ने कभी भी इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया।

नयी कविता ने जीवन को उपर्युक्त धाराओं की कविताओं की तरह न तो एकांगी रूप में देखा, न केवल महत् रूप में, उसने जीवन को (वह चाहे किसी वर्ग का हो, चाहे व्यक्ति का हो, चाहे समाज का हो) जीवन के रूप में देखा, इसमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की। मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धांत अथवा आदर्श की बैसाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया, वह अपने सम्पूर्ण दुःख-सुख, राग-विराग कें परिवेश से संयुक्त शुद्ध मनुष्य के रूप में आया। अभिप्राय यह है कि नयी कविता कोई वाद नहीं है, जो अपने कथ्य और दृष्टि में सीमित हो। कथ्य की व्यापकता और सृष्टि की उन्मुक्तता नयी कविता की सबसे बड़ी

विशेषता है। नयी कविता को हम नया बोध मानते हुए भी परम्परा से विच्छिन्न करके नहीं देख सकते। नयी कविता के रचयिताओं में से अधिकांश प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के खेमों में रह चुके हैं। उनकी सीमाओं से अवगत होकर वे किसी खुले क्षेत्र में आने को आकुल थे, नयी कविता दोनों के लिए सामान्य भूमि के रूप में प्राप्त हुई। नयी कविता में दो तत्त्व प्रमुख हैं—अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि। वह अनुभूति क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की; अपनी सच्चाई में कविता के लिए और जीवन के लिए भी अमूल्य है। नयी कविता में बुद्धिवाद नवीन यथार्थवादी दृष्टि के रूप में भी है और नवीन जीवन-चेतना की पहचान के रूप में भी। दृष्टि हमारे अनुभवों का मूल्यांकन करती है, उनसे तटस्थ बनाये रखने का प्रयत्न करती है और जीवन-चेतना की पहचान हमारी भावात्मक सत्ता को नयी समझ से संक्रान्त बनाती है। संवेदना ज्ञानात्मक हो उठती है।

अनुभूति की सच्चाई की बात बार-बार कही जा रही है। अनुभूति किसकी? कवि की या समाज की? उत्तर है—कवि की। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बनकर ही कविता में व्यक्त हो सकती है। उसका सर्जक व्यक्तित्व कोई यन्त्र नहीं है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आत्मसात् करता है, फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। इसलिए उसके व्यक्तित्व का संस्कार करनेवाली युग-सत्यग्राही चेतना की आवश्यकता होती है। युगबोध से संस्कृत व्यक्तित्व अपने माध्यम से सबको देख लेता है, क्योंकि मनुष्य अपने मूल दर्द में एक है और कवि का व्यक्तित्व दर्द की संवेदना का जागरूक भोक्ता :

चेहरे थे असंख्य
आँखें थीं
दर्द सभी में था
जीवन का दंश सभी ने जाना था
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं
मैं नहीं जानता किसकी वे आँखें थीं
नहीं समझता फिर उनको देखूँगा
परिचय मन ही मन चाहा हो उद्यम कोई नहीं किया
किन्तु उसी की कौंध
मुझे फिर फिर दिखलाती है।

× × ×

वही परिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम हैं
सब आँखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का।

—अज्ञेय

नयी कविता जीवन के एक-एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। क्षण-बोध शाश्वत-बोध का विरोधी नहीं; उसे प्राप्त करने की यथार्थ प्रक्रिया है। क्षणों में दिखायी पड़नेवाला जीवन-

न्दर्य, क्षणों में अनुभूत होनेवाली जीवन की व्यथा या उल्लास, क्षणों में लक्षित होनेवाली न:स्थिति या बाह्य व्यापार, क्षणों की सीमा में स्फूर्जित हो जानेवाला कोई सत्य छोटा हीं है। अनुभूति-शून्य, व्यथा-रिक्त इतिहास असत्य है, निरर्थक है। इसलिए नयी कविता नुभूतिपूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आन्तरिक मार्मिकता साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य-से-सामान्य दीखनेवाले व्यापार प्रसंग नयी कविताओं में नया अर्थ पा जाते हैं।

नयी कविता में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत-सी मर्मस्पर्शी और विचार-रक कविताएँ लिखी गयी हैं। ये कविताएँ कुछ क्षणों का, लघु प्रसंगों का, लघु दृश्यों का त्रण नहीं करतीं, बल्कि कुछ संगत और असंगत बिम्बों के माध्यम से क्षणों की परिधि में ाँकते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी होती और प्रभाव में अत्यन्त तीव्र। कुछ आलोचकों ने यह आरोप लगाया है कि नयी कविता चित्रित जीवन-बोध या सत्य विदेशी दर्शन और कविता से उधार लिया गया है और यह विता यहाँ के लोगों के जीवन-सत्यों को न ग्रहण कर परोक्ष भाव से पश्चिम के जीवन-सत्यों ो ग्रहण करती है। इस आक्षेप में कुछ सत्य है, किन्तु इसे नयी कविता की धारा का मूल वर हम नहीं मान सकते। इसे अपवाद रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि नयी कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपातिनी है। अनुभूति प्राप्त करनेवाला स्रष्टा अपने परिवेश की उपज होता है। अनुभूतियाँ उसे अपने परिवेश से ही प्राप्त होती हैं। अतः नयी कविता, अपने परिवेश के जीवन-सत्यों को छोड़कर खड़ी ही कहाँ रह सकती है?

हाँ, जीवन-सत्य को हमें दो रूपों में देखना होगा। कुछ जीवन-सत्य किसी विशेष समय और स्थान के होते हैं जो कविता में आकर समय और स्थान के बन्धनों को तोड़ देते हैं। कुछ सत्य ऐसे होते हैं, जो प्रकृति से ही देश-काल की दूरियों से परे होते हैं। कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है कि इसमें हम परिवेशगत और परिवेशमुक्त सत्य को अलग कर नहीं देख सकते। नयी कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से फूटा है। विभिन्न कविताओं के जीवनानुभव विभिन्न परिवेशों से सम्बद्ध हो सकते हैं। नयी कविता में शहरी जीवन और ग्रामीण जीवन—इन दोनों परिवेशों को लेकर लिखनेवाले कवि हैं। अज्ञेय एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव-क्षेत्र बड़ा व्यापक है—शहरी जीवन और देहाती जीवन की तीव्र चेतना इनकी कविताओं को व्यापक रूप देती है। किन्तु, सभी कवियों का बोध अज्ञेय के समान व्यापक नहीं है। एक ओर बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजाकुमार माथुर, कुँवर नारायण, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, विजयदेवनारायण साही, रघुवीर सहाय आदि कवि हैं, जिनकी संवेदनाएँ और अनुभूतियाँ मुख्यतः शहरी परिवेश की हैं। दूसरी ओर भवानीप्रसाद मिश्र, केदारनाथ सिंह, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुरप्रसाद सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे कवि हैं जो मूलतः गाँव के संस्कारों और अनुभूतियों से बने हैं। किन्तु, यह ऐकान्तिक अलगाव नहीं है। दोनों प्रकार के क्षेत्रों में कवि संक्रमण करते हैं। इस परिवेश के प्रभाव को देखने के लिए एक ओर न्द वात्स्यायन की यान्त्रिक परिवेश की कविताएँ देखिए, दूसरी ओर ठाकुरप्रसाद सिंह के संथाली जीवन के वातावरण में सर्जित आर्द्र गीत देखिए। अज्ञेय एक ओर मध्यवर्गीय व्यक्ति-मन की कुण्ठा-निराशा को, औद्योगिक नगरों की असंगति-भरी सभ्यता को उसकी तीव्रता में पकड़ते हैं, तो दूसरी ओर उन्मुक्त प्रकृति या ग्राम-जीवन की किसी छवि, विषमता

या व्यथा को व्यंजित करते हैं या प्रकृति और ग्राम्य-जीवन के बिम्ब लेकर अनुभूति या सौन्दर्य का कोई स्वर उभारते हैं।

नयी कविता का परिवेश अपने यहाँ का जीवन है। लेकिन लोगों का आक्षेप है कि नयी कविता में अतिरिक्त अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुण्ठा और मरणधर्मिता है। ये विशेषताएं पश्चिम की नक़ल से पैदा हुई हैं, अतः नयी कविता विदेशी परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करती है। यह सत्य है कि नयी कविता में निराशा, कुण्ठा, मरणधर्मिता भी है, किन्तु इन विशेषताओं को जन्म देनेवाले कारण अपने समाज में ही हैं। समाज का परिवेश बड़ा विषम है। यदि सामाजिक स्थिति में तड़पते व्यक्ति को निराशा, कुण्ठा, लाचारी और मृत्यु की कामना प्राप्त होती है तो वह उधार में सुख, आशा और जीवन की प्रवंचना कहाँ से लायेगा? जीवन के हर क्षण को विश्वास के साथ भोगना, उसकी पीड़ा और निराशा को भी जीवन-सत्य मानकर सच्चे रूप में भोगना ही जीवन का सच्चा उपभोग है; और असल में वही जीवन की आस्था है। किन्तु पीड़ा और निराशा को जीवन का मूल सत्य मानकर दिन-रात मरसिया पढ़ने का उपदेश देना सामाजिक जीवन के समस्त विकास के पीछे कार्य करनेवाली मनुष्य की जिजीविषा, प्रेम और उल्लास को अस्वीकार करना है। नयी कविता में भी पीड़ा और निराशा को कहीं-कहीं जीवन का एक पक्ष न मानकर समग्र जीवन-सत्य मान लिया गया है। वहाँ पीड़ा जीवन की सर्जनात्मक शक्ति न बनकर उसे गतिहीन करनेवाली बाधा बनकर आयी है। ऐसी दृष्टि समाज या व्यक्ति-जीवन के अभाव-पक्ष को ही उद्घाटित करने में रस लेती है। अभाव-पक्ष के उद्घाटन की सार्थकता तभी है जब कविता उपलब्धि-सी दीखनेवाली किसी चीज़ के भीतर की रिक्तता को व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करे या वह अभाव-पक्ष के भीतर से जीवन की ओर संकेत करे। नयी कविता जीवन-मूल्यों की पुनः परीक्षा करती है। ये मूल्य नवीन युग की आवश्यकताओं के परिवेश में कितने खरे उतरते हैं और अपने रूढ़ रूप में कितने असंगतिपूर्ण हो गये हैं, इनका कितना स्वरूप आज के लिए भी ग्राह्य है; जागरूक कवि और चिन्तक को यह परीक्षा करनी पड़ती है।

नयी कविता ने जीवन-मूल्यों की फिर परीक्षा की है. जिसके ये परिणाम सामने आये हैं: कुछ मूल्य तो निश्चय ही सामयिक थे जो आज सिद्धान्त और व्यवहार दोनों ही रूपों में व्यर्थ हो गये हैं तथा कुछ मूल्य अपनी प्रकृति में मानव-जीवन की चिरन्तन निधि सिद्ध हैं, किन्तु वे व्यवहार में बड़े निकम्मे तरीके से प्रयुक्त किये गये हैं—वे केवल नीति-वाक्यों के रूप में उच्चरित किये जाते हैं। नयी कविता की प्रश्नाकुल दृष्टि इन मूल्यों को उनकी विकसित असंगतियों के बीच देखती है। इसलिए जहाँ ये मूल्य अपनी असंगतियों के कारण तीखे व्यंग्य का भाजन बनते हैं वहीं नये सन्दर्भों में भी सिद्ध होनेवाली उपयोगिता के कारण आस्था का आधार। नये मूल्यों की पुनः परीक्षा का क्रम नया नहीं है। हर युग ने पुराने मूल्यों को अपने सन्दर्भ में कसा है, किन्तु इन युगों की कविताओं के सामने समाधान के तौर पर कोई आदर्शवाद उतर आता रहा है और प्रश्नाकुलता का स्थान भावात्मक मानवतावादी आस्था लेती रही है। परन्तु नयी कविता की यथार्थवादी दृष्टि काल्पनिक या आदर्शवादी या भावुकतामिश्रित मानववाद से सन्तुष्ट न होकर जीवन का मूल्य, उसका सौन्दर्य, उसका प्रकाश जीवन में ही खोजती है। वर्तमान की गहन निराशा और बिखराव के बीच भी वह अनागत ज्योति के लिए प्रतीक्षमान है। नयी कविता द्विवेदीकालीन कविता, छायावाद या प्रगतिवाद की तरह अपने बने-बनाये मूल्यवादी नुस्खे

पेश करती, वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसलिए कविता में व्यंग्य कें रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है, तो कहीं दर्द की ाई के भीतर से उगते हुए नये मूल्यों की सम्भावना के प्रति आस्था। नयी कविता ने दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है; और जीवन की नवीन भूति, नवीन चिन्तन, नवीन गति के मार्ग में आनेवाले फ़ॉर्मूलों अथवा मूल्यों की विघातक तियों को अनावृत करना सर्जनात्मकता से असम्बद्ध नहीं है वरन् सर्जन की आकुलता है।

लोक-सम्पृक्ति नयी कविता की एक खास विशेषता है। वह सहज लोक-जीवन के व पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। लोक-जीवन के प्रति उसकी उन्मुखता प्रगतिवाद का न कही जा सकती है, किन्तु प्रगतिवाद में एक आन्दोलन का स्वर था, सहजता नहीं और उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण लोक-जीवन का एक विशिष्ट अर्थ लगा या था। प्रयोगवाद लोक-जीवन से कट गया था। नयी कविता ने लोक-जीवन की भूति, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि ग्रहण किया। साथ ही साथ लोक-जीवन के बिम्बों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को क-जीवन के बीच से चुनकर उसने अपने को अत्यधिक संवेदनापूर्ण और सजीव बनाया। न यह उठता है कि लोक-जीवन की संवेदना और बिम्बों की सहज सुन्दरता से पूर्ण र भी नयी कविता क्यों लोकप्रिय नहीं हो पाती? कारण यह है कि वह लोक-जीवन सतही भावनाओं का इतिवृत्त नहीं पेश करती, अपितु लोक-जीवन में लिये गये बिम्बों के म से लोक-जीवन की जटिल अनुभूतियों और प्रश्नों को ध्वनित करती है। कविता ऊपरी आयोजन नयी कविता वहन नहीं कर सकती, वह अपनी अन्तर्लय, बिम्बात्मकता, प्रतीक-योजना, नये विशेषणों के प्रयोग, नव उपमान-संघटना में कविता के शिल्प की धारणाओं से काफ़ी अलग दीखती है। अर्थात् वह बाह्य चमत्कारों से मुक्त होकर ता के लिए जो मूलभूत छवि होती है, उसी को संयोजित करना चाहती है। बिम्ब ता की मूल छवि है, इसलिए आज की कविता बिम्बबहुला हो गयी है। कच्ची अनुतियाँ करनेवाले, पुस्तकों तथा सिद्धान्तों से प्रेरणा लेनेवाले कवियों के अपवादों को छोड़ शेष कवि इन बिम्बों को जीवन के बीच से चुनते हैं। भाषा भी मुक्त भाव से ऐसे शब्दों लेती है जो अभिजात नहीं हैं, लेकिन सशक्त हैं, अपने बीच मिट्टी की गन्ध छिपाये हुए। कहने का अभिप्राय यह है कि नयी कविता जीवन के नये सन्दर्भों में उभरनेवाली अनुभूतियों, सौन्दर्य-प्रतीतियों और चिन्तन-आयामों से सम्पृक्त बिम्ब ग्रहण करती है। शहरी के बिम्ब विशेषतया नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवन-संस्कारों से युक्त कवि के विशेषतया गाँव के होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के बिम्ब नयी कविता में हैं। नयी कविता ने अपने बिम्ब और प्रतीक पुराण और इतिहास से भी चुने हैं, किन्तु उन्हें नये अर्थ और सन्दर्भ से सम्पन्न किया है। अनेकानेक फुटकल कविताओं के अतिरिक्त 'अन्धा युग', 'कनुप्रिया' और 'आत्मजयी' इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

लोक-सम्पृक्ति के सन्दर्भ में लोक-जीवन से लिये गये शब्दों की ओर भी एक दृष्टि सें। छायावाद की शब्दावली विशेषतः संस्कृत की तत्सम शब्दावली थी और उसके भिजात्य, माधुर्य और सुकुमारता की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया था। प्रगतिवाद में क-शब्दों के प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया गया। किन्तु, प्रयोगवाद ने फिर लोक-जीवन से सम्बन्ध काटकर रोमानी या बोझिल पदावली का प्रयोग किया। नयी कविता ने

प्रगतिवाद की राह को पकड़ा। प्रगतिवाद ने विशेष क्षेत्रों से विशेष-विशेष सन्दर्भ में ही शब्द लिये थे। परन्तु नयी कविता ने सभी प्रकार के सन्दर्भों के लिए लोक-शब्द अज्ञेय प्रयोगवादी भी रहे हैं और नये कवि भी। एक ओर इनकी प्रयोगवादी शब्दा देखिए :

वचना है चाँदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि
गहनवि स्तार
शिशिर की राका निशा की
शान्ति है निस्सार।

दूसरी ओर इनकी नयी कविता की शब्दावली द्रष्टव्य है :

पहाड़ियों से घिरी हुई
इस छोटी सी घाटी में
ये मुँहझौंसी चिमनियाँ बराबर
धुआँ उगलती जाती हैं।

टोये, भभके-खिचा, सीटी, ठिठुरन, चिड़चिड़ी, ठसकना, पूलें, ठूँठ, विरस, सिरा डार हुई, डाकती, फुनगियाना जैसे अनेक शब्द नयी धारा की कविताओं और गीतों धड़ल्ले से प्रयुक्त हो रहे हैं। इसलिए नयी कविता की भाषा में एक खुलापन और ताज़ दिखायी देती है।

यहाँ नयी हिन्दी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है; किन्तु काव्यात्मक स्तर पर हर कवि की अपनी-अपनी सी और उपलब्धि होती है। अलग-अलग कवियों के स्तर अलग-अलग हैं। किसी का संवेद बहुत ही गत्यात्मक, व्यापक और गहरा है, तो किसी का अपेक्षाकृत संकीर्ण और उथला किसी का सौन्दर्यबोध अधिक सामाजिक है, तो किसी का अपेक्षाकृत व्यक्तिगत। किसी में जीवन का व्यथा-पक्ष प्रधान है, किसी में आनन्द-पक्ष। किसी के शिल्प में अधिक सघनता है, तो किसी में अपेक्षाकृत कथन-प्रणाली की स्फीति। कोई खण्डित बिम्बों और मुक्त साहचर्य का प्रयोग कर कविता को जटिल बनाता है, कोई बिम्बों की सघनता के बावजूद उनमें तारतम्य बनाये रखने के कारण अधिक संवेद्य प्रतीत होता है। अनुभूतिहीन, अस्वायत्त भव को कह चलनेवाले ऐसे बहुतेरे कवि मिलेंगे, जो नयी कविता को एक फैशन समझ बैठे हैं। अनुभूति-शून्यता को अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, अटपटेपन, दुरूहता में छिपाने का फैशन यहाँ तक बढ़ गया है कि ढेर-सी नयी कविताओं के बीच में बहुत से कवियों के व्यक्तित्व को पहचानना मुश्किल हो गया है। दूसरी ओर, कुछ ऐसे भी लोग उभर रहे हैं जिनके पास कुछ बातें कहने को तो हैं, किन्तु उन्हें कह ही डालते हैं राई रत्ती—बिम्ब या प्रतीक से नहीं सीधे-सीधे। जब कभी बिम्ब या प्रतीक उनके मन में उभरता भी है तो वे उसे रूपक के रूप में प्रयुक्त कर देते हैं और फिर बात तथ्य-कथन-प्रणाली पर ही आकर रुक जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कोई ऐसा कथ्य उनकी अनुभूतियों को चीरता हुआ नहीं उभरता जो अपनी तीव्रता में अपने से सम्बद्ध बिम्ब के माध्यम से ध्वनित हो उठे, बल्कि वे सतह पर फैले हुए तथ्यों को बटोरते हैं।

अज्ञेय : इनका जन्म सन् १९११ में कसया (देवरिया) में हुआ था। बी० एस-सी० तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने अँगरेज़ी तथा हिन्दी-साहित्य का स्वाध्याय किया। इसके अतिरिक्त

संस्कृत का अध्ययन किया। अज्ञेय का जीवन यायावरी और क्रान्तिकारी रहा है। लिए ये किसी व्यवस्था से बँधकर नहीं रह सके। १९४३ से १९४६ तक इन्होंने सेना में की। कई बार ये सांस्कृतिक कार्यों के लिए अमेरिका गये। कुछ दिनों तक ये जोधपुर विद्यालय में भी कार्यरत रहे। कवि के साथ-साथ ये प्रख्यात कथाकार, समीक्षक और विचारक भी हैं। पत्रकारिता के क्षेत्र में इन्हें 'दिनमान' और 'प्रतीक' के सम्पादक ख्याति प्राप्त हुई है। 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक', 'तीसरा सप्तक' और 'रूपाम्बरा' द्वारा सम्पादित काव्य-संकलन हैं। 'भग्नदूत' और 'चिन्ता' की छायावादी कविताओं काव्य-यात्रा आरम्भ करनेवाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नयी कविता के विशिष्ट हैं। इस धारा के कवियों में उनका स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका स्वर अहं समाज तक, प्रेम से लेकर दर्शन तक, आदिम गन्ध से लेकर विज्ञान की चेतना तक, सभ्यता से लेकर लोक-परिवेश तक, यातना-बोध से लेकर विद्रोह की ललकार तक, सौन्दर्य से लेकर मानव-सौन्दर्य तक फैला हुआ है। यह बात और है कि इस व्याप्ति संवेदनशीलता या अनुभूति साथ नहीं देती, कहीं-कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क उभर आता है।

'तार सप्तक' की कविताओं के साथ अज्ञेय की नयी काव्य-यात्रा प्रारम्भ होती है, बाद में 'इत्यलम्' में संगृहीत दिखायी पड़ती हैं। अज्ञेय में संवेदना के साथ एक सजग ता है। यह बौद्धिकता उनकी संवेदना को नियन्त्रित तो करती ही है; साथ ही कभी सूक्तियों के रूप में (जैसे 'दुःख सब को माँजता है' या 'अच्छा खण्डित सत्य सुघर मृषा से' आदि कविताओं में), कभी व्यंग्य के रूप में (जैसे 'साँप'), कभी युग- और बोध के बिम्ब-विधान के रूप में व्यक्त होती है जो संवेदना या अनुभूति से भाव से जुड़ी न होने के कारण बिम्ब-रचना के बावजूद बहुत दूर तक प्रभावहीन हो है। अज्ञेय की कविताओं में जो स्वर-वैविध्य दिखायी पड़ता है उसका कारण बहुत-कुछ बौद्धिकता है। संवेदना और बौद्धिकता की यह सहयात्रा जहाँ रूमानी परम्परा को कर नये सौन्दर्यबोध से सम्पन्न स्वस्थ काव्य की सृष्टि करती है वहीं बौद्धिकता का रेक शुष्क, दुरूह और नव रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। अज्ञेय की छोटी-छोटी ताएँ सौन्दर्य और प्रभाव की सृष्टि की दृष्टि से विशिष्ट और सक्षम हैं—वे चाहे व्यंग्य हों, चाहे कोई सौन्दर्य या अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों। कविताएँ देखें :

(अ) *उड़ गयी चिड़िया*
काँपी, फिर
थिर
हो गयी पत्ती।

(आ) *बह चुकी बहकी हवाएँ चैत की*
कट गयीं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ाकर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की।

गिरिजाकुमार माथुर : इनका जन्म मध्यप्रदेश में सन् १९१८ में हुआ। एम० ए० ग्रेजी), एल-एल० बी० तक शिक्षा पाने के बाद इन्होंने प्रारम्भ में वकालत और फिर सेक्रेटेरिएट में नौकरी की। उसके बाद से ये ऑल इंडिया रेडियो में कार्य कर रहे हैं।

माथुर में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुन्दर सामंजस्य है अर्थात् प्रयोग कहीं भी बौ भंगिमा या फ़ैशन के वशीभूत होकर नहीं आया है, वह उनकी अनुभूतियों और संवेद के सूक्ष्म कोणों, रंगों और प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि छन्द, भाषा और बिम्ब-विधान सभी में प्रयोग किये हैं। छन्द तो प्रायः सवंत्र लघु है, नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं-कहीं सवैया को तोड़कर नया छन्द-रूप दिया है उनके काव्य के दो स्वरूप हैं—'मंजीर' और 'तार सप्तक' में उनकी व्यक्तिगत अनुभूति किन्तु 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जी की अनुभूतियाँ और यथार्थ उभरते गये हैं। 'तार सप्तक' में जीवन-यथार्थ के नये आया उद्घाटित नहीं किये गये हैं। वे अपने परिवेश के जीवन-सत्यों से भी जुड़े नहीं प्रतीत हो उनकी संवेदना अत्यन्त रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदा सौन्दर्य-प्यास, प्रेम-प्रसंगों की स्मृतियों का दंश, सुन्दर वातावरण में साथी-विहीन अकेले का बोध आदि इनके अनुभव और संवेदना के अंग हैं। इनके रचना-लोक में विवि रूप-रंगों में, ध्वनियों, गन्धों और स्पर्शों में इन्हीं के दर्शन होते हैं।

सेमल की गरमीली हल्की रुई समान
जाड़ों की धूप खिली नीले आसमान में
झाड़ी झुरमुटों से उठे लम्बे मैदान में
रूखे पतझर भरे जंगल के टीलों पर
काँप कर चलती समीर हेमंत की
लम्बी लहर-सी। (तार सप्तक)

इन सीमित जीवन-अनुभवों को लेकर भी माथुर एक विशिष्ट कवि हैं, क्योंकि इन अनुभवों की बहुत गहरी और सूक्ष्म छायाओं को पहचानते हैं।

'नाश और निर्माण' में 'तार सप्तक' वाली कविताएँ तो संगृहीत हैं ही, साथ ऐसी कविताएँ भी हैं जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इन तथा अन्य परवर्ती कविता में शक्ति, उल्लास और सामाजिक जीवन का स्पन्दन है, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के और विषम परिणामों का तीव्र अहसास तथा उनके विरुद्ध समाजवादी चेतना का प्रसार है।

गजानन माधव मुक्तिबोध : मुक्तिवोध (१९१७-१९६४) का जन्म ग्वालियर एक कस्बे में हुआ था। इन्होंने बी० ए० तक शिक्षा प्राप्त की और ये अध्यापक, पत्रका विशिष्ट विचारक, कवि, कथाकार और समीक्षक के रूप में समादृत रहे। अपनी पूरी पी में मुक्तिवोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई परवर्ती पीढ़ी लगभग सारे महत्त्वपूर्ण कवि (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) छाया कविता से अलग हटकर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो सके, किन्तु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव-जगत् ब व्यापक है, जो अपने परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। उनकी प्रगतिवा दृष्टि परिवेश-बोध, सामाजिक चिन्तन और अनुभव-वैविध्य को और बल देती है। अतः क जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविध छवि को लेकर विकसित होनेवाली नयी कवि के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिवोध ही हैं। उनकी सबसे बड़ी शक्ति है—लोक-परिवे से गहरी सम्पृक्ति तथा जन-जीवन में विश्वास :

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है

हर एक छाती में आत्मा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में
महाकाव्य पीड़ा है
पल भर में सब से गुज़रना चाहता हूँ
इस तरह खुद ही को दिये फिरता हूँ
अजीब है ज़िन्दगी : (चाँद का मुँह टेढ़ा है)

किन्तु, शिल्प के प्रति असावधानता उनके अनुभव-खण्डों को एक में बाँध नहीं पाती समग्रतः बिम्बों की रचना में संश्लिष्टता तथा सघनता नहीं भर पाती। मुक्तिबोध में ी है अर्थात् एक जादुई कथा में आधुनिक जीवन-अनुभवों की अभिव्यक्ति है। 'अँधेरे में', राक्षस' कविताएँ इस दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय हैं। उनकी अनुभूति केवल व्यक्ति-संवेदन के स्तर की नहीं है, वह अपने परिवेश से गहरे जुड़ी है और अनेक आवर्तों से टी है, तथा कवि की आलोचक दृष्टि रचनात्मक सन्दर्भ में लक्षित होनेवाली इनकी कता और निरर्थकता की जाँच करती चलती है।

भवानीप्रसाद मिश्र (जन्म १९१४) : बी० ए० तक शिक्षा पाने के बाद ये पहले 'कल्पना' म्पादक थे, फिर ऑल इंडिया रेडियो में नौकरी की और अवकाश प्राप्त करने तक सम्पूर्ण ी वाङ्मय के सम्पादक-मण्डल में रहे। ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना ं तो बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है, जैसे 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख' ं में; कहीं बहुत प्रत्यक्ष और परिवेश-सम्पृक्त है जैसे 'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा', क्रोश' आदि कविताओं में। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति ओं में जहाँ अत्यन्त सुन्दर काव्य की सृष्टि करती है, वहीं फार्मूलाबद्ध आदर्शवादिता भूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकान्तवादी विस्तार की अवस्था में सामान्य ं की 'असाधारण' और 'स्नेह शपथ' जैसी उनकी क़ाफ़ी कविताएँ हैं, जो सामान्य हैं। की भाषा और अभिव्यक्ति में भी लोक-जीवन का प्रभाव है।

शमशेरबहादुर सिंह : इनका जन्म सन् १९११ में देहरादून में हुआ था। बी० ए० ने के बाद ये 'कहानी' और 'नया साहित्य' के सम्पादक-मण्डल में रहे, सम्प्रति ली विश्वविद्यालय के उर्दू-विभाग में कोश से सम्बन्धित कार्य कर रहे हैं। विचारों से सवादी शमशेर संस्कारों से व्यक्तिवादी और अनुभवों से रूमानी हैं। उनकी अधि-श कविताओं का स्वर कुण्ठित प्रेम का है। संवेदना और अभिव्यक्ति—दोनों में ये गवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल ने प्रतिबद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्षा कर जाती है और ऐसे-ऐसे ीन जाल बुनती है तथा खण्डित बिम्बों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने प्रेत प्रभाव के साथ उभर नहीं पाती। शमशेर बहुत सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध के कवि माने ते हैं, किन्तु कठिनाई यह है कि सौन्दर्य यहाँ-वहाँ की कुछ पंक्तियों में अलग-अलग ढंग से रकर रह जाता है। मुक्त आसंग, चेतना-प्रवाह, अमूर्त चित्रात्मकता, शब्द-संगीत आदि शेर के शिल्प को एक नया रूप अवश्य देते हैं; किन्तु वे अनुभव-लोक को मूर्त करने के र पर उलझा देते हैं।

धर्मवीर भारती : भारती का जन्म सन् १९२६ में इलाहाबाद में हुआ। ये हिन्दी में ० ए० पी-एच० डी० हैं। प्रारम्भ में ये इलाहाबाद विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्राध्यापक

रहे, सम्प्रति 'धर्मयुग' के सम्पादक हैं। कवि के साथ-साथ ये विशिष्ट कथाकार और आ
क्षक भी हैं। भारती की काव्योपलब्धियाँ वास्तव में उनकी परवर्ती कृतियों—'अन्धा
'कनुप्रिया' और 'सात गीत वर्ष' में दिखायी पड़ती हैं। आरम्भ की कविताएं बहुत-
कैशोर भावुकता से युक्त हैं। भारती में आदिम गन्ध की तड़प और लोक-जीवन की
छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएँ मूलतः गीतात्मक हैं। इन कविताओं में
परिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान पर उदासी और सूनापन ही अधिक उभरता है

घास के रस्ते उस बँसवट से
इक पीली-सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा-सा नाम है
मुझे पुकारे ताना मारे
भर आयें आँखड़ियाँ
उन्मन यह फागुन की शाम है। (डण्डा लोहा)

भारती के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है—उसकी मूर्त्तता और पारदर्शि
जो उनके परवर्ती गम्भीर और चिन्तन-संवलित काव्यों में भी लक्षित होती है। 'सात
वर्ष' की कविताओं में कवि की रूमानी भावुकता ने यथार्थ की गहराई पा ली है, बहुत-
कविताएँ यहाँ भी प्रेममूलक हैं, किन्तु यहाँ प्रेम के बहुत सूक्ष्म संक्रान्त अनुभवों को उभा
गया है। इसमें कुछ व्यंग्यात्मक कविताएँ भी हैं जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक
राजनीतिक विसंगति पर हलका-हलका आघात करती हैं। मूल्यों सम्बन्धी प्रश्न भी उठाये हैं, किन्तु मानव-संवेदना की आँच में।

कुछ विशिष्ट प्रबन्धकाव्य

कहा जाता है कि आज का युग प्रबन्धकाव्यों का युग नहीं है। शायद इसका
यह है कि प्रबन्धकाव्य के पीछे जो मान्यताएँ रही हैं, वे चुक गयी हैं अर्थात् प्रबन्धकाव्य
पूर्वमान्य स्वरूप आज के युग को रूपायित करने में असमर्थ है। आज के मनोवैज्ञानिक यु
में मानव-व्यक्तित्व की धारणा बदल गयी है। पूर्वमान्य प्रबन्धों में जो पात्र गृहीत हुए हैं,
वे कुछ स्वीकृत गुणों और दोषों या उनके मिश्रित रूपों के सम्पुंज प्रतीत होते हैं। दूसरी
बात यह है कि वे पात्र समय के विस्तार में फैलते हैं; जहाँ कुछ हरियालियाँ हैं, कुछ शुष्क
उपेक्षणीय ऊसर, कुछ मान्य महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हैं, प्रसंग हैं, मर्मस्पर्शी अवसर हैं और हैं
महत्त्वहीन घड़ियाँ और स्थल। पात्र एक महत्त्वपूर्ण से दूसरे महत्त्वपूर्ण तक दौड़ते हैं। शेष
समय और स्थान तो केवल दूरी भरने के लिए होते हैं। अतः देश और काल के विस्तार में
दौड़ते हुए भी पात्र पूर्व-स्वीकृत जीवन-तीर्थों की ही यात्रा करते हैं। वे अपने भीतर की
तन्मयता से हर क्षण और हर स्थल को तीर्थ नहीं बना सकते। कहना न होगा कि विगत
युगों की जीवन-दृष्टियाँ, आदर्शवादी मान्यताएँ, रसवादी रुचियाँ और व्यक्तित्व सम्बन्धी
प्रतीतियाँ प्रबन्धकाव्य के उपर्युक्त स्वरूप की रचना में सहायक होती रही हैं।

प्रबन्धकाव्य-रचना आज की सर्जक रुचि के अनुकूल नहीं पड़ती। यदि प्रबन्धकाव्य
लिखा ही जाय तो उसे शिल्प और भावबोध में आज के अनुकूल होना पड़ेगा। यानी वह
स्थूल मांसल कथा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व और विराट् समय-प्रवाह की शृंखला में एकसूत्रित न
होकर मनःसत्यों की सूक्ष्म रेखाओं, चिन्तन के द्वन्द्वों, विघटित व्यक्तित्वों और क्षणानुभूतियों
की प्रतीति को लेकर मुक्त साहचर्य के सूत्रों से अनुस्यूत होगा। स्वभावतः ऐसा प्रबन्धकाव्य

कार में छोटा ही होगा। दूसरे, उसमें आज के मूल्यों, बोधों, संवेदनाओं, प्रश्नों और कांक्षाओं की आँच होगी। इस प्रकार कथानक चाहे पुराण या इतिहास से लिया गया हो वर्तमान से, उसकी साँस समकालीन होगी। इसीलिए आधुनिक काल में जितने अच्छे न्धकाव्य लिखे गये हैं उनमें अतीत में वर्तमान का प्रक्षेपण किया गया है। आधुनिक वन-मूल्यों की खोज अतीत में भी की गयी है और सर्जन के स्तर पर अतीत को अर्थवत्ता न करने के लिए वर्तमान का प्रक्षेपण उसमें करना ही होगा। स्वाधीनता के बाद लिखे प्रबन्धकाव्यों में ये विशेषताएँ कहीं कम और कहीं अधिक मात्रा में लक्षित होती हैं। त्व में परम्परावादी शिल्प और धारणाओं का अनुगमन कर प्रबन्ध लिख लेना बहुत सान है और स्वाधीनता के बाद भी ऐसे घ्राण-प्राण-रहित प्रबन्धकाव्यों की कमी नहीं है।

सन् १९३८ के बाद जो महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध-कृतियाँ सामने आयी हैं, उनमें मैथिलीशरण की 'जयभारत' और 'विष्णुप्रिया', गुरुभक्त सिंह 'भक्त' की 'विक्रमादित्य', मोहनलाल हतो 'वियोगी' की 'आर्यावर्त', दिनकर की 'रश्मिरथी', 'कुरुक्षेत्र' तथा 'उर्वशी', यारामशरण गुप्त की 'उन्मुक्त', सुमित्रानन्दन पन्त की 'लोकायतन', रामानन्द तिवारी रतीनन्दन) का 'पार्वती महाकाव्य', केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की 'ऋतम्बरा', धर्मवीर रती की 'कनुप्रिया' ठाकुरप्रसाद सिंह की 'महामानव', नरेन्द्र शर्मा की 'द्रौपदी' तथा र जय', कुँवरनारायण की 'आत्मजयी', नरेश मेहता की 'संशय की एक रात' और विनय की 'एक पुरुष और' उल्लेख्य हैं।[1]

गुप्त जी और दिनकर जी दोनों ही पहले के मँजे हुए प्रबन्धकार हैं। दोनों ही आधु- क चिन्तन की ऊष्मा का आरम्भ से ही अनुभव करते आये हैं। ये दोनों आधुनिकता को धुनिक मानवतावाद के रूप में स्वीकार करते हैं—उस मानवतावाद के रूप में, समें समस्त उपेक्षित लघु या सामान्य को एक नयी दृष्टि से देखा गया है, उसकी अदृष्ट स्कृत पीड़ा, यातना, कामना, त्याग और संघर्ष का मूल्य आँका गया है और पूर्वमान्य दृत आभिजात्य के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है (यह कार्य गुप्त जी की क्षा दिनकर ने अधिक किया है) या उस आभिजात्य को नवीन जीवन-सन्दर्भों से जोड़कर क नयी छवि दी गयी है। मानवतावादी दृष्टि ने उपेक्षित और आदर्शवादी पात्रों की री लघुता और महानता को जगह-जगह से फाड़कर भीतर उफनते मानवीय दर्दों को, वेदनशील क्षणों को, व्यंजित किया है, किन्तु अन्ततोगत्वा वे मनोविज्ञान की विघटित क्तित्ववाली धारणा को न मानकर अखण्ड व्यक्तित्ववाली मानवता को ही लेकर चले है। अतः वे अपने चिन्तन-मनन में मानवीय सामाजिक प्रश्नों की पकड़ में नये होकर भी र तक परम्परावादी ही रहे हैं।

गुप्त जी के जयभारत की कथा 'महाभारत' की कथा का हिन्दी-रूपान्तर है और ष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की धर्मपत्नी विष्णुप्रिया का चरित्र-गान किया गया है। प्त जी मूलतः वैष्णव-संस्कार के कवि हैं। वास्तव में उन्होंने इस संस्कार के ही माध्यम

---

[1] इन कृतियों के अतिरिक्त अवधी भाषा में लिखे गये द्वारकाप्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन' महाकाव्य का उल्लेख भी आवश्यक है। मिश्र जी पत्रकार, शिक्षाविद् और नेता तीनों रूपों में प्रसिद्ध रहे हैं। कृष्णायन में कृष्ण एक अवतारी महापुरुष के रूप में चित्रित किये गये हैं, किन्तु साथ ही वे नवीन युग को प्रेरणा देनेवाले राजनीतिक और सामाजिक चिन्तन तथा आचरण की शक्ति से सम्पन्न हैं। इस प्रकार कवि ने कृष्ण की कथा को युगोचित रूप प्रदान कर दिया है। यह ग्रन्थ 'रामचरितमानस' के ढंग पर अवधी में दोहे-चौपाइयों में लिखा गया है। इसकी भाषा में अद्भुत प्रवाह और भावानुरूपता है।

से आधुनिक युग को देखा है। 'जयभारत' में 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' के समान प्रबन्धत्व का नवीन उन्मेष लक्षित नहीं होता। इसमें कथा का नया आयोजन, भावभूतियों की नवीन सृष्टि और मूल्यों की नवीनं कथा-संयोजना दिखायी नहीं पड़ती। गुप्त जी ने इतना ही किया है कि 'महाभारत' की व्यापक कथा को एक क्रम से सजा दिया है, कथा को आवश्यक स्फीति या संक्षिप्ति देकर अभिप्रेत प्रभाव व्यक्त किया है और जहाँ मार्मिक प्रसंग आये हैं ('महाभारत' में मार्मिक प्रसंगों की क्या कमी ?), उन्हें अपनी ओर से और भी उभारकर भावमय कर दिया है कहीं-कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी-छोटी भावोद्भावनाएँ कर काव्य को चमका देने का प्रयत्न किया है।

विष्णुप्रिया को भी 'जयभारत' की भाँति गुप्त जी का गौरव-ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता—न तो प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से और न भाव-सौन्दर्य की गरिमा की ही दृष्टि से। हाँ, 'विष्णुप्रिया' में एक बात ऐसी अवश्य है। जो इसे आधुनिक संवेदना की गहनता प्रदान करती है और वह है—शची (चैतन्य की माँ) और विष्णुप्रिया का आधुनिक नारी-सुलभ असन्तोष या ईषत् विद्रोही दृष्टि। माँ और पत्नी दोनों अन्ततोगत्वा भारतीय माँ और पत्नी ही हैं। अतः दोनों अपने पुत्र और पति की मंगल-कामना में ही अपना सुख मानती हैं, किन्तु दोनों (विशेषतया शची) मन से चैतन्य के गृह-त्याग के कार्य को न्यायसंगत नहीं मान पातीं। विष्णुप्रिया की यह उक्ति कितनी बड़ी चोट है हमारी व्यवस्था पर : "नारी निकले तो असती है, नर यती कहा कर चल निकले।"

गुप्त जी की भाषा में एक ऋजुता है। नयी भाषा की बिम्बात्मकता, सांकेतिकता और प्रयोगशीलता गुप्त जी की भाषा में नहीं है, फिर भी उनकी ऋजुता उसे लोकभाषा के समीप खींच लाती है।

विक्रमादित्य (१९४४) गुरुभक्तसिंह 'भक्त' (जन्म १८९३) का सुप्रसिद्ध प्रबन्धकाव्य है, जो शिल्प की दृष्टि से उनकी पूर्ववर्ती कृति 'नूरजहाँ' (१९३५) से श्रेष्ठ है। इसका कथानक विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्त' नाटक के उपलब्ध अंश पर आधारित है, जिसे महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करने के उद्देश्य से न केवल इतिहास का शोधपूर्वक अध्ययन किया गया है, अपितु उसे नवीन रूपान्तर देने के लिए विधायक कल्पना का आश्रय भी लिया गया है। परिवेश की यथार्थता, जीवन-दर्शन की सूक्ष्मता, प्रतिपाद्य की सरसता और छायावाद के शिल्प-वैभव का इस कृति में समन्वित रूप में संयोजन हुआ है; अतः इस युग के प्रबन्धकाव्यों में इसका विशिष्ट स्थान है।

रश्मिरथी (दिनकर) का कथानक महाभारत से लिया गया है, किन्तु इसमें 'जयभारत' की तरह सम्पूर्ण 'महाभारत' को गाने का मोह न होकर केवल कर्ण के चरित्र को आधुनिक मानवतावाद के प्रकाश में उद्घाटित किया गया है। कर्ण के जीवन में घटित प्रसंगों के सन्दर्भ में कवि ने आज के जीवन के अनेक प्रश्नों और संवेदनाओं को, दृष्टियों और चिन्तन-पद्धतियों को, मूल्यों और आकांक्षाओं को उद्घाटित किया है :

मैं उनका आदर्श जो व्यथा न खोल सकेंगे
पूछेगा जग किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा
श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुख से नहीं डरेंगे। (रश्मिरथी)

कवि ने कुछ अन्य पात्रों (जैसे परशुराम और कुन्ती) को भी नवीन मनःसंघर्षों के बीच उपस्थित कर—या यों कहिए कि सामाजिक व्यक्तिगत संवेदना, कर्त्तव्य और राग,

आस्था और अनास्था के द्वन्द्व के भीतर से उभारकर—युगानुकूल नयी छवि दी है। रश्मिरथी' शिल्प की दृष्टि से परम्परावादी वर्णनात्मक प्रबन्धकाव्य है। कवि ने पात्रों की दृष्टि में नवीन मानवतावादी दृष्टि का समावेश करते हुए भी अन्ततोगत्वा उन्हें व्यक्तित्व के प्राचीन अखण्डतावादी धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया है। इसलिए इस काव्य में मानसिक द्वन्द्वों की मर्म-छवियों के बावजूद घटना का—वर्णन का—रस अधिक है। विम्बों की सघनता के स्थान पर सीधे-सादे वर्णनों और सरल प्रवाहमयी भाषा का रूप ही इनमें अधिक दिखायी पड़ता है।

उर्वशी दिनकर जी की नवीनतम प्रबन्ध-कृति है, जो ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित है। इसमें कवि ने उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान को एक नये अर्थ से जोड़ना चाहा है। पुरूरवा और उर्वशी अलग-अलग तरह की प्यास लेकर एक-दूसरे के करीब आये हैं। पुरूरवा धरती-पुत्र है और उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है और उर्वशी सहज निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है। 'उर्वशी' का दर्शन-पक्ष है—प्रेम और ईश्वर, जैव और आत्म-धरातल को परस्पर मिलाना। वैसे तो यह एक शाश्वत प्रश्न है जो इस युग के मूलभूत प्रश्नों से जुड़ता नहीं दीखता, किन्तु प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि धरती और स्वर्ग, स्वर्ग और धरती के मिलने का स्वर ऊंचा करना और उपेक्षित धरती की महत्ता स्थापित कर मुख्यतः आज की मानवता की प्रवृत्ति है। उर्वशी की चर्चा को दार्शनिक ऊहापोह से निकालकर काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाये तो निश्चय की कुछ महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ लक्षित होंगी। 'उर्वशी' प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। प्रेम और सौन्दर्य की मूल धारा में जीवन-दर्शन सम्बन्धी अन्य छोटी-छोटी धाराएँ आकर मिल जाती हैं। प्रेम और सुन्दर का विधान कवि ने बहुत व्यापक धरातल पर किया है। समस्त परिवेश इससे अनुप्राणित हो उठा है। कवि ने प्रेम की छवियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। प्रेम भी निर्विकल्प की अवस्था नहीं है, उसमें भी अनेक स्फुलिंग उड़ा करते हैं और मन को शान्त करने के स्थान पर बेचैनी से भर देते हैं।

'उर्वशी' में प्रेम के ही मान्य स्वरूप के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिकता और सूक्ष्म संवेदनाओं को उभारा गया है और कहीं-कहीं उसे एक आध्यात्मिक भंगिमा भी देने का प्रयत्न किया गया है। इन अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्यंजना के लिए जिन बिम्बों का सहारा लिया गया है, वे कहीं तो बड़े ही पारस्परिक हैं जिन्हें सायास नयी खराद पर चढ़ाया गया है और कहीं बहुत नये और ताज़े हैं—नयी कविता के अच्छे बिम्बों की श्रेणी के। यही बात रूप-सौन्दर्य व्यंजित करनेवाले बिम्बों के बारे में कही जा सकती है। दिनकर की भाषा में हमेशा एक प्रत्यक्षता और सादगी दिखी है, परन्तु 'उर्वशी' में भाषा की सादगी अलंकृति और आभिजात्य की चमक पहनकर आयी है—शायद यह इस कृति की वस्तु की माँग रही हो।

लोकायतन सुमित्रानन्दन पन्त की प्रबन्ध-कृति है जिसमें कवि ने भारतीय जीवन की, स्वाधीनता के पहले और बाद की, कथा गायी है। यह दो खण्डों में विभाजित है—बाह्य परिवेश और अन्तश्चैतन्य में। इस प्रबन्ध की पट-भूमि बहुत ही व्यापक है जिसमें स्वाधीनता के पहले से लेकर उत्तर-स्वप्न तक का विशाल भारतीय जीवन अन्तर्भुक्त हो उठा है। पन्त जी युग-जीवन के यथार्थ के हर पहलू को समझते हैं, देश-विदेश के समस्त परिवर्तनों को, बदले मूल्यों को, पुरातन और नवीन के संघर्षों को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वन्द्वों

को उन्होंने परखा है। लेकिन ऐसा लगता है कि यथार्थ-दर्शन और आदर्श-कल्पना, ये दोनों अध्ययन और जानकारी के परिणाम के रूप में आये हैं; जीवन के संवेदनों के बीज नहीं उभर सके हैं। कथानक-रचना की शिथिलता अनुपातहीनता और विवरण की प्रवृत्ति से इस प्रबन्धकाव्य का प्रभाव आहत हुआ है। हाँ, प्रकृति-चित्रण में पन्त जी आज भी बहुत ताज़े और आकर्षक हैं। 'लोकायतन' में जहाँ कहीं प्रकृति-चित्र आए हैं, कविता बिम्बात्मक और रस-सिक्त हो उठी है।

ऋतम्बरा (१९५७) के कवि केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' का जन्म १९०७ ई० में आरा में हुआ था। 'कैकेयी' (प्रबन्धकाव्य), 'कर्ण' (खण्डकाव्य), 'शुभ्रा' (गीतिकाव्य) और 'बैठो मेरे पास' (चतुष्पदियाँ) उनकी अन्य उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। 'ऋतम्बरा' का आरम्भ प्रलय-वर्णन से हुआ है और 'कामायनी' की भाँति इसमें भी मानवता के आदर्श और मानव-सृष्टि के भविष्य को सांस्कृतिक तथा दार्शनिक धरातल पर उपस्थापित किया गया है। 'ऋग्वेद', 'श्रीमद्भागवत' और 'विष्णुपुराण' कवि के मुख्य उपजीव्य ग्रन्थ हैं। गरिमापूर्ण सोद्देश्यता, जीवन-दर्शन की गम्भीरता, विपय के अनुरूप तत्समप्रधान शब्दावली और उदात्त शिल्प-योजना इस काव्य की प्रमुख विशेषताएँ हैं। पन्द्रह सर्गों में विभक्त इस रचना में कथा-तत्त्व विरल है, कवि का बल विशेषत: आध्यात्मिक-सांस्कृतिक गौरव की स्थापना और शाश्वत सत्य की खोज पर ही रहा है।

कनुप्रिया (भारती) राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझाने का एक सफल प्रयत्न है। 'कनुप्रिया' पूर्णमान्य रूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबन्धकाव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। राधा ने कृष्ण के साहचर्य को उसके अनेक क्षणों में पूरी तन्मयता के साथ जिया था और जीकर एक सत्य पाया था। इसलिए वह सत्य उसका अपना है, कहीं से उधार लिया हुआ नहीं। इस सत्य के प्रति राधा को आशंका नहीं होती; यहाँ तक कि जब कृष्ण सेनानायक, महाराज और दुनिया की नज़रों में महान बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलाती नहीं। उसे जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता जो उसके अपने लिए सार्थक हो।

यह एक ऐसा प्रबन्धकाव्य है जो आधुनिक शिल्प और भाव-बोध दोनों को आत्मसात् कर सका है। 'कनुप्रिया' की भी मूल संवेदना प्रेम है, किन्तु इस संवेदना को उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असम्पृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम-क्षण? शायद प्रेम के क्षण ही सत्य है, क्योंकि वे दुविधाहीन मन की संकल्पात्मक अनुभूति हैं और युद्ध दुविधा की उपज, अनजिये सत्य का आभास। 'कनुप्रिया' अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताज़गी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है।

ठाकुरप्रसाद सिंह का **महामानव** गांधी जी के जीवन पर आधारित प्रबन्धकाव्य है जिसमें गांधी-जीवन के माध्यम से भारतीय जन-जीवन के जागरण की गाथा गायी गयी है। यह काव्य प्रबन्धत्व की दृष्टि भले ही उपलब्ध न कर सका हो, किन्तु स्थान-स्थान पर भारतीय जन-मानस की विभिन्न स्थितियों तथा संघर्षों का चित्रण हुआ है, वह बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

नरेन्द्र शर्मा की **द्रोपदी** वैसे तो द्रोपदी को केन्द्रित कर उसे जीवन-शक्ति का प्रतीक मानकर, लिखी गयी है किन्तु लगता है कि इस संक्षिप्त कलेवर में 'महाभारत' की पूरी

मूल कथा को भर देने का मोह कवि में जाग गया है। कवि किसी विशिष्ट कथा-प्रसंग और संवेदना पर बल न देकर आँधी के पत्ते के समान समय और स्थान के विस्तार में उड़ता फिरा है। अतः किसी प्रकार की प्रभावान्विति काव्य को प्राप्त नहीं हो सकी है। द्रौपदी का प्रतीकात्मक या भावात्मक पहलू इस भाग-दौड़ में उग नहीं पाया है और भाषा तो आज की भाषा लगती ही नहीं। **उत्तर जय** नरेन्द्र शर्मा का दूसरा प्रबन्धकाव्य है जिसे कवि ने गाथा-काव्य कहा है। इसमें युधिष्ठिर और अश्वत्थामा को खण्डित और पीड़ाभोगी बताया गया है और पीड़ाभोगी की नियति है—पीड़ा से बच भागने का प्रयत्न। अश्वत्थामा सर्वाधिक सामर्थ्यवान् अतिरथी होकर भी पीड़ाभीरु थे। युधिष्ठिर अपने स्वभाव (आकाश-पुरुषता) और नियति (पृथ्वी से प्रतिबद्धता) के द्वन्द्व में बँटे हुए थे। यही द्वन्द्व उनकी पीड़ा का कारण था। 'उत्तर जय' में केन्द्रीभूत अर्थ का इतना बिखराव नहीं है, बिखराव है किन्तु इसमें वह अपनी सत्ता बनाये हुए है। इसके भी पात्र प्रतीकात्मक हैं, किन्तु यह छोटी-सी प्रबन्ध-कृति अनेक पात्रों के बिन्दुओं को एक रेखा में अनुस्यूत करने के प्रयत्न में किसी पात्र की मनोकथा या अन्तर्द्वन्द्व को उतनी गहनता से उभारने का अवकाश नहीं पा सकी है जितनी कि अपेक्षित थी। इसकी भाषा 'द्रौपदी' की भाषा की अपेक्षा अधिक जीवन्त है और यह पूरा काव्य 'द्रौपदी' की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है।

कुँवरनारायण का **आत्मजयी** 'कठोपनिषद्' के नचिकेता-प्रसंग पर आधारित प्रबन्धकाव्य है। 'आत्मजयी' में नचिकेता का अपना पौराणिक व्यक्तित्व नहीं उभरता, वह कवि के आधुनिक चिन्तन का प्रतीक-मात्र बनकर रह गया है अर्थात् 'आत्मजयी' विचार-काव्य है जिसमें आधुनिक सन्दर्भों में उभरे हुए जीवन-प्रश्नों को एक चिरन्तन जीवन-धारा के प्रश्नों से जोड़ने तथा उनका उत्तर पाने की शाश्वत अकुलाहट है। वाजश्रवा एक प्रकार से ठहरे हुए मूल्य की वाहक पीढ़ी का प्रतीक है जो अपने सारे निर्णयों को आनेवाली पीढ़ियों पर लादना चाहती है। और नचिकेता? वह इस सारे आप्त सत्य के उत्तराधिकार और विवेकहीन निर्णय को अस्वीकार कर अपने विवेक और पीड़ा से सत्य को तलाश करनेवाली और उसके लिए मृत्यु तक को वरण करनेवाली प्रबुद्ध नयी चेतना का प्रतीक है। 'आत्मजयी' मूलतः आधुनिक चेतना का काव्य है। इसमें कथा स्वरूप है और इस स्वल्प कथा में भी कोई घटनात्मक सूत्र नहीं है, केवल चिन्तन है। ऐसा लगता है कि 'आत्मजयी' के भिन्न-भिन्न खण्ड आधुनिक चिन्तना के भिन्न-भिन्न आयाम हैं अर्थात् आधुनिक जीवन के कुछ सन्दर्भों को लेकर उन पर व्यक्त किये गये विचारों के अलग-अलग टुकड़े यहाँ से वहाँ तक बिखरे हैं। ये बातें नचिकेता की इस स्वल्प कथा के बिना भी हो सकती थीं। किन्तु ऐसा लगता है कि कवि नये चिन्तन से उद्दीप्त होकर भी जीवन को एक लम्बी परम्परा में देखना चाहता है। आज जिन प्रश्नों और उनसे सम्बद्ध विचारों को लोग पश्चिम से जोड़-कर चुप हो जाते हैं उन्हें कवि भारतीय जीवन और उसके दर्शन से जोड़ना चाहता है। कवि के ही शब्दों में, 'आत्मजयी' में ली गयी समस्या नयी नहीं, उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु सम्बन्धी मनुष्य का अनुभव। कवि ने आधुनिक व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं के सन्दर्भ में ही उपनिषद्, यम, नचिकेता, आत्मा, मृत्यु, ब्रह्मा आदि रूढ़-से लगनेवाले शब्दों का प्रयोग करने का खतरा उठाया है और दूसरी ओर आधुनिक मानसिक अवस्थाओं को एक चिरन्तन चिन्तन-आकुलता से जोड़ना चाहा है। जहाँ 'आत्मजयी' के बिम्ब मूलतः बौद्धिक हैं, वे जीवन से सीधे उठाये गये प्रतीत नहीं होते। जहाँ वे जीवन से लिये भी गये हैं वहाँ वे किसी व्यापार या प्रसंग से विच्छिन्न होने के कारण और

नचिकेता की एक विशेष प्रकार की वैचारिक अकुलाहट मात्र से जुड़े होने के कारण हमारे भीतर कोई जीवन नहीं उभारते, जीवन का एक बोध उभारते हैं।

नरेश मेहता-कृत संशय की एक रात में राम के मन के संशय को चित्रित किया गया है। समुद्र में पुल बँध जाने पर राम का मन संशय से भर जाता है। वे सोचते हैं कि एक सीता के लिए इतना बड़ा नर-संहार क्यों किया जाय ? फिर अपने सहयोगियों के साथ विचार-विमर्श करने पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि युद्ध किया जाय। युद्ध सीता के लिए नहीं प्रजा के लिए हो।

प्रबन्धकाव्यों की शृंखला में एक पुरुष और भी उल्लेखनीय है। इसके लेखक युवा कवि डॉ० विनय हैं। इस प्रबन्धकाव्य में विश्वामित्र और उर्वशी से संबंधित पुरा कथा को एक नवीन अर्थ-सन्दर्भ दिया गया है। 'एक पुरुष और' वास्तव में एक ऐसी काव्य-कृति है जो आज के सामाजिक संदर्भों से टकराती हुई-सी मूलतः व्यक्ति के अस्तित्वमूलक संकट से जूझती है और किसी विकल्प की खोज करती है। इस प्रबन्ध-कृति में विश्वामित्र को अस्तित्व की सार्थकता की खोज में नियोजित किया गया है। कवि के अनुसार जीवन से प्रतिबद्ध होकर ही व्यक्ति जीवन से मुक्त होता है और सार्थकता प्राप्त करता है।

कुछ विशिष्ट युद्ध-प्रबन्ध

प्रस्तुत सन्दर्भ में विवेचनीय प्रवन्धकाव्य हैं—कुरुक्षेत्र, उन्मुक्त और आर्यावर्त्त। युद्ध की समस्या को लेकर लिखे गये प्रबन्धकाव्यों में कुरुक्षेत्र (दिनकर) का स्थान बहुत ऊंचा है। 'कुरुक्षेत्र' एक काव्यात्मक गीता है, जिसमें आध्यात्मिक चिन्तन के स्थान पर आधुनिक जीवन के प्रश्नों का चिन्तन है। कवि ने युद्ध को निन्द्य बताते हुए भी आधुनिक परिवेश में उसके जटिल रूप को, उसके संक्रान्त मूल्य को उभारा है। प्रश्न इतना ही नहीं है कि युद्ध निन्द्य है—उससे बड़ा प्रश्न यह है कि निन्द्य वस्तु बार बार इतनी अनिवार्य क्यों हो उठती है और युद्ध के रूप में इतिहास की एक बहुत बड़ी चुनौती क्यों बार-बार शान्तिप्रिय लोगों को स्वीकार करनी पड़ती है ? क्यों उन्हें ऐसा लगता है कि एक विशेष सामाजिक या मानवीय सन्दर्भ में युद्ध शान्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान् हो जाता है ? 'कुरुक्षेत्र' में भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है, जहाँ समाधान खोजने का प्रयास है वहाँ कवि केवल स्वप्नद्रष्टा बनकर रह गया है। किन्तु 'कुरुक्षेत्र' की शक्ति उत्तर के काल्पनिक नियोजन में नहीं है बल्कि वह द्वन्द्वग्रस्त प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है जो धर्मराज और भीष्म के माध्यम से उसके भीतर से गुज़रता है। शान्ति काम्य है, युद्ध निषिद्ध है, किन्तु युद्ध के लिए अनिवार्य परिस्थितियाँ उत्तरदायी होती हैं। जब अनुनय हार जाता है तब प्रतिरोध आवश्यक होता है। इस अवस्था में विनय, शान्ति और क्षमा मूल्य न रहकर पाप बन जाते हैं—सामाजिक पाप। किन्तु, युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने मात्र से प्रश्नों का अन्त नहीं होता। युद्ध शुरू होने पर मूल्य ऐसे उलझ जाते हैं कि रावण और कौरवों के असंख्य अधर्म-प्रहारों के साथ राम और पांडवों को भी कुछ न कुछ अधर्म-प्रहार करने ही पड़ते हैं। धर्म जहाँ थोड़ा-सा स्खलित हुआ, वह सरकता और उलझता हुआ चला जाता है और धर्मयुद्ध शुरू करनेवाला इस अधार्मिकता के लिए कहीं न कहीं विवश हो जाता है और अपनी इस विवशता और उसके परिणाम-स्वरूप उत्पन्न अधार्मिकता का बोध उसे निरन्तर पीड़ित करता है अर्थात् वह एक ही साथ एक युद्ध बाहर लड़ता है एक भीतर। एक ओर भीषण नर-संहार करता है, दूसरी ओर उसे लगता है कि वही अनेक लोगों के रूप में अनेक बार मर रहा है। युयुत्सा और मानवीय

करुणा का एक भयानक द्वन्द्व उसे कसता चला जाता है और विजय के पश्चात् भी वह उल्लास नहीं पश्चात्ताप भोगता है, साम्राज्य नहीं, सामने बिछा हुआ श्मशान पाता है। 'कुरुक्षेत्र' के 'धर्मराज' इसी प्रकार के संवेदनशील योद्धा के मूर्त्त रूप हैं जो आत्मग्लानि के अतिरेक में अपने को ही युद्ध का उत्तरदायी मानकर भीष्म के सामने विलाप करते हैं। दूसरी ओर, भीष्म सामाजिक चेतना के प्रतीक हैं। उनमें भावुकता के स्थान पर तटस्थ चिन्तन है। इसलिए वे युद्ध की नियति के बारे में बात करते हैं और कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के सन्दर्भ में जो मूल्य हैं, वे ही समाज के सन्दर्भ में दोष बन जाते हैं। भीष्म भी युद्ध के पक्ष-पाती नहीं हैं, किन्तु वे युद्ध की नियति की परीक्षा करते हुए कहना चाहते हैं कि समाज में जब तक विषमताएँ हैं, जब तक दो वर्गों के सुखों और सुविधाओं में आकाश-पाताल का अन्तर है तब तक युद्ध की सम्भावना मिटायी नहीं जा सकती। भीष्म के माध्यम से कवि ने आज के समाज के वैषम्य, विसंगति और भयानक विरूपता को उद्घाटित किया है। 'कुरुक्षेत्र' केवल युद्ध-काव्य नहीं है, युद्ध के प्रश्न के बहाने भीष्म ने आज के सामाजिक जीवन के अनेक प्रश्नों को, अनेक सत्यों को छुआ है।

उन्मुक्त (सियारामशरण गुप्त) में अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग, बलिदान, यातना-विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है। 'उन्मुक्त' में कुसुमद्वीप एक शान्तिप्रिय नगर है। वह शान्तभाव से कला, सौन्दर्य और शान्ति की उपासना करता है, किन्तु अत्याचारी लौहद्वीप के लोग उसे युद्ध करने पर मजबूर करते हैं। कवि की दृष्टि में यथार्थ और स्वप्न का बड़ा सुन्दर सामंजस्य है। यथार्थ यह कि कवि ने लौहद्वीप जैसे युद्धप्रिय शक्तिशाली नगर के आक्रमण के फलस्वरूप कुसुमद्वीप जैसे शान्त कोमल नगर की होनेवाली अनिवार्य परिणतियों को बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है, उसके शौर्य और पराजय को सही ढंग से आँका है, मानवीय घृणा और कुरूपता को उभारा है। किन्तु, इस सारे कठोर यथार्थ के भीतर से मानवीय यातना और करुणा को उभारकर मनुष्य और समाज के प्रेम तथा अहिंसा को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित किया गया है। यथार्थ और स्वप्न दोनों के निरूपण के लिए कवि ने बहुत समर्थ और जीवन्त बिम्बों की रचना की है।

मोहनलाल महतो 'वियोगी' (जन्म १८९९) का आर्यावर्त (१९४३) भी इस युग का श्रेष्ठ ऐतिहासिक प्रबन्धकाव्य है, जिसकी रचना पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद ग़ोरी-सम्बन्धी आख्यान के आधार पर हुई है। इसमें तेरह सर्ग हैं जिनमें पृथ्वीराज और ग़ोरी के युद्ध, पृथ्वीराज की बन्दी अवस्था, जयचन्द के परिताप, संयोगिता के पराक्रम और पृथ्वीराज द्वारा शब्द-बेधी बाण से ग़ोरी के वध की कथा को अत्यन्त प्रभावपूर्ण ढंग से नियोजित किया गया है। देशभक्ति की भावना इसमें सर्वोपरि रही है। वातावरण-चित्रण की सजगता, चरित्रांकन की यथार्थता, तत्सम शब्दों की प्रधानता और अतुकान्त-प्रवृत्ति इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

नये गीत

गीत एक विधा है; और समसामयिक परिवर्तनों के साथ चिरन्तन विधा है। युगीन सन्दर्भों में मानव-मन के संवेगों को नया-नया रूप प्राप्त होता रहता है, लेकिन इन संवेगों को गाने के लिए मानव-मन में बेचैनी रहा करती है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख-दुःख, राग-विराग की संवेदना आदिम काल के मानव की संवेदना की तरह प्रत्यक्ष,

सीधी और आवेगात्मक नहीं है—उसमें बौद्धिक युग की बहुत-सी जटिलताएँ आ गयी हैं। इसलिए आज की संवेदना आदिकालीन, मध्ययुगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की संवेदना की तरह एक लय में वेग से फूट नहीं चलती, बल्कि वह एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में अपने अनुकूल बिखरे हुए संवेगों से जुड़ती है अर्थात् एक संवेग दूसरे से संक्रान्त होता है। ये संक्रान्त संवेग एक आन्तरिक एकता से अनुशासित होते हैं। देखने में ये संवेग अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, परन्तु मूलतः आन्तरिक संगीत से जुड़े होते हैं! आज का यह भाव-सत्य नयी कविता और नये गीत दोनों में व्यक्त हो रहा है। इन संक्रान्त संवेगों को रूपायित करने के लिए कवि को अनिवार्य रूप से बिम्बों और प्रतीकों के बिना संवेगों की संश्लिष्टता और सूक्ष्मता व्यंजित नहीं हो पाती।

जहाँ मानव-मन किसी सौन्दर्य, राग, सत्य के किसी कोण से गहरे छू जाता हैं वहीं गीत की भूमि होती है। यह कथ्य अपेक्षाकृत आत्मप्रधान होता है; यह विश्लेषणात्मक, बुद्धि-बोझिल, लम्बा और जटिल नहीं होता। हिन्दी में प्रायः हुआ यह है कि गीतों को मात्र एक आकार मान लिया गया है। उस आकार में जितनी सामग्री ठूँसी जा सकती है, ठूँसी गयी है। इसीलिए नया कवि गीतों से घृणा करने लगा है, आज के लिए अपर्याप्त और अनावश्यक मानने लगा है। किन्तु गीत की इन व्यावहारिक सीमाओं के कारण उसकी मौलिक शक्तियों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता; और शायद इन्हीं शक्तियों के कारण बहुत-से अच्छे नये कवि अच्छे गीतकार भी हैं। उनके गीतों की तरलता, अनुभूति-सघनता और प्रभावान्विति का प्रभाव उनकी नयी कविताओं पर भी पड़ता रहता है। प्रचलित रंगमचीन फूहड़ गीतों से अलग करने के लिए इन गीतों को 'नये गीत' कह सकते हैं।

समसामयिक नये गीत प्रमुखतः अज्ञेय के 'इत्यलम्', 'हरी घास पर क्षण भर', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु रौंदे हुए ये' आदि संग्रहों में; गिरिजाकुमार माथुर के 'नाश और निर्माण', 'धूप के धान' और 'शिलापंख चमकीले' में; धर्मवीर भारती के 'ठंडा लोहा' तथा 'सात गीत वर्ष' में; नरेश मेहता के 'वनपाँखी सुनो' में; शम्भुनाथ सिंह की 'समय की शिला पर' में; जगदीश गुप्त के 'नाव के पाँव' तथा 'हिमदंश' में; ठाकुरप्रसाद सिंह के 'वंशी और मादल' में; रामदरश मिश्र के 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ' तथा 'पक गयी है धूप' शब्द-संग्रहों में; केदारनाथ सिंह के 'अभी बिलकुल अभी' में; सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'काठ की घंटियाँ' में; रवीन्द्र भ्रमर के 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' में; वीरेन्द्र मिश्र के 'गीतम में' तथा राजेन्द्रप्रसाद सिंह की 'आओ खुली बयार' में प्रकाशित हैं। इनके अतिरिक्त भवानीप्रसाद मिश्र, शमशेर और भारतभूषण अग्रवाल के नयी कविता वाले संग्रहों में भी कुछ बहुत अच्छे नये गीत मिलते हैं। चन्द्रदेव सिंह द्वारा सम्पादित 'पाँच जोड़ बाँसुरी' नये गीतों का एक विशिष्ट सुन्दर संकलन है। इसी गीत-धारा में चन्द्रदेव सिंह, राजेन्द्रकिशोर, महेन्द्र शंकर, रामनरेश पाठक, श्यामसुन्दर घोष, उमाकान्त मालवीय आदि के गीत भी आते हैं।

उपर्युक्त सभी गीतकारों के अपने-अपने व्यक्तित्व हैं, किन्तु इनके गीतों की एक सामान्य भूमि भी है। अनुभूति की सच्चाई, अतएव अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौन्दर्य-बोध, आकार-लघुता, नवीन बिम्ब-प्रतीक-उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। अतएव ये गीत प्रभाव की अन्विति से अन्तर्दीप्त मालूम पड़ते हैं। इन सभी गीतों में लोक-जीवन का रस है; इस अर्थ में नहीं कि इन्होंने प्रचलित गीतों की तरह लोक-भाषा से दूब-बताशा, पनघट, बँसवट, चुनरिया, ओढ़नियाँ आदि अनेक शब्द लिये हैं, बल्कि इस अर्थ में है कि इन्होंने लोक-जीवन की वस्तु-चेतना को पकड़ा है, उसकी संवेदना को ग्रहण

किया है। ये गीत जहाँ से उठे हैं, वहाँ की ज़मीन के रस को लिये हुए हैं। अतः इन गीतों में हरी, गँवई; व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रेमपरक, प्रेमेतर प्रकार की संवेदनाओं के विभिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्वों और मानस-संस्कारों के अनुसार लक्षित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नये गीत में बासी रस-पिच्छलता नहीं है, अन्तर की दमक है। इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल-सरल रसमय उच्छल प्रवाह और आवेगों में नहीं है, बल्कि इनकी बुद्धि-संयत हार्दिकता, संवेदना के अनुभूत सूक्ष्म स्तरों के नियोजन, एक विशेष प्रभाव-भूमि के अन्तर्गत आनेवाले बिखरे किन्तु एक-दूसरे से संक्रमित बोधों के संश्लेषण और अनुकूल बिम्बों, प्रतीकों और लाक्षणिक प्रतीकों की खोज में है। कवि अपने-अपने संस्कार के अनुसार इस सामान्य भूमि पर नूतन बिम्ब-प्रतीकों का विधान करते चले हैं।

इधर गीत ने फिर एक नया मोड़ लिया है। इसे कुछ गीतकारों ने नवगीत नाम दिया है। इन गीतों में घरेलू जीवन का परिवेश है, प्रकृति के बहुत टटके अछूते बिम्ब हैं और आसपास के जीवन का रंग है। फिर भी, लगता है कि अधिकांश गीतकारों ने नवीन बिम्बों की खोज की झोंक में संवेदनात्मक गहराई की उपेक्षा कर दी है। इन गीतकारों में विशिष्ट हैं ओम् प्रभाकर, नईम शलभ, श्रीराम सिंह, चन्द्रमौलि उपाध्याय, देवेन्द्रकुमार, मणि मधुकर, माहेश्वर तिवारी; रमेश रंजक आदि। नये गीतकारों में बालस्वरूप 'राही' का अपना अलग स्थान है। राही गीतों के माध्यम से आज के जीवन के विसंगतिमय यथार्थ और व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारते हैं, जैसे नयी कविता में उभरे हैं। इस प्रकार वे गीत के वर्ण्य क्षेत्र का विस्तार करने वाले तथा गीत की संवेदना में विचार भरनेवाले गीतकार हैं।

आज की कविता

नामों का शोर—अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी—यहाँ से वहाँ तक नये-नये साइन-बोर्ड। साइन-बोर्डों से अलग हटकर विचार किया जाये तो इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सन् साठ के आसपास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती दीखती है। साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है वह एकाएक दीखनेवाली कोई नवीन वस्तु नहीं, वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकवितावालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिए अकविता नाम दे दिया, किन्तु किसी मौलिक आधार पर वे अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। सत्य यह है कि सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं वे नयी कविता में बीज-रूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर नयी कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं, किन्तु नयी कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती, जैसाकि अकविता वाले करते हैं।

साठ के बाद की कविता में असन्तोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ तौर पर उभरा है। नयी कविता में भी असन्तोष और स्वीकृति का स्वर विद्यमान है। मुक्तिबोध में तो है ही, अन्य कवियों में भी है। यह स्वर कहीं तो व्यंग्य-रूप में है, कहीं खुले रूप में। किन्तु, साठ के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है, जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जाकर उनकी टूटने की तल्खी, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृति की उग्रता को पहचाना है। नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यहीं है कि उसने समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को उनके जीवन्त परिवेश में व्यक्त

किया। विषय या अनुभूति के आभिजात्य और भिन्न-भिन्न दृष्टियों या वादों से बंधे हुए उनके घेरों को तोड़कर व्यक्ति द्वारा भोगे जाते हुए जीवन के हर छोटे-बड़े सत्य को प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से उभारने में ही उसने कविता की सार्थकता समझी। किन्तु कुल मिलाकर कहना पड़ेगा कि नयी कविता संक्रातिजन्य सन्त्रास, यातना, टूटन, दुविधा की अनुभूति की कविता है जिसमें रह-रहकर सुन्दर अनागत के आने की आशा, स्वयं को अंधेरे में प्रकाश की तरह जलाकर, फूल को तरह खिलाकर अपने को सार्थक तथा अपने द्वारा युग को मूल्यवान् बनाने की आस्था कौंध की तरह लिपट-लिपट जाती है।

कहा जा सकता है कि नयी कविता जिस युग की उपज है वह युग पीड़ाबोध अधिक दे सकता था, विद्रोह कम। स्वराज्य-प्राप्ति की आरम्भिक बेला में जो यातना या दर्द उग आया था वह अपने साथ भविष्य के प्रति विश्वास और आशा का स्वर भी अवश्य ही लिपटाये था। एक दुविधा थी पीड़ा और आशा की, टूटने की वास्तविकता और बनने के सपने की, जिसमें पीड़ा या टूटना अधिक था, बनने की आशा और सपना कम। मोह-भंग या डिसइल्यूज़नमेण्ट पूरे रूप में नहीं हुआ था, इसलिए नयी कविता में यातना-बोध है, अस्वीकृति का स्वर भी है, किन्तु विद्रोह का उभार नहीं है। धीरे-धीरे 'इल्यूज़न' एकदम टूट गये, मोह भंग हो गया। व्यक्ति का सामाजिक परिवेश और भी कुरूप होता गया, भविष्य के सपने टूटते गये। साहित्य के सामने दो ही रास्ते थे—या तो वह नयी कविता के प्रधान स्वर में स्वर मिलाकर पीड़ा की मुक्त अनुभूति को और गहनता से व्यक्त करता अथवा ये सारी परिस्थितियाँ उसके संवेदनशील मन को झकझोरतीं और यातना के बीच से उभारकर उसे विद्रोही बनातीं, सब-कुछ अस्वीकार करने को प्रेरित करतीं। दोनों प्रतिक्रियाएँ साहित्य में दिखायी पड़ीं। अकविता वाले कवि संवेग और संचेतना को, नव-विकसित सत्य को, सहज तरीके से व्यक्त करने की घोषणा करते हैं। वे अव्यवस्था, विसंगति, मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों के अकाल से आन्दोलित नहीं होते। दूसरी प्रतिक्रिया विद्रोह की हुई। विद्रोह की दो प्रवृत्तियाँ होती हैं—अस्वीकृति या ध्वंस तथा रचना। आज की कविता में 'विद्रोह' नाम से जो कविताएँ आ रही हैं उनमें अधिकांश निर्लक्ष्य या यौन-विकृतिलक्षी हैं। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएँ सुविधा का विद्रोह करती हैं यानी जहाँ विद्रोह करने में ख़तरा अनुभव हो वहाँ नहीं, जहाँ सुविधा हो वहाँ विद्रोह करती हैं। इन्हें इससे बड़ी विसंगति 'सेक्स' में दीखती है या शरीर की वीभत्सता में।

आज की कविता (आन्दोलन नहीं) नयी कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का अगला विकास है, जिसमें सायास आन्दोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि आज के जीवन की अनुभवजन्य विषम संवेदनाएँ और बोध हैं। ये अनुभव और बोध आन्दोलन से नहीं, सत्य से प्रेरित होकर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते हैं। साठ के बाद की धारा में वे कवि भी हैं जो 'नयी कविता' के विशिष्ट कवि रहे हैं और जिनमें जीवनधारा की उर्जस्वलता ही प्रधान रही है या जो नयी कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचानकर उन्हें तोड़ने के लिए पुनः आकुल हैं; और वे कवि भी हैं जो साठ के बाद की उपज हैं। इन कवियों ने एक ओर जीवन की विकसित चेतना और जटिलता का अनुभव किया, दूसरी ओर यह देखा कि नयी कविता के भी फ़ार्मूले बनने लगे हैं, उसके प्रतीक और दर्द रूढ़ बनते जा रहे हैं, प्रतीकों की अन्धी गुफा में बन्द होकर कविता सर्वथा अन्तर्मुखी और निस्पन्द होती जा रही है। इस ठहराव को तोड़ना था, कविता को पुनः जीवन के क़रीब लाना था या नयी कविता की जीवनधारा

पहचानकर उसके साथ आगे चलना था।

मामूलियत की ओर झुकाव आज की मुख्य विशेषता है। चीन और पाकिस्तान के क्रमणों के अवसर पर मामूली सिपाहियों का बलिदान, छोटे-छोटे दीखनेवाले लोगों का ति, किसानों, मज़दूरों के श्रम की महत्ता का अहसास बहुत स्पष्टता से उभरा। आज की विता नयी कविता के उस स्वर का विकास है जो आज की रोज़मर्रा ज़िन्दगी की अनु-तियों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति देता हैं, उन अनुभूतियों को वाणी देता है जो पल-के अन्तर्विरोध की उपज हैं। आज की कविता में एक ओर व्यक्तिगत पीड़ा को या ति की विषमता को व्यक्त करनेवाले कवि हैं, तो दूसरी ओर स्थिति की विषमता के द्ध विद्रोह का आक्रोश व्यक्त करनेवाले कवि भी हैं। क्रुद्ध और विद्रोही पीढ़ी की कवि-ऐं इस सन्दर्भ में देखी जा सकती हैं। विद्रोही पीढ़ी की कविताएँ अधिक तेज़, धक्का-र और आज के जीवन की सड़ाँध को अधिक प्रत्यक्षता से उभारनेवाली हैं। आज की विता में वे कवयित्रियाँ भी आती हैं जिनमें आज की व्यथा अनुभूति के बहुत महीन, सूक्ष्म र संयत स्तर पर उभरी है। नारी होने की अपनी कुछ विवशताएँ होती हैं। यह वशता कवियों की तरह कवयित्रियों को उच्छृंखल, यौन-सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में धिक प्रत्यक्ष या सामाजिक विद्रोह के प्रति अधिक संवेदनशील एवं सक्रिय नहीं होने देती। अपने परिवेश के दबाव से महसूस होती हुई पीड़ा के बोध को या सौन्दर्य-बोध को अधिक ता और गहराई से व्यक्त कर सकती हैं।

आज की कविता के क्षेत्र में नयी कविता के कवि भी हैं और साठ के बाद उभरने-ले कवि भी। युवा कवियों में धूमिल, पद्मधर त्रिपाठी, ऋतुराज, चन्द्रकान्त, देवताले, लाधर, जगूड़ी, विष्णुचन्द्र शर्मा, प्रणवकुमार बन्द्योपाध्याय, विजेन्द्र, डॉ० विनय आदि नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियों में धूमिल सर्वाधिक चर्चित कवि रहे हैं। धूमिल (संसद सड़क तक) ने कविता को एक नया मुहावरा दिया है और राजनीतिक चेतना को अपने व्य में बड़ी कुशलता से अन्तर्व्याप्त किया है।

हास्य-व्यंग्यात्मक कविता

हास्य तो रस का भेद बनकर अत्यन्त प्राचीन काल से ही साहित्य में अपनी सत्ता माये चला आ रहा है, किन्तु व्यंग्य का उन्मेष आधुनिक काल में ही हुआ। व्यंग्य का अस्तित्व पहले नहीं था, ऐसी बात नहीं; वह पहले भी था, किन्तु हास्य के अंतर्गत ही था। हास्य अपनी मूल प्रकृति में बहुत निश्छल होता है, वह किसी का जी दुखाये बिना, आलम्बन की विचित्रता का चित्रण कर एक आह्लाद प्रदान करता है। वह किसी को कचोटता नहीं, ला सुख देता है, इसलिए व्यंग्य उसमें होकर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता उभार नहीं पाता। व्यंग्य कथ्य की असंगतियों का (उसके बाहरी-भीतरी रूप के, कथनी-करनी के, आचरण और मूल्य के अन्तर्विरोधों का) पर्दाफ़ाश कर चोट करता है। यह चोट हलका-हलका हँसाती भी है और बेचैन भी करती है। व्यंग्य का सम्बन्ध समाज और व्यक्ति दोनों के जीवन से हो सकता है, किन्तु मूलतः सामाजिक जीवन से ही अधिक होता है। व्यंग्य का आलम्बन व्यक्ति भी प्रायः सामाजिक अन्तर्विरोधों का प्रतीक होता है। इसलिए यह देखने में आता है कि सामाजिक जीवन-अनुभव और सामाजिक दृष्टिवाले कवि व्यंग्य-विधान में अधिक प्रवृत्त और ल होते हैं। भारतेन्दु-काल के सारे सर्जकों ने व्यंग्य का सहारा लिया, फिर प्रगतिवाद ने य की ओर भरपूर दृष्टिपात किया और नयी कविता तो प्रमुखतः व्यंग्य-कविता ही बन

गयी—विशेषतया उसकी परवर्ती [illegible]।

छायावादोत्तर काल में छायावाद के कवि निराला व्यंग्य की ओर विशेष प्रवृ सामाजिक जीवन के अनुभवों और लोक-दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण निराला में ही व्यंग्य का स्पर्श मिलता है, किन्तु बाद में चलकर उन्होंने 'कुकुरमुत्ता', 'मास्को डाय 'गर्म पकौड़ी', 'प्रेम संगीत' आदि उत्कृष्ट व्यंग्य-कविताएँ लिखीं। ये व्यंग्य-कविताएँ प्र शील धारा में समाहित की जा सकती हैं। निराला की इन कविताओं की परम्परा में प्र शील कवि नागार्जुन, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा की बहुत-सी कविताएँ देखी जा स हैं। इनमें नागार्जुन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। नागार्जुन में सामाजिक जी के अनुभवों, प्रगतिशील दृष्टि और राजनीतिक चेतना का सुन्दर समन्वय है। इसी वे हमारे सामाजिक और राजनीतिक जीवन के बीच व्याप्त भयंकर विसंगतियों और विरोधियों को पहचान लेते हैं और उन्हें अनावृत करने के लिए व्यंग्य का सहारा लेते उनकी प्रगतिशील दृष्टि इन विसंगतियों के उद्घाटन में एक ओर शोषक व्यक्ति और स के आचरण और मूल्य के अलगाव पर चोट करती है और दूसरी शोषित के प्रति जगाती है। नागार्जुन ने सामान्य लोगों के बीच असर करनेवाले चालू व्यंग्य भी लिखे हैं, किन्तु उनकी ऐसी भी काफ़ी व्यंग्य-कविताएँ हैं जो साहित्यिक दृष्टि से उ मानी जा सकती हैं। त्रिलोचन भी ऐसे प्रगतिशील कवि हैं जो मार्क्सवादी दृ साथ-साथ सामाजिक जीवन-अनुभवों से भी सम्पन्न हैं। इसलिए इनकी व्यंग्य-कविता में भी चोट और दर्द दोनों की सहस्थिति लक्षित होती है। इनके व्यंग्य विशेषतया इ 'सॉनेट' में मिलते हैं। त्रिलोचन का कलात्मक संयम इनके व्यंग्य को बड़ा पैनापन प्र करता है।

कहा जा चुका है कि 'नयी कविता' और विशेषतया परवर्ती 'नयी कविता' की प्रकृति ही व्यंग्यात्मक है। कारण यह है कि स्वाधीनता-परवर्ती भारतीय समाज निरन्त विसंगतियों से ग्रस्त होता चला गया। कथनी और करनी, आचरण और मूल्य के बी विरोध बढ़ता गया। अनुभव पर बल देने के कारण नयी कविता ने उन आदर्शों या मूल्यों की स्थापना करने से इनकार कर दिया जो व्यवहार में न उतरकर केवल ऊपर-ऊपर टँ हुए थे और जिन्हें पिछली कविता अपने-अपने ढंग से अपने ऊपर आरोपित करती आ रही थी। इसलिए कविता के सामने अब विसंगतिमयी स्थितियाँ थीं और कवि की यथार्थवादी दृष्टि थी। कवि की यथार्थवादी दृष्टि हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय और व्यक्तिगत जीवन के जटिल अन्तर्विरोधों के उद्घाटन के लिए व्यंग्य का सहारा लेकर चली, इसलिए व्यंग्य नयी कविता की मूल प्रकृति बन गया। अज्ञेय, मुक्तिबोध, भारती, भवानीप्रसाद मिश्र, रघुवीरसहाय, भारतभूषण, अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, सर्वेश्वरदयाल, विजयदेवनारायण साही आदि सभी प्रमुख कवियों में व्यंग्य मिलता है। अज्ञेय की 'साँप' और भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीतफ़रोश' इस धारा की दो बहुत प्रसिद्ध व्यंग्य-कविताएँ हैं। नयी कविता की गम्भीर-सी लगनेवाली कविताओं में भी व्यंग्य का स्वर उभरता रहता है और परोक्ष रू से प्रायः हर कविता व्यंग्य या व्यंग्यगर्भित कविता बन जाती है।

प्रस्तुत कालावधि में हास्य-व्यंग्य की कविता की एक और धारा बहती हुई दिखायी पड़ती है जिसे हास्य-कविता-धारा या व्यंग्य-मिश्रित हास्य-कविता-धारा कह सकते हैं। हिन्दी में कविता का विभाजन मंच की दृष्टि से भी किया जा सकता है—अर्थात् मंच की कविता और मंचेतर कविता। गम्भीर साहित्य-सर्जना अपने को मंच से नहीं जोड़ती, किन्तु

की कविता की रचना-प्रक्रिया में जाने-अनजाने मंच हावी हो उठता है। यही वजह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर हिन्दी का श्रेष्ठ कवि मंच का कवि नहीं रहा और दूसरी ओर मंच का कवि साहित्य की सीमा में प्रवेश नहीं पा सका। कविता चाहे युद्ध की हो, चाहे प्रेम की, चाहे हास्य की; इस दृष्टि से सबकी स्थिति समान ही है। इसी कारण हास्य और व्यंग्य में स्पष्ट रूप से दो अलग-अलग धाराएँ बन गयीं – एक ओर कलात्मक ईमानदारी के साथ गम्भीर व्यंग्य लिखनेवालों की उपर्युक्त परम्परा रही, तो दूसरी ओर सामान्य भीड़ को हँसानेवाले मंचीय कवियों की परम्परा। इन मंचीय कवियों में न तो गहरी विसंगतियों की पकड़ है और न कलात्मक संयम के साथ उन्हें व्यंजकता दे पाने की शक्ति। एक तो ये सामान्य जनता को सहज ही हँसा सकनेवाले विषय चुनते हैं, दूसरे उन्हें फैलाकर चटपटे ढंग से पेश करते हैं ताकि लोग सहज ही ग्रहण कर सकें। व्यंग्य-कविताओं की-सी सामाजिक विसंगतियाँ इनमें भी (विशेषतया स्वातन्त्र्योत्तर कविताओं में) होती हैं, किन्तु बहुत ऊपरी स्तर पर उनकी पहचान होती है और कवि पाठकों को हँसाने के प्रयत्न में इन विसंगतियों को हलके-फुलके विषयों (जैसे साली, सलवार, बीवी, साबुन, सिनेमा, गोरा-काला आदि) के धरातल पर ला छोड़ते हैं। यही वजह है कि हिन्दी में हास्य-कविताएँ लिखनेवालों की एक अच्छी-खासी जमात तो है, किन्तु उनकी उपलब्धियाँ साहित्यिक स्तर नहीं प्राप्त कर सकीं और वे साहित्य के हाशिये पर उठाकर रख दिये गये। इस धारा में लिखनेवाले इस अवधि के उल्लेखनीय कवि हैं—हरिशंकर शर्मा, बेढब बनारसी, कान्तानाथ पाण्डे 'चोंच', गोपालप्रसाद व्यास, बेधड़क बनारसी, काका हाथरसी, वंशीधर शुक्ल, रमई काका, बरसानेलाल चतुर्वेदी आदि। इन कवियों की अपनी-अपनी शैली और अपनी-अपनी पहचान है। लोकप्रियता प्राप्त करने की प्रवृत्ति के भीतर ही इन कवियों ने जहाँ महत्त्वपूर्ण विषयों को लिया है या जहाँ ये कथ्य की गहराई में उतरे हैं या जहाँ इनका 'ट्रीटमेंट अपेक्षाकृत अधिक कलात्मक है, वहाँ ये अच्छी रचनाएँ दे भी गये हैं।

बेढब बनारसी का हास्य संयत, शिष्ट और सांकेतिक है। विषय की विविधता भी इसमें लक्षित होती है। हरिशंकर शर्मा बहुत पुराने कवि थे, तो भी उन्होंने इस अवधि में पर्याप्त लिखा। इनमें काफ़ी खुलापन है। फूहड़ विषयों और फूहड़ ढंग से मुक्त होकर इन्होंने सामाजिक और राष्ट्रीय विसंगतियों पर साफ़-सुथरी तथा चोट करती हुई कविताएँ लिखी हैं। गोपालप्रसाद व्यास की भी कविताएँ पारिवारिक तथा सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों को स्पर्श करती हैं। बेधड़क बनारसी की कविताओं में वैविध्य है और रोजमर्रा की जिन्दगी के प्रति जागरूकता दिखायी पड़ती है। वंशीधर शुक्ल में राजनीतिक चेतना सबसे अधिक प्रखर है और इसलिए इनके व्यंग्य में अधिक गम्भीरता है।

ब्रजभाषा-काव्य

आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य हिन्दी की अत्यन्त समृद्ध काव्य-परम्परा का उत्तराधिकारी है। खड़ीबोली-काव्य के उत्कर्ष-काल अर्थात् छायावाद-युग तक तमाम संघर्षों को झेलते हुए भी ब्रजभाषा गौरव के साथ परम्परा तथा नवीन युगचेतना का प्रतिनिधित्व करती रही, किन्तु छायावादोत्तर काल में खड़ीबोली के राष्ट्रभाषा के रूप में प्रतिष्ठा होने से ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा को क्रमशः ह्रास का मुख देखना पड़ा। छायावाद-युग में जो समर्थ कवि-साहित्यकार ब्रजभाषा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिए प्राणपण से सचेष्ट रहे

वे भी आगे चलकर खड़ीबोली का श्रृंगार करने में जुट पड़े। जहाँ एक ओर प्र मैथिलीशरण, 'नवीन' आदि अनेक कवि ब्रजभाषा से आरम्भ कर खड़ीबोली की ओ जा बैठे, वहाँ 'बुद्धचरित' के कवि रामचन्द्र शुक्ल के साथ ही राय कृष्णदास, किशोरी वाजपेयी, रामशंकर शुक्ल 'रसाल', अनूप शर्मा, उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' प्रभृति ब्र भाषा-कवियों ने समय की माँग के अनुरूप कविता, साहित्यालोचन, भाषा-रचना आदि क्षेत्र में खड़ीबोली को उत्कर्ष प्रदान किया। दूसरी ओर ब्रजभाषा में अद्यावधि अबाध ग से काव्य-सर्जन होते रहने पर भी उसके एक सहस्रांश को भी प्रकाशित होने का सौभा नहीं मिल सका। प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में छायावाद-युग में ब्रजभाषा-कविताएँ जिस बड़ से छपती रहीं, वह क्रम देश के स्वतन्त्र होते-होते समाप्त हो गया। इतना ही नहीं, बड़े शह केन्द्रों में रची जानेवाली खड़ीबोली-कविता शिक्षा-प्रसार के साथ-साथ छोटे कस्बों प्रवेश पा गयी और स्थान-स्थान पर राष्ट्रभाषा-प्रचार के नाम पर साहित्यिक गोष्ठि तथा छोटी-बड़ी पत्रिकाओं के प्रकाशन का क्रम आरम्भ हुआ जिसका प्रयोजन नये-ने विषयों की खोज और प्रतिष्ठा करना था। इससे ब्रजभाषा-काव्य-परम्परा को आघा लगाना स्वाभाविक ही था। नये युग की दौड़ में ब्रजभाषा-काव्य पिछड़ा हुआ माना जा लगा तथा आज़ादी के बाद की पीढ़ी के साहित्यिक संस्कार एकदम भिन्न हो गये। फिर भ छायावादयुगीन कतिपय समर्थ ब्रजभाषा-कवियों की अनेक श्रेष्ठ काव्य-कृतियाँ आलोच्य का में प्रकाशित हुईं तथा अनेक ऐसे कवि भी प्रकाश में आये जो अंकुरित तो छायावाद-यु हुए, किन्तु जिनकी प्रतिभा का पूर्ण प्रस्फुटन परवर्ती काल में हुआ। इन दोनों वर्गों के कवि में सर्वश्री अमृतलाल चतुर्वेदी (जन्म १८९८), बलदेवप्रसाद मिश्र 'राजहंस' (जन्म १८९८ रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (जन्म १८९९), हृषीकेश चतुर्वेदी (१९०७-१९७०), बालमुकुन् चतुर्वेदी 'मुकुन्द' (जन्म १९०७), सेवकेन्द्र त्रिपाठी (जन्म १९०९) और लक्ष्मीनाराय सिंह 'ईश' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

ब्रजभाषा के वर्तमान कवियों में आगरा के कवि अमृतलाल चतुर्वेदी का विशेष स्था है। उनकी रचनाओं में 'श्यामसंदेसौ' (१९५०) और 'ग़ालिब अमृत' विशेष प्रसिद्ध हैं— प्रथम कृति जहाँ भ्रमरगीत-परम्परा के अन्तर्गत रचित है, वहाँ द्वितीय में ग़ालिब की रचनाओं का ब्रजभाषानुवाद किया गया है। डॉ० बलदेवप्रसाद मिश्र की 'श्रृंगार शतक' और 'वैराग् शतक' (१९२८) शीर्षक रचनाएँ छायावाद-युग में प्रकाशित हो चुकी थीं। इनकी छायावादोत्तर काल की कृतियों में 'श्यामशतक' (१९५८) अधिक प्रसिद्ध है।

छायावादोत्तर ब्रजभाषा-कवियों में डॉ० रसाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। 'अजम-मोचन', 'रसालमंजरी' और 'उद्धव-शतक' इनके ब्रजभाषा-काव्य हैं जिनमें से अन्तिम को विशेष ख्याति प्राप्त है। इसी प्रकार की एक अन्य प्रसिद्ध रचना आगरा के कवि हृषीकेश चतुर्वेदी का 'रामकृष्ण-काव्य' (१९४३) है। कलात्मक अभिव्यंजना की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यमक-श्लेषमयी इस रचना में शब्द-योजना इस ढंग से की गयी है कि एक ओर से पढ़ने पर पंक्ति का अर्थ रामपरक निकलता है, तो विलोम रूप में पढ़ने से कृष्णपरक। मथुरा के कवि 'मुकुन्द' ने लगभग ३५ पुस्तकें लिखकर ब्रजभाषा-साहित्य को समृद्ध किया है। श्रृंगार, हास्य, वत्सल और शान्त रस की टकसाली कविता होते हुए भी इनकी शैली में इनका व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से झलकता है। सेवकेन्द्र त्रिपाठी भी ब्रजभाषा के सुकवि हैं। 'ब्रजवर्तिका' (१९६५) इनकी महत्त्वपूर्ण काव्य-कृति है जिसमें ब्रज-प्रदेश और ब्रज-संस्कृति के प्रति इनका अनन्य अनुराग परिलक्षित होता है। लक्ष्मीनारायण

'ईश' का 'लंकादहन' (रचना १९४५, प्रकाशन १९५०) ओजगुणयुक्त खण्डकाव्य है हनुमान द्वारा लंकादहन की कथा नौ सर्गों में प्रौढ़ परिष्कृत ब्रजभाषा में वर्णित है।

उपर्युक्त प्रमुख कवियों के अतिरिक्त वर्तमान युग में अनेक अन्य कवियों ने भी षा-काव्यधारा के विकास में योग दिया है। उनके कृतित्व को सामान्यतः इन तीन में विभाजित किया जा सकता है—भक्ति-भावना, राष्ट्रीय-सामाजिक चेतना और य विषयावली। आधुनिक ब्रजभाषा-काव्य को हास्य-व्यंग्य की छटा से आलोकित कर वाले कवि गोपालप्रसाद व्यास का उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। ब्रज-साहित्य-मण्डल म्बद्ध रहकर इन्होंने हिन्दी-जगत् की पर्याप्त सेवा की है। इनकी ब्रजभाषा की रचनाएँ , जंग और व्यंग' (१९६६) में संकलित हैं। व्यास जी की कविता की विशिष्ट भंगिमा ी है। यमुना-महिमा, ब्रजवानी, शक्ति-पंचामृत, विनोबा-स्तवन, नायिका-निरूपण, पावस-आदि फुटकर विषयों पर इनकी रचनाएँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। सीतापुर के अखिलेश वेदी की ब्रज-रचना 'गंगालहरी' (१९४७) में षड्ऋतु-वर्णन, सूर्योदय, वैराग्य आदि परागत विषयों के अतिरिक्त सामाजिक यथार्थ का भी चित्रण हुआ है तथा छन्दों में नवीन ोगों की झलक मिलती है। विविध विषयों पर फुटकर ब्रजभाषा-कविताएँ लिखनेवाले कवियों में डा० शरणबिहारी गोस्वामी (जन्म १९२८), रामनारायण अग्रवाल, गोविन्द ुवेदी, सोम ठाकुर आदि भी उल्लेखनीय हैं। डॉ० जगदीश गुप्त का नाम भी इस सन्दर्भ महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि उन्होंने विशेषतः शृंगार रस के ललित और मार्मिक कवित्त-सवैयों रचना की है।

मूल्यांकन

प्रस्तुत कालावधि की प्रवृत्तियों और तत्सम्बद्ध कृतियों को जब हम एक-साथ देखते हैं, पाते हैं कि वे विभिन्न स्तरों पर अपने को एक-दूसरे से जोड़ती-तोड़ती चलती हैं। यदि ना समकालीन जीवन-चेतना से जुड़ी होगी तो निश्चित है कि वह अनुभूति, दृष्टि और प के स्तर पर अपने-को पूर्ववर्ती धारा से अलगा देगी और यह सर्जन की एक अनिवार्य भी है। किन्तु, यह भी निश्चित है कि सामाजिक परिवेश में निर्मित व्यक्ति-मन की राइयों में यात्रा करनेवाली रचनाएँ किसी काल में निर्मित होकर भी कालातीत बन जाती । उनके कालातीत बनने के दो कारण होते हैं—एक तो मानवीय अनुभव अपनी अन्तरंगता एक अविच्छिन्न अनुभव-परम्परा के अंग बन जाते हैं। बाहरी आवर्तनों, नये कोणों और आयामों के साथ विकसित होने के बावजूद वे अपनी गहराई में कहीं पूर्ववर्ती अनुभवों से जुड़े होते हैं, दूसरे इन कृतियों को पढ़ते समय साहित्य के पाठक का इतिहास-बोध भी जाग्रत रहता है अर्थात् किसी रचना को पढ़ते समय हम मनसा अपने को उसके काल में रख लेते हैं और यह देखते हैं कि कृतिविशेष अपने काल तक के विकसित मानवीय अनुभवों और अपने काल में उनमें जुड़े हुए नये आयामों की पहचान में कितने गहरे उतर सकी है। इसलिए ई कालों या प्रवृत्तियों की कृतियों का सापेक्षिक आकलन करते समय हमें यह बात खनी होती है कि कृतिविशेष या धाराविशेष समकालीन जीवन-चेतना को सर्जनात्मक रूप से की बेचैनी अनुभव कर सर्जन की सार्थकता अनुभव कर सकी है या पूर्व कृतियों में बार-बार अभिव्यक्त जीवन-सत्यों को दुहराकर या अधिक-से-अधिक उन्हें एक नयी कथन-भंगिमा के साथ सजीला बनाकर रह गयी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन जीवन-चेतना से जुड़कर भी वह कृति चेतना के उन स्तरों को भी उद्घाटित कर सकी है कि नहीं जो अपनी

आत्यन्तिक अन्तरंगता में कालातीत बन जाने की क्षमता रखती है। इस प्रकार अच्छी कृति में एक ही काल-चेतना और कालेतर चेतना बन जाने की सम्भावना निहित रहती है।

छायावाद १६३८ ई० के पश्चात् न तो समकालीन जीवन-अनुभवों के प्रति सचेत दीखता है और न उन अनुभवों को कहीं और गहराता ही है जिनसे वह पहले गुज़र चुका था। छायावाद के दो श्रेष्ठ कवि निराला और पन्त प्रगतिवादी बनकर सामाजिक जीवन-यथार्थ की ओर मुड़ते हैं और अपनी छायावादी धारा की कविताओं में भी कुछ लोकोन्मुख होते हुए दीखते हैं। महादेवी की 'दीपशिखा' उनकी पूर्ववर्ती चेतना का ही अगला सोपान है। वह कोई नयी ज़मीन न देकर भी, पूर्व की ज़मीन पर यात्रा करती हुई भी, एक उपलब्धि प्रदान करती है। कुल मिलाकर इस अवधि का छायावादी काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से कोई वैशिष्ट्य स्थापित नहीं कर पाता।

वैयक्तिक गीतिकविता वास्तव में अनुभव के क्षेत्र में कोई नयी बात लेकर नहीं आयी। उसकी भावभूमि, उसकी दृष्टि, छायावाद से भिन्न नहीं है। वह केवल छायावाद के ऊपर लहराते हुए रहस्यवाद के आवरण को हटा देती है, जिससे प्रेम, सौन्दर्य और तज्जन्य निराशा, विषाद, टूटन तथा उन्माद-हर्ष के अनुभवों की लौकिकता अपने असली रूप में उजागर हो जाती है। निश्चय ही यह साहसपूर्ण क्रिया तत्कालीन नये सन्दर्भों में बदलते हुए युवा-मानस की पहचान कराती है और इन निर्व्याज लौकिक प्रेमानुभूतियों को सर्जना की एक नयी अकुलाहट से जोड़ती है। यह अकुलाहट युवा-मन की रूमानी अनुभूतियों को अर्थात् रूप के प्रति उत्कट प्यास और उसकी अतृप्ति से उत्पन्न विषाद और उदासी को तीव्र, उद्दाम और सीधे गीतों की रचना में नियोजित कर देती है, किन्तु तीव्र और सीधे रूमानी प्रभाव-वाले ये गीत मानव-अनुभवों की न तो गहराई में उतर सके, न जटिलता में। इसलिए वे किसी बहुत समृद्ध काव्य की भूमिका निभाने में समर्थ नहीं हो सके। किन्तु, यह भी निश्चित है कि ये इस अवधि के छायावाद की रहस्यात्मकता से ऊबे हुए पाठकों के मन को बड़ी ताज़गी और खुलेपन से स्पर्श कर सके और सौन्दर्य की हलकी-हलकी दीप्ति से उसे जगमगाने में सफल हो सके।

प्रगतिवाद ने सामाजिक यथार्थ को सौन्दर्य की बुनियाद माना। उसने छायावाद और व्यक्तिवादी गीतिकविता की व्यक्तिगत, रूमानी भाव-चेतना से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन के यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टि से पहचानने और रूपायित करने का प्रयत्न किया। इस धारा की कविता निश्चय ही दो दृष्टियों से बड़े महत्त्व की है; एक तो उसने एक ठोस जीवन-दृष्टि को स्वीकार किया, दूसरे समकालीन सामाजिक जीवन-चेतना की पहचान और उसकी अभिव्यक्ति की आकुलता से सम्पन्न होकर नये सर्जन की सार्थकता को रेखांकित किया। इसलिए जहाँ तक साहित्य को सामाजिक जीवन की ऊर्जा से जोड़ने का प्रश्न है, जहाँ तक साहित्य को सामाजिक जीवन की विविध समस्याओं, प्रश्नों, संगतियों, विसंगतियों से जोड़कर उसे रसात्मकता के साथ-साथ मूर्त जीवन की पहचान से जोड़ने का प्रश्न है प्रगतिवाद हमारी समूची काव्य-यात्रा में एक बहुत बड़ी भूमिका अदा करता है, किन्तु अनुभव और दृष्टि के अलगाव और उससे उत्पन्न खतरा यहाँ मौजूद है। प्रगतिवाद के पास एक मूर्त दृष्टि तो है, लेकिन वह अनुभव से उपजी हुई नहीं है—किताब से ली गयी है। अनुभव के ऊपर दृष्टि के इस दबाव ने प्रगतिशील कविता को प्रायः प्रभावहीन प्रगति-नारा बनाकर छोड़ दिया है। इस प्रकार साहित्य में इतनी बड़ी सामाजिक भूमिका निभाने के बावजूद प्रगतिवाद काव्य के स्तर पर अभिप्रेत उपलब्धि नहीं प्राप्त कर सका है। हाँ, उसने साहित्य को वह परिवेशमूलक

वश्य प्रदान की है जो आगे चलकर काव्यात्मक उपलब्धि भी बन सकी है।
राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा एक क्रमागत धारा है जो भारतेन्दु-[illegible] से शुरू होकर
काल, छायावाद-काल से होती हुई यहाँ तक पहुँची है, किन्तु इ[illegible]पने समय से कटी
पिष्टपेषित धारा नहीं कह सकते, क्योंकि हमारी राष्ट्रीय समस्याएँ निरन्तर नये
में जटिल और गहरी होती जा रही थीं। हमारी सांस्कृतिक चेतना क्रमशः बौद्धिक
थी, वह अतीत की ग[illegible] से अभिभूत-मात्र होने के स्थान पर उसके परीक्षण में भी
रही थी और अन्तरा[illegible]न्दर्भों में भी अपना विकास कर रही थी। मार्क्सवाद
रूप से उसे भावात्मक स्तर [illegible]वारकर जन-जीवन से सम्पृक्त बौद्धिक धरातल प्रदान
था। इस नयेपन को व्यक्त करना था। इसलिए राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धारा एक
से जुड़कर भी समकालीन परिवेश में अपना वैशिष्ट्य प्रकट करती है। किन्तु, काव्य
पर यह उपलब्धि कुछ ही कविताओं को प्राप्त हो सकी। अनेक फुटकल कविताएं
जीवन की जटिल गहराइयों में न उतर सकीं, वे ऊपर-ऊपर की घटनाओं को लेकर
के साथ पहले की ही भाँति चीखती रहीं। मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त
दिनकर जैसे समर्थ कवि कुछ प्रबन्धकाव्यों के रूप में अवश्य ही सशक्त काव्य दे सके
की उपलब्धियों को विशेष रूप से रेखांकित किया जा सकता है। जहाँ धारा के रूप में
सांस्कृतिक कविता ने सामूहिक रूप से बहुत सतही उत्तेजनात्मक अनुभूति की कविता
वहाँ उसी ने विशेष उपलब्धि के रूप में 'कुरुक्षेत्र' और 'उन्मुक्त' जैसी रचनाएँ भी दीं।

प्रयोगवाद को यदि नयी कविता से अलग करके देखें तो उसका जीवन-काल बहुत
होगा, उसे १९४३ से १९५० तक मानना होगा। नयी कविता से जुड़कर प्रयोगवाद
और काव्यात्मक उपलब्धि दोनों दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण दिखायी पड़ेगा। यद्यपि
वाद की बहुत-सी मूलभूत बातें नयी कविता में हैं, किन्तु दोनों को पर्याय नहीं मान
सकता। रूमानी व्यक्तिमूलक कविता की भावाकुलता, रूमानी दृष्टि, आरोपित आदर्श
ता, भावुक अभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की यान्त्रिक सामूहिकता, सपाट भाव-बोध तथ
प्रचारात्मक अभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवाद की अनुभूतिमूलक व्यक्तिवादित
स्थ अनुभवजन्य जटिल संवेदना, बौद्धिकता आदि को शक्ति के रूप में ही स्वीकार करन
। नयी कविता ने प्रयोगवाद की इन शक्तियों का विकास किया, किन्तु प्रयोगवाद अप
में अपनी इन शक्तियों के बावजूद एक बहुत बड़ी सीमा लिये हुए आया था।

नयी कविता ने स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज के यथार्थ को सही अर्थ
अनुभव के स्तर पर भोगा और अभिव्यक्त किया है। उसने सत्य का अनुभव ही नहीं
, वरन् अपनी बौद्धिक दृष्टि से अनुभवों का मूल्यांकन भी किया है। उपर्युक्त विविध
ओं का एक-साथ विवेचन करें और उनकी उपलब्धियों का आकलन करें तो प्रतीत
कि साहित्य में केवल समय की गतिविधियों या उसकी आकांक्षाओं, समस्याओं से
होना ही पर्याप्त नहीं होता, वरन् उन्हें अनुभव में आत्मसात् करना होता है।
में कविता की मूल चेतना सौन्दर्य-चेतना है। यह चेतना अपने परिवेश से बनती
विकसित होती है, किन्तु जब परिवेश प्रधान हो जाता है तब कवि प्रगतिवाद की
रचनाओं की सृष्टि करता है और जब सौन्दर्य-चेतना परिवेश से कट जाती है तब वह
वादी अहम् की सृष्टि करता है। यह व्यक्तिवादी अहम् छायावाद और प्रयोगवाद
में अलग-अलग रूपों में देखा जा सकता है। जो रचनाएँ परिवेश और कवि की सौन्दर्य-
के समन्वित रूप को लेकर फूटती हैं, वे अधिक स्वस्थ और सुन्दर होती हैं। इस

दृष्टिकोण से 'साकेत', 'कामायनी', 'तुलसीदास', 'राम की शक्तिपूजा', 'कुरुक्षेत्र', 'उर्वशी', 'उन्मुक्त', 'अन्धा युग', 'आत्मजयी' आदि कृतियों को समय की छोटी-छोटी सीमाओं से मुक्त कर एक वृहत्तर समय के फलक पर रखा जा सकता है। दूसरी ओर निराला, पन्त, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी, बच्चन, नरेन्द्र, अचल, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, गिरिजाकुमार माथुर, शमशेरबहादुर आदि के व्यक्तिचेतना-स्पन्दित गीतों या छोटी-छोटी सुन्दर कविताओं को भी एक ही रचना-लोक में देखा जा सकता है। फ़ालतू कविताएँ हर धारा में हुई हैं। जो कविताएँ अनुभूति की आँच से ऊष्म रही होंगी, जिनमें गहरे जीवन-अनुभवों और सौन्दर्य-दृष्टि के स्थान पर उत्तेजना होगी या नकली बौद्धिकता होगी वे कविता की दृष्टि से असफल और निरर्थक होंगी; वे चाहे छायावाद की हों चाहे प्रगतिवाद की, चाहे नयी कविता की। नयी कविता चूँकि सबसे निकट की धारा है, इसलिए उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी रचनात्मक व्यर्थताओं का भी अनुभव बहुत सरलता से किया जा सकता है।

इसलिए जब हम काव्य-प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्तियों का आकलन करते हैं तब हमें यह देखना होता है कि वास्तव में कौन-सी धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा के अधिक जीवन्त और साहित्यिक होने के बावजूद हो सकता है कि उसमें महान् कृतियाँ न सर्जित हो सकी हों। इसलिए महान् प्रतिभाओं का प्रश्न भी इसके साथ जुड़ा होता है। महान् प्रतिभाएँ सदा उत्पन्न नहीं होतीं, किन्तु धाराएँ बदलती रहती हैं और महान् व्यक्तित्वों के अभाव में भी उनका सामूहिक व्यक्तित्व महान् कवियोंवाली धाराओं के सामूहिक व्यक्तित्व से अधिक साहित्यिक, जीवन-सम्पृक्त और सुन्दर हो सकता है। प्रस्तुत अवधि की हिन्दी-काव्यधाराओं में नयी कविता का सामूहिक व्यक्तित्व निश्चय ही सामर्थ्यवान् और जीवन्त है। वैसे, छायावाद को छोड़ दिया जाय तो अन्य धाराओं में कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं दिखायी पड़ता। 'दिनकर' ही एक ऐसे कवि हैं जो एक बड़े काव्य-व्यक्तित्व से सम्पन्न कहे जा सकते हैं, किन्तु, इधर नयी कविता में भी अज्ञेय और मुक्तिबोध का काव्य-व्यक्तित्व हमें आकृष्ट करता है। जो भी हो, 'नयी कविता' एक धारा के रूप में, एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में छायावाद के बाद की अत्यन्त सशक्त और जीवन्त काव्यधारा है। वह हिन्दी-काव्यधारा की उपलब्धि है—भावबोध, चिन्तन और शिल्प सभी दृष्टियों से। उसने जीवन को उसके गहरे और विविध रूपों में रूपायित किया है।

गद्य-साहित्य

छायावादोत्तर युग हिन्दी-गद्य-साहित्य की सर्वांगीण उन्नति का युग है। इस युग में भारत ने पराधीनता की बेड़ियों को तोड़कर स्वाधीनता की सुखद एवं स्फूर्तिदायक साँस ली। इसका एक स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि आलोच्य युग में विभिन्न गद्य-विधाओं ने अभूतपूर्व तथा बहुमुखी प्रगति की। इस युग के लेखकों ने कहानी, उपन्यास, आलोचना आदि क्षेत्रों में नये आयामों का उद्घाटन करने के साथ-साथ अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति के लिए रिपोर्ताज और इंटरव्यू सदृश सर्वथा नवीन साहित्य-रूपों का प्रश्रय लिया। इसके साथ ही स्वाधीनता प्राप्त करने से पूर्व जहाँ साहित्यकारों ने राष्ट्रीय चेतना पर बल दिया, वहाँ स्वातन्त्र्योत्तर साहित्य में नवनिर्माण पर बल दिया गया। इस युग में गद्य ही जन-

जीवन की अभिव्यक्ति का सर्वप्रमुख साधन रहा। फलतः गद्य-साहित्य का सीमातीत विस्तार हुआ। कथ्य की कलात्मक अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा नये प्रतीक, उपमान अथवा बिम्ब ही प्रयुक्त नहीं हुए, अपितु फ़्लैशबैक, चेतना-प्रवाह आदि शैलियों का भी प्रयोग किया गया। कथानक को गौण मानने तथा पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण करने की प्रवृत्तियों के फलस्वरूप वर्तमान लेखक मानव-मन के सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्त करने में सफल हो सके हैं। समग्रतः इस युग का गद्य-साहित्य कथ्य और शिल्प दोनों दृष्टियों से पर्याप्त वैविध्यपूर्ण एवं समृद्ध है।

नाटक

आलोच्य काल में हिन्दी-नाटक रंगमंच और जीवन के यथार्थ से जुड़कर नयी दिशा की ओर उन्मुख हुआ। यद्यपि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी यह प्रयास किया था, पर गद्य के उस प्रारम्भिक विकास-काल में उनके नाटकों से बड़ी अपेक्षाएँ नहीं की जानी चाहिए। भारतेन्दु के बाद प्रसाद को दिशा-प्रवर्तक नाटककार स्वीकार किया जाता है, किन्तु उनके नाटकों को मंच नहीं मिला। फिर भी अपनी सांस्कृतिक चेतना, काव्यात्मक परिवेश, नाटकीय संघर्ष की सूझ और चरित्र-सर्जन की अपूर्व क्षमता के कारण उनके नाटक अद्वितीय बन गये हैं। अपने रोमैंटिक दृष्टिकोण के कारण इतिहास के अतीत के साथ समसामयिक जीवन को आदर्श के साथ जोड़कर उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, किन्तु रोमैंटिक दृष्टि की खामियाँ भी उनके साथ लिपट रहीं। उनके समसामयिक नाटककार (लक्ष्मीनारायण मिश्र-सहित) भी रूमानियत से छूट नहीं सके। वस्तुतः उपेन्द्रनाथ अश्क पहले नाटककार हैं जिन्होंने हिन्दी-नाटक को रोमांस के कठघरे से निकालकर किसी सीमा तक आधुनिक भावबोध के साथ जोड़ा। यद्यपि उनका 'जय पराजय' (१९३७) प्रसाद की प्रभाव-छाया से बहिर्गत नहीं होता, फिर भी 'छठा बेटा' (१९४०) उस प्रभाव से मुक्त है। इसमें पिता-पुत्र के परिवर्तित सम्बन्धों को व्यंग्यात्मक ढंग से चित्रित किया गया है। अवकाश-प्राप्त पिता को छह बेटों में से कोई भी अपने पास रखने को तैयार नहीं है। जिन पुराने मूल्यों पर पिता-पुत्र का सम्बन्ध आधारित रहा करता था, वे यहाँ ग़ायब हैं। यदि कोई सम्बन्ध शेष है तो आर्थिक सम्बन्ध। स्वप्न के माध्यम से जिस आर्थिक सम्बन्ध की स्थापना की जाती है, वह स्वयं में एक छलना है। हाँ, स्वप्न-नाटक होने के नाते छाया-सृजन का फ़िल्मी प्रयोग नाटकीय शिल्प की दृष्टि से श्लाघ्य है। उनके दो अन्य नाटक—'क़ैद' (१९४५) और 'उड़ान' (१९४६)—एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रतीक का संस्पर्श दोनों में है, पर पहले का प्रतीक अधिक सटीक और व्यापक है। 'क़ैद' में सामाजिक रूढ़ियों और यन्त्रणाओं की क़ैद में घुटती हुई नारी का चित्र है, तो 'उड़ान' में रूढ़ियों से बाहर निकलकर मुक्त हवा में साँस लेती हुई नारी चित्रित है। 'अलग-अलग रास्ते' में भी एक नारी समझौतावादी है, तो दूसरी विद्रोहिणी। इसमें मध्यवर्गीय परिवार की स्थूल समस्याओं का चित्रण हुआ है। 'भँवर' (१९५०) की थीम नाटकीय सम्भावनाओं से युक्त है, किन्तु लगता है कि अश्क सम्भावनाओं को छू सकते हैं; उनके भीसर घुसने में उन्हें भय लगता है। इसमें नायिका प्रतिभा को जिस मानसिक भँवर में डाला गया है, वह आधुनिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है, पर उस भँवर में न तो व्याकुलतापूर्ण आवर्त है और न गहराई।

'अंजो दीदी' (१९५४) कदाचित् अश्क की सर्वाधिक प्रौढ़ नाटकीय कृति है। इसकी केन्द्रीय पात्र है—अंजो दीदी। वह बेहद अनुशासनप्रिय है, किन्तु उसका अनुशासन

यन्त्रीकरण का पर्याय हो गया है। परिवार के प्रत्येक प्राणी के लिए उसके यान्त्रिक ढाँचे में ढलना अनिवार्य है। हर चीज़ का समय निर्धारित है—सुबह उठने का, नाश्ते का, भोजन का, आराम का, सोने का। हर चीज़ का एक सलीका है—उठने-बैठने का, नमस्कार-प्रणाम का, खेल-पढ़ाई का। कहीं पर भी उसे प्रमाद असह्य है। दीदी के साँचे में वकील साहब ढल नहीं पाते, उन्हें आत्महत्या करनी पड़ती है। अंजो का भाई श्रीपत अंजो-विरोधी चरित्र है यानी वह अंजो की यान्त्रिकता का विरोध करता है। वस्तुतः मशीनीकरण के कारण टूटते हुए व्यक्तित्वों का चित्रण आधुनिक जीवन का अत्यन्त खतरनाक रोग है, किन्तु उसे तोड़ने के लिए किसी अन्य पात्र की सर्जना सरलीकरण की प्रवृत्ति की सूचक है जिसकी सराहना नहीं की जा सकती। 'अंधी गली' और 'पैंतरे' अश्क के अन्य नाटक हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि उन्होंने हिन्दी-नाटक को मंच और आधुनिक यथार्थ के साथ जोड़ा है। मंच के प्रति सतर्क होने के कारण उन्हें अपनी भाषा को रोमैंटिक अभिव्यक्तियों से बचाकर यथार्थसापेक्ष और कार्यक्षम बनाने की आवश्यकता हुई है, पर उनकी भाषा गहन मानवीय स्थितियों को रूपायित नहीं कर पाती। वह स्थिति को स्थूल स्तर पर ही नाटकीय बना पाती है; तनावों के भीतर के तनावों को देख पाना उसकी शक्ति के बाहर है। इसी प्रकार कथा-तत्त्व की प्रमुखता भी अश्क को गहराई में नहीं पैठने देती।

विष्णु प्रभाकर-कृत 'डॉक्टर' भी इस अवधि का बहुचर्चित नाटक है—इसके पूर्व वे एक अन्य नाटक 'समाधि' की रचना कर चुके थे। 'डॉक्टर' मनोवैज्ञानिक सामाजिक नाटक है, जिसमें डॉ० अनीला के सन्दर्भ में भावना और नैतिक कर्त्तव्य का संघर्ष दिखाया गया है। उसका अन्तर्द्वन्द्व आपरेशन करते समय भी चलता रहता है, जो विश्वसनीय नहीं बन पाता। यद्यपि द्वन्द्व और आन्तरिक संघर्ष की सम्भावनाओं का पूरा इस्तेमाल लेखक नहीं कर सका है, पर अन्त में चलकर तनाव अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर आधुनिकता से जुड़ जाता है; और यही इस नाटक की उपलब्धि है।

मंचीय सार्थकता और नयी जटिल जीवनानुभूतियों की नाटकीय रचनात्मकता जगदीशचन्द्र माथुर के 'कोणार्क' में लक्षित होती है। अश्क ने अपने नाटकों में सामान्यतः दो विरोधी प्रकृतिवाले पात्रों की सृष्टि की है, जो पुराना परिचित नुस्खा है; पर 'कोणार्क' में इस तरह का कोई सरलीकरण नहीं है। विभिन्न प्रकार के पात्रों, घटनाओं आदि को इसमें इस प्रकार संयोजित किया गया है कि वे विशिष्ट नाटकीय स्थितियों में संश्लिष्ट हो उठते हैं। इसमें संघर्ष के कई आयाम उभरते हैं—प्रभुसत्ता और ग़रीब शिल्पी के बीच का संघर्ष! वस्तुतः कोणार्क का निर्माण एक गहरे अन्तर्द्वन्द्व का परिणाम है; मनोविज्ञान की शब्दावली में यह एक प्रकार का उदात्तीकरण है। शिल्पी विशु की रचना-प्रक्रिया अनेक तरह के अन्तःसंघर्षों से प्रेरित है—एक विशेष बिन्दु पर पहुँचकर तो परिवेश का संघर्ष अन्तःसंघर्ष से मिलकर इतना उद्वेलनपूर्ण हो उठा है कि रचयिता विशु अपनी रचना का विध्वंस स्वयं कर देता है। इस ध्वंस की व्याख्या करते हुए नाटककार कहता है: "मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से मौन पौरुष, जो सौन्दर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भूल जाता है, कोणार्क के खण्डन के क्षण में फूट निकला हो।"

'शारदीया' उनका दूसरा ऐतिहासिक नाटक है जिसका नायक नरसिंह राव अर्धऐतिहासिक पात्र है। प्रेम और सर्जनात्मक प्रक्रिया का प्रश्न इसमें भी उठाया गया है। नाटककार ने एक ओर भारतीय कैशिकी वृत्ति को अपनाया है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य नाटक की विशेषता 'संघर्ष' को भी इसमें स्थान दिया है। भाषा की सरलता में भी नाटकीय

तियों को तीव्रतापूर्वक प्रस्तुत करने की कोशिश इसे विशिष्ट बनाती है। किन्तु, नाटकीय लष्टता और जीवन के विविध आयामों को जिस स्तर पर 'कोणार्क' में रखा गया है, रदीया' में उसकी कमी है। उनका तीसरा नाटक 'पहला राजा' (१९६९) ऐतिहासिक-राणिक पृष्ठभूमि पर आधारित होने पर भी युगीन सन्दर्भ से जुड़ा हुआ है; इसीलिए यह के दुहरे स्तरों को उजागर कर समासोक्ति का-सा रूप धारण कर लेता है। नट-नटी, -मागध और सूत्रधार के कथोपकथनों के बीच नाट्य की काया का जैसा विस्तार हुआ है, अपने में नया प्रयोग है। नाटक में घटनाओं और पात्रों की प्रतीकात्मकता भी प्रभावित रती है, किन्तु इसकी सबसे बड़ी कमज़ोरी इसकी भाषा में दिखायी देती है, जहाँ वह सर्जना-कता की ओर अभिमुख नहीं हो सकी। पौराणिक सन्दर्भ को लेकर लिखित उनकी चौथी ना है 'दशरथनन्दन' जिसमें कथ्य और शैली के बीच ऐसी खाई लक्षित नहीं होती।

आधुनिक भावबोध को रूपायित करनेवाले नाटकों में **धर्मवीर भारती** का गीति-ट्य 'अन्धा युग' (१९५५) विशेषतः उल्लेखनीय है। इसमें महाभारत के अठारहवें दिन सन्ध्या से प्रभास-तीर्थ में कृष्ण के देहावसन के क्षणों तक की कथा ली गयी है। इस था को चुनने का मूल प्रयोजन युद्धजन्य वर्तमानकालीनता को प्रासंगिकता देना है। किन्तु की उपलब्धि केवल वर्तमानता के कारण नहीं है, बल्कि जब-जब युद्ध होगा ऐसी ही वसादपूर्ण त्रासद स्थितियाँ उत्पन्न होंगी और विघटित मूल्यों के सन्दर्भ में मनुष्य को मूल्यों की तलाश करनी होगी। बाह्य संकट से आगे बढ़ने पर जिन आन्तरिक संकटों का मना करना पड़ता है वे अत्यन्त भयावह होते हैं—इस थीम के नियोजन के अतिरिक्त रती ने प्रस्तुत गीतिनाट्य को जो अनेक-आयामी धरातल दिया है और जैसी नाटकीय म्बात्मकता तथा रचनात्मकता प्रदान की है, वह पूर्ववर्ती नाटकों में सुलभ नहीं है। युद्ध के द पहले के सारे अर्थ बदल जाते हैं, आस्था अनास्था में बदलती है तथा मूल्य निर्मूल्यता खो जाते हैं; इसीलिए 'अन्धा युग' में बहिर्द्वन्द्व के समाप्त होने पर अन्तर्द्वन्द्व की विकराल ाला जगकर सभी को भस्मीभूत कर लेने के लिए उतावली हो जाती है। चारों ओर र्जीव खण्डित सत्य के शव दिखायी देते हैं। उनके स्थान पर उगते हैं—अन्तरतम की ख, नैराश्य, पीड़ा, निरर्थकता और अकेलापन। लेकिन भारती का उद्देश्य केवल युद्ध ी फलश्रुति प्रस्तुत करना नहीं है; उनका कहना है : "यह कथा ज्योति की है अन्धों के ाध्यम से।" फिर भी, 'अन्धा युग' एक सशक्त आधुनिक त्रासदी है; और प्रभु की मृत्यु के द तो त्रासद परिवेश और भी गहरा हो जाता है। वस्तुतः यह तनावों का नाटक है, संघर्ष ा नहीं; और नाटकीयता तनावों में ही होती है। अश्वत्थामा का अन्तःसंघर्ष सहृदय को ी तनावपूर्ण स्थिति में डाल देता है। अश्वत्थामा के व्यथापूर्ण आक्रोश, युयुत्सु की यातना, न्धारी के आवेश, धृतराष्ट्र की आत्मभर्त्सना और संजय की अभिशप्त चीख से घिरकर 'अन्धा युग' युद्धजन्य स्थितियों को पूर्णतः नाटकीय बना देता है। इसकी भाषा भी अपनी सरलता, टोन के उतार-चढ़ाव, लय, क्रियात्मकता आदि के कारण नाटकीय स्थितियों का जो बिम्ब प्रस्तुत करती है; उससे यथार्थ का नवीन पक्ष उद्घाटित होता है।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल ने कई नाटकों की रचना की है—अन्धा कुआँ (१९५५), मादा कैक्टस (१९५९), तीन आँखोंवाली मछली (१९६०), सुन्दर रस, सूखा सरोवर (१९६०), रक्तकमल (१९६२), रातरानी (१९६२), दर्पन (१९६३), सूर्यमुख (१९६८), कलंकी, मिस्टर अभिमन्यु (१९७१), करफ़्यू (१९७२) आदि। 'अन्धा कुआँ' में शराबी पति द्वारा पत्नी पर किये जानेवाले अत्याचार को वर्ण्य के रूप में लिया गया है। विषयवस्तु और

नाटकीय विन्यास की दृष्टि से यह स्थूल नाटक है। 'मादा कैक्टस' में प्रेम और विवाह को कला-साधना के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। चित्रकार अरविन्द विवाह को कला-साधना में बाधक पाकर अपनी पत्नी सुजाता से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेता है। कला-प्रेरणा की दृष्टि से वह विश्वविद्यालय की एक प्रवक्ता आनन्दा से घनिष्ठ मैत्री करता है। मादा कैक्टस नाटक का केन्द्रवर्ती प्रतीक है। उसके सम्पर्क में आने पर नर कैक्टस सूख जाता है, किन्तु वह नहीं सूखती। इसी भाँति सुजाता के सम्पर्क से अरविन्द सूख जाता है, उसे कोई रचनात्मक प्रेरणा नहीं मिलती। वह ऐसी मादा कैक्टस के पास रहना चाहता है जो उसकी विवाहिता न हो, शायद ऐसा करने पर दोनों न सूखें; पर मादा कैक्टस सूख जाती है—आनन्दा के फेफड़े में कैंसर हो जाता है। इस सन्दर्भ में मुख्य प्रश्न यह है कि क्या विवाहित जीवन कला के लिए सचमुच अभिशाप है? फिर भी, इसमें शक नहीं कि इस नाटक के प्रतीक काफ़ी मौज़ूं हैं। वैसे, इनका प्रयोग गहरे आन्तरिक संघर्ष को नहीं उभार पाता—कोरा सैद्धान्तिक बनकर रह गया है।

'सुन्दर रस' और 'सूखा सरोवर' भी प्रतीकात्मक नाटक हैं। पहले में चर्म-सौन्दर्य की जगह कर्म-सौन्दर्य को प्रतिष्ठित किया गया है, दूसरे में व्यष्टि समष्टि के लिए आत्म-वलिदान करता है। निश्चय ही दोनों परिणतियाँ आधुनिक नहीं वन पातीं, इनमें व्यवहृत प्रतीक आरोपित और अविश्वसनीय लगने लगते हैं। 'रक्तकमल' में भी लेखक स्थूलताओं की तह में पैठने का कोई प्रयास नहीं करता। 'रातरानी' अपेक्षाकृत बेहतर नाटक है। इसका नायक दोहरे व्यक्तित्व में विश्वास करता है—घर में एक व्यक्तित्व और बाहर दूसरा। वह परिवार को अलग-अलग व्यक्तियों का जमघट मानता है, सामंजस्यपूर्ण इकाई नहीं। नायिका का व्यक्तित्व इकहरा है और इसी आधार पर वह सारे संकटों को झेल लेती है। पर नायक का दुहरा व्यक्तित्व केवल वाहरी सुविधा के लिए है, किसी आन्तरिक विवशता के फलस्वरूप उसके व्यक्तित्व का विभाजन नहीं हुआ। इसलिए आधुनिक अर्थ में उसे खण्डित व्यक्तित्व का पात्र नहीं माना जा सकता। उसके सामने न तो कोई नैतिक संघर्ष है और न आस्थाओं की टकराहट। ऐसी स्थिति में इसमें नाटकीय संघर्ष की वे स्थितियाँ नहीं उभर पातीं जो आज नाटक के लिए अनिवार्य हैं। 'दर्पन' में नाटककार ने आधुनिक बोध को अधिक गहराई में पकड़ा है। इसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि आज की मूल्यहीन और विघटनात्मक परिस्थितियों में मनुष्य अपनी सार्थकता कहाँ खोजे—धर्म में, ईश्वर में, आप्त सरणि में या स्वयं में? डॉ० लाल को मंचीय अनुभव है, नये-से-नये नाटकीय प्रयोगों का ज्ञान है; और वे तकनीकी तन्त्रों से भी वाक़िफ़ हैं। किन्तु, बाह्य क्रिया-व्यापारों या परिवेशमूलक संघर्षों में वे इतने उलझ जाते हैं कि आन्तरिक तनावों तक पहुँचने की कोशिश नहीं करते। सपाटबयानी और सिद्धान्त-कथन के कारण उनके नाटकों की भाषा रचनात्मकता का स्तर नहीं प्राप्त करती; फिर भी उनके वाद के नाटकों में भावी सम्भावनाएँ दिखायी पड़ती हैं। 'सूर्यमुख' महाभारत युद्ध के वाद द्वारिका के वातावरण पर आधारित पौराणिक नाटक है जो रचना-शिल्प की दृष्टि से भारती के 'अंधा युग' से सीधे प्रभावित है। 'कलंकी' में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रश्न को उभारने के लिए एक कल्पित कथानक में कल्कि-अवतार के मिथ का प्रयोग किया गया है। 'मिस्टर अभिमन्यु' और 'करफ़्यू' आधुनिक जीवन की संवेदना को लेकर लिखे गए विचारोत्तेजक नाटक हैं जो रंगमंच पर अपनी सार्थकता प्रमाणित कर चुके हैं।

मोहन राकेश-कृत 'आषाढ़ का एक दिन' (१९५८), 'लहरों के राजहंस' (१९६३) और 'आधे-अधूरे' (१९६९) गहन मानवीय ट्रेजेडी को नाटकीय स्थितियों में रचनात्मक ढं

से आँकनेवाले नाटक हैं। 'आषाढ़ का एक दिन' महाकवि कालिदास के परिवेश, रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा-स्रोत और उनके चुक जाने से सम्बद्ध है। यह दो प्रकार के संघर्षों पर आधारित है—परिवेशमूलक संघर्ष और आन्तरिक संघर्ष। आषाढ़ के एक दिन इस संघर्ष का आरम्भ हुआ और आषाढ़ के एक ही दिन वह समाप्त हुआ। इन दो दिनों के दीर्घ अन्तराल को कालिदास और मल्लिका की पीड़ा ने भरा है—कालीदास में अहं की पीड़ा है, तो मल्लिका में रचनात्मक उत्सर्ग की! कालिदास को रचना की प्रेरणा अपने गाँव के परिवेश और वहाँ की प्रकृति से मिली; और सबसे अधिक प्रभावी स्रोत रही मल्लिका। राजाश्रय प्राप्त होने पर कालिदास की प्रतिभा सूखने लगी। किन्तु, प्रश्न यह है कि क्या यह वही कालिदास है जिसका बिम्ब हमारे मन में विद्यमान है? दूसरा प्रश्न यह है कि क्या रचना में उसी कालिदास का अवतरित होना ज़रूरी है? कालिदास के पूर्वनिश्चित बिम्ब और इस नवनिर्मित बिम्ब में जो विसादृश्य है, उसके फलस्वरूप उसके चरित्र में अन्तर्विरोध दिखायी पड़ने लगता है। इतना महान् साहित्यकार, जिसे भारतीय संस्कृति और दर्शन का चितेरा माना जाता है, व्यक्तिगत जीवन में कोरा रोमैंटिक, कायर और सेंटीमेंटल होगा; यह विश्वसनीय नहीं लगता। कालिदास की रचनाओं से भी यह सिद्ध नहीं होता कि वह इस सीमा तक कायर रहा होगा। जो मल्लिका उसे निर्मित करने में स्वयं टूट गयी, उसी को छोड़कर उसने उसकी भावना को व्यर्थ बना दिया। कालिदास और मल्लिका की भावनामयता के विरुद्ध विलोम और मल्लिका की माँ रोमांस-विरोधी पात्र हैं। विलोम का व्यक्तित्व तो इतना ज़बरदस्त है कि वह कालिदास को विदूषकत्व की स्थिति में ला देता हैं; और इसके बाद वह और भी अनपहचाना लगने लगता है। इसका दायित्व लेखक के अपने विज़न पर है। लेकिन जिस कालिदास को उसने अवतरित किया है, वह अनेक विरोधी संघर्षों और लयों के फलस्वरूप नाटकीय गत्यात्मकता से पूर्ण है। एक परिवेश से कटकर दूसरे में न जुड़ पाना गहन आन्तरिक द्वन्द्व का परिचायक है। स्वयं कालिदास के अपने परिवेश में, जिससे वह जुड़ा हुआ है, अन्तर्मन्थन का अवकाश कम नहीं है। विलोम और मल्लिका की माँ ने कालिदास और मल्लिका के अन्तर्द्वन्द्वों को धार दी है। फलस्वरूप नाटक में गहन प्रवेगमयता और तीव्रता आ गयी है। खेद है कि इस प्रवेग और तीव्रता को एक रोमानी दुःखात्मकता (एगोनी) तक पहुँचाकर समाप्त कर दिया गया है।

'लहरों के राजहंस' (१९६३) राकेश का दूसरा नाटक है। इसमें राग-विराग और श्रेय-प्रेय के द्वन्द्व को उभारकर चिरन्तन आध्यात्मिक प्रश्न को नये सन्दर्भ में उठाया गया है। इसका कथानक अश्वघोष के 'सौन्दरनन्द' पर आधारित है। गौतम बुद्ध का सौतेला भाई कपिलवस्तु का राजकुमार नन्द अपनी अनिन्द्य सुन्दरी पत्नी के प्रति अत्यधिक आसक्त है। उसका समर्पण अतिशय अहं-विरहित और असाधारण रूप से विनीत है—इतना विनीत कि सुन्दरी को सोचना पड़ता है कि काश वह किंचित् दुर्विनीत होता! पर बुद्ध के प्रति, यानी आध्यात्मिकता के प्रति भी उसका मन आकर्षित है। नाटकीय संघर्ष की स्थितियाँ इन दो व्यक्तित्वों और दो विरोधी जीवन-दर्शनों की टकराहट से उत्पन्न होती हैं। उसकी पत्नी सुन्दरी नारी-सौन्दर्य को आकर्षण का चरमबिन्दु मानती है, किन्तु जब एक दिन नन्द ने भी बौद्ध धर्म की दीक्षा ले ली तब उसका मुंडित मस्तक देखकर इस सौन्दर्यगर्विता का अहं पूर्णतः खण्डित हो गया। जहाँ 'आषाढ़ का एक दिन' अपनी भावुकतापूर्ण तीव्रता में समाप्त होता है, वहाँ 'लहरों के राजहंस' में नन्द आधुनिक भावबोध का प्रतिनिधित्व करता है। संशयशील, अकेली और अनिर्णीत स्थिति में पड़ा हुआ भी वह एक किरण की तलाश में है। 'आषाढ़ 'आषाढ़ का एक दिन' की भावुकता से मुक्त होने का यह प्रयास निश्चय ही प्रशंसनीय है।

'आधे-अधूरे' राकेश का तीसरा नाटक है, जो उनकी विकास-यात्रा की अगली मंज़िल का सूचक है। इसमें इतिहास के आधार को छोड़कर समाज की विसंगतियों से सीधे जूझने का प्रयास है। वैवाहिक जीवन की मध्यवर्गीय विडम्बनाओं के कारण परिवार का प्रत्येक व्यक्ति आधा-अधूरा रहकर अपने-अपने ढंग का संत्रास भोगता है। नाटककार ने संत्रास के मूल कारणों की खोज की है। यह विडम्बना आर्थिक-मनोवैज्ञानिक दोनों प्रकार की है। प्रत्येक पात्र की नियति वृत्तात्मक है—सभी लोग पारस्परिक आकर्षण-विकर्षण से निकट-दूर जाते हुए बाहर जाकर भी वापस लौटने की नियति से बाध्य हैं। इस वृत्तात्मकता के फलस्वरूप नाटक आद्यन्त तनावपूर्ण बना रहा है। यह तनाव राकेश के पिछले नाटकों के तनावों से भिन्न है। पिछले दोनों नाटक बहुत-कुछ रोमैंटिक हो गये हैं, किन्तु इसमें रोमांस की छुवन भी नहीं है। फिर भी, अपने आन्तरिक तनावों के कारण सहृदय इसके साथ एकतान बना रहता है। इसकी भाषा और कथोपकथन में अद्‌भुत संयम है, जो यथार्थ को नाटकीय ढंग से वहन करने में पूर्ण समर्थ है। संवादों की लयात्मकता में बहुत वैविध्य नहीं है; यद्यपि लड़के की वाणी में काट खानेवाला पैना व्यंग्य है। भाषा, लय और नाटकीय संयम तनाव को गहराते जाते हैं। अन्त में अपने समापन के साथ, छाया-प्रकाश के माध्यम से, सारा वातावरण संवेदना से आप्लावित हो उठता है।

छायावादोत्तर काल के प्रमुख नाटककारों की उपलब्धियों के उपर्युक्त सर्वेक्षण के अनन्तर 'अन्धा-युग' के अतिरिक्त विरचित गीतिनाट्यों पर विचार कर लेना भी उचित होगा। सुमित्रानन्तन पन्त के गीतिनाट्य 'रजतशिखर', 'शिल्पी' और 'सौवर्ण' में संगृहीत हैं; जिनमें सांस्कृतिक और कलात्मक धरातल तो है, पर वे न गीति बन सके हैं न नाट्य। सेठ गोविन्ददास-कृत 'स्नेह या स्वर्ग' (१९४६)-यूनान के एक पौराणिक आख्यान पर आधारित गीतिनाटक है जिसमें नारी के जागरूक व्यक्तित्व का भारतीय शैली में चित्रांकन हुआ है। गिरिजाकुमार माथुर का 'कल्पान्तर' भी सैद्धान्तिक और सूचनापरक होने के कारण रचनात्मक नहीं बन सका। 'सृष्टि की साँझ और अन्य काव्य-नाटक' में सिद्धनाथ कुमार के पाँच गीतिनाट्य संगृहीत हैं—सृष्टि की साँझ, लौह देवता, संघर्ष, विकलांगों का देश और बादलों का शाप। इनमें समसामयिक समस्याएँ गृहीत हैं, किन्तु गहन आन्तरिक उद्वेलन के अभाव के फलस्वरूप ये गीतिनाटक फ़ार्मूलाबद्ध होकर सरलीकरण की ओर उन्मुख रहे हैं। दुष्यन्तकुमार के गीतिनाटक 'एक कण्ठ विषपायी' (१९६३) की कथा दक्ष-यज्ञ के समय पति के अपमान को देखकर सती के दग्ध होने पर आधारित है। सती-दाह के समाचार से शंकर देवताओं से युद्ध करने के लिए तैयार हो जाते हैं, किन्तु विष्णु के बीच-बचाव, स्थूल गांधीवाद, नैतिकता आदि के कारण नाटकीय संघर्षों के लिए इसमें विशेष अवकाश नहीं रह पाया। भाषा की सपाटता न तो नाटकीय बिम्बों की सृष्टि कर पायी है और न वर्णनात्मकता से आगे बढ़कर क्रियात्मकता को उभार सकी है। कथानक का संयोजन इस ढंग से किया गया है कि मानवीय संघर्षशील स्थितियों के लिए अवकाश ही नहीं रह गया है।

अन्य नाटककार : छायावादोत्तर काल के अन्य नाटककारों में सेठ गोविन्ददास, लक्ष्मीनारायण मिश्र, हरिकृष्ण 'प्रेमी', गोविन्दवल्लभ पन्त, उदयशंकर भट्ट, जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' प्रभृति पुराने खेवे के नाटककारों का उल्लेख अपेक्षित है। सेठ गोविन्ददास ने 'कर्ण' (१९४२) 'शशिगुप्त' (१९४२), आदि पौराणिक-ऐतिहासिक नाटकों और 'हिंसा और अहिंसा' (१९४०), 'सन्तोष कहाँ' (१९४१) आदि सामाजिक नाटकों की रचना की है जिनमें यथार्थ का तीखापन उतना नहीं है, जितना कि आदर्श का स्वारस्य है। लक्ष्मीनारायण मिश्र द्वारा रचित

'अपराजित' और 'चक्रव्यूह' पौराणिक नाटकों की परम्परा में महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें मनोविज्ञान के साथ ही भारतीय जीवन-दृष्टि के प्रति अविचल श्रद्धा भी मिलती है। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने मुख्यतः मध्यकालीन ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर नाट्यरचना की है, जिनमें 'आहुति' (१९४०), 'स्वप्नभंग' (१९४०), 'विषपान' (१९४५), 'साँपों की सृष्टि', 'उद्धार' आदि उल्लेखनीय हैं। 'अमृत पुत्री' (१९७२) उनका नवीनतम ऐतिहासिक नाटक है जिसमें राष्ट्रीय एकता पर बल देने के निमित्त सिकन्दर के आक्रमण-काल के भारत का चित्रण हुआ है। 'बन्धन' (१९४०) और 'छाया' (१९४१) प्रेमी-जी के प्रमुख समस्यामूलक सामाजिक नाटक हैं जिनमें जीवन की कटुता का चित्रण होने पर भी परम्परावादी ढंग से समाधान खोजने पर अधिक बल रहा है।

गोविन्दवल्लभ पन्त ने आलोच्य युग में दो उल्लेखनीय नाटकों की रचना की—'सुहाग बिन्दी' (१९४०) उनका प्रसिद्ध सामाजिक नाटक है और 'ययाति' (१९४७) की रचना पौराणिक कथा-सन्दर्भ में हुई है। स्वच्छन्दतावादी रचना-शिल्प के प्रभावस्वरूप भावुकता, कल्पना और कवित्वपूर्ण शैली उनके नाटकों की मुख्य विशेषताएँ रही हैं; किन्तु इन्हीं के कारण जीवन की विसंगतियों की सही पकड़ भी उनके द्वारा सम्भव नहीं हो सकी है। उदयशंकर भट्ट के नाटकों में 'शक विजय' (१९५३), 'क्रान्तिकारी' (१९५४), 'नया समाज' (१९५५) और 'पार्वती' (१९६०) मुख्य हैं जिनमें बौद्धिकता, मनोविज्ञान और यथार्थमूलक व्यंग्य के साथ ही आदर्शवादी तथा स्वच्छन्दतावादी नाट्यशैली को भी अनेकशः परिलक्षित किया जा सकता है। जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' के नाटकों में भी लगभग इन्हीं प्रवृत्तियों का समावेश मिलता है—'समर्पण' (१९५०) बुद्धिवाद से प्रेरित समस्यामूलक सामाजिक नाटक है, तो 'गौतम नन्द' (१९५२) में ऐतिहासिक घटना-सन्दर्भ को रोमानी कल्पना से अलंकृत करके प्रस्तुत किया गया है जिसके फलस्वरूप नाटकीय द्वन्द्व की तीव्रता अपने सही रूप में नहीं उभर पायी है।

छायावादोत्तर काल की अन्य नाट्यकृतियों को स्थूल रूप से तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है—१. स्वतन्त्र भारत में व्याप्त भ्रष्टाचार से सम्बद्ध नाटक, २. पीढ़ीगत संघर्षों का नैतिक मूल्यों से सम्बद्ध नाटक, ३. चीनी आक्रमण से सम्बद्ध नाटक। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत चन्द्रगुप्त विद्यालंकार के 'न्याय की रात' और विनोद रस्तोगी के 'आज़ादी के बाद' तथा 'नया हाथ' नाटकों की गणना की जा सकती है। 'न्याय की रात' समाज को विघटित करनेवाले भ्रष्टाचारियों और स्वयं समाज के द्वन्द्व पर आधारित है, इसलिए इसमें संघर्ष की स्थितियाँ अधिक स्वाभाविक और विश्वसनीय बन पड़ी हैं। पर बाह्य व्यापारों की बहुलता इसके निर्माण पक्ष को दुर्बल बना देती है। 'आज़ादी के बाद' का नायक आर्थिक-सामाजिक वैषम्य को दूर करने और शोषण से मुक्ति पाने के लिए कटिबद्ध है। 'नया हाथ' का नायक भी रूढ़ नैतिकता और झूठी मर्यादा का विरोध करता है। दोनों नाटकों पर गांधीवादी जीवन-दर्शन का प्रभाव है, किन्तु बाह्य संघर्षों और विचारों की इतिवृत्तात्मक बहुलता के कारण न तो इनमें नाटकीय स्तर की गहनता मिलती है और न ये आधुनिक बोध से सम्पृक्त हो पाये हैं। दूसरे वर्ग के नाटकों में नरेश मेहता के 'सुबह के घण्टे' और 'खण्डित यात्राएँ' शीर्षक नाटकों तथा मन्नू भण्डारी के 'बिना दीवार का घर' का उल्लेख किया जा सकता है। 'खण्डित यात्राएँ' में पुरानी पीढ़ी की यातना ज़रूर उभरती है, पर उसकी आन्तरिक संघटना बेहद कमज़ोर है। मन्नू भण्डारी का 'बिना दीवारों का घर' में पति-पत्नी के बीच जो तनाव पैदा हुआ है, उसका आधार पुष्ट और विश्वसनीय है

क्योंकि आज के युग में पढ़ी-लिखी पत्नी के प्रति पति का इर्ष्यालु हो जाना स्वाभाविक है। तीसरे वर्ग की रचनाओं में शिवप्रसाद सिंह ने 'घाटियाँ गूँजती हैं' में चीन-भारत-युद्ध का व्यापक फलक लिया है। इसमें भिन्न-भिन्न व्यक्तियों पर इस परिवेश के अलग-अलग ढंग से प्रभाव के साथ ही उनकी क्रियाशीलता भी चित्रित है, किन्तु आदर्शवादी दृष्टिकोण और टिप्पणियों के कारण नाटककार की वैचारिकता आन्तरिकता में नहीं बदल पायी। ज्ञानदेव अग्निहोत्री ने 'नेफा की एक शाम' में चीनी आक्रमण के प्रतिरोध में आदिवासियों के संघटन और गोरिल्ला-युद्ध-पद्धति की सार्थकता सिद्ध की है, किन्तु पिटे आदर्शों की बहुलता और परिवेश की मुखरता के कारण यह नाटक भी सामान्य स्तर से ऊपर नहीं उठ सका।

आधुनिकता की प्रक्रिया को महत्त्व देनेवाले रंग-नाटकों में विपिनकुमार के 'तीन अपाहिज' (१९६३), ज्ञानदेव अग्निहोत्री के 'शुतुरमुर्ग़' (१९६८), गिरिराज किशोर के 'नरमेध', सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी' (१९७०) और सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के 'बक़री' का उल्लेख भी आवश्यक है। इनमें वर्तमान जीवन में-व्याप्त अऩास्था, उद्देश्यहीनता और विसंगतियों को अत्यन्त सशक्त अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है जिसके लिए इन नाटककारों ने यथार्थ-बोध और व्यंग्य को बड़े ही सहज ढंग से अपनाया है।

हिन्दी-साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक का विकास मन्द गति से हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। इसके दो कारण प्रतीत होते हैं; एक तो मंच का अभाव और दूसरा, स्वयं इस विधा का अपना स्वरूप। दूसरे तथ्य को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। नाटक का सीधा सम्बन्ध समूह, जाति और देश से होता है। यदि आज की बहुत-सी कहानियों, उपन्यासों और कविताओं का अनुवाद कर दिया जाय; तो वे कथ्य और रूप-विन्यास में विदेशी लगने लगेंगे। किन्तु, एक भी नाटक ऐसा नहीं मिलेगा जिसके सम्बन्ध में यह कहा जा सके। अन्य विधाओं को पाठक की उतनी चिन्ता नहीं रहती, पर नाटककार के सामने सामाजिक बराबर बना रहता है। फलस्वरूप नाटक अपनी परम्परा से विच्छिन्न नहीं हो सका और हो भी नहीं सकता। इसलिए अपनी मन्द प्रगति के बावजूद नाटक के विकास की काफ़ी सम्भावनाएँ हैं। जगदीशचन्द माथुर, धर्मवीर भारती और मोहन राकेश के नाटकों ने जहाँ हिन्दी-नाट्य साहित्य को नयी दिशाएँ दी हैं; वहाँ अनेक भारतीय और विदेशी भाषाओं के नाटकों के अनुवादों का भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण योग है।

एकांकी नाटक

छायावाद-युग तक हिन्दी-एकांकी दो सीमान्त पार कर चुका था। १९३६ ई० में दिल्ली में और १९३८ ई० में लखनऊ में आकाशवाणी के अस्तित्व में आने के फलस्वरूप पहले उर्दू-लेखकों और फ़िर १९४० ई० के लगभग हिन्दी-लेखकों को भी रेडियो पर एकांकियों के प्रसारण का अवसर प्राप्त हुआ। इसके पूर्व 'हंस' के एकांकी नाटक-विशेषांक (मई, १९३८) को लेकर एकांकी के सम्बन्ध में अच्छा-खासा विवाद उठ खड़ा हुआ था। इसमें हिन्दी के आठ एकांकी प्रकाशित हुए थे। इसी अंक में चन्द्रगुप्त विद्यालंकार का एक विस्तृत पत्र प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने साहित्य में एकांकी का कोई स्थान स्वीकार नहीं किया : "मेरी स्थापना यह है कि एकांकी नाटक की कोई निश्चित और निजी (जो और किसी की न हो) टेकनीक न तो अभी तक बन पायी है और न बन सकती है।" इसी अंक में उपेन्द्रनाथ अश्क ने एकांकी को नाटक, कहानी और संभाषण से पृथक् एक स्वतन्त्र विधा के रूप में स्वीकृति दी। किन्तु, जैनेन्द्र ने इसके विरुद्ध अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए लिखा : "भारत में

कांकी परिस्थितियों की सहज उपज नहीं है—विलायतवाले अपनी जानें। उनके हालात हाँ से जुदा हैं।... किसी बाह्य रूप को, जब तक वह अन्तःप्रेरित न हो, खींच लाने का ाग्रह जरूरी नहीं है।" इसे उन्होंने अनुसरण के रूप में ओढ़ा हुआ बताया, जबकि 'हंस' के म्पादक ने उनकी बातों का खण्डन किया। १९४० ई० में इस विवाद को 'वीणा' में पुनः ठाया गया, जिससे स्पष्ट है कि तब तक हिन्दी-एकांकी अपने अस्तित्व के लिए ही संघर्ष रता रहा था। किन्तु, इसके बाद उसे स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में स्वीकार कर लिया गया। यह उल्लेखनीय है कि भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, अश्क, ठ गोविन्ददास, जगदीशचन्द्र माथुर आदि एकांकी-लेखन का समारम्भ प्रायः १९३५-३६ लगभग कर चुके थे; पर इनमें से अधिकांश के मुख्य एकांकी-संकलन १९४० ई० के ाद ही प्रकाशित हुए।

छायावादोत्तर काल में भुवनेश्वर के कुछ ही एकांकी प्रकाशित हुए, जैसे—ताँबे के ीड़े, आज़ादी की नींद, सिकन्दर आदि। किन्तु, रामकुमार वर्मा के अधिकांश एकांकी-संग्रह —रेशमी टाई, चारुमित्रा, विभूति, सप्तकिरण, रूपरंग, रजत रश्मि, दीपदान, ऋतुराज, रिमझिम, इन्द्रधनुष, पांचजन्य, कौमुदी महोत्सव, मयूरपंख, जुही के फूल आदि—१९४० ई० के बाद के प्रकाशन हैं। वर्मा जी के एकांकियों का मूल स्वर आदर्शवादी है। उनकी काव्यात्मक अलंकृत शैली के कारण आदर्शवाद और भी मुकम्मल हो गया है। मोटे तौर पर उनके एकांकियों को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय दम्पती के बीच उठनेवाली प्रेम-सेक्स की समस्याओं से सम्बद्ध एकांकी और ऐतिहासिक एकांकी। दोनों की विषयवस्तु दो हैं, पर परिणति एक ही है—आदर्श की स्थापना। इस आदर्शवाद को छायावादी प्रगीतों की टेक समझना चाहिए। छायावादी स्वातन्त्र्य के और पीछे जाकर वर्मा जी नारी को मध्यकालीन आदर्शों की जंजीरों में बाँधने के पक्षपाती हैं। 'एक्ट्रेस' की प्रभात कुमारी, 'परीक्षा' की अल्पवयस्का पत्नी, '१८ जुलाई की शाम' की शिक्षिता उषा, 'रेशमी टाई' की ललिता आदि पति के सम्मान तथा कथित भारतीय आदर्श की रक्षा करती दिखायी पड़ती हैं। नवीन शिक्षा और परिवेश के कारण नारी का अपना व्यक्तित्व बनता-बनता भी पुरातनता के केंचुल को न छोड़ पाने के कारण नहीं बन पाता। उनके ऐतिहासिक एकांकियों में भी त्याग, उदारता, क्षमा, बलिदान, सेवा आदि को स्थूल ढंग से उभारा गया है। इस आदर्शवाद पर गांधीवाद का प्रभाव भी माना जा सकता है, किन्तु गांधी जी का आदर्श जिस राष्ट्रीय सन्दर्भ को समेटे हुए है, उससे वर्मा जी के एकांकी असम्पृक्त हैं। स्पष्ट है कि सपाट आदर्शवादिता की टेकनीक भी सपाट होगी। आरम्भ, कुतूहल, संकलन-त्रय, चरमोत्कर्ष आदि को वर्मा जी ने अति सामान्य (ओवर सिम्प्लीफ़ाइड) ढंग से परिगृहीत किया है। आदर्शवादिता का विस्तार और सपाट विश्लेषण उनके एकांकियों की गत्वरता, सघनता, क्षिप्रता और नाटकीयता के आड़े आते हैं। एकांकी नाटकों के क्षेत्र में वर्मा जी का ऐतिहासिक महत्त्व है, स्थायी महत्त्व नहीं।

उदयशंकर भट्ट ने १९३८ ई० के लगभग एकांकी-लेखन आरम्भ किया था, यों उनका प्रथम एकांकी-संग्रह 'अभिनव एकांकी' १९४० में प्रकाशित हुआ था। 'स्त्री का हृदय', 'चार एकांकी', 'समस्या का अन्त', 'धूमशिखा', 'अन्धकार और प्रकाश', 'आदिम युग', 'पर्दे के पीछे', 'आज का आदमी', 'सात प्रहसन' आदि उनके अन्य एकांकी-संकलन हैं। भट्ट जी ने अपने एकांकियों को नवजीवन की ज्वलन्त समस्याओं से जोड़ने की कोशिश की है। उनकी दृष्टि में नाटकों में रस-संचार के अतिरिक्त किसी सुनिश्चित सामाजिक उद्देश्य का रहना बहुत आवश्यक है।

उच्च और मध्यवर्ग की विडम्बनाओं पर गहरी चोट करना उनकी विशेषता है। 'नेता', 'उन्नीस और पैंतीस', 'वर निर्वाचन' आदि एकांकियों में मध्यवर्ग के नक़ली चेहरे को उतार फेंकने में उन्होंने बड़े कौशल से। काम लिया है। 'नेता' में नेतृवर्ग की पर-उपदेश-कुशलता, 'उन्नीस और पैंतीस' में आज की शिक्षा-पद्धति के खोखलेपन और 'बड़े आदमी की मृत्यु' में तथाकथित बड़े लोगों की हृदयहीनता, कठोरता तथा अमानवीयता को उघाड़ा गया है। 'पर्दे के पीछे' अधिकांश एकांकियों की विषयवस्तु यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भी लोग पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से चिपके हुए हैं और भारतीय मूल्यों के प्रति उनकी अनास्था बनी हुई है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भट्ट जी सांस्कृतिक पुनरुत्थानवाद में विश्वास रखते हैं, वस्तुतः उनकी आस्था नये-पुराने मूल्यों के सन्तुलन में है। 'आदिम युग', 'प्रथम विवाह', 'वैवस्वत मनु' आदि उनके पौराणिक एकांकी हैं। इन एकांकियों को उन्होंने सांस्कृतिक चित्रण माना है, पर 'चित्रण' पर ज़ोर देने के फलस्वरूप इनमें नाटकीय तन्त्र कमज़ोर हो गया है।

हिन्दी-एकांकीकारों में **उपेन्द्रनाथ अश्क** का विशिष्ट स्थान है। 'देवताओं की छाया में', 'चरवाहे', 'पक्का गाना', 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', 'अन्धी गली', 'साहब को जुकाम है', 'पच्चीस श्रेष्ठ एकांकी' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। अश्क ने अपने एकांकियों की विषयवस्तु का चुनाव जीवन के अनेक क्षेत्रों से किया है, किन्तु उनका मुख्य क्षेत्र पारिवारिक जीवन है। उदाहरण के लिए 'लक्ष्मी का स्वागत', 'पापी' और 'सूखी डाली' शीर्षक एकांकियों को लिया जा सकता है। पहले दो एकांकी तो सामान्य हैं, पर 'सूखी डाली' में आज की कौटुम्बिक प्रणाली को नये दृष्टिकोण से देखा गया है। 'वस्तु' को नाटकीय बनाने और तनावों का सृजन करने में शैली-विन्यास और मंचीय विशेषताओं ने पूरा योग दिया है। किन्तु जिन एकांकियों में उनकी प्रवृत्ति रोमानी भावुकता और स्थूल समाधान प्रस्तुत करने की ओर रही है, वहाँ वे प्रायः लड़खड़ा गये हैं। अश्क ने 'जोंक', 'आपस का समझौता', 'विवाह के दिन' आदि कुछ प्रहसन भी लिखे हैं। उनके प्रहसन दिलचस्प हैं, पर व्यंग्य की क्षमता का इनमें अभाव है। 'विवाह के दिन' को उन्होंने व्यंग्य की संज्ञा दी है, पर इसमें विपदूकत्व की प्रमुखता है। अभिनेयता के प्रति अश्क काफ़ी सजग रहे हैं, पर लम्बे रंग-निर्देश अभिनेयता में कदाचित् ही कोई योग देते हों। कथोपकथन की सादगी, स्पष्टता और साफ़गोई उनकी निजी विशेषताएँ हैं। एमेचर रंगमंच पर उनके एकांकी सफलतापूर्वक अभिनीत हो चुके हैं।

सेठ गोविन्ददास कर्मठ राजनीतिक कार्यकर्ता और सरस्वती के आराधक थे। 'सप्तरश्मि', 'एकादशी', 'पंचभूत', 'चतुष्पथ' आदि उनके एकांकी-संग्रह हैं। यों उन्होंने कुछ ऐतिहासिक एकांकियों की भी रचना की है, किन्तु उनके एकांकी मुख्यतः राजनीतिक-सामाजिक हैं। पर ये एकांकी नाटकीय स्थितियों, तनावों, मोड़ों आदि से सम्पृक्त नहीं हो पाये हैं। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के एकांकी-संकलन हैं—'मातृ मन्दिर', 'राष्ट्र मन्दिर', 'मान मन्दिर', 'न्याय मन्दिर', 'वाणी मन्दिर' आदि। किन्तु, इन 'मन्दिरों' में जो मूर्तियाँ स्थापित की गयी हैं उनमें प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की जा सकी है। जगदीशचन्द्र माथुर के दो एकांकी-संग्रहों—'भोर का तारा' और 'ओ मेरे सपने' में जीवन की नवीन समस्याओं को रूपायित किया गया है। पुराने खेवे के एकांकीकारों में लक्ष्मीनारायण मिश्र (अशोक वन, १९५०), गोविन्दवल्लभ पन्त (विषकन्या, १९५९) और भगवतीचरण वर्मा ने भी कुछ प्रभावशाली एकांकियों की रचना की है।

इधर के एकांकीकारों में **विष्णु प्रभाकर** ने आदर्शवाद, सांस्कृतिक चेतना, नैतिक मूल्यों और मनोविज्ञान को दृष्टि में रखकर सामाजिक एकांकियों की रचना की है। उनके

कांकी-संग्रह हैं—प्रकाश और परछाइँ, इन्सान, बारह एकांकी, क्या वह दोषी था, दस बजे त, ऊँचा पर्वत गहरा सागर तथा ये रेखायें ये दायरे। लक्ष्मीनारायण लाल, धर्मवीर रती (नदी प्यासी थी), मोहन राकेश (अंडे के छिलके), भारतभूषण अग्रवाल, विनोद तोषी, विमला लूथरा, रेवतीसरन शर्मा, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर (उमर क़ैद), रंजीत, सिद्धनाथ कुमार आदि ने एकांकियों और रेडियो-एकांकियों की रचना की है। में से लक्ष्मीनारायण लाल ही ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इस विधा को गम्भीरतापूर्वक लिखा। उनके एकांकी-संग्रह हैं—ताजमहल के आँसू, पर्वत के पीछे, नाटक बहुरंगी, और दूसरा वाजा। सामाजिक जीवन की यथार्थ अभिव्यक्ति, समस्याओं का सूक्ष्म समाधान और मंचीय सार्थकता उनके एकांकी नाटकों की सहज उपलब्धियाँ हैं।

उपन्यास

प्रेमचन्द्र के उपरान्त हिन्दी-उपन्यास कई मोड़ों से गुज़रता हुआ दिखायी पड़ता है, न्हें स्थूल रूप से तीन दशकों में बाँटा जा सकता है—१९५० ई० तक के उपन्यास, १९५० १९६० तक के उपन्यास और साठोत्तरी उपन्यास। पहला दशक मुख्यतः फ्रायड और र्क्स की विचारधारा से प्रभावित है, दूसरा प्रयोगात्मक विशेषताओं से और तीसरा धुनिकतावादी विचारधारा से। पहले दशक में फ्रायड से प्रभावित होकर जिस कथा-हित्य की रचना की गयी, उसकी पृष्ठभूमि जैनेन्द्र पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे। जहाँ प्रेम-द ने समाज के साथ व्यक्ति के एकीकृत (एडजस्ट) होने के प्रश्न को अधिक महत्त्व दिया, हाँ जैनेन्द्र ने व्यक्ति की गुम होती हुई पहचान को उभारकर सामने रखा। उनके उपन्यासों अनमेल विवाह या दहेज-प्रथा जैसी समस्याएं नहीं हैं, बल्कि विवाह स्वयं में एक समस्या ; क्योंकि सारी अनिश्चतताएँ उसके बाद आरम्भ होती हैं! किन्तु, जिस मुक्ति की मस्या पर उन्होंने बल दिया, उसके आड़े आते हैं रूढ़ संस्कार; और इस प्रकार जैनेन्द्र का त्येक उपन्यास अन्तर्विरोधों का उपन्यास बन गया है। आलोच्य युग में प्रकाशित नके उपन्यासों—कल्याणी, सुखदा, विवर्त, व्यतीत, जयवर्धन आदि—में यह प्रवृत्ति मनो-ज्ञान, दार्शनिकता, वैयक्तिकता आदि के माध्यम से विविध रूपों में उभरी है। उनके नारी-त्र यदि एक ओर समाज की मर्यादाओं को बनाये रखना चाहते हैं, तो दूसरी ओर अपने स्तित्व की पहचान भी करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में आत्म-यातना के अतिरिक्त और ोई राह शेष नहीं रहती। उनके पात्र समाज को न तोड़कर स्वयं टूटते हैं, किन्तु अपने को ोड़कर किसी को निर्मित नहीं करते। नियति, ईश्वर, धर्म आदि में अटूट आस्था उनके पन्यासों को आधुनिक नहीं बनने देती—वे रोमैंटिक 'एगोनी' का रूप ले लेते हैं।

अज्ञेय-कृत 'शेखर : एक जीवनी' (१९४१) के प्रकाशन के साथ हिन्दी-उपन्यास की दिशा में एक नया मोड़ आया। इस उपन्यास को लेकर आलोचकों में भारी मतभेद रहा। किसी ने इसे प्रकाशमान पुच्छल तारा कहकर प्रशंसा की, तो किसी ने अतिशय आत्मकेन्द्रित बताकर इसके. कथानक को असम्बद्ध और विशृंखलित माना। इन विरोधी सम्मतियों से सिद्ध होता है कि कथ्य, शिल्प और भाषा की दृष्टि से यह परम्परा से हटकर एक नया प्रयोग था। जिसे आज आधुनिकता की संज्ञा दी जाती है, उसका सर्वप्रथम समावेश इसी उपन्यास में दिखायी देता है। इसका मूल मन्तव्य है—स्वतन्त्रता की खोज। यह खोज अपने को सबसे काटकर नहीं की गयी है, बल्कि अन्य सन्दर्भों में यानी मानवीय परिस्थितियों के ोज की गयी है। उसकी तलाश में शेखर अनेक प्रकार के आन्तरिक संघर्षों से जूझता

और भीतरी तनावों से गुज़रता है, किन्तु अपने निषेधात्मक रोमैंटिक विद्रोह को लेकर वह बहिर्मुखी नहीं हो पाता। फलस्वरूप सारा संघर्ष मौखिक होकर रह जाता है, क्रिया (ऐक्ट) में नहीं बदलता। वैसे, शेखर के विद्रोह के पीछे आज की पीढ़ी का विद्रोही स्वर है। वह कान्वेंट से छुटकारा पा लेता है, घर पर आये ट्यूटर को भगा देता है, 'टाइप' न बनकर अपनी निजी सम्भावनाओं को अन्वेषित करना चाहता है और शादी में भी माँ-बाप के खिलाफ़ अपने निजी चुनाव का पक्षधर है।

'शेखर : एक जीवनी' के दूसरे खण्ड में अधिक व्यवस्था है। पहले भाग का विद्रोह सृजन की भूमिका मालूम पड़ता है क्योंकि इसमें उसका बिखरा व्यक्तित्व संघटित होकर रचनात्मक बनता है; किन्तु राष्ट्र, राष्ट्रीयता, भाषा आदि के सम्बन्ध में उसके विचार क्रियात्मकता से न जुड़ने के कारण सतही प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर शशि और शेखर के सम्बन्ध को लेकर जो आपत्तियाँ उठायी जाती हैं, वे नैतिक अधिक हैं वास्तविक कम! स्मरण रखना चाहिए कि शेखर विद्रोही है और समाज द्वारा निर्मित प्रतिमान उसे सह्य नहीं है। जिस प्रामाणिक अनुभूति की चर्चा आज की रचनाओं के सन्दर्भ में की जाती है, वह इस उपन्यास में पहली बार मिलती है। शेखर अपनी अनुभूतियों को निश्छल अभिव्यक्ति देता है—जो परिदृश्य उसके अनुभव के भीतर नहीं आया, वह इस उपन्यास में भी नहीं आया है। यह शेखर की कमज़ोरी और उपन्यासकार की ईमानदारी है। काल की दृष्टि से भी यह उपन्यास प्रयोगधर्मी है। इसमें एक रात में देखे गये विज़न को शब्दबद्ध करने का प्रयास है, फलस्वरूप परम्पराभुक्त काल-क्रमिकता के स्थान पर इसमें अनुभूति के टुकड़ों को जहाँ-तहाँ से उठा लिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि चेतना-प्रवाह, प्रतीकात्मकता और भाषा की आन्तरिकता के कारण यह उपन्यास अपने में अप्रतिम है, पर एक तो रोमैंटिक आवेग के कारण और दूसरे, अहंकेन्द्रित होने के फलस्वरूप इसका विज़न रचनात्मक बनते-बनते रह गया है।

अज्ञेय के दूसरे उपन्यास 'नदी के द्वीप' (१९५१) को सामान्यतः शेखर की संवेदना का विकास माना जाता है। शेखर और भुवन तथा रेखा और शशि में एक तरह का सादृश्य लगता है, पर इस पर ज़ोर नहीं देना चाहिए—'नदी के द्वीप' को स्वतन्त्र कृति के रूप में मूल्यांकित करना अधिक संगत है। शेखर की तुलना में भुवन की तेजस्विता कृत्रिम, आरोपित और अविश्वसनीय है। वह ठीक ढंग से स्थित (सिचुएट) नहीं हो पाता, फलस्वरू आत्म-केन्द्रित और दम्भी बन जाता है। 'शेखर : एक जीवनी' की शशि भी 'सिचुएटेड' चरित्र है, पर रेखा कहीं भी संदर्भित नहीं है। इसलिए उसकी बौद्धिक ऊँचाई स्वयं नदी का द्वीप है, प्रवाह से अलग। 'नदी के द्वीप' का प्रतीक पूर्णतः अर्थवान् नहीं बनता क्योंकि प्रवाह उसे काटता-छाँटता, उसकी रूपरेखा को बदलता चलता है; कभी-कभी तो उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर देता है। इसके सभी पात्र रेखा पर—सीधी रेखा पर—चलने के कारण बदलाव से नहीं टकराते। इस उपन्यास की भाषा, शिल्प, रूप-विन्यास आदि की काफ़ी प्रशंसा की गयी है किन्तु भाषा के प्रति अतिरिक्त सावधानी और रचाव का ही यह फल है कि जहाँ 'शेखर : एक जीवनी' की भाषा अपने अनगढ़पन के बावजूद सर्जनात्मक बन पड़ी है, उसका विन्यास बिखरकर भी संघटित हो जाता है; वहाँ 'नदी के द्वीप' के संघटन में ही कुछ ऐसी रिक्तता है कि उसका शिल्प वांछित प्रभाव नहीं डाल पाता। 'अपने-अपने अजनबी' अज्ञेय का तीसरा उपन्यास है जिसमें एक प्रकार की धार्मिक दृष्टि-सम्पन्नता दिखायी पड़ती है। पहले दोनों उपन्यासों में यौन-कल्ट की स्थापना के साथ-साथ उन्होंने मसीहाई दृष्टिकोण भी अपनाया है, 'अपने-अपने अजनबी' इसी की फलश्रुति है। इसमें मुख्य समस्या स्वतन्त्रता के वरण की है

जो संत्रास, अकेलेपन, बेग़ानगी, मृत्यु-बोध, अजनबीपन आदि से सहज ही संयुक्त हो गयी है। स्वतन्त्रता के अहंकार से जोड़कर अज्ञेय ने इसमें अस्तित्ववादी स्वतन्त्रता के मूल अर्थ को ही बदल दिया है।

जैनेन्द्र और अज्ञेय फ्रायड के मनोविज्ञान से प्रभावित हैं, तो इलाचन्द्र जोशी उसके मनोविश्लेषण से। यद्यपि उनका पहला उपन्यास 'घृणामयी' सन् १९२९ में ही प्रकाशित हो चुका था, किन्तु 'संन्यासी' (१९४१) के द्वारा ही उन्हें उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठा मिली। इस उपन्यास में ही पहली बार मनोविश्लेषणात्मक पद्धति की विवृति देखी जाती है। संन्यासी के अतिरिक्त उनके 'पर्दे की रानी' (१९४१), 'प्रेत और छाया', 'निर्वासित' (१९४६), 'मुक्तिपथ' (१९५०), 'जिप्सी', 'जहाज का पंछी' (१९५५), 'ऋतुचक्र', 'भूत का भविष्य' (१९७३) आदि उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। जोशी जी के उपन्यासों की विकास-यात्रा में 'मुक्तिपथ' एक मोड़ की सूचना देता है। इसके पूर्ववर्ती उपन्यास ग्रन्थियों के विश्लेषण पर आधारित हैं—उनकी भाव-भूमियाँ एकांगी, संकुचित और छोटी हैं। 'मुक्तिपथ' और उसके बाद के उपन्यासों में परिदृश्य का विस्तार और सामाजिकता का समावेश दिखायी पड़ता है। फिर भी, वे कहीं भी मनोविश्लेषणात्मक प्रवृत्ति और छायावादी संस्कारों से उबर नहीं पाते। 'संन्यासी', 'पर्दे की रानी' और 'प्रेत और छाया' में अबनार्मल चरित्रों को लिया गया है। इनके मुख्य पात्र किसी-न-किसी मनोवैज्ञानिक ग्रन्थि के शिकार हैं। जब तक उन्हें ग्रन्थि का रहस्य नहीं मालूम होता तब तक वे अनेक प्रकार के असामाजिक कार्यों में संलग्न रहते हैं, किन्तु जिस क्षण उनकी ग्रन्थियों का मूलोद्घाटन हो जाता है, उसी क्षण वे सामान्य स्थिति में पहुँच जाते हैं। 'संन्यासी' में आत्महीनता की ग्रन्थि है, तो 'प्रेत और छाया' में इडिपस ग्रन्थि; और 'पर्दे की रानी' के पात्र भी मानसिक कुण्ठाओं से ग्रस्त हैं। फ्रायड के मनोविश्लेषण का मूलाधार काम-भावना है, उसी को केन्द्र में रखकर तीनों उपन्यासों के ताने-बाने बुने गये हैं। किन्तु, क्योंकि सभी पात्र मनोविश्लेषण के किताबी ढाँचे में ढाले गये हैं, फलस्वरूप वे अपने को स्वन्त्र रूप से विकिसित नहीं कर पाते; और इसीलिए ये उपन्यास सहज नहीं बन पड़े हैं।

'मुक्तिपथ', 'जिप्सी' और 'जहाज का पंछी' में जोशी जी ने सामाजिकता का भी सन्निवेश किया है। 'मुक्तिपथ' का नायक समाजवादी विचारधारा का व्यक्ति है और नायिका का दृष्टिकोण व्यावहारिक एवं व्यक्ति-सापेक्ष है। ठीक भी है, व्यक्ति की निजी भावनाओं को सर्वथा दबाकर सामाजिक कार्यों में पूरी सफलता नहीं मिल सकती। किन्तु, 'जहाज का पंछी' व्यक्ति और समाज की पारस्परिक असम्बद्धता का उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक ग्रन्थि से बाहर निकलकर समाज की बदबूदार गलियों का चक्कर लगाता है और निस्सहायों की सहायता करता है पर उसके कार्य परिस्थितिजन्य उतने नहीं हैं, जितने बौद्धिक हैं। उसका भटकाव उसी के द्वारा नियोजित है, परिस्थितियों द्वारा नहीं। 'ऋतुचक्र' में जोशी जी पुनः रोमानी प्रेम की ओर उन्मुख हो गये हैं मानो उनका प्रतिपाद्य यह है कि जीवन के चरम सत्य की उपलब्धि सेक्स में ही होती है। इसमें प्रेम के तीन आयामों का चित्रण है—आदिम गन्धों का प्रेम, अस्तित्ववादी प्रेम और इन दोनों की मध्यवर्ती स्थिति का प्रेम। कथा-संरचना और अभिव्यंजना-शिल्प, दोनों ही की दृष्टि से जोशी जी इसमें छायावादी संस्कारों से मुक्त नहीं हो सके हैं, और इसीलिए इसमें नये मूल्यों का सही ढंग से आकलन नहीं हो सका है।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों में अपनी विशिष्ट विचारधारा और सर्जनात्मक शक्ति

के कारण यशपाल ने स्वतन्त्र व्यक्तित्व बना लिया है। 'गोदान' में प्रेमचन्द ने आदर्शवाद से बहुत-कुछ मुक्त होकर जिस यथार्थवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया था, उसकी परम्परा को आगे बढ़ाने का श्रेय यशपाल को है। उनका प्रारम्भिक जीवन क्रान्तिकारी दल से सम्बद्ध था, फलस्वरूप मार्क्सवादी विचारधारा का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा। 'अमिता' और 'दिव्या' शीर्षक ऐतिहासिक उपन्यासों को छोड़कर उनके शेष उपन्यास समाजवादी यथार्थवाद का चित्र प्रस्तुत करते हैं। ये हैं—दादा कामरेड (१९४१), देशद्रोही (१९४३), पार्टी कामरेड (१९४६), मनुष्य के रूप (१९४९), झूठा सच (दो भाग, १९५८-१९६०)। 'दादा कामरेड' में पूँजीवाद, गांधीवाद और क्रान्तिकारियों के आतंकवाद का विरोध करते हुए समाजवाद का समर्थन किया गया है। स्त्री को वरण की स्वतन्त्रता देने का प्रश्न भी लेखक ने उठाया है। इस सन्दर्भ में शैला और हरीश के सम्बन्ध को लेकर नैतिकतावादी आलोचकों ने आपत्ति की है, किन्तु उपन्यास के लक्ष्य के अनुरूप नारी को यह स्वतन्त्रता तो देनी ही होगी। किन्तु, इस उपन्यास में कलात्मकता के अपेक्षित स्तर का अभाव है। 'देशद्रोही' सन् १९४१ की क्रान्ति से सम्बद्ध उपन्यास है। कलागत सतर्कता के बावजूद इसमें पात्रों को विभिन्न परिस्थितियों में फेंका गया है और फिर वहाँ से निकाला भी गया है, फलस्वरूप सारा आयोजन सहज न होकर आयासजन्य लगने लगता है। इसकी अपेक्षा 'पार्टी कामरेड' साफ़-सुथरा उपन्यास है, इसमें न तो काम-सम्बन्धी लिजलिजापन है और न सैद्धान्तिक अस्पष्टता। 'मनुष्य के रूप' में परिवर्तनशील मानवीय रूप के मूल में आर्थिक समस्या की भूमिका स्वीकार की गयी है और 'झूठा सच' की रचना राजनीतिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हुई है।

यशपाल में कथा कहने की अद्‌भुत क्षमता है, पर पूर्वनिर्मित विचारधारा को रूपायित करने की उत्कट प्रेरणा के फलस्वरूप उनके उपन्यासों की पात्र-स्थितियाँ और परिणतियाँ भी पूर्वनिर्मित हो गयी हैं। वस्तुतः वे प्रेम को कामेच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते; ऐसी स्थिति में वे अपने बाड़े के बाहर जीवन को बृहत्तर आयामों में देख पाने में असमर्थ रहे हैं। 'झूठा सच' के प्रकाशन ने सिद्ध कर दिया कि यशपाल बहुत विशाल फलक पर जीवन के विविध रूपों, आयामों, समस्याओं और जटिलताओं को अपने ढंग से प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। इसलिए इसे औपन्यासिक महाकाव्य की संज्ञा दी जा सकती है, यद्यपि इसमें जितनी व्याप्ति है उतनी गहराई नहीं है। यह उपन्यास 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' शीर्षक दो भागों में प्रकाशित हुआ है। देश-विभाजन की पृष्ठभूमि में इतनी बड़ी कृति की परिकल्पना और सामयिक सामाजिक-राजनीतिक वातावरण को यथासम्भव ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में चित्रित करना यशपाल के ही वश की बात थी। उपन्यास का पहला भाग देश के यथार्थ विघटन को रूपायित करता है, तो दूसरा संघटन को। विघटन का दृश्य उपस्थित करने के लिए जिस यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है, वह यशपाल को प्राप्त है। इसलिए प्रथम खण्ड अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक, यथार्थ और मार्मिक बन पड़ा है। संघटन के लिए यथार्थ की अपेक्षा विधायक कल्पना की आवश्यकता होती है। कहना न होगा कि यशपाल में इसकी कमी दिखायी पड़ती है और इसीलिए दूसरे खण्ड में चित्रित पात्रों की सफलताएँ सपाट हो गयी हैं। फिर भी, इस खण्ड में देशव्यापी भ्रष्टाचार को अत्यन्त निपुणता से चित्रित करते हुए विश्वसनीय बनाया गया है। किन्तु, दोनों भागों में कम्युनिस्ट पार्टी को जो तरजीह दी गयी है वह लेखक की पक्षधरता की सूचक है। यद्यपि इस उपन्यास में स्थान-स्थान पर भाषा विडम्बनात्मक (आइरेनिकल) होकर मार करनेवाली धार को और पैना बना देती है, किन्तु मार्क्सवाद को केन्द्रीय विपय-वस्तु मान

तेने तथा जीवन और जगत् को सीधी रेखा स्वीकार करने का फल यह हुआ है कि उन्हें सत्यान्वेषण में संलग्न होने और किसी जटिल मार्ग से गुज़रने की ज़रूरत नहीं पड़ी और न ही कलागत नवीन प्रविधियों का प्रयोग करना पड़ा। अपनी इन कमज़ोरियों के कारण 'झूठा सच' को अपेक्षित रचनात्मक ऊँचाई नहीं मिल सकी, फिर भी यह हिन्दी का महाकाव्यात्मक उपन्यास माना जायगा। यशपाल का नवीनतम उपन्यास 'मेरी तेरी उसकी बात' भारत के स्वतन्त्रता-पूर्व और स्वातन्त्र्योत्तर काल के सामाजिक-राजनीतिक जीवन पर आधारित है।

यशपाल की परम्परा के उपन्यासकारों में **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'** का नाम उल्लेखनीय है। 'चढ़ती धूप' (१९४५), 'नयी इमारत' (१९४६) 'उल्का' (१९४७) और 'मरुप्रदीप' (१९५१) उनके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। समाज, संस्कृति और राजनीति के सन्दर्भ में समकालीन परिवेश के विविध पक्षों को रूपायित करना इन उपन्यासों की मुख्य उपलब्धि है। किन्तु, यथार्थ के प्रति रुझान होने पर भी उपन्यासकार ने कथा-विन्यास में कल्पना की अतिशयता रखी है। यही कारण है कि इनमें जीवन की द्वन्द्वात्मक चेतना अपनी पूरी शक्ति से नहीं उभर पायी।

भगवतीचरण वर्मा के उपन्यासों को प्रेमचन्द की परम्परा, जो १९५० ई० तक चलती रही, के अन्तर्गत रखा जा सकता है। प्रेमचन्द ने अपने उपन्यासों में जहाँ समसामयिक समस्याओं को चित्रित किया, वहाँ वर्मा जी भी परिवर्तमान ऐतिहासिक धारा को मध्यवर्ग के माध्यम से अंकित करते रहे हैं। आलोच्य अवधि में प्रकाशित उनके उपन्यासों में 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', 'आख़िरी दाँव', 'भूले-बिसरे चित्र', 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहिं नचावत राम गुसाईं' मुख्य हैं। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में दो पीढ़ियों के अन्तराल का चित्र प्रस्तुत करते हुए लेख़क ने एक ऐसे परिवार का नक़्शा खींचा है जो समन्वय के अभाव में विघटित हो गया। पं० रामनाथ तिवारी का व्यक्तित्व टिपिकल सामन्तीय है, किन्तु उनके तीनों लड़के ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध हैं; फलस्वरूप पिता और पुत्रों के बीच भी अन्तराल आ जाता है। तीनों लड़कों में से एक गांधीवादी है, दूसरा आतंकवादी और तीसरा साम्यवादी। ये तीनों रास्ते टेढ़े-मेढ़े हैं और यथार्थ से परे हैं। लेखक का दृष्टिकोण नयी पीढ़ी के प्रति अनास्थावान् मालूम पड़ता है। 'आखिरी दाँव' और 'अपने खिलौने' अपनी असंगतियों तथा बिखराव के कारण साधारण स्तर के उपन्यास बनकर रह गये हैं, किन्तु 'भूले-बिसरे चित्र' (१९५९) से उन्हें यथेष्ठ ख्याति मिली है। इसमें चार पीढ़ियों की परिवर्तमान जीवन-दृष्टियों की कथा है—सम् १८८५ से १९३० तक। अर्ज़ीनवीस मुंशी शिवलाल का पुत्र ज्वालाप्रसाद अँगरेज़ कलक्टर की कृपा से नायब तहसीलदार हो जाता है, ज्वालाप्रसाद का पुत्र गंगाप्रसाद सीधे डिप्टी कलक्टर हो जाता है और गंगाप्रसाद का पुत्र अपनी योग्यताओं के बावजूद सत्याग्रह-संग्राम में जुट जाता है। उपन्यास के प्रथम दो खण्डों में सामन्तीय मनोवृत्ति और नौकरशाही का चित्र प्रस्तुत किया गया है, तृतीय खण्ड में दिल्ली दरबार का चित्र है और चौथे में गांधीवादी आन्दोलन से सम्बद्ध राजनीतिक समस्याओं को अंकित करने का प्रयास किया गया है। इस तरह इसमें लम्बे दिक्-काल को समेटकर इसे महाकाव्योचित बनाने की चेष्टा की गयी है। लेखक ने अनगिनत पात्रों, रोचक प्रसंगों और घटना-शृंखलाओं को इस तरह अंकित किया है कि अपेक्षित कालावधि को एक व्यापक परिदृश्य दिया जा सके। किन्तु, कुल मिलाकर उपन्यास के विभिन्न खण्डों में अन्वितियों की एकतानता नहीं मिलती। इसके मूल में ऐसी कोई गहरी दृष्टि और संवेदना नहीं है जो इसे जीवन की गहन, जटिल समस्याओं से सम्पृक्त कर सके। इसके पात्र भी अपने-अपने समय के साँचे में

ढलकर कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं बना पाते। वे सामान्यतः भावना की सतह पर तैरते रहते हैं, गहरे डूबने का साहस उनमें नहीं है। 'सामर्थ्य और सीमा', 'रेखा' और 'सबहि नचावत राम गुसाईं' वर्मा जी के अन्य उपन्यास हैं। यदि उनके उपन्यासों के मूल स्रोत की खोज की जाय, तो वह 'मनुष्य परिस्थितियों का दास है' में मिलेगा। परिस्थितियों को उन्होंने ऐतिहासिक अनिवार्यताओं की संश्लिष्टता में नहीं लिया है, वे प्रायः इकहरी होती हैं और मनुष्य उनसे पराभूत हो जाता है। फलतः पात्र रूपाकारहीन हो जाते हैं। प्रेमचन्द की भाँति वर्मा जी तात्कालिकता को तीखेपन के साथ चित्रित नहीं कर पाते। उन्हें प्रेमचन्द की परम्परा में इसी अर्थ में स्थान दिया जा सकता है कि उन्होंने अपने उपन्यासों में परवर्ती ऐतिहासिक परिस्थितियों का आकलन किया है। फिर भी, बहुत-सी समस्याएँ वे ही हैं जिन्हें प्रेमचन्द ने 'गोदान' के पूर्ववर्ती उपन्यासों में प्रस्तुत किया था। भगवतीचरण वर्मा को 'गोदान' की परम्परा का उपन्यासकार न मानकर 'सेवासदन', 'रंगभूमि' और 'ग़बन' की परम्परा का उपन्यासकार माना जायगा।

वर्मा जी की भाँति उपेन्द्रनाथ अश्क को भी प्रेमचन्द-परम्परा का उपन्यासकार कहा जाता है, पर समग्र अर्थ में वे इस परम्परा से जुड़ नहीं पाते। जहाँ तक मध्यवर्गीय परिवारों और व्यक्तियों की परिस्थितियों, समस्याओं और परिवेश का सम्बन्ध है वहाँ तक वे प्रेमचन्द-परम्परा के उपन्यासकार हैं; बल्कि प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक यथार्थवादी और प्रामाणिक भी हैं। किन्तु, प्रेमचन्द के वैविध्य और जीवन-चेतना का उनमें अभाव है। छायावादोत्तर-काल में रचित उनके उपन्यासों में 'गिरती दीवारें' (१९४७) सर्वोत्तम है। यथार्थवादी परम्परा के उपन्यासों में यह अपना ऐतिहासिक स्थान रखता है। इसके पूर्व यथार्थवादी परम्परा का शायद ही कोई ऐसा उपन्यास हो जो मध्यवर्ग की विवशता, हार, लाचारी और संघर्ष को वास्तविकता की भूमि पर प्रतिष्ठित कर सका हो। उपन्यास का मुख्य पात्र चेतन न केवल आर्थिक परिस्थितियों से जूझते हुए अपने आदर्शों को तोड़ने के लिए बाध्य होता है, अपितु वह काम-कुण्ठाओं से भी ग्रस्त है। उसकी समस्या आर्थिक उतनी नहीं मालूम पड़ती, जितनी कि कामजन्य। फिर भी, यह उपन्यास मध्यवर्गीय नैतिक वर्जनाओं को तोड़ने की प्रेरणा देता है; और यही इसकी सफलता का रहस्य है। 'शहर में घूमता आईना' और 'एक नन्ही कन्दील' इस उपन्यास के अगले खण्ड हैं और अपने आप में पूर्ण हैं। दोनों ही उपन्यासों में चेतन के जीवन के अनेकानेक संस्मरण संगृहीत हैं जिनमें तथ्यात्मकता तो दिखायी देती है, पर पाठक को इन फीके और बेस्वाद संस्मरणों से क्या लेना-देना है? स्मृति कौंधी नहीं कि पिछले जीवन का काफ़ी हिस्सा प्रकाश के वृत्त में आ गया; और उपन्यास में कई पृष्ठ जुड़ गये। चेतन जहाँ कहीं ज्ञान की बातें करता है, वहाँ पूरा मिडियाकर लगता है। शिल्प के अनेकानेक उपकरणों का चुनाव इन उपन्यासों में प्राण-प्रतिष्ठा नहीं कर सका। 'गिरती दीवारें' की भाँति 'गर्म राख' (१९५२) भी अश्क का सफल यथार्थवादी उपन्यास है। 'बड़ी-बड़ी आँखें' (१९५४) देखने में रोमानी लगता है, पर इसका मुख्य स्वर संस्थाओं के खोखलेपन को उजागर करने से सम्बद्ध है। प्रेमचन्द्र-युग में संस्थाएँ महत्त्वपूर्ण थीं, पर कालान्तर में वे अर्थहीन हो गयीं। 'पत्थर-अल-पत्थर' (१९५७) में यदि लेखक ट्रेवलॉग के चक्कर में न पड़ता, तो मानवीय आन्तरिकता को उभार पाने की सम्भावनाएँ उसमें थीं।

इधर के उपन्यासकारों में अमृतलाल नागर का विशेष स्थान है। उन्होंने अपने उपन्यासों में व्यक्ति और समाज के सापेक्षिक सम्बन्धों को चित्रित किया है। 'नवाबी

मसनद', 'सेठ बांकेमल', 'महाकाल', 'बूँद और समुद्र', 'अमृत और विष', 'शतरंज के मोहरे', 'सुहाग के नूपुर', 'एकदा नैमिषारण्ये' और 'मानस का हंस' उनके प्रकाशित उपन्यास हैं। अपने विस्तार और गहराई के कारण 'बूँद और समुद्र' इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण बन पड़ा है। 'बूँद' और 'समुद्र' क्रमशः व्यक्ति और समाज के प्रतीक हैं। लखनऊ के चौक के रूप में इसमें भारतीय समाज के विभिन्न रूपों, रीति-नीतियों, अचार-विचारों, जीवन-दृष्टियों, मर्यादाओं, टूटती और निर्मित होती हुई व्यवस्थाओं के अनगिनत चित्र हैं। इस उफनते हुए समुद्र में व्यक्ति-बूँद की क्या स्थिति है, यह उपन्यास का मुख्य प्रतिपाद्य है। उपन्यास की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पात्र ताई व्यक्ति और समाज के संघातों की अत्यन्त प्रभावशाली ट्रेजेडी है, पर अन्य पात्र वैचारिक अधिक और जीवन्त कम बन पड़े हैं। एक दूसरे स्तर पर इसमें आज के बुद्धिजीवी का संकट भी चित्रित किया गया है। हमारा समाज अनेक प्रकार के स्वार्थों और पाखण्डों में लिप्त होकर मूल्यहीन हो गया है, पर बुद्धिजीवी का संघर्ष मूल्यान्वेषण में संलग्न दीख पड़ता है। लेकिन अन्ततोगत्वा उसे भी अपने आदर्श खोखले प्रतीत होते हैं। जो लोग इसमें आधुनिकता-बोध को खोजना चाहेंगे, उन्हें निराश होना पड़ेगा। यह प्रेमचन्द-परम्परा की—यथार्थ और आदर्श के समन्वय तथा व्यष्टि और समष्टि के पारस्परिक सम्बन्धों की अत्यन्त रोचक शैली में लिखी गयी विशिष्ट औपन्यासिक कृति है। 'अमृत और विष' उनका दूसरा बृहत्काय उपन्यास है। इसमें भी अनेक प्रकार की जीवन-स्थितियों, आन्दोलनों और रीति-रिवाजों के ब्योरों को अंकित किया गया है। किन्तु, अपने अतिरिक्त फैलाव के फलस्वरूप यह उपन्यास गहरे-जीवन से रिक्त होकर विवरणात्मक हो गया है। उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपन्यास है—'मानस का हंस' (१९७२)। इसमें गोस्वामी तुलसीदास के जीवन-वृत्त को सफल औपन्यासिक व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। ऐतिहासिक सन्दर्भों के अनुरूप तथ्य-सम्पादन-मात्र की शैली न अपनाकर इसमें रोमानी कल्पना का भी सहज सन्निवेश किया गया है।

ऐतिहासिक उपन्यास

हिन्दी-उपन्यासों के विकास के इस दौर में इतिहास-सम्बन्धी नया दृष्टिकोण सामने आया। इसके पूर्व किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में तथ्यों और कल्पना के रचनात्मक पक्ष की चिन्ता न कर उनमें कौतूहल, उत्सुकता, साहसिकता, मनोरंजन और रोमांस को प्रमुखता दी थी। वृन्दावनलाल वर्मा के प्रारम्भिक उपन्यासों में भी ये तत्त्व लक्षित होते हैं, पर रोमैंटिक आदर्श और आंचलिकता के पुट के कारण वे संयमित हो गये हैं; या यों कहें कि उनमें इतिहास और कल्पना का समन्वय दिखायी पड़ता है। चतुरसेन शास्त्री मूलतः गोस्वामी जी की परम्परा के उपन्यासकार हैं, पर उन तत्त्वों के कारण उनके उपन्यासों में परिस्थितिपरक तीव्रता भी आयी है। नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण को ग्रहण करनेवालों में हजारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, यशपाल और रांगेय राघव विशेष उल्लेखनीय हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा ने यों तो सामाजिक उपन्यास भी लिखे हैं, पर उनकी ख्याति विशेषतः 'विराटा की पद्मिनी', 'झाँसी की रानी', 'कचनार', 'मृगनथनी', 'अहिल्याबाई', 'माधोजी सिंधिया', 'भुवनविक्रम' आदि ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए है। इनमें 'झाँसी की रानी' और 'मृगनयनी' मुख्य हैं। 'झाँसी की रानी' में किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों-जैसा रोमांस नहीं है, किन्तु अत्यधिक तथ्याश्रयी और विवरणात्मक हो जाने के कारण यह उपन्यास इतिवृत्तात्मक हो गया है। इसके विपरीत 'मृगनयनी' में तत्कालीन परिवेश को

उसकी समग्रता में आकलित करने का प्रयास दिखायी पड़ता है। बीच-बीच में ऐसे प्रसंग भी आ गये हैं जो आज की समस्याओं से भी जुड़ जाते हैं। किन्तु, पूरे उपन्यास को इस धरातल पर नहीं उतारा गया है। उपन्यासकार ने ग्वालियर के महाराज मानसिंह और ग्रामीण मृगनयनी के प्रणय-रोमांस के ताने-बाने में उस समय के सांस्कृतिक वातावरण को उसके विभिन्न आयामों में चित्रित करके एक काल-खण्ड को जीवन्त बना दिया है। तत्कालीन धर्म, राजनीति, चित्रकला, संगीत कला और वास्तु कला को इनके ब्योरों और अन्तर्विरोधों सहित इस रूप में चित्रित किया गया है कि यह उपन्यास सांस्कृतिक उपलब्धि बन गया है। वस्तुतः स्कॉट की भाँति वर्मा जी ने भी अपने उपन्यासों में अपनी जन्मभूमि की राजनीतिक, भौगोलिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक समग्रता का जो सजीव चित्र उभारा है वह अद्वितीय बन पड़ा है।

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में दूसरा उल्लेखनीय नाम आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'चारुचन्द्रलेख' के अतिरिक्त उनका एक अन्य उपन्यास 'पुनर्नवा' प्रकाशित हुआ है। द्विवेदी जी के उपन्यास इतिहास के तथ्यों पर आधारित नहीं हैं, उनमें कल्पना के आधार पर ऐतिहासिक वातावरण की अर्थवान् सृष्टि की गयी है। यह अर्थवत्ता उनके नये ऐतिहासिक दृष्टिकोण की देन है। वे किसी कालखण्ड को जीवन्त रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ उसे आज की ज्वलन्त समस्याओं के साथ भी जोड़ते चलते हैं; और इस सन्दर्भ में ही समग्रतः उनका गम्भीर जीवन-दर्शन भी प्रतिफलित हो जाता है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में उन्होंने मध्यकालीन जड़ता पर प्रहार करते हुए उसे आधुनिक चैतन्य से सम्पृक्त किया है। अनेक प्रकार की विरोधी धर्म-साधनाओं के कारण समाज अनेकशः विभक्त और खण्डित हो चुका था, राजनीतिक स्थिति अस्थिर और चंचल थी। उपन्यासकार ने इन अस्थिरताओं और विघटनों के बीच नये मूल्यों की खोज करने की कोशिश की है। सारा समाज एक प्रकार के अवरोध में है। भट्टिनी, महामाया, निपुणिका, सुचरिता; यहाँ तक कि बाणभट्ट भी अवरुद्ध है। सम्पूर्ण मध्यकाल की इस गतिशून्यता को लक्षित करके ही बाणभट्ट ने कहा है : "न जाने क्यों मुझे लग रहा था कि नीचे से ऊपर तक सारी प्रकृति में एक अवश अवसाद की जड़िमा छायी हुई है।" इसमें व्यष्टि और समष्टि का अद्भुत समन्वय मिलता है—प्रत्येक पात्र का अपना निजी वैशिष्ट्य है, जो समष्टि से संसिक्त होकर चमक उठता है। यह एक क्लासिकल रोमैंटिक उपन्यास है। अपने बन्ध, चित्रण, वर्णन-शिल्प और शैली में यह क्लासिकल है और प्राणगत ऊष्मा में रोमैंटिक। बाणभट्ट की अलंकृत शैली में लिखा जाने पर भी यह गत्यात्मक है—काव्यात्मकता ही इसकी भाषा और वस्तु दोनों हैं। दूसरी ओर, इस उपन्यास की तुलना में 'चारुचन्द्रलेख' अनाकर्षक और फीका मालूम पड़ता है। इसके विन्यास का बिखराव मूलवर्ती दृष्टि का ही बिखराव है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में लोककथा के तत्त्व विश्वसनीय यथार्थ बनकर रचनात्मक हो गये हैं, पर 'चारुचन्द्रलेख' में इन्होंने कुतूहल, विस्मय, रोमांस और रहस्य की सृष्टि की है। संरचना के स्तर पर इनका उपयोग नहीं हो सका है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की भाँति इसमें प्रतीक, बिम्ब, मिथक आदि का प्रयोग भी मिलता है; पर प्रथम में इनके द्वारा काव्यानुभूति की चेतना निबद्ध होती है, तो दूसरे में ये उपकरण अलंकरण बनकर रह जाते हैं।

यशपाल-कृत 'दिव्या' भी कल्पनाश्रित ऐतिहासिक उपन्यास है। लेखक ने इसे मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विन्यस्त किया है, पर कलात्मक सावधानी के कारण वह अवरुद्ध नहीं दिखायी पड़ता। अभिजातीय मान्यताओं और अवरोधों के कारण दिव्या को अनेक प्रकार

के संघर्ष झेलने पड़ते हैं जिनके सन्दर्भ में लेखक ने धर्माडम्बर, वर्ण-भेद, दास-प्रथा आदि से उत्पन्न परिस्थितियों का मार्मिक दृश्यांकन किया है। भगवतीचरण वर्मा-कृत 'चित्रलेखा' से तुलना करने पर इन उपन्यासों का अन्तर और भी स्पष्ट हो जाता है। वर्मा जी के पास जीवन-दृष्टि का अभाव है, जबकि यशपाल उससे विरहित होकर कुछ भी नहीं लिखते। इसलिए जहाँ 'चित्रलेखा' का फलक परिस्थितियों के चौखटे में बँधकर संकीर्ण और एकांगी हो गया है और उसमें जीवन की कोई राह दिखायी नहीं देती, वहाँ 'दिव्या' में राह की खोज है। अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण यह एक हद तक रोमांस-विरोधी उपन्यास बन गया है। रोमांस-विरोधी स्थितियों ने इसके विन्यास को यथार्थवादी और नाटकीय रूप देने में मदद की है। 'अमिता' यशपाल का दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास है, किन्तु इसमें बौद्धिकता और यथार्थ की यह ऊँचाई नहीं आ पायी है।

यशपाल की भाँति राहुल सांकृत्यायन और रांगेय राघव के ऐतिहासिक उपन्यासों में भी मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि की स्थापना मिलती है। 'सिंह सेनापति' और 'जय यौधेय' राहुल जी के प्रमुख ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें क्रमशः लिच्छवि गण और यौधेय गण के संघर्ष चित्रित हैं। इसी भाँति रांगेय राघव ने 'मुर्दों का टीला' में मोहनजोदड़ो के गणतन्त्र का चित्रण किया है। चतुरसेन शास्त्री-कृत 'वैशाली की नगरवधू' भी गणतन्त्र से सम्बद्ध है। इन उपन्यासों की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि जहाँ राहुल के उपन्यासों पर मार्क्सवादी जीवन-दर्शन का लदाव उनके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को बहुत-कुछ धूमिल और असंगतिपूर्ण बना देता है और 'वैशाली की नगरवधू' पर आधुनिक जीवन को लादकर तत्कालीन इतिहास की प्रामाणिकता को ही सन्दिग्ध बना दिया गया है, वहाँ 'मुर्दों का टीला' में इतिहास और मार्क्सवादी जीवन-दर्शन-सम्बन्धी उपर्युक्त असंगतियाँ नहीं मिलतीं।

सामान्यतः सन् १९५० के बाद के दशक को भ्रमवश आंचलिक उपन्यासों का दशक मान लिया जाता है और इन उपन्यासों को सद्यःस्वतन्त्र भारत के उल्लास के साथ जोड़कर ऐतिहासिक दृष्टि को सरलीकृत कर लिया जाता है, किन्तु वस्तुतः ये उपन्यास एक नये प्रकार के मुक्ति-आन्दोलन से जुड़े हुए हैं जो एक ओर वैयक्तिक हैं तो दूसरी ओर सामाजिक। वैयक्तिक इसलिए कि वह पुराने नैतिक मूल्यों से मुक्त होकर खुले वातावरण में साँस लेना चाहता है और सामाजिक इसलिए कि आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने के लिए अभी समाज को लम्बी मंज़िल तय करनी थी। देश-विभाजन के कारण जो नयी समस्याएँ उत्पन्न हुई उन्हें भी औपन्यासिक रूप दिया गया, अतः यह स्वाभाविक था कि पूर्ववर्ती पैटर्न के साथ-साथ नये रूपाकारों की खोज की जाती। अज्ञेय-कृत 'नदी के द्वीप' (१९५१) को रोमैंटिक किस्म के व्यक्तिवादी उपन्यासों का चरम विकास समझना चाहिए, किन्तु इस तरह के उपन्यासों की सम्भावनाएँ क्रमशः समाप्त हो गयीं। इसी समय के लगभग देवराज का 'पथ की खोज', नागार्जुन का 'बलचनमा', भारती का 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', रुद्र का 'बहती गंगा' और रेणु का 'मैला आँचल' (१९५४) उपन्यास प्रकाशित हुए। इन सभी उपन्यासों में जूझते हुए व्यक्तियों और समाज की आस्थाओं को देखा जा सकता है। निश्चय ही ये आस्थाएँ स्वतन्त्र देश के उल्लास और मनोबल से अनुप्रेरित हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से सन् १९५० के बाद उपन्यासों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—ग्रामांचल के उपन्यास, मनोवैज्ञानिक उपन्यास, सामाजिक चेतना के उपन्यास, प्रयोगशील उपन्यास और आधुनिकता-बोध के उपन्यास।

ग्रामांचल के उपन्यास : इस श्रेणी में आनेवाले उपन्यासों को आंचलिक कहकर उन्हें सीमित कर दिया जाता है। रेणु के 'मैला आँचल' के प्रकाशन के पूर्व नागार्जुन 'बलचनमा'

(१९५२) प्रकाशित हो चुका था, पर इसे आंचलिक नहीं कहा गया; यद्यपि इसमें आंचलिकता का कम रंग नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि प्रेमचन्द ने भी ग्राम-कथाएँ ली हैं, उन्हें भी आंचलिक क्यों न कहा जाय ? प्रेमचन्द के उपन्यासों में गाँव के निवासियों की कथाएँ तो हैं, पर जिन उपन्यासों को ग्रामांचल के उपन्यास कहा जाता है उनमें गाँव की धरती, खेत-खलिहान, नदी-नाले, डबरे, पशु-पक्षी, हल-बैल, भाषा, गीत, त्योहार आदि इनके बीच रहने-वाले व्यक्तियों के साथ समवेत रूप में वाणी पाते हैं। तात्पर्य यह है कि उपन्यास के पात्रों के साथ उनका परिवेश भी बोलता है। रेणु ने अपने उपन्यासों में ग्रामांचल को जो प्रधानता दी है, उसके आधार पर केवल उन्हीं की कृतियों को 'आंचलिक' कहा जाना चाहिए।

नागार्जुन के उपन्यासों में दरभंगा-पूर्णिया ज़िले का राजनीतिक-सांस्कृतिक साक्षात्कार होता है—राजनीतिक अधिक, सांस्कृतिक कम। जहाँ तक विषयवस्तु के चुनाव का सम्बन्ध है वे प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं, पर दृष्टि-बिन्दु के हिसाब से वे यशपाल की परम्परा के लेखक हैं; किन्तु इन दोनों को समन्वित करना कठिन हो गया है। यशपाल कथावस्तु का चुनाव अपने दृष्टि-बिन्दु के अनुरूप करते हैं, इसलिए उनकी औपन्यासिकता क्षरित नहीं होती; जबकि नागार्जुन का मार्क्सवादी दृष्टिकोण गाँव की थीम पर आरोपित प्रतीत होता है। उनके उपन्यासों के कथानक स्वयं विकसित न होकर पूर्वनिर्धारित योजना के अनुसार चलते हैं, फलस्वरूप उपन्यासों की सर्जनात्मकता शिथिल और अवरुद्ध हो गयी है। 'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नयी पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'दुखमोचन', 'वरुण के वेटे' आदि उनके प्रकाशित उपन्यास हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु के उपन्यास ही सही अर्थों में 'आंचलिक' हैं। सत्य तो यह है कि 'मैला आँचल' और 'परती परिकथा' में ग्रामांचलों के जितने विशद और सवाक् चित्र देखने को मिलते हैं, उतने अन्य तथाकथित आंचलिक उपन्यासों में नहीं। इन दोनों उपन्यासों में ग्रामांचल की छोटी-छोटी घटनाओं, कथाओं, आचार-विचार, रीति-नीति, राजनीतिक-नैतिक अवधारणाओं, पारस्परिक सम्बन्धों आदि के विश्लिष्ट चित्र मिलते हैं; जो पूरे अंचल के सन्दर्भ में संश्लिष्ट और गत्यात्मक हो गये हैं। आधुनिकतावादी उपकरणों के सन्निवेश से गाँव का वातावरण अपने-आप बदलने लगता है। इस बदलाव में ही अवसरवादी कांग्रेसियों (स्वतन्त्रता के वाद अधिकांश कांग्रेसी अवसरवादी हो चुके हैं) के नक़ाब उतारकर युवा पीढ़ी के संघर्षों को जिस ढंग से चित्रित किया गया है, वह रेणु की ऐतिहासिक धारा की पहचान का सूचक है। पर यह पहचान अपने रूपायन और परिणति में रोमैंटिक तथा आदर्शवादी है। फिर भी, रेणु के आंचलिक उपन्यासों में एक विशिष्ट सम्पूर्णता दिखायी देती है, जो आगे लिखे जाने वाले ग्रामांचलीय उपन्यासों के विकास में बाधक सिद्ध हुई।

उदयशंकर भट्ट का 'सागर, लहरें और मनुष्य' (१९५६) भी इस धारा की प्रसिद्ध कृति है। इसमें वम्बई के पश्चिमी तट पर बसे हुए बरसोवा गाँव के मछुओं की जीवन-कथा वर्णित है। नगर के सम्पर्क में आकर गाँव की एकांगिता में दरारें पड़ने लगती हैं और वह बदलाव की प्रक्रिया से गुज़रने लगता है। यह बदलाव नवीन परिस्थितियों की अनिवार्यता है। उगन्यास की रत्ना गाँव की रूढ़ियों को तोड़कर पूँजीवादी यातना में जा फँसती है। आधुनिकतावादी पूँजीवाद की मानवीय नियति यही है। रांगेय राघव ने 'कब तक पुकारूँ' में जरायम-पेशा नटों की ज़िन्दगी को उजागर किया है, तो भैरवप्रसाद गुप्त का 'सत्ती मैया का चौरा' मार्क्सवादी दृष्टिकोण से लिखा गया उपन्यास है। इन उपन्यासों की मुख्यतः दो विशेषताएँ हैं—परिवर्तमान गाँवों के प्रति आशावादी दृष्टिकोण तथा स्थानिक रंग। इन्हें

रोमैंटिक यथार्थ के उपन्यास कहना अधिक समीचीन होगा।

ग्रामांचल को आधार बनाकर राही मासूम रजा, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, हिमांशु श्रीवास्तव आदि ने भी उपन्यास लिखे हैं। राही का 'आधा गाँव' शिया मुसलमानों की ज़िन्दगी पर लिखा गया पहला उपन्यास है। इसमें भारत-विभाजन के पहले और बाद की ज़िन्दगी को उभारा गया है। तनहाई और टूटन इसमें एक विशेष ऐतिहासिक सन्दर्भ में चित्रित हैं, जिन्हें आधुनिकता-बोध के साथ नहीं जोड़ा जाना चाहिए। पर राष्ट्रीय आकांक्षाओं के सन्दर्भ में यह उपन्यास तीखा दर्द उभारता है। शिवप्रसाद सिंह ने अपने उपन्यास 'अलग-अलग वैतरणी' में आधुनिकता-बोध को सन्निविष्ट करने की क़ोशिश की है। इसमें उस परिवेश का चित्रण है जिसमें नये-पुराने मूल्यों, नयी-पुरानी पीढ़ी, भिन्न-भिन्न वर्गों और जातियों की टकराहट में सारे मूल्य गड्डमड्ड हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वैतरणी में घिर जाता है—'गा चह पार जतन बहु हेरा, पावत नाव न बोहित बेरा।' वैतरणी को पार न करने का मतलब है नरक। गाँव नरक हो गये हैं, जहाँ अलगाव और टूटन कई स्तरों पर घटित होते हैं—वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा समूचे गाँव के स्तर पर। इस उपन्यास में जिस गाँव की परिकल्पना की गयी है, वह पिछली परिकल्पनाओं से भिन्न है: रामदरश मिश्र-कृत 'पानी की प्राचीर', 'जल टूटता हुआ' तथा 'सूखता हुआ तालाब' और हिमांशु श्रीवास्तव का 'रथ के पहिये' भी अपने-अपने ढंग से प्रभावशाली ग्रामांचलीय उपन्यास हैं। रामदरश मिश्र का उपन्यास 'जल टूटता हुआ' उत्तर प्रदेश के कछार अंचल की दमघोंट समस्याओं, विसंगतियों, अभावों और आन्तरिक संदर्भों को तीव्रता से अभिव्यक्त करनेवाली एक सशक्त कृति है। आधुनिकीकरण और बाहरी सभ्यता के संक्रमण के बीच निरन्तर बदल रहे गाँव के विभिन्न आयामों को इस उपन्यास में उद्घाटित किया गया है।

ग्रामांचल को महत्त्व देनेवाले अन्य उपन्यासकारों में राजेन्द्र अवस्थी (जंगल के फूल, जाने कितनी आँखें), विवेकीराय (बबूल), उदयराज सिंह (अँधेरे के विरुद्ध) और सच्चिदानन्द धूमकेतु (माटी की महक) भी उल्लेखनीय हैं।

मनोवैज्ञानिक उपन्यास : मनोविज्ञान को प्रमुखता देनेवाले इधर के उपन्यासकारों में धर्मवीर भारती और देवराज मुख्य हैं। धर्मवीर भारती का 'गुनाहों का देवता' अपनी कैशोर भावुकता तथा रूमानियत के कारण काफ़ी लोकप्रिय हुआ। 'पथ की खोज', 'बाहर भीतर', 'रोटी और पत्थर', 'अजय की डायरी' और 'मैं, वे और आप' देवराज के उपन्यास हैं। इन सभी की मूलवर्तिनी धारा है—विवाह के बाहर का प्रेम। देवराज ने इसे विकासमान जीवन की अनिवार्यता माना है। लोकाचार और आन्तरिकता की टकराहट उनके सभी उपन्यासों में है। 'पथ की खोज' और 'बाहर भीतर' में इस टकराहट का स्वरूप बहुत-कुछ रोमानी ही है. पर 'अजय की डायरी' में दार्शनिकता का आधार लेते हुए लेखक ने धर्म और नैतिकता को आन्तरिकता में अन्तर्भुक्त कर दिया है। मनोविश्लेषण और व्यक्ति-चेतना पर बल देनेवाले अन्य उपन्यासों में 'अन्तराल' और 'बीच का समय' भी उल्लेखनीय हैं।

सामाजिक चेतना के उपन्यास : मन्मथनाथ गुप्त, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय, लक्ष्मीनारायण लाल, राजेन्द्र यादव आदि नवीन सामाजिक चेतना के उपन्यासकार हैं। इनमें से पहले तीन मार्क्सवादी दृष्टिकोण के प्रतिबद्ध लेखक हैं। मन्मथनाथ गुप्त का 'बहता पानी' (१९५५), भैरवप्रसाद गुप्त के 'मशाल' और 'गंगा मैया' तथा अमृतराय-कृत 'बीज', 'नागफनी का देश' और 'हाथी के दाँत' वर्ग-संघर्ष और प्रगति के मिथक के सूचक उपन्यास हैं। देश के शैक्षिक वातावरण से सम्बद्ध 'अपना मोर्चा' (काशीनाथ सिंह) भी इसी शैली का

मार्क्सवादी उपन्यास है। लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मन वृन्दावन', 'धरती की आँखें', 'काले फूल का पौधा' और 'रूपाजीवा' में उपरले स्तर की सामाजिक चेतना को उभारने की कोशिश की है। 'धरती की आँखें' एकदम रोमानी है—अनेक विसंगतियों और घटनाओं से भरा हुआ, किन्तु 'काले फूलों का पौधा' चरित्र-चित्रण, संस्कृति-संघर्ष और नव्यतर तकनीक के कारण विशिष्ट बन पड़ा है। 'प्रेत बोलते हैं', 'उखड़े हुए लोग' और 'एक इंच मुस्कान' (मन्नू भण्डारी के साथ सहयोगी लेखक) राजेन्द्र यादव के उपन्यास हैं। 'उखड़े हुए लोग' में कथा-विन्यास सुसम्बद्ध है। आज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट कर उसे समझौतावादी बनने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है, यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। यदि कथा के साथ वैचारिकता का अन्तराल न होता तो इसकी औपन्यासिकता और अधिक सार्थक प्रतीत होती। 'एक इंच मुस्कान' खण्डित व्यक्तित्व-वाले आधुनिक व्यक्तियों की प्रेम-ट्रैजेडी है—आत्मनिर्वासन से ग्रस्त अमर और अमला प्रेम के छलावे में पड़कर निषेधात्मक मूल्यों तक ही पहुँचते हैं। यादव के अन्य उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास कहीं अधिक समकालीन और महत्त्वपूर्ण है। सामाजिक चेतना को सशक्त अभि-व्यक्ति देनेवाले कुछ अन्य उन्पयास हैं—'गली आगे मुड़ती है' (शिवप्रसाद सिंह), 'धूपछांही रंग' (गिरीश अस्थाना) और 'उसका घर' (मेहरुन्निसा परवेज़)।

प्रयोगशील उपन्यास : कविता में नये प्रयोगों के साथ-साथ कहानी, उपन्यास आदि में भी नये प्रयोग हुए। पूर्ववर्ती लेखकों में जैनेन्द्र और अज्ञेय ने प्रयोगों में कहानी और चरित्र का पूरा ध्यान रखा था, पर इस दौर में कहानी का तत्त्व क्षीण हो गया जिससे कथानक का पुराना रूप विघटित हो गया तथा अपने क्रिया-कलाप के प्रति सचेत एवं तराशे हुए पात्र नहीं रह गये। ज़िन्दगी पूरे तौर पर विश्लेषित न होकर चेतना-प्रवाह और स्वप्न-सृष्टि के साथ जुड़ गयी। प्रतीक, टाइम-शिफ़्ट आदि के द्वारा उपन्यासों में नये शिल्प के दर्शन हुए। प्रभाकर माचवे, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', गिरिधर गोपाल, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के उपन्यास इसी श्रेणी के हैं। इस सन्दर्भ में माचवे के 'परन्तु', 'साँचा' और 'द्वाभा' का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें न तो व्यवस्थित कथानक है और न चरित्र-निर्माण। लेखक ने चेतना-प्रवाह-प्रणाली से पुराने नैतिक मूल्यों पर प्रहार करते हुए नये मूल्यों की तलाश की है, किन्तु शिल्पगत अनेक प्रयोगों के बावजूद वैचारिकता की प्रधानता ने इनकी औपन्यासिकता को ढँक लिया है। भारती ने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में जो प्रयोग किया है, वह सोद्देश्य है। छोटे फलक पर विस्तृत जीवनानुभूतियों को चित्रित करने की बाध्यता के कारण उन्हें यह ढंग अपनाना पड़ा। 'अलिफलैला' और 'पंचतन्त्र' के ढंग पर लिखी गयी सात अलग-अलग कहानियाँ किस्सागो माणिक मुल्ला के व्यक्तित्व से जुड़कर उपन्यास बन जाती हैं। इसकी रचना आर्थिक-सामाजिक पृष्ठभूमि में हुई है। बीच-बीच में आये हुए व्यंग्य ने उपन्यास की धारा को और तेज़ कर दिया है। पर सपने भेजनेवाले सूरज के सातवें घोड़े से उपन्यास की यथार्थता क्षतिग्रस्त हो गयी है।

'रुद्र' की 'बहती गंगा' में काशी के दो सौ वर्षों के अविच्छिन्न जीवन-प्रवाह को सत्रह तरंगों में आकलित किया गया है। अर्थात् इसमें कुल सत्रह कहानियाँ हैं जो अपने में पूर्ण और स्वतन्त्र होने पर भी धारा-तरंग-न्याय से एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं। काशी की मस्ती को बिम्बित करनेवाली जीवन्त बोली-बानी में इसमें वहाँ का दो सौ वर्षों का गत्यात्मक इतिहास साकार हो उठा है। गिरिधर गोपाल ने 'चांदनी रात के खँडहर' में चौबीस घण्टों की ज़िन्दगी का विश्लेषण किया है। इसमें पाँच वर्षों के बाद लन्दन से शिक्षा ग्रहण करके

लौटे हुए नायक के मध्यवर्गीय परिवार की खोखली आर्थिक स्थिति का मार्मिक चित्र खींचा गया है, जिसके लिए नायक वसन्त खुद ज़िम्मेदार है। चौबीस घण्टे की कालावधि के कारण इसमें चुनी हुई परिस्थितियों, घटनाओं और मनोदशाओं पर तीव्र प्रकाश डालकर उन्हें प्रभावशाली बनाने में सुविधा हुई है। **सर्वेश्वरदयाल सक्सेना**-कृत 'सोया हुआ जल' में एक यात्री-शाला में ठहरे हुए यात्रियों की एक रात की ज़िन्दगी का वर्णन है। इसमें अन्तश्चेतना की भूख, आकुलता और अतृप्ति का चित्रण है; जो व्यक्ति-मानस की अशान्ति और क्षोभ के कारण है। यह चेतना-प्रवाह-शैली और सिनेरियो-टेकनीक में लिखा गया प्रतीकात्मक उपन्यास है। शैली-चमत्कार के कारण ही इसका महत्त्व है, कथ्य अथवा मूल्यों के कारण नहीं। नरेश मेहता का 'डूबते मस्तूल' और ख्वाजा बदीउज़्ज़मां का 'एक चूहे की मौत' भी अनेक प्रकार की विसंगतियों से भरे हुए प्रयोगशील उपन्यास हैं।

आधुनिकता-बोध के उपन्यास : यन्त्रीकरण, दो महायुद्धों और अस्तित्ववादी चिन्तन के फलस्वरूप आधुनिकता की जो स्थिति उत्पन्न हुई है उसे लेकर भी पिछले दशक में उपन्यासों की रचना हुई है। आस्थाविहीन समाज, अनिश्चय की स्थिति में लटके हुए इन्सान और आत्मनिर्वासन की अभिव्यक्ति देने की पहल **मोहन राकेश** ने अपने उपन्यास । अँधेरे बन्द कमरे' (१९६१) में की। इसके अनुसार प्रेम कोई शाश्वत-उदात्त मूल्य नहीं रह गया है—वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षाएँ और आधुनिक जीवन की सफलताएँ प्रेम की आन्तरिक विवशता में दरारें पैदा कर देती हैं। उनका दूसरा उपन्यास 'न आनेवाला कल' आधुनिकता से अधिक प्रभावित है। उसका नायक सब-कुछ को छोड़कर या अस्वीकार करके एक निषेधात्मक स्थिति में जा पहुँचता है, पर यह अस्वीकार उसे कहीं भी ले जाने में असमर्थ है और जड़ जीवन को जीने की सड़ाँध उसकी नियति हो जाती है। **निर्मल वर्मा** का 'वे दिन' आधुनिक संवेदना से सम्पन्न उपन्यास है। पश्चिम के अर्थहीन परिवेश में जिस छोटे सुख की तलाश इस उपन्यास में की गयी है, वह आज के सन्दर्भ में ग़ैरमौजूं नहीं लगती। इसे रोमैंटिक नहीं कहा जा सकता क्योंकि तीन दिन के सम्पर्क में 'मैं' और 'रायना' का शरीरी सुख रोमैंटिक अर्थ में प्रेम नहीं, बल्कि रोमानी प्रेम से अलग प्रेम की आधुनिकतावादी परिकल्पना है। अन्त में रायना के प्रति जो मोह उसमें उत्पन्न होता है, वह भावुकता न होकर 'मैं' का बचा हुआ वह मनुष्य है जिससे वह अलग हो गया है। **राजकमल चौधरी** का उपन्यास 'मछली मरी हुई' समलैंगिक यौनाचार में लिप्त स्त्रियों की कहानी है। विषयवस्तु के अनोखेपन तथा तटस्थतापरक लेखकीय दृष्टिकोण के कारण इस उपन्यास का अलग अस्तित्व है। इस प्रकार की विषयवस्तु को चुनने पर भी इसमें अश्लीलता नहीं मिलती। श्रीकान्त वर्मा-कृत 'दूसरी बार', महेन्द्र भल्ला-कृत 'एक पति के नोट्स', कमलेश्वर-कृत 'डाक बंगला' और 'काली आँधी', गंगाप्रसाद विमल-कृत 'अपने से अलग' आदि उपन्यास भी आधुनिकता के झोंके में लिखे गये हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे मार्क्सवादी झोंके में लिखी गयी रचनाएँ। आज के जीवन-सत्य की आंशिक झलक देते हुए भी इन्हें चुकी हुई सम्भावनाओं के उपन्यास कहा जायगा। आधुनिकता के कुछ चुनिन्दा नुस्खों, अस्तित्ववादी दर्शन के कुछ मुहावरों; ज्यां जेने सादे, कामू, काफका की भंगिमाओं के आधार पर लिखे गये इन उपन्यासों को देखने पर निराशा ही हाथ लगेगी। इनमें मोहन राकेश का 'अँधेरे बन्द कमरे' ही ठीक-ठिकाने का उपन्यास माना जायगा। अपनी विषय-वस्तु और तटस्थता में 'मछली मरी हुई' भी विशिष्ट है।

नरेश मेहता का उपन्यास 'यह पथ बन्धु था' तथा 'नदी यशस्वी है' रचनात्मक स्तर

पर आधुनिक हैं, पर उनमें न तो आधुनिकतावादी नुक़ते हैं, न अकेलेपन की गुहार है और न ही आधुनिकता के भाषायी मुहावरे। 'यह पथ बन्धु था' प्रेमचन्द की परम्परा का ऐसा उपन्यास है जिसमें मूल्यों के प्रति निष्ठावान् व्यक्तियों का टूट जाना उनकी नियति है। टूटे मूल्यों के आधार पर ही नये मूल्यों की परिकल्पना सम्भव है, पर इस उन्पयास की त्रुटि यह है कि यह रोमांस से मुक्त नहीं हो सका है। श्रीलाल शुक्ल-कृत 'राग दरबारी' रिपोर्ताज शैली में लिखा गया- उपन्यास है। यद्यपि इसकी कथा ग्रामांचल से सम्बद्ध है, फिर भी यह आंचलिक नहीं है। इसमें स्वतन्त्र देश की नवीन व्यवस्थाओं का, जो नारों के रूप में ही जीवन्त हैं, गहरा मखौल उड़ाया गया है। इसे ऐंठी हुई रोमैंटिकता या ऐंठी हुई आधुनिकता भी कहा जा सकता है। पुनरावृत्ति इस उपन्यास की कमज़ोरी है। इसमें उपलब्ध व्यंग्य को अच्छा मज़ाक तो कह सकते हैं, पर उससे गहरी व्यथा का आक्रोश उत्पन्न नहीं होता।

आधुनिकता-बोध के उपन्यासों की उपर्युक्त परम्परा में 'लाल टीन की छत' (निर्मल वर्मा) और 'आपका बंटी' (मन्नू भंडारी) भी काफ़ी प्रसिद्ध हैं। इनमें कहीं वैयक्तिक, तो कहीं पारिवारिक-सामाजिक विषमताओं का मुखर विरोध मिलता है। इन उपन्यासकारों के अतिरिक्त भी उपन्यासकारों की एक लम्बी क़तार है जिसमें भीष्म साहनी (तमस), रामकुमार भ्रमर, कृष्ण बलदेव वैद, गिरिराज किशोर (जुगलबन्दी), शिवानी, कृष्णा सोबती (डार से बिछुड़ी, मित्रो मरजा), उषा प्रियंवदा (पचपन खंभे लाल दीवारें), रमेश बक्षी (अठारह सूरज के पौधे) लक्ष्मीकान्त वर्मा, मधुकर गंगाधर, जगम्बाप्रसाद दीक्षित (मुर्दाघर), आरिगपूडि बालशौरि रेड्डी आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

कहानी

कविता और कहानी छायावादोत्तर काल की केन्द्रीय विधाएँ रही हैं जिनको लेकर बहुत-से साहित्यिक आन्दोलन हुए, गोष्ठियाँ हुईं और पत्र-पत्रिकाओं के विशेषांक निकले। इसका मुख्य कारण यह है कि इन दोनों ने समकालीनता को गहरे अर्थ में रेखांकित करने का प्रयास किया और जीवन की जटिलताओं को उनकी समग्रता में आँकने की कोशिश की। नयी कविता के वज़न पर कहानी को भी 'नयी कहानी' कहा जाने लगा; और फिर, 'सचेतन कहानी' तथा 'अ-कहानी' आन्दोलन भी चलाये गये। छायावाद-युग के अनन्तर हिन्दी-कहानी में आरम्भ में प्रगतिवादी और व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ दिखायी दीं। इसी समय आधुनिकता-बोध की प्रवृत्ति भी उभरी, जिसके प्रमाणस्वरूप भुवनेश्वर की 'सूर्यपूजा' और 'भेड़िये' शीर्षक कहानियों को जैनेन्द्र, अज्ञेय और इलाचन्द्र जोशी ने पल्लवित किया। १९५० ई० के बाद की कहानियों में क्रमशः वैयक्तिकता का दबाव बढ़ता गया। कुछ देर के लिए स्वतन्त्रता-प्राप्ति का उल्लास आंचलिक कहानियों में अभिव्यक्त हुआ, पर वह कहानी की विकास-यात्रा का अस्थायी पक्ष था। शीघ्र ही स्वतन्त्रता से प्राप्त होनेवाले सुख के प्रति रोमानी मोह टूट गया और व्यक्ति एक तरह के कटाव या अलगाव के कटघरे में खड़ा हो गया। छठे दशक में जो तनाव या अलगाव आया वह मूल्यों से पूर्णतः विच्छिन्न नहीं हुआ था, किन्तु सन् १९६२ में चीन-भारत-युद्ध के समय रोमैंटिक सरकार ने हमें अन्तिम रूप से मोहमुक्त कर दिया। इसीलिए मार्क्स और फ्रायड के प्रभावों से आगे बढ़कर अस्तित्ववादी दर्शन ने जीवन के बुनियादी सवालों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, जिससे सातवें दशक में संत्रास, अलगाव, बेगानेपन और ऊब से सम्बद्ध कहानियाँ लिखी गयीं।

जैसा पहले कहा जा चुका है, प्रारम्भ में प्रगतिवादी विचारधारा प्रमुख होकर

ायी। इस धारा के प्रतिनिधि कहानीकार यशपाल हैं। उन्होंने जहाँ मार्क्सवाद के अनुरूप न की विषमता पर प्रहार करते हुए भौतिकवादी नैतिक मूल्यों का समर्थन किया, वहाँ उन पर फ्रायड का भी गहरा प्रभाव पड़ा। फलतः यौन-चेतना के खुले चित्र भी उनकी कहानियों में मिलते हैं। यशपाल के कहानी-संग्रहों में उल्लेखनीय हैं—पिंजड़े की उड़ान, वो दुनिया, ानदान, अभिशप्त, तर्क का तूफ़ान, भस्मावृत चिनगारी, फूलो का कुर्ता, उत्तमी की माँ, सच बोलने की भूल, तुमने क्यों कहा कि मैं सुन्दर हूँ आदि। कहानी को दृष्टान्त के रूप में ग्रहण करते हैं, इसलिए उनकी कहानियाँ बहुत-कुछ पूर्व-नियोजित (कांट्राइव्ड) होती हैं। इस नियोजन का मुख्य आधार विचार और कल्पना है। उनकी रचना-प्रक्रिया प्रेमचन्द की रचना-प्रक्रिया से मिलती-जुलती है—दोनों के मन में पहले कोई विचार उठता है; फिर ात्र, स्थिति, घटना आदि को अन्वेषित कर लिया जाता है। पर यशपाल की कहानियों में कथा-रस सर्वत्र मिलता है। वर्ग-संघर्ष, मनोविश्लेषण और पैना व्यंग्य उनकी कहानियों की अनन्य विशेषताएँ हैं। किसी सामाजिक अथवा नैतिक रूढ़ि पर प्रहार करते हुए वे पाठकों के रूढ़ संस्कारों पर गहरा आघात करते हैं। शॉक ट्रीटमेंट का यह तरीका प्रायः उनकी प्रत्येक कहानी में मिलेगा।

अज्ञेय ने मुख्यतः व्यक्ति के आत्मसंघर्ष तथा व्यक्ति और परिवेश के संघर्ष का चित्रण किया है। यशपाल जहाँ समाज की विकृतियों के लिए अधिक असामंजस्य तथा वर्गीय दिखावे (हिपोक्रेसी) को उत्तरदायी मानते हैं वहाँ अज्ञेय ने व्यक्ति के अपने नैतिक संघर्ष और दायित्व को उसकी मुख्य समस्या माना है। उनकी प्रारम्भिक कहानियों में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति उभरी हुई प्रतीत होती है, किन्तु 'गैंग्रीन', 'पठार का धीरज' आदि कहानियाँ रोमांस से मुक्त नये यथार्थ पर आधारित हैं। अज्ञेय की भाषा में परिवेश-निर्माण की अद्भुत क्षमता है। बिम्बों, प्रतीकों और नाटकीय स्थितियों के चित्रण द्वारा उन्होंने अपनी कहानियों को अर्थ के विभिन्न स्तर दिये हैं। 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठरी की बात', 'शरणार्थी', 'जयदोल', 'अमर वल्लरी' और 'ये तेरे प्रतिरूप' उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं।

इलाचन्द्र जोशी ने अपनी कहानियों में मनोवैज्ञानिक केस-हिस्ट्री पिरोयी है। इस दिशा में अग्रसर होनेवाले वे अकेले कहानीकार हैं, पर उनकी कहानियों में अधिकतर किताबी सूरतें, किताबी स्थितियाँ और ग्रन्थियाँ परिलक्षित होती हैं। इसीलिए उनकी कहानियाँ प्रायः नीरस, असंवेदनीय और अपठनीय हो गयी हैं। 'खँडहर की आत्माएँ', 'डायरी के नीरस पृष्ठ', 'आहुति' और 'दिवाली' उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। जोशी जी के विपरीत अश्क की कहानियों में विविधता के दर्शन होते हैं। यह वैविध्य विषयवस्तु और शिल्प दोनों में है; पर मनोविश्लेषण, प्रतीक, सेक्स आदि के आधार पर लिखी गयी कहानियों में फ़ार्मूलाबद्धता अधिक दिखायी देती है। इस तरह की कहानियों में जो गहन मनोवैज्ञानिक पकड़ अपेक्षित होती है, वह अश्क में नहीं है। यदि उन्होंने कहानी-लेखन की अपती खुद की धारा बनाने की चेष्टा की होती—जैसा कि प्रेमचन्द, जैनेन्द्र और अज्ञेय ने किया है—तो वे 'डाची' और 'कांगड़ा का तेली' जैसी स्वस्थ सामाजिक कहानियाँ लिख सकते थे। वैसे, इसमें सन्देह नहीं कि क्रियात्मक सामाजिक दृष्टि के कारण उनकी कहानियों में कलात्मक परिपक्वता भी मिलती है।

विष्णु प्रभाकर, कमल जोशी, निर्गुण, भैरवप्रसाद गुप्त, अमृतराय आदि अपेक्षाकृत नयी पीढ़ी के कहानीकार हैं। विष्णु नये बनने के प्रयास में भी पुराने संस्कारों को छोड़ नहीं पाते, फिर भी 'धरती अब भी घूम रही है' संग्रह की इसी शीर्षक की कहानी नये बोध के

निकट है। कमल जोशी की 'शीराजी' और 'पत्थर की आँखें, अपने समय में काफ़ी च हुई थीं, पर इधर नयी कहानी लिखने के प्रयास में उन्हें असफलता ही मिली है। नि अपनी कहानियों में भावुकता के चित्र उरेहते रहते हैं, तो भैरवप्रसाद गुप्त और अमृत की कहानियाँ मार्क्सवादी नुस्खों से बनायी गयी हैं। चन्द्रकिरण सौकरिक्सा ने इस दृष्टि कुछ अच्छी कहानियाँ लिखी हैं। राधाकृष्ण की कुछ कहानियाँ भी थीम के अछूतेपन पैने व्यंग्य के कारण स्मरण की जाएँगी। 'रामलीला' इसी तरह की कहानी है। उन वनफूल का विशेष प्रभाव लक्षित होता है।

परम्परा का नया मोड़—रोमैंटिक यथार्थ : सन् १९५० के बाद की हिन्दी-कहानि में दो विरोधी स्वर सुनायी पड़ते हैं—मूल्यवादी स्वर और विघटित मूल्यों के परिवेश चीख, त्रास या बदले हुए रिश्तों का स्वर। छठे दशक में पहला स्वर मुख्य रहा और बदलाव का सूचक दूसरा स्वर सातवें दशक की विशेषता है। लम्बे संघर्ष के बाद सन् १९ में देश के स्वतन्त्र होने पर हिन्दी-कहानियों में भी इस नये उल्लास और नवीन आकांक्षा की अभिव्यक्ति हुई। नये मूल्यवाले चरित्रों की सृष्टि की जाने लगी, जिनका महत्त्व इसलि है कि वे किसी-न-किसी संघर्ष से सम्पृक्त हैं। इसे प्रेमचन्द्र की परम्परा का नया मोड़ मा जा सकता है। साथ ही जैनेन्द्र और अज्ञेय के प्रभाव को भी अस्वीकार नहीं किया सकता, किन्तु जहाँ उनमें मनोविश्लेषण और अवसाद की मुख्यता है, वहाँ छठे दशक कहानियाँ आत्मसंघर्ष और नाटकीय तनाव के कारण उनसे अलग हो जाती हैं। इस दशक कहानियों को लेकर बहसें और आन्दोलन भी कम नहीं हुए। सन् १९५५ में 'कहानी' पत्रि के प्रकाशन ने इस दौर को आगे बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया; और १९५६-५७ में नयी कविता के वज़न पर इसका नाम भी 'नयी कहानी' रख दिया गया।

छठे दशक में ग्रामांचल की कहानियों ने ही पहले ध्यान आकृष्ट किया। इसके सा साथ कस्बों और नगरों की कहानियाँ भी लिखी गयीं, किन्तु इन्हें एक-दूसरे की प्रतिक्रि में रचित मानना उचित नहीं है। फिर भी, जिन अंचलों से कहानी की विषयवस्तु ली जा है, उनका प्रभाव उसके रूपायन (फ़ार्मेशन) पर पड़ता ही है। ग्रामांचल के कहानीकार में शिवप्रसाद सिंह, मार्कण्डेय और फणीश्वरनाथ रेणु के नाम मुख्य हैं। इनकी कहानि में गाँव की मिट्टी की जो सोंधी महक और गाँव के लोगों का जो जीवन देखने को मिला वह जैनेन्द्र और अश्क की परम्परा की कहानियों से भिन्न था। इसके पहले गाँव अपने पू पार्श्व की पूर्णता में चित्रित नहीं हो पाये थे, किन्तु इन लेखकों ने गाँव के जो चित्र चरित्र प्रस्तुत किये, वे मूलतः रोमैंटिक थे। ये लेखक स्वयं अपने-अपने गाँवों से शहरों आ गये थे, इसलिए पीछे छूटे हुए गाँव की यादों का रूमानियत से भर उठना स्वाभावि था। शिवप्रसाद सिंह की प्रारम्भिक कहानियाँ प्रायः अतीतोन्मुख हैं। दादा, दादी, भाई आ के माध्यम से उन्होंने जिन ध्वंसोन्मुख मूल्यों को प्रतिष्ठित किया है, वे एक ओर जहाँ रोमैंटि हैं, वहाँ पूर्वजों के मूल्यगत प्रतिमानों ने उन्हें मोहग्रस्त भी बना दिया है; पर यह पक्ष उनका भोगा हुआ न होकर केवल देखा या सुना हुआ है। किन्तु, जहाँ वे अतीतोन्मुख न हैं वहाँ उनकी कहानियाँ अधिक यथार्थपरक रही हैं। उन्होंने प्रायः परिवार के भीतर पैठ अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों का विश्लेषण किया है। 'आरपार की माला', 'मुर्दा सराय', भी इन्तज़ार है' आदि उनके कहानी-संग्रह हैं। मार्कण्डेय की ग्रामांचल की कथाओं में शुरू में अतीतोन्मुखता ही दिखायी पड़ी। 'गुलरा के बाबा' और 'हंसा जाई अकेला' में ब के प्रति रोमानी दृष्टिकोण अख्तियार किया गया है। बाद में उन्होंने गाँवों में उगते हुए न

ं को पहचानने और चित्रित करने की भी कोशिश की। शहरी जीवन से सम्बद्ध नियाँ भी उन्होंने लिखी हैं, पर ऐसा लगता है कि यह विषय-वस्तु उनके घेरे के बाहर महुए का पेड़', 'हंसा जाई अकेला', 'भूदान', 'माही' आदि उनके प्रकाशित कहानी-संग्रह रोमैंटिक यथार्थ का सर्वाधिक चटकीला, समग्र और आत्मीयतापूर्ण रंग रेणु की कहानियों मिलता है। वे आदिम रसगन्धों के कथाकार हैं। गाँव की धूल-माटी, आँगन की धूप, ों की घण्टियाँ, धान की झुकी हुई बालियाँ, गमकता चावल, मेला-ठेला, हँसी-ठिठोली दि के वर्णन में गाँव ही नहीं, पूरा अंचल उभर आता है। इस दृष्टि से 'लाल पान की म' और 'तीसरी कसम' विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

ग्रामांचल से हटकर भी परम्परा के इसी मोड़ पर रांगेय राघव, भीष्म साहनी, र जोशी, अमरकान्त, श्रीमती विजय चौहान, ओंकारनाथ श्रीवास्तव, शैलेश मटियानी कर गंगाधर, शानी आदि आते हैं। इन्होंने प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाया है। र जोशी की कहानी 'कोसी का घटवार' रोमानी स्पर्श से रिक्त न होते हुए भी अधिक ार्थ है, अमरकान्त की 'ज़िन्दगी और जोंक' आधुनिकता-बोध के जीवन्त आयाम को छूती पर रांगेय राघव की 'गदल' संघर्षशील मूल्यों के कारण श्लाघ्य होते हुए भी अतिनाटकीय गयी है।

युगीन संक्रमण और तनावों स्थितियाँ : आलोच्य अवधि के कहानीकारों ने एक ओर ाने मूल्यों के प्रति रोमानी दृष्टि की अभिव्यक्ति की, तो दूसरी ओर युगीन संक्रमण के धिकाधिक दबाव का अनुभव भी किया। इस दबाव के फलस्वरूप तनाव, मूल्यों की तलाश ौर विविध सन्दर्भों की कहानियाँ लिखी गयीं। मोहन राकेश तनावों के कहानीकार हैं, ाजेन्द्र यादव की कहानियों में वैयक्तिकता पर सामाजिकता हावी रहती है और कमलेश्वर नावों के बीच मूल्यान्वेषण के लिए सचेष्ट रहते हैं। मोहन राकेश की कहानियों में 'मलबे ा मालिक' को विशेष ख्याति मिली। यह सन् १९४७ के भारत-विभाजन के फलस्वरूप पैदा ई मनःस्थिति पर आधारित है। देश के विभाजन की परिणति व्यापक रक्तपात में ही नहीं ुई, बल्कि दो सम्प्रदायों के बीच दुराव, सन्देह, त्रास, डर, घृणा आदि मानसिक वधारणाओं में भी हुई। अज्ञेय, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, अश्क आदि ने भी इस विषय पर कहानियाँ लिखीं, किन्तु जहाँ अज्ञेय की कहानियाँ फ़ार्मूलों पर टिकी हैं, विद्यालंकार की कहानी एक और हिन्दुस्तानी का जन्म हुआ' दर्द को उभारने में असफल रही है और अश्क की टेबुल लैंड' रोमैंटिक भावुकता से पूर्ण आदर्शवादी कहानी बनकर रह गयी है, वहाँ 'मलबे का मालिक' के रचाव में अपेक्षित सांकेतिकता और तनाव है! पर राकेश की प्रतिनिधि कहानी 'एक और ज़िन्दगी' है। यह आज के ट्रैजिक तनाव को पूरी गहराई में आँकती है—मनुष्य न तो छूटी हुई ज़िन्दगी को छोड़ पाता है और न चुनी हुई ज़िन्दगी को अपना पाता है, अपितु दोनों ओर खींचा जाकर क्षत-विक्षत हो जाता है। राकेश की जिन कहानियों में सामाजिकता-वैयक्तिकता का तनाव नहीं है, वहाँ ठहराव आ गया है। 'ज़ख्म' और 'ठहरा हुआ चाकू' ऐसी ही कहानियाँ हैं। उनके कहानी-संग्रह हैं—नये बादल, जानवर और जानवर, एक और ज़िन्दगी आदि।

राजेन्द्र यादव की कहानियों में आधुनिक भाव-बोध को व्यापक सामाजिकता में सन्दर्भित करने की कोशिश मिलती है। उन्होंने निर्वैयक्तिकता पर विशेष बल दिया है और 'एक समानान्तर दुनिया' बनाने की चेष्टा की है, किन्तु इस समानान्तरता ने कहानियों को व्यक्तित्व भले ही दिया है, पर इसी के कारण वे असम्प्रेषित रह गयी हैं। यादव 'ह्वील विदिन

झील' के कहानीकार हैं, फलस्वरूप उनकी कहानियों में उलझाव आ जाता है जिसका कारण यह भी है कि वे मूलतः औपन्यासिक चेतना के कथाकार हैं। 'जहाँ लक्ष्मी 'अभिमन्यु की आत्मकथा', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'किनारे से किनारे तक', 'प्रतीक्षा', और अन्य कहानियाँ', 'अपने पार' आदि उनके प्रमुख कहानी-संग्रह हैं। कमलेश्वर की कहानि युगीन संक्रमण का मूल्यान्वेषी स्वर मिलता है। उनकी विकास-यात्रा में बोध के विभिन्न और जीवन के विविध आयाम दिखायी देंगे। उराहरणार्थ 'देवा की माँ' में पुरानी पी जीवन का सशक्त चित्रण हुआ है, तो 'नीली झील' में मानवीय संवेदना को उसकी वि में लिया गया है। 'खोई हुई दिशाएँ' आज के महानगरीय बोध, अकेलेपन और बेगान ट्रेजेडी है, तो 'मांस का दरिया' में 'यामा द पिट' की झाँकी मिल सकती है। कमलेश्वर काल-खण्ड के अत्यन्त सशक्त कहानीकार हैं। यह शक्ति रूमानियत से अलग होने और संरचना के संयम में निहित है। सम्पूर्ण संरचना में इतनी निःसंगता किसी अन्य कहानी में नहीं आ पायी है।

कवि-कहानीकार : आलोच्य काल में नरेश मेहता, रघुवीर सहाय (रास्ता इ भी है), सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, धर्मवीर भारती, कुँवर नारायण, रामदरश मिश्र (खाली एक वह) आदि ने अपने-अपने ढंग की कहानियाँ लिखी हैं। कविता का अभ्यासी सा कार जब कहानी-लेखन की ओर उन्मुख होता हैं तो यह आशंका बराबर बनी रहती है कहीं कविता कहानी पर हावी न हो जाय। नरेश मेहता की 'तथापि', 'निशाजी' आदि काव्यगत रोमानियत की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। रघुवीर सहाय और सर्वेश्वर के सम में भी यह कम सच नहीं है। भारती ही ऐसे कवि-कथाकार हैं, जिन्होंने कविता से कहानी अलग करने की चेष्टा की है। यह चेष्टा 'गुलकी बन्नो', 'सावित्री नं० २' और 'बन्द गली आखिरी मकान' में स्पष्टतः दिखायी पड़ती है। इन कहानियों में आत्मपरकता से वस्तुपर की ओर जाने के लिए कथा-तत्त्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। 'गुलकी बन्नो' रोमानियत का आरोप लगाया जाता है, पर इसमें जिस परिपार्श्व और परिवेश को लिया है वह विश्वसनीय और यथार्थ है। एक विशेष स्थिति में समूचे टोले-मुहल्ले का दर्द उभ गया है—गुल-गपाड़े, व्यंग्य-विनोद तथा विद्रूप-बौछारों की पृष्ठभूमि में यह दर्द उन मानव मूल्यों को चित्रित करता है जो औद्योगिक सभ्यता में आज भी सुरक्षित हैं, दुर्लभ हैं।

लेखिकाओं का संसार : मन्नू भण्डारी, कृष्णा सोबती, शिवानी, उषा प्रियंवदा, रज यन्निकर, मेहरुन्निसा परवेज़, विजय चौहान आदि कहानी-लेखिकाओं का अपना संसार है किसी सीमा तक पुरुषों के संसार से अलग है। सामान्यतः स्त्रियों का संसार पुरुष-संसार किंचित् भिन्न होता है, किन्तु इन लेखिकाओं ने इस भिन्नता को कुछ कम करने की चेष्टा है। फिर भी, जहाँ मन्नू भण्डारी (कृषक), सोबती और शिवानी (पुष्पहार) ने आधुनि नारी की मनःस्थिति, पारिवारिक जीवन में पति-पत्नी के सम्बन्ध आदि विषयों को ले अनुभव के सीमित दायरे के अन्तर्गत कहानी-रचना की है; वहाँ उषा प्रियंवदा में वैवि और आधुनिक जीवन के अनेक आयाम दिखायी पड़ते हैं। इनकी कहानियों को सातवें द का पूर्ववर्ती रूप मानना चाहिए।

मन्नू ने बड़ी ही ईमानदारी के साथ नारी के मन में उठनेवाले भावों, स्थितिवि में पुरुष के मन में जगनेवाली शंकाओं, ईर्ष्याओं आदि को अपनी कहानियों में चित्रित कि है। 'मैं हार गयी', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर' और 'यही सच है' उनके कहानी-सं हैं। कृष्णा सोबती सेक्स-जन्य भावुकता को ही उभारकर रह जाती हैं। शिवानी की कह

सेक्स भी हैं और किसी सीमा तक नारी-मनोविज्ञान को आधुनिक जीवन के नये ों में देखने की इच्छा भी है। वातावरण को उसकी सम्पूर्ण संवेदना के साथ उभारने ानी को विशेष सफलता मिली है। उषा प्रियंवदा आधुनिकता-बोध की कहानीकार हैं। बोध भी नया है और भाषा भी अपेक्षाकृत संयमित है। वे न कमज़ोर लड़की की कहानी हैं और न भावाविष्ट क्षणों की सचाई को सचाई मानती हैं, अपितु उन्होंने विशेष तियों में अकेलेपन, बेबसी, हार और लाचारी की मानवीय नियति को आकलित किया न्दगी और गुलाब के फूल' तथा 'एक कोई दूसरा' उनके कहानी-संग्रह हैं।

चीख, क्षण, मूड और मिथक : छठे दशक के अन्त में उभरनेवाली और सातवें दशक रम्भ में पूरी तरह छा जानेवाली कहानी-लेखन की इन प्रेरक स्थितियों की गूँज अनेक कारों में मिलती है। निर्मल वर्मा ने इसके लिए हिन्दी-कहानी की परम्परा को छोड़-पने को पाश्चात्य परम्परा से जोड़ा है। फलस्वरूप उनकी कहानियाँ अपनी भूमि, अपने परम्परा, यहाँ की ग़रीबी और जहालत से कटकर रोमानी रुचि से ओत-प्रोत हैं। कहानी-संग्रह की इसी शीर्षक की रचना और लवर्स' ऐसी ही कहानियाँ हैं। सूराख़ उनकी कहानियों में इतने विविध रूप-रंगों में उभरता है कि उनकी प्रारम्भिक कहा-छायावादी कविता के निकट पहुँचकर एक 'रोमैंटिक एगोनी' की अभिव्यक्ति करती हैं। न्दन की एक रात' और 'कुत्ते की मौत' उनकी कहानियों में अपना विशिष्ट स्थान रखती नमें जीवन की अनिश्चितता, घुटन, निरर्थकता, रंगभेद और बेगानगी को जिस सम्पृक्तता ाया गया है; वह किन्हीं स्वीकृतियों या प्रतिबद्धताओं की ओर भी संकेत करती है।

आधुनिकता-बोध को लेकर कहानी लिखनेवालों में रामकुमार, विजय चौहान और मल चौधरी का उल्लेख भी आवश्यक है। कथाओं, घटनाओं और चरित्रों द्वारा निर्मित ली कहानियों के पिछले ढाँचे को तोड़ते हुए इन्होंने ज़िन्दगी के छोटे-छोटे टुकड़ों, तेज़ी लते हुए दृश्यों, छोटी-छोटी घटनाओं और अर्थपूर्ण प्रतीकों द्वारा युगीन जीवन को कित किया है जिसके लिए इन्होंने अपने को प्रतिबद्धताओं से मुक्त रखने की यथासम्भव श की है। श्रीकान्त वर्मा की कहानियों को ब्रेन ट्यूमर की कहानियाँ कहा जा सकता न्तु यह ट्यूमर प्रायः प्रेम के चारों ओर चक्कर लगाता है। उनकी कहानियों में स्थिति निर्णयात्मकता, एकचित्तता का अभाव, बेहद बेचैनी आदि हैं जिसका अर्थ यह भी है भी वे रोमानियत को नहीं छोड़ पाये हैं और न उसे अस्वीकार करके यथार्थ को ग्रहण सके हैं।

सातवें दशक को मोहभंग का दशक कहना उचित होगा। इस दशक के कहानीकारों मांस-मुक्त होकर नये यथार्थ का साक्षात्कार किया। मूल्यों के पूर्ण विघटन के साथ-साथ त्वों का खण्डित होना स्वाभाविक था, जिसकी झलक सबसे अधिक नेतृत्व में दिखायी । मूल्यहीनता की चरम परिणति कांग्रेस के विभाजन में हुई, यों सन् १९६२ में चीन के के समय ही मोहभंग हो चुका था। पुरानी पीढ़ी के प्रति क्षोभ-आक्रोश का समारम्भ से हुआ। बुद्धिजीवी वर्ग का संकट और भी गहरा था। उसकी आवाज़ सुननेवाला कोई नहीं था। पुरानी पीढ़ी से संवाद की कोई स्थिति ही नहीं रह गयी। अकेलेपन और सन का एहसास गहरा हो गया, किन्तु इनकी अपेक्षा ऊब की स्थिति अधिक उभरी। यह स्पष्ट ही है कि अकेलेपन और निर्वासन में जहाँ गहन रचनात्मक दृष्टिकोण है, वहाँ में विघटनात्मक और सतही विद्रोहात्मक रवैया अधिक दिखायी पड़ता है। ज्ञानरंजन, ाथ सिंह, गंगाप्रसाद विमल, गिरिराज किशोर, रवीन्द्र कालिया, महेन्द्र भल्ला, ज्ञानप्रकाश,

काशीनाथ सिंह आदि इस दशक के अन्य उल्लेखनीय कहानीकार हैं।

ज्ञानरंजन अपनी वस्तुनिष्ठता, सन्तुलन और संयम के कारण सबसे अलग और वि हैं। 'फेंस के इधर और उधर' में संगृहीत कहानियाँ इसकी परिचायक हैं। दूधनाथ सिं 'रक्तपात' में कटाव, अलगाव और निर्वासन चरम सीमा पर पहुँच गया है। उनकी कहा अनायास ही इस विचार को जन्म देती हैं कि जहाँ एक समय ऐसा था जब आदर्श च निर्मित होते थे, दूसरा समय ऐसा आया जब प्रामाणिक चरित्र निर्मित किये जाने वहाँ एक समय यह भी है जब अभिशप्त चरित्रों की सृष्टि होने लगी है। गंगाप्रसाद वि की कहानी 'एक और विदाई' में भी गुमशुदा पहचान की तलाश है, पर यह कहानी सिद्ध के जाल में उलझकर कहानीपन खो देती है। बदले हुए रिश्तों को लेकर जो कहानियाँ लि गयीं उनमें से अधिकांश में दो पीढ़ियों की टकराहट दिखायी पड़ती है। विमल की 'प्र चिह्न' और ज्ञानरंजन की 'पिता' ऐसी ही कहानियाँ हैं।

गिरिराज किशोर आज की परिस्थितियों में निर्णय न ले सकनेवाले उन व्यक्तियों कहानीकार हैं जो तिलस्म में फँसे हुए हैं और बन्द होनेवाली दिशा में दरवाज़ा खोलते 'पेपरवेट' में संकलित कहानियों में उन्होंने बाबू तबक़े के अन्तर्विरोध और विसंगतियों चित्रित किया है, पर प्रायः वे अपने सन्दर्भों में ही ठिठककर रह गये हैं। रवीन्द्र कालिया कहानियों में स्पष्टतः रोमांस-विरोधी मुद्रा दिखायी पड़ती है। वे हर तरह की शिष्ट (डिसेंसी) और आभिजात्य का मज़ाक उड़ाते हैं। किसी अन्य लेखक ने विदूपकीय मु और विडम्बना को इस मात्रा में अपनी रचना का आधार नहीं बनाया है। सब मिला उनकी कहानियों में ऊब (बोरडम) के चित्र ही अधिक मिलते हैं। अपने भाषायी साम को मूल्य-चेतना से जोड़ पाने में भी वे विफल रहे हैं। महेन्द्र भल्ला-कृत 'एक पति के नो में आत्मनिर्वासन का वह दर्द है जिसे वह खुद झेलता है। जिस ज़िन्दगी को वह नहीं चाह वही जीनी पड़ती है। यह उसकी अपनी ही नियति नहीं है, बल्कि आधुनिकता-बोध से सम्प्र प्रत्येक व्यक्ति की नियति है। इसमें नैतिक मूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं है। 'तीन च दिन' भी पति-पत्नी के सम्बन्धों को लेकर लिखी गयी ऐसी ही कहानी है। ज्ञानप्रकाश कहानियाँ 'अँधेरे के सिलसिले' में संगृहीत हैं जिनमें जीवन की जड़ता और व्यर्थता प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है। काशीनाथ सिंह की कहानियों में इधर एक न बदलाव आया है—आधुनिकता से अभ्युदिष्टता की ओर। यह बदलाव उस महत्त्वपू मोड़ का सूचक है जिसे आठवें दशक का आरम्भ कह सकते हैं। इस प्रवृत्ति के कार वे अस्वीकार से स्वीकार की ओर उन्मुख हुए हैं। 'चायघर में मृत्यु', 'चोट' औ 'हस्तक्षेप' इसी प्रवृत्ति की कहानियाँ हैं। इनकी भाषा ऊपर से सपाट है, पर भीतर से ज अर्थों को व्यक्त करती है। अपने विनोदपूर्ण व्यंग्य के कारण वे कहानी के माहौल को ज़िन्द दिल और धारदार बना देते हैं।

इधर के कहानीकारों में सिद्धेश, प्रकाश बाथम, हृषीकेश, सुदर्शन नारंग, महीपाल पानू खोलिया, सुरेश सिन्हा, रमेश उपाध्याय, जितेन्द्र भाटिया, राजकुमार भ्रमर, नरे कोहली, गोविन्द मिश्र, हर्षनाथ, वेद राही, श्रवण कुमार आदि अनेक नाम आते हैं। महि लाओं में ममता कालिया, सुधा अरोड़ा, निरुपमा सेवती, अनिता औलक, वर्तिका अग्रवा दीप्ति खंडेलवाल आदि ने भी आधुनिकता-बोध की कहानियाँ लिखी हैं। इनकी कहानि में सामान्यतः स्त्री के स्वतन्त्र व्यक्तित्व के चित्र आँके गये हैं। यहाँ तक कि सेक्स के सम्ब में भी इन्हें कोई झिझक और रोमानी संकोच नहीं हैं।

छठे दशक की कहानियों को पाँचवें दशक की कहानियों की प्रतिक्रिया में रचित तना ग़लत है क्योंकि कोई भी लेखन ऐतिहासिक सन्दर्भविशेष की देन होता है। पाँचवें क के अन्त में सामाजिक-राजनीतिक परिवेश में जो अराजकता की स्थिति और मूल्य- नता आने लगी थी, उसकी प्रतिक्रिया तो छठे दशक में ही शुरू हो गयी थी, पर सातवें क में वह अपने चरमोत्कर्ष पर जा पहुँची। छठे दशक के आख़िरी वर्षों में आधुनिकता- दी कहानियाँ मिथ्या लगने लगीं, फलस्वरूप कुछ कथाकारों ने अस्वीकार, ऊब, अकेलेपन दि को नकार दिया और कहानी को स्वीकारोन्मुख बनाया। दूधनाथ सिंह और गंगाप्रसाद मल की कहानियों में केले के पर्त की तरह तह की हुई जिस भाषा का प्रयोग मिलता है, से अब भाषा का दुरुपयोग माना जाने लगा। सातवें दशक के मध्य में युवा-विद्रोह की जो हर आयी, उसके फलस्वरूप बेलाग और दो-टूक बात कहने की प्रवृत्ति को और बल मिला। रानी व्यवस्था के विरोध में एक प्रकार का बौद्धिक-राजनीतिक आन्दोलन ही चल पड़ा। स आन्दोलन ने भाषा को खुरदरापन और ताज़गी देने के साथ ही यथार्थ को बेलाग आँक ने की क्षमता भी दी। किन्तु, ध्यान रखना चाहिए कि भाषा स्वयं में महत्त्वपूर्ण नहीं होती; जन की आन्तरिक विवशता ही साहित्यिक भाषा को रचनात्मकता का स्तर दे सकती है।

विगत दो दशकों में कहानी का रूपबन्ध भी बदला है। पाँचवें दशक तक कहानी का सूत्र बहुत-कुछ निश्चित रहता था, पर जैनेन्द्र और अज्ञेय के कारण षट् तत्त्वोंवाली कहानियों में बदलाव आया। यह बदलाव मुख्यतः कथानक और चरित्रों को लेकर था; पर उनमें कथा-लेखन की परम्परागत पद्धति निःशेष नहीं हुई थी। इसके विपरीत पिछले दो दशकों में रूपबन्ध-सम्बन्धी पुरानी धारणाएँ अपने आप टूट गयीं। कहानी में निबन्ध, रेखाचित्र, रिपोर्ताज, संस्मरण, डायरी आदि विधाएँ भी सम्मिलित हो गयीं जिसका फल यह हुआ कि उसका रूपबन्ध अब अधिक अभिव्यंजनापूर्ण हो गया है।

निबन्ध

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वैचारिक निबन्धों को उत्कर्ष की चरम ऊँचाई पर पहुँचा दिया था—मुख्यतः मनोविकार-सम्बन्धी निबन्धों को, इसलिए छायावादोत्तर-काल में हिन्दी-निबन्ध अन्य दिशाओं की ओर मुड़ा। जहाँ तक विचारात्मक निबन्धों का सम्बन्ध है, समीक्षात्मक निबन्ध ही अधिक लिखे गये; यद्यपि व्यक्तित्व-व्यंजक निबन्धों की संख्या भी काफ़ी बड़ी है। शुक्ल जी के समीक्षात्मक निबन्धों की परम्परा की अगली कड़ी के रूप में नन्ददुलारे वाजपेयी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'जयशंकर प्रसाद', 'आधुनिक साहित्य', 'नया साहित्य नये प्रश्न' आदि में संकलित निबन्धों में उनकी सूक्ष्म पकड़, सन्तुलित दृष्टि, गत्यात्मकता और रचनात्मकता का परिचय मिलता है। समसामयिक साहित्यिक आन्दोलनों और विचार-सरणियों के बीच धँसकर भी ऐसे प्रश्नों की खोज में रहते थे, जो वाद-मुक्त मानवीय गत्यात्मकता से सम्बद्ध हों। वैयक्तिकता, व्यंग्य-विनोद आदि की झाँकी भी उनके निबन्धों में विद्यमान है। रत्नाकर, अज्ञेय आदि से सम्बद्ध निबन्धों में व्यंग्य एक जगह अपना अर्थ देकर ही खत्म नहीं हो जाता, अपितु वह पूरे निबन्ध के सम्बन्ध में लेखकीय दृष्टिकोण और अभिगम की सूचना देता है अर्थात् इससे सम्बद्ध निबन्ध की अर्थवत्ता को नयी सांकेतिकता मिलती है।

इस काल के सबसे महत्त्वपूर्ण निबन्धकार हजारीप्रसाद द्विवेदी हैं। उनके ललित निबन्धों में सांस्कृतिक विरासत के वर्चस्व के साथ नवीन जीवन-बोध, उत्कट जिजीविषा और नयी सामाजिक समस्याओं के बीच राह पाने की ललक सर्वत्र दिखायी पड़ती है। द्विवेदी जी

का व्यक्तित्व लचीला और निरन्तर विकासमान है। देश की नयी-से-नयी गद्यात्मकता विचार-धारा से वे अपने को ही जोड़ लेते हैं और इस प्रकार अपनी ऐतिहासिक दृष्टि को नये सिरे से समंजित करते रहते हैं। विद्वत्ता और सहृदयता का तो संयोग उनके निबन्धों में मिलता है, वह सामान्यतः विरल होता है। 'अशोक के फूल' (१९४८), 'विचार और वितर्क' (१९४९), 'कल्पलता' (१९५१) 'विचार-प्रवाह (१९५९) और 'कुटज' उनके निबन्ध-संग्रह हैं जिनमें प्रायः समीक्षात्मक निबन्धों के साथ ही ललित निबन्ध भी संगृहीत हैं। द्विवेदी जी के ललित निबन्धों की विकास-यात्रा का लेखा-जोखा लेने पर कहना होगा कि संघर्षों के कारण उनके परवर्ती निबन्धों में जीवनोन्मुखता अधिक निखर उठी है। 'कुटज' से एक उद्धरण द्रष्टव्य है :

> *"कुटज क्या केवल जी रहा है ? वह दूसरों के द्वार पर भीख मांगने नहीं जाता—अपनी उन्नति के लिए अफ़सरों का जूता नहीं चाटता—आत्मोन्नति के हेतु नीलम नहीं धारण करता—दाँत नहीं निपोरता—जीता है और शान से जीता है। कहाँ से मिली है अकुतोभयावृत्ति, अपराजित स्वभाव, अविचल जीवन-दृष्टि !"*

द्विवेदी जी ने पाण्डित्य अर्जित किया है, किन्तु मनुष्यता भी उनमें कम नहीं है; फलस्वरूप पाण्डित्य को सहजता की ओर ले जाना उनका स्वभाव है। इतिहास, पुराण, साहित्य आदि से गम्भीर-से-गम्भीर तथ्य उठाते हुए वे प्रायः उन्हें समसामयिकता से जोड़ देते हैं। अतः उनके निबन्ध न तो गम्भीरता का तेवर छोड़ते हैं और न सहजता का बाना। उनकी रचना-प्रक्रिया में पाण्डित्य और सहजता का जो तनाव मिलता है, उसे पकड़ पाने के लिए पाठकों को भी सन्दर्भों की जानकारी होनी चाहिए अन्यथा उनके निबन्धों के सौन्दर्य-बोध को समग्रतः आयत्त नहीं किया जा सकता। भाषा की लय, गुम्फित पदावली, विषयान्तर, वस्तुओं के बिम्बात्मक चित्रण आदि से द्विवेदी जी के निबन्ध एकतान, अन्वितिपूर्ण और संश्लिष्ट हो गये हैं। ललित निबन्धों के अतिरिक्त उन्होंने विचारपरक, शोधपरक और समीक्षात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। शोधपरक निबन्धों से विद्वत्ता की गहरी तह में बैठकर गहरी छानबीन की उनकी क्षमता का परिचय मिलता है। यह निर्विवाद है कि द्विवेदी जी इस काल के, या सम्पूर्ण आधुनिक काल के, सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं।

आलोच्य काल के निबन्धकारों में जैनेन्द्र का स्थान भी काफ़ी ऊँचा है। अपनी कहानियों और उपन्यासों में उन्होंने जिस सोच-विचार और दार्शनिक मुद्राओं को अपनाया है, उन्हें मानो उनके निबन्धों में सही भूमि मिल गयी है। जैनेन्द्र की दार्शनिकता बहुत-कुछ निजी है; और इस निजीपन के कारण ही उनके निबन्ध ऊब पैदा नहीं करते। नयी अर्थवत्ता के प्रति जागरूक रहने के साथ ही उन्होंने निबन्धों में सरसता का भी पूरा ध्यान रखा है। उनके विचारों की विस्तृत सीमा में अनेक प्रकार के विषय समाहित हो जाते हैं। धर्म, राजनीति, संस्कृति, साहित्य, सेक्स, काम, प्रेम, विवाह आदि विषयों पर व्यक्त किये गये उनके विचारों से यह प्रतीत होता है कि वे अपने चतुर्दिक् फैली हुई समस्याओं से निरन्तर जूझते रहे हैं। 'जड़ की बात', 'साहित्य का श्रेय और प्रेय,' 'सोच-विचार', 'मन्थन', 'ये और वे', 'इतस्ततः' आदि उनके निबन्ध-संग्रह हैं। गांधीवादी होने के कारण वे 'सत्य, अहिंसा, आत्मसमर्पण और हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते हैं। इसलिए बदले हुए ज़माने में भी उनकी परिणतियाँ कहीं-कहीं युगानुरूप नहीं बन पातीं। उनके कुछ निबन्ध निर्बन्ध हैं और कुछ विचारप्रधान, किन्तु भाषा की व्याकरणिकता की चिन्ता उन्होंने

भी नहीं की—अभिव्यक्ति के सहज प्रवाह पर ही उनका बल रहा है। निर्बन्ध निबन्धों उनकी अन्तरंगता दिखायी पड़ती है, तो विचारात्मक निबन्धों में वस्तुनिष्ठता। वैसे, तुनिष्ठता में भा निर्जीपन का रंग है।

हिन्दी में प्रभाववादी समीक्षा के अग्रदूत **शान्तिप्रिय द्विवेदी** ने समीक्षात्मक निबन्धों के तिरिक्त साहित्येतर विषयों पर निर्बन्ध निबन्ध भी लिखे हैं। उनके समीक्षात्मक निबन्धों भी निर्बन्ध निबन्धों का स्वाद मिलता है। वे प्रकृति से तरल, आत्मनिष्ठ और भावुक हित्यकार थे—छायावादी काव्य के मानवीकरण अलंकार! उनकी तरलता, सहृदयता र अन्तरंगता के दर्शन उनके निबन्धों में सर्वत्र होते हैं। 'संचारिणी' (१९३९) 'युग और हित्य' (१९४१), 'सामयिकी '(१९४४), 'धरातल' (१९४८), 'प्रतिष्ठान' (१९५३), कल्प' (१९५५), 'आधान' (१९५७), 'वृन्त और विकास' (१९५९) आदि उनके ख निबन्ध-संग्रह हैं। अपने जीवन में वे अभावग्रस्त और उपेक्षित रहे, फिर भी निरन्तर हित्य-साधना में जुटे रहना उनके जीवट का परिचायक है। वे सौन्दर्य-संस्कारिता के ासक थे। संस्कारिता के अभाव में बाह्य उपकरणों द्वारा न तो समाज का कल्याण हो कता है न व्यक्ति का, ऐसा उनका विश्वास था। प्रगतिशीलता के विरोधी वे कभी भी हीं रहे; पर ग़रीबी, अभाव और पीड़ा को वे सृजन के मार्ग में बाधक नहीं मानते थे। नके समीक्षात्मक निबन्धों में जगह-जगह सूक्ष्म पकड़ और अन्तर्दृष्टि दिखायी पड़ती है। वुकता और संवेदना के कारण विषय का आत्मीयतापूर्ण प्रतिपादन और भाषा की रागात्मता उनके निबन्धों की सहज विशेषताएँ हैं।

रामधारीसिंह 'दिनकर' भी समय-समय पर महत्त्वपूर्ण निबन्ध लिखते रहे हैं। धिकांश निबन्धों में उनका विचारक-पक्ष ही अधिक उभरकर आया है, पर कुछ ऐसे निर्बन्ध बन्ध भी हैं जो उनके अन्तरंग को अधिक उद्घाटित करते हैं। 'अर्धनारीश्वर', 'मिट्टी की र', 'रेती के फूल', 'हमारी सांस्कृतिक एकता', 'प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण', 'राष्ट्रभाषा र राष्ट्रीय साहित्य' आदि उनके निवन्ध-संग्रह हैं। उनके निबन्धों में मानवीय आस्था का तिफलन हुआ है, जिसका मूल आधार या तो मनोवैज्ञानिक है या सांस्कृतिक। पर ये दोनों धार सहज में ही उनके अपने बन जाते हैं, फलस्वरूप वे अपनी बात को पूर्ण विश्वसनीयता साथ पाठकों तक सम्प्रेषित करते हैं। किन्तु प्रसाद, पन्त और मैथिलीशरण की रचनाओं र विचार करते समय उनका कवि अपनी व्यूह-रचना में फँसकर तटस्थ नहीं रह सका, फिर ी ये निबन्ध उनके स्वतन्त्र काव्य-चिन्तन और विचारणा के सूचक हैं।

समीक्षात्मक निबन्धकारों में वैयक्तिकता का सर्वाधिक संस्पर्श **डॉ० नगेन्द्र** के निबन्धों मिलता है। कवि-कल्पना और मनोवैज्ञानिक दृष्टि उनके व्यक्तित्व के अपरिहार्य अंग हैं। सीलिए 'यौवन के द्वार पर' प्रभृति निबन्धों में व्यक्ति-व्यंजक निबन्धों की निर्बन्धता और त्मीयता आ गयी है। 'चेतना के बिम्ब' के निबन्धों में भी यह विशेषता समाविष्ट है, फलस्वरूप उनकी भाषा भी राग-दीप्त हो उठी है। समीक्षात्मक निबन्धों में भी उनका व्यक्तित्व र्वत्र परिलक्षित होता है, पर इनमें वैयक्तिकता का रंग कुछ भिन्न है। विषय-प्रतिपादन में नमें नि:संग आग्रह मिलता है; अथवा यों कहें कि वे अपने ही आग्रह के प्रति नि:संगता बरतते हैं। बार-बार अपने ही से सवाल पूछना और अपनी ही मान्यताओं के प्रति शंकालु हो उठना नि:संगता के अभाव में सम्भव नहीं है। नि:संगता और आग्रह के बीच की नावपूर्ण स्थितियाँ ही उनके निबन्धों का सृजन कराती हैं। कार्य-कारण की विश्लिष्ट शृंखला, ने तर्कों और विश्लेषण की अद्भुत क्षमता ने उनके निबन्धों को विश्वसनीय बनाने में पूरा

योग दिया है। 'आस्था के चरण' उनके निबन्धों का बृहत् संग्रह है।

अज्ञेय अपने निबन्धों में अपना अनुभूत लिखते हैं—'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में संगृहीत निबन्धों में अनुभूत का वैचारिक विश्लेषण मिलता है। 'आत्मनेपद' के निबन्ध वैयक्तिक सन्दर्भों में लिखे जाकर भी निर्वैयक्तिक आधुनिक सन्दर्भों की सृष्टि करते हैं। निजीपन उनकी विशेषता है, तो वही खामी भी हैं क्योंकि उसी के कारण वे रह-रहकर उपमा और उत्प्रेक्षा के कोष लुटाते-चलते हैं। इस प्रकार इसमें भाषायी अलंकरण विचारों का आवरण बन गया है। 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' के अधिकांश निबन्धों को उनके चिन्तन के अगले चरण के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए। यहाँ उनकी भाषा में संश्लिष्टता आ गयी है, इसलिए विचार भी संश्लिष्ट हो सके हैं। अज्ञेय ने कुछ निबन्ध 'कुट्टिचातन' के नाम से भी लिखे हैं। कुट्टिचातन के नाम से उनके ललित निबन्धों का एक संग्रह 'सब रंग' शीर्षक से भी प्रकाशित हुआ है। अज्ञेय के नवीनतम प्रकाशित निबन्ध-संग्रह हैं—'आलवाल' (१९७१), 'भवन्ति' तथा 'लिखि कागद कोरे' (१९७२)।

साहित्येतर विषयों पर ललित निबन्धों की रचना की ओर अनेक लेखक प्रवृत्त हुए हैं। **रामवृक्ष बेनीपुरी** के निबन्ध 'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) तथा 'वन्दे वाणी विनायकौ' (१९५७) में संगृहीत हैं। 'गेहूँ' भूख का प्रतीक है, तो गुलाब कला और संस्कृति का। मानवीय जीवन में भूख का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व कला और संस्कृति का भी है। बेनीपुरी जी की भाषा में या तो आवेगमयता है या प्रशान्ति; उसमें जटिलता कहीं भी नहीं है। **श्रीराम शर्मा** ने शिकार-सम्बन्धी रोचक निबन्धों की रचना की है जिनमें साहसिक वृत्तान्तों को ग्रामीण पृष्ठभूमि, प्रकृति के ब्योरेवार दृश्य-चित्रण और अछूते मानवीय जीवन के मर्मस्पर्शी आयामों में चित्रित किया गया है। **देवेन्द्र सत्यार्थी** के निबन्धों में धरती की सोंधी गन्ध और लोकजीवन की ताज़गी मिलती है, जिसका श्रेय उनकी घुमक्कड़ ज़िन्दगी को है। 'धरती गाती है', 'एक युग : एक प्रतीक' और 'रेखाएँ बोल उठीं' उनके निबन्ध-संग्रह हैं। घुमक्कड़ी जीवन की निर्बन्धता **भदन्त आनन्द कौसल्यायन** के निबन्धों में भी मिलती है। दृष्टान्त-कथाओं द्वारा विषय का स्पष्टीकरण, गांधीवादी दृष्टिकोण और प्रगतिशील राजनीतिक चेतना का समावेश उनके निबन्ध-संग्रह 'जो भूल न सका' की विशेषताएँ हैं।

वासुदेवशरण अग्रवाल ने जहाँ 'पृथिवी-पुत्र तथा 'कला और संस्कृति के' निबन्धों में भारतीय संस्कृति के विविध आयामों को विद्वत्तापूर्ण ढंग से उद्घाटित किया है, वहाँ **यशपाल** ने अपने कथा-साहित्य की भाँति निबन्धों में भी मार्क्सवादी दृष्टिकोण को ग्रहण किया है। समानता और समाजवाद के विरोध में पड़नेवाले धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य आदि की उन्होंने कड़ी भर्त्सना की है। 'चक्कर क्लब', 'देखा सोचा समझा', 'बात बात में बात', 'गांधीवाद की शव-परीक्षा', 'न्याय का संघर्ष' आदि में उनके शताधिक निबन्ध संगृहीत हैं। **गुलाबराय** के निबन्ध 'मन की बातें' (१९५४) और 'मेरे निबन्ध' (१९५५) में संगृहीत हैं, किन्तु उनमें निर्बन्ध भावुकता के स्थान पर विचारात्मकता अधिक है। **बनारसीदास चतुर्वेदी** के निबन्ध-संग्रहों—साहित्य और जीवन, हमारे आराध्य—में भी यही प्रवृत्ति लक्षित होती है। किन्तु, **माखनलाल चतुर्वेदी**-कृत 'अमीर इरादे : गरीब इरादे' (१९६०) में भावुकता का प्राधान्य है। **कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर** के निबन्धों—'ज़िन्दगी मुस्कराई', 'बाजे पायलिया के घुंघरू', 'महके आँगन चहके द्वार' आदि में संकलित—में भी करुणा, व्यंग्य और भावुकता का लगभग ऐसा ही सन्निवेश मिलता है, किन्तु चतुर्वेदी जी की तुलना में उनकी शैली में

अधिक स्पष्टता है। **भगवतशरण उपाध्याय** ने 'ठूंठा आम' और 'सांस्कृतिक निबन्ध में' इतिहास और संस्कृति की पृष्ठभूमि में निबन्ध लिखे हैं और अश्क के मंटो : मेरा दुश्मन' में आत्मीयता और खरापन दोनों दिखायी पड़ते हैं।

इधर के लेखकों में प्रभाकर माचवे, विद्यानिवास मिश्र, धर्मवीर भारती, शिवप्रसाद सिंह, कुबेरनाथ राय, ठाकुरप्रसाद सिंह आदि के ललित निबन्धों के संग्रह प्रकाशित हुए हैं। माचवे के 'खरगोश के सींग' में व्यंग्य की जगह विनोद अधिक है। **विद्यानिवास मिश्र** ने ललित निबन्धों को गम्भीरतापूर्वक लिया है। 'छितवन की छाँह' (१९५३), 'तुम चन्दन हम पानी' (१९५७), 'आँगन का पंछी और बनजारा मन', 'मैंने सिल पहुँचाई', 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' आदि में संगृहीत निबन्धों में भारतीय साहित्य और संस्कृति को लोक-जीवन के साथ जोड़ने का उन्मुक्त प्रयास किया गया है। **भारती** के निबन्धों पर पाण्डित्य का लदाव नहीं है। वे आडम्बरहीन भाषा में प्रकृति से गहन सान्निध्य स्थापित कर सकते हैं, दार्शनिक चिन्तन कर सकते हैं और हल्के-फुल्के व्यंग्य-विनोद द्वारा हिपोक्रेसी का पर्दाफ़ाश करते हुए भी लिख सकते हैं। 'ठेले पर हिमालय', 'कहनी-अनकहनी', 'पश्यन्ती' आदि उनके निबन्ध-संग्रह हैं। शिवप्रसाद सिंह का 'शिखरों के सेतु' भावनात्मक ललित निबन्धों का अच्छा संकलन है। विद्यानिवास मिश्र की तरह **कुबेरनाथ राय** भी हजारीप्रसाद द्विवेदी-संस्थान के निबन्धकार हैं, फ़र्क यह है कि मिश्र जी द्विवेदी जी के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं जबकि कुबेरनाथ राय उनसे मुक्त होकर नयी भंगिमा अपनाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हैं। उनके निबन्ध-संग्रहों 'प्रिया नीलकंठी', 'रस आखेटक', 'गन्धमादन' और 'विषाद-योग' में सांस्कृतिक सन्दर्भों से फूटते हुए जीवन के आधुनिक आयामों तथा उनमें से झाँकते जीवन को देखा जा सकता है। **ठाकुरप्रसाद सिंह** के निबन्धों में व्यंग्य की बड़ी मारक शक्ति है। उन्होंने कड़वे-तीखे भोग को सामाजिक समस्याओं से सन्दर्भित करते हुए शब्दबद्ध किया है। उनकी भाषा में लाक्षणिकता की जो धारा दिखायी देती है, वह उनके व्यंग्य को दूरगामी और पैना बना देती है। ललित निबन्धों की परम्परा को समृद्ध करनेवाले अन्य रचनाकार हैं—विवेकी राय (फिर बैतलवा डाल पर), लक्ष्मीकान्त (मैंने कहा), केदारनाथ अग्रवाल (समय-समय पर), लक्ष्मीचन्द्र जैन (काग़ज़ की किश्तियाँ) आदि।

हास्य-व्यंग्य-लेखकों में **बेढब बनारसी** पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने निबन्धों द्वारा इस दिशा में पहल की। यद्यपि उनका उद्देश्य प्रकाश्य रूप से हँसी और विनोद का सृजन था, फिर भी परोक्ष रूप से राजनीति और समाज की विसंगतियों पर वे गहरा व्यंग्य करते थे। श्रीनारायण चतुर्वेदी ने भी विनोद शर्मा के छद्मनाम से 'राजभवन की सिगरेटदानी' में परिपक्व व्यंग्य-प्रतिभा का परिचय दिया है। वर्तमान व्यंग्यकारों में हरिशंकर परसाई, केशवचन्द्र वर्मा, लक्ष्मीकान्त वर्मा, भीमसेन त्यागी, रवीन्द्रनाथ त्यागी, शरद जोशी, नरेन्द्र कोहली आदि ने भी काफ़ी संख्या में व्यंग्यात्मक निबन्धों की सृष्टि की है। इनमें **हरिशंकर परसाई** का नाम प्रमुख है। उनके व्यंग्य सामान्यतः मूल्यगत विसंगतियों से सम्बद्ध होते हैं—मूल्य चाहे राजनीतिक हों चाहे सांस्कृतिक या पीढ़ीगत। 'भूत के पाँव', 'सदाचार का तावीज़' और 'निठल्ले की डायरी' में उनके व्यंग्य-लेख संगृहीत हैं। केशवचन्द्र वर्मा, रवीन्द्रनाथ त्यागी प्रभृति लेखकों ने व्यंग्य-लेखन की यही पद्धति अपनायी है। सामाजिक-राजनीतिक विसंगतियों पर प्रहार करने के लिए इन्होंने कहीं नाटकीय ढंग अपनाया है और कहीं अपने विचारों को वैयक्तिक धरातल पर उन्मुक्त ढंग से प्रस्तुत किया है।

समीक्षात्मक निबन्धों की रचना भी इधर बहुल परिमाण में हुई है, किन्तु इस दिशा

में निबन्धकारों की उपलब्धियों का मूल्यांकन छायावादोत्तर हिन्दी-आलोचना के सन्दर्भ में ही उचित होगा।

समालोचना

छायावादयुगीन हिन्दी-समीक्षकों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अवदान सम्पूर्ण भारतीय काव्यशास्त्र में अप्रतिम स्थान का अधिकारी है। इतने प्रौढ़ सर्वांगीण आलोचक की विचार-सरणि से परवर्ती हिन्दी-आलोचना का प्रभावित न होना आश्चर्यजनक होता। किन्तु, उनके प्रभाव को ग्रहण करते हुए आलोचकों ने अपनी मौलिकता और स्वतन्त्र दृष्टि का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुक्ल जी की त्रुटियों का उल्लेख करते हुए नवीन पद्धति के निर्माण की चेष्टा की, तो हजारीप्रसाद द्विवेदी और नगेन्द्र ने भी शुक्ल जी से टकराकर एक ओर उनकी श्रेष्ठता को स्वीकार किया और दूसरी ओर अपने लिए नया मार्ग ढूँढ़कर हिन्दी-आलोचना को आगे बढ़ाया। नवीन पद्धति का निर्माण करने पर भी इन्हें सामान्यतः शुक्ल-संस्थान के आलोचकों के रूप में ही स्वीकार करना चाहिए।

नन्ददुलारे वाजपेयी ने न केवल शुक्ल जी की सीमाओं को उद्‌घाटित किया, अपितु छायावादी काव्य के सन्दर्भ में उनके दृष्टिकोण को भी नवीन साहित्यिक संवेदना के उपयुक्त नहीं माना। वाजपेयी जी की समीक्षा-दृष्टि के निर्माण में छायावादी काव्य का प्रमुख योग रहा है। उसकी नूतन कल्पना-छवियों, भावों और भाषा-रूपों की ओर वे विशेष आकृष्ट हुए। मध्यकालीन संस्कारों से प्रेरित रत्नाकर का काव्य तथा 'साकेत' की रुआँसी अभिव्यक्तियाँ उन्हें अनाकर्षक लगीं। महावीरप्रसाद द्विवेदी के भाषा-परिष्कार-सम्बन्धी दृष्टिकोण तथा उनकी सुरुचिपूर्ण सम्पादन-कला को महत्त्व देते हुए भी उनके साहित्य को उन्होंने अत्यन्त साधारण कोटि का माना। प्रेमचन्द के आदर्शवाद की भी वे अधिक प्रशंसा नहीं कर सके। किन्तु, सन् १९४१ तक 'भारत' में प्रकाशित लेखों में उन्होंने जिस तेजस्विता, प्रखरता और पैनी दृष्टि का परिचय दिया, वह बाद में सन्तुलित लेखन में बदल गयी। छायावादोत्तर काल में उनके कई समीक्षा-ग्रन्थ प्रकाशित हुए—आधुनिक साहित्य, नया साहित्य : नये प्रश्न, कवि निराला, प्रकीर्णिका, राष्ट्रीय साहित्य तथा अन्य निबन्ध इत्यादि। इन कृतियों में वाजपेयी जी ने आलोच्य ग्रन्थों पर अपने पूर्वग्रह को लादा नहीं है, बल्कि स्वयं इन्हीं को समीक्षा-सरणि के रूप में ग्रहण किया है और इनमें अनुस्यूत आधुनिकता तथा नवनिर्माण के प्रयास को निरन्तर दृष्टि में रखा है।

काव्य में उन्होंने मुख्यतः सौन्दर्यानुसन्धान किया है और उसे जीवन-चेतना से सम्पृक्त रखा है, किन्तु कथा-साहित्य और नाटक की आलोचना में वे मुख्य रूप से मूल जीवन-चेतना और सामाजिक प्रभाव तथा उनके परिदृश्य का आकलन करते हैं। जैनेन्द्र और अज्ञेय के कथा-साहित्य और अश्क के नाटकों का विवेचन उन्होंने इसी दृष्टि-बिन्दु से किया है। प्रसाद के नाटकों को स्वच्छन्दतावादी और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों को पुनरुत्थानवादी कहना उनके मौलिक चिन्तन और यथार्थ की पहचान का परिचायक है। आधुनिक समीक्षा के लिए वे रसवाद को बहुत उपयोगी नहीं मानते क्योंकि रसवाद अपने संरक्षण में निम्न से निम्न कवियों को प्रश्रय देता रहा है, किन्तु 'रस' का खण्डन उन्होंने कहीं नहीं किया। निराला के सन्दर्भ में उन्होंने बुद्धितत्त्व और अभिधात्मक काव्य-शैली को काव्य-सीमा में समाविष्ट किया है। काव्य की संरचना के विषय में अमरीकी नयी आलोचना से प्रभाव लेकर इधर हिन्दी

समीक्षा में भाषा के विवेचन पर अधिक बल दिया जाने लगा है, जिस पर विचार करते हुए वाजपेयी जी ने यह मत प्रकट किया है : "काव्य के दोनों पक्षों का—कवि की संवेदना और उसकी अभिव्यक्ति का—समन्वित विवेचन ही काव्य-समीक्षा के लिए उपादेय हो सकता है।" काव्य-समीक्षा के मान के रूप में उनके सामने मुख्यत: दो ही वस्तुएँ आती हैं—भावात्मक निष्पत्ति और रूपात्मक सौन्दर्य। अन्त में यह विचारणीय है कि वाजपेयी जी की समीक्षा-पद्धति को क्या कोई एक नाम दिया जा सकता है ? जब वे रस-सम्प्रदाय की अकर्मण्यता पर प्रहार करते हुए कहते हैं कि वह कला के लिए कला के समान्तर है, तो उन्हें शुक्ल जी की परम्परा में कैसे रखा जा सकता है ? उन्हें प्राय: छायावादी, स्वच्छन्दतावादी, सौष्ठववादी, रसवादी, अध्यात्मवादी समीक्षक कहा गया है; और ये नाम ही इस बात के सूचक हैं कि उनकी समीक्षा पर किसी वाद का अधिकार नहीं रहा है। छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद आदि में खासी दिलचस्पी लेते हुए भी वे वादाग्रही नहीं थे। किन्तु, शुक्ल जी की भाँति उन्होंने वादों का एकतरफ़ा खण्डन नहीं किया, उनके मत से वादी तत्त्व काव्य के लिए उपादेय भी हैं।

हजारीप्रसाद द्विवेदी दूसरे आलोचक हैं जिनकी आलोचनात्मक उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण और संग्रहणीय हैं। 'हिन्दी-साहित्य की भूमिका' (१९४०) में उन्होंने आलोचना की ऐतिहासिक पद्धति की प्रतिष्ठा करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि किसी ग्रन्थकार का स्थान निर्धारित करने के लिए क्रमागत सामाजिक, सांस्कृतिक एवं जातीय सातत्य को देखना आवश्यक है, जिसके लिए आलोचक को अपनी जातीय परम्परा या सांस्कृतिक विरासत का पर्याप्त बोध होना चाहिए। द्विवेदी जी में बोध और पाण्डित्य का अद्भुत मिश्रण है। नवीन मानवतावाद और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण उनका पाण्डित्य लचीला और बोध आधुनिक हो गया है। वे मुख्यत: शुक्ल-संस्थान के आलोचक हैं, पर अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा ऐतिहासिक पद्धति के कारण शुक्ल जी से अलग हैं। मानवीय मूल्यों में इतनी गहन आस्था उनके पूर्व किसी आलोचक ने व्यक्त नहीं की थी। मनुष्य की महिमा की प्रतिष्ठा आधुनिक युग की चेतना का परिणाम है, जिसका प्रादुर्भाव छायावादी कविता के साथ हुआ था। इसीलिए द्विवेदी जी की पहली पुस्तक 'सूर-साहित्य' (१९३६) में छायावादी भावुकता का प्राधान्य था, किन्तु 'कबीर' (१९४२) में उनके दृष्टिकोण का प्रायोगिक रूप स्पष्ट हुआ। उन्होंने कबीर को सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक नैरन्तर्य के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा। कबीर के भाषागत वैशिष्ट्य पर भी पहले-पहल उन्हीं की दृष्टि गई, परन्तु बीच-बीच में उनकी भावुकता उनका साथ नहीं छोड़ती।

द्विवेदी जी का आधुनिक दृष्टिकोण और नवीन मानवतावाद रावीन्द्रिक मानवतावाद से बहुत दूर तक प्रभावित है, परन्तु वह उसकी प्रतिकृति नहीं है। रोमानियत से सम्पृक्त होते हुए भी वह एक हद तक उससे मुक्त है। दूसरे शब्दों में, वह यथार्थ के अधिक निकट है; यद्यपि उन्हें यथार्थवादी नहीं कहा जा सकता। सीधे धर्म और ईश्वर पर आधारित न होने के कारण वह मध्यकालीन मानवतावाद से भी भिन्न है। अपने रोमैंटिक आदर्शों के कारण न तो वे आदर्शवादी हैं और न यथार्थवादी मूल्यों के कारण कोरे रोमैंटिक। वैज्ञानिक मानवतावाद की श्रेणी में भी वे नहीं आते, क्योंकि कोरी भौतिक प्रगति और सामाजिक सुख-सुविधा तक ही वे अपने को सीमित नहीं कर पाते। 'हिन्दी-साहित्य' (१९५२) में, तथा अन्यत्र भी, उन्होंने सूर, तुलसी आदि का मूल्यांकन मानवतावादी दृष्टि से किया है। प्रेमचन्द का आकलन भी मानवतावादी दृष्टि से हुआ है और यह उनकी श्रेष्ठता का

मेरुदण्ड है। उनके आलोचनात्मक विश्लेषण में आत्मसमर्पण, विनीत मनोभाव, त्याग, साधना, तपश्चर्या, संयम आदि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्ट है कि जिन रचनाओं में इन मानवीय गुणों पर अधिक बल मिलता हो, उन्हें वे श्रेष्ठ कृतियों की संज्ञा देंवे। मनुष्यता को उन्होंने साहित्य और रस का पर्याय मान लिया है। इससे एक बड़ी बाधा यह उत्पन्न होती है कि साहित्य और असाहित्य के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। वस्तुतः उनका मूल्यांकन व्यावहारिक समीक्षा के आधार पर किया ही नहीं जाना चाहिए। वे विचारों (क्रिटिकल आइडियाज) के समीक्षक हैं, उनका महत्त्व साहित्य के मूल्यों को बदलने तथा उन्हें नवीन मानवतावादी मूल्यों से जोड़ने में है। 'हिन्दी-साहित्य का आदिकाल' में सामग्री का पुनर्मूल्यांकन करना, कबीर के विवेचन में काव्य-सम्बन्धी परम्पराभुक्त स्थिर मान्यताओं पर प्रश्न-चिह्न लगाना, 'मध्यकालीन बोध का स्वरूप' में साहित्य को सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से जोड़ना, बिहारी की रीतिबद्धता या रीतिसिद्धता को असिद्ध करना आदि ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जो उन्हें उन समीक्षकों की कोटि में रखती हैं जो समय-समय पर युगानुरूप नये मूल्यांकन पर ज़ोर देते हैं।

डॉ० नगेन्द्र ने हिन्दी-आलोचना को व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से संवर्द्धित किया है। वे रसवादी आलोचक हैं, 'रस-सिद्धान्त' में रस की सांगोपांग विवेचना करते हुए उन्होंने इसे पुनः प्रतिष्ठित करने का पाण्डित्यपूर्ण प्रयास किया है। रसवाद पर जितना ऐकान्तिक आग्रह नगेन्द्र जी का दिखायी पड़ता है, उतना अन्य किसी आलोचक का नहीं। यदि वाजपेयी जी, द्विवेदी जी और डॉ० नगेन्द्र की आलोचनाओं के वृत्त बनाये जाएं तो वाजपेयी जी की स्थिति मध्यवर्ती ठहरती है। उनकी वृत्त-परिधि एक ओर द्विवेदी जी की वृत्त-परिधि का स्पर्श करती है, तो दूसरी ओर नगेन्द्र की। द्विवेदी जी और नगेन्द्र की परिधियाँ एक-दूसरे से अछूती रह जाती हैं। द्विवेदी जी की मानवतावादी समीक्षा में साहित्येतर तत्त्वों की बहुलता है, वाजपेयी जी साहित्यिक मूल्यों पर बल देते हुए भी यथास्थान साहित्येतर मूल्यों का प्रयोग करते हैं, किन्तु नगेन्द्र जी एकान्ततः साहित्यिक समीक्षा-सिद्धान्तों के पक्षपाती हैं, साहित्येतर मूल्यों से उनका सम्बन्ध प्रायः नहीं है।

सर्वप्रथम छायावादी आलोचक के रूप में ही उन्हें ख्याति मिली। प्रीति और विस्मय से समन्वित छायावादी काव्य की अन्तर्मुखी साधना, सौन्दर्य-चेतना और कलात्मक छवियों के प्रति वे विशेष आकृष्ट थे। 'सुमित्रानन्दन पन्त' (१९३८) इसी मनोदशा का परिणाम है। इसके विपरीत 'साकेत : एक अध्ययन' (१९३९) में उनकी शास्त्रीय अभिरुचि व्यक्त हुई। 'रीतिकाव्य की भूमिका' (१९४९) तथा 'देव और उनकी कविता' (१९४९) के लिए अध्ययन-लेखन-क्रम में उनकी रसवादी दृष्टि पूर्णतः पुष्ट हो गयी। किन्तु, संस्कृत-काव्यशास्त्र में विवेचित रस को उन्होंने ज्यों-का-त्यों स्वीकार नहीं किया; अपितु उसके विवेचन में मनोविज्ञान की पूरी सहायता ली। 'आधुनिक हिन्दी नाटक' (१९४०), 'विचार और अनुभूति' (१९४४), 'आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ' (१९५१) आदि ग्रन्थों में उनकी तीखी मनोवैज्ञानिक दृष्टि को सहज ही पाया जा सकता है। इसीलिए कुछ लोगों ने उन्हें भ्रमवश फ़्रायडवादी आलोचक कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि फ़्रायडीय मनोविज्ञान का उन पर गहरा प्रभाव है, लेकिन यह स्वयं साध्य न होकर रसवाद का साधन है।

रसवाद पर अपनी दृष्टि केन्द्रित करके भी नगेन्द्र जी आधुनिक साहित्य और समसामयिक आन्दोलनों से बराबर सम्पृक्त रहे हैं। जहाँ उन्होंने 'कामायनी के अध्ययन की समस्याएँ' (१९६२) ग्रन्थ की रचना की, वहीं वे नयी कविता, उपन्यासों और कहानियों को

भी समय-समय पर मूल्यांकित करते रहे हैं। 'नयी समीक्षा : नये सन्दर्भ' (१९७०) में मूल्यों का विघटन, सांस्कृतिक संकट, आधुनिकता का प्रश्न आदि ज्वलन्त विषयों पर भी उन्होंने विचार व्यक्त किये हैं। नये-से-नये विषयों से उलझते रहने के कारण उनकी रसवादी दृष्टि में एक नया सन्तुलन आया है; इसी कारण वे रस-सिद्धान्त के आयामों के विस्तार का आग्रह करते हैं। रस या आनन्द के प्रति उनके आग्रह से यह शंका हो सकती है कि क्या वे जीवन और जगत् को साहित्य से अनिवार्यतः संपृक्त नहीं मानते? इस सम्वन्ध में उनका विचार है कि समाज का तिरस्कार करने से लेखक की आत्मा की क्षति होगी; किन्तु जव तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। वस्तुतः उनका आग्रह परिष्कृत आनन्द और निश्छल आत्माभिव्यक्ति के प्रति है। इसके साथ ही उन्होंने कवि के व्यक्तित्व पर भी जोर दिया है, जिसका अर्थ है छायावादी मान्यताओं की स्वीकृति। जिस काव्यान्दोलन ने उनके आलोचक-व्यक्तित्व के निर्माण में उल्लेखनीय योगदान किया हो, उससे प्रभावित न होना अस्वाभाविक होता। नगेन्द्र जी परिष्कृत आनन्दानुभूति में ही नैतिक मूल्यों का समावेश कर लेते हैं। उनका यह सिद्धान्त रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्त के समानान्तर दिखायी पड़ता है; रिचर्ड्स के अनुसार भी काव्य का मूल्य नैतिकता से सम्बद्ध न होकर अन्तर्वृत्तियों के सामंजस्य पर निर्भर करता है। 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका' शीर्षक अपने नवीनतम ग्रन्थ में उन्होंने हिन्दी-समीक्षक के एक अन्य अभाव की पूर्ति की है।

नगेन्द्र जी की व्यावहारिक आलोचना तथा सैद्धान्तिक आलोचना में प्रीतिकर एकसूत्रता दिखायी पड़ती है। उन्होंने पूर्व और पश्चिम के महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रों का हिन्दी-अनुवाद करने-कराने में सबसे अधिक योग दिया है। उनकी प्रेरणा से आचार्य विश्वेश्वरं ने 'अभिनवभारती', 'वक्रोक्तिजीवित', 'ध्वन्यालोक', 'नाट्यदर्पण', 'काव्यप्रकाश' आदि को हिन्दी में अनूदित किया। पाश्चात्य काव्यशास्त्र के कुछ क्लासिक ग्रन्थों के अनुवाद भी उनकी देख-रेख में हुए हैं—'अरस्तू का काव्यशास्त्र', 'काव्य में उदात्त तत्त्व' (लौंगिनुस के 'द सब्लाइम' का अनुवाद) और 'काव्य-कला' (होरेस की 'आर्स पोयतिका' का अनुवाद) का प्रकाशन हो चुका है। सेन्ट्सबरी के 'लोसाई क्रिटिकाई' की पद्धति पर उन्होंने 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा' शीर्षक ग्रन्थ का सम्पादन किया है जिसमें यूरोप के प्रतिनिधि आलोचकों के मुख्य सिद्धान्तों का संकलन हुआ है। इन अनुवादों से दो लाभ हुए—एक तो यह कि अब हिन्दी का समीक्षक अनूदित मूल ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन-विश्लेषण द्वारा अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ बना सकता है और दूसरा यह कि इससे स्वयं नगेन्द्र जी को अपने समीक्षा-सिद्धान्तों को सन्तुलित और समन्वित बनाने के लिए वृहत् आयाम मिल गया।

शुक्ल-परम्परा के समीक्षकों में गुलावराय और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का उल्लेख आवश्यक है। गुलाबराय (१८८८-१९६३) ने एक ओर तो शुक्ल जी की भाँति भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के समंजन की पद्धति अपनायी और दूसरी ओर मुख्यतः व्याख्यात्मक पद्धति का अवलम्बन लेकर व्यावहारिक समीक्षा के क्षेत्र में योगदान किया। सिद्धांत और अध्ययन' (१९४६) तथा 'काव्य के रूप' (१९४७) उनकी प्रमुख काव्यशास्त्रीय रचनाएँ हैं और 'अध्ययन और आस्वाद' (१९५७) समीक्षात्मक निवन्धों का संकलन है। उनकी समीक्षा-शैली में शुक्ल जी के समान गम्भीरता और दृढ़ता नहीं मिलती, अपितु उन्होंने अधिकतर उदार एवं समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही अपनाया है। विश्वनाथप्रसाद मिश्र के आलोचनात्मक कृतित्व में 'वाङ्मय विमर्श', 'बिहारी की वाग्विभूति', 'हिन्दी-साहित्य का अतीत' (दो भाग) और 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

'वाङ्मय विमर्श' भारतीय काव्य-दृष्टि के अनुसार रचित सैद्धान्तिक आलोचना का ग्रन्थ है, 'बिहारी की वाग्विभूति' में व्याख्यात्मक समीक्षा की प्रमुखता रही है, तो 'हिन्दी-साहि का अतीत' के दोनों भागों में आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक की प्रवृत्तियों, प्रमु कवियों की उपलब्धियों और भाषागत विशिष्टताओं का सुलझा हुआ आकलन किया ग है। 'हिन्दी का सामयिक साहित्य' में आधुनिक साहित्य के प्रमुख लेखकों और उनकी प्रति निधि रचनाओं का विवेचन मिलता है। पाठालोचन के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियाँ स्था महत्त्व की हैं। 'रामचरितमानस' के काशिराज-संस्करण के अतिरिक्त केशव, घनान पद्माकर, भिखारीदास, भूषण आदि की काव्य-कृतियों का पाठ-सम्पादन हिन्दी-साहित्य उनकी बहुमूल्य देन हैं। पर शुक्ल जी की आलोचना-परम्परा को वे विकसित नहीं कर स यद्यपि उनकी सरणि वही है।

मार्क्सवादी आलोचना : मार्क्सवादी समीक्षा के पक्षधरों में सर्वप्रथम शिवदानसिं चौहान का नाम आता है। 'प्रगतिवाद' (१९४६), 'साहित्य की परख' (१९४८), 'आलोचन के मान' (१९५८), 'साहित्य की समस्याएँ' (१९५९) और 'साहित्यानुशीलन' उनके प्रमु समीक्षा-ग्रन्थ हैं जिनमें मार्क्सवादी आलोचना के सैद्धान्तिक पक्ष को स्पष्ट करने के साथ हिन्दी-साहित्य को उसकी कसौटी पर यथासम्भव सन्तुलित ढंग से परखने का यत्न कि गया है। इस सन्दर्भ में दूसरे उल्लेखनीय समीक्षक हैं प्रकाशचन्द्र गुप्त। 'नया हिन्दी-साहि (१९४६), 'आधुनिक हिन्दी-साहित्य' (१९५०) और 'हिन्दी-साहित्य की जनवादी परम्पर (१९५३) उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं, किन्तु सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण उनका विवे सामान्य होकर ही रह गया है। वस्तुतः मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ० रामविलास शर्मा की दृष्टि सबसे अधिक पैनी, स्वच्छ और तलस्पर्शी है। 'प्रगति और परम्परा' (१९४८) 'प्रगतिशील साहित्य की समस्याएँ' (१९५४), 'आस्था और सौन्दर्य' (१९५६) आदि उनके उल्लेखनीय निबन्ध-संग्रह हैं। विचारों के स्तर पर वे कहीं भी समझौतावादी नहीं बनते, अपि अपनी बात को बहुत ही निर्भीक ढंग से कहते हैं। वर्ग-भेद पर आधारित समाज की पहचान को उन्होंने साहित्यकार के लिए आवश्यक माना है। उदाहरणार्थ 'भाषा साहित्य और संस्कृति' पुस्तक से यह उद्धरण देखिए : "पार्टीजन साहित्यकार बनकर ही हम ऐसे साहित्य का निर्माण कर सकेंगे जो अगली पीढ़ियों के लिए मूल्यवान् हो।" यह वक्तव्य शर्मा जी की सीमाएँ निर्धारित कर देता है, किन्तु जहाँ विरोधियों को आकाश दिखाना उनका अभीष्ट नहीं रहा वहाँ उनका विवेचन सन्तुलित और समस्यामूलक है। इस दृष्टि से 'मार्क्सवाद और प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन' उनका महत्त्वपूर्ण निबन्ध है। 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी-आलोचना' ग्रन्थ को उनकी आलोचना-पद्धति का केन्द्रबिन्दु मानना चाहिए। इसमें शुक्ल जी की लोक-हृदय में लीन होने की कसौटी पर ज़ोर देने के साथ ही उन्होंने उनके अन्तर्विरोधों को भी उजागर किया है, किन्तु, जहाँ कहीं भी वर्गवाद आवश्यकता से अधिक उभर गया है, वहाँ उनकी समीक्षा-शैली विकृत हो गयी है। सूरदास के पदों का सम्बन्ध जुलाहों और किसानों की मुक्ति की आकांक्षा के साथ जोड़ना इसका उदाहरण है। इस वर्ग के अन्य उल्लेखनीय आलोचक हैं अमृतराय (नई समीक्षा), नामवरसिंह (इतिहास और आलोचना, आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ) आदि। इनमें अमृतराय की निष्ठा अटूट है और वे साहित्य के समाजवादी आधार को दृढ़तापूर्वक पकड़े हुए हैं।

दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक अनुशासन : छायावादोत्तर काल के समीक्षकों में डॉ० देवराज और देवराज उपाध्याय ने क्रमशः दर्शनशास्त्र और मनोविज्ञान के सन्दर्भ में आलो-

चना-ग्रन्थों की रचना की है। **डॉ० देवराज** (छायावाद का पतन, साहित्य-चिन्ता, आधुनिक समीक्षा, प्रतिक्रियाएँ) दार्शनिक अनुशासन के आलोचक हैं। दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक होने के साथ ही वे स्वभाव तथा अभ्यास से भी दार्शनिक हैं, जिससे उनके साहित्यिक चिन्तन को धार मिल गयी है। किन्तु, इस सन्दर्भ में यह नहीं भुलाया जा सकता कि जहाँ दार्शनिक चिन्तन प्रमुख हो जाता है, वहाँ साहित्यिक चिन्तन गौण हो जाता है। डॉ० देवराज साहित्य को व्यापक सर्वांगीण सांस्कृतिक चेतना से सम्पृक्त देखना चाहते हैं। लेखक तथा आलोचक दोनों के लिए उन्होंने 'क्लासिक' ग्रन्थों के परिशीलन को आवश्यक माना है, क्योंकि इससे उनकी रस-संवेदना पुष्ट होती है। इस विषय में वे टी० एस० इलियट से प्रभावित हैं। इलियट की भाँति उन्हें भी रोमैंटिक कवि नापसन्द हैं, यद्यपि वे स्वयं रोमैंटिक कवि हैं। लेखक और आलोचक को परम्परा तथा समसामयिक जीवन-बोध के साथ गहरे अर्थ में सम्पृक्त देखने की आकांक्षा भी इलियट की मान्यता के अनुरूप है। वैसे, सब मिलाकर वे रस-संस्थान या शुक्ल-परम्परा के आलोचक हैं; उनकी दृष्टि में आलोचक का कार्य रसानुभूति की बौद्धिक व्याख्या करना है।

मनोविश्लेषणवादी समीक्षा के क्षेत्र में **अज्ञेय, इलाचन्द्र जोशी और देवराज उपाध्याय** के नाम उल्लेखनीय हैं। अज्ञेय-कृत 'त्रिशंकु' के निबन्धों में फ़्रायड, एडलर और युंग के सिद्धान्तों का प्रभाव अत्यन्त स्पष्ट है। इलाचन्द्र जोशी ने भी 'साहित्य-सर्जना' (१९४०), 'विवेचना' (१९४८), 'साहित्य-सन्तरण' (१९५३), 'विश्लेषण' (१९५४) और 'साहित्य-चिन्तन' (१९५५) में संगृहीत निबन्धों में मनोविश्लेषण को प्रमुखता दी है। छायावाद और प्रगतिवाद के प्रति उनका आक्रोश इसी समीक्षा-दृष्टि की देन है। पर उनकी भाषा में काल्पनिक उड़ान अधिक है और शब्दों की फिज़ूलखर्ची के कारण निबन्धों में फैलाव भी अधिक आ गया है। डॉ० देवराज उपाध्याय ने अपने शोध-प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी-कथा-साहित्य और मनोविज्ञान' में मनोविश्लेषण के आधार पर कथा-साहित्य की आलोचना की है। इस पद्धति की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने जोन्स द्वारा की गयी 'हैमलेट' की मनोवैज्ञानिक व्याख्या का सादर उल्लेख किया है, जबकि पाश्चात्य आलोचकों ने उसे आलोचना मानने से इन्कार कर दिया है। वस्तुत: कथा-कृतियों में मनोवैज्ञानिक सूत्रों को ढूँढ़ निकालना कृति की आलोचना नहीं मानी जा सकती, क्योंकि कोई भी रचना केवल मनोवैज्ञानिक सूत्रों का चयन नहीं होती। प्रेमचन्द में मनोवैज्ञानिक अर्थान्तरन्यास, जैनेन्द्र में गेस्टाल्ट, अज्ञेय में नियतिवाद और शिशु-मनोविज्ञान आदि को ढूँढ़ना दिमाग़ी कसरत है।

सैद्धान्तिक आलोचना : आलोच्य अवधि में सैद्धान्तिक आलोचना की दिशा में भी अनेक समीक्षा-ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। इस दिशा में सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान डॉ० नगेन्द्र का है। 'भारतीय काव्यशात्र की भूमिका' में उन्होंने संस्कृत-काव्यशात्र की अभिनिवेश-पूर्वक विवेचना की है, तो 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' और 'काव्य में उदात्त तत्त्व' की रचना पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में की गयी है। वैसे, उन्होंने भारतीय और पाश्चात्य साहित्यशास्त्रीय परम्पराओं को परस्पर पूरक माना है और दोनों के मौलिक तत्त्वों को सूक्ष्मतापूर्वक विश्लेषित किया है। 'रस-सिद्धान्त' उनका मौलिक बृहत् प्रयास है जिसमें नवीन ज्ञान के प्रकाश में अनेक उद्भावनाएँ की गयी हैं और रस को व्यापक बनाते हुए नयी कविता को भी उसकी सीमा में अन्तर्भुक्त कर लिया गया है। भारतीय और पाश्चात्य काव्यशास्त्र के समन्वय की दिशा में गुलाबराय (काव्य के रूप, सिद्धान्त और अध्ययन), विश्वनाथप्रसाद मिश्र (वाङ्मय विमर्श), बलदेव उपाध्याय (भारतीय साहित्यशास्त्र—दो भाग) और

नन्ददुलारे वाजपेयी ('आधुनिक साहित्य' के कुछ निबन्ध) का योगदान भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। अपनी यत्किंचित् सीमाओं के होने पर भी ये ग्रन्थ कालविशेष में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रेरणाप्रद रहे हैं। सैद्धान्तिक आलोचना के सन्दर्भ में लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु'-कृत 'काव्य में अभिव्यंजनावाद' (१९३८) और 'जीवन के तत्त्व और काव्य के सिद्धान्त' (१९४२); रामदहिन मिश्र-कृत 'काव्य-दर्पण' (१९४७) और 'काव्य-विमर्श' (१९५१); डॉ॰ भगीरथ मिश्र-कृत 'हिन्दी-काव्यशास्त्र का इतिहास' (१९४७), डॉ॰ आनन्दप्रकाश दीक्षित-कृत 'रस-सिद्धान्त : स्वरूप और विश्लेषण', डॉ॰ रामानन्द तिवारी-कृत 'सत्यं शिवं सुन्दरम्', डॉ॰ निर्मला जैन-कृत 'रस-सिद्धान्त और सौन्दर्यशास्त्र', डॉ॰ सुरेशचन्द्र गुप्त-कृत 'आधुनिक हिन्दी-कवियों के काव्य-सिद्धान्त' (१९६०), आदि अन्य अनेकानेक ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यशास्त्र के विभिन्न अंगों और साहित्यालोचन की समस्याओं पर जितने गहन अध्ययन और विस्तार के साथ आलोच्य युग में विचार-विमर्श किया गया, उतना छायावाद-युग या उसके पूर्व नहीं हुआ था।

छायावादोत्तरकालीन सैद्धान्तिक आलोचना के स्वरूप-निर्माण में कवियों और अन्य साहित्यकारों के विचारों का अलग महत्त्व है। छायावादी कवियों ने अपने काव्य की जटिलताओं और बारीकियों को स्पष्ट करने के लिए अपनी मान्यताओं को आग्रहपूर्वक प्रकट किया था। इसी प्रकार 'तार सप्तक', 'दूसरा सप्तक' और 'तीसरा सप्तक' के कवियों ने भी अपने वक्तव्यों में काव्य के बदले हुए तेवर को सामने रखने का प्रयास किया है। नकेनवादियों के प्रपद्यवाद में भी रस-सिद्धान्त, साधारणीकरण आदि के विरोध में बुलन्द आवाज़ मिलती है। **अज्ञेय** ने अपने काव्य-सम्बन्धी विचारों को 'त्रिशंकु', 'आत्मनेपद' और 'हिन्दी-साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य' में व्यक्त किया है; तो **मुक्तिबोध** के समीक्षात्मक विचार 'साहित्यिक की डायरी', 'नयी कविता का आत्मसंघर्ष' और 'नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' में अभिव्यक्त हुए हैं। वे प्रगतिशील मानवतावाद के मार्मिक सर्वांगपूर्ण चित्र उपस्थित करने के पक्षधर हैं। **गिरिजाकुमार माथुर** के नयी कविता-सम्बन्धी प्रौढ़ विचार 'नयी कविता : सीमाएँ और सम्भावनाएँ' में व्यक्त हैं। **धर्मवीर भारती** ने 'मानव-मूल्य और साहित्य' में विपर्यस्त मानवीय मूल्यों की बात उठाकर साहित्य की परीक्षा की है। वस्तुतः कवियों ने अपनी मान्यताओं को प्रायः अपने निजी काव्य के सन्दर्भ में व्यक्त किया है और उनकी अधिकांश मान्यताएँ रचना-प्रक्रिया या कवि-कर्म से सम्बद्ध हैं, जबकि आज का आलोचक रचना-प्रक्रिया अथवा कवि-कर्म के स्थान पर केवल रचना (फ़िनिश्ड प्रोडक्ट) से सम्बन्ध रखना चाहता है।

कुछ अन्य समीक्षक : उपाधिपरक और उपाधि-निरपेक्ष अनुसन्धान की ओर बढ़ती हुई अभिरुचि के फलस्वरूप वर्तमान युग में हिन्दी-आलोचना का बहुमुखी विस्तार हुआ है, किन्तु उस सबका आकलन यहाँ सम्भव नहीं है क्योंकि दिशा-निदेशक आलोचक-व्यक्तित्व बहुत कम समीक्षकों का रहा है। इस दृष्टि से डॉ॰ दीनदयालु गुप्त, डॉ॰ विनयमोहन शर्मा, डॉ॰ सत्येन्द्र, डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त आदि का उल्लेख किया जा सकता है। **विनयमोहन जी** ने विशेषतः समीक्षात्मक निबन्धों की रचना की है जिनमें विषय को स्पष्ट रूप से सीधी भाषा में प्रस्तुत किया गया है। **डॉ॰ सत्येन्द्र** के निबन्धों में भी व्याख्यात्मक पद्धति की यही विशेषता मिलती है, किन्तु इसके साथ ही लोक-साहित्य का स्वरूप-निर्धारण और विवेचन उनकी निजी विशेषता है। पाठानुसन्धान अथवा प्राचीन कृतियों के सम्पादन की दिशा में डॉ॰ माताप्रसाद गुप्त का योगदान अविस्मरणीय है। 'जायसी-ग्रन्थावली', 'पृथ्वीराज रासो',

तलदेव रासो’, ‘मधुमालती’ प्रभृति काव्य-कृतियों का पाठ-सम्पादन कर उन्होंने प्राचीन दी-काव्य के अध्ययन को सुलभ बनाया है।

हिन्दी-साहित्य के विभिन्न युगों, प्रतिनिधि लेखकों और ग्रन्थों की विवेचना इस में विस्तारपूर्वक हुई है। भक्तिकालीन काव्य की समीक्षा प्रमुख रूप से डॉ० दीनदयालु त, परशुराम चतुर्वेदी, सावित्री सिन्हा, हरवंशलाल शर्मा, मुंशीराम शर्मा, विजयेन्द्र स्नातक, यभानु सिंह, त्रिलोकीनारायण दीक्षित और प्रभुदयाल मीतल ने की है। रीतिकाल के मूल्यांकन की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कार्य हुआ है—भगीरथ मिश्र, विजयपाल सिंह, वन सिंह, मनोहरलाल गौड़, सत्यदेव चौधरी आदि के शोध-प्रबन्ध इस सन्दर्भ में पठनीय हिन्दी-गद्य के विवेचन में लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, शिवनाथ, दशरथ ओझा, रामचन्द्र तिवारी, दरश मिश्र, जयचन्द राय और गोपालराय मिश्र की अधिक रुचि रही है। आधुनिक वता को समालोचना का विषय बनानेवालों की संख्या सबसे अधिक है जिनमें सुधीन्द्र, रीनारायण शुक्ल, कुमार विमल, रामेश्वरलाल खण्डेलवाल, प्रेमशंकर, गणपतिचन्द्र गुप्त दि के नाम उल्लेखनीय हैं। विभिन्न विषयों पर शोधपूर्ण समीक्षात्मक निबन्ध-लेखन में लताप्रसाद सुकुल, जानकीवल्लभ शास्त्री, कन्हैयालाल सहल आदि का योगदान ध्यान कृष्ट करता है। भाषावैज्ञानिक शोध-समीक्षा भी इस काल की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। रेन्द्र वर्मा, उदयनारायण तिवारी, भोलानाथ तिवारी और अम्बाप्रसाद ‘सुमन’ इस क्षेत्र के ख समीक्षक हैं। इधर शैलीतात्त्विक अध्ययन के स्वरूप को लेकर भी कुछ महत्त्वपूर्ण कार्य ा है। डॉ० विद्यानिवास मिश्र-कृत ‘रीतिविज्ञान’, डॉ० रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव-कृत ‘शैलीविज्ञान र आलोचना की नयी भूमिका’ तथा डॉ० भोलानाथ तिवारी-कृत ‘अभिव्यक्ति-विज्ञान’ (मूल वक—देमेत्रियस, दूसरी शती ई० पू०), डॉ० नगेन्द्र-कृत शैलीविज्ञान इस विधा की विशिष्ट तियाँ हैं।

आलोचना की नयी दिशा : गद्य-साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति छठे दशक के त में हिन्दी आलोचना भी नयी सम्भावनाओं की ओर उन्मुख हुई। डॉ० देवीशंकर वस्थी द्वारा सम्पादित निबन्ध-संग्रहों—विवेक के रंग, नयी कहानी : सन्दर्भ और प्रकृति—संकलित सामग्री समीक्षा-सम्बन्धी नये संकेतों की सूचना देती है। डॉ० अवस्थी ने इन थों की भूमिकाओं में ऐसे बहुतेरे समीक्षात्मक शब्दों का प्रयोग किया जो नये हैं और नसे समीक्षा-साहित्य सम्पन्न हुआ है। नेमिचन्द्र जैन की ‘अधूरे साक्षात्कार’, डॉ० इन्द्रनाथ दान की ‘आज का हिन्दी उपन्यास’, डॉ० नामवर सिंह-कृत ‘कहानी और कहानी’ तथा विता के नये प्रतिमान’, डॉ० रघुवंश की ‘आधुनिक साहित्य का परिप्रेक्ष्य’, डॉ० बच्चन ह की ‘समकालीन साहित्य : आलोचना को चुनौती’ तथा ‘आलोचक और आलोचना’, क्ष्मीकान्त वर्मा की ‘नई कविता के प्रतिमान’ तथा ‘नये प्रतिमान पुराने निकष’, डॉ० राम- रूप चतुर्वेदी की ‘नवलेखन’ तथा ‘भाषा और संवेदना’, गंगाप्रसाद विमल की ‘समकालीन हानी का रचना-विधान’ आदि पुस्तकें नयी समीक्षा के संकेत-चिह्न हैं। इन सभी समीक्षकों संरचना को महत्व देने के साथ मूल्यों का ध्यान रखा है। नयी आलोचना किसी पूर्व- श्चित आलोचनात्मक मान को आलोच्य पर चस्पा नहीं करती क्योंकि आलोच्य अपना न स्वयं है। आलोच्य की निजी प्रतिमानता की ओर छायावाद-काल में भी ध्यान गया ा, पर उस समय आलोचना के किसी वैज्ञानिक आधार की खोज नहीं की जा सकी थी। मरीका की नयी आलोचना (न्यू क्रिटिसिज़्म) ने समीक्षा को वैज्ञानिक आधार दिया, फल- वरूप प्रचलित प्रतिमान—रसवादी, मार्क्सवादी, ऐतिहासिक, मनोविश्लेषणात्मक आदि—

मान्य नहीं रहे क्योंकि वे साहित्य का आनुषंगिक अध्ययन प्रस्तुत करते हैं। रैनसम, रॉ पेन वारेन, क्लीन्थ ब्रुक्स, ब्लैकमर, टेट आदि नये आलोचना-संस्थान के लेखक हैं जिन इधर की हिन्दी-समीक्षा प्रभावित हुई है।

नयी आलोचना में रचना की आन्तरिक संगति पर विशेष ध्यान दिया जाता है, अर्थात् यह देखा जाता है कि कृति का एक अंग दूसरे से, दूसरा तीसरे से और हर एक समग्र से कैसे और किन अर्थवत्ताओं को उकेरते हुए सम्बद्ध है? कुछ लोग रचना के अंगांगि-सम्बन्धों के विवेचन में ही आलोचना की इतिकर्त्तव्यता मानते हैं, पर कुछ इससे आगे बढ़कर मूल्यांकन अर्थात् जीवन के साथ प्रासंगिकता की तलाश भी करते हैं। यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि कृति का रचाव या भाषिक संघटना और रचना की प्रासंगिकता दो चीज़ें हैं या एक ही वस्तु के दो पहलू हैं? रचना का मूल स्रोत प्रासंगिकता ही है यानी यथार्थ के प्रति सम्पन्नतर अनुमूल्यात्मक प्रतिक्रिया। भाषिक संरचना इसी पर आधारित रहती है। आलोचक के सम्मुख केवल रचना की भाषिक संघटना होती है, इसलिए उसे भाषिक संरचना का विवेचन करते समय—उसकी छोटी-बड़ी, गूढ़-जटिल अर्थवत्ता को उद्घाटित करते समय—मूल्यगत प्रासंगिकता को स्पष्ट करना होता है। किन्तु, नयी आलोचना तभी अर्थवती हो सकती है जब पिछली चिन्तन-परम्परा के साथ उसका तालमेल बैठाया जाय। जो समीक्षक इस ओर गतिशील हैं, उन्हें अपनी लम्बी विरासत के आधार पर ही इस पद्धति को विकसित करने की चेष्टा करनी चाहिए।

आलोचना को आगे बढ़ाने में पुस्तक-समीक्षाओं (बुक रिव्यू) का भी उल्लेखनीय योगदान रहा है। 'प्रतीक', 'आलोचना', 'वार्षिकी', 'माध्यम', 'समीक्षा' आदि में समय-समय पर जो पुस्तक-समीक्षाएँ प्रकाशित हुईं, उनसे आलोचना के प्रतिमानीकरण में काफ़ी सहायता मिली है।

यदि संक्षेप में शुक्लोत्तर आलोचना का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जाय तो कहना न होगा कि यह सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों क्षेत्रों में सम्पन्न हुई है—सम्पन्नता प्रामाणिकता और गहराई दोनों को लेकर हुई है। पर काव्यालोचन की तरह हिन्दी में कथालोचन तथा नाट्यालोचन की भूमियाँ प्रशस्त नहीं हो पायी हैं क्योंकि वे अभी तक शास्त्रीय रूढ़ियों, संकीर्णताओं आदि से पूरी तरह उभर नहीं सकी हैं।

गद्य-साहित्य की अन्य विधाएँ

छायावादोत्तर काल में जीवनी, आत्मकथा, यात्रावृत्त, संस्मरण, रेखाचित्र, गद्य-काव्य, रिपोर्ताज, इंटरव्यू, पत्र-लेखन, अभिनन्दन-ग्रन्थ, स्मृति-ग्रन्थ प्रभृति गौण समझी जानेवाली साहित्य-विधाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। रिपोर्ताज तथा इंटरव्यू-लेखन तो इसी युग की देन हैं। अन्य विधाओं में भी कथ्य की विविधता और शैलीगत नूतन प्रयोगों की दिशा में इस युग के साहित्यकार में जो जागरूकता लक्षित होती है, वह पूर्ववर्ती लेखकों में नहीं मिलती। कारण स्पष्ट है—जहाँ अब तक के लेखकों ने विधा-प्रवर्तन के दायित्व-निर्वाह से सन्तोष का अनुभव किया, वहाँ छायावादोत्तर काल में इन विधाओं को परिपुष्ट करना भी आवश्यक था; और इसके लिए कथ्य और शिल्प दोनों क्षेत्रों में नवीन सम्भावनाओं की खोज अपेक्षित होती है।

जीवनी-साहित्य : आलोच्य युग में जीवनी-साहित्य का बहुमुखी विकास हुआ। लोकप्रिय नेताओं, सन्तों, महात्माओं, साहित्यकारों, विदेशी महापुरुषों, वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों

दि से सम्बन्धित जीवनियाँ प्रचुर परिमाण में लिखी गयीं। महात्मा गांधी इस युग के र्वाधिक लोकप्रिय नेता थे, फलस्वरूप उनसे सम्बन्धित जीवनियाँ सर्वाधिक संख्या में पलब्ध होती हैं। घनश्यामदास बिड़ला, काका कालेलकर, सुमंगल प्रकाश, सुशीला नायर, डॉ० राजेन्द्रप्रसाद तथा जैनेन्द्र कुमार द्वारा लिखित 'बापू' (१९४०), 'बापू की झाँकियाँ' १९४८), 'बापू के साथ' (१९४९), 'बापू के कारावास की कहानी' (१९४९) और ापू के क़दमों में' (१९५०) और 'अकाल पुरुष गांधी' (१९६८) इस दिशा में उल्लेखनीय तियाँ हैं। गांधी जी के अतिरिक्त जवाहरलाल आदि से सम्बन्धित जीवनियाँ लिखने की र भी लेखकों की पर्याप्त अभिरुचि रही। हरिकृष्ण त्रिवेदी, छविनाथ पाण्डेय, गिरीशचन्द्र शी आदि ने क्रमशः 'सुभाषचन्द्र बोस' (१९४१), 'नेताजी सुभाष' (१९४६), 'नेताजी ाषचन्द्र बोस' (१९४६) प्रभृति ग्रन्थों की रचना की; तो मातासेवक पाठक, लक्ष्मणप्रसाद रद्वाज, देवीप्रसाद धवन और अरुण ने 'राष्ट्रनायक ज़वाहरलाल नेहरू' (१९४८), 'हमारे ाहरलाल नेहरू' (१९४८), 'पण्डित नेहरू' (१९४८) और 'हमारा जवाहर' (१९५०) र्षक कृतियाँ लिखीं। इसी प्रकार रामनाथ 'सुमन', जगदीश झा 'विकल', रत्नलाल बंसल, मवृक्ष बेनीपुरी, वाल्मीकि चौधरी, बलराज मधोक, देवव्रत शास्त्री, इन्द्र विद्यावाचस्पति ादि लेखकों ने 'मोतीलाल नेहरू' (१९३९), 'मौलाना अबुलकलाम आज़ाद' (१९४०), मर शहीद चन्द्रशेखर आज़ाद' (१९४६), 'लौह पुरुष वल्लभभाई पटेल' (१९४८) त्युंजय सरदार भगतसिंह' (१९४९), 'जयप्रकाश नारायण' (१९५१), 'राजेन्द्र बाबू का क्तित्व' (१९५८), 'डॉ० श्यामाप्रसाद मुखर्जी' (१९५८), 'गणेशशंकर विद्यार्थी' (१९४९), ोकमान्य तिलक और उनका युग' (१९६३), 'लोहिया' (१९६७) और 'प्रियदर्शिनी इन्दिरा धी' (१९७०) शीर्षक प्रेरणाप्रद जीवनी-ग्रन्थों का प्रणयन किया। यह उल्लेखनीय है कि ष्ट्रनेताओं से सम्बद्ध जीवनी-ग्रन्थ इस युग में शताधिक संख्या में विरचित हुए, किन्तु गद्य-ली की अपेक्षा इनमें तथ्य-संकलन पर ही अधिक बल रहा।

सन्त-महात्माओं के जीवनचरित-लेखन की दिशा में भदन्त आनन्द कौसल्यायन, न्दरलाल, दीनदयाल उपाध्याय और बलदेव उपाध्याय-कृत 'भगवान बुद्ध' (१९४०), ज़रत मुहम्मद' (१९४०), 'जगतगुरु शंकराचार्य' (१९४७) तथा 'श्री शंकराचार्य' १९५०) उल्लेखनीय हैं। भारतीय इतिहास से सम्बद्ध महापुरुषों की जीवनी लिखने में ताराम कोहली, लाजपतराय, द्वारकाप्रसाद शर्मा, जीवनलाल प्रेम, भीमसेन विद्यालंकार, ीनिवास बालाजी हार्डीकर आदि की विशेष अभिरुचि रही। इनके द्वारा रचित 'रंजीतसिंह' १९३९), 'छत्रपति शिवाजी' (१९३९), 'भीष्म पितामह' (१९४०), 'गुरु गोविन्दसिंह' १९४५), 'शिवाजी' (१९५१) और 'नाना फड़नवीस' (१९७०) शीर्षक कृतियाँ क्रमशः ल्लेखनीय हैं। विदेशी महापुरुषों की जीवन-गाथा को आधार बनाकर ग्रन्थों का प्रणयन करने-ालों में बनारसीदास चतुर्वेदी, रामइकबाल सिंह, लक्ष्मणप्रसाद भारद्वाज, त्रिलोकीनाथ, नन्तप्रसाद विद्यार्थी, रामनारायण यादवेन्दु, रामवृक्ष बेनीपुरी और राहुल सांकृत्यायन नाम लिये जा सकते हैं। इन्होंने क्रमशः 'अराजकतावादी लुई माइकेल' (१९३९), टालिन' (१९३९), 'इटली का तानाशाह मुसोलिनी' (१९४०), 'स्टालिन' (१९४०), ं० चर्चिल' (१९४२), 'हिटलर' (१९५०), 'कार्ल मार्क्स' (१९५१) तथा 'माउ चे तुंग' १९५७) शीर्षक ग्रन्थों की रचना की। राजनीतिज्ञों, समाजसेवकों और राजपुरुषों ी जीवनियाँ लिखने के साथ ही आलोच्य युग में कुछ लेखकों का ध्यान साहित्यकारों जीवन-चरित्र प्रस्तुत करने की ओर भी गया। इस दृष्टि से गंगाप्रसाद पाण्डेय,

शिवरानी देवी, उमेशचन्द्र मिश्र, मदनगोपाल, अमृतराय (जन्म १९२१), ऋषि जैमि कौशिक बरुआ, डॉ० रामविलास शर्मा (जन्म १९१२), शान्ति जोशी तथा विष्णु प्रभा के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कृतियों में क्रमशः 'महाप्राण निराला' 'प्रेमचन्द : घर : 'विश्वकवि रवीन्द्रनाथ' (१९४३), 'क़लम का मज़दूर', 'क़लम का सिपाही', 'माखनल चतुर्वेदी' (१९६०), 'निराला की साहित्य-साधना' (१९६९), 'सुमित्रानन्दन पन्त : जीव और साहित्य' (१९७०) तथा 'आवारा मसीहा' पठनीय हैं। इनमें से रामविलास शर्मा निराला के व्यक्तित्व और जीवन-संघर्ष का तथ्यात्मक और रोचक ढंग से प्रतिपादन कि है, तो विष्णु प्रभाकर ने शरत् के जीवन के अनेक अछूते पक्षों की खोज करके उन्हें ललि शैली में सँजोया है। साहित्यकारों की भाँति वैज्ञानिकों, खिलाड़ियों आदि की जीवनियाँ लिखी गयीं, किन्तु इस दिशा में स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना प्रायः नहीं हुई।

विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख व्यक्तियों के जीवन पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने के साथ-सा एक ही कृति में अनेक महान् आत्माओं के जीवन-वृत्त संकलित कर देने की प्रवृत्ति भी इ काल में पर्याप्त बलवती रही। उदाहरणार्थ श्याम जी पाराशर, रामनाथ 'सुमन', श्या नारायण कपूर, राहुल सांकृत्यायन, हरिभाऊ उपाध्याय, ब्रह्मवती नारंग, शकुन्तला दे वर्मा, हरिमोहन शर्मा, डॉ० सुरेशचन्द्र गुप्त, योगराज थानी आदि ने 'सन्त-दर्शन' (१९३९ 'हमारे नेता और निर्माता' (१९४२), 'भारतीय वैज्ञानिक' (१९४२), 'नए भारत के न निर्माता' (१९४३), 'विश्व की विभूतियाँ' (१९४५), 'महान् भारतीय' (१९४९), 'राज स्थानी वीरांगनाएँ' (१९५०), 'भारतीय क्रिकेट के नवरत्न' (१९६४), 'भारत की महा आत्माएँ' (१९६५) तथा 'भारत के प्रसिद्ध खिलाड़ी' (१९६९) में इसी कोटि के जीवनी परक निबन्धों को स्थान दिया है। इस वर्ग में कितनी ही अन्य मौलिक और सम्पादि कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जीवनी-लेख में शैली-वैविध्य और लालित्य लाने में अमृतराय, रामविलास शर्मा तथा विष्णु प्रभाकर अतिरिक्त कम लेखकों को ही सफलता प्राप्त हुई है।

इस युग के कुछ लेखकों ने दूसरी भाषाओं में लिखे गए उच्च कोटि के जीवनी-ग्रन्थ का अनुवाद करके भी हिन्दी-जीवनी-साहित्य की श्रीवृद्धि की है। इस दृष्टि से बनारसी दास चतुर्वेदी, रामनाथ 'सुमन', लालबहादुर शास्त्री और रामनारायण चौधरी द्वारा अनूदि क्रमशः 'प्रिंस क्रोपाटकिन' (१९३९), 'महात्मा काउंट लियो टाल्सटाय' (१९४३), 'श्रीमती क्यूरी' (१९४७) और 'सरदार वल्लभभाई' (१९५१) ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। जीवनी साहित्य के सन्दर्भ में र० वि० धुलेकर, प्रेमनारायण टण्डन, डी० आर० टोलीवाल तथ एस० पी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'मातृभूमि शब्दकोश', 'हिन्दी-साहित्यकार कोश' 'भारतवर्ष की विभूतियाँ' तथा स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिक' का उल्लेख भी आवश्यक है 'मातृभूमि शब्दकोश' का प्रकाशन दो जिल्दों में सन् १९३९ तथा १९४० में हुआ। इस देश के लोकप्रिय व्यक्तियों की संक्षिप्त जीवनियाँ दी गयी हैं। इसी प्रकार मूलतः 'हिन्दी सेवी संसार' (१९४४) शीर्षक से प्रकाशित तथा बाद में 'हिन्दी-साहित्यकार कोश' के रू में परिवर्द्धित एवं परिमार्जित ग्रन्थ में डॉ० प्रेमनारायण टण्डन का मुख्य उद्देश्य हिन्दी-लेखकों का संक्षिप्त जीवन-परिचय प्रस्तुत करना रहा है। 'भारतवर्ष की विभूतियाँ' (१९५४) में राजनीति, शिक्षा आदि वर्गों के अन्तर्गत अकारादि क्रम से विभिन्न क्षेत्रों के उल्लेखनीय व्यक्तियों का संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया गया है, तो 'स्वतन्त्रता-संग्राम के सैनिक' (१९६५) में भारतीय स्वाधीनता के लिए प्राणों का उत्सर्ग करनेवाले सैनिकों का

संक्षिप्त परिचय है।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि आलोच्ययुगीन जीवनी-साहित्य विषय और परिमाण की दृष्टि से तो पर्याप्त सम्पन्न है; किन्तु शैलीगत उपलब्धियाँ उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

आत्मकथा : जीवनी-साहित्य की भाँति इस युग में आत्मकथा-लेखन की प्रवृत्ति भी पर्याप्त बलवती रही तथा सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि विभिन्न क्षेत्रों के महत्त्व-पूर्ण व्यक्तियों ने अपनी आत्मकथाएँ लिखकर इस विधा को समृद्ध किया। कुछ आत्मकथाएँ मूलतः अँगरेज़ी में लिखित हैं, किन्तु उनके हिन्दी-अनुवाद सुलभ हैं; अतः यहाँ उन पर भी विचार कर लेना उचित होगा। सामाजिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले जिन व्यक्तियों ने आत्मकथाएँ लिखी हैं, उनमें भवानीदयाल संन्यासी तथा सत्यदेव परिव्राजक द्वारा लिखित क्रमशः 'प्रवासी की आत्मकथा' तथा 'स्वतन्त्रता की खोज में' (१९५१) विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। भवानीदयाल संन्यासी ने अपने कार्यक्षेत्र दक्षिणी अफ़्रीका का रोचक वर्णन किया है, तो सत्यदेव परिव्राजक ने अपनी विदेश-यात्राओं तथा वहाँ पर किये गये भारतीय संस्कृति-सम्बन्धी प्रचार-कार्यों का विस्तृत विवरण दिया है। डॉ० राजेन्द्रप्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राधाकृष्णन् तथा मौलाना अबुलकलाम आज़ाद इस युग के ऐसे राजनीतिक महापुरुष रहे हैं जिन्होंने सक्रिय राजनीति में भाग लेने के साथ-साथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आत्मकथाएँ भी लिखी हैं। इनमें डॉ० राजेन्द्रप्रसाद की 'आत्मकथा' (१९४७) मूलतः हिन्दी में लिखी गयी है तथा इसमें उनके त्यागपूर्ण जीवन के वर्णन के साथ-साथ भारतीय स्वाधीनता-संग्राम की कहानी भी गुँथी हुई है। जवाहरलाल नेहरू, डॉ० राधाकृष्णन् तथा मौलाना अबुल क़लाम आज़ाद की आत्मकथाएँ मूलतः अँगरेज़ी में हैं तथा क्रमशः हरिभाऊ उपाध्याय, शालिग्राम एवं महेन्द्र चतुर्वेदी ने इन्हें हिन्दी में रूपान्तरित किया है।

हिन्दी के जिन साहित्यकारों की आत्मकथाएँ आलोच्य युग में प्रकाशित हुई हैं उनमें श्यामसुन्दरदास, राहुल सांकृत्यायन, वियोगी हरि, यशपाल, शान्तिप्रिय द्विवेदी, पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी, सेठ गोविन्ददास, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हरिवंशराय 'बच्चन' आदि उल्लेखनीय हैं। श्यामसुन्दरदास की आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' (१९४१) में व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख के प्रत्यंकन के स्थान पर उनकी साहित्य-साधना और साहित्यिक अभिरुचि के वर्णन पर बल है, तो राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा' (१९४६) में उनकी यायावरी, विद्याव्यसनी एवं विद्रोही वृत्ति का मुहावरेदार तथा रोचक भाषा में अत्यन्त सशक्त शैली में उपस्थापन है। वियोगी हरि न केवल लोकप्रिय साहित्यकार हैं, अपितु गांधी जी के सिद्धान्तों के अनुयायी एवं प्रचारक हैं। फलस्वरूप उनकी आत्मकथा 'मेरा जीवन-प्रवाह' (१९४८) में उनका समाजसेवी रूप प्रमुख हो उठा है। साम्यवादी विचारधारा में आस्था रखनेवाले प्रसिद्ध कथाकार यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' (१९५२) में उनकी क्रान्तिकारी तथा संघर्षपूर्ण जीवन-गाथा लिपिबद्ध है। संस्मरणात्मक शैली में रचित शान्तिप्रिय द्विवेदी की आत्मकथा 'परिव्राजक की प्रजा' (१९५२) उनके करुणाप्लावित जीवन के विविध पक्षों को उजागर करती है। 'मेरी अपनी कथा' (१९५८) हिन्दी के प्रसिद्ध निबन्धकार पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की जीवन-यात्रा को सँजोये हुए है, तो 'आत्मनिरीक्षण' (१९५८) हिन्दी के प्रबल पक्षधर तथा समर्थ नाटककार सेठ गोविन्ददास के जीवन की कहानी है। 'अपनी खबर' (१९६०) पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' के जीवन का जीता-जागता एलबम है, तो 'मेरी आत्मकहानी' (१९६३) में

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के वैविध्य-भरे जीवन को वाणी मिली है। 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' (१९६९) तथा 'नीड़ का निर्माण फिर' (१९७०) में हरिवंशराय 'बच्चन' ने अपने जीवन की विविध स्मृतियों, कार्य-दिशाओं और उपलब्धि-अनुपलब्धियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है।

यात्रावृत्त : छायावादोत्तर काल के यात्रावृत्त-साहित्य में जिन लेखकों का मुख्य योगदान रहा, उनमें से कुछ ने छायावाद-युग में भी यात्रावृत्त-रचना की थी। इस दृष्टि से स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का नाम उल्लेखनीय है, किन्तु उनकी कृति 'मेरी पाँचवीं जर्मनी-यात्रा' (१९५५) में यात्रा-विवरण उतना सजीव नहीं है। कारण यह है कि यह यात्रा आँखों का इलाज कराने के लिए की गयी थी, फलस्वरूप वे अधिक भ्रमण नहीं कर सके। इसी भाँति कन्हैयालाल मिश्र 'आर्योपदेशक' की भी एक कृति 'मेरी ईराक यात्रा' (१९४०) आलोच्य युग में प्रकाशित हुई। इसमें यात्रा-मार्ग में पड़नेवाले स्थानों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। सन्तराम (जन्म १८८६)-कृत 'स्वदेश-विदेश यात्रा' (१९४०) भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है। इसमें काश्मीर तथा कुल्लू-यात्रा से सम्बन्धित अंश तो इनके लिखे हुए हैं और आस्ट्रेलिया-यात्रा-सम्बन्धी अंश रामेश्वरी नेहरू द्वारा लिखित हैं। कांगड़ा-उपत्यका की नदियों, चट्टानों, शैल-शिखरों और वनों के चित्ताकर्षक तथा अविस्मरणीय वर्णनों के कारण यह पुस्तक पाठक के हृदय पर अमिट छाप अंकित कर देती है।

यात्रावृत्त-साहित्य में जवाहरलाल नेहरू-कृत 'आँखों देखा रूस' (१९५३) भी उल्लेखनीय है—इसमें रूस-यात्रा-काल की उनकी प्रतिक्रियाओं का सजीव चित्रण हुआ है। किन्तु प्रस्तुत गद्य-विधा को समृद्ध करने में जितना योग राहुल सांकृत्यायन ने दिया है, उतना अन्य किसी लेखक ने नहीं। 'मेरी लद्दाख-यात्रा' (१९३९), 'किन्नर देश में' (१९४८), 'राहुल यात्रावली' (१९४९), 'यात्रा के पन्ने' (१९५२), 'रूस में पच्चीस मास' (१९५२), 'एशिया के दुर्गम भूखण्डों में' (१९५६) आदि उनकी कतिपय उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इनके अतिरिक्त 'घुमक्कड़शास्त्र' (१९४९) में उन्होंने घुमक्कड़ों के मार्ग-दर्शन के लिए अपने जीवन का पूरा निचोड़ ही सामने रख दिया है। राहुल जी के चरण जीवनपर्यन्त गतिशील रहे—उनके यात्रा-साहित्य में स्वदेश-विदेश के विविध स्थानों का अत्यन्त चित्रोपम अंकन मिलता है। भाषा-शैली में भावानुरूप परिवर्तन भी उनकी अन्यतम विशेषता है। सेठ गोविन्ददास-कृत 'हमारा प्रधान उपनिवेश' (१९३८), 'सुदूर दक्षिण-पूर्व' (१९५१) और 'पृथ्वी परिक्रमा' (१९५४) भी महत्त्वपूर्ण यात्रावृत्त हैं जिनमें क्रमशः पूर्वी तथा दक्षिणी अफ्रीका की जहाज़ी-यात्रा; सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और फ़ीजी की यात्राओं और मिस्र, यूनान, इटली, स्विट्ज़रलैंड, फ़्रांस, ब्रिटेन, अमरीका, चीन, जापान आदि देशों के प्राकृतिक वैभव, ऐतिहासिक स्मारकों, राजनीतिक-सांस्कृतिक जीवन आदि का यथार्थवादी और मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। स्वामी सत्यभक्त ने 'मेरी अफ़्रीका-यात्रा' (१९५५) में युगांडा, कीन्या आदि देशों की अपनी यात्राओं का सुसम्बद्ध वर्णन करने के साथ ही विभिन्न स्थानों पर हुए अपने भाषणों का सारांश भी दिया है। कर्नल सज्जनसिंह की 'लद्दाख-यात्रा की डायरी' (१९५५) में १८००० फुट की ऊँचाई पर की गयी शिकार-यात्रा तथा वहाँ के प्राकृतिक सौन्दर्य का सरल-स्पष्ट शैली में वर्णन हुआ है। सूर्यनारायण व्यास ने 'सागर-प्रवास' (१९४०) में यूरोप के प्राकृतिक सौन्दर्य का मनोरम प्रत्यंकन किया है, तो रामवृक्ष बेनीपुरी ने 'पैरों में पंख बाँधकर' (१९५२) तथा 'उड़ते चलो, उड़ते चलो' (१९५४) के माध्यम से यूरोपीय रंगमंच, देहात आदि का मर्मस्पर्शी विवरण डायरी-शैली

प्रस्तुत किया है।

आलोच्य काल के यात्रावृत्त-लेखकों में यशपाल भी उल्लेखनीय हैं। 'लोहे की दीवार के दोनों ओर' (१९५३) में उन्होंने सोवियत संघ और पूँजीवादी देशों की सामाजिक व्यवस्था का तुलनात्मक विवरण दिया है तथा 'राहबीती' (१९५६) में पूर्वी यूरोप के देशों का सशक्त चित्रण है। रामधारीसिंह 'दिनकर' के यात्रावृत्त 'देश-विदेश' (१९५७) और 'मेरी यात्राएँ' (१९७०) में संकलित हैं। इनमें एक ओर काश्मीर, सौराष्ट्र आदि भारतीय प्रदेशों के मनोहारी चित्र प्रस्तुत किये गये हैं और दूसरी ओर यूरोपीय देशों के रम्याद्‌भुत स्थानों तथा मनोरंजन के साधनों का विस्तृत विवरण भी दिया गया है। 'वह दुनिया' (१९५२) तथा 'कलकत्ता से पीकिंग' (१९५५) भगवतशरण उपाध्याय के उल्लेखनीय यात्रावृत्त-संग्रह हैं जिनमें रेखाचित्र-शैली का सफल प्रयोग मिलता है। इसी प्रकार 'आवारे की यूरोप यात्रा' (१९४०) तथा 'युद्ध-यात्रा' (१९४०) डॉ० सत्यनारायण की उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण के समय वे वहाँ पत्रकार की हैसियत से उपस्थित थे, फलस्वरूप 'युद्ध-यात्रा' में युद्ध का अत्यन्त रोमांचकारी वर्णन मिलता है।

अज्ञेय जी ने भी 'अरे यायावर रहेगा याद' (१९५३) तथा 'एक बूँद सहसा उछली' (१९६०) के द्वारा हिन्दी-यात्रा-साहित्य को समृद्ध किया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के मनोरम शब्द-चित्रों, रोचक घटनाओं तथा भाव-प्रवण रचना-शैली से सम्पृक्त ये रचनाएँ निश्चय ही पठनीय हैं। यशपाल जैन-कृत 'जय अमरनाथ' (१९५५) तथा 'उत्तराखण्ड के पथ पर' (१९५८) में हिममण्डित पर्वतमालाओं, सर्पिल पहाड़ी मार्गों, कलकल-नाद करते प्रपातों आदि का सशक्त अंकन हुआ है, तो भुवनेश्वरप्रसाद 'भुवन' ने 'आँखों देखा यूरोप' (१९५८) में इंग्लैंड के अस्थिर मौसम, कला तथा सौन्दर्य से परिपूर्ण वेनिस नगरी आदि का चित्रण किया है। यशपाल जैन ने स्वदेश-विदेश-दर्शन और यात्रावृत्त-लेखन में बहुत-कुछ राहुल जी की भाँति ही रुचि ली है। 'रूस में छियालीस दिन', 'पड़ौसी देशों में' और 'दक्षिण-पूर्वी एशियायी देश' उनकी अन्य यात्रावृत्तात्मक रचनाएँ हैं। गोपालप्रसाद व्यास द्वारा विरचित 'अरबों के देश में' (१९६०) का उल्लेख भी आवश्यक है। इसमें अरब देशों की प्रगति के सरकारी आँकड़े या विज्ञप्तियाँ देने के स्थान पर आँखों-देखी व्यवस्था का निरूपण किया गया है। विष्णु प्रभाकर की 'हँसते निर्झर दहकती भट्ठी' (१९६६) भी उल्लेखनीय कृति है। विभिन्न देशों और स्थानों का वर्णन करते समय लेखक कहीं कवि हो उठा है, कहीं दार्शनिक, कहीं आलोचक और कहीं मात्र दर्शक! रामकृष्ण रघुनाथ खाडिलकर ने 'हालैंड में पच्चीस दिन' (१९५४) तथा 'बदलते रूस में' (१९५८) शीर्षक कृतियों में दर्शनीय स्थानों का विवरण देने के साथ ही भारत के साथ इन देशों के सम्बन्धों पर भी विचार व्यक्त किये हैं। 'तन्त्रालोक से यन्त्रालोक तक' (१९६८) तथा 'अप्रवासी की यात्राएँ' (१९७२) में डॉ० नगेन्द्र की विदेश-यात्राओं के संस्मरण संकलित हैं। प्रथम कृति में काठमाण्डू, काबुल, ताशकंद और मास्को का तथा 'अप्रवासी की यात्राएँ' में जापान, अमेरिका, यूरोप आदि के जनजीवन, दर्शनीय स्थानों आदि का सहज एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में चित्रोपम वर्णन करने में लेखक को अनुकरणीय सफलता मिली है। इसी प्रकार 'आखिरी चट्टान तक' में मोहन राकेश ने कथात्मक शैली के माध्यम से दक्षिण भारत के वैविध्य-भरे जीवन के सशक्त चित्र प्रस्तुत किये हैं। वर्ण्य और अभिव्यक्ति की समान सशक्तता की दृष्टि से प्रभाकर द्विवेदी की 'पारि उतरि कहि जैहौं' भी पठनीय कृति है।

हिन्दी के यात्रावृत्त-साहित्य का मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि विदेश-

भ्रमण-सम्बन्धी ग्रन्थों की तुलना में भारत-भ्रमण-सम्बन्धी ग्रन्थ कम प्रकाशित हुए हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य का निरूपण यात्रावृत्त-साहित्य की एक अन्य प्रमुख प्रवृत्ति है। देश-विदेश की यात्राओं को समाकलित करनेवाले ग्रन्थों में प्रकृति-सौन्दर्य के मनोरम चित्र उरेहे गये हैं। शैली-शिल्प की दृष्टि से भी यात्रावृत्त-सम्बन्धी रचनाएँ पर्याप्त वैविध्यपूर्ण हैं। प्रायः सभी लेखकों ने सहज एवं प्रवाहपूर्ण भाषा तथा निबन्ध-शैली, डायरी-पद्धति अथवा पत्र-शैली का प्रयोग करते हुए अपने यात्रा संस्मरणों को चित्रोपम रूप देने का प्रयत्न किया है।

संस्मरण तथा रेखाचित्र : आलोच्य युग में संस्मरण तथा रेखाचित्र-साहित्य के विकास एवं उन्नयन की दिशा में 'हंस' का रेखाचित्र-विशेषांक (मार्च १९३९, सम्पादक : श्रीपतराय) सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें हिन्दी ही नहीं; उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, तमिऴ, कन्नड़ आदि भाषाओं के लेखकों के भी रेखाचित्र प्रकाशित किये गये। वैसे, इन विधाओं के हिन्दी-लेखकों में बनारसीदास चतुर्वेदी (जन्म १८९२) का अन्यतम स्थान है। 'मधुकर' के रेखाचित्र-विशेषांक (१९४६) का सम्पादन करने के अनन्तर उन्होंने 'हमारे आराध्य' (१९५२) और 'संस्मरण' (१९५३) शीर्षक संस्मरणात्मक रचनाओं तथा 'रेखाचित्र' (१९५२) एवं 'सेतुबन्ध' (१९५२) शीर्षक रेखाचित्र-संग्रहों को प्रस्तुत किया। संस्मरणों में उन्होंने अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की कटु-मधुर स्मृतियों का प्रत्यंकन करते हुए उनकी विशेषताओं को उभारा है तथा रेखाचित्रों में देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता को प्रमुखता प्राप्त हुई है। अपने ग्रन्थों की भूमिकाओं में उन्होंने इन दोनों विधाओं के रचना-शिल्प पर भी महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। श्रीराम शर्मा (जन्म १९१२) के जो ग्रन्थ आलोच्य युग में प्रकाशित हुए उनमें 'प्राणों का सौदा' (१९३९), 'जंगल के जीव' (१९४९) और 'वे जीते कैसे हैं' (१९५७) उल्लेखनीय हैं। जनपदीय शब्दों का प्रयोग करते हुए कथात्मक शैली के माध्यम से रोचक और हृदयस्पर्शी वर्णन इनके लेखन की सर्वप्रमुख विशेषता है। रामवृक्ष बेनीपुरी (जन्म १९०२) अपने अद्‌भुत शब्द-शिल्प के लिए प्रख्यात हैं। 'लाल तारा' (१९३८), 'माटी की मूरतें' (१९४६), 'गेहूँ और गुलाब' (१९५०) तथा 'मील के पत्थर' (१९५७) इनकी प्रसिद्ध कृतियाँ हैं। यथार्थ के साथ कल्पना और भावुकता का समन्वय, विषय-वैविध्य तथा शब्दों एवं वाक्यांशों का संयत प्रयोग बेनीपुरी जी के लेखन की कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो पाठक की स्मृति में सदा-सदा के लिए अपना स्थान बना लेती हैं।

हिन्दी के रेखाचित्र-साहित्य की श्रीवृद्धि में महादेवी वर्मा ने अत्यधिक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। 'अतीत के चलचित्र' (१९४१), 'स्मृति की रेखाएँ' (१९४७), 'पथ के साथी' (१९५६) और 'स्मारिका' (१९७१) उनके उल्लेखनीय रेखाचित्र-संग्रह हैं। 'धर्मयुग' के सन् १९७० के विभिन्न अंकों में नीलू कुत्ता, दुर्मुख खरगोश, सोना हिरनी आदि पशुओं पर भी उनके अत्यन्त संवेदनापूर्ण रेखाचित्र प्रकाशित हुए थे। यद्यपि महादेवी के रेखाचित्रों की विधा के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद रहा है—इन्हें न्निबन्ध, संस्मरण और कहानी में से कोई एक संज्ञा भी दी जाती रही है; किन्तु अधिकांश विद्वान् उन्हें संस्मरणात्मक रेखाचित्र ही मानते हैं। अपने सम्पर्क में आने वाले शोषित व्यक्तियों, दीन-हीन नारियों, साहित्यकारों, जीव-जन्तुओं आदि का संवेदनामूलक चित्रण उन्होंने अत्यन्त मार्मिक रूप में किया है। अपनी संवेदना को कवित्वपूण शैली के माध्यम से मूर्त कर देने में उन्हें विशेष कौशल प्राप्त है। वे साहित्यकार होने के साथ-साथ चित्रकर्त्ती भी हैं, फलस्वरूप उनके रेखा-

चित्रों में चित्रोपमता का गुण अनायास समाविष्ट हो गया है।

रेखाचित्र तथा संस्मरण के तत्त्वगत अन्तर को ध्यान में रखते हुए इन दोनों विधाओं की श्रीवृद्धि में योग देने वाले लेखकों में प्रकाशचन्द्र गुप्त का स्थान काफ़ी ऊँचा है। 'पुरानी स्मृतियाँ' (१९४७) में इनके स्मृतिचित्र संकलित हैं, तो 'रेखाचित्र' (१९४०) में निर्जीव वस्तुओं, स्थानों आदि पर लिखे गये रेखाचित्र हैं। इनके रेखाचित्रों पर विदेशी लेखकों—विशेषत: ए० जी० गार्डनर—के रचना-शिल्प का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस युग के अन्य संस्मरण-लेखकों में राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। संस्मरणमूलक कहानियाँ लिखने में वे अप्रतिम हैं। ऐसे ही एक कहानी-संग्रह 'टूटा तारा' (१९४०) में संकलित 'मौलवी साहब' तथा 'देवी बाबा' शीर्षक संस्मरण विशेषत: पठनीय हैं। सार्थक विशेषणों, विशिष्ट उपमाओं एवं ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग उनकी शैलीगत विशेषताएँ हैं। विनयमोहन शर्मा (जन्म १९०५) का रेखाचित्र-संग्रह 'रेखा और रंग' अपनी चुटीली शैली तथा मार्मिक परिस्थिति-चित्रण के लिए प्रख्यात है। कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर-कृत 'जिन्दगी मुस्कराई' (१९५३) में संकलित संस्मरण तथा 'माटी हो गयी सोना' एवं 'दीप जले शंख बजे' (१९५९) में संगृहीत रेखाचित्र भी उल्लेखनीय हैं। मामूली-से-मामूली व्यक्ति अथवा घटना पर प्रांजल भाषा तथा चुस्त शैली में संस्मरण लिख डालने की कला में वे निष्णात हैं। रोचक प्रारम्भ, घटना-ऐक्य, स्पष्ट विश्लेषण तथा आद्यन्त सुनिश्चित प्रवाह उनके लेखन की कतिपय मुख्य विशेषताएँ हैं।

शिवपूजन सहाय (१८९३-१९६२) के संस्मरण तथा रेखाचित्र 'वे दिन वे लोग' (१९६५) में संकलित हैं। व्यंग्य-विनोद से पुष्ट मुहावरेदार भाषा में लिखित उनके संस्मरणात्मक रेखाचित्रों में चित्रोपनता का गुण कूट-कूट कर भरा है। सत्यवती मल्लिक (जन्म १९०७) के संस्मरण और रेखाचित्र 'अमिट रेखाएँ' (१९५१) में संकलित हैं। इसमें उन्होंने अपनी रचनाओं के साथ-साथ कुछ अन्य लेखकों की कतिपय प्रसिद्ध रचनाओं का भी संकलन किया है। मधुर भावनाओं का भावपूर्ण एवं रोचक चित्रण करते हुए प्रेरणाप्रद रेखाचित्रों का निर्माण इनकी निजी विशेषता है। देवेन्द्र सत्यार्थी (जन्म १९०८) भावात्मक संस्मरण तथा रेखाचित्र लिखने के लिए प्रख्यात हैं। 'रेखाएँ बोल उठीं' (१९४९) उनका एतद्विषयक उल्लेखनीय संग्रह है। शान्तिप्रिय द्विवेदी (१९०६-१९६७) की 'स्मृतियाँ और कृतियाँ' (१९६६) में उनके कवि-हृदय की अभिव्यक्ति मिलती है। लेखक ने उन परिस्थितियों का अत्यन्त स्पष्ट अंकन किया है जो उसके अपने व्यक्तित्व के विकास में बाधक रही हैं।

'रेखाएँ और चित्र' (१९५५), 'मंटो मेरा दुश्मन' (१९५६) और 'ज्यादा अपनी कम परायी' (१९५९) में हिन्दी के प्रतिष्ठित कथाकार तथा नाटककार उपेन्द्रनाथ अश्क के संस्मरण और रेखाचित्र संकलित हैं। यथास्थान चुटीले व्यंग्य, कथात्मक शैली तथा उर्दू-अँगरेजी के प्रचलित शब्दों के प्रयोग द्वारा उन्होंने अपनी रचनाओं को सदैव प्रवाहपूर्ण बनाए रखा है। विष्णु प्रभाकर ने 'कुछ शब्द : कुछ रेखाएँ' (१९६५) में सामाजिक स्थितियों तथा उनके मूल में छिपी विसंगतियों का सटीक विश्लेषण किया है। राहुल सांकृत्यायन (१८९३-१९६३) का संस्मरण-साहित्य 'बचपन की स्मृतियाँ' (१९५५), 'जिनका मैं कृतज्ञ' (१९५७) तथा 'मेरे असहयोग के साथी' में संकलित है। बोलचाल की प्रवाहपूर्ण भाषा के द्वारा अपने हृदय की भावुकता को व्यक्त करते हुए अपने सम्पर्क में आनेवाले छोटे-बड़े

तथा मामूली-महान् सभी व्यक्तियों को समान रूप से महत्त्व देते हुए मर्मस्पर्शी रचनाओं का प्रणयन इनके लेखन की विशेषता है।

हिन्दी के प्रख्यात रसवादी आलोचक एवं निबन्धकार डॉ० नगेन्द्र ने भी कुछ भावभीने स्मृति-चित्र लिखे हैं। 'चेतना के बिम्ब' (१९६७) में संकलित ऐसी रचनाओं में विश्लेषण की गम्भीरता तथा तटस्थता पर अधिक बल रहा है। जगदीशचन्द्र माथुर की कृतियों—'दस तस्वीरें' तथा 'जिन्होंने जीना जाना' (१९७१)—में मानव-मन के भीतरी भावों को प्रांजल भाषा-शैली में अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। वैसे 'दस तस्वीरें' की भूमिका में उन्होंने इस बात पर बल दिया है कि उनकी रचनाओं को संस्मरण न कहकर 'चरित लेख' कहा जाना चाहिए क्योंकि उनमें संस्मरण-शैली का हल्का-फुल्कापन नहीं है। सेठ गोविन्ददास (जन्म १८९६) ने भी 'स्मृति कण' (१९५९) में संस्मरण-शैली तथा 'चेहरे जाने-पहिचाने' (१९६६) में रेखाचित्र-शैली को अपनाया है। युग की विषमताओं का सशक्त चित्रण उनकी प्रमुख विशेषता है।

संस्मरण-साहित्य को अलंकृत करने वाले कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी-सिंह 'दिनकर' तथा हरिवंशराय 'बच्चन' भी उल्लेखनीय हैं। चतुर्वेदी जी ने 'समय के पाँव' (१९६२) में अनेक भावपूर्ण रेखाचित्र अंकित किये हैं। दिनकर जी की रचनाओं में 'लोकदेव नेहरू' (१९६५) तथा 'संस्मरण और श्रद्धांजलियाँ' (१९६९) उल्लेखनीय हैं जिनमें सरल एवं भावपूर्ण भाषा के माध्यम से अपने युग के प्रमुख साहित्यकारों, राजनीतिक नेताओं आदि के निजी सम्बन्धों का अन्तरंग परिचय दिया गया है। हरिवंशराय 'बच्चन' की उल्लेखनीय कृति है—'नये पुराने झरोखे' (१९६२), जिसमें लेखक ने यथास्थान आधुनिक हिन्दी-साहित्य पर टिप्पणियाँ देते हुए उसकी दुर्बलताओं और सबलताओं का सशक्त अंकन किया है।

आलोच्य युग में कतिपय अन्य लेखकों ने भी अपनी मूल्यवान् रचनाओं द्वारा हिन्दी के संस्मरणात्मक रेखाचित्र-साहित्य को समृद्ध किया है। सत्यजीवन वर्मा 'भारतीय' की 'एलबम' (१९४९), ओंकार शरद की 'लंका महाराजिन' (१९५०), कैलाशनाथ काटजू की 'मैं भूल नहीं सकता' (१९५५), प्रेमनारायण टण्डन की 'रेखाचित्र' (१९५९), इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'मैं इनका ऋणी हूँ' (१९५९), विनोदशंकर व्यास की 'प्रसाद और उनके समकालीन' (१९६०), सम्पूर्णानन्द की 'कुछ स्मृतियाँ और स्फुट विचार' (१९६२), हरिभाऊ उपाध्याय की 'मेरे हृदय-देव' (१९६५), राय कृष्णदास की 'जवाहर भाई : उनकी आत्मीयता और सहृदयता' (१९६५), महेन्द्र भटनागर की 'विकृत रेखाएँ : धुँधले चित्र' (१९६६), कुन्तल गोयल की 'कुछ रेखाएँ कुछ चित्र' (१९६७), डॉ० हरगुलाल की 'घेरे के भीतर और बाहर' (१९६८), पद्मिनी मेनन की 'चाँद' (१९६९), लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु' की 'व्यक्तित्व की झाँकियाँ' (१९७०) और शिवानी की 'आमादेर शान्तिनिकेतन' निश्चय ही इन विधाओं की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं।

गद्यकाव्य : यद्यपि यह सत्य है कि गद्यकाव्य आलोच्य युग की जीवन्त धारा नहीं रही, फिर भी इस युग में छायावाद-युग के अनेक प्रतिष्ठित लेखकों की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाशित हुईं। उदाहरणार्थ वियोगी हरि ने गांधी जी द्वारा किये गये कार्यों तथा सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए 'श्रद्धाकण' (१९४९) का प्रणयन किया, चतुरसेन शास्त्री ने राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत 'मरी खाल की हाय' (१९३९) तथा 'जवाहर' (१९४६) नाम्नी

रचनाएँ लिखीं और राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश' ने 'आराधना' (१९३९) में प्रेमिका को प्रभु का पद देकर उसकी आराधना की। दिनेशनन्दिनी चौरड़्या की कृतियाँ सर्वाधिक संख्या में प्रकाशित हुईं जिनमें शारदीया' (१९३९), 'दुपहरिया के फूल' (१९४२), 'वंशी-रव' (१९४५), 'उन्मन' (१९४५) और 'स्पन्दन' (१९४९) उल्लेखनीय हैं। मुख्यतः नारी-मन की संयोग एवं वियोगकालीन प्रेम-भावनाओं को ही वाणी प्रदान करनेवाली इन रचनाओं में कहीं-कहीं आध्यात्मिकता का स्वर भी विद्यमान है। संस्कृत, अरबी, फ़ारसी, उर्दू आदि भाषाओं से भावानुरूप शब्द-चयन तथा दृष्टान्तों एवं सूक्तियों का यथा-स्थान प्रयोग इनके लेखन की मुख्य विशेषताएँ हैं। अज्ञेय जी की 'चिन्ता' (१९४१) की कुछ रचनाएँ भी गद्यकाव्य-शैली में लिखित हैं। कभी नितान्त नये शब्द गढ़ते हुए और कभी तत्सम शब्दावली का प्रयोग करते हुए स्त्री-पुरुष के पारस्परिक गतिशील सम्बन्धों का बौद्धिक विश्लेषण उनके रचना-शिल्प की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। तेजनारायण काक-कृत 'निर्झर और पाषाण' (१९४३) में मिट्टी के ढेले, चींटे आदि सामान्य-से विषयों का भी संक्षिप्त और संवेदनापूर्ण प्रतिपादन मिलता है। रामप्रसाद विद्यार्थी 'रावी' ने 'शुभ्रा' (१९४२) में नारी-सम्बन्धी अपने इस दृष्टिकोण को व्यक्त किया है कि प्रेम का सम्बन्ध शरीर से नहीं है तथा अनेक पुरुष एक स्त्री से और एक स्त्री अनेक पुरुषों से प्रेम कर सकती है।

गद्यकाव्य के प्रणयन की ओर उन्मुख होकर आलोच्य युग में ही महत्त्वपूर्ण कृतियों की रचना करनेवालों में माखनलाल चतुर्वेदी राष्ट्रीयता के स्वर में पगी अपनी कृति 'साहित्य-देवता' (१९४३) के लिए प्रख्यात हैं, तो डॉ० रघुवीर सिंह (जन्म १९०८) ने 'शेष स्मृतियाँ' (१९३९) में मुग़लकालीन खँडहरों को आधार बनाकर जीवन के उतार-चढ़ाव का चित्रोपम वर्णन किया है। ब्रह्मदेव ने भारत-भूमि, शरणार्थी-समस्या आदि विविध विषयों का आत्मनिवेदनात्मक एवं सम्बोधनात्मक शैली में प्रतिपादन किया है। 'निशीथ' (१९४५), 'आँसू भरी धरती' (१९४८) और 'उदीची' (१९५६) उनकी महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। रंगनाथ दिवाकर ने 'अन्तरात्मा से' (१९५१) में भक्त-हृदय की भावनाओं को मौलिक ढंग से व्यक्त किया है। अन्य गद्यकाव्यकारों में ब्यौहार राजेन्द्रसिंह ने खलील जिब्रान की शैली का अनुकरण करते हुए गम्भीर जीवन-सत्यों को 'मौन के स्वर' (१९५१) के माध्यम से व्यक्त किया है, तो महावीरशरण अग्रवाल ने रवीन्द्रनाथ ठाकुर की शैली के अनुकरण पर 'गुरुदेव' (१९५३) में अरविन्द की विचारधारा का भावपूर्ण निरूपण किया है।

प्रवृत्त्यात्मक दृष्टि से मूल्यांकन करने पर यह ज्ञात होता है कि पूर्ववर्ती युग के समान इस युग में भी गद्यकाव्य का मूल स्वर प्रेम तथा राष्ट्रीयता का ही है। इतिहास-प्रसिद्ध स्थलों को देखकर भावप्रधान रचनाओं का प्रणयन यद्यपि केवल डॉ० रघुवीरसिंह ने ही किया है, किन्तु ये रचनाएँ इतनी प्रभावोत्पादक हैं कि हिन्दी-गद्यकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते समय इन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता।

रिपोर्ताज : 'रिपोर्ताज' फ्रांसीसी भाषा का शब्द है तथा इसकी गणना नव्यतम साहित्य-रूपों के अन्तर्गत की जाती है। जिस रचना में वर्ण्य विषय का आँखों-देखा तथा कानों-सुना ऐसा विवरण प्रस्तुत किया जाय कि पाठक की हृत्तन्त्री के तार झंकृत हो उठें और वह उसे भूल न सके, उसे 'रिपोर्ताज' कहते हैं। 'रिपोर्ट' से यह इस अर्थ में भिन्न है

कि उसमें जहाँ कलात्मक अभिव्यक्ति का अभाव होता है तथा तथ्यों का लेखा-जोखा-मात्र रहता है, वहाँ रिपोर्ताज में तथ्यों को कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया जाता है। इस रचना-विधा का प्रादुर्भाव सन् १९३६ के आसपास द्वितीय-विश्वयुद्ध के समय हुआ था। रूसी साहित्यकारों ने इसका विशेष प्रचार-प्रसार किया तथा इलिया एहरेनबुर्ग ने रिपोर्ताज के कुशल लेखक के रूप में सर्वाधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। हिन्दी में रिपोर्ताज-लेखन की परम्परा शिवदानसिंह चौहान की रचना 'लक्ष्मीपुरा' (रूपाभ, दिसम्बर १९३८) से आरम्भ हुई। 'हंस' के 'समाचार और विचार' तथा 'अपना देश' स्तम्भों के अन्तर्गत भी उनकी इस शैली की अनेक रचनाएँ प्रकाशित हुईं जिनमें 'मौत के खिलाफ़ ज़िन्दगी की लड़ाई' विशेषरूपेण उल्लेखनीय है। बंगाल के दुर्भिक्ष तथा महामारी के सन्दर्भ में रांगेय राघव द्वारा 'विशाल भारत' के लिए लिखित रिपोर्ताज भी अपनी मार्मिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। अकालग्रस्त क्षेत्र में पहुँचकर उन्होंने पूँजीपतियों, व्यापारियों तथा मुनाफ़ाखोरों के अमानवीय कृत्यों और भूख से बिलबिलाते नर-कंकालों पर जो मर्मस्पर्शी रिपोर्ताज लिखे, वे आगे चलकर 'तूफ़ानों के बीच' (१९४६) में संकलित-प्रकाशित हुए।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, उपेन्द्रनाथ अश्क तथा रामनारायण उपाध्याय ने अपने रिपोर्ताजों के स्वतन्त्र संग्रह प्रकाशित करने के स्थान पर उन्हें अपनी अन्यविषयक कृतियों में संकलित कर डाला है। प्रकाशचन्द्र गुप्त ने घटनाप्रधान रिपोर्ताज लिखे हैं जो उनके रेखाचित्र-संग्रह 'रेखाचित्र' में संगृहीत हैं। 'स्वराज्य भवन', 'अल्मोड़े का बाज़ार' और 'बंगाल का अकाल' उनके उल्लेखनीय रिपोर्ताज हैं। उपेन्द्रनाथ अश्क के रिपोर्ताज 'रेखाएँ और चित्र' (१९५५) में संकलित हैं। 'पहाड़ों में प्रेममय संगीत' उनका उल्लेखनीय कथात्मक रिपोर्ताज है जिसमें पहाड़ी गीतों के प्रतिपाद्य विषय 'प्रेम' पर अत्यन्त ज्ञानवर्धक सामग्री जुटायी गयी है। रामनारायण उपाध्याय के रिपोर्ताज उनके व्यंग्यात्मक निबन्धों के संग्रह 'ग़रीब और अमीर पुस्तकें' (१९५८) में संगृहीत हैं। 'नववर्षांक समारोह में' उनका एक अत्यन्त उत्कृष्ट रिपोर्ताज है जिसमें जन्मदिन-समारोह अभिनन्दन-समारोह, ग्रन्थ-विमोचन-समारोह आदि के पैटर्न पर आयोजित पत्रिकाओं के नववर्षांक-समारोह की अच्छी खबर ली गयी है।

रिपोर्ताज-लेखन की दिशा में कतिपय अन्य उल्लेखनीय हस्ताक्षर हैं—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, शिवसागर मिश्र, डॉ० धर्मवीर भारती, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, शमशेर बहादुर सिंह तथा श्रीकान्त वर्मा; जिन्होंने क्रमश: 'देश की मिट्टी बुलाती है', 'वे लड़ेंगे हज़ार साल' (१९६६), 'युद्ध-यात्रा' (१९७२), 'क्षण बोले कण मुस्काए', 'प्लाट का मोर्चा' और 'अपोलो का रथ' सदृश सशक्त रचनाओं के माध्यम से रिपोर्ताज-लेखन को नये आयाम दिये हैं। यह उल्लेखनीय है कि हिन्दी का अधिकांश रिपोर्ताज-साहित्य पत्र-पत्रिकाओं में ही प्रकाशित हुआ है। नया पथ, ज्ञानोदय, कल्पना, माध्यम, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, धर्मयुग आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर अनेक महत्त्वपूर्ण रिपोर्ताज प्रकाशित हुए हैं जिनमें डॉ० भगवतशरण उपाध्याय, फणीश्वरनाथ रेणु, रामकुमार, विवेकी राय, कैलाश नारद, जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी, निर्मल वर्मा, सतीश कुमार, श्रीकान्त वर्मा, कमलेश्वर आदि द्वारा लिखित 'खून के छींटे', 'एकलव्य के नोट्स', 'पेरिस के नोट्स', 'बाढ़ ! बाढ़ !! बाढ़ !!!', 'धरती के लिए', 'चीनियों द्वारा निर्मित काठमाण्डू-ल्हासा सड़क', 'प्राग : एक स्वप्न', 'क्या हमने कोई षड्यन्त्र रचा था', 'मुक्ति फ़ौज' और 'क्रान्ति करते हुए आदमी को देखना' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं।

इंटरव्यू-साहित्य : हिन्दी-गद्य की नव्यतम विधाओं में 'इंटरव्यू' का उल्लेख भी अपेक्षित है। इसके लिए 'साक्षात्कार', 'भेंट-वार्त्ता' और 'विशेष परिचर्चा' शब्द भी पर्याय-रूप में प्रयुक्त होते हैं। 'इंटरव्यू' से अभिप्राय उस रचना से है जिसमें लेखक व्यक्तिविशेष के साथ साक्षात्कार करने के बाद प्रायः किसी निश्चित प्रश्नमाला के आधार पर उसके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करता है और फिर अपने मन पर पड़े प्रभाव को लिपिबद्ध कर डालता है। हिन्दी-गद्य में इस विधा के प्रवर्तन का श्रेय बनारसीदास चतुर्वेदी को है—'विशाल भारत' में प्रकाशित 'रत्नाकर जी से बातचीत' (सितम्बर, १९३१) और 'प्रेमचन्द जी के साथ दो दिन' (जनवरी, १९३२) इस दिशा में उनकी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। डॉ० सत्येन्द्र के सम्पादकत्व में प्रकाशित 'साधना' पत्रिका के मार्च-अप्रैल, १९४१ के अंक का इस विधा के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। जगदीशप्रसाद चतुर्वेदी और चिरंजीलाल 'एकाकी' द्वारा क्रमशः भदन्त आनन्द कोसल्यायन और महादेवी वर्मा से लिये गये इंटरव्यू इस अंक की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। वेनीमाधव शर्मा की 'कवि-दर्शन' इस विधा की प्रथम स्वतन्त्र कृति है जिसमें अयोध्यासिंह उपाध्याय, श्यामसुन्दरदास, रामचन्द्र शुक्ल, मैथिलीशरण गुप्त प्रभृति कृतिकारों से लिये गये इंटरव्यू संगृहीत हैं।

'इंटरव्यू' के सन्दर्भ में सर्वाधिक लोकप्रिय कृति डॉ० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' (जन्म १९१८) द्वारा दो भागों में विरचित 'मैं इनसे मिला' (१९५२) है। 'कमलेश' जी ने जहाँ सम्बद्ध साहित्यकार से कुछ बँधे-बँधाये प्रश्न पूछकर उनके उत्तर सँजोने की शैली अपनायी है, वहाँ स्रष्टा साहित्यकार से बातचीत करने के बाद अपने मन पर पड़े प्रभाव को लिपिबद्ध कर देने की शैली का भी प्रयोग किया है। प्रस्तुत विधा की दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति देवेन्द्र सत्यार्थी की 'कला के हस्ताक्षर' है। यद्यपि इसमें अनेक स्थलों पर संस्मरण, रेखाचित्र तथा निबन्ध की विशेषताएँ भी अनायास समाविष्ट हो गयी हैं, किन्तु इसकी पृष्ठभूमि में इंटरव्यू की विधा ही मुख्य है—लेखक ने साहित्य, संगीत, अभिनय, चित्रकारिता आदि से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से अपने वार्त्तालाप के बाद उपलब्ध जानकारी को लिपिबद्ध किया है। इस वर्ग की एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है—डॉ० रणवीर रांग्रा की 'सृजन की मनोभूमि' (१९६८)। इसमें हिन्दी के शीर्षस्थ साहित्यकारों के सन्दर्भ में इक्कीस भेंट-वार्त्ताएँ संकलित हैं, जिनके माध्यम से लेखक ने पाठकों को साहित्यकारों के अवचेतन की अतल गहराइयों से परिचित कराने का स्तुत्य प्रयास किया है। दिनकर की 'वट पीपल' (१९६१) और विष्णु प्रभाकर की 'कुछ शब्द कुछ रेखाएँ' में भी अन्यविषयक रचनाओं के साथ कुछ भेंट-वार्त्ताएँ दी गयी हैं। प्रभाकर माचवे, शिवदानसिंह चौहान, रामचरण महेन्द्र, कैलाश 'कल्पित' आदि लेखकों ने भी इस विधा की समृद्धि में योग प्रदान किया है। इधर कुछ ऐसे ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें किसी एक विशिष्ट साहित्यकार से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर संकलित हैं। इस दृष्टि से 'समय और हम' तथा 'समय समस्या और सिद्धान्त' विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। इनमें क्रमशः वीरेन्द्रकुमार गुप्त तथा रामावतार ने जैनेन्द्रजी से भेंट-वार्त्ताओं के आधार पर साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रों से सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर सँजोये हैं। इसी प्रकार का एक अन्य संग्रह 'हिन्दी-कहानी और फ़ैशन' है, जिसमें डॉ० सुरेश सिन्हा ने उपेन्द्रनाथ अश्क से अपनी कुछ भेंट-वार्त्ताओं का प्रश्नोत्तर-रूप में संयोजन किया है। नई धारा, सारिका, धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान आदि पत्रिकाओं का भी इस दिशा में उल्लेखनीय योग रहा है। 'नई धारा' में 'हम इनसे मिले थे' शीर्षक स्थायी स्तम्भ के

अन्तर्गत अनेक रोचक इंटरव्यू प्रकाशित हुए हैं। 'सारिका' के १९६३-१९६५ ई० तक के अंकों में भी अनेक महत्त्वपूर्ण इंटरव्यू प्रकाशित हुए। इसी प्रकार मासिक पत्रिका 'संगीत' में संगीत-साधकों से भेंट' शीर्षक के अन्तर्गत प्रसिद्ध संगीतज्ञों के इंटरव्यू प्रकाशित होते रहे हैं।

पत्र-साहित्य : छायावादोत्तर काल में प्रकाशित पत्र-साहित्य को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) व्यक्तिगत पत्रों के स्वतन्त्र संकलन, (ख) विविध विषयक ग्रन्थों में परिशिष्ट आदि के अन्तर्गत संकलित पत्र तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित पत्र। प्रथम वर्ग की रचनाओं में भदन्त आनन्द कोसल्यायन-कृत 'भिक्षु के पत्र', भाग १-२ (१९४०), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा-कृत 'यूरोप के पत्र' (१९४४), सत्यभक्त स्वामी-कृत 'अनमोल पत्र' (१९५०), सूर्यबली सिंह-कृत 'मनोहर पत्र' (१९५२), ब्रजमोहनलाल वर्मा-कृत 'लन्दन के पत्र' (१९५४), बैजनाथसिंह 'विनोद' द्वारा सम्पादित 'द्विवेदी पत्रावलि' (१९५४), बनारसीदास चतुर्वेदी तथा हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित 'पद्मसिंह शर्मा के पत्र' (१९५६), डॉ० धीरेन्द्र वर्मा तथा डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा सम्पादित 'प्राचीन हिन्दी-पत्र-संग्रह' (१९५९), वियोगी हरि द्वारा सम्पादित 'बड़ों के प्रेरणादायक कुछ पत्र' (१९६०), कमलापति त्रिपाठी द्वारा लिखित 'बन्दी की चेतना' (१९६२), डॉ० जगदीशचन्द्र द्वारा लिखित 'सोवियत रूस पिता के पत्रों में' (१९६६), अमृतराय द्वारा सम्पादित प्रेमचन्द के पत्रों का संग्रह 'चिट्ठी-पत्री' (दो भाग), काका कालेलकर द्वारा संगृहीत 'बापू के पत्र', डॉ० काशिनाथ शंकर केलकर द्वारा सम्पादित '१८वीं शती के हिन्दी-पत्र' (१९७०), पाण्डेय बेचन शर्मा उग्र द्वारा सम्पादित 'फ़ाइल और प्रोफ़ाइल' (१९७०), जीवनप्रकाश जोशी द्वारा सम्पादित 'बच्चन : पत्रों में' (१९७०), वृन्दावनदास द्वारा सम्पादित 'बनारसीदास चतुर्वेदी के पत्र' (१९७१), जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा सम्पादित 'निराला के पत्र' (१९७१), हरिवंशराय बच्चन द्वारा सम्पादित 'पन्त के दो सौ पत्र बच्चन के नाम' (१९७१) आदि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। 'प्राचीन हिन्दी-पत्र-संग्रह' तथा 'अठारहवीं शती के हिन्दी-पत्र' सदृश ग्रन्थों से मराठा-इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त होती है, तो डॉ० धीरेन्द्र वर्मा, ब्रजमोहनलाल वर्मा तथा डॉ० जगदीशचन्द्र के पत्रों में क्रमशः यूरोप, लन्दन तथा रूस के दर्शनीय स्थानों का सजीव चित्रण हुआ है। पद्मसिंह शर्मा, महावीरप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, पुरुषोत्तमदास टंडन, बनारसीदास चतुर्वेदी, किशोरीदास वाजपेयी, बेचन शर्मा उग्र, सुमित्रानन्दन पन्त, हरिवंशराय बच्चन आदि द्वारा लिखित पत्रों से हिन्दी-साहित्य की गतिविधियों और समस्याओं पर समुचित प्रकाश पड़ता है।

साहित्य, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों की महान् विभूतियों से सम्बद्ध ग्रन्थों में भी पत्र-साहित्य का अमूल्य भण्डार संकलित है। उदाहरणार्थ हरिवंशराय बच्चन द्वारा प्रणीत 'कवियों में सौम्य सन्त' (१९६०) के परिशिष्ट-भाग में सुमित्रानन्दन पन्त के १२६ मूल्यवान् पत्र संकलित हैं। सन् १९४०-१९६० की अवधि में पन्त जी द्वारा बच्चन को लिखे गये इन पत्रों के द्वारा पन्त जी के पारिवारिक जीवन तथा उनकी काव्य-चेतना के विभिन्न सोपानों का परिज्ञान होता है। डॉ० शिवप्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'शान्तिनिकेतन से शिवालिक तक' (१९६७) में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा विभिन्न साहित्यकारों को लिखे गये जिन पत्रों का संकलन किया गया है उनसे आचार्य द्विवेदी की अभिरुचियों और विचारधारा का

ता तो लगता ही है, साथ ही वे उनकी साहित्य-यात्रा के विभिन्न सोपानों को भी प्रकट करते हैं।

हिन्दी-पत्र-साहित्य के विकास में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका', 'सरस्वती', 'माधुरी', धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'ज्ञानोदय' आदि ने भी महत्त्वपूर्ण योग दिया है। 'चाँद' का पत्रांक तो हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं। 'हंस' के अक्तूबर, १९४८ के अंक में प्रकाशचन्द गुप्त ने प्रेमचन्द जी के कुछ पत्र प्रकाशित किये थे। बनारसीदास चतुर्वेदी ने सम्मेलन-पत्रिका' के भाग ५२, संख्या ३-४ में २७ तथा भाग ५३, संख्या १-२ में २९ पत्र काशित किये थे जिनसे वासुदेवशरण अग्रवाल के गम्भीर चिन्तन-मनन तथा भावुक हृदय का रिचय प्राप्त होता है। 'राष्ट्रवाणी' के 'मुक्तिबोध-स्मृति-अंक' (१९६५) में गजानन माधव मुक्तिबोध-सम्बन्धी जिन पत्रों का संकलन-सम्पादन किया गया है, वे मुक्तिबोध के काव्य की रचना-प्रक्रिया तथा उनकी अभावमयी जीवन-गाथा पर प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार गभग सभी पत्रिकाओं में 'आपका पत्र मिला', 'चिट्ठी-पत्री', 'पत्र-प्रसंग' आदि स्तम्भों के न्तर्गत पाठकों के पत्र प्रकाशित होते रहते हैं जिनमें साहित्य, समाज, राजनीति, धर्म आदि से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं के विषय में जनता के विचारों की अभिव्यक्ति रहती है।

अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ : जीवन के विकास-पथ पर साहित्य, राजनीति आदि विभिन्न क्षेत्रों में जिन विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने अमिट चरण-चिह्न अंकित कर दिये हैं उनके कृतित्व की सामाजिक स्वीकृति एवं अनुशंसा के लिए अभिनन्दन तथा स्मृति-ग्रन्थों के सम्पादन-प्रकाशन की ओर भी इस युग में पर्याप्त ध्यान दिया गया है। अभिनन्दन तथा स्मृति-ग्रन्थ वन्दनीय व्यक्ति का गुण-स्तवन करने के साथ-साथ जनमानस में सद्गुणों के संस्कार डालने तथा अपने युग के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सच्चा इतिहास प्रस्तुत करने में अमूल्य सहायता प्रदान करते हैं। आलोच्य युग में इस दिशा में जिन कृतियों का सम्पादन-प्रकाशन हुआ है उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) साहित्यकारों से सम्बन्धित अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ, (ख) स्वाधीनता के कर्मठ सेनानियों तथा राष्ट्र के कर्णधारों से सम्बद्ध ग्रन्थ, (ग) धर्म, दर्शन और संस्कृति के उन्नयन में योग देनेवाले महानुभावों से सम्बन्धित ग्रन्थ।

प्रथम वर्ग के अन्तर्गत जो अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं उनमें बालमुकुन्द गुप्त स्मृति-ग्रन्थ (१९५०), महाकवि निराला अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५३), कन्हैयालाल पोद्दार अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५३), सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५६), राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५९), राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५९), किशोरीदास वाजपेयी अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९६१), महादेवी वर्मा अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९६४), डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की षष्टिपूर्ति के अवसर पर समर्पित अभिनन्दन-ग्रन्थ 'शान्तिनिकेतन से शिवालिक तक' (१९६७), रविशंकर शुक्ल अभिनन्दन-ग्रन्थ, सोहनलाल द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९६९), बाबू गुलाबराय स्मृति-ग्रन्थ (१९७०) तथा बनारसीदास चतुर्वेदी अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९७१), विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त ग्रन्थों में सम्बद्ध साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व के निरूपण तथा मूल्यांकन के साथ-साथ हिन्दी भाषा तथा साहित्य की उपलब्धियों, सीमाओं एवं समस्याओं पर भी विचार किया गया है। साहित्यकारों की आर्थिक स्थिति तथा उनके जीवन-संघर्ष, लेखकों तथा प्रकाशकों के पारस्परिक सम्बन्ध, हिन्दी-प्रचार, अँगरेज़ी भाषा तथा अँगरेज़ियत की गुलामी के काँटे को

दूर करने के लिए किये गये प्रयत्नों, भारत में हिन्दी की वर्तमान स्थिति और उसके उज्ज्वल भविष्य आदि विषयों पर भी इनमें से अधिकांश में महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है।

दूसरे वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित हुए अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थों में दीनबन्धु को श्रद्धांजलियाँ (१९४१), नेहरू अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९४९), गांधी श्रद्धांजलि-ग्रन्थ (१९५५), प्यारेलाल स्मृति-ग्रन्थ (१९६१), डॉ० आदित्यनाथ झा अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९६२) आदि उल्लेखनीय हैं। स्वाधीनता के कर्मठ सेनानियों, राष्ट्र के कर्णधारों तथा कुशल प्रशासकों से सम्बद्ध इन अभिनन्दन एवं स्मृति-ग्रन्थों का मूल स्वर है—देशप्रेम! ब्रिटिश शासन की शृंखलाओं को छिन्न-भिन्न करने के लिए जीवन की बाज़ी लगा देनेवाले देशभक्तों द्वारा की गयीं जेल-यात्राओं तथा तत्कालीन निरंकुश नौकरशाही द्वारा किये गये नृशंस अत्याचारों का चित्रण इन ग्रन्थों की मुख्य विशेषता है; इनके माध्यम से भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम की इतिहास-गाथा भी अनायास रूपायित हो उठती है।

तीसरे वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित रचनाओं में स्वामी हरिदास अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५७), राजगोपाल मोहता अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९५८), गोपीनाथ कविराज अभिनन्दन-ग्रन्थ (१९६७) आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें समाज-सुधार, देश-सुधार तथा मानव-प्रेम के प्रचार-प्रसार में प्रयत्नशील रहनेवाले व्यक्तियों की यशोगाथा अंकित की गयी है। समाज-सुधार को सभी सुधारों का मूल मन्त्र मानकर सामाजिक कुप्रथाओं तथा अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए महान् आत्माओं द्वारा किये गये प्रयत्नों का लेखा-जोखा भी इन ग्रन्थों में प्रस्तुत किया गया है। ये ग्रन्थ इस तथ्य पर भी प्रकाश डालते हैं कि नयी तथा पुरानी विचारधारा के लोगों के बीच समन्वय स्थापित करके प्रगतिशील समाज का निर्माण किस प्रकार किया जा सकता है।

ज्ञान का साहित्य

छायावादोत्तर काल के ज्ञानात्मक साहित्य के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में विभक्त किया जा सकता है: पूर्व-स्वातन्त्र्य-युग और स्वातन्त्र्योत्तर-युग। स्वतन्त्रता-प्राप्ति (१९४७) के पूर्व जो ज्ञानात्मक साहित्य प्रकाशित हुआ, वह परम्परागत विषयों की परिधि में ही आता है। इसके पीछे एक ओर तो अतीत-गौरव के पुनर्निर्माण का प्रयत्न निहित था और दूसरी ओर पश्चिम के इतिहास, शासन-पद्धति आदि के समानान्तर अध्ययन द्वारा उन तत्त्वों की तलाश थी जिनके अभाव में स्वदेश पिछड़ गया था और जिनके प्रताप से विदेश की शासन-सत्ता का प्रसार होता चला गया था। फलतः इस अवधि में इतिहास, भारतीय सभ्यता और संस्कृति, भारतीय अर्थशास्त्र, भारतीय शासन-विधान, विदेशी शासन-व्यवस्था, व्याकरण एवं भाषादर्शन, समाजशास्त्र, राजनीति, दर्शनशास्त्र, तर्क, ललित कला, धर्म, शिक्षा, ज्योतिष आदि विषय ही लेखकों में अधिक लोकप्रिय रहे। इस विषय-सीमितता का जहाँ मनोवैज्ञानिक कारण था, वहीं कुछ अन्य कारण भी थे। एक तो इन पुस्तकों के लेखक मूलतः हिन्दी-विद्वान् थे अथवा परम्परागत विषयों के ऐसे विद्वान् थे जिनका हिन्दी-अभिव्यंजना पर सहज अधिकार था। दूसरे, हिन्दी-माध्यम के द्वारा इन विषयों की अभिव्यक्ति की एक परम्परा स्थापित हो चुकी थी और इनके सन्दर्भ में गहन एवं उच्चतर चिन्तन की अभिव्यक्ति भी हिन्दी के माध्यम से हो सकती थी। इसलिए इन कृतियों की भाषा प्रायः साफ़-सुथरी, प्रांजल-परिनिष्ठित और व्याकरण-सम्मत है। तीसरे,

म्परागत विषयों के विवेचन-विश्लेषण और समानान्तर अध्ययन से यह तथ्य भी उभरकर ता था कि भारतीय चिन्तन में भी बहुत-कुछ ऐसा है जिसका आदान पश्चिम के लिए भकारी और उपादेय सिद्ध हो सकता है। इन्हीं कारणों की एक परिणति यह थी कि कृतिक विज्ञानों में लेखन का प्राय: एकान्त अभाव रहा। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव से न आधुनिक विषयों का अध्ययन-अध्यापन आरम्भ हुआ था, उनमें हिन्दी के माध्यम से भिव्यंजना की कोई परम्परा न थी। वैज्ञानिकों का समस्त अध्ययन अँगरेज़ी के माध्यम ही होता था। उच्चतर स्तर की पारिभाषिक शब्दावली का भी सर्वथा अभाव था। अत: रतीय वैज्ञानिकों के लिए अपने आपको हिन्दी में अभिव्यक्त करने की न तो कोई प्रेरणा —क्योंकि पाठक वर्ग नगण्य था; और न कोई साधन।

पाँचवें दशक का अन्त होते-होते स्थिति में एक गुणात्मक परिवर्तन आ गया। रतीय संविधान के अनुसार हिन्दी को केन्द्र-सरकार का प्रश्रय एवं संरक्षण प्राप्त हुआ, लस्वरूप ज्ञानात्मक साहित्य-निर्माण के क्षेत्र में एक मिश्रित व्यवस्था का जन्म हुआ। जी प्रकाशक, प्रकाशन-संस्थाएँ तथा स्वैच्छिक संस्थाएँ तो ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण अपने-अपने ढंग से सक्रिय थीं ही, प्रस्तुत शताब्दी के छठे दशक के आरम्भिक वर्षों में न्द्र-सरकार ने भी पहले पारिभाषिक शब्दावली-निर्माण के और फिर ज्ञानात्मक साहित्य-र्माण के क्षेत्र में पदार्पण किया।

स्वातन्त्र्योत्तर काल के ज्ञानात्मक साहित्य में भी प्राकृतिक विज्ञान के ग्रन्थों का प्राय: भाव ही रहा। परन्तु सामाजिक विज्ञानों के धरातल पर स्थिति उतनी शोचनीय नहीं है। सका कारण यह है कि इन विषयों के पठन-पाठन की एक परम्परा हमारे यहाँ रही है और तन्त्रता-संग्राम के दिनों में वह और दृढ़ हो गयी थी। हिन्दी-क्षेत्र के अनेक विश्वविद्यालयों प्राय: उच्चतम स्तर तक हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बना दिया गया है, जिससे उच्च-तरीय वैज्ञानिक ग्रन्थों के लेखन-प्रकाशन को गति प्राप्त हुई है। किन्तु, प्राकृतिक विज्ञानों सन्दर्भ में हो या सामाजिक विज्ञानों के, अधिकांश ग्रन्थ अनूदित ही आ रहे हैं।

प्राकृतिक विज्ञानों में मौलिक लेखन की दिशा में डॉ० निहालकरण सेठी चुम्बकत्व और विद्युतत्व, ध्वनि अथवा शब्दविज्ञान, प्रकाशविज्ञान, तारा भौतिकी आदि); ॉ० सत्यप्रकाश (प्राचीन भारत में रसायन का विकास, वैज्ञानिक विकास की भारतीय रम्परा, सामान्य रसायनशास्त्र); फूलदेवसहाय वर्मा (रबर, प्लास्टिक, कोयला, ईख और ीनी); डॉ० गोरखप्रसाद (भारतीय ज्योतिष का इतिहास, नीहारिकाएँ) आदि का ोगदान उल्लेखनीय है। अनुवादकों में डॉ० सेठी, डॉ० कैलाशचन्द्र निगम (रासायनिक णनाएँ); डॉ० विजयेन्द्र रामकृष्ण शास्त्री (पृष्ठ रसायन); ह० प्र० सिन्हा (शुद्ध घन-यामिति-प्रवेशिका), लज्जाराम सिंहल (गतिविज्ञान, समाकलन गणित), डॉ० झम्मनलाल र्मा (गतिविज्ञान-२, अवकलन गणित), ओम्प्रकाश वर्मा (चिरसम्मत यान्त्रिकी), डॉ० जमोहन (शुद्ध गणित की पाठचर्या), डॉ० हरसरनसिंह विश्नोई (अकशेरुकी प्राणि-जगत्—ाग १, २), डॉ० जगदीशचन्द्र ूना (कशेरुक प्राणियों की संरचना तथा परिवर्धन—भाग , २; कीट-विज्ञान), डॉ० कृष्णकुमार गुप्त (प्राणिविज्ञान की रूपरेखा), रवीन्द्रनाथ वर्मा (आवृतबीजी भ्रूणविज्ञान परिचय) आदि के नामों का उल्लेख किया जा सकता है।

सामाजिक विज्ञानों में प्राचीनकालीन भारत और मध्यकालीन भारत के इतिहास र अनेक अच्छे ग्रन्थ उपलब्ध हैं, किन्तु आधुनिक काल के इतिहास और यूरोपीय इतिहास

पर जो भी ग्रन्थ हैं वे कुछ अपवादों को छोड़कर पाठ्यपुस्तकीय स्तर के हैं। भारत सांस्कृतिक इतिहास पर भी खोज़पूर्ण उच्चस्तरीय ग्रन्थ निकले हैं। महाद्वीपों, देशों, नग राजवंशों, व्यक्तियों एवं संस्थाओं के भी अनेक अच्छे इतिहास प्रकाशित हुए हैं। स्वतन्त्रता के पश्चात् नयी दृष्टि से इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता का अनुभव किया गया था और लेखन में विस्तार और विशेषीकरण दोनों के ही दर्शन हो रहे हैं। इतिहास त संस्कृति-विषयक लेखकों में डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (पाणिनिकालीन भारत), डॉ भगवतशरण उपाध्याय (कालिदास का भारतवर्ष), डॉ० राजबली पाण्डेय (प्राचीन भारत सभ्यता और संस्कृति, विक्रमादित्य, हिन्दू संस्कार), डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार (भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, भारत का प्राचीन इतिहास, मौर्य साम्राज्य का इतिहास) डॉ० सम्पूर्णानन्द (आर्यों का आदिदेश), राहुल सांकृत्यायन (बौद्ध संस्कृति, मध्य एशिया का इतिहास, अकबर), जयचन्द्र विद्यालंकार (भारतीय इतिहास का उन्मीलन) और डॉ० रघुवीरसिंह (पूर्व-आधुनिक राजस्थान) के नामों का उल्लेख किया जा सकता है। दिनकर जी की 'संस्कृति के चार अध्याय' तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'ब्रिटिश साम्राज्य का उद और अस्त' आदि कृतियाँ भी उल्लेखनीय हैं। अनूदित ग्रन्थों में डॉ० र० शं० त्रिपाठी के 'प्राचीन भारत का इतिहास', डॉ० रमेशचन्द्र मजूमदार के 'भारत ह़ा बृहत् इतिहास— भाग; डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी के 'चन्द्रगुप्त मौर्य और उनका काल' तथा 'हिन्दू संस्कृति और राष्ट्रवाद'; जदुनाथ सरकार के 'भारत का सैन्य इतिहास', 'औरंगज़ेब', 'मुग़ल साम्राज्य का पतन'—४ भाग तथा 'युगयुगीन भारत'; डॉ० आशीर्वादीलाल श्रीवास्तव के 'दिल्ली सल्तनत' डॉ० अशरफ़ के 'हिन्दुस्तान के निवासियों का जीवन और उनकी परिस्थितियाँ', सरदेसाई के 'मराठों का नवीन इतिहास', डॉ० यूसुफ़ हुसेन के 'मध्ययुगीन भारतीय संस्कृति' प्रो० हुमायून् कबिर के 'भारतीय परम्परा' तथा डॉ० आबिद हुसेन के 'भारत की राष्ट्रीय संस्कृति का उल्लेख किया जा सकता है।

राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के ग्रन्थ लिखे गये और अनूदित हुए हैं। विभिन्न देशों की शासन-प्रणाली और संविधानों के अध्ययन-अनुशीलन हुए हैं और एतद्विषयक ग्रन्थों के अनुवाद भी हुए हैं। भारत के सांविधानिक इतिहास एवं विविध राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन भी हुआ है। राजनीति-दर्शन के इतिहास पर अनेक पश्चिमी विद्वानों के आधारभूत ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद हो चुके हैं। प्राचीन भारतीय शासन तथा संस्थाओं का परिचय करानेवाले कुछ अच्छे ग्रन्थ भी प्रकाश में आये हैं, किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन और राजनय पर साहित्य का अभाव है और यह चिन्ता का विषय है। विश्व के प्रमुख संविधानों के अध्ययन भी मौलिक या अनूदित रूप में हिन्दी में आ चुके हैं—जैसे स्ट्रांग का 'आधुनिक राजनीतिक संविधान'; लास्की का 'इंग्लैंड का संसदीय शासन', ह्वीलर का 'आधुनिक संविधान', वारेन का 'इंग्लैंड में स्थानीय शासन-प्रणाली' आदि। सैद्धान्तिक पक्ष पर 'यूनानी राजनीति-सिद्धान्त' (वार्कर), 'राजनय और राज्यशिल्प' (गूच) उल्लेखनीय हैं। राजनीति-शास्त्र के अन्य पक्षों पर जो साहित्य प्रकाशित हुआ है उसके सन्दर्भ में 'भारत का राष्ट्रीय एवं सांविधानिक इतिहास' तथा 'महानगर और प्रशासन' (गुरुमुख निहाल सिंह); 'आदर्श नगर व्यवस्था' (प्लेटो); 'अरस्तू की राजनीति', 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति' (शुमाँ); 'अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संक्षिप्त इतिहास' (गैथार्न-हार्डी); दो विश्वयुद्धों के बीच

न्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध' (कार); 'अन्तर्राष्ट्रीय विधान', 'अन्तर्राष्ट्रीय विधि' (साँवलिया हारी वर्मा); विश्व राजनीति का पर्यवेक्षण' (विश्वनाथप्रसाद वर्मा), 'अन्तर्राष्ट्रीय धि'—२ भाग (फ़ेनविक); 'हिन्दू राजतन्त्र' (डॉ० जायसवाल); 'प्राचीन भारतीय सन-पद्धति' (डॉ० अल्तेकर); 'यूरोपीय राजनय का इतिहास'—भाग १, २ (मोवेट) था इनके अतिरिक्त प्राचीन भारतीय मनीषियों के अध्ययन और भारत के प्रमुख राष्ट्रीय ताओं की आत्मकथाओं एवं संस्मरणात्मक ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है।

अर्थशास्त्र और वाणिज्य का आज के अर्थयुग में जितना महत्त्व बढ़ गया है उसको खते हुए इन विषयों पर हमारे यहाँ जो साहित्य है, वह पर्याप्त और सन्तोषजनक नहीं है। भाग्यवश भारतीय अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त और चिन्तन तक पर विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का भाव है। आर्थिक विचारों के इतिहास पर भी गिने-चुने ही उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। र्थशास्त्र के विविध पक्षों पर प्रकाशित ग्रन्थों में 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' (मार्शल-अलफ़्रेड), काधिकारिक प्रतियोगिता का सिद्धान्त', 'उद्योग-नियन्त्रण' (रावसन), 'आर्थिक विकास सिद्धान्त' (ल्युइस), 'विश्व अर्थ-व्यवस्था : एक परिचय' (ब्राउन), 'अर्थशास्त्र के आधुनिक द्धान्त' (ड्युवेट), 'लोक उद्योग' (डॉ० कुमार रामचन्द्र प्रसाद सिंह) आदि का उल्लेख या जा सकता है। पाठ्य ग्रन्थों में जथार एवं जथार के 'भारतीय अर्थशास्त्र' तथा परांजपे 'भारत की वित्तीय अर्थ-व्यवस्था'; भारत के आर्थिक विकास और तत्सम्बन्धी समस्याओं र सुरेन्द्रकुमार दे के 'सामुदायिक विकास'; आर्थिक विकास के इतिहास पर अलैक्ज़ेंडर के र्थशास्त्र सिद्धान्त का विकास', यूजीन ब्लैक के 'आर्थिक विकास की कूटनीति' तथा गैलब्रेथ 'आर्थिक विकास का सापेक्ष चित्रण' की चर्चा की जा सकती है। वाणिज्य के विविध क्षों पर साहित्य का एकान्त अभाव है। केवल कुछ पाठ्य पुस्तकें उपलब्ध हैं—जैसे 'भारतीय द्योगों का संगठन एवं प्रबन्ध', 'व्यापार संघटन एवं व्यवस्था', 'सार्वजनिक हित', 'व्यावसायिक संगठन-सिद्धान्त एवं कार्य-प्रणाली' आदि।

दर्शन भारतीय मनीषा का प्रिय विषय रहा है और एक अविच्छिन्न दार्शनिक परम्परा में विरासत में मिली है। इस समृद्ध परम्परा का प्रवाह यथासमय हिन्दी में भी आया और भारतीय दर्शन, दर्शन-प्रणालियों एवं सम्प्रदायों पर हिन्दी में कुछ अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित हुए। इस वर्ग के लेखकों में राहुल जी (बौद्ध संस्कृति), डॉ० सम्पूर्णानन्द (दर्शन और जीवन), आचार्य नरेन्द्रदेव (बौद्ध धर्म-दर्शन), श्री बलदेव उपाध्याय (आर्य संस्कृति के आधार-ग्रन्थ बौद्ध दर्शन; भागवत सम्प्रदाय, भारतीय वाङ्मय में श्री राधा), म० म० गोपीनाथ कविराज (भारतीय संस्कृति और साधना), डॉ० भरतसिंह उपाध्याय (बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन), डॉ० देवराज (संस्कृति का दार्शनिक विवेचन), नगेन्द्रनाथ उपाध्याय (तान्त्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य) आदि के नाम उलेल्खनीय हैं। अरविन्द घोष तथा डॉ० राधाकृष्णन् के अनेक दार्शनिक ग्रन्थों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं। पाश्चात्य दर्शन और पश्चिम के प्रमुख दार्शनिकों पर भी अनेक अनूदित ग्रन्थ हिन्दी में आये हैं।

अन्य विषयों—जैसे मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, विधिशास्त्र आदि—की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है और इन विषयों पर भी अच्छे ग्रन्थों के प्रणयन का सूत्र-पात हुआ है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में मौलिक लेखकों में लालजीराम शुक्ल (आधुनिक मनोविज्ञान आदि), डॉ० द्वारिकाप्रसाद (मानव-मनोविज्ञान), डॉ० पद्मा अग्रवाल (विकृत मनोविज्ञान) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। अनुवादों में 'सामाजिक मनोविज्ञान'

(यंगर्हज़बल), 'मनोविश्लेषण' (फ्रायड), 'समाज का मनोविज्ञान' (गिंसबर्ग) आदि उल्लेखनीय हैं। समाजशास्त्र के अन्तर्गत (रामबिहारी सिंह तोमर-कृत 'हिन्दू विवाह एवं परिवार की समस्याएँ', क्षितिमोहन सेन की 'भारतवर्ष में जातिभेद', रांगेय राघव की 'सामाजिक संस्थाएँ और रीति-रिवाज' तथा 'अपराधशास्त्र', पूरनचन्द जोशी की 'आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन', डॉ० एम० एन० श्रीनिवास की 'महाभारतकालीन समाज', के० एम० पणिक्कर की 'हिन्दू समाज निर्माण के द्वार पर', परिपूर्णानन्द वर्मा की 'अपराध, अपराधी और अभियुक्त' आदि मौलिक एवं अनूदित कृतियों का उल्लेख किया जा सकता है। शिक्षाशास्त्रीय ग्रन्थों की संख्या और स्तर दोनों ही अत्यन्त साधारण हैं। विधिशास्त्र के अन्तर्गत अनेक केन्द्रीय विधियों के अनुवाद हुए हैं और कुछ नियम-पुस्तिकाएँ भी अनूदित हुई हैं। यह कार्य विधिशास्त्र के एक पक्ष पर महत्त्वपूर्ण कार्य है, किन्तु अन्य पक्ष पर अभी बहुत कार्य करना शेष है। भाषाविज्ञान, शब्दकोश और सन्दर्भ-ग्रन्थों के प्रणयन और प्रकाशन में भी गति आ रही है और कुछ अच्छी कृतियाँ इधर प्रकाश में आयी हैं। भाषा एवं शब्द-सम्पदा के विविध रूपों और स्तरों तथा लेखक एवं कवि-विशेष की शब्दावलियों के गहन अध्ययन भी इधर किये गये हैं जिनसे भाषावैज्ञानिक वाङ्मय समुन्नत और समृद्ध हो रहा है।

इधर पिछले दो-तीन वर्षों में शास्त्रीय एवं तकनीकी साहित्य के अन्तर्गत जो मौलिक एवं अनूदित कृतियाँ प्रकाशित हुई हैं उनमें कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय कृतियाँ ये हैं: 'शिक्षा और समाज' (लेखक के० सी० आटवे, अनु० ब्रजभूषण शर्मा), 'पाठ-योजनाएँ' (सामूहिक लेखन), 'लोकतन्त्र : स्वरूप एवं समस्याएँ' (रघकुल तिलक), 'लोक-संपर्क' (राजेन्द्र), 'अफ़गानिस्तान में सोवियत-अमरीकी प्रतिस्पर्धा' (डॉ० वेदप्रताप वैदिक), 'सामाजिक नृविज्ञान की भूमिका' (लेखक लूसी मेयर, अनु० डॉ० सच्चिदानन्द), 'भारत में बन्धुत्व-संगठन' (ले० डॉ० इरावती कर्वे; अनु० राजेन्द्र द्विवेदी), 'समाज-कल्याण प्रशासन' (डॉ० धर्मपाल चौधरी), 'मानव व्यवहार तथा सामाजिक व्यवस्था' (डॉ० नर्मदेश्वर प्रसाद), 'नीति विज्ञान के मूल सिद्धांत' (डॉ० लक्ष्मी सक्सेना), 'कृषि-अर्थशास्त्र एवं प्रबन्ध' (वारेन एच० विंसेंट द्वारा सम्पादित 'इकोनॉमिक्स ऐण्ड मैनेजमेंट इन एग्रीकल्चर' का भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल रूपान्तर)। रघुकुल तिलक की उपर्युक्त कृति प्रतिपाद्य तथा भाषा-शैली दोनों की दृष्टि से हिन्दी के शास्त्रीय साहित्य के लिए नये मानदण्ड स्थापित करती है और एक प्रखर चिन्तक की निर्भीक वाणी का उसमें बखूबी परिचय मिलता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परिमाण और गुण दोनों की दृष्टि से हिन्दी में ज्ञानात्मक साहित्य की स्थिति असन्तोषजनक है। हिन्दी में अब तक के ज्ञानात्मक साहित्य-निर्माण के प्रयत्न अधिक-से-अधिक दो-ढाई हज़ार पुस्तकों में सिमटे हुए हैं जबकि अँगरेज़ी में अनुमानतः पच्चीस हज़ार वैज्ञानिक और तकनीकी पुस्तकें प्रतिवर्ष छपती हैं।[1] पारिभाषिक शब्दावली की अनेकरूपता और सदोष वाक्य-रचना के फलस्वरूप भी इस दिशा में लिखे गये अनेक ग्रन्थ वांछित प्रभाव नहीं डाल पाते। ज्ञानात्मक साहित्य की कमी सामाजिक विज्ञानों

---

[1] Problems of Scientific and Technical Terminology in Indian Languages—*Dr. D. S. Kothari*, page 1.

की अपेक्षा प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में कहीं अधिक है। तीसरे, जो साहित्य अब तक रचा गया है उसमें अधिकांश पाठ्य पुस्तकों के स्तर से ऊपर नहीं उठ सका। चौथे, उपलब्ध ज्ञानात्मक साहित्य में प्रायः अनूदित कृतियों का स्तर मौलिक कृतियों से ऊँचा और अच्छा है। वस्तुतः जिस दिन शिक्षा-व्यवस्था में तथा राष्ट्रीय जीवन के अन्य स्तरों पर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाएँ अपना उचित स्थान ग्रहण कर लेंगी, उस दिन से ज्ञानात्मक साहित्य के निर्माण की प्रक्रिया अपूर्व गति धारण कर लेगी—इसमें सन्देह नहीं।

पत्र-पत्रिकाएँ

छायावादोत्तर पत्रकारिता को पिछले चार दशकों की विकासधारा के अविच्छिन्न अनुवर्ती प्रवाह के रूप में देखना होगा। इन चार दशकों में देश के राजनीतिक-सामाजिक इतिहास-रथ के पहिये अपूर्व गति से घूमते रहे और घटना-चक्र की गति के साथ परिस्थितियाँ नित्य नये रूप ग्रहण करती रहीं। हिन्दी की कुछ पत्र-पत्रिकाएँ ऐसी हैं (थीं), जिनका प्रकाशन छायावाद के अवसान से पूर्व ही आरम्भ हो गया था और वे युगानुरूप अपनी नीतियों को ढालते हुए स्वतन्त्रता-संघर्ष में योगदान करती आ रही थीं। दैनिक 'आज' (बनारस) के सम्पादक यशस्वी पत्रकार बाबूराव विष्णु पराड़कर ने राष्ट्रीय आन्दोलन तथा समाज-सुधार के प्रबल समर्थन के साथ ही पत्रकारिता के उच्चादर्शों एवं मानदण्डों की स्थापना की। दिल्ली में उन दिनों उग्र राष्ट्रवादी पत्र 'वीर अर्जुन' की ख्याति थी। इन्द्र विद्यावाचस्पति के अतिरिक्त कई अनुभवी एवं यशस्वी पत्रकारों का इसके साथ संसर्ग रहा। आगरा से श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने 'सैनिक' का प्रकाशन आरम्भ किया था, जो अनेक उतार-चढ़ावों को पार करता हुआ आज भी जीवित है। पंजाब में भी उन दिनों अनेक कर्मठ पत्रकारों ने उर्दू के प्रभाव को सन्तुलित कर राष्ट्रीयता की ध्वजा फहरायी। 'हिन्दी मिलाप', 'विश्वबन्धु', 'शक्ति' आदि के माध्यम से पं० सुदर्शन, माधव जी, श्री सेंगर आदि पत्रकारिता के क्षितिज पर उभरे और उन्होंने राष्ट्रवादी क्रियाकलाप को गति और प्रेरणा दी। दिल्ली के दैनिक 'हिन्दुस्तान' का प्रकाशन भी पहले ही आरम्भ हो चुका था और हिन्दी के पाठक-वर्ग में उसने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। बिहार के लोकप्रिय दैनिकों में 'आर्यावर्त्त' का विशेष मान रहा है और उसने लोक-जागृति में अपना योग दिया है।

इस युग के साप्ताहिकों ने भी जनजागरण का शंख फूंका है। इनमें 'कर्मवीर' का प्रकाशन माधवराव सप्रे ने आरम्भ किया था और बाद में माखनलाल चतुर्वेदी के कर्मठ-तेजस्वी व्यक्तित्व से सम्पृक्त होकर वह अद्वितीय शक्ति-पुंज बन गया। 'सारथी' साप्ताहिक भी उन दिनों बहुत लोकप्रिय था। पहले यह जबलपुर से प्रकाशित हुआ (१९४२) और बाद (१९२४) नागपुर से प्रकाशित होने लगा। हिन्दी-मासिकों में सबसे विशिष्ट एवं स्मरणीय नाम 'सरस्वती' का है जिसके साथ आधुनिक हिन्दी-साहित्य के उद्भव के सूत्र अनुस्यूत हैं। 'वीणा' (इन्दौर) का योगदान एक सुखद साहित्यिक परिवेश के निर्माण में स्तुत्य रहा है। अपने किशोर-काल में इसे श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी जैसे यशस्वी साहित्यकार की प्रतिभा की प्रेरणा प्राप्त हुई। 'विशाल भारत' (कलकत्ता) का भी इतिहास बड़ा प्रभावशाली रहा है और इसने समय-समय पर अपने ढंग से साहित्यिक गतिविधियों को नियन्त्रित संचालित किया है। बनारसीदास चतुर्वेदी, अज्ञेय, सेंगर जी जैसे अनुभवी पत्रकार-साहित्यकारों के प्रेरक व्यक्तित्व का योगदान इसे प्राप्त रहा है। यह पत्रिका अमित यशोपार्जन कर १९६० ई० में

अस्त हो गयी। 'विशाल भारत' छोड़ने के बाद सेंगर जी ने 'नया समाज' (१९४८) निकाला और अज्ञेय जी ने 'प्रतीक'। 'प्रतीक' हिन्दी की उभरती हुई साहित्य-चेतना का मुखपत्र रहा, किन्तु बहुत दिन तक जीवित न रह सका। 'नया समाज' दस वर्ष तक जिया, किन्तु अन्ततः अनेक साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं की नियति इसे भी काल-कवलित कर गयी। 'माधुरी' भी अपनी तरह की विशिष्ट पत्रिका थी, जिसने हिन्दी कहानी की श्रीवृद्धि एवं प्रगति में विशिष्ट योग दिया।

स्वतन्त्रता के बाद नये हिन्दी-पत्रों का ज्वार-सा आ गया। सभी को लगा कि हिन्दी के उज्ज्वल भविष्य के साथ हिन्दी-पत्रकारिता का भविष्य भी भासमान होकर उभरेगा। भविष्य के इन सुनहरे सपनों से प्रभावित होकर कुछ अँगरेज़ी पत्रों ने भी अपने हिन्दी-संस्करण निकाले। ऐसे कुछ पत्र तो समय की गति पहचानकर पहले ही अस्तित्व में आ चुके थे (पटना के इंडियन नेशन से 'आर्यावर्त्त' और 'प्रदीप', दिल्ली के हिन्दुस्तान टाइम्स से 'हिन्दुस्तान' आदि); अब अन्यों ने भी इस धारा को विस्तार दिया—लखनऊ से 'स्वतन्त्र भारत', 'नवजीवन'; दिल्ली से 'नवयुग' (बाद में 'नवभारत टाइम्स') तथा 'जनसत्ता' और इलाहाबाद से 'अमृत पत्रिका' आदि। इन पत्रों ने अँगरेज़ी-पत्रों के अपने जमे-जमाये संगठन के लाभ तो उठाये, परन्तु अपने स्वतन्त्र विकास की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। दुर्भाग्य से न तो अपने किसी स्वतन्त्र समाचार-संगठन या अभिकरण का विकास किया, न इनकी पत्रकारिता भ्रष्ट और भ्रामक अनुवादों से आगे आज तक बढ़ सकी है। लक्ष्य और उद्देश्य तो बदल ही गये थे; समाचार-पत्रों के औद्योगीकरण के साथ-साथ पूँजीवाद और व्यापारिक स्वार्थनिष्ठा की आँधी में राष्ट्रीय और आदर्शनिष्ठ पत्रों के पैर उखड़ गये। पराड़कर जी की भविष्यवाणी अक्षरशः चरितार्थ हुई : "एक समय आयेगा जब हिन्दी-पत्र रोटरी पर छपेंगे, सम्पादकों को ऊँची तनख्वाहें मिलेंगी, सब-कुछ होगा किन्तु उनकी आत्मा मर जायेगी; सम्पादक सम्पादक न होकर मालिक का नौकर होगा।" आज के जीवित हिन्दी-दैनिकों में 'हिन्दुस्तान' (संप्रति श्री रतनलाल जोशी द्वारा सम्पादित), 'नवभारत टाइम्स' (वर्तमान सम्पादक—श्री अक्षयकुमार जैन), 'स्वतन्त्र भारत' (श्री अशोक जी), 'जागरण' (श्री पूरनचन्द्र, नरेन्द्र मोहन), 'नवजीवन' (श्री कृष्णकुमार), 'आज' 'विश्वमित्र', 'सन्मार्ग' आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी के साप्ताहिक पत्रों में 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' (दिल्ली—सं॰ श्री मनोहरश्याम जोशी), 'धर्मयुग' (बम्बई) तथा 'दिनमान' (दिल्ली—सं॰ श्री रघुवीर सहाय) उल्लेखनीय हैं। इनमें सबसे अधिक लोकप्रिय 'धर्मयुग' है। सम्पादक डॉ॰ भारती ने इसे जिस साँचे में ढाला है वह कुछ हद तक प्रबुद्ध पाठकवर्ग की और बहुत हद तक जन-सामान्य की अपेक्षाओं-आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करता है। इसी प्रकार का दूसरा प्रमुख एवं लोकप्रिय पत्र 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' है जिसमें आरम्भ में सुधारवादी नैतिक-सामाजिक दृष्टिकोण पर अधिक बल दिया गया था, किन्तु अब वह भी लोकप्रियता की ओर उन्मुख हो रहा है'। 'दिनमान' हिन्दी का एकमात्र समाचार-साप्ताहिक है। इनके अतिरिक्त सर्वथा भिन्न स्वर के व्यंग्य-साप्ताहिक—'हिन्दी शंकर्स वीकली' (जिसका प्रकाशन बन्द हो चुका है)—का भी उल्लेख करना आवश्यक है।

मासिक पत्रों में 'कल्पना' और 'अजन्ता' दो अच्छी पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं जिसमें से 'कल्पना' तो किसी-न-किसी रूप में जीवित है, 'अजन्ता' अब प्रकाशित नहीं होती।

'माध्यम' नाम से इलाहाबाद से एक अच्छी पत्रिका निकली थी, किन्तु वह भी अधिक दिन नहीं जी सकी। व्यापक सामग्री प्रस्तुत करने वाली पत्रिकाओं में 'नवनीत' का विशेष स्थान है; उधर 'ज्ञानोदय' भी इसी प्रकार की पत्रिका थी। 'कादम्बिनी' (दिल्ली) भी अपने ढंग से स्वस्थ एवं विविध पाठ्य सामग्री प्रस्तुत करती है। सरकारी पत्रों में 'आजकल' पाँचवें दशक के अन्तिम वर्षों से प्रकाशित हो रहा है और अपने स्तर की संरक्षा का निरन्तर प्रयत्न करता रहता है। राज्य-सरकारों की ओर से भी कुछ अच्छी पत्रिकाएँ—आन्ध्रप्रदेश, जन-साहित्य, सप्तसिन्धु आदि—निकल रही हैं। कहानी-पत्रिकाओं का अपना एक विशिष्ट वर्ग है और इसीलिए हिन्दी में कई कहानी-पत्रिकाएँ सफलतापूर्वक चल रही हैं, जैसे 'सारिका' (सं० कमलेश्वर), 'कहानी' (सं० श्रीपतराय), 'कहानीवार', 'संचेतना', 'नीहारिका' आदि। आलोचनात्मक मासिक पत्रों में 'साहित्य-सन्देश' और 'समीक्षा' का उल्लेख किया जा सकता है। 'साहित्य-सन्देश, ने वर्तमान शती के तीसरे-चौथे दशक में समीक्षात्मक रुचि जगाने में काफ़ी योगदान किया था। पटना से प्रकाशित 'समीक्षा' अपने ढंग की एक विशिष्ट पत्रिका है जो समय-समय पर प्रकाशित श्रेष्ठ साहित्यिक-शास्त्रीय कृतियों की भरसक तटस्थ समीक्षाएँ छाप कर हिन्दी में एक बड़े अभाव की पूर्ति करती है। इस बीच और भी कई पत्रिकाएँ निकलीं, चलीं और बन्द हो गयीं। वस्तुतः पत्र-पत्रिकाओं की सफलता आज के व्यावसायिक युग में जितनी सुपाठ्य सामग्री पर निर्भर है उससे कहीं अधिक सम्पर्कों और उनसे प्राप्त होनेवाले विज्ञापनों पर है। 'व्यवसाय' का प्रश्रय मिले बिना जीवन धारण किये रहना उनके लिए असम्भव होता है।

त्रैमासिक पत्रिकाओं में हिन्दी संसदीय हिन्दी-परिषद् का मुखपत्र 'देवनागर' (१९५२) बहुभाषिकता के माध्यम से भारतीय भाषाओं एवं उनके साहित्यों को समन्वित-समंजित करने का प्रयत्न करते-करते आर्थिक संकटों से ग्रस्त होकर १९६४ ई० में अस्त हो गया। इसके अभाव को 'भाषा' (केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय) तथा 'अनुवाद' ने कुछ हद तक पूरा किया है। शोध-पत्रिकाओं में 'नागरीप्रचारिणी पत्रिका (वाराणसी), 'हिन्दी अनुशीलन' (इलाहाबाद), 'हिन्दुस्तानी' (इलाहावाद), 'सम्मेलन-पत्रिका' (इलाहाबाद), 'आलोचना' (दिल्ली) आदि प्रमुख हैं। वैज्ञानिक क्षेत्र में 'विज्ञान' (प्रयाग), 'वैज्ञानिक' (बम्बई), 'किसान-भारती' (पन्तनगर), 'इंजीनियर पत्रिका' (कलकत्ता), 'विज्ञान-प्रगति' (दिल्ली), 'विज्ञान-परिषद्', 'अनुसन्धान-पत्रिका' (प्रयाग) आदि उल्लेखनीय हैं।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि परिमाण की दृष्टि से तो स्वतन्त्रता के बाद हमारी पत्र-पत्रिकाओं ने प्रगति की है, किन्तु गुणात्मक दृष्टि से उनका ह्रास हुआ है। पराड़कर जी, सप्रे जी, गर्दे जी, श्री वनारसीदास चतुर्वेदी आदि पत्रकारों का उत्कर्ष, लगन और सेवा-भाव आज सम्पादकों में कहाँ दृष्टिगोचर होता है!

मूल्यांकन

छायावादोत्तर काल में अनगिनत परिवर्तन हुए—भौतिक और मानसिक दोनों स्तरों पर। द्वितीय महायुद्ध की ऐतिहासिक घटना से यूरोप का भूगोल ही नहीं बदला, बल्कि मानवीय मूल्यों में तेज़ी से विघटन शुरू हुआ। स्वतन्त्रता के साथ ही देश के विभाजन से जो दुर्घटना घटी उसके प्रभाव से हम अभी भी मुक्त नहीं हो पाये हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों की सुविधाओं को भोगते हुए भी हम परमाणविक युद्धों की छाया में जी रहे हैं। मानसिक

स्तर पर मार्क्स, फ़ायड, अस्तित्ववादी दर्शन आदि के कारण परम्पराभुक्त मूल्यों से हटकर मनुष्य बुद्धिगत मूल्यों की तलाश में लग गया। यान्त्रिकता और बौद्धिकता के फलस्वरूप आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भी शुरू हुई। छायावादोत्तर साहित्य के वैविध्य, अभिरुचियों के विस्तार, संकट-बोध आदि के लिए उपर्युक्त परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नयी मानवीय स्थितियों और नये यथार्थ के फलस्वरूप छायावादोत्तर साहित्य क्रमशः रोमैंटिक प्रवृत्तियों से दूर हटता गया। आगे चलकर यह 'ऐंटी-रोमैंटिक' हो गया। रोमैंटिक साहित्य और छायावादोत्तर साहित्य के बीच दूरी की माप स्वयं मूल्यांकन नहीं है, लेकिन इस दूरी को दृष्टि में रखकर ही इसका मूल्यांकन सम्भव है।

छायावाद के बाद हिन्दी-गद्य में भी प्रगति और प्रयोग की प्रवृत्तियाँ उभरकर आयीं। प्रगतिवादी साहित्य पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। पर कथा-साहित्य को छोड़कर हिन्दी में प्रगतिवादी साहित्य अपना विशिष्ट स्थान नहीं बना सका। प्रगतिवादी लेखकों ने प्रायः अपनी रचनाओं में पूर्वनिर्मित सिद्धान्त को आरोपित किया है, प्रगतिवादी जीवन-दर्शन को जीना उनके लिए दूभर था। पर छायावाद की कल्पना और अशेष सम्भावनाओं से हटकर जीवन के नये यथार्थ की ओर इनकी दृष्टि गयी। फिर भी, रचनात्मकता का स्तर न प्राप्त करने के कारण वह ऐतिहासिक महत्त्व का होकर रह गया।

थोड़े दिनों तक प्रगतिवाद और प्रयोगवाद समवाय रूप में चलते रहे। पर वैयक्तिक स्वतन्त्रता, प्राइवेट विज़न आदि के लिए प्रगतिवाद में स्थान न पाकर प्रयोगवादियों ने अपने को अलग कर लिया। कविता की भाँति कहानी, उपन्यास सभी में समसामयिकता को छोड़कर आधुनिकता का पल्ला पकड़ा गया। सभी क्षेत्रों में तकनीक-सम्बन्धी प्रयोग किये गये, भाषा में अभिव्यक्ति की अभिनव शक्ति आयी। यदि इस समय की साहित्यिक विधाओं की मूल प्रवृत्ति को अत्यन्त संक्षेप में अभिव्यक्त करने के लिए कहा जाय तो उसे 'रिबेल-विक्टिम' की प्रवृत्ति कह सकते हैं। कथा-साहित्य में नायक 'रिबेल-विक्टिम' कहा जायगा, तो कविता में स्वयं कवि।

आधुनिकता की ठेठ प्रवृत्ति का उदय सन् १९६० के बाद हुआ। सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों के अतिरिक्त अस्तित्ववादी दर्शन ने इसे और भी पुष्ट किया। पुराने आदर्शों, मूल्यों और आस्थाओं का विघटन यों तो छायावादोत्तर काल के आरम्भ में ही शुरू हो गया था, पर सन् १९६० के बाद तो यह अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा। आधुनिकता-बोध को सिरोकिन का संकट-बोध मान लिया गया। ज़िन्दगी में एक अजीब तरह की अजनबियत, अलगाव और व्यर्थता का अनुभव किया जाने लगा। साठोत्तरी हिन्दी-कविता की ही नहीं; कहानी, उपन्यास, नाटक सभी की सामान्य प्रवृत्ति यही है। यह सही है कि आज ज़िन्दगी का अर्थ यही है कि इसका कोई अर्थ नहीं है, पर दुनिया के साहित्य पर दृष्टि डालने से लगेगा कि आधुनिकता-बोध की वे ही कृतियाँ समादृत हो सकी हैं जिनमें अर्थान्वेषण का प्रयास किया गया है। हिन्दी की कुछ लम्बी कविताएँ, कुछ कहानियाँ और दो-तीन नाटक इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं हर्ष का विषय है कि इधर आधुनिकता-बोध के घुटनपूर्ण परिवेश से हटकर हमारे गद्यकार सोद्देश्य और अर्थवान् साहित्य-सृष्टि की ओर अग्रसर हुए हैं। अनेक उद्देश्यों में आज की जड़ व्यवस्था पर चोट करना उनका एक मुख्य लक्ष्य है।

छायावादोत्तर साहित्य के बदलाव को उसके भाषागत परिवर्तनों में भी देखा जा सकता है क्योंकि नया परिवर्तन नयी भाषा, नये मुहावरों, नये सन्दर्भों, नये बिम्बों और नवीन वक्रता की माँग करता है। छायावादी गद्य-पद्य की अलंकृति, कृत्रिमता, संस्कृत-निष्ठता आदि सामान्यतः प्रगति-प्रयोगकालीन रचनाओं में नहीं हैं, किन्तु छायावादी प्रभाव से जो मुक्त नहीं हैं, उनमें अभी उपमा, उत्प्रेक्षा, घुमावदयानी आदि की विगतयुगीन छवियाँ दिखायी देती हैं। किन्तु, क्रमशः वक्र सपाटबयानी बढ़ती गयी है। अपने अंशों में तथा सम्पूर्णता में इस काल की गद्य-रचनाएँ प्रायः विडम्बनात्मक होकर जीवन की जटिलताओं को (आज की राजनीति, जड़ व्यवस्था, असमानताओं आदि से जनित जटिलताओं को) अधिकाधिक संश्लिष्टता में अभिव्यक्त करने की कोशिश कर रही हैं।

उपसंहार

देश के आधे से अधिक भूभाग में हज़ार-बारह सौ वर्षों तक उत्पादित विपुल साहित्य-राशि का मूल्यांकन अपने आप में एक दुष्कर कार्य है। इस सन्दर्भ में इतिहासकार केवल इतना ही कर सकता है कि वह उन गुणों को उभारकर रख दे जो हिन्दी-साहित्य को अन्य भाषाओं के साहित्य से वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं और उन कीर्तिमानों को उजागर कर दे जो काल के प्रवाह में स्थिर रहेंगे।

इस दृष्टि मे पहला तथ्य जो हमारा ध्यान आकृष्ट करता है, यह है कि अपने जन्म-काल से ही हिन्दी को जन-भाषा और राष्ट्र-भाषा होने का गौरव प्राप्त रहा है। वह मध्यदेश की भाषा है—और मध्यदेश की भाषा सदा से भारत की सार्वदेशिक भाषा रही है। जिन युगों में भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए संसदीय विधेयकों की आवश्यकता नहीं होती थी, उनमें भी हिन्दी भारतीय जन-जीवन एवं संस्कृति की माध्यम-भाषा थी। वह धर्म संस्कृति की ही नहीं, व्यवसाय की भी भाषा थी—उसी के आधार पर उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम में प्रायः धर्म-प्रचार और वाणिज्य-व्यापार चलता था या चल सकता था। कश्मीर से लेकर सुदूर दक्षिण और कच्छ से लेकर असम के अन्तिम छोर तक फैली हुई देव-गृहों की शृंखला इसकी जीवन्त प्रमाण रही है, जहाँ आज भी हिन्दी का प्रयोग होता है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों से आनेवाले यात्रियों की सम्पर्क-भाषा एक सीमा तक हिन्दी थी। यही बात व्यवसाय के क्षेत्र में भी थी। साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के सार्वभौम प्रसार का प्रमाण यह है कि सभी प्रदेशों में हिन्दी के अनेक कवि-लेखक होते रहे हैं और प्रायः सभी भाषाओं में हिन्दी की एक-न-एक कालजयी कृति का अनुवाद उपलब्ध है। 'रामचरितमानस' अथवा उसके कुछ अंशों का अनुवाद भारत की क्रम-से-कम आठ-दस भाषाओं में हुआ है—और इसके लिए न कोई राजकीय योजना बनी थी और न किसी प्रकार का प्रशासनिक प्रश्रय प्राप्त हुआ था। यह गौरव भारत की किसी भी अन्य भाषा को प्राप्त नहीं है—तमिल, मराठी, बँगला कोई भी भाषा इस प्रकार का दावा नहीं कर सकती। और, यह संयोगमात्र नहीं है; हिन्दी के स्वरूप की व्यापकता इसके लिए उत्तरदायी है।

अन्य भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी का स्वरूप अधिक व्यापक और नम्य है। अन्य भारतीय भाषाओं के प्राचीन और नवीन रूपों में काफ़ी अन्तर मिलता है, परन्तु उनमें से किसी में भी इतनी अधिक और विकसित उपभाषाओं का अन्तर्भाव नहीं है। स्वरूप की व्यापकता और नम्यता आज हिन्दी के एक दोष के रूप में पेश की जा रही है। तर्क यह है कि अपने बहुविध रूप के कारण हिन्दी की वास्तविक प्रकृति का निर्धारण करना कठिन है और अहिन्दी-भाषी जन-समुदाय को उसके स्वरूप का निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त करने में कठिनाई होती है। यह वस्तुतः एक सामान्य तथ्य को राजनीतिक रंग में पेश करने का तरीक़ा है। अत्यन्त सरस वाङ्मय से समृद्ध अनेक उपभाषाओं की शक्ति और माधुर्य को अपने कलेवर में समेटकर हिन्दी की क्षमता का अभूतपूर्व विकास हुआ है। उसका शब्द-भण्डार, रचना-भंगिमाएँ, प्रयोग-वैविध्य अपूर्व है और आज तो भारत की विभिन्न भाषाओं के सम्पर्क से उसकी क्षमता का और भी अधिक विकास हो गया है।

प्राचीन और अर्वाचीन वाङ्मय को मिलाकर देखें तो गुण और परिमाण दोनों की दृष्टि से हिन्दी-कविता सर्वाधिक सम्पन्न है। कालजयी कृतियों का इतना वड़ा संग्रह और उच्च कोटि के कृतिकारों का ऐसा विपुल समारोह अन्यत्र दुर्लभ है। अन्य भाषाओं में जहाँ रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति के एक-दो पक्षों का ही प्रामुख्य रहा, वहाँ हिन्दी-काव्य में प्रायः सभी सम्प्रदायों के कवि हुए हैं। तुलसी और सूर का गौरव तो स्वयंसिद्ध है ही; विद्यापति, कबीर, जायसी, नन्ददास, परमानन्ददास, हितहरिवंश, मीरां, रसखान, रहीम आदि कवि किसी भाषा के शृंगार हो सकते हैं। रीतिकाव्य हिन्दी का अपना वैशिष्ट्य है। किसी अन्य भाषा में शास्त्रीय काव्य की इतनी विस्तृत और समृद्ध परम्परा नहीं मिलती। विहारी, मतिराम, देव, घनानन्द के नेतृत्व में इन कवियों ने पूरी दो शताब्दियों तक काव्य-कला की जो साधना की, उससे काव्य के शिल्प और माध्यम भाषा का अपूर्व विकास हुआ। अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार के कला-काव्य की रचना हुई, किन्तु गुण और परिमाण की दृष्टि से इतनी विपुल राशि अन्यत्र दुर्लभ है।

रीतिकाल के वाद आधुनिक काल आरम्भ हुआ और पुनर्जागरण के अग्रदूत के रूप में भारतेन्दु का आविर्भाव हुआ। भारतेन्दु की सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना का धरातल व्यापक था—उन्होंने उर्दू, वँगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं के सन्दर्भ में हिन्दी का विकास किया और उसे प्रादेशिक स्तर से ऊपर उठाकर भारतीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया। इसके वाद जागरण-सुधार की चेतना प्रवल हुई, जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता का उदय हुआ। इस प्रवृत्ति का नेतृत्व किया मैथिलीशरण गुप्त ने। हिन्दी की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक कविता की प्रमुख विशेषता यह है कि उसका स्वर निरन्तर भारतीय ही रहा—उसमें प्रादेशिक अथवा साम्प्रदायिक भावना को प्रोत्साहन कभी नहीं मिला। वँगला में 'सोनार बांगाल' के प्रति अत्यधिक मोह है, मराठी में हिन्दू राष्ट्रीयता का भाव मुखर है, दक्षिण की भाषाओं में—विशेषकर तमिल में दाक्षिणात्य संस्कृति के प्रति पक्षपात है, पंजाबी में सिख-भावना और उर्दू में मुस्लिम-भावना का प्राधान्य है। हिन्दी की राष्ट्रीय कविता में न तो साम्प्रदायिकता को और न प्रादेशिक भावना को कभी प्रश्रय मिला है। मैथिलीशरण-जैसे वैष्णव कवि ने हिन्दू-भावना को कभी उभरने नहीं दिया। हिन्दी के राष्ट्रीय कवि ने जिन प्रतीकों और प्रतिमानों का प्रयोग किया है वे एकदेशीय नहीं हैं, अखिल भारतीय हैं। वह हिमालय का स्तवन करता है और हिन्द महासागर का भी,

राजपूत योद्धाओं की प्रशस्ति लिखता है और सिख वीरों की भी, अशोक और चन्द्रगुप्त का कीर्तिगान करता है और अकबर का भी । उसने कभी तिलक, गांधी और जवाहरलाल में भेद नहीं किया : रवीन्द्रनाथ की मृत्यु पर पन्त और महादेवी की कविताएँ ही सर्वश्रेष्ठ हैं । गांधी का प्रभाव भारत के सम्पूर्ण वाङ्मय पर पड़ा, परन्तु गांधी-दर्शन की जितनी शुद्ध और प्रामाणिक अभिव्यक्ति सियारामशरण गुप्त के काव्य में मिलती है उतनी गुजराती-काव्य में भी दुर्लभ है ।

अँगरेज़ी की रोमानी कविता के प्रभाव से सभी भारतीय भाषाओं में जिस रोमानी प्रवृत्ति का उदय हुआ, वह हिन्दी में छायावाद के रूप में विकसित हुई । छायावाद का आविर्भाव वर्तमान युग की ही नहीं, हिन्दी-साहत्य के इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है । काव्यगत रूढ़ियों से मुक्ति का यह अपूर्व अभियान था । छायावाद पर निश्चय ही अँगरेज़ी के स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्रभाव था, परन्तु उसमें भारतीय काव्य-चेतना के रमणीय तत्त्वों का समावेश हो गया था । रम्य और अद्भुत का जो सुन्दर संयोग स्वच्छन्दतावाद का आधार-तत्त्व है वह प्राचीन भारतीय काव्य में पूर्ण वैभव के साथ विद्यमान था । कालिदास की कविता में ऐसे अनेक गुणों का उत्कर्ष सहज-सुलभ था जो स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्राणतत्त्व हैं । इधर मध्ययुग के मर्मी कवियों की रचनाओं में रहस्य-भावना का अपूर्व ऐश्वर्य विद्यमान था । रवीन्द्रनाथ इन दोनों के समन्वय का मार्ग प्रशस्त कर चुके थे । अतः द्विवेदी-युग के समाप्त होते-होते हिन्दी-कविता में एक ऐसी प्रवृत्ति का आविर्भाव हुआ जो काव्य-वैभव की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है । छायावाद की परिधि में चार प्रथम श्रेणी की कवि-प्रतिभाओं का समानान्तर विकास हुआ : प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी । प्रसाद कालिदास और रवीन्द्रनाथ की परम्परा के कवि थे । मौलिकता और घनत्व की दृष्टि से उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी, जिसका चरम परिपाक हुआ है 'कामायनी' में । मानव-चेतना का यह महाकाव्य अथवा मानव-सभ्यता के विकास का यह विराट् रूपक हिन्दी-काव्य की अद्भुत उपलब्धि है । इस प्रकार की रचना भारतीय अथवा विश्व-साहित्य में नहीं है । निराला की प्रतिभा विलक्षण थी । उनका विराट् और कोमल पर समान अधिकार था और इसका सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है 'राम की शक्तिपूजा', जो इस युग की कालजयी कृति है । उनकी सर्जनात्मक शक्ति दार्शनिक औदात्य और सामाजिक विद्रूप दोनों के प्रति समान रूप से सजग थी । इधर सूक्ष्मतम सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से पन्त का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं है । भावना की परिष्कृति और कल्पना की नफ़ासत जैसी पन्त की रचनाओं में मिलती है वैसी किसी अन्य कवि की कृतियों में उपलब्ध नहीं होती । विश्व के सौन्दर्यचेता कवियों में पन्त का अन्यतम स्थान है—इसमें सन्देह नहीं । महादेवी ने गीत की कला का अपूर्व विकास किया है । महादेवी का वैशिष्ट्य यह है कि वे केवल हिन्दी की ही नहीं, समस्त भारत की सर्वश्रेष्ठ कवयित्री हैं—और शायद विश्व की कवयित्रियों में भी उनका सर्वोच्च स्थान है । नयी कविता की उपलब्धियों का मूल्यांकन करना अभी सम्भव नहीं है । भारत की अन्य समृद्ध भाषाओं में—बँगला, मराठी, गुजराती, तेलुगू, मलयालम आदि में भी इस प्रवृत्ति का विकास हुआ है । हिन्दी की नयी कविता के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसमें अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक स्थिरता एवं गाम्भीर्य है—जीवन और काव्य के मूल्यों की जैसी भयंकर अव्यवस्था अन्य भाषाओं में है वैसी, सौभाग्य से, हिन्दी में नहीं मिलती ।

हिन्दी में गद्य का विकास कुछ देर से हुआ। बँगला और मराठी के लेखक इस क्षेत्र में काफ़ी आगे बढ़ चुके थे। असमिया के बुरुन्जी साहित्य का माध्यम गद्य मध्ययुग में विकसित हो चुका था। परन्तु हिन्दी में गद्य का वास्तविक विकास उन्नीसवीं शती के मध्य से ही मानना चाहिए। फिर भी, हिन्दी ने अपनी इस कमी को बड़ी जल्दी पूरा कर लिया, और आज रस के साहित्य तथा ज्ञान के साहित्य—दोनों क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियाँ किसी से कम नहीं हैं। हिन्दी में उपन्यास का उद्भव बँगला के प्रभाव में हुआ। बंकिम, रवीन्द्र और शरत् विकास के प्रथम चरण में उसके प्रेरणा-स्रोत थे। किन्तु, बीसवीं शती का पहला चरण पार करते ही हिन्दी के कथा-साहित्य—उपन्यास और कहानी—ने अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व का निर्माण कर लिया और बँगला के प्रभाव से मुक्त प्रेमचन्द ने स्वस्थ सामाजिक मूल्यों के आधार पर जिस उपन्यास-कला का विकास किया, वह हिन्दी की अपनी विभूति है। गांधी-युगीन भारत के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का सब से सशक्त एवं प्रामाणिक साहित्यिक दस्तावेज़ प्रस्तुत करने का श्रेय प्रेमचन्द को ही है। उनके परवर्ती उपन्यासकार अपनी-अपनी दिशा में आगे बढ़े और जैनेन्द्र, यशपाल, वृन्दावनलाल वर्मा, अज्ञेय तथा रेणु-जैसे कलाकरों की कालजयी उपलब्धियाँ निश्चय ही प्रादेशिक अथवा भाषिक सीमाओं से मुक्त हैं। हिन्दी-कहानी ने केवल तीन-चार दशकों के भीतर ही इतनी द्रुत गति से विकास किया है कि आज वह विश्व की किसी भी भाषा की कहानी के साथ आत्मविश्वासपूर्वक खड़ी हो सकती है। हिन्दी का रंगमंच और उसी के कारण हिन्दी का नाटक बँगला तथा मराठी-जैसी भाषाओं की तुलना में पिछड़ा हुआ है। किन्तु, इस तथ्य की भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए कि हिन्दी ने प्रसाद-जैसे मौलिक नाटककार को जन्म दिया है जिनकी प्रतिभा ने भारतीय रस-तत्त्व और पाश्चात्य नाटक के अन्तःसंघर्ष के समन्वय द्वारा एक नवीन नाट्यकला का विकास किया जो आधुनिक युग-चेतना के अनुरूप होने के साथ-साथ अपनी आत्मा में भारतीय है। पश्चिम का जो जादू द्विजेन्द्रलाल राय के सर पर चढ़कर बोला है, उसका प्रसाद ने अपने कलात्मक प्रतिमानों के अनुसार, स्वेच्छा से, उपयोग किया है।

आलोचना, आलोचना-शास्त्र तथा शोध हिन्दी-साहित्य के अत्यन्त पुष्ट अंग हैं। संस्कृत-काव्यशास्त्र की परम्परा जो अन्य भाषाओं में प्रायः लुप्त हो गयी थी, हिन्दी के रीतिकाल में निरन्तर जीवित रही। आधुनिक युग में गद्य का माध्यम प्राप्त होने पर भारतीय और पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों के समन्वय से एक संश्लिष्ट काव्यशास्त्र का निर्माण आरम्भ हुआ जिसका आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा उनके परवर्ती आलोचकों ने सम्यक् विकास किया। आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी का आलोचना-साहित्य तथा आलोचनाशास्त्र निश्चय ही सर्वाधिक प्रौढ़ और समृद्ध है।

ज्ञान के क्षेत्र में भी हिन्दी की अपेक्षा कुछ अन्य भाषाएँ अग्रणी हैं, लेकिन यहाँ भी उसने बड़ी जल्दी अपने अभाव की पूर्ति कर ली है। स्वतन्त्रता के बाद राजभाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दी के ज्ञान-साहित्य का योजनाबद्ध विकास हुआ है। इस समय तक हिन्दी में विश्वकोश, विशाल शब्द-सागर, बृहद् अँगरेज़ी-हिन्दी कोश आदि के अतिरिक्त विपुल तकनीकी साहित्य रचा जा चुका है और लगभग चार लाख पारिभाषिक शब्दों का निर्माण हो चुका है। आजकल हिन्दी में प्रतिवर्ष जितनी साहित्य-राशि का प्रकाशन होता है, उतनी भारत की सभी भाषांएँ मिलकर नहीं कर पातीं।

आधुनिक युग का एक वरदान यह है कि विश्व के विभिन्न देश और उनकी भाषाएँ बहुत काफ़ी निकट आ गयी हैं। हिन्दी को आज न केवल भारतीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में अपनी शक्ति और सीमा का आकलन करने का अवसर प्राप्त हुआ है। यह हिन्दी के लिए अत्यन्त शुभ अवसर है और हमारा साहित्यकार आज अभावों के प्रति सचेत होकर अपनी क्षमता के प्रति सहज आश्वस्त हो सकता है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय मंच का निर्माण हो जाने पर अब इस भ्रान्ति का निवारण हो जाना चाहिए कि हिन्दी के वर्तमान गौरव का आधार केवल सीमा-विस्तार अथवा संख्या-बल है, साहित्यिक समृद्धि नहीं।